16233

रामचरित मानस

तुलसीदास

कांडों की सूची

	पृष्ठांक
१—प्रथम सोपान (बालकांड)	१
२—द्वितीय सोपान (अयोध्याकांड)	३५१
३—तृतीय सोपान (अरण्यकांड)	६४५
४—चतुर्थ सोपान (किष्किंधाकांड)	७१२
५—पंचम सोपान (सुन्दरकांड)	७५१
६—षष्ठ सोपान (लंकाकांड)	८१७
७—सप्तम सोपान (उत्तरकांड)	९६७
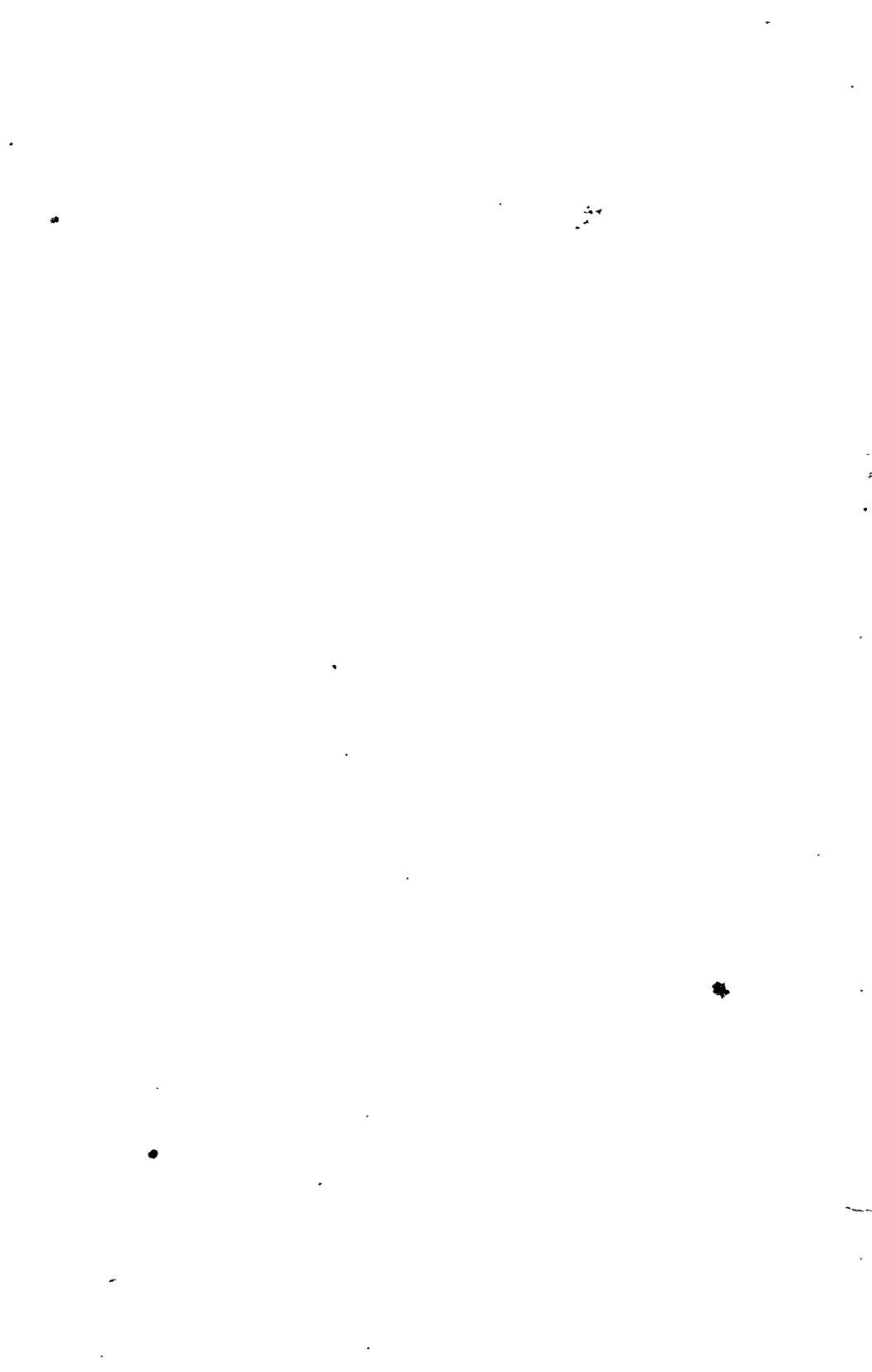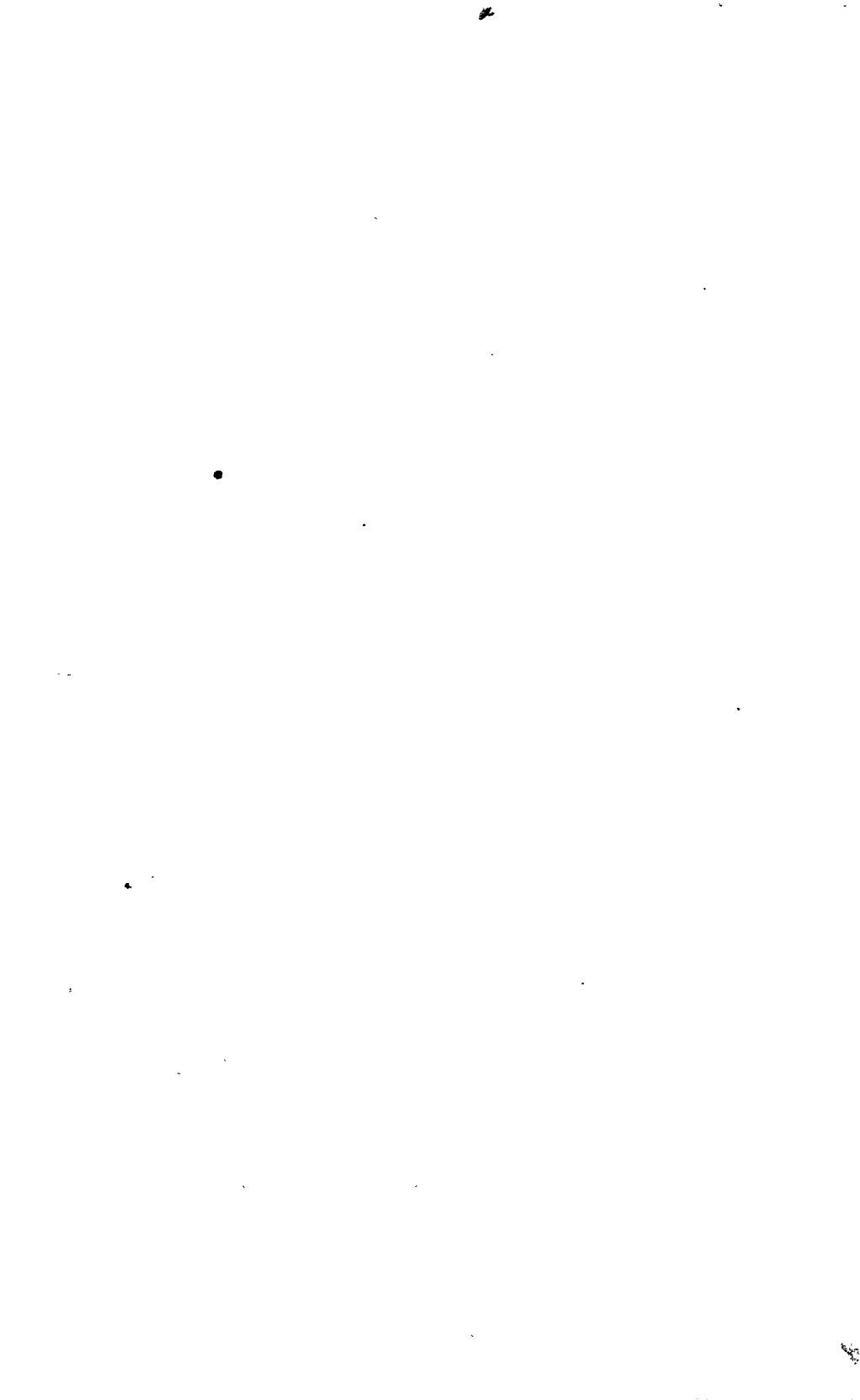
श्यामसुंदरदास

भूमिका

हिन्दी-साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' से बढ़कर दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ नहीं है। इसका प्रचार सभी श्रेणियों के लोगों में है। इस समय इसका जितना आदर-सत्कार है उतना किसी दूसरे ग्रंथ का नहीं है। परन्तु अब तक इसके जितने संस्करण हुए उनमें प्रकाशकों या टीकाकारों ने अपनी-अपनी रुचि और बुद्धि के अनुसार पाठ बदल डाले; किसी ने इस बात का ध्यान नहीं किया कि गोस्वामी जी ने कैसा लिखा है। पाठों के परिवर्तन के साथ ही साथ बहुत सी क्षेपक-कथायें भी इसमें छापी जाने लगीं। यह बात यहाँ तक बढ़ी कि अन्त में सात काण्डों के बदले इस ग्रंथ के आठ काण्ड हो गये। इसलिए काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने इस बात का उद्योग किया कि 'रामचरितमानस' का अच्छा संस्करण छाप कर इन दोषों को दूर कर दिया जाय और यह बात यथासाध्य दिखला दी जाय कि तुलसीदास जी ने किस रूप में रामायण का निर्माण किया था। कई वर्ष के निरन्तर उद्योग के अनन्तर सन् १६०३ में सभा अपने उद्योग में सफल हुई और यह ग्रंथ छप कर प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ के संपादन करने का भार सभा ने अपने पाँच सभासदों को सौंपा था जिन्होंने निम्नलिखित प्रतियों को प्रामाणिक मान कर इसका पाठ शुद्ध किया था,—

(१) केवल बालकाण्ड संवत् १६६१ का लिखा हुआ। यह अयोध्या में एक साधु के पास मिला। इसका पाठ बहुत शुद्ध है। बीच-बीच में हरताल लगाकर पाठ शुद्ध किया गया है और कहा जाता है कि गोस्वामी जी ने स्वयं अपने हाथों से यह काम किया था।

(२) राजापुर का अयोध्याकाण्ड। यह स्वयं तुलसीदास जी के हाथ का लिखा हुआ कहा जाता है। ऐसी कथा है कि पहले वहाँ तुलसीदास जी के हाथ के लिखे हुए सातों काण्ड थे परन्तु एक समय एक चोर उनको लेकर भागा। जब उसका पता लगा और लोगों ने उसका पीछा किया तब उसने समस्त पुस्तक को जमुना जी में फेंक दिया। बहुत उद्योग करने पर केवल एक काण्ड निकल सका, जिस पर पानी के चिह्न अब तक वर्तमान हैं।

(३) तीसरी प्रति संवत् १७०४ की लिखी हुई महाराज काशिराज के पुस्तकालय की, जो सातों काण्ड है।

(४) यह प्रति संवत् १७२१ की लिखी हुई है। इसकी प्रतिलिपि काशी में छप चुकी है।

(५) छक्कनलाल जी की पुस्तक से लिखाई हुई प्रति।

इनके अतिरिक्त बन्दन पाठक जी तथा महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह जी की छपवाई हुई प्रतियों से भी सहायता ली गई थी। इससे यह विदित होगा कि जिन प्रतियों का संग्रह किया गया था वे अत्यन्त प्रामाणिक थीं और उनसे पुरानी लिखी हुई प्रतियों का तब तक पता नहीं लगा था। इनमें से पहली और दूसरी प्रतियों के प्राप्त करने का सौभाग्य सभा के सभासद् स्वर्गवासी बाबू ठाकुरप्रसाद को प्राप्त है। तीसरी प्रति महाराज काशिराज की कृपा से प्राप्त हुई थी। पाँचवीं प्रति महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर जी के पुस्तकालय से ली गई थी। इन प्रतियों की प्राचीनता और प्रामाणिकता पर विचार करते समय इतना ध्यान कर लेना आवश्यक होगा कि तुलसीदास जी ने संवत् १६३१ में इस ग्रंथ का लिखना प्रारम्भ किया था और संवत् १६८० में वे परलोकवासी हुए थे।

महाराज काशिराज के पास एक अत्यंत सुन्दर सचित्र रामायण है जिसके चित्रों के बनवाने में, कहा जाता है कि, एक लाख साठ हज़ार रुपया लगा था। सभा के सभासद् रेवरेंड ई० ग्रीव्ज़ के उद्योग और काशी के कमिश्नर मिस्टर पोर्टर की सहायता से महाराज काशिराज ने इन चित्रों के फोटो लेने की आज्ञा दी थी। महाराजा साहब के ग्रंथवाले चित्र अनुपम हैं। उनमें सोने-चाँदी के काम की उज्ज्वलता के कारण सब फोटो स्वच्छ नहीं उतर सके, तो भी पाठकों के मनोरंजनार्थ सभों को छोड़ देना उचित नहीं समझा गया था। सब चित्र पाँच सौ से ऊपर थे जिनमें से ८८ चुने हुए चित्रों का फोटो लिया गया था। इनमें से भी कई फोटो, साफ़ न आने के कारण, छोड़ दिये गये। शेष, जो अच्छे समझे गये, इस ग्रंथ के पहले संस्करण में दिये गये थे।

इस ग्रंथ का दूसरा संस्करण सन् १६१५ में प्रकाशित किया गया पर उसमें चित्र नहीं दिये गये।

बहुत से लोगों की यह इच्छा देखकर कि इस संस्करण की टीका भी प्रकाशित की जाय, यह ग्रंथ अर्थसहित सन् १६१८ में प्रकाशित किया गया। इस टीका-सहित संस्करण की कई आवृत्तियाँ छपीं। अब यह नया संस्करण, पाठ भी यथासाध्य सुधार कर तथा टीका को पूर्णतया दुहरा कर तथा उसकी अशुद्धियों को दूर करके, प्रकाशित किया जाता है। इस कार्य में मुझे कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है, इसका निर्णय करना 'रामचरितमानस' के मर्मज्ञों का काम है। इस ग्रंथरत्न के जितने संस्करण प्रकाशित हुए हैं उन सबके विषय में यह कहा जाता है कि प्रत्येक का पाठ अत्यन्त प्रामाणिक है। किन्तु मैं ऐसा कहने का साहस नहीं कर सकता। विद्वन्मंडली इसका निश्चय करेगी और उसी की व्यवस्था मान्य होगी।

इस संस्करण के पाठ की त्रुटियों को दूर करने में बाबू भगवानदास हालना से मुझे विशेष सहायता प्राप्त हुई है जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। टीका के संशोधन में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल तथा पण्डित लक्ष्मीप्रसाद पांडेय ने मेरी अमूल्य सहायता की है, जिसके

लिए मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ। प्रूफ-संशोधन के कार्य में यदि पण्डित लल्लीप्रसाद का उत्साहपूर्ण सहयोग मुझे न प्राप्त होता तो इस संस्करण का इतना शुद्धतापूर्वक छपना बहुत कठिन हो जाता। उनके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस संस्करण के संबंध में एक विचित्र घटना हुई जिसका मुझे इस जीवन में दूसरी बार अनुभव हुआ। जब ग्रंथ का छपना आरंभ हो गया और मैं निरंतर इसकी संशोधित प्रति प्रेस में भेजता चला तब अंतिम पृष्ठ के भेजने पर यह प्रकट हुआ कि अरण्यकाण्ड के आरंभ से लेकर लंकाकाण्ड के पूर्वार्ध तक की संशोधित प्रति कहाँ गुम हो गई। बहुत खोज की गई पर पता न चला कि वह अंश कहाँ, कैसे, किसका भूल या असावधानी से नष्ट हो गया। जिस सामग्री के आधार पर मैंने इस ग्रंथ का संशोधन किया था वह, सौभाग्य से, मेरे पास रक्षित थी। अतएव उसकी सहायता से यह काम पुनः करना पड़ा। अस्तु, येन केन प्रकारेण यह कार्य संपन्न हो गया, यही संतोष की बात है।

काशी,
श्रावण कृष्ण ६
संवत् १९९५

श्यामसुन्दरदास
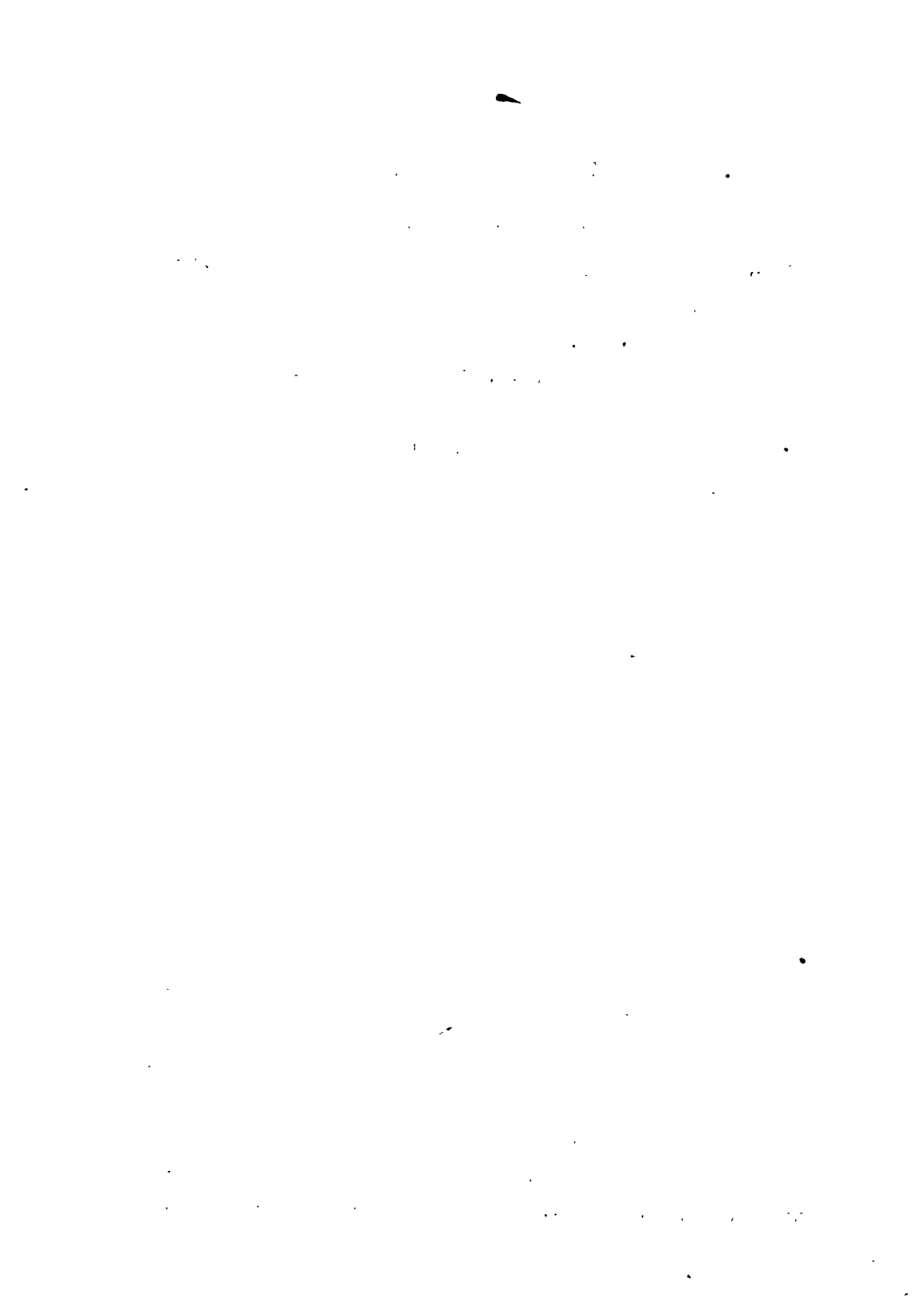
गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास

(१) आविर्भाव-काल

हिन्दी-साहित्य का आरंभ १०५० संवत् के लगभग होता है। इसके पूर्व सिंध आदि पश्चिमीय प्रदेशों पर अरबों के आक्रमण प्रारंभ हो चुके थे, और एक विस्तृत भू-भाग पर उनका आधिपत्य, बहुत कुछ स्थायी रीति से, हो चुका था। पीछे से समस्त उत्तरापथ विदेशियों से पदाक्रांत होने लगा और मुसलमानों की विजय-वैजयंती लाहौर, देहली, मुलतान तथा अजमेर में फहराने लगी।

महमूद गजनवी के आक्रमणों का यही युग था और शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने इसी काल में भारत-विजय के लिए प्रयत्न किये थे। पहले तो इस देश पर विदेशियों के आक्रमण, स्थायी अधिकार प्राप्त करके शासन जमाने के उद्देश्य से नहीं, केवल यहाँ की अतुल संपत्ति को लूट ले जाने की इच्छा से हुआ करते थे। महमूद गजनवी ने इसी आशय से सत्रह बार चढ़ाई की थी और वह देश के विभिन्न स्थानों से विपुल संपत्ति ले गया था। परन्तु कुछ समय के उपरांत आक्रमणकारियों के लक्ष्य में परिवर्तन हुआ, वे कुछ तो धर्मप्रचार की इच्छा से और कुछ यहाँ की सुख-समृद्धिशाली अवस्था तथा विपुल धन-धान्य से आकृष्ट होकर इस देश पर अधिकार करने की धुन में लगे। यहाँ के राजपूतों ने उनके साथ लोहा लिया और वे उनके प्रयत्नों को निष्फल करके उन्हें बहुत समय तक पराजित करते रहे, जिससे उनके पैर पहले तो जम नहीं सके; पर धीरे धीरे राजपूत-शक्ति अंतःकलह से क्षीण होती गई और अंत में उसे मुस्लिम शक्ति के प्रबल वेग के आगे मस्तक झुकाना पड़ा।

यह युग घोर अशान्ति का था। ऐसे समय में हिन्दी-साहित्य अपना शैशव-काल व्यतीत कर रहा था। देश की स्थिति के अनुकूल ही हिन्दी-साहित्य का विकास हुआ। भीषण हलचल तथा घोर अशान्ति के उस युग में वीरगाथाओं की ही रचना संभव थी। जिस समय कोई देश लड़ाइयों में व्यस्त रहता है और युद्ध की ध्वनि प्रधान रूप से व्याप्त रहती है उस काल में वीरोल्लासिनी कविताओं की ही गूँज देश भर में सुनाई देती है। ऐसी ही कविताओं का प्राधान्य इस युग में रहा, पर प्रसिद्ध वीरशिरोमणि हम्मीर देव के पतन के अनंतर हिन्दी-साहित्य में वीरगाथाओं की रचना शिथिल पड़ गई। कबीर आदि संत-कवियों के जन्म के समय हिन्दू जाति की यही दशा हो रही थी। वह समय और परिस्थिति अनीश्वरवाद के लिए बहुत ही उपयुक्त थी। यदि उसकी लहर चल पड़ती तो उसका रुकना कदाचित् कठिन हो जाता, परन्तु कबीर आदि ने बड़े ही कौशल से इस अवसर से लाभ उठा कर जनता को भक्तिमार्ग की ओर प्रवृत्त किया और भक्तिभाव का प्रचार किया। प्रत्येक प्रकार की भक्ति के लिए जनता इस

समय तैयार नहीं थी। मूर्तियों की अशक्तता वि० सं० १०८१ में बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो चुकी थी, जब महमूद गजनवी ने आत्मरक्षा से विरत, हाथ पर हाथ रक्खे हुए, श्रद्धालुओं के देखते देखते सोमनाथ का मंदिर नष्ट कर डाला और उसके श्रद्धालुओं में से हज़ारों को तलवार के घाट उतारा था, तथा लूट में अपार धन प्राप्त किया था। गजेन्द्र की एक ही टेर सुन कर दौड़ आनेवाले और ग्राह से उसकी रक्षा करनेवाले सगुण भगवान् जनता के घोर से घोर संकट-काल में भी उसकी रक्षा के लिए आते न दिखाई दिये। अतएव उनकी ओर जनता को सहसा प्रवृत्त करना असंभव था। पंढरपुर के भक्तशिरोमणि नामदेव की सगुण भक्ति जनता को आकृष्ट न कर सकी। लोगों ने उसका वैसा अनुसरण न किया जैसा आगे चल कर कबीर आदि संत-कवियों का किया और अन्त में उन्हें भी ज्ञानाश्रित निर्गुण भक्ति की ओर झुकना पड़ा। उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी, यद्यपि निर्गुण की शक्ति का भली भाँति अनुभव नहीं किया जा सकता था, उसका आभासमात्र मिल सकता था। पर प्रबल जल-धारा में बहते हुए मनुष्य के लिए वह कूलस्थ मनुष्य या चट्टान किस काम की जो उसकी रक्षा के लिए तत्परता न दिखलावे? उसकी ओर वह कर आता हुआ तिनका भी जीवन की आशा पुनरुत्पन्न कर देता है और उसी का सहारा पाने के लिए वह अनायास हाथ बढ़ा देता है। सन्त-कवियों ने अपनी निर्गुण भक्ति के द्वारा भारतीय जनता के हृदय में यही आशा उत्पन्न करके उसे कुछ अधिक समय तक विपत्ति की इस अथाह जल-राशि के ऊपर बने रहने को उत्तेजना दी। इस समय जो भक्ति का प्रवाह बहा वह निर्गुण उपासना का था। इसकी दो शाखायें हुईं। एक ज्ञान का आश्रय लेकर चली और दूसरी प्रेम का आश्रय लेकर। यद्यपि इससे जनता को संतोष नहीं हुआ किन्तु इसने सगुणोपासना के लिए लोगों को तैयार कर दिया। वह दो रूपों में चला—एक तो राम की भक्ति को लेकर और दूसरा कृष्ण की भक्ति को।

वैष्णव भक्ति की रामोपासिका शाखा का आविर्भाव महात्मा रामानन्द ने, विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, किया था। यद्यपि रामानन्द के पहले भी नामदेव तथा त्रिलोचन आदि प्रसिद्ध भक्त हो चुके थे, पर उन्होंने भक्ति-आन्दोलन को एक नवीन स्वरूप देकर तथा उसे अत्यधिक लोकप्रिय और उदार बना कर हिन्दू-धर्म के उन्नायकों में सम्माननीय स्थान पर अधिकार पाया। कबीर, तुलसी और पीपा आदि या तो उनके शिष्य थे या शिष्य-परम्परा में थे और इसी से उनके महत्त्व का अनुभव हम अच्छी तरह कर सकते हैं।

स्वामी रामानन्द यद्यपि रामानुज के ही अनुयायी थे, पर मन्त्र-भेद, तिलक-भेद तथा अन्य विभेदों के कारण कुछ लोग उन्हें श्रीवैष्णवसम्प्रदाय में नहीं मानते। वे त्रिदण्डी संन्यासी नहीं थे, अतएव उनमें और श्रीसम्प्रदाय में भेद बतलाया जाता है। परन्तु यह निश्चित है कि रामानन्द काशी के बाबा राघवानन्द के शिष्य थे और बाबा राघवानन्द

श्रीसम्प्रदाय के वैष्णव सन्त थे। यद्यपि यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि रामानन्द और राघवानन्द में, आचार के सम्बन्ध में, कुछ मतभेद हो जाने के कारण रामानन्द ने अपना संप्रदाय अलग स्थापित किया, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि बाबा राघवानन्द की मृत्यु के उपरान्त रामानन्द जी ने रामभक्ति का मार्ग प्रशस्त कर उत्तर-भारत में एक नवीन भक्ति-मार्ग का अभ्युदय किया।

राम-भक्ति की शाखा महात्मा रामानन्द द्वारा विकसित हुई। कबीर, पीपा, रैदास, सेना, मलूक आदि सन्त सब रामानन्द के ऋणी हैं, यद्यपि उनके चलाये हुए सम्प्रदायों पर विदेशीय प्रभाव भी पड़े और अनेक साधारण विभेद भी हुए। जनता पर इन सन्तों का बड़ा प्रभाव पड़ा। परन्तु महात्मा रामानन्द का ऋण इन सन्तों तक ही परिमित नहीं है, प्रत्युत इनकी शिष्यपरम्परा में आगे चल कर गोस्वामी तुलसीदास हुए, जिनकी जगत्प्रसिद्ध रामायण हिन्दी-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रत्न तथा उत्तर-भारत के धर्मप्राण जन-साधारण का सर्वस्व है। कबीर आदि संतों के संप्रदाय देश के कुछ कोनों में ही अपना प्रभाव दिखा सके और पढ़ी-लिखी जनता तक उनकी वाणी पहुँच भी न सकी; परंतु गोस्वामी तुलसीदास की कविता ऊँच-नीच, राजा-रंक, पढ़े-बेपढ़े, सबकी दृष्टि में समान रूप से आदरणीय हुई। तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' का अब तक जितना प्रचार भारतवर्ष के उत्तर-खंड में बना हुआ है उतना और किसी ग्रंथ का कहीं आज तक नहीं हुआ। कहते हैं कि संसार में जितना प्रचार इंजील (बाईबिल) का है उतना और किसी ग्रंथ का नहीं। यह हो सकता है, पर तुलसीदास जी की रामायण का प्रचार भारतवर्ष में अपेक्षाकृत यदि अधिक नहीं, तो कम भी नहीं है। क्या राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, दण्डी, मुनि, साधु और क्या दीन-हीन साधारण जन-समुदाय सबमें उनके मानस का पूर्ण प्रचार है। बड़े-बड़े विद्वानों से लेकर निरक्षर भट्टाचार्य तक उनके मानस से अपने मानस की तृप्ति करते और अपनी-अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार उसका रसास्वादन कर अपने को परम कृतकृत्य मानते हैं। इस ग्रंथ-रत्न ने भारतवर्ष और विशेषकर उसके उत्तर भाग का बड़ा उपकार भी किया है। रीति, नीति, आचरण, व्यवहार सब बातों में मानों तुलसीदास ही हिन्दू प्रजा-मात्र के पथ-प्रदर्शक हैं। प्रत्येक अवसर पर उनकी चौपाइयाँ उद्धृत की जाती हैं और जन-साधारण के लिए धर्मशास्त्र का काम देती हैं। इस ग्रंथ ने न जाने कितनों को डूबने से बचाया, कितनों को कुमार्ग पर जाने से रोका, कितनों के निराशामय जीवन-मन्दिर में आशा का प्रदीप प्रज्वलित किया, कितनों को घोर पाप से बचा कर पुण्य का संचय करने में लगाया और कितनों को धर्मपथ पर डगमगाते हुए चलने में सहारा देकर सँभाला। कविता की दृष्टि से देखा जाय तो भी तुलसीदास जी का 'रामचरितमानस' उपमाओं और रूपकों का भंडार है। चरित्र-चित्रण में भी वह बहुत बढ़ा-चढ़ा है। कुछ लोग कहते हैं कि तुलसीदास में अनेक गुणों का समावेश है जो और कवियों में नहीं पाया जाता। इसी से उनकी चाह अधिक है। पर जन-साधारण तो इन गुणों की तुलना कर नहीं सकते। मेरी समझ में

तुलसीदास की सर्वप्रियता और मनोहरता का मुख्य कारण उनका चरित्र-चित्रण और मानवीय मनोविकारों का स्पष्टीकरण है। इन दोनों बातों में वे इस पृथ्वी के जीवधारियों को नहीं भूलते। उनके पात्र स्वर्ग के निवासी नहीं, पृथ्वी से असंपृक्त नहीं। उनके कार्य, उनके चरित्र, उनकी भावनायें, उनकी वासनायें, उनके विचार, उनके व्यवहार सब मानवोय हैं। यही कारण है कि वे मनुष्यों के मन में चुभ जाते, उन्हें प्रिय लगते और उन पर अपना प्रभाव डालते हैं। कभी कभी यह देखा जाता है कि लेखक या कवि सर्वप्रियता प्राप्त करने के लिए अपने ऊँचे सिद्धान्त से गिर जाता है, पाठकों में कुरुचि उत्पन्न करता, और उनकी रक्षा करने के स्थान में उन्हें और भी गढ़े में ढकेल देता है। पर तुलसीदास जी अपने सिद्धान्त पर सदा अटल रहते हैं, वे कहीं आगा-पीछा नहीं करते। सदा सुरुचि उत्पन्न करते, सदुपदेश देते और सन्मार्ग पर लगाते हैं। यह कृतकार्यता कम नहीं। इसके लिए कोई भी गौरवान्वित हो सकता है। फिर तुलसीदास जी से महात्मा कवि और देशानुरागी का कहना ही क्या है!

(२) जीवनचरित की सामग्री

(१) भाषा के कवि प्राय: लोभवश अपने ग्रंथ में अपना और अपने आश्रयदाता का वृत्तान्त लिखा करते थे, परंतु गोस्वामी जी ने मनुष्यों का चरित्र न लिखने का प्रण कर लिया था; इसलिए उन्होंने अपना कुछ भी वृत्तान्त नहीं लिखा। उन्होंने कहीं-कहीं जो अपने चरित्र का आभास-मात्र दिया भी है तो वह केवल अपनी दीनता और हीनता दिखलाने के लिए। किसी-किसी ग्रंथ का समय भी उन्होंने लिख दिया है। इसलिए उनका चरित्र वर्णन करने के लिए दूसरे ग्रंथों और किंवदन्तियों का आश्रय लेना पड़ता है। सबसे प्रामाणिक वृत्तान्त बतलानेवाला ग्रंथ वेणीमाधवदास-कृत 'गोसाईं-चरित्र' है, जिसका उल्लेख बाबू शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंहसरोज' में किया है। कवि वेणीमाधवदास पसकाग्राम-निवासी थे और गोस्वामी जी के साथ सदा रहते थे। परंतु खेद का विषय है कि अब तक वह ग्रंथ कहीं नहीं मिला। इस पुस्तक का सारांश "मूल गोसाईंचरित्र" के नाम से बाबा वेणीमाधवदास ने संवत् १६८७ में नित्य पाठ करने के लिए लिखा था। सौभाग्य से यह मूल चरित्र प्राप्त हो गया है। इसके अनुसार सरवार के रहनेवाले पराशर गोत्र के प्रतिष्ठित ब्राह्मणों के कुल में, जो राजापुर में पीछे से बस गया था, तुलसीदास का जन्म १५५४ श्रावण शुक्ला सप्तमी को हुआ। लड़का उत्पन्न होते ही रोया नहीं, उसके मुख से 'राम' निकला और उसके ३२ दाँत जन्म के समय में थे। यह देखकर लोगों को आश्चर्य हुआ। तुलसीदास के पिता को बड़ा परिताप हुआ। बन्धु-बान्धवों से सलाह करने पर यह निश्चय हुआ कि यदि बालक तीन दिन तक जीता रहे तो सोचा जायगा कि क्या किया जाय। एकादशी को तुलसी की माता हुलसी की अवस्था बिगड़ गई। उसे ऐसा भास होने लगा कि अब मैं नहीं बचूँगी। उसने दासी को बुला कर कहा

कि अब मेरे प्राण-पखेरू उड़ा चाहते हैं। तू इस बालक को और मेरे सब आभूषणों को लेकर रातो रात अपनी सास के पास चली जा, नहीं तो मेरे मरते ही इस बालक को लोग फेंक देंगे। दासी बालक को लेकर चल पड़ी और इधर उसी दिन ब्राह्ममुहूर्त में हुलसी ने शरीर छोड़ा। इस बालक को चुनियाँ दासी ने पैंसठ मास तक पाला पोसा, पर एक साँप के काटने से उसकी मृत्यु हो गई। तब लोगों ने तुलसीदास के पिता को संदेश भेजा। उन्होंने कहा कि हम ऐसे अभागे बालक को लेकर क्या करेंगे जो अपने पालक का नाश करता है। अस्तु, दैवी कृपा से बालक जीता रहा। उधर अनंतानन्द के शिष्य नरहरियानंद को स्वप्न में आदेश हुआ कि तुम इस बालक की रक्षा करो और उसे रामचरित्र का उपदेश दो। नरहरियानन्द ने जाकर उस बालक को, गाँववालों की अनुमति से, अपने साथ लिया और उसका यज्ञोपवीत कर विद्यारंभ कराया। दस महीने तक अयोध्या में हनुमानटीले पर रहकर नरहरियानंद बालक को पढ़ाते रहे। हेमंत ऋतु आने पर वे बालक को लेकर सरयू और घाघरा के संगम पर स्थित शूकरक्षेत्र में आये और वहाँ पाँच वर्ष तक रहे। वहीं पर उन्होंने बालक को राम-चरित का उपदेश दिया। वहाँ से घूमते फिरते वे काशी पहुँचे और पंचगंगा घाट पर ठहरे। वहाँ पर शेषसनातन नामक विद्वान् रहते थे। उन्होंने नरहरियानंद से उस बालक को माँग लिया। उसको उन्होंने सब शास्त्रों का भली भाँति अध्ययन कराया। १५ वर्ष तक तुलसीदास वहाँ रहे। गुरु की मृत्यु होने पर उनकी इच्छा अपनी जन्मभूमि देखने की हुई। वहाँ जाने पर उनको अपने वंश के विनष्ट हो जाने का पता लगा। लोगों ने उनके रहने के लिए घर बनवा दिया और वे वहाँ रहकर रामकथा कहने लगे। एक ब्राह्मण ने बड़े आग्रह से अपनी कन्या का विवाह उनसे कर दिया। इस स्त्री से उनका इतना अधिक प्रेम हो गया कि उसे वे पल भर के लिए भी छोड़ न सकते थे। अचानक एक दिन उनकी स्त्री अपने भाई के साथ मायके चली गई। तुलसीदास दौड़े हुए उसके पीछे गये। वहाँ पर स्त्री के उपदेश के कारण उन्हें वैराग्य हुआ और वे राम की खोज में निकल पड़े। अनेक स्थानों पर घूमते घूमते वे काशी में आये और वहाँ बस कर उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की। अन्त में संवत् १६८० श्रावण कृष्ण तीज शनिवार को उन्होंने शरीर छोड़ा।

बाबा वेणीमाधवदास ने अपने ग्रंथ में १३ संवतों का उल्लेख किया है। जो इस प्रकार है—

(१) जन्म—पन्द्रह से चउवन बिषै, कालिंदी के तीर। श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ शरीर।

(२) यज्ञोपवीत—पन्द्रह सै इकसठ माघ सुदी। तिथि पंचमी और भृगुवार उदी।
सरयूतट विप्रन यग्य किये। द्विज बालक को उपवीत दिये।

(३) विवाह—पन्द्रह सै पार तिरासि बिषै। शुभ जेठ सुदी गुरु तेरस पै।
अधिराति लगे जु फिरी भँवरी। दुलहा दुलही की परी पँवरी।

(४) स्त्री-वियोग—शतपन्द्रह युक्त नवासि सरै। सु असाढ़ बदी दसमी हुँ परै।
बुधवासर धन्य सो धन्य घरी। उपदेसि सती तनु त्याग करी।

(५) रामदर्शन—सुखद अमावस मौनिया, बुध सोरह सै सात।

(६) सूरदास से भेट—सोरह सै सोरह लगे, कामद गिरि ढिग वास।
शुभ एकांत प्रदेस महँ, आये सूर सुदास।

(७) रामगीतावली और कृष्णगीतावली की रचना—
जब सोरह से बसु बीस चढ्यो, पद जोरि सबै शुचि ग्रंथ गढ्यो।
तिसु रामगीतावलि नाम धर्‌यो। अरु कृष्णगीतावलि राँचि धर्‌यो।

(८) रामचरितमानस की रचना।—सत इकतीसा महँ जुरे जोग लगन ग्रह रास।
नौमी मंगलवार शुभ,..................
माह चैत्र था आरम्भ, रामचरितमानस विमल।

(९) दोहावली की रचना—..........चालिस संवत् लाग, दोहावलि संग्रह किये।

(१०) वाल्मीकि की प्रतिलिपि—
लिखे वाल्मीकी बहुरि, इकतालिस के माँहि। मगसिर सुदि सतिमी रवी, पाठ करन हित ताहि।

(११) तुलसीसतसई की रचना—
माघव सित सिय जन्म तिथि, बयालिस संवत् बीच। सतसैया बरने लगे, प्रेम वारि ते सींच।

(१२) टोडर की मृत्यु—
सोरह सै उनहत्तरो, माधव सित तिथि धीर। पूरन आयू पाइ के, टोडर तजे शरीर।

(१३) तुलसीदास जी की मृत्यु—
संवत् सोरह से असी, असी गङ्ग के तीर। श्रावण श्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर।

इनमें जहाँ जहाँ संवत्, मास, पक्ष, तिथि और वार दिया है, गणना करने पर वे ठीक उतरते हैं।

कुछ लोगों ने इस ग्रंथ को जाली बताया है और यहाँ तक कह डाला है कि अयोध्या में यह जाल रचा गया है। एक बात ध्यान रखने योग्य है कि इस ग्रन्थ की सबसे पुरानी प्रतिलिपि संवत् १८४८ की लिखी मौजा मरुव, पोस्ट ओबारा, ज़िला गया के पंडित रामाधारी के पास है। उनसे महात्मा बालकराम विनायक जी को प्राप्त हुई। वहाँ से प्राप्त करके पंडित रामकिशोर शुक्ल ने उसे छपवाया। अतएव यदि यह जाल है तो भी यह अयोध्या में नहीं रचा गया।

(२) दूसरा ग्रंथ नाभा जी का "भक्तमाल" है। यह बात प्रसिद्ध है कि नाभा जी से और गोस्वामी जी से वृन्दावन में भेंट हुई थी। नाभा जी वैरागी थे और तुलसीदास जी स्मार्त्त वैष्णव, खाने-पीने में संयम रखनेवाले। इसलिए पहले दोनों में न बनी; पीछे से तुलसीदास जी के विनीत स्वभाव को देख नाभा जी बहुत प्रसन्न हुए। अतः उनका लिखना भी बहुत कुछ ठीक हो सकता था, परन्तु उन्होंने चरित्र कुछ भी न लिख कर केवल गोस्वामी जी की प्रशंसा में यह छप्पय लिख दिया है—

"कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भये
त्रेता काव्य निबन्ध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि परायन॥

अब भक्तन सुख देन बहुरि बपु धर (लीला) बिस्तारी।
रामचरन रसमत्त रहत अहनिसि ब्रतधारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव०—"

इस छप्पय से गोस्वामी जी के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। भक्तमाल में उसके बनने का कोई समय नहीं दिया है। परन्तु अनुमान से यह जान पड़ता है कि यह ग्रंथ संवत् १६४२ के पीछे और संवत् १६८० के पहले बना, क्योंकि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोस्वामी गिरिधर जी का वर्णन उसमें वर्तमान क्रिया में किया है*। गिरिधर जी ने श्रीनाथ जी की गद्दी की टिकैती, अपने पिता के परमधाम पधारने पर, संवत् १६४२ में पाई थी। इधर गोस्वामी तुलसीदास जी का भी वर्त्तमान रहना जान पड़ता है, क्योंकि "रामचरन रस मत्त रहत अहनिसि ब्रतधारी" पद से गोस्वामी जी के जीते रहते ही भक्तमाल का बनना सिद्ध होता है। फिर यह प्रसिद्ध ही है कि गोस्वामी जी का परलोक संवत् १६८० में हुआ। अतएव भक्तमाल के, ऊपर दिये हुए, पद से केवल यह सिद्ध होता है कि भक्तमाल के बनने के समय (संवत् १६४२-१६८०) तुलसीदास जी वर्त्तमान थे।

(३) तीसरा ग्रंथ भक्तमाल पर प्रियादास जी की टीका है। प्रियादास जी ने संवत् १७६९† में यह टीका नाभा जी की इच्छा‡ पूरी करने के हेतु बनाई थी। भक्त-महात्माओं के मुख से जो चरित्र सुने थे§ उन्हें उन्होंने विस्तार के साथ लिखा है। प्रियादास जी ने गोस्वामी जी का चरित्र इस प्रकार लिखा है—

तिया सों सनेह बिन पूछे पिता गेह गई भूली सुधि देह भजे वाही ठौर आये हैं।
बधू अति लाज भई रिस सों निकस गई प्रीति राम नई तन हाड़ चाम छाये हैं॥

---

* श्री बल्लभ प्रभु के वंश में सुरतरु गिरिधर भ्राजमान।
† नाभा जू को अभिलाष पूरन लै कियो मैं, तो ताको साखी प्रथम सुनाई नीके गाइ कै।
भक्ति बिस्वास जाके ताही को प्रकाश कीजै भीजे रंग हियो लीजै संतन लड़ाइ कै॥
संवत् प्रसिद्ध दस सात सत उनहत्तर फाल्गुन मास बदी सप्तमी बिताइ कै।
नारायनदास सुख रासि भक्त माल लै कै प्रियादास दास उर बसौ रहौ छाइ कै॥ ६२३॥
‡ महाप्रभु कृष्ण चैतन्य मनहरन जू के चरन को ध्यान मेरे नाम मुख गाइये।
ताही समय नाभा जू ने आज्ञा दई लई धारि टीका बिस्तारि भक्तमाल की सुनाइये॥
कीजिए कवित्त बंद छंद अति प्यारो लगै जगै जग माँहि कहि बानी बिरमाइये।
जान निज मति ये पै सुनी भागवत शुक द्रुमन प्रवेश कियो ऐसेई कहाइये॥ १॥
§ इनहीं के दास दास प्रियादास जानो तिन लै बखानी मानी टीका सुखदाई है।
गोवर्द्धननाथ जू के हाथ मन परयो जाको कस्यो बास वृन्दावन लीला मिलि गाई है॥
मति अनुसार कह्यो लह्यो सुख सन्तन के अन्त कौं न पावै जोई गावै हिय आई है।
घट बढ़ि जानि अपराध मेरो छमा कीजै साधु गुनग्राही यह मानि कै सुनाई है॥ ६२१॥

सुनी जग बात मानो ह्वै गयो प्रभात वह पाछे पछिताय तजि काशीपुरी धाये हैं।
किये तहाँ वास प्रभु सेवा लै प्रकास कीनो तीनों दृढ़ भाव नेम रूप के तिसाये हैं॥ ५०० ॥

शौच जल शेष पाइ भूतहु विशेष कोऊ बोल्यो सुख मानि हनुमान जू बताये हैं।
रामायन कथा सो रसायन है कानन को आवत प्रथम पाछे जात घृणा छाये हैं॥
जाइ पहिचान संग चले उर आन आये वन मध्य जानि धाइ पाइ लपटाये हैं।
करैं सीतकार कहीं सकोगे न टारि मैं तो जाने रस सार रूप धर्यो जैसे गाये हैं॥ ५०१ ॥

माँग लीजै वर कही दीजै राम भूप रूप अति ही अनूप नित नैन अभिलाखिये।
कियो लै संकेत वाही दिन ही सों लाग्यो हेत आई सोई समै चेत कवि छवि चाखिये॥
आये रघुनाथ साथ लक्ष्मण चढ़े घोड़े पर रंग गोरे हरे कैसे मन राखिये।
पाछे हनुमान आये बोले देखे प्रानप्यारे नेकु न निहारे मैं तो भले फेरि भाखिये॥ ५०२ ॥

हत्या करि विप्र एक तीरथ करत आयो कहै मुख राम हत्या टारिये हत्यारे को।
सुनि अभिराम नाम धाम मैं बुलाइ लियो दियो लै प्रसाद कियो सुद्ध गायो प्यारे को॥
भई द्विज सभा कहि बोलि कै पठायो आप कैसे गयो पाप संग लै कै जैये न्यारे को।
पोथी तुम बाँचो हिये भाव नहि साँचो अजू तातें मति काँचो दूरि करै न अँध्यारे को॥५०३॥

देखी पोथी बाँच नाम महिमा हू कही साँच ए पै हत्या करै कैसे तरै कहि दीजिये।
आवै जो प्रतीति कही याके हाथ जेवैं जब शिव जू के बैल तब पंगति मैं लीजिये॥
थार मैं प्रसाद दियो चले जहाँ पान कियो बोले आप नाम के प्रताप मति भीजिये।
जैसी तुम जानो तैसी कैसे कै बखानो अहो सुनि कै प्रसन्न पायो जै-जै धुन रीझिये॥ ५०४ ॥

आये निसि चोर चोरी करन हरन धन देखे श्यामघन हाथ चाप सर लिये हैं।
जब जब आवै बान साध डरपावै ए तो अति मडरावै ए पै बली दूरि किये हैं॥
भोर आय पूछे अजू साँवरो किशोर कौन सुनि करि मौन रहे आँसु डार दिये हैं।
दई सब लुटाइ जानी चौकी रामराइ दई लई उन्ह शिक्षा सुद्ध भये हिये हैं॥ ५०५ ॥

कियो तनु विप्र त्याग लागी चली सङ्ग तिया दूरि ही तें देखि कियो चरन प्रनाम है।
बोले यों सुहागवती मर्यो पति होहुँ सती अब तो निकसि गई जाहु सेवो राम है॥
बोलि कै कुटुम्ब कहा जो पै भक्ति करौ सही गही तब बात जीव दियो अभिराम है।
भये सब साध व्याधि मेटी लै विमुख ताको जाकी बास रहे तौन सूझै श्याम ध्याम है॥५०६॥

दिल्लीपति बादशाह अहिदी पठाये लेन ताको सो सुनायो सूनै विप्र ज्यायो जानिये।
देखिबे को चाहैं नीके सुख सो निबाहे आइ कही बहु विनय गही चले मन आनिये॥
पहुँचे नृपति पास आदर प्रकास कियो दियो उच्च आसन लै बोल्यो मृदु बानिये।
दीजै करामाति जग ख्यात सब मात किये कही झूठी बात एक राम पहिचानिये॥ ५०७ ॥

देखौं राम कैसे कहि कैद किये किये हिये हुजिये कृपालु हनुमान जू दयाल हो।
ताही समै फैल गये कोटि-कोटि कपि नये नोचैं तन खैंचैं चीर भयो यों बिहाल हो॥
फोरैं कोट मारैं चोट किये डारैं लोट-पोट लीजै कौन ओट गाइ मानो प्रलय काल हो।
भई तब आँखें दुख सागर को चाखें अब वेई हमें राखें भाखें वारों धनमाल हो॥ ५०८ ॥

आइ पाइ लिये तुम दिये हम प्रान पावैं आप समझावैं करामाति नेक लीजिये।
लाजि दाब गयो नृप तब राखि लियो कह्यो भयो घर राम जू को बेगि छोड़ि दीजिये॥

मुनि राखि दियो और कह्यो लैके कोट नयो अबहूँ न रहै कोऊ वामें तन छीजिये।
काशी जाइ वृन्दावन आइ मिले नाभाजू सों सुन्यो हो कवित्त निज रीझ मति भीजिये ॥५०९॥
मदनगोपाल जू को दरसन करि कही सही राम इष्ट मेरे दृग भाव पागी है।
वैसोई सरूप कियो दियो लै दिखाई रूप मन अनुरूप छबि देखि नीकी लागी है॥
काहू कह्यो कृष्ण अवतारी जू प्रशंस महा राम अंश सुनि बोले मति अनुरागी है।
दसरथ सुत जानों सुन्दर अनूप मानों ईसता बताई रति कोटि गुनी जागी है॥ ५१०॥

(४) प्रियादास जी की टीका के आधार पर राजा प्रतापसिंह ने अपने "भक्त-कल्पद्रुम" और महाराज विश्वनाथसिंह ने अपने "भक्तमाल" में गोस्वामी जी के चरित्र लिखे हैं। इनमें जो बातें विशेष हैं वे यथास्थान लिख दी गई हैं। डाक्टर ग्रिअर्सन ने गोस्वामी जी के विषय में जो नोट्स 'इंडियन एंटीक्वेरी' में छपवाये हैं उनसे भी अनेक घटनाओं का पता लगता है। उनका भी यथास्थान समावेश किया गया है।

(५) 'मर्य्यादा' पत्रिका की ज्येष्ठ १९६९ की संख्या में श्रीयुत इन्द्रदेव नारायण जी ने 'हिन्दी नवरत्न' पर अपने विचार प्रकट करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन-संबन्ध में अनेक बातें ऐसी कही हैं जो अब तक की निर्धारित बातों में बहुत उलट-फेर कर देती हैं। इस लेख में गोस्वामी तुलसीदास जी के एक नवीन "चरित्र" का वृत्तान्त लिखा है और उससे उद्धरण भी दिये गये हैं। इस लेख में लिखा है—

"गोस्वामी जी का जीवन-चरित उनके शिष्य महानुभाव महात्मा रघुवरदास जी ने लिखा है। इस ग्रंथ का नाम "तुलसीचरित" है। यह बड़ा ही बृहद् ग्रन्थ है। इसके मुख्य चार खण्ड हैं—(१) अवध, (२) काशी, (३) नर्मदा और (४) मथुरा; इनमें भी अनेक उपखंड हैं। इस ग्रंथ की छन्द-संख्या इस प्रकार लिखी हुई है—'चौ० एक लाख तैंतीस हजारा, नौ सै बासठ छन्द उदारा'। यह ग्रंथ महाभारत से कम नहीं है। इसमें गोस्वामी जी के जीवन-चरित-विषयक नित्य प्रति के मुख्य-मुख्य वृत्तान्त लिखे हुए हैं। इसकी कविता अत्यन्त मधुर, सरल और मनोरंजक है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि गोस्वामी जी के प्रिय शिष्य महात्मा रघुवरदास जी विरचित इस आदरणीय ग्रंथ की कविता श्रीरामचरित-मानस के टक्कर की है और यह 'तुलसीचरित' बड़े महत्त्व का ग्रंथ है। इससे प्राचीन समय की सभी बातों का विशेष परिज्ञान होता है। इस माननीय बृहद् ग्रंथ के 'अवध खण्ड' में लिखा है कि जब श्री गोस्वामी जी घर से विरक्त होकर निकले तो रास्ते में रघुनाथ नामक एक पंडित से भेंट हुई और गोस्वामी जी ने उनसे अपना सब वृत्तान्त कहा—

गोस्वामी जी का वचन—

चौपाई

काल अतीत यमुन तरनी के। वेदन करत चलेहुँ मुख फीके॥
हिय विराग लिय अपमित बचना। कं० मोह बैठो निज रचना॥

खींचत त्याग विराग बटोही मोह गेह दिसि कर सत मोही ॥
मिर जुगल बल बरनि न जाहीं। स्यन्दन वपू खेत वन माहीं ॥
तिनहुँ दिशा अपथ माह काटी। आठ कोस मिसिरन का पाटी ॥
पहुँचि ग्राम तट सुतरु रसाला। बैठेहुँ देखि भूमि सुविसाला ॥
पंडित एक नाम रघुनाथा। सकल शास्त्र पाठी गुण गाथा ॥
पूजा करत डरत मैं जाई। दंड प्रणाम कीन्ह सकुचाई ॥
सो मोहि कर चेष्टा सनमाना। बैठि गयउँ महितल भय माना ॥
बुध पूजा करि मोहि बुलावा। यह वृत्तान्त पूछब मन भावा ॥

× × ×

जुवा गौर शुचि बढ़नि विचारी। जनु विधि निज कर आपु सँवारी ॥
तुम विलोक आतुर गति धारी। धर्मशील नहिं चित्त बिकारी ॥
देखत तुम्हहिं दूर लगि प्रानी। अद्भुत सकल परस्पर मानी ॥
तात मात तिय भ्रात तुम्हारे। किमि न तात तुम्ह प्रान पियारे ॥
कुटुम परोस मित्र कोउ नाहीं। किधौं मूढ़ पुर वास सदा ही ॥
सन्यपात पकरे सब ग्रामा। चले भागि तुम तजि वह ठामा ॥
तब यात्रा विदेश कर जानी। बिदरि हृदय किमि मरे अयानी ॥
चित्त वृत्ति तुव दुख मह ताता। सुनत न जगत व्यक्त सब बाता ॥
मोते कहत अधिक सब लागा। अजहुँ जुरे देखत तरु योगा ॥
कहाँ तात ससुरारि तुम्हारी। तुम हँ बाय नहिं गहे अनारी ॥
जाति पाँति गृह ग्राम तुम्हारा। पिता पीठि का नाम अचारा ॥

दोहा—कहहु तात दस कोस लगि, विप्रन को व्यवहार।
मैं जानत भलि भाँति सब, सत अरु असत विचार ॥
चले अश्रु गद्गद हृदय, सात्विक भयो महान।
भुव नख रेख लग्यौं करन, मैं जिमि जड़ अज्ञान ॥

चौपाई

दया शील बुधवर रघुराई। तुरत लीन्ह मोहि हृदय लगाई ॥
अश्रु पोंछि बहु तोष देवाई। बिसे बीस सुत मम समुदाई ॥
लखौं चिह्न भिभन सम तारा। विलुचि मंजु मम गोत्र किशोरा ॥
जनि रोवहु प्रिय बाल मतीशा। मेटहिँ सकल दुसह दुख ईशा ॥
धीरज धरि मैं कथन विचारा। पुनि बुध कीन्ह विविध सतकारा ॥
परशुराम परपिता हमारे। राजापुर सुख भवन सुधारे ॥
प्रथम तीर्थ-यात्रा महँ आये। चित्रकूट लखि अति सुख पाये ॥
कोटि तीर्थ आदिक मुनि-वासा। फिरे सकल प्रमुदित गत आसा ॥
वीर मरुतसुत आश्रम आई। रहे रैनि तँह अति दुख पाई ॥
परशुराम सोये सुख पाई। तहँ मारुत-सुत स्वप्न देखाई ॥
बसहु जाय राजापुर ग्रामा। उत्तर भाग सुभूमि ललामा ॥
तुम्हरे चौथ पीढ़ि का एका। सत-समूह मुनि जन्म विवेका ॥

दम्पति तीरथ भ्रमे अनेका। जानि चरित अद्भुत गहि टेका॥
दम्पति रहे यत्न एक तेहवाँ गये कामदा शृंग कु जँहवा॥
नाना चमतकार तिन्ह पाई। सीतापुर नृप के ढिग आई॥
राजापुर निवास हित भाखा कहे चरित कुछ गुप्त न राखा॥
तीखनपुर तेहि की नृपधानी। मिश्र परशुरामहिँ नृप आनी॥

दोहा—अति महान विद्वान लखि, पठन शास्त्र षट आशु।
बहु सन्माने भूप तेह, कीन्ह द्विज मूल निवासु॥
सरयू के उत्तर बसत, मञ्जु देश सरवार।
राज मँझवली जानिये, कसया ग्राम उदार॥
राजधानि ते जानिये कोश विंश त्रय भूप।
जन्मभूमि मम और पुनि, प्रगट्यो बोध स्वरूप॥

चौपाई

बोध स्वरूप पँड ते भारी। उपल रूप महि दीन बलारी॥
जैनाभास चल्यो मत भारी। रच्छा जीव पूर्ण परिचारी॥
हेम सुकुल तेहि कुल के पंडित। छत्री धर्म सकल गुण मंडित॥
मैं पुनि गाना मिश्र कहावा। गणपति भाग यज्ञ महँ पावा॥
मम बिनु महा बश नहि कोई। मैं पुनि बिन सतान जा सोई॥
तिरसठि अब्द देह मम राजा। तिमि सम पत्नि जानि मति भ्राजा॥
खाचत स्वप्नवत लखि मग लोका। तीरथ करन चलेहुँ तजि सोका॥
चित्रकूट प्रभु आज्ञा पावा। प्रगट स्वप्न बहु बिधि दरसावा॥
भूप मानि मैं चलेहुँ रजाई। राजापुर निवास की ताई॥
निधन बसब राजापुर जाई। वृक्ष कलिन्द तीर सचुपाई॥
नगर गेह सुख मिलै कदापी। बसब न होहिं जहाँ परितापी॥
अति आदर करि भूप बसावा। बाम मार्ग पथ शुद्ध चलावा॥
स्वाद त्याग शिव शक्ति उपासी। जिनके प्रगट शम्भु गिरिवासी॥
परशुराम काशी तन त्यागे। राम मंत्र अति प्रिय अनुरागे॥
शम्भु कर्णगत दीन सुनाई। चढ़ि बिमान सुरधाम सिधाई॥
तिनके शङ्कर मिश्र उदारा। सुधु पंडित प्रसिद्ध संसारा॥

दोहा—परशुराम जु भूप को, दान भूमि नहिं लीन।
शिष्य मारवाड़ी अमित, धन गृह दीन्ह प्रवीन॥
वचन सिद्धि शङ्कर मिश्र, नृपति भूमि बहु दीन।
भूप गान अरु राज नर, भये शिष्य मति लीन॥
शङ्कर प्रथम विवाह ते, बसु सुत करि उत्पन्न।
द्वै कन्या द्वै सुत सुबुध, निसि दिन ज्ञान प्रसन्न॥

चौपाई

जोषित मृतक कीन अनुब्याहा। ताते मोरि साख बुधनाहा॥
तिनके संत मिश्र द्व आवा। रुद्रनाथ एक नाम जो ख्यावा॥

सोउ लघु बुध शिष्यन्ह महँ जाई। लाय द्रव्य पुनि भूमि कमाई ॥
रुद्रनाथ के सुत भे चारी। प्रथम पुत्र कौ नाम मुरारी ॥
सो मम पिता सुनिय बुध त्राता। मैं पुनि चारि सहोदर भ्राता ॥
ज्येष्ठ भ्रात मम गणपति नामा। ताते लघु महेस गुणधामा ॥
कर्मकाण्ड पण्डित पुनि दोऊ। अति कनिष्ठ मङ्गल कहि सोऊ ॥
तुलसी तुलाराम मम नामा। तुला अन्न धरि तौलि स्वधामा ॥
तुलसिराम कुलगुरू हमारे। जन्मपत्र मम देखि बिचारे ॥
हस्त प्रास पण्डित मति धारी। कह्यो बाल होइहि व्रतधारी ॥
धन विद्या तप होय महाना। तेजरासि बालक मतिमाना ॥
भरतखंड एहि सम एहि काला। नहि महान कोउ परमति शाला ॥
करिहि खचित नृपगन गुरुवाई। वचन सिद्धि खलु रहहि सदाई ॥
अति सुन्दर सरूप सित देहा। बुध मंगल भाग्यस्थल गेहा ॥
ताते यह विदेह सम जाई। अति महान पदवी पुनि पाई ॥
पचम केतु रुद्र-गृह राहू। जतन सहस्र वंश नहिं लाहू ॥

दोहा—राज योग दाउ रेख सु एहि, होइ अनेक प्रकार।
अब्दै दया मुनीस कोउ, लियो जन्म बर बार ॥

चौपाई

प्रेमहि तुलसि नाम मम राखी। तुलागेह तिय कहि अभिलाषी ॥
मातु भगिनि लघु रही कुमारी। कीन ब्याह सुन्दरी विचारी ॥
चारि भ्रात द्वै भगिनि हमारे। पिता मातु मम सहित निसारे ॥
भ्रात पुत्र कन्या मिलि नाथा। षोडस मनुज रहे एक साथा ॥

× × ×

बानी विद्या भगिनि हमारी। धम शील उत्तम गुण धारी ॥

× × ×

दोहा—अति उत्तम कुल भगिनि सब, ब्याही अति कुशलात।
हस्त प्रास पंडितन्ह गृह, ब्याहे सब मम भ्रात ॥

चौपाई

मोर ब्याह द्वै प्रथम जो भयऊ। हस्त प्रास भार्गव गृह ठयऊ ॥
भई स्वर्गवासी दोउ नारी। कुलगुरु तुलसि कहेउ व्रतधारी ॥
तृतिय ब्याह कंचनपुर माही। सोइ तिय पच विदेश अवगाही ॥
अहो नाथ तिन्ह कीन्ह खोटाई। मात भ्रात परिवार छोड़ाई ॥
कुलगुरु कथन भई सब साँची। रेख धन गिरा अवर सब काँची ॥
सुनहु नाथ कंचनपुर ग्रामा। उपाध्याय लछिमन अस नामा ॥
तिनकी सुता बुद्धिमति एका। धर्म शील गुन पुंज बिबेका ॥
कथा-पुराण-श्रवन बल भारी। अति कन्या सुन्दरि मतिधारी ॥

दोहा—मोह विप्र बहु द्रव्य ले, पितु मिलि करि उत्साह।
यदपि मातु पितु सो विमुख, भयो तृतिय मम ब्याह ॥

× × × ×

चौपाई

निज विवाह प्रथमहि करि जहवाँ। तीन सहस्र मुद्रा लिय तहवाँ ॥
षट् सहस्र लै मोहि विवाहे। उपाध्याय कुल पावन च्हाहे ॥

ऊपर लिखे हुए पदों का सारार्थ यह है कि सरयू नदी के उत्तरभागस्थ सरवार देश में मँझौली से तेइस कोस पर कसैयाँ ग्राम में गोस्वामी के प्रपितामह परशुराम मिश्र का जन्मस्थान था और यहीं के वे निवासी थे। एक बार वे तीर्थयात्रा के लिए घर से निकले और भ्रमण करते हुए चित्रकूट पहुँचे। वहाँ हनुमान्‌जी ने स्वप्न में आदेश दिया कि तुम राजापुर में निवास करो, तुम्हारी चौथी पीढ़ी में एक तपोनिधि मुनि का जन्म होगा। इस आदेश को पाकर परशुराम मिश्र सीतापुर में उस प्रान्त के राजा के यहाँ गये और उन्होंने राजा से हनुमान्‌जी की आज्ञा को याथातथ्य कह कर राजापुर में निवास करने की इच्छा प्रकट की। राजा इनको अत्यन्त श्रेष्ठ विद्वान् जानकर अपने साथ अपनी राजधानी तीरवनपुर में ले आया और उसने बहुत सम्मान-पूर्वक राजापुर में निवास कराया। उनके तिरसठ वर्ष की अवस्था तक कोई सन्तान नहीं हुई; इससे वे बहुत खिन्न होकर तीर्थयात्रा को गये तो पुनः चित्रकूट में स्वप्न हुआ और वे राजापुर लौट आये। उस समय राजा उनसे मिलने आया। तदनन्तर उन्होंने राजापुर में शिव-शक्ति के उपासकों की आचरण-भ्रष्टता से दुःखित होकर राजापुर में रहने की अनिच्छा प्रकट की; परन्तु राजा ने उनके मत का अनुयायी होकर बड़े सम्मान-पूर्वक उनको रक्खा और भूमिदान दिया, परन्तु उन्होंने ग्रहण नहीं किया। उनके शिष्यों में मारवाड़ी बहुत थे; उन्हीं लोगों के द्वारा इनको धन, गृह और भूमि का लाभ हुआ। अन्त काल में काशी जाकर इन्होंने शरीर त्याग किया। ये गाना के मिश्र थे और यज्ञ में गणेश जी का भाग पाते थे।

इनके पुत्र शंकर मिश्र हुए, जिनको वाक्सिद्धि प्राप्त थी। राजा और रानी तथा अन्यान्य राज्यवर्ग इनके शिष्य हुए और राजा से इन्हें बहुत भूमि मिली। इन्होंने दो विवाह किये। प्रथम से आठ पुत्र और दो कन्यायें हुईं; दूसरे विवाह से दो पुत्र हुए—(१) सन्त मिश्र, (२) रुद्रनाथ मिश्र। रुद्रनाथ मिश्र के चार पुत्र हुए। सबसे बड़े मुरारी मिश्र थे। इन्हीं महाभाग्यशाली महापुरुष के पुत्र गोस्वामी जी हुए।

गोस्वामी जी चार भाई थे—(१) गणपति, (२) महेश, (३) तुलाराम, (४) मंगल।

यही तुलाराम तत्त्वाचार्यवर्य भक्तचूड़ामणि गोस्वामी जी हैं। इनके कुलगुरु तुलसीराम ने इनका नाम तुलाराम रक्खा था। गोस्वामी जी के दो बहनें भी थीं। एक का नाम था वाणी और दूसरी का विद्या।

गोस्वामी जी के तीन विवाह हुए थे। प्रथम स्त्री के मरने पर दूसरा विवाह हुआ और दूसरी स्त्री के मरने पर तीसरा। यह तीसरा ब्याह कंचनपुर के लक्ष्मण उपाध्याय की पुत्री बुद्धिमती से हुआ। इस विवाह में इनके पिता ने छः हज़ार मुद्रा ली थी। इसी स्त्री के उपदेश से गोस्वामीजी विरक्त हुए थे।

इस ग्रंथ में दी हुई घटनायें और किसी ग्रंथ में नहीं मिलतीं। इसमें सन्देह नहीं कि यदि यह चरित गोस्वामी तुलसीदास जी के शिष्य महात्मा रघुवरदास जी का लिखा है तो इसमें दी हुई घटनायें अवश्य प्रामाणिक मानी जायँगी। परन्तु इस ग्रंथ का पहला उल्लेख 'मर्यादा' पत्रिका में ही हुआ है तथा अन्य किसी महाशय को इस ग्रंथ के देखने, पढ़ने या जाँचने का अब तक सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। मैंने इस ग्रंथ के देखने का उद्योग किया था परन्तु उसमें मुझे सफलता नहीं हुई। इस अवस्था में जो जो बातें उक्त लेख से विदित होती हैं उनका उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा। उनके विषय में निश्चित रूप से कोई सम्मति नहीं दी जा सकती। बाबू शिवनन्दनसहाय ने इस ग्रंथ के विषय में यह लिखा है—

"हमें ज्ञात हुआ है कि केसरिया (चंपारन) निवासी बाबू इन्द्रदेवनारायण को गोस्वामी जी के किसी चेले की, एक लाख दोहे चौपाइयों में लिखी हुई, गोस्वामी जी की जीवनी प्राप्त हुई है। सुनते हैं, गोस्वामी जी ने पहले उसके प्रचार न होने का शाप दिया था; किन्तु लोगों के अनुनय-विनय से शापमोचन का समय संवत् १९६७ निर्धारित कर दिया। तब उसकी रक्षा का भार उसी प्रेत को सौंपा गया जिसने गोस्वामी जी को श्री हनुमान् जी से मिलने का उपाय बता श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन का उपाय बताया था। वह पुस्तक भूटान के किसी ब्राह्मण के घर पड़ी रही। एक मुंशी जी उसके बालकों के शिक्षक थे। बालकों से उस पुस्तक का पता पाकर उन्होंने उसकी पूरी नकल कर डाली। इस गुरुतर अपराध से क्रोधित हो वह ब्राह्मण उनके वध के निमित्त उद्यत हुआ तो मुंशी जी वहाँ से चंपत हो गये। वही पुस्तक किसी प्रकार अलवर पहुँची और फिर पूर्वोक्त बाबू साहब के हाथ लगी। क्या हम अपने स्वजातीय इन मुंशी जी की चतुराई और बहादुरी की प्रशंसा न करेंगे? उन्होंने सारी पुस्तक की नकल कर ली, तब तक ब्राह्मण देवता के कानों तक खबर न पहुँची, और जब भागे तब अपने बोरिये-बस्ते के साथ उस बृहत्काय ग्रंथ को भी लेते हुए। इनके साथ ही क्या अपने दूसरे भाई को यह अश्रुतपूर्व और अलभ्य पुस्तक हस्तगत करने पर बधाई न देनी चाहिए? पर प्रेत ने उसकी कैसे रक्षा की और वह उस ब्राह्मण के घर कैसे पहुँची? यह कुछ हमारे संवाददाता ने हमें नहीं बताया। जो हो, जिस प्रेत की बदौलत सब कुछ हुआ, उसके साथ गोस्वामी जी ने यथोचित प्रत्युपकार नहीं किया। बनखंडी तथा केशवदास के समान उसके उद्धार का उपयोग तो भला करते, उल्टे उसके माथे ३०० वर्ष तक अपनी जीवनी की रक्षा का भार डाल दिया।"

(६) गोस्वामी जी ने अपने विषय में विनय-पत्रिका, कवितावली, हनुमानबाहुक आदि ग्रंथों में जो जो बातें लिखा हैं उनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा।

(३) जन्म-समय

पंडित रामगुलाम द्विवेदी की सुनी-सुनाई बातों के अनुसार उनका जन्म-संवत् १५८९ है। इसे डा० ग्रिअर्सन ने भी माना है और 'मिश्रबन्धुविनोद' में भी यही स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत 'शिवसिंहसरोज' में लिखा है कि वे संवत् १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे। पहले से गोस्वामी जी की आयु ९१ और दूसरे से ९७ वर्ष आता है। अब तक विद्वानों ने गोस्वामी जी का जन्म-संवत् १५८९ ही माना है।

श्रीयुत इन्द्रदेवनारायण जी इस संबंध में लिखते हैं—"श्री गोस्वामी जी की शिष्य-परम्परा की चौथी पुश्त में काशी-निवासी विद्वद्वर श्री शिवलाल जी पाठक हुए, जिन्होंने वाल्मीकीय रामायण पर संस्कृत-भाष्य तथा व्याकरणादि विषय पर भी अनेक ग्रंथ निर्माण किये हैं। उन्होंने रामचरितमानस पर भी मानसमयंक नामक तिलक रचा है। उसमें लिखा है—

दोहा—मन ४ अपर शर ५ आनिये, शर ५ पर दीन्हें एक १।
तुलसी प्रगटे रामवत्, रामजन्म की टेक ॥
सुने गुरू ते बीच शर ५, सन्त बीच मन ४० गान।
प्रगटे सतहत्तर परे, ताते कहे चिधान ॥

अर्थात् १५५४ सं० में गोस्वामी जी प्रकट हुए और पाँच वर्ष की अवस्था में गुरु से कथा सुनी, पुन: चालीस वर्ष की अवस्था में संतों से भी वही कथा सुनी और उन्होंने सतहत्तरवें वर्ष के बाद अठहत्तरवें वर्ष में 'रामचरितमानस' की रचना आरम्भ की। उनकी अठहत्तर वर्ष की अवस्था सं० १६३१ में थी और १६८० संवत् में वे परमधाम सिधारे। इस प्रकार १५५४ में ७७ जोड़ने से १६३१ संवत् हुआ। संवत् १५५४ वाँ साल मिलाकर अठहत्तर वर्ष की अवस्था गोस्वामी जी की थी जब मानस आरम्भ हुआ और १२७ वर्ष की दीर्घ आयु भोग कर गोस्वामी जी परमधाम सिधारे।" १२७ वर्ष की आयु होना असम्भव बात नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि महात्मा रघुवरदास जी ने अपने तुलसीचरित में गोस्वामी जी के जन्म का कोई संवत् दिया है या नहीं।

बाबा वेणीमाधवदास ने इस संबंध में यह लिखा है—

जब कर्क में जीव हिमांशु चरै।
कुज सप्तम अष्टम भानु तनै। अभिजित सुन्दर साँझ समै।
पन्द्रह से चउवन विषै, कालिन्दी के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ शरीर ॥

संवत् १५५४ में दो श्रावण मास पड़े थे। शुद्ध श्रावण मास से तात्पर्य जान पड़ता है। गणना करने पर इस दिन शनिवार था। हमारी सम्मति में यही तिथि मान्य होनी चाहिए।

(४) जन्म-स्थान

इनके जन्म-स्थान के विषय में भी कहीं कोई लिखा प्रमाण नहीं मिलता। कोई कहता है कि इनका जन्म तारी में हुआ; कोई हस्तिनापुर, कोई चित्रकूट के पास हाजीपुर और कोई बाँदा ज़िले में राजापुर को इनका जन्म-स्थान बतलाता है। बहुत से लोग तारी को प्रधानता देते हैं। परन्तु पण्डित रामगुलाम के मत से राजापुर ही इनका जन्म-स्थान है। 'शिवसिंहसरोज' में भी बाबा वेणीमाधवदास के आधार पर इसी स्थान को माना है, तथा महात्मा रघुवरदास जी के लेख से भी यही प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त राजापुर में गोस्वामी जी की कुटी, मंदिर आदि हैं। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि गोस्वामी जी का जन्म राजापुर में हुआ।*

---

* पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने जन्म-स्थान के विवाद को लेकर अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में इस विषय का विवेचन किया है—वह यहाँ दिया जाता है—

'मै पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत' को लेकर कुछ लोग गोस्वामी जी का जन्मस्थान ढूँढ़ने एटा ज़िले के सोरों नामक स्थान तक सीधे पच्छिम दौड़े हैं। पहले पहल उस ओर इशारा स्व० रा० ब० लाला सीताराम ने (राजापुर के) अयोध्याकांड के स्व-सम्पादित संस्करण की भूमिका में दिया था। उसके बहुत दिन पीछे उसी इशारे पर दौड़ लगी और अनेक प्रकार के कल्पित प्रमाण सोरों को जन्मस्थान सिद्ध करने के लिए तैयार किये गये। सारे उपद्रव की जड़ है 'सूकर खेत', जो भ्रम से सोरों समझ लिया गया। 'सूकर क्षेत्र' गोंडा ज़िले में सरजू के किनारे एक पवित्र तीर्थ है, जहाँ आसपास के कई ज़िलों के लोग स्नान करने जाते हैं और मेला लगता है।

जिन्हें भाषा की परख है उन्हें यह देखते देर न लगेगी कि तुलसीदास जी की भाषा में ऐसे शब्द, जो स्थान-विशेष के बाहर नहीं बोले जाते हैं, केवल दो स्थानों के हैं—चित्रकूट के आस-पास के और अयोध्या के आस-पास के। किसी कवि की रचना में यदि किसी स्थान विशेष के भीतर ही बोले जानेवाले अनेक शब्द मिले तो उस स्थान-विशेष से कवि का निवास-संबंध मानना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर यह बात मन में बैठ जाती है कि तुलसीदास जी का जन्म राजापुर में हुआ जहाँ उनकी कुमार अवस्था बीती। सरवरिया होने के कारण उनके कुल के तथा संबंधी अयोध्या, गोंडा और बस्ती के आस-पास थे, जहाँ उनका आना-जाना बराबर रहा करता था। विरक्त होने पर वे अयोध्या में ही रहने लगे थे। 'रामचरितमानस' में आये हुए कुछ शब्द और प्रयोग यहाँ दिये जाते हैं जो अयोध्या के आस-पास ही (बस्ती, गोंडा आदि के कुछ भागों में) बोले जाते हैं—

माहुर = विष। सरौं = कसरत; फहराना या फरहराना = प्रफुल्लचित्त होना (सरौं करहिं पायक फहराई)। फुर = सच। अनभल ताकना = बुरा मनाना (जेहि राउर अति अनभल ताका)। राउर, रउरेहि = आपको (भलउ कहत दुख रउरेहि लागा)। रमा लही = रमा ने पाया (प्रथम पुरुष स्त्री० बहुवचन उ०—भरि जनम जे पाये न ते परितोष उमा रमा लहीं)। कूटि = दिल्लगी, उपहास।

इसी प्रकार ये शब्द चित्रकूट के आसपास तथा बघेलखंड में ही (जहाँ की भाषा पूरबी हिंदी या अवधी ही है) बोले जाते हैं—

कुराय = वे गड्ढे जो करैल पोली ज़मीन में बरसात के कारण जगह जगह पड़ जाते हैं (काँट कुराय लपेटन लोटन ठाँवहि ठाँव बझाऊ रे।—विनय०)।

सुआर = सूपकार, रसोइया।

ये शब्द और प्रयोग इस बात का पता देते हैं कि किन स्थानों की बोली गोस्वामीजी की अपनी थी। आधुनिक काल के पहले साहित्य या काव्य की सर्वमान्य व्यापक भाषा ब्रज ही रही है, यह तो निश्चित है। भाषा काव्य के परिचय के लिए प्रायः सारे उत्तर भारत के लोग बराबर इसका अभ्यास करते थे और अभ्यास द्वारा सुंदर रचना भी करते थे। ब्रजभाषा में रीतिग्रंथ लिखनेवाले चिंतामणि, भूषण, मतिराम, दास इत्यादि अधिकतर कवि अवध के थे और ब्रजभाषा के सर्वमान्य कवि माने जाते हैं। दास जी ने तो स्पष्ट व्यवस्था ही दी है कि 'ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानौ'। पर पूरबी हिंदी या अवध के संबंध में यह बात नहीं है। अवधी भाषा में रचना करनेवाले जितने कवि हुए हैं, सब अवध वा पूरब के थे। किसी पछाहीं कवि ने कभी पूरबी हिंदी या अवधी पर ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं किया कि उसमें रचना कर सके। जो बराबर सोरों की पछाहीं बोली (ब्रज) बोलता आया होगा वह 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' की-सी ठेठ अवधी लिखेगा, 'मानस' ऐसे महाकाव्य की रचना अवधी में करेगा और व्याकरण के ऐसे देशबद्ध प्रयोग करेगा जैसे ऊपर दिखाये गये हैं? भाषा के विचार में व्याकरण के रूपों का मुख्यतः विचार होता है।

भक्त लोग अपने को जन्म जन्मांतर से अपने आराध्य इष्टदेव का सेवक मानते हैं। इसी भावना के अनुसार तुलसी और सूर दोनों ने कथा-प्रसंग के भीतर अपने को गुप्त या प्रकट रूप में राम और कृष्ण के समीप तक पहुँचाया है। जिस स्थल पर ऐसा हुआ है वहीं कवि के निवासस्थान का पूरा संकेत भी है। 'रामचरित मानस' के अयोध्याकांड में वह स्थल देखिए जहाँ प्रयाग से चित्रकूट जाते हुए राम जमुना पार करते हैं और भरद्वाज के द्वारा साथ लगाये हुए शिष्यों को बिदा करते हैं। राम-सीता तट पर के लोगों से बात-चीत कर ही रहे हैं कि—

> तेहि अवसर एक तापस आवा। तेजपुंज लघु बयस सुहावा॥
> कवि अलषित गति वेष बरागी। मन क्रम वचन राम-अनुरागी॥
> सजल नयन तन पुलक निज इष्ट देउ पहिचानि।
> परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि॥

यह तापस एकाएक आता है कब जाता है, कौन है, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। बात यह है कि इस ढंग से कवि ने अपने को ही तापस रूप में राम के पास पहुँचाया है और ठीक उसी प्रदेश में जहाँ के वे निवासी थे अर्थात् राजापुर के पास।

सूरदास ने भी भक्तों की इस पद्धति का अवलंबन किया है। यह तो निर्विवाद है कि वल्लभाचार्य्य जी से दीक्षा लेने के उपरांत सूरदास जी गोवर्द्धन पर श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्त्तन किया करते थे। अपने सूरसागर के दशम स्कंध के आरंभ में सूरदास ने श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए अपने को ढाढ़ी के रूप में नंद के द्वार पर पहुँचाया है—

> नंद जू! मेरे मन आनंद भयो, हौं गोवर्द्धन तें आयो।
> तुम्हरे पुत्र भयो मैं सुनि कै अति आतुर उठि धायो॥
> *   *   *   *
> जब तुम मदनमोहन करि टेरौ, यह सुनि कै घर जाउँ।
> हौं तो तेरे घर को ढाढ़ी, सूरदास मेरो नाउ॥

सबका सारांश यह है कि तुलसीदास का जन्मस्थान जो राजापुर प्रसिद्ध चला आता है, वही ठीक है।

(५) जाति

कोई इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण, कोई सरयूपारी और कोई सनाढ्य कहता है। राजा प्रतापसिंह ने भक्त-कल्पद्रुम में इन्हें कान्यकुब्ज लिखा है। पर 'शिवसिंहसरोज' में इन्हें सरयूपारी माना है। डाक्टर ग्रिअर्सन, पं० रामगुलाम द्विवेदी के आधार पर, इन्हें पराशर गोत्र के सरयूपारी दुबे लिखते हैं। "तुलसी पराशर गोत दुबे पतिऔजा के" ऐसा प्रसिद्ध भी है। विनय-पत्रिका में तुलसीदास जी स्वयं लिखते हैं—"दियो सुकुल जन्म सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।" पर यहाँ "सुकुल" से उत्तम कुल का अर्थ ही लगाना युक्ति-संगत जान पड़ता है।

'हिन्दी-नवरत्न' में लिखा है कि "इनको सरयूपारीण मानने में दो आपत्तियाँ हैं। एक यह कि पूरा ज़िला बाँदा में और राजापुर के इर्द गिर्द कान्यकुब्ज द्विवेदियों की बस्ती है न कि सरवरिया ब्राह्मणों की। सो यदि गोस्वामी जी द्विवेदी थे तो उनका कान्यकुब्ज होना विशेष माननीय है। दूसरे इनका विवाह पाठकों के यहाँ हुआ था जिनका कुल सरवरिया ब्राह्मणों में बहुत ऊँचा है और द्विवेदियों का उनसे नीचा। सो पाठकों की कन्या द्विवेदियों के यहाँ नहीं ब्याही जा सकती, क्योंकि कोई भी उच्चवंशवाला मनुष्य अपनी कन्या नीच कुल में नहीं ब्याहता। कनौजियों में पाठकों का घराना द्विवेदियों से नीचा है। अतएव पाठकों की लड़कियों का द्विवेदियों के यहाँ ब्याहा जाना उचित है।" पर तुलसीचरित से इनका सरवरिया ब्राह्मण गाना के मिश्र होना स्पष्ट है। इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि गोस्वामी जी का विवाह पाठकों के यहाँ हुआ। इसलिए इस सम्बन्ध में मिश्र-बन्धुओं का कथन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। बाबा बेनीमाधवदास ने गोस्वामी जी के पुरखों का कसया में नहीं, पत्यौजा में रहना कहा है और उनके कुल का अल्ल भुरावे बतलाया है। काष्ठजिह्वा स्वामी ने भी कहा है—"तुलसी पराशर गोत दुबे पतिऔजा के।"

कुछ लोगों का कहना है कि तुलसीदास ने स्वयं कहा है 'जाये मंगन कुल' और इस आधार पर वे उन्हें भिखमंगे की संतान कह बैठते हैं, परन्तु तुलसीदास ने एक दूसरे स्थान पर स्वयं लिखा है—"दियो सुकुल जन्म सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।" इससे स्पष्ट है कि वे उच्च कुल में उत्पन्न हुए थे। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने उन्हें सनाढ्य माना है। किन्तु सब बातों पर विचार करने से यह जान पड़ता है कि तुलसीदास जी सरयूपारी ब्राह्मण थे।

(६) माता-पिता

गोस्वामी जी ने स्पष्ट रूप से कहीं अपने ग्रंथों में अपने माता-पिता का नाम नहीं लिखा है। लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे था और माता का नाम हुलसी। आगे लिखा यह दोहा इसके प्रमाण में उद्धृत किया जाता है—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहत अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय॥

इस दोहे का उत्तरांश रहीम खानखाना का बनाया कहा जाता है। लोगों का कथन है कि इसमें 'हुलसी' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, जिसका यह प्रमाण है कि इनकी माता का नाम हुलसी था। बाबा बेणीमाधवदास ने स्पष्ट लिखा है कि उनकी माता का नाम हुलसी था। स्वयं तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में लिखा है—रामहिं प्रिय पावन तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी॥

"तुलसी-चरित" के अनुसार तुलसीदास ने स्वयं अपने पूर्वजों तथा भाई बहिनों का वर्णन किया है जिसके अनुसार उनके प्रपितामह परशुराम मिश्र थे, जिनके पुत्र शंकर मिश्र हुए। इनके दो पुत्र सन्त मिश्र और रुद्रनाथ मिश्र हुए। रुद्रनाथ मिश्र के चार पुत्र और दो कन्यायें हुईं। पुत्रों के नाम गणपति, महेश, तुलाराम और मंगल तथा कन्याओं के वाणी और विद्या थे। ये तुलाराम हमारे चरित्रनायक गोस्वामी तुलसीदास जी हैं।

'विनयपत्रिका' में तुलसीदास जो स्वयं लिखते हैं "राम को गुलाम नाम राम बोला राम राख्यो"। इससे इनका एक नाम रामबोला होना स्पष्ट है। पर तुलसी-चरित्र में लिखा है—

तुलसी तुलाराम मम नामा। तुला अन्त धरि तौलि स्वधामा॥
तुलसि-राम कुलगुरू हमारे। जन्मपत्र मम देखि बिचारे॥
प्रेमहिं तुलसि नाम मम राखी। तुलाराह तिय काहि अभिलाषी॥

इससे यही सिद्धान्त निकलता है कि इनका नाम तुलाराम था, जिसे कुलगुरु ने तुलसी-राम कर दिया। पीछे से अपनी दीनता दिखाने के लिए अथवा यों हो ये अपने को तुलसीदास कहने लगे। विनयपत्रिका से उद्धृत पद का यही अर्थ माना जा सकता है, जैसा कि बाबा बेणीमाधवदास ने लिखा है कि जन्म होते ही इनके मुँह से राम शब्द निकला, इसलिए जन्म का नाम रामबोला पड़ा। 'कवितावली' में तुलसीदास जो स्वयं लिखते हैं—

"मातु, पिता जग जाइ तज्यो बिधि हू न लिख्यो कछु भाल भलाई।"

विनयपत्रिका में भी तुलसीदास जी स्वयं कहते हैं—

"नाम राम रावरो हित मेरे।
स्वारथ परमारथ साथिन सों भुज उठाय कहौं टेरे।
जनक जननि तज्यो जनमि करम बिनु बिधि सिरज्यो अवडेरे।
मोहु से कोउ कोउ कहत राम को तो प्रसंग केहि केरे।
फिर्यो ललात बिन नाम उदर लगि दुखहु दुखित मोहि हेरे।
नाम-प्रसाद लहत रसाल फल अब हौं बबुर बहेरे।
साधत साधु लोक परलोकहि सुनि गुनि जतन घनेरे।
तुलसी के अवलम्ब नाम ही की एक गाँठि केइ फेरे।"

"द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।
ह्वै दयालु दुनी दसौ दिसा दुख दोष दलन छमि कियो न सम्भाषन काहूँ।
तनु तज्यों कुटिल कीट ज्यों त्यों मात-पिता हूँ।
काहे को रोष दोस काहि धौं मेरे ही अभाग मोसों सकुचत सब छुइ छाहूँ।
दुखित देख सन्तन कहेउ सोचै जनि मन माहूँ।
तोसे पसु पाँवर पातकि परिहरे न सरन गये रघुबर ओर निबाहूँ।
तुलसी तिहारो भये भयो सुखी प्रीति प्रतीत बिना हूँ।
नाम की महिमा सील नाथ को मेरो भलो बिलोकि अब तें सकुचाउँ सिहाहूँ।"

इनसे स्पष्ट है कि माता-पिता ने इन्हें छोड़ दिया था। पंडित सुधाकर द्विवेदी के आधार पर डा० ग्रिअर्सन अनुमान करते हैं कि अभुक्त मूल में जन्म होने के कारण इनके माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया था। मूल नक्षत्र में जन्मे लड़कों की मूल-शान्ति और गोमुख-प्रसव-शान्ति भी शास्त्र के लेखानुसार होती है, प्राय: लड़के अनाथ की तरह नहीं छोड़ दिये जाते। इसलिए यह भी अनुमान किया जाता है कि या तो माता-पिता ने इन्हें कबीर जी की तरह फेंक दिया हो, या इनके जन्म के पीछे ही उनकी मृत्यु हो गई हो। परन्तु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। क्योंकि इनके जन्म लेते ही यदि माता-पिता मर जाते या उन्होंने फेंक दिया होता तो तुलसीदास जी के कुल, वंश आदि का पता लगना कठिन होता। तुलसीचरित में यह लिखा है—

......................। कुलगुरु तुलसि कह्यो व्रतधारी॥
तृतीय ब्याह कंचनपुर माही। सोइ तिय वच विदेश अवगाही॥
अहो नाथ तिन्ह कीन्ह खोटाई। मात भ्रात परिवार छोड़ाई॥
यदपि मातु पितु सो विमुख भयो तृतीय मम ब्याह॥

इससे यह स्पष्ट होता है कि तीसरे विवाह तक तुलसीदास जी अपने माता-पिता के साथ थे। तीसरा विवाह होने पर वे उनसे अलग हुए। दोनों बातें, अर्थात् तुलसीदास जी का स्वयं कथन और तुलसीचरित का वर्णन, एक दूसरे के विपरीत पड़ती हैं और माता-पिता के छोड़ने की घटना को स्पष्ट नहीं करतीं। स्वयं तुलसीदास जी के कथन के अनुसार जन्म देकर माता-पिता ने उन्हें छोड़ दिया था और तुलसीचरित के अनुसार तीसरा ब्याह होने पर माता-पिता से वे विमुख हुए। दोनों कथनों में समानता इतनी ही है कि ये माता-पिता से अलग हुए। पर कब हुए? इसमें दोनों कथनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। बाबा वेणीमाधवदास ने स्पष्ट लिखा है कि इनके जन्म होने पर लोगों को संदेह हुआ कि यह कोई राक्षस उत्पन्न हुआ है अत: उनका अनुमान था कि यह तीन दिन के अन्दर मर जायगा। प्रसव के बाद इनकी माता हुलसी की अवस्था बिगड़ चली। उसे ऐसा भास हुआ कि मैं अब नहीं बचूँगी। इसलिए उसने अपनी दासी को समझा बुझाकर तथा उसे अपने आभूषण देकर बालक को अपनी सास के पास हरिपुर पहुँचाने पर राज़ी कर लिया। मुनियाँ बालक को लेकर रातों रात हरिपुर चली गई। उसकी सास चुनियाँ ने बालक को प्रेम से रख लिया और वह उसका पालन करने लगी। यह

अवस्था ५ वर्ष ५ महीना रही। चुनियाँ की मृत्यु साँप के काटने से हो गई। तब उस बालक की देख भाल करनेवाला कोई न रहा। वह इधर-उधर मारा मारा फिरता और किसी तरह माँग जाँचकर अपना पेट भर लेता। कोई कोई दयापूर्वक उसे खाने को दे देते थे। यह अवस्था लगभग दो वर्ष तक रही। तब नरहरिदास ने इन्हें अपनी रक्षा में लिया। ये सब घटनायें तुलसीदास के अपने उल्लेख से अक्षर अक्षर मिलती हैं। अतएव इनको ठीक मानने में कोई आगा-पाछा न होना चाहिए।

(७) गुरु का नाम

तुलसीदास जी 'रामचरितमानस' में लिखते हैं—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिँ तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥
तदपि कही गुरु बारहिँ बारा। समुझि परी कछु बुधि अनुसारा॥
भाषा बन्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध अस होई॥

परन्तु गुरु का नाम उन्होंने कहीं नहीं दिया है। 'रामचरितमानस' के आदि में, मंगलाचरण में, यह सोरठा लिखा है—

बंदउँ गुरुपद कंज, कृपासिंधु नररूप हर। महा मोह तम पुंज, जासु बचन रविकर-निकर॥

इसी "नररूप हर" से लोगों ने निकाला है कि नरहरिदास इनके गुरु थे। नरहरिदास रामानन्द जी के बारह शिष्यों में से थे, परन्तु इनकी गुरुपरम्परा की एक सूची डाक्टर ग्रिअर्सन को मिली है जो आगे दी जाती है। उक्त डाक्टर साहब को एक सूची पटने से भी मिली है जो लगभग इसी से मिलती है। अन्तर इतना ही है कि रामानुज स्वामी तक परम्परा नहीं दी है और कहीं-कहीं नामों में कुछ अन्तर है तथा कोई कोई नाम नहीं भी है जैसे नं० १३, १४ शठकोपाचार्य और कूरेशाचार्य का नाम नहीं है, नं० १७ श्री वाकाचार्य के स्थान पर अमयतान्द्राचार्य है, नं० २३ श्री रामेश्वरानंद के स्थान पर श्राराम मिश्र, नं० ३१ श्री अय्यानंद का नाम नहीं है, नं० ३७ श्री गरीबानन्द के स्थान पर श्री गरीबदास है।

१ श्रीमन्नारायण। २ श्री लक्ष्मी। ३ श्रीधर मुनि। ४ श्री सेनापति मुनि। ५ श्री कारिसूनि मुनि। ६ श्री सैन्यनाथ मुनि। ७ श्रीनाथ मुनि। ८ श्रीपुण्डरीक। ९ श्रीराम मिश्र। १० श्री पारांकुश। ११ श्री यामुनाचार्य। १२ श्री रामानुज स्वामी। १३ श्री शठकोपाचार्य*। १४ श्री कूरेशाचार्य। १५ श्री लोकाचार्य। १६ श्री पाराशराचार्य। १७ श्री वाकाचार्य। १८ श्री लोकार्य (लोकाचार्य।) १९ श्री देवाधिपाचार्य। २० श्री शैलेशाचार्य। २१ श्री पुरुषोत्तमाचार्य। २२ श्री गंगाधरानन्द। २३ श्री रामेश्वरानन्द। २४ श्री द्वारानन्द। २५ श्री देवानन्द। २६ श्री

* रामानुजसंप्रदाय के ग्रंथों से स्पष्ट है कि शठकोपाचार्य रामानुज से पहले हुए हैं और यहाँ पीछे लिखा है इसलिए यह सूची ठीक नहीं।

श्यामानन्द। २७ श्री श्रुतानन्द। २८ श्री नित्यानन्द। २९ श्री पूर्णानन्द। ३० श्री हर्यानन्द। ३१ श्री श्रव्यानन्द। ३२ श्री हरिवर्य्यानन्द। ३३ श्री राघवानन्द। ३४ श्री रामानन्द। ३५ श्री सुरसुरानन्द। ३६ श्री माधवानन्द। ३७ श्री गरीबानन्द। ३८ श्री लक्ष्मीदास जी। ३९ श्री गोपालदास जी। ४० श्री नरहरिदास जी। ४१ श्री तुलसीदास जी।

स्वामी रामानन्द जी का समय संवत् १३५६ से १४६७ तक है। बाबा वेणीमाधवदास ने तो स्पष्ट शब्दों में इनके गुरु का नाम नरहरिदास लिखा है जो रामानन्द के शिष्य अनंतानंद के शिष्य थे। इस हिसाब से नरहरिदास जी का सोलहवीं शताब्दी में होना संभव है। 'तुलसी-चरित' में इसके संबंध में लिखा है कि गोस्वामी जी के गुरु रामदास जी थे।

चौपाई।

तब गुरु रामदास पहचानी। राम यज्ञ विधि श्रुति मत ठानी।
द्वादस दिन फलहार कराई। दिये मौनव्रत मेरी ताँई॥
राम बीज जुत मन्त्र जपावा। कष्टसाध्य सब नियम करावा॥
बीज मन्त्र तुलसी के पाना। लिखि त्रिकाल ध्यावत हित शाना॥

इन्हीं रामदास जी से गोस्वामी जी ने विद्या भी प्राप्त की।

चौपाई।

पुन भारती यज्ञ मम हेता। कियो परम गुरुदेव सचेता॥
पढ़ि पुनि पाणिनीय को ग्रथा। वसु अध्याय शब्दकर पंथा॥
दीक्षित ग्रंथ समग्र बिचारी। पढ़े कृपा गुरु शेखर भारी॥
कौस्तुभादि महभाष्य विचारा। × × × ×॥
वरष एक मह शब्दहिँ जोई। पुनि षट्शास्त्र वर्ष महँ गोई॥
सकल पुरान काव्य अवलोकी। तीन वर्ष महँ भयो विशोकी॥

इस प्रकार रघुवरदास के मत को छोड़ कर तुलसीदास की गुरु-परंपरा के विषय में हमें तीन मत मिलते हैं। एक के अनुसार वे रामानन्द की दूसरी पीढ़ी में, दूसरी के अनुसार आठवीं पीढ़ी में और तीसरी के अनुसार चौथी पीढ़ी में हुए थे। ऐतिहासिक दृष्टि से अंतिम मत ही ठीक जान पड़ता है।

(८) दीक्षा और शिक्षा

बाबा वेणीमाधवदास ने स्पष्ट लिखा है कि तुलसीदास को अनंतानन्द के शिष्य नरहरियानन्द ने ७ वर्ष की अवस्था में अपने आश्रय में लिया और संवत् १५६१ में विधिवत् उनका यज्ञोपवीतसंस्कार कर उन्हें विद्या पढ़ाना आरंभ किया। उन्होंने उनको पाणिनीय का व्याकरण घुखाया। अयोध्या में दस मास रहकर वे सूकर-खेत को गये। वहाँ ५ वर्ष तक रहे। यहाँ पर उन्होंने अपने शिष्य को रामायण की कथा सुनाई। फिर अनेक स्थानों पर घूमते हुए वे काशी आये और अपने गुरु के स्थान पर ठहरे। वहाँ पर शेष सनातन जी ने बालक तुलसीदास

को नरहरियानंद से माँग लिया और उसे वे प्रेमपूर्वक पढ़ाने लगे। १५ वर्ष तक यहाँ शिक्षक की सेवा में रहकर तुलसीदास जी ने सब शास्त्र पढ़े। गुरु का देहान्त होने पर उनको अपनी जन्म-भूमि देखने की इच्छा हुई। राजापुर में जाकर उन्होंने देखा कि उनके वंश का नाश हो गया और घर टूटकर खँडहर हो गया। वहाँ पर ग्रामवासियों ने नया घर बनवा दिया और उसमें बसकर तुलसीदास रघुपति की कथा लोगों को सुनाने लगे।

(९) विवाह, सन्तान और वैराग्य

यह प्रसिद्ध है कि इनका विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था, जिससे तारक नामक एक पुत्र भी हुआ था, जो बचपन में ही मर गया था। परन्तु 'तुलसी-चरित' में लिखा है कि इनके तीन विवाह हुए थे। तीसरा विवाह कंचनपुर ग्राम के उपाध्याय लछमन को कन्या बुद्धिमती से हुआ था। इसी के उपदेश से गोस्वामी जी विरक्त हुए थे।

बाबा वेणीमाधवदास ने इस प्रसंग में लिखा है कि यमुना के उस पार तारपिता गाँव में भारद्वाज गोत्रीय एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण रहते थे। उनके एक कन्या थी जिसके विवाह की वे चिंता में रहते थे। यमद्वितीया का स्नान करने वे राजापुर आये और वहाँ उन्होंने तुलसीदास की कथा सुनी। वे तुलसीदास की विद्या, बुद्धि और शारीरिक सौन्दर्य के कारण उन पर मुग्ध हो गये और उन्हीं को अपनी कन्या देने का उन्होंने निश्चय किया। चैत्र मास में वे ब्राह्मण देवता तुलसीदास के पास आये और उनसे अपना मनोरथ कहा। पहले तो तुलसीदास ने बहुत समझाया बुझाया किन्तु अंत में बहुत आग्रह करने पर मान गये। निदान संवत् १५८३ की ज्येष्ठ सुदी १३ को आधीरात के समय, जब कि उनकी आयु २८ वर्ष १० महीने की थी, उनका विवाह हो गया। तुलसीदास जी अपनी स्त्री पर बहुत आसक्त थे। वे ४ वर्ष तक गृहस्थी के झंझट में फँसे रहे। एक दिन उनकी स्त्री बिना कहे मैके चली गई। गोस्वामी जी से पत्नी-वियोग न सहा गया, वहाँ जाकर वे स्त्री से मिले। स्त्री ने उन्हें लज्जित करते हुए ये दोहे कहे—

> "लाज न लागत आपुको, दौरे आयेहु साथ।
> धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहूँ मैं नाथ॥
> अस्थि-चरम-मय देह मम, ता में जैसी प्रीति।
> तैसी जौं श्रीराम महँ, होत न तौ भवभीति॥"

यह बात गोस्वामी जी को ऐसी लगी कि वे वहाँ से सीधे प्रयाग चले आये और विरक्त हो गये। स्त्री ने बहुत कुछ बिनती की और भोजन करने को कहा, परन्तु उन्होंने एक न सुनी। उनका साला भी बहुत दूर तक उनके पीछे पीछे गया, पर किसी प्रकार भी समझाने बुझाने पर वे लौटे नहीं। पतिवियोग में आषाढ़ बदी १० संवत् १५८९ को स्त्री का देहान्त हो गया। किंवदंती इस स्त्री को बहुत दिनों तक जीवित रखती है। कहते हैं कि घर छोड़ने के पीछे एक बेर स्त्री ने यह दोहा गोसाईं जी को लिख भेजा—

कटि की खीनी, कनक सी, रहति सखिन सँग सोइ।
मोहि कटे की डर नहीं, अनत कटे डर होइ॥

इसके उत्तर में गोस्वामी जी ने लिखा—

कटे एक रघुनाथ सँग, बाँधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेमरस, पत्नी के उपदेस॥

बहुत दिनों के पीछे वृद्धावस्था में एक दिन तुलसीदास जी चित्रकूट से लौटते समय अनजानते अपने ससुर के घर आकर टिके। उनकी स्त्री भी बूढ़ी हो गई थी। वह बिना पहचाने हुए ही उनके आतिथ्य-सत्कार में लगी। उसने चौका आदि लगा दिया। दो-चार बातें होने पर उसने पहचाना कि ये तो मेरे पतिदेव हैं। उसने इस बात को गुप्त रक्खा और उनका चरण धोना चाहा; परंतु उन्होंने धोने न दिया। पूजा के लिए उसने कपूर आदि ला देने को कहा; परन्तु गोस्वामी जी ने कहा कि यह सब झोले में मेरे साथ है। स्त्री की इच्छा हुई कि मैं भी इनके साथ रहती तो श्रीरामचन्द्र जी और अपने पति की सेवा करके जन्म सुधारती। रात भर बहुत कुछ सोच-विचार कर उसने सबेरे गोस्वामी जी के सामने अपने को प्रकट किया और अपनी इच्छा कह सुनाई। गोस्वामी जी ने उसको साथ लेना स्वीकार न किया। तब उसने कहा—

*खरिया खरी कपूर लौं, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै, अचल करहु अनुराग॥

यह सुनते ही गोस्वामी जी ने अपने झोले की वस्तुएँ ब्राह्मणों को बाँट दीं।

कुछ लोग यह भी अनुमान करते हैं कि तुलसीदास जी का विवाह ही नहीं हुआ था, क्योंकि उन्होंने 'विनयपत्रिका' में लिखा है—"ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चाहत हौं।" परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका विवाह हुआ ही नहीं था। यह कथन तो संसार की माया छोड़कर वैरागी होने के पीछे का है। विवाह की कथा पहले पहल प्रियादास जी ने "भक्तमाल" की टीका में लिखी है। तभी से गोस्वामी जी के प्रत्येक जीवन-चरित्र में इसका उल्लेख होता आया है।

(१०) गोस्वामी जी की यात्रायें

प्रयाग से वे अयोध्या आये और वहाँ चार महीने रहे। वहाँ से चलकर वे २५ दिन में जगन्नाथपुरी पहुँचे। इस यात्रा में दो घटनायें महत्त्वपूर्ण हुईं। एक दुबौली गाँव में हुई। वहाँ वे चार घड़ी ही ठहरे। हरिराम से रुष्ट होकर उन्होंने उसे प्रेत होने का शाप दिया।

---

* यह दोहा 'दोहावली' में इस प्रकार है—

खरिया खरी कपूर सब, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै, विमल, विवेक, विराग॥ २५५॥

कहते हैं कि उसी प्रेत ने आगे चलकर रामदर्शन में गोस्वामी जी की सहायता की। दूसरी घटना मेंकुल गाँव में हुई। यहाँ चारुकुँवरि की सेवा से प्रसन्न होकर उन्होंने वरदान दिया कि जिस वस्तु पर तू हाथ रखेगी वह कभी समाप्त न होगी जगन्नाथपुरी में वे कुछ दिन रहे। यहीं पर उन्होंने वाल्मीकीय रामायण की प्रतिलिपि कराना आरंभ किया जो संवत् १६४१ में काशी में समाप्त हुई।

पुरी से रामेश्वर, द्वारिका होते हुए वे बदरिकाश्रम गये; यहाँ से कैलास पर्वत की यात्रा की। पहले वे मानसरोवर गये। इस दृश्य का प्रभाव इन पर इतना अधिक पड़ा कि उसी के आधार पर उन्होंने रामचरित का 'मानस' रचा। इस रचना में मानों मानसरोवर की प्रतिछाया देख पड़ती है। यहाँ से वे रूपाचल और नीलाचल पर्वतों के दर्शन करने गये। वहाँ से फिर मानसरोवर लौट आये और तब चित्रकूट के भव-वन में आश्रम बना कर रहने लगे। इस यात्रा में १४ वर्ष १० मास और १७ दिन लगे।

गोस्वामी जी शौच के लिए नित्य एक वन में जाया करते थे। वहाँ एक बड़ा पीपल का पेड़ था। शौच से लौटते समय लोटे का बचा हुआ पानी रास्ते में उसी पेड़ की जड़ में डाल देते थे। उस पेड़ पर एक प्रेत रहता था। एक दिन वह उस जल से तृप्त होकर गोस्वामी जी के सामने आया और बोला कुछ माँगो। गोस्वामी जी ने कहा कि हमें श्री रामचन्द्र जी के दर्शन के सिवाय और कुछ इच्छा नहीं है। प्रेत ने कहा कि मुझमें इतनी शक्ति तो नहीं है, पर मैं तुम्हें उपाय बतलाता हूँ। तुम्हारी कथा में एक बहुत ही मैला-कुचैला और कोढ़ी मनुष्य नित्य कथा सुनने आता है; सबसे पहले आता है और सबके पीछे जाता है। वे साक्षात् हनुमान् जी हैं। उन्हीं के चरण पकड़कर विनती करो। वे चाहेंगे तो दर्शन करा देंगे। गोस्वामी जी ने ऐसा ही किया और हनुमान् जी को पहचान कर अकेले में उनके पैर पकड़ लिये। उन्होंने लाख-लाख जो बचाना चाहा पर गोस्वामी जी ने पीछा न छोड़ा। अन्त में हनुमान् जी ने आज्ञा दी कि "जाओ चित्रकूट में दर्शन होंगे।" गोस्वामी जी चित्रकूट आकर रहे। वे एक दिन वन में घूम रहे थे कि एक हरिण के पीछे दो सुन्दर राजकुमार, एक श्याम और एक गौर, धनुष-बाण लिये घोड़ा दौड़ाये जाते दिखलाई दिये। गोस्वामी जी रूप देखकर मोहित तो हो गये पर यह न जान सके कि यही श्री राम-लक्ष्मण हैं। इतने में हनुमान् जी ने आकर पूछा "कुछ देखा?" गोस्वामी जी ने कहा, "हाँ, दो सुन्दर राजकुमार घोड़े पर गये हैं।" हनुमान् जी ने कहा, "वही राम-लक्ष्मण थे।" गोस्वामी जी ने चित्त में उसी मनमोहनी मूर्त्ति का ध्यान रख लिया। यह कथा प्रियादास जी ने लिखी है और यही 'भक्त-कल्पद्रुम' में भी है। परन्तु डाक्टर ग्रिअर्सन इसको दूसरे ही प्रकार से लिखते हैं। वे लिखते हैं कि गोस्वामी जी चित्रकूट में एक दिन बस्ती के बाहर घूम रहे थे कि उन्होंने वहाँ रामलीला होती हुई देखी। प्रसंग यह था कि लंका जीतकर, राज्य विभीषण को देकर, सीता, लक्ष्मण और हनुमान् जी के साथ भगवान् अयोध्या को लौट रहे हैं। लीला समाप्त होने पर वे लौटे। रास्ते में ब्राह्मण के रूप में

हनुमान् जी मिले। गोस्वामी जी ने कहा, "यहाँ बड़ी अच्छी लीला होती है।" ब्राह्मण ने कहा, "कुछ पागल हो गये हो। आजकल रामलीला कहाँ? रामलीला तो आश्विन कार्तिक में होता है।" गोस्वामी जी ने चिढ़कर कहा, "हमने अभी देखा है, चलो तुम्हें भी दिखा दें।" यह कहकर वे ब्राह्मण को साथ लेकर रामलीला के स्थान पर आये तो वहाँ कुछ भी न था। लोगों से पूछा तो लोगों ने कहा, "आजकल रामलीला कहाँ?" तब गोस्वामी जी को हनुमान् जी की बात स्मरण आई और वे बहुत उदास होकर लौट आये; कुछ खाया पिया नहीं, रोते-रोते सो गये। स्वप्न में हनुमान् जी ने कहा, "तुलसी, पछताओ मत, इस कलियुग में प्रत्यक्ष दर्शन किसी को नहीं होते; तुम बड़े भाग्यवान् हो जो तुम्हें दर्शन हुए। सोच छोड़ो, उठो और उनकी सेवा करो।" तुलसीदास जी का चित्त शान्त हुआ और वे रामघाट पर ध्यान में निमग्न रहने लगे। एक दिन रामचन्द्र जी ने प्रकट होकर उनसे चंदन माँगा। तुलसीदास चंदन घिसने लगे। उसी समय तोते के रूप में हनुमान् जी ने कहा—

चित्रकूट के घाट पर, भइ संतन की भीर। तुलसिदास चंदन घिसें, तिलक देत रघुबीर॥

तुलसीदास जी निर्निमेष नेत्रों से सुन्दरता देखने लगे और मूर्च्छित हो गये। तब हनुमान् जी ने प्रकट होकर उनको प्रकृतिस्थ किया। इस घटना का निर्देश तुलसीदास जी ने अपनी 'विनयपत्रिका' में किया है—

तुलसी तोकों कृपालु जो, कियो कोसलपाल, चित्रकूट को चरित, चेतहु चित करि सो।

कुछ काल के उपरांत वे काशी आये और वहाँ रहने लगे। बीच बीच में वे अनेक स्थानों की यात्रा करते थे पर फिर कर काशी चले आते थे। काशी में गोस्वामी जी के, नीचे लिखे हुए, चार स्थान प्रसिद्ध हैं—

१—अस्सी पर—तुलसीदास जी का घाट प्रसिद्ध है। इस स्थान पर गोस्वामी जी के स्थापित हनुमान् जी हैं और उनके मन्दिर के बाहर बासा यंत्र लिखा है जो पढ़ा नहीं जाता। यहाँ गोस्वामी जी की गुफा है। यहाँ पर गोस्वामी जी विशेष करके रहते थे, और अन्त समय में भी यहीं थे।

२—गोपालमन्दिर में—यहाँ श्री मुकुन्दराय जी के बाग़ के पश्चिम-दक्षिण के कोने में एक कोठरी है, जो तुलसीदास जी की बैठक कही जाती है। यह सदा बन्द रहती है, झरोखे में से लोग दर्शन करते हैं। केवल श्रावण शुक्ला ७ को खुलती है और लोग जाकर पूजा आदि करते हैं। यहाँ बैठकर यदि सब 'विनयपत्रिका' नहीं तो उसका कुछ अंश उन्होंने अवश्य लिखा है क्योंकि यह स्थान बिन्दुमाधव जी के निकट है और पंचगंगा, बिन्दुमाधव का वर्णन गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका में पूरा-पूरा किया है। बिन्दुमाधव जी के अंग के चिह्नों का जो वर्णन गोसाईं जी ने किया है वह पुराने बिन्दुमाधव जी से, जो अब एक गृहस्थ के यहाँ हैं, अविकल मिलता है।

३—प्रह्लादघाट पर।

४—संकट-मोचन हनुमान्। यह हनुमान् जो नगवा के पास, अस्सी के नाले पर, गोस्वामी जी के स्थापित हैं। कहते हैं कि प्रह्लादघाट के ज्यो० गंगाराम जी ने, राजा के यहाँ से जो द्रव्य पाया था उसमें से बहुत आग्रह करके १२ हज़ार गोस्वामी जी की भेंट किया। गोस्वामी जी ने उससे श्री हनुमान् जी की बारह मूर्त्तियाँ स्थापित कीं, जिनमें से एक यह भी है।

पहला निवास-स्थान हनुमान्-फाटक है। मुसलमानों के उपद्रव से वहाँ से उठकर वे गोपालमन्दिर में आये। वहाँ से भी, वल्लभकुलवालों गोसाइयों से विरोध हो जाने के कारण, उठ कर अस्सी आ गये और मरण-पर्यन्त वहीं रहे। अस्सी पर आपने अपनी रामायण के अनुसार रामलीला आरम्भ की। सबसे पुरानी रामलीला अस्सी ही की है। अस्सी के दक्षिण ओर कुछ दूर पर जो स्थान है उसका नाम अब तक लंका है। वहाँ तुलसीदास जी की रामलीला की लंका थी।

एक बेर गोस्वामी जी भृगुआश्रम, हंसनगर, परसिया, गायघाट, ब्रह्मपुर और कान्त ब्रह्मपुर होते हुए बेलापतार गये थे। बाबा वेणीमाधवदास के अनुसार, जनकपुर जाते हुए ये स्थान मार्ग में पड़े थे। गायघाट में उन्होंने हयवंशी राना गंभीरदेव का आतिथ्य स्वीकार किया था। कांत ब्रह्मपुर में संवरू अहीर के लड़के मँगरू अहीर ने बड़ी सेवा की। प्रसन्न होकर गोस्वामी जी ने उसे आशीर्वाद दिया कि जो तुम्हारे वंश के लोग किसी को न सतावेंगे और चोरी न करेंगे तो तुम्हारा वंश चलेगा। यहाँ से वे बेलापतार गये। यहाँ वे साधु धनीदास के मठ में ठहरे। यह साधु बड़ा धूर्त था। एक समय वह बड़ी आपत्ति में पड़ गया। गोस्वामी जी ने उसकी सहायता की और उसकी आपत्ति को टाल दिया। यहाँ से हरिहरक्षेत्र के संगम पर स्नान कर तथा षटपरी होते हुए जनकपुर गये और तब संवत् १६४० के आरंभ में काशी लौट आये। पर शीघ्र ही वे नैमिषारण्य की यात्रा पर गये। काशी से चलकर अयोध्या, खनाही, सूकरखेत और पसका होते हुए वे लखनऊ पहुँचे। यहाँ वे कुछ दिन ठहरे। वहाँ से मलिहाउँ, रसूलाबाद, काटेरा होते हुए, और संडीले होते हुए वे नैमिषारण्य पहुँचे। यहाँ पर बनखंडी बाबा ने सब तीर्थों का उद्धार करने का आयोजन किया था। यह काम गोस्वामी जी द्वारा संपन्न हुआ। यहाँ वे तीन महीना रहे। फिर वृन्दावन गये। यहाँ उनकी भेंट नाभा जी से हुई, जिन्होंने गोस्वामी जी को घुमा फिरा कर वृन्दावन के प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थानों के दर्शन कराये। यहाँ से गोस्वामी जी चित्रकूट गये। वहाँ से दिल्ली, अयोध्या होते हुए वे काशी लौट आये।

(११) मित्र और परिचित

(१) टोडर—टोडर नाम के एक बड़े भूँइहार जमींदार काशी में थे। इन्हें गोसाइयों ने तलवार से काट डाला था। इनके पास पाँच गाँव थे जो काशी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैले हैं। इनका नाम भदैनी, नदेसर, शिवपुर, छीतूपुर और लहरतारा है। भदैनी अब काशिराज के पास है और इसी में अस्सीघाट है। नदेसर में थोड़े दिन पहले सरकारी दीवानी

कचहरी थी। शिवपुर पंचकोश में है। यहाँ पाँचों पांडवों का मन्दिर और द्रौपदीकुंड है। इस द्रौपदीकुंड का जीर्णोद्धार राजा टोडरमल ने कराया था। छोतूपुर भदैनी से और पश्चिम है। लहरतारा काशी के कंटूनमेंट स्टेशन के पास है। इसी लहरतारा की झील में "नीमा" ने कबीर जी को बहते हुए पाया था। यहाँ कबीर जी की एक मढ़ी बनी है। टोडर के मरने पर उनके पौत्र कंधई और बेटे आनन्दराम में झगड़ा हुआ था। उसमें गोस्वामी जी पंच हुए थे। उन्होंने जो पंचायती फैसला लिखा था, वह ११ पीढ़ी तक टोडर के वंश में रहा। ११ वीं पीढ़ी में पृथ्वीपालसिंह ने उसको महाराज काशिराज को दे दिया जो अब काशिराज के यहाँ है। टोडर के वंशज अब तक अस्सी पर हैं।

कहते हैं कि इन टोडर के मरने पर गोस्वामी जी ने ये दोहे कहे थे—

चार गाँव को ठाकुरो,* मन को महा महीप। तुलसी या कलिकाल में, अथये टोडर दीप ॥
तुलसी राम-सनेह को, सिर पर भारी भार। टोडर काँधा ना दियो, सब कहि रहे उतार ॥
तुलसी उर थाला-बिमल, टोडर गुनगन बाग। ये दोउ नयनन सींचिहौं, समुझि समुझि अनुराग ॥
रामधाम टोडर गये, तुलसी भये असोच। जियबो मीत पुनीत बिनु, यही जानि संकोच ॥

डाक्टर ग्रिअर्सन अनुमान करते हैं कि यह टोडर अकबर के प्रसिद्ध मंत्री महाराज टोडरमल थे, और उनके जन्मस्थान लाहरपुर (अवध) को वे लहरतारा अनुमान करते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। टोडरमल टंडन खत्री थे, जिसके प्रमाण में शिवपुर के द्रौपदीकुंड का शिलालेख वर्त्तमान है। टोडर के वंशज खत्री हैं। दूसरे यह कभी संभव नहीं है कि महाराज टोडरमल ऐसे भारी मंत्री का नाम एक नगर का क़ाज़ी ऐसी साधारण रीति पर लिखे कि "आनन्दराम बिन टोडर बिन देवराय व कंधई बिन रामभद्र बिन टोडर मज़कूर दर हुजूर आमद:" इत्यादि। तीसरे महाराज टोडरमल का कोई चिह्न काशी में वर्त्तमान नहीं है। संभव है कि बङ्गाल पर चढ़ाई के समय महाराज ने द्रौपदीकुंड का जीर्णोद्धार कराया हो। निदान यह निश्चय है कि महाराज टोडरमल और यह टोडर दो व्यक्ति थे।

राजा टोडरमल के दो लड़कों का नाम धरु टंडन और गोवर्धनधारी टंडन था और इस टोडर के लड़कों का नाम आनन्दराम और रामभद्र था तथा रामभद्र संवत् १६५६ के पहले मर चुका था। परन्तु राजा टोडरमल के दोनों लड़के उनके पीछे तक जीते रहे। इससे भी यही सिद्ध होता है कि ये दोनों टोडर दो भिन्न व्यक्ति थे।

पंचनामे की प्रतिलिपि

श्री जानकीवल्लभो विजयते

द्विश्शरं नाभिसन्धत्ते द्विस्स्थापयति नाश्रितान्। द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते ॥ १ ॥
तुलसी जान्यो दशरथहि, धरमु न सत्य समान। रामु तजो जेहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान ॥ १ ॥
धर्मो जयति नाधर्म्मस्सत्यं जयति नानृतम्। क्षमा जयति न क्रोधो विष्णुर्जयति नासुरः ॥ १ ॥

* महतो चारों गाँवों को—पाठान्तर।

अल्लाहो अकबर

चूँ अनन्दराम बिन टोडर बिन देओराय व कन्हई बिन रामभद्र बिन टोडर मज़कूर दर हुज़ूर आमदः क़रार दादन्द कि दर मवाज़िये मतरुकः कि तफ़सीलि आं दर हिन्दवो मज़कूर अस्त

बिल मुनासफः बतारज़ीए जानिबैन क़रार दादेम व यक सद व पिश्राह बिघा ज़मीन ज़्यादह किस्मत मुनासिफ़ः ख़ुद

दर मौज़े भदैनी अनन्दराम मज़कूर व कन्हई बिन रामभद्र मज़कूर तज़वीज़ नमूदः बरी मानी राजोगश्तः अतराफ़ सहीह शरई नमूदन्द बिनाबरि आं मुहर करदः शुद मुहर सादुल्लाह बिन.........

किस्मत अनन्दराम	किस्मत कन्हई
क़रिया क़रिया	क़रिया क़रिया
भदैनी दो हिस्सः लहरतारा दरोबिस्त	भदैनी सेह हिस्सः शिवपुर दरोबिस्त
क़रिया	क़रिया
नैपुरा हिस्सै टोडर तमाम	नदेसर हिस्सै टोडर तमाम
क़रिया	
चित्तूपुरा कुर्ते हिस्सै टोडर तमाम	अन्हरुल्ला (अस्पष्ट)

श्री परमेश्वर

संवत् १६६९ कुआर सुदो तेरसी बार शुभ दीने लिषीतं पत्र अनन्दराम तथा कन्हई के अंश विभाग पुर्वक आगें का आग्य दुनहु जने मागा जे आग्य मै शे प्रमान माना दुनहु जने विदित तफसील अंश टोडरमल के माह जे विभाग पदु हात रा......

अंश अनन्दराम	अंश कन्हई
मौजे भदैनी मह अंश पाँच तेहि मह अंश दुइ	मौजे भदैनी मह अंश पाँच तेहि मह तीनि अंश
आनन्दराम, तथा लहरतारा सगरेउ तथा छितपुरा	कन्हई तथा मौजे शिपुरा तथा
अंश टाडरमलु क तथा नयपुरा अंश	नदेसरी अंश
टाडरमलु क हील हुज्जती नाश्ती	टाडरमलु क हील हुज्जती नाश्ती
लिषातं अनन्दराम जे ऊपर लिषा से सही।	लीषितं कन्हई जे ऊपर लिषा से सही।
साछी रायराम रामदत्त सुत	साछी रामसिंह उद्धव सुत
साछी रामसेनी उद्धव सुत	साछी जादोराय गहरराय सुत
साछी उदेयकरन जगतराय सुत	साछी जगदीशराय महादधी सुत
साछी जमुनी भान परसानन्द सुत	साखी चक्रपानी शोवा सुत
साछी जानकीराम श्राकान्त सुत	साखी मथुरा मीठा सुत

अंश अनन्दराम	अंश कन्हई
साखी कवलराम वासुदेव सुत	साखी काशीदास वासुदेव सुत दसखत मथुरा
साखी चन्द्रभान केसौदास सुत	साखी खरगभान गोसाईदास सुत
साखी पांडे हरी बलभ पुरुषोत्तम सुत	साखी रामदेव बास्म्भर सुत
साखी भावम्रा केसौउदास सुत	साखी श्रीकान्त पांडे राजचक्र सुत
साखी जदुराम नरहरि सुत	साखी विट्ठलदास हरिहर सुत
साखी अयोध्या लछी सुत	साखी हीरा दशरथ सुत
साखी सबल भीष्म सुत	साखी लोहग कीस्ना सुत
साखी रामचन्द्र वासुदाव सुत	साखी नजराम शीतल सुत
साखी पितम्बरदास वधीपूरन सुत	साखी कृष्णदत्त भगवन सुत
साखी रामराय गरीबराय कटूरी करन सुत	साखी बिनराबन जय सुत
	साखी धनीराम मधुराय सुत
(शहीद ब माफ़िह जलाल मक़बूली बख़तही)	(शहीद ब माफ़िह ताहिर इबन् ख़ाजे दोलते कानूनगोय)

(२) ख़ानख़ाना—कहते हैं कि अकबर के प्रसिद्ध वज़ीर नवाब अबदुर्रहीम ख़ानख़ाना से तुलसीदास जी का बड़ा स्नेह था। एक गरीब ब्राह्मण को अपनी कन्या का विवाह करना था। उसने तुलसीदास जी को घेरा। उन्होंने एक पुरज़े पर यह आधा दोहा लिख कर दिया कि ख़ानख़ाना के पास ले जाओ—

"सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहत अस होय।"

ख़ानख़ाना ने ब्राह्मण को धन देकर तुलसीदास जी को उत्तर लिख दिया—

"गोद लिये हुलसी* फिरै तुलसी सो सुत होय॥"

(३) महाराज मानसिंह—कहते हैं कि आमेर के महाराज मानसिंह और उनके भाई जगतसिंह प्रायः गोस्वामी जी के पास आया करते थे। एक मनुष्य ने एक दिन गोस्वामी जी से पूछा कि "महाराज, पहले तो आपके पास कोई भी नहीं आता था और अब ऐसे ऐसे बड़े लोग आपके यहाँ आते हैं, इसमें क्या भेद है ?"

गोस्वामी जी ने कहा—

"लहै न फूटी कौड़िहू, को चाहै केहि काज। † सो तुलसी महँगो कियो, राम गरीब-निवाज॥
घर घर माँगे टूक पुनि, भूपति पूजे पाय। ते तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय॥"

---

* इस 'हुलसी' शब्द के दो अर्थों में यहाँ प्रयुक्त होने से कुछ लोग इसे इस बात का अस्पष्ट किन्तु तत्कालीन प्रमाण मानते हैं कि गोस्वामी जी की माता का नाम हुलसी था।

† ख़ानख़ाना का दोहा है—"मान मानिक महँगे किये, सस्ते तृन जल नाज।
रहिमन याते कहत है, राम गरीब-नेवाज॥"

(४) मधुसूदन सरस्वती—बैजनाथदास ने लिखा है कि शंकरमतानुयायी श्री मधुसूदन सरस्वती ने बाद में प्रसन्न होकर यह श्लोक इनकी प्रशंसा में बनाया था—

"आनन्दकानने कश्चज्जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कविता मञ्जरी यस्य राम-भ्रमर-भूषिता ॥"

गोपालदास जी ने भी "रामायण-माहात्म्य" में यही पाठ दिया है और लिखा है कि काशी के पण्डितों ने रामायण का आदर नहीं किया। उन्होंने कहा कि यदि इसको आनन्दकानन ब्रह्मचारी मानें तो हम लोग भी मानेंगे। ब्रह्मचारी ने रामायण की बड़ी प्रशंसा की और ऊपर का श्लोक लिख दिया। काशिराज महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह ने इस श्लोक का अनुवाद इस प्रकार किया है—

"तुलसी जंगम तरु लसै, आनँदकानन खेत। कविता जाकी मंजरी, राम-भ्रमर-रस लेत ॥"

(५) नन्ददास जी—यह बात प्रसिद्ध है कि व्रज के प्रसिद्ध कवि, "रासपञ्चाध्यायी" के कर्त्ता, नन्ददास जी इनके भाई थे; परन्तु इसका कुछ प्रमाण नहीं मिलता। बैजनाथदास ने नन्ददास जी को इनका गुरुभाई लिखा है। नन्ददास जी गोकुलस्थ गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे और गोस्वामी जी के गुरु दूसरे थे। इससे यह भी ठीक नहीं ठहरता। संभव है कि दोनों के विद्यागुरु कोई एक हों, या नन्ददास जी भी पहले नरहरिदास जी के शिष्य रहे हों, पीछे श्रीकृष्णानुरक्ति के कारण गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य हो गये हों। नन्ददास जी के विषय में यह कहावत प्रसिद्ध है—"और सब गढ़िया, नन्ददास जड़िया।"

"दो सौ बाँवन वैष्णवों की वार्ता" में इनको तुलसीदास जी* का सगा भाई लिखा है। बाबा वेणीमाधवदास ने इनको गो० तुलसीदास का गुरुभाई और कान्यकुब्ज लिखा है।

(६) नाभा जी—"भक्तमाल" के प्रणेता नाभा जी इनसे मिलने काशी में आये थे; परन्तु उस समय गोस्वामी जी ध्यान में थे, नाभा जी से कुछ बात न कर सके। नाभा जी उसी दिन वृन्दावन चले गये। गोस्वामी जी ने जब यह सुना तो वे बहुत पछताये और नाभा जी से मिलने वृन्दावन गये। जिस दिन गोस्वामी जी नाभा जी के यहाँ पहुँचे, उस दिन उनके यहाँ वैष्णवों का भंडारा था, उसमें ये बिना बुलाये चले गये। नाभा जी ने जान-बूझकर इनका कुछ आदर न किया। परोसने के समय खीर के लिए कोई बर्तन न था। गोस्वामी जी ने तुरन्त एक साधु का जूता लेकर कहा कि इससे बढ़कर कौन उत्तम बर्त्तन है। इस पर नाभा जी ने इन्हें गले से लगा लिया और कहा कि आज मुझे भक्तमाल का सुमेरु मिल गया।

ऐसा न हो कि ये मुझे अभिमानी समझ लें और भक्तमाल में मेरी कथा बिगाड़ कर लिखें, इसी लिए तुलसीदास भंडारे में, वैरागियों की पंक्ति के अन्त में, बैठे और उन्होंने कहा

---

* ये दूसरे तुलसीदास सनाढ्य ब्राह्मण थे जैसा कि नन्ददास के जीवन-चरित्र से स्पष्ट है। वल्लभ-सम्प्रदाय में नन्ददास का जीवन-चरित्र प्रसिद्ध है।

या खोर लेने के लिए एक वैरागी का जूता ले लिया। बहुत से लोग आज तक कहते हैं कि नाभा जी के बनाये पद के, जो पहले उद्धृत किया जा चुका है, पहले चरण का ठीक पाठ यह है—"कलि कुटिल जीव तुलसी भये वाल्मीकि अवतार धरि।" इस पाठ से वाल्मीकि जी के साथ तुलसीदास जी की पूर्णोपमा हो जाती है, क्योंकि वाल्मीकि जी भी पहले कुटिल थे और तुलसीदास जी ने भी पहले नाभा जी से कुटिलता की।

(७) मीराबाई—मेवाड़ के राजकुमार भोजराज की वधू मीराबाई बड़ी ही भगवद्भक्त थीं। साधुसमागम में उनका समय बीतता था। इससे, संसार के उपहास के कारण, राणा जी को बहुत बुरा लगता था। उन्होंने बहुत समझाया-बुझाया पर मीरा जी ने एक न मानी; तब उनको मारने के बहुत उपाय किये गये, परन्तु भगवत्कृपा से सब व्यर्थ हो गये। अन्त में कुटुम्ब-वालों की ताड़ना सहते-सहते मीराबाई का चित्त बड़ा दुखी हुआ। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास जी का यश सुना था, इससे उनको नीचे लिखा पत्र भेजा और पूछा कि मुझको क्या करना चाहिए?—

"स्वस्ति श्री तुलसी गुण दूषणहरण गुसाईं*। बारहि बार प्रणाम करहुँ हरे शोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाध बढ़ाई। साधुसंग अरु भजन करत मोंहि देत कलेस महाई॥
बालपने ते मीरा कीन्हीं गिरधरलाल मिताई। सो तो अब छूटै नहिं क्यों हूँ लगी लगन बरियाई॥
मेरे मात पिता के सम हौ हरिभक्तन सुखदाई। हमकूँ कहा उचित करिबो है सो लिखिए समुझाई॥"

गोस्वामी जी ने उत्तर में यह पद लिख भेजा—

"जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
• तात मात भ्राता सुत पति हित इन समान कोउ नाहीं।
• रघुपति विमुख जानि लघु तृन इव तजत न सुकृति डेराहीं॥
तज्यो पिता प्रहलाद विभीषन बन्धु भरत महतारी।
गुरु बलि तज्यो कंत ब्रज-बनितन भे सब मंगलकारी॥
नातो नेह राम को मानिय सुहृद सुसेव्य जहाँ लों।
अंजन कहा आँख जो फूटै बहुतै कहौ कहाँ लों॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान तें प्यारो।
जा सों होइ सनेह राम सों सोई मतो हमारो॥"

इसको पाकर मीरा जी ने घर छोड़ दिया और वे तीर्थाटन को निकल गईं।

यह आख्यायिका बहुत प्रसिद्ध है, परंतु मीरा जी के समय में और इनके समय में बड़ा अन्तर है। मुंशी देवीप्रसाद के अनुसार मीराबाई की मृत्यु सन् १६०३ में हुई। भारतेन्दु जी इस घटना का समय सन् १६२० निश्चित करते हैं। मूल गोसाईं चरित के अनुसार यह घटना संवत् १५९८ की है। ऐतिहासिकों में मीराबाई के समय में मतभेद है।

---

* "श्री तुलसी सुखनिधान दुखहरन गोसाईं।"
• बहुत पुस्तकों में ये दो चरण नहीं हैं।

(८) वेणीमाधवदास के अनुसार संवत् १६१६ में सूरदास गोस्वामी जी से मिलने आये थे। कई लोगों ने सन्देह किया कि वे कोई और सूरदास रहे होंगे।

(९) प्रसिद्ध गंगकवि भी तुलसीदास से मिलने गये थे। इन्होंने इनके माला जपने पर कुछ व्यंग्य किया। यह घटना १६६९ की कही जाती है।

(१०) कवि केशवदास से भी इनका समागम हुआ था। कोई इनका जीवित अवस्था में और कोई प्रेतयोनि में मिलना बतलाते हैं।

(११) बनारसीदास से इनसे कई बेर भेंट हुई थी और जहाँगीर बादशाह ने भी इनके दर्शन किये थे।

(१२) गोस्वामी जी के चमत्कार

(१) एक दिन तुलसीदास जी के यहाँ चोर चोरी करने गये तो देखा कि एक श्यामसुन्दर बालक धनुष-बाण लिये पहरा दे रहा है। चोर लौट गये। दूसरे दिन वे फिर आये और उन्होंने फिर उसी पहरदार को देखा। तब उन्होंने सबेरे गोस्वामी जी से पूछा कि "आपके यहाँ श्यामसुन्दर बालक कौन पहरा देता है?" गोस्वामी जी समझ गये कि मेरे कारण प्रभु को कष्ट उठाना पड़ता है। बस, जो कुछ उनके पास था, सब लुटा दिया। चोर भी इस घटना से गोस्वामी जी के चेले हो गये।

डाक्टर ग्रिअर्सन ने चोरों की एक कहानी और भी लिखी है। वे लिखते हैं कि एक दिन काशी में, अँधेरी रात के समय, गोस्वामी जी घर लौट रहे थे कि रास्ते में चोरों ने आकर घेर लिया। गोस्वामी जी ने अविचलित भाव से हनुमान् जी का स्मरण किया और यह दोहा कहा—

"बासर ढासनि के ढका, रजनी चहुँ दिसि चोर।
दलत दयानिधि देखिए, कपि केसरीकिशोर॥"*

हनुमान् जी ने प्रकट होकर चोरों को भगा दिया और गोस्वामी जी बेखटके चले गये।

(२) रामलीला और कृष्णलीला—यद्यपि यह बात प्रसिद्ध है कि मेघा भगत की रामलीला, जो अब काशी में चित्रकूट की लीला के नाम से प्रसिद्ध है, गोस्वामी जी के पहले से होती थी; परन्तु वर्त्तमान शैली की रामलीला गोस्वामी जी के ही समय से आरम्भ हुई है। यह लीला अब तक अस्सी पर होती है और गोस्वामी जी के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें और लीलाओं से एक बात की विलक्षणता यह है कि और लीलाओं में खर-दूषण की जो सेना निकलती है उसमें राक्षस लोग विमान पर निकाले जाते हैं, किन्तु यहाँ पर राक्षस लोग, जैसा कि रामायण में लिखा है, भैंसे, घोड़े आदि पर निकलते हैं। इसकी लंका का स्थान अब तक लंका के नाम से प्रसिद्ध है।

* यह दोहा "दोहावली" में है। कहावत है कि जब गोस्वामी जी हनुमान फाटक पर रहते थे तब अलईपुर मुहल्ला के जोलाहों ने इन्हें बहुत तंग किया था, इस पर इन्होंने यह दोहा बनाया था।

रामलीला के अतिरिक्त गोस्वामी जी कृष्णलीला भी कराते थे। उनके घाट पर कार्त्तिक कृष्ण ५ को "कालियदमन" लीला अब तक बहुत सुन्दर रीति से होती है।

(३) मुर्दे का जिलाना—एक समय एक ब्राह्मण मर गया था। उसकी स्त्री सती होने के लिए जाती थी। गोस्वामी जी को उसने प्रणाम किया। इनके मुँह से निकल गया कि "सौभाग्यवती हो।" लोगों ने कहा कि "महाराज, इसका पति तो मर गया है, यह सती होने जाती है, और आपका आशीर्वाद कभी झूठा नहीं हो सकता।" गोस्वामी जी यह कहकर कि "अच्छा, जब तक मैं न आऊँ तब तक इसे मत जलाना" गंगास्नान को चले गये और तीन घंटे तक भगवत्स्तुति करते रहे। मुर्दा जो उठा और जैसे कोई सोते से जागा हो वैसे उठकर कहने लगा कि, "मुझको यहाँ क्यों लाये हो?" यह कथा प्रियादास जी ने भी लिखी है।

(४) बादशाह की क़ैद—मुर्दा जिलाने की बात बादशाह के कान तक पहुँची। उसने इन्हें बुला भेजा और कहा कि "कुछ करामात दिखलाइए।" इन्होंने कहा कि "मैं सिवा रामनाम के और कोई करामात नहीं जानता।" बादशाह ने इन्हें क़ैद कर लिया और कहा कि, "जब तक करामात न दिखलाओगे, छूटने न पाओगे।" तुलसीदास जी ने हनुमान् जी की स्तुति की। हनुमान् जी ने अपनी वानरों की सेना से कोट को विध्वंस कराना आरंभ कर दिया और ऐसी दुर्गति की कि बादशाह आकर पैरों पर गिरा और बोला कि "अब मेरी रक्षा कीजिए।" तब फिर गोस्वामी जी ने हनुमान् जी से प्रार्थना की, और वानरों का उपद्रव कम हुआ। गोस्वामी जी ने कहा कि अब इसमें हनुमान् जी का वास हो गया, इसलिए इसको छोड़ दो, नया कोट बनवाओ। बादशाह ने ऐसा ही किया। प्रियादास जी ने भी इस कथा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि अब तक कोई उस क़िले में नहीं रहता। परन्तु जान पड़ता है कि दिल्ली के नये क़िले के बनने पर पुराने क़िले में वानरों के अधिक निवास करने और कोट को तहस-नहस कर देने से ही यह बात प्रसिद्ध हो गई है। यह भी संभव है कि जहाँगीर ने इन्हें बुलाया हो और कुछ दिनों क़ैद रक्खा हो। तुलसीदास की मृत्यु संवत् १६८० में हुई और बादशाह शाहजहाँ संवत् १६८५ में गद्दी पर बैठा और इसी ने नई दिल्ली (शाहजहाँनाबाद) बसाई और क़िला बनवाया। बैजनाथदास ने लिखा है कि जहाँगीर ने अपने बेटे शाहजहाँ के नाम से नगर बसाया; परन्तु ऐसा नहीं है, नई दिल्ली को शाहजहाँ ने ही बनवाया था।

तुलसीदास जी ने इस समय स्तुति के जो पद बनाये थे वे ये हैं—

कानन भूधर बारि बयारि महा विष व्याधि दवा अरि घेरे।
संकट कोटि जहाँ तुलसी, सुत मातु-पिता सुत बन्धु न नेरे ॥
राखिहैं राम कृपालु तहाँ हनुमान से सेवक हैं जेहि केरे।
नाक रसातल भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे ॥
ऐसी तोहि न बूझिये हनुमान हठीले। साहेब कहूँ न राम से तुम से न वसीले।
तेरे देखत सिंह के सिसु मेंढ़क लीले। जानत हौं कलि तेरेऊ मनो गुनगन कीले ॥

हाँक सुनत दसकंध के भये बंधन ढीले । सो बल गयो किधौं भये अब गवगहीले ॥
सेवक को परदा फटे तू समरथ सीले । अधिक आपुते आपुनो सनमान सह ले ॥
साँसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुँही ले । तिहूँ काल तिनको भले जे राम रँगीले ॥
समरथ सुवन समीर के रघुवीर पियार । मोपर कीबे तोहि जो करि लेहि भिया रे ॥
तेरी महिमा तें चलै चिंचिनी-चियाँ रे । आँधियारे मेरी बार क्यों ? त्रिभुवन उँजियार ॥
केहि करना जन जानि कै सनमान किया रे । केहि अघ अवगुन आपनो करि डारि दिया रे ॥
खायो खाचो माँग मैं तेरा नाम लिया रे । तेरे बल, बलि, आजु लौं जग जागि जिया रे ॥
जो तोसो हातो फिरा मेरा हेतु हिया रे । तो वेगि वदन देखावता कहि वचन दया रे ॥
तो सों ज्ञाननिधान को सवश किया रे । हौं समुझत साँई द्रोह की गति छार छिया रे ॥
तेरे स्वामी राम से स्वामिनी सिया रे । तहँ तुलसी केका कौन को ताको तकिया रे ॥

उपद्रव-शान्ति के लिए जो पद बनाये थे वे ये हैं—

अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी । इनको बिलगु न मानिये बोलहिँ न बिचारी ॥
लोक रीति देखी सुनी व्याकुल नरनारी । अति बरषे अनबरषेहु देहिँ दैवहि गारी ॥
नाकहि आयो नाथ सों साँसति भय भारी । कहि आयौ कीबी छमा निज ओर निहारी ॥
समय साँकरे सुमिरिये समरथ हितकारी । सो सब विधि ऊपर करै अपराध बिसारी ॥
बिगरी सेवक की सदा साहिबहि सुधारी । तुलसी पै तेरी कृपा निरुपाधि निहारी ॥
कटु कहिये गाढ़े पड़े सुनि समुझि सुसाईं । करहिँ अनभले को भलो आपनी भलाई ॥
समरथ सुभ जा पावई बीर पीर पराई । ताहि तकै सब ज्यों नदी बारिधि न बोलाई ॥
अपने अपने को भलो चहै लोग लुगाई । भावै जा जेहि तेहि भजे सुभ असुभ सगाई ॥
बाँह बोल दै थापिये जो निज बरिआई । बिन सेवा सो पालिये सेवक का नाईं ॥
चूक चपलता मेरियै तू बड़ो बड़ाई । होत आदरे ढीठ हा अति नीच निचाई ।
बन्दिछोर बिरुदावली निगमागम गाई । नीको तुलसीदास को तेरिये निकाई ॥
मगल मूरति मारुत-नन्दन सकल अमंगल-मूल निकंदन ॥
पवन-तनय संतन-हितकारी । हृदय बिराजत अवध-बिहारी ॥
मातुपिता गुरु गनपति सारद । सिवा समेत संभु सुक नारद ॥
चरन बन्दि बिनवौं सब काहू । देहु रामपद भक्ति निबाहू ॥
बन्दउँ रामलखन बैदेही । जे तुलसी के परम सनेही ॥

(५) कृष्णमूर्ति का राममूर्ति हो जाना—दिल्ली से गोसाईं जी वृन्दावन गये। वहाँ वे एक मन्दिर में दर्शन करने गये। श्रीकृष्णमूर्ति का दर्शन करके उन्होंने यह दाहा कहा—

"का बरनउँ छबि आज की, भले बिराजेउ नाथ। तुलसी मस्तक तब नवै (जब) धनुष बान लेउ हाथ ॥"

कहते हैं कि उस समय भगवान् ने वहाँ श्रीरामचन्द्र जी के स्वरूप में दर्शन दिये, तब तुलसीदास जी ने दंडवत् किया। इस कथा को प्रियादास जी ने भी लिखा है; किन्तु इसमें बड़ा सन्देह हाता है, क्योंकि गोस्वामी जी ने कृष्णगीतावली बनाई, सैकड़ों स्थानों पर अपने विनय के पदों में कृष्णगुणानुवाद किया और वे स्वयं कृष्ण-लीला (नागदमन-लीला) कराते थे, फिर वे ऐसी द्वेष की बात क्योंकर करेंगे ?

(६) हत्या छुड़ाना—प्रियादास जी ने एक ब्राह्मण के हत्या छुड़ाने की कथा लिखी है जिसका वर्णन "विनय-पत्रिका" के प्रसंग में देखो।

(७) फुटकर

१—कहते हैं कि रामायण बनने के पीछे एक दिन गोस्वामी जी मणिकर्णिकाघाट पर नहा रहे थे। एक पंडित ने, जिन्हें अपने पांडित्य का बड़ा घमंड था, इनसे पूछा, "महाराज, संस्कृत के पंडित होकर आपने ग्रंथ को गँवारी भाषा में क्यों बनाया?" गोस्वामी जी ने कहा, "इसमें संदेह नहीं कि मेरी गँवारी भाषा अभावपूर्ण है, पर आपके संस्कृत के नायिका-वर्णन से अच्छी ही है।" उसने पूछा, "यह कैसे?" गोस्वामी जी ने कहा—

"मनि भाजन विष पारई पूरन अमी निहार। का छाँड़िय का संग्रहिय कहहु विवेक विचार॥"

(यह दोहा "दोहावली" का ३५१वाँ दोहा है पर उसमें और इसमें कुछ पाठान्तर है।)

२—घनश्याम शुक्ल संस्कृत के अच्छे कवि थे, पर भाषा-कविता करना उन्हें अधिक रुचता था। उन्होंने धर्म-शास्त्र के कुछ ग्रंथ भाषा में बनाये। इस पर एक पंडित ने उनसे कहा कि—"इस विषय को देववाणी संस्कृत में न लिखने से ईश्वर अप्रसन्न होते हैं; आगे से आप संस्कृत में लिखा कीजिए।" उन्होंने तुलसीदास जी से सलाह ली। गोस्वामी जी ने कहा—

"का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच। काम जो आवइ कामरी का लै करै कमाच॥"

(यह दोहावली का ५७१वाँ दोहा है और सतसई में भी है)

३—एक दिन एक अलखिये फ़कीर ने आकर "अलख, अलख" पुकारा। इस पर तुलसीदास जी ने कहा—

"हम लख हमैं हमार लख हम हमार के बीच। तुलसी अलखै का लखै रामनाम जपु नीच॥"

४—ज़िला सारन के मैरवा गाँव में हरीराम ब्रह्म का ब्रह्मस्थान है। कहते हैं कि कनकशाही बिसेन के अत्याचार से आत्महत्या करके हरीराम ब्रह्म बने थे। यहाँ रामनवमी के दिन बड़ा मेला लगता है। कहते हैं कि इन हरीराम के यज्ञोपवीत के समय तुलसीदास जी भी उपस्थित थे।

५—बैजनाथ जी के ग्रन्थ से नीचे लिखे स्फुट वृत्तान्त लिखे जाते हैं—

(१) गोस्वामी जी के दर्शन और उपदेश से एक वेश्या को ज्ञान हुआ और वह सब तज कर हरिभजन करने लगी।

(२) एक जीविकाविहीन पंडित बड़े दुखी थे। उनके लिए श्री गंगा जी ने गोस्वामी जी की बिनती पर काशी के उस पार बहुत सी भूमि छोड़ दी।

(३) मुर्दा जिलाने पर लोगों की भीड़ गोस्वामी जी के दर्शन को आया करती थी। गोस्वामी जी गुफा में रहते थे। एक बेर बाहर निकल कर सबको दर्शन दे देते थे। तीन लड़के

दर्शन के नेमी थे। एक दिन वे तीनों नहीं आये, इससे गोस्वामी जी ने उस दिन किसी को दर्शन न दिये। लोगों को बहुत बुरा लगा। दूसरे दिन लड़के भी आये, परन्तु उनकी परीक्षा के लिए उस दिन गोस्वामी जी ने किसी को दर्शन न दिये। लड़कों से वियोग न सहा गया, तड़प कर मर गये। तब गोस्वामी जी ने चरणामृत देकर उनको जिलाया। लोग उनका प्रेम देखकर धन्य धन्य कहने लगे।

(४) एक तांत्रिक दंडी की स्त्री को कोई वैरागी भगा ले गया था। दंडी को यक्षिणी सिद्ध थी। उसके द्वारा उसने बादशाह को पकड़ मँगाया और हुक्म जारी करा दिया कि सबकी माला उतार ली जाय और तिलक मिटा दिये जायँ। जब काशी में गोस्वामी जी के पास राजदूत आये तो सबको भयंकर काल का रूप दिखाई दिया। सब भागे और जिन लोगों की कंठी माला उतरी थी वह सब, गोस्वामी जी के प्रताप से, आपसे आप उनके पास पहुँच गई।

(५) अयोध्या का एक भंगी काशी में आकर रहता था। उसके मुँह से अवध का नाम सुनकर गोस्वामी जी प्रेमविह्वल हो गये। उन्होंने उसका बड़ा सत्कार किया और बहुत कुछ देकर उसे बिदा किया।

(६) एक समय वे जनकपुर गये थे। वहाँ के ब्राह्मणों को श्री रामचन्द्र जी के समय से बारह गाँव माफ़ी में मिले थे, जिनको पटने के सूबेदार ने छीन लिया था। गोस्वामी जी ने श्री हनुमान् जी की सहायता से उनके पट्टे फिर ब्राह्मणों को लौटवा दिये।

(७) काशी में, वनखंडा में, एक प्रेत इनके दर्शन से प्रेतयोनि से मुक्त हो गया।

(८) चित्रकूट-यात्रा के समय रास्ते में एक राजा की कन्या को चरणामृत देकर इन्होंने पुरुष बना दिया। इसके प्रमाण में दोहावली के ये दोहे हैं—

"कबहुँक दरसन संत के पारस मनी अतीत। नारी पलट सो नर भयो लेत प्रसादी सीत ॥
तुलसी रघुबर सेवतहिँ मिटगो कालो काल। नारी पलट सो नर भयो ऐसे दीन दयाल ॥

(९) प्रयाग में वे गोसाईं मुरारिदेव जी से मिले थे।

(१०) मलूकदास और स्वामी दरियानन्द से इनकी भेंट हुई थी।

(११) चित्रकूट मंदाकिनी में एक ब्राह्मण की दरिद्रता छुड़ाने के लिए दरिद्रमोचनशिला आपसे आप निकल आई जो अब तक है।

(१२) दिल्ली से लौटते हुए एक ग्वाले को उपदेश देकर उन्होंने मुक्त कर दिया।

(१३) वृन्दावन में किसी ने कहा कि श्रीकृष्ण पूर्णावतार हैं और श्रीराम अंशावतार हैं, सो आप श्रीकृष्ण का ध्यान क्यों नहीं करते? गोस्वामी जी ने कहा कि मेरा मन तो दशरथ-नन्दन के सुन्दर श्याम स्वरूप ही पर लुभा गया था। अब विदित हुआ कि वे ईश्वर के अंशावतार भी हैं। यह और भी अच्छा हुआ। वृन्दावन में उन्होंने कई चमत्कार दिखाये।

(१४) संडीले के स्वामी नन्दलाल चित्रकूट में आकर गोस्वामी जी से मिले। गोस्वामी जी ने उन्हें अपने हाथ से रामकवच लिखकर दिया था।

(१५) मुकामणिदास जो नाम के एक महात्मा अवध में थे। उनके बनाये पदों पर गोस्वामी जी बहुत ही रीझे थे।

(१६) अवध से वे नैमिषारण्य आये। सूकरक्षेत्र का दर्शन किया, पसका में कुछ दिन रहे। सिवार गाँव में कुछ दिन रहे। यहाँ सीताकूप है। यह स्थान श्रीसीता जी का है। कुछ दिन वे लक्ष्मणपुर (लखनऊ) में रहे। वहाँ के एक निरक्षर दीन जाट को अच्छा कवि बना दिया और अच्छी जीविका करा दी। वहाँ से थोड़ा दूर मड़िआई गाँव में भीष्म नामक एक भक्त रहते थे। उनके बनाये नखसिख को सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए। वहाँ उनसे मिलने के लिए आये। चनहट गाँव होते, एक कुएँ का जल पीते और उस जल की बड़ाई करते मलिहाबाद में आकर उन्होंने डेरा किया। वहाँ एक भाट भक्त थे। उनको अपनी रामायण दी।* वहाँ से वाल्मीकि जी के आश्रम से होते, रसूलाबाद के पास कोटरा गाँव में वे आये। यहाँ वे अनन्य माधव से मिले। ये बड़े भक्त और कवि थे। यहाँ गोस्वामी जी ने "मैं हरि पतितपावन सुने" यह पद बनाया। अनन्य माधवदास ने उत्तर में यह पद बनाया—

"तबते कहाँ पतित नर रह्यो। जबतें गुरु उपदेस दीन्यो नाम नौका गह्यो ॥
लोह जैसे परस पारस नाम कंचन लह्यो। कसि न कास-कसि लेहु स्वामी अजन चाहन चह्यो ॥
उभरि आये बिरह बानी मोल महँगे कह्यो। खीर नीर तें भयो न्यारो नरक तें निबह्यो ॥
मूल माखन हाथ आयो त्यागि सरवर मह्यो। अनन्यमाधव दास तुलसी भव-जलधि निबह्यो ॥

वहाँ कुछ दिन रह कर वे ब्रह्मावर्त (बिठूर) में गंगातट पर आ रहे। वहाँ से वाल्मीकि जी के स्थान से होते संडीले में आये। रास्ते में ठहरते-ठहराते, नैमिषारण्य होते फिर वे अवध में आ गये।

(१७) संडीले में वे एक ब्राह्मण को कह आये थे कि तुम्हें बड़ा कृष्णभक्त बेटा होनेवाला है। ऐसा ही हुआ। उनके पुत्र मिश्र वंशीधर बड़े भक्त और कवि हुए।

(१८) नैमिषारण्य में एक महात्मा रहते थे। उनसे वे मिले।

(१९) मिसिरिख के पास एक जैरामपुर गाँव है। वहाँ आकर उन्होंने एक सूखी डाली गाड़ दी। वह पेड़ हो गई, उसका नाम उन्होंने वंशीवट रक्खा और आज्ञा की कि श्रीराम-विवाहोत्सव के दिन अगहन सु० ५ को यहाँ रामलीला कराया करो। वह प्रतिवर्ष अब तक होती है।

(२०) रामपुर में जकात के लिए इनकी नाव रोक दी गई थी। तब इन्होंने सब कुछ वहीं लुटा दिया। ज़मींदार ने जब सुना तो वह आ पैरों पर गिरा और बड़े आग्रह से उन्हें घर लाया। प्रसन्न होकर उसको उन्होंने एक प्रति रामायण की दी।

---

* कहते हैं कि रामायण की वह प्रति अब तक वर्तमान है। हमें भी इसके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। पर जिनके अधिकार में है वे उसकी परीक्षा नहीं करने देते। साथ ही लोग यह भी कहते हैं कि इसमें कई स्थान पर क्षेपक हैं। इससे इस प्रति के तुलसीदास जी द्वारा लिखित होने में संदेह है।

(२१) कवि गंग गोस्वामी जी से मिलने काशी आये थे।

(२२) जहाँगीर उनसे मिलने आया था और उसने बहुत कुछ देना चाहा, पर गोस्वामी जी ने कुछ ग्रहण न किया।

६—पंडित महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने गोस्वामी जी के चरित्रवर्णन में "भक्तिविलास" नामक ग्रन्थ लिखा है। उससे जो विशेष बातें विदित हुईं वे यहाँ लिखी जाती हैं—

(१) गोस्वामी जी के माता-पिता का स्थान पत्योजा में था। गर्भस्थिति अन्तर्वेद के तरी गाँव में हुई। वहाँ से आकर राजापुर में गोस्वामी जी का जन्म हुआ।

(२) वे लोग मालवा की ओर चले; रास्ते में सूकरक्षेत्र (सोरों) में नरहरिदास से तुलसीदास जी ने रामचरित्र की कथा सुनी।

(३) माता-पिता ने इनका जनेऊ किया, और विद्या पढ़ाई। बचपन में नरहरिदास ने उपदेश किया। जब माँ-बाप मर गये, तो गुरु ने आज्ञा देकर इन्हें राजापुर भेजा। वहाँ इन्होंने विवाह किया। फिर स्त्री का उपदेश हुआ।

(४)* व्रज में सूरदास से इनकी भेंट हुई।

(५) ओड़छे में केशवदास को इन्होंने प्रेतयोनि से छुड़ाया।

(६) काशी में इनकी सेवा टोडरमल करते थे।

७—महाराज रघुराजसिंह ने अपने भक्तमाल में जो चरित्र लिखा है, उसमें की विशेष बातें लिखी जाती हैं—

(१) स्त्री के उपदेश के पीछे गुरु ने सूकरक्षेत्र में रामायण का उपदेश किया।

(२) एक ब्राह्मण के लड़के को इन्होंने हनुमान् जी के द्वारा यमपुरी से लौटा मँगाया।

(३) दिल्ली में एक मतवाला हाथी इन पर टूटा, श्रीरामचन्द्र जी ने तीर से उसको मार गिराया।

(४) इन्होंने काशी में विनयपत्रिका बनाकर विश्वनाथ जी के मन्दिर में रख दी थी। विश्वनाथ जी ने उस पर सही कर दी।

(१३) अन्तकाल

जहाँगीर सन् १६०५ (संवत् १६६२) में गद्दी पर बैठा और सन् १६२७ (संवत्-१६८४) में उसकी मृत्यु हुई। उसके राजत्वकाल में सन् १६१६ (संवत् १६७३) में पंजाब में महामारी (प्लेग) फैली और सन् १६१८ (संवत् १६७५) से ८ वर्ष तक आगरे में इसका प्रकोप

---

* किसी ने तुलसीदास से सूरदास की प्रशंसा की, उस पर तुलसीदास ने कहा कि—

कृष्णचन्द्र के सूर उपासी। तातें इनकी बुद्धि हुलासी।
रामचन्द्र हमरे रखवारा। तिनहिं छाँड़ि नहिं कोउ संसारा॥

रहा। 'तुजुकजहाँगीरी' में इसकी भीषणता का पूरा वर्णन है। आगरे में इससे १०० मनुष्य नित्य मरते थे, लोग घर-द्वार छोड़कर भाग गये थे, मुर्दों को उठानेवाला कोई न था, कोई किसी के पास नहीं जाता था।

'कवितावली' के १३७वें कवित्त में तुलसीदास जी ने लिखा है—"बीसी विश्वनाथ की विषाद बड़ो बारानसी बूझिये न ऐसी गति शंकर सहर की।" इससे यह सिद्ध होता है कि इस समय रुद्र बीसी थी। ज्योतिष की गणना के अनुसार यह समय संवत् १६६५ से १६८५ तक का है।

कवित्त १७६ में तुलसीदास जी काशी में महामारी होने का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

"शंकर सहर सर, नर नारि बारिचर विकल सकल महामारी माँजा भई है।
उछरत, उतरात हहरात, मरिजात, भभरि भगात जल थल मीचु मई है॥
देव न दयालु, महिपाल न कृपालु चित्त, बारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है।
पाहि रघुराज, पाहि कपिराज, रामदूत रामहूँ की बिगरी तुही सुधारि लई है॥"

इससे स्पष्ट है कि संवत् १६६५ और १६८५ के बीच काशी में महामारी का उपद्रव हुआ था। यह समय पंजाब और आगरे में इसके प्रकोप-काल से, जो ऊपर दिया है, मिलता है।

कवित्त १७७ में तुलसीदास जी लिखते हैं—

"एक तो कराल कलिकाल सूल मूल, तामें कोढ़ में की खाज सी सनीचरी है मीन की।
बेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप भये, साधु सीद्यमान, जानि, रीति पाप-पीन की॥
दूबरे को दूसरो न धाम, राम दयाधाम, रावरी ई गति बल विभव बिहीन की।
लागैगी पै लाज वा विराजमान बिरुदहिं महाराज, आजु जो न देत दाद दीन की॥

इससे यह प्रकट है कि जिस समय का यह वर्णन है उस समय मीन के शनैश्चर थे। गणना के अनुसार मीन के शनैश्चर संवत् १६६९ से १६७१ में हुए थे। अतएव जान पड़ता है कि काशी में महामारी का प्रकोप उसके आगरे में फैलने के ४-५ वर्ष पहले हुआ हो। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में काशी में प्लेग फैला हुआ था।

'कवितावली' का अंतिम अंश हनुमानबाहुक है जो १८३ वें कवित्त के अनन्तर आरम्भ होता है। इसके कुछ अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं जिससे यह विदित होगा कि तुलसीदास जी को महामारी रोग हो गया था।

"जानत जहान हनुमान को नेवाज्यो जन, मन अनुमानि बलि बोलि न बिसारिए।
सेवा जोग तुलसी कबहुँ ! कहाँ चूक परी, साहब सुभाय कपि साहब सँभारिए॥
अपराधी जानि कीजै सासति सहस भाँति, मोदक मरै जो ताहि माहुर न मारिए।
साहसी समीर के दुलारे रघुबीर जी के बाँह पीर महाबीर बेग ही निवारिए।२०॥
बात तरुमूल बाहु-सूल कपि कच्छु बेलि उपजी सकेलि कपि खेल ही उखारिए॥२४॥

भाल की, कि काल की, कि रोष की, त्रिदोष को, है वेदन विषम पापताप छलछाँह की।
करमन फूट की, कि जंत्र मन्त्र बूट की, पराहि जाहि, पापिनी; मलीन मन माँह की ॥
पैहहि सजाय न तु कहत बजाय तोहि बावरी न होहि बानि जानि कपिनाह की।
आन हनुमान की, दोहाई बलवान की, सपथ महाबीर की जो रहै पीर बाँह की। २६॥

आपने ही पाप तें, त्रिताप तें, कि साप तें बढ़ी है बाँह बेदन कही न सहि जाति है।
औषध अनेक जन्त्र मन्त्र टोटकादि किये, बादि भये देवता मनाये अधिकाति है॥
करतार, भरतार, हरतार, कर्म काल को है जग जाल जो न मानत इताति है।
चेरो तेरो तुलसी तूँ मेरो कह्यो रामदूत ढील तेरी बीर मोहि पीर तें पिराति है ॥३०॥

पाँय पीर, पेट पीर, बाँह पीर, मुँह पीर, जर जर सकल सरीर पीरमई है।
देव भूत पितर करम खल काल ग्रह मोहि पर दवरि दमानक सी दई है॥
हौं तो बिन मोल ही बिकानो, बलि बारे ही तें ओट राम नाम की ललाट लिखि लई है।
कुम्भज के किंकर बिकल बूड़े गोखुरनि हाय राम राय! ऐसी हाल कहूँ भई है।।३८॥

जीवौं जग जानकी जीवन के कहाय जन, मरिबे को बारानसि बारि सुरसरि को।
तुलसी के दुहूँ हाथ मोदक है ऐसो ठाँउ जाके जिये मुये सोच करिहैं न लरिको॥
मोको झूठो साँचो लोग राम को कहत सब मेरे मन मान है न हर को न हरि को।
भारी पीर दुसह सरीर तें बिहाल होत सोऊ रघुबीर बिनु दूरि सकै करि को॥४२॥

अन्तिम कवित्त यह है—

कहौं हनुमान सों सुजान रामराय सों कृपानिधान शंकर सों सावधान सुनिए।
हरष विषाद राग रोष गुन दोषमई बिरची बिरंचि सब देखियत दुनिए॥
माया जीव काल के करम के सुभाय के करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिए।
तुम्ह तें कहा न होय हाहा सो बुझैए मोहि हौं हूँ रहौं मौन ही बयो सो जानि लुनिए॥४४॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि तुलसीदास जी की बाँह में पीड़ा प्रारम्भ हुई, फिर कोख में गिलटी निकली। धीरे-धीरे पीड़ा बढ़ती गई, ज्वर भी आने लगा, सारा शरीर पीड़ामय हो गया। अनेक उपाय किये; जंत्र, मंत्र, टोटका, औषधि, पूजा, पाठ सब कुछ किया पर किसी से कुछ न हुआ। बीमारी बढ़ती ही गई। सब तरह की प्रार्थना कर जब वे थक गये तब अन्त में यही कह कर सन्तोष करते हैं कि जो बोया है सो काटते हैं।

बीमारी के बहुत बढ़ जाने और निराश होने पर कवित्त ३५ कहा गया था।

घेरि लियो रोगनि कुजोगनि कुजोगनि ज्यौं बासर सजल घन घटा धुकि धाई है।
बरसत बारि पीर जारिए जवासे जस रोष बिनु दोष धूम मूल मलिनाई है॥
करुनानिधान हनुमान महा बलवान हेरि हँसि हाँकि फूँकि फौजें तें उड़ाई है।
खायो हुतो तुलसी कुरोग राँड राकसनि केसरी किसोर राखे बीर बरिआई है॥

इसके अनन्तर तुलसीदास जी अच्छे हो गये, पर शरीर बहुत शिथिल हो गया। अन्त में संवत् १६८० के श्रावण मास में अन्त निकट जान कर वे गंगातट पर आ पड़े। वहाँ पर क्षेमकरी का दर्शन करके उन्होंने यह कवित्त कहा था जो 'कवितावली' का अन्तिम कवित्त है।

"कुंकुम रंग सुअंग जितो मुखचन्द से। चन्दन होड़ परी है।
बोलत बोल समृद्ध चुवै अवलोकत सोच विचार हरी है॥
गौरी कि गंग विहंगिन वेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है।
पेखु सप्रेम पयान समै सब सोच-विमोचन छेमकरी है"॥

इस कवित्त में "पेखु सप्रेम पयान समै" से स्पष्ट है कि यह कवित्त मरने के कुछ ही पूर्व कहा गया था।

कहते हैं कि तुलसीदास जी का अन्तिम दोहा यह है—

"राम नाम जस बरनि कै, भयउ चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये, अब ही तुलसी सोन॥"

इन सब बातों पर ध्यान देने से यही सिद्धान्त निकलता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी की मृत्यु काशी में हुई। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर। सावन सुक्ला सत्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

पर वेणीमाधवदास तीसरा चरण इस प्रकार लिखते हैं—"श्रावण श्यामा तीज शनि।" ज्योतिष की गणना से ये तिथियाँ ठीक उतरती हैं। इस तिथि के पक्ष में एक बात विशेष महत्त्व की है। टोडर के वंश में अब तक इस तिथि को तुलसीदास के नाम से सीधा दिया जाता है।

(१४) गोस्वामी जी के ग्रंथ

गोस्वामी जी के बनाये १२ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिनमें ६ बड़े और ६ छोटे हैं। बड़े ६ ये हैं—

१—दोहावली २—कवित्तरामायण ३—गीतावली ४—रामाज्ञा ५—विनयपत्रिका ६—रामचरितमानस या रामायण। छोटे ६ ये हैं—

१—रामललानहछू २—वैराग्यसंदीपनी ३—बरवै रामायण ४—पार्वतीमंगल ५—जानकीमंगल ६—कृष्णगीतावली।

इनके अतिरिक्त नीचे लिखे १० ग्रन्थों के नाम और भी "शिवसिंह-सरोज" आदि में मिलते हैं—

१—रामसतसई, २—संकटमोचन, ३—हनुमद्बाहुक, ४—रामसलाका, ५—छंदावली, ६—छप्पय रामायण, ७—कड़खा रामायण, ८—रोला रामायण, ९—झूलना रामायण, १०—कुण्डलिया रामायण।

इनमें से कई एक तो मिलते ही नहीं और कई दूसरे ग्रन्थों के अंशमात्र हैं, परन्तु एक "रामसतसई" बड़ा ग्रन्थ है। सम्भव है कि कोई कोई एक ग्रन्थ के दो नाम पड़ जाने से दो बेर गिन गये हों।

बाबा वेणीमाधवदास ने गोस्वामी जी के अप्र-लिखित ग्रंथों का अपने मूल चरित में उल्लेख किया है और अनेक के विषय में उनके निर्माण का संवत् भी दिया है।

(१) रामगीतावली—	संवत्	१६२८
(२) कृष्णगीतावली	,,	१६२८
(३) रामचरितमानस	,,	१६३१
(४) कवितावली	,,	१६२८-१६३१
(५) विनयपत्रिका	,,	१६३६-१६३९
(६) दोहावली	,,	१६४०
(७) सतसई	,,	१६४२
(८) रामललानहछू	,,	१६४३
(९) जानकीमङ्गल	,,	१६४३
(१०) पार्वतीमङ्गल	,,	१६४३
(११) बरवै रामायण	,,	१६६९
(१२) हनुमानबाहुक	,,	१६६९-१६७१
(१३) वैराग्यसंदीपनी	,,	१६७२
(१४) रामाज्ञा	,,	१६७२

अब हम तुलसीदास जी के इन ग्रन्थों का वर्णन करते हैं—

(१) गीतावली—यह ग्रंथ राग-रागिनियों में बना है। इसे कवि ने क्रम से बनाया है। लीला-क्रमानुसार और सब छन्द एक दूसरे से मिलते हुए हैं। इस ग्रंथ में कवि ने ब्रज के कवियों और कृष्णलीला का बहुत कुछ अनुकरण किया है। बाललीला, पालना, महादेवलीला, हिंडोला, होली आदि कृष्णलीला की तरह हैं। कथाप्रसंग प्रायः रामायण से मिलता हुआ है। यह रामायण अत्यन्त माधुर्यमय है और मधुर लीलाओं ही का इसमें विशेष वर्णन भी किया गया है। इसमें भी सात कांड हैं।

(२) कृष्णगीतावली—इस ग्रंथ में श्रीकृष्णचरित्र वर्णित है। सब ६१ पद हैं। ब्रज के कवियों की-सी कविता है। कदाचित् यह ग्रन्थ ब्रज में ही बनाया भी गया हो। कृष्णलीला पूरी-पूरी नहीं है, इच्छा के अनुसार किसी-किसी लीला का वर्णन किया गया है। पहले बाल-चरित्र है, फिर यथाक्रम गोपी-उलाहना, ऊखल से बँधना, इन्द्रकोप, गोवर्धन-धारण, छाकलीला, शोभा-वर्णन, गोपिका-प्रीति, मथुरागमन, गोपिका-विलाप, उद्धवगोपीसंवाद, भ्रमरगीत और अन्त में द्रौपदी के वस्त्र बढ़ाने की कथा है।

यह ग्रंथ, ग्रंथ के क्रम से बना नहीं जान पड़ता; समय-समय पर कृष्ण-चरित्र की जो कविताएँ बनी हैं, उन्हीं का यह संग्रह है।

(३) रामचरितमानस वा रामायण—इस अद्भुत ग्रन्थ को गोस्वामी जी ने संवत् १६३१ चैत्र शुक्ल ९ (रामनवमी) मंगलवार को आरम्भ किया—

संवत सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरि पद धरि सीसा॥
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

× × × ×

बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिँ काम-मद-दंभा॥

यह गोस्वामी जी का सर्वोत्तम ग्रन्थ है और इसे बनाने का उन्होंने छोटी ही अवस्था में संकल्प किया था। वे स्वयं लिखते हैं—

जागबलिक जो कथा सोहाई। भरद्वाज मुनिवरहि सुनाई॥

× × × ×

शंभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिँ सुनावा॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहिँ दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥

× × × ×

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहि तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥

× × × ×

तदपि कही गुरु बारहि बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥

उसी समय यह विचार किया—

भाषा बद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥

इससे जान पड़ता है कि इस कथा को लिखने की इच्छा गोस्वामी जी को बचपन ही से थी। नीचे लिखे दोहों से जान पड़ता है कि या तो इसको उन्होंने छोटी ही अवस्था में बनाया था अथवा अपनी नम्रता दिखाने के लिए उन्होंने ऐसा कहा है—

संत सरल चित जगत हित, जानि सुभाउ सनेहु।
बाल बिनय सुनि करि कृपा, राम चरन-रति देहु॥
कवि कोविद रघुबर चरित, मानस मंजु मराल।
बाल बिनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल॥

ग्रन्थ से यह पता नहीं लगता कि इस ग्रन्थ को गोस्वामी जी ने कब और कहाँ पूरा किया, क्योंकि अन्त में समय और स्थान नहीं लिखा है, केवल महिमा लिखकर उसे समाप्त कर दिया है। पर बाबा वेणीमाधवदास ने लिखा है कि दो वर्ष, सात मास और २६ दिन में यह ग्रन्थ संवत् १६३३ के मगसिर मास शुक्ल पक्ष पंचमी मंगलवार को समाप्त हुआ। अनुमान से लोग यह कहते हैं कि गोस्वामी जी ने इसे अरण्यकाण्ड तक अयोध्या में और किष्किन्धा से उत्तर तक काशी में बनाया, क्योंकि और कहीं काशी का वर्णन न करके किष्किन्धाकाण्ड के मंगलाचरण में लिखा है—

मुक्ति जनम महि जानि, ग्यान खानि अघहानिकर।
जहँ बस संभु भवानि, सो कासी सेइय कस न॥

इस ग्रन्थ का नाम गोस्वामी जी ने रामचरितमानस रक्खा परन्तु लोकप्रसिद्ध नाम हुआ रामायण। यों ही इसके सात भाग करके गोस्वामी जी ने उन भागों का नाम सोपान अर्थात् सीढ़ी रक्खा, परन्तु लोकप्रसिद्ध नाम हुआ काण्ड। इस प्रकार से इसके नीचे लिखे सात काण्ड हुए।

१—बालकाण्ड, २—अयोध्याकाण्ड,* ३—अरण्यकाण्ड, ४—किष्किन्धाकाण्ड, ५—सुन्दरकाण्ड, ६—लङ्काकाण्ड, ७—उत्तरकाण्ड। इन सातों काण्डों में यथाक्रम यह कथा है।

(१) बालकाण्ड—मंगलाचरण, ग्रन्थरचना का कारण, नाममाहात्म्य, ग्रन्थरचना-समय, सप्तसोपान का रूपक, कथा-संक्षेप, भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद, सती-शिव-संवाद और संशय, दक्ष-यज्ञ, सती-शरीर-त्याग, पार्वती-जन्म, पार्वती-महादेव-विवाह, पार्वती का रामचरित्र-विषयक प्रश्न, शिव जी का काकभुशुण्डि-गरुड़-संवाद में वर्णित रामचरित्र-वर्णन, रावण-जन्म-कारण, नारद-शाप, कर्दम-देवहूति-वर, प्रतापभानु राजा की कथा, रावण कुम्भकर्ण और विभीषण का जन्म, रावण-तपस्या और वरप्राप्ति, मेघनाद-जन्म, रावण का अत्याचार, पृथ्वी की पुकार, देवतों का भगवान् के यहाँ जाकर पुकार करना तथा भगवान् का अवतार लेने की प्रतिज्ञा, राम-जन्म, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म, बाल-लीला और संस्कार, विश्वामित्र का राम-लक्ष्मण को माँगना, राम-लक्ष्मण का मुनि के साथ जाना और अहिल्या-उद्धार, ताड़कावध, यज्ञरक्षा, जनकपुर-गमन, फुलवारी, धनुषयज्ञ, परशुराम-संवाद, विवाह, बिदाई, अयोध्या में आना और मङ्गलाचार होना, फलस्तुति।

(२) अयोध्याकाण्ड—मंगलाचरण, रामचन्द्र जी को युवराज पद देने का दशरथ का विचार, मन्थरा का कैकेयी को बहकाना, कैकेयी का कोप-भवन में जाना, राम-जानकी-लक्ष्मण-वनगमन, निषादमिलाप, ग्राम-वासियों और वन-वासियों का प्रेम, सुमन्त्र का लौटना, केवट का पाँव पखारना और पार उतारना, प्रयाग पहुँचना, भरद्वाज मुनि से भेंट, ग्रामवासी नर-नारियों का सरल प्रेम, वाल्मीकि के आश्रम में आना, चित्रकूट-निवास, सुमन्त्र का अयोध्या लौटना, दशरथ-प्राण-त्याग, भरत का ननिहाल से बुलाया जाना, भरत-विलाप, कैकेयी को धिक्कारना, दशरथ की क्रिया करना, भरत का वन में रामचन्द्र जी के पास जाना, भरत-मनावन, जनक का चित्रकूट पहुँचना, रामचन्द्र जी का सबको समझा कर लौटाना, भरत का रामचन्द्र जी का खड़ाऊँ को रख कर राज्य का प्रबन्ध करना और आप तापस के वेष में रहना, फलस्तुति।

इस काण्ड को तुलसीदास जी ने बड़े मनोयोग से बनाया है। इसमें से यदि तापस की कथा निकाल ली जाय तो सर्वत्र ८ चौपाई पर १ दोहा और २५ दोहे पर १ छन्द और १ सोरठा यह क्रम है। तापस की कथा के लिए अयोध्याकाण्ड का ११०-१११ वाँ दोहा देखिए।

* तुलसीदास को अयोध्या नाम रुचिकर नहीं था, उन्होंने सर्वत्र अवध ही लिखा है। रामायण भर में कदाचित् दो ही एक जगह अयोध्या नाम आया है।

(३) अरण्यकाण्ड—मङ्गलाचरण, कौवे का जानकी जी के चरण में चोंच मारना, चित्रकूट से रामचन्द्र जी का चलना, अत्रि ऋषि से भेंट, अनसूया-सीता-संवाद, शरभंग ऋषि से भेंट और ऋषि का शरीर-त्याग, सुतीक्ष्ण-मिलाप, अगस्त्य-ऋषिमिलाप, दंडकवनवास, लक्ष्मण को रामचन्द्र जी का भक्ति-ज्ञानादिक का उपदेश, शूर्पणखा की नाक काटना, खर-दूषण की लड़ाई, शूर्पणखा का रावण के यहाँ पुकार करना, रामचन्द्र जी का सीता को अग्नि को सौंपना, रावण-मारीच-मंत्रणा, कनकमृग, सीताहरण, जटायु-रावण-युद्ध, सीता को अशोक-वाटिका में रखना, रामचन्द्र जी का विलाप और जानकी को ढूँढ़ना, जटायु से भेंट और जटायु का मरना, शबरीमंगल, पम्पासर पर रामचन्द्र जी का विश्राम, नारद-आगमन, नारद-रामचन्द्र-संवाद, फलस्तुति।

बहुतों के मत से इस काण्ड के आठवें सोरठे पर अयोध्याकाण्ड की समाप्ति है।

(४) किष्किन्धाकाण्ड—मंगलाचरण, काशी की वन्दना, वानरों के राजा सुग्रीव से श्री रामचन्द्र जी की ऋष्यमूक पर्वत पर भेंट होना और मैत्री करना, बालिवध, वर्षावर्णन, सुग्रीव का सीता की खोज में वानरों को भेजना, ढूँढ़ते ढूँढ़ते वानरों का एक तपस्विनी की सहायता से सम्पाति के पास पहुँचना, सम्पाति का सीता का पता बतलाना, वानरों का समुद्र के किनारे आना, फलस्तुति।

(५) सुन्दरकाण्ड—हनुमान् जी का समुद्र लाँघ कर लंका में जाना, सुरसा से हनुमान् जी की भेंट, लंका-शोभावर्णन, हनुमान्-विभीषण-मिलाप, अशोक-वाटिका में छिपकर सीता-दर्शन, रावण का जानकी को भय दिखलाना, त्रिजटा का सीता को ढाढ़स देना, हनुमान् का प्रकट होकर सीता को मुद्रिका देना, हनुमान्-सीता-संवाद, हनुमान् जी का वाटिका-विध्वंस करना, रावण के लड़कों से हनुमान् जी की लड़ाई और अक्षयकुमार का मारा जाना, मेघनाद का हनुमान् जी को पकड़ कर रावण के सामने लाना, हनुमान्-रावण-संवाद, हनुमान् जी का पूँछ में कपड़ा लपेट कर आग लगा देना, हनुमान् जी का लंका जला कर सीता जी से विदा माँगना, सीता जी का श्री रघुनाथ से अपना दुःख कहलाना, हनुमान् जी का रामचन्द्र जी के पास आकर सीता का सन्देसा कहना, श्री रामचन्द्र जी का वानरों की सेना के साथ लंका के लिए यात्रा करना, मन्दोदरी का रावण को समझाना कि सीता को फेर दो, रावण का हठ, विभीषण का समझाना, रावण का न मानना, विभीषण का श्री रामचन्द्र जी के पास आना, रामचन्द्र जी का विभीषण को शरण में रखना, रामचन्द्र जी का समुद्र-किनारे आना, रावण के दूत का छिपकर आना, वानरों का दूत को सताना, लक्ष्मण जी का छुड़वा देना, दूत का जाकर रावण से रामगुण बखानना, मंत्री का रावण को समझाना, रावण का अनादर करना, मंत्री का रामचन्द्र जी के पास आना, समुद्र पर रामचन्द्र जी का क्रोध करना, समुद्र का आकर विनती करना, और पुल बाँधने का उपाय बतलाना, फलस्तुति।

इस काण्ड को लोग शुभफलद कहते हैं, मन-कामना सिद्ध होने के लिए लोग प्रतिदिन इसका पाठ करते हैं।

(६) लंकाकाण्ड—मंगलाचरण, नल-नील का पुल बाँधना, रामचन्द्र जी का शिवलिंग स्थापन करना, समुद्रपार उतर कर डेरा डालना, मन्दोदरी का रावण को फिर समझाना, मन्त्रियों का समझाना, सुबेल पहाड़ पर लेटे हुए श्री रामचन्द्र जी का चन्द्रमा को देखकर शोभा वर्णन करना, मन्दोदरी का फिर रावण को समझाना, रावण का न मानना, अंगद-संवाद, मंदोदरी का फिर समझाना, युद्धारंभ, घोर युद्ध, माल्यवान का रावण को समझाना, युद्ध, लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध, लक्ष्मण-शक्ति, हनुमान् का औषध लाने को जाना, भरत-हनुमान्-संवाद, राम-विलाप, लक्ष्मण का अच्छा होना, कुम्भकर्ण-रावण-संवाद, कुम्भकर्ण-युद्ध, कुम्भकर्ण का मारा जाना, मेघनाद-युद्ध, मेघनाद-वध, रावण-युद्ध, रावण-यज्ञ-विध्वंस, घोर युद्ध, त्रिजटा-सीता-संवाद, युद्ध, रावण का मृत्यु, मन्दोदरी-विलाप, रावण की दाहक्रिया, विभीषण का राज्याभिषेक, हनुमान् का सीता को लाना, सीता का अग्नि-परीक्षा, देवतों को स्तुति, पुष्पक विमान पर चढ़ कर रामचन्द्र का अवध को यात्रा करना, फलस्तुति।

इसमें युद्ध-वर्णन रोचक नहीं है। भक्तिपक्ष का अवलंबन करने से रावण के उत्कर्ष को कम कर देने के कारण युद्ध-वर्णन फीका हो गया है।

(७) उत्तरकाण्ड—मंगलाचरण, भरत-विलाप, हनुमान् का संवाद देना, रामचन्द्र जी को लेने के लिए धूमधाम से भरत का आगे से जाना, भरत-मिलाप, अयोध्याप्रवेश, रामराज्याभिषेक, वेदस्तुति, वानरों का बिदाई, राम-राज्य-वर्णन, सनक-सनन्दन-संवाद, भरत के प्रश्न पर रामचन्द्र जी का उपदेश, भक्ति-महिमा-कथन, वसिष्ठ-कृत-स्तुति, शिव जी का काकभुशुण्डि और गरुड की कथा तथा रामचरित्र-वर्णन का वृत्तान्त पार्वती को सुनाना, संक्षिप्त रामचरित्र-वर्णन, भक्त-ज्ञान-वर्णन, रामायण-माहात्म्य, फलस्तुति।

तुलसीदास जी के हाथ की लिखी रामायण की प्रतियाँ जो प्राप्य हैं ये हैं—

(१) राजापुर का अयोध्याकाण्ड।

(२) अयोध्या का बालकाण्ड।

(३) दुलही का सुन्दरकाण्ड।

पर प्रामाणिक लिपि उनके टोडर के पुत्रों के पंचनामे तथा वाल्मीकीय रामायण की है—रामायण की प्रतिलिपि करना उन्होंने पुरी में आरंभ किया था और संवत् १६४१ में उसे काशी में समाप्त किया था। इसका उत्तरकाण्ड अभी तक काशी के 'सरस्वती-भवन' में रक्षित है। ऐसा जान पड़ता है कि गोस्वामी जी के साथ एक लेखक था जो उनके ग्रन्थों की नकल किया करता था। उसी के लिखे अयोध्या, बाल और सुन्दर काण्ड हैं।

४—कवित्तरामायण वा कवितावली—यह ग्रंथ कवित्त, घनाक्षरी, सवैया और छप्पय छन्दों में है। इसकी भी वही दशा है जो बरवा रामायण आदि की है। यह भी एक

समय में नहीं बना। चाहे गोस्वामी जी ने आप इसको संग्रह किया हो या उनके पीछे किसी दूसरे ने किया हो। इसके कवित्त बहुधा समस्यापूर्ति की भाँति हैं। इसमें भी सात काण्ड हैं; यथा

१—बालकाण्ड—२२ कवित्त—श्रीरामचन्द्र जी की बाललीला से धनुर्भङ्ग तक।

२—अयोध्याकाण्ड—२८ कवित्त—वनवास।

३—अरण्यकाण्ड—१ कवित्त—हरिण के पीछे श्रीरामचन्द्र जी का जाना।

४—किष्किंधाकाण्ड—१ कवित्त—हनुमान् जी का समुद्र लाँघना।

५—सुन्दरकाण्ड—३२ कवित्त—लंका में हनुमान् जी की वीरता तथा लंकादहन, सीता जी की सुधि लेकर हनुमान् जी का श्रीरामचन्द्र जी के पास लौट आना।

६—लंकाकाण्ड—५८ कवित्त—सेतुबंध, अंगदसंवाद, युद्ध, लक्ष्मण की शक्ति, रावणवध।

७—उत्तरकाण्ड—१८३ कवित्त—पहले श्रीरामचन्द्र जी की वन्दना, फिर हनुमान्-वन्दना, गोपी-उद्धव-संवाद, प्रह्लाद-कथा, महादेव-स्तुति, काशी-स्तुति, काशी की दुर्गति, निज दशा तथा हनुमानबाहुक आदि फुटकर कवितायें। अन्त में ४४ कवित्त हनुमानबाहुक के हैं। इसका वर्णन आगे होगा।

हनुमानबाहुक में प्राय: ऐसे कवित्त हैं जिनका देश-दशा तथा गोस्वामी जी की जीवनी से कुछ संबंध है।

(१) उत्तरकांड के ५७ कवित्त से जान पड़ता है कि माता-पिता बचपन ही में मर गये थे या उन्होंने इन्हें छोड़ दिया था। (मातु पिता जग जाय तज्यो विधिहू न लिख्यो कुछ भाल भलाई) इसका प्रमाण रामायण में भी मिलता है कि ये बचपन ही से गुरु के साथ घूमते रहते थे।

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत। समुझी नहिँ तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥

(२) ६१ घनाक्षरी से जान पड़ता है कि पहले इनका कुछ मान नहीं था, पीछे से पंचों में बड़ा मान हुआ—(छार ते सँवार कै पहार हू तें भारी कियो, गारो भयो पंच में पुनीत पच्छ पाइ कै। हौं तो जैसो तब तैसो अब अधमाई कै कै पेट भरौं राम रावरोई गुन गाइ कै।) इसी भाव के और भी बहुतेरे कवित्त हैं।

(३) ७२, ७३ कवित्त में स्पष्ट लिखा है कि मेरा जन्म मंगन के घर में हुआ और सभी जाति के टुकड़े खाकर मैं पला, पर रामनाममाहात्म्य से मेरा नाम मुनियों का-सा है—

जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागी बस खाए टुक सबके विदित बात दुनी सो।

... ...

राम नाम को प्रभाउ, पाउँ महिमा प्रताप तुलसी को जग मनियत महामुनी सो॥

... ...

जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को॥

तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है सुनत सिहात सोच बिधि हू गनक को।
नाम राम रावरो सयानो कैधौं बावरो जो करत गिरि तें गरु तृन तें तनक को॥

(४) अनेक कवित्तों में कलिकाल की करालता, अकाल का कोप और राजा का अन्याय वर्णन किया गया है। ९७ कवित्त में देश-दशा का पूरा वर्णन किया है—

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि. बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच बस कहैं एक एकनि सों कहाँ जाई का करी॥
वेद हूँ पुरान कही लोक हूँ बिलोकियत साँकरे सबै पै राम रावरे कृपा करी।
दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी॥

(५) १०२ कवित्त में कलियुग का प्रभाव अपने ऊपर न व्यापने की बात लिखो है—

भागीरथी जलपान करौं अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हौं।

(६) १०६, १०७, १०८ कवित्तों में उन्होंने लिखा है कि जाति पाँति कुछ नहीं है, केवल राम का भरोसा है; कोई हमें साधु कहता है, कोई दग़ाबाज़, सो जिसके मन में जो आवे, कहे। हमें किसी से कुछ काम नहीं—

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो, मसीत को सोइबो, लैबे को है एक न दैबे को दोऊ॥

(७) १२७ से १३० तक प्रह्लाद-चरित्र है। १२८ में लिखा है कि प्रह्लाद जी के कहने पर खम्भ फाड़ के भगवान् निकले, तभी से लोग पत्थर प्रतिमा की पूजा करने लगे।

प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तब तें सब पाहन पूजन लागे॥

(८) १३० और १३१ "होइ भले को भलाई भलाई" और १३२ "गुमान गोविन्दहिँ भावत नाहीं" इन समस्याओं की पूर्ति है।

(९) १३५ से—उद्धव-गोपी-संवाद।

(१०) १३८ से १४२ तक चित्रकूटवर्णन है, जिसमें सीताघाट, रामवट और हनुमानधारा का वर्णन किया है। श्रीवाल्मीकि जी के स्थान पर अब तक सीतावट स्थित है।

(११) १४४ प्रयागराज का वर्णन।

(१२) १४५ से १४७ तक श्री गंगा जी की स्तुति है।

(१३) १४८ अन्नपूर्णा जी की स्तुति।

(१४) १४९ से १६४ तक छप्पय, कवित्त और सवैया श्रीशिव जी की वन्दना में।

(१५) १६५ कवित्त में स्पष्ट लिखा है कि मैं काशी में पड़ा हूँ। श्री गंगा जी का सेवन करता हूँ, माँगकर पेट भरता हूँ, भलाई तो भाग्य में लिखी ही नहीं है, पर बुराई भी किसी की नहीं करता। इतने पर भी लोग बुराई करते हैं, सो आपके दर्बार में अर्ज़ करके छुट्टी पाता हूँ कि जो पीछे से आपको उलाहना मिले तो मुझे उलाहना न देना।

देवसरि सेवैं बामदेव गाँउ रावरे ही नाम राम ही को माँगि उदर भरत हैं।
दीवे जोग तुलसी न लेत काहू को कछुक लिखो न भलाई भाल पाच न करत हैं॥
एतेहू पर हू जो कोऊ रावरो ह्वै जर करै ताको जोर देव दीन द्वारे गुदरत ौं।
पाइके उराहनो उराहनो न दीजै मोहि कालकला काशीनाथ कहे निबरत हौ॥

बैजनाथदास ने लिखा है—पंडितों के उपद्रव से काशी छोड़ने के समय गोस्वामी जी यह कवित्त विश्वनाथ जी के मंदिर में लिखकर चित्रकूट चले गये। पीछे विश्वनाथ जी का कोप हुआ, तब सब जाकर उन्हें फिर बुला लाये।

(१६) १६६ और १६७ में कहा है, कि मैं रामचन्द्रजी का सेवक हूँ और काशीवास की इच्छा से यहाँ आ पड़ा हूँ, पर कुपीर से बड़ा दुखी हूँ; सो या तो मार डालिए कि काशीवास का फल हो या जिलाइए तो नीरोग शरीर रहे।

चेरो रामराय को सुजस सुन तेरो हर पाइतर आइ रह्यो सुरसरि तीर हौं।
बामदेव राम को सुभाव सील जानि जिय नातो नेह जानियत रघुबीर भीर हौं॥
अबिभूत वेदन विषम होत भूतनाथ तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं।
मारिये तो अनायास कासीवास खास फल ज्याइयै तो कृपा करि निरुज सरीर हौं॥
जोबे की न लालसा दयालु महादेव मोहि मालुम है तोहि मरिवेई को रहतु हौं।
कामरिपु राम के गुलामनि को कामतरु अवलम्ब जगदम्ब सहित चहतु हौं॥
रोग भयो भूत सो कुसूत भयो तुलसी को भूतनाथ पाहि पद पंकज गहतु हौं।
ज्याइयै तो जानकी-रवन जन जानि जिय मारिये तो माँगी मीचु सूधियै कहतु हौं॥

(१७) १६९-१७४—काशी की दुर्गति पर विश्वनाथ जी, भगवती काली, भैरवनाथ आदि की स्तुति की है। यह समय संवत् १६५५ से १६८५ के भीतर का है, क्योंकि इस समय १७० कवित्त के अनुसार रुद्रबीसी थी (बीसी विश्वनाथ की विषाद बड़ो बारानसी बूझिये न ऐसी गति शंकर सहर की।) संवत् १६५५ के लगभग से काशी में मुसलमानों का विशेष उपद्रव मचा था और इसी के पीछे यहाँ महामारी (प्लेग) भी फूटा थी।

(१८) १७५-१७६—महामारी का महाकोप था। राजा से रंक तक सब दुखी थे। हनुमान् जी से प्रार्थना है कि काशीवासियों को इस विपत्ति से बचाओ। इसमें स्पष्ट प्लेग का रूप वर्णन है कि लोग उछलते हैं, तड़पते हैं और मर जाते हैं, जल और थल दोनों मृत्युमय हो रहा है। इस कवित्त से उस समय मुसलमानों की अनीति, बादशाह की क्रूरता और महामारी सभी उपद्रवों का होना स्पष्ट है।

(१९) १७९ कवित्त में किसी अन्यायी हाकिम को लक्ष्य करके कहा है कि काशी में किसी की अति नहीं चलती, आज चाहे कल या परसों इसका फल पाओगे ही।

मारग मारि महीसुर मारि कुमारग कोटिक कै धन लीयो।
शंकर कोप सों पाप को दाम परीच्छित जाहिगो जारि कै हीयो॥

कासी में कंटक जेते भये ते गे पाई अघाइ कै आपुनो कीयो।
आजु की कालि परौं की नरौं जड़ जाहिंगे चाटि दिवारो को दोयो॥

(२०) जान पड़ता है कि यह कवित्त अन्त समय में बनाया है।

कुंकुम रंग सुअंग जितो मुखचन्द सो चन्दन होड परी है॥
बोलत बोल समृद्ध चवै अवलोकत सोच विषाद हरी है॥
गैारो कि रंग बिहंगिनि वेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है।
पेषु सपेम पयान समै सब सोच-विमोचन छेमकरो है॥

इसके अनन्तर ३ कवित्तों में हनुमान् जी से विनती है और तब हनुमानबाहुक का आरंभ होता है।

५—विनयपत्रिका—इस ग्रन्थ में राग-रागिनियों में गोस्वामी जी ने विनय के पद लिखे हैं। यद्यपि इसमें के बहुतेरे पद ऐसे हैं जो तुलसीदासजी ने समय-समय पर बनाये हैं तथापि इस ग्रंथ को उन्होंने ग्रंथाकार रचा। पर साथ ही कुछ अपने बनाये विनय के पदों का भी संग्रह कर दिया। इस ग्रंथ से बढ़कर दूसरे किसी ग्रंथ में ग्रंथकर्ता ने अपनी कवित्वशक्ति नहीं दिखलाई है। इसके बनने के विषय में यह कहावत प्रसिद्ध है कि एक दिन एक हत्यारा पुकारता फिरता था कि "मैं हत्यारा हूँ, कोई राम का प्यारा है जो मुझे राम के नाम पर खिलावे।" तुलसीदास जी ने उसकी पुकार और श्री रामचन्द्र जी का नाम सुनकर प्रेम के साथ उसको बुलाया और महाप्रसाद दिलाया। इस पर काशी के ब्राह्मण बहुत बिगड़े और उन्होंने इनको बुलाकर पूछा कि "आपने इसके साथ कैसे खाया और इसकी हत्या कैसे छूटी?" गोस्वामी जी ने कहा, "आप लोग ग्रंथों में राम-नाम की महिमा देखिए। आपको उस पर विश्वास नहीं है, यही कचाई है।" इस पर भी उन लोगों का जी नहीं भरा तब तुलसीदास जी ने पूछा "अच्छा, आप लोगों का जी कैसे भरेगा?" उन लोगों ने कहा कि "जो विश्वनाथ जी का नन्दी (पत्थर का) इसके हाथ से खा ले तो हम लोग मानें।" ऐसा ही किया गया और नन्दी ने उसके हाथ से खा लिया, तब सब लोग लजाकर चुप हो गये। यह देखकर बहुत लोगों को विश्वास हो गया और वे भगवद्भक्ति करने लगे। इस पर कलियुग बहुत बिगड़ा और प्रत्यक्षरूप से आकर तुलसीदास जी को धमकाने लगा। इन्होंने हनुमान् जी से फ़र्याद की। हनुमान् जी ने कहा, "घबराओ मत, तुम एक विनयपत्रिका स्वामी (श्रीरामचन्द्रजी) की सेवा में लिखो, हम उसे पेश करके कलियुग को दंड देने की आज्ञा ले लेंगे तब ठीक होगा, क्योंकि वह इस समय का राजा है, उससे हम बिना प्रभु की आज्ञा के कुछ नहीं बोल सकते।" इसी पर तुलसीदास जी ने यह ग्रंथ बनाया।

(१) इसमें पहले गणेश, सूर्य, शिव, भैरव, पार्वती, गंगा, यमुना, काशी के क्षेत्रपाल, चित्रकूट, हनुमान्, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और सीता जी की वन्दना करके फिर श्रीरामचन्द्रजी की विनय की है। और देवतों से यही प्रार्थना की है कि श्रीरामचरण में मुझे भक्ति हो। वह

ग्रंथ विशेष करके काशी ही में बना है, क्योंकि इसमें मणिकर्णिका, पंचगंगा, बिन्दुमाधव, विश्वनाथ, काशी, दंडपाणि, भैरव, त्रिलोचन, कर्णघंटा, पंचकोश, अन्नपूर्णा और केशवदेव आदि देवतों और तीर्थों का वर्णन बहुत है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अंश इसका चित्रकूट और प्रयाग में भी बना है।

(२) हनुमान् जी की वंदना में जो पद हैं उनसे यह प्रकट होता है कि कहीं विपत्ति में पड़कर इनका स्मरण किया है। नीचे का पद हत्यारे और कलियुग के प्रसंग को दृढ़ करता है—

"ऐसी तोहि न बूझिये हनुमान हठीले। साहब कहूँ न राम से तुमसे न वसीले॥
तेरे देखत सिंह के सिसु मेढुक लीले। जानत हौं कलि तेरेऊ मनो गुनगन कीले॥
हाँक सुनत दसकंध के भये बंधन ढीले। सो बल गयो किधौं भयो अब गर्ब गहीले॥
सेवक को परदा फटै तुम समरथ सीले। अधिक आपु तें आपुनो हानि मान सही ले॥
साँसति तुलसीदास की देखि सुजस तुही ले। तिहूँ काल तिनको भलो जे राम रँगीले"॥

(३) तुलसीदास जी को जिस समय दिल्ली के बादशाह ने क़ैद कर लिया था उस समय उन्होंने हनुमान् जी की बहुत कुछ वन्दना की थी, जिस पर कहते हैं कि हनुमान् जी ने कोप किया और बन्दरों से बादशाह के महल को उजड़वा डाला। नीचे लिखा पद उसी संबंध का जान पड़ता है—

"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहि न बिचारी॥
... ...
बिगरी सेवक की सदा साहेबहि सुधारी। तुलसी पर तेरी कृपा निरुपाधि निनारी"॥ ३४॥

फिर ३५वें पद में लिखा है—

"बन्दिछोर बिरुदावली निगमागम गाई। नीको तुलसीदास को तेरिए निकाई॥"

(४) ४३ वें पद में संक्षेप में रामचरित्र, देवतों की स्तुति से लेकर राज्याभिषेक तक का वर्णन किया है, ४५ वें में राजा राम की वन्दना है।

(५) ४९ वें पद में श्रीकृष्ण की वन्दना है।

(६) ५२ वें पद में दशावतार-वर्णन है।

(७) ६१, ६२, ६३ पद में श्रीबिन्दुमाधवजी की वंदना है।

(८) ७६ वें पद से गोस्वामी जी के जीवन-चरित्र से बहुत कुछ संबंध जान पड़ता है। माता-पिता का छोड़ देना और बचपन ही से गुरु के साथ घूमना, यह सब रामायण आदि से भी प्रमाणित है। इसमें भी इसी की पुष्टि होती है।

"राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम काम यहै नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं।
रोटी लूगा नीके राखैं आगे हू को वेद भाखैं भलो ह्वैहै तेरो तातें आनँद लहत हौं॥
बाँधो हौं करम जड़ गरभ गूढ़ निगड़ सुनत दुसह हो तो साँसति सहत हौं।
आरत अनाथ नाथ कोसलपाल कृपाल लीन्यो छीन दीन देख्यो दुरित दहत हौं॥

बुझ्यो ज्योंही कह्यो मैं हूँ चेरो ह्वै हो रावरो जू मेरे कोऊ कहूँ नाहीं चरन गहत हौं।
मीजी गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि सेवक सुखद सदा बिरद बहत हौं॥
लोग कहैं पोचु, सो न सोचु न संकोचु मेरे ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।
तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं" ॥ ७६ ॥

(९) १३५ वें पद में लिखा है—

"दियो सुकुल जन्म सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परमपद पावत पुरारि मुरारि को॥
यह भरतखंड-समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलपबल्ली चहत विषफल फली" ॥

(१०) ब्राह्मणों को ये बहुत ही बड़ा मानते थे, १४२ वें पद में लिखा है—

"विप्रद्रोह जनु बाँट पर्‌यो हठि सब सों बैर बढ़ावौं।
ताहू पर निज मति बिलास सब सन्तन्ह माँझ गनावौं" ॥

(११) यह बात प्रसिद्ध है कि मीराबाई को जब हरि-भक्ति और साधु-सत्संग के कारण राणा जी तथा और लोग दूषण देने लगे तब उन्होंने तुलसीदास जी की बड़ाई सुनकर उनको पत्र लिखकर पूछा कि हम क्या करें। उत्तर में तुलसीदास जी ने १७४ वाँ पद "जा के प्रिय न राम वैदेही। सो छाँडिये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।" लिख भेजा था।

(१२) २२७ वें पद में भी माँ-बाप के छोड़ने और बिना नाम के इधर उधर भटकने का वर्णन किया है—

"नाम राम रावरोई हित मेरे।
स्वारथ परमारथ साथिन सों भुज उठाइ कहौं टेरे॥
जनक जननि तज्यो जनमि करम बिनु बिधि सिरज्यो अवडेरे।
मोहूँ से कोउ कोउ कहत राम को सो प्रसंग केहि केरे॥
फिरयो ललात बिन नाम उदर लगि दुखहु दुखित मोहि हेरे।
नाम-प्रसाद लहत रसाल फल अब हौं बबुर बहेरे॥
साधत साधु लोक परलोकहि सुनि गुनि जतन घनेरे।
तुलसी के अवलम्ब नाम को एक गाँठ केइ फेरे" ॥ २२७ ॥

(१३) २७५ वें पद में माता-पिता के छोड़ने पर ग्लानि होने और सन्तों के ढाढ़स देने का वर्णन किया है—

"द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।
है दयाल दुनि दसौ दिसा दुख दोष दलन छमि कियो न संभाषन काहूँ॥
तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ।
काहू को रोष दोस काहि धौं मेरे ही अभाग मोसों सकुचत छुइ सब छाहूँ॥
दुखित देखि सन्तन कह्यो सोचै जनि मन माहूँ।
तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न सरन गये रघुबर ओर निबाहूँ॥

तुलसी तिहारो भये भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिनाहूँ।
नाम की महिमा सीलु नाथ को मेरो भलो बिलोकि अबतें सकुचाहुँ सिहाहूँ" ॥ २७५ ॥

(१४) २७७ में "विनयपत्रिका" लिखकर पेश करने का वर्णन किया है—

"विनयपत्रिका दीन की, बापु आपुही बाँचो।
हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूछिए पाँचो" ॥

(१५) २७८ में हनुमान्, शत्रुघ्न, भरत और लक्ष्मण से प्रार्थना की है कि मौक़ा पा कर सिफ़ारिश करके मेरा काम बना देना।

(१६) २७९वें (अन्तिम) पद में लिखा है कि हनुमान् और भरत का रुख पाकर लक्ष्मण ने स्वामी को हमारी बिनती सुना दी। भगवान् ने हँस कर कहा—हाँ, हमें भी ख़बर लगी है—

"मारुति मन रुचि भरत की लखि लषन कही है।
कलिकालहु नाथ नाम सों परतीति प्रीति एक किंकर की निबही है ॥
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।
कृपा गरीब-निवाज की देखत गरीब को साहब बाँह गही है ॥
बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है" ॥ २७९ ॥

६—दोहावली में ५७३ दोहों का संग्रह है। दोहे भगवन्नाम-माहात्म्य, वेदान्त, राजनीति, कलियुग-दुर्दशा, धर्मोपदेश आदि स्फुट विषयों पर हैं। इनमें से डाक्टर ग्रिअर्सन की सूची के अनुसार लगभग आधे दोहे रामायण, रामाज्ञा, तुलसी-सतसई और वैराग्यसंदीपनी में पाये जाते हैं। अन्तिम ५७३वाँ दोहा "मनि मानिक महँगे किये ससतो तृन जल नाज। तुलसी एते जानिये राम गरीबनिवाज।" खानखाना रहीम का बनाया कहा जाता है। अस्तु, इसमें सन्देह नहीं कि यह ग्रंथ, ग्रंथ के ढंग पर नहीं लिखा गया था वरंच चाहे तुलसीदास जी ने स्वयं या उनके पीछे किसी दूसरे ने इसका संग्रह उनके ग्रंथों से तथा स्फुट दोहों को लेकर किया है।

इसके दोहों को विचार कर देखने से उस समय की स्थिति और तुलसीदास जी के मन के भाव कुछ कुछ प्रकट होते हैं। जैसे—

असुभ भेष भूषन धरे, भच्छाभच्छ जे खाहिँ।
ते जोगी ते सिद्ध नर, पूज्य ते कलिजुग माहिँ ॥ ५५० ॥
बादहिँ सूद्र द्विजन सन हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानहिँ ब्रह्म सो बिप्रवर, आँखि देखावहिँ डाँटि ॥ ५५३ ॥
साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिँ भगत कलि निन्दहिँ वेद पुरान*। ५५४ ॥

---

* यह कटाक्ष कबीर, दादू आदि पर जान पड़ता है।

श्रुति-सम्मत हरि-भक्ति पथ, संजुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक ॥ ५५५ ॥
गोंड गँवार नृपाल महि, यवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल ॥ ५५६ ॥
तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन मौन।
अब तौ दादुर बोलिहैं, हमें पूछिहै कौन ॥ ५६४ ॥
का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाँच ॥ ५७२ ॥
रामायन अनुहरत सिष जग भयो भारत रीति।
तुलसी सठ की को सुनै, कलि कुचाल पर प्रीति। ५४५ ॥

७—रामसतसई में सात सौ से कुछ अधिक दोहे हैं, जिसमें से लगभग डेढ़ सौ दोहावली के हैं। मिर्ज़ापुर के प्रसिद्ध रामायणी पंडित रामगुलाम द्विवेदी जी ने इस ग्रंथ का नाम गोस्वामी जी के १२ ग्रन्थों में नहीं गिनाया है; परन्तु पण्डित शेषदत्त शर्मा उपनाम फनेश कवि ने इसे गोस्वामी जी का बतला कर इस पर टीका की है। महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर जी ने इस पर कुंडलिया बनाकर तुलसी-सुधाकर नाम रक्खा है। पण्डित जी ने अनेक कारण दिखलाकर यह सिद्ध किया है कि यद्यपि इसमें गोस्वामी जी के बहुत से दोहे हैं तथापि यह किसी तुलसी नामक कायस्थ कवि का बनाया ग्रंथ है। यह ग्रंथ संवत् १६४२ वैशाख सुदी ९, गुरुवार को बना था।

"अहि-रसना, थन-धेनु रस, गनपति द्विज, गुरुवार। माधव सित सिय जनम तिथि, सतसैया अवतार ॥"
(रामसतसई)

८—रामललानहछू*—यह छोटा सा ग्रंथ बीस तुकों का सोहर छन्द में है। भारतवर्ष के पूर्वीय प्रान्त में—विशेष कर काशी, बिहार और तिरहुत प्रान्त में—बरात के पहले चौक बैठने के समय नाइन के नहछू करने की रीति बहुत प्रचलित है। इस ग्रंथ में वही लीला गाई गई है। इधर का ख़ास ग्राम्य छन्द सोहर है जो कि स्त्रियाँ पुत्रोत्सव और विवाहोत्सव आदि आनन्दोत्सवों पर गाती हैं। यह ग्रंथ उसी छन्द में है और बोली भी इसकी प्रायः इस देश की ग्राम्य बोली ही के समान है; जैसे—

"जे एहि नहछू गावहिं गाइ सुनावहिं हो। रिद्धि सिद्धि कल्यान मुक्ति नर पावहिं हो ॥"

पंडित रामगुलाम द्विवेदी का यह मत है कि नहछू चारों भाइयों के यज्ञोपवीत के समय का है। संयुक्त-प्रदेश, मिथिला इत्यादि देशों में यज्ञोपवीत के समय भी नहछू होता है। रामचन्द्र जी का विवाह अकस्मात् जनकपुर में स्थिर हो गया, इसलिए विवाह में नहछू नहीं हुआ। इस नहछू में कौशल्या आदि की हास्यलीला लिखी हुई है।

---

* बरात के पहले मंडप में वर की माँ वर को नहला धुलाकर गोद में लेकर बैठती है और नाइन पैर के नखों को महावर के रंग से चीतती है। इसी रीति का नाम नहछू है।

९—जानकीमंगल—इसमें श्रीसीताराम-विवाह-वर्णन है। १९२ सोहर छन्द और २४ छन्द हैं। ग्रंथ बनाने का समय नहीं दिया है, केवल "शुभ दिन रचेउँ स्वयंवर मंगलदायक" लिख दिया है। परन्तु "पार्वती-मंगल" और यह दोनों एक ही समय के बने जान पड़ते हैं, क्योंकि दोनों का एक ही ढंग, एक ही छन्द है और मंगलाचरण भी एक ही भाव का है।

यथा—

पार्वतीमंगल—
बिनइ गुरुहिँ गुनिगनहिँ गिरिहँ गननाथहिँ।
जानकीमंगल—
गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरा पति।
पार्वतीमंगल—
गावउँ गौरि गिरीस बिवाह सुहावन।
जानकीमंगल—
सिय रघुबीर बिवाह जथामति गावउँ।

इस ग्रन्थ में रामचरितमानस की कथा से कुछ भेद है, जो नीचे लिखा जाता है।

(१) इसमें फुलवारी-वर्णन न करके धनुष-यज्ञ ही से वर्णन आरम्भ हुआ है। सीताराम का प्रथम परस्पर सन्दर्शन भी इसमें धनुषयज्ञ ही के समय लिखा गया है।

(२) रामायण में जनक के धिक्कारने पर लक्ष्मण का कोप और तब विश्वामित्र की आज्ञा पर रामचन्द्र का धनुष तोड़ना लिखा है। इसमें सब राजाओं के हारने पर विश्वामित्र ने जनक से कहा है कि रामचन्द्र से कहो। इस पर जनक ने इनकी सुकुमारता देखकर सन्देह प्रकट किया तब मुनि ने इनकी महिमा कही। फिर जनक के कहने पर रामचन्द्र जी ने धनुष तोड़ा।

(३) इसका १८ वें और रामायण के २५७वें दोहे का छन्द एक ही है, कुछ अदल बदल मात्र है। ऐसे ही इसका अन्तिम २४वाँ छन्द और रामायण बालकाण्ड का अन्तिम ३६५वें दोहे का छन्द है जिसमें एक पद तो एक ही है।

(४) रामायण में विवाह के पहले परशुराम जी आये हैं, इसमें विवाह-बिदाई के पीछे। यही क्रम वाल्मीकि रामायण में भी है।

१०—पार्वती-मंगल—इस ग्रन्थ में शिव-पार्वती का विवाह वर्णित है। इसमें १४८ तुक सोहर छन्द के हैं और १६ छन्द हैं।

इसको तुलसीदास जी ने जय संवत् फागुन सुदी ५ गुरुवार अश्विनी नक्षत्र में बनाया था। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी जी के गणनानुसार जय संवत् १६४३ में होता है।

अग्रलिखित छन्द से जान पड़ता है कि इस समय बहुत लोग तुलसीदास जी से बुरा मानते थे और इनकी निन्दा और इनसे विवाद करते थे—

"पर अपवाद विभूषित बानिहिँ। पावनि करउँ सो गाइ भवेस भवानिहिँ ॥"

११—* बरवै रामायण—छोटे बरवा छन्द में यह ग्रंथ है। इसमें रामचरितमानस की भाँति सात काण्ड हैं। (१) बालकांड, १९ छन्द—राम-जानकी-छवि-वर्णन, धनुष-भंग, विवाह (आभासमात्र); (२) अयोध्यकाण्ड, ८ छन्द—कैकेयीकोप (आभासमात्र), राम-वन-गमन, निषाद-कथा, वाल्मीकिप्रसंग; (३) अरण्यकांड, ६ छन्द—शूर्पणखाप्रसंग,-कंचनमृग-प्रसंग, सीता-विरह में राम-अनुताप; (४) किष्किंधाकाण्ड, २ छन्द—हनुमान् का रामचन्द्रजी से पूछना कि आप कौन हैं (आभासमात्र); (५) सुन्दरकाण्ड, ६ छन्द—जानकी का हनुमान् से अपना विरह कहना, हनुमान् का आकर रामचन्द्र जी से जानकी की दशा कहना; (६) लंकाकांड, १ छन्द—रामलक्ष्मण की सेना सहित युद्ध में शोभा; (७) उत्तरकाण्ड, २७ छन्द—चित्रकूट-वास-महिमा, नाम-स्मरण महिमा।

बरवा रामायण से जान पड़ता है कि इसे ग्रंथ रूप में कवि ने नहीं बनाया था। समय समय पर यथारुचि स्फुट बरवै बनाये थे, पीछे से चाहे स्वयं कवि ने अथवा और किसी ने रामचरितमानस के ढंग पर कथा का आभासमात्र लेकर कांडक्रम से उन छन्दों का संग्रह कर दिया है। इसमें और ग्रंथों की तरह मंगलाचरण भी नहीं है। यही दशा रामचरितमानस को छोड़ प्रायः और रामायणों की भी देखने में आती है।

१२—हनुमानबाहुक—यह ग्रंथ कवितावली का अंश है पर कुछ लोग इसे स्वतंत्र ग्रंथ मानते हैं। इसमें ४४ कवित्त हैं जिनमें हनुमानजी की वन्दना, काशी की बड़ाई करके उस पर भी कलियुग के ज़ोर का वर्णन किया है। (बिरची बिरंचि की बसति विश्वनाथ की जो प्रान हूँ ते प्यारी पुरी केशव कृपाल की। जोतिरूप लिंगमई अगनित लिंगमई मोच्छ-बितरनि बिदरनि जग-जाल की॥ देवी देव देवसरि सिद्ध मुनि बरबास लोपति बिलोकति कुलिपि भांड़े भाल की। हा हा करै तुलसी दयानिधान राम ऐसी कासी की कदर्थना कराल कलिकाल की॥)

कलियुग का वर्णन करके लिखा है कि शिवजी का क्रोध तो महामारी ही से जान पड़ता है और रामचन्द्र जी का कोप दुनिया के प्रतिदिन दरिद्र होने से (—शंकर सरोष महा-मारिहि तें जानियत साहेब सरोष दुनी दिन दिन दारिदो।)

लोगों के बुराई करने पर हनुमान् जी से पूछते हैं कि बतलाइए, हमने कौन सा अपराध किया है जिसमें हम आगे के लिए तो होशियार हों (—जान-सिरोमनि हौ हनुमान सदा जन के हिय बास तिहारो। ढारो बिगारो मैं काको कहा केहि कारन खीझत हौं तो तिहारो। साहेब

---

* शिवलाल पाठक कहते थे कि तुलसीदास का बरवा रामायण भारी ग्रंथ है। आजकल जो प्रचलित बरवा रामायण है, वह बहुत ही छोटा और छिन्न भिन्न है। कहावत है कि जब खानखाना को उनके मुंशी की स्त्री की "प्रेमप्रीति कै बिरवा चलेहु लगाय। सींचन की सुधि लीजो मुरझि न जाय" इस कविता से बरवा अच्छा लगा, तब आपने भी इस छन्द में बहुत कविता की और इष्ट मित्रों से भी बहुत बनवाई। उसी समय खानखाना के कहने पर तुलसीदास जी ने भी बरवा रामायण बनाई।

सेवक नाते ते होतो ? किबो सो वहाँ तुलसी को न चारो । दोष सुनाये ते आगेहू का हुशियार है हौं मन तो हिये हारो ।।)

फिर हनुमान् जी को बुढ़ौती का वर्णन करते हैं—(बूढ़े भये बलि मेरेहि बार कि हारि परे बहुते नत पाले ?) आगे दुख देनेवाले खलों का दमन करने की प्रार्थना की है। तब बाँह की पोड़ा छुड़ाने के लिए प्रार्थना की है।

बाँह के पोड़ारूप राहु को पछाड़कर मारने की प्रार्थना है। पहले लिखा कि हमें लड़का जानकर बचपन ही से दया की और निरुपाधि रक्खा—(बालक बिलोकि बलि बारे तें आपनो कियो दोनबंधु दया कीन्हों निरुपाधि न्यारिये ।) बाँह की पोड़ा का वर्णन। बाँह की जड़ में दर्द होने का वर्णन। (बाहु तरुमूल बाहु सूल कपि कच्छुबेलि उपजी सकेलि कपि केलि ही उपारिये ।)

बाँह का दर्द पूतना है; यह तुम्हारे ही मारे मरेगी। दर्द की भीषणता दिखाई है। बाँह की पोर की पुकार। यहाँ स्पष्ट लिखा है कि मुझे बचपन से घर घर के टुकड़े खिलाकर जिलाया और सदा मेरी सँभाल और रक्षा करते आये, पर आज क्यों यह खेल है ? "बालकों का खेल और चिड़िया की मौत"। (टूकनि को घर घर डोलत कंगाल बोलि बाल ज्यों कृपाल नतपाल पालि पोसो है। कीन्हो है सँभार सार अंजनीकुमार वीर आपनो बिसारि हैं न मेरे हू भरोसो है।। इतनो परेखो सब भाँति समरथ आजु कपिनाथ साँचो कहौं को त्रिलोक तोसो है। साँसति सहत दास की जै पेखि परिहास चोरी को मरन खेल बालकनि को सो है।।) बहुत कुछ दवा और टोटके किये, यन्त्र, मंत्र किये, देवी-देवता मनाये पर दर्द बढ़ता ही जाता है।

शिव जी को प्रार्थना है कि आप ही के टुकड़े से पला हूँ, चूक होने पर भी मुझे न छोड़िए। इसमें हनुमान् जी की प्रशंसा की है कि मैं मर ही चुका था, पर तुमने रख लिया। इसमें लिखा है कि फिर दर्द बढ़ा। श्री रामचन्द्र जी से प्रार्थना की है कि दर्द मिटाइए बल्कि लूला ही आपके दर्बार में पड़ा रहूँगा। (बाँह की बेदन बाँह पगार पुकारत आरत आनँद भूलो। श्री रघुवीर निवारिये पोर रहौं दरबार परो लटि लूलो ।।)

३७वें कवित्त में लिखा है कि रात दिन का दर्द सहा नहीं जाता। उसी बाँह को इसने पकड़ा है जिसको हनुमान् जी ने पकड़ा था। (काल की करालता करम कठिनाई कैधौं पाप के प्रभाव की सुभाय बाय बावरे। बेदन कुभाँति सो सही न जाति राति दिन सोई बाँह गही जो गही समीर डावरे। लायो तरु तुलसी तिहारो सो निहारि बारि सींचिए मलीन भो तयो है तिहुँ तावरे। भूतनि की आपनी पराये हो कृपानिधान जानियत सब ही की रीति राम रावरे ।।)

३८वें में लिखा है कि सारे शरीर में दर्द फैल गया, ज्वर बढ़ा, बुढ़ौती की निर्बलता, ग्रहों आदि का ज़ोर और काल का ज़ोर मुझ पर हो रहा है। फिर श्रीराम लक्ष्मण जी से प्रार्थना।

४१वें कवित्त में लिखते हैं कि जब सब तरह से मैं धनहीन, विषयलीन था, तब आपने

अपनाया। जब मान बढ़ा तब अभिमान आ गया। इसी से जान पड़ता है कि बाल-तोड़ के बहाने राम राजा का नमक रोएँ-रोएँ से फूट-फूटकर निकल रहा है। जान पड़ता है, इस समय सारे शरीर में फोड़े या घाव हो गये थे। (असन-बसनहीन विषम विषादलीन देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को। तुलसी अनाथ सो सनाथ कियो रघुनाथ दियो फल सीलसिन्धु आपने सुभाय को॥ नीच एहि बीच पति पाइ भरुहाइगो बिहाइ प्रभु भजन बचन मन काय को। तावे तन पेखियत घोर बरतोर मिसु फूटि फूटि निकसत है लोन राम राय को॥)

४३वें कवित्त में अत्यंत घबरा गये हैं, तब इस कवित्त में हनुमान्‌जी, रामचंद्रजी, महादेवजी और भैरवजी की वन्दना करते हैं।

४४ वाँ अन्तिम कवित्त है। इसमें सब तरह थककर अन्त में कहते हैं कि अब यह समझकर कि अपने कर्मों का फल मिल रहा है, हम भी चुप हो जाते हैं।

१३—वैराग्यसंदीपनी—यह ग्रंथ दोहे-चौपाइयों में सन्त-महात्माओं के लक्षण, प्रशंसा और वैराग्य के उत्कर्ष-वर्णन में लिखा गया है। इसमें तीन प्रकाश हैं। पहला, ३३ छन्दों का संत-स्वभाव-वर्णन, दूसरा, ९ छन्दों का सन्त-महिमा-वर्णन और तीसरा, २० छन्दों का शान्ति-वर्णन है। जान पड़ता है कि घर छोड़कर विरक्त होने के पीछे इसको तुलसीदास जी ने बनाया है।

१४—रामाज्ञा—इस ग्रंथ को शकुन विचारने के लिए तुलसीदास जी ने बनाया है। इसमें ४९-४९ दोहों के सात अध्याय हैं। इन अध्यायों में श्रीरामचरित्र के बहाने शकुन कहा है, परन्तु रामायण के क्रम से अध्याय* नहीं हैं। अध्याय की कथा नीचे लिखे क्रम से है।

१ अध्याय—बालकांड की कथा।

२ अध्याय—अयोध्याकांड की कथा।

३ अध्याय—अरण्य और किष्किंधाकांड की कथा।

४ अध्याय—फिर से बालकांड की कथा, राम-जन्म और विवाह।

५ अध्याय—सुन्दर और लंकाकांड की कथा।

६ अध्याय—उत्तरकांड की कथा और अश्वमेधयज्ञ, सीता-अग्नि-प्रवेश आदि।

७ अध्याय—स्फुट दोहे, व्यापार, संग्राम आदि विषय के प्रश्नों पर शकुनविचार।

इस ग्रंथ को तुलसीदास जी ने शकुन विचारने ही की इच्छा से बनाया था, चाहे किसी के अनुरोध से बनाया हो या अपनी ही इच्छा से। इसके दोहों में बराबर शकुन विचारा गया है और अन्त में शकुन विचारने की विधि भी दी है। यथा—

"दिन सौंझ पोथी नेवत पूजि प्रभात सप्रेम। सगुन बिचारब चारुमति सादर सत्य सनेम॥
मुनि गनि, दिन गनि, धातु गनि, दोहा देखि विचारि। देस, करम, करता, बचन, सगुन समय अनुहारि॥"

---

* डाक्टर ग्रिअर्सन ने इंडियन ऐंटीक्वेरी में लिखा है—Each Adhyaya forms a sort of running commentary or of the corresfonding Kanda of the Ramayan.

डाक्टर ग्रिअर्सन अपने लेख "नोट्स ऑन तुलसीदास" (Notes on Tulsi Das) में बाबू रामदोनसिंह के कथन के आधार पर इस ग्रंथ के बनने के विषय में यह कहानी लिखते हैं कि काशी में राजघाट के राजा गहरवार क्षत्रिय थे, जिनके वंशज अब माँडा और कन्तित के राजा हैं। इनके कुमार शिकार खेलने वन में गये। उनके साथ का कोई मनुष्य बाघ से मारा गया, परन्तु राजा को समाचार मिला कि उन्हीं के राजकुमार मारे गये हैं। राजा ने घबरा कर प्रह्लादघाट पर रहनेवाले प्रसिद्ध ज्योतिषी गंगाराम को बुलाकर प्रश्न किया, साथ ही यह भी कहा कि यदि आपकी बात सच होगी तो एक लाख रुपया पारितोषिक मिलेगा, नहीं तो सिर काट लिया जायगा। गंगाराम एक दिन का समय लेकर घर आये और उदास बैठे रहे। तुलसीदास जी से और इनसे बड़ा प्रेम था। ये दोनों मित्र नित्य संध्या को नाव पर बैठकर गंगापार जाते और भगवदुपासना में मग्न होते थे। उस दिन भी तुलसीदास जी आये, पर गंगाराम ने उदासी के मारे जाने से अनिच्छा प्रकट की। तुलसीदास जी ने जब कारण सुना तब कहा कि घबराओ नहीं, मैं इसका उपाय कर दूँगा। निदान उपासना से छुट्टी पाकर लौट आने पर तुलसीदास जी ने लिखने की सामग्री माँगी। काग़ज़ के अतिरिक्त क़लम दावात भी वहाँ नहीं मिली, तब उन्होंने एक सरई का टुकड़ा लेकर कत्थे से लिखना आरम्भ किया और छः घंटे में बिना रुके हुए लिख कर इस रामाज्ञा को पूरा कर दिया। ज्योतिषी जी ने इसके अनुसार प्रश्न करके जाना कि राजकुमार कल संध्या को घड़ी दिन रहते कुशल-पूर्वक लौट आवेंगे। सबेरे जाकर उन्होंने राजा से कहा। राजा ने उन्हें संध्या तक के लिए क़ैद कर रक्खा। ज्योतिषी जी के बतलाये ठीक समय पर राजकुमार लौट आये और ज्योतिषी को लाख रुपये मिले। वे उस रुपये को तुलसीदास जी को भेंट करने लगे, परन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। बहुत आग्रह करने पर बारह हज़ार रुपया लेकर उन्होंने हनुमान् जी के बारह मन्दिर बनवा दिये जो अब तक हैं और जिन सभों में हनुमान् जी की मूर्ति दक्षिण मुख किये स्थापित है।

मेरी समझ में इस आख्यायिका की जड़ यह प्रथम अध्याय का उनचासवाँ दोहा है—

"सगुन प्रथम उनचास सुभ, तुलसी अति अभिराम। सब प्रसन्न सुर भूमिसुर गोगन गंग राम॥"

(प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक एक दोहा इस ढग का दिया है) परन्तु यह कथा सत्य नहीं जँचती, क्योंकि एक तो किसी दोहे में ऐसा ठीक उत्तर नहीं मिलता, दूसरे उस समय राजघाट का क़िला ध्वंस हो चुका था। महमूद गजनवी के सेनानायक सैयद सालार मसऊद (गाजी मियाँ) की लड़ाई में यह क़िला टूट चुका था। मुसलमानी समय में यहाँ के चकलेदार मुसलमान होते थे। अन्तिम चकलेदार मीर रुस्तम अली थे जो दशाश्वमेध के पास मीरघाट पर रहते थे और जिनको, वर्तमान काशिराजवंश के संस्थापक मनसाराम ने, भगा कर यहाँ का राज्य लिया था।

इसके सैकड़ों दोहे तुलसीदास जी के दूसरे ग्रन्थों में भी मिलते हैं, विशेष कर दोहावली में। जैसे इसके सातवें अध्याय का २१ वाँ दोहा—

"राम बाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यान मय सुरतरु तुलसी तोर॥"

वैराग्यसंदीपनी और दोहावली दोनों का पहला दोहा है। ऐसे दोहों की एक सूची डाक्टर ग्रिअर्सन ने अपने ऊपर लिखे लेख में दी है।

बस, यहीं पर तुलसीदास जी के ग्रन्थों का वर्णन समाप्त होता है। इसमें संदेह नहीं कि यदि तुलसीदास जी का पूर्णरूप से वर्णन किया जाय और उनके काव्य के गुण-दोषों पर विचार किया जाय तो एक बहुत बड़ा ग्रंथ बन जाय। खेद की बात है कि हिन्दी के ऐसे बड़े कवि के जीवन-चरित्र को जानने के लिए हमें किंवदन्तियों का ही आश्रय लेना पड़ता है। जिन घटनाओं का निदर्शन स्थूल रूप से गोस्वामी जी ने अपने ग्रंथों में आप किया है उनको छोड़ कर अन्य किसी घटना का कोई दृढ़ प्रमाण हमें नहीं मिलता। अतएव हमने इस निबंध के लिखने में यही सिद्धान्त रक्खा है कि जो जो बातें तुलसीदासजी के विषय में प्रसिद्ध हैं उनका उल्लेखमात्र कर दें। उन पर अपना दृढ़ मत देने या उनकी पूरी-पूरी छानबीन करने का हमने उद्योग नहीं किया, क्योंकि इससे कोई फल नहीं निकलता। पहले सिद्ध महात्मा यों ही अद्भुत जीव होते हैं, फिर उनके भक्त अनुयायी उनकी अद्भुतता की मात्रा को इतना बढ़ा देते हैं कि सत्यासत्य का निर्णय करना कठिन हो जाता है। सब बातों पर विचार करने पर हमारा यही सिद्धान्त है कि सबसे प्रामाणिक जीवनचरित्र बाबा बेणीमाधवदास का लिखा है।

(१४) गोस्वामी जी का काव्य-सौन्दर्य

गोस्वामी तुलसीदासजी भक्ति के क्षेत्र में जितने महान् थे उतने ही कविता के क्षेत्र में भी थे। वस्तुतः उनकी कविता उनकी भक्ति का ही प्रतिरूप था। उनकी भक्ति ही मानो वाणी का आवरण पहनकर कविता के रूप में व्यक्त हुई थी। उनकी कविता अपने आप अपना उद्देश्य नहीं था। 'कवि न होउँ नहिं चतुर प्रबीना' में जहाँ उनके विनय का पता चलता है वहाँ यह भी संकेत है कि उनकी काव्य-रचना का लक्ष्य कविता करना नहीं था। जिस प्रौढ़ वय में उन्होंने कविता करना आरंभ किया था, उससे पता चलता है कि यशोलिप्सा भी उन्हें नहीं थी। उन्होंने जो कुछ कहा है वह केवल कविचातुर्य के फेर में पड़कर नहीं, वरन् इसलिए कि अपने हृदय की अनुभूति को बिना प्रकट किये उन्हें चैन नहीं मिलता था। यही आकुलता कविता को अबाध प्रवाह देती है। प्रयत्नप्रसूत कविता वास्तविक कविता नहीं कही जा सकती। उसमें कविता का बहिरंग हो सकता है पर यह आवश्यक नहीं कि जहाँ कविता का बहिरंग दिखाई दे वहाँ उसका अभ्यंतर भी मिल जाय। सच्ची सजीव कविता के लिए यह आवश्यक

है कि कवि की मनोवृत्तियाँ वर्ण्य विषय के साथ एकाकार हो जाएँ। जब कवि की सब भावनायें एकमुख होकर जागरित हो उठती हैं तब कवि का हृदय स्वतः ही भावुक उद्गारों के रूप में प्रकट होने लगता है। इस अभिव्यक्ति के लिए न तो कवि की ओर से प्रयत्न की आवश्यकता होता है और न कोई बाहरी रुकावट ही उसे रोक सकती है। गोस्वामीजी में इस तल्लीनता की पराकाष्ठा हो गई थी। उनकी निःशेष मनोवृत्तियाँ रामाभिमुख होकर जागरित हुई थीं। भगवान् श्रीराम के साथ उनके मनोभावों का इतना तादात्म्य हो गया था कि जो कोई वस्तु उनके और राम के बीच व्यवधान होकर आवे उससे कदापि उनके हृदय का लगाव नहीं हो सकता था। यही कारण है कि भगवान् राम के अतिरिक्त किसी के विषय में उन्होंने अपनी वाणी का उपयोग नहीं किया।

श्रीरामकथा का आदि स्रोत 'वाल्मीकीय रामायण' है। गोस्वामी जी ने भी प्रधान आश्रय इसी ग्रंथ का लिया था। आदि रामायणकार होने के कारण इन कवीश्वर की गोस्वामी जी ने वन्दना भी की है; इन्हीं के साथ हनुमन्नाटककार कवीश्वर की भी वंदना की है, क्योंकि उन्होंने हनुमन्नाटक से भी सहायता ली है। इनके अतिरिक्त योगवाशिष्ठ, अध्यात्मरामायण, महारामायण, भुशुण्डिरामायण, याज्ञवल्क्यरामायण, भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, भरद्वाजरामायण, प्रसन्नराघव, अनर्घराघव, रघुवंश आदि सैकड़ों ग्रंथों की छाया रामचरितमानस में मिलती है।

परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि गोस्वामी जी ने रामचरितमानस लिखने के लिए इन ग्रंथों को पढ़ा था। वे भगवान् राम के अन्यतम भक्त थे, इसलिए उन्होंने राम-संबंधी सभी लभ्य साहित्य पढ़ा था। सबके विवेकोचित त्याग और सारग्रहणमय अध्ययन से राम का जो मंजुल लोक-रक्षक चरित्र उन्होंने निर्धारित किया, उसी को उन्होंने रामचरितमानस के रूप में जगत् के सामने रक्खा। इसी परित्याग और ग्रहण में उनकी मौलिकता है जिसका रूप उनकी प्रबन्ध-पटुता के योग में अत्यन्त पूर्णता के साथ खिल उठता है।

जिस प्रकार गोस्वामीजी का जीवन राममय था, उसी प्रकार उनकी कविता भी राममय थी। श्रीराम-चरित्र की व्यापकता में उन्हें अपनी कला के संपूर्ण कौशल के विस्तार का सुयोग प्राप्त था। उसी में उन्होंने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय दिया। अन्तःप्रकृति और बाह्य-प्रकृति दोनों से उनके हृदय का समन्वय था। इसी से उन्हें चरित्र-चित्रण और प्रकृति-चित्रण दोनों में सफलता प्राप्त हुई। परन्तु गोस्वामी जी आध्यात्मिक धर्मशील प्रवृत्ति के मनुष्य थे। सबके संरक्षक भगवान् श्रीराम के प्रेम ने उन्हें संरक्षण के मूल शीलमय धर्म का प्रेमी बनाया था, जिसके संरक्षण में उन्हें प्रकृति भी संलग्न दिखाई देती थी। पंपासरोवर का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

> फलभारन नमि बिटप सब रहे भूमि निअराइ। पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ॥
> सुखी मीन सब एकरस अति अगाध जल माहिं। जथा धर्मसीलन्ह के दिन सुखसंजुत जाहिं॥

प्राकृतिक दृश्यों में शीलसंरक्षिका धर्मसोत्तम नीति की यह छाया उनके काव्यों में सर्वत्र दिखाई देती है। किष्किंधाकांड के अन्तर्गत वर्षा और शरद्-ऋतु के वर्णन इसके बहुत अच्छे उदाहरण हैं। यह गोस्वामी जी का महत्त्व है कि धर्मसादृश्य, गुणोत्कर्ष आदि अलंकार-

योजना के सामान्य नियमों का निर्वाह करते हुए भी वे शील और सुरुचि के प्रसार में समर्थ हुए हैं।

गोस्वामी जी का प्रकृति से परिचय केवल परम्परागत नहीं था। उन्होंने प्रकृति के परम्परागत प्रयोगों को स्वीकार किया है, परन्तु वहीं तक जहाँ तक ऐसा करना सुरुचि के प्रतिकूल नहीं पड़ता। सीताजी के वियोग में विलाप करते हुए श्रीरामचन्द्रजी के इस कथन में

खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना॥
कुंदकली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी॥
बरुनपास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥

उन्होंने कविपरम्परा का ही अनुसरण किया है। ये उपमान न जाने कब से भिन्न भिन्न अंगों की, विशेषकर स्त्रियों के अंगों की सुंदरता के प्रतीक समझे जाते हैं। मूल रूप में ये मनुष्य जाति की, और विशेष कर उनके अधिक भावुक अंग अर्थात् कविसमुदाय की, निसर्ग-सौन्दर्यप्रियता के द्योतक हैं। परन्तु आगे चलकर इनका प्रयोग केवल परम्परा-निर्वाह के लिए होने लगा। परन्तु गोस्वामी जी ने परम्परा के अनुसरण से ही सन्तोष किया हो, ऐसी बात नहीं। उन्होंने अपने लिए अपने आप भी प्रकृति का पर्यवेक्षण किया था। उनके हृदय में प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रभावित होने की क्षमता थी। उनके विशाल हृदय में जड़ और चेतन सृष्टि के दोनों अंग एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हुए उद्भावित होते हैं। उनकी दृष्टि में ग्लानिपूरित हृदय को लेकर रामचन्द्र जी को मनाकर लौटा लाने के लिए जानेवाले शीलनिधान भरत के उद्देश्य में प्रकृति की भी सहानुभूति है। इसी लिए उनके मार्ग को सुगम बनाने के लिए—

किये जाहिं छाया जलद, सुखद बहइ बर बात॥

प्रकृति की सरल सुंदरता उनको सहज ही आकर्षित कर लेती थी। पक्षियों का कलरव, जिसमें वे परमात्मा का गुणगान सुनते थे, उन्हें आमन्त्रक प्रतीत होता था—

बोलत जल कुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥
सुंदर खगगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बुलाई॥

कोकिला की मधुर ध्वनि उन्हें इतनी मनोमोहक जान पड़ती थी कि उससे मुनियों का भी ध्यान भंग हो जाय।

'जड़ चेतन जीव जत' सबको राममय देखनेवाले गोस्वामी जी का हृदय यदि प्रकृति की सुंदरता के आगे उल्लसित न पड़ता तो यह आश्चर्य की बात होती।

प्रकृतिसौंदर्य के लिए उनके हृदय में जो कोमल स्थान था उसी का प्रसाद है कि हिंदी में स्वीकृत विवरणमात्र दे देने की परम्परा से ऊपर उठकर कहीं कहीं उनकी प्रतिभा ने प्रकृति के पूर्ण चित्रों का निर्माण किया है। प्राकृतिक दृश्यों के यथातथ्य चित्रण की जो क्षमता यत्र तत्र गोस्वामी जी में दिखाई देती है वह हिंदी के और किसी कवि में देखने को नहीं मिलती।

लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा ॥
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलिसाउज नाना ॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी ॥

इस डेढ़ चौपाई में गोस्वामी जी ने चित्रकूट और उसके तल पर बहनेवाली मन्दाकिनी का सुंदर तथा याथातथ्य चित्र अंकित कर दिया है और साथ ही तीर्थ का माहात्म्य भी कह दिया है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत का इतना सार्थक समन्वय गोस्वामी जी की ही कला का कौशल है।

इसी प्रकार पंपासरोवर तथा जल पीने के लिए आये हुए मृगों के झुंड का, यह चित्र भी वस्तुस्थिति को ठीक ठीक आँखों के सामने खींच देता है—

जहँ तहँ पिअहिँ बिबिध मृग नीरा। जनु उदार गृह जाचक भीरा ॥

मनुष्य भी प्रकृति का ही एक अंग है। उसकी बाहरी चालढाल, मुद्रा, आकार आदि का वर्णन भी बाह्य प्रकृति के वर्णन के ही अन्तर्गत समझना चाहिए। गोस्वामी जी ने इनके चित्रण में भी अपना कौशल दिखलाया है। मृगया करते हुए श्रीरामचन्द्र की मूर्ति उनके हृदय में विशेष रूप से बसी हुई थी। उस मूर्ति का चित्र खींचते हुए उन्होंने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय दिया है;

जटा मुकुट सिर सारस नयननि गौहैं तकत सुभौंह सकोरे। और भी—
सोहति मधुर मनोहर मूरति हेमहरिन के पाछे।
धावनि नवनि बिलोकनि बिथकनि बसै तुलसी उर आछे ॥

मृग के पीछे दौड़ते हुए, बाण छोड़ने के लिए झुकते हुए, मृग के भाग जाने पर दूर तक दृष्टि डालते हुए और हारकर परिश्रम जनाते हुए राम का कैसा सजीव चलचित्र आँखों के सामने आ जाता है! बाह्य प्रकृति से भी अधिक गोस्वामी जी की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि अन्तः-प्रकृति पर पड़ी था। मनुष्य-स्वभाव से उनका सर्वांगीण परिचय था। भिन्न भिन्न अवस्थाओं में पड़कर मन की क्या दशा होती है, इसको वे भली भाँति जानते थे। इसी से उनका चरित्र-चित्रण बहुत पूर्ण और दोष-रहित हुआ। रामचरितमानस में प्रायः सभी प्रकार के पात्रों के चरित्र-अंकन में उन्होंने अपनी सिद्धहस्तता दिखाई है। दूसरे के उत्कर्ष को अकारण ही न देख सकनेवाले दुर्जन किस प्रकार किसी दूसरे व्यक्ति को अपने पक्ष में करने के लिए पहले स्वयं स्वार्थ-त्यागी बनकर अपने को उनका हितैषी जताकर उनके हृदय में अपने भावों को भरते हैं, इसका मन्थरा के चरित्र में हमें अच्छा दिग्दर्शन मिलता है। दुर्जनों की जितनी चालें होती हैं उन्हीं के दिग्दर्शन के लिए मानो सरस्वती मंथरा की जिह्वा पर बैठी थी।

जिस पात्र को जो स्वभाव देना उन्हें अभीष्ट था उसे उन्होंने कोमल वय में बीज-रूप में दिखलाकर, आगे बढ़ते हुए, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उनका नैसर्गिक विकास दिखाया है। श्री रामचन्द्र जी के जिस स्वार्थत्याग को हम बाहुबल से जीते हुए लंका के समृद्ध राज्य

को बिना हिचक विभीषण को सौंप देने में देखते हैं वह सहसा आई हुई उमंग का परिणाम नहीं है, वह श्रीरामचन्द्र का बाल्यकाल ही से क्रमपूर्वक विकास पाता हुआ स्वभाव ही है। उसे हम चौगान के खेत में छोटे भाइयों से जीत कर भी हार मानते हुए बालक राम में, अन्य पुत्रों की उपेक्षा कर जेठे पुत्र को ही राज्याधिकारी माननेवाली प्रथा को अन्याययुक्त विचार करते हुए युवा राम में, और फिर प्रसन्नता से राज्य छोड़कर ऋषि-मुनियों की भाँति तपोमय जीवन बिताते हुए वनवासी राम में देखते हैं।

रामचरितमानस में रावण का जितना चरित्र हमारी दृष्टि में पड़ता है उसमें आदि से अन्त तक उसकी एक विशेषता हमें दिखाई देती है। वह है घोर भौतिकता। कदाचित् आत्मा की उपेक्षा करते हुए भौतिक शक्ति का अर्जन ही गोस्वामी जी राक्षसत्व समझते थे। उसका अपार बल, विश्वविश्रुत वैभव, उसकी धर्महीन शासनप्रणाली जिसमें ऋषि-मुनियों तक से कर लिया जाता था, उसके राज्य भर में धार्मिक अभिरुचि का अभाव और धार्मिक उत्पीड़न, ये सब उसके भौतिकवाद के द्योतक हैं। प्रश्न उठता है कि वह बड़ा तपस्वी भी तो था ? किन्तु उसके तप से भी उसकी भौतिकता का ही परिचय मिलता है। वह तप उसने अपनी आध्यात्मिक उन्नति या मुक्ति के उद्देश्य से नहीं किया था, वरन् इस कामना से कि भौतिक सुख को भोगने के लिए वह इस शरीर से अमर हो जाय।

हनुमान्जी में गोस्वामी जी ने सेवक का आदर्श खड़ा किया है। वे भगवान् राम के सेवक हैं। गाढ़े समय पर जब सबका धैर्य और शक्ति जवाब दे जाती है तब हनुमान्जी ही से राम का काम सधता है। समुद्र को लाँघकर सीता की खबर वे ही लाये। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर द्रोणाचल पर्वत को उखाड़ ले आकर उन्होंने संजीवनी बूटी प्रस्तुत की। भक्त के हृदय में बसने की राम की प्रतिज्ञा जब व्यवधान में पड़ी तब उन्होंने अपना हृदय चीरकर उसकी सत्यता सिद्ध की। परन्तु हनुमान्जी के चरित्र में एक बात से कुछ असमंजस हो सकता है। वे सुग्रीव के सेवक थे। सुग्रीव से बढ़कर राम की भक्ति करके क्या उन्होंने सेवा-धर्म का व्यतिक्रम नहीं किया ? नहीं, लंकाविजय तक वास्तव में उन्होंने सुग्रीव की सेवा कभी नहीं छोड़ी तथा और लोगों से कुछ दिन बाद तक जो वे अयोध्या में श्रीराम की सेवा करते रहे वह भी सुग्रीव की आज्ञा से—

> दिन दस करि रघुपति-पद-सेवा। पुनि तव चरन देखिहउँ देवा ॥
> पुन्यपुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा-आगारा ॥

इसी प्रकार भरत के हृदय की सरलता, निर्मलता, निःस्पृहता और धर्म-प्रवणता उनकी सब बातों से प्रकट होती है। राम खुशी से उनके लिए राज्य छोड़ गये हैं, कुल-गुरु वशिष्ठ उनको सिंहासन पर बैठने की अनुमति देते हैं, कौसल्या अनुरोध करती हैं, प्रजा प्रार्थना करती है; परन्तु सिंहासनासीन होना तो दूर रहा, वे इसी बात से क्षुब्ध हैं कि लोग कैकेयी के कुचक्र में उनका हाथ न देखें। वे माता से उसकी कुटिलता के लिए रुष्ट हैं। परन्तु साथ ही

वे अपने को माता से अच्छा भी नहीं समझते, इसी में उनके हृदय की स्वच्छता है। जब माता ही बुरी है तो पुत्र कैसे अच्छा हो सकता है!

मातु मंद मैं साधु सचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥

सिंहासन स्वीकार करने के लिए आग्रह करनेवाले लोगों से उन्होंने कहा था—

कैकेयी सुश्र कुटिलमति, राम-विमुख गतलाज।
तुम्ह चाहत सुख मोहबस, मोहि से अधम के राज॥

भरत के संबंध में चाहे यह बात न घटती और वे प्रजा का पालन बड़े प्रेम से करते, जैसा उन्होंने किया भी; परन्तु उनका राज्य स्वीकार करना महत्त्वाकांक्षी राजकुमारों और द्वेषपूर्ण सौतों के लिए एक बुरा मार्ग खोल देता, जिससे प्रत्येक अभिषेक के समय किसी न किसी कांड की आशंका बनी रहती। इसी बात को दृष्टि में रखकर संभवतः उन्होंने कहा था—

मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥

भरत की लोक-मर्यादा की, जिसका ही दूसरा नाम धर्म है, रक्षा की इस चिन्ता ने ही राम को—भरत भूमि रह राउरि राखी॥ कहने के लिए प्रेरित किया था। उमड़ते हुए हृदय और वाष्प-गद्गद कंठ से भरत के राम को लौटा लाने के लिए चित्रकूट पहुँचने पर जब राम ने उनसे अपना धर्म-संकट बतलाया तब उसी धर्म-प्रवणता ने उन्हें राज्य का भार स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। परन्तु उन्होंने केवल राजा के कर्त्तव्य की कठोरता को स्वीकार किया, उसके सुख-वैभव को नहीं। सुख-वैभव के स्थान पर उन्होंने वनवासी का कष्टमय जीवन स्वीकार किया जिससे उनके उदाहरण से धर्मोल्लंघन की आशंका दूर हो जाय।

परन्तु वास्तविक मानव-जीवन इतना सरल नहीं है जितना सामान्यतः बाहर से दीखता है, यह ऊपर के वर्णन से प्रकट हो सकता है। मनुष्य के स्वभाव में एक ही भावना की प्रधानता नहीं रहती। प्रायः एक से अधिक भावनायें उसके जीवन में स्थित होकर उसके स्वभाव की विशेषता लक्षित कराती हैं। जब कभी ऐसी दो भावनायें एक दूसरे की विरोधिनी होकर आती हैं तब यदि कवि इनके चित्रण में किंचित् भी असावधानी करे तो उसका चित्रण सदोष हो जायगा। उदाहरण के लिए गोस्वामी जी ने लक्ष्मण को प्रचण्ड प्रकृति दी है, परन्तु साथ ही उनके हृदय में राम के लिए अगाध भक्ति का भी सृजन किया है। जहाँ पर इन दोनों बातों का विरोध न हो वहाँ पर इनके चित्रण में उतनी कठिनाई नहीं हो सकती। जनक के 'वीरविहीन मही मैं जानी' कहते ही वे तमक कर कह उठते हैं—

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहिं समाज अस कहइ न कोई॥

परशुराम के रोषभरे वचनों को सुनकर वे कोरी कोरी सुनाने में कुछ उठा नहीं रखते—

भृगुबर परसु देखावहु मोही। बिप्र बिचारि बचउँ नृपद्रोही॥
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। द्विज देवता घरहि के बाढ़े॥

और भरत को ससैन्य चित्रकूट की ओर आते देख राम के अनिष्ट की आशंका होते ही वे बिना आगा-पाछा सोचे भरत का काम तमाम कर डालने के लिए उद्यत हो जाते हैं—

जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥

इसी प्रकार सरल रामभक्ति का परिचय भी उनके जीवन के चाहे जिस अंश में देखने को मिलेगा। गोस्वामी जी के कौशल की परख वहाँ पर हो सकती है जहाँ पर राम के प्रति भक्तिभावना और सहज प्रचण्ड प्रकृति एक दूसरे के विरुद्ध होकर आवें। यदि ऐसे स्थल पर दोनों भावों का निर्वाह हुआ तो समझना चाहिए कि वे चरित्र-चित्रण में कृतकार्य हुए हैं।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को कैकेयी ने वन जाने का उपदेश दिया है। वचनबद्ध दशरथ 'नाहीं' नहीं कर सकते हैं। ऐसे अवसर पर यह आशा करना कि लक्ष्मण क्रोध से तिलमिलाकर धनुष-बाण लेकर सबका विरोध करने के लिए उद्यत हो जायँगे, स्वाभाविक ही है। परन्तु देखते हैं कि गोस्वामी जी ने लक्ष्मण से इस समय ऐसा कुछ भी नहीं करवाया है। परन्तु यह जितना ही सामान्य पाठक की आशा के विरुद्ध हुआ है, उतना ही सप्रयोजन भी है, क्योंकि वहाँ पर क्रोध प्रकट करना लक्ष्मण के स्वभाव के विपरीत होता। ऐसा करने से वे राम की रुचि के विरुद्ध काम करते। लक्ष्मण को वनवास की आज्ञा का तब पता चला जब राम वन के लिए तैयार हो चुके थे। एक पदानुसारी भृत्य की भाँति वे भी चुपचाप वन जाने की तैयारी करने लगे। यह बात नहीं कि उन्हें क्रोध न हुआ हो, क्रोध हुआ अवश्य था, परन्तु उन्होंने उसे दबा लिया। ससैन्य भरत को चित्रकूट आते हुए देखकर—

आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिलि आजू॥

कहकर उन्होंने जिस रिस का उल्लेख किया है वह यही रिस था जिसे उन्होंने उस समय प्रकट नहीं होने दिया था। गोस्वामी जी ने भी इस अवसर की गंभीरता की रक्षा के उद्देश्य से लक्ष्मण के मन की दशा का उल्लेख नहीं किया।

इसी प्रकार लंका जाने के लिए प्रस्तुत श्रीरामचन्द्रजी ने ३ दिन तक समुद्र से रास्ता देने के लिए विनय की। लक्ष्मण को विनय की बात पसंद न आई। जब रामचन्द्र जी ने समुद्र को अग्निबाणों से सोखने का विचार करके धनुष खींचा तब लक्ष्मण की प्रसन्नता दिखलाकर गोस्वामी जी ने इस अरुचि की ओर संकेत किया है।

भावद्वन्द्व का एक और उदाहरण लीजिए। कैकेयी के कहने पर रामचन्द्र जी ने वन जाने का निश्चय कर लिया है। इस समय दशरथ का रामप्रेम और उनकी सत्यप्रतिज्ञता दोनों कसौटी पर हैं और उनके साथ साथ गोस्वामी जी का चरित्र-चित्रण का कौशल भी है। पहले तो वन जाने की आज्ञा गोस्वामी जी ने दशरथ के मुँह से नहीं कहलवाई है। 'तुम वन चले जाओ' अनन्य प्रेम के कारण दशरथ यह कह नहीं सकते थे। वे नहीं चाहते थे कि राम वन जायँ। वे चाहते तो इस समय अपने वचन की अवहेलना करके रामचन्द्र को वन जाने से रोकने का प्रयत्न

कर सकते थे। परन्तु वचनभंग करने का विचार भी उनके मन में नहीं आया। हाँ, वे मन ही मन देवतों को मनाते रहे कि राम स्वयं ही—

बचनु मोर तजि रहहि घर परिहरि सीलु सनेहु ॥

सत्यप्रतिज्ञ दशरथ अपमानित पिता होकर रहना अच्छा समझते थे परन्तु राम का बिछोह उन्हें असह्य था। उनका यह राम-प्रेम कोई छिपी बात नहीं था। कैकेयी को समझाती हुई विप्रवधुओं ने कहा था—'नृप कि जिइहि बिनु राम'। लक्ष्मण को समझाते हुए राम ने इस आशंका की ओर संकेत किया था—'राउ वृद्ध मम दुखु मन माहीं'। हुआ भी यही। वचनों की रक्षा में जो राजा छाती पर पत्थर रखकर प्रिय पुत्र राम को वन जाते हुए देखते हैं, उन्हीं को हम राम के विरह में स्वर्ग जाते हुए देखते हैं।

जहाँ मानव-मनोवृत्तियों के सूक्ष्म ज्ञान ने गोस्वामीजी से चरित्रविधान में स्वाभाविकता की प्राणप्रतिष्ठा कराई वहाँ साथ ही उसने रस की धारा बहाने में भी उनको सहायता दी, क्योंकि रसों के आधार भाव ही हैं। गोस्वामी जी केवल भावों के शुष्क मनोवैज्ञानिक विश्लेषक न थे, उन्होंने उनके हलके और गहरे रूपों को एक दूसरे के साथ संश्लिष्टावस्था में देखा था, जैसा कि वास्तविक जगत् में देखा जाता है। रामचरितमानस की विस्तीर्ण भूमि में इन्हीं के स्वाभाविक संयोग से उनकी रसप्रसविनी लेखनी सब रसों की धारा बहाने में समर्थ हुई है। प्रेम को उन्होंने कई रूपों में स्थायित्व दिया है। गुरुविषयक रति, दाम्पत्य प्रेम, वात्सल्य, भगवद्विषयक रति या निर्वेद सभी हमें रामचरितमानस में पूर्णता को पहुँचे हुए मिलते हैं। गुरुविषयक रति का आनन्द हमें विश्वामित्र के चेले राम लक्ष्मण देते हैं जो गुरु से पहले जागकर उनकी सेवा-शुश्रूषा में संलग्न दिखाई देते हैं। भगवद्विषयक रति की सबसे गहरी अनुभूति उनकी विनय-पत्रिका में होती है, यद्यपि उनके अन्य ग्रन्थों में भी इसकी कमी नहीं है। शृंगार-रस के प्रवाह में पाठकों को आप्लुत करने में गोस्वामी जी ने कोई कसर नहीं रक्खी है। परन्तु उनका शृंगाररस रीतिकाल के शृंगारी कवियों के शृंगार की भाँति कामुकता का नग्न नृत्य न होकर सर्वथा मर्यादित है। शृंगाररस यदि अश्लीलता से बहुत दूर पवित्रता की उच्च भूमि में कहीं उठा है तो वह गोस्वामी जी की कविता में। जहाँ परमभक्त सूरदास भी अश्लीलता के पंक में पड़ गये हैं वहाँ गोस्वामी जी ने अपनी कविता में लेशमात्र भी दुर्भावना नहीं आने दी है—

करत बतकही अनुज सन, मन सियरूप लोभान।
मुखसरोज मकरंद छबि करइ मधुप इव पान ॥
देखन मिस मृग बिहग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि, बाढ़इ प्रीति न थोरि ॥

सचमुच सरल प्रेममय यह जोड़ी हर एक के हृदय में घर कर लेती है। इनका यशोगान करती हुई गोस्वामी जी की वाणी धन्य है, जिसने वासना-विहीन शुद्ध दाम्पत्य प्रेम का

यह परम पवित्र चित्र लोक के समक्ष रक्खा है। जब कोई विदेशी कहता है कि हिंदी के कवियों ने प्रेम को वासना और स्त्री को पुरुष के विलास की ही सामग्री समझकर हिंदी-साहित्य को गंदगी से भर दिया है तब 'यह लाञ्छन सर्वांश में सत्य नहीं है,' यह सिद्ध करने के लिए गोस्वामी जी की रचनाओं की ओर आसानी से संकेत किया जा सकता है।

गोस्वामी जी के विप्रलम्भ शृंगार की मृदुल कठोरता श्रीसीताजी के हरण के समय भगवान् राम के विलाप में पूर्णतया प्रत्यक्ष होती है।

करुणरस की धारा राम के वनवासी होने पर और लक्ष्मण को शक्ति लगने पर फूट पड़ती है। राम के वनवासी होने पर तो शोक की छाया मनुष्यों ही पर नहीं, पशुओं पर भी पड़ा। जिस रथ पर राम को सुमन्त्र कुछ दूर तक पहुँचा आया था, लौट आने पर उसमें जुते हुए घोड़ों की आकुलता देखिए—

देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं॥
नहि तृन चरहिं न पिअहिं जल, मोचहिं लोचन बारि॥

घोड़ों की जब यह दशा थी तब पुरवासियों की और विशेषकर उनके कुटुम्बीजनों की क्या दशा हुई होगी!

जनक के 'बीरबिहीन मही मैं जानी' कहने पर लक्ष्मण की आकृति में जो परिवर्तन हुआ उसमें मूर्तिमान् रौद्ररस के दर्शन होते हैं—

माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें॥

वीर और बीभत्सरस का तो मानो लंकाकांड स्रोत ही है। शिवधनुष के भंग होने पर चारों ओर जो आतंक छा जाता है उसमें भयानक रस की अनुभूति होती है—

भरे भुवन घोर कठोर रव रविबाजि तजि मारगु चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले॥
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं।

श्री रामचन्द्र जी से सती और कौसल्या को एक ही साथ कई रूप दिखलाकर उन्होंने अद्भुतरस का चमत्कार दिखलाया। शिव जी की बरात के वर्णन और नारद-मोह में हास्यरस के फुहारे छूटते हैं। स्वयं राम-कथा के भीतर कृत्रिम रूप बनाकर आई हुई वास्तव में कुरूपा शूर्पणखा के राम के प्रति इस वाक्य से ओंठ हुलक ही जाते हैं—

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँजोग बिधि रचा बिचारी॥
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखिउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी। मन माना कछु तुम्हहि निहारी॥

लक्ष्मण इस पर मन ही मन खूब हँसे थे। इसी कारण जब श्रीराम जी ने उसे उनके पास भेजा तो उनसे भी न रहा गया। बोले—उन्हीं के पास जाओ, वे राजा हैं, उन्हें सब कुछ शोभा दे सकता है।

प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उनहिं सब छाजा॥

इतना होने पर भी यह कहीं नहीं भान होता कि गोस्वामी जी ने प्रयत्नपूर्वक आलम्बन, उद्दीपन, संचारी आदि को जुटाकर रसपरिपाक का आयोजन किया हो। प्रबन्ध के स्वाभाविक प्रवाह के भीतर स्वतः ही रस की वलैयाँ बँध गई हैं जिनमें जी भर डुबकी लगाकर ही साहित्यिक तैराक आगे बढ़ने का नाम लेता है।

कला का एक प्रधान उद्देश्य जीवन की व्याख्या करते हुए उसे किसी उच्चतम आदर्श में ढालने का प्रयत्न करना है। भावाभिव्यक्ति में जितनी सरलता होगी उतनी ही इस उद्देश्य में सफलता भी होगी। कला के इसी उद्देश्य ने गोस्वामी जी को संस्कृत का विद्वान् होने पर भी उन्हें देववाणी की ममता छोड़कर जनवाणी का आश्रय लेने के लिए बाध्य किया था। संस्कृत, जिसमें अब तक रामकथा संरक्षित थी, अब जनसाधारण की बोल-चाल की भाषा न रहकर पण्डितों के ही मंडल तक बँधी रह गई थी। इससे रामचरितमानस का आनन्दपूर्ण लाभ सर्वसाधारण न उठा सकते थे। इसी से गोस्वामीजी को भाषा में रामचरित लिखने की प्रेरणा हुई, पर पंडित लोगों में उस समय भाषा का आदर न था। भाषा कविता की वे हँसी उड़ाते थे।

भाषा भनिति भोरि मति भोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥

परन्तु गोस्वामी जी ने उनको हँसी की कोई परवा नहीं की, क्योंकि वे जानते थे कि वही वस्तु मानास्पद है जो उपयोगी भी हो। जो किसी के काम न आवे उसका मूल्य ही क्या?

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिअत साँच।
काम जो आवै कामरी का लै करै कमाँच॥

अतएव उन्होंने भाषा ही में कविता की और इस प्रकार रामचरित को देश भर में घर घर पहुँचाने का उपक्रम किया।

दिग्दर्शन-मात्र कराने के लिए हम गोस्वामी तुलसीदासजी की प्रबन्ध-पटुता का एक उदाहरण देते हैं। कथा बालकांड की है। धनुष टूट चुका है। सीताजी सखियों को साथ लिये हुए रामचन्द्रजी को जयमाल पहनाने के लिए आ रही हैं। उनके रूप-लावण्य को देखकर दुष्टप्रकृति के राजा लोग, जो धनुष न तोड़ सकने के कारण लज्जित हो चुके हैं, लालायित हो गये और—

उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे॥
लेहु छुड़ाय सीय कहँ कोऊ। धरि बाँधहु नृप-बालक दोऊ॥
तोरे धनुष चाँड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुअँरि को बरई॥
जौं बिदेह कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥

इस प्रकार स्थिति भयावह हो चली थी। यदि लड़ाई छिड़ जाती तो रक्तपात हुए बिना न रहता। अतएव गोस्वामीजी ने अपनी प्रबन्ध-पटुता का यहाँ स्पष्ट परिचय दे दिया है। उन्होंने वाल्मीकिजी के दिये हुए घटना-क्रम को बदल कर इस स्थिति को सँभाल लिया।

समभर देखि विकल नरनारी। सब मिलि देहिं महीपन गारी।
तेहि अवसर सुनि सिवधनुभंगा। आये भृगुकुल कमल पतंगा॥
देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने।
गौर सरीर भूति भलि भ्राजा। भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा॥
सीस जटा ससि वदन सुहावा। रिसबस कछुक अरुन होइ आवा।
भृकुटी कुटिल नयन रिसराते। सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते॥
वृषभ कंध उर बाहु बिसाला। चारु जनेउ माल मृगछाला।
कटि मुनि बसन तून दुइ बाँधे। धनुसर कर कुठार कल काँधे॥
संतबेष करनी कठिन, बरनि न जाई सरूप।
धरि मुनितनु जनु बीर रसु, आयेउ जहँ सब भूप॥
देखत भृगुपति बेषु कराला। उठे सकल भय-विकल भुआला।
पितु समेत कहि निज निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥
जेहि सुभाय चितवहिं हितु जानी। सो जानै जनु आइ खुटानी॥

बस, सारी परिस्थिति ने पलटा खाया और कुटिल राजाओं का शेखी हाँकना बन्द होकर उनको अपनी रक्षा की चिंता ने ग्रस लिया।

ऐसी पटुता गोस्वामी जी ने अनेक स्थलों पर दिखाई है। पर यहाँ तो उदाहरण-स्वरूप एक घटना का उल्लेखमात्र कर दिया गया है।

(१५) गोस्वामी तुलसीदास का प्रभाव

(१) अध्ययन—महाकवि तुलसीदास का जो व्यापक प्रभाव भारतीय जनता पर है उसका कारण उनकी उदारता, उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके उद्‌गारों की सत्यता आदि तो हैं ही, साथ ही उसका सबसे बड़ा कारण है उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति। "नानापुराणनिगमागमसम्मत" रामचरितमानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है। भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को गोस्वामीजी ने विविध शास्त्रों से ग्रहण किया था और समय के अनुरूप उन्हें अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यों तो उनके अध्ययन का विस्तार अत्यधिक था, परन्तु उन्होंने रामचरितमानस में प्रधानतः वाल्मीकिरामायण का आधार लिया है। साथ ही उन पर वैष्णव महात्मा रामानंद की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। उनके रामचरितमानस में मध्यकालीन धर्म-ग्रंथों—विशेषतः अध्यात्मरामायण, योगवाशिष्ठ तथा अद्‌भुतरामायण—का प्रभाव कम नहीं है। भुशुंडिरामायण और हनुमन्नाटक नामक ग्रंथों का ऋण भी गोस्वामीजी पर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकिरामायण की कथा लेकर उसमें मध्यकालीन धर्म-ग्रंथों के तत्त्वों का समावेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्‌भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया, वह उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता का भी परिचायक है।

(२) उदारता और सारग्राहिता—गोस्वामी जी की समस्त रचनाओं में उनका रामचरितमानस ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर-भारत में घर घर है। गोस्वामी जी का स्थायित्व और गौरव इसी पर सबसे अधिक अवलम्बित है। रामचरितमानस करोड़ों भारतीयों का एकमात्र धर्म-ग्रंथ है। जिस प्रकार संस्कृतसाहित्य में वेद, उपनिषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं, इसी प्रकार आज संस्कृत का लेश-मात्र ज्ञान न रखनेवाली जनता भी, करोड़ों की संख्या में, रामचरितमानस को पढ़ती और वेद आदि की ही भाँति उसका सम्मान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथ निम्नकोटि के हैं। गोस्वामी जी की प्रतिभा सबमें समान रूप से लक्षित होती है, किन्तु रामचरितमानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामीजी ने हिन्दू-धर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र में अन्तर्निहित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए; राजा-प्रजा, ऊँच-नीच, द्विज-शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता-पिता, गुरु-भाई आदि पारिवारिक संबंधों का कैसा निर्वाह होना चाहिए, आदि जीवन के गंभीर प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन इस ग्रंथ में मिलता है। हिन्दुओं के सब देवता, उनकी सब रीति-नीति, वर्ण-आश्रम-व्यवस्था तुलसीदास जी को स्वीकार हैं। शिव उनके लिए उतने ही पूज्य हैं जितने स्वयं रामचन्द्र। वे भक्त होते हुए भी ज्ञानमार्ग के अद्वैतवाद पर आस्था रखते हैं। संक्षेप में वे व्यापक हिंदू-धर्म के संकलित संस्करण हैं और उनके रामचरितमानस में उनका वह रूप बड़ी ही मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। उनकी उत्कट रामभक्ति ने उन्हें इतना ऊँचा उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से रामचरितमानस को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मान कर, आनंद-मग्न होकर, हम उसके विधि-निषेधों का चुपचाप स्वीकार करते हैं। किसी छोटे भूभाग में नहीं, सारे उत्तर-भारत में, करोड़ों व्यक्तियों द्वारा आज उनका रामचरितमानस हमारी सारी समस्याओं का समाधान करनेवाला और अनंत कल्याणकारी माना जाता है। इन्हीं कारणों से उसकी प्रधानता है।

ऊपर के विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि गोस्वामीजी ने अध्ययन और प्रतिभा के बल से ही अपने ग्रंथों की रचना की तथा वे स्वतः अपनी रचनाओं के साथ एकाकार नहीं हुए। न उसका यही आशय है कि सामाजिक धर्म, जाति-पाँति की व्यवस्था और देवी-देवता की पूजा ही गोस्वामीजी की रचना की प्रधान वस्तुएँ हैं। वास्तविक बात तो यह है कि गोस्वामी जी भारतीय आध्यात्मिक साधना की धारा में पूर्णरूप से निमज्जित हो चुके थे और उनका सर्वोपरि लक्ष्य उक्त साधना को जनता के जीवन में भर देना था। काव्य या साहित्य की रचना अथवा वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा का प्रयास तो आनुषंगिक रूप से गोस्वामी जी के लक्ष्य थे। प्रधानतः तो वे भक्त थे और भक्ति के स्रोत में डूबे हुए थे। राम की भक्ति ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य थी और उसी उपलक्ष्य से वे अन्य समस्त कार्य करते थे। भारत की चिर-प्रचलित आध्यात्मिक साधना को सामयिक साँचे में ढालकर और उसे रामकथा के प्रबंध में

सन्निहित कर उन्होंने जन-समाज के मानस को आप्लावित कर दिया। इस देश का कोई कवि सामूहिक ख्याति प्राप्त करने के लिए अध्यात्मविद्या का संग नहीं छोड़ सकता। विशेषत: जिस कवि का मुख्य उद्देश्य समाज को भक्ति की धारा में निष्णात करा रहना हो उसे तो स्वत: अध्यात्मशास्त्र का साधक और अनुयायी होना ही चाहिए। गोस्वामी जी भी ऐसे ही कवि थे।

(३) रामचरित की व्यापकता—कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने नर-काव्य नहीं किया। केवल एक स्थान पर अपने काशीवासी मित्र टोडर की प्रशंसा में दो-चार दोहे कहे हैं, अन्यत्र सर्वत्र अपने उपास्य देव राम की ही महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तियों का, राम-कथा के प्रसंग में, नाम लिया है। "कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ॥" का संकेत इस तथ्य की ओर है। यद्यपि गोस्वामीजी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग राम-गुण-कीर्त्तन में ही किया है, पर रामचरित्र के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श प्रस्फुटित हुए हैं वे मनुष्यमात्र के लिए कल्याणकर हैं। दोहावली में उन्होंने सच्चे प्रेम की जो आभा चातक और घन के प्रेम में दिखलाई है, अलोकोपयोगी उच्छृङ्खलता का जो खंडन साखी-शब्दी-दोहाकारों की निन्दा करके किया है, रामचरितमानस में मर्यादावाद की जैसी सुन्दर पुष्टि, गुरु की अवहेलना के लिए शिष्य को दंडित करके की है, राम-राज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रक्खा है, उनमें और ऐसे ही अनेक प्रसंगों में गोस्वामीजी की मनुष्यसमाज के प्रति हितकामना स्पष्टत: झलकती देखी जाती है। उनके अमर काव्य में मानवता के चिरंतन आदर्श भरे पड़े हैं।

(४) आंतरिक अनुभूति—यह सब होते हुए भी तुलसीदासजी ने जो कुछ लिखा है, स्वांत:सुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्वप्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है उसमें, आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण, स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं में होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामीजी की यह विशेषता उन्हें हिंदी-कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का भद्दा प्रदर्शन करनेवाले कवियों से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेनेवाले नीतिवादी भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से तुलसी की प्रांजलता, माधुर्य और ओज अनुपम तथा मानव-जीवन का सर्वांग निरूपण अप्रतिम हुआ है। मर्यादा और संयम की साधना में गोस्वामीजी संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इसके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते हैं तब उनकी यथार्थ महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है।

(५) स्वतंत्र उद्भावना—गोस्वामीजी की रचनाओं का महत्त्व उनमें व्यंजित भावों की विशदता और व्यापकता से ही नहीं, उनकी मौलिक उद्भावनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनों

से भी है। यद्यपि रामायण की कथा उन्हें महर्षि वाल्मीकि से बनी-बनाई मिल गई थी, परन्तु उसमें भी गोस्वामी जी ने यथोचित परिवर्तन किये हैं। सीतास्वयंवर के पूर्व फुलवारी का मनोरम वर्णन तुलसीदास जी की अपनी उद्भावना है। धनुर्भंग के पश्चात् परशुरामजी का आगमन उन्होंने अपनी प्रबंध-पटुता के प्रतीक-स्वरूप रक्खा है। कितनी ही मर्मस्पर्शिनी घटनायें गोस्वामी जी ने अपनी ओर से सन्निहित की हैं, जैसे सीताजी का अशोक वन में विरह-पीड़ित अवस्था में अशोक से आग माँगना और तत्क्षण हनुमान् जी का मुद्रिका गिराना। हनुमान्, विभीषण, सुग्रीव आदि राम-भक्तों का चरित्र तुलसीदासजी ने विशेष सहानुभूति के साथ अंकित किया है। गोस्वामीजी के भरत तो गोस्वामीजी के ही हैं—भक्ति की मूर्त्ति। अपने युग की छाप भी रामचरितमानस में मिलती है जिससे वह युग-प्रवर्तक ग्रंथ बन सका है। कलियुग के वर्णन में उन्होंने सामयिक स्थिति का व्यंग्यपूर्ण चित्र उपस्थित किया है। ये सब तुलसी की अपनी मौलिकतायें हैं जिनके कारण उनका मानस अन्य प्रांतीय भाषाओं में लिखे हुए रामकथा के ग्रंथों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और काव्यगुणोपेत बन सका। पूरे ग्रंथ में उपमाओं और रूपकादि अलंकारों की नैसर्गिकता चित्त को विमुग्ध करती है। वह समस्त वर्णन और वे अलंकार रूढ़िबद्ध या अनुकरणशील कवि में आ ही नहीं सकते। गोस्वामीजी में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि थी, इसका परिचय स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है। वे कोरे भक्त ही नहीं थे; प्रत्युत मानवचरित्र, उसकी सूक्ष्मताओं और ऋजु-कुटिल गतियों के पारखी भी थे, यह रामचरितमानस में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। मंथरा के प्रसंग में गोस्वामीजी का यह चमत्कार स्पष्ट लक्षित है। कैकेयी की आत्मग्लानि भी उन्होंने मौलिकरूप से प्रकट कराई है। ऐसे ही अन्य अनेक स्थल हैं। प्रकृति के रम्य रूपों का चित्र खड़ा करने की क्षमता हिंदी के कवियों में बहुत कम है; परन्तु गोस्वामी जी ने चित्रकूट-वर्णन में संस्कृत कवियों से टक्कर ली है। इतना ही नहीं, भावों के अनुरूप भाषा लिखने तथा प्रबंध में संबंधनिर्वाह और चरित्र-चित्रण का निरंतर ध्यान रखने में वे अपनी समता नहीं रखते। उत्कट रामभक्ति के कारण उनके रामचरितमानस में उच्च सदाचार का जो एक प्रवाह-सा बहा है, वह तो वाल्मीकि-रामायण से भी अधिक गंभीर और पूत है।

(६) भाषा और काव्यशैली—जायसी ने जिस प्रकार दोहा-चौपाई छन्दों में अवधी भाषा का आश्रय लेकर अपनी पद्मावत लिखा है, कुछ वर्षों के पश्चात् गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी उसी अवधी भाषा में उन्हीं दोहा-चौपाई छन्दों में अपनी प्रसिद्ध रामायण की रचना की। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि जायसी संस्कृतज्ञ नहीं थे; अतः उनकी भाषा ग्रामीण अवधी थी, उसमें साहित्यिकता की छाप नहीं थी। परन्तु गोस्वामीजी संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे अतः उन्होंने कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकांश स्थलों में संस्कृत-मिश्रित अवधी का व्यवहार किया है। इससे इनके रामचरितमानस में प्रसंगानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का माधुर्य दिखाई देता है। यह तो हुई उनके रामचरितमानस की बात। उनकी विनयपत्रिका, गीतावली और कवितावली आदि में ब्रजभाषा

व्यवहृत हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी यह ब्रजभाषा विकसित होकर गोस्वामीजी के समय तक पूर्णतया साहित्य की भाषा बन चुकी थी, क्योंकि इसमें सूरदास आदि भक्त कवियों की विस्तृत रचनायें हो रही थीं। गोस्वामीजी ने ब्रजभाषा में भी अपनी संस्कृतपदावली का सम्मिश्रण किया और उसे उपयुक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर जायसी और सूर ने क्रमशः अवधी और ब्रजभाषा में ही काव्यरचना की थी, वहाँ गोस्वामीजी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार हुआ और इन दोनों में संस्कृत के समावेश से नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो उनकी अपनी है।

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रन्थों में जिस प्रकार भाषा-भेद है, उसी प्रकार छन्द-भेद भी है। रामचरितमानस में उन्होंने जायसी की तरह दोहे-चौपाइयों का क्रम रक्खा है, परन्तु साथ ही हरिगीतिका आदि लम्बे तथा सोरठा आदि छोटे छन्दों का भी बीच बीच में व्यवहार कर उन्होंने छन्द-परिवर्तन की ओर ध्यान रक्खा है। रामचरितमानस के लङ्काकाण्ड में जो युद्ध-वर्णन है, उसमें छन्द आदि वीर कवियों के छन्द भी लाये गये हैं। कवितावली में सवैया और कवित्त छन्दों में कथा कही गई है जो भाटों की परम्परा के अनुसार है। इसमें राजा राम की राज्यश्री का जो विशद वर्णन है, उसके अनुकूल कवित्त छन्द का व्यवहार उचित ही हुआ है। विनयपत्रिका तथा गीतावली आदि में ब्रजभाषा के सगुणोपासक संत महात्माओं के गीतों की प्रणाली स्वीकृत की गई है। गीत-काव्य का सृजन पाश्चात्य देशों में संगीतशास्त्र के अनुसार हुआ है। वहाँ की लिरिक कविता आरम्भ में वीणा के साथ गाई जाती थी। ठीक उसी प्रकार हिन्दी के गीत-काव्यों में भी संगीत के राग-रागिनियों को ग्रहण किया गया है। दोहावली, बरवै रामायण आदि में तुलसीदास जी ने छोटे छन्दों में नीति आदि के उपदेश दिये हैं अथवा अलङ्कारों की योजना के साथ फुटकर भावव्यंजना की है। सारांश यह कि गोस्वामीजी ने अनेक शैलियों में अपने ग्रन्थों की रचना की है और आवश्यकतानुसार उसमें विविध छन्दों का प्रयोग किया है। इस कार्य में गोस्वामीजी की सफलता विस्मयकारिणी है। हिन्दी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर भावव्यंजना-शक्ति उनकी रचनाओं में देख पड़ती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओं से हिन्दी में पूर्ण प्रौढ़ता की प्रतिष्ठा हुई है।

तुलसीदास जी के महत्त्व का ठीक-ठीक अनुमान करने के लिए उनकी कृतियों की परीक्षा तीन प्रधान दृष्टियों से करनी पड़ेगी। भाषा की दृष्टि से, साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृति के संरक्षण तथा उत्कर्ष-साधन की दृष्टि से। इन तीनों दृष्टियों से उन पर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है, जिसके परिणाम-स्वरूप हम यहाँ कुछ बातों का स्पष्टतः उल्लेख कर सकते हैं। हम यह कह सकते हैं कि गोस्वामी जी का ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था और दोनों में ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों में दर्शनीय हुई है। छन्दों और अलंकारों का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया गया है। साहित्यिक

दृष्टि से रामचरितमानस के जोड़ का दूसरा ग्रंथ हिन्दी में नहीं देख पड़ता। क्या प्रबंध-कल्पना, क्या संबंध-निर्वाह, क्या वस्तु एवं भावव्यंजना, सभी उच्च कोटि की हुई हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृतिवर्णन में हिन्दी के कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते। अंतिम प्रश्न संस्कृति का है। गोस्वामीजी ने देश के परम्परागत विचारों और आदर्शों को बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रंथ आज जो देश की इतनी असंख्य जनता के लिए धर्म-ग्रंथ का काम दे रहे हैं, उसका कारण यही है। गोस्वामीजी हिन्दू-जाति, हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति को अक्षुण्ण रखनेवाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी यशःप्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी के हृदयपटल पर अनंत काल तक अंकित रहेगी, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। भारतीय समाज की संस्कृति और प्राचीन ज्ञान की रक्षा के लिए गोस्वामी जी का कार्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु गोस्वामी जी परम्परा-रक्षा के लिए ही एकमात्र यत्नवान् न थे। वे समय की स्थितियों और आवश्यकताओं को भी समझते थे तथा समाज को नवीन दिशा की ओर अग्रसर करने के प्रयास भी उन्होंने किये। आचार-संबंधिनी जितनी शुद्धि और परिष्कार उन्होंने किया वह सब जातीय जीवन को दृढ़ करने में सहायक बना। यह तो नहीं कहा जा सकता कि तुलसीदासजी परम्परा या रूढ़ियों के बंधन से सर्वथा मुक्त थे, तथापि संस्कृति की रक्षा और उन्नयन के लिए उन्होंने जो महान् कार्य किया उसमें इस बंधन का कुप्रभाव नगण्य-सा है। उनके गुणों का विशाल ऋण हिन्दू-समाज पर है और चिर दिन तक रहेगा। इस अकाट्य सत्य को कौन अस्वीकार कर सकता है?

यह एक साधारण नियम है कि साहित्य के विकास की परम्परा क्रमबद्ध होती है। इसमें कार्य-कारण का संबंध प्रायः ढूँढ़ा और पाया जाता है। एक काल-विशेष के कवियों को यदि हम फूल-स्वरूप मान लें, तो उनके उत्तरवर्ती ग्रंथकारों को फल-स्वरूप मानना होगा। फिर ये फूल-स्वरूप ग्रंथकार समय पाकर अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के फल-स्वरूप और उत्तर-वर्ती ग्रन्थकारों के फूल-स्वरूप होंगे। इस प्रकार यह क्रम सर्वथा चला चलेगा और समस्त साहित्य एक लड़ी के समान होगा जिसकी भिन्न कड़ियाँ उस साहित्य के काव्यकार होंगे। इस सिद्धान्त को सामने रख कर यदि हम तुलसीदासजी के संबंध में विचार करते हैं, तो हमें पूर्ववर्ती काव्यकारों की कृतियों का क्रमशः विकसित रूप तो तुलसीदास जी में देख पड़ता है, पर उनके पश्चात् यह विकास, आगे बढ़ता हुआ नहीं जान पड़ता। ऐसा भास होने लगता है कि तुलसीदासजी में हिन्दी-साहित्य का पूर्ण विकास संपन्न हो गया और उनके अनन्तर फिर क्रमागत विकास की परम्परा बन्द हो गई तथा उसकी प्रगति ह्रास की ओर उन्मुख हुई। सच बात तो यह है कि गोस्वामी तुलसीदासजी में हिन्दी-कविता की जो सर्वतोमुखी उन्नति हुई, वह उनकी कृतियों में चरमसीमा तक पहुँच गई, उसके आगे फिर कुछ करने को नहीं रह गया। इसमें गोस्वामीजी की उत्कृष्ट योग्यता और प्रतिभा देख पड़ती है। गोस्वामीजी के पीछे उनकी

नकल करनेवाले तो बहुत हुए, पर ऐसा एक भी न हुआ जो उनसे बढ़कर हो या कम से कम उनकी समकक्षता कर सके। हिन्दी-कविता के कीर्ति-मंदिर में गोस्वामीजी का स्थान सबसे ऊँचा और सबसे विशिष्ट है। गोस्वामीजी के काव्य में रामभक्ति की परम्परा और उसका उत्कर्ष पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। उनके पश्चात् यह रामभक्ति की धारा उतनी प्रशस्त नहीं रह गई। कविता के क्षेत्र में तो वह क्षीण ही होती चली गई। तुलसीदासजी के पश्चात् रामभक्ति में साम्प्रदायिकता की मात्रा बढ़ी। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। इस सांप्रदायिकता से तुलसीदासजी के काव्य का प्रचार तो बहुत हुआ पर परवर्ती कवियों के विकास का मार्ग भी अवरुद्ध हो गया।

रामचरित-मानस की कथा-सूची

बालकाण्ड

मंगलाचरण १
गुरुचरण-वन्दना ३
साधुसमाज-गुण-स्वभाव-लक्षण-वन्दन ... ५
दुष्टों से विनय ८
व्यास प्रभृति को प्रणाम २०
वाल्मीकि, सरस्वती, गुरु, माता-पिता, शिव और पार्वती आदि की वन्दना २१
रामनाम की महिमा २६
रामकथा-माहात्म्य ३९
रामचरितमानस-नामकरण ... ४४
याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद ... ५३
सती-मोह ५८
दक्ष-यज्ञ-विध्वंस ६८
पार्वती का जन्म और तपस्या ७१
सप्तर्षियों द्वारा पार्वती की परीक्षा ... ८२
कामदेव का चरित और पराजय ... ८७
शिव-विवाह ९५
शिव-पार्वती-संवाद ११०
जय-विजय की कथा १२३
जलन्धर की कथा १२४
नारद-मोह १२५
स्वायम्भुव मनु की कथा १३९
राजा प्रतापभानु की कथा १४९
रावण, कुम्भकर्ण आदि का जन्म ... १६८
रावण का लंका पर अधिकार १७०
गोरूप पृथ्वी का ऋषियों और देवताओं के साथ ब्रह्मा के यहां परमात्मा की स्तुति करना १७६
भगवान् का अभयदान देना १७८
यज्ञकुंड से पायस लेकर अग्नि का प्रकट हो राजा दशरथ को देना १८०
रानियों का गर्भधारण १८१
श्री रामजन्म १८२
बाललीला १८८
कौशल्या को विराट् रूप-दर्शन ... १९१
राजा दशरथ से यज्ञ-रक्षा के लिए विश्वामित्र का राम-लक्ष्मण को मांगना १९६
ताड़का-वध १९९
सुबाहु-वध २००
जनकपुर-गमन, अहिल्या-शाप-मोचन ... २०१
राम-लक्ष्मण का जनकपुर देखने जाना ... २०९
बाग में फुलवारी-लीला २१६
जानकी को पार्वती का वरदान ... २२७
राम-लक्ष्मण का रंगभूमि में जाना ... २३२
धनुष उठाने में राजाओं की विफलता ... २४१
जनक के कथन पर लक्ष्मण का रोष ... २४३
धनुष-भंग २५१
परशुराम-आगमन और उनसे राम-लक्ष्मण का संवाद २५८
राजा दशरथ को निमंत्रण २७८
जनकपुर में बरात २९१
चारों भाइयों का विवाह ३०९
बरात का अवधपुरी को लौटना ... ३३७

अयोध्याकाण्ड

मंगलाचरण ३५०
राजा दशरथ का रामराज्य की इच्छा करना... ३५४
देवताओं का मन्थरा और कैकेयी द्वारा यौवराज्याभिषेक में विघ्न कराना ३६१
कैकेयी-मन्थरा-संवाद ३६३
कैकेयी के कोप-भवन में राजा दशरथ ... ३७३
कैकेयी का राजा से वरदान मांगना ... ३७७
रामचन्द्र का पिता के पास जाना और नगरवासियों की चिन्ता ३८७
रामचन्द्र का माता से बिदा मांगना ... ३९९
रामचन्द्र का सीता को उपदेश ... ४०६

लक्ष्मण-संवाद ४१४
रामचन्द्र का पिता से बिदा होना, नगरवासियों का विषाद ४२२
रामचन्द्र शृंगवेरपुर में ४२९
सुमन्त को बिदा कर रामचन्द्र का गंगा पार होना ४३६
गंगाजी से वरदान पाना, भरद्वाज ऋषि से भेंट ४४३
वाल्मीकि से भेंट और चित्रकूट-गमन ... ४६२
सुमन्त का अयोध्या पहुँचना ... ४८१
दशरथ का विलाप और देहान्त ... ४८७
वसिष्ठ का भरत को बुलवाना ... ४९०
भरत का अयोध्या पहुँचकर पिता का संस्कार करना ४९१
पुरवासियों के साथ भरत का रामचन्द्र से मिलने को चित्रकूट जाना ५१७
गुह से मिलन ५२१
प्रयाग में भरद्वाज ऋषि से मिलकर भरत का चित्रकूट को जाना ५३३
रामचन्द्र-भरत-मिलन ५६४
भरत-राम-संवाद ५८२
चित्रकूट में राजा जनक ५९५
राम-भरत का अन्तिम परामर्श ... ६११
भरत का तीर्थदर्शन और रामचन्द्र की खड़ाऊँ लेकर अयोध्या को लौटना ... ६२७
भरत का अयोध्या पहुँचना ६३८

आरण्यकाण्ड

मंगलाचरण ६४५
कौवा बने हुए जयन्त की राम-परीक्षा ६४६
अत्रि ऋषि से रामचन्द्र की भेंट ... ६४९
जानकी को अनसूया का उपदेश ... ६५२
विराध-वध, शरभंग मुनि का दर्शन ... ६५६
सुतीक्ष्ण-मिलन; अगस्त्य मुनि से भेंट कर पंचवटी में प्रवेश ६५९
राम-लक्ष्मण-संवाद (लक्ष्मण गीता) ... ६६६
शूर्पणखा के नाक-कान काटे जाना; खर-दूषण-वध ६७२
शूर्पणखा का रावण के पास जाना ... ६७९
रामचन्द्र का सीता को अग्नि में छिपाकर माया की सीता बनाना ६८२
मारीच को मृग बनाकर रावणद्वारा सीता-हरण ६८४
जटायु-रावण-युद्ध ६८९
राम-लक्ष्मण का सीता को ढूंढ़ते हुए जटायु से मिलना ६९१
कबन्ध-वध ६९५
रामचन्द्र शबरी के आश्रम में ६९७
रामचन्द्र-नारद-संवाद ७०६

किष्किन्धाकाण्ड

मंगलाचरण ७१३
हनुमान से रामचन्द्र का संवाद ... ७१६
राम-सुग्रीव-मित्रता ७१९
सुग्रीव और बाली का युद्ध ७२४
बाली का मारा जाना ७२५
सुग्रीव-राज्याभिषेक ७२९
प्रवर्षण पर्वत पर राम-लक्ष्मण ... ७३१
किष्किन्धा में क्रोधित लक्ष्मण का जाना; तारा और सुग्रीव से उनकी बातचीत ... ७३७
सुग्रीव का सीता के ढूंढ़ने को वानरों को भेजना ७४०
वानर गुफा में ७४२
मरने के लिए वानरों का समुद्रतट पर बैठना ७४४
सम्पाति से वानरों की बातचीत ... ७४५
वानरों का आपस में विचार ७४७

सुन्दरकाण्ड

मंगलाचरण ७५१
जाम्बवान् की सलाह से हनुमान का समुद्र को लांघना ७५२
सुरसा-हनुमान-संवाद ७५३
सिंहिका-वध ७५४
लंकिनी को जीतकर हनुमान का लंका में प्रवेश ७५६
हनुमान-विभीषण-संवाद ७५९
अशोक वाटिका में रावण और सीता का संवाद ७६२
त्रिजटा का स्वप्न ७६४
मुद्रिका डालकर हनुमान का सीता से बातें करना ७६५
हनुमान का अशोक-वाटिका को उजाड़कर अक्ष का वध करना ७७१
मेघनाद के साथ हनुमान का रावण की सभा में जाना ७७३
लंका-दहन करके हनुमान का लंका से प्रस्थान ७८०
समुद्र पार जा हनुमान का वानरों से मिलना और मधुवन के फल खाना ७८२

चित्र-सूची

चित्र	पृष्ठ
श्यामसुन्दरदास	
गोस्वामी तुलसीदास	१
भवानीशंकर	१
गणेश जी	२
वाल्मीकि ऋषि	२१
पार्वती-तपस्या	८२
मदन-दहन	९१
नारद-मोह	१३८
ताड़का-वध	१९९
अहल्या-उद्धार	२०१
फुलवारी में राम-लक्ष्मण	२२०
धनुष-भंग	२५३
परशुरामजी को विस्मय	२७४
कैकेयी-मन्थरा	३६५
कोपभवन में राजा दशरथ	३७४
रामचन्द्र और कौशल्या	४००
राम-वन-गमन	४२२
चित्रकूट में रामनिवास	४६९
चित्रकूट में भरत-मिलन	५६५
सिंहासन पर रामपादुका	६३९
शूर्पणखा का आना	६७०
शूर्पणखा के नाक-कान काटना	६७२
मायामृग	६८४
छद्मवेषी रावण	६८६
रावण-जटायु-युद्ध	६८९
बालि-सुग्रीव-युद्ध	७२५
प्रवर्षण पर्वत पर राम-लक्ष्मण	७३६
वानर-सम्पाती-संवाद	७४४
रावण का सीता को धमकाना	७६३
हनुमान-सीता-मिलन	७६५
लंकादहन	७८०
रामचन्द्र से समुद्र की प्रार्थना	८१४
रामेश्वर-स्थापना	८२०
राक्षसी सेना	८६३
मकरी-उद्धार	८८०
नागपाश-मोचन	८९९
मेघनाद के यज्ञ का विध्वंस	९०१
राम-रावण-युद्ध	९२२
सीता-त्रिजटा-संवाद	९३२
अग्नि-परीक्षा	९४८
सिंहासन पर राम-जानकी	९८४
कागभुशुण्डि-गरुण	१०३७

रामचन्द्र से हनुमान की भेंट ७८४
रामचन्द्र का लंका के लिए प्रयाण ... ७८९
विभीषण-रावण-संवाद ७९३
विभीषण को रामचन्द्र द्वारा राज्य-तिलक ... ८०४
समुद्र से रामचन्द्र की विनय ८०६
राम-कटक में रावण के भेदियों का निग्रह ... ८०७
भेदियों का रावण को वानरी सेना की शक्ति बतलाना ८०९
समुद्र-निग्रह ८१३

लङ्काकाण्ड

मंगलाचरण ८१७
सेतु-बन्धन ८१९
रामेश्वर की स्थापना ८२०
रामदल का समुद्र पार होना ८२२
मन्दोदरी-रावण-संवाद ८२४
रावण की राक्षसों से मंत्रणा ८२६
रामचन्द्र द्वारा रावण के छत्र-मुकुट भंग होना ८३२
अंगद का दूतत्व ८३७
अंगद-पैज ८५५
रावण-मन्दोदरी-संवाद ८५८
लंका पर आक्रमण ८६३
माल्यवन्त-रावण-संवाद ८७१
मेघनाद का युद्ध ८७३
लक्ष्मण-शक्ति ८७७
संजीविनी लाने को हनुमान की द्रोणाचल-यात्रा ८७८
मार्ग में कालनेमि-वध ८८१
ओषधि लेकर आते समय मार्ग में भरत से भेंट ८८३
रामचन्द्र की चिन्ता ८८४
लक्ष्मण का नीरोग होना ८८६
युद्ध में कुम्भकर्ण का वध ८९५
मूर्च्छित हुई वानरी सेना की मूर्च्छा को गरुड़ का दूर करना ९००
मेघनाद के यज्ञ का विध्वंस और युद्ध में मरण ... ९०२
धर्मरथ का विभीषण को उपदेश ... ९०७
रावण का लक्ष्मण और रामचन्द्र से युद्ध ... ९११
पराजित रावण का यज्ञ करना ... ९१४
इन्द्र का रामचन्द्र के पास सारथि सहित रथ भेजना ९१९
रावण का माया-युद्ध ९२७
त्रिजटा-जानकी-संवाद ९३२
रावण-वध ९३८
विभीषण का राज्याभिषेक ९४३
अग्नि को साक्षी कर सीता-राम-मिलन ... ९४७
मातलि को बिदा ९४८
देवस्तुति और राजा दशरथ-मिलन ... ९५०
अमृत-वर्षा से वानरों का जीवित होना ... ९५५
शिवकृत स्तुति ९५६
वानरों को बिदा ९६०
प्रमुख वानरों के साथ रामचन्द्र का पुष्पक विमान से अयोध्या-गमन ९६१

उत्तरकाण्ड

मंगलाचरण ९६७
रामचन्द्र के आगमन-सूचक शकुन ... ९६८
भरत-हनुमान-मिलन, पुरवासियों की प्रसन्नता ९६९
भरत-मिलाप और अयोध्या में प्रवेश ... ९७५
रामराज्याभिषेक ९८३
वेदों का और शिव का स्तुति करना ... ९८४
सुग्रीव आदि की बिदाई ९९२
रामराज्य-वर्णन ९९६
रामदर्शनार्थ सनक आदि का आना ... १००८
सन्त-असन्तों के लक्षण १०१३
प्रजा को उपदेश (रामगीता) ... १०१७
गरुड़-चरित्र १०३०
कागभुशुण्डि-गरुड़-संवाद १०३७
मानस के मुख्य हृदय का वर्णन १०३८
काकभुशुण्डि का मोह १०४७
" " के पूर्वजन्म की कथा ... १०७०
कलियुग-महिमा १०७२
रुद्राष्टक १०८३
ज्ञान और भक्ति का अभेद, ज्ञानदीपक ... १०९७
गरुड़ के सात प्रश्न ११०६
गोस्वामीजी की प्रार्थना ११२१
श्री रामायण-ध्यान ११२३
श्री रामायणजी की आरती ११२३

भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ । पृ० १

श्रीगणेशाय नमः

प्रथम सोपान

(बालकाण्ड)

श्लोक

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि ।
मंगलानां च कर्त्तारौ वंदे वाणीविनायकौ ॥१॥

मैं वर्ण (अक्षर), अर्थ-समूह, रस, छन्द और मङ्गल के करनेवाले वाणी (सरस्वती) और विनायक (गणेश) की वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यंति सिद्धाः स्वांतःस्थमीश्वरम् ॥२॥

श्रद्धा और विश्वास के रूप भवानी और शङ्कर की वन्दना करता हूँ, जिनके विना सिद्धजन अपने हृदय में स्थित ईश्वर (राम) को नहीं देख सकते ॥ २ ॥

वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम् ।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चंद्रः सर्वत्र वंद्यते ॥३॥

ज्ञानमय शङ्कररूपी गुरु की मैं नित्य वन्दना करता हूँ, जिनका आश्रित होकर वक्र (मेरे ऐसा कुटिल कलङ्की) भी चन्द्रमा सर्वत्र वन्दित होता है ॥ ३ ॥

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ ।
वंदे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥४॥

सीता और राम के गुण-समूह-रूपी पावन वन में विहार करनेवाले विशुद्ध विज्ञान-सम्पन्न कवीश्वर (वाल्मीकि) और कपीश्वर (हनुमान्) की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ४ ॥

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।

सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥५॥

उत्पत्ति, स्थिति और संहार (नाश) करने और क्लेशों के हरनेवाली तथा सम्पूर्ण कल्याणकारिणी राम की वल्लभा (प्रिया) सीता को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः

यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः ।

यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां

वंदेऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥६॥

जिसकी माया के वश में समस्त संसार, ब्रह्मादिक देवता तथा असुर हैं; जिसकी सत्ता से रस्सी में सर्प के भ्रम की भाँति सारा जगत् सत्य-सा प्रतीत होता है; और जिसके चरणारविन्द ही भव-सागर से तरने की इच्छा करनेवालों के लिए एक-मात्र नौका-स्वरूप हैं; उस अशेषकारण-पर (संपूर्ण कारणों के परम कारण) राम नाम से प्रसिद्ध भगवान् विष्णु की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ६ ॥

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्-

रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-

भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति ॥७॥

अनेक पुराण, वेद और तन्त्रादि से सम्मत तथा रामायण में वर्णित और अन्य ग्रन्थों से संगृहीत श्रीरघुनाथ की गाथा को तुलसीदास, अपने अन्तःकरण के सुख के लिए, अति मनोहर भाषा की रचना में विस्तृत करते हैं ॥ ७ ॥

सो०—जेहि सुमिरत सिधि होइ गननायक करि-बर-बदन ।

करउ अनुग्रह सोइ बुद्धिरासि सुभ-गुन-सदन ॥१॥

जिनके स्मरण करने से सब काम सिद्ध हो जाते हैं, जिनका मुख हाथी के मुख के समान सुन्दर है, जो समस्त अच्छे गुणों की खान और महा-बुद्धिमान् हैं, ऐसे श्रीगणेशजी महाराज आप मुझ पर कृपा करो ॥ १ ॥

मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिबर गहन ।

जासु कृपा सो दयाल द्रवउ सकल-कलि-मल-दहन ॥२॥

जिनकी कृपा से गूँगा मनुष्य अच्छी तरह बोलने लगता है और लँगड़ा मनुष्य
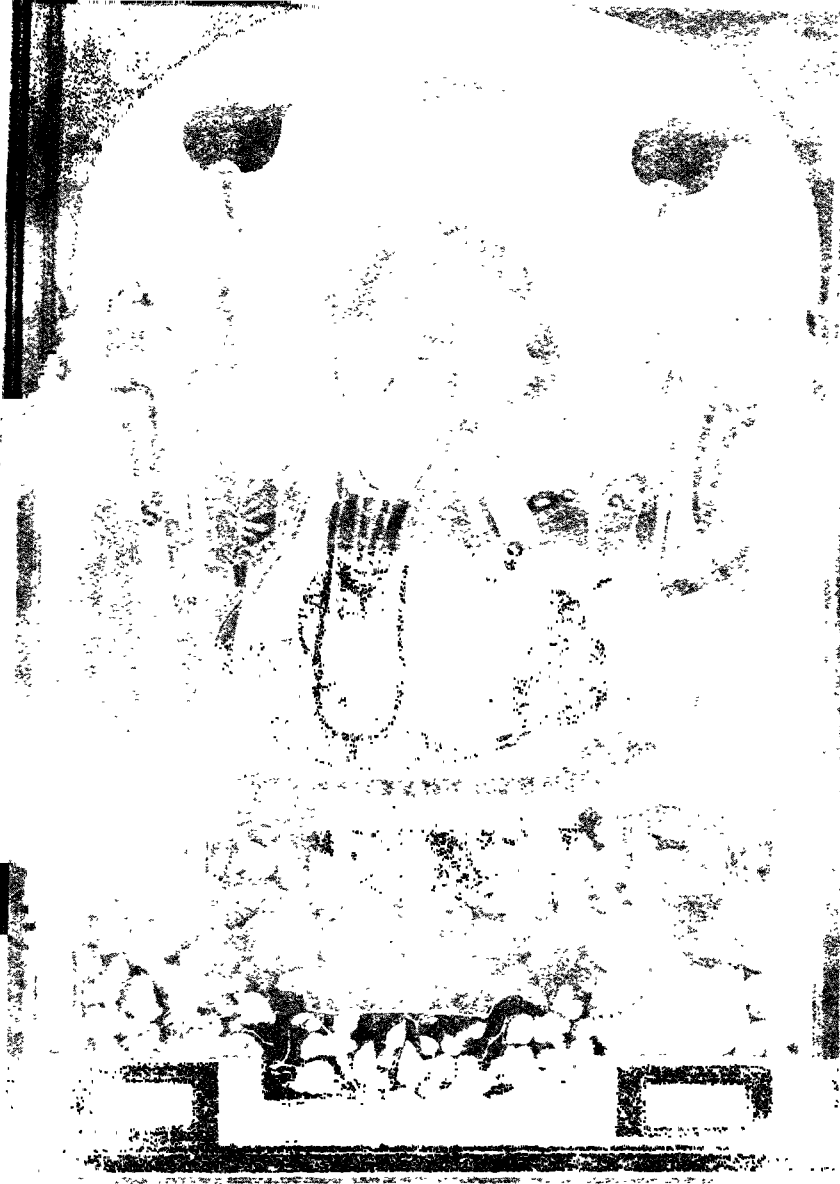
जेहि सुमिरत सिधि होइ गननायक करि-बर-बदन ।
करउ अनुग्रह सोइ बुद्धिरासि सुभ-गुन-सदन ॥ पृ० २
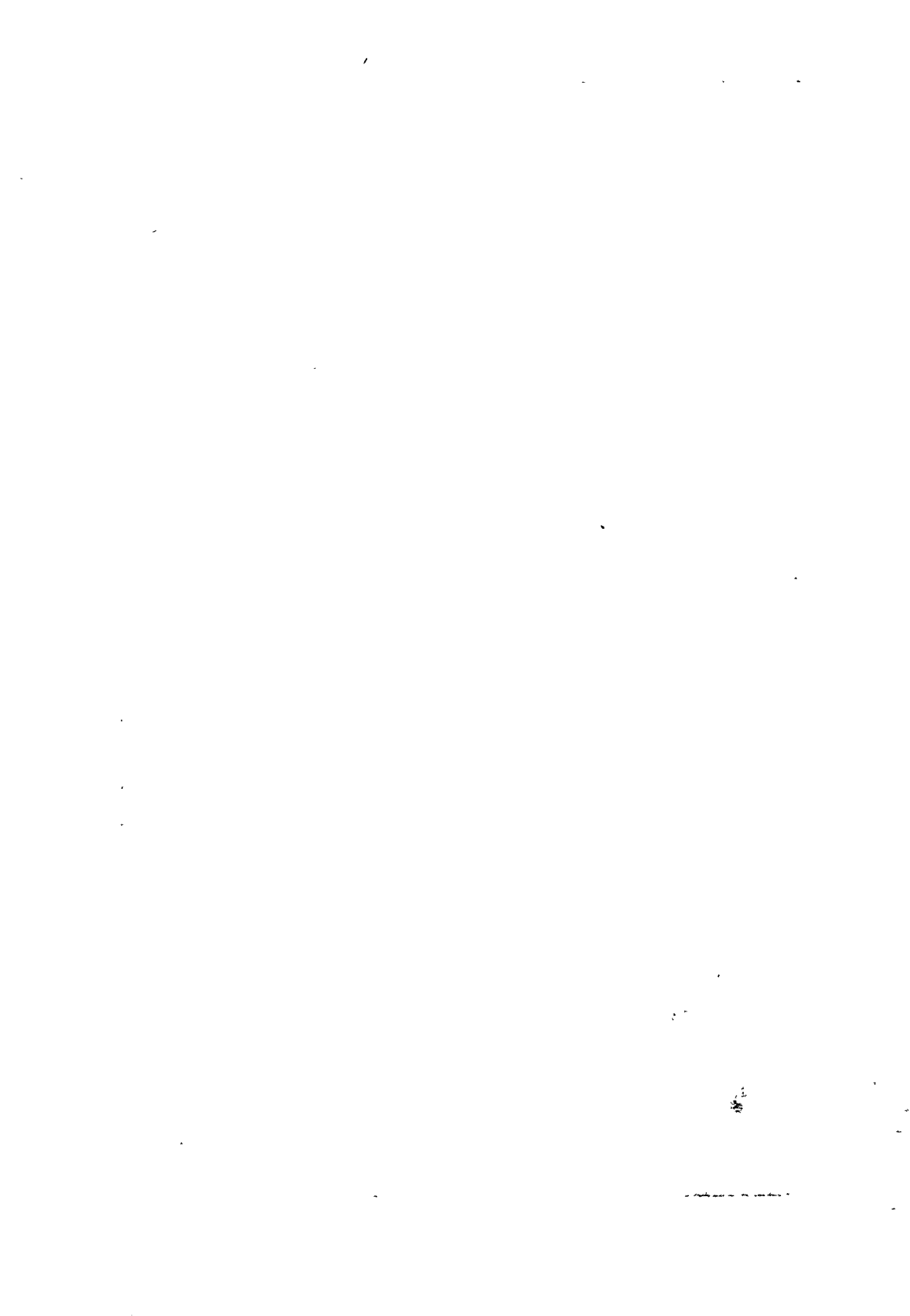
दुर्गम पहाड़ों पर चढ़ जाता है, वे कलि के सब दोषों को दूर करनेवाले दयासागर आप मुझ पर प्रसन्न हों ॥ २ ॥

नील-सरोरुह-स्याम तरुन-अरुन-बारिज-नयन ।

करउ सो मम उर धाम सदा छीर-सागर-सयन ॥३॥

जिनका शरीर नीले कमल के समान सुन्दर है, जिनकी आँखें नये खिले हुए लाल कमल के समान सुन्दर हैं, जो सदा क्षीरसागर में शयन करते हैं, सो विष्णु भगवान् मेरे हृदय-मन्दिर में निवास करो ॥ ३ ॥

कुन्द-इन्दु-सम देह उमारमन करुना-अयन ।

जाहि दीन पर नेह करउ कृपा मरदन-मयन ॥४॥

जिनका शरीर कुन्द के फूल और शरत्काल के चन्द्रमा के समान है, जो पार्वतीजी के साथ विहार करते हैं और कामदेव को भस्म करनेवाले हैं, जिनका स्वभाव दीन जनों पर दया करने का है, वे करुणा के धाम शिवजी महाराज आप मुझ पर कृपा करो ॥ ४ ॥

बंदउँ गुरु-पद-कंज कृपासिंधु नररूप हर ।

महा-मोह-तम-पुंज जासु बचन रबि-कर-निकर ॥५॥

मैं उन गुरु के चरण-कमलों को प्रणाम करता हूँ जो मनुष्यरूप में कृपा के समुद्र साक्षात् भगवान् ही हैं (शास्त्रों में गुरु ईश्वर-तुल्य कहे गये हैं) और जिनके वचन या उपदेश अज्ञान-रूप महा अंधकार के (नाश के) लिए सूर्य्य-किरणों के समूह के समान हैं[1] ॥ ५ ॥

चौ०—बंदउँ गुरु-पद-पदुम-परागा । सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ॥

अमिअ-मूरि-मय चूरन चारू । समन सकल-भव-रुज-परिवारू ॥१॥

मैं गुरुजी महाराज के चरणकमलों की सुन्दर, सुगन्धित और प्रेम से रसयुक्त रज को प्रणाम करता हूँ, जो अमृत के समान गुण करनेवाली ओषधियों का सुन्दर चूर्ण है, जिसके सेवन करने से संसार के जन्म-मरण आदि सब रोग शान्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

सुकृत संभुतन बिमल बिभूती । मंजुल मंगल-मोद-प्रसूती ॥

जन-मन-मंजु-मुकुर-मल-हरनी । किएँ तिलकु गुन-गन-बस-करनी ॥२॥

गुरु के चरणकमलों की यह रज सुकृतरूपी शिवजी की देह पर लगी हुई उज्ज्वल

---

[1]—कुछ टीकाकार 'नररूप हर' शब्द से 'नृसिंह' भगवान् का अर्थ करते हैं और इसी के आधार पर वे कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदासजी 'नृसिंहजी' के भक्त या उपासक थे। परन्तु गोस्वामीजी के जीवन-चरित के पढ़ने से मालूम होता है कि 'नरहरदास' नामक एक विद्वान् उनके गुरु थे। ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ पर 'नररूप हरि' शब्द से गोस्वामीजी ने अपने गुरु 'नरहर' महाराज को प्रणाम किया है।

विभूति के समान पवित्र है और सुन्दर कल्याण तथा आनन्द की देनेवाली है। यह मनुष्यों के चित्तरूपी सुन्दर दर्पण का मैल दूर करनेवाली है और माथे पर इसका तिलक लगाने से (सिर पर चढ़ाने से) सारे गुणों को वश में कर देनेवाली है ॥ २ ॥

श्रीगुरु-पद-नख-मनि-गन-जोती । सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती ॥
दलन मोहतम सो सुप्रकासू । बड़ें भाग उर आवइ जासू ॥३॥

श्रीगुरुजी महाराज के चरणों के नखों की ज्योति (चमक) मणि-समूह के प्रकाश के समान है जिसका स्मरण करने से हृदय में दिव्य दृष्टि हो जाती है। वह सुन्दर प्रकाश हृदय का अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट करनेवाला है। उस मनुष्य के बड़े भाग्य हैं जिसके हृदय में यह आवे ॥ ३ ॥

उघरहिँ बिमल बिलोचन ही के । मिटहिँ दोष दुख भव-रजनी के ॥
सूझहिँ रामचरित-मनिमानिक । गुपुत प्रकट जहँ जो जेहिं खानिक ॥४॥

इस ज्योति के हृदय में आते ही हृदय के निर्मल नेत्र खुल जाते हैं और संसार-रूपिणी रात्रि के सारे दोष और दुःख मिट जाते हैं। फिर उसको रामचरितरूपी सब रत्न, चाहे गुप्त हों या प्रकट और चाहे कैसी ही गहरी खान में क्यों न छिपे पड़े हों, दिखाई देने लगते हैं ॥ ४ ॥

दो०—जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान ।
कौतुक देखहिँ सैल बन भूतल भूरि निधान ॥६॥

जिस प्रकार बुद्धिमान् साधक सिद्धता का अच्छा अंजन नेत्रों में आँज कर सिद्ध होकर अनेक पदार्थों से भरे हुए इस पृथ्वीतल के वन, पर्वत आदि में पाई जानेवाली अनेक अद्भुत बातें (या गड़ा हुआ धन) देखते हैं ॥ ६ ॥

चौ०—गुरु-पद-रज-मृदु-मंजुल-अंजन । नयन-अमिय दृग-दोष-बिभंजन ।
तेहिं करि बिमल बिवेक-बिलोचन । बरनउँ रामचरित भवमोचन ॥१॥

उसी प्रकार गुरु के चरणकमलों की कोमल रज भी बड़ा सुन्दर और ठंढक पहुँचाने-वाला अंजन है। यह नयनों के लिए अमृत स्वरूप है। इससे नेत्रों के सारे दोष दूर हो जाते हैं। उसी अंजन से विवेक के नेत्रों को निर्मल करके मैं संसार के आवागमन से छुड़ानेवाले रामचरित का वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

बंदउँ प्रथम महीसुर-चरना । मोह-जनित-संसय सब हरना ॥
सुजनसमाज सकल-गुन-खानी । करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी ॥२॥

मैं पहले अज्ञान से उत्पन्न सब संदेहों को दूर करनेवाले ब्राह्मणों के चरणों को प्रणाम करता हूँ। फिर मैं प्रेम के साथ सुन्दर मीठी वाणी से सारे गुणों की खान जो सज्जनों का समाज है उसको प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

साधुचरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। बंदनीय जेहि जग जसु पावा॥३॥

साधुओं का चरित सुन्दर कपास के समान है जिसका फल संसार के विषयों से रहित होने के कारण नीरस होने पर भी उज्ज्वल गुण (डोरा और उत्तमता) से युक्त है। जो आप दुःख सहकर भी दूसरों के छिद्र (कपास या वस्त्र के पक्ष में गुप्त स्थान, साधु के पक्ष में दोष) को ढकता है और जिसने जगत् में वंदना करने योग्य यश पाया है। अर्थात् साधुओं का सुन्दर चरित्र कपास के समान है। कपास का फल स्वाद-रहित होकर भी तन्तु-युक्त होता है। वैसे ही साधुगण सांसारिक विषय-वासनाओं से निर्लिप्त रहते हुए भी उत्तम गुणों से युक्त होते हैं। ये दोनों स्वयं दुःख सहकर एक तन ढाकने में और दूसरा बुराइयों के दूर करने में मनुष्यों का उपकार करता है। इसलिए इन्होंने संसार में वन्दना करने योग्य यश पाया है॥३॥

मुद-मंगल-मय संतसमाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥
रामभगति जहँ सुरसरि-धारा। सरसइ ब्रह्म-बिचार-प्रचारा॥४॥

सन्तों का समाज आनन्द-मङ्गल देनेवाला है, वह संसार में चलता फिरता तीथराज प्रयाग है। भेद इतना ही है कि प्रयागराज स्थिर है और सन्तसमाज चलता फिरता है। उस सन्तसमाजरूपी प्रयाग में रामभक्ति गङ्गा की धारा है और ब्रह्मविद्या (ज्ञान) का प्रचार सरस्वती है॥ ४॥

बिधि-निषेध-मय कलि-मल-हरनी। करमकथा रबिनंदिनि बरनी॥
हरि-हर-कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल-मुद-मंगल-देनी॥५॥

इस सन्त-समाज में "ऐसा करो, ऐसा न करो" इस प्रकार के वचनों से युक्त, कलिकाल के दोषों को दूर करनेवाली जो आचार या कर्मकाण्ड की व्याख्या है वही जमुना है। इसमें हरि और हर की कथा ही वेणी का सङ्गम है जो सुनते ही सब प्रकार के आनन्द-मङ्गल का देनेवाला है अर्थात् जिसके श्रवणमात्र से सब प्रकार के आनन्द मङ्गल की प्राप्ति होती है॥ ५॥

बट बिस्वासु अचल निज-धर्मा। तीरथराज समाज सुकर्मा॥
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥६॥
अकथ अलौकिक तीरथराऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥७॥

अपने धर्म में अचल विश्वास का होना ही सन्तसमाजरूपी प्रयाग का 'अक्षय-वट' है और सुकर्म ही इस तीर्थराज का समाज (मेला) है। यह सन्तसमाजरूपी तीर्थराज सब देशों में, सब दिन, सबको सुलभ है। आदरपूर्वक सेवन करने से यह दुःखों का नाश करनेवाला है॥ ६॥ यह तीर्थराज बड़ा ही अलौकिक और अकथनीय है। इसका प्रभाव प्रकट है कि यह तत्काल फल देता है॥ ७॥

दो०—सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग ॥
लहहिं चारि फल अछत तनु साधु समाज-प्रयाग ॥७॥

जो मनुष्य प्रसन्नचित्त से (इस तीर्थराजरूपी सन्तसमाज) के उपदेशों को सुनकर समझते हैं और भक्ति के साथ उसमें गोते लगाते हैं अर्थात् उसके भीतर प्रवेश करके अपने को पवित्र करते हैं अर्थात् उपदेशों को ग्रहण करते और तदनुसार चलते हैं वे इसी शरीर से—इसी जन्म में—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों फलों को पाते हैं ॥ ७ ॥

चौ०—मज्जनफल पेखिअ ततकाला । काक होहि पिक बकउ मराला ॥
सुनि आचरज करइ जनि कोई । सत-संगति-महिमा नहिं गोई ॥१॥

इस सन्तसमाज-रूपी तीर्थराज में स्नान करने का फल तत्काल देखिए कि कौआ तो कोयल और बगला भी हँस हो जाता है अर्थात् अज्ञानी ज्ञानवान् और दुरात्मा धर्मात्मा हो जाता है। मेरे इस कथन को सुनकर कोई आश्चर्य न करे, क्योंकि सत्सङ्गति की महिमा छिपी हुई नहीं हैं ॥ १ ॥

बालमीकि नारद घटजोनी । निज निज मुखनि कही निज-होनी ॥
जलचर थलचर नभचर नाना । जे जड़ चेतन जीव जहाना ॥२॥

वाल्मीकि[1], नारद[2] और अगस्त्य[3] मुनि ने अपनी अपनी कथा अपने अपने मुँहों से कही है। इस संसार में जलचारी, भूमिचारी और आकाश-विहारी अनेक प्रकार के जितने जड़ और चेतन जीव हैं ॥ २ ॥

१—वाल्मीकिजी ने रामचन्द्रजी से कहा था कि मैं पूर्वकाल में किरातों के बीच में रहता और चोरी किया करता था। एक बेर मुनियों ने मुझे उपदेश किया कि संसार में सब सुख के साथी और पुण्य के भागी होते हैं, दुःख और पाप कोई बाँट नहीं लेता। इस पर मुझे वैराग्य हो गया और मैं घर बार छोड़ कर आपका उलटा नाम "मरा मरा" जपने लगा और आपकी कृपा से इस पद को प्राप्त हुआ कि घर बैठे [illegible] आपके दर्शन हुए। इस प्रकार ऋषियों के उपदेश से मेरा उद्धार हो गया।

२—एक बेर वेदव्यासजी से नारदजी ने कहा था कि, मैं पूर्वजन्म में वेदवादी ऋषियों की किसी दासी का पुत्र था। मैं ऋषियों की सेवा में लगा रहता था। उनकी कृपा से मेरे सब पाप दूर हो गये और रजोगुण तथा तमोगुण का नाश करनेवाली भक्ति मुझे प्राप्त हुई। काल पाकर मैंने वह शरीर छोड़ा और इस जन्म में मैं भगवद्भक्ति के आनन्द में मग्न रहता हूँ।

३—एक समय अगस्त्यजी ने महादेवजी से कहा था कि मेरे पिता मित्रावरुणजी एक बेर रम्भा पर मोहित हो गये। उस अवस्था में उन्होंने अपने वीर्य को घट में रख दिया जिससे मेरी उत्पत्ति हुई। ऐसे नीच स्थान से उत्पन्न होने पर भी, सत्संगति के प्रभाव से, मेरी बुद्धि सन्मार्ग में लगी और मुझे उत्तम पदवी प्राप्त हुई।

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सत-संग-प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥३॥

उन्होंने जो बुद्धि, कीर्त्ति, गति, ऐश्वर्य और भलाई आदि जिस प्रकार के यत्न से और जब जहाँ से पाई है सो सब सत्संगति का ही प्रभाव जानो। इनके मिलने का लोक में और वेद में और कोई दूसरा उपाय नहीं है॥ ३॥

बिनु सतसंग बिबेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥
सतसंगति मुद-मंगल-मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥४॥

सत्संग के बिना ज्ञान नहीं हो सकता और वह सत्संग रामचन्द्रजी की कृपा के बिना सहज में मिल नहीं सकता। आनन्द और मङ्गलरूपी वृक्ष की जड़ सत्संगति ही है। उसी के फूल सब साधन और फल सिद्धि है॥ ४॥

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधातु सोहाई॥
बिधिबस सुजन कुसंगति परहीं। फनि-मनि-सम निज गुन अनुसरहीं॥५॥

सत्संगति को पाकर दुष्ट मनुष्य भी इस भाँति सुधर जाता है जैसे पारस के छू जाते ही लोहा सोना हो जाता है। जो सज्जन दैवयोग से कभी कुसंगति में पड़ जाते हैं तो भी वे साँप की मणि के समान अपने गुणों को नहीं छोड़ते, अर्थात् जैसे साँप की मणि विष के पास रहने पर भी उसके दोष से अलग रहती है वैसे ही कुसंगति की बुराई उनको नहीं व्यापती॥ ५॥

बिधि-हरि-हर-कबि-कोबिद-बानी। कहत साधुमहिमा सकुचानी॥
सो मो सन कहि जात न कैसें। साकबनिक मनि-गुन-गन जैसें॥६॥

ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, कवि, पंडित और सरस्वती भी साधुओं की महिमा के वर्णन करने में सकुचाते हैं। जिस भाँति साग-भाजी बेचनेवाला कुँजड़ा मणियों के गुण नहीं बता सकता, उसी भाँति मैं भी उनकी महिमा का कुछ वर्णन नहीं कर सकता॥ ६॥

दो०—बन्दउँ सन्त समानचित हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगन्ध कर दोउ॥८॥

मैं उन सन्तों को प्रणाम करता हूँ जिनका चित्त समान है, अर्थात् जो समदर्शी हैं, जिनका न कोई मित्र है, न शत्रु; जैसे अंजलि में रक्खे हुए फूल दोनों ही हाथों (दाहने और बाएँ—साधुपक्ष में अनुकूल और प्रतिकूल) को बराबर सुगन्धित करते हैं॥ ८॥

सन्त सरलचित जगत-हित जानि सुभाउ सनेहु।
बालबिनय सुनि करि कृपा राम-चरन-रति देहु॥९॥

ऐसे सरलचित्त और जगत् के हितकारी सन्तजन अपने स्वभाव और मेरे स्नेह को जानकर, मुझ बालक की विनय सुनकर कृपा करके श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में मुझे प्रीति दें अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में मेरी प्रीति होने का आशीर्वाद दें ॥ ९ ॥

चौ०—बहुरि बंदि खलगन सतिभायें । जे बिनु काज दाहिने बायें ॥
पर-हित-हानि लाभ जिन केरें । उजरें हरष बिषाद बसेरें ॥१॥

अब मैं सच्चे मन से दुष्टों के समाज को प्रणाम करता हूँ जो बिना प्रयोजन अनुकूल रहनेवालों (कुछ हानि न करनेवालों) के भी प्रतिकूल रहा करते हैं। जो दूसरों के हित की हानि में अपना लाभ समझते हैं और जिनको दूसरों के उजड़ने पर आनन्द और बसने पर शोक होता है ॥ १ ॥

हरि-हर-जस-राकेस राहु से । पर-अकाज भट सहसबाहु से ॥
जे परदोष लखहिँ सहसाँखी । परहित-घृत जिनके मन माखी ॥२॥

हरि-हर तक के यशरूपी चन्द्रमा के लिए जो राहु के समान हैं, (फिर और किसी का यश वे कैसे सहन कर सकते हैं ?) अर्थात् हरि-हर की भी निन्दा करते हैं, जो दूसरों का काम बिगाड़ने में सहस्रबाहु-से बहादुर हैं, जो दूसरे के दोषों को हजार नेत्रों से देखते हैं और दूसरों के भलाई-रूपी घी के लिए जिनका मन मक्खी के समान है ॥ २ ॥

तेज कृसानु रोष महिषेसा । अघ-अवगुन-धन-धनी-धनेसा ॥
उदय केतुसम हित सबही के । कुम्भकरन सम सोवत नीके ॥३॥

जिनका तेज अग्नि के समान और क्रोध महिषासुर नामक दैत्य के समान है, पाप और दुर्गुणरूपी धन से जो कुबेर के समान धनी हैं, केतु (पुच्छलतारे) के उदय के समान जिनका उदय (बढ़ना) सबके लिए दुःखदायी है। इनका कुंभकरण की तरह सोया रहना ही अच्छा है ॥ ३ ॥

पर अकाज लगि तनु परिहरहीँ । जिमि हिम-उपल कृषी दलि गरहीँ ॥
बन्दउँ खल जस सेष सरोपा । सहसबदन बरनइ परदोषा ॥४॥

जो दूसरों का काम बिगाड़ने के लिए अपने शरीर को भी नष्ट कर देते हैं जैसे ओले खेती का नाश करके आप भी गल जाते हैं। मैं दुष्टों को प्रणाम करता हूँ, जो क्रुद्ध होकर पराये दोषों का शेषजी की तरह वर्णन सहस्र मुख से करते हैं ॥ ४ ॥

पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना । परअघ सुनइ सहसदस काना ॥
बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही । सन्तत सुरानीक हित जेही ॥५॥
बचन-बज्र जेहि सदा पिआरा । सहसनयन परदोष निहारा ॥६॥

मैं फिर पृथुराज के समान उन दुष्ट-जनों को प्रणाम करता हूँ, जो दस हजार कानों

से दूसरों की बुराइयों को सुनते हैं (जैसे राजा पृथु ने वर माँगा था कि मैं दो कानों से दस हजार कानों के समान ईश्वर का यश सुनूँ)। फिर मैं उनको इन्द्र के समान मानकर प्रणाम करता हूँ, क्योंकि इन्द्र भी 'सुरानीक' (सुर=देव+अनीक=सेना) अर्थात् देवतों की सेना से हित रखते हैं और दुष्टों को सदा सुरा (मदिरा) नीक (अच्छी) लगती है ॥ ५ ॥ जिन दुष्टों को वचनरूपी वज्र (छोड़ना) सदा प्यारा लगता है, और जो हजार आँखों से पराये दोषों को देखते हैं ॥ ६ ॥

दो०—उदासीन-अरि-मीत-हित सुनत जरहिं खल-रीति ॥
जानि पानियुग जोरि जनु बिनती करउँ सप्रीति ॥१०॥

दुष्ट-जनों की यह रीति है कि उदासीन, शत्रु और मित्र सबके हित को सुनकर वे जल मरते हैं। यह जानकर मैं प्रीतिपूर्वक, हाथ जोड़कर, उनकी विनती करता हूँ ॥ १० ॥

चौ०—मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा। तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा ॥
वायस पलिअहि अतिअनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ॥१॥

मैंने अपनी ओर से बहुत कुछ विनती की है, परन्तु वे अपनी ओर से चूक न करेंगे अर्थात् वे अपने स्वभाव के अनुसार दुष्टता करने से न चूकेंगे। बड़े प्रेम से कौए को पालिए, परन्तु क्या वह कभी मांस खाने की आदत को छोड़ सकता है? ॥ १ ॥

बंदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेई। मिलत एक दारुन दुख देई ॥२॥

मैं सज्जन और दुर्जन दोनों के चरणों को एक साथ ही प्रणाम करता हूँ। क्योंकि एक प्रकार से दोनों दुखदायक हैं यद्यपि उनके बीच कुछ अंतर कहा गया है। वह अंतर यह है कि एक (सज्जन) बिछुड़ते हैं तब प्राण हर लेते हैं, अर्थात् उनके वियोग में मरण का कष्ट होता है और दूसरे (दुर्जन) मिलने पर दारुण दुःख देते हैं ॥ २ ॥

उपजहिं एक संग जग माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं ॥
सुधा-सुरा-सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू ॥३॥

जल में कमल और जोंक एक ही साथ उत्पन्न होते हैं, परन्तु दोनों के गुण अलग अलग होते हैं। साधु अमृत और असाधु मदिरा के समान हैं, पर इन दोनों (साधु-रूपी अमृत और असाधुरूपी मदिरा) का जनक—पैदा करनेवाला—संसार-रूपी अथाह समुद्र एक ही है ॥ ३ ॥

भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती ॥
सुधा सुधाकर सुरसरि साधू। गरल अनल कलि-मल-सरि ब्याधू ॥४॥
गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई ॥५॥

भले और बुरे मनुष्य अपनी अपनी करनी से जगत् में भलाई और बुराई की सम्पत्ति पाते हैं। अर्थात् साधुओं को भलाई मिलती है और असाधुओं को बुराई। साधु-जन अमृत, चन्द्रमा और गङ्गाजी (जिनका गुण अमर करना, शीतल कर देना और तार देना है) के समान हैं और असाधु विष, अग्नि और कर्मनासा नदी के समान (जिनका गुण मार डालना, जला देना और अच्छे कर्मों का नाश कर देना है) हैं ॥ ४ ॥ गुण और अवगुण को सब कोई जानता है। जिसको जो भाता है उसके लिए वही अच्छा है ॥ ५ ॥

दो०—भलो भलाइहि पै लहइ लहइ निचाइहि नीचु।
सुधा सराहिअ अमरता गरल सराहिअ मीचु ॥११॥

भले आदमी भलाई से और नीच नीचता से प्रसिद्धि पाते हैं, जिस तरह अमर करने से अमृत की और मारने से विष की प्रशंसा होती है ॥ ११ ॥

चौ०—खल-अघ-अगुन साधु-गुन-गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा ॥
तेहि तेँ कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ॥१॥

दुष्ट मनुष्य पाप और अवगुणों को ग्रहण करते हैं और साधुजन गुणों को। ये दोनों समुद्र के समान गहरे और अपार हैं अर्थात् इनके चरित्र को समझना कठिन है। इस-लिए मैंने यहाँ कुछ गुणों और दोषों का वर्णन कर दिया है। क्योंकि इनको बिना पहचाने गुणों को या साधुओं को ग्रहण करना और अवगुणों या असाधुओं को छोड़ना नहीं हो सकता ॥ १ ॥

भलेउ पोच सब बिधि उपजाए। गनि गुन दोष बेद बिलगाए ॥
कहहिँ बेद इतिहास पुराना। बिधिप्रपंचु गुन-अवगुन-साना ॥२॥

विधाता ने इस संसार में भले बुरे सभी पैदा किये हैं, परन्तु वेदों ने गुण दोष गिनाकर उनको अलग अलग कर दिया है। वेद और इतिहास पुराण बतलाते हैं कि ब्रह्मा का प्रपंच यह संसार गुण और अवगुण दोनों से सना हुआ (व्याप्त) है ॥ २ ॥

दुख सुख पाप पुन्य दिन राती। साधु असाधु सुजाति कुजाती ॥
दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिअ सजीवन माहुर मीचू ॥३॥

सुख और दुःख, पुण्य और पाप, दिन और रात, साधु और असाधु, सुजाति और कुजाति, देवता और राक्षस, ऊँच और नीच, अमृत और विष, संजीवन औषध और मृत्यु ॥ ३ ॥

माया ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा ॥
कासी मग सुरसरि कविनासा। मरु मारव महिदेव गवासा ॥४॥
सरग नरक अनुराग बिरागा। निगम अगम गुन-दोष-बिभागा ॥५॥

माया और ब्रह्म, जीवात्मा और परमात्मा, लक्ष्मी और दरिद्रता, रङ्क और राजा, काशी और मगह (मगध देश), गंगा और कर्मनासा नदी, मारवाड़ और मालवा, ब्राह्मण और कसाई ॥ ४ ॥ स्वर्ग और नरक, अनुराग और वैराग्य—ये सब संसार में हैं। परन्तु वेद-शास्त्र ने इन सबके गुण-दोषों का विभाग कर दिया है ॥ ५ ॥

दो०—जड़ चेतन गुन-दोष-मय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिँ पय परिहरि बारि-बिकार ॥१२॥

विधाता ने इस विश्व को गुण और दोष, जड़ और चेतन से पूर्ण बनाया है। हंस-रूप संत दूधरूपी गुण को ग्रहण करते और जलरूपी दुर्गुण को छोड़ देते हैं ॥ १२ ॥

चौ०—अस बिबेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहि मनु राता ॥
काल सुभाउ करम बरियाई। भलेउ प्रकृति-बस चुकइ भलाई ॥१॥

ईश्वर जब मनुष्यों को इस प्रकार का ज्ञान देता है तब उनका मन दोषों को छोड़कर गुणों में लग जाता है। समय, स्वभाव और कर्मों की प्रबलता से साधुजन भी कभी कभी माया के फेर में पड़कर भलाई करने में चूक जाते हैं ॥ १ ॥

सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीं। दलि दुख दोष बिमल जसु देहीं ॥
खलउ करहिँ भल पाय सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू ॥२॥

ईश्वरभक्त जैसे उस भूल को (अपने सत्सङ्ग से) सुधार देते हैं और दुःख-दोषों को मिटा कर निर्मल यश देते हैं; वैसे ही दुष्टजन भी सुसङ्ग पाकर भलाई करने लगते हैं, परन्तु उनका न छूटनेवाला मलिन स्वभाव पूरा पूरा नहीं मिटता ॥ २ ॥

लखि सुबेष जगबंचक जेऊ। बेष-प्रताप पूजिअहि तेऊ ॥
उघरहिँ अन्त न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू ॥३॥

सन्तों का-सा भेस देखकर जो धूर्त संसार को ठगते हैं। उन्हें भी, भेस के प्रताप से, लोग पूजते हैं। परन्तु अन्त में उनका कपट खुल जाता है, सदा निबाह नहीं होता; जैसे कालनेमि[1], रावण[2] और राहु[3] का हुआ ॥ ३ ॥

१—कालनेमि की कथा लङ्का-कांड में है। जब लक्ष्मणजी को शक्ति लगी थी और हनुमान्‌जी ओषध लेने गये थे तब रावण ने कालनेमि को इसलिए कपटवेष बनाकर भेजा था कि वह हनुमान्‌जी को छलकर रोक रक्खे, पर अन्त में भेद खुल गया और वह मारा गया।

२—रावण ने छल कर सीता को हरा था। पर वह अन्त में मारा गया।

३—समुद्र के मथने पर १४ रत्न निकले थे। विष्णु भगवान् उस समय जब देवताओं को अमृत पिलाने लगे तो राहु, जो राक्षस था, छल कर देवताओं की मंडली में जा बैठा। भगवान् ने उसका छल जान लिया और अपने चक्र से उसका सिर काट डाला।

किएहु कुबेष साधु सनमानू। जिमि जग जामवन्त हनुमानू॥
हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहुँ बेद बिदित सब काहू॥४॥

कुभेस करने पर भी साधुओं का सम्मान होता है जैसे संसार में जाम्बवान् और हनुमान् का (जो रीछ और बन्दर के रूप में थे)। कुसङ्ग से हानि और सुसङ्ग से लाभ होता है, यह बात संसार में और वेद में प्रकट है और इसे सब लोग जानते हैं॥ ४॥

गगन चढ़इ रज पवन-प्रसंगा। कीचहिँ मिलइ नीच-जल-संगा॥
साधु-असाधु-सदन सुक सारी। सुमिरहिँ रामु देहिँ गनि गारी॥५॥

वायु के सङ्ग से धूल आकाश में चढ़ जाती है, परन्तु वही नीच जल के साथ कुसङ्ग में पड़ कर कीचड़ में मिलती है। साधुजनों के घर में पले हुए तोता मैना राम-नाम का स्मरण करते हैं और असाधुजनों के घर के तोता मैना गिन गिन कर गालियाँ देते हैं॥५॥

धूम कुसंगति कारिख होई। लिखिय पुरान मंजु मसि सोई।
सोइ जल अनल-अनिल-संघाता। होइ जलद जग-जीवन-दाता॥६॥

कुसङ्ग में पड़कर धुआँ कालिख के नाम से पुकारा जाता है, और वही अच्छी सङ्गत में पड़कर रोशनाई बनकर पुराणों के लिखने के काम में आता है। वही धुआँ—जल, अग्नि और वायु के संग से—बादल बनकर सारे संसार को जीवन (जल और प्राण) देता है, अर्थात् हरा भरा कर देता है॥ ६॥

दो०—ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग।
होहिँ कुबस्तु सुबस्तु जग लखहिँ सुलच्छन लोग॥१३॥

इसी तरह ग्रह, औषधि, जल, पवन और वस्त्र, ये भी सब कुसंग और सुसंग पाकर बुरे भले हो जाते हैं। इनके अच्छे-बुरेपन को चतुर जन लख लेते हैं॥ १३॥

सम प्रकास तम पाख दुहुँ नाम-भेद बिधि कीन्ह।
ससि पोषक सोषक समुझि जग जस अपजस दीन्ह॥१४॥

महीने के दोनों पखवाड़ों में प्रकाश और अँधेरा समान ही होता है, पर विधाता ने इनके नाम में भेद (एक को कृष्ण अर्थात् काला और दूसरे को शुक्ल अर्थात् उजला) कर दिया है। एक को चन्द्रमा का बढ़ानेवाला और दूसरे को उसका घटानेवाला समझ कर संसार के लोगों ने एक को भलाई और दूसरे को बुराई दे दी है॥ १४॥

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सबके पदकमल सदा जोरि जुग पानि॥१५॥

जगत् में जितने जड़ और चेतन प्राणी हैं, सबको राममय अर्थात् राम का रूप जान कर मैं उन सबके चरणकमलों को सदा हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ॥ १५॥

देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गन्धर्ब।
बन्दउँ किन्नर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब॥१६॥

मैं देवता, दैत्य, मनुष्य, सर्प, पक्षी, प्रेत, पितर, गन्धर्व, किन्नर और निशाचर, सबको प्रणाम करता हूँ। अब सब मुझ पर कृपा करो॥ १६॥

चौ०—आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल-थल-नभ-बासी॥
सिया-राम-मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥१॥

चौरासी लाख योनिवाले और चार प्रकार के (स्वेदज, अंडज, उद्भिज, जरायुज) जीव जो जल, थल और आकाश में रहते हैं उनको, अर्थात् सारे जगत् को सीताराम-मय—सीताराम का रूप—जानकर मैं दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ॥ १॥

जानि कृपा कर किंकर मोहू। सब मिलि करहु छाँड़ि छल छोहू॥
निज-बुधि-बल-भरोस मोहि नाहीं। तातें बिनय करउँ सब पाहीं॥२॥

कृपा कर मुझे अपना सेवक समझकर सब मिलकर छल छोड़कर (सच्चे मन से) मेरे ऊपर दया करो। क्योंकि मुझे अपनी बुद्धि के बल का भरोसा नहीं है, इसलिए मैं सबके निकट विनती करता हूँ॥ २॥

करन चहउँ रघुपति-गुन-गाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा॥
सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मम मति रंक मनोरथ राऊ॥३॥

मैं रामचन्द्र जी के गुणों की कथा कहना चाहता हूँ। परन्तु मेरी बुद्धि छोटी-सी है और रामचरित अथाह है। (इस काम के लिए) मुझे उपाय का एक अङ्ग भी नहीं सूझता अथवा किसी अङ्ग से कोई उपाय नहीं सूझता। मेरी बुद्धि कङ्गाल है और मनोरथ राजा के समान है॥ ३॥

मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी॥
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बालबचन मन लाई॥४॥

मेरी बुद्धि अति नीच है और इच्छा बड़ी ऊँची है। छाछ तो जुड़ती नहीं, परन्तु इच्छा अमृत के पाने की है। तथापि सज्जन मेरी ढिठाई को क्षमा करेंगे और मुझ बालक के वचनों को मन लगाकर उसी प्रकार सुनेंगे॥ ४॥

जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित-मन पितु अरु माता॥
हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर-दूषण-भूषण-धारी॥५॥

जिस प्रकार बालक तोतली बातें कहता है तो उसके माता पिता उन्हें आनन्द से सुनते हैं। जो लोग क्रूर हैं, खोटे हैं, जिनके विचार बुरे हैं और जो दूसरों के दूषणों को ही अपना भूषण समझकर धारण करते हैं वे मेरी बात सुनकर हँसेंगे॥ ५॥

निज कबित्त केहि लाग न नीका । सरस होउ अथवा अति फीका ॥
जे पर-भनिति सुनत हरषाहीँ । ते बर पुरुष बहुत जग नाहीँ ॥६॥

रसीली हो या फीकी, अपनी कविता किसे नहीं अच्छी लगती ? सभी को अच्छी लगती है । जो दूसरे की कविता को सुनकर प्रसन्न होते हैं ऐसे श्रेष्ठ पुरुष संसार में बहुत नहीं हैं ॥ ६ ॥

जग बहु नर सर-सरि-सम भाई । जे निज बाढ़ि बढ़हिँ जल पाई ॥
सज्जन सुकृत-सिंधु-सम कोई । देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई ॥७॥

संसार में तालाब और नदी के समान मनुष्य बहुत हैं जो जल पाकर अपनी बाढ़ से बढ़ जाते हैं अर्थात् अपनी बढ़ती से प्रसन्न होनेवाले बहुत हैं। लेकिन पुण्य के समुद्र के समान सज्जन कोई कोई होते हैं जो चन्द्रमा की (पराई) बढ़ती देखकर उमङ्ग को प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

दो०—भाग छोट अभिलाषु बड़ करउँ एक बिस्वास ।
पैहहिँ सुख सुनि सुजन सब खल करिहहिँ उपहास ॥१७॥

मेरा भाग्य छोटा और इच्छा बहुत बड़ी है। परन्तु मुझे एक ही भरोसा है कि इसे सुन कर सब सज्जन सुख पावेंगे और दुर्जन हँसी उड़ावेंगे ॥ १७॥

चौ०—खलपरिहास होहि हित मोरा । काक कहहिँ कलकंठ कठोरा ॥
हंसहि बक गादुर चातकही । हँसहिँ मलिन खल बिमल बतकही ॥१॥

दुष्टों की हँसी से मेरी भलाई ही होगी। कोयल को मीठी और सुरीली बोली को कौए कठोर ही बतलाया करते हैं। जिस तरह बगले हंसों को और चमगादर पपीहों को हँसते हैं उसी तरह मलिन दुष्ट लोग निर्मल बातों पर हँसते हैं ॥ १ ॥

कबित-रसिक न राम-पद-नेहू । तिन कहँ सुखद हासरस एहू ॥
भाषा-भनिति मोरि मति भोरी । हँसिबे जोग हँसे नहिँ खोरी ॥२॥

जो लोग कविता के रसिक तो हैं पर रामचन्द्रजी के चरणों में प्रीति नहीं रखते उन्हें भी यह कविता हास्यरस (हँसने की चीज़) होने से आनन्द ही देगी। एक तो यह भाषा की कविता है, दूसरे मेरी बुद्धि भोली (नासमझ) है अतः यह हँसने के योग्य ही है। हँसने में दोष नहीं है ॥ २॥

प्रभु-पद-प्रीति न सामुझि नीकी । तिन्हहिँ कथा सुनि लागिहि फीकी ॥
हरि-हर-पद-रति मति न कुतरकी । तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की ॥३॥

जिनकी श्रीरामचन्द्र के चरणों में न प्रीति है और न समझ ही अच्छी है उन्हें यह

कथा सुनने से फीकी लगेगी। जिनकी प्रीति हरिहर के चरणों में है और जिनकी बुद्धि कुतर्क करनेवाली नहीं, उन्हीं को श्रीरामचन्द्रजी की कथा मीठी लगती है ॥ ३ ॥

राम-भगति-भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी ॥
कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्याहीनू ॥४॥

सज्जन लोग अपने जी में इस कथा को श्रीरामचन्द्रजी की भक्ति से भूषित समझ कर सुनेंगे और सुन्दर वाणी से इसकी बड़ाई करेंगे। मैं न तो कवि हूँ और न बोलने में चतुर ही। मैं सब (६४) कलाओं (हुनरों) और सब (१४) विद्याओं से हीन हूँ ॥ ४ ॥

आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्दप्रबन्ध अनेक बिधाना ॥
भाव-भेद रस-भेद अपारा। कबित-दोष-गुन बिबिध प्रकारा ॥५॥
कबित-बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागर कोरे ॥६॥

अक्षर, उनके अर्थ, अलङ्कार और छन्दों की रचना अनेक प्रकार की होती हैं। भावों और रसों के अपार भेद हैं तथा कविता में नाना प्रकार के गुण और दोष होते हैं ॥ ५ ॥ सो कविता की कुछ भी परख (ज्ञान) मुझे नहीं है। यह बात मैं कोरे कागज पर लिख कर कहता हूँ (लेखबद्ध बात अधिक प्रामाणिक मानी जाती है) ॥ ६ ॥

दो०—भनिति मोरि सब-गुन-रहित बिस्व-बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह के बिमल बिबेक ॥१८॥

मेरी कविता सारे गुणों से रहित है। बस इसमें एक ही गुण[1] है जो सारे संसार में प्रकट है। यह विचारकर वे मनुष्य, जिनकी बुद्धि अच्छी है और जिनके हृदय में निर्मल ज्ञान है, इसे सुनेंगे ॥ १८ ॥

चौ०—एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान-स्रुति-सारा ॥
मंगल भवन अमंगल-हारी। उमा-सहित जेहि जपत पुरारी ॥१॥

इसमें रामचन्द्रजी का पवित्र और उदार नाम है जो पुराणों और श्रुतियों का सारांश-स्वरूप है, जो कल्याणों का घर और अमङ्गल को दूर करनेवाला है और जिसे पार्वती सहित महादेवजी जपा करते हैं ॥ १ ॥

भनिति बिचित्र सु-कबि-कृत जोऊ। राम-नाम-बिनु सोह न सोऊ ॥
बिधुबदनी सब भाँति सवाँरी। सोह न बसन बिना बर नारी ॥२॥

चाहे कैसे ही अच्छे कवि की अनोखी कविता हो, पर रामनाम के बिना उसकी शोभा नहीं होती। जैसे चन्द्रमा के समान मुखवाली सुन्दर स्त्री सब तरह के शृङ्गार करने पर भी कपड़े के बिना अच्छी नहीं लगती ॥ २ ॥

१—वह गुण अगली चौपाइयों में बतलाया गया है।

सब-गुन-रहित कु-कबि-कृत बानी। राम-नाम-जस-अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर-सरिस संत गुनग्राही॥३॥

सब गुणों से रहित कुकवि की कविता को रामनाम के यश से अङ्कित समझ कर पण्डितजन आदरपूर्वक कहते और सुनते हैं, क्योंकि सन्तजन भौंरे की तरह गुण ग्रहण करनेवाले होते हैं॥ ३॥

जदपि कबित रस एकउ नाहीं। राम-प्रताप प्रगट एहि माहीं॥
सोइ भरोस मोरें मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पन पावा॥४॥

यद्यपि इसमें कविता का एक भी रस नहीं है, तथापि रामचन्द्रजी का प्रताप इसमें .प्रकट किया गया है। बस, मुझे एक इसी बात का भरोसा है। सत्सङ्ग पाकर बड़प्पन किसने नहीं पाया॥ ४॥

धूमउ तजइ सहज करुआई। अगरु-प्रसंग सुगन्ध बसाई॥
भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। राम-कथा जग-मंगल करनी॥५॥

धुआँ भी, अगर के साथ से सुगन्धित होकर, अपने स्वाभाविक कड़एपन को छोड़ देता है। मेरी कविता तो भद्दी है परन्तु इसमें जगत् का मंगल करनेवाली 'रामकथा'-रूपी अच्छी वस्तु का वर्णन किया गया है॥ ५॥

छन्द—मंगल-करनि कलि-मल-हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कबिता-सरित की ज्यों सरित-पावन-पाथ की॥
प्रभु-सुजस-संगति भनिति भलि होइहि सुजन-मन-भावनी।
भव-अंग भूति मसान की सुमिरत सोहावनि पावनी॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि रामचन्द्रजी की कथा मङ्गल की करनेवाली और कलियुग के दोषों को दूर करनेवाली है। इस कविता-रूपी नदी की गति, पवित्र जलवाली नदी गङ्गाजी की गति के समान, टेढ़ी मेढ़ी है। परन्तु प्रभु के सुयश की अच्छी सङ्गति से मेरी भद्दी कविता अच्छी होकर वैसे ही सज्जनों के मन को अच्छी लगेगी जैसे मसान की अपवित्र राख महादेवजी के अङ्ग का सङ्ग पाने से सुहावनी लगती और स्मरण करते ही पवित्र करती है।

दो०—प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति राम-जस-संग॥
दारु बिचारु कि करइ कोउ बंदिय मलय-प्रसंग॥१६॥

श्रीरामचन्द्रजी के यश के साथ होने से मेरी कविता भी सबको बहुत प्यारी लगेगी। जैसे क्या कोई चन्दन के लिए यह विचार करता है कि यह लकड़ी है! उसका आदर तो मलय पर्वत के प्रसङ्ग से किया जाता है॥ १५॥

स्याम सुरभि पय बिसद अति गुनद करहिँ सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय-राम-जस गावहिं सुनहिँ सुजान ॥२०॥

जिस तरह काली गाय के उज्ज्वल दूध को अत्यन्त गुणकारी समझकर सब लोग पीते हैं, उसी तरह मेरी गँवारी (भद्दी) कविता में सीताराम का सुन्दर उज्ज्वल यश होने से उसे चतुर सज्जन गावेंगे और सुनेंगे॥ २०॥

चौ०—मनि-मानिक-मुकुता-छबि जैसी। अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी॥
नृप-किरीट तरुनी-तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥१॥

मणि, माणिक और मोती की जैसी असली शोभा है वैसी साँप, पर्वत और हाथी के मस्तक पर नहीं होती। राजा का मुकुट और युवती स्त्री का शरीर पाकर इनकी शोभा वहाँ से अधिक होती है॥ १॥

तैसेहि सु-कबि-कबित बुध कहहीं। उपजहिँ अनत अनत छबि लहहीं॥
भगति-हेतु बिधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥ २॥

पंडित लोग कहते हैं कि इसी तरह सुकवि की कविता उत्पन्न तो और जगह होती है किन्तु शोभा और जगह पाती है अर्थात् कवि कविता करता है और पढ़नेवालों के मुख में वह शोभा पाती है। कोई कवि जब कविता करने बैठता है तब उसकी भक्ति के कारण सरस्वती देवी ब्रह्मलोक को छोड़ कर, स्मरण करते ही, तुरन्त उसके पास दौड़ी चली आती है॥ २॥

राम-चरित-सर बिनु अन्हवायें। सो स्रम जाइ न कोटि उपायें॥
कबि कोबिद अस हृदय बिचारी। गावहिँ हरि-जस कलि-मल-हारी॥३॥

थकी हुई सरस्वती को रामचरितरूपी सरोवर में स्नान कराये बिना उसकी, ब्रह्मलोक से पृथ्वी तक आने की, थकावट करोड़ों उपाय करने पर भी नहीं मिटती। कवि और पंडित अपने हृदय में ऐसा विचार कर कलिमल के हरनेवाले हरि के यश को गाते हैं॥ ३॥

कीन्हे प्राकृत-जन-गुन-गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥
हृदय-सिंधु मति सीपि-समाना। स्वाती सारद कहहिँ सुजाना॥ ४॥
जौं बरखइ बर-बारि-बिचारू। होहिँ कबित मुकुता-मनि चारू॥५॥

साधारण मनुष्यों का गुणगान करने से सरस्वती सिर धुन धुन कर पछताने लगती है। चतुर लोग कवि के हृदय को समुद्र, बुद्धि को सीप और सरस्वती को स्वाती नक्षत्र के समान कहते हैं॥ ४॥ जो सरस्वती अच्छे विचाररूपी जल की वर्षा करे तो कवितारूपी सुन्दर मोती उससे उत्पन्न होते हैं॥ ५॥

दो०—जुगुति बेधि पुनि पोहिअहि रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग ॥२१॥

उन कवितारूपी मोतियों को युक्ति से बेध कर फिर रामचरितरूपी सुन्दर तागे में पिरो कर उस माला को सज्जन लोग अपने शुद्ध हृदय में अत्यन्त प्रेम से धारण करते हैं; जिससे उनकी शोभा बढ़ती है ॥ २१ ॥

चौ०—जे जनमे कलिकाल कराला। करतब बायस बेष मराला ॥
चलत कुपंथ बेद-मग छाँडे। कपट कलेवर कलि-मल-भाँडे ॥१॥

इस कराल कलियुग में जो लोग ऐसे जन्मे हैं जिनकी करनी कौए के समान और भेस हंस के समान है, जो वेद के मार्ग को छोड़ कर कुमार्ग में चलते हैं, जिनका शरीर कपटमय है अर्थात् जो कपटी हैं और जो कलियुग के दोषों के बरतन हैं; अर्थात् जिनमें कलि की बुराइयाँ भरी हुई हैं ॥ १ ॥

बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन-कोह-काम के ॥
तिन महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धँधरच धोरी ॥२॥

जो महाछली बाहर से तो राम के भक्त कहा कर भीतर से कंचन (सोना), क्रोध, और कामदेव के सेवक हैं, जो धींगा-धींगी करनेवाले, धर्मध्वजी (पाखंडी) तथा माया फैलानेवाले और ढोंगी हैं ऐसे लोगों में जगत् में सबसे पहले मेरी गिनती है ॥ २ ॥

जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिँ लहऊँ ॥
तातेँ मैं अति अलप बखाने। थोरे महँ जानिहहिं सयाने ॥३॥

जो मैं अपने सब अवगुणों का वखान करूँ तो कथा बहुत बढ़ जायगी और दोषों का पार न पाऊँगा इसलिए मैंने अपने अवगुणों का वर्णन बहुत ही थोड़े में किया है। बुद्धिमान् लोग थोड़े ही में जान लेंगे ॥ ३ ॥

समुझि बिबिध विधि बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी।
एतेहु पर करिहहिँ जे संका। मोहिँ ते अधिक ते जड़ मति-रंका ॥४॥

मेरी इस अनेक प्रकार की विनती को समझ कोई भी कथा सुन कर मुझे दोष न देगा। और इतने पर भी जो शंका करेंगे वे मुझसे भी अधिक मूर्ख और मन्दमति हैं ॥ ४ ॥

कबि न होउँ नहिँ चतुर कहावउँ। मति-अनुरूप राम-गुन गावउँ ॥
कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा ॥५॥

न तो मैं कवि हूँ और न चतुर कहाता हूँ। मैं तो अपनी बुद्धि के अनुसार रामचन्द्रजी के गुण गाता हूँ। कहाँ अपार रामचरित ! और कहाँ संसारी झगड़ों में फँसी हुई मेरी बुद्धि ! ॥५॥

जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीँ। कहहु तूल केहि लेखे माहीँ॥
समुझत अमित राम-प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई॥६॥

जिस पवन से पर्वत उड़ जाते हैं, कहो उसके सामने रुई क्या चीज़ है? कुछ नहीं। श्रीरामचन्द्रजी की प्रभुता को अपार समझकर मेरा मन कथा कहने में बहुत हिचकता है॥६॥

दो०—सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन करहि निरन्तर गान॥२२॥

सरस्वती, शेषजी, शिवजी, ब्रह्मा, शास्त्र, वेद और पुराण, ये सब केवल नेति नेति (यह नहीं है, यह नहीं है) कह कर भी जिनका गुण-गान सदा किया करते हैं॥ २२॥

चौ०—सब जानत प्रभु-प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई॥
तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन-प्रभाउ भाँति बहु भाषा॥१॥

सब जानते हैं कि प्रभु श्रीरामचन्द्रजी की प्रभुता (महिमा) ऐसी अनन्त है, तो भी कहे बिना कोई नहीं रहा। उसमें वेद ने ऐसा कारण रक्खा है अर्थात् ऐसा कहा है कि भजम का प्रभाव अनेक प्रकार का होता है॥ १॥

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥२॥

वेद के अनुसार परमेश्वर एक है, वह चेष्टा (कामना) से रहित है, उसके न रूप है और न नाम, उसका जन्म नहीं होता, वह सच्चिदानन्द और परमधाम है। वह समस्त संसार में व्याप रहा है, वह विश्वरूप है अर्थात् सारा संसार उसमें स्थित है, वह परमेश्वर शरीर धारण करके तरह तरह के चरित्र किया करता है॥ २॥

सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत-अनुरागी॥
जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥३॥

सो वह अवतार केवल अपने भक्तों के हित के लिए ही लेता है; क्योंकि वह बड़ा कृपालु और सेवकों पर स्नेह करनेवाला है। भक्तजनों पर उसकी ममता और अत्यन्त कृपा रहती है और वह करुणा करके उन पर कभी क्रोध नहीं करता॥ ३॥

गई-बहोर गरीब-नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥
बुध बरनहि हरि-जस अस जानी। करहिँ पुनीत सुफल निज बानी॥४॥

वही प्रभु रघुराज बिगड़ी बात को बनानेवाले, गरीबनिवाज (दीनों पर अनुग्रह करनेवाले) सरल, बलवान् और सबके स्वामी हैं। यही समझ कर पंडित लोग उन हरि के यश का वर्णन करते और अपनी वाणी को पवित्र तथा सफल करते हैं॥ ४॥

तेहि बल मैं रघुपति-गुन-गाथा । कहिहउँ नाइ राम-पद माथा ॥
मुनिन्ह प्रथम हरि-कीरति गाई । तेहि मग चलत सुगम मोहिं भाई ॥५॥

मैं भी उसी बल पर श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में सिर नवा कर उनके गुणों की कथा कहूँगा । भाइयो, मुनियों (वाल्मीकि आदि) ने पहले उन हरि की कीर्ति गाई है । उसी मार्ग पर चलना मुझे बड़ा सुगम है ॥ ५ ॥

दो०—अति अपार जे सरितबर जौं नृप सेतु कराहिं ।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु स्रम पारहि जाहिं ॥२३॥

जिस तरह राजा बहुत चौड़ी नदी पर पुल बँधवा देता है और उस (पुल) पर चढ़कर बहुत छोटी चींटी भी बिना परिश्रम के पार हो जाती है ॥ २३ ॥

चौ०—एहि प्रकार बल मनहिं देखाई । करिहउँ रघुपति कथा सोहाई ॥
ब्यास आदि कबिपुंगव नाना । जिन्ह सादर हरि-सुजस बखाना ॥१॥

इसी तरह मैं भी मन में बल धारण करके रघुपति की सुहावनी कथा बनाऊँगा । वेदव्यास आदि जो अनेक कविराज हो गये हैं, जिन्होंने बड़े आदर से भगवान् का यश बखाना है ॥ १ ॥

चरन-कमल बन्दउँ तिन्ह केरे । पुरवहु सकल मनोरथ मेरे ॥
कलि के कबिन्ह करउँ परनामा । जिन्ह बरने रघुपति-गुन-ग्रामा ॥२॥

उन सब कवियों के चरणकमलों को मैं प्रणाम करता हूँ । आप मेरे सब मनोरथ पूरे करो । मैं कलियुग के उन कवियों को भी प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने रामचन्द्रजी के अनेक गुणों का वर्णन किया है ॥ २ ॥

जे प्राकृत कबि परम सयाने । भाषा जिन्ह हरि-चरित बखाने ॥
भये जे अहहिं जे होइहहिं आगे । प्रनवउँ सबहिं कपट सब त्यागे ॥३॥

जो बड़े चतुर स्वाभाविक कवि हैं और जिन्होंने भाषा में हरिचरित वर्णन किये हैं, ऐसे जितने कवि आज तक हो चुके, जो वर्त्तमान हैं, और जो आगे होंगे, उन सबको मैं निष्कपट भाव से प्रणाम करता हूँ ॥ ३ ॥

होहु प्रसन्न देहु बरदानू । साधु-समाज भनिति सनमानू ॥
जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं । सो स्रम बादि बाल-कबि करहीं ॥४॥

सब कवि मुझ पर प्रसन्न हो कर वरदान दो कि मेरी बनाई कथा साधुसमाज में आदर पावे । क्योंकि जिस ग्रन्थ का पण्डित लोग आदर नहीं करते उसके रचने का व्यर्थ श्रम बाल (मूर्ख) कवि करते हैं ॥ ४ ॥
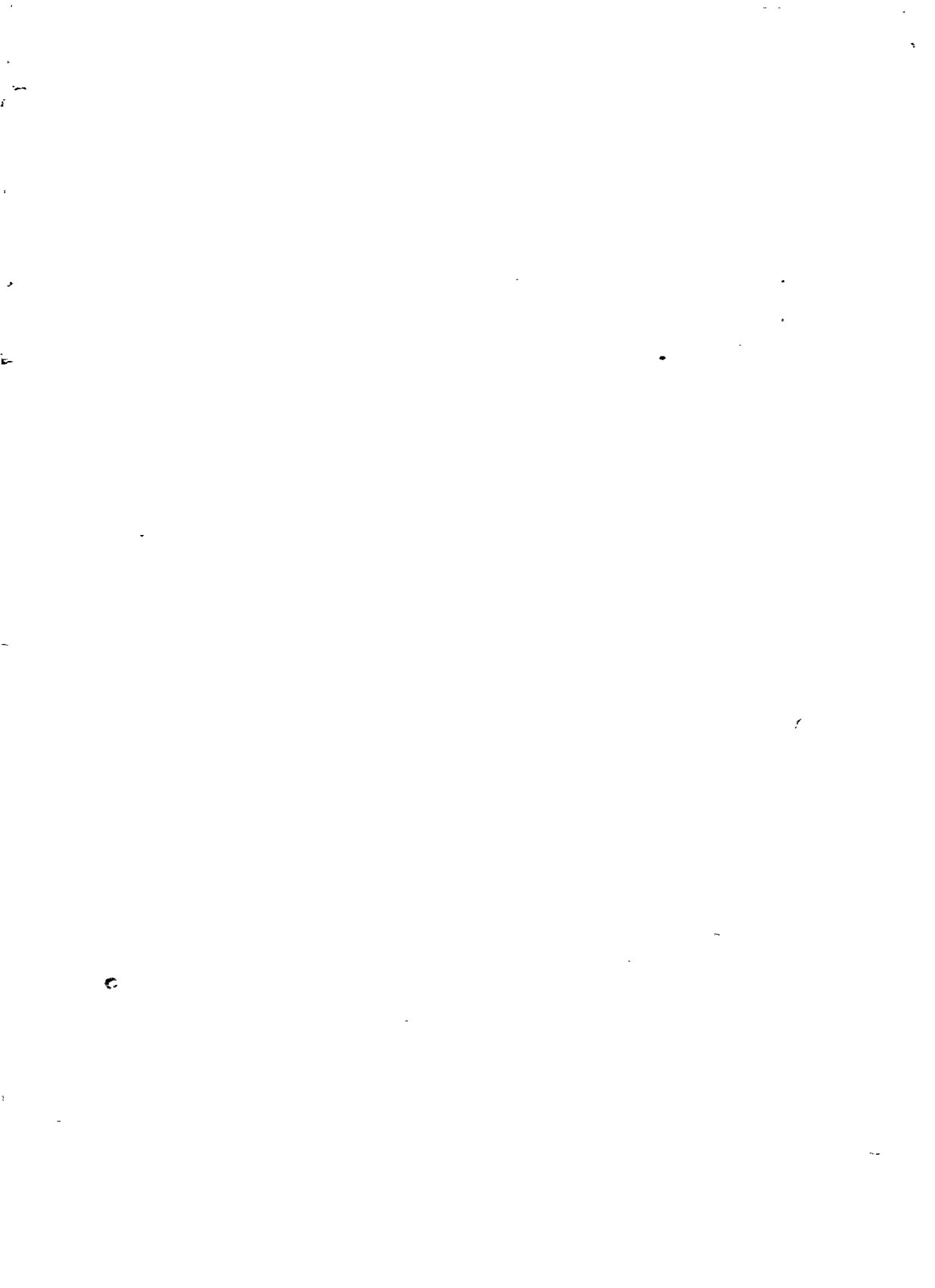
बंदउँ मुनि-पद कंजु रामायन जेहि निरमयेउ ।
स-खर सकोमल मंजु दोष-रहित दूषन-सहित ॥ पृ० २१

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि-सम सब कहँ हित होई॥
राम-सु-कीरति, भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहिँ अँदेसा॥५॥
तुम्हरी कृपा सुलभ सोउ मोरें। सिअनि सोहावनि टाट पटोरें॥६॥

कीर्ति, कविता और सम्पत्ति वही अच्छी है जिससे गंगाजी के समान सबका हित हो। पर मुझे यही चिन्ता है कि रामचन्द्रजी की कीर्ति तो बड़ी सुन्दर है पर मेरी कविता बहुत भद्दी है—यही असमंजस और आशंका है॥५॥ हे साधु पुरुषो, तुम्हारी कृपा से मुझे वह रामचरित भी सुलभ हुआ है। मेरी भद्दी भाषा में राम-कथा टाट में रेशम की सीवन की तरह सुहावनी लगेगी॥ ६॥

दो०—सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिँ सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिँ बखान॥२४॥

विद्वान् लोग उसी कविता का आदर करते हैं, जो सरल हो और जिसमें किसी की विमल कीर्त्ति का वर्णन हो तथा जिसे सुनकर शत्रु भी स्वाभाविक वैर को छोड़ उसकी प्रशंसा करने लगें॥ २४॥

सो न होइ बिनु बिमल मति मोहिँ मति-बल अति थोर।
करहु कृपा हरि-जस कहउँ पुनि पुनि करउँ निहोर॥२५॥

परन्तु ऐसी कविता बिना शुद्ध बुद्धि के नहीं हो सकती और मुझे बुद्धि का बल बहुत ही थोड़ा है। इसलिए मैं बार बार विनती करता हूँ कि हे सज्जनो, आप लोग मुझ पर कृपा करो, मैं रामचन्द्रजी का यश वर्णन करता हूँ॥ २५॥

कबिकोबिद रघुबरचरित-मानस-मंजु-मराल।
बाल-बिनय सुनि सुरुचि लखि मोपर होहु कृपाल॥२६॥

रामचरित-रूपी मानस सरोवर के सुन्दर हंस जो कवि और पंडितगण हैं सो आप लोग मुझ बालक की विनय को सुनकर और मेरी रामकथा कहने की सुरुचि देखकर मुझ पर कृपा करो॥ २६॥

सो०—बंदउँ मुनि-पद-कंजु रामायन जेहि निरमयेउ।
स-खर सुकोमल मंजु दोष-रहित दूषन-सहित॥२७॥

मैं उन वाल्मीकि मुनि के चरणकमलों को प्रणाम करता हूँ जिनकी बनाई रामायण खर (राक्षस) सहित होने पर भी कोमल और सुन्दर है तथा दूषण (राक्षस) सहित होने पर भी निर्दोष है॥ २७॥

बंदउँ चारिउ बेद भव-बारिधि-बोहित-सरिस।
जिन्हहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुबर-बिसद-जस ॥२८॥

संसार-समुद्र के पार जाने के लिए नाव जो चारों वेद हैं उनको मैं प्रणाम करता हूँ। जिन वेदों को रामचन्द्रजी का निर्मल यश वर्णन करने में स्वप्न में भी खेद (थकान) नहीं होता ॥ २८ ॥

बंदउँ बिधि-पद-रेनु भव-सागर जेहि कीन्ह जहँ।
संत सुधा-ससि-धेनु प्रगटे खल बिष-बारुनी ॥२९॥

मैं उन ब्रह्माजी की चरण-रज को नमस्कार करता हूँ जिन्होंने यह संसार-सागर उत्पन्न किया, जहाँ संतरूपी अमृत, चन्द्रमा और कामधेनु तथा दुष्टरूपी विष और मदिरा उत्पन्न हुए ॥ २९ ॥

दो०—बिबुध-बिप्र-बुध-ग्रह-चरन बंदि कहउँ कर जोरि।
होइ प्रसन्न पुरवहु सकल मंजु मनोरथ मोरि ॥३०॥

देवता, ब्राह्मण, पण्डित, ग्रह—इन सबके चरणों की वन्दना करके मैं हाथ जोड़ कर कहता हूँ कि मुझ पर प्रसन्न होकर सब मेरा शुभ मनोरथ पूरा करो ॥ ३० ॥

चौ०—पुनि बंदउँ सारद सुर-सरिता। जुगल पुनीत मनोहर-चरिता॥
मज्जन-पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका ॥१॥

फिर मैं सरस्वती और गंगाजी को प्रणाम करता हूँ, जिन दोनों के चरित्र पवित्र और मनोहर हैं। एक स्नान करने और जल पीने से पाप दूर करती है और दूसरी कहने सुनने से अज्ञान को हर लेती है ॥ १ ॥

गुरु पितु मातु महेस-भवानी। प्रनवउँ दीनबंधु दिनदानी॥
सेवक स्वामि सखा सिय-पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के॥२॥

मैं पार्वती और महादेवजी को प्रणाम करता हूँ। ये ही मेरे गुरु, माता और पिता हैं। ये दीनदयालु और दिन दिन अर्थात् सदा देनेवाले हैं। ये सीतापति श्रीरामचन्द्रजी के सेवक, स्वामी और मित्र हैं और मुझ तुलसीदास के सब तरह सच्चे हितकारी हैं ॥ २ ॥

कलि बिलोकि जगहित हर-गिरजा। साबर-मंत्र-जाल जिन्ह सिरजा॥
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाउ महेस-प्रतापू ॥३॥

जिन शिव-पार्वती ने, कलियुग देखकर, जगत् के हित के लिए, साबर-मन्त्र-समूह

(सिद्ध-सावर-तन्त्र)[1] रचा है। उन मन्त्रों के अक्षर बेमेल हैं, न उनका कुछ अर्थ है न जप। तथापि शिवजी के प्रताप से उनका प्रभाव प्रकट है, वे साक्षात् फल देते हैं॥ ३॥

सो महेस मोहि पर अनुकूला। करउँ कथा मुद-मंगल-मूला॥
सुमिरि सिवा-सिव पाइ पसाऊ। बरनउँ रामचरित चित चाऊ॥४॥

वे शिवजी मुझ पर अनुकूल हैं क्योंकि मैं आनन्द तथा मंगल की जड़ राम-कथा कहता हूँ। मैं शिव और पार्वती दोनों का स्मरण करके और उनका प्रसाद (अनुग्रह) पाकर बड़े चाव से रामचरित का वर्णन करता हूँ॥ ४॥

भनिति मोरि सिव-कृपा बिभाती। ससि-समाज मिलि मनहुँ सु-राती॥
जे एहि कथहिँ सनेह-समेता। कहिहहिँ सुनिहहिँ समुझि सचेता॥५॥
होइहहिँ राम-चरन-अनुरागी। कलि-मल-रहित सु-मंगल-भागी॥६॥

मेरी कविता (भद्दी होने पर भी) शिवजी की कृपा से ऐसी सुहावनी लगेगी जैसे तारागण-सहित चन्द्रमा के साथ रात्रि की शोभा होती है। जो लोग इस कथा को प्रेम से कहेंगे, सुनेंगे और मन लगाकर समझेंगे॥ ५॥ वे रामचन्द्रजी के चरणों के भक्त हो जायँगे और कलियुग के दोषों से बच कर कल्याण के भागी होंगे॥ ६॥

दो०—सपनेहु साँचेहु मोहि पर जौ हर-गौरि-पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा-भनिति-प्रभाउ॥ ३१॥

जो शिवजी और पार्वतीजी का मुझ पर सचमुच स्वप्न में भी प्रसाद (अनुग्रह) हो तो मैंने अपनी भाषा की कविता का जो प्रभाव बतलाया है वह सब सच हो॥ ३१॥

चौ०—बन्दउँ अवधपुरी अति पावनि। सरजू-सरि कलि-कलुष-नसावनि।
प्रनवउँ पुर-नर-नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहिँ न थोरी॥१॥

मैं बड़ी पवित्र अयोध्या पुरी और कलियुग के दोषों का नाश करनेवाली सरयू नदी को प्रणाम करता हूँ। फिर उस पुरी के स्त्री-पुरुषों को प्रणाम करता हूँ, जिन पर प्रभु रामचन्द्रजी की कृपा थोड़ी नहीं है॥ १॥

सिय-निन्दक अघ-ओघ नसाये। लोक बिसोक बनाइ बसाये॥
बन्दउँ कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माँची॥२॥

१—यह एक प्रसिद्ध तन्त्र-ग्रन्थ है।

उन्होंने सीताजी[१] की निन्दा करनेवाले धोबी के पापसमूह का नाश कर उसे शोक-रहित वैकुण्ठ लोक में बसा दिया। मैं पूर्व दिशा के समान कौशल्या माता को प्रणाम करता हूँ, जिनकी कीर्त्ति सारे संसार में फैली है ॥ २ ॥

प्रगटेउ जहँ रघुपति-ससि चारू। बिस्व-सुखद खल-कमल-तुसारू॥
दसरथराउ सहित सब रानी। सुकृत-सुमंगल-मूरति मानी ॥३॥

जहाँ कौशल्यारूपिणी पूर्व दिशा में सुन्दर चन्द्रमा के समान रामचन्द्रजी का उदय हुआ, जो सारे संसार को सुख देनेवाले और दुष्टरूपी कमलों के लिए पाले के समान हैं। सब रानियों-सहित राजा दशरथ को सारे पुण्यों और मंगलों की मूर्त्ति समझ कर ॥ ३ ॥

करउँ प्रनाम करम-मन-बानी। करहु कृपा सुत-सेवक जानी॥
जिन्हहिँ बिरचि बड़ भएउ बिधाता। महिमा-अवधि राम-पितु-माता ॥४॥

मैं मन, कर्म और वाणी से प्रणाम करता हूँ। मुझे अपने पुत्र का सेवक जानकर मुझ पर कृपा करो। जिनको रचकर ब्रह्मा ने भी बड़ाई पाई और राम के माता और पिता होने के कारण जो महिमा की सीमा (हद) हो गये ॥ ४ ॥

सो०—बन्दउँ अवध-भुआल सत्य प्रेम जेहि राम-पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ ॥३२॥

मैं अवध के राजा दशरथ को प्रणाम करता हूँ जिनको रामचन्द्रजी के चरणों में सच्चा प्रेम था। उन्होंने दीनदयालु (रामचन्द्रजी) के अलग होते ही—वन जाते ही—अपने प्रिय शरीर को तिनके के समान छोड़ दिया ॥ ३२ ॥

चौ०—प्रनवउँ परिजन-सहित बिदेहू। जाहि राम-पद गूढ़ सनेहू॥
जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई ॥१॥

कुटुम्बसहित राजा जनक को मैं प्रणाम करता हूँ, जिनको रामचन्द्रजी के चरणों में बड़ा गहरा स्नेह है, जिसे उन्होंने योग और भोग में छिपाकर रक्खा था, परन्तु रामचन्द्रजी को देखते ही वह प्रकट हो गया ॥ १ ॥

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
राम-चरन-पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ॥२॥

१—एक धोबी के यह निन्दा करने पर, कि जिस सीता को रावण गोदी में उठाकर ले गया था और जो बहुत दिनों तक उसके घर में रही उसी को रामचन्द्रजी ने पुनः अङ्गीकार कर लिया है, रामचन्द्रजी ने सीताजी को बन में भेजवा दिया। पर पुरवासियों को उन्होंने कुछ न कहा, वरन् उन पर पूर्ववत् स्नेह रक्खा और अन्त में उन्हें अपना धाम दिया।

मैं पहले भरतजी के चरणों को प्रणाम करता हूँ, जिनका नियम और व्रत वर्णन नहीं किया सकता, और जिनका मन लुभाये हुए भौंरे के समान रामचरणरूपी कमल के पास से नहीं हटता ॥ २ ॥

बंदउँ लछिमन-पद-जलजाता । सीतल सुभग भगत-सुखदाता ॥
रघुपति-कीरति बिमल पताका । दंड-समान भयउ जस जाका ॥३॥

मैं लक्ष्मणजी के उन चरणकमलों को प्रणाम करता हूँ, जो परम शीतल, सुन्दर और भक्तों को सुख देनेवाले हैं और रामचन्द्रजी की कीर्त्तिरूप विमल पताका में जिनका यश पताका में लगनेवाली लकड़ी या बाँस के समान हुआ ॥ ३ ॥

सेष सहस्रसीस जग-कारन । जो अवतरेउ भूमि-भय-टारन ॥
सदा सो सानुकूल रह मो पर । कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर ॥४॥

जो जगत् के कारण और हजार सिरवाले शेषनागजी हैं और जिन्होंने पृथ्वी का भार उतारने के लिए यह अवतार लिया, वे कृपासागर गुणवान सुमित्रा के पुत्र श्रीलक्ष्मणजी सदा मुझ पर अनुकूल रहो ॥ ४ ॥

रिपु-सूदन-पद-कमल नमामी । सूर सुसील भरत-अनुगामी ॥
महाबीर बिनवउँ हनुमाना । राम जासु जस आपु बखाना ॥५॥

शूर, सुशील और भरत के अनुगामी शत्रुघ्नजी के चरणकमलों को मैं प्रणाम करता हूँ। मैं उन महावीर हनुमान्‌जी की भी विनती करता हूँ, जिनका यश रामचन्द्रजी ने आप अपने मुँह से बखाना है ॥ ५ ॥

सो०—प्रनवउँ पवनकुमार खल-बन-पावक ग्यान-घन ।
जासु हृदय-आगार बसहिँ राम सर-चाप-धर ॥३३॥

मैं पवनकुमार हनुमान्‌जी को प्रणाम करता हूँ, जो दुष्टरूपी वन के भस्म करने के लिए अग्नि हैं और ज्ञान से पूर्ण हैं तथा जिनके हृदयरूपी घर में धनुष-बाण धारण किये रामचन्द्रजी बसते हैं ॥ ३३ ॥

चौ०—कपिपति रीछ निसाचर-राजा । अंगदादि जे कीस-समाजा ॥
बंदउँ सबके चरन सोहाए । अधम-सरीर राम जिन्ह पाए ॥१॥

वानरों के पति सुग्रीव, रीछों के पति जाम्बवान्, राक्षसों के राजा विभीषण और अंगद आदि जो वानरों का समूह हैं, इन सबके सुन्दर चरणों को मैं प्रणाम करता हूँ जिन्होंने अधम शरीर (योनि) में भी रामचन्द्रजी को पा लिया ॥ १ ॥

रघुपति - चरन - उपासक जेते । खग मृग सुर नर असुर समेते ॥
बंदउँ पद - सरोज सब केरे । जे बिनु काम राम के चेरे ॥२॥

पक्षी, पशु, देवता, मनुष्य और असुर-समेत जितने रामचन्द्रजी के चरणों के उपासक हैं मैं उन सबके चरणकमलों को—जो कोई कामना न करके रामचन्द्रजी के भक्त हैं—प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

सुक सनकादि भगत मुनि नारद । जे मुनिबर बिग्यान-बिसारद ॥
प्रनवउँ सबहिं धरनि धरि सीसा । करहु कृपा जन जानि मुनीसा ॥३॥

शुकदेव, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार प्रभृति भक्त और नारदजी आदि मुनि तथा अन्य जितने बड़े ज्ञानी मुनिवर हैं उन सबको मैं धरती में सिर टेककर प्रणाम करता हूँ। हे मुनीश्वरगण ! अपना सेवक जानकर मुझ पर कृपा करो ॥ ३ ॥

जनकसुता जग-जननि जानकी । अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥
ताके जुग पद-कमल मनावउँ । जासु कृपा निरमल मति पावउँ ॥४॥

जनक की कन्या, जगत् की माता और करुणानिधान रामचन्द्रजी की अत्यन्त प्यारी श्रीजानकीजी के दोनों चरण-कमलों को मैं मनाता (प्रणाम करता) हूँ। उनकी कृपा से मैं निर्मल बुद्धि पाऊँ ॥ ४ ॥

पुनि मन-बचन-कर्म रघुनायक । चरन-कमल बंदउँ सब लायक ॥
राजिवनयन धरे धनु - सायक । भगत-बिपति-भंजन सुखदायक ॥५॥

फिर मैं सब लायक अर्थात् सब कुछ देने में समर्थ श्रीरामचन्द्रजी के चरण-कमलों को मन, वाणी और काया से प्रणाम करता हूँ। उनके नयन कमल ऐसे हैं। धनुष-बाण धारण किये हुए वे भक्तों की विपत्ति दूर कर उनको सुख देनेवाले हैं ॥ ५ ॥

दो०—गिरा-अरथ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न ।
बंदउँ सीता-राम-पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥३४॥

शब्द और उसका अर्थ, जल और उसकी तरंग जैसे अलग अलग कही जाती हैं, पर वास्तव में एक दूसरे से अलग नहीं हैं, वैसे ही दुखियों को सबसे अधिक प्रिय माननेवाले श्रीसीता-राम भी कहने के लिए भिन्न, पर वास्तव में एक ही हैं। मैं उनके चरणों को प्रणाम करता हूँ ॥ ३४ ॥

चौ०—बंदउँ नाम राम रघुबर को । हेतु कृसानु-भानु-हिमकर को ॥
बिधि-हरि-हर-मय बेद-प्रान सो । अगुन अनूपम गुन-निधान सो ॥१॥

मैं रामचन्द्रजी के 'राम' नाम की वन्दना करता हूँ जो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा का

हेतु (बनानेवाला) है। जो अग्नि (र), सूर्य (आ) और चन्द्रमा (म) का बीज है, वह राम नाम हरि, हर और ब्रह्मा-मय है, अर्थात् इन तीनों में एक-रूप होकर रम रहा है। वह वेदों का प्राण है और निर्गुण तथा उपमा-रहित होने पर भी गुणों का निधान (आश्रय) है॥ १॥

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी-मुकुति-हेतु उपदेसू॥
महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥२॥

जिस राम-नाम-रूपी महामन्त्र को शिवजी जपा करते हैं, जिसका उपदेश काशी में मुक्ति का कारण है और जिसकी महिमा को गणेशजी जानते हैं। क्योंकि वे राम-नाम के प्रभाव[1] से सब कामों में पहले पूजे जाते हैं॥ २॥

जान आदिकबि नाम-प्रतापू। भएउ सुद्ध करि उलटा जापू॥
सहस-नाम-सम सुनि सिवबानी। जपि जेईं पिय-संग भवानी॥३॥

आदिकवि[2] श्रीवाल्मीकि मुनि नाम के प्रताप को जानते हैं। इसका उलटा अर्थात् 'मरा मरा' जप करके ही वे पवित्र हो गये। जब पार्वती[3] जी ने शिवजी के मुँह से सुना कि यह नाम सहस्र-नाम के बराबर है तो इस नाम को जपकर उन्होंने पति के साथ भोजन किया॥ ३॥

हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तियभूषन ती को॥
नाम-प्रभाव जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को॥४॥

पार्वतीजी के हृदय की ऐसी भक्ति देखकर शिवजी प्रसन्न हुए और उन्होंने पार्वतीजी

१—एक समय ब्रह्माजी ने सब देवताओं से पूछा कि तुम लोगों में प्रथम पूजने योग्य कौन है। इस पर देवता लोग आपस में झगड़कर कहने लगे कि हमारी ही पूजा पहले होनी चाहिए। अन्त में ब्रह्माजी ने कहा कि जो सबसे पहले पृथ्वी की परिक्रमा करके हमारे पास आ जावेगा उसी को हम सबसे पहला स्थान देंगे। इस पर सभी देवता, अपने अपने वाहनों पर चढ़ कर, दौड़े। उनमें गणेशजी सबसे पीछे रह गये क्योंकि उनका वाहन मूसा था जो और वाहनों के समान शीघ्र नहीं चल सकता था। इस पर वे बड़े व्याकुल हुए और सोचने लगे कि अब क्या करें। उसी समय नारदजी वहाँ आ गये। उन्होंने गणेशजी को सम्मति दी कि पृथ्वी पर राम-नाम लिख कर और उसकी परिक्रमा करके तुम ब्रह्माजी के पास चले जाओ। उन्होंने यही किया और अन्त में रामनाम का प्रभाव समझ कर ब्रह्माजी ने उन्हीं को प्रथम-पूज्य पद दिया।

२—सातवें दोहे की दूसरी चौपाई देखो।

३—एक समय कैलास पर्वत पर शंकरजी विष्णुपूजन करके भोजन करने बैठे और पार्वतीजी से बोले कि "तुम भी आओ, हमारे साथ भोजन करो"। इस पर पार्वतीजी बोलीं "आप भोजन करें, मुझे अभी सहस्रनाम का पाठ करना है, मैं पाठ करके प्रसाद लूँगी"। यह सुन कर महादेवजी हँसे और बोले "तुम धन्य हो और परम भक्त हो। हे वरानने! तुम 'राम' इस नाम का उच्चारण करके हमारे साथ भोजन करो, तुमको सहस्रनाम के समान फल हो जायगा और तुम्हारा नियम भङ्ग न होगा"। शिवजी का यह वचन सुन, विश्वास करके, श्रीरामनामोच्चारण कर भवानी ने महादेव के संग बैठकर भोजन कर लिया।

को सब श्रेष्ठ स्त्रियों का भूषण बनाया। राम-नाम के प्रभाव को शिवजी[1] बहुत ही अच्छी तरह जानते हैं। इसके प्रभाव से शिवजी को विष ने अमृत के समान फल दिया ॥ ४ ॥

दो०—बरषा-रितु रघुपति-भगति तुलसी सालि सुदास।
रामनाम बर बरन-जुग सावन भादव मास ॥३५॥

रघुनाथजी की भक्ति वर्षा ऋतु है और, तुलसीदासजी कहते हैं, भक्तजन धान हैं। 'राम' नाम के दोनों सुन्दर अक्षर सावन और भादों के महीने हैं ॥ ३५ ॥

चौ०—आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जियँ जोऊ ॥
सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक-लाहु पर-लोक-निबाहू ॥१॥

इस नाम के दोनों अक्षर बड़े ही मधुर और मनोहर हैं। इन दोनों वर्णों को मनुष्यों के हृदय के नेत्र समझिए। अर्थात् जिनके हृदय में ये अक्षररूपी नेत्र नहीं वे अन्धे हैं। ये स्मरण करने में सबको सुलभ और सुख देनेवाले हैं। इनसे इस लोक में लाभ और परलोक में निवाह होता है अर्थात् मुक्ति मिलती है ॥ १ ॥

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम-लखन-सम प्रिय तुलसी के ॥
बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म-जीव-सम सहज सँघाती ॥२॥

इन दोनों अक्षरों का कहना, सुनना और स्मरण करना बहुत ही अच्छा मालूम होता है। और तुलसीदास को तो ये दोनों अक्षर राम-लक्ष्मण के समान प्यारे हैं। इन दोनों अक्षरों के वर्णन करने से प्रीति स्फुट होती है। ये दोनों ब्रह्म-जीव के समान साथ ही रहते हैं ॥ २ ॥

नर-नारायन-सरिस सुभ्राता। जग-पालक बिसेषि जन-त्राता ॥
भगति-सु-तिअ कल करन-बिभूषन। जग-हित-हेतु बिमल बिधु-पूषन ॥३॥

ये दोनों अक्षर नर-नारायण के समान भाई हैं। ये जगत् के पालक और विशेष करके सब भक्तों के रखवाले हैं। भक्तिरूपिणी सुन्दर स्त्री के कानों के झुमकों के समान ये दोनों अक्षर सुन्दर हैं। संसार के हित के लिए ये दोनों अक्षर निर्मल चन्द्रमा और सूर्य के समान हैं ॥ ३ ॥

स्वाद-तोष-सम सुगति-सुधा के। कमठ-सेष-सम धर बसुधा के ॥
जन-मन-मंजु - कंज-मधुकर से। जीह-जसोमति हरि-हलधर से ॥४॥

ये मुक्तिरूपी अमृत के स्वाद और तृप्ति के समान हैं। पृथ्वी के धारण करने के लिए ये दोनों अक्षर कच्छप और शेषजी के समान हैं। भक्तों के मन-रूपी सुन्दर कमल के लिए ये

१—समुद्र मथने पर जब उसमें से विष निकला तब, देवताओं के प्रार्थना करने पर, शिवजी ने रामनाम जप कर उसे पान कर लिया और उससे उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ वरन वह उनका भूषण हो गया।

दोनों अक्षर भौंरे के समान हैं। जिह्वारूपिणी यशोदा के लिए ये दोनों अक्षर श्रीकृष्ण और बलदेवजी के समान हैं ॥ ४ ॥

दो०—एकु छत्र एकु मुकुटमनि सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुबरनाम के बरन बिराजत दोउ ॥३६॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि रामचन्द्रजी के नाम के दोनों अक्षरों में से एक (रेफ—ˇ) छत्र के समान और दूसरा (मकार—ˈ) मुकुट-मणि के समान सब अक्षरों पर विराजता है ॥ ३६ ॥

चौ०—समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु-अनुगामी ॥
नाम रूप दुइ ईस-उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी ॥१॥

समझने में नाम और नामी (नामवाला) दोनों समान हैं। इन दोनों की प्रीति स्वामी और सेवक की परस्पर प्रीति जैसी है। नाम और रूप ये दोनों परमेश्वर की उपाधियाँ हैं। ये दोनों अकथनीय और अनादि हैं, इसे ज्ञानी ही समझते हैं ॥ १ ॥

को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुनि भेद समुझिहहिं साधू ॥
देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप-ग्यान नहि नाम बिहीना ॥२॥

नाम और रूप में कौन बड़ा है, कौन छोटा—इसके कहने में बड़ा दोष है। इनके भेद को सुनकर साधु लोग समझ लेंगे। वे देखेंगे कि रूप नाम के अधीन है। क्योंकि रूप का ज्ञान नाम के बिना नहीं हो सकता ॥ २ ॥

रूप-बिसेष नाम बिनु जाने। करतल-गत न परहिं पहिचाने ॥
सुमिरिय नामु रूप बिनु देखें। आवत हृदय सनेह बिसेखें ॥३॥

नाम के बिना जाने हाथ पर रक्खी हुई चीज केवल रूप से ही नहीं पहचानी जा सकती। रूप के बिना देखे हुए भी नाम का स्मरण करने से हृदय में अधिक प्रीति बढ़ती है ॥ ३ ॥

नाम-रूप-गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी ॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय-प्रबोधक चतुर दुभाखी ॥४॥

नाम और रूप की गति की कथा अकथनीय है। वह समझने में तो सुखद है पर बखानी नहीं जा सकती। निर्गुण और सगुण के भेद समझाने के लिए बीच में नाम ही अच्छा साक्षी है। दोनों की बातें समझाने के लिए यह बड़ा चतुर दुभाषिया है ॥ ४ ॥

दो०—राम-नाम-मनि-दीप धरु जीह-देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उँजिआर ॥३७॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि जो तुम बाहर और भीतर दोनों जगह उजाला करना चाहते हो तो जीभरूपी द्वार की देहली पर राम-नाम-रूपी मणि का, कभी न बुझनेवाला, दीपक रक्खो ॥ ३७ ॥

चौ०—नाम जीह जपि जागहिँ जोगी। बिरति बिरंचि-प्रपंच-बियोगी ॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिँ अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा ॥१॥

योगी जन जीभ से नाम को जप कर जागते हैं अर्थात् उनकी आँखें खुल जाती हैं, वे ईश्वर को पहचानते हैं। और ब्रह्मा के प्रपञ्च अर्थात् संसार से उन्हें उदासीनता और वैराग्य हो जाता है। वे उस अनुपम ब्रह्म-सुख का अनुभव करते हैं जो अकथनीय, व्याधिरहित तथा बिना नाम और रूप का है ॥ १ ॥

जाना चहहिँ गूढ़-गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिँ तेऊ ॥
साधक नाम जपहिँ लउ लाए। होहिँ सिद्ध अनिमादिक पाए ॥२॥

जो लोग मोक्ष-मार्ग की गुप्त गति को जानना चाहते हैं वे भी नाम को जीभ से जप के ही उसे जानते हैं। साधक जन लौ लगा कर राम-नाम का जप करते हैं और अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ पाकर सिद्ध हो जाते हैं ॥ २ ॥

जपहिँ नामु जन आरत भारी। मिटहि कुसंकट होहिँ सुखारी ॥
रामभगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा ॥३॥

अत्यन्त दुखी लोग यदि नाम को जपते हैं, तो उनके संकट (दुःख) मिट जाते हैं और वे सुखी होते हैं। संसार में राम के भक्त चार प्रकार के हैं। अर्थात् जिज्ञासु—ईश्वर के जानने की इच्छा रखनेवाला, अर्थी—किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए ईश्वर का स्मरण करनेवाला, आर्त—किसी दुःख में फँस कर ईश्वर को याद करनेवाला, और ज्ञानी—ईश्वर को जान कर भजनेवाला। चारों ही पुण्यात्मा, पापहीन और उदार (अच्छे) हैं ॥ ३ ॥

चहूँ चतुर कहुँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पियारा ॥
चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम-प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिँ आन उपाऊ ॥४॥

चारों चतुर भक्तों को नाम का आधार है। पर प्रभु को ज्ञानी भक्त बहुत प्यारा है। यों तो चारों युगों और चारों वेदों में नाम की महिमा गाई गई है, परन्तु कलियुग में विशेषकर नाम को छोड़कर और कोई उपाय नहीं है ॥ ४ ॥

दो०—सकल-कामना-हीन जे रामँ-भगति-रस-लीन।
नाम सुप्रेम-पियूष-हृद तिनहुँ किए मन मीन ॥३८॥

जिनको किसी बात की इच्छा नहीं है और जो राम की भक्ति के रस में लीन हैं, उन्होंने भी राम-नाम-रूपी सुन्दर प्रेम के अमृत-कुण्ड में अपने मन को मछली-सा बना रक्खा है ॥ ३८ ॥

चौ०—अगुन सगुन दुइ ब्रह्म-सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरे मत बड़ नामु दुहूँ ते। किय जेहि जुग निज बस निज बूते॥१॥

निर्गुण और सगुण ये दोनों ब्रह्म के स्वरूप हैं। ये अकथनीय, अथाह, अनादि और अनुपम हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि मेरी सम्मति में इन दोनों से नाम बड़ा है क्योंकि इसने अपने बल से सगुण और निर्गुण दोनों को अपने वश में कर रक्खा है॥१॥

प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥
एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक-सम जुग-ब्रह्म-बिबेकू॥२॥

इसे सुजन (इस) जन की प्रौढ़ि (प्रौढ़ोक्ति) न समझें। मैं अपने मन का विश्वास प्रीति और रुचि कहता हूँ। दोनों प्रकार के ब्रह्म का विचार अग्नि के समान है। एक अग्नि तो लकड़ी के भीतर व्याप्त रहती है और दूसरी बाहर दिखाई देती है। (भीतर की अग्नि के तुल्य निगुण और बाहर की अग्नि के तुल्य सगुण है; दोनों ब्रह्म के अव्यक्त और व्यक्त स्वरूप हैं)॥२॥

उभय अगम जुग सुगम नाम तेँ। कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तेँ॥
व्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन-घन आनँद रासी॥३॥

ब्रह्म के दोनों (सगुण और निर्गुण) भेदों के साधन कठिन हैं। परन्तु नाम से दोनों सुगम हो जाते हैं। निर्गुण ब्रह्म और सगुण राम इन दोनों से मैंने नाम को बड़ा कहा है। यद्यपि ब्रह्म एक, अविनाशी, सच्चिदानन्द घन (सत् चित आनन्द की घनी राशि) और सर्वव्यापक है॥३॥

अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम-निरूपन नाम-जतन तेँ। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तेँ॥४॥

और वह ऐसा शुद्ध और निर्विकार ब्रह्म सबके हृदय में विराजमान है; पर तो भी जगत् के सब जीव, दीन और दुखी हैं। बात यह है कि देह को अपना मान कर संसारी जालों में फँसा हुआ जीव अपने भीतर ब्रह्म को नहीं पहचानता। यदि उसे पहचान ले और ब्रह्मज्ञानी हो जाय तो उसको कभी दुःख न हो। सदा आनन्द ही आनन्द में रहे। नाम का ध्यान या चिन्तन करने पर और नाम का यत्न करने (जपने) पर वह प्रभु वैसे ही प्रकट होता है, जैसे रत्न बेचने पर उसका मूल्य (जो मानो उसके भीतर छिपा-सा रहता है) सामने आ जाता है॥४॥

दो०—निरगुन तेँ एहि भाँति बड नाम-प्रभाउ अपार।
कहउँ नामु बड राम तेँ निज-बिचार-अनुसार॥२३॥

इस प्रकार निर्गुण से नाम का प्रभाव अपार और बड़ा है। मैं अपने विचार के अनुसार कहता हूँ कि नाम राम से भी बड़ा है॥२३॥

चौ०—राम भगत-हित नर तनु धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिँ मुद-मंगल-बासा॥१॥

रामचन्द्रजी ने भक्तों के हित के लिए मनुष्य-शरीर धारण करके और संकट सह कर साधुओं को सुखी किया किन्तु जो भक्त प्रेम से राम-नाम का जप करते हैं वे सहज में ही आनन्द-मङ्गल के घर हो जाते हैं॥ १॥

राम एक तापस-तिय तारी। नाम कोटि-खल-कुमति सुधारी॥
रिषि-हित राम सुकेतुसुता की। सहित सेन-सुत कीन्ह बिबाकी॥२॥

राम ने एक ही ऋषिपत्नी अहल्या तारी, परन्तु नाम ने करोड़ों दुष्टों की कुबुद्धि को सुधारा। राम ने विश्वामित्र ऋषि के हित के लिए ताड़का का, उसके साथियों और पुत्र के सहित, अंत किया॥ २॥

सहित दोष-दुख दास-दुरासा। दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा॥
भंजेउ राम आपु भव-चापू। भव-भय-भंजन नाम-प्रतापू॥३॥

परन्तु भक्तों की दोष और दुःख सहित दुराशा को नाम ऐसे दूर कर देता है जैसे सूर्य रात्रि का नाश करता है। राम ने आप भव (शिव) का धनुष तोड़ा, परन्तु नाम का प्रताप भव (संसार) के सब भयों को दूर कर देनेवाला है॥ ३॥

दंडकबन प्रभु कीन्ह सोहावन। जन-मन अमित नाम किये पावन॥
निसिचर-निकर दले रघुनंदन। नामु सकल-कलि-कलुष-निकंदन॥४॥

प्रभु राम ने दण्डक वन को पवित्र किया, परन्तु नाम ने अनेक भक्तों के मनों को पवित्र कर दिया। रामचन्द्र ने राक्षसों के समूह को नष्ट किया, परन्तु नाम कलियुग के सारे पापों का नाश करनेवाला है॥ ४॥

दो०—सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद-बिदित गुन-गाथ॥४०॥

रामचन्द्र ने शबरी,[1] गीध[1] आदि सेवकों (भक्तों) को मुक्ति दी, परन्तु नाम ने अनगिनत दुष्टों को उबार लिया। यह नाम के गुन की कथा वेद में विदित (लिखी हुई) है॥४०॥

चौ०—राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ॥
नाम गरीब अनेक नेवाजे। लोक बेद बर बिरद बिराजे॥१॥

सब कोई जानता है कि राम ने सुग्रीव और विभीषण को अपनी शरण में रक्खा।

१—अरण्यकांड देखो।

पर लोक और वेद में यह विरद (यश) विराजमान है कि नाम ने अनेक दीनों पर कृपा की है ॥ १ ॥

राम भालु-कपि-कटकु बटोरा। सेतु-हेतु स्रम कीन्ह न थोरा॥
नाम लेत भव-सिन्धु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं॥२॥

राम ने भालुओं और बन्दरों की सेना बटोरी और समुद्र में पुल बाँधने के लिए थोड़ा परिश्रम नहीं किया। पर नाम के लेते ही संसाररूपी समुद्र सूख जाता है (और लोग अनायास पार हो जाते हैं)। हे सज्जनो, मन में विचार कीजिए कि राम बड़े हैं या नाम ॥ २ ॥

राम स-कुल रन रावनु मारा। सीय-सहित निज पुर पगु धारा॥
राजा रामु अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी॥३॥

राम ने कुटुम्ब-सहित रावण को युद्ध में मारा और तब वे सीता-सहित अयोध्या को लौटे। राजा राम हैं, उनकी राजधानी अयोध्या है; जिसके गुण देवता और मुनि सुन्दर वाणी से गाते हैं ॥ ३ ॥

सेवक सुमिरत नामु स-प्रीती। बिनु स्रम प्रबल मोहदलु जीती॥
फिरत सनेह-मगन सुख अपनें। नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें॥४॥

पर नाम के प्रेमपूर्वक स्मरण करते ही सेवक भक्त अज्ञान के सारे प्रबल दल को बिना परिश्रम के जीत लेता है और प्रेम में मगन होकर अपने सुख में विचरता है। नाम के प्रसाद से उसे सपने में भी कोई सोच (चिन्ता) नहीं होता ॥ ४ ॥

दो०—ब्रह्म राम तें नामु बड़ बर-दायक-बर-दानि।
रामचरित सत-कोटि महँ लिय महेस जिय जानि॥४१॥

ब्रह्म और राम से नाम बड़ा है। यह वर देनेवाले देवताओं को भी वर देनेवाला है। सौ करोड़ या सौ प्रकार के रामचरित में से शिवजी ने इसे ('राम' नाम को) मन में ऐसा ही जान लिया है ॥ ४१ ॥

चौ०—नाम-प्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगल-रासी॥
सुक सनकादि सिद्ध-मुनि-जोगी। नाम-प्रसाद ब्रह्म-सुख-भोगी॥१॥

नाम के ही प्रताप से शिवजी अविनाशी हैं और देखने में अमङ्गल (बुरा) भेस होने पर भी मङ्गल के समूह (मङ्गलमय) हैं। शुक और सनक आदि सिद्ध, मुनि योगीजन नाम के ही प्रभाव से ब्रह्मानन्द के भोग करनेवाले (अधिकारी) बने हैं ॥ १ ॥

नारद जानेउ नाम-प्रतापू। जग-प्रिय हरि हरि-हर-प्रिय आपू॥
नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगतसिरोमनि भे प्रहलादू॥२॥

नाम की महिमा नारदजी ने जानी है। क्योंकि हरि (विष्णु) सारे संसार को प्यारे हैं और हरि और हर दोनों को नारद मुनि प्यारे हैं। नाम के जपने से भगवान् प्रह्लाद[१] पर प्रसन्न हुए और वे सारे भक्तों के शिरोमणि हो गये॥ २॥

ध्रुव स-गलानि जपेउ हरि-नाऊँ। पाएउ अचल अनूपम ठाऊँ॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥३॥

ध्रुवजी[२] ने, सौतेली मा के वचनों से ग्लानि होने पर, नाम को जपा और अचल (स्थिर) तथा उपमारहित स्थान पाया। हनुमान्जी ने पवित्र नाम को जप कर राम को अपने वश में कर रक्खा॥ ३॥

अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भये मुकुत हरि-नाम-प्रभाऊ॥
कहउँ कहाँ लगि नाम-बड़ाई। रामु न सकहिँ नाम-गुन गाई॥४॥

पतित अजामिल,[३] गज[४] और गणिका[५] भी भगवान् के नाम के प्रभाव से मुक्त हो गये। मैं नाम की बड़ाई कहाँ तक कहूँ। राम भी अपने नाम के गुणों को नहीं गा सकते॥४॥

दो०—नामु राम को कल्पतरु कलि कल्यान-निवासु।
जो सुमिरत भये भाँग ते तुलसी तुलसीदासु॥४२॥

राम-नाम का कल्पवृक्ष कलियुग में सब भलाइयों का घर है जिसके स्मरण करने से भाँग ऐसे तुलसीदास तुलसी का वृक्ष हो गये॥ ४२॥

१—प्रह्लाद ने अपने पिता के घोर विरोध को सहकर भी हरि का नाम जपना नहीं छोड़ा। अंत में भगवान् ने उनका उद्धार किया और उनके सारे कष्टों को दूर कर उन्हें परम पद दिया।

२—राजा उत्तानपाद की दो रानियाँ थीं। बड़ी रानी से ध्रुव उत्पन्न हुए थे। पर राजा का स्नेह छोटी रानी पर अधिक था। एक बेर ध्रुव अपने पिता की गोदी में जा बैठे जब कि वे छोटी रानी के पास बैठे हुए थे। रानी ने ध्रुव को गोदी से उतार लिया और कहा कि यदि तुम मेरी कोख से उत्पन्न हुए होते तो इस गोद में बैठने के अधिकारी थे। इस पर ध्रुव को बड़ी ग्लानि आई और वे घरद्वार छोड़ कर जङ्गल में चले गये और वहाँ घोर तपस्या करके भगवद्भक्ति के अधिकारी हुए।

३—अजामिल बड़ा पापी था। उसके एक लड़का था जिसका नाम उसने साधुओं के उपदेश से नारायण रक्खा। मरते समय अजामिल ने अपने लड़के को, उसका नाम लेकर, पुकारा। इस नाम लेने ही से उसके पाप दूर हो गये और उसे परम गति प्राप्त हुई।

४—एक बेर ग्राह और गज में घोर युद्ध हुआ। अंत में गज हारना ही चाहता था कि उसने भगवान् को, नाम लेकर, पुकारा। भगवान् ने तुरंत उसकी सहायता की और उसे बचा लिया।

५—पिंगला नाम की एक गणिका थी। एक बेर उसे ज्ञान हुआ कि मैं सज धजकर पुरुषों का धन हरण करने में जितना समय लगाती हूँ उतने में यदि भगवान् का नाम जपती तो मेरा उद्धार हो जाता। बस फिर क्या था। उसने अपना समय भगवद्भजन में लगाया और अंत में परम-पद पाया।

चौ०—चहुँ जुग तीन काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव बिसोका॥
बेद-पुरान-संत-मत एहू। सकल-सुकृत-फल राम-सनेहू॥१॥

चारों युगों, तीनों कालों और तीनों लोकों में नाम को जप कर लोग शोक-रहित हो गये। वेद, पुराण और सन्तों का यह मत है कि सारे पुण्यों का फल रामचन्द्रजी में भक्ति होना है॥ १॥

ध्यानु प्रथम-जुग मख-विधि दूजे। द्वापर परितोषन प्रभु पूजे॥
कलि केवल मल-मूल-मलीना। पाप-पयोनिधि जन-मन-मीना॥२॥

प्रथम (सत्य) युग में ध्यान से, दूसरे (त्रेता) में यज्ञ करने से और द्वापर में पूजा करने से ईश्वर प्रसन्न होते हैं। पर कलियुग केवल मल की जड़ और मलिन है। पाप के समुद्र में मनुष्यों का मन मछली के समान रहता है॥ २॥

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जगजाला॥
रामनाम कलि अभिमतदाता। हित परलोक लोक पितुमाता॥३॥

इस कराल काल में नाम कल्पवृक्ष है। उसका स्मरण करने से संसार के सब जाल (दुःख) शान्त हो जाते हैं। राम का नाम कलियुग में सारे मनोरथों का देनेवाला है। यह इस लोक में माता पिता के समान है और परलोक में भी हित करता है॥ ३॥

नहिँ कलि करम न भगतिबिबेकू। राम-नाम अवलम्बन एकू॥
कालनेमि कलि कपटनिधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥४॥

कलियुग में न कर्म, न भक्ति और न ज्ञान है। (केवल) राम-नाम का ही एक सहारा है। कपट की खान कलि कालनेमि दैत्य है, जिसके मारने के लिए राम का नाम बुद्धिमान् और समर्थ हनुमान् के समान है॥ ४॥

दो०—राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकालु।
जापक जन प्रह्लाद जिमि पालिहि दलि सुरसालु॥४३॥

नृसिंह-रूपी राम नाम देवतों को दुःख देनेवाले हिरण्यकशिपु-रूपी[1] कलिकाल को नष्ट कर प्रह्लाद के समान नाम जपनेवाले भक्तों की रक्षा करता है॥ ४३॥

चौ०—भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥
सुमिरि सो नाम राम-गुन गाथा। करउँ नाइ रघुनाथहिँ माथा॥१॥

अच्छे भाव से, बुरे भाव से, चिढ़ (क्रोध) से अथवा आलस्य से, किसी तरह से

१—प्रह्लाद का पिता।

नाम जपने से दसों दिशाओं में मंगल होता है। उसी राम-नाम का स्मरण करके, रामचन्द्रजी को सिर नवा कर, राम के गुणों की गाथा रचता हूँ ॥ १ ॥

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिँ कृपा अघाती॥
राम सुस्वामि कुसेवकु मो सो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो॥२॥

वह मेरी कथा को सब तरह सुधार देंगे। उनकी कृपा कृपा करने से कभी नहीं अघाती। राम से अच्छे स्वामी और मुझ सा बुरा सेवक! हे दयानिधान! अपनी ओर देखकर मेरा पालन करो ॥ २ ॥

लोकहुँ बेद सुसाहिब रीती। बिनय सुनत पहिचानत प्रीती॥
गनी गरीब ग्राम नर नागर। पंडित मूढ़ मलीन उजागर॥३॥

लोक और वेद में अच्छे स्वामी की रीति प्रसिद्ध है कि वह विनय सुनते ही अपने सेवक की प्रीति को पहचान लेते हैं। धनी और निर्धन, गँवार और चतुर, पण्डित और मूर्ख, मलिन और उजला ॥ ३ ॥

सुकबि कुकबि निज-मति-अनुहारी। नृपहि सराहत सब नर नारी॥
साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस-अंस-भव परमकृपाला॥४॥

सुकवि और कुकवि, सब स्त्री-पुरुष अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार राजा की स्तुति करते हैं। राजा साधु, चतुर और सुशील होता है। उसमें ईश्वर का अंश रहता है और वह बड़ा दयालु होता है ॥ ४ ॥

सुनि सनमानहिँ सबहि सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी॥
यह प्राकृत-महिपाल-सुभाऊ। जानि-सिरोमनि कोसलराऊ॥५॥
रीझत राम सनेह निसोतें। को जग मंद मलिनमति मो तें॥६॥

राजा सबके कथन को सुनकर उनकी भक्ति, नम्रता और गति को पहचान कर, मीठी वाणी से सबका सम्मान करता है। साधारण राजाओं का जब यह स्वभाव है तब रामचन्द्रजी तो ज्ञानियों (समझदारों) के शिरोमणि हैं ॥ ५ ॥ राम तो शुद्ध स्नेह से रीझ जाते हैं। मुझ-सा मूर्ख और मलिनमति जग में और कौन है? अर्थात् कोई नहीं ॥ ६ ॥

दो०—सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिँ राम कृपालु।
उपल किये जलजान जेहिँ सचिव सुमति कपि भालु॥४४॥

पर मुझ दुष्ट सेवक की प्रीति और रुचि को कृपालु रामचन्द्रजी अवश्य पूरा करेंगे। क्योंकि उन्होंने पत्थरों को पानी पर तैरा दिया और रीछ-बन्दरों को अपना बुद्धिमान् मन्त्री बना लिया ॥ ४४ ॥

हौंहुँ कहावत सब कहत राम सहत उपहास ।
साहिब सीतानाथ से सेवक तुलसीदास ॥४५॥

मैं भी कहलाता हूँ और सारा जगत् कहता है और इस हँसी को रामचन्द्रजी सहते हैं कि सीतानाथ जैसे स्वामी का सेवक तुलसीदास ऐसा मनुष्य है ॥ ४५ ॥

चौ०—अति बडि मोरि ढिठाई खोरी । सुनि अघ नरकहु नाक सिकोरी ॥
समुझि सहम मोहि अपडर अपने । सो सुधि राम कीन्ह नहि सपने ॥१॥

ऐसे बड़े स्वामी का मैं अपने को सेवक समझता हूँ—यह मेरी बड़ी ही ढिठाई और दोष है । मेरे पापों को सुनकर नरक भी नाक सिकोड़ेगा । यह समझ कर मैं अपनी ढिठाई पर सहम रहा हूँ । पर रामचन्द्रजी को इस बात का स्वप्न में भी ध्यान नहीं हुआ ॥ १ ॥

सुनि अवलोकि सुचित चख चाही । भगति मोरि मति स्वामि सराही ॥
कहत नसाइ होइ हिय नीकी । रीझत राम जानि जन-जी की ॥२॥

सुन कर, देखकर और चित्त में विचार कर मेरी ऐसी (तुच्छ) भक्ति और बुद्धि को भी स्वामी ने सराहा । वह भक्ति कहने से नष्ट होती है, उसका हृदय में ही रहना अच्छा है क्योंकि राम दास के हृदय की ही भक्ति पर प्रसन्न होते हैं ॥ २ ॥

रहति न प्रभुचित चूक किये की । करत सुरति सयबार हिये की ॥
जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली । फिर सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥३॥

भक्त जनों से बनी भूल-चूक रामचन्द्रजी के चित्त में नहीं रहती । वे उनके हृदय की भक्ति को सौ बार स्मरण करते हैं । जिस अपराध से रामचन्द्रजी ने व्याध की तरह बाली को मारा था, वही कुचाल फिर सुग्रीव चला ॥ ३ ॥

सोइ करतूति बिभीषन केरी । सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी ॥
ते भरतहि भेंटत सनमाने । राज सभा रघुबीर बखाने ॥४॥

वही बुराई फिर विभीषण ने भी की । पर उन बातों की ओर रामचन्द्रजी ने स्वप्न में भी नहीं देखा । भरतजी से मिलने पर रामचन्द्रजी ने उन दोनों का सम्मान किया और राजसभा में उनके गुणों का बखान किया ॥ ४ ॥

दो०—प्रभु तरुतर कपि डार पर ते किय आपु समान ।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान ॥४६॥

रामचन्द्रजी तो वृक्ष के नीचे और बन्दर डाली पर ! अर्थात् रामचन्द्रजी तो भूमि

१—किष्किन्धा-काण्ड देखो ।

चारी मनुष्य और बन्दर शाखा-मृग ! तो भी उन्होंने वानरों को अपने समान बना लिया। तुलसीदासजी कहते हैं कि रामचन्द्रजी के समान शील-निधान स्वामी कहीं नहीं है ॥ ४६ ॥

राम निकाई रावरी है सबही को नीक।
जौ यह साँची है सदा तौ नीको तुलसी क ॥४७॥

हे रामचन्द्रजी ! आपकी अच्छाई सबको अच्छी है और यदि यह बात सच है तो तुलसीदास को भी यह बात सदा अच्छी ही रहेगी ॥ ४७ ॥

एहि बिधि निज गुन दोष कहि सबहि बहुरि सिर नाइ।
बरनउँ रघुबर-बिसद-जसु सुनि कलिकलुष नसाइ ॥४८॥

इस भाँति अपने गुण और दोष कहकर और सबको फिर प्रणाम करके मैं रामचन्द्रजी के निर्मल यश का वर्णन करता हूँ—जिसे सुनने से कलियुग के दोष नष्ट होते हैं ॥ ४८ ॥

चौ०—जागबलिक जो कथा सोहाई। भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई ॥
कहिहउँ सोइ संबाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुखु मानी ॥१॥

जो सुहावनी कथा याज्ञवल्क्य मुनि ने मुनिवर भरद्वाजजी को सुनाई थी उसी संवाद को मैं बखान कर कहूँगा। सब सज्जन सुखपूर्वक सुनो ॥ १ ॥

संभु कीन्ह यह चरित सोहावा। बहुरि कृपा करि उमहिँ सुनावा ॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगति अधिकारी चीन्हा ॥२॥

पहले यह राम-चरित शिवजी ने बनाया और फिर कृपा करके पार्वती को सुनाया था। वही चरित, शिवजी ने, रामभक्ति का अधिकारी समझकर कागभुशुण्ड को दिया ॥ २ ॥

तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ॥
ते स्रोता बकता समसीला। समदरसी जानहिँ हरिलीला ॥३॥

उस कागभुशुंड से याज्ञवल्क्यजी ने पाया और फिर उन्होंने उसे भरद्वाजजी को सुनाया। ये दोनों वक्ता (कहनेवाले) और श्रोता (सुननेवाले) समान स्वभाववाले और समदर्शी थे और हरि की लीलाओं को जानते थे ॥ ३ ॥

जानहिँ तीनि काल निजग्याना। कर-तल-गत आमलक समाना ॥
अउरउ जे हरिभगत सुजाना। कहहिँ सुनहिँ समुझहिँ बिधि नाना ॥४॥

हाथ पर रक्खे हुए आँवले के फल के समान वे तीनों काल की बातों को अपने ज्ञान से जानते थे। और भी जो अनेक चतुर भक्त हैं वे इस चरित्र को तरह तरह से कहते, सुनते और समझते हैं ॥ ४ ॥

दो०—पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥४६॥

मैंने वही कथा अपने गुरु से शूकरक्षेत्र में सुनी थी। परन्तु तब बालकपन के कारण मुझे कुछ भी ज्ञान न था, इसलिए उसे भली भाँति मैंने नहीं समझा ॥ ४९ ॥

स्रोता बकता ग्यान-निधि कथा राम की गूढ़।
किमि समुझउँ मैं जीव जड़ कलि-मल-ग्रसित बिमूढ ॥५०॥

राम की कथा बड़ी ही गूढ़ है—इसके लिए वक्ता और श्रोता दोनों पूरे ज्ञानी होने चाहिएँ। कलियुग के दोषों में फँसा हुआ मैं मूर्ख जीव उसको कैसे समझ सकता हूँ ॥ ५० ॥

चौ०—तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा ॥
भाषाबद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई ॥१॥

तो भी गुरुजी के बार बार कहने से अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ समझ में आई। उसी को मैं भाषा में कहता हूँ जिससे मेरे मन में संतोष हो ॥ १ ॥

जस कछु बुधि-बिबेक-बल मेरें। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरें ॥
निज-सन्देह-मोह-भ्रम-हरनी। करउँ कथा भव-सरिता तरनी ॥२॥

जैसा कुछ मुझे बुद्धि और ज्ञान का बल है, उसी के अनुसार मैं, ईश्वर की प्रेरणा से कहूँगा। मैं अपने संदेह, अज्ञान और भ्रम को हरनेवाली कथा कहता हूँ। वह संसार-रूपी सरिता (नदी) के लिए नाव के समान है ॥ २ ॥

बुध-बिस्राम सकल जन-रंजनि। रामकथा कलि-कलुष-बिभंजनि ॥
रामकथा कलि-पन्नग-भरनी। पुनि बिबेक-पावक कहुँ अरनी ॥३॥

रामकथा पण्डितों के लिए विश्राम देनेवाली, सब मनुष्यों के मन को प्रसन्न करनेवाली और कलियुग की बुराइयों को दूर करनेवाली है। रामकथा कलियुग-रूपी साँप के लिए भरनी नक्षत्र[1] के समान है, जिसमें बरसे जल से सर्प नष्ट होते हैं, और ज्ञान-रूपी अग्नि उत्पन्न करने के लिए लकड़ी के समान है ॥ ३ ॥

रामकथा कलि कामद गाई। सुजन-सजीवनि-मूरि सोहाई ॥
सोइ बसुधातल सुधातरंगिनि। भयभंजनि भ्रम-भेक-भुअंगिनि ॥४॥

राम-कथा कलियुग में कामधेनु (गाय) के समान है और सज्जनों के लिए सुन्दर सजीवन मूरि अमृत है। इस कथा को पृथ्वी पर अमृत की नदी समझना चाहिए। यह भय को दूर करनेवाली और सन्देह-रूपी मेंढक के खाने के लिए नागिन के समान है ॥ ४ ॥

१—कोई कोई टीकाकार भरनी का अर्थ 'पपड़' भी करते हैं।

असुर-सेन-सम नरक-निकंदिनि । साधु-बिबुध-कुल-हित गिरि-नंदिनि ॥
संत-समाज-पयोधि-रमा सी । बिस्व-भार-भर अचल छमा सी ॥५॥

यह राक्षसों की सेना के समान नरक को नाश करनेवाली पण्डितजनों के समूह के लिए पर्वतनन्दिनी दुर्गा के समान है। यह सन्तसमाज-रूपी समुद्र में उत्पन्न लक्ष्मी है और सारे संसार के भार को धारण करनेवाली पृथ्वी के समान अचल है ॥ ५ ॥

जम-गन-मुँह-मसि जग जमुना सी । जीवन-मुकुति-हेतु जनु कासी ॥
रामहिँ प्रिय पावनि तुलसी सी । तुलसिदास-हित हिय हुलसी सी ॥६॥

यमराज के गण के मुख पर स्याही लगाने के लिए यह संसार में यमुना के समान[1] है। जीवनमुक्ति के लिए मानो यह काशी ही है। रामचन्द्रजी को तुलसी के समान यह प्यारी है। तुलसीदास के लिए हुलसी (तुलसीदासजी की माता का नाम है) के समान जी से हित करनेवाली है ॥ ६ ॥

सिवप्रिय मेकल-सैल-सुता सी । सकल-सिद्धि-सुख - संपति-रासी ॥
सद-गुन-सुर-गन-अंब अदिति सी । रघुबर-भगति-प्रेम परिमिति सी ॥७॥

यह रामकथा शिवजी को नर्मदा नदी के समान प्यारी है। सब सिद्धि-सुख और सम्पत्ति की खान है। सुन्दर गुणरूपी देवताओं के लिए यह उनकी माता अदिति के समान है और रामचन्द्रजी की भक्ति और प्रेम की सीमा सी है ॥ ७ ॥

दो०—रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु ।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय-रघुबीर-बिहारु ॥५१॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि राम-कथा (चित्रकूट की) मंदाकिनी है और निर्मल चित्त चित्रकूट पर्वत है, उसमें सुन्दर स्नेह ही वन है, जिसमें सीतारामजी विहार करते हैं ॥ ५१ ॥

चौ०—राम-चरित-चिंतामनि चारू । संत-सुमति-तिअ सुभग सिँगारू ॥
जगमंगल गुन-ग्राम राम के । दानि मुकुति धन धरम धाम के ॥१॥

रामचन्द्रजी का चरित सुन्दर चिन्तामणि के समान है और सन्तों की सुबुद्धि-रूपिणी स्त्री का सुन्दर श्रृङ्गार है। रामचन्द्रजी के गुणों के समूह जगत् का कल्याण करनेवाले और मोक्ष, धन, धर्म तथा परमधाम के देनेवाले हैं ॥ १ ॥

सदगुरु ग्यान बिराग जोग के । बिबुधबैद भव भीम रोग के ॥
जननि-जनक सिय-राम-प्रेम के । बीज सकल ब्रत-धरम-नेम के ॥२॥

१—पुराणों में लिखा है कि यमुना सूर्य की पुत्री है और यमराज पुत्र। यमुना ने वर पा लिया है कि जो मुझमें स्नान करे उसे यमदूत दण्ड न दे सकें।

ज्ञान, वैराग्य और योग के लिए रामचरित सद्-गुरु और संसार-रूपी भयङ्कर रोग के लिए अश्विनीकुमार वैद्य हैं। यह सीताराम में प्रेम के लिए माता पिता और सारे व्रत, धर्म और नियमों के बीज हैं ॥ २ ॥

समन पाप-सन्ताप-सोक के। प्रिय पालक पर-लोक लोक के ॥
सचिव सुभट भूपतिविचार के। कुम्भज लोभ-उदधि अपार के ॥३॥

पाप, संताप और शोक को शान्त करनेवाले और इस लोक तथा परलोक दोनों को प्यार से पालन करनेवाले हैं। विचार-रूपी राजा के चतुर मन्त्री और लोभ-रूपी अपार समुद्र के लिए अगस्त्य मुनि हैं ॥ ३ ॥

काम-कोह-कलि-मल-करि-गन के। केहरि-सावक जन-मन-बन के ॥
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद घन दारिद दवारि के ॥४॥

साधुसन्तों के मन-रूपी वन में काम, क्रोध और कलियुग के दोष-रूपी हाथियों के लिए रामचन्द्र के गुण सिंह के बच्चे हैं। महादेवजी के लिए बहुत ही प्रिय और पूज्य अतिथि और दरिद्ररूपी वन की अग्नि के लिए कामना पूर्ण करनेवाले मेघ हैं ॥ ४ ॥

मंत्र-महा-मनि विषयब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥
हरन मोहतम दिनकर-कर से। सेवक-सालि-पाल जलधर से ॥५॥

विषय-रूपी साँप के लिए रामचन्द्रजी के गुण मन्त्र और महामणि तथा ललाट में लिखे हुए बुरे कर्मों के फल मेंटनेवाले हैं। अज्ञान-रूपी अन्धकार के दूर करने को सूर्य की किरण और सेवक-रूपी धानों की रक्षा के लिए मेघ हैं ॥ ५ ॥

अभिमत-दानि देव-तरु वर से। सेवत सुलभ सुखद हरि-हर से ॥
सुकबि-सरद-नभ-मन उडुगन से। राम-भगत-जन-जीवन-धन से ॥६॥

सारे मनोरथों के सिद्ध करने के लिए रामचन्द्र के चरित श्रेष्ठ कल्पतरु और सेवा करते ही हरि-हर की तरह सुलभ और सुख देनेवाले हैं। सुकविरूप शरद्‌ऋतु के मनरूपी आकाश में तारागण के समान हैं, और राम के भक्तों के तो ये जीवन-धन ही हैं ॥ ६ ॥

सकल सुकृतफल भूरि भोग से। जगहित निरुपधि साधु लोग से ॥
सेवक-मन-मानस-मराल से। पावत गंग-तरंग-माल से ॥ ७ ॥

सारे पुण्यों के बहुत अधिक फल-भोग के समान और जगत् का हित करने के लिए मायारहित साधु सन्तों के समान हैं। भक्तों के मनरूपी मानस सरोवर में राम का चरित हंस के समान और पवित्र करने के लिए गंगा की तरंग-माला के समान है ॥ ७ ॥

दो०—कुपथ कुतर्क कुचालि कलि कपट दंभ पाखंड ।
दहन राम-गुन-ग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड ॥ ५२ ॥

रामचन्द्र के गुणों के समूह खोटे मार्ग, बुरे तर्क, बुरी चाल तथा कलि के कपट, दंभ और पाखण्ड के नाश के लिए वैसे ही हैं जैसे ईंधन के लिए प्रचंड अग्नि ॥ ५२ ॥

रामचरित राकेस-कर-सरिस सुखद सब काहु ।
सज्जन-कुमुद-चकोर-चित हित बिसेषि बड लाहु ॥५३॥

रामचन्द्रजी का चरित चन्द्रमा की किरणों के समान सबको आनन्द देनेवाला है और कुमुद और चकोर-रूपी सज्जनों के चित्त को विशेष लाभकारी और सुखदायक है ॥ ५३ ॥

चौ०—कीन्ह प्रश्न जेहि भाँति भवानी । जेहि बिधि संकर कहा बखानी ॥
सो सब हेतु कहब मैं गाई । कथा-प्रबंध बिचित्र बनाई ॥१॥

पार्वती ने शिवजी से जिस भाँति प्रश्न किया और शिवजी ने जिस भाँति वर्णन करके कहा, वह सब कारण मैं विचित्र रीति से कथा को बनाकर गाकर कहूँगा ॥ १ ॥

जेहि यह कथा सुनी नहिँ होई । जनि आचरज करइ सुनि सोई ॥
कथा अलौकिक सुनहिँ जे ग्यानी । नहिँ आचरज करहिँ अस जानी ॥२॥

जिन्होंने पहले कभी यह कथा न सुनी हो वे इसे सुनकर आश्चर्य न करें। जो ज्ञानी विचित्र कथा को सुनते हैं वे यह जान कर आश्चर्य नहीं करते कि— ॥ २ ॥

रामकथा कै मिति जग नाहीँ । अस प्रतीति तिन्ह के मन माहीँ ॥
नाना भाँति राम-अवतारा । रामायन सतकोटि अपारा ॥३॥

'रामचन्द्रजी की कथा की जगत में सीमा नहीं है', ऐसा उनके मन में विश्वास है। रामचन्द्रजी के अवतार तरह तरह के हुए हैं और उनके चरित सौ करोड़ तथा अपार हैं ॥ ३ ॥

कलपभेद हरिचरित सोहाए । भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए ॥
करिय न संसय अस उर आनी । सुनिय कथा सादर रति मानी ॥४॥

अनेक मुनियों ने रामचन्द्रजी का चरित, कल्पभेद के अनुसार, अनेक प्रकार से गाया है। यही हृदय में विचार कर सन्देह न कीजिए और कथा को आदरपूर्वक रुचि से सुनिए ॥ ४ ॥

दो०—राम अनंत अनंत गुन अमित कथाविस्तार ।
सुनि आचरजु न मानिहहिँ जिनके बिमल बिचार ॥५४॥

रामचन्द्रजी अनन्त हैं, उनके गुण भी अनन्त हैं और उनके गुणों की कथा का

विस्तार भी अपार है। जिन लोगों के शुद्ध विचार हैं वे, इस कथा को सुनकर, आश्चर्य न मानेंगे ॥ ५४ ॥

चौ०—एहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुरु-पद-पंकज-धूरी ॥
पुनि सबही बिनवउँ कर जोरी। करत कथा जेहि लाग न खोरी ॥ १ ॥

इस प्रकार सारे सन्देहों को दूर करके और गुरुजी महाराज के चरणकमलों की धूलि को सिर पर रख कर मैं फिर हाथ जोड़ कर सबकी विनती करता हूँ जिससे कथा रचने में कोई दोष न लगे ॥ १ ॥

सादर सिवहि नाइ अब माथा। बरनउँ बिसद राम-गुन-गाथा ॥
संबत सोरह से इकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा ॥ २ ॥

अब मैं शिवजी को सादर सिर नवा कर रामचन्द्रजी के गुणों की विमल कथा वर्णन करता हूँ। भगवान् के चरणों पर सिर रख कर मैं यह कथा संवत् १६३१ में वर्णन करता हूँ ॥ २ ॥

नौमी भौमबार मधु मासा। अवधपुरीं यह चरित प्रकासा ॥
जेहि दिन रामजनम स्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं ॥ ३ ॥

चैत्र शुक्ल की नवमी तिथि मंगलवार को यह चरित अयोध्या में प्रकाशित हुआ। जिस दिन रामचन्द्रजी का जन्म होता है उस दिन, वेद कहते हैं कि, सारे तीर्थ अयोध्याजी में चले आते हैं ॥ ३ ॥

असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं रघुनायक-सेवा ॥
जनम-महोत्सव रचहिं सुजाना। करहिं राम कल कीरति गाना ॥ ४ ॥

उस दिन असुर, नाग, पक्षी, मनुष्य, मुनि और देवता सब अयोध्या में आकर रघुनाथजी की सेवा करते हैं। चतुर लोग इस दिन रामचन्द्रजी का जन्मोत्सव करते हैं और उनकी सुन्दर कीर्ति का गान करते हैं ॥ ४ ॥

दो०—मज्जहिं सज्जनबृन्द बहु पावन सरजू-नीर।
जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर ॥ ५५ ॥

अनेक सज्जन, रामनवमी के दिन, सरयू के पवित्र जल में स्नान करते हैं और सुन्दर श्यामशरीर रामचन्द्रजी का हृदय में ध्यान करके उनके नाम का जप करते हैं ॥ ५५ ॥

चौ०—दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह बेद पुराना ॥
नदी पुनीत अमित महिमा अति। कहि न सकइ सारदा बिमलमति ॥ १ ॥

वेद और पुराण कहते हैं कि सरयू का दर्शन, स्पर्श, स्नान और पान पापों को

हरता है। यह नदी बड़ी ही पवित्र है। इसकी अनन्त महिमा है, जिसे विमल बुद्धिवाली सरस्वती भी नहीं कह सकती ॥ १ ॥

राम-धाम-दा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित जगपावनि ॥
चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तन नहिँ संसारा ॥२॥

यह अयोध्यापुरी, रामचन्द्रजी के धाम (वैकुण्ठ) की देनेवाली और सुहावनी है। समस्त लोकों में यह पुरी जगत् को पवित्र करनेवाली प्रसिद्ध है। जगत् में चार प्रकार के अनन्त जीव हैं। उनमें से जो प्राणी अयोध्या में शरीर त्याग करते हैं वे फिर संसार में शरीर नहीं पाते ॥ २ ॥

सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल-सिद्धि-प्रद मंगलखानी ॥
बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिँ काम मद दंभा ॥३॥

इस पुरी को सब प्रकार से मनोहर, सब सिद्धियों की देनेवाली और मंगल की खान समझकर मैंने इस निर्मल कथा का आरम्भ किया है, जिसके सुनने से काम, घमंड और छल दूर हो जाते हैं ॥ ३ ॥

रामचरित-मानस एहि नामा। सुनत स्रवन पाइअ बिस्रामा ॥
मन-करि बिषय-अनलबन जरई। होइ सुखी जौं एहि सर परई ॥४॥

इस कथा का नाम "रामचरितमानस" है, जो नाम सुनने में कानों को सुख और विश्राम देनेवाला है। मन-रूपी हाथी विषय-रूपी अग्नि के वन में जल मरता है, परन्तु यदि वह इस रामचरितमानस सरोवर में आ पड़े तो सुखी हो जाता है ॥ ४ ॥

रामचरित-मानस मुनिभावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन ॥
त्रिबिध-दोष-दुख-दारिद-दावन। कलिकुचालि कलि-कलुष-नसावन ॥५॥

मुनियों को प्रिय, पवित्र और सुहावने इस रामचरितमानस-रूपी सरोवर को शिवजी ने बनाया है। यह तीनों प्रकार के पाप, दुःख और दरिद्रता को नष्ट करनेवाला है तथा कलियुग की बुराइयों और सब पापों को दूर करता है ॥ ५ ॥

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा ॥
तातेँ रामचरित-मानस बर। धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर ॥६॥
कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई ॥७॥

इसको रचकर शिवजी ने अपने मन में रक्खा और सुअवसर पाकर उन्होंने पार्वतीजी को सुनाया। इसी से शिवजी ने खूब सोच समझकर और प्रसन्न होकर सुन्दर इसका नाम 'रामचरितमानस" रक्खा ॥६॥ मैं उसी सुखदायक और सुन्दर कथा को कहता हूँ। हे सज्जनो, आदरपूर्वक जी लगा कर इसे सुनो ॥ ७ ॥

दो०—जस मानस जेहि बिधि भयउ जग प्रचार जेहि हेतु ।
अब सोइ कहउँ प्रसंग सब सुमिरि उमा-वृषकेतु ॥५६॥

रामचरितमानस का यश जिस प्रकार हुआ और जगत् में जिस कारण इसका प्रचार हुआ वही सब कथा मैं, शिवजी और पार्वतीजी का स्मरण करके, कहता हूँ ॥ ५६ ॥

चौ०—संभुप्रसाद सुमति हिअँ हुलसी । रामचरित-मानस कबि तुलसी ॥
करइ मनोहर मति अनुहारी । सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी ॥१॥

शिवजी की कृपा से मेरे हृदय में सुमति का प्रकाश हुआ, जिससे मैं तुलसीदास इस रामचरितमानस का कवि हुआ । इसे तुलसीदास बुद्धि के अनुसार तो मनोहर ही बनाता है, सज्जन उसे जी से सुन कर सुधार लें ॥ १ ॥

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू । बेद पुरान उदधि घन साधू ॥
बरषहिँ राम सुजस बर बारी । मधुर मनोहर मंगलकारी ॥२॥

अच्छी बुद्धि भूमितल है, हृदय गहरा स्थान है, वेद-पुराण समुद्र हैं, और साधुजन बादल हैं; वे रामचरित-रूपी श्रेष्ठ, मीठे, मनोहर और कल्याणकारी जल की वर्षा करते हैं । अर्थात् जिस प्रकार मेघ समुद्र से जल लेकर पृथ्वी और सरोवरों को भर देते हैं उसी प्रकार साधुजन वेदों और पुराणों से रामचरित का सार लेकर भक्तों के हृदय-सरोवर को भर देते हैं ॥ २ ॥

लीला सगुन जो कहहिँ बखानी । सोइ स्वच्छता करइ मल-हानी ॥
प्रेम भगति जो बरनि न जाई । सोइ मधुरता सुसीतलताई ॥३॥

वर्षा से भरा सरोवर गँदला होता है पर इस मानस के जल के गँदलेपन को भगवान् की सगुण लीला जो कही जाती है उसकी स्वच्छता, दूर कर देती है । जिस प्रेम तथा भक्ति का वर्णन नहीं किया जा सकता वही इस जल की मधुरता और शीतलता है ॥ ३ ॥

सो जल सुकृत-सालि हित होई । रामभगत - जन - जीवन सोई ॥
मेधा-महिगत सो जल पावन । सकिलि स्त्रवन-मग चलेउ सुहावन ॥४॥
भरेउ सुमानस सुथल थिराना । सुखद सीत रुचि चारु चिराना ॥५॥

वही जल पुण्यरूपी धानों के लिए हितकारी है । और रामचन्द्रजी के भक्तों का जीवन भी वही है । वह पवित्र जल बुद्धिरूपिणी पृथ्वी पर इकट्ठा होकर सुन्दर कानों के मार्ग से भीतर चला जाता है ॥ ४ ॥ वह जल मानस-रूपी सरोवर में थिरा कर निर्मल हो गया और रुचिरूपी शरत्काल में पुराना होकर सुखदायक हो गया ॥ ५ ॥

दो०—सुठि सुन्दर सम्बाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि ।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि ॥५७॥

इस कथा में बुद्धि के विचार से जो चार संवाद रचे गये हैं—याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का, शिवजी और पार्वती का, शिवजी और काकभुशुंडि का तथा काकभुशुंडि और गरुड़ का—वही इस सुन्दर और पवित्र सरोवर के चार मनोहर घाट हैं ॥ ५७ ॥

चौ०—सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना । ग्यान-नयन निरखत मनमाना ॥
रघुपति-महिमा अगुन अबाधा । बरनब सोइ बर बारि अगाधा ॥१॥

इस कथा के सात प्रबंध (काण्ड) ही इस सरोवर की सात सीढ़ियाँ हैं जिनको ज्ञान-रूपी नेत्रों से देखते ही चित्त प्रसन्न हो जाता है। रामचन्द्रजी की गुण-रहित और बाधा-रहित जो महिमा है वही इस सरोवर के सुन्दर जल की गहराई कही गई है ॥ १ ॥

राम-सीय-जस सलिल सुधासम । उपमा बीचि-बिलास मनोरम ॥
पुरइनि सघन चारु चौपाई । जुगुति मंजु मनि सीप सोहाई ॥२॥

रामचन्द्रजी और सीताजी का यश ही अमृत के समान जल है। इसमें जो उपमा (मिसालें) दी गई हैं वही इसकी, मन को रमानेवाली, तरंगों का विलास है। सुन्दर चौपाइयाँ ही इसमें सघन पुरइन (कमल की बेलें) हैं और कविता की युक्तियाँ उज्ज्वल मोतियों की सीपियाँ हैं ॥ २ ॥

छन्द सोरठा सुन्दर दोहा । सोइ बहुरंग कमलकुल सोहा ॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा । सोइ पराग मकरंद सुबासा ॥३॥

इसके सुन्दर छन्द, दोहा और सोरठा ही रंग-विरंगे कमलों के समूह हैं। अनुपम अर्थ, सुन्दर भाव और अच्छी भाषा ही पराग, पुष्परस और सुगन्ध है ॥ ३ ॥

सुकृत-पुंज मंजुल अलिमाला । ग्यान बिराग बिचार मराला ॥
धुनि अवरेब कबित गुन जाती । मीन मनोहर ते बहु भाँती ॥४॥

इस सरोवर में पुण्यसमूह सुन्दर भौंरों के झुण्ड हैं तथा ज्ञान-वैराग्य के विचार ही हंस हैं। कविता की ध्वनि और वक्रोक्ति आदि जो कविता के गुण तथा भेद हैं वही अनेक प्रकार की मनोहर मछलियाँ हैं ॥ ४॥

अरथ धरम कामादिक चारी । कहब ग्यान बिग्यान बिचारी ॥
नव रस जप तप जोग बिरागा । ते सब जलचर चारु तड़ागा ॥५॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों और विचारपूर्वक ज्ञान, विज्ञान का कथन तथा नवरस, जप, तप, योग, वैराग्य ये सब इस सरोवर के सुन्दर जीव हैं ॥ ५ ॥

सुकृती साधु नाम गुन गाना । ते बिचित्र जलबिहग समाना ॥
संतसभा चहुँ दिसि अँबराई । स्रद्धा रितु बसंत सम गाई ॥६॥

पुण्यात्माओं और साधुजनों के नाम और गुणों का कीर्तन ही जल में विहार करनेवाले विचित्र पक्षी हैं। संतों की सभा ही सरोवर के चारों ओर लगी हुई अँबरिया (अर्थात् आमों की वृक्षावली) हैं और श्रद्धा ही वसन्त ऋतु के समान है ॥ ६ ॥

भगति निरूपन बिबिध बिधाना । छमा-दया दम लता-बिताना ॥
सम जम नियम फूल, फल ग्याना । हरिपद रति रस बेद बखाना ॥७॥
औरउ कथा अनेक प्रसंगा । तेइ सुक पिक बहु बरन बिहंगा ॥८॥

अनेक प्रकार से भक्ति का निरूपण, क्षमा, दया और दम—ये लता-वितान हैं। शम, यम, और नियम ही उनके फूल हैं और ज्ञान फल है। और भगवान् के चरणों में प्रेम होना ही रस है। यही वेद में कहा गया है ॥ ७ ॥ इस रामचरित के प्रकरण में जितनी और कथायें तथा प्रसंग हैं वे इसमें तोते और कोयल आदि नाना प्रकार के पक्षी हैं ॥ ८ ॥

दो०—पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहंग बिहारु ।
माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु ॥५८॥

कथा के सुनने से जो रोमाञ्च हो आता है वही वाटिका, बाग़ और वन हैं तथा जो सुख होता है वही सुन्दर पक्षियों का विहार है। अपना मनरूपी माली स्नेहरूपी जल से सुन्दर नेत्रों द्वारा उसे सींचता है ॥ ५८ ॥

चौ०—जे गावहिँ यह चरित सँभारे । तेइ एहि ताल चतुर रखवारे ॥
सदा सुनहिँ सादर नर नारी । तेइ सुर बर मानस अधिकारी ॥१॥

जो लोग इस चरित को सँभाल कर गाते हैं वे ही इस तालाब के चतुर रखवाले हैं। जो स्त्री-पुरुष इसको आदरपूर्वक सदा सुनते हैं वे ही इस मानस सरोवर के अधिकारी उत्तम देवता हैं ॥ १ ॥

अति खल जे बिषई बक कागा । एहि सर निकट न जाहिँ अभागा ॥
संबुक भेक सेवार समाना । इहाँ न बिषय कथा रस नाना ॥२॥

जो विषयी और अति दुष्ट हैं वे ही बगले और काग हैं। वे अभागे इस (रामचरितमानस) तालाब के पास नहीं जाते। इसमें घोंघे, मेंडक और सेवार के समान विषय रस की नाना कथायें नहीं हैं ॥ २ ॥

तेहि कारन आवत हिय हारे । कामी काक बलाक बिचारे ॥
आवत एहि सर अति कठिनाई । राम-कृपा बिनु आइ न जाई ॥३॥

इसी लिए बेचारे कामीजन रूपी कौओं और बगलों का इस सरोवर पर आते जी डरता है। इस सरोवर पर आना ही बड़ा कठिन है। बिना रामचन्द्रजी की कृपा के किसी से यहाँ नहीं आया जाता ॥ ३ ॥

कठिन कुसंग कुपंथ कराला। तिन्ह के बचन बाघ हरि ब्याला ॥
गृहकारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला ॥४॥
बन बहु बिषम मोह मद माना। नदी कुतर्क भयंकर नाना ॥ ५ ॥

घोर कुसंग ही कठिन कुमार्ग है। उन दुष्ट जनों के वचन ही सिंह, बाघ और साँप हैं। घर के काम-काज और भाँति भाँति के जंजाल ही मानों बड़े बड़े दुर्गम पर्वत हैं ॥ ४ ॥ मोह, मद, मान ही बहुत से गहन वन हैं और अनेक कुतर्क ही भयंकर नदियाँ हैं ॥ ५ ॥

दो०—जे स्रद्धा संबल रहित नहिँ संतन्ह कर साथ।
तिन कहुँ मानस अगम अति जिनहिँ न प्रिय रघुनाथ ॥५६॥

जिनके पास न तो श्रद्धा-रूपी पाथेय (राह-ख़र्च) है और न सन्तों का साथ ही है, और जिनको रघुनाथजी का प्रेम भी नहीं है उनके लिए यह "मानस" बहुत ही अगम्य है ॥ ५९ ॥

चौ०—जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहिँ नींद जुड़ाई होई ॥
जड़ता जाड़ बिषम उर लागा। गयहु न मज्जन पाव अभागा ॥१॥

यदि कोई मनुष्य कष्ट उठा कर वहाँ तक पहुँच भी जाय तो उसे, वहाँ जाते ही, नींद-रूपी जूड़ी घेर लेती है। और मूर्खता-रूपी कड़ा जाड़ा ऐसा लगता है कि वहाँ पहुँचने पर भी वह अभागा उसमें स्नान नहीं कर पाता ॥ १ ॥

करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवइ समेत अभिमाना ॥
जौं बहोरि कोउ पूछन आवा। सर-निंदा करि ताहि बुझावा ॥२॥

फिर उससे उस सर में न तो स्नान किया जाता है और न उसका जल पिया जाता है। वह अभिमानसहित लौट आता है। यदि कोई दूसरा मनुष्य उससे वहाँ का कुछ हाल पूछता है तो वह उस सरोवर की निन्दा करके उसे समझाता है ॥ २ ॥

सकल बिघ्न ब्यापहिँ नहिँ तेही। राम सुकृपा बिलोकहिँ जेही ॥
सोइ सादर सर मज्जनु करई। महाघोर त्रयताप न जरई ॥ ३ ॥

परन्तु जिस पर रामचन्द्रजी कृपा-दृष्टि करते हैं उसके पास कोई विघ्न नहीं आने पाता। वही उस सरोवर में आदरपूर्वक स्नान करता है और तीनों प्रकार के (दैहिक, दैविक और भौतिक) दुःखों से नहीं जलता ॥ ३ ॥

ते नर यह सर तजहिँ न काऊ । जिन्ह के रामचरन भल भाऊ ॥
जो नहाइ चह एहि सर भाई । सो सतसंग करउ मन लाई ॥४॥

जिनके हृदय में रामचन्द्रजी के चरणों के प्रति अच्छा भाव है वे मनुष्य इस सरोवर को कभी नहीं छोड़ते। भाई, यदि कोई इस सरोवर में स्नान करना चाहे तो वह जी लगा कर संत-महात्माओं का संग करे ॥ ४ ॥

अस मानस मानस चष चाही । भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही ॥
भयउ हृदय आनंद उछाहू । उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू ॥ ५ ॥

ऐसे मानस सरोवर में स्नान करने के लिए हृदय के नेत्र चाहिए कि जिसमें स्नान करते ही कवि की बुद्धि निर्मल हो गई। हृदय में आनन्द और उत्साह भर गया और प्रेम तथा आनन्द का प्रवाह उमड़ आया ॥ ५ ॥

चली सुभग कबिता सरिता सी । राम बिमल जस जलभरिता सी ॥
सरजू नाम सुमंगल-मूला । लोक-बेद-मत मंजुल कूला ॥ ६ ॥
नदी पुनीत सुमानस-नंदिनि । कलि-मल-त्रिन-तरु-मूल-निकंदिनि ॥७॥

उससे कविता-रूपी धारा बह निकली जिसमें रामचन्द्रजी का विमल यश-रूपी जल भरा हुआ है। उस कविता-रूपिणी नदी का नाम सरयू है जो सारे मंगलों की जड़ है। लोक और वेद का मत ही उसके दो सुन्दर किनारे हैं ॥ ६ ॥ रामचरितमानस से निकली यह नदी (मानस सरोवर से उत्पन्न सरयू के समान) बड़ी ही पवित्र और आनन्द देनेवाली तथा कलि के पाप-रूपी वृक्षों को उखाड़ के फेंकनेवाली है ॥ ७ ॥

दो०—स्रोता त्रिबिध समाज पुर ग्राम नगर दुहुँ कूल ।
संतसभा अनुपम अवध सकल सुमंगल मूल ॥ ६० ॥

तीनों प्रकार के श्रोताओं के समूह ही मानों इस सरयू नदी के दोनों ओर बसे हुए पुर, नगर और गाँव हैं। संतों की सभा ही अनुपम अयोध्या है जो सब मंगलों की जड़ है ॥ ६० ॥

चौ०—रामभगति सुरसरितहि जाई । मिली सुकीरति सरजु सुहाई ॥
सानुज राम-समर-जसु पावन । मिलेउ महानदु सोन सुहावन ॥१॥

रामभक्ति-रूपी गंगा में यह कीर्त्ति या चरितरूपी सरयू जा मिली है। भाई सहित श्रीरामजी का पावन युद्ध यश ही मानों उसमें महानद सोन (सोन नद और रक्त) आ मिला है ॥ १ ॥

जुग बिच भगति देव-धुनि धारा । सोहति सहित सुबिरति बिचारा ॥
त्रिबिध-ताप-त्रासक तिमुहानी । रामसरूप-सिंधु समुहानी ॥ २ ॥

दोनों के बीच में गंगाजी की धारा ऐसी ही सुहावनी लगती है जैसे ज्ञान और वैराग्य के सहित भक्ति। इस प्रकार तीनों तापों को डरानेवाली तीन ओर से एक साथ मिलकर आई हुई नदियाँ राम-रूप के सागर से मिलने के लिए जा रही हैं॥ २॥

मानस मूल मिली सुरसरिही। सुनत सुजन मन पावन करिही॥
बिच बिच कथा बिचित्र बिभागा। जनु सरि-तीर तीर बन बागा॥३॥

यह कथारूपिणी सरयू नदी, जिसका मूल रामचरितरूपी मानस है, पवित्र गंगाजी में जा मिली। इसलिए यह कथा सुननेवाले सज्जन के मन को पवित्र कर देती है। इस कथा-रूपिणी नदी के बीच में जो भिन्न भिन्न प्रकार की अनेक विचित्र कथायें हैं वही मानों इसके किनारे, तीर्थ वन और बाग हैं॥ ३॥

उमा - महेस - बिबाह - बराती। ते जलचर अगनित बहु भाँती॥
रघुबर - जनम - अनंद - बधाई। भवँर तरंग मनोहरताई॥ ४॥

इसमें शिव-पार्वती के विवाह के जितने बराती हैं वे ही मानों इस नदी के भाँति भाँति के असंख्य जलचर जीव हैं। रामचन्द्रजी के जन्म की आनन्द-बधाई ही इस नदी के मनोहर भवँर और तरंगें हैं॥ ४॥

दो०—बाल-चरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहुरंग।
नृप रानी परिजन सुकृत मधुकर बारिबिहंग॥ ६१॥

रामचन्द्रजी आदि चारों भाइयों के जो बाल-चरित हैं वे ही मानों इसमें रंग रंग के अनेक कमल हैं। पुण्यात्मा राजा दशरथ, उनकी रानियाँ और अन्यान्य कुटुम्बी लोग अच्छे भ्रमरों और जलपक्षियों के समान हैं॥ ६१॥

चौ०—सीय-स्वयम्बर-कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छबि छाई॥
नदी नाव पटु प्रस्न अनेका। केवट कुसल उतर सबिबेका॥ १॥

इसमें सीताजी के स्वयंवर की जो मनोहर कथा है वही इस नदी की सुहावनी शोभा है। इस कथा-रूपिणी नदी में अनेक प्रकार के चतुराई से भरे प्रश्न ही मानों नावें हैं और उनके विवेकमय उत्तर ही मानों उन (नावों) के केवट हैं॥ १॥

सुनि अनुकथन परस्पर होई। पथिक-समाज सोह सरि सोई॥
घोर धार भृगुनाथ रिसानी। घाट सुबद्ध राम बर बानी॥ २॥

इस कथा को सुनकर जो पीछे आपस में बातें होती हैं वही मानों इस नदी के किनारे यात्रियों का समूह सोहता है। इस कथा में जो परशुरामजी का कोप है वही मानों इस नदी की घोर धारा है और उनके कोप को शान्त करनेवाले रामचन्द्रजी के ज्ञानपूर्ण वचन ही मानों इसके घाट हैं॥ २॥

सानुज राम - बिबाह-उछाहू । सो सुभ उमग सुखद सब काहू ॥
कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं । ते सुकृती मन मुदित नहाहीं ॥३॥

भाइयों सहित रामचन्द्रजी के विवाह की उमंगें ही इस कथा-रूपिणी नदी की सबको सुख देनेवाली मनोहर तरंगें हैं। इसके कहने सुनने में जो लोग पुलकायमान और आनन्दित होते हैं वे ही मानों इस नदी में स्नान करनेवाले पुण्यात्मा हैं (नदी में स्नान करने से भी शीत से रोमांच होता है) ॥ ३ ॥

रामतिलक हित मंगलसाजा । परब-जोग जनु जुरे समाजा ॥
काई कुमति केकई केरी । परी जासु फलु बिपति घनेरी ॥ ४ ॥

रामचन्द्रजी के तिलकोत्सव पर जो मंगल साज हुआ है वही मानों इस नदी पर, पर्व के दिन, यात्रियों की भीड़भाड़ है। कैकेयी की कुबुद्धि ही मानों इस नदी में काई है, जिसके कारण घोर विपत्ति पड़ी ॥ ४ ॥

दो०—समन अमित उतपात सब भरत-चरित जप जाग ।
कलि-अघ खल-अवगुन कथन ते जल-मल बक काग ॥ ६२ ॥

अनगिनत उत्पातों को शान्त करने के लिए भरत का सब चरित्र ही मानों यज्ञ और तप है और इसमें कलियुग के पापों और दुष्टों के दुर्गुणों का जो वर्णन है वही मानों इस नदी के जल का कीचड़, बगले और कौए हैं ॥ ६२ ॥

चौ०—कीरति सरित छहूँ रितु रूरी । समय सुहावनि पावनि भूरी ॥
हिम हिमसैल-सुता-सिव-ब्याहू । सिसिर सुखद प्रभु-जनम-उछाहू ॥ १ ॥

यह कीर्त्तिरूपिणी नदी छहों ऋतुओं में सुन्दर अर्थात् भरी रहती है। पर अवसर अवसर पर अत्यन्त सुहावनी और पवित्र हो जाती है। इसमें शिव-पार्वतीजी का विवाह हेमंत ऋतु है और रामचन्द्रजी का सुख देनेवाला जन्मोत्सव शिशिर ऋतु है ॥ १ ॥

बरनब राम - बिबाह - समाजू । सो मुद मंगलमय रितुराजू ॥
ग्रीषम दुसह राम - बन - गवनू । पंथ-कथा खर आतप पवनू ॥ २ ॥

इसमें रामचन्द्रजी के विवाह की कथा का वर्णन आनन्दमंगलमय ऋतुराज वसन्त है। रामचन्द्रजी के वनगमन की कथा ही मानों असह्य ग्रीष्म ऋतु है और मार्ग की कथा ही कड़ी धूप और लू है ॥ २ ॥

बरषा घोर निशाचर - रारी । सुरकुल सालि सुमंगलकारी ॥
राम - राज - सुख बिनय बड़ाई । बिसद सुखद सोइ सरद सुहाई ॥ ३ ॥

घोर राक्षसों के साथ लड़ाई मानों वर्षा ऋतु है जो देवताओं के समूह-रूपी धानों को

बहुत ही मंगलकारी है। रामचन्द्रजी के राज्य में जो सुख, सुनीति और प्रशंसा है, वही निर्मल सुखदायक शरद् ऋतु है ॥ ३ ॥

सतीसिरोमनि-सिय-गुन-गाथा । सोइ गुन अमल अनूपम पाथा ॥
भरतसुभाउ सुसीतलताई । सदा एकरस बरनि न जाई ॥ ४ ॥

इसमें सती-शिरोमणि सीताजी के गुणों की जो कथा है वही जल के निर्मल और अनुपम गुण हैं। भरतजी का स्वभाव इस नदी की शीतलता है जो सदा एक-सी रहती है और जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ४ ॥

दो०—अवलोकनि बोलनि मिलनि प्रीति परस्पर हास ।
भायप भलि चहुँ बंधु की जल माधुरी सुबास ॥ ६३ ॥

रामचन्द्रजी आदि चारों भाइयों का परस्पर देखना, बोलना, मिलना, स्नेह करना, हँसना और सुन्दर भाईचारा इस जल की मिठास और सुगन्ध है ॥ ६३ ॥

चौ०—आरति बिनय दीनता मोरी । लघुता ललित सुबारि न खोरी ।
अद्भुत सलिल सुनत सुखकारी । आस पिआस मनोमलहारी ॥१॥

मेरी नम्र विनती और दीनता ही इस सुन्दर जल का हलकापन है। पर इससे जल में कोई दोष नहीं आता। यह जल बड़ा ही अनोखा है कि सुनते ही गुण करता है और आशारूपी प्यास और मन के मैल को दूर कर देता है ॥ १ ॥

राम सुपेमहि पोषत पानी । हरत सकल कलि-कलुष-गलानी ॥
भव-स्रम-सोषक तोषक तोषा । समन दुरित दुख दारिद दोषा ॥२॥

यह जल राम-भक्ति को बढ़ाता है और कलियुग की सब बुराइयों की ग्लानि को दूर करता है। संसारी कष्टों को यह जल सोख लेता है, सन्तोष को बढ़ाता तथा पाप, दुःख और दरिद्रता-रूपी रोगों को शीघ्र दूर कर देता है ॥ २ ॥

काम कोह मद मोह नसावन । बिमल बिबेक बिराग बढ़ावन ॥
सादर मज्जन पान किए तें । मिटहिँ पाप परिताप हिये तें ॥३॥

यह जल काम, क्रोध, मद और मोह को नष्ट करनेवाला और निर्मल ज्ञान तथा वैराग्य को बढ़ानेवाला है। इस जल में आदर सहित स्नान करने और इसे पीने से हृदय से पाप की जलन मिट जाती है ॥ ३ ॥

जिन्ह एहि बारि न मानस धोए । ते कायर कलिकाल बिगोए ॥
त्रिषित निरषि रबि-कर-भव-बारी । फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी ॥४॥

जिन्होंने इस जल से अपना हृदय नहीं धोया, उन कायरों को कलिकाल ने बिगाड़

दिया। जैसे प्यासा हिरन मरीचिका का जल (बालू पर सूर्य की किरणों के पड़ने से दूर से जल का भ्रम होता है।) देखकर मारा मारा फिरता है वैसे ही वे मनुष्य भी रामचरितमानस-रूपी सुन्दर जल को छोड़ कर इधर उधर की झूठी कहानियों में मन लगाते फिरेंगे और दुखी होंगे ॥ ४ ॥

दो०—मति अनुहारि सुबारि गुनगन गनि मन अन्हवाइ ।
सुमिरि भवानी-संकरहि कह कबि कथा सुहाइ ॥६४॥

बुद्धि के अनुसार इस जल के गुणों को इस प्रकार गिन कर और इस सुन्दर जल में अपने मन को स्नान कराकर तथा पार्वती-महादेवजी को स्मरण करके मैं कवि तुलसीदास सुन्दर कथा कहता हूँ ॥ ६४ ॥

अब रघुपति-पद-पंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद ।
कहउँ जुगल मुनिबर्य कर मिलन सुभग संबाद ॥ ६५ ॥

मैं अब रामचन्द्रजी के चरणकमलों को हृदय में रखकर और उनका प्रसाद पाकर दोनों मुनिवरों के मिलने का सुन्दर संवाद वर्णन करता हूँ ॥ ६५ ॥

चौ०—भरद्वाज मुनि बसहिँ प्रयागा । तिन्हहिँ रामपद अति अनुरागा ॥
तापस सम-दम-दया-निधाना । परमारथ-पथ परम सुजाना ॥१॥

भरद्वाज नामक मुनि प्रयाग में रहते हैं। रामचन्द्रजी के चरणों में उनकी बहुत ही प्रीति है। वे बहुत बड़े तपस्वी और शम, दम और दया के निधान हैं। वे परमार्थ के मार्ग में बड़े चतुर हैं ॥ १ ॥

माघ मकरगत रबि जब होई । तीरथपतिहिँ आव सब कोई ॥
देव दनुज किन्नर नरस्रेनी । सादर मज्जहिँ सकल त्रिबेनी ॥२॥

माघ के महीने में, जब सूर्य मकर राशि में आते हैं तब सब कोई तीर्थराज प्रयाग में आते हैं। देवों, दैत्यों, किन्नरों और मनुष्यों के झुण्ड बड़े आदर से त्रिवेणी में स्नान करते हैं ॥२॥

पूजहिँ माधव - पद - जलजाता । परसि अषयबटु हरषहिँ गाता ॥
भरद्वाज - आस्रम अति पावन । परम रम्य मुनिबर-मन-भावन ॥३॥

वेणीमाधव के चरणकमलों की पूजा करते हैं और अक्षयवट को छूकर बड़े प्रसन्न होते हैं। भरद्वाज मुनि का आश्रम बहुत ही पवित्र, रमणीय और मुनियों के लिए मन-भावन है ॥ ३ ॥

तहाँ होइ मुनि - रिषय - समाजा । जाइ जे मज्जहिँ तीरथराजा ॥
मज्जहिँ प्रात समेत उछाहा । कहहिँ परस्पर हरि-गुन-गाहा ॥४॥

वहाँ उन मुनियों और ऋषियों का समाज जुड़ता है जो प्रयाग में स्नान करने जाते हैं। प्रातःकाल सब उत्साह-सहित स्नान करते हैं और फिर आपस में हरिकीर्तन करते हैं ॥ ४॥

दो०—ब्रह्म-निरूपन धर्म-बिधि बरनहिं तत्त्व-बिभाग।
कहहिं भगति भगवंत के संजुत-ग्यान-बिराग ॥६६॥

वे ब्रह्म का निरूपण, धर्म का विधान और तत्त्व की बातें वर्णन करते तथा ज्ञान और वैराग्य से संयुक्त ईश्वर-भक्ति की चर्चा करते हैं॥ ६६ ॥

चौ०—एहि प्रकार भरि माघ नहाहीं। पुनि सब निज निज आस्रम जाहीं।
प्रति संबत अति होइ अनंदा। मकर मज्जि गवनहिं मुनिबृन्दा ॥१॥

इस प्रकार वे माघ के महीने भर स्नान करते हैं और फिर अपने अपने आश्रमों को चले जाते हैं। इसी तरह वहाँ हर साल बहुत ही आनन्द होता है और मुनियों के समूह के समूह मकर-स्नान करके चले जाते हैं॥ १॥

एक बार भरि मकर नहाये। सब मुनीस आस्रमन्ह सिधाए॥
जागबलिक मुनि परम बिबेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी ॥ २ ॥

एक बार मकर भर स्नान करके सब मुनि अपने अपने आश्रमों को चले गये। परन्तु भरद्वाजजी ने परमज्ञानी याज्ञवल्क्य मुनि के चरण पकड़ कर उन्हें रोक लिया ॥ २॥

सादर चरनसरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे॥
करि पूजा मुनि सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदु-बानी॥ ३ ॥

भरद्वाजजी ने आदरसहित उनके चरण-कमल धोये और उन्हें पवित्र आसन पर बैठाया। पूजा करके प्रशंसा की और बड़े पवित्र और कोमल वचनों में कहा— ॥ ३ ॥

नाथ एक संसउ बड़ मोरे। करगत बेदतत्त्व सब तोरे॥
कहत सो मोहि लगत भय लाजा। जौ न कहउँ बड़ होइ अकाजा ॥४॥

हे नाथ, मेरे हृदय में एक बड़ा सन्देह है। सारे वेदों का तत्त्व आपके हाथों पर रक्खा हुआ है। उस सन्देह को कहते हुए मुझे डर और लज्जा मालूम होती है। पर न कहूँ तो भी बड़ा अकाज होगा॥ ४॥

दो०—संत कहहिं अस नीति प्रभु स्रुति पुरान मुनि गाव।
होइ न बिमल बिबेक उर गुरु सन कियें दुराव ॥६७॥

हे प्रभो, संतजन ऐसी नीति कहते हैं और वेद-पुराण तथा मुनि भी यही बताते हैं कि गुरु के सामने बात छिपाने से हृदय में निर्मल ज्ञान नहीं होता॥ ६७॥

चौ०—अस बिचारि प्रगटउँ निज मोहू । हरहु नाथ करि जन पर छोहू ॥
रामनाम कर अमित प्रभावा । संत-पुरान-उपनिषद गावा ॥ १ ॥

यही समझ कर मैं अपना अज्ञान प्रकट करता हूँ। हे नाथ, आप इस जन पर कृपा करके इस सन्देह को दूर कीजिए। रामनाम का प्रभाव अपार है। सन्तों ने, पुराणों ने और उपनिषदों ने इस प्रभाव का गान किया है ॥ १ ॥

संतत जपत संभु अबिनासी । सिव भगवान ग्यान-गुन-रासी ॥
आकर चारि जीव जग अहहीं । कासी मरत परम पद लहहीं ॥२॥

कल्याणस्वरूप, अविनाशी और ज्ञान-गुण की खान भगवान् महादेवजी इसको निरन्तर जपा करते हैं। संसार के जीवों की चार जातियाँ हैं। काशी में मर कर सभी जीव परमपद को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २ ॥

सोपि राममहिमा मुनिराया । सिव उपदेस करत करि दाया ॥
रामु कवनु प्रभु पूछउँ तोहीं । कहिय बुझाइ कृपानिधि मोहीं ॥३॥

हे मुनिराज, शिवजी महाराज जो दया करके यह उपदेश करते हैं सो यह भी राम की ही महिमा है। हे प्रभो, मैं आपसे पूछता हूँ कि राम कौन हैं। हे कृपासागर, मुझसे समझा कर कहिए ॥ ३ ॥

एक राम अवधेसकुमारा । तिन्ह कर चरित विदित संसारा ॥
नारिबिरह दुख लहेउ अपारा । भयउ रोषु रन रावनु मारा ॥ ४ ॥

एक तो राम अवध के राजा दशरथजी के पुत्र हैं जिनका चरित सारे जगत् में प्रकट है। उन्होंने स्त्री के वियोग का अपार दुख पाया था और क्रोधित होकर रावण को रण में मारा था ॥ ४ ॥

दो०—प्रभु सोइ रामु कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि ।
सत्य धाम सर्बग्य तुम्ह कहहु बिबेक बिचारि ॥६८॥

हे प्रभो, वही राम हैं, या और कोई दूसरे हैं जिनको शिवजी जपते हैं? आप सत्य के धाम और सर्वज्ञ हैं, आप विवेक-पूर्वक विचार कर कहिए ॥ ६८ ॥

चौ०—जैसे मिटइ मोर भ्रमु भारी । कहहु सो कथा नाथ बिसतारी ॥
जागबलिक बोले मुसुकाई । तुम्हहि विदित रघुपति-प्रभुताई ॥१॥

हे नाथ, जिस तरह मेरा भारी भ्रम मिट जाय, वही कथा विस्तार से कहिए। यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी मुसकिरा कर बोले कि रामचन्द्रजी की महिमा तो तुमको मालूम है ॥ १ ॥

रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी॥
चाहहु सुनइ रामगुन गूढा। कीन्हहु प्रस्न मनहुँ अति मूढा॥२॥

तुम मन, वाणी और कर्म से राम के भक्त हो। मैंने तुम्हारी चतुराई जान ली। तुम राम के छिपे हुए गुणों को सुनना चाहते हो। इसी से तुमने यह बात इस तरह से पूछी है कि मानों कुछ जानते ही नहीं॥ २॥

तात सुनहु सादर मनु लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई॥
महामोहु महिषेसु बिसाला। रामकथा कालिका कराला॥ ३॥

हे मित्र, तुम आदरपूर्वक जी लगा कर सुनो। मैं राम की सुहावनी कथा कहता हूँ। राम की कथा महामोह-रूपी महिषासुर के मारने के लिए भयंकर काली देवी है॥ ३॥

रामकथा ससिकिरन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना॥
ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी॥ ४॥

राम की कथा चन्द्रमा की किरणों के समान है, जिसे संतरूपी चकोर पान करते हैं। ऐसा ही संदेह, अर्थात् जैसा तुमने किया है, पार्वतीजी ने महादेवजी से किया था। तब महादेवजी ने उन्हें समझा कर कहा था॥ ४॥

दो०—कहउँ सो मतिअनुहारि अब उमा-संभु-संवाद।
भयउ समय जेहि हेतु जेहि सुनु मुनि मिटिहि बिषाद॥ ६९॥

पार्वती और महादेवजी का वही संवाद मैं अब, अपनी बुद्धि के अनुसार, कहता हूँ कि वह किस समय और किस कारण हुआ। हे मुनि! उसके सुनने से तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा॥ ६९॥

चौ०—एक बार त्रेता जुग माहीँ। संभु गये कुंभज रिषि पाहीँ॥
संग सती जगजननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी॥१॥

त्रेतायुग में एक बार महादेवजी अगस्त्य मुनि के पास गये। उनके साथ सती जगत्-जननी भवानीजी भी थीं। ऋषि ने उनको सारे जगत् का ईश्वर जान कर उनकी अच्छी तरह पूजा की॥ १॥

रामकथा मुनिबर्य बखानी। सुनी महेस परम सुखु मानी॥
रिषि पूछी हरिभगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई॥ २॥

उस समय मुनिवर ने रामकथा कही, जिसे सुनकर शिवजी ने बहुत सुख माना। फिर ऋषिजी ने शिवजी से सुन्दर हरिभक्ति की बात पूछी और शिवजी ने उनको अधिकारी समझ कर भक्ति की सब बातें कहीं॥ २॥

कहत सुनत रघुपति-गुन - गाथा। कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा॥
मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन सँग दच्छकुमारी॥३॥

इसी तरह रामचन्द्र के गुणों की कथा कहते-सुनते शिवजी कुछ दिनों वहाँ रहे। फिर मुनिजी से बिदा माँग कर शिवजी दक्ष की कन्या भवानी के साथ अपने स्थान को चले॥३॥

तेहि अवसर भंजन महिभारा। हरि रघुबंस लीन्ह अवतारा॥
पितावचन तजि राजु उदासी। दंडकबन बिचरत अबिनासी॥४॥

उन्हीं दिनों पृथ्वी का भार उतारने के लिए विष्णु भगवान् ने रघुकुल में अवतार लिया था। पिता के वचनों से, निर्लोभ से, राजपाट छोड़कर अविनाशी रामचन्द्रजी दण्डक वन में विचरते फिरते थे॥ ४॥

दो०—हृदय बिचारत जात हर केहि बिधि दरसनु होइ।
गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गये जान सब कोइ॥ ७०॥

उस समय महादेवजी अपने जी में विचारते जाते थे कि रामचन्द्रजी का दर्शन किस प्रकार हो। भगवान् गुप्त रूप से प्रकट हुए हैं इससे, वहाँ जाने से तो सब लोग जान जायँगे॥ ७०॥

सो०—संकर उर अति छोभु सती न जानइ मरमु सोइ।
तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची॥ ७१॥

इस बात की महादेवजी के हृदय में बड़ी घबराहट थी और सतीजी इस मर्म को कुछ नहीं जानती थीं। तुलसीदास कहते हैं कि उनके लालची नेत्रों को रामदर्शन की लालसा थी और मन में यह डर भी था कि कहीं कोई इस भेद को जान न ले॥ ७१॥

चौ०—रावन मरन मनुज-कर जाँचा। प्रभु बिधिबचनु कीन्ह चह साँचा॥
जौं नहिँ जाउँ रहइ पछितावा। करत बिचारु न बनत बनावा॥१॥

रावण ने अपना मरना मनुष्य के हाथ से माँगा था। ब्रह्मा के वचन को, कि ऐसा ही होगा, भगवान् सत्य किया चाहते हैं। जो नहीं जाता हूँ तो जी में पछतावा रहता है। वे विचार करते हैं पर कोई बात बनाये नहीं बनती॥ १॥

एहि बिधि भये सोचबस ईसा। तेही समय जाइ दससीसा॥
लीन्ह नीच मारीचहि संगा। भयउ तुरत सोइ कपट कुरंगा॥२॥

इस प्रकार महादेवजी इस सोच में पड़े हुए थे। उसी समय रावण ने जाकर नीच मारीच को साथ लिया और वह तुरंत कपट का मृग बन गया॥ २॥

करि छलु मूढ़ हरी बैदेही । प्रभुप्रभाउ तस बिदित न तेही ॥
मृग बधि बंधु सहित प्रभु आए । आस्रमु देखि नयन जलु छाए ॥३॥

मूर्ख रावण ने छल करके सीताजी को हर लिया। क्योंकि वह रामचन्द्रजी की महिमा को अच्छी तरह नहीं जानता था। हिरन को मार कर रामचन्द्रजी भाई सहित जब कुटी पर आये तो आश्रम को देखकर उनकी आँखों में आँसू भर आये ॥ ३ ॥

बिरहबिकल नर इव रघुराई । खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई ॥
कबहूँ जोग बिजोग न जाके । देखा प्रगट बिरहदुख ताके ॥ ४ ॥

रामचन्द्रजी मनुष्यों की तरह विरह से व्याकुल हो गये और दोनों भाई वन में सीता को खोजते हुए फिरने लगे। जिसको कभी न तो संयोग है और न वियोग, उसको विरह का दुःख प्रकट देखने में आया ॥ ४ ॥

दो०—अति बिचित्र रघुपतिचरित जानहिं परम सुजान ।
जे मतिमंद बिमोहबस हृदय धरहिं कछु आन ॥ ७२ ॥

रामचन्द्रजी का चरित्र बड़ा ही विचित्र है। इसे बड़े ज्ञानी ही जानते हैं। जो अज्ञानी और मूर्ख हैं वे इसको कुछ और समझते हैं ॥ ७२ ॥

चौ०—संभु समय तेहि रामहिं देखा । उपजा हिय अतिहरषु बिसेखा ॥
भरि लोचन छबिसिंधु निहारी । कुसमउ जानि न कीन्हि चिन्हारी ॥१॥

उस समय शिवजी ने रामचन्द्रजी को देखा और उनके मन में बड़ा ही आनन्द हुआ। शिवजी ने नेत्र भर कर उन छवि के समुद्र को देखा। पर अवसर न समझ कर वे उनसे मिले नहीं ॥ १ ॥

जय सच्चिदानंद जगपावन । अस कहि चलेउ मनोज-नसावन ॥
चले जात सिव सतीसमेता । पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता ॥२॥

"जगत् के पवित्र करनेवाले सच्चिदानन्द की जय हो" ऐसा कहकर कामदेव को मारनेवाले शिवजी चले। कृपानिधान शिवजी बार बार आनन्द से पुलकित होते हुए सतीजी के साथ चले जाते थे ॥ २ ॥

सती सो दसा संभु कै देखी । उर उपजा संदेहु बिसेखी ॥
संकर जगतबंद्य जगदीसा । सुर नर मुनि सब नावत सीसा ॥३॥

महादेवजी की उस दशा को सतीजी ने देखा तो उनको बड़ा सन्देह हुआ। वे अपने जी में कहने लगीं कि जिन शिवजी की वन्दना सारा जगत् करता है, जो सारे जगत् के स्वामी हैं और जिनको देवता, मनुष्य, मुनि सब सिर नवाते हैं ॥ ३ ॥

तिन्ह नृपसुतहिं कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥
भये मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥४॥

उन्होंने एक राजपुत्र को सच्चिदानन्द और मोक्षधाम कह कर प्रणाम किया और उसकी छवि देखकर इतने मगन हुए कि अब तक हृदय में प्रीति रोकने से भी नहीं रुकती॥४॥

दो०—ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥७३॥

जो ब्रह्म सबमें व्याप्त, तथा माया, जन्म, कला, चेष्टा और खण्ड से रहित है और जिसे वेद भी नहीं जानते, वह क्या देह धारण करके मनुष्य हो सकता है?॥७३॥

चौ०—बिस्नु जो सुर-हित नर-तनु-धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥१॥

जिन विष्णु भगवान् ने देवताओं के हित के लिए मनुष्य-शरीर धारण किया है वे तो शिवजी के समान सर्वज्ञ हैं। वे महाज्ञानी, श्रीपति और असुरों के मारनेवाले विष्णु, अज्ञानियों की तरह स्त्री को कैसे खोजते हैं?॥१॥

संभु-गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्बग्य जान सबु कोई॥
अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोधप्रचारा॥२॥

फिर शिवजी की वाणी भी असत्य नहीं हो सकती, क्योंकि सब कोई जानता है कि शिवजी सर्वज्ञ हैं। ऐसी अपार शङ्का सतीजी के हृदय में उठी और उनके मन को प्रबोध न हुआ॥२॥

जद्यपि प्रगट न कहेउ भवानी। हर अंतरजामी सब जानी॥
सुनहु सती तव नारिसुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ॥३॥

यद्यपि भवानी ने यह बात प्रकट नहीं कही, पर अन्तर्यामी शिवजी ने सब जान ली। वे बोले हे सती! सुनो, तुम्हारा स्त्री का स्वभाव है। ऐसा संदेह मन में कभी नहीं करना चाहिए॥३॥

जासु कथा कुंभज रिषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई॥
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥४॥

जिनकी कथा मुझे कुंभज (अगस्त्य) ऋषि ने सुनाई और जिनकी भक्ति मैंने मुनि को सुनाई वही रामचन्द्रजी मेरे इष्टदेव हैं, जिनकी सेवा धीर मुनि सदा किया करते हैं॥४॥

छंद—मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमलमन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन-निकाय-पति मायाधनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघु-कुल-मनी॥

जिनका ध्यान मुनि, धीर, योगी और सिद्ध निरन्तर शुद्ध चित्त से करते हैं; वेद, पुराण और शास्त्र 'नेति नेति' कह कर जिनकी कीर्ति को गाते हैं; उन्हीं सर्वव्यापक सकल-भुवनपति, माया के स्वामी, ब्रह्म राम ने—भक्तों के हित के लिए—अपनी इच्छा से रघुकुल में मणि-स्वरूप अवतार लिया है।

सो०—लाग न उर उपदेस जदपि कहेउ सिव बार बहु॥
बोले बिहँसि महेसु हरि-माया-बलु जानि जिय॥ ७४॥

यद्यपि शिवजी ने अनेक बार कहा, तथापि सतीजी के हृदय में ज्ञान न हुआ। तब महेश, मन में भगवान् की माया को बलवती जान कर, हँस कर बोले—॥ ७४॥

चौ०—जौ तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू॥
तब लगि बैठ अहउँ बटछाँहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥१॥

जो तुम्हार जी में बहुत संदेह है तो तुम वहाँ जाकर परीक्षा क्यों नहीं लेतीं। जब तक तुम मेरे पास आओगी तब तक मैं इसी बड़ की छाँह में बैठा हूँ॥ १॥

जैसे जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतनु बिबेकु बिचारी॥
चली सती सिव-आयसु पाई। करइ बिचारु करउँ का भाई॥२॥

जिस प्रकार तुम्हारा अज्ञानरूपी भारी भ्रम दूर हो, वही यत्न तुम विचार कर करना। शिवजी की आज्ञा पाकर सती (रामचन्द्रजी की परीक्षा लेने के लिए) चलीं और मन में सोचने लगीं कि क्या करूँ॥ २॥

इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहँ नहि कल्याना॥
मोरेहु कहे न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥३॥

उधर शिवजी ने मन में ऐसा अनुमान किया कि दक्ष की पुत्री सती की कुशल नहीं है। जो मेरे समझाने से भी संदेह नहीं दूर होते तो फिर भाग्य ही उलटा है और भलाई नहीं जान पड़ती॥ ३॥

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तरक बढ़ावइ साखा॥
अस कहि लगे जपन हरिनामा। गई सती जहँ प्रभु सुखधामा॥४॥

जो कुछ राम ने रच रक्खा है वही होगा। अब तर्क-वितर्क करके कौन बात बढ़ावे। यों कह कर शिवजी भगवान् का नाम जपने लगे और सती वहाँ गईं जहाँ सुखधाम रामचन्द्रजी थे ॥ ४ ॥

दो०—पुनि पुनि हृदय विचारु करि धरि सीता कर रूप।
आगे होइ चलि पंथ तेहि जेहि आवत नरभूप ॥ ७५ ॥

सती बार बार मन में विचार कर और सीताजी का रूप धारण करके उस मार्ग में आगे होकर चलीं जिस मार्ग से मनुष्यों के राजा रामचन्द्रजी जा रहे थे ॥ ७५ ॥

चौ०—लछमन दीख उमाकृत वेषा। चकित भये भ्रम हृदय विसेषा ॥
कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभुप्रभाउ जानत मतिधीरा ॥१॥

पार्वती के बनावटी रूप को लक्ष्मणजी ने देखा, जिससे उनके हृदय में बड़ा संदेह हुआ और वे चकित हुए। वे बहुत गम्भीर बुद्धिमान् थे इसलिए कुछ कह नहीं सकते थे, क्योंकि वे रामचन्द्रजी के प्रभाव को जानते थे ॥ १ ॥

सती-कपटु जानेउ सुर-स्वामी। सबदरसी सब-अंतरजामी ॥
सुमिरत जाहि मिटइ अग्याना। सोइ सर्वग्य रामु भगवाना ॥२॥

सती के कपट को देवताओं के स्वामी रामचन्द्रजी पहचान गये। क्योंकि वे सर्वदर्शी और सबके हृदय की बात जानते थे। जिसे स्मरण करने से सारा अज्ञान मिट जाता है वही सर्वज्ञ भगवान् रामचन्द्रजी हैं ॥ २ ॥

सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारि-सुभाउ-प्रभाऊ ॥
निज मायाबलु हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी ॥३॥

स्त्रियों के स्वभाव का प्रभाव तो देखो कि सतीजी ने उन सर्वज्ञ से भी छिपाव करना चाहा! अपनी माया के बल को हृदय में विचार कर रामचन्द्रजी हँसकर कोमलवाणी से बोले ॥ ३ ॥

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पितासमेत लीन्ह निज नामू ॥
कहेउ बहोरि कहाँ वृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू ॥४॥

पहले रामचन्द्रजी ने हाथ जोड़कर सती को प्रणाम किया और पिता-सहित अपना नाम लिया। फिर कहा कि शिवजी कहाँ हैं? तुम यहाँ वन में अकेली क्यों फिर रही हो? ॥ ४ ॥

दो०—रामबचन मृदु गूढ़ सुनि उपजा अति संकोचु।
सती सभीत महेस पहिँ चली हृदय बड़ सोचु ॥७६॥

रामचन्द्रजी के कोमल और गूढ़ वचन सुनकर सतीजी बहुत सकुचीं। वे डरती और हृदय में बहुत कुछ सोचती हुई शिवजी के पास चलीं ॥ ७६ ॥

चौ०—मैं संकर कर कहा न माना। निज अग्यानु राम पर आना॥
जाइ उतरु अब देइहउँ काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा॥१॥

मैंने शङ्करजी का कहा न माना और अपने अज्ञान का आरोप राम पर किया अर्थात् उन्हें अज्ञ मनुष्य समझा। अब जाकर मैं शिवजी को क्या उत्तर दूँगी? यही सोचकर सतीजी के हृदय में अति दुस्सह दाह उत्पन्न हुआ॥ १॥

जाना राम सती दुखु पावा। निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा॥
सती दीख कौतुकु मग जाता। आगे राम सहित श्री भ्राता॥२॥

रामचन्द्रजी ने जान लिया कि सतीजी को दुःख हुआ है। तब उन्होंने अपना कुछ प्रभाव प्रकट करके दिखाया। सती ने मार्ग में जाते जाते यह कौतुक देखा कि रामचन्द्रजी, लक्ष्मण और सीता सहित, आगे जा रहे हैं॥ २॥

फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुन्दर बेखा॥
जहँ चितवहि तहँ प्रभु आसीना। सेवहि सिद्ध, मुनीस, प्रबीना॥३॥

फिर उन्होंने पीछे की ओर देखा तो भाई और सीताजी के साथ रामचन्द्रजी को सुन्दर भेष में पाया। उन्होंने जिधर देखा उधर ही रामचन्द्रजी विराजमान हैं और प्रवीण सिद्ध-मुनि उनकी सेवा कर रहे हैं॥ ३॥

देखे सिव बिधि बिस्नु अनेका। अमित प्रभाव एक तें एका॥
बंदत चरन करत प्रभु-सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥ ४॥

उन्होंने अनेक शिव, अनेक ब्रह्मा और अनेक विष्णु भी देखे जिनका प्रभाव एक दूसरे से बढ़कर था। उन्होंने देखा कि तरह तरह के भेष धारण करके देवतागण रामचन्द्रजी की चरण-वंदना और सेवा कर रहे हैं॥ ४॥

दो०—सती बिधात्री इंदिरा देखी अमित अनूप।
जेहि जेहि बेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप॥७७॥

उन्होंने अनेक सती, सरस्वती और लक्ष्मी देखीं, जो अनुपम थीं। जिस जिस भेष में ब्रह्मा आदि देवता थे उसी के समान भेष में उनकी स्त्रियाँ थीं॥ ७७॥

चौ०—देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥
जीव चराचर जे संसारा। देखे सकल अनेक प्रकारा॥१॥

सती ने जहाँ तहाँ जितने रामचन्द्र देखे उन्हीं के साथ अपनी अपनी शक्तियों के साथ उतने ही सारे देवताओं को भी देखा। संसार में जितने चराचर जीव हैं वे भी वहाँ अनेक प्रकार के देखे॥ १॥

पूजहिं प्रभुहिं देव बहु बेखा। रामरूप दूसर नहिं देखा॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता-सहित न बेष घनेरे॥ २॥

उन्होंने अनेक भेष धारण किये हुए देवताओं को रामचन्द्रजी की सेवा करते हुए देखा, परन्तु रामचन्द्रजी का दूसरा रूप नहीं देखा। रामचन्द्रजी भी उन्होंने बहुत से देखे, पर सीता-सहित उनके अनेक भेष नहीं थे॥ २॥

सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भई सभीता॥
हृदय कंप तनु सुधि कछु नाहीँ। नयन मूँदि बैठी मग माहीँ॥३॥

उन्हीं रामचन्द्रजी, उन्हीं लक्ष्मणजी और उन्हीं सीताजी को देखकर सती बहुत डर गईं। उनका हृदय काँपने लगा और तन की सारी सुध-बुध बिसर गई। वे आँखों को बन्द करके मार्ग में बैठ गईं॥ ३॥

बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी॥
पुनि पुनि नाइ राम-पद सीसा। चली तहाँ जहँ रहे गिरीसा॥४॥

फिर आँखें खोल कर देखा तो दक्षकुमारी को वहाँ कुछ भी न देख पड़ा। वे बार-म्बार रामचन्द्रजी के चरणों को सिर नवाकर उस ओर चलीं जहाँ महादेवजी थे॥ ४॥

दो०—गई समीप महेस तब हँसि पूछी कुसलात।
लीन्ह परीछा कवन बिधि कहहु सत्य सब बात॥७८॥

जब पास पहुँचीं तब शिवजी ने उनसे हँस कर क्षेम-कुशल पूछा और कहा कि तुमने किस तरह परीक्षा ली, सत्य सत्य सब बात कहो॥ ७८॥

चौ०—सती समुझि रघुबीर-प्रभाऊ। भयबस सिव सन कीन्ह दुराऊ॥
कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाईं॥१॥

रामचन्द्रजी के प्रभाव को समझकर उस समय डर के मारे सती ने महादेवजी से भी छिपाव किया और कहा कि स्वामिन्, मैंने कुछ परीक्षा नहीं ली। आप ही की तरह उन्हें प्रणाम किया॥ १॥

जो तुम कहा सो मृषा न होई। मोरे मन प्रतीति अस सोई॥
तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सबु जाना॥२॥

जो आपने कहा वह झूठ नहीं हो सकता, मेरे मन में ऐसा विश्वास होता है। तब महादेवजी ने ध्यान करके देखा और सती ने जो चरित किया था सो सब जान लिया॥ २॥

बहुरि राम-मायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा॥
हरि-इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत संभु सुजाना॥३॥

फिर उन्होंने रामचन्द्रजी की माया को प्रणाम किया, जिसकी प्रेरणा ने सती के मुँह से झूठ कहला दिया। सुजान महादेवजी ने अपने जी में विचार किया कि ईश्वर की इच्छा और भावी बड़ी बलवती है अर्थात् भगवान् जो चाहते हैं वही होता है और जो होनहार होता है वह होकर रहता है॥ ३॥

सतीं कीन्ह सीता कर बेषा। सिव-उर भयउ बिषाद बिसेषा॥
जौं अब करउँ सती सन प्रीती। मिटइ भगति-पथु होइ अनीती॥४॥

शिवजी को यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि सती ने सीता का रूप धारण किया था। जो अब मैं सती से प्रीति करूँ तो भक्ति-मार्ग मिट जायगा और बड़ा अनर्थ होगा॥ ४॥

दो०—परम पुनीत न जाइ तजि किये प्रेम बड़ पाप।
प्रगटि न कहत महेसु कछु हृदय अधिक संताप॥७६॥

सती बहुत ही पवित्र हैं, इसलिए इनको छोड़ा नहीं जाता और प्रेम करने में भी बड़ा पाप है। प्रकट रूप से महादेवजी कुछ न कहते थे, पर उनके हृदय में बड़ा दुःख था॥ ७९॥

चौ०—तब संकर प्रभुपद सिर नावा। सुमिरत राम हृदय अस आवा॥
एहि तन सतिहि भेट मोहि नाहीं। सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं॥१॥

तब शिवजी ने रामचन्द्रजी के चरणों में सिर नवाया और उनको स्मरण करते ही जी में यह आया कि "इस शरीर से सती के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं हो सकता"। शिवजी ने अपने मन में यही संकल्प कर लिया॥ १॥

अस बिचारि संकर मति धीरा। चले भवन सुमिरत रघुबीरा॥
चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढाई॥२॥

ऐसा सोचकर बुद्धिमान् शिवजी रामचन्द्रजी को स्मरण करते हुए अपने स्थान को चले। चलते समय सुन्दर आकाशवाणी हुई कि "हे शंकर, आपकी जय हो। आपने भक्ति की मर्यादा खूब दृढ़ की॥ २॥

अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना। रामभगत समरथ भगवाना॥
सुनि नभगिरा सती-उर सोचा। पूछा सिवहिं समेत सकोचा॥३॥

तुम्हारे बिना और कौन ऐसी कठिन प्रतिज्ञा कर सकता है! आप रामचन्द्रजी के भक्त और समर्थ हो।" इस आकाशवाणी को सुनकर सती के जी में बड़ा सोच हुआ और उन्होंने संकोच के साथ शिवजी से पूछा॥ ३॥

कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला। सत्यधाम प्रभु दीनदयाला॥
जदपि सती पूछा बहु भाँती। तदपि न कहेउ त्रिपुर-आराती॥४॥

हे कृपालु, कहिए आपने कौन सी प्रतिज्ञा की है? हे प्रभो, आप सत्य के स्थान और दीनदयालु हैं। यद्यपि सती ने बहुत तरह से पूछा, पर त्रिपुरारि ने कुछ न कहा॥ ४॥

दो०—सती हृदय अनुमान किय सब जानेउ सर्बग्य।
कीन्ह कपटु मैं संभु सन नारि सहज जड अग्य॥८०॥

सती ने अपने जी में अनुमान किया कि सर्वज्ञ शिवजी ने सब जान लिया। मैंने शिवजी से कपट किया। स्त्रियाँ स्वभाव से ही मूर्ख और नासमझ होती हैं॥ ८०॥

सो०—जलु पय-सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि।
बिलग होइ रसु जाइ कपट-खटाई परत पुनि॥८१॥

दूध में मिला हुआ जल भी दूध के भाव में ही बिकता है, यह प्रीति की भली रीति देख लो। परन्तु फिर कपट-रूपी खटाई के पड़ते ही वह फट जाता है और रस जाता रहता है॥ ८१॥

चौ०—हृदय-सोच समुझत निज करनी। चिंता अमित जाइ नहिँ बरनी॥
कृपासिन्धु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥१॥

अपनी करतूत को याद करके सती के जी में इतना सोच हुआ और इतनी अधिक चिन्ता हुई जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वे कहने लगीं कि शिवजी महाराज बड़े ही गम्भीर और कृपा के सागर हैं। उन्होंने मेरे अपराध को प्रकट रूप से नहीं कहा॥ १॥

संकर-रुख अवलोकि भवानी। प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी॥
निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपइ अवाँ इव उर अधिकाई॥२॥

सती ने शंकरजी का रुख फिरा हुआ देखकर जान लिया कि स्वामी ने मुझे छोड़ दिया। इससे वह मन में बहुत व्याकुल हुईं। अपना ही अपराध समझ कर कुछ भी नहीं कहा जाता, किन्तु कुम्हार के आवें के समान उनका हृदय बहुत तपने लगा॥ २॥

सतिहि स-सोच जानि बृषकेतू। कही कथा सुन्दर सुख-हेतू॥
बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा॥ ३॥

सती को सोच में देखकर शिवजी ने सुन्दर सुखदायक कथाएँ कहीं। इस प्रकार मार्ग में बहुत सी ऐतिहासिक कथाएँ कहते कहते शिवजी कैलास पर जा पहुँचे॥ ३॥

तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन । बइठे बट तर करि कमलासन ॥
संकर सहज सरूप सँभारा । लागि समाधि अखंड अपारा ॥४॥

वहाँ फिर अपने प्रण को स्मरण करके शिवजी एक बरगद के पेड़ के नीचे पद्मासन लगाकर बैठ गये। महादेवजी ने अखंड और अपार समाधि लगाकर अपना स्वाभाविक रूप धर लिया ॥ ४ ॥

दो०—सती बसहिँ कैलास तब अधिक सोचु मन माहिँ ।
मरमु न कोऊ जान कछु जुग सम दिवस सिराहिँ ॥८२॥

जब सती कैलास पर रहने लगीं तब उनके मन में बड़ा दुःख रहने लगा। उनके दुःख का मर्म कोई नहीं जानता था। एक एक दिन युग के समान बीतने लगा ॥ ८२ ॥

चौ०—नित नव सोच सती-उर भारा । कब जइहउँ दुख-सागर-पारा ॥
मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना । पुनि पति-बचनु मृषा करि जाना ॥१॥

सती के जी को दिन दिन नये सोच का बोझ दबा रहा था। वे अपने मन में कहने लगीं कि इस दुःखसागर के पार कब जाऊँगी। मैंने एक तो रामचन्द्रजी का अपमान किया और फिर पति के वचन को झूठा माना ॥ १ ॥

सो फल मोहिँ बिधाता दीन्हा । जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा ॥
अब बिधि अस बूझिय नहिँ तोही । संकर-बिमुख जियावसि मोही ॥२॥

सो उसका फल मुझे विधाता ने दिया और जो उचित था वही किया। हे विधाता, अब तुझे यह उचित नहीं है कि शंकर से अलग मुझे जीवित रखता है ॥ २ ॥

कहि न जाइ कछु हृदय-गलानी । मन महँ रामहिँ सुमिर सयानी ॥
जौं प्रभु दीनदयाल कहावा । आरति-हरन बेदु जस गावा ॥३॥

उस समय उनके जी में जितना पछतावा हो रहा था वह कहा नहीं जा सकता। चतुर सती ने मन में रामचन्द्रजी का स्मरण किया और कहा—प्रभु, यदि आप दीनदयालु कहलाते हैं और यदि वेद ने दुःख मेटनेवाला कहकर आपका यश गाया है ॥ ३ ॥

तौ मैं बिनय करउँ कर जोरी । छूटउ बेगि देह यह मोरी ॥
जौं मोरे सिव-चरन सनेहू । मन क्रम बचन सत्य ब्रत एहू ॥४॥

तो मैं हाथ जोड़ कर विनती करती हूँ कि यह मेरा शरीर जल्दी छूट जाय। यदि शिवजी के चरणों में मेरा स्नेह है और मन, वचन, कर्म से मेरा पतिव्रत सच्चा है ॥ ४ ॥

दो०—तौ सबदरसी सुनिय प्रभु करउ सो बेगि उपाइ।
होइ मरन जेहि बिनहिं स्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ ॥ ८३ ॥

तो हे अन्तर्यामी भगवान्, मेरी सुन लीजिए, जल्दी ऐसा उपाय कीजिए जिससे बिना परिश्रम के मेरा मरण हो, मेरी सहज मृत्यु हो (अर्थात् आत्मघात न करना पड़े) और यह असह्य विपत्ति दूर हो ॥ ८३ ॥

चौ०—एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुखु भारी ॥
बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अबिनासी ॥ १ ॥

इस तरह राजा दक्ष की पुत्री सतीजी बहुत ही दुखी थीं। उनको ऐसा दारुण दुःख था, जिसका वर्णन नहीं हो सकता। सत्तासी हज़ार वर्ष बीतने पर अविनाशी महादेवजी ने अपनी समाधि खोली ॥ १ ॥

रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे ॥
जाइ संभुपद-बंदनु कीन्हा। सनमुख संकर आसन दीन्हा ॥ २ ॥

शिवजी राम नाम जपने लगे तब सतीजी ने जाना कि अब जगत् के पति जागे। उन्होंने जाकर शिवजी के चरणों में प्रणाम किया। शिवजी ने उनको बैठने के लिए सामने आसन दिया ॥ २ ॥

लगे कहन हरिकथा रसाला। दच्छ प्रजेस भये तेहि काला ॥
देखा बिधि बिचारि सब लायक। दच्छहिं कीन्ह प्रजापतिनायक ॥ ३ ॥

अब शिवजी महाराज भगवान् की रसीली कथाएँ कहने लगे। उसी समय सतीजी के पिता दक्ष प्रजापति बने। ब्रह्मा ने सब तरह से योग्य समझकर दक्ष को प्रजापतियों का नायक बना दिया ॥ ३ ॥

बड़ अधिकार दच्छ जब पावा। अतिअभिमानु हृदय तब आवा ॥
नहिँ कोउ अस जनमा जग माहीँ। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीँ ॥ ४ ॥

जब दक्ष को इतना बड़ा अधिकार मिल गया तब उसके मन में बहुत ही घमंड हो गया, क्योंकि संसार में ऐसा कोई नहीं जन्मा है जिसे प्रभुता पाकर घमंड न हो ॥ ४ ॥

दो०—दच्छ लिये मुनि बोलि सब करन लगे बड़ जाग।
नेवते सादर सकल सुर जे पावत मख-भाग ॥ ८४ ॥

दक्ष ने मुनियों को बुलाकर बड़ा यज्ञ करना आरम्भ किया और यज्ञ के भाग पाने के अधिकारी जितने देवगण थे उन सबके पास निमन्त्रण भेज दिया ॥ ८४ ॥

चौ०—किन्नर नाग सिद्ध गंधर्बा। बधुन्ह समेत चले सुर सर्बा॥
बिस्नु बिरंचि महेसु बिहाई। चले सकल सुर जान बनाई॥ १॥

निमन्त्रण पाते ही किन्नर, नाग, सिद्ध, गन्धर्व और सब देवता अपनी अपनी स्त्रियों-सहित चले। विष्णु, ब्रह्मा और शिवजी को छोड़कर शेष सब देवगण अपने अपने विमानों को सजा कर चले॥ १॥

सती बिलोके ब्योम बिमाना। जात चले सुन्दर बिधि नाना॥
सुरसुंदरी करहिं कल गाना। सुनत स्रवन छूटहिं मुनि-ध्याना॥ २॥

सती ने उनके विमानों को आकाश में देखा। तरह तरह के विमान बहुत ही सुन्दर रीति से चले जा रहे थे। देवों की स्त्रियाँ विमानों में बैठी हुई मनोहर और मधुर गीत गाती जाती थीं जिनको सुनकर मुनियों का ध्यान भी छूट जाता था॥ २॥

पूछेउ तब सिव कहेउ बखानी। पिता-जग्य सुनि कछु हरखानी॥
जौं महेसु मोहि आयसु देहीं। कछु दिन जाइ रहउँ मिस एहीं॥ ३॥

सती ने जब पूछा तब शिवजी ने उनके जाने का कारण बताया। पिता के यज्ञ की बात सुनकर सती को कुछ हर्ष हुआ। वे मन में कहने लगीं कि यदि शिवजी मुझे आज्ञा दें तो इसी बहाने से मैं कुछ दिन पिता के घर जाकर रहूँ॥ ३॥

पति-परित्याग हृदय दुखु भारी। कहइ न निज अपराध बिचारी॥
बोली सती मनोहर बानी। भय संकोच प्रेम रस सानी॥ ४॥

पति के छोड़ने का उन्हें बड़ा दुःख था पर अपना अपराध समझ कर वे कुछ न कहती थीं। वे भय, संकोच और प्रेम रस से भरी हुई मनोहर वाणी से बोलीं—॥ ४॥

दो०—पिताभवन उत्सव परम जौं प्रभु आयसु होइ।
तौ मैं जाउँ कृपायतन सादर देखन सोइ॥ ८५॥

मेरे पिता के यहाँ बहुत बड़ा उत्सव है। हे प्रभो, हे कृपानिधान! यदि आप आज्ञा दें तो मैं भी आदर-सहित उसे देखने जाऊँ॥ ८५॥

चौ०—कहेहु नीक मोरेहु मन भावा। यह अनुचित नहिं नेवत पठावा॥
दच्छ सकल निज सुता बोलाईं। हमरे बयर तुम्हउ बिसराईं॥ १॥

शिवजी ने कहा—जो तुमने कहा वह ठीक है। वह मेरे मन को भी भाया। पर यह अच्छा नहीं हुआ कि हमारे पास निमन्त्रण नहीं भेजा। दक्ष ने अपनी सब बेटियाँ बुलाई हैं परन्तु हमारे साथ वैर होने से उसने तुमको भी भुला दिया॥ १॥

ब्रह्मसभा हम सन दुखु माना। तेहि ते अजहुँ करहिं अपमाना॥
जौं बिनु बोले जाहु भवानी। रहइ न सीलु सनेहु न कानी॥ २॥

एक बार ब्रह्माजी की सभा में हमसे बुरा[1] माना था। इसी से वे अब तक हमारा अपमान करते हैं। हे सती, जो बिना बुलाये जाओगी तो न शील रहेगा और न स्नेह; मर्यादा भी नहीं रहेगी॥ २॥

जदपि मित्र-प्रभु-पितु-गुरु-गेहा। जाइय बिनु बोलेहु न सँदेहा॥
तदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गये कल्यान न होई॥ ३॥

इसमें सन्देह नहीं कि मित्र, स्वामी, पिता और गुरु के घर बिना बुलाये भी जाना चाहिए। परन्तु जहाँ कोई विरोध मानता हो, उसके घर जाने से भलाई नहीं होती॥ ३॥

भाँति अनेक संभु समुझावा। भावीबस न ग्यानु उर आवा॥
कह प्रभु जाहु जो बिनहिं बोलाये। नहि भलि बात हमारे भाये॥४॥

शिवजी ने बहुत तरह से सती को समझाया, पर होनहार के वश में होकर उनके जी में कुछ भी समझ न आई। फिर शिवजी ने कहा—जो बिना बुलाये जाओगी तो यह बात, हमारी समझ में, अच्छी नहीं होगी॥ ४॥

दो०—करि देखा हर जतन बहु रहइ न दच्छकुमारि॥
दिये मुख्य गन संग तब बिदा कीन्ह त्रिपुरारि॥ ८६॥

जब शिवजी ने बहुत से उपाय करके देखा कि सती नहीं रुकतीं, तब उन्होंने अपने मुख्य सेवकों को साथ करके उनको बिदा किया॥ ८६॥

चौ०—पिताभवन जब गई भवानी। दच्छ-त्रास काहु न सनमानी॥
सादर भलेहि मिली एक माता। भगिनी मिलीं बहुत मुसुकाता॥१॥

जब सती पिता के घर पहुँचीं तब उनके पिता—दक्ष—के डर से किसी ने उनका सम्मान न किया। केवल एक माता ही आदर से मिली और बहनें बहुत मुसकिराती हुई मिलीं॥१॥

दच्छ न कछु पूछी कुसलाता। सतिहि बिलोकि जरे सब गाता॥
सती जाइ देखेउ तब जागा। कतहुँ न दीख संभु कर भागा॥ २॥

दक्ष ने सती की कुछ क्षेम-कुशल तो पूछी नहीं, उलटे उन्हें देखकर उनका सारा शरीर क्रोध से जल गया। तब सती ने यज्ञ को जाकर देखा और वहाँ शिवजी का भाग कहीं भी न देखा॥ २॥

१—एक समय ब्रह्मा की सभा में शिवजी ने दक्ष प्रजापति का उठकर अथवा वाणी से सत्कार नहीं किया। इस पर दोनों में विरोध पड़ गया।

तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ । प्रभु-अपमान समुझि उर दहेऊ ॥
पाछिल दुखु न हृदय अस ब्यापा । जस यह भयउ महा परितापा ॥३॥

तब शिवजी ने जो कहा था वह सती के ध्यान में आया। स्वामी का अपमान देखकर सती के हृदय में संताप हुआ। जैसा भारी दुःख सती को इस समय हुआ वैसा पहला दुःख अर्थात् शिव की बात पर विश्वास न कर कपट-सीतारूप में राम की परीक्षा करने पर भी उनके हृदय में नहीं हुआ था ॥ ३ ॥

जद्यपि जग दारुन दुख नाना । सब तें कठिन जाति-अपमाना ॥
समुझि सो सतिहि भयउ अति क्रोधा। बहु बिधि जननी कीन्ह प्रबोधा ॥४॥

यद्यपि जगत् में अनेक प्रकार के दारुण दुःख हैं, तथापि स्व-जाति का अपमान सबसे बढ़कर कठिन है। यही सोच कर सती को बड़ा क्रोध आया, पर माता ने उन्हें बहुत तरह से समझाया ॥ ४ ॥

दो०—सिव-अपमानु न जाइ सहि हृदय न होइ प्रबोध ।
सकल सभहिँ हठि हटकि तब बोली बचन सक्रोध ॥ ८७ ॥

जब उनसे शिवजी का अपमान न सहा गया और किसी के भी समझाने से उन्हें कुछ सन्तोष न हुआ तब सारी सभा को झिड़क कर वे क्रोध से बोलीं— ॥ ८७ ॥

चौ०—सुनहु सभासद सकल मुनिंदा । कही सुनी जिन्ह संकरनिंदा ॥
सो फलु तुरत लहब सब काहू । भली भाँति पछिताव पिताहू ॥१॥

यज्ञ-सभा में बैठे हुए मुनि लोगो, सुनो। जिन लोगों ने यहाँ शिवजी की निन्दा कही या सुनी है उन सबको उसका फल तुरंत मिलेगा और मेरे पिता दक्ष भी खूब पछतावेंगे ॥ १ ॥

सन्त - संभु - श्रीपति - अपबादा । सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिअ तासु जीभ जो बसाई । स्त्रवन मूँदि न त चलिअ पराई ॥२॥

संत, शिवजी और विष्णु भगवान् की निन्दा जहाँ सुनी जाय वहाँ ऐसी मर्यादा अर्थात् यही उचित है कि यदि हो सके तो उस निन्दक की जीभ काट ले और नहीं तो कान बन्द करके वहाँ से भाग जाय ॥ २ ॥

जगदातमा महेसु पुरारी । जगतजनक सबके हितकारी ॥
पिता मंदमति निंदत तेही । दच्छ-सुक्र-संभव यह देही ॥३॥

त्रिपुर के शत्रु शिवजी महाराज सारे जगत् की आत्मा हैं। वे सबके उत्पन्न करनेवाले और हितकारी हैं। मेरा मूर्ख पिता दक्ष उनकी निन्दा करता है। और यह मेरा शरीर उसी पिता के अंश से उत्पन्न हुआ है ॥ ३ ॥

तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चंद्रमौलि बृषकेतू॥
अस कहि जोग-अगिनि तनु जारा। भयउ सकल मष हाहाकारा॥४॥

इसलिए चन्द्रमा को धारण करनेवाले और वृषकेतु शिवजी का ध्यान करती हुई मैं इस शरीर को अभी छोड़े देती हूँ। इतना कह कर सती ने योग की अग्नि से अपना शरीर भस्म कर डाला। यह देखकर सारे यज्ञ-मण्डप में हाहाकार मच गया॥ ४॥

दो०—सतीमरनु सुनि संभुगन लगे करन मष खीस।
जग्यबिधंस बिलोकि भृगु रच्छा कीन्हि मुनीस॥ ८८॥

सती का मरना सुनकर शिवजी के गण यज्ञ को बिगाड़ने लगे। यज्ञ का विध्वंस देखकर भृगुजी तथा और मुनियों ने उसकी रक्षा की॥ ८८॥

चौ०—समाचार सब संकर पाए। बीरभद्रु करि कोप पठाए॥
जग्यबिधंस जाइ तिन्ह कीन्हा। सकल सुरन्ह बिधिवत फल दीन्हा॥१॥

जब यह समाचार शिवजी को मिला तब उन्होंने कोप करके वीरभद्र को भेजा। उन्होंने वहाँ जाकर यज्ञ का विध्वंस कर डाला और सारे देवताओं को उचित फल दिया॥ १॥

भइ जग-बिदित दच्छ-गति सोई। जसि कछु संभु-बिमुख कै होई॥
यह इतिहास सकल जग जाना। तातें मैं संछेप बखाना॥२॥

दक्ष की वही गति संसार में प्रसिद्ध हुई जो शिवजी के वैरी की होती है। इस कथा को सारा संसार जानता है, इसलिए मैंने यह कथा संक्षेप से कही है॥ २॥

सती मरत हरि सन बरु माँगा। जनम जनम सिव-पद-अनुरागा॥
तेहि कारन हिम-गिरि-गृह जाई। जनमी पारबती तनु पाई॥३॥

मरते समय सती ने विष्णु से यह वर माँगा कि मेरा अनुराग हर एक जन्म में शिवजी के चरणों में ही रहे। इसी कारण हिमवान् के घर जाकर, पार्वती का शरीर धारण करके, उन्होंने जन्म लिया॥ ३॥

जब तें उमा सैलगृह जाई। सकल सिद्धि संपति तहँ छाई॥
जहँ तहँ मुनिन्ह सुआस्रम कीन्हे। उचित बास हिम-भूधर दीन्हे॥४॥

जब से पार्वती ने हिमवान् के घर जन्म लिया तब से वहाँ सारी सिद्धि और सम्पत्ति छा गई। मुनियों ने जहाँ तहाँ अच्छे अच्छे आश्रम बना लिये और हिमवान् ने भी उन्हें उचित स्थान दिये॥ ४॥

दो०—सदा सुमन फल सहित सब द्रुम नव नाना जाति ।
प्रगटीं सुन्दर सैल पर मनिआकर बहु भाँति ॥८९॥

उस सुन्दर पर्वत पर भाँति भाँति के सब वृक्ष सदा फल फूलवाले हुए और अनेक रत्नों की सुन्दर खानें प्रकट हो गईं ॥ ८९ ॥

चौ०—सरिता सब पुनीत जलु बहहीं । खग मृग मधुप सुखी सब रहहीं ॥
सहज बयरु सब जीवन त्यागा । गिरि पर सकल करहिं अनुरागा ॥१॥

वहाँ की सारी नदियाँ पवित्र जल से भरी बहने लगीं और पक्षी, पशु, भौंरे सब सुखी रहने लगे। सब जीवों ने अपना स्वाभाविक वैर छोड़ दिया। सब जीव हिमवान् के ऊपर परस्पर अनुराग करने लगे॥ १ ॥

सोह सैल गिरिजा गृह आयें । जिमि जन रामभगति के पायें ॥
नित नूतन मंगल गृह तासू । ब्रह्मादिक गावहिं जसु जासू ॥२॥

पार्वती के जन्म से उस पर्वत की ऐसी शोभा हुई जैसी राम की भक्ति को पाकर मनुष्य की होती है। उस हिमवान् के घर नित्य नये नये मङ्गल-उत्सव होने लगे, जिसका यश ब्रह्मा आदिक गाते हैं॥ २ ॥

नारद समाचार सब पाये । कौतुकही गिरिगेह सिधाये ॥
सैलराज बड़ आदर कीन्हा । पद पखारि बर आसनु दीन्हा ॥३॥

जब पार्वती के जन्म के सब समाचार नारद मुनि ने सुने तब वे यों ही, मन की मौज में, हिमवान् के घर आये। हिमवान् ने उनका बहुत आदर किया और पाँव धोकर उनको अच्छे आसन पर बैठाया॥ ३ ॥

नारिसहित मुनि-पद सिरु नावा । चरन-सलिल सब भवनु सिंचावा ॥
निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना । सुता बोलि मेली मुनिचरना ॥४॥

हिमवान् ने अपनी स्त्री के सहित मुनि के चरणों में सिर रक्खा और उनके चरणों का जल सारे घर में छिड़काया। हिमवान् ने अपने प्रारब्ध को बहुत सराहा और पुत्री को बुलाकर मुनि के चरणों पर डाला अर्थात् प्रणाम कराया॥ ४ ॥

दो०—त्रिकालग्य सर्वग्य तुम्ह गति सर्वत्र तुम्हारि ।
कहहु सुता के दोष गुन मुनिबर हृदय बिचारि ॥९०॥

हिमवान् ने कहा—हे मुनिवर, आप त्रिकालदर्शी और सर्वज्ञ हैं और आपकी सब जगह गति है। इसलिए आप मन में विचार कर मेरी पुत्री के गुण दोष कहिए॥ ९० ॥

चौ०—कह मुनि बिहँसि गूढ़ मृदु बानी। सुता तुम्हारि सकल-गुन-खानी ॥
सुन्दर सहज सुसील सयानी। नाम उमा अंबिका भवानी ॥१॥

नारद मुनि ने हँसकर गूढ़ और मीठी वाणी से कहा—तुम्हारी पुत्री सब गुणों की खान है। यह स्वभाव से ही सुन्दर, सुशील और चतुर है। इसके नाम 'उमा', 'अम्बिका' और 'भवानी' हैं ॥ १ ॥

सब-लच्छन-संपन्न कुमारी। होइहि संतत पिअहि पियारी ॥
सदा अचल एहि कर अहिवाता। एहि तें जसु पइहहिं पितु माता ॥२॥

लड़की सब लक्षणों से युक्त है और यह अपने पति को सदा प्यारी होगी। इसका सुहाग सदा अचल रहेगा। इससे इसके माता-पिता को बहुत बड़ाई मिलेगी ॥ २ ॥

होइहि पूज्य सकल जग माहीं। एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं ॥
एहि कर नामु सुमिरि संसारा। तिय चढ़िहहिं पतिब्रत-असिधारा ॥३॥

यह सारे जगत् में पूज्य होगी और इसकी सेवा करने से किसी को कुछ दुर्लभ न होगा। संसार में स्त्रियाँ इसका नाम स्मरण करके पतिव्रतधर्मरूपी तलवार की धार पर चढ़ेंगी अर्थात् कठिन पातिव्रत्य के पालन में तत्पर होंगी ॥३॥

सैल सुलच्छनि सुता तुम्हारी। सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी ॥
अगुन अमान मातु-पितु हीना। उदासीन सब संसय-छीना ॥४॥

हे हिमवान्, तुम्हारी पुत्री अच्छे लक्षणोंवाली है। पर उसमें जो दो चार दोष हैं, उन्हें भी सुन लो। गुणहीन, मानरहित, माता-पिता-विहीन, उदासीन, संदेह-रहित ॥ ४ ॥

दो०—जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल-बेख।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख ॥६१॥

योगी, जटाधारी, काम-रहित, नङ्गा और बुरे वेषवाला पति इसको मिलेगा, क्योंकि इसके हाथ में ऐसी ही रेखा पड़ी है ॥ ६१ ॥

चौ०—सुनि मुनि-गिरा सत्य जिय जानी। दुख दंपतिहिं उमा हरषानी ॥
नारदहू यह भेद न जाना। दसा एक समुझब बिलगाना ॥१॥

मुनि की बात सुन और उसको सत्य मानकर पार्वती के माता-पिता दोनों बहुत दुखी हुए, परन्तु पार्वती प्रसन्न हुईं। नारद मुनि ने भी यह भेद न जाना, क्योंकि एक ही दशा (कही हुई बात या रेखा का फल) इस प्रकार भिन्न भिन्न भाव से समझी गई अर्थात् माता-पिता को तो उसी दशा पर दुःख हुआ और कन्या को हर्ष ॥१॥

सकल सखी गिरिजा गिरि मैना। पुलक सरीर भरे जल नैना॥
होइ न मृषा देवरिषि-भाखा। उमा सो बचनु हृदय धरि राखा॥२॥

उमा और उनकी सारी सखियाँ, उनके माता और पिता—वे सब पुलकित हो गये और सबकी आँखों में जल भर आया (और सबको तो दुःख से, पर पार्वती को हर्ष से)। देवर्षि नारद ने जो कहा है वह झूठ न होगा, यह बात उमा ने हृदय में रख ली॥२॥

उपजेउ सिवपदकमल-सनेहू। मिलन कठिन मन भा संदेहू॥
जानि कु-अवसरु प्रीति दुराई। सखी-उछंग बैठि पुनि जाई॥३॥

उन्हें शिवजी के चरणकमलों में स्नेह उत्पन्न हुआ, पर मन में यह सन्देह हुआ कि उनका मिलना कठिन है। अवसर न जानकर उमा ने वह प्रीति छिपा ली और फिर वे सखी की गोद में जा बैठीं॥३॥

झूठि न होइ देवरिषि-बानी। सोचहिं दंपति सखी सयानी॥
उर धरि धीर कहइ गिरिराऊ। कहहु नाथ का करिअ उपाऊ॥४॥

हिमवान् और उसकी स्त्री मैना तथा पार्वती की चतुर सखियाँ सोचने लगीं कि देवर्षि नारद की वाणी झूठी न होगी। हृदय में धीरज धर कर हिमवान् ने कहा—हे नाथ, कहिए क्या उपाय किया जाय?॥४॥

दो०—कह मुनीस हिमवन्त सुनु जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥६२॥

नारद जी ने कहा—हे हिमवान्, सुनो। जो बात ब्रह्माजी ने माथे में लिख दी है उसके मेटने के लिए देव, दानव, मनुष्य, नाग और मुनि—कोई समर्थ नहीं हैं॥६२॥

चौ०—तदपि एक मैं कहउँ उपाई। होइ करइ जौ दैव सहाई॥
जस बर मैं बरनउँ तुम्ह पाहीं। मिलिहि उमहिं तस संसय नाहीं॥१॥

तो भी मैं एक उपाय कहता हूँ। जो प्रारब्ध सहायता करे तो वह हो सकता है। जैसा मैं तुमसे कहता हूँ वैसा ही वर उमा को मिलेगा, इसमें सन्देह नहीं है॥१॥

जे जे बर के दोष बखाने। ते सब सिव पहिं मैं अनुमाने॥
जौं बिबाहु संकर सन होई। दोषउ गुन सम कह सबु कोई॥२॥

मैंने वर के जो जो दोष कहे हैं वे सब, मेरे अनुमान से, शिवजी में हैं। जो शिवजी के साथ विवाह हो जाय तो इन दोषों को भी सब कोई गुण ही कहेंगे॥२॥

जौं अहि-सेज सयन हरि करहीं। बुध कछु तिन्हकर दोष न धरहीं॥
भानु कृसानु सर्ब रस खाहीं। तिन्ह कहँ मंद कहत कोउ नाहीं॥३॥

जैसे विष्णु भगवान् शेषनाग की शय्या पर सोते हैं तो भी पण्डित लोग उनमें कुछ दोष नहीं लगाते। सूर्य और अग्नि अच्छे बुरे सभी रसों को खाते हैं, पर कोई उन्हें बुरा नहीं कहता॥ ३॥

सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई। सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई॥
समरथ कहँ नहि दोष गोसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं॥४॥

पवित्र और अपवित्र सभी चीजें गंगाजी के जल में बहती हैं पर कोई उसे अपवित्र नहीं कहता। हे हिमवान्! सूर्य, अग्नि और गङ्गाजी की तरह समर्थ को कुछ दोष नहीं लगता॥ ४॥

दो०—जौं अस हिसिषा करहिं नर जड़ बिबेक अभिमान।
परहिं कलप भरि नरक महुँ जीव कि ईस समान॥६३॥

जो मूर्ख मनुष्य अभिमान से ऐसी बराबरी अर्थात् सूर्य, अग्नि और गंगा की समता करते हैं वे कल्प भर नरक में रहते हैं। भला, कहीं जीव ईश के समान हो सकता है?॥९३॥

चौ०—सुरसरि-जल-कृत बारुनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना॥
सुरसरि मिले सो पावन जैसें। ईस अनीसहि अंतरु तैसें॥ १॥

सन्त लोग गंगाजल से बनाई हुई भी जानकर मदिरा को कभी नहीं पीते। पर वही मदिरा गंगाजी में मिल जाने से जैसे पवित्र हो जाती है उसी प्रकार जीव और ईश्वर में भेद है॥ १॥

संभु सहज समरथ भगवाना। एहि बिबाह सब बिधि कल्याना॥
दुराराध्य पै अहहिं महेसू। आसुतोष पुनि किये कलेसू॥२॥

भगवान् महादेवजी स्वभाव से ही समर्थ हैं। इसलिए यह विवाह सब तरह से सुख देनेवाला है। महादेवजी की आराधना बड़ी कठिन है, पर क्लेश करने से—तप से—वे बहुत जल्दी प्रसन्न हो जाते हैं॥ २॥

जौं तपु करइ कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥
जद्यपि बर अनेक जग माहीं। एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं॥३॥

जो तुम्हारी पुत्री उनकी प्राप्ति के लिए तप करे तो शिवजी होनहार को भी मिटा सकते हैं। यद्यपि संसार में वर अनेक हैं, पर इसके लिए शिव को छोड़ कर दूसरा वर नहीं है॥३॥

बरदायक प्रनतारति-भंजन। कृपासिंधु सेवक-मन-रंजन ॥
इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधें॥४॥

शिवजी वर देनेवाले, भक्तों के दुःखनाशक, दया-सागर और सेवकों के मन को आनन्द देनेवाले हैं। महादेवजी की आराधना किये बिना करोड़ों योग और जप करने पर भी मनोकामना पूरी नहीं होती॥ ४॥

दो०—अस कहि नारद सुमिरि हरि गिरिजहि दीन्हि असीस ॥
होइहि यह कल्यान अब संसय तजहु गिरीस॥९४॥

इस तरह कह और भगवान् का स्मरण करके नारदजी ने पार्वती को आशीर्वाद दिया कि अब इसका कल्याण होगा। हे हिमवान्, तुम सन्देह दूर करो॥ ९४॥

चौ०—कहि अस ब्रह्मभवन मुनि गयऊ। आगिल चरित सुनहु जस भयऊ ॥
पतिहि एकंत पाइ कह मैना। नाथ न मैं समुझे मुनिबैना ॥१॥

यों कह कर मुनि ब्रह्मलोक को चले गये। अब जो कुछ आगे हुआ उसे सुनो। पति को एकान्त में पाकर पार्वती की माता मैना ने कहा—नाथ, मैंने मुनि की बातें नहीं समझीं॥१॥

जौं घरु बरु कुलु होइ अनूपा। करिअ बिबाहु सुता-अनुरूपा ॥
न त कन्या बरु रहउ कुआँरी। कंत उमा मम प्रानपियारी॥२॥

जो घर, वर और कुल सब पुत्री के अनुकूल सुन्दर हो तो विवाह कर दीजिए। और जो ऐसा नहीं है तो यह कन्या कुमारी ही रहे। हे स्वामिन्, पार्वती मुझको प्राण के समान प्यारी है॥ २॥

जौं न मिलिहि बरु गिरिजहि जोगू। गिरि जड़ सहज कहिहि सब लोगू ॥
सोइ बिचारि पति करहु बिबाहू। जेहि न बहोरि होइ उर दाहू॥३॥

जो पार्वती के योग्य वर न मिलेगा तो सब लोग कहेंगे कि गिरि स्वभाव ही से मूर्ख है। हे नाथ, यह सब बात विचार कर विवाह करना, जिसमें फिर पीछे हृदय में संताप न हो॥ ३॥

अस कहि परी चरन धरि सीसा। बोले सहित सनेह गिरीसा ॥
बरु पावक प्रगटइ ससि माहीं। नारदबचनु अन्यथा नाहीं ॥ ४ ॥

यों कहकर पार्वती की माता ने अपने पति के चरणों में सिर रख दिया। तब हिमवान् ने स्नेह से कहा—चाहे चन्द्रमा में से अग्नि निकलने लगे, पर नारदजी के वचन नहीं टल सकते॥ ४॥

दो०—प्रिया सोचु परिहरहु सब सुमिरहु श्रीभगवान।
पारबतिहि निरमयउ जेहि सोइ करिअहि कल्यान ॥९५॥

प्यारी, तुम सब सोच दूर करो और श्रीभगवान् का स्मरण करो। जिसने पार्वती को रचा है वही इसका कल्याण करेगा ॥ ९५ ॥

चौ०—अब जौ तुमहि सुता पर नेहू। तौ अस जाइ सिखावनु देहू ॥
करइ सो तपु जेहि मिलहिँ महेसू। आन उपाय न मिटिहि कलेसू ॥१॥

अब जो तुम्हें अपनी पुत्री पर स्नेह है तो उसको जाकर ऐसा उपदेश दो कि वह ऐसा तप करे कि जिससे शिवजी मिलें। दूसरे किसी उपाय से दुःख दूर नहीं होगा ॥ १ ॥

नारदबचन स-गर्भ स-हेतू। सुंदर सब-गुन-निधि बृषकेतू ॥
अस बिचारि तुम्ह तजहु असंका। सबहि भाँति संकरु अकलंका ॥२॥

नारदजी के वचन सारयुक्त और कारण-सहित हैं। शिवजी सुन्दर और सारे गुणों की खान हैं। यही विचार कर तुम अपने डर को दूर करो। शिवजी सब तरह से निष्कलंक हैं ॥ २ ॥

सुनि पति-बचन हरषि मन माहीँ। गई तुरत उठि गिरिजा पाहीँ ॥
उमहि बिलोकि नयन भरि बारी। सहित सनेह गोद बैठारी ॥ ३ ॥

पति के वचन सुनकर और मन में प्रसन्न होकर मैना उठकर तुरत पार्वती के पास गई। पार्वती को देखकर और आँखों में आँसू भर कर वह प्यार के साथ उसको गोद में बिठा कर ॥ ३ ॥

बारहिं बार लेति उर लाई। गदगद कंठ न कछु कहि जाई ॥
जगतमातु सर्बग्य भवानी। मातु-सुखद बोली मृदु बानी ॥४॥

बार बार उसे गले से लगाती है। मारे प्रेम के कंठ भर आने से उसके मुँह से कुछ बात नहीं निकलती। सब कुछ जाननेवाली जगत् की माता भवानी, माता को सुख देने के लिए, कोमल वाणी से बोलीं ॥ ४ ॥

दो०—सुनहि मातु मैँ दीख अस सपन सुनावउँ तोहिँ।
सुंदर गौर सु बिप्रबर अस उपदेसेउ मोहिँ ॥९६॥

माताजी, मैं तुमसे कहती हूँ, सुनो। मैंने ऐसा स्वप्न देखा है कि मुझे एक सुन्दर गौर-वर्ण ब्राह्मण ने इस तरह उपदेश दिया कि ॥ ९६ ॥

चौ०—करहि जाइ तपु सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी॥
मातु पितहि पुनि यह मत भावा। तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा॥१॥

नारदजी ने जो कहा है उसे सत्य मान कर हे पार्वती, तुम जाकर तप करो। फिर वह बात तेरे माता-पिता को भी अच्छी लगी है। तप दुःख और दोष को मिटानेवाला और सुख देनेवाला है॥१॥

तपबल रचइ प्रपंचु बिधाता। तपबल बिस्नु सकल-जग-त्राता॥
तपबल संभु करहि संहारा। तपबल सेष धरइ महिभारा॥२॥

तप के ही बल से ब्रह्मा संसार को रचते हैं और तप के ही बल से विष्णु सारे जगत् की रक्षा करते हैं। तप के ही बल से महादेवजी जगत् का संहार करते हैं और तप के ही बल से शेषजी पृथ्वी का भार धारण करते हैं॥२॥

तप-अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जिय जानी॥
सुनत बचन बिसमित महतारी। सपन सुनायउ गिरिहि हँकारी॥३॥

हे भवानी, तप के ही सहारे सारी सृष्टि है। इसलिए ऐसा जी में जानकर तप करो। यह बात सुन कर पार्वती की माता को बड़ा अचरज हुआ। उसने हिमवान् को बुलाकर वह स्वप्न सुनाया॥३॥

मातु-पितहि बहु बिधि समझाई। चली उमा तप-हित हरषाई॥
प्रिय परिवार पिता अरु माता। भये बिकल मुख आव न बाता॥४॥

माता पिता को बहुत तरह से समझा कर पार्वती तप करने के लिए सानन्द चलीं। उनके चले जाने पर उनका सारा कुटुम्ब, माता और पिता सब बहुत विकल हुए। किसी के मुँह से बात तक न निकली॥४॥

दो०—बेदसिरा मुनि आइ तब सबहिं कहा समुझाइ।
पारबती महिमा सुनत रहे प्रबोधहि पाइ॥९७॥

तब वेदशिरा मुनि ने आकर सबको समझाया। पार्वती की महिमा सुनने से सबको धीरज हुआ॥९७॥

चौ०—उर धरि उमा प्रान-पति-चरना। जाइ बिपिन लागी तपु करना॥
अति सुकुमार न तनु तप जोगू। पति-पद सुमिरि तजेउ सब भोगू॥१॥

प्राणपति शिवजी के चरणों को हृदय में धारण करके उमा वन में जाकर तप करने लगीं। अति सुकुमारी उमा का शरीर तप के योग्य नहीं था, पर तो भी पति के चरणों का स्मरण करके उन्होंने सब भोग त्याग दिये॥१॥

नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहि मन लागा॥
संवत सहस मूल फल खाये। सागु खाइ सत बरष गवाँये॥ २॥

उनके हृदय में पति के चरणों के प्रति नित्य नई प्रीति होने लगी और तप में ऐसा मन लगा कि देह की सारी सुध बिसर गई। एक हज़ार बरस तक उन्होंने फल-मूल खाये और फिर सौ बरस साग-पात खाकर बिताये॥ २॥

कछु दिन भोजनु बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपबासा॥
बेल-पाति महि परइ सुखाई। तीन सहस संबत सोइ खाई॥ ३॥

कुछ दिन उमा का भोजन जल और वायु ही रहा, और फिर कुछ दिन उन्होंने कठिन उपवास किया। तीन हज़ार बरस तक उन्होंने धरती में पड़े हुए सूखे बेल-पत्र ही खाये॥ ३॥

पुनि परिहरे सुखानेउ परना। उमहि नाम तब भयउ अपरना॥
देखि उमहिँ तप-खीन-सरीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा॥ ४॥

फिर सूखे पत्ते (पर्ण) भी छोड़ दिये, इससे उमा का नाम अपर्णा हुआ। तप से उमा का शरीर क्षीण देखकर आकाश में यह गम्भीर ब्रह्मवाणी हुई—॥ ४॥

दो०—भयउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराजकुमारि।
परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहिं त्रिपुरारि॥ ६८॥

हे हिमवान् की पुत्री, सुन। तेरा मनोरथ सफल हुआ। तू अब सब असह्य क्लेशों को छोड़ दे। अब तुझको शिवजी मिल जायँगे॥ ६८॥

चौ०—अस तपु काहु न कीन्ह भवानी। भये अनेक धीर मुनि ग्यानी॥
अब उर धरहु ब्रह्म बर बानी। सत्य सदा संतत सुचि जानी॥ १॥

हे भवानी, अनेक धीर मुनि और ज्ञानी हो चुके हैं पर ऐसा तप आज तक किसी ने नहीं किया। अब तू सुन्दर ब्रह्मवाणी को सदा सत्य और निरन्तर पवित्र समझकर अपने हृदय में रख॥ १॥

आवहिं पिता बुलावन जबहीं। हठ परिहरि घर जायहु तबहीं॥
मिलहिँ तुम्हहिँ जब सप्तरिषीसा। जानेहु तब प्रमान बागीसा॥ २॥

जब तुम्हारा पिता तुमको बुलाने आवे तब तुम हठ छोड़कर घर चली जाना। और जब तुमको सप्तऋषि मिलें तब तुम इस वाणी का प्रमाण जान लेना॥ २॥

सुनत गिरा बिधि गगन बखानी। पुलकगात गिरिजा हरषानी॥
उमाचरित सुंदर मैं गावा। सुनहु संभु कर चरित सुहावा॥ ३॥

ब्रह्मा की आकाशवाणी को सुनते ही उमा के रोम खड़े हो आये और वह बहुत प्रसन्न हुईं। याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजी से कहने लगे कि मैंने पार्वती का सुन्दर चरित सुना दिया, अब शिवजी का सुहावना चरित सुनो॥ ३॥

जब तें सती जाइ तनु त्यागा। तब तें सिव मन भयउ बिरागा॥
जपहिं सदा रघुनायक-नामा। जहँ तहँ सुनहिं राम-गुन-ग्रामा॥४॥

जब से सती ने अपना शरीर छोड़ा तब से शिवजी के मन में वैराग्य हो गया। वे सदा रामनाम जपने लगे और जहाँ तहाँ रामचन्द्रजी के गुणों का वर्णन सुनने लगे॥ ४॥

दो०—चिदानन्द सुखधाम सिव बिगत-मोह-मद-काम।
बिचरहिं महि धरि हृदय हरि सकल लोक-अभिराम॥ ९९॥

चिदानन्द सुख के धाम, मोह, मद और काम से रहित, सारे लोक के आनन्द देने-वाले शिवजी महाराज, विष्णु को हृदय में स्थापित कर, पृथ्वी पर विचरने लगे॥ ९९॥

चौ०—कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ग्याना। कतहुँ रामगुन करहिं बखाना॥
जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत-बिरह-दुख-दुखित सुजाना॥१॥

वे कहीं मुनियों को ज्ञान का उपदेश देते और कहीं रामचन्द्रजी के गुणों का वर्णन करते थे। यद्यपि सुजान शिवजी कामनारहित हैं पर तो भी भक्त पार्वती के विरह के दुःख से उनको दुःख हुआ॥ १॥

एहि बिधि गयउ काल बहु बीती। नित नव होइ रामपद-प्रीती॥
नेमु प्रेमु संकर कर देखा। अबिचल हृदय भगति कै रेखा॥ २॥

इसी प्रकार बहुत समय बीत गया। उनके जी में रामचन्द्रजी के चरणों की प्रीति नित्य नई होने लगी। जब रामचन्द्रजी ने शिवजी का नेम और प्रेम देखा और अपनी भक्ति की लकीर उनके हृदय में अविचल देखी॥ २॥

प्रगटे रामु कृतग्य कृपाला। रूप-सील-निधि तेज बिसाला॥
बहु प्रकार संकरहिं सराहा। तुम्ह बिनु अस ब्रतु को निरबाहा॥३॥

तब वे प्रकट हुए, क्योंकि वे कृपालु और किये हुए को माननेवाले, रूप और शील के घर तथा महा तेजस्वी हैं। उन्होंने बहुत तरह से शिवजी की बड़ाई की और कहा कि तुम्हारे बिना कौन ऐसे व्रत को निबाह सकता है?॥ ३॥

बहु बिधि राम सिवहिं समुझावा। पारबती कर जनम सुनावा॥
अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥४॥

रामचन्द्रजी ने शिवजी को बहुत तरह से समझाया और पार्वती का जन्म सुनाया। कृपानिधि रामचन्द्रजी ने पार्वती की अति पवित्र करनी विस्तार-पूर्वक कही॥ ४॥

दो०—अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मो पर निजु नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहिँ यह मोहि माँगे देहु॥ १००॥

उन्होंने कहा कि हे शिव, यदि मुझ पर तुम्हारा स्नेह है तो तुम अब मेरी विनती सुनो। तुम मुझे यही माँगे दो कि जाकर पार्वती के साथ ब्याह कर लो॥ १००॥

चौ०—कह सिव जदपि उचित अस नाहीँ। नाथबचन पुनि मेटि न जाहीँ॥
सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥ १॥

शिवजी ने कहा—यद्यपि ऐसा उचित नहीं है तो भी प्रभु की बात टाली नहीं जा सकती। हे नाथ, आपकी आज्ञा को सिर पर रख कर मानना ही हमारा परम धर्म है॥ १॥

मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहिँ बिचार करिअ सुभ जानी॥
तुम्ह सब भाँति परम-हित-कारी। अग्या सिर पर नाथ तुम्हारी॥ २॥

माता, पिता, गुरु और स्वामी की आज्ञा को शुभ जानकर बिना विचारे ही करना चाहिए। आप तो सब तरह से मेरे परम हितकारी हैं। हे नाथ, आपकी आज्ञा मेरे सिर पर है॥ २॥

प्रभु तोषेउ सुनि संकर बचना। भगति बिबेक धरमजुत रचना॥
कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ। अब उर राखेउ जो हम कहेऊ॥ ३॥

शिवजी के वचन सुनकर रामचन्द्रजी बहुत सन्तुष्ट हुए; क्योंकि उनकी बात भक्ति, ज्ञान और धर्म से भरी हुई थी। रामचन्द्रजी ने कहा—हे हर, तुम्हारा प्रण पूरा हो गया। अब जो कुछ हमने कहा है उसे हृदय में रखना॥ ३॥

अंतरधान भये अस भाखी। संकर सोइ मूरति उर राखी॥
तबहिँ सप्तरिषि सिव पहिँ आये। बोले प्रभु अति बचन सुहाये॥ ४॥

यों कह कर वे अन्तर्धान हो गये। शिवजी ने उनकी वही मूर्ति अपने हृदय में रख ली। उसी समय सप्तऋषि शिवजी के पास आये और शिवजी ने उनसे सुन्दर वचन कहे॥ ४॥

दो०—पारबती पहिँ जाइ तुम प्रेमपरीछा लेहु।
गिरिहि प्रेरि पठयहु भवन दूरि करेहु संदेहु॥ १०१॥

तुम पार्वती के पास जाकर उनके प्रेम की परीक्षा लो और हिमाचल को भेज कर पार्वती को घर भिजवाना और सन्देह को दूर करना॥ १०१॥

चौ०—तब रिषि तुरत गौरि पहँ गयऊ। देखि दसा मुनि बिस्मय भयऊ ॥
रिषिन गौरि देखी तहँ कैसी । मूरतिवंति तपस्या जैसी ॥ १ ॥

तब सातों ऋषि तुरन्त पार्वती के पास गये। उनकी दशा देखकर उनको बहुत अचरज हुआ। ऋषियों ने उमा को ऐसी देखा जैसी साक्षात् मूर्ति धारण किये तपस्या ही हो ॥ १ ॥

बोले मुनि सुनु सैलकुमारी । करहु कवन कारन तपु भारी ॥
केहि अवराधहु का तुम चहहू । हम सन सत्य मरमु किन कहहू ॥ २ ॥

मुनि बोले—हे पार्वती, सुनो। तुम किस कारण ऐसा भारी तप कर रही हो ? तुम किसकी आराधना कर रही हो और क्या चाहती हो ? तुम हमसे अपना मर्म सत्य सत्य क्यों नहीं कहती हो ? ॥ २ ॥

कहत बचन मनु अति सकुचाई । हँसिहहु सुनि हमारि जड़ताई ॥
मनु हठ परा न सुनइ सिखावा । चहत बारि पर भीति उठावा ॥ ३ ॥

वचन कहते हुए मन में बड़ा संकोच होता है। हमारी मूर्खता को सुन कर आप लोग हँसेंगे। मन को हठ हो गया है, वह दूसरे की सीख नहीं सुनता। वह जल पर भीति (दीवार) उठाना चाहता है ॥ ३ ॥

नारद कहा सत्य सोइ जाना । बिनु पंखन हम चहहिं उड़ाना ॥
देखहु मुनि अबिबेक हमारा । चाहिय सदा सिवहि भरतारा ॥ ४ ॥

नारदजी ने जो कहा है उसी को हमने सत्य माना है। हम बिना पंखों के उड़ना चाहती हैं। हे मुनियो, हमारी मूर्खता को देखो कि हम शिवजी को ही पति बनाया चाहती हैं ॥ ४ ॥

दो०—सुनत बचन बिहँसे रिषय गिरिसंभव तव देह ।
नारद कर उपदेस सुनि कहहु बसेउ को गेह ॥ १०२ ॥

पार्वती की बात सुनकर ऋषि लोग हँसे और बोले कि पर्वत से उत्पन्न तुम्हारा शरीर है (अतः ऐसी जड़ता होनी ही चाहिए)। भला कहो तो, नारद का उपदेश सुनकर किसका घर बसा है ? ॥ १०२ ॥

चौ०—दच्छसुतन्ह उपदेसिन्हि जाई । तिन फिर भवन न देखा आई ॥
चित्रकेतु कर घर उन घाला । कनककसिपु कर पुनि अस हाला ॥ १ ॥

नारदजी ने दक्ष[1] के पुत्रों को उपदेश दिया था सो उन्होंने फिर आकर घर नहीं

१—दक्ष प्रजापति ने अपने एक हज़ार पुत्रों को आदेश दिया कि तुम लोग जाकर सृष्टि रचो। वे पिता की आज्ञा मान कर पश्चिम दिशा को गये और वहाँ तपस्या करने लगे। इस अवसर पर नारदजी

केहि अबराधहु तुम चहहू।
हम सन सत्य मरमु किन कहहू॥ पृ० ८९
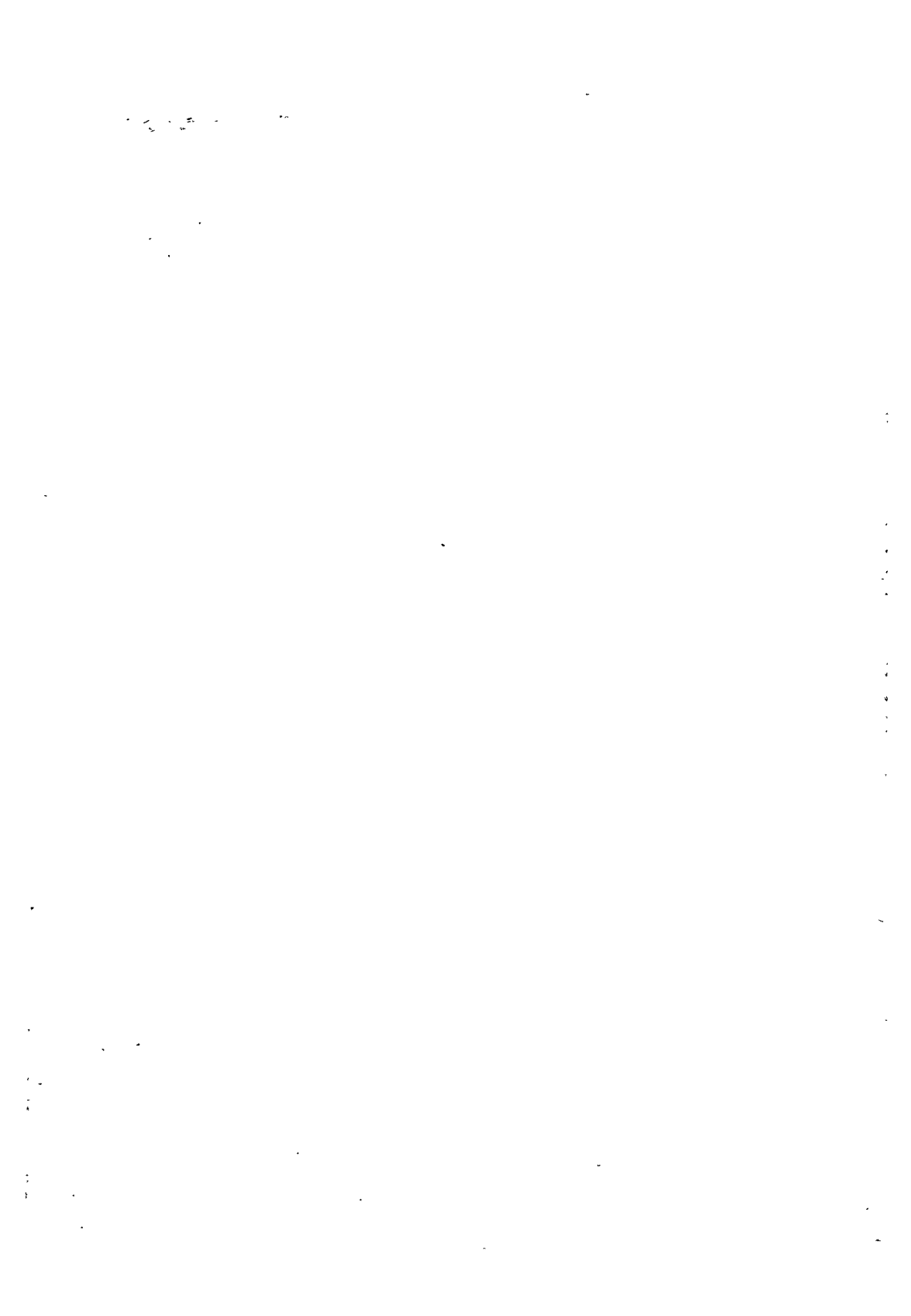
देखा। चित्रकेतु[१] का भी घर उन्हीं ने बिगाड़ा और हिरण्यकशिपु[२] का भी यही हाल किया॥ १॥

नारदसिख जे सुनहिँ नर नारी। अवसि होहिँ तजि भवनु भिखारी॥
मन कपटी तन सज्जन चीन्हा। आपु सरिस सबही चह कीन्हा॥२॥

जो स्त्री पुरुष नारद की सीख सुनते हैं वे अवश्य घर-बार छोड़कर भिखारी हो जाते हैं। उनका मन कपटी है और शरीर सज्जनों का-सा देख पड़ता है। वे अपने-सा सबको बनाना चाहते हैं॥ २॥

तेहि के बचन मानि बिस्वासा। तुम चाहहु पति सहज उदासा॥
निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबरु ब्याली॥३॥

उन्हीं के वचन पर विश्वास करके तुम ऐसे पति को चाहती हो जो स्वभाव से ही उदासी, गुणहीन, निर्लज्ज, बुरे भेषवाला, हाथ में कपाल (खोपड़ी) लिये रहनेवाला, कुलहीन, घर-द्वार-हीन, नंगा और साँपों को धारण करनेवाला है॥ ३॥

कहहु कवन सुखु अस बर पायें। भल भूलिहु ठग के बौरायें॥
पंच कहे सिव सती बिबाही। पुनि अवडेरि मरायेन्हि ताही॥४॥

कहो तो, ऐसे वर के मिलने से तुमको क्या सुख होगा? तुम ठग के बहकाने में खूब भूल रही हो। पंचों के कहने से शिव ने सती के साथ ब्याह किया और फिर धोखा देकर उन्हें मरवा डाला॥ ४॥

उनसे मिले। उन्होंने उन्हें उपदेश दिया जिससे वे फिर घर को न लौटे। यह समाचार पाकर दक्ष प्रजापति को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने पुनः हज़ार पुत्र उत्पन्न करके उन्हें भी सृष्टि रचने के लिए भेजा। उन्हें भी नारदजी ने उपदेश देकर अपने भाइयों का अनुगामी बनाया।

१—राजा चित्रकेतु की एक करोड़ स्त्रियाँ थीं पर पुत्र एक भी न था। अंगिरा ऋषि के आशीर्वाद से उसे एक पुत्र हुआ। जब वह एक वर्ष का हुआ तो उसकी विमाताओं ने डाह से उसे विष दे डाला। इस पर राजा को बड़ा शोक हुआ। तब नारदजी ने उस बालक की जीवात्मा को बुलवा दिया। उसने शरीर में प्रवेश करके कहा कि पूर्वजन्म में मैं भी राजा था। विरक्त होकर मैं जंगल को चला गया था। वहाँ एक दिन एक स्त्री ने मुझे एक फल दिया। उसे मैंने खाने के लिए भूना। उसमें लाखों चींटियाँ थीं। वे सब जल मरीं। वे ही चींटियाँ राजा की स्त्रियाँ हैं जिन्होंने मुझे विष देकर पुराना बदला लिया है। जिसने मुझे फल दिया था वही मेरी माता हुई है। कोई किसी का कुछ नहीं है। सब माया का प्रपंच है। इस पर राजा को ज्ञान हुआ और वे घरबार छोड़ वन में तपस्या करने चले गये।

२—जब हिरण्यकशिपु की स्त्री गर्भवती थी तो नारद जी ने आकर उसे ज्ञान का उपदेश दिया। उस पर तो इसका कुछ प्रभाव न पड़ा पर गर्भ-स्थित बालक को ज्ञान हो गया। यही बालक प्रह्लाद हुआ, जिसने पिता के लाख विरोध करने पर भी भगवद्‌भजन नहीं छोड़ा। अन्त में भगवान् ने नृसिंह-अवतार लेकर हिरण्यकशिपु का नाश और प्रह्लाद का उद्धार किया।

दो०—अब सुख सोवत सोचु नहिँ भीख माँगि भव खाहिँ।
सहज एकाकिन्ह के भवन कबहुँ कि नारि खटाहिँ ॥१०३॥

अब शिव सुख से सोते हैं, उनको कुछ सोच नहीं; भीख माँग कर खाते हैं। भला ऐसे स्वभाव से ही एकांतप्रिय के घर कभी स्त्रियाँ ठहर सकती हैं? ॥ १०३ ॥

चौ०—अजहूँ मानहु कहा हमारा। हम तुम्ह कहँ बरु नीक बिचारा ॥
अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला। गावहिँ बेद जासु जसु लीला ॥१॥

अब भी हमारा कहा मान जाओ। हमने तुम्हारे लिए अच्छा वर विचारा है। वह बहुत ही सुन्दर, सुखदायी और सुशील है। उसके यश की लीला वेद भी गाते हैं॥ १ ॥

दूषनरहित सकल-गुन-रासी। श्रीपति पुर बैकुंठ निवासी ॥
अस बरु तुम्हहिँ मिलाउब आनी। सुनत बिहँसि कह बचन भवानी ॥२॥

वह दूषणरहित और सारे गुणों की खान है। वह लक्ष्मी का पति है और वैकुण्ठपुरी में रहता है। ऐसे वर को हम तुमसे मिलावेंगे। यह सुन कर भवानी हँसकर बोलीं—॥ २ ॥

सत्य कहेहु गिरिभव तनु एहा। हठ न छूट छूटइ बरु देहा ॥
कनकउ पुनि पषान तेँ होई। जारेहु सहजु न परिहर सोई ॥३॥

आपने सच कहा है कि मेरा यह शरीर पर्वत से उत्पन्न हुआ है। इसलिए हठ नहीं छूटेगा, शरीर भले ही छूट जाय। पत्थर से सोना भी तो उत्पन्न होता है पर वह तपाने पर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता॥ ३ ॥

नारदबचन न मैँ परिहरऊँ। बसउ भवन उजरउ नहिँ डरऊँ ॥
गुरु के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही ॥४॥

मैं नारद मुनि के वचन को नहीं टालूँगी, चाहे घर बसे, या उजड़े, इससे मैं नहीं डरती। जिसको गुरु के वचनों पर विश्वास नहीं है, उसको स्वप्न में भी सुख की सिद्धि सुगम नहीं होती॥ ४ ॥

दो०—महादेव अवगुन-भवन बिस्नु सकल-गुन-धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम ॥१०४॥

यह माना कि महादेवजी अवगुणों के घर हैं और विष्णु भगवान् सारे गुणों की खान हैं; पर जिसका मन जिसमें रमता है उसको उसी से काम है॥ १०४ ॥

चौ०—जौ तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा। सुनतिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा ॥
अब मैँ जनम संभु हित हारा। को गुन दूषन करइ बिचारा ॥१॥

हे मुनीश्वरो, जो तुम पहले मिलते तो मैं तुम्हारा उपदेश सिर चढ़ा कर सुनती। अब तो मैंने अपना जन्म शिवजी के लिए हार दिया है। अतएव गुण-दोषों का विचार कौन करे ?॥१॥

जौ तुम्हरे हठ हृदय बिसेषी। रहि न जाइ बिनु किए बरेषी॥
तौ कौतुकिअन्ह आलसु नाहीं। बर कन्या अनेक जग माहीं॥२॥

जो तुम्हारे मन में बहुत हठ है और ब्याह की बातचीत किये बिना तुमसे रहा नहीं जाता तो (तुम्हारे जैसे) तमाशा देखनेवालों को आलस्य नहीं (अर्थात् बहुत काम मिल जायगा क्योंकि), संसार में कन्या और वर बहुत हैं॥ २॥

जनम कोटि लगि रगरि हमारी। बरउँ संभु न तु रहउँ कुआँरी॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥३॥

करोड़ों जन्मों तक हमारा यही हठ है कि "या तो शम्भु को वरूँगी, नहीं तो कुमारी रहूँगी।" जो स्वयं शिवजी भी सौ बार कहें तो भी नारदजी के उपदेश को न छोड़ूँगी॥ ३॥

मैं पा परउँ कहइ जगदम्बा। तुम्ह गृह गवनहु भयउ बिलम्बा॥
देखि प्रेमु बोले मुनि ग्यानी। जय जय जगदंबिके भवानी॥४॥

जगन्माता (पार्वती) ने कहा मैं आपके चरणों में पड़ती हूँ। आप अपने घर जाइए, बहुत देर हो गई। (भवानी का शिवजी में ऐसा) प्रेम देख कर ज्ञानी मुनि बोले कि हे भवानी, हे जगदम्बिका, तुम्हारी जय हो ! जय हो !॥ ४॥

दो०—तुम्ह माया भगवान सिव सकल जगत-पितु-मातु।
नाइ चरन सिर मुनि चले पुनि पुनि हरषत गातु॥१०५॥

माया-रूप तुम और ईश-रूप शिवजी समस्त जगत् के माता और पिता हो। (इतना कह) बारंबार पार्वती के चरणों में सिर नवा कर मुनिवर बार बार मगन होते हुए चले॥१०५॥

चौ०—जाइ मुनिन्ह हिमवंतु पठाये। करि बिनती गिरिजहि गृह ल्याये॥
बहुरि सप्तरिषि सिव पहिं जाई। कथा उमा कै सकल सुनाई॥१॥

मुनियों ने जाकर हिमवान् को भेजा और वह विनती करके पार्वती को घर ले आये। फिर उन सातों ऋषियों ने शिवजी के पास जाकर पार्वती की सारी कथा कह सुनाई॥ १॥

भये मगन सिव सुनत सनेहा। हरषि सप्तरिषि गवने गेहा॥
मनु थिरु करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना॥२॥

(पार्वती के ऐसे) स्नेह की (कथा) सुनकर शिवजी बहुत प्रसन्न हुए और सातों मुनि हर्षित होकर अपने घर चले गये। तब सुजान शिवजी मन को स्थिर कर रघुनाथजी का ध्यान करने लगे॥ २॥

तारकु असुर भयउ तेहि काला। भुजप्रताप बल तेज बिसाला॥
तेइ सब लोक लोकपति जीते। भये देव सुख संपति रीते॥३॥

उन्हीं दिनों तारक नाम का एक असुर पैदा हुआ जो बड़ा ही भुजों का प्रतापी, बलवान् और तेजस्वी था। उसने सब लोकों और लोकपालों को जीत लिया और सारे देवता सुख-सम्पत्ति से हीन हो गये॥ ३॥

अजर अमर सो जीति न जाई। हारे सुर करि बिबिध लराई॥
तब बिरंचि सन जाइ पुकारे। देखे बिधि सब देव दुखारे॥४॥

देवता उसके साथ बहुत सी लड़ाइयाँ लड़कर हार गये, क्योंकि वह अजर अमर था। वह किसी से नहीं जीता जाता था। तब सारे देवता ब्रह्माजी के पास जाकर पुकार मचाने लगे। ब्रह्माजी ने देखा कि सब देवता बहुत ही दुखी हैं॥४॥

दो०—सब सन कहा बुझाइ बिधि दनुजनिधन तब होइ।
संभु-सुक्र-संभूत सुत एहि जीतइ रन सोइ॥१०६॥

ब्रह्माजी ने सबको समझा कर कहा कि इस दैत्य का मरना तब होगा जब शिवजी के वीर्य से पुत्र उत्पन्न हो। (क्योंकि) वही इसे युद्ध में जीतेगा॥ १०६॥

चौ०—मोर कहा सुनि करहु उपाई। होइहि ईस्वर करिहि सहाई॥
सती जो तजी दच्छमख देहा। जनमी जाइ हिमाचलगेहा॥१॥

मेरी बात को सुनकर उपाय करो। ईश्वर सहायता करेगा तो काम बन जायगा। जिस सती ने दक्ष के यज्ञ में शरीर छोड़ा था वह हिमाचल के यहाँ जाकर जन्मी है॥ १॥

तेइ तपु कीन्ह संभु पति लागी। सिव समाधि बैठे सब त्यागी।
जदपि अहइ असमंजस भारी। तदपि बात एक सुनहु हमारी॥२॥

उसने शिवजी को पति बनाने के लिए तप किया है पर शिवजी सबको त्याग कर समाधि लगाये बैठे हैं। यद्यपि इसमें बड़ी गड़बड़ है तथापि हमारी एक बात सुनो॥ २॥

पठवहु काम जाइ सिव पाहीं। करइ छोभ संकर मन माहीं॥
तब हम जाइ सिवहिं सिर नाई। करवाउब बिबाहु बरिआई॥३॥

तुम जाकर कामदेव को शिवजी के पास भेजो। वह जाकर उनके मन को चलायमान करे। तब हम जाकर शिवजी को प्रणाम करेंगे और उनका ब्याह जबरदस्ती करा देंगे॥ ३॥

एहि बिधि भलेहि देवहित होई। मतु अति नीक कहइ सब कोई॥
अस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति हेतू। प्रगटेउ विषमबान झखकेतू॥ ४॥

सब कोई कहने लगे कि यह सम्मति बहुत ही अच्छी है। इसी उपाय से देवों का खूब हित होगा। फिर देवों ने बड़े प्रेम से स्तुति की तो पाँच बाण धारण करने-वाला कामदेव (जिसकी ध्वजा में मछली बनी है) प्रकट हुआ॥ ४॥

दो०—सुरन्ह कही निज बिपति सब सुनि मन कीन्ह बिचार।
संभु-बिरोध न कुसल मोहि बिहँसि कहेउ अस मार॥१०७॥

देवताओं ने कामदेव से अपनी सब विपत्ति कह सुनाई। वह सुनकर कामदेव ने मन में विचार किया और फिर हँसकर कहा कि शिवजी के साथ विरोध करने में मेरा भला नहीं है॥ १०७॥

चौ०—तदपि करब मैं काज तुम्हारा। स्रुति कह परम धरम उपकारा॥
परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिँ तेही॥ १॥

तो भी मैं तुम्हारा काम करूँगा। क्योंकि वेदों ने कहा है कि परोपकार ही परम धर्म है। जो दूसरे के हित के लिए अपना शरीर छोड़ता है, अच्छे मनुष्य सदा उसकी बड़ाई किया करते हैं॥ १॥

अस कहि चलेउ सबहिँ सिर नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई॥
चलत मार अस हृदय बिचारा। सिवबिरोध ध्रुव मरन हमारा॥२॥

इतना कह और सबको सिर नवा कर कामदेव, अपना पुष्प का धनुष हाथ में लेकर, अपने सहायकों (वसन्त आदि) के साथ चला। कामदेव ने चलते समय अपने जी में विचारा कि शिवजी के साथ विरोध करने में हमारा मरण निश्चय होगा॥ २॥

तब आपन प्रभाउ बिस्तारा। निज बस कीन्ह सकल संसारा॥
कोपेउ जबहिँ बारि-चर-केतू। छन महँ मिटे सकल स्रुतिसेतू॥३॥

तब उसने अपना प्रभाव फैलाया और सारे संसार को अपने वश में कर लिया। जिस समय मत्स्यकेतु (कामदेव) ने कोप किया उस समय एक क्षण में वेदों का पुल टूट गया, अर्थात् धर्म की सारी मर्यादा जाती रही॥ ३॥

ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ग्यान बिग्याना॥
सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटक सब भागा॥४॥

ब्रह्मचर्य, व्रत, नाना संयम, धीरज, धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सदाचार, जप, योग, वैराग्य और विवेक की यह सारी सेना डर कर भाग गई॥ ४॥

छंद—भागेउ बिबेक सहाइ सहित सो सुभट संजुग महि मुरे।
सदग्रंथ पर्वत कन्दरन्हि महुँ जाइ तेहि अवसर दुरे॥

होनिहार का करतार को रखवार जग खरभरु परा।
दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनुसर धरा॥

जब कामदेव की सेना के वीर योद्धा रण-भूमि की ओर मुड़े तब ज्ञान अपने सहायकों सहित भाग गया (अर्थात् काम के प्रबल होते ही सारा ज्ञान हवा हो गया), उस समय अच्छे अच्छे ग्रन्थ पर्वतों की गुफाओं में जा छिपे। जगत में खलबली मच गई और सब कोई कहने लगे कि हे करतार! अब क्या होनहार है! हमारी रक्षा कौन करेगा? ऐसा दो सिर का कौन है जिसके लिए कामदेव ने कोप करके हाथ में धनुष उठाया है॥

दो०—जे सजीव जग चर अचर नारि पुरुष अस नाम।
ते निज निज मरजाद तजि भये सकल बस काम॥१०८॥

संसार में जितने प्रकार के चर अचर जीव थे और जिनका स्त्री और पुरुष नाम था वे सब, अपनी अपनी मर्यादा को छोड़ कर; काम के वश में हो गये॥ १०८॥

चौ०—सब के हृदय मदन अभिलाखा। लता निहारि नवहिं तरु साखा।
नदी उमगि अंबुधि कहुँ धाई। संगम करहिं तलाव तलाई॥१॥

सबके हृदय में काम की इच्छा हुई। लता (बेल) को देखकर वृक्ष अपनी शाखाओं को झुकाने लगे। नदियाँ उमंग में भर कर समुद्र की ओर दौड़ीं और ताल-तलैयाँ भी आपस में मिलने लगीं॥ १॥

जहँ असि दसा जडन की बरनी। को कहि सकइ सचेतन्ह करनी॥
पसु पच्छी नभ-जल-थल-चारी। भये कामबस समय बिसारी॥२॥

जब जड़ (वृक्ष-नदी आदि) की यह दशा कही गई तब चेतन जीवों की करनी का वर्णन कौन कर सकता है? पशु-पक्षी और आकाश, जल तथा थल पर रहनेवाले अन्य सारे जीव ऋतु या समय का ध्यान न करके कामदेव के वश में हो गये॥ २॥

मदन-अंध ब्याकुल सब लोका। निसि दिन नहिँ अवलोकहिँ कोका॥
देव दनुज नर किन्नर ब्याला। प्रेत पिसाच भूत बेताला॥ ३॥

सब लोग कामांध होकर व्याकुल हो गये। चकवा और चकवी को रात दिन का ज्ञान नहीं रहा। देव, दैत्य, मनुष्य, किन्नर, साँप, प्रेत, पिशाच, भूत, वेताल॥ ३॥

इन्ह की दसा न कहेउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥
सिद्ध बिरक्त महा मुनि जोगी। तेपि कामबस भये बियोगी॥४॥

इन सबको काम के चेले समझकर मैंने इनकी दशा का वर्णन नहीं किया। जो सिद्ध,

वैरागी और महामुनि योगी थे वे भी काम के वश में होकर योगभ्रष्ट हो गये अथवा संयोग के लिए आतुर हो उठे ॥ ४ ॥

छंद—भये कामबस जोगीस तापस पामरन की को कहै।
देखहिँ चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे ॥
अबला बिलोकहिँ पुरुषमय जग पुरुष सब अबलामयम्।
दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर काम कृत कौतुक अयम् ॥

जब योगी और तपस्वी ही काम के वश में हो गये तब बेचारे छोटे छोटे जीवों की दशा कौन कह सकता है। जो सब चराचर को ब्रह्ममय देखते थे वे अब सबको स्त्रीमय देखने लगे। स्त्रियाँ तो सारे जगत् को पुरुषमय और पुरुष स्त्रीमय देखने लगे। कामदेव ने दो ही घड़ी के भीतर सारे ब्रह्माण्ड में यह कौतुक कर दिखाया ॥

सो०—धरा न काहू धीर सब के मन मनसिज हरे।
जो राखे रघुवीर ते उबरे तेहि काल महुँ ॥१०९॥

सबके मन कामदेव ने हर लिये। किसी ने भी हृदय में धैर्य नहीं रक्खा। हाँ! जिनकी रघुनाथजी ने रक्षा की वे उस समय बचे रहे ॥ १०९ ॥

चौ०—उभय घरी अस कौतुक भयऊ। जब लगि काम संभु पहँ गयऊ।
सिवहिँ बिलोकि ससंकेउ मारू। भयउ जथाथिति सब संसारू ॥१॥

जब तक कामदेव शिवजी के पास गया, तब तक—दो घड़ी तक—यह तमाशा होता रहा। शिवजी को देखते ही कामदेव सहम गया और सारा संसार फिर जैसे का तैसा हो गया ॥ १ ॥

भये तुरत जग जीव सुखारे। जिमि मद उतरि गये मतवारे ॥
रुद्रहिँ देखि मदन भय माना। दुराधर्ष दुर्गम भगवाना ॥ २ ॥

जग के जीव तुरन्त वैसे ही सुखी हो गये जैसे मतवाले का मद उतर गया हो। रुद्र को देखते ही कामदेव डर गया; क्योंकि शिवजी बड़े ही उग्र और दृढ़ थे ॥ २ ॥

फिरत लाज कछु कहि नहिँ जाई। मरन ठानि मन रचेसि उपाई ॥
प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा। कुसुमित नव तरुराज बिराजा ॥३॥

उसे लौटते हुए भी लज्जा होती है, कुछ कहते नहीं बनता। अंत में अपना मरना जी में ठानकर उसने उपाय सोचा। उसने वहाँ तुरन्त सुन्दर वसन्त ऋतु प्रकट कर दी जिससे वृक्ष सुन्दर फूलों से शोभायमान हो गये ॥ ३ ॥

वन उपवन बापिका तड़ागा। परम सुभग सब दिसा-बिभागा ॥
जहँ तहँ जनु उमगत अनुरागा। देखि मुएहु मन मनसिज जागा ॥४॥

वन, उपवन, बावली, सरोवर और सब दिशाएँ, बड़े ही सुन्दर हो गये। जहाँ-तहाँ प्रेम की उमंगें उठने लगीं, जिसे देखकर मरे हुए मनों में भी कामदेव जागने लगा ॥ ४ ॥

छंद—जागइ मनोभव मुएहु मन बन सुभगता न परइ कही।
सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही ॥
बिकसे सरन्हि बहु कंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।
कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा ॥

मरे हुए मनों में भी कामदेव जागने लगा और उस वन की जो शोभा हुई वह कही नहीं जा सकती। कामरूपी अग्नि का सच्चा मित्र शीतल, मन्द और सुगन्धित पवन चलने लगा। सरोवरों में अनेक प्रकार के कमल खिल गये जिन पर सुन्दर भौंरों के झुंड के झुंड गुञ्जार करने लगे। हंस, कोयल और तोते रसीली बोली बोलने लगे और अप्सरागण गा गाकर नाचने लगीं ॥

दो०—सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत।
चली न अचल समाधि सिव कोपेउ हृदय-निकेत ॥११०॥

कामदेव अपनी सेना के साथ करोड़ों तरह से सब उपाय करके हार गया, पर शिवजी की अचल समाधि न डिगी। तब कामदेव ने बहुत कोप किया ॥ ११० ॥

चौ०—देखि रसाल बिटप-बर-साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा ॥
सुमन चाप निज सर संधाने। अति रिसि ताकि स्रवन लगि ताने ॥१॥

मन में खिसियाया हुआ कामदेव एक आम के वृक्ष का सुन्दर डाली को देखकर उस पर चढ़ गया। उसने पुष्पों के धनुष पर अपने बाण चढ़ाये और क्रोध में भर कर, निशाना ताक कर, उसे कान तक तान लिया ॥ १ ॥

छाँड़ेउ बिषम बान उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे ॥
भयउ ईस मन छोभ बिसेखी। नयन उघारि सकल दिसि देखी ॥२॥

और कठिन बाण छोड़े जो शिवजी के हृदय में जाकर लगे। शिवजी की समाधि छूट गई, और वे जाग पड़े। शिवजी के मन में बहुत क्षोभ आया और उन्होंने आँखें खोल कर चारों ओर देखा ॥ २ ॥

तब सिव तीसर नयन उघारा ।
चितवत काम भयउ जरि छारा ॥—पृष्ठ ६१

सौरभपल्लव मदन बिलोका। भयउ कोप कंपेउ त्रयलोका॥
तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा॥ ३॥

शिवजी ने आम के पत्तों में कामदेव को देखा। देखते ही उन्होंने ऐसा कोप किया कि तीनों लोक काँप उठे। तब शिवजी ने अपना तीसरा नेत्र खोला और देखते ही कामदेव जलकर भस्म हो गया॥ ३॥

हाहाकार भयउ जग भारी। डरपे सुर भये असुर सुखारी॥
समुझि कामसुख सोचहिं भोगी। भये अकंटक साधक जोगी॥ ४॥

इससे सारे जगत् में बड़ा हाहाकार मचा। देव डर गये और दैत्य सुखी हुए। भोगी लोग कामदेव के सुख को याद करके सोच करने लगे और साधक योगी बेखटके हो गये॥ ४॥

छंद—जोगी अकंटक भये पतिगति सुनति रति मुरछित भई।
रोदति बदति बहु भाँति करुना करति संकर पहिँ गई॥
अति प्रेम करि बिनती बिबिध बिधि जोरि कर सन्मुख रही।
प्रभु आसुतोष कृपाल सिव अबला निरखि बोले सही॥

इधर योगी अकंटक हुए, उधर कामदेव की स्त्री रति अपने पति की यह दशा सुनते ही मूर्छित हो गई। फिर वह रोती, चिल्लाती, और अनेक प्रकार से करुणा करती शिवजी के पास गई। बड़े ही प्रेम से और अनेक प्रकार से बिनती कर हाथ जोड़ सामने खड़ी हो गई। शीघ्र प्रसन्न होनेवाले, कृपालु शिवजी स्त्री को देखकर बोले ही तो सही॥

दो०—अब तें रति तव नाथ कर होइहि नाम अनंग।
बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि सुनु निज मिलन प्रसंग॥१११॥

हे रति, अब से तेरे पति का नाम अनङ्ग होगा। यह बिना ही शरीर के सबको व्यापेगा। अब तू अपने स्वामी के मिलने की कथा सुन॥ १११॥

चौ०—जब जदुबंस कृस्नअवतारा। होइहि हरन महा महिभारा॥
कृस्नतनय होइहि पति तोरा। बचन अन्यथा होइ न मोरा॥ १॥

जब पृथ्वी के बढ़े हुए भार को हरण करने के लिए यदुवंश में श्रीकृष्णचन्द्रजी का अवतार होगा, तब उनका पुत्र (प्रद्युम्न) तेरा पति होगा। मेरा वचन मिथ्या नहीं हो सकता॥ १॥

रति गवनी सुनि संकर-बानी। कथा अपर अब कहउँ बखानी॥
देवन समाचार सब पाये। ब्रह्मादिक बैकुंठ सिधाये॥ २॥

शिवजी की बात सुनकर रति चली गई। अब आगे की कथा कहता हूँ। जब यह समाचार सब देवताओं को मालूम हुआ तब ब्रह्मा आदि देवगण वैकुण्ठ को गये ॥ २ ॥

सब सुर बिस्नु बिरंचि समेता। गये जहाँ सिव कृपानिकेता ॥
पृथक पृथक तिन्ह कीन्ह प्रसंसा। भये प्रसन्न चंद्रअवतंसा ॥ ३ ॥

वहाँ से विष्णु और ब्रह्मा सहित सब देवगण वहाँ गये जहाँ कृपा के घर शिवजी महाराज थे। उन्होंने शिवजी की अलग अलग स्तुति की। इससे चन्द्रशेखर शिवजी प्रसन्न हुए ॥ ३ ॥

बोले कृपासिंधु वृषकेतू। कहहु अमर आये केहि हेतू ॥
कह बिधि तुम्ह प्रभु अंतरजामी। तदपि भगति-बस बिनवउँ स्वामी ॥ ४ ॥

कृपासागर शिवजी कहने लगे कि हे देवताओ, कहो, किस लिए आये। ब्रह्माजी बोले कि हे प्रभु, यद्यपि आप अन्तर्यामी हैं तथापि हे स्वामी, भक्तिवश मैं आपसे विनती करता हूँ ॥ ४ ॥

दो०—सकल सुरन्ह के हृदय अस संकर परम उछाहु।
निज नयनन्हि देखा चहहिँ नाथ तुम्हार बिबाहु ॥ ११२ ॥

शंकरजी, सब देवताओं के मन में ऐसा उत्साह है कि, हे नाथ! वे अपनी आँखों से आपका विवाह देखना चाहते हैं ॥ ११२ ॥

चौ०—यह उत्सव देखिय भरि लोचन। सोइ कछु करहु मदन-मद-मोचन ॥
काम जारि रति कहँ बर दीन्हा। कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा ॥ १ ॥

हे कामदेव के मद को भंग करनेवाले भगवान्, आप ऐसा कीजिए जिससे हम लोग इस उत्सव को आँख भरके देख लें। कृपासागर ने कामदेव को भस्म करके पीछे रति को जो वरदान दिया सो बहुत अच्छा किया ॥ १ ॥

सासति करि पुनि करहिँ पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ ॥
पारबती तप कीन्ह अपारा। करहु तासु अब अंगीकारा ॥ २ ॥

हे नाथ! स्वामियों का तो यह सहज स्वभाव है कि वे शिक्षा करने पर फिर प्रसन्नता भी दिखलाते हैं। पार्वती ने अपार तप किया है। अब उसको स्वीकार कीजिए ॥ २ ॥

सुनि बिधि बिनय समुझि प्रभु बानी। ऐसइ होउ कहा सुखु मानी ॥
तब देवन दुन्दुभी बजाईं। बरषि सुमन जय जय सुरसाईं ॥ ३ ॥

ब्रह्माजी की विनय सुन और प्रभु (राम) की बात याद करके शिवजी ने सुख से कहा—"ऐसा ही होगा।" इतना सुनते ही देवताओं ने नगाड़े बजाये और फूलों की वर्षा करके वे कहने लगे कि हे देवताओं के स्वामी, तुम्हारी जय हो, जय हो! ॥ ३ ॥

अवसर जानि सप्तरिषि आये। तुरतहि बिधि गिरिभवन पठाये॥
प्रथम गये जहँ रही भवानी। बोले मधुर बचन छलसानी॥४॥

अवसर जानकर उसी समय वहाँ सप्त-ऋषि आये और ब्रह्मजी ने उन्हें हिमाचल के घर भेजा। वे पहले वहाँ गये जहाँ पार्वती थीं। वे उससे छल से भरे हुए मीठे वचन बोले—॥ ४ ॥

दो०—कहा हमार न सुनेहु तब नारद के उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पन जारेउ कामु महेस॥ ११३ ॥

नारद की बातों में आकर तुमने उस समय हमारा कहा नहीं माना। अब तुम्हारा पण झूठा हो गया; क्योंकि शिवजी ने कामदेव को भस्म कर दिया है॥ ११३ ॥

चौ०—सुनि बोली मुसुकाइ भवानी। उचित कहेहु मुनिबर बिग्यानी॥
तुम्हरे जान काम अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा॥१॥

यह सुनकर पार्वती मुस्कुरा कर बोली—हे ज्ञानी मुनिवरो, आपका कहना ठीक है। आपकी समझ में शिवजी ने कामदेव को अब जलाया है और अब तक वे सविकार, भोगी रहे॥ १ ॥

हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥
जौं मैं सिव सेयउँ अस जानी। प्रीति समेत करम मन बानी॥ २ ॥

पर हमारी समझ में तो शिवजी सदा से योगी, अजन्मा, निन्दारहित, कामहीन और भोगरहित हैं। और जो मैंने यही समझकर मन, वचन और कर्म से शिवजी की सेवा प्रीति से की है॥ २ ॥

तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा॥
तुम्ह जो कहेहु हर जारेउ मारा। सो अति बड़ अबिबेक तुम्हारा॥३॥

तो, हे मुनीश्वरो! सुनो। कृपासागर शिवजी हमारी प्रतिज्ञा को सत्य करेंगे। आप जो यह कहते और समझते हैं कि शिवजी ने कामदेव को भस्म कर दिया सो यह आप की भारी भूल है॥ ३ ॥

तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिँ काऊ॥
गये समीप सो अवसि नसाई। असि मनमथ महेस कै नाई॥४॥

हे तात! अग्नि का यह स्वभाव ही है कि पाला उसके पास कभी जा नहीं सकता। और यदि जाय भी तो वह अवश्य नष्ट हो जायगा। ऐसा ही कामदेव और महादेवजी के सम्बन्ध में समझिए॥ ४ ॥

दो०—हिय हरषे मुनि बचन सुनि देखि प्रीति बिस्वास ।
चले भवानी नाइ सिर गये हिमांचल पास ॥ ११४ ॥

पार्वती की बात सुन और उनकी प्रीति और विश्वास को देखकर मुनि बड़े प्रसन्न हुए। फिर वे भवानी को प्रणाम करके हिमाचल के पास गये ॥ ११४ ॥

चौ०—सबु प्रसंग गिरिपतिहिँ सुनावा । मदन-दहन सुनि अति दुखु पावा।
बहुरि कहेउ रति कर बरदाना । सुनि हिमवंत बहुत सुखु माना ॥१॥

मुनियों ने हिमाचल को सारी बातें कह सुनाईं। कामदेव के भस्म होने की बात सुनकर हिमाचल बड़ा दुःखी हुआ। फिर जब उन्होंने रति के वरदान की बात कही तब उसे सुनकर उसने बहुत सुख माना ॥ १ ॥

हृदय बिचार संभु-प्रभुताई । सादर मुनिवर लिये बोलाई ॥
सुदिनु सुनखतु सुघरी सोचाई । बेगि बेदबिधि लगन धराई ॥२॥

शिवजी की प्रभुता को मन में सोचकर हिमाचल ने मुनियों को सादर बुला लिया। और उन्होंने शुभ दिन, शुभ नक्षत्र और शुभ घड़ी देखाकर जल्दी वेद-रीति से लग्न (समय) निश्चय करा दिया ॥ २ ॥

पत्री सप्तरिषिन्ह सोइ दीन्ही । गहि पद बिनय हिमांचल कीन्ही ॥
जाइ बिधिहि तिन्ह दीन्हि सो पाती । बाँचत प्रीति न हृदय समाती ॥३॥

वही पत्री (जिसमें विवाह का दिन और समय लिखा था, "लग्न-पत्रिका") हिमाचल ने ऋषियों को दे दी और उनके पाँव पकड़ कर विनती की। वह पत्री उन लोगों ने जाकर ब्रह्माजी को दे दी। उसको पढ़कर वे आनन्द में फूले न समाये ॥ ३ ॥

लगन बाँचि अज सबहि सुनाई । हरषे सुनि सब सुरसमुदाई ॥
सुमनवृष्टि नभ बाजन बाजे । मंगल कलस दसहुँ दिसि साजे ॥४॥

ब्रह्माजी ने लग्न पत्रिका पढ़कर सबको सुना दी। उसे सुनकर सारे देवगण बहुत ही प्रसन्न हुए। आकाश से फूलों की वर्षा हुई, बाजे बजने लगे और दशों दिशाओं में मंगल-कलश सजाये जाने लगे ॥ ४ ॥

दो०—लगे सवाँरन सकल सुर बाहन बिबिध बिमान ।
होहिँ सगुन मंगल सुखद करहिँ अपछरा गान ॥११५॥

सारे देवता अपने भाँति भाँति के वाहन (सवारी) और विमान सँवारने लगे, शुभ और सुख देनेवाले शकुन होने लगे और अप्सराएँ गाने लगीं ॥ ११५ ॥

चौ०—सिवहिँ संभुगन करहिँ सिँगारा। जटा मुकुट अहिमौर सँवारा॥
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तन बिभूति पट केहरि छाला॥१॥

शिवजी के गण उनका सिँगार करने लगे। जटा का मुकुट और साँपों का मौर बाँधा गया। शिवजी ने कानों में कुंडलों और हाथों में कंकणों की जगह साँप पहने। शरीर पर विभूति लगाई और वस्त्र के स्थान में बाघंबर ओढ़ा॥ १॥

ससि ललाट सुंदर सिर गंगा। नयन तीनि उपवीत भुजंगा॥
गरल कंठ उर नर-सिर-माला। असिव बेष सिवधाम कृपाला॥२॥

माथे में चन्द्रमा, सिर में सुन्दर गङ्गाजी, तीन आँखें और जनेऊ के स्थान पर साँप डाल दिये गये। कण्ठ में उनके विष था और गले में मुण्डों की माला। महाकृपालु शिवधाम (कल्याणों के घर) का वेष अशिव (अमङ्गल "देखने में ख़राब") था॥ २॥

कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा। चले बसह चढ़ि बाजहि बाजा॥
देखि सिवहिँ सुरत्रिय मुसुकाहीँ। बर लायक दुलहिनि जग नाहीँ॥३॥

उनके हाथ में त्रिशूल और डमरू शोभायमान था। वे बैल पर चढ़ कर चले और बाजे बजने लगे। शिवजी को देखकर देवताओं की स्त्रियाँ मुस्कुराने लगीं और कहने लगीं कि इस वर के योग्य संसार में दुलहिन नहीं है॥ ३॥

बिस्नु बिरंचि आदि सुरब्राता। चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता॥
सुरसमाज सब भाँति अनूपा। नहिँ बरात दूलहअनुरूपा॥४॥

विष्णु और ब्रह्मा आदि सब देवतागण अपने अपने वाहनों पर और विमानों में बैठकर बरात में चले। देवताओं का समुदाय सब प्रकार मनोहर था। पर बरात दूलह के समान न थी॥ ४॥

दो०—बिस्नु कहा अस बिहँसि तब बोलि सकल दिसिराज।
बिलग बिलग होइ चलहु सब निज निज सहित समाज॥११६॥

तब विष्णु ने सब दिक्पालों को बुलाकर हँसकर कहा कि सब लोग, अलग अलग होकर, अपनी अपनी टोली के साथ चलो॥ ११६॥

चौ०—बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करइहउ परपुर जाई॥
बिस्नु बचन सुनि सुर मुसुकाने। निज निज सेन सहित बिलगाने॥१॥

यह बरात वर के समान नहीं हुई। क्या दूसरे के यहाँ जाकर हँसी कराओगे? विष्णु की बात सुनकर सब देवगण मुस्कुराये और अपनी अपनी टोली लेकर अलग अलग हो गये॥ १॥

मनहीं मन महेस मुसुकाहीं। हरि के व्यंग बचन नहिं जाहीं॥
अतिप्रिय बचन सुनत प्रिय केरे। भृंगिहिं प्रेरि सकल गन टेरे॥२॥

शिवजी मन ही मन मुस्कुराये और कहने लगे कि विष्णु के व्यङ्ग्य वचन न जायँगे। अपने प्यारे के बहुत मीठे वचन सुनकर उन्होंने अपने गण भृंगी को भेज कर अपने सब गणों को बुलवा लिया॥ २॥

सिव अनुसासन सुनि सब आये। प्रभु पदजलज सीस तिन्ह नाये॥
नाना बाहन नाना बेखा। बिहँसे सिव समाज निज देखा॥३॥

शिवजी की आज्ञा पाते ही सब गण चले आये। उन्होंने प्रभु के चरणकमलों में सिर नवाया। उन लोगों के तरह तरह के वेष और तरह तरह के वाहन थे। शिवजी अपने गणों को देखकर हँसे॥ ३॥

कोउ मुखहीन बिपुलमुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु-पद-बाहू॥
बिपुलनयन कोउ नयनबिहीना। रिष्ट पुष्ट कोउ अति तनखीना॥४॥

कोई बिना मुँह का था और किसी के कई मुँह थे; कोई बिना हाथ-पाँव का था और किसी के बहुत से हाथ-पाँव थे। किसी के बहुत सी आँखें थीं और किसी के आँखें ही न थीं। कोई तो बहुत हृष्ट-पुष्ट था और कोई बहुत ही दुबला-पतला॥ ४॥

छंद—तनखीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरे।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरे॥
खर-स्वान-सुअर-सृगाल-मुख गन बेष अगनित को गनै।
बहु जिनिस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिँ बनै॥

कोई बिलकुल दुबला था और कोई बेहद मोटा, कोई पवित्र वेषवाला था और कोई अपवित्र वेष धारण कर रहा था। उनके भूषण भयानक थे, वे हाथ में कपाल लिये हुए थे जिनमें ताजा रक्त भरा हुआ था। किसी का मुँह गधे का-सा, किसी का कुत्ते का-सा, किसी का सुअर का-सा और किसी का गीदड़ का-सा था। उनके असंख्य वेषों को कौन गिने। बहुत प्रकार के प्रेत, पिशाच और योगियों की जमात साथ थी। उनका वर्णन नहीं हो सकता॥

सो०—नाचहिँ गावहिँ गीत परम तरंगी भूत सब।
देखत अति बिपरीत बोलहिँ बचन बिचित्र बिधि॥११७॥

सब भूत बड़े तरंगी (मन में आवे सोई करनेवाले) थे। वे नाचते थे और गीत गाते थे। उनका ताकना बेढब था और वे एक अजब ढंग से बोलते थे॥ ११७॥

चौ०—जस दूलह तसि बनी बराता। कौतुक बिबिध होहिं मग जाता ॥
इहाँ हिमांचल रचेउ बिताना। अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना ॥१॥

जैसा दूलह था वैसी ही बरात बनी थी। मार्ग में चलते हुए कई तरह के तमाशे होते जाते थे। इधर हिमाचल ने ऐसा विचित्र मण्डप बनवाया था कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता ॥ १ ॥

सैल सकल जहँ लगि जग माहीं। लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं ॥
बन सागर सब नदी तलावा। हिमगिरि सब कहुँ नेवति पठावा ॥२॥

जगत् में जितने पहाड़ थे, क्या बड़े और क्या छोटे, जिनका वर्णन नहीं हो सकता; वन, समुद्र, नदियाँ और तालाब सबके पास हिमाचल ने न्योता भेजवाया ॥ २ ॥

कामरूप सुंदर तनु धारी। सहित समाज सोह बर नारी ॥
आये सकल हिमांचल गेहा। गावहिं मंगल सहित सनेहा ॥३॥

अपनी अपनी इच्छा के अनुसार उन्होंने सुन्दर शरीर धारण कर लिया और सुन्दर स्त्री तथा परिवार के साथ सब हिमाचल के घर आये। सब स्नेह से मंगल-गीत गाने लगे ॥ ३ ॥

प्रथमहिं गिरि बहु गृह सँवराये। जथाजोग जहँ तहँ सब छाये ॥
पुर सोभा अवलोकि सुहाई। लागइ लघु बिरंचिनिपुनाई ॥४॥

हिमाचल ने पहले ही से बहुत-से घरों को सजा रखा था। उन्हीं में यथायोग्य सब ठहरे। उस पुर की सुन्दर शोभा देखकर ब्रह्मा की चतुराई भी फीकी लगती थी ॥ ४ ॥

छंद—लघु लागि बिधि की निपुनता अवलोकि पुरसोभा सही।
बन बाग कूप तड़ाग सरिता सुभग सब सक को कही ॥
मंगल बिपुल तोरन पताका केतु गृह गृह सोहहीं।
बनिता पुरुष सुंदर चतुर छबि देखि मुनि मन मोहहीं ॥

पुर की सुन्दर शोभा देखकर ब्रह्मा की रचना भी फीकी पड़ गई। वन, बाग, कुएँ, तालाब, नदियाँ सबकी सुन्दरता का कौन वर्णन कर सकता है? घर घर शुभ बन्दनवार और अनेक ध्वजा-पताकाएँ शोभित हो रही थीं। वहाँ के सुन्दर और चतुर स्त्री-पुरुषों की छवि को देखकर मुनियों के मन भी मोहित होते थे ॥

दो०—जगदंबा जहँ अवतरी सो पुर बरनि कि जाइ।
रिद्धि सिद्धि संपत्ति सुख नित नूतन अधिकाइ ॥११८॥

जिस पुर में जगदम्बा-पार्वती ने अवतार लिया है उस पुर की शोभा कहीं कही जा सकती है? वहाँ प्रतिदिन नइ नई ऋद्धि-सिद्धि सुख-संपदा बढ़ती जाती थीं ॥ ११८ ॥

चौ०—नगर निकट बरात सुनि आई। पुर खरभर सोभा अधिकाई॥
करि बनाव सब बाहन नाना। चले लेन सादर अगवाना ॥१॥

जब नगर के पास बरात के पहुँचने की ख़बर लगी तब सारे नगर में खलबली मच गई और बड़ी शोभा हुई। सब पुरवासी लोग अपनी अपनी अनेक सवारियों को सजाकर बरात की सादर अगवानी के लिए चले ॥ १ ॥

हिय हरषे सुरसेन निहारी। हरिहि देखि अति भये सुखारी॥
सिवसमाज जब देखन लागे। बिडरि चले बाहन सब भागे ॥२॥

देवगणों के समाज को देखकर सब लोग प्रसन्न हुए और विष्णु भगवान् को देखकर उन्हें बहुत ही प्रसन्नता हुई। किन्तु जब वे शिवजी की टोली को देखने लगे तब उनकी सवारियाँ सब डर कर भाग चलीं ॥ २ ॥

धरि धीरजु तहँ रहे सयाने। बालक सब लइ जीव पराने॥
गये भवन पूछहिँ पितु माता। कहहिँ बचन भय कंपित गाता ॥३॥

कुछ बड़े बूढ़े मनुष्य तो वहाँ धीरज धरकर खड़े रहे और सब बालक प्राण बचाकर अपने अपने घर भाग गये। जब वे घर पहुँचे तब उनके माता-पिता ने भाग आने का कारण पूछा तब वे डर से काँपते हुए बोले ॥ ३ ॥

कहिय कहा कहि जाइ न बाता। जम कर धारि किधौं बरिआता॥
बर बौराह बरद असवारा। ब्याल कपाल बिभूषन छारा ॥४॥

क्या कहें, कुछ बात कही नहीं जाती। यह बरात है या यमराज की सेना? दूलह पगला और बैल पर बैठा हुआ है। साँप, कपाल और भस्म ही उसके गहने हैं ॥ ४ ॥

छंद—तन छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकटमुख रजनीचरा॥
जो जिअत रहिहि बरात देखत पुन्य बड़ तेहि कर सही।
देखिहि सो उमाबिबाह घर घर बात अस लरिकन्ह कही॥

दूलह के शरीर पर भस्म लगी हुई है, साँप और कपाल के गहने हैं, वह बिलकुल नंगा, जटाधारी और डरावना है। उसके साथ भूत, प्रेत, पिशाच, योगिनी और भयंकर मुँहवाले राक्षस हैं। जो लोग बरात को देखकर जीते बच जायँ सचमुच उनका बड़ा ही पुण्य होगा और वे ही पार्वती का विवाह देखेंगे। लड़कों ने घर घर यही बात जा कही ॥

दो०—समुझि महेस समाज सब जननि जनक मुसुकाहिँ।
बाल बुझाये बिबिध बिधि निडर होहु डर नाहिँ ॥११९॥

महादेवजी के समाज को समझ कर माता-पिता मुस्कुराये और उन्होंने लड़कों को बहुत तरह से समझाया कि तुम डरो मत। कुछ डर की बात नहीं है ॥ ११९ ॥

चौ०—लइ अगवान बरातहि आये। दिये सबहि जनवास सुहाये॥
मैना सुभ आरती सँवारी। संग सुमंगल गावहिँ नारी ॥१॥

वे लोग अगवानी करके बरात को ले आये और उन्होंने सबको सुन्दर जनवासे में ठहरा दिया। (पार्वती की माता) मैना ने शुभ आरती सँवारी और साथ में स्त्रियाँ उत्तम मंगल-गीत गाने लगीं ॥ १ ॥

कंचन थार सोह बर पानी। परिछन चली हरहिँ हरषानी॥
बिकट बेष रुद्रहिँ जब देखा। अबलन्ह उर भय भयउ बिसेखा ॥२॥

सुन्दर हाथों में सोने का थाल शोभायमान था, प्रसन्न होती हुईं वे शिवजी को परछने (आरती उतारने) चलीं। जब महादेवजी का भयंकर वेष देखा तब स्त्रियों के हृदयों में बहुत डर हुआ ॥ २ ॥

भागि भवन पैठीँ अति त्रासा। गये महेसु जहाँ जनवासा॥
मैना हृदय भयउ दुख भारी। लीन्ही बोलि गिरीसकुमारी ॥३॥

इसलिए वे बड़े डर से भाग कर घर में चली गईं और शिवजी जनवासे में चले गये। मैना (पार्वती की माता) के जी में भारी दुःख हुआ। उसने पार्वती को बुलाया ॥ ३ ॥

अधिक सनेह गोद बैठारी। स्याम सरोज नयन भरि बारी॥
जेहि बिधि तुम्हहि रूपु अस दीन्हा। तेहि जड बर बाउर कस कीन्हा ॥४॥

और बहुत स्नेह से उसको गोद में बैठाकर और नील-कमल के समान नेत्रों में आँसू भरकर वह कहने लगी कि—जिस ब्रह्मा ने तुमको ऐसा सुन्दर रूप दिया है उसने तेरे लिए ऐसा मूर्ख और बावला वर कैसे बनाया ॥ ४ ॥

छंद—कस कीन्ह बर बौराह बिधि जेहि तुम्हहिँ सुंदरता दई।
जो फलु चहिय सुरतरुहिँ सो बरबस बबूरहिँ लागई॥
तुम्ह सहित गिरि ते गिरउँ पावक जरउँ जलनिधि महँ परउँ।
घर जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिबाहु न हौं करउँ॥

जिस ब्रह्मा ने तुम्हें सुन्दरता दी है उसने तेरे वर को ऐसा बावला कैसे बनाया! जो

फल कल्पवृक्ष में लगना चाहिए वह जबरदस्ती बबूल में लगाया जा रहा है। अब मैं तुम-सहित पहाड़ पर से गिरकर मर जाऊँ, या आग में जल मरूँ, या समुद्र में डूब मरूँ। घर उजड़े और चाहे संसार में अपयश हो, पर मैं जीते जी तेरा विवाह इस वर से न करूँगी॥

दो०—भईं बिकल अबला सकल दुखित देखि गिरिनारि।
करि बिलापु रोदति बदति सुता सनेहु सँभारि॥१२०॥

हिमाचल की स्त्री (मैना) को दुखी देखकर सारी स्त्रियाँ व्याकुल हुईं क्योंकि वह अपनी पुत्री के स्नेह को स्मरण कर विलाप करती, रोती और कहती थी कि—॥ १२०॥

चौ०—नारद कर मैं काह बिगारा। भवन मोर जिन्ह बसत उजारा॥
अस उपदेसु उमहिं जिन्ह दीन्हा। बौरे बरहिं लागि तपु कीन्हा॥१॥

मैंने नारद का क्या बिगाड़ा था जिन्होंने मेरा बसता हुआ घर उजाड़ दिया। जिन्होंने पार्वती को ऐसा उपदेश दिया कि जिससे उसने इस बावले वर के लिए तप किया॥ १॥

साँचेहु उन्हके मोह न माया। उदासीन धनु धामु न जाया॥
पर-घर-घालक लाज न भीरा। बाँझ की जान प्रसव की पीरा॥२॥

सचमुच उनके जी में न किसी का मोह है न माया; न उनके धन है न घर है और न स्त्री ही, वे उदासीन हैं; वे पराये घर के उजाड़नेवाले हैं; उन्हें न किसी की लज्जा है, न डर। भला बाँझ स्त्री प्रसव की पीड़ा को क्या जान सकती है॥ २॥

जननिहिं बिकल बिलोकि भवानी। बोली जुत बिबेक मृदु बानी॥
अस बिचारि सोचहि मति माता। सो न टरइ जो रचइ बिधाता॥३॥

माता को विकल देखकर पार्वती ज्ञान से भरी हुई कोमल वाणी बोली—हे माता, जो विधाता ने रच रखा है वह टल नहीं सकता, ऐसा सोचकर तुम शोक मत करो॥ ३॥

करम लिखा जौं बाउर नाहू। तौ कत दोष लगाइय काहू॥
तुम्ह सन मिटहि कि बिधि के अंका। मातु ब्यर्थ जनि लेहु कलंका॥४॥

जो मेरे प्रारब्ध में बावला ही पति लिखा है, तो किसी को दोष क्यों लगाना? हे माता, क्या तुमसे विधाता के लिखे अङ्क मिट सकते हैं? इसलिए वृथा कलंक मत लो॥ ४॥

छंद—जिनि लेहु मातु कलंकु करुना परिहरहु अवसरु नहीं।
दुखु सुखु जो लिखा लिलार हमरे जाब जहँ पाउब तहीं॥
सुनि उमाबचन बिनीत कोमल सकल अबला सोचहीं।
बहु भाँति बिधिहि लगाइ दूषन नयन बारि बिमोचहीं॥

हे माता, अपने सिर कलंक मत लो; मोह को दूर करो; यह मौक़ा (शोक करने का) नहीं है। मेरे करम में जो दुःख-सुख लिखा है उसे मैं जहाँ जाऊँगी वहीं पाऊँगी। पार्वती के ऐसे नम्र और कोमल वचनों को सुनकर सब स्त्रियाँ सोचने लगीं और ब्रह्मा को बहुत तरह से दोष दे देकर आँखों से आँसू गिराने लगीं।

दो०—तेहि अवसर नारद सहित अरु रिषिसप्त समेत।
समाचार सुनि तुहिनगिरि गवने तुरित निकेत ॥१२१॥

इस समाचार को सुनकर उसी समय सप्त ऋषियों और नारदजी को साथ लेकर हिमाचल तुरन्त घर गये ॥ १२१ ॥

चौ०—तब नारद सबही समुझावा। पूरब-कथा-प्रसंग सुनावा ॥
मैना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी ॥१॥

तब नारदजी ने सबको समझाया और पहले की कथा का प्रसङ्ग सुनाया। उन्होंने कहा—हे मैना ! तुम मेरी सत्य वाणी को सुनो। तुम्हारी पुत्री पार्वती जगदम्बा भवानी हैं ॥१॥

अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग-निवासिनि ॥
जग-संभव-पालन-लय-कारिनि। निज इच्छा लीला-बपु-धारिनि ॥२॥

यह कभी जन्म नहीं लेतीं, इनका कभी आरम्भ नहीं, और यह कभी नाश न होने-वाली शक्ति हैं। यह सदा शिवजी की अर्धाङ्गिनी रहती हैं। यही जगत् को पैदा करतीं, पालन करतीं और उसका संहार करती हैं। यह अपनी इच्छा से मनमाना शरीर धारण कर लेती हैं ॥ २ ॥

जनमी प्रथम दच्छगृह जाई। नाम सती सुंदर तनु पाई ॥
तहँउ सती संकरहि बिवाहीँ। कथा प्रसिद्ध सकल जग माहीँ ॥३॥

पहले यह दक्ष के घर पैदा हुई थीं। तब इनका नाम सती था। इन्होंने बहुत सुन्दर शरीर पाया था। यह कथा सारे जगत् में प्रसिद्ध है कि वहाँ भी सतीजी शिवजी को ही ब्याही थीं ॥ ३ ॥

एक बार आवत सिव संगा। देखेउ रघुकुल-कमल-पतंगा ॥
भयउ मोह सिव कहा न कीन्हा। भ्रमबस बेष सीय कर लीन्हा ॥४॥

एक बार इन्होंने शिवजी के साथ आते हुए रघुकुल-रूपी कमल के सूर्य रामचन्द्रजी को देखा। इन्हें मोह हो गया और इन्होंने शिवजी का कहा न माना और भ्रम के वश सीताजी का रूप बना लिया ॥ ४ ॥

छंद—सियबेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी।
हरबिरह जाइ बहोरि पितु के जग्य जोगानल जरी ॥

अब जनमि तुम्हरे भवन निजपति लागि दारुन तपु किया।
अस जानि संसय तजहु गिरिजा सर्बदा संकरप्रिया॥

सती ने जो सीता का रूप धारण किया इसी अपराध से शिवजी ने उन्हें त्याग दिया था। शिवजी के वियोग की दशा में ही वे अपने पिता के यज्ञ में जाकर वहीं योगाग्नि से भस्म हो गई थीं। अब उन्होंने तुम्हारे घर में जन्म लिया और अपने पति के लिए कठिन तप किया। इसलिए तुम ऐसा जानकर सन्देह दूर करो। पार्वतीजी सदा ही शिवजी की प्यारी हैं।

दो०—सुनि नारद के बचन तब सब कर मिटा बिषाद।
छन महँ ब्यापेउ सकल पुर घर घर यह संबाद॥१२२॥

तब नारदजी की बात को सुनकर सबका दुःख मिट गया, और क्षण-मात्र ही में यह समाचार सारे नगर में घर घर फैल गया॥ १२२॥

चौ०—तब मैना हिमवंत अनंदे। पुनि पुनि पारबती-पद बंदे॥
नारि पुरुष सिसु जुबा सयाने। नगर लोग सब अति हरषाने॥१॥

तब मैना और हिमाचल बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बार बार पार्वती के चरणों को प्रणाम किया। स्त्री, पुरुष, युवा, वृद्ध और बालक नगर के सभी लोग बहुत प्रसन्न हुए॥ १॥

लगे होन पुर मंगल गाना। सजे सबहिँ हाटक-घट नाना॥
भाँति अनेक भई जेवनारा। सूपसास्त्र जस कछु ब्यवहारा॥२॥

नगर में आनन्द-मंगल के गीत गाये जाने लगे और सबने तरह तरह के सुवर्ण के कलश सजाये। पाक-शास्त्र के व्यवहार के अनुसार अनेक भाँति की ज्योनार हुई॥ २॥

सो जेवनार कि जाइ बखानी। बसहिँ भवन जेहि मातु भवानी॥
सादर बोले सकल बराती। बिस्नु बिरंचि देव सब जाती॥३॥

भला, जिस घर में माता भवानी रहती हों, वहाँ की ज्योनार का वर्णन कैसे किया जा सकता है? ब्रह्मा, विष्णु और सब देवगण आदि सारी बरात आदरपूर्वक बुलाई गई॥३॥

बिबिधि पाँति बैठी जेवनारा। लगे परोसन निपुन सुआरा॥
नारिबृंद सुर जेंवत जानी। लगीँ देन गारी मृदु बानी॥ ४॥

बरात की कई पंगतें बैठीं। चतुर रसोइये परोसने लगे। देवताओं को भोजन करते हुए जानकर स्त्रियों की मंडलियाँ कोमल वाणी से गालियाँ देने लगीं॥ ४॥

छंद—गारी मधुर सुर देहिँ सुंदरि ब्यंग बचन सुनावहीँ।
भोजन करहिँ सुर अति बिलंब बिनोद सुनि सचु पावहीँ॥

जेंवत जो बढ्यो अनंद सो मुख कोटिहू न परइ कह्यो ।
अँचवाइ दीन्हे पान गवने बास जहँ जाको रह्यो ॥

स्त्रियाँ मीठे स्वर में गालियाँ देने लगीं और तरह तरह के व्यङ्ग्य-वचन सुनाने लगीं। देवगण धीरे धीरे बड़ी देर तक भोजन करते थे और हँसी सुनकर सुख पाते थे। ज्योनार के समय जो आनन्द बढ़ा था वह करोड़ मुँह से भी नहीं कहा जा सकता था। भोजन कर चुकने पर सबके हाथ-मुँह धुलवाये गये और पान दिये गये। फिर वे सब लोग जहाँ ठहरे थे वहाँ चले गये ॥

दो०—बहुरि मुनिन्ह हिमवंत कहँ लगन सुनाई आइ ।
समय बिलोकि बिबाह कर पठये देव बोलाइ ॥१२३॥

फिर लौट कर मुनियों ने हिमाचल को लगन (लग्नपत्रिका) सुनाई और विवाह का समय देखकर देवताओं को बुलौआ भेजा ॥ १२३ ॥

चौ०—बोलि सकल सुर सादर लीन्हे । सबहिँ जथोचित आसन दीन्हे ॥
बेदी बेदबिधान सवाँरी । सुभग सुमंगल गावहिं नारी ॥१॥

सब देवताओं को सादर बुला लिया और सबको उचित आसन दिये। वेद की रीति से वेदी बनाई गई और स्त्रियाँ सुन्दर मंगल-गीत गाने लगीं ॥ १ ॥

सिंहासन अतिदिब्य सुहावा । जाइ न बरनि बिचित्र बनावा ॥
बैठे सिव बिप्रन्ह सिर नाई । हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई ॥२॥

बड़ा दिव्य सिंहासन शोभायमान था। वह ऐसा विचित्र बना था कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ब्राह्मणों को प्रणाम करके और हृदय में अपने स्वामी रामचन्द्रजी को स्मरण करके शिवजी उस पर बैठ गये ॥ २ ॥

बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाई । करि सिंगार सखी लेइ आई ॥
देखत रूप सकल सुर मोहे । बरनइ छबि अस जग कबि को है ॥३॥

फिर मुनियों ने पार्वती को बुलवाया। सखियाँ उसको सिंगार कराकर लिवा लाईं। पार्वती के रूप को देखकर सारे देवता मोहित हो गये। संसार में ऐसा कवि कौन है जो उस सुन्दरता का वर्णन कर सके ॥ ३ ॥

जगदंबिका जानि भवबामा । सुरन्ह मनहिँ मन कीन्ह प्रनामा ॥
सुंदरता-मरजाद भवानी । जाइ न कोटिन बदन बखानी ॥४॥

पार्वती को जगदम्बा और शिवजी की स्त्री समझ कर देवताओं ने उन्हें मन ही मन प्रणाम किया। पार्वतीजी सुन्दरता की सीमा थीं, अर्थात्—उनकी सुन्दरता से बढ़कर सुन्दरता नहीं हो सकती। उनकी सुन्दरता करोड़ों मुखों से भी नहीं कही जा सकती ॥ ४ ॥

छंद—कोटिहु बदन नहिं बनइ बरनत जग-जननि-सोभा महा।
सकुचहिं कहत स्रुति सेष सारद मंदमति तुलसी कहा॥
छबिखानि मातु भवानि गवनी मध्य मंडप सिव जहाँ।
अवलोकि सकइ न सकुचि पति-पद-कमल मनमधुकर तहाँ॥

जगत् की जननी—पार्वती—की ऐसी अधिक शोभा थी कि उसका वर्णन करोड़ मुँह-वाला भी नहीं कर सकता। जब वेद, शेषजी और सरस्वती तक उसे कहते हुए संकोच करते हैं, तब मैं मूर्ख-बुद्धि—तुलसीदास—किस गिनती में हूँ। शोभा की खान माता भवानी शिवजी के पास मण्डप में गईं। उस समय वे लज्जा के मारे शिवजी के चरण-कमलों की ओर नहीं देख सकती थीं, पर उनका मनरूपी भौंरा वहीं था।

दो०—मुनि अनुसासन गनपतिहिं पूजेउ संभु भवानि।
कोउ सुनि संसय करइ जनि सुर अनादि जिय जानि॥१२४॥

मुनियों की आज्ञा से शिवजी और पार्वतीजी ने गणेशजी का पूजन किया। मन में देवताओं को अनादि समझ कर कोई इस बात को सुनकर शंका न करे कि पिता ने पुत्र का पूजन उसके उत्पन्न होने के पहले ही से कैसे कर लिया॥१२४॥

चौ०—जसि बिबाह कै बिधि स्रुति गाई। महामुनिन्ह सो सब करवाई॥
गहि गिरीस कुस कन्या-पानी। भवहि समरपी जानि भवानी॥१॥

वेद में विवाह की जैसी रीति कही है वह सब बड़े बड़े मुनियों ने करवाई। हिमाचल ने अपने हाथ में कुश और कन्या का हाथ पकड़ कर, भवानी जानकर, उन्हें शिवजी को अर्पण किया॥१॥

पानिग्रहन जब कीन्ह महेसा। हिय हरषे तब सकल सुरेसा॥
बेदमंत्र मुनिबर उच्चरहीं। जय जय जय संकर सुर करहीं॥२॥

जब शिवजी ने पार्वती का पाणि-ग्रहण किया तब सब देवगण जी में बड़े प्रसन्न हुए। मुनिवर वेदमन्त्रों का पाठ करने लगे और देवगण शिवजी का जय-जय-कार करने लगे॥२॥

बाजन बाजहिं बिबिध बिधाना। सुमनबृष्टि नभ भइ बिधि नाना॥
हर गिरिजा कर भयउ बिबाहू। सकल भुवन भरि रहा उछाहू॥३॥

तरह तरह के बाजे बजने लगे और आकाश से नाना-प्रकार के फूलों की वर्षा हुई। जिस समय शिव-पार्वती का विवाह हुआ उस समय सारा संसार आनन्द में भर गया॥३॥

दासी दास तुरग रथ नागा। धेनु बसन मनि बस्तु बिभागा॥
अन्न कनकभाजन भरि जाना। दाइज दीन्ह न जाइ बखाना॥४॥

दासी, दास, घोड़े, रथ, हाथी, गायें, वस्त्र, मणि, अनेक प्रकार की चीजें, अन्न और सोने के बरतनों से भरे रथ इत्यादि इतनी वस्तुएँ दायजे में दीं जिनका वर्णन नहीं हो सकता॥४॥

छंद—दाइज दियो बहु भाँति पुनि कर जोरि हिमभूधर कह्यो।
का देउँ पूरनकाम संकर चरनपंकज गहि रह्यो॥
सिव कृपासागर ससुर कर संतोष सब भाँतिहि कियो।
पुनि गहे पदपाथोज मैना प्रेमपरिपूरन हियो॥

बहुत प्रकार का दहेज देकर फिर हाथ जोड़कर हिमाचल ने कहा कि हे शंकर! आप पूर्ण-काम हैं, मैं आपको क्या दे सकता हूँ। यह कहकर उसने शिवजी के पाँव पकड़ लिये। शिवजी कृपा-सागर हैं। उन्होंने अपने ससुर का सभी प्रकार से संतोष कर दिया। फिर प्रेम में भरकर मैना ने शिवजी के चरण-कमल छुए और कहा—

दो०—नाथ उमा मम प्रान सम गृहकिंकरी करेहु।
छमेहु सकल अपराध अब होइ प्रसन्न बर देहु॥१२५॥

हे नाथ, यह उमा मुझे मेरे प्राणों के समान है। आप इसे अपने घर की दासी बनाइए। अब इसके समस्त अपराधों को क्षमा करना। बस, प्रसन्न होकर यही वर दीजिए॥१२५॥

चौ०—बहु बिधि संभु सासु समुझाई। गवनी भवन चरन सिर नाई॥
जननी उमा बोलि तब लीन्ही। लेइ उछंग सुंदर सिख दीन्हीं॥१॥

शिवजी ने बहुत तरह से अपनी सास को समझाया। वह शिवजी के चरणों में प्रणाम करके घर गई। फिर माता ने पार्वती को बुलाया और गोद में बैठा कर सुन्दर सीख दी॥१॥

करेहु सदा संकर-पद-पूजा। नारिधरम पति देव न दूजा॥
बचन कहत भरि लोचन बारी। बहुरि लाइ उर लीन्हि कुमारी॥२॥

हे पुत्री! तू सदा शिवजी के चरणों की सेवा करना। नारियों के धर्म में पति के सिवा दूसरा देवता नहीं है। ये बातें कहते कहते उसकी आँखों में आँसू भर आये और फिर उसने कन्या को अपनी छाती से लगा लिया॥२॥

कत बिधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥
भइ अति प्रेम बिकल महतारी। धीरज कीन्ह कुसमउ बिचारी॥३॥

उसने फिर कहा कि नहीं मालूम ब्रह्मा ने नारी को क्यों संसार में पैदा किया, जिसे पराधीन रहने के कारण सपने में भी सुख नहीं मिलता। उस समय पार्वती की माता प्रेम में अत्यन्त विकल हो गई, परन्तु उसने कुसमय जानकर धीरज धरा ॥ ३ ॥

पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेमु कछु जाइ न बरना ॥

सब नारिन्ह मिलि भेँटि भवानी। जाइ जननि उर पुनि लपटानी ॥४॥

पार्वती माता से बार बार मिलती है और उसके पैरों पर गिरती है। इतना भारी प्रेम था कि कुछ कहा नहीं जाता। पार्वती सब स्त्रियों से मिल भेंटकर फिर अपनी माता की छाती से जा लगीं ॥ ४ ॥

छंद—जननिहिँ बहुरि मिलि चली उचित असीस सब काहू दई।

फिरि फिरि बिलोकति मातुतन तब सखी लेइ सिव पहँ गई ॥

जाचक सकल संतोषि संकर उमा सहित भवन चले।

सब अमर हरषे सुमन बरषि निसान नभ बाजे भले ॥

फिर माता से मिलकर पार्वती चलीं तब सबने उन्हें योग्य आशीर्वाद दिये। पार्वतीजी फिर फिरकर माता की ओर देखती जाती थीं। तब सखियाँ उन्हें शिवजी के पास ले गईं। महादेवजी सब माँगनेवालों को सन्तुष्ट कर पार्वती के साथ घर को चले। सब देवगण प्रसन्न होकर फूलों की वर्षा करने लगे और आकाश में सुन्दर बाजे बजने लगे ॥

दो०—चले संग हिमवंतु तब पहुँचावन अति हेतु।

बिबिध भाँति परितोषु करि बिदा कीन्ह बृषकेतु ॥१२६॥

हिमाचल अत्यन्त प्रीति से शिवजी को पहुँचाने के लिए साथ चले। शिवजी ने बहुत तरह से उन्हें समझा बुझाकर बिदा किया ॥ १२६ ॥

चौ०—तुरत भवन आये गिरिराई। सकल सैल सर लिये बोलाई ॥

आदर दान बिनय बहु माना। सब कर बिदा कीन्ह हिमवाना ॥१॥

हिमाचल तुरंत घर आये और उन्होंने सब पर्वतों और सरोवरों को बुलाया। हिमवान ने सबका आदर, भेट और विनयपूर्वक बहुत सम्मान किया और सबको बिदा किया ॥ १ ॥

जबहिँ संभु कैलासहि आये। सुर सब निज निज लोक सिधाये ॥

जगत-मातु-पितु संभु भवानी। तेहि सिंगारु न कहउँ बखानी ॥२॥

जब शिवजी कैलास पर्वत पर पहुँचे तब सब देवगण अपने अपने लोक को चले गये। तुलसीदासजी कहते हैं कि पार्वती और महादेवजी जगत् के माता और पिता हैं, इसलिए मैं उनके सिंगार का वर्णन नहीं करता ॥ २ ॥

करहिँ बिबिध बिधि भोग बिलासा। गनन्ह समेत बसहिँ कैलासा॥
हर-गिरिजा-बिहार नित नयऊ। एहि बिधि बिपुल काल चलि गयऊ॥३॥

शिव और पार्वती तरह तरह के भोग-विलास करते हुए अपने गणों के साथ कैलास पर रहने लगे। शिव और पार्वती नित्य नये विहार करते थे। इस प्रकार बहुत-सा समय बीत गया॥ ३॥

तब जनमेउ षट-बदन-कुमारा। तारकु असुरु समर जेहि मारा॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। षनमुख जनम सकल जग जाना॥४॥

तब छः मुँहवाले (स्वामिकार्तिक) पुत्र का जन्म हुआ, जिन्होंने लड़ाई में तारक नामक असुर को मारा। वेद, शास्त्र और पुराणों में इनके जन्म की कथा प्रसिद्ध है और इस कथा को सारा जगत् जानता है॥ ४॥

छंद—जगु जान षनमुखजनमु करमु प्रतापु पुरुषारथु महा।
तेहि हेतु मैं बृष-केतु-सुत कर चरित संछेपहि कहा॥
यह उमा-संभु-बिबाहु जे नर नारि कहहिँ जे गावहीँ।
कल्यान काज बिबाह मंगल सर्बदा सुख पावहीँ॥

स्वामिकार्तिक के जन्म, कर्म, प्रताप और महापुरुषार्थ को सारा जगत् जानता है। इसलिए मैंने शिवजी के पुत्र "स्वामिकार्तिक" का चरित्र संक्षेप से कहा है। पार्वती-महादेव के विवाह की इस कथा को जो स्त्री-पुरुष कहेंगे और गावेंगे वे सब कल्याण के कामों और विवाहोत्सवों में सदा आनन्द पावेंगे॥

दो०—चरितसिंधु गिरिजारमन बेद न पावहिँ पारु।
बरनइ तुलसीदास किमि अति-मति-मंद गवाँरु॥१२७॥

गिरिजापति श्रीमहादेवजी का चरित्र सागर के समान है। उसका पार वेद भी नहीं पाते। उसको तुलसीदास कैसे कह सकता है, क्योंकि वह तो बड़ा मन्दबुद्धि और गँवार है॥ १२७॥

चौ०—संभुचरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा॥
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयन नीरु रोमावलि ठाढ़ी॥१॥

महादेवजी के रसीले और सुहावने चरित को सुनकर भरद्वाजजी को बहुत सुख मिला। उनके जी में कथा सुनने की लालसा बहुत बढ़ी, आँखों में जल भर आया और रोमावली खड़ी हो गई॥ १॥

प्रेमबिबस मुख आव न बानी। दसा देखि हरषे मुनि ग्यानी॥
अहो धन्य तव जनम मुनीसा। तुम्हहि प्रान सम प्रिय गौरीसा॥२॥

वे प्रेम में इतने मगन हुए कि उनके मुँह से बोल तक नहीं निकला। उनकी यह दशा देखकर ज्ञानी मुनि याज्ञवल्क्य मन में बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—हे मुनीश, तुम्हारा जन्म धन्य है जो तुमको शिवजी प्राण के समान प्यारे हैं॥ २॥

सिव-पद-कमल जिन्हहिँ रति नाहीँ। रामहि ते सपनेहुँ न सुहाहीँ॥
बिनु छल बिस्व-नाथ-पद नेहू। रामभगत कर लच्छन एहू॥३॥

शिवजी के चरणकमलों में जिनकी प्रीति नहीं है वे रामचन्द्रजी को स्वप्न में भी अच्छे नहीं लगते। राम-भक्त का लक्षण यही है कि उसका शिवजी के चरणों में छल-रहित स्नेह हो॥ ३॥

सिव सम को रघु-पति-ब्रत-धारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥
पन करि रघुपतिभगति दृढाई। को सिव सम रामहिँ प्रिय भाई॥४॥

शिवजी के समान रामचन्द्रजी की भक्ति करनेवाला और कौन होगा जिन्होंने बिना अपराध "सती" जैसी स्त्री को त्याग दिया। उन्होंने प्रण करके रामचन्द्रजी की भक्ति को दृढ़ किया। भला रामचन्द्रजी को शिवजी के समान दूसरा और कौन प्यारा हो सकता है?॥ ४॥

दो०—प्रथमहि मैँ कहि सिवचरित बूझा मरमु तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त बिकार॥१२८॥

मैंने पहले शिवजी का चरित्र वर्णन करके तुम्हारा मर्म जान लिया कि तुम रामचन्द्रजी के पवित्र सेवक हो और सब बुराइयों से अलग हो॥ १२८॥

चौ०—मैँ जाना तुम्हार गुन सीला। कहउँ सुनहु अब रघु-पति-लीला।
सुनु मुनि आजु समागम तोरे। कहि न जाइ जस सुखु मन मोरे॥१॥

याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजी से कहते हैं कि मैंने तुम्हारा गुण और स्वभाव जान लिया। अब मैं रामचन्द्रजी की लीला कहता हूँ, उसे सुनो। हे मुनिराज! सुनिए तो, तुम्हारे मिलने से आज मेरे मन में जैसा आनन्द हुआ है वह कहा नहीं जा सकता॥ १॥

रामचरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिँ सतकोटि अहीसा॥
तदपि जथास्रुत कहउँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनु पानी॥२॥

हे मुनीश्वर, रामचरित इतना अपार है कि उसको सौ करोड़ शेषजी भी नहीं कह सकते। तो भी वाणी के पति और हाथ में धनुष-बाण लिये हुए श्रीरामचन्द्रजी को स्मरण करके जैसा मैंने सुना है वैसा कहता हूँ॥ २॥

सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥
जेहि पर कृपा करहिँ जनु जानी। कबि-उर-अजिर नचावहिँ बानी॥३॥

हे मुनीश, सरस्वतीजी कठपुतली के समान और स्वामी अन्तर्यामी रामचन्द्रजी सूत्रधार (कठपुतली को नचानेवाले) हैं। भक्त जानकर जिस पर वे कृपा करते हैं उस (भक्त) कवि के हृदयरूपी आँगन में सरस्वती को वे नचाया करते हैं॥ ३॥

प्रनवउँ सोइ कृपाल रघुनाथा। बरनउँ बिसद तासु गुनगाथा॥
परम रम्य गिरिबरु कैलासू। सदा जहाँ सिव-उमा-निवासू॥४॥

उन्हीं कृपालु रघुनाथजी को मैं प्रणाम करता हूँ और उन्हीं के सुन्दर गुणों की कथा को कहता हूँ। गिरिश्रेष्ठ कैलास बहुत ही रमणीय है जहाँ शिव-पार्वती सदा निवास करते हैं॥ ४॥

दो०—सिद्ध तपोधन जोगिजन सुर किन्नर मुनिबृंद।
बसहिँ तहाँ सुकृती सकल सेवहिं सिव सुखकंद॥१२९॥

उस पर्वत पर रहकर सिद्ध, तपस्वी, योगी, देव, किन्नर, मुनिजन और पुण्यात्मा लोग—सब सुख की खान—श्रीमहादेवजी की सेवा किया करते हैं॥ १२९॥

चौ०—हरि-हर-बिमुख धरमरति नाहीँ। ते नर तहँ सपनेहुँ नहिँ जाहीँ॥
तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुंदर सब काला॥१॥

जो लोग विष्णु और महादेवजी से विमुख हैं और जिन्हें धर्म में श्रद्धा नहीं है, वे मनुष्य स्वप्न में भी वहाँ नहीं जा सकते। उस पर्वत पर एक बरगद का बड़ा वृक्ष है, जो सदा ही नित्य नया और सुन्दर रहता है॥ १॥

त्रिबिध समीर सुसीतल छाया। सिव-बिस्राम-बिटप स्रुति गाया॥
एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ। तरु बिलोकि उर अति सुखु भयऊ॥२॥

वहाँ तीन प्रकार की शीतल, मंद और सुगन्धित पवन चला करती है और छाया बड़ी ही शीतल है। वेदों ने गाया है कि वह पेड़ शिवजी के विश्राम करने के लिए है। एक बार प्रभु (शिवजी) उस वृक्ष के नीचे गये तो उसे देखकर उनके हृदय में बहुत आनन्द हुआ॥ २॥

निज कर डासि नाग-रिपु-छाला। बैठे सहजहिँ संभु कृपाला॥
कुंद-इंदु-दर-गौर-सरीरा। भुज प्रलंब परिधन मुनिचीरा॥३॥

अपने हाथ से बाघंबर बिछाकर कृपालु शिवजी स्वाभाविक रीति से उस पर बैठ गये। उनका शरीर कुन्द के फूल, शंख और चन्द्रमा के समान गौर था। लंबी भुजायें थीं, और वे मुनियों की तरह वल्कल धारण किये हुए थे॥ ३॥

तरुन-अरुन-अंबुज-सम चरना। नखदुति भगत-हृदय-तम-हरना॥
भुजग-भूति-भूषन त्रिपुरारी। आननु सरद-चंद-छबि-हारी॥४॥

उनके चरण नये लाल कमल के समान थे और उनके नखों की ज्योति भक्तों के हृदय का अन्धकार दूर करनेवाली थी। वे साँप और भस्म के भूषण-धारी, त्रिपुरासुर के शत्रु थे। उनके मुख की शोभा शरत्काल के चन्द्रमा की छवि को फीकी करनेवाली थी॥ ४॥

दो०—जटामुकुट सुरसरित सिर लोचननलिन बिसाल।
नीलकंठ लावन्यनिधि सोह बालबिधु भाल॥१३०॥

सिर पर जटाओं का मुकुट था और गंगाजी थीं। उनके नेत्र कमल के समान सुन्दर थे। उनके गले में नीला चिह्न था और वे लावण्य (अनोखी सुन्दरता) के समुद्र थे। उनके मस्तक पर द्वितीया का चन्द्रमा शोभायमान था॥ १३०॥

चौ०—बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांतरस जैसे॥
पारबती भल अवसरु जानी। गईं संभु पहँ मातु भवानी॥१॥

कामदेव के शत्रु शिवजी महाराज बैठे हुए ऐसे शोभित हो रहे थे कि मानों शान्त-रस ही शरीर धारण करके बैठा हो। सुअवसर समझकर माता पार्वती उनके पास गईं॥ १॥

जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा। बामभाग आसनु हर दीन्हा॥
बैठीं सिवसमीप हरषाई। पूरब-जनम-कथा चित आई॥२॥

शिवजी ने उन्हें अपनी प्यारी (अर्धांगिनी) जानकर उनका बहुत आदर किया और बैठने को अपनी बाईं ओर आसन दिया। पार्वतीजी प्रसन्न होकर जब शिवजी के पास बैठ गईं तब उनके मन में पहले जन्म की कथा आई॥ २॥

पति-हिय-हेतु अधिक अनुमानी। बिहँसि उमा बोलीं प्रिय बानी॥
कथा जो सकल-लोक-हित-कारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥३॥

स्वामी के हृदय में अपने ऊपर बहुत प्रेम समझकर पार्वतीजी हँसकर मीठे वचन बोलीं। जो कथा सब लोकों का हित करनेवाली है उसे ही पार्वतीजी पूछना चाहती हैं॥ ३॥

बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी॥
चर अरु अचर नाग नर देवा। सकल करहिं पद-पंकज-सेवा॥४॥

हे मेरे नाथ, हे विश्वनाथ, हे त्रिपुरारि! आपकी महिमा तीनों लोकों में विख्यात है। चर, अचर, नाग, मनुष्य और देवता भी सब आपके चरण-कमलों की सेवा करते हैं॥ ४॥

दो०—प्रभु समरथ सर्बग्य सिव सकल-कला-गुन-धाम।
जोग-ग्यान-बैराग्य-निधि प्रनतकलपतरु नाम॥१३१॥

आप प्रभु हैं, समर्थ हैं, सर्वज्ञ हैं, मंगलरूप हैं, सब कलाओं और गुणों के स्थान हैं और योग, ज्ञान तथा वैराग्य के निधि हैं। आपका नाम भक्तों के लिए कल्पवृक्ष के समान है॥ १३१॥

चौ०—जौं मोपर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी॥
तौ प्रभु हरहु मोर अग्याना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥१॥

हे आनन्द-कन्द, जो आप मुझ पर प्रसन्न हैं और जो मुझे अपनी सच्ची दासी जानते हैं, तो हे स्वामी! आप रामचन्द्रजी की नाना प्रकार की कथा कहकर मेरा अज्ञान दूर कीजिए॥१॥

जासु भवनु सुरतरु तर होई। सह कि दरिद्रजनित दुखु सोई॥
ससिभूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मतिभ्रम भारी॥२॥

जिसका घर कल्पवृक्ष के नीचे हो भला वह दरिद्रता का दुःख कैसे सह सकता है? हे चन्द्र-भूषण, हे नाथ! यही बात जी में विचारकर मेरे बड़े भारी बुद्धि-भ्रम को दूर करो॥ २॥

प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥
सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति-गुन-गाना॥३॥

हे प्रभु, जो परमार्थतत्त्व के जाननेवाले मुनि हैं वे रामचन्द्रजी को अनादि ब्रह्म कहते हैं। और शेष, सरस्वती, वेद और पुराण सब रामचन्द्रजी के गुण गाते हैं॥ ३॥

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग-अराती॥
रामु सो अवध-नृपति-सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥४॥

हे कामदेव के शत्रु, आप भी दिन-रात आदरपूर्वक राम राम जपा करते हैं। क्या राम वही हैं, जो अयोध्या के राजा के पुत्र हैं? या कोई और अजन्मा और निर्गुण हैं, जिनकी गति दिखाई नहीं देती?॥ ४॥

दो०—जौं नृपतनय तो ब्रह्म किमि नारिबिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥१३२॥

जो राजा के पुत्र हैं तो वे ब्रह्म कैसे हैं? क्योंकि उनकी मति, स्त्री के विरह में, बावली हो गई थी। उनके चरित देख और महिमा सुनकर, मेरी बुद्धि अत्यन्त भ्रम में पड़ रही है॥१३२॥

चौ०—जौं अनीह व्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥
अग्य जानि रिस उर जनि धरहू। जेहिं बिधि मोह मिटइ सोइ करहू॥१॥

जो वे कोई दूसरे इच्छा-रहित और व्यापक ब्रह्म हैं तो हे नाथ! मुझे वह समझाकर कहिए। मुझे मूर्ख समझकर आप जी में क्रोध न कीजिएगा। जिस तरह मेरा अज्ञान दूर हो सो ही कीजिए॥ १॥

मैं बन दीख रामप्रभुताई। अति-भय-बिकल न तुम्हहिं सुनाई॥
तदपि मलिनमन बोध न आवा। सो फलु भली भाँति हम पावा॥२॥

मैंने (पिछले जन्म में) वन में जाकर रामचन्द्रजी की प्रभुता देखी थी। अत्यन्त डर से व्याकुल होकर मैंने वह बात आपको नहीं सुनाई थी। तो भी मेरे मैले मन को चेत न हुआ। सो उसका फल मैंने अच्छी तरह पा लिया ॥ २ ॥

अजहूँ कछु संसय मन मोरे। करहु कृपा बिनवउँ कर जोरे ॥
प्रभु तब मोहि बहुभाँति प्रबोधा। नाथ सो समुझि करहु जनि क्रोधा ॥३॥

हे नाथ, मेरे मन में अभी तक कुछ सन्देह है। आप कृपा कीजिए। मैं हाथ जोड़कर विनती करती हूँ। हे प्रभु, आपने उस समय मुझे बहुत तरह से समझाया था (पर तो भी मुझे ज्ञान नहीं हुआ इसलिए) हे नाथ, वह बात सोचकर (मुझे मन्दमति जानकर) क्रोध न कीजिए ॥ ३ ॥

तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं ॥
कहहु पुनीत राम-गुन-गाथा। भुजग-राज-भूषन सुरनाथा ॥४॥

अब मेरे जी में पहला-सा अज्ञान नहीं है और मेरे जी में रामकथा के सुनने की रुचि है। हे सर्पराजभूषण, हे देवों के नाथ (शिवजी)! आप रामचन्द्रजी के गुणों की पवित्र कथा कहिए ॥ ४ ॥

दो०—बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ कर जोरि।
बरनहु रघुबर-बिसद-जसु स्रुतिसिद्धांत निचोरि ॥१३३॥

मैं धरती में सिर रखकर आपके चरणों को प्रणाम करती हूँ और हाथ जोड़कर विनती करती हूँ। आप वेदों के सिद्धान्त को निचोड़ कर रामचन्द्रजी के निर्मल यश का वर्णन कीजिए ॥ १३३ ॥

चौ०—जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी ॥
गूढउ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरति अधिकारी जहँ पावहिं ॥१॥

यद्यपि (एक साधारण) स्त्री इस बात के सुनने के अयोग्य है, तथापि मैं मन, कर्म और वचन से आपकी दासी हूँ। जब साधुजन आर्त (सुनने को आतुर) अधिकारी को पाते हैं तब वे गूढ़ तत्त्व को भी नहीं छिपाते ॥ १ ॥

अति आरति पूछउँ सुरराया। रघुपतिकथा कहहु करि दाया ॥
प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी ॥२॥

हे देवराज, मैं बड़ी दीनता से पूछती हूँ, आप कृपा करके रामचन्द्रजी की कथा कहिए। पहले वह कारण विचार कर बतलाइए कि निर्गुण ब्रह्म शरीर धारण करके सगुण क्यों कर हो गया ॥ २ ॥

पुनि प्रभु कहहु रामअवतारा। बालचरित पुनि कहहु उदारा॥
कहहु जथा जानकी बिबाही। राज तजा सो दूषन काही॥३॥

फिर हे नाथ! आप रामचन्द्रजी के जन्म की कथा कहिए और फिर उनका उदार बाल-चरित कहिए। फिर जैसे जानकी से विवाह किया वह कहिए और फिर यह बतलाइए कि उन्होंने जो राज्य छोड़ दिया उसका दोष किसके सिर था॥ ३॥

बन बसि कीन्हे चरित अपारा। कहहु नाथ जिमि रावन मारा॥
राज बैठि कीन्ही बहु लीला। सकल कहहु संकर सुखसीला॥४॥

हे नाथ, फिर उन्होंने वन में बसकर जो अनेक चरित किये तथा जिस तरह रावण को मारा वह कहिए। हे सुख-स्वभाव शंकर, उन्होंने राज्य पर बैठकर जो अनेक लीलाएँ की थीं उन सबकी कथा भी आप कहिए॥ ४॥

दो०—बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजासहित रघु-बंस-मनि किमि गवने निज धाम॥१३४॥

हे दयानिधे, फिर रामचन्द्रजी ने बड़े अचरज के जो काम किये और रघु-कुल-भूषण (रामचन्द्रजी) प्रजासहित वैकुण्ठ को कैसे गये यह भी कहिए॥ १३४॥

चौ०—पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी। जेहि बिग्यान मगन मुनि ग्यानी॥
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। पुनि सब बरनहु सहित बिभागा॥१॥

हे प्रभु, फिर आप उस तत्त्व का वर्णन कीजिए कि जिस ज्ञान में ज्ञानी और मुनिजन मग्न रहते हैं। और फिर आप भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य को विभागों सहित कहिए॥ १॥

अउरउ रामरहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥
जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयाल राखहु जनि गोई॥२॥

इसके सिवा रामचन्द्रजी के जो और भी छिपे हुए अनेक चरित हों, जो अति निर्मल ज्ञान की बातें हों, उनका भी वर्णन कीजिए। हे दयालु, जो बात मैंने न पूछी हो उसे भी आप गुप्त न रखिएगा॥ २॥

तुम्ह त्रिभुवनगुरु बेद बखाना। आन जीव पावँर का जाना॥
प्रस्न उमा के सहज सुहाए। छलबिहीन सुनि सिवमन भाए॥३॥

वेदों ने आपको तीनों लोकों का गुरु कहा है। दूसरा बेचारा प्राणी क्या जान सकता है। पार्वती के सरल, सुन्दर और छल-रहित प्रश्नों को सुनकर शिवजी के मन को वे बहुत अच्छे लगे॥ ३॥

हरहिय रामचरित सब आये। प्रेम पुलक लोचन जल छाये॥
श्री-रघुनाथ-रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥४॥

महादेवजी के हृदय में सब रामचरितों का स्मरण हो गया और प्रेम के मारे उनकी रोमावली खड़ी हो गई और आँखों में जल भर आया। श्रीरामचन्द्रजी का रूप उनके हृदय में आ गया और उन्हें बड़ा ही आनन्द और अनन्त सुख हुआ॥ ४॥

दो०—मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपतिचरित महेस तब हरषित बरनइ लीन्ह॥१३५॥

शिवजी दो घड़ी तक ध्यान के रस में मग्न रहे, फिर उन्होंने मन को ध्यान से हटाया और वे प्रसन्न होकर रामचन्द्रजी का चरित वर्णन करने लगे॥ १३५॥

चौ०—झूठउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपनभ्रम जाई॥१॥

जिसके बिना जाने झूठ भी सच मालूम होता रहता है जैसे रस्सी बिना पहचाने साँप मालूम होती है; जिसके जानने से संसार उसी प्रकार छूट जाता है, जैसे जागने पर स्वप्न का भ्रम जाता रहता है॥ १॥

बंदउँ बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥
मंगलभवन अमंगलहारी। द्रवउ सो दसरथ-अजिर-बिहारी॥२॥

उन्हीं बालरूप रामचन्द्रजी की मैं वन्दना करता हूँ जिनका नाम जपने से सब सिद्धि सहज हो जाती है। मंगल के घर, अमंगल के हरनेवाले और दशरथ के आँगन में खेलनेवाले रामचन्द्रजी मुझ पर कृपा करें॥ २॥

करि प्रनाम रामहिँ त्रिपुरारी। हरषि सुधासम गिरा उचारी॥
धन्य धन्य गिरि-राज-कुमारी। तुम्ह समान नहिँ कोउ उपकारी॥३॥

शिवजी रामचन्द्रजी को प्रणाम करके प्रसन्न होकर अमृत के समान वाणी से बोले।— हे गिरिराजकुमारी पार्वती, तुमको धन्य है! धन्य है! तुम्हारे बराबर कोई उपकारी नहीं॥ ३॥

पूछेउ रघुपति-कथा-प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥
तुम्ह रघुबीर-चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगतहित लागी॥४॥

तुमने रामचन्द्रजी की कथा का प्रसङ्ग पूछा है जो जगत् के सारे लोकों को पवित्र करने के लिए गंगाजी के समान है। रामचन्द्रजी के चरणों में तुम्हारा प्रेम है। तुमने जगत् के हित के लिए प्रश्न पूछे हैं॥ ४॥

दो०—रामकृपा तें पारबति सपनेहु तव मन माहिँ।
सोक मोह संदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिँ ॥१३६॥

हे पार्वती, मेरे विचार में तो स्वप्न में भी तुम्हारे हृदय में शोक, मोह, संदेह, भ्रम कुछ नहीं है; क्योंकि तुम पर श्रीरामचन्द्रजी की कृपा है ॥ १३६ ॥

चौ०—तदपि असंका कीन्हिहु सोई। कहत सुनत सब कर हित होई ॥
जिन्ह हरिकथा सुनी नहिँ काना। स्रवनरंध्र अहिभवन समाना ॥१॥

पर तो भी (शंकारहित होने पर भी) तुमने वही शंका की है, जिसके कहने और सुनने से सबका हित हो। जिन्होंने अपने कानों से भगवान् की कथा नहीं सुनी उनके कान साँप के बिल के समान हैं ॥ १ ॥

नयनन्हि संतदरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख कर लेखा ॥
ते सिर कटु तुंबरि सम तूला। जे न नमत हरि-गुरु-पद-मूला ॥२॥

जिन्होंने अपनी आँखों से सन्तों के दर्शन नहीं किये उनकी आँखें मोर के पंखों पर लिखी आँखों के समान हैं। वे सिर कड़वी तूँबी के समान हैं जो हरि और गुरु के चरणों में नहीं रखे जाते ॥ २ ॥

जिन्ह हरिभगति हृदय नहिँ आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी ॥
जो नहिँ करइ राम-गुन-गाना। जीह सो दादुरजीह समाना ॥३॥

जिन्होंने अपने हृदय में ईश्वर की भक्ति नहीं की, वे प्राणी जीते हुए भी मुर्दे के समान हैं। जो जीभ रामचन्द्रजी के गुणों को नहीं गाती वह मेंडक की जीभ के समान है ॥ ३ ॥

कुलिसकठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती ॥
गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुरहित दनुज-बिमोहन-सीला ॥४॥

वह निठुर हृदय वज्र के समान कड़ा है जो हरिचरित को सुनकर भी प्रसन्न नहीं होता। हे पार्वती, देवों का हित करने और दैत्यों को मोहित करनेवाली रामचन्द्रजी की लीलाओं को सुनो ॥ ४ ॥

दो०—रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब-सुख-दानि।
सतसमाज सुरलोक सब को न सुनइ अस जानि ॥१३७॥

रामचन्द्रजी की कथा कामधेनु के समान है। वह सेवा करते ही सब सुख देती है। सत्पुरुषों का समाज ही देवताओं का लोक है, ऐसा जान कर वह कौन होगा जो इसे न सुने ॥ १३७ ॥

चौ०—रामकथा सुंदर करतारी । संसयबिहग उड़ावनिहारी ॥
रामकथा कलि-बिटप-कुठारी । सादर सुनु गिरिराजकुमारी ॥१॥

रामचन्द्रजी की कथा हाथ की सुन्दर ताली है । वह संदेहरूपी पक्षियों को उड़ानेवाली है । हे पार्वती, रामकथा कलियुगरूपी वृक्ष के काटने के लिए कुठाररूप है । अतएव तुम इसे आदरपूर्वक सुनो ॥ १ ॥

राम-नाम-गुन-चरित सुहाये । जनम करम अगनित स्रुति गाये ॥
जथा अनंत राम भगवाना । तथा कथा कीरति गुन नाना ॥ २ ॥

रामचन्द्रजी के नाम, गुण, चरित, जन्म और कर्म वेदों ने अनगिनत गाये हैं । जिस तरह भगवान् रामचन्द्रजी अनन्त हैं उसी तरह उनकी कथा, उनकी कीर्त्ति और उनके गुण भी अनन्त हैं ॥ २ ॥

तदपि जथास्रुत जसि मति मोरी । कहिहउँ देखि प्रीति अति तोरी ॥
उमा प्रस्न तव सहज सुहाए । सुखद संतसंमत मोहि भाए ॥ ३ ॥

पर तो भी तुम्हारा अत्यन्त प्रीति देखकर मैं अपनी बुद्धि के अनुसार जैसी मैंने सुनी है वैसी ही कथा कहता हूँ। हे पार्वती, तुम्हारे प्रश्न स्वाभाविक ही अच्छे हैं । वे सुखदायक हैं और सन्तों के सम्मत हैं इससे मुझे भी अच्छे लगे हैं ॥ ३ ॥

एक बात नहिँ मोहि सुहानी । जदपि मोहबस कहेहु भवानी ॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना । जेहि स्रुति गाव धरहिँ मुनि ध्याना ॥४॥

हे पार्वती, यद्यपि तुमने मोह के वश कही है, तो भी एक बात मुझे अच्छी नहीं लगी । वह बात तुमने यह कही है कि जिन्हें वेद गाते और जिनका मुनिजन ध्यान करते हैं वे राम कोई और हैं ॥ ४ ॥

दो०—कहहिँ सुनहिँ अस अधम नर ग्रसे जे मोहपिसाच ।
पाखंडी हरि-पद-बिमुख जानहिँ झूठ न साच ॥१३८॥

जिनको मोहरूपी पिशाच ने घेर रक्खा हो, जो पाखण्डी हों, जो भगवान् के चरणों से विमुख हों और जो सत्य असत्य को नहीं जानते वे अधम मनुष्य इस तरह (वेद-प्रतिपादित राम दूसरे हैं) कहते सुनते हैं ॥ १३८ ॥

चौ०—अग्य अकोबिद अंध अभागी । काई बिषय मुकुरमन लागी ॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी । सपनेहु संतसभा नहिँ देखी ॥१॥

जो अज्ञानी, मूर्ख, (ज्ञानरूपी नेत्रों के) अन्धे और अभागे हैं और जिनके मनरूपी दर्पण पर विषयरूपी मैल लग रहा है, जो लम्पट, कपटी और बहुत टेढ़े हैं और जिन्होंने स्वप्न में भी सन्तों की सभा नहीं देखी है ॥ १ ॥

कहहिँ ते बेद असंमत बानी। जिन्ह के सूझ लाभ नहिँ हानी॥
मुकुर मलिन अरु नयनबिहीना। रामरूप देखहिँ किमि दीना॥२॥

जिन्हें अपने लाभ और हानि का ज्ञान नहीं होता, वे ही वेदों के विरुद्ध बातें कहा करते हैं। एक तो मैला दर्पण और दूसरे अन्धे मनुष्य—भला वे बेचारे राम का रूप कैसे देख सकते हैं॥ २॥

जिन्ह के अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिँ कल्पित बचन अनेका॥
हरि-माया-बस जगत भ्रमाहीँ। तिन्हहिँ कहत कछु अघटित नाहीँ॥३॥

जिनको निर्गुण और सगुण का ज्ञान नहीं, जो मनमानी गप्पें मारा करते हैं और जो ईश्वर की माया के वश में होकर जगत् में भ्रमते फिरते हैं उनके लिए कुछ भी कहना असम्भव नहीं है॥ ३॥

बातुल, भूत-बिबस, मतवारे। ते नहिँ बोलहिँ बचन बिचारे॥
जिन्ह कृत महा-मोह-मद-पाना। तिन्ह कर कहा करिय नहिँ काना॥४॥

जिन्हें बाई (सन्निपात) चढ़ी हो, भूत लगा हो, और जो मदोन्मत्त हों, ऐसे लोग वचन विचार कर नहीं बोलते। जिन लोगों ने महा-मोहरूपी मदिरा पी रखी है ऐसों के बचनों पर कान न देना चाहिए॥ ४॥

सो०—अस निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु रामपद।
सुनु गिरि-राज-कुमारि भ्रम-तम-रबि-कर बचन मम॥१३६॥

ऐसा अपने जी में विचार कर सन्देह को दूर करो और रामचन्द्रजी के चरणों को भजो। हे पार्वती! सुनो, मेरे वचन संदेहरूपी अंधकार का नाश करने के लिए सूर्य की किरणों के समान हैं॥ १३९॥

चौ०—सगुनहिँ अगुनहिँ नहिँ कछु भेदा। गावहिँ मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई॥१॥

मुनि, पुराण, पण्डित और वेद कहते हैं कि सगुण और निर्गुण में कुछ भेद नहीं है। जो निर्गुण (ब्रह्म) अरूप, अलख और अजन्मा है वही भक्तों के प्रेम के वश होकर सगुण हो जाता है॥ १॥

जो गुन-रहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहिँ जैसे॥
जासु नाम भ्रम-तिमिर-पतंगा। तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा॥२॥

जो निर्गुण है वही सगुण कैसे हो सकता है? (तो यह वैसे ही है) जैसे जल से ओला भिन्न नहीं, दोनों एक ही हैं। (यह भी नहीं कह सकते कि निर्गुण ब्रह्म उपाधि-सहित या

माया-युक्त होकर सगुण हो जाता है, क्योंकि) जिसका नाम भ्रमरूपी अन्धकार के लिए सूर्य के समान है उसके लिए मोह का संसर्ग भी कैसे कहा जा सकता है ॥ २ ॥

राम सच्चिदानंद - दिनेसा । नहिँ तहँ मोह-निसा-लव-लेसा ॥
सहज प्रकासरूप भगवाना । नहिँ तहँ पुनि बिग्यानबिहाना ॥३॥

रामचन्द्रजी, सच्चिदानन्दरूपी सूर्य हैं । उनमें मोहरूपी रात्रि का लेशमात्र भी नहीं है । भगवान् स्वभाव से ही प्रकाशरूप हैं, इसलिए फिर वहाँ ज्ञानरूपी प्रातःकाल नहीं होता (जब रात नहीं तब प्रातःकाल कैसा ?) ॥ ३ ॥

हरष बिषाद ग्यान अग्याना । जीव धरम अहमिति अभिमाना ॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना । परमानंद परेस पुराना ॥४॥

हर्ष और शोक, ज्ञान और अज्ञान, अहङ्कार और अभिमान ये सब धर्म जीव के हैं । संसार जानता है कि रामचन्द्र तो परमानन्द, परेश अर्थात् सबके ऊपर स्वामी, पुराण पुरुष, व्यापक ब्रह्म हैं ॥ ४ ॥

दो०—पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावर नाथ ।
रघु-कुल-मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ ॥१४०॥

जो पुरुष के नाम से प्रसिद्ध हैं, प्रकाश के निधि हैं और जो पर (ब्रह्म-इन्द्रादिक) तथा अवर (अस्मदादिक, हम लोग) सभी के स्वामी हैं, वही रघुकुलमणि श्रीरामचन्द्रजी मेरे स्वामी हैं । इतना कहकर शिवजी ने अपना सिर नवाकर उनको प्रणाम किया ॥ १४० ॥

चौ०—निज भ्रम नहिँ समुझहिँ अग्यानी । प्रभु पर मोह धरहिँ जड़ प्रानी ॥
जथा गगन घनपटल निहारी । झँपेउ भानु कहहिँ कुबिचारी ॥१॥

अज्ञानी मनुष्य अपनी भूल को तो समझते नहीं, और वे मूर्ख प्राणी ईश्वर में मोह धरते हैं । जैसे आकाश में बादलों के जमाव को देखकर दूषित विचारवाले लोग कहते हैं कि सूर्य छिप गया ॥ १ ॥

चितव जो लोचन अंगुलि लायें । प्रगट जुगुल ससि तेहि के भायें ।
उमा रामबिषयक अस मोहा । नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥२॥

जो मनुष्य अपनी आँखों के सामने उँगली लगाकर देखता है उसके हिसाब से तो दो चन्द्रमा स्पष्ट दिखाई देते हैं । हे पार्वती, रामचन्द्रजी के लिए मोह की बात कहना ऐसा ही है जैसे आकाश में धूल और धुएँ का अँधेरा होता है ॥ २ ॥

बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक तेँ एक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥३॥

विषय, इन्द्रियाँ, देव और जीव ये सब एक से एक चेतन हैं। इन सबका जो परम प्रकाशक है, अर्थात् जिससे ये सब चीजें चेतन होती हैं, वही अनादि ब्रह्म अयोध्या-नरेश रामचन्द्रजी हैं ॥ ३ ॥

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान-गुन-धामू ॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोहसहाया ॥४॥

जगत् प्रकाश्य है और रामचन्द्र प्रकाशक हैं। वे माया के स्वामी और ज्ञान तथा गुण के धाम हैं। उनकी सत्ता से मोह की सहायता पाकर जड़ (अचेतन) माया सत्य-सी जान पड़ती है ॥ ४ ॥

दो०—रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥१४१॥

जैसे सीप में चाँदी का और सूर्य की किरणों में पानी का आभास होता है। यद्यपि, ये बातें तीनों कालों में झूठ हैं, पर इस भ्रम को कोई टाल नहीं सकता ॥ १४१ ॥

चौ०—एहि बिधि जग हरि आस्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौं सपने सिर काटइ कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई ॥१॥

इस तरह यह संसार भगवान् के सहारे रहता है। यद्यपि जगत् असत्य है तो भी दुःख देता है, जिस तरह स्वप्न में कोई सिर काट ले तो विना जागे उसका दुःख दूर नहीं होता ॥ १ ॥

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा ॥२॥

हे पार्वती, जिनकी कृपा से इस तरह का भ्रम मिट जाता है वे ही कृपालु रामचन्द्रजी हैं। उनका आदि और अन्त किसी ने नहीं पाया। वेदों ने अपनी बुद्धि के अनुसार ऐसा ही गाया है ॥ २ ॥

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥
आननरहित सकल-रस-भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥३॥

वह ब्रह्म पाँवों के बिना चलता है, कानों के बिना सुनता है, हाथों के बिना तरह तरह के काम करता है, मुँह के बिना ही वह सारे रसों का भोग करता है और वाणी के बिना ही बड़ा योग्य वक्ता तथा योगी है ॥ ३ ॥

तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा ॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहि बरनी ॥४॥

वह शरीर के बिना ही छूने का काम करता है और आँखों के बिना देखता है। वह

नाक के बिना अनेक प्रकार की महक सूँघता है। इस तरह उस ब्रह्म की करनी सभी प्रकार से अलौकिक है। उसकी महिमा नहीं कही जा सकती ॥ ४ ॥

दो०—जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिँ मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान ॥१४२॥

जिसको वेद और पण्डित इस तरह गाते हैं और मुनि-जन जिसका ध्यान धरते हैं, वही ब्रह्म भक्तों के लिए, कोसलदेश के स्वामी, दशरथ के पुत्र भगवान रामचन्द्रजी हुए ॥१४२॥

चौ०—कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नामबल करउँ बिसोकी॥
सोइ प्रभु मोर चराचरस्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी ॥१॥

हे पार्वती, काशी में मरते हुए प्राणी को देखकर मैं उसे जिसके नाम के बल से शोकरहित कर देता हूँ (अर्थात् मुक्त कर देता हूँ), वही रघुवर रामचन्द्र सबके हृदय में रहनेवाले, सारे चराचर के और मेरे स्वामी हैं ॥ १ ॥

बिबसहु जासु नाम नर कहहीँ। जनम अनेक रचित अघ दहहीँ॥
सादर सुमिरन जे नर करहीँ। भवबारिधि गोपद इव तरहीँ ॥२॥

मनुष्य बेबस होकर भी जिनका नाम लेते हैं तो उनके अनेक जन्मों के किये हुए पाप जल जाते हैं। जो मनुष्य आदरपूर्वक उनका स्मरण करते हैं, वे संसाररूपी समुद्र को वैसे ही पार कर जाते हैं जैसे गाय के खुर के गड्ढे को अर्थात् उनके लिए भवसागर गाय के खुर पड़ने से बने हुए गड्ढे के समान छोटा हो जाता है ॥ २ ॥

राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी॥
अस संसय आनत उर माहीँ। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीँ ॥३॥

हे पार्वती, वही रामचन्द्र परमात्मा हैं। उनके संबंध में तुम्हारा इस प्रकार के भ्रम की बात कहना अनुचित है। मन में इस तरह का सन्देह लाते ही (मनुष्य के) ज्ञान, वैराग्य आदि सारे गुण दूर हो जाते हैं ॥ ३ ॥

सुनि सिव के भ्रमभंजन बचना। मिटि गइ सब कुतरक कै रचना॥
भइ रघुपति-पद-प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती ॥४॥

भ्रम दूर करनेवाले शिवजी के वचनों को सुनकर (पार्वती की) सारी दुष्ट तर्कों की बनावट मिट गई। उनके चित्त में रामचन्द्रजी के चरणों के प्रति प्रीति और विश्वास हो गया और कठिन (रामचन्द्रजी के ईश्वर न होने के सम्बन्ध में) अविश्वास जाता रहा ॥ ४ ॥

दो०—पुनि पुनि प्रभु-पद-कमल गहि जोरि पंकरुहपानि।
बोलीँ गिरिजा बचन बर मनहुँ प्रेमरस सानि ॥१४३॥

स्वामी के चरणकमलों को बार बार छूकर और कमलरूपी हाथ जोड़कर, पार्वतीजी मानों प्रेम-रस में सानकर सुन्दर वचन बोलीं—॥ १४३ ॥

चौ०—ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥
तुम्ह कृपाल सबु संसय हरेऊ। रामसरूप जानि मोहिं परेऊ॥१॥

चन्द्रमा की किरणों के समान आपके वचनों से, शरद्-ऋतु की बड़ी धूप के समान, मेरा मोह-ताप शान्त हो गया। हे दयालु, आपने मेरे सारे संदेह हर लिये। मुझे भी रामचन्द्रजी का यथार्थ रूप मालूम हो गया॥ १ ॥

नाथकृपा अब गयउ बिषादा। सुखी भइउँ प्रभु-चरन-प्रसादा॥
अब मोहि आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड नारि अयानी॥२॥

हे नाथ! आपकी कृपा से मेरा दुःख जाता रहा और आपके चरणों की दया से मैं सुखी हो गई। यद्यपि स्त्रियाँ स्वभाव से ही मूर्ख और ज्ञानहीन होती हैं, पर अब आप मुझे अपनी दासी जान कर॥ २ ॥

प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू। जौं मो पर प्रसन्न प्रभु अहहू॥
राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्ब-रहित सब-उर-पुर-बासी॥३॥

जो आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो वही कहिए जो बात मैंने आपसे पहले पूछी थी। जो रामचन्द्र ब्रह्म हैं, चिन्मय हैं, अविनाशी हैं, सबसे अलग और सबके हृदय में बसते हैं॥ ३ ॥

नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू॥
उमाबचन सुनि परम बिनीता। रामकथा पर प्रीति पुनीता॥४॥

तो हे वृषभकेतु! आप यह समझा कर बतलाइए कि उन्होंने मनुष्य का शरीर किस कारण से धारण किया। पार्वती के अत्यन्त नम्र वचन सुनकर और रामचन्द्रजी की कथा में पवित्र प्रीति देखकर॥ ४ ॥

दो०—हिय हरषे कामारि तब संकर सहज सुजान।
बहु बिधि उमहि प्रसंसि पुनि बोले कृपानिधान॥१४४॥

कामदेव के शत्रु, सहज सुजान कृपानिधान शिवजी मन में बहुत ही प्रसन्न हुए और पार्वती की बार बार प्रशंसा करके फिर बोले—॥ १४४ ॥

सो०—सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़॥१४५॥

हे पार्वती, रामचरितमानस की उस पवित्र कथा को सुनो, जिसे कागभुसुण्डि ने वर्णन करके कहा था और पक्षिराज गरुड़जी ने सुना था॥ १४५ ॥

सो संबाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब ।
सुनहु रामअवतार चरित परम सुंदर अनघ ॥१४६॥

वह उत्तम संवाद जिस तरह हुआ सो मैं आगे कहूँगा। अभी तुम रामचन्द्रजी के अवतार का परम सुन्दर और पापरहित चरित सुनो ॥ १४६ ॥

हरिगुन नाम अपार कथारूप अगनित अमित ।
मैं निज मति-अनुसार कहउँ उमा सादर सुनहु ॥१४७॥

हरि के गुण और नाम अपार हैं और उनकी कथाएँ भी अनगिनत और अपार हैं। हे पार्वती, मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूँ सो आदरपूर्वक सुनो ॥ १४७ ॥

चौ०—सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाये । बिपुल बिसद निगमागम गाये ॥
हरिअवतार हेतु जेहि होई । इदमित्थं कहि जाइ न सोई ॥१॥

हे पार्वती! वेद और शास्त्रों में कहे हुए निर्मल, विस्तृत और सुन्दर हरिचरित को सुनो। हरि का अवतार जिस लिए होता है, वह कारण बिलकुल ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता ॥ १ ॥

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी । मत हमार अस सुनहि सयानी ॥
तदपि संत मुनि बेद पुराना । जस कछु कहहिं स्व-मति अनुमाना ॥२॥

हे भवानी! सुनो, हमारा यह मत है कि रामचन्द्रजी के विषय में बुद्धि, मन और वाणी से विचार नहीं किया जा सकता। पर तो भी सन्तों, मुनियों, वेदों और पुराणों ने अपना अपनी बुद्धि के अनुसार जैसा कुछ कहा है ॥ २ ॥

तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही । समुझि परइ जस कारन मोही ॥
जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥३॥

और हे सुमुखि, जो कुछ कारण मेरी समझ में आता है, तैसा मैं तुमको सुनाता हूँ। जब जब धर्म की हानि होती है और नीच, अभिमानी राक्षस बढ़ जाते हैं ॥ ३ ॥

करहिं अनीति जाइ नहि बरनी । सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जनपीरा ॥४॥

जब वे ऐसा अन्याय करते हैं कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता; ब्राह्मण, गाय, देवता और पृथ्वी बहुत ही दुःखी हो जाते हैं तब तब कृपानिधि भगवान् तरह तरह के शरीर धारण करके सज्जनों के दुःखों को दूर किया करते हैं ॥ ४ ॥

दो०—असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज स्रुति-सेतु ।
जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजनम कर हेतु ॥१४८॥

वे असुरों को मारकर देवों को प्रतिष्ठित करते हैं और अपनी वेद की मर्यादा की रक्षा करते हैं। वे अपना निर्मल यश संसार में फैलाते हैं। रामचन्द्रजी के जन्म का यही कारण है ॥ १४८ ॥

चौ०—सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं ॥
रामजनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका ॥१॥

उसी यश को गाकर भक्तजन भवसागर को तर जाते हैं। कृपासागर भगवान् भक्तों के हित के लिए मनुष्य-शरीर धारण करते हैं। रामचन्द्रजी के जन्म के कई कारण हैं और उनमें एक से एक अत्यन्त विचित्र हैं ॥ १ ॥

जनम एक दुइ कहउँ बखानी। सावधान सुनु सुमति भवानी ॥
द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरु बिजय जान सब कोऊ ॥२॥

हे सुन्दर बुद्धिवाली भवानी! तुम सावधान होकर सुनो। मैं उनके दो एक अवतारों का वर्णन करता हूँ। विष्णु के जय और विजय नाम के दो प्यारे द्वारपाल हैं, जिनको सब कोई जानते हैं ॥ २ ॥

बिप्रस्राप तें दूनउँ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई ॥
कनककसिपु अरु हाटकलोचन। जगत बिदित सुर-पति-मद-मोचन ॥३॥

उन दोनों भाइयों ने ब्राह्मण के शाप से तामस दैत्य शरीर पाया। एक का नाम था हिरण्यकशिपु और दूसरे का हिरण्याक्ष। वे देवताओं के राजा (इन्द्र) के गर्व को दूर करनेवाले सारे जगत् में प्रसिद्ध हुए ॥ ३ ॥

बिजई समर बीर बिख्याता। धरि बराह बपु एक निपाता ॥
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा। जन प्रहलाद सुजस बिस्तारा ॥४॥

वे युद्ध के जीतनेवाले और बड़े विख्यात शूरवीर थे। भगवान् ने वराह का रूप धारण करके एक (हिरण्याक्ष) को मारा। फिर नरसिंहरूप धारण करके दूसरे (हिरण्य-कशिपु) को मारा और अपने भक्त प्रह्लाद का शुद्ध यश फैलाया ॥ ४ ॥

दो०—भये निसाचर जाइ तेइ महाबीर बलवान।
कुंभकरन रावन सुभट सुरबिजई जग जान ॥१४९॥

वे ही दोनों बलवान् और महावीर दैत्य फिर रावण और कुम्भकर्ण नाम के बड़े योद्धा देवताओं को जीतनेवाले हुए, जिन्हें सारा जगत जानता है ॥ १४९ ॥

चौ०—मुकुत न भये हते भगवाना। तीनि जनम द्विजबचन प्रमाना ॥
एक बार तिनके हित लागी। धरेउ सरीर भगतअनुरागी ॥१॥

यद्यपि भगवान् ने उन्हें मारा था, पर तो भी वे मुक्त न हुए; क्योंकि ब्राह्मण के वचन

का प्रमाण (शाप) तीन जन्म के लिए था। उनके हित के लिए (एक बार) भक्तवत्सल भगवान् ने फिर अवतार लिया ॥ १ ॥

कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसिल्या बिख्याता ॥
एक कलप एहि बिधि अवतारा। चरित पवित्र किये संसारा ॥२॥

वहाँ उनके पिता और माता कश्यप और अदिति थे जो दशरथ और कौशल्या के नाम से प्रसिद्ध हुए। एक कल्प में इस तरह अवतार हुआ। उनके चरित्र ने संसार को पवित्र किया ॥ २ ॥

एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलन्धर सन सब हारे ॥
संभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरइ न मारा ॥३॥
परम सती असुराधिपनारी। तेहि बल ताहि न जितहिँ पुरारी ॥४॥

एक कल्प में जलन्धर (नामक दैत्य) से हार जाने के कारण सब देवताओं को दुःखी देखकर शिवजी ने उस दैत्य से बड़ा ही घोर युद्ध किया, पर वह महाबली दैत्य मार नहीं मरता था ॥ ३ ॥ उस दैत्य की स्त्री बड़ी ही पतिव्रता थी। उसके बल से शिवजी उस दैत्य को जीत न सकते थे ॥ ४ ॥

दो०—छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुरकारज कीन्ह।
जब तेहि जानेउ मरम तब साप कोप करि दीन्ह ॥१५०॥

भगवान् ने कपट से उस दैत्य की स्त्री का व्रत टाला और देवताओं का काम बनाया। जब उस स्त्री ने यह मर्म जाना तब उसने क्रोध में भर कर शाप दिया ॥ १५० ॥

चौ०—तासु साप हरि दीन्ह प्रमाना। कौतुकनिधि कृपाल भगवाना ॥
तहाँ जलंधर रावन भयऊ। रन हति राम परम पद दयऊ ॥१॥

उस स्त्री का शाप भगवान ने स्वीकार किया; क्योंकि वे बड़े ही कौतुकी और दयालु हैं। तब वह दैत्य जलन्धर रावण बना जिसे भगवान् ने लड़ाई में मार कर परम पद दिया ॥ १ ॥

एक जनम कर कारन एहा। जेहि लगि राम धरी नर-देहा ॥
प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी ॥२॥

एक जन्म का यही कारण था जिससे रामचन्द्रजी ने मनुष्य-देह धारण किया। हे (भरद्वाज) मुनि! भगवान् के हर एक अवतार की कथा कवियों ने विस्तार से वर्णन की है ॥ २ ॥

नारद साप दीन्ह एक बारा । कलप एक तेहि लगि अवतारा ॥
गिरिजा चकित भई सुनि बानी । नारद बिस्नुभगत पुनि ग्यानी ॥३॥

एक बार नारद मुनि ने शाप दिया, इसलिए एक कल्प में उसके लिए अवतार हुआ। यह बात सुनकर पार्वतीजी बड़ी चकित हुईं (और बोलीं कि) नारद तो बड़े ज्ञानी और विष्णु-भक्त हैं ॥ ३ ॥

कारन कवन साप मुनि दीन्हा । का अपराध रमापति कीन्हा ॥
यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी । मुनिमन मोह आचरज भारी ॥४॥

उन्होंने भगवान् को किस कारण शाप दिया ? भगवान् ने उनका क्या अपराध किया था ? हे त्रिपुरारि ! यह कथा मुझसे कहो। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि मुनि (नारद) को भी मोह हो गया ॥ ४ ॥

दो०—बोले बिहँसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ ।
जेहि जस रघुपति करहिँ जब सो तस तेहि छन होइ ॥१५१॥

तब शिवजी ने हँसकर कहा कि न कोई ज्ञानी है और न मूर्ख। भगवान् रामचन्द्रजी जब जिसको जैसा करते हैं तब वह तत्काल वैसा ही हो जाता है ॥ १५१ ॥

सो०—कहउँ राम-गुन-गाथ भरद्वाज सादर सुनहु ।
भवभंजन रघुनाथ भजु तुलसी तजि मान मद ॥१५२॥

हे भरद्वाज, मैं रामचन्द्रजी की गुणगाथा कहता हूँ। तुम आदर से सुनो। तुलसीदासजी कहते हैं कि संसार के पार उतारनेवाले रघुनाथजी को मान और मद को छोड़ कर भजो ॥ १५२ ॥

चौ०—हिम-गिरि-गुहा एक अति पावनि । बह समीप सुरसरी सुहावनि ॥
आस्रमु परम पुनीत सुहावा । देखि देवरिषि मन अति भावा ॥१॥

हिमाचल पर एक बड़ी पवित्र गुफा थी। उसके पास ही सुन्दर गङ्गा नदी बहती थी। उस परम पवित्र और सुन्दर आश्रम को नारद मुनि ने देखा। वह उनको बहुत अच्छा लगा ॥ १ ॥

निरखि सैल सरि बिपिनबिभागा । भयउ रमापति-पद-अनुरागा ॥
सुमिरत हरिहि सापगति बाधी । सहज बिमल मन लागि समाधी ॥२॥

पर्वत, नदी और तरह तरह के वनों को देखकर नारदजी का प्रेम भगवान् के चरणों में लग गया (दक्ष महाराज ने उनको शाप देकर कहा था कि तुम कभी कहीं अधिक देर तक न ठहरो, सदा घूमते फिरते ही रहो)। भगवान् का स्मरण करने से नारद मुनि का वह शाप मिट गया और फिर स्वभाव से ही निर्मल मन समाधि में लग गया ॥ २ ॥

मुनिगति देखि सुरेस डराना। कामहिँ बोलि कीन्ह सनमाना॥
सहित सहाय जाहु मम हेतू। चलेउ हरषि हिय जल-चर-केतू॥३॥

नारद मुनि की गति (समाधि) देखकर देवराज इंद्र डरा। उसने कामदेव को बुलाकर उसका आदर किया, और उससे कहा कि मेरी भलाई के लिए तुम अपने साथियों-सहित (समाधि-भङ्ग करने को) जाओ। (इन्द्र की आज्ञा पाते ही) कामदेव मन में प्रसन्न होकर चला॥३॥

सुनासीर मन महँ असि त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर वासा॥
जे कामी लोलुप जग माहीँ। कुटिल काक इव सबहिँ डेराहीँ॥४॥

इन्द्र के मन में यह बड़ा डर था कि देवर्षि नारद मेरे लोक (स्वर्ग) का राज्य चाहते हैं। जो लोग संसार में कामी और लोभी होते हैं वे, कुटिल कौए की तरह, सबसे डरते हैं॥४॥

दो०—सूख हाड़ लेइ भाग सठ स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जानि जड़ तिमि सुरपतिहि न लाज॥१५३॥

जैसे मूर्ख कुत्ता सिंह को देखकर सूखा हाड़ लेकर भागे और यह समझे कि कहीं उस हाड़ को वह सिंह छीन न ले, वैसे ही इन्द्र को (नारदजी मेरा इन्द्रलोक लेंगे ऐसा सोचते हुए) लज्जा न मालूम हुई॥१५३॥

चौ०—तेहि आस्रमहि मदन जब गयऊ। निज माया बसंत निरमयऊ॥
कुसुमित बिबिध बिटप बहुरंगा। कूजहिँ कोकिल गुंजहिँ भृंगा॥१॥

जब कामदेव उस आश्रम में गया तब उसने अपनी माया से वहाँ वसन्त-ऋतु बना दी। तरह तरह के वृक्षों पर रङ्ग-बिरङ्गे फूल खिल गये और उन पर कोयलें कूकने लगीं और भौंरे गुंजारने लगे॥१॥

चली सुहावनि त्रिबिध बयारी। कामकृसानु बढ़ावनिहारी॥
रंभादिक सुर-नारि नवीना। सकल असम-सर-कला-प्रबीना॥२॥

काम की आग को बढ़ानेवाली त्रिविध अर्थात शीतल, मन्द और सुगन्धित सुन्दर हवा चलने लगी। देवताओं की रम्भा आदि युवती स्त्रियाँ, जो सब काम की कलाओं में चतुर थीं॥२॥

करहिँ गान बहु तान तरंगा। बहु बिधि क्रीड़हिँ पानि पतंगा॥
देखि सहाइ मदन हरषाना। कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना॥३॥

तरह तरह की तानों की तरङ्ग के साथ गाने लगीं। जल में अनेक प्रकार के पक्षी क्रीड़ा करने लगे। इस तरह सहायता पाकर कामदेव बहुत प्रसन्न हुआ और फिर उसने बहुत से ढङ्ग रचे॥३॥

कामकला कछु मुनिहि न ब्यापी। निज भय डरेउ मनोभव पापी॥
सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥४॥

जब कामदेव की माया का प्रभाव मुनि पर कुछ भी न हुआ, तब पापी कामदेव अपने ही लिए मन में डरा। जिसके बड़े रक्षक लक्ष्मीपति भगवान् हैं (भला) उसकी मर्यादा को कौन दबा सकता है॥४॥

दो०—सहित सहाइ सभीत अति मानि हारि मन मैन।
गहेसि जाइ मुनिचरन तब कहि सुठि आरत बैन॥१५४॥

फिर अपने सहायकों-समेत कामदेव ने बहुत डर कर और हार मान कर मुनि के चरणों को जा पकड़ा। वह नम्र आर्त-वचन बोलने लगा॥१५४॥

चौ०—भयउ न नारद मन कछु रोषा। कहि प्रिय बचन काम परितोषा॥
नाइ चरन सिरु आयसु पाई। गयउ मदन तब सहित सहाई॥१॥

नारद मुनि के मन में कुछ भी क्रोध न आया। उन्होंने प्यार के वचन कहकर कामदेव को समझाया। फिर मुनि के चरणों में सिर नवाकर और आज्ञा लेकर कामदेव अपने सहायकों के साथ चला गया॥१॥

मुनि सुसीलता आपनि करनी। सुर-पति-सभा जाइ सब बरनी॥
सुनि सब के मन अचरजु आवा। मुनिहि प्रसंसि हरिहि सिरु नावा॥२॥

उसने अपनी करतूत और मुनि की भलमनसी इन्द्र की सभा में जा कही। वह सुनकर सबके मन में अचरज हुआ और उन्होंने नारदजी की बड़ाई करके भगवान् को प्रणाम किया॥२॥

तब नारद गवने सिव पाहीं। जिता काम अहमिति मन माहीं॥
मारचरित संकरहि सुनाये। अतिप्रिय जानि महेस सिखाये॥३॥

तब नारदजी शिवजी के पास गये। "मैंने कामदेव को जीत लिया" यह अहङ्कार मुनि के मन में भर गया था। उन्होंने कामदेव की सारी लीला शिवजी को सुना दी। शिवजी ने उनको बहुत प्यारा समझकर शिक्षा दी कि॥३॥

बार बार बिनवउँ मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनायहु मोही॥
तिमि जनि हरिहि सुनायहु कबहूँ। चलेहु प्रसंग दुरायहु तबहूँ॥४॥

हे मुनि, मैं तुमसे बार बार प्रार्थना करता हूँ कि जिस तरह यह कथा तुमने मुझे सुनाई है, इस तरह विष्णु को कभी मत सुनाना। जो प्रसंग भी चले तो भी इस बात को छिपा जाना॥४॥

दो०—संभु दीन्ह उपदेस हित नहिँ नारदहि सुहान ।
भरद्वाज कौतुक सुनहु हरिइच्छा बलवान ॥१५५॥

शिवजी ने भलाई के विचार से यह उपदेश दिया पर नारद मुनि को वह अच्छा न लगा। (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) हे भरद्वाज, अब कौतुक सुनो। हरि की इच्छा बड़ी बलवती है ॥ १५५ ॥

चौ०—राम कीन्ह चाहहिँ सोइ होई । करइ अन्यथा अस नहिँ कोई ॥
संभुबचन मुनि मन नहिँ भाये । तब बिरंचि के लोक सिधाये ॥१॥

जो राम किया चाहते हैं वही होता है। ऐसा कोई नहीं है जो उसे अन्यथा कर सके। शिवजी के वाक्य नारदजी को न सुहाये—फिर वे वहाँ से ब्रह्मलोक गये ॥ १ ॥

एक बार करतल बरबीना । गावत हरिगुन गानप्रबीना ॥
छीरसिंधु गवने मुनिनाथा । जहँ बस श्रीनिवास स्रुतिमाथा ॥२॥

गानविद्या में चतुर नारद मुनि एक बार हरियश गाते और हाथ में सुन्दर वीणा लिये हुए क्षीरसागर में गये जहाँ वेदों के पूज्य श्रीनिवास भगवान् रहते हैं ॥ २ ॥

हरषि मिलेउ उठि कृपानिकेता । बैठे आसन रिषिहि समेता ॥
बोले बिहँसि चराचरराया । बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया ॥३॥

दयानिधान भगवान् उठकर बड़े आनन्द से उनसे मिले और ऋषि के साथ आसन पर बैठ गये। चराचर के राजा भगवान् हँसकर बोले—हे मुनि, आज आपने बहुत दिनों में दया की ॥ ३ ॥

कामचरित नारद सब भाखे । जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे ॥
अति प्रचंड रघुपति कै माया । जेहि न मोह अस को जग जाया ॥४॥

यद्यपि शिवजी ने पहले ही मना कर रक्खा था, पर तो भी नारदजी ने कामदेव की सब लीला उन्हें कह सुनाई। रघुनाथजी की माया बड़ी ही प्रबल है। ऐसा जगत् में कौन जन्मा है जिसे उनकी माया ने मोहित न किया हो ॥ ४ ॥

दो०—रूख बदन करि बचन मृदु बोले श्रीभगवान ।
तुम्हरे सुमिरन तेँ मिटहिँ मोह मार मद मान ॥१५६॥

भगवान् ने मुँह रूखा कर नरम वचनों से कहा—हे मुनिराज, तुम्हारा स्मरण करने से भी मोह, कामदेव का मद और घमंड दूर हो जाते हैं। (तब आप पर उसका प्रभाव कैसे पड़ सकता है) ॥ १५६ ॥

चौ०—सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ग्यान बिराग हृदय नहिँ जाकें॥
ब्रह्मचरज-ब्रत-रत मतिधीरा। तुम्हहिँ कि करइ मनोभव पीरा॥१॥

हे मुनि, सुनिए। जिसके हृदय में ज्ञान और वैराग्य नहीं होते उसी के मन में मोह होता है। आप तो बड़े धीर-बुद्धिवाले और ब्रह्मचर्य्यव्रत के पालन करनेवाले हैं। भला आपको कामदेव क्या सता सकता है?॥१॥

नारद कहेउ सहित अभिमाना। कृपा तुम्हारि सकल भगवाना॥
करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी॥२॥

नारदजी ने अभिमान से कहा कि हे भगवान्! यह सब आपकी कृपा है। कृपा-निधान भगवान् ने मन में विचारा कि अब इनके मन में अभिमानरूपी भारी वृक्ष का अङ्कुर उग आया है॥२॥

बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥
मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करब मैं सोई॥३॥

अब मैं इसे जल्दी उखाड़ फेकूँगा, क्योंकि भक्तों का हित करने की मेरी प्रतिज्ञा है। मैं अवश्य वही उपाय करूँगा जिसमें मुनि की भलाई और मेरा कौतुक हो॥३॥

तब नारद हरिपद सिरु नाई। चले हृदय अहमिति अधिकाई॥
श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी॥४॥

तब नारद मुनि भगवान् के चरणों में सिर नवाकर मन में अभिमान बढ़ाये हुए चले। फिर भगवान् ने अपनी माया को प्रेरणा की, और उसने जो कठिन काम किया उसको सुनो॥४॥

दो०—बिरचेउ मग महुँ नगर तेहि सतजोजन बिस्तार॥
श्री-निवास-पुर तेँ अधिक रचना बिबिध प्रकार॥१५७॥

उस (माया) ने मार्ग में (जिस मार्ग से नारदजी जा रहे थे) सौ योजन (चार सौ कोस) का एक बहुत ही सुन्दर नगर बनाया। उस नगर की भाँति भाँति की रचना लक्ष्मी-निवास भगवान् के वैकुण्ठ से भी अधिक सुन्दर थी॥१५७॥

चौ०—बसहि नगर सुंदर नर-नारी। जनु बहु मनसिज रति तनुधारी॥
तेहि पुर बसइ सीलनिधि राजा। अगनित हय गय सेन समाजा॥१॥

उस नगर में (ऐसे) सुन्दर नर-नारी रहते थे कि मानों अनेक कामदेव और (उसकी स्त्री) रति ने ही शरीर धारण कर रखे हों। उस नगर में शीलनिधि (नामक) राजा रहता था। उसके यहाँ घोड़े, हाथी और सेना के समूह अनगिनत थे॥१॥

सत सुरेस सम बिभव बिलासा। रूप तेज बल नीति निवासा॥
बिस्वमोहनी तासु कुमारी। श्री बिमोह जेहि रूपु निहारी॥२॥

सौ इन्द्रों के समान उस राजा का वैभव था। रूप, तेज और नीति का तो (मानों) उसमें निवास ही था। उसके विश्वमोहनी (नाम की एक) कन्या थी जिसका रूप देखकर लक्ष्मी भी मोहित हो जाय॥ २॥

सोइ हरि-माया सब-गुन-खानी। सोभा तासु कि जाइ बखानी॥
करइ स्वयंबर सो नृपबाला। आये तहँ अगनित महिपाला॥३॥

वही सारे गुणों की खान भगवान् की माया थी। क्या उसकी शोभा वर्णन की जा सकती है? वह राजकन्या स्वयंवर कर रही थी और वहाँ अनगिनत राजा आये थे॥ ३॥

मुनि कौतुकी नगर तेहि गयऊ। पुरवासिन्ह सब पूछत भयऊ॥
सुनि सब चरित भूपगृह आये। करि पूजा नृप मुनि बैठाये॥४॥

नारदजी कौतूहल से उस नगर में गये और उन्होंने नगरनिवासियों से सब हाल पूछा। वहाँ का समाचार सुनकर (मुनि) राजा के मकान पर गये। राजा ने पूजा करके उन्हें आसन पर बैठाया॥ ४॥

दो०—आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि।
कहहु नाथ गुन-दोष सब एहि के हृदय बिचारि॥१५८॥

राजा ने अपनी पुत्री को लाकर नारद मुनि को दिखलाया और पूछा कि हे नाथ, आप अपने मन में विचार कर इसके गुण-दोष कहिए॥ १५८॥

चौ०—देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥
लच्छन तासु बिलोकि भुलाने। हृदय हरष नहिँ प्रगट बखाने॥१॥

उसके रूप को देखते ही मुनि सारा वैराग्य भूल गये। वे बहुत देर तक उसे देखते रहे। उसके लक्षण देखकर मुनि सब कर्तव्य भूल गये और मन में आनन्दित हुए (पर) लक्षणों को प्रकट नहीं कहा॥ १॥

जो एहि बरइ अमर सोइ होई। समरभूमि तेहि जीत न कोई॥
सेवहिँ सकल चराचर ताही। बरइ सीलनिधि कन्या जाही॥२॥

(वे मन में कहने लगे कि) जो कोई इसे वरेगा वह अमर होगा और उसे कोई युद्ध में न जीत सकेगा। शीलनिधि की यह कन्या जिसे वरेगी, उसकी सेवा सारा जगत् करेगा॥ २॥

लच्छन सब बिचारि उर राखे । कछुक बनाइ भूपसन भाखे ॥
सुता सुलच्छन कहि नृप पाहीं । नारद चले सोच मन माहीं ॥३॥

(इसी तरह) लक्षणों को विचार कर मुनि ने अपने मन में रखा और राजा से कुछ और बनाकर कह दिया। नारद मुनि राजा से यह कहकर चल दिये कि तुम्हारी पुत्री सुलक्षणा (अच्छे लक्षणोंवाली) है, पर उनके मन में बड़ा सोच-विचार था ॥ ३ ॥

करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी । जेहि प्रकार मोहि बरइ कुमारी ॥
जप तप कछु न होइ तेहि काला । हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला ॥४॥

मैं विचार कर ऐसा उपाय करूँ जिससे (यह) कन्या मुझे ही वर ले। उस समय जप तप कुछ भी नहीं हो सकता। हे ब्रह्मन्! मुझे वह कन्या किस तरह मिले, (यही रटन लगी थी) ॥ ४ ॥

दो०—एहि अवसर चाहिय परम सोभा रूप बिसाल ।
जो बिलोकि रीझइ कुअँरि तब मेलइ जयमाल ॥१५६॥

इस समय बड़ा ही सुन्दर और विशाल रूप तथा शोभा चाहिए, जिसे देखते ही रीझ कर कुमारी जयमाल डाल दे ॥ १५९ ॥

चौ०—हरि सन माँगउँ सुंदरताई । होइहि जात गहरु अति भाई ॥
मोरे हित हरि सम नहि कोऊ। एहि अवसर सहाय सोइ होऊ ॥१॥

जो मैं इस समय भगवान् के पास सुन्दरता माँगने जाऊँ, तो आने-जाने में बहुत देर लग जायगी। मेरे लिए हरि के समान हितकारी दूसरा कोई नहीं है। इस समय वे ही मेरे सहायक हों ॥ १ ॥

बहु बिधि बिनय कीन्हि तेहि काला । प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला ॥
प्रभु बिलोकि मुनि-नयन जुड़ाने । होइहि काजु हिये हरषाने ॥२॥

उस समय (नारद मुनि ने) भगवान् की बहुत विनती की। कौतुकी और कृपालु भगवान् वहीं प्रकट हुए। स्वामी को देखकर नारदजी के नेत्र शीतल हो गये और वे मन में बड़े ही प्रसन्न हुए कि अब काम बन जायगा ॥ २ ॥

अति आरति कहि कथा सुनाई । करहु कृपा करि होहु सहाई ॥
आपन रूप देहु प्रभु मोही । आन भाँति नहिँ पावउँ ओही ॥३॥

नारद मुनि ने बड़ी दीनता से वह कथा सुनाई और कहा कि हे नाथ, अब कृपा करके मेरी सहायता कीजिए। हे स्वामी, आप अपना रूप मुझको दीजिए। मैं और किसी तरह उस (राजकन्या) को नहीं पा सकता ॥ ३ ॥

जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥
निज मायाबल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला॥४॥

हे नाथ! जिस तरह मेरा कल्याण हो, आप वही काम जल्दी कीजिए। मैं आपका दास हूँ। अपनी माया के विशाल बल को देखकर दीनदयालु भगवान मन में हँसकर बोले—॥४॥

दो०—जेहि बिधि होइहि परमहित नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥१६०॥

हे नारद! सुनो, जिस तरह तुम्हारा परम हित होगा वही हम करेंगे, दूसरा नहीं। हमारा वचन असत्य नहीं होता॥१६०॥

चौ०—कुपथ माँग रुजब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥
एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ। कहि अस अंतरहित प्रभु भयऊ॥१॥

हे मुनि, योगी! रोग से व्याकुल होकर रोगी जिस तरह कुपथ्य माँगा करता है पर वैद्य उसे नहीं देता, इसी तरह मैंने भी तुम्हारे हित को सोच लिया है। इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये॥१॥

मायाबिबस भये मुनि मूढा। समुझी नहिं हरिगिरा निगूढा॥
गवने तुरत तहाँ रिषिराई। जहाँ स्वयंबरभूमि बनाई॥२॥

ईश्वर की माया के वश में होकर मुनि ऐसे मोहित हो गये कि वे भगवान् की गूढ़ बात को न समझ सके। फिर नारदजी तुरन्त वहाँ चले गये जहाँ स्वयंवर की भूमि रची हुई थी॥२॥

निज निज आसन बैठे राजा। बहु बनाव करि सहित समाजा॥
मुनिमन हरष रूप अति मोरे। मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरे॥३॥

खूब तैयारी करके राजा लोग अपने समाज (मित्र-मण्डली) के साथ अपने अपने आसन पर बैठे थे। नारद मुनि के मन में बड़ा हर्ष था कि मेरा रूप बहुत ही सुन्दर है। अतएव कन्या भूल कर भी मेरे सिवा दूसरे को न बरेगी॥३॥

मुनिहित कारन कृपानिधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना॥
सो चरित्र लखि काहु न पावा। नारद जानि सबहि सिर नावा॥४॥

कृपानिधान भगवान् ने मुनि के हित के लिए उनको ऐसा कुरूप कर दिया था कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता, पर वह चरित्र (नारदजी का कुरूप होना) किसी को मालूम न हुआ और सबने उन्हें नारद ही जानकर प्रणाम किया॥४॥

दो०—रहे तहाँ दुइ रुद्रगन ते जानहिँ सब भेउ।
बिप्रबेष देखत फिरहिँ परम कौतुकी तेउ॥१६१॥

वहाँ दो रुद्र-गण भी थे। वे सब भेद जानते थे। वे दोनों बड़े खिलाड़ी थे और ब्राह्मण का रूप धारण किये हुए वहाँ का सब कौतुक देखते फिरते थे॥ १६१॥

चौ०—जेहि समाज बैठे मुनि जाई। हृदय रूपअहमिति अधिकाई॥
तहँ बैठे महेसगन दोऊ। बिप्रबेष गति लखइ न कोऊ॥१॥

जिस समाज में नारदजी मन में अपने रूप का घमण्ड किये जा बैठे थे, वहीं पर शिवजी के वे दोनों गण ब्राह्मण का रूप बनाकर बैठे थे। वेष बदला रहने से उन्हें कोई न पहचानता था॥ १॥

करहिँ कूटि नारदहि सुनाई। नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई॥
रीझिहि राजकुअँरि छबि देखी। इन्हहिँ बरिहि हरि जानि बिसेखी॥२॥

नारदजी को सुनाकर वे ठट्ठा करके कहने लगे कि भगवान् ने इनको अच्छी सुन्दरता दी है। इनकी छवि को देखकर राजकुमारी रीझ जायगी और इन्हीं को विशेष रूप से हरि जान कर बरेगी॥ २॥

मुनिहि मोह मन हाथ पराये। हँसहिँ संभुगन अति सचुपाये॥
जदपि सुनहि मुनि अटपटि बानी। समुझि न परइ बुद्धि-भ्रम-सानी॥३॥

नारदजी को मोह हुआ था और उनका मन दूसरे के हाथ (माया के वश में) था। शिवजी के गण अत्यंत सुख या आनन्द पाकर ख़ूब हँसते थे। यद्यपि मुनि इस तरह की अटपटी (हँसी की) बातें सुनते थे पर तो भी वे उनको समझ न पड़ती थीं क्योंकि उनकी बुद्धि भ्रम में पड़ी हुई थी॥ ३॥

काहु न लखा सो चरित बिसेखा। सो सरूप नृपकन्या देखा॥
मर्कटबदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही॥४॥

इस विशेष चरित को किसी ने नहीं देखा। बस केवल उस राज-कन्या ने वह रूप देखा। उनका मुँह बन्दर का और सारा शरीर डरावना था। उसे देखते ही कन्या के हृदय में बड़ा क्रोध हुआ॥ ४॥

दो०—सखी संग लेइ कुअँरि तब चलि जनु राजमराल।
देखत फिरइ महीप सब करसरोज जयमाल॥१६२॥

तब वह राज-कन्या सखी को संग लेकर राजहंसिनी की तरह चलती हुई, कमल से हाथों में जयमाल लिये हुए, सब राजाओं को देखती फिरती थी॥ १६२॥

चौ०—जेहि दिसि बैठे नारद फूली । सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली ॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिँ अकुलाहीँ । देखि दसा हरगन मुसुकाहीँ ॥ १ ॥

जिस ओर फूले हुए नारदजी बैठे थे उस ओर उसने भूलकर भी न देखा । नारदजी बार बार उचकते और अकुलाते थे । उनकी यह दशा देखकर शिवजी के गण मुसकुराते थे ॥ १ ॥

धरि नृपतनु तहँ गयउ कृपाला । कुअँरि हरषि मेलेउ जयमाला ॥
दुलहिनि लेइ गे लच्छिनिवासा । नृपसमाज सब भयउ निरासा ॥ २ ॥

भगवान् राजा का रूप बनाकर वहाँ गये । कुमारी ने देखते ही प्रसन्न होकर उन्हीं को जयमाल पहना दी । दुलहिन को लेकर श्रीनिवास भगवान् चले गये और सब राज-समाज निराश होकर रह गया ॥ २ ॥

मुनि अति बिकल मोहमति नाँठी । मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ॥
तब हरगन बोले मुसुकाई । निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई ॥ ३ ॥

मोह से बुद्धि नष्ट होने के कारण नारद मुनि अत्यन्त व्याकुल थे, मानों अपनी गाँठ खुल जाने से मणि गिर गई हो । तब शिवजी के गणों ने हँसकर कहा कि हे मुनिराज ! जाकर दर्पण में अपना मुँह तो देखो ॥ ३ ॥

अस कहि दोउ भागे भय भारी । बदन दीख मुनि बारि निहारी ॥
बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा । तिन्हहि सराप दीन्ह अति गाढ़ा ॥ ४ ॥

ऐसा कहकर दोनों गण बहुत डरकर भागे । मुनि ने (वहाँ से चलकर) जल में झाँककर अपना रूप देखा । तब बन्दर का रूप देखकर मुनि को बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने उन दोनों गणों को बड़ा घोर शाप दिया ॥ ४ ॥

दो०—होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी पापी दोउ ।
हँसेहु हमहिँ सो लेहु फल बहुरि हँसेहु मुनि कोउ ॥ १६३ ॥

तुम दोनों कपटी और पापी राक्षस हो जाओ । हमारी हँसी की, उसका फल चक्खो । फिर किसी मुनि की हँसी करना ॥ १६३ ॥

चौ०—पुनि जल दीख रूप निज पावा । तदपि हृदय संतोष न आवा ॥
फरकत अधर कोप मन माहीँ । सपदि चले कमलापति पाहीँ ॥ १ ॥

उन्होंने फिर जल में झाँककर देखा तो वही अपना पहला रूप मिला, पर तो भी उनके जी में सन्तोष न हुआ । मन में क्रोध भरा हुआ है, ओंठ फरक रहे हैं, वे झपाटे से लक्ष्मीनाथ विष्णु के पास चले ॥ १ ॥
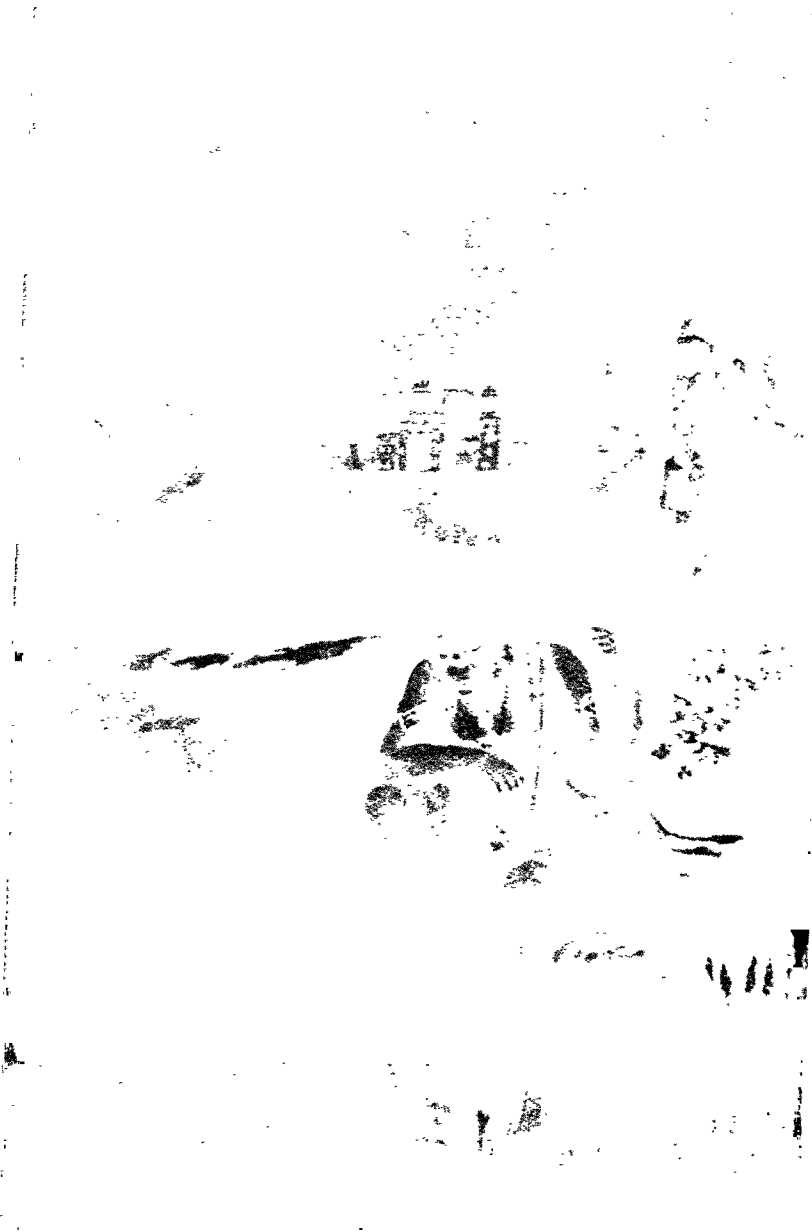
पुनि जल दीख रूप निज पावा ।
तदपि हृदय संतोष न आवा ॥ पृ० १३४

देइहउँ साप कि मरिहउँ जाई। जगत मोरि उपहास कराई॥
बीचहि पंथ मिले दनुजारी। संग रमा सोइ राजकुमारी॥ २॥

वे मन में कहते जाते थे कि मैं या तो उन्हें शाप दूँगा या जाकर मरूँगा। उन्होंने जगत में मेरी हँसी कराई है। भगवान् उन्हें बीच रास्ते में ही मिल गये। उनके साथ वही राजकुमारी और लक्ष्मी थीं॥ २॥

बोले मधुर बचन सुरसाईं। मुनि कहँ चले बिकल की नाईं॥
सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। मायाबस न रहा मन बोधा॥ ३॥

देवताओं के राजा भगवान् मीठी वाणी से बोले कि हे मुनि, तुम विकल हुए-से कहाँ चले जा रहे हो। इतना सुनते ही मुनि को बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ और माया के वश होने के कारण उन्हें कुछ भी ज्ञान न रहा॥ ३॥

परसंपदा सकहु नहि देखी। तुम्हरे इरिषा कपट बिसेखी॥
मथत सिंधु रुद्रहि बौरायहु। सुरन्ह प्रेरि बिषपान करायहु॥४॥

(नारदजी ने विष्णु से कहा कि) तुम दूसरे की सम्पत्ति नहीं देख सकते। तुम बहुत डाह करनेवाले और कपटी हो। जब समुद्र मथा गया था तब तुमने शिवजी को पागल बनाया और देवताओं को भेजकर उन्हें विषपान कराया था॥ ४॥

दो०—असुर सुरा बिष संकरहिं आपु रमा मनि चारु।
स्वारथसाधक कुटिल तुम्ह सदा कपटब्यवहारु॥१६४॥

तुमने दैत्यों को मदिरा, तथा शिवजी को विष दिया था और अपने लिए लक्ष्मी और सुन्दर रत्न रख लिये थे। तुम स्वार्थ-साधक और कुटिल हो। तुम्हारा व्यवहार सदा छल से भरा रहता है॥ १६४॥

चौ०—परमस्वतंत्र न सिर पर कोई। भावइ मनहिं करहु तुम्ह सोई॥
भलेहि मंद मंदेहि भल करहू। बिसमय हरष न हिय कछु धरहू॥१॥

तुम परम स्वतन्त्र हो। तुम्हारे सिर पर कोई नहीं है। इसी से जो मन में अच्छा लगता है वही करते हो। अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा करते हो और मन में तनिक भी हर्ष-विषाद नहीं लाते॥ १॥

डहँकि डहँकि परिचेहु सब काहू। अति असंक मन सदा उछाहू॥
करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा। अब लगि तुम्हहिं न काहू साधा॥

सबको ठग ठगकर तुम परच गये हो अर्थात् बेधड़क हो गये हो। तुम निडर होकर मन में सदा प्रसन्न रहते हो। शुभ और अशुभ कर्म की बाधा तुम्हें कुछ नहीं होती। आज तक तुमको किसी ने सीधा भी नहीं किया॥ २॥

भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा॥
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सो तनु धरहु साप मम एहा॥३॥

अब के अच्छे घर बयाना दिया है, अब अपने किये का फल पाओगे। जिस शरीर को धारण करके तुमने मुझे ठगा है उसी शरीर को धारण करो, यही मेरा शाप है॥ ३॥

कपिआकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिँ कीस सहाय तुम्हारी॥
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारिबिरह तुम्ह होब दुखारी॥४॥

तुमने मेरी सूरत बन्दर की बनाइ थी (इसलिए) बन्दर ही तुम्हारी सहायता करेंगे। तुमने मेरा बड़ा अपकार (हानि) किया है (इसलिए) स्त्री के वियोग से तुम भी दुःखी होगे॥ ४॥

दो०—साप सीस धरि हरषि हिय प्रभु बहु बिनती कीन्हि।
निज माया कै प्रबलता करषि कृपानिधि लीन्हि॥१६५॥

भगवान् ने उनका शाप सिर पर लेकर प्रसन्न मन से उनकी बहुत विनती की। और फिर कृपासिन्धु भगवान् ने अपनी माया के प्रभाव को खींच लिया॥ १६५॥

चौ०—जब हरिमाया दूर निवारी। नहिँ तहँ रमा न राजकुमारी॥
तब मुनि अति सभीत हरिचरना। गहे पाहि प्रनतारतिहरना॥१॥

भगवान् ने जब अपनी माया हटा ली तब वहाँ न लक्ष्मी थी और न वह राजकन्या ही। तब मुनि ने बहुत डरकर भगवान् के चरणों को पकड़ लिया और कहा—हे प्रणव (नमस्कार करनेवाले) जनों के दुःख दूर करनेवाले! मेरी रक्षा करो॥ १॥

मृषा होउ मम साप कृपाला। मम इच्छा यह दीनदयाला॥
मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहि किमि मेरे॥२॥

हे कृपालु, हे दीनदयालु! मेरा शाप असत्य हो जाय। मैं यही चाहता हूँ। मैंने आपको बहुत ही बुरे वचन कहे हैं। ये मेरे पाप अब कैसे मिटेंगे?॥ २॥

जपहु जाइ संकर-सत-नामा। होइहि हृदय तुरत बिस्रामा।
कोउ नहिँ सिव समान प्रिय मोरे। असि परतीति तजहु जनि भोरे॥३॥

(इस पर भगवान् ने उन्हें समझाया कि) हे नारद! तुम जाकर शंकर के सौ नाम जपो। तुम्हारे हृदय में तुरन्त शान्ति हो जायगी। मुझे शिवजी के समान कोई भी प्यारा नहीं है। इस विश्वास को भूलकर भी मत छोड़ना॥ ३॥

जेहि पर कृपा न करहिँ पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥
अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहि माया नियराई॥४॥

जिस पर शिवजी कृपा नहीं करते वह हमारी भक्ति नहीं पाता। ऐसा मन में रख कर तुम पृथ्वी पर विचरो। अब तुम्हारे पास माया न फटकेगी॥ ४॥

दो०—बहु बिधि मुनिहि प्रबोधि प्रभु तब भये अंतरधान।
सत्यलोक नारद चले करत राम-गुन-गान॥१६६॥

यों अनेक प्रकार से मुनि को समझा कर फिर भगवान् अन्तर्धान हो गये। पश्चात् नारद मुनि भी राम-गुण-गान करते हुए सत्यलोक को चले गये॥ १६६॥

चौ०—हरगन मुनिहि जात पथ देखी। बिगत मोह मन हरष बिसेखी॥
अति सभीत नारद पहिं आये। गहि पद आरत बचन सुनाये॥१॥

शिवजी के गणों ने नारदजी को मोहरहित और मन में बहुत प्रसन्न होकर रास्ते में जाते देखा। वे दोनों गण बहुत (पहले किये हुए अपराध से) डरते हुए नारदजी के पास आये और चरणों को पकड़ कर दीन बचन कहने लगे—॥ १॥

हरगन हम न बिप्र मुनिराया। बड़ अपराध कीन्ह फलु पाया॥
साप अनुग्रह करहु कृपाला। बोले नारद दीनदयाला॥२॥

हे मुनिराज! हम शिवजी के गण हैं, ब्राह्मण नहीं। हमने (आपका) बड़ा अपराध किया और (उसका) फल पाया। हे दयाल, अब आप अपने शाप की कुछ शान्ति कीजिए। (इतना सुन) दीनदयालु नारदजी बोले—॥ २॥

निसिचर जाइ होउ तुम्ह दोऊ। बैभव बिपुल तेज बल होऊ॥
भुजबल बिस्व जितब तुम्ह जहिआ। धरिहहिँ बिस्नु मनुजतनु तहिआ॥

तुम दोनों जाकर राक्षस हो। तुम्हारा प्रताप, तेज और बल विशाल होगा। जब तुम अपनी भुजाओं के बल से सारी पृथ्वी को जीतोगे तब विष्णु भगवान् मनुष्य-शरीर धारण करेंगे॥ ३॥

समर मरन हरिहाथ तुम्हारा। होइहहु मुकुत न पुनि संसारा॥
चले जुगल मुनिपद सिरु नाई। भये निसाचर कालहि पाई॥४॥

युद्ध में भगवान् के हाथ से तुम्हारी मृत्यु होगी। तभी तुम मुक्त हो जाओगे, फिर तुम्हें संसार (जन्म-मरण) न सतायेगा। (इतना सुन) वे दोनों गण मुनि के चरणों में सिर नवाकर चले गये और समय पाकर राक्षस हो गये॥ ४॥

दो०—एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुजअवतार ।
सुररंजन सज्जनसुखद हरि भंजन-भुवि-भार ॥१६७॥

देवताओं को प्रसन्न करनेवाले, सज्जनों को सुख देनेवाले और पृथ्वी का भार हटानेवाले भगवान् ने एक कल्प में इसलिए अवतार धारण किया ॥ १६७ ॥

चौ०—एहि बिधि जनम करम हरि केरे । सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे ॥
कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं । चारु चरित नाना बिधि करहीं ॥१॥

इस तरह भगवान् के अवतार और लीलायें बहुत ही विचित्र, सुखदायक और सुन्दर हैं। हर एक कल्प में भगवान् अवतार लेते हैं और भाँति भाँति के सुन्दर चरित्र करते हैं ॥ १ ॥

तब तब कथा मुनीसन्ह गाई । परम पुनीत प्रबंध बनाई ॥
बिबिध प्रसंग अनूप बखाने । करहिँ न सुनि आचरजु सयाने ॥२॥

जब जब ऐसे चरित्र होते हैं तब तब मुनि लोग परम पवित्र रचना करके भगवान् के चरित्र को गाते हैं। उन कथाओं में कई अनोखे अनोखे प्रसङ्ग कहे गये हैं, चतुर मनुष्य उनको सुन कर कुछ आश्चर्य नहीं करते ॥ २ ॥

हरि अनंत हरिकथा अनंता । कहहिँ सुनहिँ बहुबिधि सब संता ॥
रामचंद्र के चरित सुहाये । कलप कोटि लगि जाहिँ न गाये ॥३॥

हरि अनन्त हैं और उनकी कथायें भी अनन्त हैं, जिन्हें सन्त-जन नाना प्रकार से कहते और सुनते हैं। रामचन्द्रजी के सुहावने चरित्र अनन्त होने के कारण, करोड़ कल्पों तक भी, पूरे नहीं गाये जा सकते ॥ ३ ॥

यह प्रसंग मैं कहा भवानी । हरिमाया मोहहिँ मुनि ग्यानी ॥
प्रभु कौतुकी प्रनत-हितकारी । सेवत सुलभ सकल दुखहारी ॥४॥

हे पार्वती, मैंने तुमको यह कथा यह बताने को सुनाई कि भगवान् की माया से ज्ञानी मुनि भी मोहित हो जाते हैं। भगवान् बड़े खिलाड़ी और भक्तों के हितकारी हैं। सेवा करनेवालों को सुलभ (सहज ही में मिल जानेवाले) और सभी दुःखों के हरनेवाले हैं ॥ ४ ॥

सो०—सुर नर मुनि कोउ नाहिँ जेहि न मोह माया प्रबल ।
अस बिचारि मन माहिँ भजिय महा-माया-पतिहि ॥१६८॥

क्या देवता, क्या मनुष्य और क्या मुनि कोई ऐसा नहीं है जो बलवती माया के फंदे में न फँसे। ऐसा मन में समझकर माया के बड़े पति का भजन करना चाहिए ॥ १६८ ॥

चौ०—अपर हेतु सुनु सैलकुमारी । कहउँ बिचित्र कथा बिस्तारी ॥
जेहि कारन अज अगुन अनूपा । ब्रह्म भयउ कोसल-पुर-भूपा ॥१॥

हे पार्वती ! और दूसरा कारण सुनो जिस कारण अजन्मा, निर्गुण और रूपरहित ब्रह्म कोसलपुर के राजा हुए। मैं विचित्र कथा को विस्तार के साथ कहता हूँ ॥ १ ॥

जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा। बन्धु समेत धरे मुनिबेखा ॥
जासु चरित अवलोकि भवानी। सतीसरीर रहिहु बौरानी ॥२॥

हे भवानि ! जिस स्वामी (रामचन्द्र) को तुमने भाई-सहित ऋषि का वेष धारण किये वन में फिरते देखा था, जिनके चरित्र को सती के शरीर में (अपने पूर्व जन्म में) देखकर तुम बावली (मोहित) हो गई थीं ॥ २ ॥

अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी। तासु चरित सुनु भ्रम-रुज हारी ॥
लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहउँ मति अनुसारा ॥

(यहाँ तक कि) अब भी तुम्हारा भ्रम नहीं मिटता, उन्हीं के, भ्रमरूपी रोग को मिटानेवाले चरित्र को अर्थात् उस अवतार में उन्होंने जो जो लीलायें कीं उन सबको मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहूँगा ॥ ३ ॥

भरद्वाज सुनि संकरबानी। सकुचि सप्रेम उमा मुसुकानी ॥
लगे बहुरि बरनइ वृषकेतू। सो अवतार भयउ जेहि हेतू ॥४॥

(याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) हे भरद्वाज, शंकर की बात सुनकर पार्वतीजी सकुचीं और प्रेम में भरकर मुसकुराईं। फिर जिस कारण वह अवतार हुआ उसका वर्णन शिवजी करने लगे ॥ ४ ॥

दो०—सो मैं तुम्ह सन कहउँ सबु सुनु मुनीस मन लाइ।
रामकथा कलि-मल-हरनि मंगलकरनि सुहाइ ॥ १६९ ॥

हे भरद्वाज, मन लगा कर सुनो। मैं वही सब कथा तुमको सुनाता हूँ। रामचन्द्रजी की कथा कलि के दोषों को दूर करती है और सुन्दर मंगल के करनेवाली और सुहावनी है ॥ १६९ ॥

चौ०—स्वायंभूमनु अरु सतरूपा। जिन्ह तें भइ नरसृष्टि अनूपा ॥
दंपति धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव स्रुति जिन्ह कै लीका ॥१॥

स्वायम्भुव मनु और शतरूपा महारानी, जिनसे सारे मनुष्यों की सृष्टि हुई है, वे दोनों पति-पत्नी बड़े ही सदाचारी थे। उनकी मर्यादा आज तक वेद भी गाते हैं ॥ १ ॥

नृप उत्तानपाद सुत तासू। ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू ॥
लघुसुत नाम प्रियब्रत ताही। बेद पुरान प्रसंसहिं जाही ॥२॥

उन (स्वायम्भुव मनु) के उत्तानपाद राजा पुत्र हुए और उन (उत्तानपाद) का

पुत्र भगवद्भक्त ध्रुव हुआ। उस राजा के छोटे लड़के का नाम प्रियव्रत था, जिसकी प्रशंसा वेद और पुराण गाया करते हैं॥ २॥

देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी॥
आदि-देव प्रभु दीनदयाला। जठर धरेउ जेहि कपिल कृपाला॥३॥

देवहूति नाम की उनकी एक कन्या थी जो कर्दम ऋषि की प्यारी स्त्री हुई, जिसने आदिदेव दीनदयालु परमात्मा कपिलजी को गर्भ में धारण किया था॥ ३॥

सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्त्व बिचार निपुन भगवाना॥
तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला। प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला॥४॥

कपिल भगवान् ने सांख्य-शास्त्र का निर्माण किया। वे भगवान् तत्त्व-विचार में बड़े ही चतुर थे। उन स्वायम्भुव मनु महाराज ने बहुत दिनों तक राज्य किया और सब तरह से ईश्वर की आज्ञाओं का पालन किया॥ ४॥

सो०—होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपनु।
हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु॥१७०॥

जब घर में ही रहते रहते चौथापन—बुढ़ापा आ गया और विषयों से वैराग्य न हुआ, तब उनके जी में बहुत दुःख हुआ कि हाय! हमारा सारा जन्म ईश्वर की भक्ति के बिना यों ही चला गया॥ १७०॥

चौ०—बरबस राज सुतहि तब दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा॥
तीरथ बर नैमिष बिख्याता। अति पुनीत साधक-सिधि-दाता॥१॥

तब उन्होंने जबरदस्ती अपने पुत्र को राज्य दे दिया और वे आप स्त्री-सहित वन में चले गये, जहाँ साधकों को सिद्धि देनेवाला अति-पवित्र श्रेष्ठ तीर्थ नैमिषारण्य प्रसिद्ध था॥ १॥

बसहिँ तहाँ मुनि-सिद्ध-समाजा। तहँ हिअ हरषि चलेउ मनुराजा॥
पंथ जात सोहहिँ मतिधीरा। ग्यान भगति जनु धरे सरीरा॥२॥

वहाँ बहुत-से सिद्ध मुनि रहते थे। मनु महाराज मन में प्रसन्न होकर वहीं चले गये। मार्ग में चलते हुए वे मति-धीर (मनु और शतरूपा) ऐसे शोभित होते थे, मानों ज्ञान और भक्ति ही शरीर धारण कर चले जा रहे हों॥ २॥

पहुँचे जाइ धेनु-मति-तीरा। हरषि नहाने निरमल नीरा॥
आये मिलन सिद्ध मुनि ग्यानी। धरमधुरंधर नृपरिषि जानी॥३॥

वे धेनुमती (गोमती) के तीर जा पहुँचे। उसके निर्मल जल में उन्होंने प्रसन्न हो कर स्नान किया। उन्हें धर्मधुरन्धर राजर्षि जान कर बहुत-से ज्ञानी सिद्ध मुनि उनसे मिलने के लिए आये॥ ३॥

जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाये। मुनिन्ह सकल सादर करवाये॥
कृससरीर मुनिपट परिधाना। सतसमाज नित सुनहिँ पुराना॥४॥

जहाँ जहाँ सुहावने तीर्थ थे वे सभी मुनियों ने उनको आदरपूर्वक करा दिये। (तपस्या करने से) उनका शरीर दुबला हो गया था और मुनियों की तरह वस्त्र पहन कर वे सन्तों की सभा में नित्य पुराण-कथायें सुनते थे॥ ४॥

दो०—द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिँ सहित अनुराग।
बासुदेव-पद-पंकरुह दंपतिमन अति लाग॥१७१॥

वे दोनों स्त्री पुरुष बड़े प्रेम के साथ १२ अक्षरोंवाला मन्त्र (ओं नमो भगवते वासुदेवाय) जपते थे। उन दोनों पति-पत्नी का मन भगवान् वासुदेव के चरण-कमलों में अच्छी तरह लग गया॥ १७१॥

चौ०—करहिँ अहार साक फल कंदा। सुमिरहिँ ब्रह्म सच्चिदानंदा॥
पुनि हरि हेतु करन तप लागे। बारिअधार मूल फल त्यागे॥१॥

वे शाक, कन्द और फल का भोजन करते थे और सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्मरण करते थे। फिर वे फल-मूल छोड़कर जल के ही आधार पर रहते हुए विष्णु के लिए तप करने लगे॥ १॥

उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चितहिँ परमारथबादी॥२॥

मन में सदा यह इच्छा होने लगी कि मैं कब उन परम प्रभु को इन आँखों से देखूँ, जो निर्गुण, अखंड, अनन्त और अनादि हैं और जिनका चिंतन परमार्थवादी (वेदान्ती) करते हैं॥ २॥

नेति नेति जेहि बेद निरूपा। चिदानंद निरुपाधि अनूपा॥
संभु बिरंचि बिस्नु भगवाना। उपजहिँ जासु अंस तें नाना॥३॥

जो चित्-आनंदस्वरूप, रूपरहित (प्राकृत देह-रहित), उपाधिरहित और अनुपमेय है, जिनका निरूपण वेदों ने नेति-नेति (अर्थात् ईश्वर इतना ही और ऐसा ही नहीं है वरन् अपार, अनन्त, अगाध है) कहकर किया है, एवं जिनके अंश से अनेक शिवजी, ब्रह्मा और विष्णु उत्पन्न होते हैं॥ ३॥

ऐसेउ प्रभु सेवकबस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥
जौ यह बचन सत्य स्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥४॥

ऐसे प्रभु भी सेवक के वश में हैं और भक्तों के लिए लीला से शरीर धारण करते हैं। जो यह वेद-वचन सत्य है तो हमारी आशा अवश्य पूरी होगी॥ ४॥

दो०—यहि बिधि बीते बरष षट सहस बारिआहार ।
संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार ॥१७२॥

इस प्रकार जल के ही आधार पर रहते उन्हें छः हजार बरस बीत गये और फिर सात हजार बरस तक वे केवल वायु के ही आधार पर रहे ॥ १७२ ॥

चौ०—बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ । ठाढ़े रहे एक पग दोऊ ॥
बिधि-हरि-हर तप देखि अपारा । मनु समीप आये बहु बारा ॥१॥

फिर उन्होंने दस हजार बरस तक वह (वायु-सेवन) भी छोड़ दिया और दोनों एक पाँव से खड़े रहे। उनका घोर तप देखकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव कई बार उनके पास आये ॥ १ ॥

माँगहु बर बहु भाँति लोभाये । परम धीर नहिँ चलहिँ चलाये ॥
अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा । तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा ॥२॥

उन्होंने बहुत लुभाया कि तुम वर माँगो, पर वे बड़े धीर थे इसलिए विचलित नहीं हुए। (तप करते करते) उनका शरीर हाड़ों का ही पंजर रह गया, पर तो भी उनके मन में तनिक भी पीड़ा नहीं हुई ॥ २ ॥

प्रभु सर्बग्य दास निज जानी । गति अनन्य तापस नृप रानी ॥
माँगु माँगु बर भइ नभबानी । परम गँभीर कृपामृत सानी ॥३॥

सर्वज्ञ परमात्मा ने उन दोनों राजा-रानी को तपस्वी, अनन्यगति अपने दास (अपने को छोड़कर और किसी को न चाहनेवाले) जानकर, दया-रूपी अमृत से सनी हुई बड़ी गहरी आकाशवाणी की—"वर माँगो, वर माँगो" ॥ ३ ॥

मृतक जिआवनि गिरा सुहाई । स्त्रवनरंध्र होइ उर जब आई ॥
हृष्ट पुष्ट तन भये सुहाये । मानहुँ अबहि भवन तें आये ॥४॥

मर हुए को जिलानेवाली वह सुन्दर वाणी जिस समय राजा के कानों में से होकर हृदय में पहुँची उस समय उनका थका शरीर ऐसा सुहावना और हृष्ट-पुष्ट हो गया मानों वे अभी अभी घर से आये हैं ॥ ४ ॥

दो०—स्त्रवन-सुधा-सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात ।
बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात ॥१७३॥

अमृत के समान वचनों को कानों से सुनकर उनका शरीर पुलकित और प्रफुल्लित हो गया, उनका प्रेम हृदय से उमड़ चला और वे (स्वायंभुवमनु) दण्डवत् करके बोले—॥ १७३ ॥

चौ०—सुनु सेवक-सुर-तरु सुरधेनू। बिधि-हरि-हर-बंदित-पद रेनू॥
सेवत सुलभ सकल-सुख दायक। प्रनतपाल स-चराचर-नायक॥१॥

हे भक्तजनों के कल्पवृक्ष और कामधेनु! आपके चरणों की रज की वन्दना ब्रह्मा, विष्णु और शिव करते हैं; हे भक्तहितकारी, चराचर के स्वामी! आप सारे सुखों के देनेवाले हैं और सेवा करनेवालों के लिए आप सुलभ हो जाते हैं। सुनिए॥१॥

जौं अनाथहित हम पर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू॥
जो सरूपबस सिव-मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥२॥

हे अनाथों के नाथ! जो आपका मुझ पर स्नेह है, तो आप प्रसन्न होकर मुझे यह वर दीजिए कि शिवजी के मन में आपका जो स्वरूप बसता है, जिसके लिए मुनि-जन (तरह तरह के) यत्न करते हैं॥२॥

जो भुसुंडि-मन-मानस-हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति-मोचन॥३॥

जो काग-भुसुंडिजी के मन-मानस के लिए हंस की तरह है, सगुण और निर्गुण शब्दों से जिसकी बड़ाई वेद-शास्त्र करते हैं, हे दीनजनों के दुःख छुड़ानेवाले! आप ऐसी कृपा कीजिए कि आपके उसी स्वरूप को हम अपनी आँखों से देख लें॥३॥

दंपतिबचन परम प्रिय लागे। मृदुल बिनीत प्रेम - रस-पागे॥
भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥४॥

राजा और रानी के वचन भगवान् को बहुत प्यारे लगे। वे वचन कोमल, नम्र और प्रेम-रस में सने हुए थे। भक्तों पर कृपा करनेवाले, दया के निधान और सब जगत् में व्यापक भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट हो गये॥४॥

दो०—नीलसरोरुह नीलमनि नील-नीर-धर-स्याम।
लाजहिं तनुसोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥१७४॥

उन परमात्मा का शरीर नीलकमल, नीलमणि और नीले मेघ के समान श्याम था। उनके शरीर की शोभा को देख सौ करोड़ कामदेव भी लजा जायँ, अर्थात् कामदेव में वैसी सुन्दरता नहीं जैसी उस शरीर में थी॥१७४॥

चौ०—सरद-मयंक-बदन छबिसींवाँ। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवाँ॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधु-कर-निकर-बिनिंदक हासा॥१॥

उनका मुँह शरत्काल के चन्द्रमा के समान छवि की सीमा (जिससे बढ़कर छवि ही नहीं) था। उनके गाल और ठोढ़ी सुन्दर और गर्दन शंख के समान थी। उनके ओंठ लाल,

दाँत और नाक सुन्दर थे और उनका हँसना चन्द्रमा की किरणों के गुच्छ की शोभा को भी नीचा दिखलानेवाला था ॥ १ ॥

नव-अंबुज-अंबक-छबि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की ॥
भृकुटि मनोज-चाप-छबि-हारी। तिलक ललाटपटल दुतिकारी ॥२॥

उनकी आँखों की शोभा नवीन कमल के समान सुन्दर थी। उनकी सुन्दर चितवन मन को सुहानेवाली थी। उनकी भौंहें कामदेव के धनुष की शोभा को भी हरनेवाली थीं और विशाल मस्तक-पटल पर तिलक बहुत ही प्रकाशित हो रहा था ॥ २ ॥

कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुपसमाजा ॥
उर श्रीबत्स रुचिर बनमाला। पदिक हार भूषन मनिजाला ॥३॥

कानों में मकराकृति कुण्डल और शिर पर मुकुट था और उनके घूँघरवाले बाल ऐसे मालूम होते थे कि मानों भौंरों का समूह हो। वे हृदय में श्रीवत्स चिह्न, सुन्दर वन-माला, चौकी, हार और मणियों के आभूषण धारण किये हुए थे ॥ ३ ॥

केहरिकंधर चारु जनेऊ। बाहुबिभूषन सुंदर तेऊ ॥
करि-कर-सरिस सुभग भुजदंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा ॥४॥

सिंह के समान कंधे पर सुन्दर जनेऊ था और वे भुजाओं पर भी सुन्दर आभूषण पहने हुए थे। उनकी भुजायें हाथी की सूँड़ के समान सुडौल थीं। वे कमर में तरकश बाँधे और हाथ में धनुष-बाण लिये हुए थे ॥ ४ ॥

दो०—तड़ितबिनिंदक पीतपट उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन-भवँर-छबि छीनि ॥१७५॥

उनका पीतांबर बिजली को भी लजानेवाला था, उनके उदर (पेट) में तीन रेखायें पड़ी हुई थीं और उनकी मनोहर नाभि मानों यमुना के भवँर की शोभा को छीन रही थी ॥ १७५ ॥

चौ०—पदराजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनि-मन-मधुप बसहिं जिन्ह माहीं ॥
बामभाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला ॥१॥

उनके चरण-कमलों का वर्णन नहीं किया जा सकता जिनमें मुनियों के मनरूपी भौंरे लिपटे रहते हैं। उनके बाईं ओर शोभा की राशि, जगत् का मूल कारण, आदि-शक्ति शोभायमान थी ॥ १॥

जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥
भृकुटिबिलास जासु जग होई। राम बामदिसि सीता सोई ॥२॥

जिस आदि-शक्ति के अंश से गुणों की खान अनेक लक्ष्मी, पार्वती और सरस्वती उत्पन्न होती हैं और जिसकी भौंह के विलासमात्र से संसार पैदा हो जाता है वही सीताजी रामचन्द्रजी के बाईं ओर थीं ॥ २ ॥

छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी ॥
चितवहिँ सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिँ मनु-सतरूपा ॥३॥

शोभा के समुद्र भगवान् के रूप को देखकर मनु और शतरूपा आँखों की पलकों को रोककर टकटकी बाँधकर देखते रहे। वे दोनों भगवान् के अनुपम रूप को आदर से देखते थे और देखते देखते दर्शन से अपनी तृप्ति न मानते थे ॥ ३ ॥

हरषबिबस तनुदसा भुलानी। परे दंड इव गहि पद पानी ॥
सिर परसे प्रभु निज-कर-कंजा। तुरत उठाये करुनापुंजा ॥४॥

प्रसन्नता से विवश होकर वे अपने शरीर की भी सुध-बुध भूल गये और हाथ से पाँव पकड़ कर धरती पर दंड की तरह गिर पड़े। करुणा के पुंज भगवान् ने अपने कमलरूप हाथों से उनका सिर छुआ और उनको तुरत उठा लिया ॥ ४ ॥

दो०—बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि।
माँगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि ॥१७६॥

फिर कृपानिधान भगवान् बोले कि (मुझे तुम अपने ऊपर) बहुत प्रसन्न जानकर और मुझे बड़ा दानी मानकर वही वर माँगो जो तुम्हारे मन में प्रिय हो ॥ १७६ ॥

चौ०—सुनि प्रभुबचन जोरि जुग पानी। धरि धीरज बोले मृदु बानी ॥
नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे ॥१॥

प्रभु के वचन सुनकर राजा-रानी हाथ जोड़ और धीरज धरकर कोमल वाणी से बोले—हे नाथ, आपके चरण-कमलों के दर्शन पाकर अब हमारी सारी कामनायें पूरी हो गईं ॥ १ ॥

एक लालसा बड़ि उर माहीँ। सुगम अगम कहि जाति सो नाहीँ ॥
तुम्हहिँ देत अति सुगम गोसाईं। अगम लाग मोहि निज कृपनाईं ॥२॥

हे प्रभो ! मेरे मन में एक बहुत बड़ी लालसा है। वह सुगम भी है और अगम भी। इसी से वह कही नहीं जाती। हे स्वामी, आपको तो देने में वह बड़ी सुगम है पर मुझे मिलने में, अपनी दीनता से, बहुत कठिन मालूम पड़ती है ॥ २ ॥

जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई। बहु संपति माँगत सकुचाई ॥
तासु प्रभाउ जान नहिँ सोई। तथा हृदय मम संसय होई ॥३॥

जिस तरह दरिद्र पुरुष कल्पवृक्ष को पाकर भी बहुत सम्पत्ति माँगने में संकोच करता है क्योंकि वह जैसे उस (कल्पवृक्ष) का प्रभाव नहीं जानता, वैसे ही मेरे मन में (यद्यपि मैं आपके अतुल प्रभाव को जानता हूँ तो भी) अपनी दीनता के कारण सन्देह होता है ॥ ३ ॥

सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी ॥
सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही। मोरे नहिँ अदेय कछु तोही ॥४॥

हे अन्तर्यामी, आप तो मन की बात जानते ही हैं। इसलिए हे स्वामी, आप उस मनोरथ को पूरा कीजिए। (इतना सुनकर भगवान् ने कहा कि) हे राजन्! तुम संकोच छोड़ कर मुझसे माँगो; क्योंकि ऐसी कोई चीज नहीं है जो मैं तुम्हें न दे सकता होऊँ ॥ ४ ॥

दो०—दानिसिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतभाउ।
चाहउँ तुम्हहिँ समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ ॥१७७॥

(इतना सुन कर) राजा और रानी कहने लगे—हे कृपानिधि, हे दानियों के मुकुट-मणि, हे नाथ! आपसे सत्य सत्य कहता हूँ क्योंकि स्वामी से क्या छिपाना है? मैं आपके समान ही पुत्र चाहता हूँ ॥ १७७ ॥

चौ०—देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले ॥
आपु सरिस खोजउँ कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई ॥१॥

उनकी प्रीति को देख और उनके अमूल्य वचनों को सुनकर करुणा-सागर ने कहा—"एवमस्तु" (ऐसा ही हो)। मैं अपने समान और कहाँ खोजूँ? हे राजन्, मैं आप ही आकर तुम्हारा पुत्र होऊँगा ॥ १ ॥

सतरूपहि बिलोकि कर जोरे। देबि माँगु बरु जो रुचि तोरे ॥
जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपालु मोहि अति प्रिय लागा ॥२॥

फिर हाथ जोड़े खड़ी हुई शतरूपा की ओर देखकर भगवान् ने कहा—हे देवि! तुम भी जो इच्छा हो वही वर माँगो। (शतरूपा ने उत्तर दिया—) हे नाथ! चतुर राजा ने जो वर माँगा है हे कृपालु! वही मुझे बहुत प्रिय लगा ॥ २ ॥

प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगत हित तुम्हहिँ सुहाई ॥
तुम्ह ब्रह्मादिजनक जगस्वामी। ब्रह्म सकल-उर-अंतरजामी ॥३॥

हे प्रभो! यद्यपि आपको भक्तों का हित प्रिय है, तो भी ऐसी याचना निपट ढिठाई ही होती है; क्योंकि आप ब्रह्मा आदिकों को उत्पन्न करनेवाले, जगत् के स्वामी और सबके हृदय के अन्तर्यामी परब्रह्म हैं ॥ ३ ॥

अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई॥
जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥४॥

इस प्रभाव को समझकर मन में सन्देह होता है, पर आपने जो (एवमस्तु) कहा है वह ठीक प्रमाण है। हे नाथ! आपके जो निज-भक्त हैं, वे जिस सुख और जिस गति को पाते हैं॥ ४॥

दो०—सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिँ कृपा करि देहु॥१७८॥

हे प्रभु! वही सुख, वही गति, वही भक्ति और वही अपने चरणों में प्रेम, वही ज्ञान और वही स्थिति आप कृपा करके हमको दीजिए॥ १७८॥

चौ०—सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बचरचना। कृपासिंधु बोले मृदु बचना॥
जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं॥१॥

ऐसी कोमल और गूढ़ (जिनके भीतर भारी सार भरा है) और सुन्दर वचनों की रचना को सुनकर कृपासागर भगवान् कोमल वचन बोले—हे रानी! जो कुछ तुम्हारे मन की रुचि है वह सब मैंने तुमको दी, इसमें सन्देह नहीं है॥ १॥

मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे॥
बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी। अउर एक बिनती प्रभु मोरी॥२॥

हे माता, मेरी कृपा से तुम्हारा अलौकिक ज्ञान कभी न मिटेगा। मनु ने उनके चरणों में प्रणाम करके फिर कहा—हे प्रभु, मेरी एक विनती और है॥ २॥

सुत-बिषयिक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ॥
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिँ अधीना॥३॥

चाहे मुझे कोई महामूर्ख ही क्यों न कहे, पर मेरी आपके चरण-कमलों में पुत्रविषयिणी प्रीति हो, अर्थात् मैं आपको पुत्र ही मानकर आपसे पुत्र-सा स्नेह करूँ और वह प्रीति इतनी दृढ़ हो कि जैसे मणि बिना साँप के तथा बिना पानी के मछली नहीं जी सकती वैसे आप बिना मैं न जीऊँ॥ ३॥

अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ॥
अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुर-पति-रजधानी॥४॥

ऐसा वर माँगकर वे भगवान् के चरण पकड़े रहे तब करुणा-सागर भगवान् ने "एवमस्तु" (ऐसा ही हो) कहा और आज्ञा दी कि अब तुम मेरा कहा मानकर इन्द्र की राजधानी में जाकर बसो॥ ४॥

सो०—तहँ करि भोग बिलास तात गयें कछु काल पुनि ।
होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत ॥१७९॥

हे तात, वहाँ कुछ दिन भोग-विलास करो। कुछ समय बीत जाने पर जब तुम अवध के राजा होगे तब मैं तुम्हारा पुत्र बनूँगा ॥ १७९ ॥

चौ०—इच्छामय नरवेष सवाँरे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे ॥
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत-सुख-दाता ॥१॥

हे तात, अपनी इच्छा से मनुष्य-शरीर धारण किये हुए मैं तुम्हार घर प्रकट हूँगा। मैं अपने अंशों सहित देह धरकर भक्तों को सुख देनेवाले चरित्र करूँगा ॥ १ ॥

जेहि सुनि सादर नर बड़भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी ॥
आदिशक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ॥२॥

जिन्हें सादर सुनकर बड़े भाग्यवान् जन, मद-मोह छोड़कर भव-सागर को तर जायँगे। वह आदिशक्ति मेरी माया भी, जिसने सारा जगत् बनाया है, अवतार लेगी ॥ २ ॥

पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य पन सत्य हमारा ॥
पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भये भगवाना ॥३॥

मं तुम्हारा मनोरथ पूरा करूँगा। मेरा कहना सत्य है, सत्य है, सत्य है। कृपानिधान भगवान इसी तरह बार बार कहकर अन्तर्धान हो गये ॥ ३ ॥

दंपति उर धरि भगति कृपाला। तेहि आस्रमनि बसे कछु काला ॥
समय पाइ तनु तजि अनयासा। जाइ कीन्ह अमरावतिबासा ॥४॥

पति-पत्नी दोनों ने अपने हृदय में भगवान् की भक्ति रखकर कुछ दिन तक उसी आश्रम में निवास किया। समय पाकर उन्होंने बिना परिश्रम शरीर छोड़ा और वे इन्द्रलोक में जा बसे ॥ ४ ॥

दो०—यह इतिहास पुनीत अति उमहि कहा वृषकेतु ।
भरद्वाज सुनु अपर पुनि रामजनम कर हेतु ॥१८०॥

(याज्ञवल्क्यजी ने कहा कि) हे भरद्वाज, यह अति पवित्र इतिहास महादेवजी ने पार्वतीजी से कहा था। अब तुम फिर रामजन्म का और भी कारण सुनो ॥ १८० ॥

चौ०—सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी। जो गिरिजा प्रति संभु बखानी ॥
बिस्वबिदित एक कैकय देसू। सत्यकेतु तहँ बसइ नरेसू ॥१॥

हे मुनि, जो कथा शिवजी ने पार्वतीजी को सुनाई थी वही पुरानी और पवित्र कथा सुनो। संसार में प्रसिद्ध एक केकय देश है जहाँ सत्यकेतु नामक राजा रहता था ॥ १ ॥

धरम-धुरंधर नीति-निधाना। तेज प्रताप सील बलवाना ॥
तेहि के भये जुगल सुत बीरा। सब-गुन-धाम महारन-धीरा ॥२॥

वह धर्म-धुरन्धर, नीति का भाण्डार, तेजस्वी, प्रतापी, सुशील और बलवान् था। उसके महारणधीर और सब गुणों के धाम दो वीर पुत्र हुए ॥ २ ॥

राजधनी जो जेठ सुत आही। नाम प्रतापभानु अस ताही ॥
अपर सुतहि अरिमर्दन नामा। भुजबल अतुल अचल संग्रामा ॥३॥

जो बड़ा पुत्र राज का मालिक था उसका नाम भानुप्रताप था। दूसरे पुत्र का नाम अरिमर्दन था। वह अपनी भुजाओं से अतुलबलशाली और लड़ाई में अचल था ॥ ३ ॥

भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती ॥
जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा। हरि हित आपु गवन बन कीन्हा ॥४॥

भाई भाई का बहुत ही साथ था। उनकी प्रीति सब दोष और छल से रहित थी। वह राजा बड़े पुत्र को राज्य देकर आप हरिभक्ति के लिए वन में चला गया ॥ ४ ॥

दो०—जब प्रतापरबि भयउ नृप फिरी दोहाई देस।
प्रजा पाल अति बेद बिधि कतहुँ नहीं अघलेस ॥१८१॥

जब भानुप्रताप राजा हुआ तब सारे देश में उसकी दुहाई फिर गई। उसने वेद की विधि से प्रजा का पालन किया। कहीं पाप का नाम भी नहीं रहा ॥ १८१ ॥

चौ०—नृप-हित-कारक सचिव सयाना। नाम धरमरुचि सुक्र समाना ॥
सचिव सयान बंधु बलबीरा। आपु प्रतापपुंज रनधीरा ॥१॥

राजा का हित-कारक धर्मरुचि नामक शुक्र के समान बड़ा चतुर मन्त्री था। उसका मन्त्री दक्ष, भाई शूरवीर और वह आप भी बड़ा प्रतापी और रणधीर था ॥ १ ॥

सेन संग चतुरंग अपारा। अमित सुभट सब समर जुझारा ॥
सेन बिलोकि राउ हरषाना। अरु बाजे गहगहे निसाना ॥२॥

उसके पास चतुरङ्गिनी सेना भी अपार थी और रणक्षेत्र में लड़नेवाले अनगिनत योद्धा थे। अपनी सेना को देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और खूब बाजे बजने लगे ॥ २ ॥

बिजय हेतु कटकई बनाई। सुदिन साधि नृप चलेउ बजाई ॥
जहँ तहँ परी अनेक लराईं। जीते सकल भूप बरिआईं ॥३॥

दिग्विजय के लिए उसने सेना साजी और शुभ दिन देखकर वह धौंसे बजाकर चला। जहाँ तहाँ बहुत सी लड़ाइयाँ हुईं और उसने सब राजाओं को बर-जोरी जीत लिया॥ ३॥

सप्त दीप भुजबल बस कीन्हे। लेइ लेइ दंड छोड़ि नृप दीन्हे॥
सकल-अवनि-मंडल तेहि काला। एक प्रतापभानु महिपाला॥४॥

राजा ने अपनी भुजाओं के बल से सातों द्वीपों को अपने वश में कर लिया और सब राजाओं से दण्ड ले लेकर उन्हें छोड़ दिया। उस समय सारे पृथ्वी-मण्डल पर एक भानु-प्रताप ही राजा था॥ ४॥

दो०—स्वबस बिस्व करि बाहुबल निज पुर कीन्ह प्रबेसु।
अरथ-धरम-कामादि सुख सेवइ समय नरेसु॥१८२॥

सारे संसार को अपने बाहु-बल से वश में करके राजा भानुप्रताप ने अपने नगर में प्रवेश किया। समय समय पर राजा अर्थ, धर्म, काम आदि का सेवन करने लगा॥१८२॥

चौ०—भूप-प्रतापभानु-बल पाई। कामधेनु भइ भूमि सुहाई॥
सब-दुख-बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर नारी॥१॥

राजा प्रतापभानु का बल पाकर पृथ्वी कामधेनु की तरह सुख-दायिनी हो गई। सारी प्रजा सभी दुःखों से रहित होकर सुखी हो गई। सभी नर-नारी धर्मात्मा और सुन्दर थे॥ १॥

सचिव धरमरुचि हरि-पद-प्रीती। नृप-हित-हेतु सिखव नित नीती॥
गुरु सुर संत पितर महिदेवा। करइ सदा नृप सब कै सेवा॥२॥

उसके मन्त्री धर्मरुचि की भक्ति ईश्वर के चरणों में थी। वह सदा राजा को उसके हित के लिए नीति सिखाया करता था। गुरु, देव, सन्त, पितर और ब्राह्मण—इन सबकी सेवा राजा सदा किया करता था॥ २॥

भूप धरम जे बेद बखाने। सकल करइ सादर सुख माने॥
दिन प्रति देइ बिबिध बिधि दाना। सुनइ सास्त्रबर बेद पुराना॥३॥

वेद में जो जो राज-धर्म कहे हैं उन सबको राजा बहुत आदरपूर्वक सुख मानकर किया करता था। वह प्रति दिन कई तरह का बहुत सा दान किया करता था और उत्तम शास्त्र, वेद और पुराणों को सुना करता था॥ ३॥

नाना बापी कूप तड़ागा। सुमनबाटिका सुंदर बागा॥
बिप्रभवन सुरभवन सुहाये। सब तीरथन्ह बिचित्र बनाये॥४॥

उसने अनेकों बावली, कुएँ, सरोवर, फुलवाड़ी और सुन्दर बाग़, ब्राह्मणों के रहने के लिए घर और देवताओं के मन्दिर सब तीर्थों में अच्छे अच्छे बनवाये॥ ४॥

दो०—जहँ लगि कहे पुरान स्त्रुति एक एक सब जाग ।
बार सहस्त्र सहस्त्र नृप किये सहित अनुराग ॥ १८३॥

पुराणों और वेदों में जितनी तरह के यज्ञ कहे हैं, वे उस राजा ने प्रसन्नता से हज़ार हज़ार बार किये ॥ १८३ ॥

चौ०—हृदय न कछु फल अनुसंधाना । भूप बिबेकी परमसुजाना ॥
करइ जे धरम करम मन बानी । बासुदेव अरपित नृप ग्यानी ॥१॥

राजा बड़ा ज्ञानी और बुद्धिमान् था, इसलिए उसने जितने कर्म किये उनके फल की चाह मन में नहीं की। वह ज्ञानी राजा जो जो धर्म, कर्म मन और वाणी से करता उन्हें कृष्णार्पण करता था ॥ १ ॥

चढ़ि बरबाजि बार एक राजा । मृगया कर सब साजि समाजा ॥
बिंध्याचल गँभीर बन गयऊ । मृग पुनीत बहु मारत भयऊ ॥२॥

एक बार सुन्दर घोड़े पर चढ़कर और शिकार का सब सामान सजकर राजा शिकार खेलने के लिए विन्ध्याचल के बड़े गम्भीर वन में गया। वहाँ जाकर उसने बहुत से पवित्र हिरन मारे ॥ २ ॥

फिरत बिपिन नृप दीख बराहू । जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू ॥
बड़ बिधु नहिँ समात मुख माहीँ । मनहुँ क्रोधबस उगिलत नाहीँ ॥३॥

वन में फिरते हुए राजा ने एक सूअर देखा। वह ऐसा मालूम होता था मानों चंद्रमा को ग्रसे हुए राहु वन में छिपा हो। चन्द्रमा इतना बड़ा है कि वह मुँह में समाता नहीं और क्रोध के वश मानों वह उसे उगलता भी नहीं (चन्द्रमा श्वेत होता है और राहु काला। काले रङ्ग के सूअर के मुँह से निकले हुए झुके हुए मंडलाकार दाँत श्वेत चन्द्रमा के समान चमक रहे थे। वे दाँत न भीतर जाते हैं, न बाहर निकलते हैं। मुँह में ही रखे हैं) ॥ ३ ॥

कोल-कराल-दसन-छबि गाई । तनु बिसाल पीवर अधिकाई ॥
घुरुघुरात हय आरव पायें । चकित बिलोकत कान उठायें ॥४॥

यह शोभा तो सूअर के भयानक दाँतों की हुई। उसका शरीर विशाल और बड़ा मोटा था। घोड़े की आहट पाकर वह घुरघुराता था और कान उठाये भौंचक-सा होकर देखता था ॥ ४ ॥

दो०—नील-महीधर-सिखर-सम देखि बिसाल बराहु ।
चपरि चलेउ हय सुटुकि नृप हाँकि न होइ निबाहु ॥१८४॥

नीले पर्वत के शिखर के समान बड़े सूअर को देखकर राजा ने घोड़े को ज़ोर से चाबुक लगाकर जल्दी चलाया, क्योंकि साधारण हाँकने से काम नहीं बनता था ॥ १८४ ॥

चौ०—आवत देखि अधिक रव बाजी। चलेउ बराह मरुतगति भाजी ॥
तुरत कीन्ह नृप सरसंधाना। महि मिलि गयउ बिलोकत बाना ॥ १ ॥

घोड़े (की टापों) के शब्द से उसे पास आता देखकर सूअर हवा के समान भाग चला। राजा ने तुरन्त बाण चढ़ाया किन्तु बाण को देखते ही वह सूअर धरती में मिल गया ॥ १ ॥

तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा ॥
प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा। रिसबस भूप चलेउ सँग लागा ॥ २ ॥

राजा ने निशाना लगा लगा कर बहुत से बाण चलाये, पर उस सूअर ने चाल करके अपने शरीर को बचा लिया। वह सूअर कभी तो दिखाई देता और कभी छिपता हुआ भागा जाता था। राजा भी क्रोध में भरकर उसके पीछे लग गया ॥ २ ॥

गयउ दूरि घन गहन बराहू। जहँ नाहिंन गज-बाजि-निबाहू ॥
अति अकेल बन बिपुल कलेसू। तदपि न मृगमग तजइ नरेसू ॥ ३ ॥

भागता भागता सूअर ऐसे घने वन में पहुँचा कि जहाँ हाथी और घोड़े का गम नहीं था। राजा अकेला था और वन में बहुत दुःख थे, पर तो भी राजा ने उस मृग का पीछा न छोड़ा ॥ ३ ॥

कोल बिलोकि भूप बड धीरा। भागि पैठ गिरिगुहा गँभीरा ॥
अगम देखि नृप अति पछिताई। फिरेउ महाबन परेउ भुलाई ॥ ४ ॥

राजा का ऐसा धीर देखकर वह सूअर पर्वत की एक गहरी गुफा में घुस गया। वहाँ जाने का मार्ग न देख राजा बहुत पछताकर वहाँ से पीछे लौटा तो उस महावन में मार्ग भूल गया ॥ ४ ॥

दो०—खेद खिन्न छुद्धित तृषित राजा बाजिसमेत।
खोजत ब्याकुल सरित सर जल बिनु भयउ अचेत ॥ १८५ ॥

राजा थक गया और दुखी हो गया था। वह घोड़े के सहित भूख और प्यास से व्याकुल होकर किसी नदी या तालाब को खोजता फिरा और (अन्त में) पानी के बिना अचेत हो गया ॥ १८५ ॥

चौ०—फिरत बिपिन आस्रम एक देखा। तहँ बस नृपति कपट-मुनि-बेखा ॥
जासु देस नृप लीन्ह छुड़ाई। समर सेन तजि गयउ पराई ॥ १ ॥

वन में फिरते फिरते उसने एक आश्रम देखा। वहाँ पर एक राजा कपट से मुनि का वेष बना कर रहता था। उसका देश इसी (भानुप्रताप) राजा ने छीन लिया था और वह राजा युद्ध में सेना को छोड़कर भाग गया था ॥ १ ॥

समय प्रतापभानु कर जानी । आपन अति असमय अनुमानी ॥
गयउ न गृह मन बहुत गलानी । मिला न राजहि नृप अभिमानी ॥२॥

वह भानुप्रताप का समय और अपना असमय जानकर घर न लौटा। उस अभिमानी को इतनी ग्लानि हुई कि वह राजा भानुप्रताप से मिला तक नहीं ॥ २ ॥

रिस उर मारि रंक जिमि राजा । बिपिन बसइ तापस के साजा ॥
तासु समीप गवन नृप कीन्हा । यह प्रतापरबि तेहि तब चीन्हा ॥३॥

क्रोध को मन में मारकर वह राजा, रङ्क की तरह, मुनि का वेष बनाकर वन में रहता था। जब राजा उसके पास गया तब उसने पहचान लिया कि यही भानुप्रताप राजा है ॥ ३ ॥

राउ तृषित नहिँ सो पहिचाना । देखि सुवेष महामुनि जाना ॥
उतरि तुरग तेँ कीन्ह प्रनामा । परम चतुर न कहेउ निज नामा ॥४॥

राजा प्यासा था इससे उसने उसे नहीं पहचाना। राजा ने उसके सुन्दर वेष को देखकर उसे महामुनि समझा। (राजा ने) घोड़े से उतरकर उस (कपटी महामुनि) को प्रणाम किया। भानुप्रताप अत्यन्त चतुर था, इससे उसने अपना नाम नहीं बताया ॥ ४ ॥

दो०—भूपति तृषित बिलोकि तेहि सरबर दीन्ह देखाइ ।
मज्जन पान समेत हय कीन्ह नृपति हरषाइ ॥१८६॥

राजा को प्यासा देखकर उस (मुनि) ने एक सरोवर दिखा दिया। राजा ने प्रसन्न होकर उसमें घोड़े-सहित स्नान और जल-पान किया ॥ १८६ ॥

चौ०—गै स्रम सकल सुखी नृप भयऊ । निज आस्रम तापस लेइ गयऊ ॥
आसन दीन्ह अस्त रबि जानी । पुनि तापस बोलेउ मृदु बानी ॥१॥

जब सारी थकावट दूर हुई और राजा सुखी हुआ, तब वह मुनि उसे अपने आश्रम में लिवा लाया। सूर्यास्त का समय जान कर मुनि ने उसको बैठने के लिए आसन दिया और कोमल वाणी से पूछा—॥ १ ॥

को तुम्ह कस बन फिरहु अकेले । सुंदर जुबा जीव परहेले ॥
चक्रवत्ति के लच्छन तोरे । देखत दया लागि अति मोरे ॥२॥

तुम कौन हो और वन में अकेले कैसे फिरते हो? तुम सुन्दर युवा होकर अपनी जान पर इस प्रकार क्यों खेलते हो? तुम्हारे चक्रवर्ती राजा के समान लक्षण देखकर मुझे बड़ी दया आती है ॥ २ ॥

नाम प्रतापभानु अवनीसा। तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा॥
फिरत अहेरे परेउँ भुलाई। बड़े भाग देखेउँ पद आई॥३॥

(राजा ने कहा कि) हे मुनीश, सुनिए! एक भानुप्रताप नाम राजा हैं, उनका मैं मन्त्री हूँ। मैं शिकार खेलता हुआ मार्ग भूल गया था। मेरे बड़े भाग्य थे जो आपके चरणों के दर्शन हुए॥३॥

हम कहँ दुरलभ दरस तुम्हारा। जानत हौं कछु भल होनिहारा॥
कह मुनि तात भयउ अँधियारा। जोजन सत्तरि नगर तुम्हारा॥४॥

महाराज! हमें आपके दर्शन दुर्लभ हैं। मैं जानता हूँ कि अब मेरा कुछ भला होनेवाला है। मुनि ने कहा—हे प्रिय, अब अँधेरा हो गया और तुम्हारा नगर यहाँ से सत्तर योजन (२८० कोस) दूर है॥४॥

दो०—निसा घोर गंभीर बन पंथ न सुनहु सुजान।
बसहु आजु अस जानि तुम्ह जायहु होत बिहान॥१८७॥

हे सुजान, यह रात्रि बड़ी घोर अँधेरी है, वन बड़ा विकट है और यहाँ कोई पगडण्डी नहीं है। ऐसा जानकर आज रात भर तुम यहीं बसो। दिन निकलते ही घर चले जाना॥१८७॥

तुलसी जसि भवितब्यता तैसी मिलइ सहाइ।
आपु न आवइ ताहि पहिँ ताहि तहाँ लेइ जाइ॥१८८॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि जैसा होनहार होता है वैसी ही सहायता मिल जाती है। होनहार चाहे आप वहाँ न आवे, पर उसे वहाँ ले जाता है॥१८८॥

चौ०—भलेहि नाथ आयसु धरि सीसा। बाँधि तुरग तरु बैठ महीसा॥
नृप बहु भाँति प्रसंसेउ ताही। चरन बंदि निज भाग्य सराही॥१॥

राजा ने कहा—बहुत अच्छा। बस, उसकी आज्ञा को सिर धरकर और घोड़े को एक पेड़ के नीचे बाँधकर वह बैठ गया। राजा ने उस मुनि की बहुत बड़ाई की और उसके चरणों को प्रणाम करके अपने भाग्य को सराहा॥१॥

पुनि बोलेउ मृदु गिरा सुहाई। जानि पिता प्रभु करउँ ढिठाई॥
मोहि मुनीस सुत सेवक जानी। नाथ नाम निज कहहु बखानी॥२॥

फिर राजा ने मुनि से कोमल वचनों से कहा—हे प्रभु! मैं आपको पिता जानकर एक ढिठाई करता हूँ। हे मुनीश, आप मुझे अपना पुत्र या सेवक जानकर अपना नाम बताइए॥२॥

तेहि न जान नृप नृपहि सो जाना। भूप सुहृद सो कपट सयाना॥
बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहइ निज काजा॥३॥

राजा ने उसे नहीं जाना किन्तु उसने राजा को जान लिया था। राजा का हृदय निर्मल था और वह बड़ा चतुर कपटी था। एक तो वह शत्रु, दूसरे क्षत्रिय, और तीसरे राजा—इसलिए वह छल-बल करके अपना काम बनाना चाहता था॥ ३॥

समुझि राजसुख दुखित अराती। अवाँ अनल इव सुलगइ छाती॥
सरल बचन नृप के सुनि काना। बयर सँभारि हृदय हरषाना॥४॥

वह शत्रु अपने राज्यसुख को मन में याद करके बड़ा दुःखी था। उसका हृदय आवें की तरह सुलगता था। राजा के भोले-भाले वचन सुनकर मुनि अपने पुराने वैर-भाव को याद करके मन में प्रसन्न हुआ॥ ४॥

दो०—कपट बोरि बानी मृदुल बोलेउ जुगुतिसमेत।
नाम हमार भिखारि अब निर्धन रहित-निकेत॥१८९॥

मुनि ने युक्ति और कपट से भरी हुई कोमल वाणी से युक्ति-पूर्वक कहा—अब हमारा नाम भिखारी है। न हमारे पास धन है और न घर॥ १८९॥

चौ०—कह नृप जे बिग्याननिधाना। तुम्ह सारिखे गलितअभिमाना॥
रहहिँ अपनपौ सदा दुराये। सब बिधि कुसल कुबेष बनाये॥१॥

राजा ने कहा—जो लोग ज्ञानी होते हैं और आप सरीखे निरभिमान होते हैं वे सदा अपने को छिपाये रहते हैं। बुरे वेष से ही सब तरह उनकी भलाई होती है अथवा चतुर होने पर भी वे कुवेष धारण किये रहते हैं॥ १॥

तेहि तेँ कहहिँ संत स्रुति टेरे। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे॥
तुम्ह सम अधन भिखारि अगेहा। होत बिरंचि सिवहि संदेहा॥२॥

इसी लिए संत और वेद पुकार कर कहते हैं कि कुछ न रखनेवाले परम दीन ही भगवान् के प्यारे होते हैं। आपके समान निर्धन, भिखारी और घर-हीन को देखकर ब्रह्मा और शिवजी को सन्देह हो जाता है॥ २॥

जोऽसि सोऽसि तव चरन नमामी। मो पर कृपा करिअ अब स्वामी॥
सहज प्रीति भूपति कै देखी। आपु बिषय बिस्वास बिसेखी॥३॥

आप जो कोई भी हों, आपके चरणों को प्रणाम है। हे स्वामी, अब आप मुझ पर कृपा कीजिए। अपने ऊपर राजा की स्वाभाविक प्रीति देखकर और अपने में विशेष विश्वास पाकर॥ ३॥

सब प्रकार राजहि अपनाई। बोलेउ अधिक सनेह जनाई॥
सुनु सतिभाउ कहउँ महिपाला। इहाँ बसत बीते बहु काला॥४॥

तथा सब तरह राजा को अपनी मुट्ठी में करके अधिक प्रेम दिखाता हुआ मुनि बोला—हे राजन्! सुनो, मैं सच कहता हूँ। मुझे यहाँ रहते हुए बहुत समय बीत गया॥ ४॥

दो०—अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ मैं न जनावउँ काहु।
लोकमान्यता अनल सम कर तपकानन दाहु॥१६०॥

न तो अभी तक मुझे कोई मिला और न मैं अपने को किसी पर प्रकट करता हूँ, क्योंकि संसार की प्रतिष्ठा अग्नि के समान है। वह तपरूपी वन को भस्म कर देती है॥ १९०॥

सो०—तुलसी देखि सुबेखु भूलहिँ मूढ़ न चतुर नर।
सुन्दर केकिहि पेखु बचन सुधासम असन अहि॥१६१॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि ऊपर के बनावटी अच्छे वेष को देखकर मूर्ख जन ही भूल जाते हैं, चतुर नहीं। मोर देखो कैसी मीठी वाणी बोलता है, पर उसका भोजन साँप है॥ १९१॥

चौ०—तातें गुपुत रहउँ जग माहीं। हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं॥
प्रभु जानत सब बिनहिं जनाये। कहहु कवन सिधि लोक रिझाये॥१॥

(उस मुनि ने कहा) इसलिए मैं संसार में छिपा हुआ रहता हूँ। ईश्वर को छोड़-कर मुझे और किसी से कुछ मतलब नहीं है। प्रभु तो बिना ही जताये सब कुछ जानते हैं, फिर संसार को रिझाने से क्या सिद्धि?॥ १॥

तुम्ह सुचि सुमति परमप्रिय मोरे। प्रीति प्रतीति मोहि पर तोरे॥
अब जौं तात दुरावउँ तोही। दारुन दोष घटइ अति मोही॥२॥

तुम पवित्र हो, बुद्धि भी तुम्हारी अच्छी है और तुम मेरे बहुत प्यारे हो। तुम्हारी प्रीति और विश्वास मुझ पर है। जो अब भी मैं तुमसे कुछ बात छिपाऊँ तो मुझे बड़ा भारी दोष लगता है॥ २॥

जिमि जिमि तापस कथइ उदासा। तिमि तिमि नृपहि उपज बिस्वासा॥
देखा स्वबस करम-मन-बानी। तब बोला तापस बगध्यानी॥३॥

जैसे जैसे वह मुनि वैराग्य की बातें कहता जाता था, वैसे ही वैसे राजा का विश्वास उस पर होता था। जब उस बगुला-भगत मुनि ने देखा कि राजा सब तरह से मेरे वश में है तब वह कहने लगा—॥ ३॥

नाम हमार एकतनु भाई। सुनि नृप बोलेउ पुनि सिरु नाई॥
कहहु नाम कर अरथ बखानी। मोहि सेवक अति आपन जानी॥४॥

भाई, हमारा नाम 'एक-तनु' (एक शरीर) है। यह सुन राजा फिर सिर नवाकर बोला—महाराज, मुझे आप अपना अत्यन्त सेवक समझ कर इस नाम का अर्थ समझा कर कहिए॥ ४॥

दो०—आदि सृष्टि उपजी जबहि तब उतपति भइ मोरि।
नाम एकतनु हेतु तेहि देह न धरी बहोरि॥१६२॥

(मुनि ने कहा कि) हे राजन्! जब सबसे पहले सृष्टि हुई थी तब मेरा जन्म हुआ था। मेरे एक-तनु नाम का यही कारण है कि मैंने फिर दूसरा शरीर धारण नहीं किया॥ १९२॥

चौ०—जनि आचरजु करहु मन माहीं। सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं॥
तपबल तें जग सृजइ बिधाता। तपबल बिस्नु भये परित्राता॥१॥

हे पुत्र, यह सुनकर तुम आश्चर्य मत करो; क्योंकि तप से कुछ दुर्लभ नहीं है। तप के ही बल से ब्रह्मा संसार को रचते हैं और तप के ही बल से विष्णु संसार का पालन करते हैं॥ १॥

तपबल संभु करहिं संहारा। तप तें अगम न कछु संसारा॥
भयउ नृपहि सुनि अति अनुरागा। कथा पुरातन कहइ सो लागा॥२॥

तप के ही बल से शिवजी संसार का संहार करते हैं। इसलिए संसार में तप से कोई काम दुर्लभ नहीं है। यह सुनकर राजा को अत्यन्त अनुराग उत्पन्न हुआ। वह मुनि फिर पुरानी कथा कहने लगा॥ २॥

करम धरम इतिहास अनेका। करइ निरूपन बिरति बिबेका॥
उद्भव-पालन-प्रलय-कहानी। कहेसि अमित आचरज बखानी॥३॥

उसने बहुत से कर्म, धर्म और कई एक इतिहासों तथा वैराग्य और निवृत्ति-मार्ग का वर्णन किया। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की बहुत सी अचरजभरी कहानियाँ उसने कहीं॥ ३॥

सुनि महीप तापसबस भयऊ। आपन नाम कहन तब लयऊ॥
कह तापस नृप जानउँ तोही। कीन्हेहु कपट लाग भल मोही॥४॥

सब सुनकर राजा मुनि के वश में हो गया और अपना नाम उसको बताने ही को था कि मुनि ने कहा—मैं तो तुमको जानता था कि तुम राजा हो। (तुमने नहीं बताया) पर कपट करने पर भी तुम मुझको बहुत अच्छे लगते हो॥ ४॥

सो०—सुनु महीस असि नीति जहँ तहँ नाम न कहहिँ नृप।
मोहि तोहि पर अति प्रीति सोइ चतुरता बिचारि तव ॥१६३॥

हे राजन्, यही नीति है कि राजा लोग जहाँ तहाँ अपना नाम नहीं बतलाया करते। मैं तुम्हारी चतुराई देखकर तुम पर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ ॥ १९३ ॥

चौ०—नाम तुम्हार प्रतापदिनेसा। सत्यकेतु तव पिता नरेसा ॥
गुरुप्रसाद सब जानिय राजा। कहिय न आपन जानि अकाजा ॥१॥

तुम्हारा नाम भानुप्रताप है और तुम्हारे पिता का नाम राजा सत्यकेतु था। हे राजन्, मैं गुरु की कृपा से सब जानता हूँ, पर मैं सिद्धाई फैलाकर अपनी हानि करना ठीक न जानकर किसी से नहीं कहता ॥ १ ॥

देखि तात तव सहज सुधाई। प्रीति प्रतीति नीति-निपुनाई ॥
उपजि परी ममता मन मोरे। कहउँ कथा निज पूछे तोरे ॥२॥

हे तात! तुम्हारे स्वाभाविक सीधेपन, स्नेह, विश्वास और नीति में चातुर्य को देखकर मेरे मन में तुम पर ममता पैदा हो गई इसलिए मैं तुम्हारे पूछने पर अपनी कथा कहता हूँ ॥ २ ॥

अब प्रसन्न मैं संसय नाहीँ। माँगु जो भूप भाव मन माहीँ ॥
सुनि सुबचन भूपति हरषाना। गहि पद बिनय कीन्हि बिधि नाना ॥३॥

हे राजन्, अब मैं निस्सन्देह तुझ पर प्रसन्न हूँ। अब तू मन-चाहा वर माँग। इतना सुनते ही राजा प्रसन्न हुआ और मुनि के चरणों को पकड़कर उसने बहुत तरह से उसकी विनती की ॥ ३ ॥

कृपासिंधु मुनि दरसन तोरे। चारि पदारथ करतल मोरे ॥
प्रभुहि तथापि प्रसन्न बिलोकी। माँगि अगम बरु होउँ असोकी ॥४॥

कि हे कृपा-सागर मुनि! आपके दर्शन से चारों पदार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) मेरी मुट्ठी में हैं। तो भी मैं आपको प्रसन्न जान, कठिन वर माँग कर शोकरहित हो जाता हूँ ॥ ४ ॥

दो०—जरा मरन दुख रहित तनु समर जितइ जनि कोउ।
एकछत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ ॥१६४॥

(हे मुनिराज, मैं आपसे यह वर माँगता हूँ कि) मेरा शरीर बुढ़ापे और मरने के दुःख से अलग रहे, अर्थात् मैं अमर हो जाऊँ। युद्ध में मुझे कोई न जीत सके। मैं सौ कल्प तक शत्रुहीन होकर पृथ्वी पर एकछत्र (चक्रवर्ती) राज्य करूँ ॥ १९४ ॥

चौ०—कह तापस नृप ऐसेइ होऊ। कारन एक कठिन सुनु सोऊ॥
कालउ तव पद नाइहि सीसा। एक बिप्रकुल छाड़ि महीसा॥१॥

मुनि ने कहा—राजन्, ऐसा ही होगा। पर इसमें एक बात बहुत कठिन है। उसे भी सुन लो। हे राजन्, एक ब्राह्मण-कुल को छोड़कर काल भी तेरे चरणों में सिर धर प्रणाम करेगा॥ १॥

तपबल बिप्र सदा बरिआरा। तिन्ह के कोप न कोउ रखवारा॥
जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तौ तव बस बिधि बिस्नु महेसा॥२॥

बात यह है कि ब्राह्मण लोग तप के बल से सदा बलवान् रहते हैं। उनके कोप से कोई नहीं बचा सकता। हे राजन्, जो तुम ब्राह्मणों को वश में कर लो तो ब्रह्मा, विष्णु और शिव तुम्हारे वश हो जायँ॥ २॥

चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई। सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई॥
बिप्रसाप बिनु सुनु महिपाला। तोर नास नहिँ कवनेहुँ काला॥३॥

ब्राह्मणों के कुल से किसी का बल नहीं चल सकता। यह बात मैं दोनों हाथ उठाकर सत्य सत्य कहता हूँ। हे राजन, ब्राह्मण के शाप के बिना तेरा नाश कभी नहीं होगा॥ ३॥

हरषेउ राउ बचन सुनि तासू। नाथ न होइ मोर अब नासू॥
तव प्रसाद प्रभु कृपानिधाना। मो कहँ सर्बकाल कल्याना॥ ४॥

मुनि के वचन सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा—हे नाथ, अब मेरा नाश न होगा। हे कृपानिधान, हे प्रभु! आपकी प्रसन्नता से मेरा सदा ही कल्याण होगा॥ ४॥

दो०—एवमस्तु कहि कपटमुनि बोला कुटिल बहोरि।
मिलब हमार भुलाब निज कहहु त हमहिँ न खोरि॥१६५॥

वह कपटी मुनि फिर कपट से टेढ़े वचन बोला—ऐसा ही होगा, पर अपना वन में भूलना और हमारा मिलना किसी से मत कहना, नहीं तो फिर हमारा दोष नहीं है॥ १६५॥

चौ०—तातें मैं तोहि बरजउँ राजा। कहे कथा तव परम अकाजा॥
छठें स्रवन यह परत कहानी। नास तुम्हार सत्य मम बानी॥१॥

हे राजन्, इसलिए मैं तुमको पहले ही समझाये देता हूँ कि इस बात के कहने में तेरा काम बहुत बिगड़ जायगा। जो यह बात छठे कान में पड़ी तो तेरा नाश हो जायगा। मेरी बात सत्य है॥ १॥

यह प्रगटे अथवा द्विजसापा। नास तोर सुनु भानुप्रतापा॥
आन उपाय निधन तव नाहीं। जौं हरि हर कोपहिं मन माहीं॥२॥

हे भानुप्रताप! इस बात के प्रकट होने या ब्राह्मण के शाप से तेरा नाश होगा। दूसरे उपाय से तेरा नाश नहीं होगा, चाहे विष्णु और शिव भी मन में क्यों न कोप करें॥ २॥

सत्य नाथ पद गहि नृप भाखा। द्विज-गुरु-कोप कहहु को राखा॥
राखइ गुरु जौं कोप बिधाता। गुरुबिरोध नहिँ कोउ जगत्राता॥३॥

फिर राजा ने मुनि के पाँव पकड़ कर कहा—यह कथन सत्य है। भला ब्राह्मण और गुरु के कोप से कौन रक्षा कर सकता है? ब्रह्मा के कोप को तो गुरु रोक भी सकते हैं, पर गुरु के विरोध करने पर जगत् में दूसरा कोई रक्षा नहीं कर सकता॥ ३॥

जौं न चलब हम कहे तुम्हारे। होउ नास नहिँ सोच हमारे॥
एकहि डर डरपत मन मोरा। प्रभु महि-देव-साप अति घोरा॥४॥

जो मैं तुम्हारे कहे पर न चलूँगा तो मेरा ज़रूर नाश हो जायगा। मुझे उसका दुःख न होगा। हे स्वामी, मेरा मन बस एक ही डर से डरता है कि ब्राह्मणों का शाप बड़ा ही घोर होता है॥ ४॥

दो०—होहिँ बिप्र बस कवन बिधि कहहु कृपा करि सोउ।
तुम्ह तजि दीनदयाल निज हितू न देखउँ कोउ॥१६६॥

कृपा करके आप यह भी कहिए कि ब्राह्मण मेरे वश में किस तरह हों। हे दीनदयालु, आपको छोड़कर मैं किसी दूसरे को अपना हितकारी नहीं देखता॥ १९६॥

चौ०—सुनु नृप बिबिध जतन जग माहीं। कष्टसाध्य पुनि होहिँ कि नाहीं॥
अहइ एक अति सुगम उपाई। तहाँ परंतु एक कठिनाई॥१॥

हे राजन्, सुनो। जगत् में अनेक उपाय हैं, पर वे कष्ट-साध्य हैं। वे हो सकते हैं कि नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। किन्तु एक उपाय बहुत सुगम है, पर उसमें भी एक कठिनता है॥ १॥

मम आधीन जुगुति नृप सोई। मोर जाब तव नगर न होई॥
आजु लगे अरु जब तेँ भयऊँ। काहू के गृह ग्राम न गयऊँ॥२॥

वह युक्ति मेरे अधीन है। पर मेरा जाना तुम्हारे नगर में हो नहीं सकता। मैं जब से उत्पन्न हुआ हूँ तब से आज तक मैं किसी के घर या गाँव में नहीं गया॥ २॥

जौं न जाउँ तब होइ अकाजू। बना आइ असमंजस आजू॥
सुनि महीस बोलेउ मृदु बानी। नाथ निगम असि नीति बखानी॥३॥

जो मैं नहीं जाता तो तुम्हारा काम बिगड़ता है। यही बड़ी दुविधा आज आ पड़ी है। यह सुनकर राजा कोमल वाणी से कहने लगा—हे नाथ, शास्त्र में ऐसी नीति कही है कि॥ ३॥

बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरन्हि सदा तृन धरहीं॥
जलधि अगाध मौलि बह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू॥४॥

बड़े लोग छोटों पर स्नेह करते हैं। जैसे पर्वत छोटे से तिनकों को सदा अपने सिर पर रखते हैं, अथाह समुद्र फेनों को अपने सिर पर धारण करता है और पृथ्वी सदा धूल को सिर पर धारण करती है॥ ४॥

दो०—अस कहि गहे नरेस पद स्वामी होहु कृपाल।
मोहि लागि दुख सहिय प्रभु सज्जन दीनदयाल॥१६७॥

इतना कहकर राजा ने मुनि के पाँव पकड़कर कहा कि हे स्वामी, मुझ पर कृपा कीजिए। हे सज्जन, हे दीन-दयाल! मेरे लिए आप कष्ट सहन कीजिए॥ १९७॥

चौ०—जानि नृपहि आपन आधीना। बोला तापस कपट प्रवीना॥
सत्य कहउँ भूपति सुनु तोही। जग नाहिँन दुर्लभ कछु मोही॥१॥

राजा को अपनी मुट्ठी में समझ कर वह चतुर कपटी तपस्वी बोला—हे राजा, सुन। मैं तुझसे सत्य कहता हूँ कि जगत् में मेरे लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है॥ १॥

अवसि काज मैं करिहउँ तोरा। मन तन बचन भगत तैं मोरा॥
जोग-जुगुति तप मंत्रप्रभाऊ। फलइ तबहिँ जब करिय दुराऊ॥२॥

मैं तेरा काम अवश्य करूँगा; क्योंकि तू मेरा तन, मन और वचन से भक्त है। योग की युक्ति, तप और मन्त्र ये तभी फल देते हैं जब इनको छिपकर करे॥ २॥

जौं नरेस मैं करउँ रसोई। तुम्ह परुसहु मोहि जान न कोई॥
अन्न सो जोइ जोइ भोजन करई। सोइ सोइ तव आयसु अनुसरई॥३॥

हे राजन्, वह उपाय यह है कि मैं तो रसोई बनाऊँ और तुम परोसो और मुझको कोई न जाने। उस अन्न को जो जो भोजन करेगा वही वही तेरे वश में हो जायगा॥ ३॥

पुनि तिन्ह के गृह जेवइ जोऊ। तव बस होइ भूप सुनु सोऊ॥
जाइ उपाय रचहु नृप एहू। संबत भरि संकलप करेहू॥४॥

हे राजा, सुन। फिर उनके घर भी जो भोजन करेगा वह भी तेरे वश में हो जायगा। हे राजन्, तुम जाकर इस उपाय को करो। और एक बरस का यह संकल्प करो॥ ४॥

दो०—नित नूतन द्विज सहस सत बरेहु सहित परिवार।
मैं तुम्हरे संकलप लगि दिनहिँ करब जेवनार॥१९८॥

प्रतिदिन परिवार-सहित सौ हज़ार नये ब्राह्मणों को न्योत कर जिमाया करो। मैं तुम्हारे मनोरथ के लिए रोज़-रोज़ भोजन बनाया करूँगा॥ १९८॥

चौ०—एहि बिधि भूप कष्ट अति थोरें। होइहहिँ सकल बिप्र बस तोरें॥
करिहहिँ बिप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सहजहिँ बस देवा॥१॥

हे राजन्, इस तरह थोड़े से कष्ट से सारे ब्राह्मण तेरे वश में हो जायँगे। फिर वे ब्राह्मण होम और यज्ञ करेंगे और उसी के प्रभाव से सारे देवता भी तेरे वश में सहज ही में हो जायँगे॥ १॥

अउर एक तोहि कहउँ लखाऊ। मैं एहि बेष न आउब काऊ॥
तुम्हरे उपरोहित कहुँ राया। हरि आनब मैं करि निज माया॥२॥

एक बात और भी मैं तुझको पहचान की कहता हूँ कि मैं इस वेष से कभी न आऊँगा। हे राजन्, मैं अपनी माया से तुम्हारे पुरोहित को हर लाऊँगा॥ २॥

तपबल तेहि करि आपु समाना। रखिहउँ इहाँ बरष परवाना॥
मैं धरि तासु बेषु सुनु राजा। सब बिधि तोर सवाँरब काजा॥३॥

उसको मैं तप के बल से अपने समान करके यहाँ बरस भर तक रखूँगा। मैं उसका वेष धारण करके सब तरह से तुम्हारा काज सँवारूँगा॥ ३॥

गइ निसि बहुत सयन अब कीजे। मोहि तोहि भूप भेंट दिन तीजे॥
मैं तपबल तोहि तुरग समेता। पहुँचइहउँ सोवतहिँ निकेता॥४॥

हे राजन्, अब बहुत रात गई, सो रहिए। अब मेरी तुम्हारी भेंट तीसरे दिन होगी। मैं अपने तपोबल से घोड़े के सहित तुझको सोते ही सोते तेरे घर पहुँचा दूँगा॥ ४॥

दो०—मैं आउब सोइ बेष धरि पहिचानेउ तब मोहि।
जब एकांत बुलाइ सब कथा सुनावउँ तोहि॥१९९॥

मैं वही वेष धारण करके आऊँगा। जब मैं तुमको एकान्त में बुलाकर सारी कथा सुनाऊँ तब तुम मुझको पहचान लेना॥ १९९॥

चौ०—सयन कीन्ह नृप आयसु मानी। आसन जाइ बैठ छलग्यानी॥
स्रमित भूप निद्रा अति आई। सो किमि सोव सोच अधिकाई॥१॥

मुनि की आज्ञा पाकर राजा सो रहा और वह कपटी ज्ञानी अपने आसन पर जा बैठा। राजा थका हुआ था इसलिए उसको बहुत नींद आई। पर अधिक चिन्ता के कारण उस कपटी मुनि को नींद कैसे आ सकती थी?॥ १॥

कालकेतु निसिचर तहँ आवा। जेहिँ सूकर होइ नृपहि भुलावा॥
परममित्र तापसनृप केरा। जानइ सो अति कपट घनेरा॥२॥

उसी समय वहाँ कालकेतु नामक राक्षस आया जिसने शूकर का रूप धारण करके राजा को भुलाया था। वह राक्षस तपस्वी राजा का बड़ा मित्र था। वह बहुत से कपट-जाल रचना जानता था॥ २॥

तेहि के सत सुत अरु दस भाई। खल अति अजय देव-दुख-दाई॥
प्रथमहिँ भूप समर सब मारे। विप्र संत सुर देखि दुखारे॥३॥

उसके सौ बेटे और दस भाई थे। वे सब बड़े दुष्ट, किसी से न जीते जानेवाले और देवों को दुःख देनेवाले थे। ब्राह्मणों, देवों और सन्तों को दुखी देखकर राजा ने पहले उन्हें युद्ध में मार डाला था॥ ३॥

तेहि खल पाछिल बयरु सँभारा। तापस नृप मिलि मंत्र विचारा॥
जेहि रिपुछय सोइ रचेन्हि उपाऊ। भावी बस न जान कछु राऊ॥४॥

उस दुष्ट कालकेतु ने अपना पिछला वैर याद करके उस तपस्वी राजा से मिल कर सलाह की और ऐसा उपाय रचा जिससे शत्रु का नाश हो। पर भावी के वश में पड़े हुए राजा भानुप्रताप को यह भेद कुछ भी न समझ पड़ा॥ ४॥

दो०—रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिय न ताहु।
अजहुँ देत दुख रविससिहि सिर अवसेषित राहु॥२००॥

तेजस्वी शत्रु अकेला भी हो तो भी उसको छोटा न समझना चाहिए। देखो, कट कर सिर-मात्र बचा हुआ राहु आज तक सूर्य और चन्द्रमा को दुख दिया करता है॥ २००॥

चौ०—तापस नृप निज सखहि निहारी। हरषि मिलेउ उठि भयउ सुखारी॥
मित्रहि कहि सब कथा सुनाई। जातुधानु बोला सुख पाई॥१॥

वह तपस्वी राजा अपने मित्र राक्षस को देखकर बड़ी प्रसन्नता से उठ कर मिला

और बहुत सुखी हुआ। उसने अपने मित्र को सारी कथा कह सुनाई। उसे सुनकर राक्षस बहुत आनन्दित होकर बोला—॥ १ ॥

अब साधेउँ रिपु सुनहु नरेसा। जौं तुम्ह कीन्ह मोर उपदेसा॥
परिहरि सोच रहहु तुम्ह सोई। बिनु औषध बिआधि बिधि खोई॥२॥

हे राजन्, सुनो। जो तुमने मेरा उपदेश माना तो मैंने शत्रु को ठीक कर लिया। अब तुम सोच को छोड़कर सो रहो। अब विधाता ने बिना औषध के सारी व्याधि खो दी॥ २॥

कुलसमेत रिपुमूल बहाई। चौथे दिवस मिलब मैं आई॥
तापसनृपहि बहुत परितोषी। चला महाकपटी अति रोषी॥३॥

शत्रुओं को कुल-समेत नष्ट करके मैं चौथे दिन तुमसे आकर मिलूँगा। फिर वह कपटी और महाक्रोधी राक्षस तपस्वी राजा को बहुत समझा बुझाकर वहाँ से चला॥ ३॥

भानुप्रतापहि बाजिसमेता। पहुँचायेसि छन माँझ निकेता॥
नृपहि नारि पहिँ सयन कराई। हयगृह बाँधेसि बाजि बनाई॥४॥

उसने घोड़े के सहित राजा भानुप्रताप को क्षणमात्र में उसके घर पहुँचा दिया। उसने राजा को रानी के पास सुला दिया और घोड़े को घुड़साल में ठीक तरह बाँध दिया॥ ४॥

दो०—राजा के उपरोहितहि हरि लेइ गयउ बहोरि।
लेइ राखेसि गिरिखोह महँ माया करि मति भोरि॥२०१॥

फिर वह राजा के पुरोहित को हर ले गया। वह उसे एक पर्वत की गुफा में ले गया और वहाँ अपनी माया से उसकी बुद्धि को भ्रम में डाल कर उसने रख छोड़ा॥ २०१॥

चौ०—आपु बिरचि उपरोहितरूपा। परेउ जाइ तेहि सेज अनूपा॥
जागेउ नृप अनभये बिहाना। देखि भवन अति अचरजु माना॥१॥

वह राक्षस आप पुरोहित का रूप बना करके उसकी सुन्दर शय्या पर जा सोया। सबेरा होने के पहले ही राजा जागा और अपना भवन देखकर उसने बड़ा आश्चर्य माना॥१॥

मुनिमहिमा मन महँ अनुमानी। उठेउ गवहिँ जेहि जान न रानी॥
कानन गयउ बाजि चढ़ि तेही। पुर नरनारि न जानेउ केही॥२॥

वह मुनि की महिमा को अपने मन में जानकर, उठकर बाहर चला गया, जिससे रानी न जान ले। उसी घोड़े पर चढ़कर राजा वन को गया। उसे किसी पुरवासी स्त्री पुरुष ने नहीं जाना॥ २॥

गये जामजुग भूपति आवा। घर घर उत्सव बाज बधावा॥
उपरोहितहि देख जब राजा। चकित बिलोक सुमिर सोइ काजा॥३॥

दोपहर होने पर राजा आया और घर घर आनन्द-उत्सव होने लगे। जब राजा ने पुरोहित को देखा तो वह चकित हो गया और उसी कार्य का उसे स्मरण हो आया॥ ३॥

जुगसम नृपहि गये दिन तीनी। कपटी मुनिपद रहि मति लीनी॥
समय जानि उपरोहित आवा। नृपहि मते सब कहि समुझावा॥४॥

राजा को वे तीन दिन युगों के समान बीते। तीन दिन तक राजा की मति उसी कपटी मुनि के चरणों में लगी रही। समय होने पर पुरोहित आया और उसने राजा को, पहले के संकेतानुसार, सब बातें कहकर समझाईं॥ ४॥

दो०—नृप हरषेउ पहिचानि गुरु भ्रमबस रहा न चेत।
बरे तुरत सतसहस बर बिप्र कुटुंबसमेत॥२०२॥

गुरु को पहचान कर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। भ्रम के बश में होकर उसको कुछ भी ज्ञान न रहा। फिर उसने कुटुम्ब-समेत सौ हज़ार ब्राह्मणों को न्योता दे दिया॥ २०२॥

चौ०—उपरोहित जेवनार बनाई। छरस चारि बिधि जसि स्रुति गाई॥
मायामय तेहि कीन्ह रसोई। बिंजन बहु गनि सकइ न कोई॥१॥

पुरोहित ने शास्त्रानुसार छहों रसों के (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य) चार तरह के भोजन बनाये। उसने अपनी राक्षसी माया से रसोई बनाकर तैयार कर दी। उसमें इतने अधिक व्यंजन थे कि उन्हें कोई गिन नहीं सकता था॥ १॥

बिबिध मृगन्ह कर आमिष राँधा। तेहि महँ बिप्रमासु खल साँधा॥
भोजन कहँ सब बिप्र बोलाये। पद पखारि सादर बैठाये॥ २॥

उस दुष्ट ने तरह तरह के पशुओं का मांस पकाया और उसमें ब्राह्मणों का मांस भी मिला दिया। सब ब्राह्मणों को भोजन करने के लिए बुलाया और पाँव धुलाकर सबको सादर बैठाया॥ २॥

परुसन जबहिं लाग महिपाला। भइ अकासबानी तेहि काला॥
बिप्रबृंद उठि उठि गृह जाहू। है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू॥३॥

जिस समय राजा भोजन परोसने लगा उसी समय आकाशवाणी हुई कि हे ब्राह्मणो, तुम लोग उठ उठकर अपने अपने घर चले जाओ। इस अन्न को मत खाओ। इसके खाने से बड़ी हानि है॥ ३॥

भयउ रसोईं भू-सुर-मासू । सब द्विज उठे मानि बिस्वासू ॥
भूप बिकल मति मोह भुलानी । भावी बस न आव मुख बानी ॥४॥

इस भोजन में ब्राह्मणों का मांस बना है। आकाशवाणी पर विश्वास कर सब ब्राह्मण उठ खड़े हुए। यह देखकर विकल राजा की मति मोह में गायब हो गई। होनहार के बस होने से उसके मुँह से बोल भी न निकला ॥ ४ ॥

दो०—बोले बिप्र सकोप तब नहिँ कछु कीन्ह बिचार ।
जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार ॥२०३॥

उस समय सब ब्राह्मण कुछ विचार न करके कोप में भर बोले—हे मूर्ख राजा! जा, तू कुटुम्ब-सहित राक्षस हो ॥ २०३ ॥

चौ०—छत्रबंधु तैँ बिप्र बोलाई । घालै लिए सहित समुदाई ॥
ईस्वर राखा धरम हमारा । जइहसि तैँ समेत परिवारा ॥१॥

हे नीच क्षत्रिय, तूने सब ब्राह्मणों को बुलाकर उन्हें कुल-सहित भ्रष्ट करना चाहा। ईश्वर ने हमारा धर्म बचा लिया। पर तेरा कुटुम्ब-सहित नाश होगा ॥ १ ॥

संबत मध्य नास तव होऊ । जलदाता न रहिहि कुल कोऊ ॥
नृप सुनि साप बिकल अति त्रासा । भइ बहोरि बरगिरा अकासा ॥२॥

एक वर्ष के बीच तेरा नाश होगा और तेरे कुल में पानी देनेवाला भी कोई न रहेगा। शाप को सुनकर राजा बहुत डरकर घबरा गया। इतने में फिर आकाशवाणी हुई—॥ २ ॥

बिप्रहु साप बिचारि न दीन्हा । नहिँ अपराध भूप कछु कीन्हा ॥
चकित बिप्र सब सुनि नभबानी । भूप गयउ जहँ भोजनखानी ॥३॥

हे ब्राह्मणो, तुम लोगों ने विचारकर शाप नहीं दिया। राजा ने कुछ भी अपराध नहीं किया है। आकाशवाणी सुनकर ब्राह्मण लोग चकित हो गये। जहाँ रसोई बन रही थी वहाँ राजा गया ॥ ३ ॥

तहँ न असन नहिँ बिप्र सुआरा । फिरेउ राउ मन सोच अपारा ॥
सब प्रसंग महिसुरन्ह सुनाई । त्रसित परेउ अवनी अकुलाई ॥४॥

वहाँ पर न तो रसोइया ब्राह्मण था और न कुछ भोजन का सामान ही। राजा अपार सोच में डूबकर लौट आया। उसने अपनी सारी कथा ब्राह्मणों को सुनाई और मारे डर के विकल होकर वह धरती पर गिर पड़ा ॥ ४ ॥

दो०—भूपति भावी मिटइ नहिँ जदपि न दूषन तोर ।
किये अन्यथा होइ नहिँ बिप्र साप अति घोर ॥२०४॥

ब्राह्मणों ने कहा—राजन्, यद्यपि इसमें तुम्हारा अपराध नहीं है तथापि होनहार नहीं मिट सकती। ब्राह्मणों का शाप बड़ा घोर है। यह किसी तरह अन्यथा नहीं हो सकता॥ २०४॥

चौ०—अस कहि सब महिदेव सिधाये। समाचार पुरलोगन्ह पाये॥
सोचहिँ दूषन दैवहि देहीँ। बिचरत हंस काग किय जेहीँ॥१॥

ऐसा कहकर सब ब्राह्मण चले गये और यह चर्चा सारे पुर-वासियों में फैल गई। वे लोग सोचने और विधाता को दोष देने लगे जिसने विचरते हुए हंस को कौआ बना दिया॥ १॥

उपरोहितहि भवन पहुँचाई। असुर तापसहि खबरि जनाई॥
तेहि खल जहँ तहँ पत्र पठाये। सजि सजि सेन भूप सब धाये॥२॥

कालकेतु राक्षस ने पुरोहित को घर पहुँचा कर कपटी तपस्वी को सब समाचार जा सुनाया। उस दुष्ट ने जहाँ तहाँ (राजाओं के पास) पत्र भिजवा दिये। तुरन्त ही सब राजा लोग अपनी अपनी सेना तैयार कर चढ़ आये॥ २॥

घेरेन्हि नगर निसान बजाई। बिबिध भाँति नित होइ लराई॥
जूझे सकल सुभट करि करनी। बंधु समेत परेउ नृप धरनी॥३॥

उन्होंने डंका बजाकर राजा के नगर को घेर लिया। अनेक भाँति की नित्य नई लड़ाई होने लगी। वीरता दिखाकर सभी वीर लड़ मरे और भाइयों-समेत राजा धरती पर गिर पड़ा अर्थात् मारा गया॥ ३॥

सत्य-केतु-कुल कोउ नहिँ बाँचा। बिप्रसाप किमि होइ असाँचा॥
रिपु जिति सब नृप नगर बसाई। निज पुर गवने जय जसु पाई॥४॥

सत्यकेतु के कुल में कोई भी नहीं बचा। ब्राह्मणों का शाप कैसे असत्य हो सकता है? सब राजाओं ने मिलकर शत्रु को जीतकर नगर बसाया तथा जय और कीर्ति को पाकर वे अपने अपने घर को चले गये॥ ४॥

दो०—भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ बिधाता बाम।
धूरि मेरुसम जनक जम ताहि ब्यालसम दाम॥२०५॥

हे भरद्वाजजी, दैव जब किसी के विपरीत हो जाता है तब धूल सुमेरु-पर्वत के समान, पिता यम के समान और रस्सी साँप के समान हो जाती है॥ २०५॥

चौ०—काल पाइ मुनि सुनु सोई राजा। भयउ निसाचर सहित समाजा॥
दस सिर ताहि बीस भुजदंडा। रावन नाम बीर बरिबंडा॥१॥

हे मुनि, सुनो। समय पाकर वही राजा अपने सारे कुटुम्ब के साथ राक्षस हो गया। उसके दस तो सिर और बीस भुजायें हुई। उसका नाम रावण हुआ और वह बड़ा शूरवीर हुआ॥ १॥

भूप-अनुज अरि-मर्दन-नामा। भयउ सो कुंभकरन बलधामा॥
सचिव जो रहा धरमरुचि जासू। भयउ बिमात्र बंधु लघु तासू॥२॥

उस राजा का छोटा भाई, जिसका नाम 'अरिमर्दन' था, बड़ा बलधारी कुम्भकर्ण नामवाला हुआ। उसका जो 'धर्मरुचि' नाम का मन्त्री था वह, दूसरी माता से उत्पन्न, उसका छोटा भाई हुआ॥ २॥

नाम बिभीषन जेहि जगु जाना। बिस्नुभगत बिग्यान - निधाना॥
रहे जे सुत सेवक नृप केरे। भये निसाचर घोर घनेरे॥३॥

इस जन्म में उसका नाम विभीषण सारा जगत् जानता है। वह भगवान् का भक्त और विशेष ज्ञान का सागर था। राजा के जो पुत्र और नौकर-चाकर थे वे सब बड़े घोर राक्षस होकर जन्मे॥ ३॥

कामरूप खल जिनिस अनेका। कुटिल भयंकर बिगत बिबेका॥
कृपारहित हिंसक सब पापी। बरनि न जाइ बिस्वपरितापी॥४॥

वे लोग मनचाहा रूप धारण करनेवाले, अनेक प्रकार के, टेढ़े, भयंकर और विचार-हीन थे। वे सभी क्रूर, हिसक और पापी थे। संसार को दुःख देनेवाली उनकी करनी कही नहीं जाती॥ ४॥

दो०—उपजे जदपि पुलस्त्यकुल पावन अमल अनूप।
तदपि मही-सुर-साप-बस भये सकल अघरूप॥२०६॥

यद्यपि वे पवित्र, निर्मल और अनुपम पुलस्त्य के कुल में उत्पन्न हुए थे, तथापि ब्राह्मणों के शाप से वे सब पाप के अवतार हुए॥ २०६॥

चौ०—कीन्ह बिबिध तप तीनिउँ भाई। परम उग्र नहि बरनि सो जाई॥
गयउ निकट तप देखि बिधाता। माँगहु बर प्रसन्न मैं ताता॥१॥

इन तीनों भाइयों—रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण—ने इतना कठिन तप किया कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनके तप को देखकर उनके पास ब्रह्माजी गये और कहने लगे कि हे तात, तुम लोग वर माँगो; मैं प्रसन्न हूँ॥ १॥

करि बिनती पद गहि दससीसा। बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा॥
हम काहू के मरहिँ न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥२॥

रावण ने ब्रह्माजी के चरणों को पकड़ कर और विनती करके कहा—हे जगदीश, सुनिए, मनुष्यों और बन्दरों दोनों को छोड़कर हम और किसी के मारे न मरें॥ २॥

एवमस्तु तुम्ह बड़ तप कीन्हा। मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा॥
पुनि प्रभु कुंभकरन पहिँ गयऊ। तेहि बिलोकि मन बिसमय भयऊ॥३॥

ब्रह्माजी ने कहा "ऐसा ही हो। तुमने बहुत तप किया है।" महादेवजी कहते हैं कि मैंने और ब्रह्मा ने मिलकर उसको वरदान दिया। फिर ब्रह्माजी कुम्भकर्ण के पास गये। उसे देखकर उनके मन में बड़ा आश्चर्य हुआ॥ ३॥

जौं एहि खल नित करब अहारू। होइहि सब उजार संसारू॥
सारद प्रेरि तासु मति फेरी। माँगेसि नीँद मास षट केरी॥४॥

वे मन में सोचने लगे कि जो यह दुष्ट नित्य भोजन करेगा तो सारा संसार उजड़ जायगा। तब ब्रह्माजी ने तुरन्त सरस्वती को प्रेरणा कर उसकी बुद्धि को पलट दिया। उसने छः महीने की नींद माँग ली॥ ४॥

दो०—गए बिभीषन पास पुनि कहेउ पुत्र बर माँगु।
तेहि माँगेउ भगवंत-पद-कमल अमल अनुरागु॥ २०७॥

फिर ब्रह्माजी विभीषण के पास गये और बोले कि पुत्र, वर माँगो। उसने ईश्वर के चरण-कमलों में निर्मल प्रेम और भक्ति का वर माँग लिया॥ २०७॥

चौ०—तिन्हहि देइ बर ब्रह्म सिधाये। हरषित ते अपने गृह आये॥
मयतनुजा मंदोदरि नामा। परमसुंदरी नारि ललामा॥१॥

इस तरह उन्हें वर देकर ब्रह्माजी चले गये और वे भी प्रसन्न होकर अपने घर आये। मय नामक दैत्य की मन्दोदरी नामवाली एक लड़की थी जो परम सुन्दरी और रूपवती थी॥ १॥

सोइ मय दीन्ह रावनहि आनी। होइहि जातुधानपति जानी॥
हरषित भयउ नारि भलि पाई। पुनि दोउ बंधु बिआहेसि जाई॥२॥

मय ने यह जानकर कि वह रावण राक्षसों का राजा होगा उसे मन्दोदरी लाकर दी, अर्थात् विवाह दी। अच्छी स्त्री को पाकर रावण बहुत प्रसन्न हुआ। फिर उसने दोनों भाइयों का भी विवाह कर दिया॥ २॥

गिरि त्रिकूट एक सिंधु मँझारी । बिधिनिर्मित दुर्गम अति भारी ॥
सोइ मय दानव बहुरि सवाँरा । कनकरचित मनिभवन अपारा ॥३॥

समुद्र के बीच में एक त्रिकूट नामक पर्वत था । वह ब्रह्मा का बनाया हुआ दुर्गम और बड़ा भारी था । मय दैत्य ने उस त्रिकूट को फिर से सुवारा और उस पर सुवर्ण का एक बड़ा-सा मणि-भवन (क़िला) बनाया ॥ ३ ॥

भोगावति जस अहि-कुल-बासा । अमरावति जसि सक्रनिवासा ॥
तिन्ह तें अधिक रम्य अति बंका । जगबिख्यात नाम तेहि लंका ॥४॥

जैसी नागों के रहने की पुरी भोगवती और इन्द्र के रहने की अमरावती पुरी है, उनसे भी अधिक रमणीय और दुर्गम वह पुरी हुई और सारे जगत् में उसका नाम लङ्कापुरी विख्यात हुआ ॥ ४ ॥

दो०—खाईं सिंधु गँभीर अति चारिहु दिसि फिरि आव ।
कनककोट मनिखचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव ॥२०८॥

उसके आस पास चारों दिशाओं में समुद्र की खाई घूमी हुई थी जो खूब गहरी थी, और बीच में सोने का मज़बूत कोट था, जिसमें मणियों का जड़ाव जड़ा था । इसकी बनावट का वर्णन करते नहीं बनता ॥ २०८ ॥

हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ जातुधानपति होइ ।
सूर प्रतापी अतुलबल दलसमेत बस सोइ ॥२०९॥

भगवान् की इच्छा से जिस कल्प में जो राक्षसों का राजा होता है वही प्रतापी, शूर-वीर, महाबली अपने सेनादल के साथ उस पुरी में रहता है ॥ २०९ ॥

चौ०—रहे तहाँ निसिचर भट भारे । ते सब सुरन्ह समर संहारे ॥
अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे । रच्छक कोटि जच्छपति केरे ॥१॥

पहले वहाँ जो बड़े बड़े वीर राक्षस रहते थे, उन सबको देवताओं ने लड़ाई में मार डाला था । अब इन्द्र की आज्ञा से, कुबेर के एक करोड़ यक्ष, उस लङ्का में रक्षक रहते थे ॥ १ ॥

दसमुख कतहुँ खबरि असि पाई । सेन साजि गढ़ घेरेसि जाई ॥
देखि बिकट भट बड़ि कटकाई । जच्छ जीव लइ गयउ पराई ॥२॥

रावण ने कहीं से यह खबर सुन ली । उसने सेना को सजाकर क़िले को जा घेरा । उसके बड़े विकट योद्धाओं की बड़ी सेना को देखकर सब यक्ष अपने प्राण बचाकर भाग गये ॥ २ ॥

फिरि सब नगर दसानन देखा। गयउ सोच सुख भयउ बिसेखा॥
सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी॥३॥

रावण ने उस समस्त नगरी को फिर फिर कर देखा और उसकी सारी चिन्ता जाती रही तथा वह बहुत प्रसन्न हुआ। उस नगरी को स्वभावतः सुन्दर, और दूसरों के लिए अगम जानकर रावण ने उसी को अपनी राजधानी बना लिया॥ ३॥

जेहि जस जोग बाँटि गृह दीन्हे। सुखी सकल रजनीचर कीन्हे॥
एक बार कुबेर पर धावा। पुष्पक जान जीति लेइ आवा॥४॥

जो जिस घर के योग्य था उसको वैसा ही घर बाँट कर रावण ने सारे राक्षसों को सुखी कर दिया। वह एक बार कुबेर पर धावा करके उसका पुष्पक विमान जीत लाया॥ ४॥

दो०—कौतुकही कैलास पुनि लीन्हेसि जाइ उठाइ।
मनहुँ तौलि निज बाहुबल चला बहुत सुख पाइ॥२१०॥

फिर उसने खेल में ही कैलास पर्वत को जाकर उठा लिया, मानों अपनी भुजाओं के बल को तौल कर वह मन में बहुत प्रसन्न हो वहाँ से चला आया॥ २१०॥

चौ०—सुख संपति सुत सेन सहाई। जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई॥
नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई॥१॥

सुख, सम्पत्ति, पुत्र, सेना, सहायक, जय, प्रताप, बल, बुद्धि और बड़ाई ये सब बातें नित्य नई नई बढ़ती जाती थीं, जैसे लाभ अधिक होने से लोभ बढ़ता जाता है॥ १॥

अतिबल कुंभकरन अस भ्राता। जेहि कहुँ नहिं प्रतिभट जग जाता॥
करइ पान सोवइ षटमासा। जागत होइ तिहूँ पुर त्रासा॥ २॥

उसका भाई कुम्भकर्ण ऐसा महाबली था जिसके जोड़ का दूसरा कोई शूरवीर जगत् में नहीं उत्पन्न हुआ था। वह मदिरा पीकर छः महीने तक सोता था और उसके जागते ही तीनों लोक डर जाते थे॥ २॥

जौं दिन प्रति अहार कर सोई। बिस्व बेगि सब चौपट होई॥
समरधीर नहिं जाइ बखाना। तेहि सम अमित बीर बलवाना॥३॥

जो वह नित्य भोजन करता तो सारा संसार जल्दी ही चौपट हो जाता। वह युद्ध में ऐसा धीर था जिसका वर्णन नहीं हो सकता। उसी के समान वहाँ और भी अनेक बलवान् वीर थे॥ ३॥

बारिदनाद जेठ सुत तासू। भट महुँ प्रथम लीक जग जासू॥
जेहि न होइ रन सनमुख कोई। सुरपुर नितहिं परावन होई॥४॥

उस रावण का बड़ा पुत्र मेघनाद था जिसकी संसार के सब शूरवीरों में पहले गिनती होती थी, जिसके सामने लड़ाई में कोई नहीं होता था और जिसके कारण देवलोक में नित्य भगेड़ मची रहती थी ॥ ४ ॥

दो०—कुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय ।
एक एक जग जीति सक ऐसे सु-भट-निकाय ॥ २११ ॥

कुमुख, अकंपन, वज्रदन्त, धूमकेतु और अतिकाय—इनमें से एक ही राक्षस सारे जगत को जीत सकता था, ऐसे ऐसे वीर वहाँ असंख्य भरे पड़े थे ॥ २११ ॥

चौ०—कामरूप जानहिँ सब माया । सपनेहुँ जिन्ह के धरम न दाया ॥
दसमुख बैठ सभा एक बारा । देखि अमित आपन परिवारा ॥१॥

सारे राक्षस कामरूप थे अर्थात् मनचाहा रूप बना लेते थे और सारी मायाओं को जानते थे। धर्म और दया तो उनके स्वप्न में भी नहीं होती थी। एक बार सभा में बैठकर रावण ने अपना अपार परिवार देखा ॥ १ ॥

सुतसमूह जन परिजन नाती । गनइ को पार निसाचरजाती ॥
सेन बिलोकि सहज अभिमानी । बोला बचन क्रोध-मद-सानी ॥२॥

बेटे, पोते, कुटुम्बी और सम्बन्धी इतने अधिक थे कि उनकी कोई गिनती नहीं कर सकता। वह स्वभाव से ही अभिमानी, सेना को देखकर क्रोध और घमण्ड से भरे हुए वचन बोला—॥ २ ॥

सुनहु सकल रजनी-चर जूथा । हमरे बैरी बिबुध-बरूथा ॥
ते सनमुख नहिँ करहिँ लराई । देखि सबल रिपु जाहिँ पराई ॥३॥

हे राक्षसो, सुनो। हमारे वैरी देवता-गण हैं, वे हमारे सामने नहीं लड़ाई करते। वे बलवान् शत्रु (हमको) देखते ही भाग जाते हैं ॥ ३ ॥

तिन्ह कर मरन एक बिधि होई । कहउँ बुझाइ सुनहु अब सोई ॥
द्विजभोजन मख होम सराधा । सब कै जाइ करहु तुम बाधा ॥४॥

उनके मरने का एक ही उपाय हो सकता है। वह मैं समझाकर कहता हूँ, तुम सुनो। जहाँ ब्रह्मभोज, यज्ञ, होम और श्राद्ध हों वहाँ सबमें जाकर तुम विघ्न डालो ॥ ४ ॥

दो०—छुधाछीन बलहीन सुर सहजहिँ मिलिहहिँ आइ ।
तब मारिहउँ कि छाडिहउँ भली भाँति अपनाइ ॥२१२॥

भूख से क्षीण और बलहीन देवता सहज ही हमसे आ मिलेंगे। फिर मैं उनको या तो मार डालूँगा या अच्छी तरह अपनाकर छोड़ दूँगा ॥ २१२ ॥

चौ०—मेघनाद कहँ पुनि हँकरावा। दीन्ही सिख बलु बयरु बढ़ावा॥
जे सुर समरधीर बलवाना। जिन के लरिबे कर अभिमाना॥१॥

फिर रावण ने मेघनाद को बुलाया और उसे सिखाकर देवताओं के साथ वैरभाव बहुत बढ़ाया। उसने कहा कि जो देवता बड़े बलवान् और युद्ध में धीर हैं और जिन्हें लड़ने का अभिमान है॥ १॥

तिन्हहिँ जीति रन आनेसु बाँधी। उठि सुत पितु अनुसासन काँधी॥
एहि बिधि सबहीं आग्या दीन्ही। आपुन चलेउ गदा कर लीन्ही॥२॥

हे पुत्र, तुम पिता की आज्ञा को सिर धरकर उठो और उन देवताओं को युद्ध में जीतकर बाँधकर ले आओ। रावण ने सबको ऐसी आज्ञा दी और वह आप भी हाथ में गदा लेकर चला॥ २॥

चलत दसानन डोलति अवनी। गर्जत गर्भ स्रवहिँ सुररवनी॥
रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु-गिरि-खोहा॥३॥

रावण के चलते समय पृथ्वी काँपती थी और उसकी गर्जना से देवाङ्गनाओं के गर्भ गिर जाते थे। जब देवताओं ने रावण को क्रोधयुक्त आते सुना तब वे सुमेरु पर्वत की गुफाओं में जा छिपे॥ ३॥

दिगपालन्ह के लोक सुहाये। सूने सकल दसानन पाये॥
पुनि पुनि सिंहनाद करि भारी। देइ देवतन्ह गारि प्रचारी॥४॥

दिक्पालों के सारे सुहावने लोक रावण ने सूने पाये। तब तो वह बार बार सिंह के समान गर्जना कर देवताओं को खूब ललकार कर गालियाँ देने लगा॥ ४॥

रन-मद-मत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा॥
रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥५॥

रण के मद से मतवाला रावण सारे जगत् में धावा मारता फिरा, बराबर के योद्धा को ढूँढ़ता फिरा; किन्तु कहीं कोई न मिला। सूर्य, चन्द्रमा, पवन, वरुण, कुबेर, अग्नि, काल, यम इत्यादि अधिकारी—॥ ५॥

किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा॥
ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दस-मुख-बस-वर्त्ती नर नारी॥६॥
आयसु करहिँ सकल भयभीता। नवहिँ आइ नित चरन बिनीता॥७॥

और किन्नर, सिद्ध, मनुष्य, देव और नाग इन सबके पीछे रावण जबरदस्ती पड़ गया। ब्रह्मा की सृष्टि में जितने शरीर-धारी थे वे सब स्त्री-पुरुष रावण के अधीन हो गये॥ ६॥

सारे प्राणी मारे डर के रावण की आज्ञा का पालन करने लगे और सब नित्य आकर उसके चरणों में नम्रता से प्रणाम करने लगे ॥ ७ ॥

दो०—भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न स्वतंत्र ।
मंडलीकमनि रावन राज करइ निज मंत्र ॥२१३॥

रावण ने अपनी भुजाओं के बल से सारे संसार को वश में कर लिया, किसी को स्वतन्त्र न छोड़ा। चक्रवर्ती महाराज होकर रावण अपनी ही सलाह से राज्य करने लगा ॥ २१३ ॥

देव-जच्छ-गंधर्व-नर-किन्नर-नाग-कुमारि ॥
जीति बरी निज-बाहु-बल बहु-सुन्दरि-बर-नारि ॥२१४॥

देव, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य, किन्नर, नाग इन सबकी कन्याओं और अनेक सुन्दरी स्त्रियों को अपने बाहु-बल से जीतकर रावण ने उनसे अपना विवाह कर लिया ॥ २१४ ॥

चौ०—इंद्रजीत सन जो कछु कहेऊ । सो सब जनु पहिलेहि करि रहेऊ ॥
प्रथमहिँ जिनकहँ आयसु दीन्हा । तिन्ह कर चरित सुनहु जो कीन्हा ॥१

इन्द्रजीत से जो कुछ कहा गया वह सब मानों उसने पहले से ही कर रखा था। जिनको उसने पहले आज्ञा दी थी, उन्होंने जो कुछ किया सो सुनो ॥ १ ॥

देखत भीमरूप सब पापी । निसिचर-निकर देवपरितापी ॥
करहिँ उपद्रव असुरनिकाया । नानारूप धरहिँ करि माया ॥२॥

जिन पापियों का रूप देखने में डरावना था ऐसे देवताओं को सन्ताप देनेवाले सभी बड़े बड़े दैत्यों के झुंड माया से नाना प्रकार के स्वरूप धारण कर उपद्रव करने लगे ॥ २ ॥

जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला । सो सब करहिँ बेदप्रतिकूला ॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिँ । नगर गाउँ पुर आगि लगावहिँ ॥३॥

जिस तरह धर्म की जड़ कटे वही वेद के विरुद्ध सब काम वे करने लगे। जिस जिस स्थान में गाय और ब्राह्मण मिलें उसी उसी नगर, गाँव और शहर में वे आग लगा देते थे ॥ ३ ॥

सुभ आचरन कतहुँ नहिँ होई । देव बिप्र गुरु मान न कोई ॥
नहिँ हरि भगति जग्य जप दाना । सपनेहु सुनिय न बेद पुराना ॥४॥

उनके डर के मारे कहीं भी शुभ आचरण नहीं होते थे। देव, गुरु और ब्राह्मण को कोई नहीं मानता था। कहीं भी ईश्वर-भक्ति, यज्ञ, जप और दान न रहे और वेद पुराण स्वप्न में भी कहीं सुनने में नहीं आते थे ॥ ४ ॥

छंद—जप जोग बिरागा तप मख भागा स्त्रवन सुनइ दससीसा।
आपुन उठि धावइ रहइ न पावइ धरि सब घालइ खीसा॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धरम सुनिय नहिं काना।
तेहि बहु बिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना॥

रावण जहाँ कहीं जप, योग, वैराग्य, तप, यज्ञ की बात सुनता, तुरन्त वहीं उठकर जा पहुँचता और क्रोध में भरकर सबको तितर-बितर कर डालता। कुछ रहने न पाता। सारे संसार में ऐसा भ्रष्टाचार हुआ कि धर्म का नाम तक कहीं कानों से भी नहीं सुन पड़ता था। जो कोई वेद या पुराण पढ़ता, उसको रावण बहुत तरह से सताता और देश से निकाल देता था।

सो०—बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिँ।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहिँ कवनि मिति॥२१५॥

घोर राक्षस जो अन्याय करते उसका वर्णन नहीं हो सकता। जिनकी हिंसा ही पर अत्यन्त प्रीति हो उनके पापों की कौन हद हो सकती है॥ २१५॥

चौ०—बाढे खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट पर-धन-पर-दारा॥
मानहिँ मातु पिता नहिँ देवा। साधुन्ह सन करवावहिँ सेवा॥१॥

जो लोग पराया धन, पराई स्त्री को हर ले जाते थे ऐसे लम्पट, चोर, दुष्ट, जुआरी बहुत बढ़ गये। वे माता, पिता और देवों को नहीं मानते थे और सब साधुओं से टहल करवाते थे॥ १॥

जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सब प्रानी॥
अतिसय देखि धरम कै ग्लानी। परमसभीत धरा अकुलानी॥२॥

शिवजी ने कहा हे भवानी, जिनके ऐसे आचरण हों उन सब प्राणियों को तुम राक्षस जानो। इस तरह धर्म की बहुत ग्लानि देखकर धरती माता बड़ी डरीं और व्याकुल हुईं॥ २॥

गिरि सरि सिंधु भार नहिँ मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही॥
सकल धरम देखइ बिपरीता। कहि न सकइ रावन भयभीता॥३॥

धरती माता कहने लगीं कि पर्वत, नदी और समुद्रों का बोझ मुझे उतना भारी नहीं लगता, जितना दूसरों के साथ द्रोह करनेवाले का लगता है। वह सब धर्मों को उलटा देखती थी, पर रावण के डर से कुछ कह नहीं सकती थी॥ ३॥

धेनुरूप धरि हृदय बिचारी। गई तहाँ जहँ सुर-मुनि-झारी॥
निज संताप सुनायसि रोई। काहू तेँ कछु काज न होई॥४॥

फिर पृथ्वी माता मन में सोचकर और गाय का रूप धारण करके देवतों और मुनियों के पास गई। उन्होंने रोकर अपना सारा दुखड़ा सुनाया, पर किसी से भी उनका काम न बन पड़ा ॥ ४ ॥

छंद—सुर मुनि गंधर्बा मिलि करि सर्बा गे बिरंचि के लोका।
सँग गो-तनु-धारी भूमि बिचारी परम बिकल भय सोका ॥
ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोर कछू न बसाई।
जा करि तैं दासी सो अबिनासी हमरउ तोर सहाई ॥

सुर, मुनि और गन्धर्व सब मिलकर ब्रह्मा के लोक में गये। डर और शोक से विकल बेचारी भूमि, गाय का रूप धारण करके, उनके साथ हो ली। ब्रह्माजी ने सब बात जान ली और मन में विचार किया कि मेरे किये कुछ नहीं हो सकता। हे धरती माता, जिसकी तू दासी है वही अविनाशी परमात्मा हमारा और तेरा सहायक है।

सो०—धरनि धरहि मन धीर कह बिरंचि हरिपद सुमिरु।
जानत जन की पीर प्रभु भंजहिँ दारुन बिपति ॥२१६॥

ब्रह्माजी ने कहा—हे पृथ्वी, तुम अपने मन में धीरज धरो। भगवान् के चरणों का ध्यान करो। प्रभु अपने भक्तों के दुःखों को जानते हैं और उनकी भारी विपत्ति को दूर करते हैं ॥ २१६ ॥

चौ०—बैठे सुर सब करहिँ बिचारा। कहँ पाइय प्रभु करिय पुकारा ॥
पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि महँ बस सोई ॥१॥

सब देवता बैठकर विचार करने लगे कि प्रभु को कहाँ पावें कि पुकार करें। कोई वैकुण्ठपुर को जाने के लिए कहने लगा और कोई कहने लगा कि क्षीरसागर में भगवान् रहते हैं ॥ १ ॥

जा के हृदय भगति जस प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती ॥
तेहि समाज गिरिजा मैं रहेउँ। अवसर पाइ बचन एक कहेउँ ॥२॥

जिसके जी में जैसी भक्ति और प्रीति होती है वैसे ही प्रभु वहीं प्रकट हो जाते हैं। हे पार्वती, उस समाज में मैं भी था। अवसर पाकर मैंने भी एक बात कही—॥ २ ॥

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिँ मैं जाना ॥
देस काल दिसि बिदिसहु माहीँ। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीँ ॥३॥

मैं जानता हूँ कि भगवान् सब जगह समानरूप से व्यापक हैं और वे प्रेम से प्रकट हो जाते हैं। बताओ कौन-सी दिशा और विदिशा, देश और समय है जहाँ भगवान् नहीं हैं ॥ ३ ॥

अग-जग-मय सबरहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥
मोर बचन सब के मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥४॥

चर और अचर सबमें परमात्मा हैं भी और सबसे अलग और निर्लिप्त भी हैं। वे आग की तरह प्रेम से प्रकट हो जाते हैं (जैसे सभी काष्ठों में आग है पर खूब रगड़ने से प्रकट होती है)। मेरी बात सबके मन में भा गई। ब्रह्माजी ने वाह! वाह! कहके मेरी बात की बहुत बड़ाई की॥४॥

दो०—सुनि बिरंचि मन हरष तन पुलकि नयन बह नीर।
अस्तुति करत जोर कर सावधान मतिधीर॥२१७॥

शिवजी की बात सुनते ही ब्रह्माजी का मन बहुत प्रफुल्लित हुआ, रोमावली खड़ी हो गई और आँखों से आँसू बहने लगे। फिर वे मतिधीर और सावधान हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे—॥२१७॥

छंद—जय जय सुरनायक जन-सुख-दायक प्रनतपाल भगवंता।
गो-द्विज-हितकारी जय असुरारी सिंधु-सुता-प्रिय-कंता॥
पालन सुर धरनी अदभुतकरनी मरम न जानइ कोई।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई॥

हे देवताओं के स्वामी, भक्तों के सुखदायक, प्रणतपाल भगवान्! तुम्हारी जय हो। हे गौओं और ब्राह्मणों के हितकारी, दैत्यों के वैरी और लक्ष्मी के प्यारे स्वामी भगवान्! तुम्हारी जय हो। हे देवता और धरती माता के पालन करनेवाले! आपके काम बहुत ही अचरज भरे हैं। आपके मर्म को कोई नहीं जानता। आप स्वभाव ही से दयासागर दीन-दयालु हैं, हमारे ऊपर कृपा कीजिए।

जय जय अबिनासी सब-घट-बासी ब्यापक परमानंदा।
अबिगत गोतीतं चरितपुनीतं मायारहित मुकुंदा॥
जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगतमोह मुनिबृंदा।
निसि बासर ध्यावहिं गुनगन गावहिं जयति सच्चिदानंदा॥

हे अविनाशी, हे अन्तर्यामी, हे सर्वव्यापक, हे परमानन्दस्वरूप! तुम्हारी जय हो। हे अज्ञेय! जिनके पवित्र चरित्र इन्द्रियों से नहीं जाने जाते, जो माया से रहित मुकुन्द मोक्ष के दाता हैं, जिनके लिए सारे मुनि, मोह को दूर करके वैरागी होते और अति अनुराग से जिनका रात-दिन ध्यान करते और गुण-गण गाते हैं उन सच्चिदानन्द भगवान् की जय हो।

जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा।
सो करउ अघारी चिंत हमारी जानिय भगति न पूजा॥
जो भव-भय-भंजन मुनि-मन-रंजन खंडन बिपतिबरूथा।
मन बच क्रम बानी छाड़ि सयानी सरन सकल-सुर-यूथा॥

जिसने बिना किसी दूसरे की सहायता लिये यह तीन प्रकार की (सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंवाली) सृष्टि उत्पन्न की, वह पापनाशक प्रभु हमारी भी चिन्ता करो। हम भक्ति और पूजा नहीं जानते। जो भगवान् संसार के भय को दूर करनेवाले और मुनियों के मन को आनन्द देनेवाले तथा विपत्तियों के समूह को नष्ट करनेवाले हैं उन भगवान् की शरण में सारे देवता अपनी चतुराई त्यागकर मन, वाणी और कर्म से इस समय आये हैं।

सारद स्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना।
जेहि दीन पियारे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना॥
भव-बारिधि-मंदर सब बिधि सुंदर गुनमंदिर सुखपुंजा।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा॥

सरस्वती, वेद, शेष और सब ऋषि—किसी ने जिनको नहीं जाना, जिनको वेदों ने दीनानाथ के नाम से पुकारा है; वही भगवान् हमारे ऊपर प्रसन्न हों। आप संसाररूपी समुद्र के लिए मन्दराचल हैं, आप सब तरह से सुन्दर, गुणमन्दिर और सुख के पुंज हैं। हे नाथ! ये सारे मुनि, सिद्ध और देवता बड़े ही भयभीत होकर आपके चरण-कमलों को प्रणाम करते हैं।

दो०—जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह।
गगनगिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह॥२१८॥

देवता, भूमि और मुनियों को भयभीत जान और प्रेम के सने वचनों को सुनकर शोक और सन्देह को दूर करनेवाली गंभीर आकाशवाणी हुई—॥ २१८॥

चौ०—जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नरबेसा॥
अंसन्ह सहित मनुजअवतारा। लेइहउँ दिन-कर-बंस-उदारा॥१॥

हे मुनियो, हे सिद्धो और देवताओ! तुम मत डरो। मैं तुम्हारे लिए मनुष्य का शरीर धारण करूँगा। मैं अपने अंशों-सहित उदार सूर्यवंश में मनुष्य का अवतार लूँगा॥१॥

कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा॥२॥

कश्यप और अदिति ने पहले महा-तप किया था और मैंने उनको वरदान दिया था। वे दोनों कोशलपुर में दशरथ और कौसल्या रूप से राजा रानी हुए हैं ॥ २ ॥

तिन्ह के गृह अवतरिहउँ जाई। रघु-कुल-तिलक सो चारिउ भाई ॥
नारदबचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्तिसमेत अवतरिहउँ ॥३॥

हम चारों भाई उन्हीं के घर जाकर अवतार लेंगे; क्योंकि वे रघुकुल-तिलक हैं। मैं नारद के सभी वचनों को बिलकुल सत्य करूँगा और अपनी परम-शक्ति-समेत अवतार लूँगा ॥ ३ ॥

हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देवसमुदाई ॥
गगन ब्रह्मबानी सुनि काना। तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना ॥४॥
तब ब्रह्मा धरनिहि समुझावा। अभय भई भरोस जिय आवा ॥५॥

हे देवताओ! तुम निडर हो जाओ। मैं पृथिवी का सारा भार उतार दूँगा। आकाश में हुई ब्रह्म-वाणी को अपने कानों से सुनकर देवताओं का हृदय शीतल हुआ और वे पीछे लौट गये ॥ ४ ॥ फिर ब्रह्माजी ने पृथिवी को समझाया। उसे भी विश्वास हो गया और वह निर्भय हो गई ॥ ५ ॥

दो०—निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह इहइ सिखाइ।
बानरतनु धरि धरनि महँ हरिपद सेवहु जाइ ॥२१६॥

सब देवताओं को यह समझाकर कि तुम लोग पृथ्वी पर जा बन्दरों का शरीर धारण करके वहीं भगवच्चरण की सेवा करो ब्रह्मदेव अपने लोक को चले गये ॥ २१९ ॥

चौ०—गये देव सब निज निज धामा। भूमिसहित मन कहँ बिस्रामा ॥
जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा ॥१॥

पृथिवी-सहित सब देवता मन में धीरज रखकर अपने अपने स्थान को चले गये। ब्रह्माजी ने जो कुछ आज्ञा दी थी उसका पालन करने में देवता बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने देर न की ॥ १ ॥

बन-चर-देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं ॥
गिरि-तरु-नख-आयुध सब बीरा। हरिमारग चितवहि मतिधीरा ॥२॥

सब देवताओं ने पृथ्वी पर वानर का शरीर धारण किया। उन वानरों में अतुल बल-प्रताप हुआ। पर्वत, वृक्ष और नख ही उन वीरों के शस्त्र थे। धीर बुद्धिवाले वे सब भगवान् की बाट देखने लगे ॥ २ ॥

गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी । रहे निज निज अनीक रचि रूरी ॥
यह सब रुचिर चरित मैं भाषा । अब सो सुनहु जो बीचहिं राषा ॥३॥

वे वानर जहाँ तहाँ पर्वतों और वनों में अपनी अपनी सुन्दर बड़ी सेना या टोली बनाकर रहने लगे। यह सब सुन्दर चरित्र मैंने कह दिया। अब जो बीच में रख लिया वह भी सुनिए ॥ ३ ॥

अवधपुरी रघु-कुल-मनि-राऊ । बेदबिदित तेहि दसरथ नाऊ ॥
धरम-धुरंधर गुननिधि ग्यानी । हृदय भगति मति सारँगपानी ॥४॥

अयोध्यापुरी के रघुकुल-मणि दशरथ का नाम वेदों में भी विदित है। वे बड़े ही धर्म-धुरन्धर, गुणों के समुद्र और ज्ञानी थे। उनका, शार्ङ्ग-धनुषधारी ईश्वर में, बड़ा ही भक्ति-भाव था ॥ ४ ॥

दो०—कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत ।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि-पद-कमल बिनीत ॥२२०॥

कौसल्या आदि उनकी प्यारी रानियाँ बड़ी ही सदाचारिणी थीं। वे पति की आज्ञा में तत्पर, नम्र और ईश्वर के चरण-कमलों में दृढ़ भक्ति रखती थीं ॥ २२० ॥

चौ०—एक बार भूपति मन माहीं । भइ गलानि मोरे सुत नाहीं ॥
गुरुगृह गयेउ तुरत महिपाला । चरन लागि करि बिनय बिसाला ॥१॥

एक बार राजा दशरथ के मन में बड़ी ग्लानि हुई कि मेरे पुत्र नहीं है। राजा तुरन्त अपने गुरु के घर गये और उनके चरणों में गिरकर, बड़ी विनती करके ॥ १ ॥

निज दुख सुख सब गुरुहि सुनायउ । कहि बसिष्ठ बहु बिधि समुझायउ ॥
धरहु धीर होइहहिं सुत चारी । त्रि-भुवन-बिदित भगत-भय-हारी ॥२॥

उन्होंने अपना सब दुःख सुख गुरु को सुना दिया। गुरु वशिष्ठ ने राजा को बहुत समझाया। उन्होंने कहा कि आप धीरज रखें। आपके चार पुत्र होंगे, जो तीनों लोकों में विख्यात और भक्तजनों के डर को दूर करनेवाले होंगे ॥ २ ॥

सृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा । पुत्रकाम सुभ जग्य करावा ॥
भगतिसहित मुनि आहुति दीन्हे । प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे ॥३॥

फिर वशिष्ठजी ने श‍ृङ्गी ऋषि को बुलाया और शुभ पुत्र-कामेष्टि यज्ञ कराया। मुनियों के भक्ति से अग्नि में आहुति देने पर अग्निदेव हाथ में चरु लिये प्रकट हुए ॥ ३ ॥

जो बसिष्ठ कछु हृदय बिचारा । सकल काजु भा सिद्ध तुम्हारा ॥
यह हबि बाँटि देहु नृप जाई । जथाजोग जेहि भाग बनाई ॥४॥

उन्होंने राजा दशरथ से कहा—वशिष्ठजी ने जो कुछ अपने मन में विचारा है वह तुम्हारा सब काम सिद्ध हो गया। हे राजन्! तुम यह हवि, यथायोग्य भाग बनाकर, सब रानियों को बाँट दो ॥ ४ ॥

दो०—तब अदृस्य भये पावक सकल सभहि समुझाइ।
परमानंदमगन नृप हरष न हृदय समाइ ॥२२१॥

तब अग्निदेव सभा को सब विषय समझा कर अन्तर्धान हो गये। राजा दशरथ परम-आनन्द में मग्न हो गये। वह आनन्द उनके हृदय में नहीं समाता था ॥ २२१ ॥

चौ०—तबहि राय प्रियनारि बोलाईं। कौसल्यादि तहाँ चलि आईं ॥
अरधभाग कौसल्यहि दीन्हा। उभय भाग आधे कर कीन्हा ॥१॥

उसी समय राजा दशरथ ने अपनी प्यारी रानियों को बुलवाया। कौशल्या आदि रानियाँ वहाँ चली आईं। राजा ने उस हवि में से आधा भाग कौशल्या को दे दिया और शेष जो आधा भाग बचा उसके दो भाग किये ॥ १ ॥

कैकेई कहँ नृप सो दयऊ। रहेउ सो उभय भाग पुनि भयऊ ॥
कौसल्या कैकेई हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि ॥२॥

उन दो भागों में से एक भाग राजा ने कैकेयी को दिया और शेष जो चौथाई बचा उसके भी दो भाग कर लिये। और वे दोनों भाग कौशल्या और कैकेयी के हाथ में धर कर अर्थात् हाथ से स्पर्श-मात्र कराकर प्रसन्न होकर सुमित्रा को दे दिये ॥ २ ॥

एहि बिधि गर्भसहित सब नारी। भईं हृदय हरषित सुख भारी ॥
जा दिन तें हरि गर्भहि आये। सकल लोक सुख संपति छाये ॥३॥

इस तरह सब स्त्रियाँ गर्भवती हो गईं और हृदय में हर्ष से भरी परम प्रसन्न हुईं। जिस दिन से भगवान् गर्भ में आये उसी दिन से सारे लोकों में सुख-सम्पत्ति छा गई ॥ ३ ॥

मंदिर महँ सब राजहिं रानी। सोभा सील तेज की खानी ॥
सुखजुत कछुक काल चलि गयऊ। जेहि प्रभु प्रगट सो अवसर भयऊ ॥४॥

शील और शोभा तथा तेज की खानि वे सब रानियाँ रनवास में बहुत शोभित हुईं। कुछेक समय सुख से बीत गया और अब वह समय आया कि जिसमें हरि प्रकट हों ॥ ४ ॥

दो०—जोग लगन ग्रह बार तिथि सकल भये अनुकूल।
चर अरु अचर हरषयुत रामजनम सुखमूल ॥२२२॥

रामचन्द्रजी के सुखदायक जन्म-समय पर योग, लग्न, ग्रह, वार, तिथि ये सब अनुकूल

हो गये, तथा चर और अचर सब परम प्रसन्न हो गये; क्योंकि रामचन्द्र का जन्म सुख का मूल-कारण है ॥ २२२ ॥

चौ०—नवमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता ॥
मध्य दिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोकबिस्रामा ॥१॥

पवित्र चैत्र मास, शुक्लपक्ष, नवमी तिथि और भगवान् को प्यारा अभिजित् मुहूर्त्त तथा दिन का मध्य भाग (मध्याह्न) था। उस समय न अधिक सर्दी थी, न गर्मी। वह समय बड़ा ही पवित्र और सारे लोकों को विश्राम देनेवाला था ॥ १ ॥

सीतल मंद सुरभि बह बाऊ। हरषित सुर संतन्ह मन चाऊ ॥
बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा। स्रवहिं सकल सरितामृतधारा ॥२॥

उस समय शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु चलने लगी। देवता प्रसन्न हुए और सन्तों के मन प्रफुल्लित हो उठे। वन में वृक्ष फूलने लगे और पर्वत प्रकाशित हो गये। सारी नदियाँ अमृत की धारा बहाने लगीं ॥ २ ॥

सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना ॥
गगन बिमल संकुल सुरजूथा। गावहिं गुन गंधर्बबरूथा ॥३॥

जब इस अवसर को ब्रह्माजी ने जाना तब सारे देवता विमानों को सजा सजा कर अयोध्या को चले। निर्मल आकाश में देवताओं के समूह इकट्ठे हो गये। गन्धर्वों के समूह आनन्द से गुण गाने लगे ॥ ३ ॥

बरषहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगहि गगन दुंदुभी बाजी ॥
अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहु बिधि लावहिं निज-निज-सेवा ॥

सब देवता अंजलि भर भर फूलों की वर्षा करने लगे और आकाश में नगाड़े धमाके के साथ बजने लगे। नाग, मुनि और देवता स्तुति करने लगे और सब कोई बहुत प्रकार से अपनी अपनी सेवा (भेंट) लाने लगे ॥ ४ ॥

दो०—सुरसमूह बिनती करि पहुँचे निज निज धाम।
जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल-लोक-बिस्राम ॥२२३॥

फिर सब लोकों के विश्राम देनेवाले, जगत् के निवास, प्रभु रामचन्द्रजी प्रकट हुए। सब देवता उनकी स्तुति करके अपने अपने स्थान को चले गये ॥ २२३ ॥

छंद—भये प्रगट कृपाला परमदयाला कौसल्या-हित-कारी।
हरषित महतारी मुनि-मन-हारी अदभुतरूप बिचारी ॥

लोचन अभिरामं तनुघनस्यामं निजआयुध भुज चारी।
भूषन बनमाला नयनबिसाला सोभासिंधु खरारी॥

जब माता कौसल्या के हितकारी, परम दयालु, कृपालु (भगवान्) प्रकट हुए तब मुनियों के मन को हरनेवाले उनके अद्भुत रूप को देखकर माता कौसल्या बहुत ही हर्षित हुईं। उनके नेत्र सुन्दर थे, शरीर मेघ के समान श्यामल था, और वे चारों भुजाओं में अपने (शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म) शस्त्र धारण किये हुए थे। उनके अङ्गों में भूषण और गले में बनमाला (गले से पाँव तक लम्बी माला को वन-माला कहते हैं) भूषित हो रही थी। उनके बड़े विशाल नेत्र थे। राक्षसों के शत्रु श्रीभगवान् शोभा के समुद्र थे।

कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करउँ अनंता।
माया-गुन ग्यानातीत अमाना बेद पुरान भनंता॥
करुना-सुख-सागर सब-गुन-आगर जेहि गावहिं स्रुति संता।
सो मम हित लागी जनअनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता॥

कौसल्या उनके सामने हाथ जोड़कर कहने लगीं—हे अनन्त, तुम्हारी स्तुति मैं कैसे करूँ। वेद और पुराणों ने आपको माया, गुण और ज्ञान से भी परे और असीम माना है। वेद और सन्तजन जिनको करुणा और सुख के सागर तथा सारे गुणों की खान कहते हैं वे ही, भक्तों के प्रेमी, श्रीकान्त मेरे हित के लिए प्रकट हुए हैं।

ब्रह्मांडनिकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीरमति थिर न रहै॥
उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुतप्रेम लहै॥

वेद कहते हैं कि आपकी माया से रचे हुए अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड आपके रोम रोम में बसते हैं, वही आप मेरे हृदय (गर्भ) में रहे—इस हँसी की बात को सुनकर अच्छे अच्छे धीर पुरुषों की बुद्धि स्थिर नहीं रहती। जब माता को ज्ञान हुआ देखा तब प्रभु मुसकाये; क्योंकि वे अभी बहुत प्रकार के चरित्र करना चाहते हैं। उन्होंने पहली सुन्दर कथा सुना कर माता को समझाया जिसमें माता पुत्र-प्रेम (ईश्वर समझ कर नहीं) करने लगे।

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजिय सिसुलीला अति-प्रिय-सीला यह सुख परम अनूपा॥

सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।
यह चरित जे गावहिँ हरिपद पावहिँ ते न परहिँ भवकूपा॥

उसकी वह बुद्धि बदल गई। वह फिर कहने लगी कि हे पुत्र, तुम यह रूप त्याग दो। तुम अत्यन्त प्यार बढ़ानेवाली बाल-लीला करो। यह सुख बहुत ही अनुपम है। इतना सुनते ही देवताओं के राजा सुजान भगवान् बालक होकर रोने लगे। (तुलसीदासजी कहते हैं कि) जो लोग इस चरित (राम-जन्म) को गावेंगे वे परमपद को पावेंगे और संसाररूपी कुएँ में न गिरेंगे।

दो०—बिप्र-धेनु-सुर-संत हित लीन्ह मनुजअवतार।
निज-इच्छा-निर्मित-तनु माया-गुन-गो-पार॥ २२४॥

यद्यपि भगवान् माया, गुण और इन्द्रियों से परे हैं, तो भी अपनी इच्छा-मात्र से उन्होंने ब्राह्मण, गाय, देवता और सन्तजनों के हित के लिए मनुष्य-देह धारण किया॥ २२४॥

चौ०—सुनि सिसुरुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी॥
हरषित जहँ तहँ धाईं दासी। आनँदमगन सकल पुरबासी॥१॥

बालक के रोने की प्यारी वाणी सुनकर सब रानियाँ चकित होकर वहाँ चली आईं। दासियाँ प्रसन्न होकर जहाँ तहाँ दौड़ गईं और सारे पुरवासी (वह खबर पाकर) आनन्द में मग्न हो गये॥ १॥

दसरथ पुत्रजनम सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंदसमाना॥
परमप्रेम मन पुलक सरीरा। चाहत उठन करत मति धीरा॥२॥

राजा दशरथ को तो पुत्र-जन्म की बात सुनकर ब्रह्मानन्द के समान आनन्द हुआ। परम-प्रम से उनका मन भर गया, शरीर पुलकित हो गया। वे बुद्धि को सावधान करके बहुतेरा उठना चाहते थे पर उठ न सके॥ २॥

जा कर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई॥
परमानंद पूरि मन राजा। कहा बोलाइ बजावहु बाजा॥३॥

वे मन में कहने लगे कि जिनके नाम को सुनने से कल्याण होता है वही प्रभु मेरे घर आये हैं। परमानन्द से राजा का मन भर गया। प्रकट में राजा ने कहा कि बाजेवालों को बुलाकर बाजे बजवाओ॥ ३॥

गुरु बसिष्ठ कहँ गयउ हँकारा। आये द्विजन्ह सहित नृपद्वारा॥
अनुपम बालक देखिन्हि जाई। रूपरासि गुन कहि न सिराई॥४॥

गुरु वशिष्ठजी को बुलौवा गया और वे सुनते ही ब्राह्मणों के सहित राजद्वार पर आये।

उन्होंने आकर उस अनुपम बालक को देखा कि जिसके रूपराशि और गुणों का वर्णन करने से उनकी समाप्ति ही नहीं होती ॥ ४ ॥

दो०—तब नंदीमुख स्राद्ध करि जातकरम सब कीन्ह ।
हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह ॥ २२५ ॥

तब राजा ने नान्दीमुख श्राद्ध करके जातकर्म-संस्कार किया और फिर सुवर्ण, गाय, वस्त्र और मणि ब्राह्मणों को दान दिये ॥ २२५ ॥

चौ०—ध्वज पताक तोरन पुर छावा । कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा ॥
सुमनबृष्टि अकास तेँ होई । ब्रह्मानंद मगन सब लोई ॥१॥

ध्वजा-पताका और बन्दनवार से सारी अयोध्यापुरी छा गई । यह जिस भाँति सजाई गई, वह कहा नहीं जा सकता । आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी और सब लोग ब्रह्म-आनन्द में मग्न हो गये ॥ १ ॥

बृंद बृंद मिलि चली लोगाईं । सहज सिँगार किये उठि धाईं ॥
कनककलस मंगल भरि थारा । गावत पैठहिँ भूपदुआरा ॥ २ ॥

स्त्रियों को टोलियाँ की टोलियाँ एक साथ मिलकर स्वाभाविक शृङ्गार किये हुए उठकर चल पड़ीं । वे सोने के कलश और थालों में मङ्गल की चीजें भर कर गाती हुई राजा दशरथ की ड्योढ़ी के भीतर जाती थीं ॥ २ ॥

करि आरति नेवछावरि करहीँ । बार बार सिसुचरनन्हि परहीँ ॥
मागध सूत बंदि गुन-गायक । पावन गुन गावहिं रघुनायक ॥३॥

वे स्त्रियाँ आरती करके न्योछावर करती और बार बार बालक के चरणों में गिरती थीं । मागध (राजाओं के वंश-परम्परा के जीविका पानेवाले सेवक), सूत (पुराण-श्रुति-वाले), बन्दीजन (स्तुति करनेवाले भाट आदि), और गुण गानेवाले (गवैये) रामचन्द्रजी के पवित्र गुणों का गान करने लगे ॥ ३ ॥

सरबसदान दीन्ह सब काहू । जेहि पावा राखा नहिं ताहू ॥
मृग-मद-चंदन-कुंकुम-कीचा । मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा ॥४॥

सभी ने अपना सर्वस्व दान कर दिया । जिन्होंने वह दान पाया उन्होंने भी उसे नहीं रक्खा (उन्होंने फिर और किसी को दे दिया) । सारी गलियों में कस्तूरी, चन्दन और केसर की कीच भर गई ॥ ४ ॥

दो०—गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुखमाकंद ।
हरषवंत सब जहँ तहँ नगर नारि-नर-बृंद ॥२२६॥

घर घर शुभ बधाइयाँ बजने लगीं कि शोभा के धाम भगवान् ने जन्म लिया। नगर के सारे स्त्री-पुरुषों के झुण्ड जहाँ देखो तहाँ हर्ष में प्रफुल्लित हो गये॥ २२६॥

चौ०—कैकयसुता सुमित्रा दोऊ। सुंदर सुत जनमत भईं ओऊ॥

वोह सुख संपति समय समाजा। कहि न सकइ सारद अहिराजा॥१॥

कैकेयी और सुमित्रा इन दोनों ने भी सुन्दर पुत्र उत्पन्न किये। उस समय के समाज की सुख-संपत्ति का वर्णन सरस्वती और शेषजी भी नहीं कर सकते॥ १॥

अवधपुरी सोहइ एहि भाँती। प्रभुहि मिलन आई जनु राती।

देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी॥२॥

उस समय अयोध्यापुरी की शोभा ऐसी हुई कि मानों रामचन्द्रजी से मिलने के लिए रात आई है। पर वह सूर्य को देखकर मानों मन में सकुच गई है, पर तो भी ऐसा मालूम होने लगा कि मानों वह रात्रि संध्या हो गई है (ऐसा क्यों जान पड़ता था यह आगे कहा गया है)॥ २॥

अगरधूप बहु जनु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी॥

मंदिर-मनि-समूह जनु तारा। नृप-गृह-कलस सो इंदु उदारा॥३॥

अगर का अधिक धुआँ हो रहा है वही मानों अँधेरा है और अबीर जो उड़ता था वही मानों संध्या की लाली है। (राजप्रासादों में) मणियों का समूह मानों तारागण हैं और राजमहल के ऊपर का जो सुवर्णकलश था वही मानों सुन्दर चन्द्रमा है॥ ३॥

भवन-वेद-धुनि अति मृदु बानी। जनु खग-मुखर-समय जनु सानी॥

कौतुक देखि पतंग भुलाना। एक मास तेइ जात न जाना॥४॥

राजमहल में कोमल मीठी और रसीली वाणी से जो वेदध्वनि होती थी, वही मानो चिड़ियों का समयानुकूल चहचहाना था। इस कौतुक को देखकर सूर्य भी भूल में पड़ गया और एक मास तक बीत जाने का उसे ज्ञान न हुआ। अर्थात् वह एक मास तक स्थिर रहा॥ ४॥

दो०—मासदिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ।

रथसमेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ॥२२७॥

इस प्रकार एक महीने का एक दिन हो गया। इसका मर्म किसी ने नहीं जाना। रथ खड़ा करके सूर्य वहीं ठहरा रहा तो रात किस तरह होती?॥ २२७॥

चौ०—यह रहस्य काहू नहिँ जाना। दिनमनि चले करत गुनगाना॥

देखि महोत्सव सुर मुनि नागा। चले भवन बरनत निज भागा॥१॥

इस रहस्य को किसी ने नहीं जाना और सूर्य-नारायण गुण-गान करते हुए चल पड़े। उस महोत्सव को देखकर देवता, मुनि और नाग सब अपने अपने भाग्य को सराहते हुए अपने अपने स्थानों को चले गये ॥ १ ॥

अउरउ एक कहउँ निज चोरी। सुनु गिरिजा अतिदृढ़ मति तोरी॥
काकभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ॥२॥

शिवजी ने कहा—हे पार्वती, तुम्हारी बुद्धि बड़ी पक्की है। इसलिए मैं अपनी एक और चोरी कहता हूँ। वह यह कि—कागभुसुण्डि और मैं—दोनों मनुष्य का शरीर धारण किये हुए थे, जिसे कोई नहीं जानता था ॥ २ ॥

परमानंद प्रेम-सुख-फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥
यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जापर होई॥३॥

बड़े आनन्द और प्रेम के सुख में फूले हुए मन में मगन गलियों में भूले हुए फिरते थे। अहा! इस शुभ चरित को वही जान सकता है जिस पर रामचन्द्रजी की कृपा हो ॥ ३ ॥

तेहि अवसर जो जेहि बिधि आवा। दीन्ह भूप जो जेहि मन भावा॥
गज रथ तुरग हेम गो हीरा। दीन्हे नृप नाना बिधि चीरा॥४॥

उस समय जो जिस तरह आया उसको राजा दशरथ ने वैसा ही मनमाना दान दिया। हाथी, रथ, घोड़े, सोना, गाय और हीरे तथा नाना प्रकार के वस्त्र राजा ने दिये ॥ ४ ॥

दो०—मन संतोष सबन्हि के जहँ तहँ देहिं असीस।
सकल तनय चिर जीवहु तुलसिदास के ईस॥२२८॥

सभी के चित्त में इतना सन्तोष हुआ कि वे जहाँ तहाँ आशीर्वाद देने लगे। (इसी प्रेम में मस्त श्रीतुलसीदासजी भी आशीर्वाद देते हैं कि) हे तुलसीदास के स्वामी सभी पुत्र! चिरजीवी रहो ॥ २२८ ॥

चौ०—कछुक दिवस बीते एहि भाँती। जात न जानिय दिन अरु राती॥
नामकरन कर अवसरु जानी। भूप बोलि पठये मुनि ग्यानी॥१॥

कुछ दिन इसी तरह उत्सव मनाते बीत गये। रात और दिन जाते हुए मालूम न दिये। उन बालकों के नामकरण-संस्कार का समय जान कर राजा ने ज्ञानी मुनि को बुलवा भेजा ॥ १ ॥

करि पूजा भूपति अस भाखा। धरिअ नाम जो मुनि गुनि राखा॥
इन्ह के नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा॥२॥

महाराज दशरथ ने पूजा करके यह कहा कि हे मुनि, आपने जो नाम सोच रक्खा हो, वह नाम रखिए। मुनि ने कहा कि हे राजन्, इनके नाम अनेक और अनुपम हैं। मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूँ ॥ २ ॥

जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिललोक दायक बिस्रामा ॥३॥

जो आनन्द के सागर, सुख की राशि हैं और जिनके कृपाकण से तीनों लोक सुखी होते हैं, जो सुखधाम और सारे लोकों को विश्राम या सुख देनेवाले हैं उनका नाम "राम" है ॥ ३ ॥

बिस्वभरन पोषन कर जोई। ता कर नाम भरत अस होई॥
जा के सुमिरन तें रिपुनासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा ॥४॥

जो सारे संसार का पालन-पोषण करनेवाला है उसका नाम "भरत" होगा। जिसका स्मरण करने से शत्रुओं का नाश हो जाता है उसका नाम वेदों में प्रकाशित "शत्रुघ्न" है ॥ ४ ॥

दो०—लच्छन-धाम रामप्रिय सकल-जगत-आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार ॥२२६॥

जो सारे अच्छे लक्षणों के धाम, राम के प्यारे और सारे जगत् के आधार हैं, गुरु वशिष्ठजी ने उनका उदार नाम "लक्ष्मण" रक्खा ॥ २२९ ॥

चौ०—धरे नाम गुरु हृदय बिचारी। वेदतत्त्व नृप तव सुत चारी॥
मुनिधन जनसरबस सिव-प्राना। बाल-केलि-रस तेहि सुख माना॥१॥

गुरुजी ने मन में विचार कर सबके नाम रख दिये। उन्होंने कहा कि हे राजन्, तुम्हारे चारों पुत्र वेद के तत्त्व-रूप हैं अर्थात् इन्हीं का निरूपण वेद करता है। ये सब मुनियों के धन, भक्तों के सर्वस्व और शिवजी के प्राण हैं। उन लोगों (शिवादिक) ने बाल-लीला के आनन्द-रस को ही सुख माना है ॥ १ ॥

बारेहि तें निज हित पति जानी। लछिमन राम-चरन-रति मानी॥
भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभुसेवक जसि प्रीति बड़ाई ॥२॥

लक्ष्मणजी ने बालकपन से ही रामचन्द्रजी को अपना हितकारी स्वामी जान कर उनके चरणों में प्रीति लगा ली। भरत और शत्रुघ्न दोनों भाइयों ने जैसे सेवक और स्वामी की प्रीति हो वैसी प्रीति बढ़ाई ॥ २ ॥

स्याम गौर सुन्दर दोउ जोरी । निरखहिं छबि जननी तृन तोरी ॥
चारिउ सील-रूप-गुन-धामा । तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥३॥

श्याम और गौर शरीरवाली दोनों सुन्दर जोड़ियों की छबि को मातायें तिनका तोड़कर देखती हैं (जिसमें दीठ न लगे)। वैसे तो चारों ही भाई शील, रूप और गुण के धाम थे, पर तो भी सुखसागर राम सबसे अधिक थे ॥ ३ ॥

हृदय अनुग्रह इंदु-प्रकासा । सूचत किरन मनोहर हासा ॥
कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना । मातु दुलारहिँ कहि प्रिय ललना ॥४॥

उनके हृदय में कृपारूपी चन्द्रमा का प्रकाश था, जो मन हरनेवाली हँसीरूपी किरणों से प्रकट होता था। उनकी मातायें उनको कभी गोद में लेती थीं और कभी सुन्दर पालने में झुलाती थीं। और प्यारे, लाल, इत्यादि कहकर उनका दुलार करती थीं ॥ ४ ॥

दो०—व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगतबिनोद ।
सो अज प्रेम-भगति बस कौसल्या के गोद ॥२३०॥

जो ब्रह्म सर्वव्यापक हैं, निरंजन, निर्गुण, हर्ष-शोक-रहित हैं, वही अजन्मा, प्रेम और भक्ति के वश में होकर, कौसल्याजी की गोद में (खेल रहे) हैं ॥ २३० ॥

चौ०—काम-कोटि-छबि स्याम सरीरा । नील कंज बारिद गंभीरा ॥
अरुन-चरन-पंकज-नखजोती । कमलदलन्हि बैठे जनु मोती ॥१॥

रामचन्द्रजी के नील कमल तथा गम्भीर मेघों के समान श्याम शरीर में करोड़ों कामदेव की शोभा थी। उनके लाल कमल के समान चरणों के नखों की चमक ऐसी थी मानों कमल की पँखड़ियों पर मोती लग रहे हों ॥ १ ॥

रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहइ । नूपुर धुनि सुनि मुनिमन मोहइ ॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा । नाभि गँभीर जान जिन्ह देखा ॥२॥

उनके चरण-तलों में वज्र, ध्वजा और अंकुश आदि की रेखायें शोभित हो रही थीं। उनकी पैंजनी की ध्वनि सुनकर मुनियों के भी मन मोहित हो जाते थे। कमर में करधनी, पेट में तीन रेखायें (त्रिबली) हैं और उनकी नाभि की गम्भीरता को वही जान सकता है जिसने उसको देखा हो ॥ २ ॥

भुज बिसाल भूषन जुत भूरी । हिय हरिनख अति सोभा रूरी ॥
उर मनिहार पदिक की सोभा । बिप्रचरन देखत मन लोभा ॥३॥

उनकी भुजायें बहुत ही विशाल (लम्बी) थीं और खूब भूषणों से भरी थीं। हृदय पर

सिंह के नख की शोभा बहुत ही सुन्दर है। उनके हृदय में मणियों का हार और चौकी शोभित है और ब्राह्मण के चरण के चिह्न (भृगुलता) को देखकर मन मोहित हो जाता है ॥ ३ ॥

कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित-मदन-छबि छाई ॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनइ पारे ॥४॥

उनका कंठ शङ्ख के समान था और ठोड़ी बहुत ही सुन्दर थी। उनके मुख पर अनन्त कामदेवों की छबि छाई हुई थी। दो दो दाँतों (नये निकले हुए) और लाल होठों तथा नाक के ऊपर के तिलक का वर्णन कौन कर सकता है ॥ ४ ॥

सुंदर स्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सवाँरे ॥५॥

कान सुन्दर और गाल अति सुन्दर थे। उनके तोतले वचन अत्यन्त प्रिय और मीठे थे। उनके गर्भवाले चिकने और घूँघरवाले बालों को माता ने बहुत प्रकार की रचना से सवाँरा था ॥ ५ ॥

पीत झगुलिया तनु पहिराई। जानु-पानि बिचरनि मोहि भाई ॥
रूप सकहिँ नहिँ कहि स्रुति सेखा। सो जानहिँ सपनेहुँ जिन्ह देखा ॥६॥

उनके शरीर में एक पीली झगुलियाँ (अँगरखी) पहनाई हुई है। उनका घुटनों और हाथों के बल चलना बहुत अच्छा लगता है। उनके रूप का वर्णन वेद और शेषजी भी नहीं कर सकते। उनके रूप को वही जानते हैं जिन्होंने एक बार उन्हें स्वप्न में भी देख लिया है ॥ ६ ॥

दो०—सुखसंदोह मोहपर ग्यान-गिरा-गोतीत।
दंपति परम प्रेमबस कर सिसुचरित पुनीत ॥२३१॥

सुख के धाम, मोहरहित, ज्ञान वाणी एवं इन्द्रियों से भी न जानने योग्य भगवान्, उन दोनों स्त्री-पुरुष—कौसल्या और दशरथ—के अत्यन्त प्रेम के वश में होकर तरह तरह के पवित्र बाल-चरित्र करने लगे ॥ २३१ ॥

चौ०—एहि बिधि राम जगत-पितु-माता। कोसल-पुर-बासिन्ह सुखदाता।
जिन्ह रघुनाथचरन रति मानी। तिन्ह की यह गति प्रगट भवानी ॥१॥

जगत् के माता-पिता रामचन्द्रजी इस तरह अयोध्यावासियों को सुख देने लगे। हे पार्वती, जिन्होंने रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में प्रीति की उनकी यह गति प्रत्यक्ष प्रकट है। अर्थात् राजा दशरथ और रानी कौसल्या ने पहले जन्म में राम-चरण में प्रीति की तो उनको यह फल मिला कि भगवान् उनके पुत्र बन गये ॥ १ ॥

रघुपतिबिमुख जतन कर कोरी। कवन सकइ भवबंधन छोरी ॥
जीव चराचर बस कै राखे । सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥२॥

कौन मनुष्य रामचन्द्रजी से विमुख रहकर करोड़ों यत्न करने पर भी संसार के बन्धन से छूट सकता है? और की तो क्या कहें, जिस माया ने चर अचर जगत् को अपने वश में कर रक्खा है वह माया भगवान् से भय मानती है ॥ २ ॥

भृकुटिबिलास नचावइ ताही । अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही ॥
मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई । भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥३॥

जो परमात्मा उस माया को भृकुटि के विलास (कटाक्ष) से नचाया करते हैं, ऐसे स्वामी को छोड़कर कहिए किसका सेवन करना चाहिए? जो कोई मन, वचन, कर्म से चतुराई (चालाकी) छोड़कर भजन करे उस पर रघुनाथजी कृपा करेंगे ॥ ३ ॥

एहि बिधि सिसु बिनोद प्रभु कीन्हा । सकल-नगर-बासिन्ह सुख दीन्हा ॥
लेइ उछंग कबहुँक हलरावइ । कबहुँ पालने घालि झुलावइ ॥४॥

भगवान् रामचन्द्रजी ने इस तरह बाल-क्रीड़ा की, और संपूर्ण अयोध्यावासियों को सुख दिया। उनकी माता कभी तो उन्हें गोद में लेकर हिलाती है, कभी पालने में डाल कर झुलाती है ॥ ४ ॥

दो०—प्रेममगन कौसल्या निसि दिन जात न जान ।
सुत-सनेह-बस माता बालचरित कर गान ॥२३२॥

श्रीकौसल्याजी प्रेम में इतनी मग्न हुई हैं कि उन्हें दिन रात बीतते हुए नहीं जान पड़ते। और पुत्र के स्नेह के वश वे श्रीरामचन्द्रजी के बालचरित्रों को ही गाती हैं ॥ २३२ ॥

चौ०—एक बार जननी अन्हवाये । करि सिंगार पलना पौढ़ाये ॥
निज-कुल-इष्ट-देव भगवाना । पूजा हेतु कीन्ह असनाना ॥१॥

एक बार माता ने उनको स्नान कराया और सिङ्गार कराके पालने में लिटा दिया। फिर अपने कुल के इष्टदेव भगवान् की पूजा करने के लिए उन्होंने (माता ने) स्नान किया ॥ १ ॥

करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा । आपु गई जहँ पाक बनावा ॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई । भोजन करत देख सुत जाई ॥२॥

माता कौसल्या ने पूजा करके नैवेद्य चढ़ाया और वह आप वहाँ (रसोईघर में) गईं जहाँ भोजन बना था। जब वहाँ फिर लौटकर माता आईं तब उन्होंने पुत्र को भोजन करते हुए देखा ॥ २ ॥

गई जननी सिसु पहिं भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता ॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदय कंप मन धीर न होई ॥३॥

फिर माताजी डरती डरती बालक के पास गई तो देखा कि बालक वहाँ (पालने में) सो रहा है। फिर रसोईघर में आकर उसी बालक को (भोजन करते) देखा तो हृदय काँपने लगा और मन में धीरज न होता था ॥ ३ ॥

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोर कि आन बिसेखा ॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥४॥

कौसल्याजी सोचने लगीं कि मैंने एक बालक पलने में और एक भोजन करते हुए ऐसे दो बालक देखे, यह मेरी बुद्धि में भ्रम हो गया है कि और कोई विशेष बात है। यों श्रीरामचन्द्रजी माता को घबड़ाई हुई देखकर मन्द-मुसक्यान से हँस पड़े ॥ ४ ॥

दो०—देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥२३३॥

फिर उन्होंने माता को अपना वह अखण्ड और अद्भुत रूप दिखलाया कि जिसके रोम रोम में करोड़ों ब्रह्माण्ड लगे हुए हैं ॥ २३३ ॥

चौ०—अगनित रबि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन ॥
काल करम गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ ॥१॥

असंख्य सूर्य, चन्द्रमा, महादेव, ब्रह्मा; और हज़ारों पर्वत, नदी, समुद्र, पृथ्वी, वन, तथा काल, कर्म, गुण, ज्ञान और स्वभाव आदि के साथ साथ वे चीज़ें भी माता ने देखीं जो किसी ने सुनी भी नहीं थीं ॥ १ ॥

देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी ॥
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही ॥२॥

उन्होंने वहाँ सब प्रकार से बलवती माया को भी देखा, जो श्रीरामजी के सामने हाथ जोड़कर डरती हुई खड़ी थी। फिर उस जीव को देखा जिसे वह (माया) नचाती है और उस भक्ति को भी देखा जो जीव को माया के फन्दे से छुड़ाती है ॥ २ ॥

तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरनन्हि सिरु नावा ॥
बिसमयवंति देखि महतारी। भये बहुरि सिसुरूप खरारी ॥३॥

इतना देखकर माता कौसल्या का शरीर पुलकित हो गया और मुँह से बोल न निकला। उन्होंने आँखें बन्द करके उनके चरणों में सिर रख दिया। अपनी माता को अचरज में भरी हुई देखकर राक्षसों के मारनेवाले वे भगवान् फिर बालक-स्वरूप हो गये ॥ ३ ॥

अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगतपिता मैं सुत करि जाना॥
हरि जननी बहु बिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई॥४॥

उनसे भगवान् की स्तुति भी न की गई। वे डरीं कि मैंने जगत्पिता को पुत्र जान रक्खा है। भगवान् ने माता को बहुत प्रकार से समझाया और कहा कि देखो माताजी! यह समाचार किसी से न कहना॥४॥

दो०—बार बार कौसल्या बिनय करइ कर जोरि।
अब जनि कबहूँ ब्यापई प्रभु मोहि माया तोरि॥२३४॥

कौसल्या बार बार हाथ जोड़कर विनती करने लगी कि हे प्रभु, अब मुझे आपकी माया कभी न व्यापे॥२३४॥

चौ०—बालचरित हरि बहुबिधि कीन्हा। अति आनँद दासन्ह कहँ दीन्हा।
कछुक काल बीते सब भाई। बड़े भये परिजन-सुख-दाई॥१॥

भगवान् ने कई तरह के बाल-चरित किये और अपने सेवकों को बहुत ही आनन्द दिया। कुछ समय बीतने पर कुटुम्ब को सुख देनेवाले चारों भाई बड़े हुए॥१॥

चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई॥
परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा॥२॥

गुरुजी ने आकर उनका मुण्डन-संस्कार कराया, और उस समय ब्राह्मणों ने फिर बहुत सी दक्षिणा पाई। चारों कुमार बड़े ही मनोहर अपार चरित्र करते फिरते थे॥२॥

मन-क्रम-बचन-अगोचर जोई। दसरथ अजिर बिचर प्रभु सोई॥
भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बालसमाजा॥३॥

जो प्रभु मन, कर्म और वचन तथा इन्द्रियों के गोचर नहीं हैं, वही रामचन्द्रजी दशरथ के आँगन में खेलते-कूदते फिरते हैं। भोजन करते समय महाराज जब उनको बुलाते हैं तब आप बालकों के समाज को छोड़कर नहीं आते हैं॥३॥

कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई॥
निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरइ जननी हठि धावा॥४॥
धूसर धूरि भरे तनु आये। भूपति बिहँसि गोद बैठाये॥५॥

जब कौसल्या उन्हें बुलाने के लिए जाती हैं, तब भगवान् ठुमक ठुमक कर भाग खड़े होते हैं। वेदों ने तो जिनका अन्त न पाकर 'नेति' कहकर छुटकारा पाया, और शिवजी ने भी जिनका पार न पाया उन्हें माताजी दौड़कर हठ से पकड़ लेती हैं॥४॥ फिर वे शरीर में धूल लपेटे हुए आये और राजा दशरथ ने हँसकर उनको गोद में बैठा लिया॥५॥

दो०—भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ ।
भाजि चले किलकत मुख दधिओदन लपटाइ ॥२३५॥

वे चञ्चल चित्त से भोजन कर रहे हैं, और मौक़ा पाते ही मुँह में दधि-ओदन (दही, भात) लिपटाये हुए और किलक किलक कर हँसते हुए इधर-उधर भाग जाते हैं ॥ २३५ ॥

चौ०—बालचरित अति सरल सुहाये । सारद सेष संभु स्रुति गाये ॥
जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता । ते जन बंचित किये बिधाता ॥१॥

ऐसे ऐसे बड़े सरल, सुहावने बाल-चरित्रों को सरस्वती, शेषजी, महादेवजी और वेदों ने गाया है। इन चरित्रों में जिनके चित्त नहीं रँगे उन लोगों को विधाता ने छल लिया है। अर्थात् उनका मनुष्य-जन्म ही व्यर्थ है ॥ १ ॥

भये कुमार जबहिँ सब भ्राता । दीन्ह जनेऊ गुरु-पितु-माता ॥
गुरु-गृह गये पढ़न रघुराई । अलप काल बिद्या सब पाई ॥२॥

सब भाई जब कुमारावस्था में आये तब गुरु और माता-पिता ने उनका यज्ञोपवीत-संस्कार किया। फिर रामचन्द्रजी गुरु के घर पढ़ने के लिए गये। थोड़े ही समय में उन्होंने सब विद्या पा ली ॥ २ ॥

जाकी सहज स्वास स्रुति चारी । सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ॥
बिद्या-बिनय-निपुन गुनसीला । खेलहिँ खेल सकल नृपलीला ॥३॥

चारों वेद जिसके स्वाभाविक श्वास हो हैं वह परमात्मा विद्या पढ़े, यह कैसे भारी कौतुक की बात है ! सारे राजकुमार विद्या, विनय में निपुण तथा गुणवान् हुए और खेलते समय वे राज्य-प्रबन्ध-सम्बन्धी खेल खेलते थे ॥ ३ ॥

करतल बान धनुष अति सोहा । देखत रूप चराचर मोहा ॥
जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिँ सब भाई । थकित होहिँ सब लोग लुगाई ॥४॥

उनके हाथों में धनुष-बाण बहुत अच्छे लगते थे। उनके (उस) रूप को देखकर सारा जगत् मोहित हो जाता था। जिन गलियों में सब भाई खेलते थे उन गलियों के सब स्त्री-पुरुष उन्हें देख देखकर थकित हो जाते थे ॥ ४ ॥

दो०—कोसल-पुर-बासी नर नारि बृद्ध अरु बाल ।
प्रानहुँ तेँ प्रिय लागत सब कहँ राम कृपाल ॥२३६॥

अयोध्यापुरी के निवासी स्त्री-पुरुष, बूढ़े और बालक सबको दयालु रामचन्द्रजी प्राणों से भी अधिक प्यारे लगते थे ॥ २३६ ॥

चौ०—बंधु सखा सँग लेहिँ बुलाई। बन मृगया नित खेलहिँ जाई॥
पावनमृग मारहिँ जिय जानी। दिन प्रति नृपहिँ देखावहिँ आनी॥१॥

भाइयों और मित्रों को बुलाकर और उनको साथ लेकर वे वन में नित्य शिकार खेलने जाया करते थे। जिस मृग को वे मन में पवित्र समझते उसको मारकर लाते और प्रतिदिन राजा को दिखाते थे॥ १॥

जे मृग रामबान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥
अनुज सखा सँग भोजन करहीँ। मातु पिता अग्या अनुसरहीँ॥२॥

जो मृग रामचन्द्रजी के बाण से मारे जाते वे शरीर छोड़कर स्वर्ग को चले जाते। वे अपने छोटे भाइयों और मित्रों के साथ भोजन किया करते और सदा माता-पिता की आज्ञा के अनुसार चलते थे॥ २॥

जेहि बिधि सुखी होहिँ पुरलोगा। करहिँ कृपानिधि सोइ संजोगा॥
बेद पुरान सुनहिँ मन लाई। आपु कहहि अनुजन्ह समुझाई॥३॥

कृपासागर वैसे ही काम करते थे जिनसे अयोध्यावासियों को सुख हो। वेद और पुराणों को वे मन लगाकर सुनते थे और छोटे भाइयों को समझाकर आप भी कहते थे॥ ३॥

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिँ माथा॥
आयसु माँगि करहि पुरकाजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥४॥

रामचन्द्रजी नित्य प्रातःकाल उठकर माता, पिता और गुरु को सिर नवाते थे। वे आज्ञा माँगकर नगर का काम करते थे। उनके ऐसे चरित्र देखकर महाराजा दशरथ मन में बहुत ही प्रसन्न होते थे॥ ४॥

दो०—ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥२३७॥

जो भगवान् सर्वव्यापक, कलारहित, इच्छाहीन, अजन्मा और निर्गुण हैं तथा जो नाम-रूप से हीन हैं वे भक्त के हित के लिए तरह तरह के विचित्र चरित्र करते हैं॥ २३७॥

चौ०—यह सब चरित कहा मैं गाई। आगिलि कथा सुनहु मन लाई॥
बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी। बसहिँ बिपिन सुभ आस्रम जानी॥१॥

श्रीमहादेवजी कहते हैं कि हे पार्वती! यह सब चरित्र मैंने गाकर कहा। अब इससे आगे की कथा मन लगाकर सुनो। बड़े ज्ञानी महामुनि विश्वामित्रजी वन में, एक शुभ आश्रम में, निवास करते थे॥ १॥

जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं । अति मारीच सुबाहुहि डरहीं ॥
देखत जग्य निसाचर धावहिं । करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं ॥२॥

वहाँ ऋषि लोग जप, यज्ञ और योगसाधन किया करते थे, पर मारीच और सुबाहु (राक्षसों) से वे बहुत डरते थे। यज्ञ को देखते ही राक्षस दौड़ पड़ते और उपद्रव करते जिससे मुनि लोग बहुत दुःख पाते थे ॥ २ ॥

गाधि-तनय-मन चिंता ब्यापो । हरि बिनु मरिहि न निसिचर पापो ॥
तब मुनिवर मन कीन्ह बिचारा । प्रभु अवतरेउ हरन महिभारा ॥३॥

गाधि ऋषि के पुत्र विश्वामित्रजी के मन में चिन्ता हुई। वे सोचने लगे कि भगवान् के बिना ये पापी राक्षस नहीं मरेंगे। तब मुनिवर ने मन में विचार किया कि प्रभु ने पृथ्वी का भार उतारने के लिए अवतार लिया है ॥ ३ ॥

एहू मिस देखउँ पद जाई । करि बिनती आनउँ दोउ भाई ॥
ग्यान-बिराग-सकल-गुन-अयना । सो प्रभु मैं देखब भरि नयना ॥४॥

मैं इसी बहाने से उनके चरणों को जाकर देखूँ और विनती करके दोनों भाइयों को लिवा लाऊँ। जो ज्ञान, वैराग्य और सारे गुणों के स्थान हैं उन प्रभु को मैं आँख भरकर देखूँगा ॥ ४ ॥

दो०—बहु बिधि करत मनोरथ जात लागि नहिं बार ।
करि मज्जन सरजूजल गये भूप दरबार ॥२३८॥

बहुत तरह से मनोरथ करते हुए विश्वामित्रजी को जाते देर नहीं लगी। सरयू नदी के जल में स्नान करके वे राजा दशरथ के दरबार में जा पहुँचे ॥ २३८ ॥

चौ०—मुनि आगमन सुना जब राजा । मिलन गयउ लेइ बिप्रसमाजा ॥
करि दंडवत मुनिहि सनमानी । निज आसन बैठारेन्हि आनी ॥१॥

महाराजा ने जब मुनि का आना सुना तब ब्राह्मण-मण्डली को साथ लेकर वे उनसे मिलने गये। महाराजा ने मुनि को दण्डवत् कर उन्हें सम्मान-पूर्वक लाकर अपने आसन (राजसिंहासन) पर बैठाया ॥ १ ॥

चरन पखारि कीन्हि अति पूजा । मो सम आजु धन्य नहिं दूजा ॥
बिबिध भाँति भोजन करवावा । मुनिवर हृदय हरष अति पावा ॥२॥

दशरथजी ने उनके चरण पखारकर उनकी खूब पूजा की और कहा कि आज मेरे समान दूसरा कोई भाग्यवान् नहीं है। फिर उन्होंने नाना प्रकार के भोजन करवाये। इससे मुनिवर विश्वामित्र ने मन में बहुत आनन्द पाया ॥ २ ॥

पुनि चरनन्हि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी॥
भये मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरनससि लोभा॥३॥

फिर महाराजा ने चारों पुत्रों को उनके चरणों में डाल दिया। रामचन्द्रजी को देखते ही मुनि को अपने शरीर की सुध भूल गई। रामचन्द्रजी के मुखारविन्द की छवि को देखकर मुनि मगन हो गये, मानों चकोर पक्षी पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखकर लुभा गया है॥ ३॥

तब मन हरषि बचन कह राऊ। मुनि अस कृपा न कीन्हेहु काऊ॥
केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावउँ बारा॥४॥

तब मन में प्रसन्न होकर महाराज ने कहा कि हे मुनिराज, आपने ऐसी कृपा कभी नहीं की थी। आपके आने का क्या कारण है? आज्ञा कीजिए, मैं उसको पूरी करने में देर न लगाऊँगा॥ ४॥

असुरसमूह सतावहिँ मोही। मैँ जाचन आयउँ नृप तोही॥
अनुजसमेत देहु रघुनाथा। निसि-चर-बध मैँ होब सनाथा॥५॥

विश्वामित्रजी ने कहा—हे राजन्, मुझे राक्षसों के समूह बहुत सताते हैं। इसलिए मैं आपके पास कुछ माँगने के लिए आया हूँ। आप छोटे भाई-सहित रघुनाथजी को दीजिए, जिससे राक्षसों का वध हो और मैं सनाथ हो जाऊँ॥ ५॥

दो०—देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अग्यान।
धर्म सुजस प्रभु तुम कौँ इन्ह कहँ अति कल्यान॥२३९॥

हे राजन्, आप मोह और अज्ञान को दूर करके प्रसन्नतापूर्वक इन्हें दीजिए। इसमें आपका धर्म और यश बढ़ेगा और इनका भी अत्यन्त कल्याण होगा॥ २३९॥

चौ०—सुनि राजा अति अप्रिय बानी। हृदय कंप मुखदुति कुम्हिलानी॥
चौथेपन पायउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिँ कहेहु बिचारी॥१॥

इस अत्यन्त अप्रिय वाणी को सुनकर राजा का हृदय काँपने लगा और मुँह की कान्ति कुम्हला गई। राजा ने कहा—हे मुनीश्वर, ये चारों पुत्र मैंने चौथेपन (बुढ़ापे) में पाये हैं। आपने सोच-समझ कर वचन नहीं कहा॥ १॥

माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सरबस देउँ आजु स-हरोसा॥
देह प्रान तेँ प्रिय कछु नाहीँ। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीँ॥२॥

आप भूमि, गाय, धन, ख़ज़ाना जो चाहें सो माँगिए। मैं आज हर्ष से अपना सर्वस्व दे डालूँगा। देह और प्राण से अधिक और कोई चीज़ प्यारी नहीं होती; किन्तु मैं उसे भी पल भर में दे डालूँगा॥ २॥

सब सुत प्रीय प्रान की नाईं । राम देत नहिँ बनइ गोसाईं ॥
कहँ निस्चिर अति घोर कठोरा । कहँ सुंदर सुत परम किसोरा ॥३॥

यद्यपि मुझे चारों ही पुत्र प्राण के समान प्यारे हैं तथापि हे स्वामी, रामचन्द्रजी को तो देते नहीं बनता। मुनिराज ! कहाँ तो महाभयङ्कर और कठोर राक्षस ! और कहाँ ये सुन्दर किशोर पुत्र ! ॥ ३ ॥

सुनि नृपगिरा प्रेम-रस-सानी । हृदय हरष माना मुनि ग्यानी ॥
तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा । नृपसंदेह नास कहँ पावा ॥४॥

प्रेमरस में सनो हुई राजा की बात को सुनकर ज्ञानी मुनि विश्वामित्रजी ने मन में बड़ा हर्ष माना। तब वशिष्ठजी ने राजा को कई तरह से समझाया और राजा का सन्देह दूर हो गया ॥ ४ ॥

अति आदर दोउ तनय बोलाये । हृदय लाइ बहु भाँति सिखाये ॥
मेरे प्राण नाथ सुत दोऊ । तुम्ह मुनि पिता आन नहिँ कोऊ ॥५॥

तब राजा दशरथ ने अपने दोनों पुत्रों को बड़े आदर से बुलाया और उनको हृदय से लगाकर बहुत तरह से सिखाया, फिर विश्वामित्र से कहा—हे मुनिराज, हे नाथ ! ये पुत्र मेरे प्राणों के आधार हैं। अब आप ही इनके पिता हैं, और कोई नहीं ॥ ५ ॥

दो०—सौंपे भूप रिषिहि सुत बहु बिधि देइ असीस ।
जननीभवन गये प्रभु चले नाइ पद सीस ॥२४०॥

फिर महाराज ने कई तरह के आशीर्वाद देकर दोनों पुत्र "राम लक्ष्मण" विश्वामित्रजी को सौंप दिये। अब प्रभु रामचन्द्रजी माता के महल में जाकर उनके चरणों में मस्तक नवाकर ऋषिजी के साथ चल पड़े ॥ २४० ॥

सोरठा—पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि-भय-हरन ।
कृपासिंधु मतिधीर अखिल-बिस्व-कारन-करन ॥२४१॥

पुरुषों में सिंह वे दोनों वीर (राम और लक्ष्मण)—जो मुनियों के डर को दूर करनेवाले, दया के समुद्र, बुद्धि के धीर और सकल जगत् के कारण (प्रकृति या माया) के भी चलानेवाले हैं—प्रसन्न होकर वहाँ से चले ॥ २४१ ॥

चौ०—अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलज तनु स्याम तमाला ॥
कटि पट पीत कसे बर भाथा । रुचिर-चाप-सायक दुहुँ हाथा ॥१॥

जिस समय वे दोनों चले उस समय की शोभा—उनके लाल नेत्र, चौड़ा वक्षःस्थल,
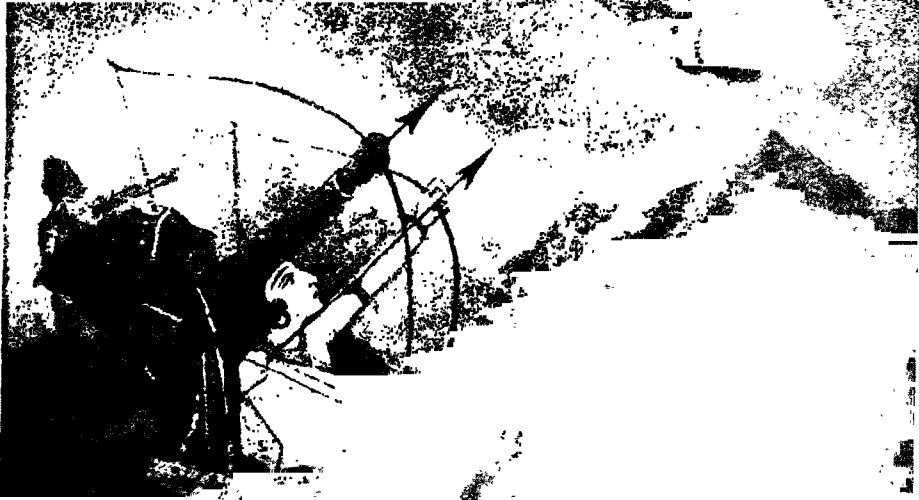
चले जात मुनि दीन्हि देखाई।
सुनि ताड़का क्रोध करि धाई ॥—पृष्ठ १९९

विशाल भुजायें और नील कमल और तमाल (एक प्रकार का वृक्ष) के समान श्याम-सुन्दर शरीर है, कमर में पीताम्बर, सुन्दर तरकस कसा है, और हाथों में सुन्दर धनुष-बाण हैं ॥ १ ॥

स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई॥
प्रभु ब्रह्मन्य देव मैं जाना। मोहि निति पिता तजेउ भगवाना॥२॥

एक श्याम, एक गौर दोनों सुन्दर भाइयों को विश्वामित्रजी ने महानिधि[1]रूप पाया। विश्वामित्रजी सोचने लगे कि भगवान् रामचन्द्र ब्राह्मणों में प्रीति रखनेवाले हैं, यह मैंने जान लिया क्योंकि मेरे (ब्राह्मण के) निमित्त इन्होंने पिता का भी त्याग कर दिया॥ २ ॥

चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥
एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥३॥

जाते जाते रास्ते में मुनि ने ताड़का राक्षसी दिखा दी। वह राक्षसी इन तीनों का उस रास्ते से निकलना सुनकर क्रोधित होकर दौड़ी। श्रीरामचन्द्रजी ने एक ही बाण से उसके प्राण निकाल लिये और उसे ग़रीबिनी जानकर निज पद (वैकुण्ठ) दे दिया॥ ३ ॥

तब रिषि निजनाथहि जिय चीन्हो। बिद्यानिधि कहँ बिद्या दीन्हो॥
जा तें लाग न छुधा पिपासा। अतुलितबल तन तेज प्रकासा॥४॥

तब तो ऋषि ने अपने मन में उन्हें अपना स्वामी पहचाना और उन विद्यासागरों को भी उन्होंने वह विद्या (बला, अतिबला आदि) दी जिससे भूख और प्यास न लगे और शरीर में अतुल बल और तेज का प्रकाश हो जाय॥ ४ ॥

दो०—आयुध सर्व समर्पिकै प्रभु निजआस्रम आनि।
कंद मूल फल भोजन दीन्ह भगत हित जानि॥२४२॥

संपूर्ण आयुध "शस्त्र-अस्त्र" प्रभु रामचन्द्रजी को समर्पण कर (सिखा और देकर) फिर मुनि उन्हें अपने आश्रम में ले गये और उन्हें भक्त-हितकारी जानकर भोजन के लिए कन्द, मूल, फल दिये॥ २४२ ॥

चौ०—प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई॥
होम करन लागे मुनिझारी। आपु रहे मख की रखवारी॥१॥

प्रातःकाल रामचन्द्रजी ने मुनि से कहा कि महाराज, अब आप निडर होकर यज्ञ कीजिए। यह सुनकर सब ऋषि तो यज्ञ करने लगे और रामचन्द्रजी आप उस यज्ञ की रखवाली करने लगे॥ १ ॥

---

[1] निधि नौ हैं—पद्म, महापद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील, खर्व।

सुनि मारीच निसाचर कोही। लेइ सहाय धावा मुनिद्रोही॥
बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागरपारा॥२॥

यज्ञ का नाम सुनते ही मुनियों का वैरी, क्रोधी राक्षस, 'मारीच' अपने सहायकों को साथ लेकर दौड़ा आया। रामचन्द्रजी ने बिना नोक का एक बाण मारा जिससे वह सौ योजन (४०० कोस) दूर समुद्र के पार जा गिरा॥ २॥

पावकसर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर कटकु सँघारा॥
मारि असुर द्विज-निर्भय-कारी। अस्तुति करहिँ देव-मुनि-झारी॥३॥

फिर अग्नि-बाण से उन्होंने सुबाहु राक्षस को मारा। इधर भाई (लक्ष्मणजी) ने राक्षसों की सारी सेना का संहार कर दिया। ब्राह्मणों को अभय करनेवाले भगवान् ने जब राक्षसों को मार डाला तब देवताओं और ऋषियों के समूह भगवान् की स्तुति करने लगे॥ ३॥

तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया॥
भगतिहेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥४॥

फिर मुनियों पर दया करके रामचन्द्रजी ने वहाँ कुछ दिन तक निवास किया। यद्यपि रामचन्द्रजी सभी कथाओं को जानते थे फिर भी ब्राह्मण लोग अपनी भक्ति के कारण अनेकों कथा और पुराण वर्णन करते थे॥ ४॥

तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिय जाई॥
धनुषजग्य सुनि रघु-कुल-नाथा। हरषि चले मुनिवर के साथा॥५॥

फिर विश्वामित्र मुनि ने रामचन्द्रजी से आदरपूर्वक समझाकर कहा कि हे प्रभु, आप चलकर एक चरित्र (धनुषयज्ञ) देखिए। रघुकुल के स्वामी श्रीरामचन्द्रजी धनुषयज्ञ की बात सुन प्रसन्न होकर मुनिवर के साथ चल पड़े॥ ५॥

आस्रम एक दीख मग माहीँ। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीँ॥
पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कही बिसेखी॥६॥

मार्ग में उन्होंने एक आश्रम देखा जिसमें कोई पशु, पक्षी और जीव-जन्तु नहीं थे। वहाँ एक शिला (पत्थर) को देखकर रामचन्द्रजी ने मुनि से पूछा। मुनिवर ने उसकी सारी कथा विस्तार से कह सुनाई॥ ६॥

दो०—गौतमनारी सापबस उपल देह धरि धीर।
चरन-कमल-रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥२४३॥
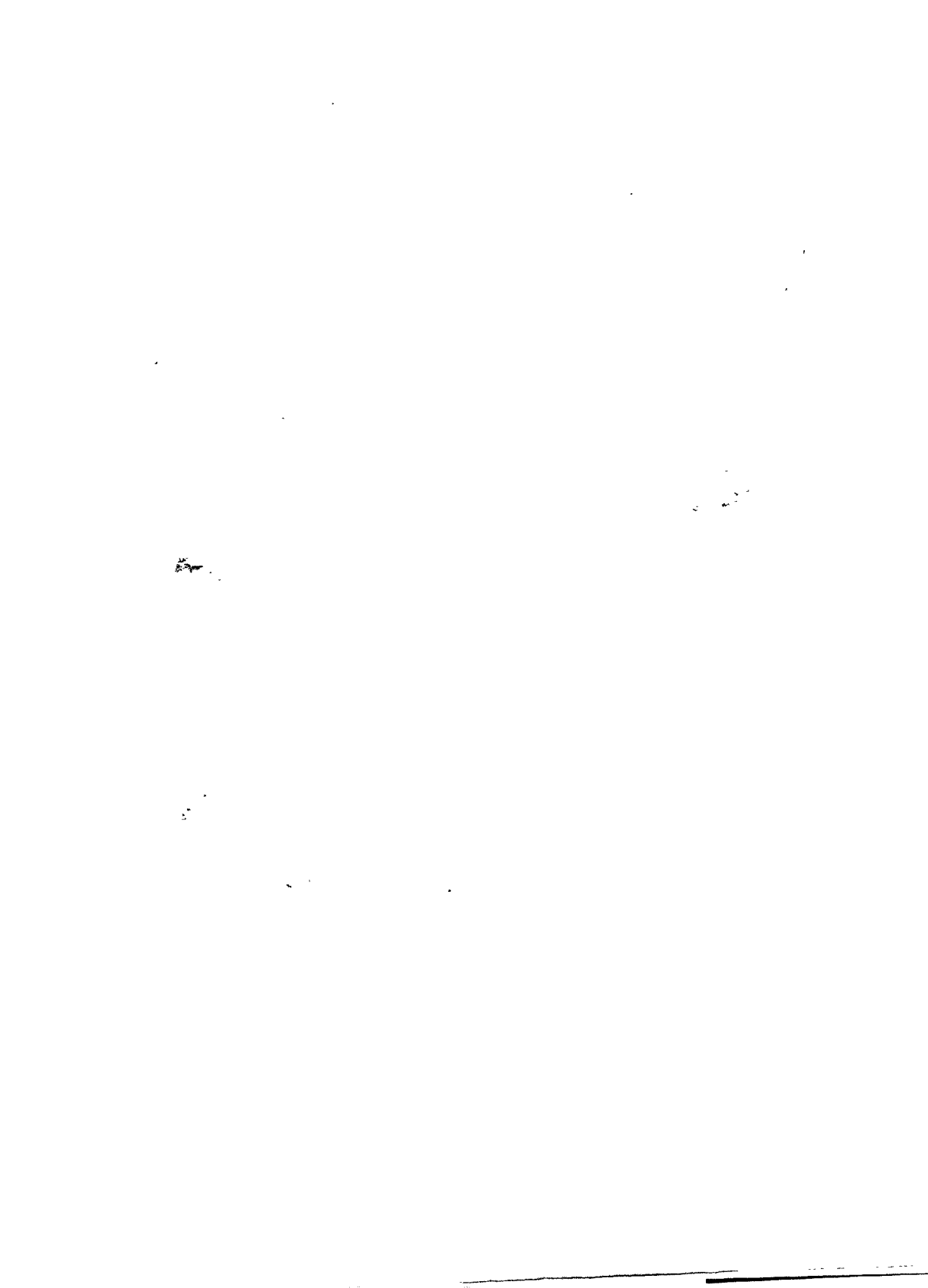
परसत पदपावन सोकनसावन प्रगट भई तपपुंज सही ।
देखत रघुनायक जन-सुख-दायक सनमुख होइ कर जोरि रही ॥—पृष्ठ २०१

फिर कहा—हे रघुवीर, गौतम की स्त्री[१] ने शाप के कारण बड़े धीरज से पत्थर का शरीर धारण कर रक्खा है। यह आपके चरणकमलों की धूल चाहती है। इस पर कृपा कीजिए॥ २४३॥

छंद—परसत पदपावन सोकनसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन-सुख-दायक सनमुख होइ कर जोरि रही॥
अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिँ आवइ बचन कही।
अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही॥

रामचन्द्रजी के शोक दूर करनेवाले और पवित्र चरणों का स्पर्श होते ही पत्थर में से वह तपोमयी (नारी) प्रकट हो गई और भक्तहितकारी रामचन्द्रजी का दर्शन करते ही उनके सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गई। वह अति प्रेम में अधीर हो गई, उसके शरीर की रोमावली खड़ी हो गई और मुँह से एक वचन भी कहते नहीं बनता था। वह बहुत ही बड़भागिनी नारी 'अहल्या' रामचन्द्रजी के चरणों में गिर पड़ी। उसकी दोनों आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी॥

धीरजु मन कीन्हा प्रभु कहँ चीन्हा रघुपतिकृपा भगति पाई।
अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ग्यानगम्य जय रघुराई॥
मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन रावनरिपु जन-सुख-दाई।
राजीवबिलोचन भव-भय-मोचन पाहि पाहि सरनहि आई॥

फिर उसने मन में धीरज धर कर भगवान् को पहचाना और रामचन्द्रजी की कृपा से उसे भक्ति मिली। बहुत ही शुद्ध वाणी से वह स्तुति करने लगी—ज्ञान से जानने योग्य हे रामचन्द्रजी, आपकी जय हो! मैं अपवित्र नारी हूँ और आप जगत् को पवित्र करनेवाले रावण-रिपु अर्थात् शत्रुओं को रुलानेवाले और भक्तों को सुख देनेवाले हैं। संसार के डर को दूर करनेवाले, हे कमलनयन! मेरी रक्षा करो! रक्षा करो! मैं आपके शरण आई हूँ॥

१ एक समय ब्रह्माजी ने अपनी इच्छा से एक अत्यन्त रूपवती कन्या उत्पन्न की और उसका विवाह गौतम ऋषि से कर दिया। एक बार इन्द्र, ऋषि का रूप बनाकर, उनकी स्त्री अहल्या के पास गया और उससे विषय करने लगा। उसी समय गौतमजी वहाँ आ पहुँचे। इस पर अहल्या ने छद्म-वेषधारी ऋषि से पूछा कि तू कौन है। इन्द्र ने अपना नाम बता दिया। तब अहल्या उसे छिपाकर कुटी का द्वार खोलने गई। मुनि ने देर होने का कारण पूछा तो उसने असल बात छिपाकर बात बनाई। ऋषि ने अपने तपोबल से सब हाल जानकर इन्द्र को शाप दिया कि जा तेरे शरीर में सौ भग हो जायँ और अहल्या से कहा कि जा तू पत्थर की हो जा। जब भगवान् रामचन्द्रजी अवतार लेंगे और उनके चरणों की धूल तुझ पर पड़ेगी तब तेरा उद्धार होगा।

मुनि साप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना ।
देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहइ लाभ संकर जाना ॥
बिनती प्रभु मोरी मैं मतिभोरी नाथ न माँगउँ बर आना ।
पद-कमल-परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करइ पाना ॥

मुनि "गौतम" ने जो मुझे शाप दिया था वह बहुत ही अच्छा किया। मैंने उस शाप को उनकी बड़ी दया ही माना। जिनके दर्शन को महादेवजी बहुत बड़ा लाभ मानते हैं उन मुक्तिदाता भगवान् को मैं अपनी आँखों भर देख रही हूँ। हे भगवन् ! मैं बुद्धि की बड़ी भोली हूँ। मैं आपसे दूसरा वर नहीं माँगती, केवल यही माँगती हूँ मेरा मनरूपी भौंरा आपके चरणकमलों की रज के रस को प्रेम के साथ पान किया करे॥

जेहि पद सुरसरिता परमपुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी ।
सोई पदपंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी ॥
एहि भाँति सिधारी गौतमनारी बार बार हरिचरन परी ।
जो अति मन भावा सो बर पावा गइ पतिलोक अनंद भरी ॥

जिस चरण से निकली हुई बड़ी पवित्र गंगाजी को शिवजी ने मस्तक पर धारण किया और जिस चरण-कमल को ब्रह्माजी भी पूजते हैं, हे कृपालु हरि! वही चरण-कमल आपने मेरे सिर पर रक्खा। इस तरह स्तुति कर और रामचन्द्रजी के चरणों में बार बार सिर रखकर गौतम की स्त्री 'अहल्या' चली गई। उसके मन में जो बहुत प्रिय था वही वर उसने पाया और आनन्द में भरी वह अपने पति के लोक में चली गई॥

दो०—अस प्रभु दीनबंधु हरि कारनरहित दयाल ।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाडि कपट जंजाल ॥२४४॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि हे शठ, कपट-जंजाल छोड़कर ऐसे प्रभु रामचन्द्रजी का भजन कर जो दीनबन्धु (ग़रीबों के हितू) और बिना कारण ही दया करनेवाले हैं॥ २४४॥

चौ०—चले राम लछिमन मुनि संगा । गये जहाँ जगपावनि गंगा ॥
गाधिसूनु सब कथा सुनाई । जेहि प्रकार सुरसरि महि आई ॥१॥

फिर रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी मुनि के साथ चल पड़े और जगत् को पवित्र करने-

वाली गंगाजी के तीर पर जा पहुँचे। जिस प्रकार गंगाजी पृथ्वी पर आईं वह सारी कथा[1] विश्वामित्रजी ने उनको कह सुनाई ॥ १ ॥

तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाये। बिबिध दान महिदेवन्ह पाये ॥
हरषि चले मुनि-बृंद-सहाया। बेगि बिदेह नगर नियराया ॥२॥

फिर ऋषियों सहित भगवान् नहाये और ब्राह्मणों ने तरह तरह के दान पाये। फिर वे प्रसन्न होकर मुनि-मण्डली के साथ चले और जल्दी ही विदेह-नगर (जनकपुर) के पास जा पहुँचे ॥ २ ॥

पुररम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेखी ॥
बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनिसोपाना ॥३॥

रामचन्द्रजी ने जब जनकपुरी की शोभा देखी तब वे भाई सहित बहुत ही प्रसन्न हुए। वहाँ अनेक बावलियाँ, कुएँ, नदियाँ और सरोवर थे। उनका जल अमृत के समान था। उनकी सीढ़ियाँ मणियों की थीं ॥ ३ ॥

गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा। कूजत कल बहुबरन बिहंगा ॥
बरन बरन बिकसे बनजाता। त्रिबिध समीर सदा सुखदाता ॥४॥

वहाँ रस से माते भौंरे मनोहर गुंजार करते थे और अनेक रंगों के पक्षी मधुर शब्द कर रहे थे। तरह तरह के रंग के कमल खिल रहे थे और शीतल, मन्द, सुगन्धित, तीन प्रकार की वायु चल कर सुख देनेवाली हो रही थी ॥ ४ ॥

---

१ सूर्य-कुल में सगर नामक एक राजा था। इसकी केशिनी और सुमति नाम की दो रानियाँ थीं। पहली से असमंजस नाम का पुत्र हुआ और सुमति के गर्भ से साठ हज़ार पुत्र हुए। एक समय राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ किया और अपने पुत्रों को घोड़े की रखवाली पर नियत किया। इन्द्र इस घोड़े को चुरा ले गया और कपिल मुनि के आश्रम में बाँध आया। राजा सगर के लड़के घोड़े को खोजते खोजते जब कपिल मुनि के आश्रम में पहुँचे तो वहाँ घोड़े को बँधा देखकर उन्हें बड़ा क्रोध आया और उन्होंने मुनि को बहुत कुछ खोटी खरी सुनाई। इस पर मुनि ने क्रोध कर उनकी तरफ़ जो देखा तो वे सब भस्म हो गये। राजा ने असमंजस के पुत्र अंशुमान को अपने पुत्रों की खोज में भेजा। वह कपिल मुनि के आश्रम में पहुँचा और विनती करके घोड़े को माँग लाया। यहां गरुड़ ने उसे उपदेश दिया कि पृथ्वी पर गंगाजी के लाने का उद्योग करो। जब गंगा-जल से तुम्हारे पुरखों की भस्म बहेगी तब उन्हें स्वर्ग प्राप्त होगा। अस्तु, राजा सगर ने घोड़ा पा यज्ञ समाप्त किया और वे अंशुमान को राज्य दे आप वन को चले गये। अंशुमान का दिलीप नामक पुत्र हुआ। अंशुमान और दिलीप दोनों से गंगा लाने का कोई उद्योग न बन पड़ा। दिलीप का पुत्र भगीरथ हुआ। इसने घोर तप किया और अंत में वह गंगाजी को पृथ्वी पर लाने में समर्थ हुआ। आकाश से गिरने पर गंगाजी का वेग सम्हालने के लिए भगीरथ ने शिवजी की तपस्या की और उन्हें गंगाजी को सिर पर धारण करने के लिए तत्पर किया। इस प्रकार गंगाजी पृथ्वी पर आईं।

दो०—सुमनबाटिका बाग बन बिपुल बिहंगनिवास ।
फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास ॥२४५॥

उस नगर के चारों ओर फुलवाड़ियों में फूल खिल रहे थे, बगीचों में फल लग रहे थे, वनों में लता-बेलों में नये पत्ते आ गये थे, और विशाल चिड़ियाघर शोभित हो रहे थे ॥ २४५ ॥

चौ०—बनइ न बरनत नगरनिकाई । जहाँ जाइ मन तहइँ लोभाई ॥
चारु बजारु बिचित्र अँबारी । मनिमय बिधि जनु स्वकर सँवारी ॥१॥

जनकपुर की शोभा का वर्णन करते नहीं बनता । मन जहाँ जाता है वहीं लुभा जाता है । वहाँ का बाज़ार बहुत ही सुन्दर और रत्नजड़े मंडपदार छज्जे बड़े ही विचित्र हैं । मालूम होता है कि ब्रह्मा ने उन्हें अपने हाथ से सँवारा है ॥ १ ॥

धनिक बनिक बर धनद समाना । बैठे सकल बस्तु लेइ नाना ॥
चौहट सुंदर गली सुहाई । संतत रहहिं सुगंध सिंचाई ॥२॥

उस जनकपुरी में कुबेर के समान सम्पत्तिवाले धनवान् सम्पूर्ण व्यापारी लोग "लेन-देन करने के लिए" तरह तरह की चीज़ें ले लेकर (दुकानें लगाये) बैठे हैं । चौराहों और गलियों में सुगन्धित जलों के छिड़काव होते रहते हैं ॥ २ ॥

मंगलमय मंदिर सब केरे । चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे ॥
पुर-नर-नारि सुभग सुचि संता । धरमसील ग्यानी गुनवंता ॥३॥

वहाँ सभी लोगों के घर मङ्गल रूप हैं, मानों उन्हें कामदेव ने चित्रकार बनकर अपने हाथ से चित्रित किया है । नगरनिवासी स्त्री-पुरुष सब सुन्दर, पवित्र, साधु, धर्मात्मा, ज्ञानी और गुणवान् हैं ॥ ३ ॥

अति अनूप जहँ जनकनिवासू । बिथकहिं बिबुध बिलोकि बिलासू ॥
होत चकित चित कोट बिलोकी । सकल-भुवन-सोभा जनु रोकी ॥४॥

जहाँ जनक महाराज का निवास-स्थान है वह जगह बहुत ही अनुपम है । उसके भोग-विलासों को देखकर देवता भी चकित हो जायँ । उस नगर के कोट को देखकर चित्त चकित हो जाता है, मानों उसने सारे संसार की शोभा को अपने ही भीतर रोक रक्खा है ॥ ४ ॥

दो०—धवलधाम मनि-पुरट-पटु-सुघटित नाना भाँति ।
सियनिवास सुंदर सदन सोभा किमि कहि जाति ॥२४६॥

सफ़ेद महल रत्नों और सोने को पट्टियों से अनेक प्रकार से जड़े हुए हैं । भला जिस घर में जानकीजी का निवास है उस भवन की शोभा कैसे कही जा सकती है ? ॥ २४६ ॥

चौ०—सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा। भूप भीर नट मागध भाटा ॥
बनी बिसाल बाजि-गज-साला। हय-गय-रथ-संकुल सब काला ॥ १ ॥

महलों के सभी दरवाज़े बहुत ही सुन्दर हैं। उनमें हीरे से जड़े किवाड़ लगे हैं। वहाँ राजों, नटों, मागधों और भाटों आदि की सदा भीड़ लगी रहती है। वहाँ बड़े बड़े हाथीख़ाने, घुड़साल आदि बनी हैं और वे सदा रथों, हाथियों, घोड़ों से भरी रहती हैं ॥ १ ॥

सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृपगृहसरिस सदन सब केरे ॥
पुर बाहिर सर सरित समीपा। उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा ॥२॥

वहाँ शूर-वीर, मन्त्री और सेना-नायक बहुत से हैं। उन सभों के भवन राजा के भवन के समान ही हैं। नगर के बाहर सरोवरों और नदियों के पास बहुत से राजा लोग जहाँ तहाँ उतरे हुए हैं ॥ २ ॥

देखि अनूप एक अँवराई। सब सुपास सब भाँति सुहाई ॥
कौसिक कहेउ मोर मन माना। इहाँ रहिय रघुबीर सुजाना ॥३॥

वहाँ एक आम की अनुपम बग़ीची देखकर, जिसमें सब तरह की सुविधा है और जो देखने में भी सुहावनी है, विश्वामित्रजी ने कहा कि मुझे यह जगह बहुत पसन्द है। हे सुजान रघुवीर! आप यहीं ठहरिए ॥ ३ ॥

भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता। उतरे तहँ मुनि-बृंद-समेता ॥
बिस्वामित्र महामुनि आये। समाचार मिथिलापति पाये ॥४॥

कृपानिधान रामचन्द्र "बहुत अच्छा महाराज" कहकर सब ऋषि-मण्डली के साथ वहीं ठहर गये। राजा जनक ने यह समाचार सुना कि महामुनि विश्वामित्रजी आये हैं ॥ ४ ॥

दो०—संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर बर गुरु ग्याति।
चले मिलन मुनिनायकहि मुदित राउ एहि भाँति ॥२४७॥

राजा जनक प्रसन्न-चित्त हो मन्त्री, अनेक योद्धा, और ब्राह्मण तथा गुरु-घराने के लोगों को साथ लेकर, इस भाँति मुनिराज विश्वामित्रजी से मिलने के लिए चले ॥ २४७ ॥

चौ०—कीन्ह प्रनामु चरन धरि माथा। दीन्हि असीस मुदित मुनिनाथा ॥
बिप्रबृंद सब सादर बंदे। जानि भाग्य बड़ राउ अनंदे ॥१॥

राजा जनक ने मुनि के चरणों में अपना सिर रखकर उनको प्रणाम किया। मुनि ने प्रसन्न होकर उनको आशीर्वाद दिया। और सब ब्राह्मणों को भी राजा ने आदरपूर्वक प्रणाम किया और अपना बड़ा भाग्य जानकर बहुत आनन्द माना ॥ १ ॥

कुसल प्रस्न कहि बारहिं बारा। बिस्वामित्र नृपहि बैठारा ॥
तेहि अवसर आये दोउ भाई। गये रहे देखन फुलवाई ॥२॥

बारम्बार कुशल-समाचार पूछकर विश्वामित्रजी ने राजा जनक को बैठाया। इतने में दोनों भाई रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी, जो फुलवाड़ी देखने गये थे, वहाँ आ पहुँचे ॥ २ ॥

स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिस्व-चित-चोरा ॥
उठे सकल जब रघुपति आये। बिस्वामित्र निकट बैठाये ॥३॥

उनकी श्याम और गोरी जोड़ी है, कोमल और किशोर अवस्था है। वे देखने में नेत्रों को सुख देनेवाले और संसार के चित्त को चुरा लेनेवाले हैं। जिस समय रामचन्द्रजी वहाँ आये, सब उठ खड़े हुए। फिर विश्वामित्रजी ने इनको अपने पास बैठा लिया ॥ ३ ॥

भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता ॥
मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेखी ॥४॥

दोनों भाइयों को देखकर सब सुखी हुए। सबकी आँखों में आँसू भर आये और रोमावली खड़ी हो गईं। उनकी मधुर और मनोहर मूर्त्ति को देखकर राजा विदेह और भी वि-देह हो गये अर्थात् पहले तो उनका नाम ही विदेह था, आज वे और भी विदेह हो गये। अर्थात् उनको अपने देह की कुछ भी सुध-बुध न रही ॥ ४ ॥

दो०—प्रेममगन मन जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनिपद नाइ सिर गदगद गिरा गँभीर ॥२४८॥

राजा जनक अपने मन को प्रेम में मगन जान और ज्ञान से धीरज धारण करके मुनि (विश्वामित्र) के चरणों में सिर नवाकर बड़ी गंभीर वाणी से गद्गद होकर कहने लगे—॥ २४८ ॥

चौ०—कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनि-कुल-तिलक कि नृप-कुल-पालक ॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा ॥१॥

हे नाथ! कृपाकर बताइए कि ये दोनों बालक मुनि-कुल के तिलक "ब्राह्मण" हैं या राजकुल के पालन करनेवाले "क्षत्रिय" हैं। अथवा वेदों ने जिस ब्रह्म को 'नेति' कह कर गाया है, क्या वही ब्रह्म तो दो रूप धारण करके नहीं आया? ॥ १ ॥

सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ता तें प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥२॥

मेरा मन स्वभाव से ही वैराग्यवान् है, पर वह भी (इनके रूप को देखकर) ऐसा थकित हो गया है कि जैसे चकोर पक्षी चन्द्रमा को देखकर थकित हो जाता है। हे प्रभु! इसलिए मैं आपसे सत्य भाव से पूछता हूँ। आप ठीक ठीक बता दें, कुछ गुप्त न रक्खें॥ २॥

इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥
कह मुनि बिहँसि कहेहु नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका॥३॥

इनको देखते ही मेरा मन इतना प्रेममय हो गया है कि उसने जबरदस्ती ब्रह्म-सुख को भी छोड़ दिया है। इतना सुन विश्वामित्रजी ने हँसकर कहा—हे राजन्, आपने अच्छा कहा है। आपका वचन असत्य नहीं हो सकता॥ ३॥

ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी। मन मुसुकाहिँ रामु सुनि बानी॥
रघु-कुल-मनि दसरथ के जाये। मम हित लागि नरेस पठाये॥४॥

संसार में जितने प्राणी हैं उन सबको ये प्यारे लगते हैं। यह सुनकर रामचन्द्रजी मन में मुस्कुराने लगे। ये दोनों भाई रघुकुल में मणि के समान दशरथ के पुत्र हैं। मेरी सहायता के लिए राजा दशरथ ने इन्हें मेरे साथ भेज दिया है॥ ४॥

दो०—रामु लषनु दोउ बंधु बर रूप-सील-बल-धाम।
मख राखेउ सबु साखि जगु जिते असुर संग्राम॥२४६॥

ये राम और छोटे लक्ष्मण ये दोनों श्रेष्ठ भाई रूप, शील और बल के घर हैं। इस बात का साक्षी सारा जगत् है कि इन्होंने मेरे यज्ञ की रक्षा की, और युद्ध में राक्षसों को जीत लिया॥ २४९॥

चौ०—मुनि तव चरन देखि कह राऊ। कहि न सकउँ निज पुन्यप्रभाऊ॥
सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँददाता॥१॥

तब राजा जनक ने कहा—हे मुनिराज, आपके चरणों के दर्शन करके मैं अपने पुण्यों के प्रभाव को कह नहीं सकता। ये श्याम और गौर वर्ण दोनों भाई आनन्द को भी आनन्द देनेवाले हैं॥ १॥

इन्ह कै प्रीति परस्पर पावनि। कहि न जाइ मन भाव सुहावनि॥
सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥२॥

इन दोनों भाइयों की परस्पर जैसी पवित्र प्रीति है, वह कही नहीं जाती। वह मन में रुचनेवाली और सुहावनी है। फिर राजा जनक बोले कि हे नाथ, सुनिए। इनका यह प्रेम ब्रह्म और जीव की तरह स्वाभाविक है ॥ २ ॥

पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू ॥
मुनिहि प्रसंसि नाइ पद सीसू। चलेउ लिवाइ नगर अवनीसू ॥३॥

महाराजा जनक श्रीरामचन्द्रजी को बार बार देख रहे हैं। शरीर पुलकित हो गया है और हृदय में बहुत उत्साह है। फिर विश्वामित्रजी की प्रशंसा कर उनके चरणों में सिर झुकाकर राजा उन्हें नगर के भीतर लिवा ले गये ॥ ३ ॥

सुंदर सदनु सुखद सब काला। तहाँ बासु लेइ दीन्ह भुआला ॥
करि पूजा सब बिधि सेवकाई। गयउ राउ गृह बिदा कराई ॥४॥

राजा ने ले जाकर उनको ऐसे सुन्दर घर में ठहरा दिया जो सब समय में सुखदायक था। उनकी पूजा करके और सब तरह से उनकी सेवा (सत्कार) करके बिदा हो राजा अपने घर चले गये ॥ ४ ॥

दो०—रिषय संग रघु-बंस-मनि करि भोजन बिस्रामु।
बैठे प्रभु भ्रातासहित दिवसु रहा भरि जामु ॥२५०॥

रघुकुल-भूषण रामचन्द्रजी ऋषि के साथ भोजन और कुछ आराम करके भाई समेत बैठ गये। उस समय कोई पहर भर दिन रह गया था ॥ २५० ॥

चौ०—लषनहृदय लालसा बिसेखी। जाइ जनकपुर आइय देखी ॥
प्रभुभय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं। प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं ॥१॥

लक्ष्मणजी के मन में बड़ी इच्छा हुई कि जाकर जनकपुर देख आवें पर अपने बड़े भाई के डर और मुनिजी के संकोच से उन्होंने सामने कुछ नहीं कहा, पर वे मन में मुस्कराते रहे ॥ १ ॥

राम अनुज मन की गति जानी। भगतबछलता हिय हुलसानी ॥
परमबिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुरुअनुसासन पाई ॥२॥

रामचन्द्रजी ने अपने छोटे भाइ के मन की बात जान ली और उनके हृदय में भक्त-वत्सलता उमड़ आई। तब वे बड़ी ही नम्रता से, संकोच करते हुए, मुस्कराते हुए गुरु विश्वामित्रजी की आज्ञा पाकर बोले—॥ २ ॥

नाथ लषनु पुर देखन चहहीं। प्रभुसकोच डर प्रगट न कहहीं ॥
जौं राउर आयसु मैं पावउँ। नगर देखाइ तुरत लेइ आवउँ ॥३॥

हे नाथ, लक्ष्मण जनकपुर देखना चाहते हैं पर आपके डर और संकोच से स्पष्ट नहीं कहते। यदि श्रीमान् की आज्ञा पाऊँ तो मैं इनको अभी नगर दिखा लाऊँ ॥ ३ ॥

सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती ॥
धरम-सेतु-पालक तुम्ह ताता। प्रेमबिबस सेवक-सुख-दाता ॥४॥

यह सुनकर ऋषिराज प्रीति के साथ बोले—हे राम! भला तुम मर्यादा क्यों न पालो? हे तात! तुम धर्म की मर्यादा के रक्षक हो और प्रेम के वश में होकर सेवकों को सुख देनेवाले हो ॥ ४ ॥

दो०—जाइ देखि आवहु नगरु सुखनिधान दोउ भाइ।
करहु सुफल सबके नयन सुंदर बदन देखाइ ॥२५१॥

सुख के निधान दोनों भाई जाकर नगर देख आओ और अपना सुन्दर मुख दिखाकर सबके नेत्रों को सफल करो ॥ २५१ ॥

चौ०—मुनि-पद-कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोक-लोचन-सुख-दाता ॥
बालकबृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा ॥१॥

लोगों के नेत्रों को सुख देनेवाले दोनों भाई राम-लक्ष्मण मुनिजी के चरण-कमलों को प्रणाम करके चले। उनकी अति शोभा को देखकर बहुत-से बालकों के झुण्ड उनके साथ हो गये, उनके नेत्र और मन मोहित हो गये थे ॥ १ ॥

पीतबसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा ॥
तन अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी ॥२॥

वे सुन्दर पीताम्बर पहने हैं, कमर में तरकस और कमरबंद कसे हुए हैं और हाथ में सुन्दर धनुष-बाण हैं। शरीर की सुन्दरता के अनुसार ही सुन्दर चन्दन की खौर लगी है। एक श्याम, एक गौर ऐसी मनोहर जोड़ी है ॥ २ ॥

केहरिकंधर बाहु बिसाला। उर अति रुचिर नाग-मनि-माला ॥
सुभग सोन सरसी-रुह-लोचन। बदन मयंक ताप-त्रय-मोचन ॥३॥

उनके कंधे सिंह के-से और भुजाएँ बड़ी लंबी हैं और हृदय पर बहुत सुहावनी गजमुक्ता की माला पड़ी हुई है। उनके सुन्दर लाल-कमल के समान नेत्र हैं। उनके मुख-चन्द्र तीनों तापों को दूर कर देनेवाले हैं ॥ ३ ॥

कानन्हि कनकफूल छबि देहीं। चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं ॥
चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी। तिलक-रेख-सोभा जनु चाकी ॥४॥

कानों में जो सोने के फूल शोभा दे रहे हैं वे देखते ही मानों मन को हर लेते हैं, चित्त चुरा लेते हैं। उनकी चितवन मोहनी और भौंहें अच्छी और टेढ़ी हैं। उनके तिलक की रेखा भी बिजली की-सी शोभित हो रही है अथवा तिलक की रेखा क्या है मानों शोभा की हद खींची हुई है ॥ ४ ॥

दो०—रुचिर चौतनी सुभग सिर मेचक कुंचित केस।
नख-सिख-सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस ॥२५२॥

मस्तक पर सुन्दर चमकीली चौकसी टोपियाँ हैं और बाल काले काले घूँघरवाले हैं। दोनों भाइयों के नख से चोटी तक सब अंग सुन्दर सलोने हैं ॥ २५२ ॥

चौ०—देखन नगर भूपसुत आये। समाचार पुरबासिन्ह पाये ॥
धाये धामकाम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी ॥१॥

जब जनकपुरनिवासियों को यह समाचार मिला कि राज-पुत्र नगर देखने आये हैं, तब वे अपने घर के काम-धाम छोड़कर ऐसे दौड़े जैसे दीन जन ख़ज़ाना लूटने के लिए दौड़ें ॥१॥

निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहिँ सुखी लोचन फलु पाई ॥
जुबती भवन झरोखन्हि लागीँ। निरखहिँ रामरूप अनुरागीँ ॥२॥

स्वभाव से सुन्दर दोनों भाइयों को देखकर और नेत्रों का फल पाकर वे प्रसन्न होते हैं। नगर की स्त्रियाँ अपने घरों के झरोखों से लगी प्रेम से रामचन्द्रजी के रूप को देखने लगीं ॥ २ ॥

कहहिँ परस्पर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि-काम-छबि जीती ॥
सुर नर असुर नाग मुनि माहीँ। सोभा असि कहुँ सुनियति नाहीँ ॥३॥

वे स्त्रियाँ आपस में प्रीति से कहने लगीं कि हे सखि, इन्होंने तो, करोड़ों कामदेवों की सुन्दरता को जीत लिया है। इनकी-सी सुन्दरता तो देवता, मनुष्य, असुर, नाग और मुनि किसी में कहीं भी नहीं सुनी गई ॥ ३ ॥

बिस्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकटबेख मुखपंच पुरारी ॥
अपर देव अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिय जाही ॥४॥

विष्णु के चार हाथ हैं; ब्रह्मा के चार मुख हैं; और महादेवजी का विकट वेष तथा पाँच मुख हैं। हे सखि, और ऐसा कोई देवता नहीं है जिससे इनके रूप की उपमा दी जा सके ॥ ४ ॥

दो०—बयकिसोर सुखमासदन स्यामगौर सुखधाम।
अंग अंग पर बारियहि कोटि कोटि सत काम ॥२५३॥

इनकी किशोर अवस्था है, ये शोभा के घर हैं, एक श्याम और दूसरे गौर हैं तथा सुख के स्थान हैं। इनके अंग अंग पर करोड़ों कामदेवों को न्योछावर करना चाहिए ॥ २५३ ॥

चौ०—कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह अस रूप निहारी ॥
कोउ सप्रेम बोली मृदुबानी। जो मैं सुना सो सुनहु सयानी ॥१॥

हे सखि, कहो तो भला! ऐसा कौन शरीर-धारी है जो ऐसे रूप को देखकर मोहित न हो जाय? अन्य सखी प्रेम से कोमल वाणी से बोल उठी कि हे चतुर सखियो! मैंने इनके सम्बन्ध में जो कुछ सुना है वह सुनो ॥ १ ॥

ए दोऊ दसरथ के ढोटा। बाल-मरालन्ह के कल जोटा ॥
मुनि-कौसिक-मख के रखवारे। जिन्ह रनअजिर निसाचर मारे ॥२॥

ये दोनों राजा दशरथ के पुत्र हैं। यह हंस के बच्चों की सुन्दर जोड़ी है। ये विश्वामित्रजी के यज्ञ के रक्षक हैं। इन्होंने रण-आँगन में राक्षसों को मारा है ॥ २ ॥

स्यामगात कल कंजबिलोचन। जो मारीच-सुभुज-मद-मोचन ॥
कौसल्यासुत सो सुखखानी। नामु रामु धनुसायक पानी ॥३॥

जिनका श्याम शरीर और जिनके सुन्दर कमल के-से नेत्र हैं, जो मारीच और सुबाहु के मद को छुड़ानेवाले हैं और हाथ में धनुष-बाण लिये हुए हैं, वे सुख की खान कौसल्या रानी के पुत्र हैं। इनका नाम "राम" है ॥ ३ ॥

गौर किसोर बेषु बर काछे। कर सर चाप राम के पाछे ॥
लछिमनु नामु रामु-लघु-भ्राता। सुनु सखि तासु सुमित्रा माता ॥४॥

और यह गोरे गोरे जो हाथ में धनुष-बाण लिये, सुन्दर वेष धारण किये, राम के पीछे पीछे जा रहे हैं वे रामचन्द्रजी के छोटे भाई हैं। इनका नाम "लक्ष्मण" है। हे सखि, सुनो। इनकी माता का नाम सुमित्रा है ॥ ४ ॥

दो०—बिप्रकाजु करि बंधु दोउ मग मुनिबधू उधारि।
आये देखन चापमख सुनि हरषीं सब नारि ॥२५४॥

ये दोनों भाई विश्वामित्र मुनि का काम कर और मार्ग में गौतम की स्त्री (अहल्या) का उद्धार करके यहाँ धनुष-यज्ञ देखने के लिए आये हैं। यह समाचार सुनकर सब स्त्रियाँ बहुत प्रसन्न हुईं ॥ २५४ ॥

चौ०—देखि राम छबि कोउ एक कहई। जोगु जानकिहि यह बरु अहई ॥
जो सखि इन्हहिं देख नरनाहू। पन परिहरि हठि करइ बिबाहू ॥१॥

रामचन्द्रजी की सुन्दरता को देखकर कोई एक सखी कहने लगी कि हे सखियो ! सीता के योग्य तो यही वर है। जो राजा जनक इनको देख लें तो अपना प्रण छोड़ कर अवश्य इनके साथ सीता का ब्याह कर दें ॥ १ ॥

कोउ कह ए भूपति पहिचाने। मुनिसमेत सादर सनमाने॥
सखि परंतु पनु राउ न तजई। बिधिबस हठि अबिबेकहि भजई॥२॥

कोई कहने लगी कि राजा जनक ने इनको पहचान लिया है और मुनि-समेत इनका अच्छा आदर-सत्कार किया है। पर हे सखि ! राजा, अपने प्रण (प्रतिज्ञा) को न छोड़ेंगे। वे भाग्य के वश में होकर अपने अविचार को ही लिये रहेंगे ॥ २ ॥

कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता। सब कहँ सुनिय उचित-फल-दाता॥
तौ जानकिहि मिलिहि बर एहू। नाहिंन आलि इहाँ संदेहू॥३॥

कोई कहने लगी कि हे सखि, जो विधाता अच्छा है, और जैसा कि सुनते हैं, सबको उचित फल देनेवाला है, तो जानकी को यही वर मिलेगा। हे सखि ! इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३ ॥

जौं बिधिबस अस बनइ सँजोगू। तौं कृतकृत्य होहिं सब लोगू॥
सखि हमरे आरति अति ता ते। कबहुँक ए आवहिं एहि नाते॥४॥

जो भाग्य से ऐसा संयोग बन जाय, तो सब लोग कृतकृत्य हो जायँ। हे सखि ! मुझे इतनी चिंता इसलिए है कि जो यह विवाह हो जायगा तो ये इसी नाते से कभी कभी यहाँ आया तो करेंगे ॥ ४ ॥

दो०—नाहिं त हम कहँ सुनहु सखि इन्ह कर दरसन दूरि।
यह संघट तब होइ जब पुन्य पुराकृत भूरि॥२५५॥

हे सखि, सुनो। जो ऐसा न हुआ तो फिर इनके दर्शन हमको बहुत ही दुर्लभ हैं। यह संयोग तभी होगा जब हमारे बहुत-से पूर्व जन्म के पुण्यों का फल उदय हो ॥ २५५ ॥

चौ०—बोली अपर कहेहु सखि नीका। एहि बिवाह अति हित सबही का॥
कोउ कह संकरचाप कठोरा। ए स्यामल मृदुगात किसोरा॥१॥

दूसरी सखी बोली कि हे सखि, तुमने अच्छा कहा है। इस विवाह से सभी का भला है। कोई कहने लगी कि महादेवजी का धनुष बहुत कड़ा है और ये श्यामल राज-कुमार बहुत ही कोमल अङ्गवाले और किशोर हैं ॥ १ ॥

सबु असमंजस अहइ सयानी। यह सुनि अपर कहइ मृदुबानी॥
सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं॥२॥

हे सयानी सखी! सभी बातें कठिन दिखाई देती हैं। इतना सुनकर दूसरी सहेली ने मीठी वाणी से कहा—हे सखी! कोई कोई इनके विषय में ऐसा कहते हैं कि ये देखने ही में छोटे हैं, पर हैं बड़े प्रभावशाली और तेजस्वी ॥ २ ॥

परसि जासु पद-पंकज-धूरी। तरी अहिल्या कृत-अघ-भूरी ॥
सो कि रहिहि बिनु सिवधनु तोरे। यह प्रतीति परिहरिय न भोरे ॥३॥

जिनके चरण-कमलों की धूल के लगते ही घोर पापिनी अहल्या भी तर गई, क्या वे शिवजी के धनुष को तोड़े बिना रहेंगे? यह भरोसा भूलकर भी न छोड़ना चाहिए ॥ ३ ॥

जेहि बिरंचि रचि सीय सवाँरी। तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी ॥
तासु बचन सुनि सब हरषानी। ऐसइ होउ कहहिं मृदुबानी ॥४॥

जिस ब्रह्मा ने सीताजी को सँवार कर रचा है उसी ने विचार कर यह श्याम-सुन्दर वर उनके लिए रचा है। उसकी बातें सुनकर सब बड़ी प्रसन्न हुईं और कोमल वाणी से कहने लगीं कि (हे ईश्वर) ऐसा ही हो ॥ ४ ॥

दो०—हिय हरषहिं बरषहिं सुमन सुमुखि-सुलोचनि-बृंद।
जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ तहँ तहँ परमानंद ॥२५६॥

सुन्दर मुख और सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियों के झुण्ड अपने मन में प्रसन्न हो होकर ऊपर से फूल बरसाते हैं। इसी तरह वे दोनों भाई जहाँ जहाँ जाते हैं वहीं वहीं परम आनन्द होता है।

यहाँ श्रीरघुनाथजी पर फूल बरसाने में विद्वानों ने कई हेतुओं की उद्भावना की है। १—इसलिए कि रामचन्द्रजी के चरण बहुत कोमल हैं, कड़ी ज़मीन को न सहेंगे तो फूल बिछाने से ज़मीन नरम हो जायगी, २—फूल बरसाना मङ्गल का चिह्न है, वह इनको फलदायी हो, ३—रामचन्द्रजी किसी की ओर देखते नहीं। फूलों के बरसाने से ऊपर को देखेंगे तो मन भर कर दर्शन हो जायँगे ॥ २५६ ॥

चौ०—पुर पूरब दिसि गे दोउ भाई। जहँ धनु-मख हित भूमि बनाई ॥
अति बिस्तार चारु गच ढारी। बिमल बेदिका रुचिर सवाँरी ॥१॥

फिर वे दोनों भाई नगर में पूर्व दिशा की ओर गये, जहाँ धनुषयज्ञ के लिए भूमि बनाई गई थी। (उस यज्ञ-भूमि के बीच में) बहुत लंबी चौड़ी गच पीट कर स्वच्छ और सुन्दर वेदी बनी हुई है ॥ १ ॥

चहुँ दिसि कंचन मंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला ॥
तेहि पाछे समीप चहुँ पासा। अपर मंचमंडली बिलासा ॥२॥

उस वेदी के चारों ओर सोने के विशाल मंच (तख़्त) लगे हुए हैं, जहाँ राजा लोग बैठें। उनके पीछे भी चारों ओर पास पास दूसरे मंचों का मण्डलाकार घेरा शोभायमान हो रहा है ॥ २ ॥

कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई। बैठहिँ नगर लोग जहँ जाई॥
तिन्ह के निकट बिसाल सुहाये। धवलधाम बहुबरन बनाये॥३॥

वे (पहले मंचों से) कुछ ऊँचे और सब भाँति सुन्दर हैं, जिन पर नगर के लोग जाकर बैठें। इनके पास सुन्दर सुहावने और स्वच्छ कई रङ्गों के मंडप बनाये गये हैं॥ ३॥

जहँ बैठे देखहिँ सब नारी। जथाजोग निज कुल अनुहारी॥
पुर बालक कहि कहि मृदुबचना। सादर प्रभुहि देखावहिँ रचना॥४॥

जहाँ अपने अपने कुल की प्रतिष्ठा के अनुसार बैठकर सब स्त्रियाँ देखें। नगर-निवासी बालक, कोमल वचनों से बतला बतला कर, रामचन्द्रजी को वहाँ की सारी रचना दिखलाने लगे॥ ४॥

दो०—सब सिसु एहि मिस प्रेमबस परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिँ अति हरष हिय देखि देखि दोउ भ्रात॥२५७॥

इसी (दिखाने के) बहाने से नगर के सब बालक दोनों भाइयों के मनोहर शरीर को छूकर बड़े प्रसन्न होते थे। हर्ष के मारे उनके शरीर पुलकित होते थे और वे उनको देखकर आनन्द में फूले हुए न समाते थे॥ २५७॥

चौ०—सिसु सब राम प्रेमबस जाने। प्रीतिसमेत निकेत बखाने॥
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिँ दोउ भाई॥१॥

जब बालकों ने रामचन्द्रजी को अपने प्रेम के वश में जाना, तब उन्होंने उनको अपने अपने घर दिखाये। अपनी अपनी इच्छा से सब रामचन्द्रजी को बुला लेते हैं और वे दोनों भाई बड़े स्नेह के साथ जाते हैं॥ १॥

रामु देखावहिँ अनुजहिँ रचना। कहि मृदु मधुर मनोहर बचना॥
लवनिमेष महँ भुवननिकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥२॥

रामचन्द्रजी कोमल, मीठे और मनोहर वचन कह कहकर अपने छोटे भाई लक्ष्मणजी को वहाँ की रचना दिखाते हैं। जिनकी आज्ञा पाकर माया पल भर (आँख बन्द करके खोलने भर के समय का नाम निमेष है, उसका साठवाँ हिस्सा लव कहलाता है) में ब्रह्मांडों को रच देती है॥ २॥

भगति हेतु सोइ दीनदयाला। चितवत चकित धनुष-मख-साला॥
कौतुक देखि चले गुरु पाहीँ। जानि बिलंबु त्रास मन माहीँ॥३॥

वही दीनदयालु प्रभु, भक्ति के लिए, उस धनुष-यज्ञ-शाला को चकित होकर देख रहे हैं। इस तरह वहाँ का कौतुक देखकर दोनों भाई गुरुजी के पास चले। देर हो गई यह जानकर वे मन ही मन बहुत डर रहे हैं॥ ३॥

जासु त्रास डर कहँ डर होई। भजनप्रभाव देखावत सोई॥
कहि बातैं मृदु मधुर सुहाई। किये बिदा बालक बरिआई॥४॥

जिन परमात्मा के डर से डर भी डर जाता है, वही (भगवान्) अपने भजन का प्रभाव दिखाते हैं। फिर रामचन्द्रजी ने मीठी और सुहावनी बातें कह कहकर सब बालकों को, बहुत अनुरोध करके, बिदा किया॥ ४॥

दो०—सभय सप्रेम बिनीत अति-सकुच-सहित दोउ भाइ।
गुरु-पद-पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥ २५८॥

वे दोनों भाई भय, प्रेम, नम्रता और अत्यन्त संकोच के साथ गुरुजी के चरण-कमलों में प्रणाम करके, उनकी आज्ञा पाकर, बैठ गये॥ २५८॥

चौ०—निसिप्रबेस मुनि आयसु दीन्हा। सबही संध्याबंदनु कीन्हा॥
कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुगजाम सिरानी॥१॥

संध्याकाल होते ही मुनि ने आज्ञा दी और सबने संध्योपासना की। फिर इतिहास की पुरानी कथाओं को कहते कहते सुन्दर दो पहर रात बीत गई। (क्यों कथा कहते कहते दो पहर रात बीत गई और वह रात क्यों सुंदर थी, इसका कारण यह कहा जा सकता है। जब कोई किसी नये स्थान में नई नई वस्तुएँ देखकर लौटता है तब उनके संबंध में बहुत देर तक बातचीत होती ही है। इसके अतिरिक्त प्रसंगवश बहुत-सी पुरानी बातें भी आ जाती हैं। रात के सुन्दर लगने का कारण यह है कि राम का मन बालकों से यह जानकर उत्कंठित था कि सबेरे जानकीजी गौरी का पूजन करने बग़ीचे में जायँगी, कदाचित् देखने का अवसर मिल जाय अथवा वह रात यों ही बड़ी शोभायमान थी)॥ १॥

मुनिबर सयन कीन्ह तब जाई। लगे चरन चाँपन दोउ भाई॥
जिन्ह के चरनसरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी॥२॥

जब ऋषि विश्वामित्रजी जाकर लेट गये तब, जिनके चरण-कमलों के लिए विरक्त लोग तरह तरह के जप और योग करते हैं, वे दोनों भाई उनके पाँव दबाने लगे॥ २॥

तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुरु-पद-कमल पलोटत प्रीते॥
बार बार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥३॥

मानों वे दोनों भाई प्रेम से जीते जाकर गुरु के चरण-कमलों को प्रीति से दबा रहे हैं। जब मुनि ने बार बार आज्ञा दी तब रामचन्द्रजी ने जाकर शयन किया॥ ३॥

चाँपत चरन लषनु उर लाये। सभय सप्रेम परम सचुपाये॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े धरि उर पदजलजाता॥४॥

फिर लक्ष्मणजी ने रामचन्द्रजी के पाँव दबाते हुए उनके चरणों को डरते डरते प्रेम से हृदय में लगा लिया और बहुत सुख अनुभव किया। रामचन्द्रजी ने उनको बार बार कहा, भैया सोओ। तब वे भी रामचन्द्रजी के चरणों का हृदय में ध्यान करते हुए सो रहे॥ ४॥

दो०—उठे लषनु निसि बिगत सुनि अरुन-सिखा-धुनि कान।
गुरु तें पहिलेहि जगतपति जागे रामु सुजान॥२५९॥

लक्ष्मणजी मुर्गे का शब्द कानों में पड़ते ही, रात बीती जानकर, उठ बैठे अर्थात् सेवक के समान आप अपने बड़े भाई के पहले उठ बैठे। और विवेकी जगत्पति रामचन्द्रजी गुरु विश्वामित्रजी के जागने के पहले ही जाग उठे॥ २५९॥

चौ०—सकल सौच करि जाइ नहाये। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाये॥
समय जानि गुरु आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥१॥

फिर दोनों भाइयों ने सारे शौच आदि से निवृत्त होकर स्नान किया और नित्य-कर्म को पूरा करके मुनिजी को प्रणाम किया। पुष्प लाने का समय जानकर, गुरुजी की आज्ञा लेकर, दोनों भाई फूल लाने के लिए चले॥ १॥

भूपबागु बर देखेउ जाई। जहँ बसंतरितु रही लोभाई॥
लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलिबिताना॥२॥

दोनों भाइयों ने राजा जनक की श्रेष्ठ पुष्पवाटिका को जाकर देखा, जहाँ वसन्त ऋतु लुभाई रहती है। वहाँ अनेक मनोहर पेड़ लगे हैं और रङ्ग बिरङ्गी बेलों के मण्डप बने हैं॥ २॥

नव पल्लव फल सुमन सुहाये। निज संपति सुररूख लजाये॥
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा॥३॥

वहाँ के पेड़ फलों, फूलों और नये नये पत्तों से ऐसे सुन्दर लगते हैं कि उनकी सम्पत्ति से कल्पवृक्ष भी लज्जित हो जाता है। पपीहा, कोयल, तोता और चकोर आदि पक्षी अपनी अपनी बोलियाँ बोल रहे हैं और सुन्दर मोर नाच रहे हैं॥ ३॥

मध्य बाग सरु सोह सुहावा। मनिसोपान बिचित्र बनावा॥
बिमलसलिलु सरसिज बहुरंगा। जलखग कूजत गुंजत भृंगा॥४॥

उस बाग़ के बीच में एक सुहावना सरोवर शोभित है, जिसकी सीढ़ियाँ मणियों को विचित्र बनी हैं। उसका जल बहुत ही निर्मल है। उसमें रङ्ग बिरङ्ग कमल खिल रहे हैं। वहाँ जल के पत्ती बोल रहे हैं और भौंरे गुंजार कर रहे हैं।

इस चौपाई में सोह सुहावा दोनों शब्द एक ही अर्थ के होने से पुनरुक्ति दोष आता है, पर 'सुहावा' पद दूसरी पंक्ति में लगाने से और उसका अर्थ इस प्रकार करने से कि "विचित्र बनाये हुए मणि-सोपान शोभित हैं" कुछ परिहार हो जाता है। कुछ टीकाकार पूर्ण परिहार का प्रयत्न अन्योन्य अलंकार का आश्रय लेकर करते हैं और पंक्ति का अर्थ यों लगाते हैं "मध्य सर से बाग़ सोहता है और बाग़ से सर"। पर यह खींच-तान है; अन्वय ठीक नहीं बनता ॥ ४ ॥

दो०—बागु तडागु बिलोकि प्रभु हरषे बंधुसमेत।
परमरम्य आरामु यह जो रामहि सुख देत ॥२६०॥

उस बाग़ और तालाब को देखकर भगवान् रामचन्द्रजी भाई-समेत बहुत प्रसन्न हुए। यह बाग़ बहुत ही रमणीय है जो रामचन्द्रजी को सुख दे रहा है ॥ २६० ॥

चौ०—चहुँ दिसि चितइ पूछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदितमन ॥
तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजापूजन जननि पठाई ॥१॥

वे दोनों भाई चारों दिशाओं की ओर देखकर और मालियों से पूछकर प्रसन्नचित्त हो फूल-पत्ती लेने लगे। ('चहुँ दिसि चितै' से अभिप्राय केवल यह है कि दोनों भाइयों ने चारों ओर ताक कर देखा कि कोई रखवाला हो तो उससे पूछकर फूल तोड़ें। तोड़ने के पहले पूछ लेना शिष्टता थी।) उसी समय वहाँ सीताजी आईं। उन्हें माता ने देवी (पार्वतीजी) की पूजा करने के लिए भेजा है। "दाम्पत्यार्थमुमां सतीम्" स्त्री-पुरुष की जोड़ी क़ायम रहने के लिए सती पार्वती की पूजा धर्म-शास्त्र में कही है ॥ १ ॥

संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिँ गीत मनोहर बानी ॥
सरसमीप गिरिजागृह सोहा। बरनि न जाइ देखि मन मोहा ॥२॥

सीताजी के साथ जो सखियाँ हैं वे सुन्दर और चतुर हैं। वे मनोहर वाणी से गीत गा रही हैं। तालाब के पास पार्वतीजी का मन्दिर शोभायमान हो रहा है, जिसके देखते ही मन मोहित हो जाता है। उसका वर्णन नहीं करते बनता ॥ २ ॥

मज्जन करि सर सखिन्ह समेता। गई मुदितमन गौरिनिकेता ॥
पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बर माँगा ॥३॥

सीताजी उसी सरोवर में सखियां-सहित स्नान करके प्रसन्न-चित्त हो, गौरी के मन्दिर में गईं। उन्होंने बड़े प्रेम से गौरी की पूजा की और अपने ही समान सुन्दर वर (दूल्हा) माँगा ॥ ३ ॥

एक सखी सिय संगु बिहाई। गई रही देखन फुलवाई॥
तेइ दोउ बंधु बिलोके जाई। प्रेमबिबस सीता पहिँ आई॥४॥

उनमें से एक सखी सीताजी का साथ छोड़कर फुलवाड़ी देखने चली गई थी। उसने उन दोनों भाइयों को जाकर देखा और प्रेम में भरी हुई वह सीताजी के पास आई॥ ४॥

दो०—तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नयन।
कहु कारनु निज हरष कर पूछहिँ सब मृदुबयन॥२६१॥

सखियों ने उसकी दशा देखी कि शरीर पुलकायमान है और आँखों में जल भरा है। सब सखियाँ कोमल वचनों से उससे पूछने लगीं कि तुम अपनी प्रसन्नता का कारण कहो॥२६१॥

चौ०—देखन बागु कुअँर दुइ आये। बयकिसोर सब भाँति सुहाये॥
स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥१॥

(सभी ने पूछा तो वह कहने लगी—) दो कुँवर बाग़ देखने आये हैं। उनकी अवस्था किशोर है और वे सभी तरह से सलोने हैं। उनमें एक श्याम और दूसरा गौर है। मैं उनका वर्णन कैसे करूँ, क्योंकि वाणी (जिससे वर्णन किया जाता है वह) बिना नेत्रों की है (वह देख नहीं सकती) और नेत्र (जिनसे देखा जाता है वे) बिना वाणी के हैं (वे बोल नहीं सकते)। तात्पर्य्य यह है कि आँखों से देखने पर ही पूरा आनन्द मिल सकता है, मुँह से कहते नहीं बनता। (यहाँ पर दोनों राजकुमारों को फूल-पत्ती तोड़ते हुए इस सखी ने देखा था, किन्तु वह चतुर, सयानी है इसलिए यह नहीं कहती कि वे फूल तोड़ने आये हैं क्योंकि ऐसा कहने में उनकी राज-पुत्रता में बट्टा लग जाता। वह कहती है कि वे बाग़ देखने आये हैं।)॥ १॥

सुनि हरषीँ सब सखी सयानी। सियहिय अति उतकंठा जानी॥
एक कहइ नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनि सँग आये काली॥२॥

सब चतुर सखियाँ (यह) सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई। सीताजी के मन में (राजकुमारों के विषय में) विशेष उत्कण्ठा जानकर एक सखी कहने लगी—अरी सखियो! ये वही राजकुमार हैं जिनका मुनि के संग कल आना सुना है। (यहाँ पर सब सखियों से अधिक जानकीजी का प्रेम है इसलिए उनके साथ अति-उत्कण्ठा शब्द कहा।)॥ २॥

जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हें स्वबस नगर-नर-नारी॥
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखियहि देखन जोगू॥३॥

जिन्होंने अपने रूप की मोहनी डाल कर नगर के सब स्त्री-पुरुषों को अपने वश में कर लिया है। जहाँ तहाँ सब लोग इनकी शोभा का वर्णन कर रहे हैं। इनको ज़रूर ही देखना चाहिए। ये देखने योग्य हैं॥ ३॥

तासु बचन अति सियहि सुहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने॥
चली अग्र करि प्रियसखि सोई। प्रीति पुरातनि लखइ न कोई॥४॥

इस सखी के वचन सीताजी को बहुत ही अच्छे लगे; उनके दर्शन के लिए (सीताजी की) आँखें व्याकुल हो गईं। जो सखी राजपुत्रों को देखकर आई थी उसी प्यारी सखी को आगे करके सीताजी चलीं। उनकी पुरानी प्रीति को कोई नहीं जानता॥४॥

दो०—सुमिरि सीय नारदबचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत॥२६२॥

सीताजी को नारदजी के वचन (नारदजी एक बार कह गये थे कि पहले तुम्हारा रामचन्द्र से फुलवाड़ी में मिलाप होगा फिर विवाह होगा। यों इस होनहार विवाह का बीज तो वही बो गये थे।) का स्मरण कर पवित्र प्रीति उत्पन्न हुई। (पवित्र इसलिए कहा कि भविष्य में जिसका भर्त्ता होना निश्चित है उन्हीं में प्रीति हुई। वह प्रीति सखियों को विदित न हो इसलिए) चकित होकर सम्पूर्ण दिशाओं में सीताजी ऐसे देखती हैं जैसे डरी हुई छोटी हरिणी चौंक चौंक कर इधर-उधर देखे॥२६२॥

चौ०—कंकन-किंकिनि-नूपुर-धुनि सुनि। कहत लषन सन रामु हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्वबिजय कहँ कीन्ही॥१॥

सीताजी के कंकण, करधनी और पायजेबों के शब्द सुन और हृदय में विचारकर रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी से कहने लगे (कि कैसी सुन्दर आवाज़ आ रही है)। मानों, सारे संसार को जीत लेने की इच्छा करके कामदेव ने डंका बजाया है॥१॥

अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सिय-मुख-ससि भये नयन चकोरा॥
भये बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल॥२॥

ऐसा कहकर उन्होंने फिर उसी ओर देखा (जिस ओर से भूषणों की आवाज़ आई थी) तो सीताजी का मुख तो चन्द्रमा हो गया और रामचन्द्रजी के नेत्र चकोर हो गये (अर्थात् वे चकोर के समान प्रीति से मुख-चन्द्र को देखने लगे)। सुन्दर नेत्र, जो जानकीजी के ढूँढ़ने में चञ्चल थे, स्थिर हो गये (आँखें खुली की खुली रह गईं) मानों सङ्कोच से राजा निमि[1] ने पलकों को छोड़ दिया, अर्थात् पलकों ने अपना खुलने मुँदने का काम बन्द कर दिया॥२॥

---

१ राजा निमि जनक राजा के पूर्वजों में हुए थे। उन्होंने यज्ञ करने की इच्छा से वसिष्ठजी को बुलाया; किन्तु उन्हें पहले इन्द्र का निमन्त्रण आ चुका था, इसलिए वे इन्द्र के यहाँ चले गये। निमि राजा ने शरीर को अनित्य समझकर दूसरा पुरोहित बुलाकर यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। जब वसिष्ठजी लौटे और अपने शिष्य (यजमान) का अपराध देखा तो उन्होंने शाप दिया कि "तूने गुरु का अपमान किया है इसलिए तेरा शरीर नष्ट हो जाय।" राजा ने कहा कि लोभ से धर्म नहीं जाननेवाले तुम्हारा भी शरीर नष्ट हो जाय। दोनों के शरीर नष्ट हो गये। वसिष्ठजी ने तो फिर एक घड़े में से जन्म पाया;

देखि सीयसोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई॥३॥

रामचन्द्रजी ने सीताजी की शोभा देखकर जो सुख पाया, उसको उन्होंने मन ही मन सराहा; वह सुख उनसे कहते न बना। (भला कैसे कहते बने !) वह शोभा ऐसी थी कि मानों ब्रह्मदेव ने अपनी सारी कारीगरी रचकर जगत् में प्रकट दिखा दी॥ ३॥

सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरउँ बिदेहकुमारी॥४॥

सीताजी की शोभा सुन्दरता को भी सुन्दर करती है। वह ऐसी है मानों एक सुन्दर घर को दीपक की लौ जलकर शोभित करती हो (सुन्दर घर सीताजी का सुघटित शरीर और उसमें से प्रकट होती हुई शोभा दीपक का प्रकाश)। इस सुन्दरता के लिए, कवि सभी उपमाओं को जूँठी कर चुके हैं इसलिए तुलसीदासजी कहते हैं कि हम किससे जानकीजी की उपमा दें (जो ठीक उतरे)॥ ४॥

दो०—सियसोभा हिय बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि॥२६३॥

श्रीरामचन्द्रजी मन में जानकीजी की शोभा का वर्णन कर और अपनी (प्रेम-मुग्ध) दशा को विचारकर पवित्र वचनों से समय के अनुकूल बात छोटे भाई से बोले—॥ २६३॥

चौ०—तात जनकतनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखी लेइ आईं। करत प्रकासु फिरइ फुलवाईं॥१॥

हे तात! यह वही जनक की कन्या है जिसके लिए धनुषयज्ञ हो रहा है। इसे पार्वतीजी की पूजा करने के लिए सखियाँ ले आई हैं। यह फुलवाड़ी को प्रकाशित करती फिर रही है॥ १॥

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता॥२॥

परन्तु राजा निमि के पुत्रों के उद्योग करने पर उनको जब शरीर मिलने का मौक़ा आया, तब उन्होंने कहा कि मैं शरीर के बन्धन में नहीं रहूँगा। तब जीवों के नेत्रों की पलकों में ही रहने का वर उन्होंने पाया। तब से सभी के नेत्रों में निमि राजा का वास है; इसी लिए पलकों का नाम निमेष है। यहाँ जानकीजी और रामचन्द्रजी की दृष्टि का संयोग देखकर निमि राजा को संकोच हुआ, क्योंकि वे सीताजी के पूर्वज थे। बड़े का अपने पुत्र-पौत्र आदि की शृंगार-चेष्टा देखने में संकोच करना स्वाभाविक है।

तात जनकतनया यह सोई । धनुष जग्य जेहि कारन होई ॥
पूजन गौरि सखीं लेइ आई । करति प्रकासु फिरइ फुलवाईं ॥ पृ० २२०

जिसको अलौकिक (ब्रह्मा की रची हुई सृष्टि के बाहरवाली) शोभा को देखकर, स्वभाव से पवित्र मेरा मन क्षोभित (चलायमान) हो गया। सो इसका कारण विधाता जाने, पर हे भाई! सुनो, मेरे शुभ अङ्ग—दहिना हाथ, नेत्र आदि—फड़क रहे हैं। (रामचन्द्रजी अपने कुल की मर्यादा तथा अपने भाव का वर्णन अगली चौपाइयों में करते हैं। उन्हें आश्चर्य है कि ऐसे कुल में उत्पन्न होकर और स्वयं ऐसे होकर उनका मन चलायमान क्यों हुआ। पर वे इसका निराकरण करते हैं और कहते हैं कि असली बात तो विधाता ही जाने, हाँ शुभ अङ्गों के फड़कने से भविष्य शुभ की सूचना होती है।)॥ २॥

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरैं न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥३॥

हे लक्ष्मण! रघुवंशियों का यह स्वभाव है कि वे किसी कुमार्ग में पाँव नहीं धरते। मुझे अपने मन पर अत्यन्त विश्वास है, जिसने स्वप्न में भी पराई स्त्री को नहीं देखा। (अतएव मेरा मन जो चलायमान हुआ, उससे यह विश्वास होता है कि मेरा मन उसी की ओर गया है जिसकी ओर जाना उचित है, अर्थात् जो अर्द्धांगिनी होनेवाली है।)॥ ३॥

जिन्ह कै लहहिँ न रिपु रन पीठी। नहिँ लावहिँ परतिय मन डीठी॥
मंगन लहहिँ न जिन्ह कै नाहीँ। ते नरबर थोरे जग माहीँ॥४॥

जिनके शत्रु रण में पीठ नहीं देखते अर्थात् जो शत्रु के सामने छाती टेक लड़ते रहते हैं और जो पराई स्त्रियों में डीठ (दृष्टि) और मन नहीं लगाते; जिनके यहाँ माँगनेवाले (भिक्षार्थी) 'नाहीं' नहीं पाते अर्थात् कभी विमुख नहीं फिरने पाते, ऐसे उत्तम पुरुष जगत् में बहुत ही थोड़े हैं॥ ४॥

दो०—करत बतकही अनुज सन मन सियरूप लुभान।
मुख-सरोज-मकरंद-छबि करइ मधुप इव पान॥२६४॥

रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी से वार्तालाप कर रहे हैं, पर मन सीताजी के रूप पर लुभाया हुआ है। जैसे भौंरा कमल के ऊपर बैठकर उसके मकरन्द (फूल के रस) को पीता है और पीते समय चुप रहता है फिर थोड़ी देर में उसी के आस पास गूँजता है, वैसे ही यहाँ सीताजी के मुख-कमल के छवि (कान्ति) रूपी मकरन्द को रामचन्द्रजी का मन-रूपी भँवर पान कर रहा है। (भ्रमर फूल का रस पीते समय उस फूल पर लगातार बैठा नहीं रहता; बीच बीच में गूँजता भी जाता है।) यहाँ रामचन्द्रजी उस मुखछबि को निरन्तर नहीं निहारते, बीच बीच में लक्ष्मणजी से बातचीत करने लग जाते हैं॥ २६४॥

चौ०—चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता॥
जहँ बिलोकि मृग-सावक-नयनी। जनु तहँ बरिस कमल-सित-स्रेनी॥१॥

(यहाँ तक रामचन्द्रजी का प्रसङ्ग कह दिया, अब फिर सीताजी का प्रसङ्ग उठाते हैं) सीताजी चकित होकर चारों ओर देख रही हैं कि वे राज-किशोर कहाँ चले गये। मन में यही चिन्ता हो रही है। चिन्ता यहाँ पर तीन प्रकार की है (१) दोनों चले न गये हों, (२) सखियाँ मन का भाव न समझ जायँ, (३) पिता के धनुष-भङ्ग का प्रण। वह हिरन के बच्चे के समान नेत्रोंवाली (सीता) जिसी ओर देखती है, उसी ओर मानों सफ़ेद कमलों की पंक्ति बरसती है। नई चंचल आँखें हैं इसलिए हिरन के बच्चे की आँखों की उपमा दी। कवियों ने आँखों की उपमा कमल से दी है और उसके सफ़ेद अंश को मित्रता का सूचक माना है तथा सफ़ेद अंश होता भी अधिक है। इसी लिए यहाँ सफ़ेद कमल कहा है। जब सीताजी चकित होकर अपनी आँखें चारों ओर घुमाती हैं तब ऐसा प्रतीत होता है मानों सफ़ेद कमलों की क़तार बन गई है ॥ १ ॥

लता ओट तब सखिन लखाये। स्यामल गौर किसोर सुहाये॥
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥२॥

तब सखियों ने लता के झुरमुट की ओर दिखाया जहाँ श्याम और गौर दोनों भाई शोभित थे। उनका स्वरूप देखते ही सीताजी के नेत्र ललचा गये। उनको इतनी प्रसन्नता हुई मानों उन्होंने अपना ख़ज़ाना पहचान लिया हो। (नेत्र ललचा जाने का यह कारण है कि जिस वस्तु के देखने की बहुत लालसा होती है उनसे देखकर जी नहीं भरता, बार बार देखने को जी चाहता है)। जिस प्रकार कोई अपनी खोई सम्पत्ति को पाकर प्रसन्न होता है उसी प्रकार सीताजी के नेत्र रामचन्द्रजी की छबिरूपी सम्पत्ति को पाकर पुनः प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

थके नयन रघु-पति-छबि देखे। पलकन्हिहू परिहरीं निमेखे॥
अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरदससिहि जनु चितव चकोरी॥३॥

श्रीरघुनाथजी की छबि को देखने पर सीताजी के नेत्र मुग्ध होकर उसी ओर लगे रह गये। पलकों ने भी निमेष (आँखों का खुलना मिचना) बन्द कर दिया। वे एकटक देखती ही रह गईं। अधिक स्नेह हो जाने से देह भोरी हो गई अर्थात् शरीर की सुध न रही। जैसे शरद् ऋतु के चन्द्रमा को देखकर चकोरी को देह की सुध नहीं रहती वैसी ही अवस्था सीताजी की हुई ॥ ३ ॥

लोचनमग रामहिँ उर आनी। दीन्हे पलककपाट सयानी॥
जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानीँ। कहि न सकहिँ कछु मन सकुचानीँ॥४॥

फिर अपनी आँखों के रास्ते से रामचन्द्रजी को अपने हृदय में लाकर उस सयानी सीता ने पलकरूपी किवाड़ बन्द कर दिये। अर्थात् रघुनाथजी का ध्यान करते हुए आँखें बन्द कर लीं। जब सखियों ने सीताजी को प्रेम के वश में जाना, तब वे बहुत सकुचाईं पर कुछ कह नहीं सकीं। भाव यह है कि सीताजी को यह डर हुआ कि कहीं ये आँख से अदेख न हो जायँ, इसलिए उन्हें हृदय में रखकर किवाड़ बन्द कर दिये कि वे जाने न पावें, हृदय में बने रहें। सीताजी को सयानी इसलिए कहा है कि उन्होंने इस होशियारी से रामचन्द्रजी की सुन्दर मूर्ति को अपने हृदय में रख लिया ॥ ४ ॥

दो०—लताभवन तेँ प्रगट भये तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलदपटल बिलगाइ ॥२६५॥

उसी समय वे दोनों भाई (राम लक्ष्मण) लताभवन (कुञ्ज) में से ऐसे प्रकट हुए जैसे शुद्ध (बिना कलङ्क के) दो चन्द्रमा मेघों के मण्डल को फाड़कर प्रकाशित हों ॥ २६५ ॥

चौ०—सोभासीवँ सुभग दोउ बीरा। नील-पीत-जलजाभ-सरीरा ॥
मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छा बिच बिच कुसुमकली के ॥१॥

वे दोनों वीर शोभा की सीमा हैं (अर्थात् इनसे बढ़कर किसी की शोभा नहीं)। इनके शरीर नीले और पीले कमल के-से हैं। उनके सिरों पर मोरपंख अच्छे सुहा रहे हैं। बीच बीच में फूलों की कलियों के गुच्छे गुँथे हुए हैं ॥ १ ॥

भाल तिलक स्रम बिंदु सुहाये। स्रवन सुभग भूषन छबि छाये ॥
बिकट भृकुटि कच घूघरवारे। नवसरोज लोचन रतनारे ॥२॥

कपाल पर तिलक शोभित है, पसीने की बूँदें चमक रही हैं, कानों में सुन्दर गहनों की कान्ति झलक रही है। टेढ़ी भौंहें हैं और घूँघरवाले बाल हैं। ताजे लाल कमल के से लाल नेत्र हैं। यहाँ पसीने का वर्णन सुकुमारता बतलाने के लिए किया गया है ॥ २ ॥

चारु चिबुक नासिका कपोला। हासबिलास लेत मनु मोला ॥
मुखछबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीँ ॥३॥

ठुड्डी, नाक और गाल सुन्दर हैं, और मुस्कुराना तो ऐसा है कि मानों दूसरे का मोल ही लिये लेता है। गुसाईं तुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीमुख की छबि तो मुझसे कही नहीं जाती, क्योंकि उसे देखकर बहुत-से कामदेव शरमा जाते हैं ॥ ३ ॥

उर मनिमाल कंबुकल ग्रीवाँ। काम-कलभ-कर भुज बलसीवाँ ॥
सुमनसमेत बामकर दोना। साँवर कुअँर सखी सुठि लोना ॥४॥

वक्षःस्थल में मणियों (जवाहिरात) की माला पड़ी है। शङ्ख-सा सुहावना गला है। हाथी की सुन्दर सूँड़ के समान बल की सीमा भुजाएँ हैं अर्थात् इनसे बढ़कर बल और किसी की भुजाओं में नहीं है। बाँयें हाथ में पुष्पों-सहित दोना है। इनमें साँवला कुमार (रामचन्द्र) हे सखियो! बड़ा सलोना है ॥ ४ ॥

दो०—केहरिकटि पट-पीत-धर सुखमा-सील-निधान।
देखि भानु-कुल-भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान ॥२६६॥

सिंह की-सी (पतली) कमर और उसमें पीत वस्त्र धारण किये हैं, वे शोभा और शील (अच्छे स्वभाव) के स्थान हैं। ऐसे सूर्य्य-वंश के भूषण (रामचन्द्रजी) को देखकर सखियों को अपनी सुध बुध भूल गई ॥ २६६ ॥

चौ०—धरि धीरज एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी ॥
बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू ॥१॥

एक चतुर सखी धीरज धरकर सीताजी का हाथ पकड़कर बोली—पार्वतीजी का ध्यान तो फिर भी कर लेना, अभी राज-किशोरों को क्यों नहीं देख लेतीं ? (इस जगह सयानी कहने का यह प्रयोजन है कि जहाँ सभी सखियाँ अपनी सुध बुध भूल गई थीं, वहाँ इसने धैर्य धरा और इस एक शब्द से इस सखी की मुख्यता सिद्ध हुई। हाथ पकड़कर बोलना इसलिए कि सीताजी आँखें बन्द किये हुए थीं, इससे आँखों का इशारा न समझतीं। यदि पुकारती तो सामने ही राजपुत्र खड़े थे। सखी का कहना व्यंग्य या उपहास लिये हुए है, जिसकी पुष्टि अगली चौपाई के 'सकुचि' शब्द से होती है।) ॥ १ ॥

सकुचि सीय तब नयन उघारे। सनमुख दोउ रघुसिंह निहारे ॥
नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पितापनु मनु अति छोभा ॥२॥

(जब सखी ने व्यंग्य वचनों से सूचित किया) तब सीताजी ने सकुचकर आँखें खोलीं। (इसमें दो मतलब हैं, एक तो यह कि सखी ने मेरा प्रेम समझ लिया, दूसरा यह कि सकुची आँखें खोलीं, क्योंकि ऊपर कह चुके हैं कि सीताजी ने झाँकी में रामचन्द्रजी को हृदय में धर किवाड़ की जगह आँखें बन्द कीं, उसी झाँकी की विरह से डरती हुईं वे आँखें खोलने में कुछ हिचकती हैं। आँख खोलते ही) सामने दोनों रघुवंशी सिंहों को देखा। (यहाँ सिंह की उपमा वीर-रस की है जिससे भविष्य में धनुषभङ्ग की चिन्ता मिटती है।) रामचन्द्रजी की शोभा को नख से चोटी पर्यन्त देखकर और उधर पिता (जनक) का पण यादकर सीताजी का मन बहुत ही क्षोभित हुआ (घबराया) ॥ २ ॥

परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भइ गहरु सब कहहिँ सभीता ॥
पुनि आउब एहि बिरियाँ काली। अस कहि मन बिहँसी एक आली ॥३॥

जब सखियों ने सीताजी को परवश (प्रेम के अधीन) देखा, तब सब डर के कहने लगीं कि बड़ी देर हो गई है। कल इसी वक्त फिर आवेंगी—ऐसा कहकर एक सखी मन में हँसी। (सखी का यह कहना भी व्यंग्यपूर्ण है। इसी से मन में हँसना कहा है।) ॥३॥

गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयेउ बिलंब मातुभय मानी ॥
धरि बड़ि धीर राम उर आने। फिरि आपनपौ पितुबस जाने ॥४॥

उस गूढ़ वाणी को सुनकर सीताजी सकुचाईं और देर हो जाने पर माताजी के बिगड़ने से डरने लगीं। (इस स्थान पर गूढ़ गिरा से क्या क्या बातें सूचित होती हैं ? ऊपर जो

कहा कि 'पुनि आउब इहि बिरियाँ कालो' उससे चतुर सखो ने सूचित किया कि अब चलो, कल फिर इसी वक्त आवेंगी। "देर होती है, चलो" यह न कह कर सखी ने व्यंग्य द्वारा इस बात को सूचित किया। 'पुनि आउब' कहकर उसने सीताजी के हृदय का भाव भी सूचित किया कि वे रामचन्द्रजी को और देखना चाहती हैं।' 'फिर आने' का शब्द ऐसा गूढ़ है कि सीताजी उसे सुनकर लज्जित होती हैं। उधर उसके द्वारा राजपुत्रों को भी संकेत किया कि कल फिर इसी वक्त यहाँ आना, अथवा कल फिर आने की सूचना से उसने सीताजी को सावधान किया कि जो आज इतनी देर करोगी तो कल न आने पाओगी, तथा रामचन्द्रजी को भी यही सूचना दी कि जो आज अधिक देरी हो जायगी तो कल विश्वामित्रजी न आने देंगे। अथवा— यह कि अब आज तो इतना ही प्रेम बस है, कल फिर आवेंगी।]

सीताजी ने बहुत धीरज धरकर रामचन्द्रजी को हृदय में रख लिया। वे अपने को पिताजी के अधीन जानकर वहाँ से लौट पड़ीं॥ ४॥

दो०—देखन मिस मृग बिहँग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीरछबि बाढ़इ प्रीति न थोरि ॥२६७॥

सोताजी हिरन, पक्षी और वृक्षों को देखने के मिस से बारम्बार चलते हुए लौट लौट पड़ती हैं, क्योंकि श्रीरघुवीर की छबि देख देखकर बहुत अधिक प्रीति बढ़ती है। यहाँ पर यह भाव है कि जानकीजी रामचन्द्रजी की छबि को देखकर तृप्त नहीं होतीं। वे बार बार उन्हें देखती थीं। वे जितना उन्हें देखती थीं उतनी ही उनकी प्रीति बढ़ती थी॥ २६७॥

चौ०—जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामल मूरति॥
प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी॥१॥

शिवजी के धनुष को कठिन जानकर वे मन में मसोसने लगीं। फिर भी हृदय में श्याम मूर्त्ति (रामचन्द्रजी) को रखकर चलीं। (यहाँ सन्देह होता है कि जो वे धनुष की कठिनाई को जानती थीं तो फिर श्याम मूर्त्ति को हृदय में धरना व्यर्थ था। इसका भाव इतना ही है कि वे धनुष की कठिनता जान कर भी प्रेम के इतने वश में हो गई थीं कि रामचन्द्रजी का ध्यान हृदय से हटा नहीं सकती थीं।) प्रभु रामचन्द्रजी ने जब सुख, स्नेह, शोभा और गुण की खान जानकी को जाते जाना तो, जैसा आगे की चौपाई में लिखा है, उनका चित्र अपने हृदय पर लिख लिया। सुख, स्नेह, शोभा और गुण इन चारों बातों को तुलसीदासजी ऊपर की चौपाइयों में कह चुके हैं, जैसे—'देखि सीय शोभा सुख पावा'—यह तो सुख हुआ। 'अधिक सनेह देह भइ भोरी' इसमें स्नेह की अधिकता प्रदर्शित की और 'सुन्दरता कहँ सुन्दर करई' इसमें शोभा की और 'देखन मिस मृग बिहँग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि'—इसमें गुण या चतुराई का उल्लेख किया॥ १॥

परम-प्रेम-मय मृदु मसि कीन्हो। चारु चित्त-भीती लिखि लीन्ही॥
गई भवानीभवन बहोरी। बंदि चरन बोली कर जोरी॥२॥

रामचन्द्रजी ने परम प्रेमरूपी कोमल स्याही से अपने हृदय-पटल पर उनका चित्र लिख लिया (मृदु शब्द से प्रेम की विशेषता झलकाई गई है)। सीताजी फिर पार्वतीजी के मन्दिर में गईं और उनके चरणों में प्रणाम कर बोलीं—॥ २ ॥

जय जय गिरि-बर-राज-किसोरी। जय महेस - मुख - चंद-चकोरी ॥
जय गज-बदन-षडानन-माता। जगतजननि दामिनि-दुति-गाता ॥३॥

हे गिरि-बरराज (हिमालय) की किशोरी (पुत्री)! आपकी जय हो! जय हो!! जय हो!!! श्रीमहादेवजी के मुख-चन्द्र की चकोरी! और गजानन (गणेश) और षडानन (स्वामिकार्त्तिक) की माता! जगत् की जननी (पैदा करनेवाली), जिनके शरीर की दमक दामिनी (बिजली) की-सी है, आपकी जय हो। (महेश शब्द से कर्तव्य-शक्ति की अधिकता सूचित की। फिर गजानन सर्व सिद्धि के दाता हैं आप उनकी माता हैं, स्वामिकार्त्तिक जिन्होंने तारकासुर को मारकर देवताओं को अपने अपने लोकों में बैठाया उनकी भी आप माता हैं। जो आप कहें कि हमारा-तुम्हारा क्या सम्बन्ध है? तो आप जगज्जननी हैं, जगत् में मैं भी हूँ।) ॥ ३ ॥

नहिँ तव आदि मध्य अवसाना। अमितप्रभाउ बेद नहिँ जाना ॥
भव-भव-बिभव-पराभव-कारिनि। बिस्वबिमोहनि स्व-बस-बिहारिनि ॥४॥

तुम्हारा आदि, मध्य और अन्त नहीं है। तुम्हारा अतुल प्रभाव है जिसको वेद भी नहीं जानते। तुम संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार की करनेवाली, जगत् को मोहनेवाली और अपनी इच्छा से बिहार करनेवाली हो ॥ ४ ॥

दो०—पतिदेवता सुतीय महँ मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न सकहिँ कहि सहस सारदा सेख ॥२६८॥

हे माता! पतिव्रता स्त्रियों में पहली रेखा आपकी है अर्थात् पातिव्रत्य की दृढ़ता का रास्ता आपही का दिखाया है। आपकी महिमा अतुल और अपार है, जिसको हज़ार सरस्वती और शेष भी नहीं वर्णन कर सकते ॥ २६८ ॥

चौ०—सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बरदायिनि त्रिपुरारि पियारी ॥
देबि पूजि पदकमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिँ सुखारे ॥१॥

तुम्हें सेवन करने से चारों फल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) सुलभ हो जाते हैं। तुम वर की देनेवाली हो। तुम त्रिपुरासुर के मर्दन करनेवाले शिवजी की प्यारी हो। हे देवि! तुम्हारे चरण-कमल पूजकर देवता, मनुष्य, ऋषि सब सुखी हो जाते हैं ॥ १ ॥

मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु सदा उरपुर सबही के ॥
कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही। अस कहि चरन गहे बैदेही ॥२॥

आप मेरे मनोरथ को अच्छी तरह जानती हो, क्योंकि आप सदा सभी के अन्तः-करण में बसती हो। इसलिए प्रत्यक्ष वह मनोरथ प्रकट करने की कोई आवश्यकता नहीं। इतना कहकर (जानकीजी ने गौरीजी के) चरण पकड़ लिये। यहाँ पर कुल को मर्यादा को कैसा अच्छा निबाहा है। कवि ने सीताजी के मुँह से यह नहीं कहाया कि मेरा विवाह रामचन्द्रजी से हो॥ २॥

विनय-प्रेम-बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥
सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ। बोली गौरि हरषु उर भरेऊ॥३॥

श्रीभवानीजी विनय और प्रेम के वश हो गईं, अर्थात् अपना वश न रहा इसी लिए माला खसक पड़ी। (जो माला वरदान रूप देना चाहती थी वह फिसल पड़ी) और मूर्त्ति मुसुकराई-हँसी। सीताजी ने वह प्रसाद (माला) बड़े आदर के साथ सिर पर रख लिया और पार्वतीजी हृदय में आनन्द से भरकर बोलीं। (इस चौपाई पर बहुत सी शङ्कायें लोग किया करते हैं। माला खिसकने का अर्थ तो देवताओं पर चढ़ा हुआ पुष्प आदि फिसल पड़ने से है जो शुभ माना जाता है पर मूर्ति मुसुकराने का कारण क्या? कारण यह था कि गौरीजी से रहा न गया। आपने हँसकर सूचित किया कि अभी ऐसी खिलवाड़ कर रही हो पर तुमको हम जानती हैं, तुम तो वही हो "उपजहिं जासु अंश गुण-खानी। अगणित उमा रमा ब्रह्मानी।" फिर कहा भी है—'प्रतिमा हसन्ति रुदन्ति'। अथवा जानकीजी जो माला गौरीजी को पहिराने लगीं वह उनके हाथ से खिसक पड़ी, बस इसलिए मूर्त्ति मुसुकराई।)॥ ३॥

सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मनकामना तुम्हारी॥
नारदवचन सदा सुचि साचा। सो बर मिलिहि जाहि मन राचा॥४॥

हे सीता! हमसे सत्य आशीस सुनो, तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी। नारदजी का वचन सदा पवित्र और सत्य हुआ करता है; इसलिए जिसमें (तुम्हारा) मन अनुरक्त हुआ है, वही वर तुमको मिलेगा। (इस जगह सीताजी की पिछली उक्ति 'मोर मनोरथ जानहु नीके' ठीक उतरी।)॥ ४॥

छंद—मन जाहि राचेउ मिलिहि सो बर सहज सुंदर साँवरो।
करुनानिधान सुजान सीलसनेह जानत रावरो॥
एहि भाँति गौरि असीस सुनि सिय सहित हिय हरषित अली।
तुलसी भवानिहि पूजि पुनि पुनि मुदितमन मंदिर चली॥

"तुम्हारा मन जिसमें अनुरक्त हुआ है वही सहज श्यामसुन्दर वर (पति) मिलेगा। वह रामचन्द्र करुणा के भण्डार, श्रेष्ठ ज्ञानी हैं, वे तुम्हारे शील, स्नेह को जानते हैं।" इस तरह गौरी के आशीर्वाद को सुनकर सीताजी सखियों-समेत मन में प्रसन्न हुईं। तुलसीदासजी कहते हैं कि फिर बारंबार पार्वतीजी का पूजन कर प्रफुल्लित मन से सीताजी घर को चलीं॥

सो०—जानि गौरि अनकूल सिय-हिय-हरष न जात कहि ।
मंजुल-मंगल-मूल बाम अंग फरकन लगे ॥२६९॥

इस तरह पार्वतीजी को अनुकूल जानकर सीताजी के मन में जो हर्ष हुआ वह कहा नहीं जा सकता। सुन्दर मङ्गल (शुभ) के करनेवाले बाँयें अङ्ग फड़कने लगे ॥ २६९ ॥

चौ०—हृदय सराहत सीय लोनाई। गुरुसमीप गवने दोउ भाई ॥
राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं ॥१॥

रामचन्द्रजी सीताजी के लावण्य का मन में सराहते जाते थे। दोनों भाई गुरु के समीप गये। (लक्ष्मणजी का माता-स्वरूपा सीताजी के सौन्दर्य्य की सराहना उचित न था, इसी लिए इस चौपाई के पूर्वार्ध में रामचन्द्रजी की दशा और उत्तरार्ध में दोनों भाइयों का जाना समझना चाहिए।) रामचन्द्रजी ने विश्वामित्रजी से सब बातें कह दीं, क्योंकि उनका सरल स्वभाव है, छल-कपट ने तो उनको छुआ भी नहीं ॥ १ ॥

सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही। पुनि असीस दुहुँ भाइन्ह दीन्ही ॥
सुफल मनोरथ होहिँ तुम्हारे। राम लषन सुनि भये सुखारे ॥२॥

विश्वामित्रजी ने पुष्प पाकर पूजा की; फिर दोनों भाइयों को आशीर्वाद दिया कि—'तुम्हारे मनोरथ सफल हों'। यह सुनकर राम-लक्ष्मण प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

करि भोजन मुनिवर बिग्यानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी ॥
बिगतदिवस गुरुआयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई ॥३॥

विशेष ज्ञानवान् मुनिवर (विश्वामित्रजी) भोजन करके कुछ पुरानी कथा कहने लगे। दिन बीत गया (तब) गुरु की आज्ञा पाकर दोनों भाई सन्ध्योपासन करने चले ॥ ३ ॥

प्राचीदिसि ससि उयेउ सुहावा। सिय-मुख-सरिस देखि सुख पावा ॥
बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीँ। सीय-बदन-सम हिमकर नाहीँ ॥४॥

पूर्व दिशा में सुहावना चन्द्र उदय हुआ। उसे सीताजी के मुख के समान देखकर रामचन्द्रजी ने बहुत ही सुख पाया। फिर उन्होंने मन में विचार किया कि सीता के मुख के समान चन्द्रमा नहीं है। (क्यों नहीं है, इसका कारण आगे बताया गया है।) ॥ ४ ॥

दो०—जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंकु ।
सिय-मुख-समता पाव किमि चंद बापुरो रंकु ॥२७०॥

जो महा खारा समुद्र उससे तो जन्म, फिर जिसका भाई विष 'हालाहल' (समुद्र ही से चन्द्र पैदा हुआ, उसी में से पहले पहल विष भी निकला)। फिर दिन में मलिन हो जाता है, कलङ्क-समेत भी है। वह बेचारा कङ्गाल चन्द्रमा सीता के मुख की बराबरी कैसे पा सकता है ॥ २७० ॥

चौ०—घटइ बढ़इ बिरहिनि-दुख दाई। ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई॥
कोक-सोक - प्रद पंकजद्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥१॥

चन्द्र घटता है (कृष्णपक्ष में) और बढ़ता है (शुक्लपक्ष में) और वियोगियों को दुःख देता है। अपनी सन्धि पाकर राहु उसे ग्रस भी लेता है। कमलों का द्वेष करनेवाला है। (कमल शाम होते ही बन्द हो जाते और सूर्य उदय होते ही खिलते हैं) और चकवा-चकवी को दुःख देनेवाला (रात में चकवा-चकवी अलग अलग रहते हैं) हे चन्द्रमा, तुझमें ऐसे ऐसे बहुत-से अवगुण भरे हैं॥ १॥

बैदेही-मुख-पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे॥
सिय-मुख-छबि बिधु-ब्याज बखानी। गुरु पहिं चले निसा बड़ि जानी॥२॥

इसलिए विदेह-नन्दिनी (सीता) के मुख को जो चन्द्र की उपमा दी जाय तो बड़ा ही दोष होगा, क्योंकि यह अनुचित होगा। सीताजी के मुख की कान्ति को चन्द्र के बहाने वर्णन करके फिर, बहुत रात गई यह जानकर, वे गुरुजी के पास चले॥ २॥

करि मुनि-चरन-सरोज प्रनामा। आयसु पाइ कीन्ह बिस्रामा॥
बिगतनिसा रघुनायक जागे। बंधु बिलोकि कहन अस लागे॥३॥

वहाँ जाकर मुनि के चरण-कमलों में प्रणाम कर और उनकी आज्ञा पाकर उन्होंने विश्राम किया (सो गये)। रात बीतने पर रघुनाथजी जागे और भाई की ओर देखकर ऐसा कहने लगे—॥ ३॥

उयेउ अरुन अवलोकहु ताता। पंकज-लोक - कोक - सुख-दाता॥
बोले लषन जोरि जुग पानी। प्रभु-प्रभाव-सूचक मृदुबानी॥४॥

हे भाई! कमल, जनसमूह और चकवे को सुख देनेवाला अरुणोदय (प्रातःकाल पूर्व दिशा में लाली का प्रकट होना जो ५६ घड़ी रात बीत जाने और केवल चार घड़ी रह जाने पर होता है) हो गया। इस पर लक्ष्मणजी, प्रभु की महिमा सूचित करनेवाली, मीठी बात हाथ जोड़ कर बोले—॥ ४॥

दो०—अरुनउदय सकुचे कुमुद उडु-गन-जोति मलीन।
तिमि तुम्हार आगमन सुनि भये नृपति बलहीन॥२७१॥

हे नाथ! अरुणोदय होने पर, कुमुद (कांई) सकुच गये और नक्षत्र-गण का तेज मलिन पड़ गया। इसी तरह आपका आना सुनकर राजा लोग बल से हीन हो गये॥ २७१॥

चौ०—नृप सब नखत करहिं उँजियारी। टारि न सकहिं चापतम भारी॥
कमल कोक मधुकर खगनाना। हरषे सकल निसा अवसाना॥१॥

सभी राजा लोग नक्षत्रगण के समान (अपना) प्रकाश करेंगे, परन्तु धनुषरूपी घोर अन्धकार को वे नहीं हटा सकेंगे। रात्रि का अन्त हो जाने से कमल, चकवा, भौंरे तथा अनेक प्रकार के पक्षी सभी प्रसन्न हो गये ॥ १ ॥

ऐसेहिं प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहिं टूटे धनुष सुखारे ॥
उयेउ भानु बिनु स्रम तम नासा। दुरे नखत जग तेजु प्रकासा ॥२॥

हे प्रभु! बस, इसी तरह धनुष टूटने पर आपके सभी भक्त-जन सुखी होंगे। जिस तरह (ज्यों ही) सूर्य उदय हुआ (त्यों ही) बिना परिश्रम अन्धकार का नाश हो गया और तारे छिप गये तथा जगत् में तेज फैल गया। (यहाँ पर सब भक्त कहा है। भगवद्भक्त चार प्रकार के होते हैं—आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, और ज्ञानी। इनमें आर्त्तभक्त 'श्रीजानकीजी हैं, क्योंकि आगे कहा है 'सखि हमरे अति आरति तातें'। जिज्ञासुओं में विश्वामित्र आदि, अर्थियों में जनकादिक और ज्ञानियों में लक्ष्मणादिक हैं। ये सभी धनुषभङ्ग होने पर प्रसन्न होंगे।) ॥ २ ॥

रबि निज-उदय-ब्याज रघुराया। प्रभुप्रतापु सब नृपन्ह दिखाया ॥
तव भुज-बल-महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु-बिघटन-परिपाटी ॥३॥

हे रघुराज! (रघु के वंश में प्रकाशस्वरूप) सूर्य ने अपने उदय होने के बहाने श्रीस्वामी का प्रभाव सब राजाओं को दिखा दिया। (जैसे उदय होते ही अँधेरा मिटा दिया, पर लाखों नक्षत्रों से कुछ न बन पड़ा, वैसे ही एक रामचन्द्र ही धनुष उठा लेंगे और हजारों राजाओं से कुछ न बन पड़ेगा।) सूर्य्य ने उदय द्वारा आपके बाहुबल की महिमा का प्रकाश होना दिखाकर उसके द्वारा धनुष टूटने का उपाय प्रकट किया है। आपके बाहुबल की महिमा किस प्रकार प्रकाशित होगी और उस प्रकाश में किस प्रकार प्रकट हो जायगा कि धनुष टूटने का उपाय क्या है (जो उपाय अभी किसी को सूझ नहीं पड़ता है) यह बात सूर्य्य ने उदय होकर दिखाई है (अर्थात् जैसे सूर्य्य के प्रकाश से संसार की वस्तुओं का रूप प्रकट हो गया है वैसे ही आपका बाहुबल प्रकाशित होने पर धनुष टूटने का उपाय सबको मालूम हो जायगा—सब लोग जान जायँगे कि धनुष आपके बाहुबल द्वारा ही टूट सकता है, दूसरे प्रकार से नहीं।) ॥ ३ ॥

बंधुबचन सुनि प्रभु मुसुकाने। होइ सुचि सहज पुनीत नहाने ॥
नित्यक्रिया करि गुरु पहिं आये। चरनसरोज सुभग सिर नाये ॥४॥

भाई के (इन) वचनों को सुनकर प्रभु (रामचन्द्रजी) मुस्कुराये और स्वभावतः पवित्र और स्वच्छ होकर भी (दन्त-धावनादि विधि से निवृत्त होकर) उन्होंने स्नान किया। नित्य-नियम करके वे गुरुजी के पास आये और उनके सुन्दर चरण-कमलों में सिर नवाया ॥ ४ ॥

सतानंद तब जनक बोलाये। कौसिक मुनि पहिं तुरत पठाये ॥
जनकबिनय तिन्ह आनि सुनाई। हरषे बोलि लिये दोउ भाई ॥५॥

इधर महाराजा जनक ने शतानन्द (पुरोहित) को बुलाया और उन्हें कौशिक (विश्वामित्रजी) के पास भेजा। उन्होंने आकर जनक राजा की प्रार्थना सुनाई। उसे सुन (विश्वामित्रजी) प्रसन्न हुए और उन्होंने दोनों भाइयों को बुलाया ॥ ५ ॥

दो०—सतानंदपद बंदि प्रभु बैठे गुर पहिँ जाइ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब पठएउ जनक बोलाइ ॥२७२॥

रामचन्द्रजी शतानन्दजी के पाँवों में प्रणाम कर गुरुजी (विश्वामित्रजी) के पास जा बैठे। तब मुनिजी ने कहा—हे पुत्र ! चलो, जनक राजा ने बुला भेजा है ॥ २७२ ॥

चौ०—सीयस्वयंबर देखिय जाई। ईस काहि धौं देइ बड़ाई ॥
लषन कहा जसभाजन सोई। नाथ कृपा तव जा पर होई ॥१॥

जाकर सीता का स्वयंवर देखना चाहिए। देखें, ईश्वर किसको बड़ाई देता है। लक्ष्मणजी ने कहा—महाराज ! जिस पर आपकी कृपा होगी वही यशस्वी होगा। (मतलब यह कि जिसको 'सफल मनोरथ होहिं तुम्हारे' का आशीर्वाद हो चुका है वही (रामचन्द्रजी) बड़ाई पावेंगे।) ॥ १ ॥

हरषे मुनि सब सुनि बरबानी। दीन्ह असीस सबहि सुख मानी ॥
पुनि मुनि-बृंद-समेत कृपाला। देखन चले धनुष-मख-साला ॥२॥

इस श्रेष्ठ वाणी को सुनकर विश्वामित्र मुनि तथा और भी सभी ऋषि प्रसन्न हुए और सभी ने सुख मानकर आशीर्वाद (सत्यं भवतु ते वचः—तुम्हारा वचन सत्य हो) दिया। फिर दयालु (रामचन्द्रजी) ऋषि-मण्डली-सहित धनुष-यज्ञ-शाला देखने चले ॥ २ ॥

रंगभूमि आये दोउ भाई। असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई ॥
चले सकल गृहकाज बिसारी। बाल जुवान जरठ नर नारी ॥३॥

दोनों भाई रङ्गभूमि (सभा-मण्डप) में आ गये, ऐसी खबर नगर-निवासियों को मिली। फिर क्या था ! घर के सब काम-काज भुलाकर बालक, जवान, वृद्ध, स्त्री, पुरुष उसी ओर चले ॥ ३ ॥

देखी जनक भीर भइ भारी। सुचि सेवक सब लिये हँकारी ॥
तुरत सकल लोगन्ह पहिँ जाहू। आसन उचित देहु सब काहू ॥४॥

जनक राजा ने देखा कि बड़ी भीड़ हो गई है। उन्होंने पवित्र सेवकों को बुलाया। (पवित्र सेवक कहने से तात्पर्य स्वच्छ वस्त्र आदि पहने तथा निर्दोष स्वभाववाले हैं)। उनसे कहा कि जल्दी सब लोगों के पास जाओ, और सभी को उचित आसन (बैठकें) दो ॥ ४ ॥

दो०—कहि मृदुबचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर नारि।
उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल अनुहारि ॥२७३॥

उन सेवकों ने बड़ी नम्रता से कोमल वचनों में कह कहकर सभी स्त्री-पुरुषों को बिठाया। उत्तम, मध्यम, नीच, लघु सभी को उनकी स्थिति के अनुसार यथायोग्य बिठाया। (तात्पर्य यह कि पहली श्रेणी उत्तम पुरुषों की, दूसरी मध्यम की, तीसरी नीचों की और सबके आगे लघु (बालकों की) थी जिसमें सब अच्छी तरह दीखे।) ॥ २७३ ॥

चौ०—राजकुअँर तेहि अवसर आये। मनहुँ मनोहरता तन छाये॥
गुनसागर नागर बर बीरा। सुंदर स्यामल-गौर-सरीरा॥१॥

उसी समय गुण के समुद्र, चतुर, बड़े शूरवीर, श्याम-सुन्दर, और गौर शरीरवाले राज-पुत्र आये। वे ऐसे मालूम होते थे कि मानों सुन्दरता ने उनके शरीरों को छा रक्खा है। (वैसा सुन्दर कोई नहीं है।) ॥ १ ॥

राजसमाज बिराजत रूरे। उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे॥
जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभुमूरति तिन्ह देखी तैसी॥२॥

वे राज-सभा में ऐसे शोभित हो रहे हैं मानों नक्षत्रों के झुण्ड में दो पूर्ण चन्द्र हैं। उस समय जिनकी भावना (चित्त की वृत्ति) जैसी थी उन्होंने प्रभु (रामचन्द्र जी) की मूर्ति को वैसा ही देखा अर्थात् उनके दर्शन से भिन्न भिन्न स्वभाववालों में भिन्न भिन्न भाव उदय हुए ॥ २ ॥

देखहिँ भूप महा रनधीरा। मनहुँ बीर रस धरे सरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥३॥

बड़े रण-धीर राजाओं ने देखा तो समझे कि वीर-रस, साक्षात् शरीर धरकर आ गया है। (वीर-रस)। कुटिल राजाओं ने प्रभु रामचन्द्र को ऐसा देखा कि मानों भारी भयङ्कर मूर्ति (उनके सम्मुख) है। (भयानक-रस) ॥ ३ ॥

रहे असुर छल छोनिप बेखा। तिन्ह प्रभु प्रगट कालसम देखा॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन-सुख-दाई॥४॥

जो छल से राजाओं के वेष धरे दैत्य लोग थे, उन्होंने तो प्रभु को प्रत्यक्ष काल के समान ही देखा। (रौद्र-रस), और नगर-निवासियों ने दोनों भाइयों को मनुष्यों में भूषणरूप और नेत्रों के सुख देनेवाले देखा। (रतिभाव) ॥ ४ ॥

दो०—नारि बिलोकहिँ हरषि हिय निज-निज-रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सृंगार धरि मूरति परमअनूप॥२७४॥

स्त्रियाँ अन्तःकरण में प्रसन्न होती हुई अपनी अपनी रुचि के अनुसार (सुन्दर) देखने लगीं। उनके देखने में मानों शृङ्गार-रस प्रत्यक्ष में अत्यन्त सुन्दर शरीर धारण कर आ गया है ॥ २७४ ॥

चौ०—बिदुषन प्रभु बिराटमय दीसा। बहु-मुख-कर-पग-लोचन-सीसा॥
जनकजाति अवलोकहिँ कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिँ जैसे॥१॥

विद्वानों को प्रभु विराट-स्वरूप देख पड़े, जिनके बहुत (हज़ारों) मुख, हाथ, पाँव, नेत्र और मस्तक (आदि) हैं। (ऋग्यजुःसाम वेदत्रयी में यही स्वरूप 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' इत्यादि से प्रतिपादित है।) जनक राजा की जाति या वंश के लोगों ने देखा तो उनको वे ऐसे प्यारे लगे जैसे सगे आत्मीय हों॥ १॥

सहित बिदेह बिलोकहिँ रानी। सिसुसम प्रीति न जाइ बखानी॥
जोगिन्ह परम-तत्त्व-मय भासा। सांत-सुद्ध-सम सहज प्रकासा॥२॥

जनक राजा सहित रानियाँ उन्हें ऐसे देखती हैं जैसे माता पिता छोटे बालक को देखें। उनको प्रीति कहते नहीं बनती। (वात्सल्य-रस)। योगियों को वे परम तत्त्वस्वरूप भासित हुए, मानों मूर्तिमान् शुद्ध शान्त-रस आप ही प्रकाश-स्वरूप प्रकट है॥ २॥

हरिभगतन देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब-सुख-दाता॥
रामहिँ चितव भाव जेहि सीया। सो सनेहु सुख नहिँ कथनीया॥३॥

विष्णुभक्तों ने जो दोनों भाइयों को देखा, तो वे इष्टदेव के समान सभी सुखों के देनेवाले दिखाई पड़े। श्रीसीताजी ने रामचन्द्रजी को जिस भाव से देखा वह प्रेम मुँह से कहते नहीं बनता॥ ३॥

उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहइ कबि कोऊ॥
जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥४॥

श्रीसीताजी भी उस (आनन्द) का अनुभव हृदय में कर रही हैं पर कह नहीं सकतीं। (जब खुद पानेवाली भी नहीं कह सकतीं तब) कोई कवि किस तरह कह सके। (यों) जिनका जैसा भाव था उन्हें कोशलाधीश रामचन्द्रजी वैसे ही दिखाई पड़े। (श्रीमद्भगवद्गीता में जो कहा है कि—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्—जो जिस भाव से मेरी शरण आते हैं उन्हें मैं उसी भाव से मिलता हूँ, बस यह दर्शन वैसा ही हुआ।)॥ ४॥

दो०—राजत राजसमाज महँ कोसल-राज-किसोर।
सुंदर-स्यामल-गौर-तनु बिस्व-बिलोचन-चोर॥२७५॥

उस राज-सभा में श्याम-सुन्दर और गौराङ्ग-सुन्दर, संसार के नेत्रों को चुरानेवाले, श्रीकोसलाधीश (दशरथ) के पुत्र जुगलकिशोर प्रकाशित हो रहे हैं। (यहाँ पर विश्वविलोचन चोर शब्द में बड़ा रहस्य भर दिया है। दुनिया में कहा जाता है कि चोर आँखों का काजल भी चुरा लेगा, पर यहाँ तो पूरी आँखों को ही और वह भी भरी सभा में सभी के समक्ष चुरा लेनेवाले अद्भुत चोर ये हैं।)॥ २७५॥

चौ०—सहज मनोहरमूरति दोऊ। कोटि-काम-उपमा लघु सोऊ॥
सरद-चंद-निंदक मुख नीके। नीरजनयन भावते जी के॥१॥

दोनों मूर्त्ति स्वाभाविक ही मनोहर हैं। यदि उन्हें कोटि कामदेव की उपमा दी जाय तो वह भी थोड़ी है। शरद् ऋतु के चन्द्र की भी निन्दा करनेवाले (उससे भी सुन्दर) उनके श्रेष्ठ मुख हैं और कमल के-से नेत्र देखनेवालों के जी को प्यारे लगनेवाले हैं॥ १॥

चितवनि चारु मार-मद-हरनी। भावत हृदय जात नहिँ बरनी॥
कलकपोल स्रुतिकुंडल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला॥२॥

दोनों की सुन्दर चितवन (कटाक्ष) कामदेव के मद को मर्दन करनेवाली है और (जो दर्शन पा रहे हैं उनके) मन को प्यारी लग रही है, पर (वाणी से) वर्णन नहीं करते बनता। सुन्दर गाल हैं, कानों में हिलते हुए कुण्डल हैं, ठुड्ढी और ओंठ सुन्दर हैं, बोली कोमल है॥ २॥

कुमुद-बंधु-कर-निंदक हाँसा। भृकुटी बिकट मनोहर नासा॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीँ। कच बिलोकि अलि अवलि-लजाहीँ॥३॥

कुमुदिनी के मित्र चन्द्रमा की किरणों का तिरस्कार करनेवाला हास्य है, टेढ़ी भौंहें हैं, नाक मनोहर है। बड़े ललाट पर सुन्दर तिलक झलक रहे हैं और उनके केशों को देखकर भौंरों की श्रेणियाँ लजा जाती हैं। (क्योंकि वे उनसे भी बढ़िया काले और चमकीले हैं।)॥ ३॥

पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई। कुसुमकली बिच बीच बनाई॥
रेखा रुचिर कंबु कलग्रीवाँ। जनु त्रिभुवनसोभा की सीवाँ॥४॥

मस्तकों में पीली चौगसी टोपियाँ सुहा रही हैं, जिनमें बीच बीच फूलों की कलियाँ गुथी हुई हैं, या कसीदा किया हुआ है। शङ्ख के समान सुन्दर कण्ठ में तीन रेखायें पड़ी हुई हैं मानों वे त्रैलोक्य की शोभा की सीमा हैं॥ ४॥

दो०—कुंजर-मनि-कंठाकलित उरन्ह तुलसिकामाल।
बृषभकंध केहरिठवनि बलनिधि बाहु बिसाल॥२७६॥

गज-मोतियों का सुन्दर कण्ठा (गले में पड़ा है), वक्षःस्थल (छाती) पर तुलसी की माला पड़ी है। बैलों के-से चौड़े मजबूत कन्धे, सिंह की-सी बैठक या आसन है, और विशाल भुज बल के खजाने हैं। (दोहे के पूर्वार्ध में गज-मोती और तुलसी की माला का साथ ही वर्णन है, राज-चिह्न गज-मोती और मुनि-शिष्य का चिह्न तुलसी है।)॥ २७६॥

चौ०—कटि तूनीर पीत पट बाँधे। कर सर धनुष बाम बर काँधे॥
पीत-जग्य-उपवीत सोहाये। नखसिख मंजु महा छबि छाये॥१॥

कमर में तरकस बँधे हैं, पीताम्बर पहने हैं, हाथों में बाण और बायें कंधे पर धनुष हैं। पीला यज्ञोपवीत शोभायमान है। वे नख से चोटी पर्य्यन्त सुन्दर महा-कान्ति से छाये हुए हैं॥ १॥

देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन टरत न टारे॥
हरषे जनकु देखि दोउ भाई। मुनि-पद-कमल गहे तब जाई॥२॥

सभी लोग उनके दर्शन कर सुखी हुए। वे टकटकी लगाये हुए एक नजर से देख रहे हैं, नजर टाले भी नहीं टलती। राजा जनक भी (दोनों भाइयों को देखकर) प्रसन्न हुए और उसी समय उन्होंने विश्वामित्रजी के चरण जा पकड़े॥ २॥

करि बिनती निजकथा सुनाई। रंगअवनि सब मुनिहि देखाई॥
जहँ जहँ जाहिँ कुअँरबर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ॥३॥

जनक महाराज ने प्रार्थना कर अपनी सब कथा सुनाई, और विश्वामित्रजी को रङ्ग-भूमि दिखाई। दोनों श्रेष्ठ राज-पुत्र जहाँ जहाँ जाते हैं, वहाँ ही वहाँ सभी लोग चकित होकर देखने लगते हैं। (यहाँ पर निज-कथा कौन सी कही? कथा यह कि—महाराज! मैं इस धनुष का पूजन नित्य किया करता था, पूजा का स्थान सीता की माता लीपती थीं तो धनुष के आस-पास तो लीपा जाता था, धनुषवाला स्थान बिना लिपा रह जाता था। कार्यवश एक दिन सीता को लीपने की आज्ञा दी गई तो उसने धनुष को हटाकर वह जगह भी लीप दी। पूछ-ताँछ से जब मुझे यह मालूम हुआ तब यह विचित्र शक्ति देख मैंने प्रतिज्ञा की कि जो इस धनुष को उठा ले उसी को मैं यह कन्या ब्याहूँगा। अथवा—महाराज जनक रोज़ धनुष पूजने जाया करते थे। एक दिन साथ साथ सीता भी गईं। पूजन होने के पश्चात् सीताजी ने यह सोचा कि पिताजी को रोज़ आने का परिश्रम मिटा दूँ। बस, उन्होंने वह धनुष लाकर घर में धर दिया। अथवा—सीताजी लड़कियों के साथ खेल रही थीं। चाँई-माँई फिरते फिरते उनके हाथ का धक्का लगने से धनुष हट गया तब राजा जनक ने यह प्रतिज्ञा की। ऐसे ऐसे अनेक कारण हैं। जैसे कल्प कल्प में रामावतार के कारण अनेक हैं, तैसे ही धनुष की प्रतिज्ञा के भी कारण प्रतिकल्प में अलग अलग हैं।)॥ ३॥

निज निज रुख रामहिँ सबु देखा। कोउ न जान कछु मरमु बिसेखा॥
भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ। राजा मुदित महासुख लहेऊ॥४॥

सबको देखने में यह जान पड़ा कि रामचन्द्रजी हमारे ही मुँह के सामने बैठे हैं। किसी ने यह विशेष रहस्य न जाना। विश्वामित्र मुनि ने राजा जनक से कहा कि यह रचना अच्छी है। यह सुनकर राजा प्रफुल्लित हुए, उनको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ॥ ४॥

दो०—सब मंचन्ह तें मंच एक सुंदर बिसद बिसाल।
मुनिसमेत दोउ बंधु तहँ बैठारे महिपाल॥२७७॥

एक मञ्च (तख्त) सभी मञ्चों से ऊँचा और सुन्दर, चौड़ा तथा बढ़िया था। महाराजा जनक ने विश्वामित्र-सहित दोनों भाइयों को वहीं (उस तख्त पर) बिठाया ॥ २७७ ॥

चौ०—प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भये तारे ॥
असि प्रतीति सब के मन माहीं। राम चाप तोरब सक नाहीं ॥१॥

प्रभु (रामचन्द्रजी) को देखकर सब राजा लोग मन में हार गये, जैसे पूर्ण चन्द्र के उदय होने पर तारे (फीके हो जाते हैं)। सभी के मन में ऐसा भरोसा हो गया कि रामचन्द्र धनुष को तोड़ेंगे, इसमें सन्देह नहीं ॥ १ ॥

बिनु भंजेहु भवधनुष बिसाला। मेलिहि सीय रामउर माला ॥
अस बिचारि गवनहु घर भाई। जस प्रताप बल तेज गवाँई ॥२॥

"विशाल (बड़ा भारी) शिवजी का धनुष बिना तोड़े भी सीता रामचन्द्र ही के गले में जयमाला पहिनावेगी। हे भाइयो! ऐसा विचारकर यश, प्रताप, बल और तेज खोकर घर चल दो" ॥ २ ॥

बिहँसे अपर भूप सुनि बानी। जे अबिबेक अंध अभिमानी ॥
तोरेहु धनुष ब्याहु अवगाहा। बिनु तोरे को कुअँरि बियाहा ॥३॥

दूसरे राजा लोग, जो अविचार के कारण अन्धे और घमण्डी थे, यह बात सुनकर खूब हँसे। (और कहने लगे वाह!) "धनुष तोड़ डालने पर भी ब्याह करना कठिन है, बिना तोड़े भला कौन लड़की को ब्याह पावेगा ॥ ३ ॥

एक बार कालहु किन होऊ। सियहित समर जितब हम सोऊ ॥
यह सुनि अपर भूप मुसुकाने। धरमसील हरिभगत सयाने ॥४॥

काल भी क्यों न हो, एक बार तो सीता के निमित्त लड़ाई में हम उसे भी जीतेंगे।" इस बात को सुनकर दूसरे राजा लोग—जो धर्मशील, भगवद्भक्त और चतुर थे—मुस्कुराये ॥ ४ ॥

सो०—सीय बियाहब राम गरबु दूरि करि नृपन्ह को।
जीति को सक संग्राम दसरथ के रनबाँकुरे ॥२७८॥

और कहने लगे कि रामचन्द्रजी सभी राजाओं के घमण्ड को दूरकर सीताजी को ब्याहेंगे। भला राजा दशरथजी के रण-बाँकुरे (लड़ाई लड़ने में बाँके) पुत्रों को लड़ाई में कौन जीत सकता है? ॥ २७८ ॥

चौ०—बृथा मरहु जनि गाल बजाई। मनमोदकन्हि कि भूख बुताई ॥
सिख हमार सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता ॥१॥

व्यर्थ गाल बजाकर मत मरे जाओ, (बकवाद मत करो) मन के लड्डुओं से कहीं भूख गई है ? हमारी अत्यन्त पवित्र सीख को मानकर जी में सीताजी को जगत् की माता जानो ॥ १ ॥

जगतपिता रघुपतिहि बिचारी । भरि लोचन छबि लेहु निहारी ॥
सुंदर सुखद सकल-गुन-रासी । ए दोउ बंधु संभु-उर-बासी ॥२॥

रघुनाथजी को जगत् के पिता विचारकर भर भर आँखों झाँकी देख लो। ये दोनों भाई सुन्दर, सुखदायक, सभी गुणों के समूह और शिवजी के मन के निवासी हैं ॥ २ ॥

सुधासमुद्र समीप बिहाई । मृगजल निरखि मरहु कत धाई ॥
करहु जाइ जा कहुँ जोइ भावा । हम तौ आजु जनमफल पावा ॥३॥

पास ही भरे हुए अमृत के समुद्र को छोड़कर मृग-तृष्णा के जल को देखकर दौड़ दौड़ क्यों प्राण देते हो ? ख़ैर, जिसको जो अच्छा लगे वह करे, हमने तो आज जन्म लेने का फल पा लिया ॥ ३ ॥

अस कहि भले भूप अनुरागे । रूप अनूप बिलोकन लागे ॥
देखहिँ सुर नभ चढ़े बिमाना । बरषहिँ सुमन करहिँ कल गाना ॥४॥

ऐसा कहकर अच्छे राजा लोग प्रेम में भर गये और रामचन्द्रजी के अनुपम स्वरूप को देखने लगे। आकाश में विमानों में चढ़े हुए देवता भी देख रहे हैं और पुष्प-वर्षा करते तथा मधुर गीत गाते हैं ॥ ४ ॥

दो०—जानि सुअवसर सीय तब पठई जनक बोलाइ ।
चतुर सखी सुंदर सकल सादर चलीं लेवाइ ॥२७९॥

जनक राजा ने अच्छा समय जानकर जानकीजी को बुलवा भेजा। चतुर और सुन्दर सभी सखियाँ उन्हें आदर के साथ लिवा ले चलीं ॥ २७९ ॥

चौ०—सियसोभा नहिँ जाइ बखानी । जगदंबिका रूप-गुन-खानी ॥
उपमा सकल मोहि लघु लागी । प्राकृत-नारि-अंग-अनुरागी ॥१॥

सीताजी की शोभा कही नहीं जा सकती। (वे) जगत् की माता, रूप और गुणों की खान हैं। सभी उपमायें (सीताजी को देने में) मुझे हलकी लगीं, क्योंकि वे सभी प्राकृत (संसारी) स्त्रियों के शरीर के वर्णन में लग चुकी हैं ॥ १ ॥

सीय बरनि तेहि उपमा देई । कुकबि कहाइ अजस को लेई ॥
जौँ पटतरिय तीय महँ सीया । जग अस जुवति कहाँ कमनीया ॥२॥

सीताजी का वर्णन करे और (उसमें) यह (प्राकृत, औरों की जूठी) उपमा देकर कौन कुकवि कहावे और अपजस ले? जो स्त्रियों में से किसी की उपमा सीताजी को दी जाय, तो ऐसी रमणीय स्त्री संसार में कहाँ है? ॥ २ ॥

गिरा मुखर तनुअरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिय रमासम किमि बैदेही॥३॥

जो सरस्वती की उपमा दें तो वह मुखर (बहुत बोलनेवाली) हैं (जो स्त्रियों के लिए दोष है)। जो पार्वती की उपमा दें तो वे अर्धाङ्गिनी हैं। यदि रति (कामदेव की स्त्री) की उपमा दें तो वह बेचारी अपने पति को अङ्ग-रहित जानकर महा-दुखी है। जिस लक्ष्मी के विष और मदिरा दोनों प्रिय बन्धु हैं (समुद्र से विष, वारुणी और लक्ष्मी तीनों निकले हैं) उस लक्ष्मी के समान जानकीजी को किस तरह कहें॥ ३ ॥

जौं छबि-सुधा-पयो-निधि होई। परम-रूप-मय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथइ पानिपंकज निज मारू॥४॥

जो छबिरूपी अमृत का समुद्र हो, और दिव्य रूप ही का कछुआ हो और शोभा की रस्सी हो, शृङ्गार-रस ही मंदराचल पर्वत हो (जिससे समुद्र मथा गया था), और स्वयं कामदेव अपने हस्त-कमल से उस समुद्र को मथे॥ ४ ॥

दो०—एहि बिधि उपजइ लच्छि जब सुंदरता-सुख-मूल।
तदपि सकोचसमेत कवि कहहिं सीय सम तूल॥२८०॥

जब ऐसी विधि करने से सुन्दरता और सुख की मूल-कारण एक लक्ष्मी (शोभा) पैदा हो, तब भी कवि सङ्कोच करते हुए उस शोभा या लक्ष्मी को सीताजी के समान कहेंगे॥ २८० ॥

चौ०—चली संग लइ सखी सयानी। गावति गीत मनोहर बानी॥
सोह नवलतनु सुंदर सारी। जगतजननि अतुलित छबि भारी॥१॥

सयानी (सभा की रीति के जाननेवाली) सखियाँ मनोहर वाणी से गीत गाती हुई (सीताजी को) साथ लिवाकर चलीं। नवल (नये, युवा) शरीर पर सुन्दर साड़ी शोभित है, श्रीजगज्जननी की अपार छबि है। (यहाँ पर आधे में शृङ्गार-रस और आधे में देवविषयक रतिभाव जोड़ दिया है जिसमें दोष का परिहार हो जाय।) ॥ १ ॥

भूषन सकल सुदेस सुहाये। अंग अंग रचि सखिन्ह बनाये॥
रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥२॥

सखियों ने सभी गहने जो जहाँ के थे वे वहाँ, अङ्ग अङ्ग में, भली भाँति पहना दिये। जब सीताजी ने रङ्ग-भूमि (सभा-मण्डप) में पैर रक्खा तब (उनके) स्वरूप को देख सभी स्त्री-पुरुष मोहित हो गये॥ २ ॥

हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरषि प्रसून अपछरा गाई॥
पानि सरोज सोह जयमाला। अवचट चितये सकल भुआला॥३॥

देवताओं ने प्रसन्न होकर नगारे बजाये, और फूल बरसाकर अप्सराएँ गाने लगीं। सीताजी के हस्त-कमल में जयमाला सुहा रही है। उन्होंने मानों अनजान में सब राजाओं की ओर देखा (उनकी ओर ध्यान नहीं जमाया, क्योंकि सीताजी तो इस समाज के बीच केवल यह देख रही थीं कि रामचन्द्रजी कहाँ हैं।)॥ ३॥

सीय चकित चित रामहि चाहा। भये मोहबस सब नरनाहा॥
मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई॥४॥

सीताजी चकित चित्त से रामचन्द्रजी को ढूँढ़ने लगीं जिस पर सब राजा लोग मोह के वश हो गये। (फिर) विश्वामित्र मुनि के पास बैठे हुए दोनों भाइयों को जब उन्होंने देखा, तो आँखें ललक कर (दौड़कर) उनसे जा लगीं मानों वे (कई वर्षों का खोया हुआ) निधि पा गईं (अर्थात् सीताजी का व्याकुल चित्त रामचन्द्रजी के दर्शन चाहता था। इसलिए जब सीताजी की दृष्टि रामचन्द्रजी को ढूँढ़ते हुए सब राजाओं की ओर पड़ी तब उस दृष्टि से सब राजा मोहित हो गये। इस प्रकार खोजते हुए सीताजी ने दोनों भाइयों को मुनि के पास बैठे हुए देखा तो उनके नेत्र ललक कर उनसे जा लगे, मानों उन्होंने अपनी खोई हुई निधि पा ली।)॥ ४॥

दो०—गुरु-जन-लाज समाज बड़ देखि सीय सकुचानि।
लागि बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि॥२८१॥

सीताजी उस बड़े समाज को देखकर गुरुजनों (पिता आदि बड़ों) की शरम से सकुचा गईं और हृदय में रघुवीर (रामचन्द्रजी) को लाकर सखियों की ओर देखने लगीं। (उन्होंने लज्जा से रामचन्द्रजी की ओर से दृष्टि हटा ली।)॥ २८१॥

चौ०—रामरूपु अरु सियछबि देखी। नरनारिन्ह परिहरी निमेखी॥
सोचहिं सकल कहत सकुचाहीं। बिधि सन बिनय करहिँ मन माहीं॥१॥

श्रीरामचन्द्र और सीताजी की कान्ति को देखकर स्त्री-पुरुषों ने पलकें गिराना छोड़ दिया (वे एकटक देखते रह गये)। सभी (अपने मन में) सोचते हैं, (पर) कहने में संकोच करते हैं। मन ही मन विधाता से प्रार्थना करते हैं॥ १॥

हरु बिधि बेगि जनकजड़ताई। मति हमार असि देहि सुहाई॥
बिनु बिचारि पन तजि नरनाहू। सीय राम कर करइ बियाहू॥२॥

हे विधाता! जनक की मूर्खता को जल्दी दूर करके उसे हमारी जैसी सुहावनी बुद्धि दे; (जिसमें) नरनाथ (जनक) बिना विचार किये ही (अपने) प्रण को त्याग कर सीता से रामजी का विवाह कर दें॥ २॥

जग भल कहिहि भाव सब काहू। हठ कीन्हे अंतहु उर दाहू॥
एहि लालसा मगन सब लोगू। बर साँवरो जानकी जोगू॥३॥

(ऐसा करने से) संसार भला कहेगा और वह सभी को अच्छा लगेगा। जो हठ ही पकड़े रहेंगे तो अन्त में छाती जलेगी। सभी लोग इसी लालसा में मग्न हैं कि साँवला दूल्हा जानकी के योग्य है॥ ३॥

तब बंदीजन जनक बोलाये। बिरदावली कहत चलि आये॥
कह नृप जाइ कहहु पन मेरा। चले भाट हिय हरष न थोरा॥४॥

(जब ऐसी धूम-धाम हो रही थी) तब राजा जनक ने बंदी-जन (भाट-चारण आदि) बुलवाये। वे लोग बिरदावली (पूर्वजों की बड़ाई और वर्तमान समय तथा कार्य का बड़प्पन) कहते हुए आये। राजा ने कहा कि (तुम) जाकर मेरा पण (शर्त) सुना दो। (सुनते ही) भाट लोग चले। उनके मन में भी बड़ा ही आनन्द हुआ। (कोई कोई ऐसा अर्थ करते हैं कि महाराज के कहने से भाट लोग चले, परन्तु उनके मन में थोड़ा भी हर्ष नहीं था, क्योंकि वे जानते थे कि राजा पण में दृढ़ हैं और पण छोड़े बिना यह ब्याह न होगा।)॥ ४॥

दो०—बोले बंदी बचनबर सुनहु सकल महिपाल।
पनु बिदेह कर कहहिँ हम भुजा उठाइ बिसाल॥२८२॥

वे भाट लोग श्रेष्ठ वचनों से बोले—सम्पूर्ण राजा लोगो सुनो! हम लोग हाथ ऊँचे उठा कर महाराजा जनक का पण (प्रतिज्ञा) सुनाते हैं। ॥ २८२॥

चौ०—नृप-भुज-बलु बिधु सिवधनु राहू। गरुअ कठोर बिदित सब काहू॥
रावनु बानु महाभट भारे। देखि सरासनु गवहिँ सिधारे॥१॥

राजाओं की भुजाओं का बल तो चन्द्रमा है और शिवजी का धनुष राहु है। यह भारी और कठोर है, इसे सभी लोग जानते हैं। रावण और बाणासुर जैसे बड़े भारी योद्धा (पहलवान) धनुष को देखकर धीरे से खिसक गये॥ १॥

सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राजसमाज आजु जेइ तोरा॥
त्रि-भुवन-जय-समेत बैदेही। बिनहिँ बिचार बरइ हठि तेही॥२॥

वही त्रिपुर-भञ्जक (महादेवजी) का यह कठोर धनुष आज (इस) राज-सभा में जिसने तोड़ा उसे जानकी, त्रिलोकी की विजय सहित, अथवा—त्रिलोकी की विजय सहितवाली जानकी बिना किसी बात का (छोटे या बड़े आदि का) विचार किये हठपूर्वक वर लेगी (जयमाला डाल देगी)। (आज कहने से प्रयोजन यह कि कल नहीं, आज ही का दिन इस पण का है। त्रिभुवन विजय-समेत का तात्पर्य यह कि त्रिलोकी में किसी ने धनुष नहीं तोड़ा, इसलिए जो इसे तोड़े वह त्रिलोकी का विजयी होगा।)॥ २॥

सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भटमानी अतिसय मन माषे॥
परिकर बाँधि उठे अकुलाई। चले इष्टदेवन्ह सिरु नाई॥३॥

उस पण को सुनकर सभी राजाओं की इच्छा हुई (कि, हमीं क्यों न पा जायँ)। किन्तु जो अपने को शूर-वीर मानते थे वे (घमण्डी) राजा लोग बड़े क्रोध में भर गये। और घबड़ाकर कमर बाँधकर उठ खड़े हुए और इष्ट देवों को शिर नवाकर (धनुष तोड़ने) चले। (यहाँ पर शङ्का हो सकती है कि इष्टदेवों द्वारा इष्ट क्यों न पूरा हुआ, उनसे धनुष क्यों न टूटा? उत्तर—छली, कपटी लोगों की भक्ति व्यर्थ जाती है। विवेकी राजाओं का विचार तो अगली चौपाई में है ही।)॥ ३॥

तमकि ताकि तकि सिवधनु धरहीं। उठइ न कोटि भाँति बल करहीं॥
जिन्ह के कछु बिचार मन माहीं। चापसमीप महीप न जाहीं॥४॥

वे तमक तमककर (गुस्सा करके) तककर (देखकर) महादेवजी के धनुष[1] को पकड़ते हैं और करोड़ों तरह से बल करते हैं पर (धनुष) नहीं उठता। किन्तु जिन राजाओं के मन में कुछ विवेक या विचार है, वे लोग धनुष के पास ही नहीं फटकते॥ ४॥

दो०—तमकि धरहिं धनु मूढ नृप उठइ न चलहिं लजाइ।
मनहुँ पाइ भट-बाहु-बल अधिक अधिक गरुआइ॥२८३॥

मूर्ख राजा बड़े तपाक से धनुष को पकड़ते हैं, (जब वह) नहीं उठता, तब शरमा कर चल देते हैं। मालूम होता है कि उन शूर-वीरों की भुजाओं का बल भी अपने में खींच कर धनुष और ज्यादा भारी होता जाता है॥ २८३॥

चौ०—भूप सहसदस एकहिं बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥
डगइ न संभुसरासन कैसे। कामीबचनु सतीमनु जैसे॥१॥

१—एक बार दक्ष प्रजापति ने यज्ञ किया। उसमें सभी देवता गया बैठे थे। पीछे से दक्ष सज-धज कर सभा में आये तो सभों ने उनका बहुमान किया पर महादेव, विष्णु और ब्रह्मा ने नहीं किया। दक्ष ने क्रोध में भरकर महादेवजी को कुवाच्य (गालियाँ) कहे और आगे से यज्ञ में उनका भाग बन्द कर दिया। कुछ वर्षों के बाद दक्ष ने फिर इसी लिए यज्ञ ठाना कि, मेरा बन्द किया विभाग प्रचार में आ जाय। इस यज्ञ का निमंत्रण शिवजी को नहीं गया, तथापि पार्वतीजी हठ से अपने पिता के यज्ञ में गईं; किन्तु अपने पति का विभाग और आसन आदि यज्ञ में न देख और अपना भी अनादर पाकर शोक से व्याकुल हो उन्होंने योगाग्नि में अपना शरीर भस्म कर दिया। यह समाचार पा शिवजी ने एक ऐसा धनुष तैयार किया जिससे यज्ञकर्ता दक्ष का सर्वनाश हो जाय। फिर उस धनुष को देवताओं ने लिया, उनसे जनक के पूर्वजों में देवरात ने पाया था। तब से वह जनकपुरी में था। इसी लिए उसको शिव-धनुष कहते हैं।

दस हज़ार राजा एक ही बार (धनुष) उठाने लगे, किन्तु वह टाले टला तक नहीं। (वह) शिव-धनुष किस तरह नहीं डिगता जिस तरह कामी पुरुष के वचन से सती स्त्री का मन चलायमान नहीं होता। (दस हज़ार राजाओं ने क्यों धनुष उठाया? जानकी दस हज़ारों को ब्याह दी जातीं? या एक को—तो किसको? इसका समाधान कई प्रकार से लोग किया करते हैं, जैसे—सबने यह सलाह की कि एक बार सब मिल कर उठा लें फिर युद्ध द्वारा आपस में निबट लेंगे। अथवा—'भूप सहस दस, एकहिं बारा' अर्थात् इन दस हज़ार राजाओं ने एक एक बार अलग अलग धनुष को उठाना चाहा, पर वह न उठा। अथवा—सहस 'बाणासुर' दस 'रावण' दोनों ने एक ही बार साथ साथ उठाया, अलग अलग न उठा तो दोनों ने मिलकर उठाया, अथवा—'एकहिं बारा' एक ही रोज़ दस हज़ार राजाओं ने जुदा जुदा उठाया। अथवा—दस हज़ार राजाओं ने उठाने का यत्न किया उन्हें 'एकहि' एक राजा ने जो समझदार था 'बारा' मना किया कि—'क्यों व्यर्थ मेहनत करते हो?' इत्यादि। पर ये सब क्लिष्ट-कल्पनायें व्यर्थ जान पड़ती हैं। सीधा समाधान यही प्रतीत होता है कि जब सब अलग अलग उठा कर हार गये तब कई हज़ार राजा मिलकर केवल परीक्षा के लिए—केवल यह देखने के लिए कि इतने आदमियों से भी उठता है या नहीं, सीताजी को ब्याहने के लिए नहीं—उसे उठाने लगे।) ॥ १ ॥

सब नृप भये जोग उपहासी। जैसे बिनु बिराग संन्यासी॥
कीरति बिजय बीरता भारी। चले चापकर बरबस हारी॥२॥

सभी राजा लोग हँसी करने के लायक़ हो गये, जैसे बिना वैराग्य (उत्पन्न हुए कोई) संन्यासी हो जाय (तो वह हँसने के लायक़ हो)। (अपनी) कीर्ति, विजय और भारी शूर-वीरता उस धनुष के आगे विवश हो हारकर वे चल दिये॥ २॥

श्रीहत भये हारि हिय राजा। बैठे निज निज जाइ समाजा॥
नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने। बोले बचन रोष जनु साने॥३॥

वे राजा लोग हृदय में हार कर तेज-रहित हो गये और अपने अपने समाज (मण्डली) में जा बैठे। (उन) राजाओं को देखकर जनकजी घबराये और ऐसे वचन बोले मानों वे क्रोध में भरे हुए हैं—॥ ३ ॥

दीप दीप के भूपति नाना। आये सुनि हम जो पनु ठाना॥
देव दनुज धरि मनुजसरीरा। बिपुलबीर आये रनधीरा॥४॥

मैंने जो पण किया है उसे सुनकर, द्वीप द्वीप से अनेक राजा तथा देवता और दानव मनुष्यों के शरीर धारण कर कर और प्रबल रण-धीर शूरवीर (सभी) आये हैं॥ ४॥

दो०—कुअँरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनुदमनीय॥२८४॥

मन-हरनेवाली कुमारी (कन्या), बड़ी भारी विजय और अत्यन्त रमणीय कीर्ति है; परन्तु ब्रह्मा ने मानों इस धनुष को दमन करनेवाला और इन चीजों का पानेवाला (किसी को) बनाया ही नहीं ॥ २८४ ॥

चौ०—कहहु काहि यह लाभु न भावा। काहु न संकरचाप चढ़ावा ॥
रहउ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छुड़ाई ॥१॥

कहिए! यह लाभ किसे नहीं अच्छा लगता? पर किसी ने शंकर के धनुष को न चढ़ाया। अरे भाई! चढ़ाना और तोड़ना तो (दूर) रहा, तिल भर जमीन भी कोई न छुड़ा सका ॥ १ ॥

अब जनि कोउ माखइ भट मानी। बीरबिहीन मही मैं जानी ॥
तजहु आस निज-निज-गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहिबिबाहू ॥२॥

अब कोई अभिमानी शूर योद्धा बुरा न माने। मैंने यह जान लिया कि पृथ्वी वीर-विहीन (बिना शूर वीरों की) हो गई। आशा छोड़ो, अपने अपने घर जाओ। विधाता ने जानकी का विवाह (भाग्य में) नहीं लिखा ॥ २ ॥

सुकृत जाइ जौं पनु परिहरऊँ। कुअँरि कुआँरि रहउ का करऊँ ॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई। तौ पन करि होतेउँ न हँसाई ॥३॥

जो (मैं) प्रण को छोड़ दूँ तो धर्म नष्ट होता है। क्या करूँ! कन्या कुँआरी ही रह जाय। अरे भाई! जो मैं समझता कि पृथ्वी पर कोई सूरमा नहीं है, तो प्रण करके हँसी न कराता ॥ ३ ॥

जनकबचन सुनि सब नरनारी। देखि जानकिहि भये दुखारी ॥
माखे लषन कुटिल भइँ भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौंहैं ॥४॥

राजा जनक के (इन) वचनों को सुनकर सभी स्त्री, पुरुष श्रीजानकी को देखकर दुःखी हुए। (फिर क्या था!) लक्ष्मणजी क्रोध में भर गये, भौंहें टेढ़ी हो गईं, होंठ फड़कने लगे, आँखें क्रोध से भर गईं ॥ ४ ॥

दो०—कहि न सकत रघु-बीर-डर लगे बचन जनु बान।
नाइ राम-पद-कमल सिर बोले गिरा प्रमान ॥२८५॥

वे रघुवीर (रामचन्द्रजी) के डर से कुछ कह नहीं सकते। पर जनक के वचन उन्हें बाण जैसे लगे। फिर वे रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में सिर नवा कर सच्ची बात बोले— ॥२८५॥

चौ०—रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई ॥
कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघु-कुल-मनि जानी ॥१॥

रघु के वंशवालों में जहाँ कोई हो उस समाज में, कोई ऐसी नहीं कहता जैसी अनुचित बात राजा जनक ने कह डाली और वह भी रघु-वंश-भूषण (श्रीरामचन्द्रजी) को विद्यमान (मौजूद) जानते हुए ॥ १ ॥

सुनहु भानु-कुल-पंकज-भानू । कहउँ सुभाव न कछु अभिमानू ॥
जौं तुम्हार अनुसासन पावउँ । कंदुक इव ब्रह्मांड उठावउँ ॥२॥

हे सूर्य-कुल-कमल-दिवाकर श्रीरामचन्द्रजी ! सुनिए । मैं अच्छे भाव से कहता हूँ, कुछ अभिमान से नहीं । जो आपकी आज्ञा पा जाऊँ तो सारे ब्रह्माण्ड को गेंद जैसा उठा लूँ । (इस जगह बोलने में चतुराई है । रघुनाथजी की आज्ञा को बड़प्पन दिया है, अपने को नहीं ।) ॥ २ ॥

काँचे घट जिमि डारउँ फोरी । सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी ॥
तव प्रतापमहिमा भगवाना । का बापुरो पिनाक पुराना ॥३॥

और (उस ब्रह्माण्ड को) कच्चे घड़े के समान फोड़ डालूँ, सुमेरु पर्वत को मूली की नाई तोड़ डालूँ । हे भगवन् ! आपके प्रताप की महिमा के आगे बेचारा पुराना धनुष कौन सी चीज है ? ॥ ३ ॥

नाथ जानि अस आयसु होऊ । कौतुक करउँ बिलोकिय सोऊ ॥
कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउँ । जोजन सत प्रमान लेइ धावउँ ॥४॥

हे नाथ ! ऐसा जानकर आज्ञा हो जाय, तो मैं तमाशा करूँ वह भी देखिए । कमल की डंडी की तरह धनुष को चढ़ा दूँ और उसे लिये सौ योजन तक दौड़ता चला जाऊँ ॥ ४ ॥

दो०—तोरउँ छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ ।
जौं न करउँ प्रभु-पद-सपथ कर न धरउँ धनु भाथ ॥२८६॥

हे नाथ ! आपके प्रताप के बल से मैं इसे खुमी (कुकुरमुत्ता) की डंडी जैसा तोड़ डालूँ । जो (ऐसा) न करूँ तो प्रभु (स्वामी) के चरणों की सौगंध है, (फिर कभी) धनुष और तरकस हाथ में न लूँ ॥ २८६ ॥

चौ०—लषन सकोप बचन जब बोले । डगमगानि महि दिग्गज डोले ॥
सकल लोक सब भूप डेराने । सियहिय हरषु जनक सकुचाने ॥१॥

जब लक्ष्मणजी क्रोधभरे वचन बोले तब पृथ्वी डगमगाई और दिग्गज (पृथ्वी का बोझ थाम रखने के लिए आठों दिशाओं में आठ दिग्गज हैं—ऐरावत, पुंडरीक, वामन, कुमुद, अंजन, पुष्पदंत, सार्वभौम, सुप्रतीक) डोल गये (काँपने लगे), सम्पूर्ण लोग और सारे राजा डर गये, सीताजी के मन में हर्ष हुआ और जनक सकुचा गये ॥ १ ॥

गुरु रघुपति सब मुनि मन माहीँ। मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीँ॥
सयनहिँ रघुपति लषन निवारे। प्रेमसमेत निकट बैठारे ॥२॥

गुरु (विश्वामित्र), रामचन्द्र और सभी ऋषि-गण मन में खूब प्रसन्न हुए और बारंबार पुलकित होने लगे। रामचन्द्रजी ने सैन (इशारा) से लक्ष्मणजी को मना किया और प्रीति के साथ उन्हें अपने पास बिठा लिया॥ २॥

बिस्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति-सनेह-मय बानी॥
उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनकपरितापा ॥३॥

विश्वामित्रजी ने अच्छा अवसर जानकर बड़ी स्नेहभरी वाणी से कहा—हे राम! उठो और शिवजी के धनुष को तोड़ो। हे पुत्र! जनक के सन्ताप को मिटाओ॥ ३॥

सुनि गुरुबचन चरन सिर नावा। हरषु बिषादु न कछु उर आवा॥
ठाढ़ भये उठि सहज सुभाये। ठवनि जुबा मृगराज लजाये ॥४॥

उन्होंने गुरु के वचनों को सुनकर उनके चरणों में सिर नवाया। उनके मन में हर्ष या शोक कुछ न आया (हर्ष, शोक तो अविवेकियों को आता है)। सहज स्वभाव से (आप) उठ खड़े हुए। अपनी ठवनि (ढंग, चाल) से जवान सिंह को भी लज्जित किया (अर्थात् उनकी चेष्टा सिंह की चेष्टा से अधिक गौरवपूर्ण थी।)॥ ४॥

दो०—उदित उदय-गिरि-मंच पर रघुबर बालपतंग।
बिकसे संतसरोज सब हरषे लोचन भृंग ॥२८७॥

मञ्चरूपी उदयाचल पर्वत पर रघुवर-रूपी बाल-सूर्य उदय हुए। (उस समय) संपूर्ण सन्त-रूपी कमल खिले और उनके नेत्ररूपी भँवर प्रसन्न हुए। (भँवर कमल के फूल पर रस पीने को जा बैठता है, इतने में जा संध्या हुई तो फूल बंद हो जाता है और वह अंदर ही क़ैद हो जाता है। प्रातःकाल सूर्य उदय होने पर कमल खिलता है तब वह भँवर निकल भागता है, रात भर की क़ैद से छूटकर खुश होता है।)॥ २८७॥

चौ०—नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन नखतअवली न प्रकासी॥
मानी महिप कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने ॥१॥

राजाओं की (जानकी मिलने की) आशारूपी रात नष्ट हो गई। उनके वचन (दुष्ट वचन जो ऊपर बताये गये हैं)-रूपी नक्षत्रों का प्रकाश मिट गया अर्थात् उनकी बोली बंद हो गई। अभिमानी राजा-रूपी कुमुद (कोंई) सकुचा गये और कपटी राजा-रूपी घुग्घू (उल्लू) छिप गये। (अपना अपना मुँह लेकर कोनों में दबक गये।)॥ १॥

भये बिसोक कोक मुनि देवा। बरषहिँ सुमन जनावहिँ सेवा॥
गुरुपद बंदि सहित अनुरागा। राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा ॥२॥

चकवा-रूपी ऋषियों और देवताओं के शोक मिट गये, और वे फूल बरसा बरसाकर अपनी सेवा जताने लगे। (इतने में) रामचन्द्रजी ने बड़े अनुरागपूर्वक गुरु-चरणों की वन्दना कर ऋषियों से आज्ञा माँगी ॥ २ ॥

सहजहि चले सकल-जग-स्वामी। मत्त - मंजु - बर - कुंजर - गामी ॥
चलत राम सब पुर - नर - नारी। पुलक-पूरि-तन भये सुखारी ॥३॥

सकल जगत् के स्वामी (रामचन्द्रजी) मदोन्मत्त सुन्दर गजराज की चाल से सहज स्वभाव से चले। रामचन्द्रजी के चलते ही शहर के स्त्री-पुरुष शरीर से पुलकित हो बहुत ही सुखी हुए ॥ ३ ॥

बंदि पितर सब सुकृत सँभारे। जौं कछु पुन्य प्रभाव हमारे ॥
तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहिँ राम गनेस गोसाईं ॥४॥

सबों ने पितरों को (पूर्व-पुरुषों को) नमस्कार कर अपने अपने पुण्यों को स्मरण किया कि जो कुछ हमारे (किये) पुण्यों का प्रभाव हो, तो हे प्रभु गणेशजी! शिव-धनुष को कमल की डंडी की नाईं रामचन्द्रजी तोड़ दें ॥ ४ ॥

दो०—रामहिँ प्रेम समेत लखि सखिन्ह समीप बोलाइ।
सीतामातु सनेहबस बचन कहइ बिलखाइ ॥२८८॥

(उधर) सीताजी की माता रामचन्द्रजी को प्रेम-सहित देखकर सखियों को पास बुलाकर स्नेह के वश बिलख कर (करुणा करके) वचन कहने लगीं—॥ २८८ ॥

चौ०—सखि सब कौतुक देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे ॥
कोउ न बुझाइ कहइ नृप पाहीँ। ए बालक अस हठ भल नाहीँ ॥१॥

अरी सखी! जो कोई हमारे हित-चिन्तक कहाते हैं वे भी सब तमाशा देखनेवाले हैं। कोई भी राजा (जनक) को समझाकर नहीं कहता कि ये (रामचन्द्र) बालक हैं। ऐसा हठ (धनुष तोड़ने ही पर कन्या ब्याहूँगा) अच्छा नहीं ॥ १ ॥

रावन बान छुआ नहिँ चापा। हारे सकल भूप करि दापा ॥
सो धनु राज-कुँअर-कर देहीँ। बालमराल कि मंदर लेहीँ ॥२॥

रावण और बाणासुर ने जिसे छुआ तक नहीं और जिस पर सब राजा लोग अभिमान करके हार गये वही धनुष राज-पुत्र के हाथ में देते हैं। अरी! हंस के बच्चे कहीं मन्दराचल पर्वत को उठा सकते हैं? ॥ २ ॥

भूपसयानप सकल सिरानी। सखि बिधिगति कहि जाति न जानी ॥
बोली चतुर सखी मृदु बानी। तेजवंत लघु गनिय न रानी ॥३॥

राजा (जनक) को सभी चतुराई ठंढी पड़ गई है। अरी सखी! विधाता की गति कुछ जानी नहीं जाती। (तब) चतुर सखी कोमल वाणी से बोली—हे रानी! तेजस्वी को छोटा नहीं गिनना चाहिए ॥ ३ ॥

कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोखेउ सुजस सकल संसारा॥
रविमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु त्रि-भुवन-तम भागा॥४॥

.(देखिए) कहाँ तो अपार समुद्र और कहाँ अगस्त्य मुनि जिन्होंने (तीन आचमन में ही) उसे सुखा दिया[1] जिससे उनका सुन्दर यश सारे संसार में हो रहा है। सूर्य-मंडल देखने में तो छोटा सा लगता है, पर उसके उदय से तीनों भुवनों का अँधेरा भाग जाता है ॥ ४ ॥

दो०—मंत्र परमलघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब।
महा-मत्त-गज-राज कहँ बस कर अंकुस खर्ब॥२८९॥

मंत्र तो बिलकुल ही छोटे होते हैं; परन्तु ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सम्पूर्ण देवता उनके अधीन हैं। अंकुश छोटा सा होता है, पर महामस्त गजराज को वश में कर लेता है ॥ २८९ ॥

चौ०—काम कुसुम-धनु-सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥
देबि तजिय संसय अस जानी। भंजब धनुषु राम सुनु रानी॥१॥

कामदेव ने फूलों के धनुष-बाण लिये हुए सम्पूर्ण लोकों को अपने वश कर रक्खा है। (तुम तो इनको हंस के बच्चे समझती हो, पर ये सौन्दर्य्य के साथ वीर-रस से भी भरे हैं जैसे कामदेव) ऐसा समझकर संशय छोड़ दो। हे रानी! रामचन्द्र अवश्य ही धनुष तोड़ देंगे ॥ १ ॥

सखीबचन सुनि भइ परतीती। मिटा बिषादु बढ़ी अतिप्रीती॥
तब रामहिँ बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥२॥

सखी के वचन सुनकर विश्वास हुआ। दुःख मिट गया और बड़ी प्रीति बढ़ी। तब वैदेही (जनक-दुलारी) रामचन्द्र को देखकर मन में डरती हुई जिसकी तिसकी विनती करने लगीं ॥ २ ॥

१—एक समय एक चिड़िया के तीन बच्चों को समुद्र बहा ले गया। इस पर क्रोध कर, उसे सुखा डालने की इच्छा से, वह अपनी चोंच में पानी भर भर कर रोज़ उलीचा करती थी। अगस्त्य मुनि ने यह तमाशा देख चिड़िया से हाल पूछा तो उसने अपना दुःख सुनाया। अगस्त्यजी ने कहा कि इस दुष्ट को हम दंड देंगे। ऐसा कह वे समुद्र के तीर जा स्नान करने लगे। समुद्र ने लहरें लीं; उनमें उनकी पूजा की सामग्री बह गई। अगस्त्यजी ने उस पक्षी के और अपने इस अपराध पर क्रुद्ध हो तीन आचमन किये तो समुद्र सूखकर मैदान हो गया। फिर देवताओं की प्रार्थना पर उन्होंने लघुशंका (पेशाब) कर दी तो समुद्र फिर भर गया। इसी से समुद्र का पानी खारा है।

मनहीं मन मनाव अकुलानी। होउ प्रसन्न महेस भवानी॥
करहु सुफल आपनि सेवकाई। करि हित हरहु चापगरुआई॥३॥

घबराकर मन ही मन मनाने लगीं कि—महादेव-पार्वती प्रसन्न हो। अपनी सेवकाई (जो मैंने की है उस) को सफल करो, (मेरा) हित करके धनुष का भारीपन हर लो॥ ३॥

गननायक बरदायक देवा। आजु लगे कीन्हिउँ तुव सेवा॥
बार बार सुनि बिनती मोरी। करहु चापगुरुता अति थोरी॥४॥

हे गण-नायक, वर देनेवाले देवता! आज तक मैंने आपकी सेवा की है। बारंबार मेरी प्रार्थना को सुनकर धनुष के बोझ को बिलकुल थोड़ा कर दो॥ ४॥

दो०—देखि देखि रघु-बीर-तन सुर मनाव धरि धीर।
भरे बिलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर॥२६०॥

(सीताजी) रामचन्द्रजी की ओर देख देखकर और मन में धीरज धर कर देवताओं को मनाती हैं। नेत्रों में प्रेम के आँसू भर गये हैं और शरीर में पुलकावलि हो गई है॥ २९०॥

चौ०—नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पनु सुमिरि बहुरि मन छोभा॥
अहह तात दारुनहठ ठानी। समुझत नहिँ कछु लाभु न हानी॥१॥

उन्होंने अच्छी तरह आँखें भरकर शोभा देखी, पर पिताजी के प्रण को याद करके मन फिर क्षुभित (बेचैन) हो गया। (वे मन में) कहने लगीं, हाय हाय! पिताजी! आपने कठिन हठ ठाना है। आप लाभ और हानि को कुछ नहीं समझते॥ १॥

सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुधसमाज बड अनुचित होई॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥२॥

मन्त्री तो डरते हैं और कोई समझाता नहीं, विद्वानों की सभा में बहुत अनुचित कार्य हो रहा है। कहाँ तो वह धनुष जिसकी कठिनाई वज्र से भी अधिक है और कहाँ यह श्याम-सुन्दर कोमल अङ्गवाले किशोर-अवस्थावाले राजकुमार!॥ २॥

बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा। सिरिस-सुमन-कन बेधिय हीरा॥
सकल सभा कै मति भई भोरी। अब मोहि संभु-चाप-गति तोरी॥३॥

हे विधाता! मैं किस तरह मन में धीरज रक्खूँ? क्या कभी सिरस के फूलों के कण से भी हीरा बींधा गया है? संपूर्ण सभा की बुद्धि भ्रांत हो गई है। अब तो हे शिवजी के धनुष! मुझे तेरी ही गति है अर्थात् मैं तेरे ही शरण हूँ॥ ३॥

निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहु हरुअ रघुपतिहि निहारी॥
अति परिताप सीयमन माहीं। लवनिमेष जुगसय सम जाहीं॥४॥

अपना जड़पना अर्थात् अचलता लोगों के ऊपर डालकर तुम रामचन्द्रजी को देखकर हलके हो जाओ। (अर्थात् तुम तो हलके होकर उठ जाओ जिससे रामचन्द्रजी उठाकर चढ़ा लें और लोग देखकर आश्चर्य्य से ठक [अचल] हो जायँ)। सीताजी के मन में अत्यन्त पश्चात्ताप है, उनको एक लवकाल या निमेष-काल सौ सौ युग के बराबर जा रहा है ॥ ४ ॥

दो०—प्रभुहि चितइ पुनि चितइ महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिजु-मीन-जुग जनु बिधुमंडल डोल ॥२६१॥

जानकीजी रामचन्द्रजी को देखकर फिर पृथ्वी की ओर देखने लगती हैं। उस समय वे चंचल नेत्र ऐसे लग रहे हैं मानों कामदेव की दो मछलियाँ (कामदेव मीनकेतु कहलाता है) चन्द्र-मण्डल के झूले में झूल रही हैं। (यहाँ जानकीजी का मुख चन्द्र-मण्डल है, नेत्र मछलियाँ हैं।) ॥ २९१ ॥

चौ०—गिराअलिनि मुखपंकज रोकी। प्रगट न लाजनिसा अवलोकी ॥
लोचनजलु रह लोचनकोना। जैसे परम कृपन कर सोना ॥१॥

जानकीजी की वाणीरूपी भँवरी को मुख-कमल ने रोक लिया, लज्जारूपी रात देखकर वह प्रकट नहीं होती (जैसे भँवरी कमल के फूल में जा बैठती है और रात पड़ जाती है तो वह रात भर उसी फूल में क़ैद बैठी रहती है बाहर नहीं निकलती, वैसे ही यहाँ जानकीजी के मुख-कमल से कोई वचन नहीं निकलता)। आँखों के आँसू आँखों के कोनों में ऐसे अटक गये हैं जैसे महा-कृपण आदमी का सोना, (किसी कोने में) गड़ा सो गड़ा, निकलेगा नहीं ॥ १ ॥

सकुची ब्याकुलता बडि जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी ॥
तन मन बचन मोर पनु साचा। रघु-पति-पद-सरोज चितु राचा ॥२॥

सीताजी अपनी बड़ी व्याकुलता (घबराहट) जानकर सकुचा गईं (कि कहीं मेरी व्याकुलता लोग लख न जायँ)। फिर धीरज धर मन में विश्वास लाकर सोचने लगीं कि तन, मन और शरीर (मन, वचन, काया) से जो मेरा सत्य पण (नियम) है और मेरा चित रघुनाथजी के चरण-कमलों में लग गया है ॥ २ ॥

तौ भगवान सकल-उर-बासी। करिहहिं मोहि रघुबर कै दासी ॥
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू ॥३॥

तो सबके अन्तर्यामी भगवान् मुझे रघुवरजी की दासी कर देंगे। क्योंकि जिस पर जिसका सच्चा प्रेम होता है, वह उसे मिलता है—इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥ ३ ॥

प्रभुतन चितइ प्रेमपन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना ॥
सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड़ लघुब्यालहि जैसे ॥४॥

अन्त में सीताजी ने रामचन्द्रजी की ओर देखकर प्रेम का पण ठान लिया (पण यह कि यदि मैं किसी की दासी होऊँगी तो रामचन्द्रजी ही की)। कृपानिधान रामचन्द्र ने सब जान लिया। उन्होंने सीताजी को देखकर फिर धनुष को कैसे ताका जैसे गरुड़ साँप के बच्चे को ताके ॥ ४ ॥

दो०—लषन लखेउ रघुबंस-मनि ताकेउ हरकोदंड।
पुलकि गात बोले बचन चरन चाँपि ब्रह्मंड ॥२६२॥

लक्ष्मणजी ने देखा कि रघुकुल-भूषण ने शिव-धनुष को ताका। बस, वे पुलकित शरीर हो और पाँव से पृथ्वी को दाबकर बोले—(यहाँ पाँव से पृथ्वी इसलिए दाब ली कि पहली बार बोले थे तो पृथ्वी और दिग्गज काँपने लगे थे, अबकी दबे रहें। अथवा लक्ष्मणजी शेषनाग के अवतार थे। उन्होंने देखा कि धनुष टूटते ही पृथ्वी हिलने लगेगी इसलिए उसे पाँव से दबा लिया।) ॥ २९२ ॥

चौ०—दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला ॥
राम चहहिँ संकरधनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा ॥१॥

हे दिग्गजो! और कछुए! और शेष! और वाराह! सभी धीरज के साथ पृथ्वी को पकड़ रक्खो, वह हिलने न पावे। रामचन्द्रजी शंकर के धनुष को तोड़ना चाहते हैं, मेरी आज्ञा को सुनकर तुम सब सावधान हो जाओ। (पुराण की उक्ति के अनुसार पृथ्वी के नीचे दिग्गज, उनके नीचे कछुआ, कछुए के नीचे शेष और शेष के नीचे वाराह है, इसलिए लक्ष्मणजी ने सबको सावधान कर दिया।) ॥ १ ॥

चापसमीप राम जब आये। नरनारिन्ह सुर सुकृत मनाये ॥
सब कर संसय अरु अग्यानू। मंदमहीपन्ह कर अभिमानू ॥२॥

जब रामचन्द्रजी धनुष के पास आये तब स्त्री-पुरुषों ने देवता और अपने अपने पुण्य मनाये। सभी का संशय और अज्ञान, मूर्ख राजाओं का घमंड और—॥ २ ॥

भृगुपति केरि गरब गरुआई। सुर-मुनि-बरन्ह केरि कदराई ॥
सिय कर सोचु जनकपछितावा। रानिन्ह कर दारुन-दुख-दावा ॥३॥

परशुरामजी का अभिमान और गौरव, देवताओं और ऋषियों का कायरपना (कि रामचन्द्र कैसे धनुष तोड़ेंगे), सीताजी का सोच, जनक महाराज का पछतावा, रानियों का कठोर दुःख-दावानल—॥ ३ ॥

संभुचाप बड बोहित पाई। चढ़े जाइ सब संगु बनाई ॥
राम-बाहु-बल-सिंधु अपारू। चहत पार नहिँ कोउ कनहारू ॥४॥

ये सभी महादेवजी के धनुष को एक मजबूत जहाज पाकर साथ बाँधकर (उस पर) जा चढ़े। रामचन्द्रजी की भुजाओं के बलरूपी अपार समुद्र के सब पार जाना चाहते हैं पर कोई कर्णधार (नाव का खेनेवाला) नहीं है (जो उन्हें पार लगा दे)।(तात्पर्य्य यह कि सबका संशय, राजाओं का अभिमान इत्यादि बातें तभी तक थीं जब तक धनुष बिना टूटा हुआ पड़ा था, जहाँ वह टूटा कि ये सब बातें गईं। यदि ये सब बातें बनी रहतीं तो मानों रामचन्द्रजी के बाहुबल की सीमा मिल जाती कि वह केवल ताड़का इत्यादि के वध तक ही थी, शिव-धनुष तोड़ना उस बाहुबल के बाहर था।) ॥ ४ ॥

दो०—राम बिलोके लोग सब चित्र लिखे से देखि।
चितई सीय कृपायतन जानी बिकल बिसेखि ॥२६३॥

रामचन्द्रजी ने सब लोगों को देखा (तो) उन्हें चित्र में लिखे से (बेहोश, कर्तव्य-शून्य) देखकर सीताजी को दयासागर ने (बड़ी दया के साथ) देखा और उन्हें अधिक विकल (बेचैन) जाना ॥ २९३ ॥

चौ०—देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलपसम तेही ॥
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुये करइ का सुधातड़ागा ॥१॥

उन्होंने जानकी को बहुत बेचैन देखा, उन्हें एक एक निमेष-काल (एक बार पलक गिरने का समय) कल्प के बराबर बीत रहा है। जो किसी प्यासे ने बिना पानी मिले शरीर त्याग दिया, तो उसके मर जाने के बाद अमृत का तालाब भी मिल जाय तो वह क्या कर सकता है? ॥ १ ॥

का बरषा जब कृषी सुखाने। समय चुके पुनि का पछताने ॥
अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी ॥२॥

जब खेती सूख गई तो (पानी की) वर्षा किस काम की? समय पर चूक गये (तो) फिर पछताने से क्या लाभ? ऐसा जी में सोचकर रामचन्द्रजी जानकी को देखा और (उनमें) ज्यादा प्रीति देखकर वे पुलकित हो गये ॥ २ ॥

गुरुहिँ प्रनाम मनहिँ मन कीन्हा। अतिलाघव उठाइ धनु लीन्हा ॥
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ। पुनि धनु नभ-मंडल-सम भयऊ ॥३॥

रामचन्द्रजी ने मन ही मन गुरु को प्रणाम किया, (यहाँ गुरु वसिष्ठजी को प्रणाम किया, क्योंकि विश्वामित्रजी को तो प्रत्यक्ष प्रणाम पहले कर चुके हैं) और बहुत फुर्ती से धनुष को उठा लिया। जब उन्होंने वह (धनुष) उठाया (तब) वह बिजली जैसा दमका (और) फिर वह लचकर आकाशमण्डल जैसा (गोलाकार) हो गया। (अर्थात् ऐसी फुर्ती से उठाया कि जैसे बिजली चमक जाय और ऐसा खींचा कि दोनों गोसे मिल जाने से धनुष मण्डलाकार हो

गया। अथवा—धनुष उठाते समय रामचन्द्रजी के मेघ-समान हाथ में वह बिजली जैसा चमका और जब उन्होंने उसे सामने करके खींचा तब श्रीमुख की नील छवि की छाया पड़ने से उसका वर्ण भी आकाश जैसा हो गया।) ॥ ३ ॥

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरेउ भुवन धुनि घोर कठोरा॥४॥

रामचन्द्रजी को धनुष लेते और चढ़ाते या जोर से खींचते किसो ने न देखा। सब खड़े खड़े देखते रह गये। रामचन्द्रजी ने धनुष को उसी क्षण के बीच में तोड़ दिया। उसके कठोर शब्द से संपूर्ण लोक भर गया ॥ ४ ॥

छंद—भरे भुवन घोर कठोर रव रविबाजि तजि मारगु चले।
चिक्करहिँ दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले॥
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हे सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं॥

संपूर्ण लोकों में वह कड़ी आवाज भर गई, जिसे सुनकर सूर्य के घोड़े रास्ता छोड़कर चल पड़े। दिग्गज चिंघाड़ रहे हैं। पृथ्वी काँप रही है। शेष, कूर्म, बाराह सभी छटपटा उठे। देव, दैत्य, ऋषि सब कानों पर हाथ दे देकर बेचैन होकर सोच रहे हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी ने कोदंड का खंडन कर दिया, सब जयजयकार कर रहे हैं। (यहाँ तीनों लोकों में आवाज पहुँचना और उसके परिणाम का होना बतला दिया, जैसे आकाश में आवाज पहुँचने से सूर्य के घोड़ों का रास्ता भूलना, पाताल में पहुँचने से शेष कच्छपादिकों में खलबली, और पृथ्वी का तो प्रत्यक्ष में काँपना, इसी तरह स्वर्ग में देवता, पाताल में दैत्य, पृथ्वी पर मुनि, सब जयजयकार करने लगे।)।

सो०—संकरचाप जहाज सागर रघुबर-बाहु-बल।
बूड़ सो सकल समाज चढ़े जो प्रथमहिँ मोहबस॥२६४॥

शङ्करजी का धनुष ता जहाज था और श्रीरघुनाथजी की भुजाओं का बल समुद्र। उसमें सभी समाज डूब गये (कौन? कि–) जो मोह के अधीन होकर पहले चढ़े थे। (पहले कह चुके हैं कि सबका संशय और अज्ञान, राजाओं का अभिमान, भृगुपति का गर्व, देवताओं और ऋषियों की घबराहट, सीताजी का सोच, जनक का पछतावा और रानियों का दारुण दुःख ये सब धनुष पर चढ़ गये थे और रामचन्द्रजी के बाहु-बलरूपी समुद्र के पार जाना चाहते थे पर कर्णधार कोई न था। एक भारी पर पुरानी नाव पर अधिक लोगों के चढ़ जाने से जो परिणाम होता है वही हुआ। अपार समुद्र में नाव टूट गई और सब डूब मरे। अर्थात् संशय आदि सबका नाश हो गया। २९३ वें दोहे की ऊपरवाली चौपाइयों में जिन बातों का वर्णन तुलसीदासजी ने किया था उसका यहाँ निवाह किया और उसे पूरा उतारा। इस सोरठे के सम्बन्ध में
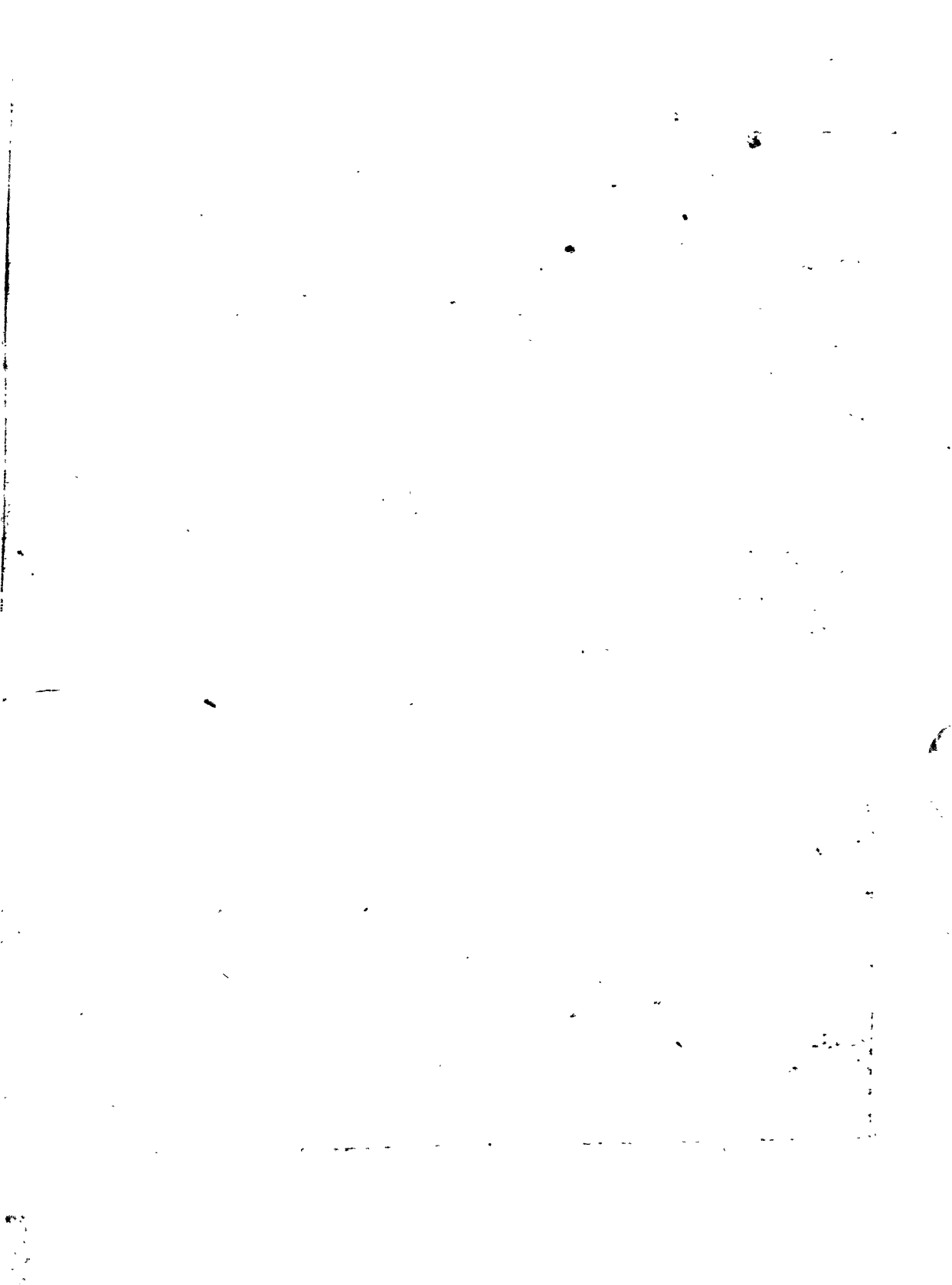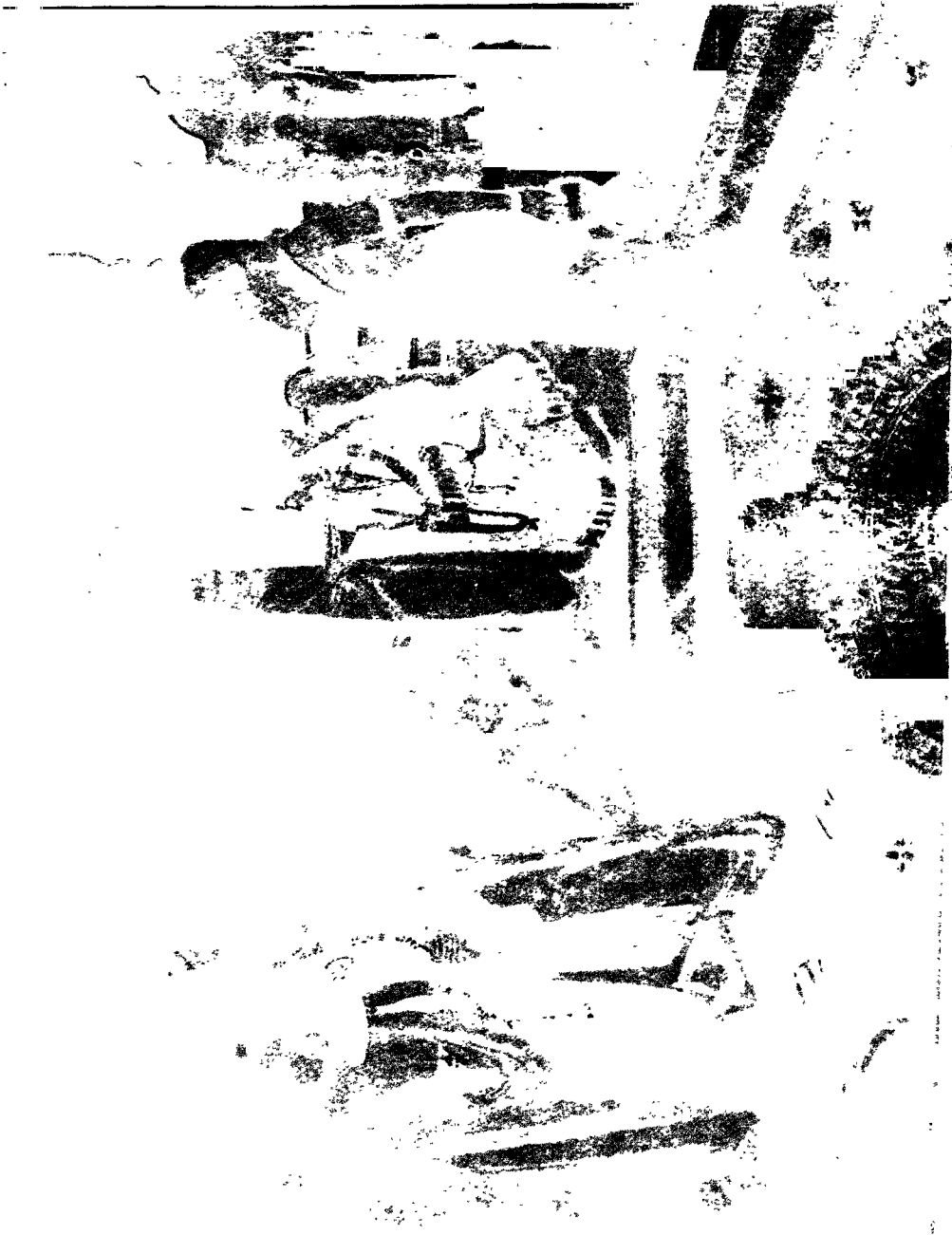
प्रभु दोउ चापखंड महि डारे ।
देखि लोग सब भये सुखारे ॥ पृ० २५३

किंवदन्ती चली आती है कि तुलसीदासजी रामायण बनाते समय इस सोरठे को बनाने में अटक गये, क्योंकि 'बूड़ सो सकल समाज' लिख चुकने पर तो सभी समाज डूब गया, कोई बाक़ी न रहा ? तब हनुमानजी आकर चौथा पद 'चढ़े जो प्रथमहिं मोह बस' लिख गये।) ॥ २९४ ॥

चौ०—प्रभु दोउ चापखंड महि डारे। देखि लोग सब भये सुखारे॥
कौसिक-रूप-पयोनिधि पावन। प्रेमबारि अवगाह सुहावन॥१॥

प्रभु (रामचन्द्र) ने धनुष के दोनों टुकड़े पृथ्वी पर डाल दिये। उन्हें देखकर सभी लोग सुखी हुए। विश्वामित्ररूपी पवित्र समुद्र है जिसमें सुन्दर और अथाह प्रेमरूपी जल है ॥१॥

राम-रूप-राकेस निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥
बाजे नभ गहगहे निसाना। देवबधू नाचहिँ करि गाना॥२॥

रामचन्द्ररूपी पूर्ण चन्द्र को देखकर उसमें पुलकावलिरूपी भारी लहरें बढ़ रही हैं। (अर्थात् विश्वामित्रजी को निःसीम आनन्द हुआ।) आकाश में खूब बाजे बजने लगे और देवांगनाएँ गा गाकर नाचने लगीं ॥ २ ॥

ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहि प्रसंसहिँ देहिँ असीसा॥
बरषहिँ सुमन रंग बहु माला। गावहिँ किन्नर गीत रसाला॥३॥

ब्रह्मादिक देवता, सिद्ध और मुनीश्वर श्रीरामचन्द्रजी की प्रशंसा करके आशीर्वाद दे रहे हैं। अनेक रंगों के फूलों के समूह बरसा रहे हैं, किन्नर-गण रसीले गीत गा रहे हैं ॥ ३ ॥

रही भुवन भरि जय जय बानी। धनुष-भंग-धुनि जात न जानी॥
मुदित कहहिँ जहँ तहँ नर नारी। भंजेउ राम संभुधनु भारी॥४॥

सम्पूर्ण लोकों में जय जय शब्द छा गया है, उसके कारण यह न जान पड़ा कि धनुष टूटने का शब्द कब मिटा (अर्थात् धनुष टूटने के शब्द के मिटने के पहले ही जयजयकार का शब्द फैल गया)। जहाँ तहाँ नर-नारी प्रसन्न हो होकर कह रहे हैं कि शिवजी के भारी धनुष को रामजी ने तोड़ दिया ॥ ४ ॥

दो०—बंदी मागध सूतगन बिरद बदहिँ मतिधीर।
करहिँ निछावरि लोग सब हय गय मनि धन चीर॥२९५॥

धीर बुद्धिवाले बंदी, मागध और सूत बिरदावलि (प्रशंसा और स्तुति) बोल रहे हैं। सब लोग हाथी, घोड़े, मणि (जवाहिरात), धन (रुपये अशर्फ़ी आदि) और वस्त्र निछावर कर रहे हैं ॥ २९५ ॥

चौ०—झाँझि मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल दुंदुभी सुहाई॥
बाजहिँ बहु बाजने सुहाये। जहँ तहँ जुबतिन्ह मंगल गाये॥१॥

झाँझ, मृदङ्ग, शंख, शहनाई, बड़े नगारे, ढोल दुंदुभि इत्यादि बहुत प्रकार के सुहावने बाजे बजने लगे। जहाँ तहाँ स्त्रियाँ मंगल गीत गाने लगीं ॥ १ ॥

सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी। सूखत धानु परा जनु पानी॥
जनक लहेउ सुख सोच बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई॥२॥

सखियों समेत सब रानियाँ खुश हो गईं, जैसे सूखते हुए धान (नाज) पर पानी बरस गया हो। राजा जनक ने सोच दूर करके सुख पाया। वह सुख ऐसा था कि मानों कोई पानी में तैरते तैरते थक गया हो इतने में उसे थाह मिल जाय ॥ २ ॥

श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे॥
सीयसुखहिं बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलुस्वाती॥३॥

धनुष टूटते ही राजा लोग ऐसे श्री-हत हो गये (उनके मुँह ऐसे फीके पड़ गये) जिस तरह दिन में प्रकाशहीन दीपक। सीताजी के सुख का वर्णन किस तरह किया जाय! जैसे पपीही स्वाती के पानी की बूँदें पाकर[1] प्रसन्न हो वैसी ही सीताजी हुईं ॥ ३ ॥

रामहि लषनु बिलोकत कैसे। ससिहि चकोरकिसोरकु जैसे॥
सतानंद तब आयसु दीन्हा। सीता गमन राम पहिँ कीन्हा॥४॥

रामचन्द्रजी को लक्ष्मणजी कैसे देख रहे हैं? जैसे चन्द्रमा को चकोर का बच्चा देखे। उस समय शतानन्द ने आज्ञा दी और सीताजी रामचन्द्र के समीप गईं ॥ ४ ॥

दो०—संग सखी सुंदर चतुर गावहिँ मंगलचार।
गवनी बाल-मराल-गति सुखमा अंग अपार॥२९६॥

उनके साथ सुन्दर चतुर सखियाँ हैं, जो मंगलाचार के गीत गाती जाती हैं। जिनके अंग की शोभा अपार है ऐसी सीताजी हंस के बच्चे की चाल से गईं ॥ २९६ ॥

चौ०—सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसी। छबि-गन-मध्य महाछबि जैसी॥
करसरोज जयमाल सुहाई। बिस्व-बिजय-सोभा जनु छाई॥१॥

सखियों के बीच में सीताजी कैसी शोभित हैं कि जैसे शोभाओं के बीच में एक महा-शोभा हो। उनके हस्त-कमल में जयमाल ऐसी शोभित है, मानो जगत् को जीतने की शोभा छा गई है ॥ १ ॥

१—ज़मीन पर गिरा हुआ पानी पपीहों को नहीं सधता, और सारी बरसात का भी पानी वे नहीं पीवे; वे तो स्वाती नक्षत्र में जो पानी गिरता है उसे ऊपर का ऊपर मुँह में ले लेते हैं। उसी से साल भर उन्हें सन्तोष रहता है।

तन सकोच मन परमउछाहू । गूढ़प्रेम लखि परइ न काहू ॥
जाइ समीप रामछबि देखी । रहि जनु कुअँरि चित्रअवरेखी ॥२॥

सीताजी के शरीर में संकोच है, मन में सर्वोत्कृष्ट उत्साह है। गुप्त प्रेम किसी को जान नहीं पड़ता। उन्होंने पास जाकर रामचन्द्रजी की शोभा देखी तो कुमारी चित्र में लिखी (तसवीर)-सी रह गई ॥ २ ॥

चतुर सखी लखि कहा बुझाई । पहिरावहु जयमाल सुहाई ॥
सुनत जुगल कर माल उठाई । प्रेमबिबस पहिराइ न जाई ॥३॥

यह देखकर चतुर सखी ने समझाकर कहा कि सुन्दर जय-माल रामचन्द्रजी को पहना दो। यह सुनते ही सीताजी ने जयमाला उठाई, पर वह प्रेम के विवश पहनाई नहीं जाती ॥ ३ ॥

सोहत जनु जुगजलज सनाला । ससिहि सभीत देत जयमाला ॥
गावहिँ छबि अवलोकि सहेली । सिय जयमाल रामउर मेली ॥४॥

उस समय सीताजी के दोनों हाथ ऐसे शोभित हो रहे थे कि मानों डंडी सहित दो कमल चन्द्रमा को डरते हुए जयमाल दे रहे हैं। (रघुनाथजी का श्रीमुख चन्द्र है, सीताजी के हाथ कमल हैं। कमलों का चन्द्र के साथ सहज वैर है, क्योंकि चन्द्र जब रात को प्रकाशित होता है तो कमल मुँद जाते हैं।) सहेलियाँ इस शोभा को देखकर (गीत) गाने लगीं और सीताजी ने रामचन्द्रजी के गले में जयमाला डाल दी ॥ ४ ॥

सो०—रघुबरउर जयमाल देखि देव बरषहिँ सुमन ।
सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन ॥२६७॥

रामचन्द्रजी के वक्षःस्थल में जयमाला देखकर देवता फूल बरसाने लगे। जैसे सूर्य को देखकर कुमुद मुरझा जाते हैं वैसे रामचन्द्रजी को देखकर सब राजा लोग सकुचा गये ॥ २६७ ॥

चौ०—पुर अरु ब्योम बाजने बाजे । खल भये मलिन साधु सब राजे ॥
सुर किन्नर नर नाग मुनीसा । जय जय जय कहि देहिँ असीसा ॥१॥

जनकपुर और आकाश में बाजे बजे। दुष्ट लोगों के चेहरे फीके पड़ गये, सज्जन सब प्रसन्न हो गये। देवता, किन्नर, नाग, मनुष्य, ऋषिराज आदि जयजयकार करते हुए आशीर्वाद देने लगे ॥ १ ॥

नाचहिँ गावहिँ बिबुधबधूटी । बार बार कुसुमावलि छूटी ॥
जहँ तहँ बिप्र बेदधुनि करहीँ । बंदी बिरदावलि उच्चरहीँ ॥२॥

अप्सरायें नाचने और गाने लगीं, और बारंबार फूलों की डालियाँ बरसाने लगीं। जहाँ तहाँ ब्राह्मण लोग वेद-ध्वनि कर रहे हैं, बंदी (भाट) लोग बिरदावली (स्तुति) बोल रहे हैं॥ २॥

महि पातालु नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥
करहिं आरती पुर-नर-नारी। देहिं निछावरि बित्त बिसारी॥३॥

पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग में यश छा गया कि रामचन्द्रजी ने धनुष तोड़ा और सीताजी को वर लिया। जनकपुर के नर-नारी आरती कर रहे हैं और अपने वित्त को भूलकर (सामर्थ्य के बाहर) न्योछावर दे रहे हैं॥ ३॥

सोहति सीय राम कै जोरी। छबि सृंगार मनहुँ एक ठोरी॥
सखी कहहिं प्रभुपद गहु सीता। करत न चरनपरस अतिभीता॥४॥

सीता और रामचन्द्रजी की जोड़ी ऐसी शोभायमान है मानों शृङ्गार और छवि दोनों एक जगह इकट्ठे हुए हों। सखियाँ कहती हैं कि सीता! प्रभु (स्वामी) के चरण छुओ। सीताजी बहुत डरती हैं, चरण नहीं छूतीं॥ ४॥

दो०—गौतम-तिय-गति सुरति करि नहिं परसति पग पानि।
मन बिहँसे रघु-बंस-मनि प्रीति अलौकिक जानि॥२९८॥

गौतम की स्त्री (अहल्या) की गति (चरणों की रज लगते ही पत्थर से मनुष्य हो गई) को याद कर सीताजी हाथों से चरणों को नहीं छूती[1] हैं (क्योंकि हाथों में भी रत्न-जड़े गहने हैं जो पत्थर ही हैं)। रघुकुल-भूषण (रामचन्द्रजी) इस अलौकिक प्रीति को जानकर मन में हँसे॥ २९८॥

चौ०—तब सिय देखि भूप अभिलाषे। कूर कपूत मूढ़ मन माषे॥
उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे॥१॥

उस समय सीताजी को देखकर राजा लोग ललचाये। दुष्ट, कुपूत, और मूर्ख राजा मन में क्रोधित हुए। वे अभागे (रामविवाहोत्सव का आनन्द छोड़ कुबुद्धि ठान रहे हैं इसलिए उन्हें अभागे कहा) उठ उठकर और कवच पहन पहन कर जहाँ तहाँ गाल बजाने लगे (डींग हाँकने लगे)॥ १॥

१—रामायण-चम्पू में कहा है—श्रीरामस्य पदारबिन्दरजसा जाता शिला सुन्दरी, तस्मान्न क्रियते मया हि शिरसा तत्पादसंस्पर्शनम्। कर्तव्यं सखि चेत्तदा मणिगणश्चारुर्ललाटे स्थितः, स्त्रीत्वं प्राप्स्यति राघवस्य च मयि प्रीतिस्ततो नाधिका॥ अर्थात्—सीताजी ने कहा कि श्रीरामचन्द्रजी के चरण-कमलों की धूल से पत्थर की शिला सुन्दरी स्त्री हो गई इसलिए मैं उनके चरणों को नहीं छूती। जो मैं पाँव पड़ूँगी तो मेरे सिर के भूषणों में जो रत्न जड़े हैं, वे सब स्त्री हो जायँगे, तो बहुत स्त्रियाँ हो जाने पर मुझ पर इनकी प्रीति अधिक न रहेगी।

लेहु छँडाइ सीय कह कोऊ। धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ॥
तोरे धनुष चाँड़ नहिँ सरई। जीवत हमहिँ कुअँरि को बरई॥२॥

कोई कहने लगे कि सीता को छीन लो, दोनों राज-कुमारों को पकड़कर बाँध दो। धनुष ही के तोड़ डालने से चाह पूरी न हो जायगी। अरे! हमारे जीते जी कुआँरी को कौन वर सकता है? ॥ २ ॥

जौं बिदेह कछु करइ सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥
साधुभूप बोले सुनि बानी। राजसमाजहिँ लाज लजानी॥३॥

जो राजा जनक कुछ सहायता करे तो युद्ध में उसको इन दोनों भाइयों समेत जीत लो। उनके वचनों को सुनकर अच्छे राजा लोग बोले—इस राज-समाज को देख तो लाज भी लजा जाती है (बड़ी निर्लज्जता हो रही है) ॥ ३ ॥

बलु प्रतापु बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई॥
सोइ सूरता कि अब कहुँ पाई। असि बुधि तौ बिधि मुहुँ मसि लाई॥४॥

अरे! बल, प्रताप, वीरता, बड़ाई और मर्यादा तो धनुष के साथ ही साथ चली गई। क्या वही शूरता अब फिर कहीं से पा गये? ऐसी बुद्धि है तभी तो विधाता ने मुँह पर मसी (स्याही) लगा दी है। (काला मुँह कर दिया है) ॥ ४ ॥

दो०—देखहु रामहिँ नयन भरि तजि इरषा मद कोहु।
लषन-रोष-पावक-प्रबल जानि सलभ जनि होहु॥२६६॥

अरे भाई! ईर्ष्या, मद और क्रोध को छोड़कर आँखें भर रामजी को देख लो। लक्ष्मणजी की क्रोधरूपी प्रबल अग्नि में जान बूझकर पतंगा न बनो (नहीं तो भस्म हो जाओगे) ॥ २९९ ॥

चौ०—बैनतेयबलि जिमि चह कागू। जिमि सस चहइ नाग-अरि-भागू॥
जिमि चह कुसल अकारनकोही। सब संपदा चहइ सिवद्रोही॥१॥

जैसे कौआ गरुड़ का भाग लेना चाहे, सिंह का भाग खरगोश लेना चाहे, और बिना कारण क्रोध करनेवाला जिस तरह अपनी कुशल चाहे तथा शिवद्रोही सभी सम्पत्तियों को चाहे ॥ १ ॥

लोभी लोलुप कीरति चहई। अकलंकता कि कामी लहई॥
हरि-पद-बिमुख परमगति चाहा। तस तुम्हार लालचु नरनाहा॥२॥

जैसे लोभी और चटोरा कीर्त्ति चाहे, और कामी (व्यभिचारी) चाहे कि मुझे कलङ्क न लगे तथा भगवान् के चरणों से विमुख मनुष्य जैसे सद्गति चाहे; हे नरेश्वरो! इसी तरह तुम्हारा यह लालच है ॥ २ ॥

कोलाहल सुनि सीय सकानी। सखी लेवाइ गईं जहँ रानी ॥
राम सुभाय चले गुरु पाहीं। सियसनेहु बरनत मन माहीं ॥३॥

कोलाहल (हल्ला-गुल्ला) सुनकर सीताजी डर गईं। इतने में सखियाँ उन्हें वहाँ लिवा ले गईं जहाँ रानी थीं। रामचन्द्रजी सहज स्वभाव से गुरु विश्वामित्रजी के पास मन ही मन सीताजी के स्नेह का वर्णन करते हुए चले ॥ ३ ॥

रानिन्ह सहित सोचबस सीया। अब धौं बिधिहि काह करनीया ॥
भूपबचन सुनि इत उत तकहीं। लषन रामडर बोलि न सकहीं ॥४॥

(इधर) रानियों समेत सीताजी बड़े सोच में हैं कि अब और विधाता को क्या करना है! उन राजाओं के वचनों को सुन सुनकर लक्ष्मणजी इधर उधर देखते हैं परन्तु रामचन्द्रजी के डर के मारे बोल नहीं सकते ॥ ४ ॥

दो०—अरुननयन भृकुटीकुटिल चितवत नृपन्ह सकोप।
मनहुँ मत्त-गज-गन निरखि सिंहकिसोरहि चोप ॥३००॥

लक्ष्मणजी के नेत्र लाल हो गये हैं, टेढ़ी भौंहें हैं, और क्रोधभरी दृष्टि से वे राजाओं की ओर देख रहे हैं। मानों उन्मत्त गजसमूह को देखकर सिंह के बच्चे को उन पर झपटने का उत्साह हो ॥ ३०० ॥

चौ०—खरभरु देखि बिकल पुरनारी। सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी ॥
तेहि अवसर सुनि सिव-धनु-भंगा। आये भृगु-कुल-कमल-पतंगा ॥१॥

(इस तरह) खलबली देखकर जनकपुर की स्त्रियाँ बेचैन हो गईं। वे सब मिलकर राजाओं को गालियाँ देने लगीं। उसी समय शिवजी के धनुष का टूटना सुनकर भृगुवंशरूपी कमल के सूर्य (परशुरामजी[1]) आये ॥ १ ॥

देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने ॥
गौरसरीर भूति भलि भ्राजा। भालबिसाल त्रिपुंड बिराजा ॥२॥

१—राजा कुशाम्बु के गाधि नामक पुत्र हुआ और सत्यवती नाम की कन्या हुई। सत्यवती का विवाह ऋचीक ऋषि के साथ हुआ। एक बार स्त्री और सास दोनों ने ऋषि से पुत्र होने की प्रार्थना की। तब एक चरु ब्राह्म-मंत्र से और एक क्षात्र-मंत्र से सिद्ध कर और उन दोनों को देकर वे तो स्नान करने चले गये, पीछे से भूल से माँ का हिस्सा बेटी और बेटी का हिस्सा माँ खा गई। मुनि ने आने पर ख़बर पाकर कहा, तुम्हारा पुत्र क्षत्रिय और सास का ब्राह्मण होगा। तब फिर स्त्री के गिड़गिड़ाने पर दया कर उन्होंने कहा कि पुत्र नहीं तो पौत्र अवश्य क्षात्र-धर्मी होगा। फिर उनके पुत्र जमदग्नि हुए। सत्यवती कौशिकी नाम की नदी हो गई। जमदग्नि का विवाह प्रसेनजित् राजा की कन्या रेणुका से हुआ। उसके वसुमान् आदि आठ पुत्र हुए। उनमें सबसे छोटे परशुराम हुए।

उन्हें देखते ही सभी राजा लोग ऐसे सिकुड़ गये जैसे बाज की झपट देखकर बटेर छिपें। परशुरामजी का गोरा शरीर है, उस पर सुन्दर भस्म लगी हुई है, मस्तक पर विशाल त्रिपुंड़ तिलक शोभायमान है॥ २॥

सीस जटा ससिबदन सुहावा। रिसिबस कछुक अरुन होइ आवा॥
भृकुटीकुटिल नयन रिस राते। सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते॥३॥

मस्तक में जटाएँ शोभित हैं, चन्द्रमा-सा सुहावना मुख है। वह क्रोध के कारण कुछ कुछ लाल हो आया है। भौंहें टेढ़ी और नेत्र मारे गुस्से के लाल हैं। यों ही किसी की ओर देखते हैं तो मालूम होता है कि बड़े गुस्से में हैं॥ ३॥

बृषभ कंध उर बाहु बिसाला। चारु जनेउ माल मृगछाला॥
कटि मुनिबसन तून दुइ बाँधे। धनु सर कर कुठार कल काँधे॥४॥

बैल जैसे (चौड़े) कंधे हैं, वक्षःस्थल और भुजाएँ विशाल हैं। सुन्दर यज्ञोपवीत, माला, मृगछाला लिये और कमर में मुनि-वस्त्र (वल्कल) तथा दो तरकस बाँधे हुए, हाथ में धनुष-बाण लिये और कंधे पर उत्तम कुठार (कुल्हाड़ा) रक्खे हैं॥ ४॥

दो०—संत बेष करनी कठिन बरनि न जाइ सरूप।
धरि मुनितनु जनु बीररसु आयउ जहँ सब भूप॥२०१॥

आपका संतों का तो वेष है पर करनी कठिन है। उनके स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। जहाँ सब राजा लोग हैं वहाँ मानों वीर-रस ऋषि का रूप धारण कर आया है॥ २०१॥

चौ०—देखत भृगु-पति-बेषु कराला। उठे सकल भयबिकल भुआला॥
पितुसमेत कहि निज निज नामा। लगे करन सब दंडप्रनामा॥ १॥

भृगु-पति (परशुरामजी) के भयंकर वेष को देखते ही सब राजा लोग भय से व्याकुल हो उठ पड़े और अपने अपने पिता समेत अपना अपना नाम बतलाकर सब दंडवत् प्रणाम करने लगे॥ १॥

जेहि सुभाय चितवहिं हितु जानी। सो जानइ जनु आइ खुटानी॥
जनक बहोरि आइ सिरु नावा। सीय बोलाइ प्रनाम करावा॥ २॥

जिसकी ओर वे सहज स्वभाव से हित समझकर भी देख लेते हैं, वह समझता है कि मानों मेरी आयुष्य (उम्र) पूरी हो गई। फिर राजा जनक ने आकर सिर झुका प्रणाम किया और सीताजी को बुलाकर प्रणाम कराया॥ २॥

आसिष दीन्हि सखीं हरषानी। निज समाज लेइ गईं सयानी॥
बिस्वामित्र मिले पुनि आई। पदसरोज मेले दोउ भाई॥ ३॥

सीताजी को आशीर्वाद दिया जिसे सुनकर सखियाँ प्रसन्न हुईं (ऐसी वधुओं को 'सौभाग्यवती पुत्रवती' होने का आशीर्वाद देने की मर्यादा है, इसलिए आशीर्वाद से रामचन्द्रजी के सम्बन्ध में बेफिकरी हो गई) और वे (सीताजी को) अपने (स्त्रियों के) समाज में ले गईं। फिर विश्वामित्रजी आकर मिले। उन्होंने दोनों भाइयों (राम-लक्ष्मण) से चरण-कमलों में प्रणाम कराया ॥ ३ ॥

राम लषन दसरथ के ढोटा। देखि असीस दीन्ह भल जोटा ॥
रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार-मद-मोचन ॥ ४ ॥

उन्होंने कहा कि ये दशरथ के पुत्र राम, लक्ष्मण हैं। सुन्दर जोड़ी देखकर परशुरामजी ने आशीर्वाद दिया। वे रामचन्द्रजी को एकटक देखते रहे, क्योंकि उनका अपार स्वरूप कामदेव के मद को भी नष्ट करनेवाला था ॥ ४ ॥

दो०—बहुरि बिलोकि बिदेह सन कहहु काह अति भीर।
पूछत जानि अजान जिमि ब्यापेउ कोप सरीर ॥३०२॥

फिर राजा जनक की ओर देखकर वे बोले—कहो, इतनी भीड़-भाड़ क्यों है? जानते हुए भी अजान जैसे पूछते पूछते उनके शरीर में क्रोध भर गया ॥ ३०२ ॥

चौ०—समाचार कहि जनक सुनाये। जेहि कारन महीप सब आये ॥
सुनत बचन तब अनत निहारे। देखे चापखंड महि डारे ॥ १ ॥

जिस कारण से सब राजा लोग आये हैं, वह कारण (सीता-स्वयंवर) जनक ने कह सुनाया। उनके वचनों को सुनते सुनते परशुरामजी ने दूसरी ओर ताका तो पृथ्वी पर धनुष के टुकड़े पड़े हुए देखे ॥ १ ॥

अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड जनक धनुष केइ तोरा ॥
बेगि देखाउ मूढ न त आजू। उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू ॥२॥

वे बड़ा क्रोध कर कठोर वचन से बोले—अरे मूर्ख जनक! बता, यह धनुष किसने तोड़ा? अरे मूर्ख! तू उस धनुष तोड़नेवाले का जल्दी दिखा, नहीं तो मैं आज जहाँ तक तेरा राज्य है वहाँ तक की पृथ्वी उलट दूँगा ॥ २ ॥

अति डर उतर देत नृप नाहीं। कुटिलभूप हरषे मन माहीं ॥
सुर मुनि नाग नगर-नर-नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी ॥३॥

राजा जनक भारी डर के मारे जवाब नहीं देते, दुष्ट राजा लोग मन में खुश हुए। देवता, मुनि, नाग और नगर-वासी स्त्री-पुरुष सभी सोच कर रहे हैं और सबके मन में बड़ा भारी भय हो रहा है ॥ ३ ॥

मन पछिताति सीय महतारी। बिधि अब सवरी बात बिगारी॥
भृगुपति कर सुभाव सुनि सीता। अरधनिमेष कलपसम बीता॥४॥

सीताजी की माता मन में पछता रही हैं कि विधाता ने अब बनी बनाई सब बात बिगाड़ दी। सीताजी को परशुरामजी का स्वभाव सुनकर आधा निमेष (पल) भी कल्प के बराबर बीता॥ ४॥

दो०—सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीरु।
हृदय न हरष बिषादु कछु बोले श्रीरघुबीरु॥२०३॥

श्रीरघुवीर (रामचन्द्र) जिनके मन में न कुछ खुशी है न रंज, सब लोगों को डरे हुए देख और जानकी को भी डरी हुई जानकर बोले—॥ २०३॥

चौ०—नाथ संभु-धनु-भंजनि-हारा। होइहि कोउ एक दास तुम्हारा॥
आयसु काह कहिय किन मोही। सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही॥१॥

हे नाथ! शिवजी के धनुष को तोड़नेवाला कोई एक आपका दास होगा। क्या आज्ञा है, मुझे क्यों नहीं कहते? (यह) सुन क्रोधी ऋषि (परशुराम) क्रोध कर बोले—॥ १॥

सेवक सो जो करइ सेवकाई। अरिकरनी करि करिय लराई॥
सुनहु राम जेइ सिवधनु तोरा। सहस-बाहु-सम सो रिपु मोरा॥२॥

अरे! सेवक तो वह होता है जो सेवकाइ करे, न कि शत्रु का-सा काम करके लड़ाई ठाने। राम! सुनो, जिसने शिव-धनुष तोड़ा है वह सहस्रबाहु[1] (सहस्रार्जुन) के समान मेरा वैरी है॥ २॥

सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। न त मारे जइहैं सब राजा॥
सुनि मुनिबचन लषन मुसुकाने। बोले परसुधरहि अपमाने॥३॥

वह वैरी समाज को छोड़कर अलग हो जाय, नहीं तो सब राजा मारे जायँगे। परशुरामजी के इन वचनों को सुनकर लक्ष्मणजी मुस्कुराये और परशुरामजी का अपमान करते हुए बोले—॥ ३॥

१—परशुरामजी के पिता जमदग्नि ऋषि ने एक बार सहस्रार्जुन को निमंत्रण देकर सेना-सहित इच्छा-भोजन कराया। राजा ने पता लगाया कि वनवासी मुनि के यहाँ इतनी सामग्री कहाँ से आई, तो मालूम हुआ कि उनके पास कामधेनु है, उसी का यह प्रताप है। राजा ने मुनि से कामधेनु माँगी, पर मुनि ने नहीं दी। फिर क्या था, राजा ज़बरदस्ती कामधेनु छीन ले गये और उन्होंने जमदग्नि को मार डाला। कामधेनु वहाँ से स्वर्ग को चली गई। परशुराम बाहर गये हुए थे। ख़बर पाते ही महिष्मतीपुरी (महेश्वर) पहुँच कर उन्होंने युद्ध कर सहस्रार्जुन को मार डाला और पृथिवी को क्षत्रिय-रहित करने की प्रतिज्ञा कर २१ बार फिर फिरकर पृथ्वी निःक्षत्रिय कर दी।

बहु धनुहीँ तोरी लरिकाईं। कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं ॥
एहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगु-कुल-केतू ॥४॥

हे गुसाईं, लड़कपन में बहुत-सी धनुषी (छोटे छोटे धनुष) तोड़ी थीं,[1] पर आपने कभी ऐसा क्रोध नहीं किया। इसी धनुष पर इतनी ममता किस कारण है? (बतलाइए।) यह सुन भृगुकुल के पताका रूप (श्रेष्ठ, परशुराम) क्रोध में भरकर बोले—॥ ४ ॥

दो०—रे नृपबालक कालबस बोलत तोहि न सँभार।
धनुहीसम त्रि-पुरारि-धनु बिदित सकल संसार ॥२०४॥

अरे राज-पुत्र! तू काल के वश हो रहा है। तू सँभलकर नहीं बोलता। क्या सारे संसार में प्रसिद्ध यह शिवजी का धनुष उन छोटी छोटी धनुही के बराबर है? ॥ २०४ ॥

चौ०—लषन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना ॥
का छति लाभु जून धनु तोरे। देखा राम नये के भोरे ॥ १ ॥

लक्ष्मणजी ने हँसकर कहा—हे महाराज! मेरी जान में तो सभी धनुष बराबर हैं। महाराज! पुराने धनुष के तोड़ डालने में क्या हानि-लाभ है? इसे तो श्रीरामचन्द्रजी ने नये धनुष के धोके में देखा था ॥ १ ॥

छुवत टूट रघुपतिहु न दोषू। मुनि बिनु काज करिय कत रोषू ॥
बोले चितइ परसु की ओरा। रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा ॥२॥

पर यह तो छूते ही टूट गया। इसमें रामचन्द्रजी का कोई दोष नहीं है। हे मुनि! बिना प्रयोजन क्यों क्रोध करते हैं? तब तो परशुरामजी फरसे की ओर देखकर बोले—अरे दुष्ट! तूने मेरा स्वभाव नहीं सुना है ॥ २ ॥

१—यद्यपि यहाँ साधारण बात कही गई है पर कथकड़ लोग यहाँ पर यह कथा भिड़ाते हैं। जब परशुरामजी ने पृथ्वी निःक्षत्रिय कर तमाम राजाओं के धनुष अपने स्थान में ला इकट्ठे किये और बहुत-से देवताओं के धनुष भी वे लाये तो उनके बोझ से पृथ्वी और शेषजी घबरा गये। तब पृथ्वी माता और शेषजी पुत्र बनकर परशुरामजी के पास इसलिए पहुँचे कि 'कहीं ये ही धनुष राक्षसों को मिल गये तो प्रलय हो जायगा।' वहाँ पृथ्वी ने कहा कि हम माता-पुत्र बड़े दुःखी हैं, भोजन भी नहीं मिलता, आज्ञा हो तो यहीं सेवा कर पड़े रहें। अन्यान्य ऋषियों के पास भी मैं गई थी पर इस पुत्र की चंचलता के कारण उन लोगों ने मुझे शरण नहीं दी, आशा है कि आप इस लड़के के अपराध सहते हुए मुझे सेवा की आज्ञा देंगे। तब परशुरामजी ने दयाकर कहा कि मैं तेरे पुत्र के अपराध क्षमा करूँगा। बस, दोनों रहने लगे। एक दिन जब परशुरामजी बाहिर गये तो उस बालक ने वे सभी धनुष तोड़ डाले। आवाज़ सुनकर उन्होंने आकर देखा तो क्रोध न कर आशीर्वाद दे माता-पुत्र को बिदा किया। तब शेषजी अपना स्वरूप दिखाकर भविष्य में शिव-धनुष का टूटना और उस समय फिर सम्भाषण होना कहकर अंतर्धान हो गये। यहाँ वही लड़कपन में बहुत धनुषों का तोड़ना सूचित किया है।

बालक बोलि बधउँ नहिँ तोही । केवल मुनि जड़ जानहि मोही ॥
बालब्रह्मचारी अतिकोही । बिस्वबिदित छत्रिय-कुल-द्रोही ॥३॥

मैं तुझे बालक समझकर मारता नहीं। अरे मूर्ख! तू मुझे खाली मुनि जानता है। मैं बालब्रह्मचारी महा-क्रोधी हूँ और संसार में क्षत्रियकुल का द्रोही प्रसिद्ध हूँ ॥ ३ ॥

भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही । बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही ॥
सहस-बाहु-भुज-छेदनि-हारा । परसु बिलोकु महीपकुमारा ॥ ४ ॥

मैंने अपनी भुजाओं के बल से पृथ्वी को बिना राजाओं के किया। मैंने कई बार पृथ्वी ब्राह्मणों को दे दी। अरे राज-कुमार! सहस्रबाहु की भुजाओं का काटनेवाला यह मेरा फरसा देख ॥ ४ ॥

दो०—मातुपितहि जनि सोचबस करसि महीपकिसोर ।
गरभन के अरभकदलन परसु मोर अति घोर ॥ ३०५ ॥

अरे राज-किशोर! नाहक़ माता-पिता को सोच में न डाल, मेरा फरसा गर्भ के बालकों को भी मार डालनेवाला बड़ा भयंकर है ॥ ३०५ ॥

चौ०—बिहँसि लषन बोले मृदुबानी । अहो मुनीस महाभट-मानी ॥
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू । चहत उडावन फूँकि पहारू ॥१॥

लक्ष्मणजी हँसकर कोमल वाणी से बोले—अहो मुनिराज! आप तो अपने को बड़े ही शूरवीर माननेवाले हैं! मुझे बारंबार कुल्हाड़ा दिखा रहे हैं। आप फूँक से पहाड़ को उड़ाना चाहते हैं ॥ १ ॥

इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ नाहीँ । जे तरजनी देखि मरि जाहीँ ॥
देखि कुठार सरासन बाना । मैँ कछु कहउँ सहित अभिमाना ॥२॥

महाराज! यहाँ कोई कुम्हड़े की बतिया नहीं है, जो तर्जनी उँगली देखकर मर जाती हैं। (कुम्हड़े को उँगली दिखाते ही छोटे छोटे फल झड़ जाते हैं, ऐसा कहा जाता है।) आपका कुल्हाड़ा और धनुष-बाण (क्षत्रियत्व के निशान) देखकर मैं कुछ अभिमान-समेत कहता हूँ ॥ २ ॥

भृगुकुल समुझि जनेउ बिलोकी । जो कछु कहेहु सहउँ रिस रोकी ॥
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई । हमरे कुल इन्ह पर न सुराई ॥३॥

भृगु ऋषि का वंशज जान और यज्ञोपवीत देखकर (ब्राह्मण जानकर) आपने जो कुछ कहा वह अपने को रोककर मैंने सह लिया। हमारे (रघु) वंश में देवता, ब्राह्मण, भगवद्भक्त और गौ इनके ऊपर शूरता नहीं दिखाई जाती ॥ ३ ॥

बधे पाप अपकीरति हारे। मारतहू पा परिय तुम्हारे॥
कोटि-कुलिस-सम बचन तुम्हारा। ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥४॥

मार डालने से पाप लगे, हार जाने से अपयश हो, इसलिए आप मारो तो भी आपके पाँव ही पड़ना चाहिए। महाराज! करोड़ वज्र के समान तो आपका वचन है। आप व्यर्थ ही धनुष-बाण और कुल्हाड़ा उठाये फिरते हैं॥४॥

दो०—जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनि धीर।
सुनि सरोष भृगु-बंस-मनि बोले गिरा गँभीर॥३०६॥

हे धीर, महामुनि! मैंने उन्हीं धनुष-बाण आदि को देखकर जो अनुचित कहा है उसे क्षमा कीजिए। यह सुनकर भृगु-कुलभूषण (परशुरामजी) क्रोध में भरे हुए गम्भीर वाणी बोले—॥३०६॥

चौ०—कौसिक सुनहु मंद यह बालक। कुटिल कालबस निज-कुल-घालक॥
भानु-बंस-राकेस-कलंकू। निपट निरंकुस अबुध असंकू॥१॥

विश्वामित्र! सुनो, यह बालक गँवार है, टेढ़ा है, काल के वश हो रहा है और अपने कुल का नाश करनेवाला है। यह सूर्य-वंश-रूपी पूर्ण चन्द्रमा का कलंक है, बिलकुल निरंकुश (स्वतंत्र), मूर्ख और निडर है॥१॥

कालकवलु होइहि छन माहीं। कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं॥
तुम्ह हटकहु जौं चहहु उबारा। कहि प्रताप बल रोष हमारा॥२॥

यह क्षण-मात्र में काल का ग्रास हो जायगा। मैं पुकार पुकार कर कहता हूँ, फिर मेरा दोष नहीं है। यदि इसे बचाना चाहते हो तो तुम हमारा बल, प्रताप और क्रोध समझा कर इसे मना कर दो॥२॥

लषन कहेउ मुनि सुजस तुम्हारा। तुम्हहि अछत को बरनइ पारा॥
अपने मुँहु तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥३॥

लक्ष्मण ने कहा—हे मुनिजी! आपके सिवा आपके शुद्ध यश का वर्णन और कौन कर सकता है? क्योंकि आपने अपने ही मुँह से अपनी करनी कई बार कई तरह से खूब वर्णन की है॥३॥

नहि संतो तौ पुनि कछु कहहू। जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू॥
बीरब्रत्ति तुम्ह धीर अछोभा। गारी देत न पावहु सोभा॥४॥

जो अब भी संतोष न हुआ हो तो फिर कुछ कहिए। क्रोध को रोककर दुसह (न सहने लायक) दुःख न सहिए। आपकी वीरता की वृत्ति (काम) है, आप धीर हैं, क्रोध-रहित हैं, आप गाली देते हुए शोभा नहीं पाते॥४॥

दो०—सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु।
बिद्यमान रिपु पाइ रन कायर करहिं प्रलापु ॥३०७॥

जो शूरवीर हैं वे तो युद्ध में करनी (शूरता) करते हैं, अपने मुँह से कहकर (बड़ाई कर) अपने को नहीं जताते। शत्रु को रण में वर्त्तमान पाकर कायर (डरपोक) लोग प्रलाप (बकवाद) किया करते हैं ॥ ३०७ ॥

चौ०—तुम्ह तौ काल हाँक जनु लावा। बार बार मोहि लागि बोलावा ॥
सुनत लषन के बचन कठोरा। परसु सुधारि धरेउ कर घोरा ॥१॥

आप तो जैसे काल को साथ ही लेते आये हैं, और उसे बारंबार मेरे लिए बुला रहे हैं। लक्ष्मणजी के ऐसे कठोर वचन सुनते ही उन्होंने भयंकर फरसे को सुधार कर हाथ में पकड़ा ॥ १ ॥

अब जनि दोष देइ मोहि लोगू। कटुबादी बालकु बधजोगू ॥
बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा। अब यह मरनहार भा साँचा ॥२॥

और वे कहने लगे—अब मुझे लोग दोष न दें, यह बालक कड़वा बोलनेवाला मार डालने के लायक़ है। बालक जानकर इसे मैंने बहुत बचाया। अब यह सचमुच मरने को हो गया है ॥ २ ॥

कौसिक कहा छमिय अपराधू। बाल-दोष-गुन गनहिं न साधू ॥
कर कुठार मैं अकरुनकोही। आगे अपराधी गुरुद्रोही ॥ ३ ॥

विश्वामित्रजी ने कहा—अपराध क्षमा कीजिए। बालक के गुण-दोष महात्मा लोग नहीं गिनते। (अर्थात् बड़े लोग बच्चों के कहे का बुरा नहीं मानते।) परशुरामजी बोले—मैं बड़ा ही क्रोध करनेवाला हूँ, तिस पर मेरे हाथ में फरसा है और सामने गुरु का द्रोही अपराधी खड़ा है (आफ़त का सब सामान इकट्ठा है) ॥ ३ ॥

उतर देत छाँडउ बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे ॥
न तु एहि काटि कुठार कठोरे। गुरुहि उरिन होतेउँ स्रम थोरे ॥४॥

इतने पर भी यह जवाब देता जाता है और मैं जो इसे नहीं मारता हूँ वह हे विश्वामित्रजी! खाली तुम्हारे शील के कारण। नहीं तो इसी तेज़ कुल्हाड़े से काटकर मैं थोड़े ही परिश्रम से गुरु से उरिन हो जाता ॥ ४ ॥

दो०—गाधिसूनु कह हृदय हँसि मुनिहि हरिअरइ सूझ।
अयमय खाँड़ न ऊखमय अजहुँ न बूझ अबूझ ॥३०८॥

विश्वामित्रजी हँसकर मन में कहने लगे कि परशुराम को अभी हरियाली ही सूझ रही है (रामावतार हो जाने पर भी अभी अपना वही प्रताप दिखाई दे रहा है)। अब भी ये नासमझ यह नहीं समझते कि लोहे के खाँड में और ऊख के खाँड में बड़ा अन्तर है। एक प्राण को हरता और दूसरा मीठा भोज्य पदार्थ है। लक्ष्मण ऊख की खाँड के समान नहीं हैं, वे लोहे की खाँड-से हैं। खाँड में श्लेष है ॥ ३०८ ॥

चौ०—कहेउ लषन मुनि सील तुम्हारा। को नहिँ जान बिदित संसारा॥
मातहि पितहि उरिन भये नीके। गुरुरिनु रहा सोच बड़ जी के॥१॥

लक्ष्मणजी ने कहा—हे मुनि, आपके शील को कौन नहीं जानता? वह तो संसार में प्रसिद्ध है। माता-पिता से तो आप भली भाँति उरिन हो ही चुके हैं[1]। गुरु का ऋण (शेष) रह गया जिसका जी में बड़ा सोच था (परशुरामजी के गुरु शिवजी हैं।)॥ १ ॥

सो जनु हमरे माथे काढ़ा। दिन चलि गयउ ब्याज बहु बाढ़ा॥
अब आनिय व्यवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥ २ ॥

शायद वह ऋण हमारे ही सिर निकाला है। उसे चढ़े दिन भी बहुत चले गये, इसी से उसका ब्याज भी बहुत बढ़ गया होगा। अब किसी व्यवहारी (साहूकार) को बुला लाइए, तो मैं तुरंत थैली खोलकर हिसाब चुका दूँ॥ २ ॥

सुनि कटुबचन कुठारु सुधारा। हाय हाय सब सभा पुकारा॥
भृगुबर परसु देखावहु मोही। बिप्र बिचारि बचउ नृपद्रोही॥३॥

परशुरामजी ने कड़वे वचन सुनकर फरसे को सुधारा। सारी सभा में हाहाकार मच गया। लक्ष्मणजी ने फिर कहा—भृगुवंश-पूज्य! मुझे आप फरसा दिखा रहे हैं, पर हे राज-द्रोही महाराज! मैं आपको ब्राह्मण विचारकर बचा रहा हूँ॥ ३ ॥

मिले न कबहुँ सुभट रन गाढे। द्विज देवता घरहिँ के बाढे॥
अनुचित कहि सब लोग पुकारे। रघुपति सैनहिँ लषन निवारे॥४॥

१—परशुराम के पिता जमदग्नि ऋषि ने एक बार अपनी स्त्री रेणुका को जल भरने नदी पर भेजा। वहाँ गंधर्व-गंधर्वी का विहार हो रहा था। रेणुका उसको देखने लगी तो लौटने में देरी हो गई। मुनि ने पर-पुरुष की रति देखना पाप समझकर क्रोधित हो परशुराम के सात भाइयों को बुलाकर माता को मार डालने की आज्ञा दी, पर उन्होंने माता जानकर उसे न मारा, तब उन्होंने परशुराम से कहा और इन्होंने माता और भ्राता सभी को मार डाला। जमदग्नि ने प्रसन्न होकर कहा कि वर माँगो, तो परशुराम ने कहा—मेरी माता और भ्राता जी जायँ और इन्हें यह न समझ पड़े कि मैंने इन्हें मारा! ऋषि ने 'तथास्तु' कहा। वे सब जी उठे और सहस्रार्जुन ने जमदग्नि को गौ न देने के कारण जब मार डाला, तब माता ने २१ बार छाती कूटी। इस पर परशुरामजी ने २१ बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय किया। इस तरह माता-पिता से तो वे उरिन हो गये, पर गुरु से नहीं हुए।

कभी भारी युद्ध में आपको अच्छे योद्धा नहीं मिले, देवता और ब्राह्मण घर ही में बैठे बड़े बना करते हैं। इतने में सभी लोग पुकार उठे कि लड़का अनुचित कह रहा है, तब रघुनाथजी ने लक्ष्मणजी को सैन (इशारे) से मना कर दिया ॥ ४ ॥

दो०—लखनउतर आहुतिसरिस भृगु-बर-कोप कृसानु।
बढत देखि जलसम बचन बोले रघु-कुल-भानु ॥२०९॥

इस तरह लक्ष्मणजी की उत्तररूपी आहुति पाकर परशुरामजी की क्रोध-रूप अग्नि को बढ़ते देख, रघु-वंश के सूर्य रामचन्द्रजी जल के समान शीतल करनेवाले वचन बोले—॥ २०९ ॥

चौ०—नाथ करहु बालक पर छोहू। सूध दूधमुख करिय न कोहू ॥
जौं पै प्रभुप्रभाउ कछु जाना। तौ कि बराबरि करत अयाना ॥१॥

हे नाथ! बालक पर दया कीजिए। सीधा, दुधमुँहा बालक है, इस पर क्रोध न कीजिए। जो कभी श्रीमान् के कुछ भी प्रभाव को जानता होता तो क्या नादान इतनी बराबरी करता ? ॥ १ ॥

जौं लरिका कछु अचगरि करहीं। गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं ॥
करिय कृपा सिसु सेवकु जानी। तुम्ह सम-सील धीर मुनि ग्यानी ॥२॥

जो लड़के कुछ नट-खटी करते हैं, तो पिता-माता और गुरु मन में आनन्दित होते हैं। बालक को अपना सेवक जानकर कृपा कीजिए। आप सदा एक-सा शील रखनेवाले, धीर और ज्ञानी मुनि हैं ॥ २ ॥

रामबचन सुनि कछुक जुड़ाने। कहि कछु लषन बहुरि मुसुकाने ॥
हँसत देखि नखसिख रिस ब्यापी। राम तोर भ्राता बड पापी ॥३॥

रामचन्द्रजी के वचन सुनकर परशुरामजी कुछ ठंढे हुए, इतने में लक्ष्मणजी फिर कुछ कहकर मुस्कुराये। उन्हें हँसते देखकर परशुरामजी को नख से चोटी तक क्रोध चढ़ गया (और वे कहने लगे) राम! तेरा भाई बड़ा पापी है ॥ ३ ॥

गौर सरीर स्याम मन माहीं। काल-कूट-मुख पयमुख नाहीं ॥
सहज टेढ़ अनुहरइ न तोहीं। नीच मीचसम देख न मोहीं ॥४॥

इसका शरीर तो गोरा है, पर यह मन में काला है; यह दुधमुँहा नहीं, कालकूट जहर इसके मुँह में है। यह स्वभाव ही का टेढ़ा है, तेरा अनुसरण नहीं करता। यह नीच मृत्यु के समान (खड़े) मुझे नहीं देखता ॥ ४ ॥

दो०—लषन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल।
जेहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं बिस्वप्रतिकूल ॥२१०॥

इतना सुन लक्ष्मणजी ने फिर हँस कर कहा—सुनिए ऋषिराज ! क्रोध तो पाप का मूल है, जिसके अधीन होकर लोग अयोग्य (काम) कर डालते हैं और सारे संसार से विरोध ठान लेते हैं ॥ २१० ॥

चौ०—मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया । परिहरि कोप करिय अब दाया ॥
टूट चाप नहिँ जुरहि रिसाने । बैठिय होइहहिँ पाय पिराने ॥१॥

हे ऋषिराज ! मैं आपका सेवक हूँ, क्रोध को दूर कर अब मुझ पर दया कीजिए। धनुष तो टूट ही गया, क्रोध करने से वह जुड़ तो जायगा नहीं ! बैठ जाइए, खड़े खड़े पाँव दुखने लगे होंगे ॥ १ ॥

जौं अतिप्रिय तौ करिय उपाई । जोरिय कोउ बड़ गुनी बोलाई ॥
बोलत लषनहि जनक डेराहीं । मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं ॥२॥

जो यह धनुष बहुत ही प्यारा है तो उपाय (यत्न) करना चाहिए, किसी अच्छे कारीगर को बुलाकर जुड़वा लेना चाहिए। ज्यों ज्यों लक्ष्मणजी बोलते जाते हैं, त्यों त्यों राजा जनक डरते हैं। अन्त में उन्होंने कहा—'बस चुप करो ! यह अनुचित अच्छा नहीं है' ॥ २ ॥

थर थर काँपहिँ पुर-नर-नारी । छोट कुमार खोट अति भारी ॥
भृगुपति सुनि सुनि निर्भय बानी । रिस तन जरइ होइ बलहानी ॥३॥

पुर-वासी नर-नारी थर थर काँप रहे थे, और कहते थे कि अरे भाई ! यह लड़का (देखने में) छोटा, (पर स्वभाव का) बड़ा खोटा (तेज) है। परशुराम मुनि का शरीर इन निडर वचनों को सुनकर मारे क्रोध के जला जाता था और बल घटता जाता था ॥ ३ ॥

बोले रामहिँ देइ निहोरा । बचउँ बिचारि बंधु लघु तोरा ॥
मन मलीन तनु सुंदर कैसे । बिष-रस-भरा कनकघट जैसे ॥४॥

रामचन्द्रजी को निहोरा देकर (उन पर एहसान रखकर) परशुरामजी बोले—मैं तेरा छोटा भाई सोचकर इसे बचाता हूँ (नहीं तो मार डालता)। यह मन का मैला और शरीर का गोरा कैसा है ? जैसे सोने का कलश ज़हरीले रस से भरा हुआ हो ॥ ४ ॥

दो०—सुनि लछिमन बिहँसे बहुरि नयन तरेरे राम ।
गुरु समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम ॥३११॥

यह सुनकर लक्ष्मणजी फिर ख़ूब हँसे, तो रामचन्द्रजी ने आँखों से डाँटा। वे उसी वक्त़ सकुचाकर, टेढ़ा बोलना छोड़कर, गुरु (विश्वामित्रजी) के पास जा बैठे ॥ ३११ ॥

चौ०—अतिबिनीत मृदु सीतल बानी । बोले राम जोरि जुगपानी ॥
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना । बालकबचन करिय नहिँ काना ॥१॥

फिर रामचन्द्रजी दोनों हाथ जोड़कर बहुत ही नरम, मीठी और शीतल करनेवाली वाणी बोले—हे नाथ ! सुनिए। आप स्वभाव ही से सुजान (चतुर) हैं, इसलिए बालक के वचन पर कान नहीं देना चाहिए ॥ १ ॥

बररै बालकु एकु सुभाऊ। इन्हहिँ न संत बिदूषहिँ काऊ ॥
तेहि नाहीँ कछु काज बिगारा। अपराधी मैँ नाथ तुम्हारा ॥२॥

बालक और भिड़ का स्वभाव एक ही-सा होता है, इन्हें कोई महात्मा दोष नहीं दिया करते। (बर्र [भिड़] भी छिड़ जाने से काट खाती है, बालक भी छिड़ जाने से नटखटी करता है।) महाराज ! उस (लक्ष्मण) ने तो आपका कुछ काम भी नहीं बिगाड़ा, हे नाथ ! आपका अपराधी तो मैं हूँ ॥ २ ॥

कृपा कोपु बधु बंधु गोसाईँ। मो पर करिय दास की नाईँ ॥
कहिय बेगि जेहि बिधि रिस जाई। मुनिनायक सोइ करउँ उपाई ॥३॥

हे गुसाईं ! आप मुझ पर कृपा, क्रोध, वध, बंधन जो कुछ कीजिए वह मुझे अपना दास समझ कर कीजिए। (जैसे लड़का कुछ अपराध करे तो माँ थप्पड़ भी मारने लगती है तो पोले हाथ से मारती है कि कहीं चोट न लग जाय। बस, इसी तरह दया रखकर क्रोध कीजिए, शत्रु समझकर नहीं।) हे ऋषिराज ! कहिए जिस तरह जल्दी आपका गुस्सा उतर जाय, वही यत्न करूँ ॥ ३ ॥

कह मुनि राम जाइ रिस कैसे। अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे ॥
एहि के कंठ कुठार न दीन्हा। तो मैँ काह कोप करि कीन्हा ॥४॥

परशुरामजी ने कहा—अरे राम ! क्रोध जाय तो कैसे जाय ? अभी तक तेरा छोटा भाई मेरी ओर टेढ़ा देखता है। जो इसके गले में मैंने कुल्हाड़ा न दिया, तो मैंने क्रोध करके भी क्या कर लिया ? ॥ ४ ॥

दो०—गर्भ स्रवहिँ अवनिप-रवँनि सुनि कुठारगति घोर।
परसु अछत देखउँ जियत बैरी भूपकिसोर ॥३१२॥

जिस कुल्हाड़े की भयङ्कर गति को सुनते ही राजाओं की स्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं, (वही फरसा ज्यों का त्यों कंधे पर पड़ा है) उसके रहते मैं शत्रु राज-कुमार को जीता हुआ देखता हूँ ॥ ३१२ ॥

चौ०—बहइ न हाथु दहइ रिस छाती। भा कुठार कुंठित नृपघाती ॥
भयेउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ। मोरे हृदय कृपा कसि काऊ ॥१॥

हाथ चलता नहीं, क्रोध के मारे छाती जलती है, यह राजाओं का घातक कुल्हाड़ा आज कुण्ठित (कुन्द) हो गया। विधाता उलटा हो गया है, मेरा स्वभाव पलट गया है; अरे ! मेरे हृदय में किसी पर कृपा कैसी ! ॥ १ ॥

आजु दया दुखु दुसह सहावा । सुनि सौमित्रि बिहँसि सिरु नावा ॥
राउ कृपा मूरति अनुकूला । बोलत बचन झरत जनु फूला ॥२॥

आज दया ने न सहने के लायक दुःख को सहाया। यह सुनकर लक्ष्मणजी ने हँस कर सिर नीचा कर लिया और कहा—आपकी मूर्ति दया के अनुकूल है अर्थात् आप दया की मूर्ति हैं। आप जो वचन बोलते हैं वे मानो फूल झर रहे हैं ॥ २ ॥

जौं पै कृपा जरहिं मुनि गाता । क्रोधु भये तनु राख बिधाता ॥
देखु जनक हठि बालक एहू । कीन्ह चहत जड जमपुर गेहू ॥३॥

हे मुनिराज ! जो कृपा करने में आपका शरीर जलता है तो क्रोध करने पर तो विधाता ही उसकी रक्षा करे। यह सुनकर परशुरामजी ने कहा—देखो जनक ! यह मूर्ख बालक जबरदस्ती यमराज की पुरी में घर बनाना चाहता है ॥ ३ ॥

बेगि करहु किन आँखिन ओटा । देखत छोट खोट नृपढोटा ॥
बिहँसे लषन कहा मुनि पाहीं । मूँदे आँखि कतहुँ कोउ नाहीं ॥४॥

इसको जल्दी मेरी आँखों से ओट (आड़ में) क्यों नहीं कर देते ? यह राजा का छोकरा देखने में छोटा, पर है बड़ा खोटा। यह सुनकर लक्ष्मणजी फिर हँसे और परशुरामजी से बोले—'महाराज ! आँखें बन्द कर लीजिए। बस कहीं कोई भी नहीं रहेगा। (औरों को ओट करने को क्यों कहते हैं ?) ॥ ४ ॥

दो०—परसुराम तब राम प्रति बोले उर अति क्रोधु ।
संभुसरासन तोरि सठ करसि हमार प्रबोधु ॥३१३॥

तब परशुरामजी मन में भारी क्रोध किये हुए रामचन्द्रजी से कहने लगे—अरे शठ ! तू शिवजी के धनुष को तोड़कर अब हमको समझाता-बुझाता है ! ॥ ३१३ ॥

चौ०—बंधु कहइ कटु संमत तोरे । तू छल बिनय करसि कर जोरे ॥
कर परितोष मोर संग्रामा । नाहिं त छाडु कहाउब रामा ॥१॥

तेरा भाई, तेरी सम्मति से, कड़वे वचन कहता है और तू छल से हाथ जोड़ विनती करता है। तू संग्राम करके मुझे संतुष्ट कर, नहीं तो राम कहाना छोड़ दे (अपना नाम बदल डाल।) ॥ १ ॥

छल तजि समर करहि सिवद्रोही । बंधुसहित न त मारउँ तोही ॥
भृगुपति बकहिं कुठार उठाये । मन मुसुकाहिं राम सिरु नाये ॥२॥

अरे शिव-द्रोही ! तू छल त्याग करके लड़ाई कर, नहीं तो तुझे भाई समेत मार डालूँगा। इस तरह परशुरामजी कुल्हाड़ा उठाये बक रहे हैं और रामचन्द्रजी सिर झुकाये हुए मन ही मन मुस्कुराते हैं कि—॥ २ ॥

गुनहु लषन कर हम पर रोषू। कतहुँ सुधाइहु तें बड़ दोषू॥
टेढ़ जानि बंदइ सब काहू। बक्र चंद्रमहि ग्रसइ न राहू॥३॥

करतूत तो लक्ष्मण की और क्रोध हम पर है! कहीं कहीं सीधेपन से भी बड़ा दोष होता है। दूज का चन्द्रमा टेढ़ा होता है, उसको टेढ़ा जानकर सभी नमस्कार करते हैं। टेढ़े चन्द्रमा को राहु भी नहीं ग्रसता! ॥ ३ ॥

राम कहेउ रिस तजहु मुनीसा। कर कुठारु आगे यह सीसा॥
जेहि रिस जाइ करिय सोइ स्वामी। मोहि जानिय आपन अनुगामी॥४॥

(प्रकट) रामचन्द्रजी कहने लगे—हे मुनीश्वर, आप क्रोध का त्याग कीजिए। आपके हाथ में कुल्हाड़ा है और सामने ही मेरा सिर है। हे स्वामी! जिस तरह क्रोध जाय, वही कीजिए। मुझे अपना सेवक समझिए॥ ४॥

दो०—प्रभु सेवकहि समर कस तजहु बिप्रबर रोसु।
बेष बिलोकि कहेसि कछु बालकहू नहिं दोसु॥३१४॥

हे विप्र-वर! आप क्रोध को त्याग दीजिए। भला स्वामी और सेवक में संग्राम कैसा? महाराज! आपका वेष (क्षत्रिय का) देखकर (आपको क्षत्रिय समझकर) यह कुछ कह बैठा है। इसलिए बालक का भी दोष नहीं है॥ ३१४॥

चौ०—देखि कुठार-बान-धनु-धारी। भइ लरिकहि रिस बीरु बिचारी॥
नाम जान पै तुम्हहिं न चीन्हा। बंससुभाव उतरु तेइ दीन्हा॥१॥

आपको कुठार और धनुष-बाण धारण किये हुए देख आपको वीर (योद्धा) समझ कर लड़के को क्रोध हो आया। आपका नाम तो इसने जाना पर आपको पहचाना नहीं; और वंश के स्वभावानुसार उसने उत्तर दिया॥ १॥

जौं तुम्ह अवतेहु मुनि की नाईं। पदरज सिर सिसु धरत गोसाईं॥
छमहु चूक अनजानत केरी। चहिय बिप्रउर कृपा घनेरी॥२॥

यदि आप ऋषि के समान आते तो महाराज! आपके चरणों की धूल को लड़का सिर पर चढ़ाता। अब अनजान में की हुई भूल को क्षमा कीजिए। ब्राह्मणों के हृदय में गहरी दया होनी चाहिए॥ २॥

हमहिं तुम्हहिं सरबर कस नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा॥
राम मात्र लघु नाम हमारा। परसुसहित बड नाम तुम्हारा॥३॥

हे नाथ! हमारी और आपकी बराबरी कैसी? कहिए न! कहाँ पाँव और कहाँ मस्तक! अर्थात् आपमें और मुझमें वैसा ही अन्तर है जैसा सिर और पैर में। (सम्पूर्ण अक्षरों

में मस्तक का नाम उत्तमाङ्ग है इसलिए मस्तक की उपमा से सूचित करते हैं कि आप उत्तमाङ्ग हैं और हम अधमाङ्ग। (फिर देखिए) मेरा नाम छोटा सा 'राम' मात्र (दो ही अक्षरों का) और आपका परशु समेत बड़ा भारी (पाँच अक्षरों का) 'परशुराम' है ॥ ३ ॥

देव एक गुन धनुष हमारे। नवगुन परम पुनीत तुम्हारे॥

सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु बिप्र अपराध हमारे॥४॥

हे देव! हमारा तो धनुष ही एक गुण है, पर आपके परम पवित्र नौ गुण[1] हैं। (श्लेष से—गुण नाम है सूत्र और प्रत्यंचा (चाँप) का भी, इसलिए हमें तो एक-मात्र धनुष ही का बल है, पर आपको नौ सूत्रवाले यज्ञोपवीत का बल है। क्षात्रबल से ब्रह्मबल कहीं बड़ा है।) यों हम सभी प्रकार से आपसे हारे हैं। हे ब्राह्मण! हमारे अपराध क्षमा कीजिए॥ ४ ॥

दो०—बार बार मुनि बिप्रबर कहा राम सन राम।

बोले भृगुपति सरुष होइ तहूँ बंधुसम बाम॥३१५॥

रामचन्द्रजी ने परशुरामजी से बारम्बार 'मुनि', 'ब्राह्मण', कहा तो परशुरामजी क्रुद्ध होकर बोले—अरे! तू भी अपने भाई जैसा टेढ़ा है!॥ ३१५ ॥

चौ०—निपटहि द्विज करि जानहि मोही। मैं जस बिप्र सुनावउँ तोही॥

चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोप मोर अतिघोर कृसानू॥१॥

तू मुझे बिलकुल ब्राह्मण ही समझता है? मैं जैसा ब्राह्मण हूँ वह तुझे सुनाता हूँ। सुन, धनुष का तो स्रुवा, बाण की आहुति, मेरा भयङ्कर क्रोध अग्नि॥ १ ॥

समिध सेन चतुरंग सुहाई। महामहीप भये पसु आई॥

मैं यह परसु काटि बलि दीन्हे। समरजग्य जग कोटिक कीन्हे॥२॥

और (राजाओं की) चतुरङ्गिणी फ़ौज समिधा, बड़े बड़े राजा लोग आ आकर उस यज्ञ के बलिपशु हुए, मैंने इस फरसे से काट काट कर उनका बलि-दान किया। मैंने जगत् में ऐसे समर-यज्ञ करोड़ों (अनगिनत) किये हैं॥ २ ॥

मोर प्रभाव बिदित नहि तोरे। बोलसि निदरि बिप्र के भोरे॥

भंजेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा॥३॥

मेरा प्रभाव तुझे मालूम नहीं, ब्राह्मण के धोखे में मेरा निरादर करके बोल रहा है! धनुष तोड़ डाला इसलिए तुझे बड़ा अभिमान बढ़ गया है, मानों सारे जगत् को जीत लिया, ऐसा अहङ्कार करके खड़ा है॥ ३ ॥

---

[1] —गीता में ब्राह्मणों के नौ गुण कहे हैं—शम, दम, तप, शौच, शांति, ऋजुता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता। अथवा ख़ाली परशुरामजी में ये नौ गुण हैं—कोमलता, तापसपन, संतोष, क्षमा, अतृष्णा, जितेन्द्रियता, दानित्व, दयालुत्व और स्वाध्यायत्व।

राम कहा मुनि कहहु विचारी। रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी॥
छुवतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करउँ अभिमाना॥४॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनि! ज़रा सोच कर बोलिए। हमारी भूल तो छोटी सी है और आपका गुस्सा बहुत बड़ा हो गया है। पुराना धनुष तो छूते ही टूट गया, फिर भला मैं किस कारण से अभिमान करूँ॥४॥

दो०—जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभट जेहि भयबस नावहिं माथ॥३१६॥

हे भृगुनाथ! सच सच सुनिए, जो हम ब्राह्मण कहकर आपका निरादर करेंगे, तो संसार में ऐसा कौन रण-वीर है जिसके आगे डर के मारे हम सिर झुकावेंगे? (अर्थात् यदि हम डरकर सिर नवावेंगे तो ब्राह्मण को ही और किसी को नहीं।)॥३१६॥

चौ०—देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होउ बलवाना॥
जौं रन हमहिं प्रचारइ कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ॥१॥

देवता, दैत्य, राजा, अनेक योद्धा, चाहें वे समान बलवाले हों, चाहें अधिक बलवान् हों। जो कोई हमें रण में बुलौवा दे तो वह प्रत्यक्ष काल ही क्यों न हो, हम उसके साथ प्रसन्नता से लड़ेंगे॥१॥

छत्रियतनु धरि समर सकाना। कुलकलंक तेहिं पाँवर जाना॥
कहउँ सुभाव न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥२॥

महाराज! क्षत्रिय का शरीर धरकर जो रण से डरा तो उसे नीच और कुल का कलंक ही समझिए। मैं अच्छे भाव से कहता हूँ, अपने कुल की बड़ाई दिखाने को नहीं, कि—रघुवंशी रण में काल से भी (लड़ने को) नहीं डरते॥२॥

बिप्रबंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहिं डराई॥
सुनि मृदुबचन गूढ़ रघुपति के। उघरे पटल परसु-धर-मति के॥३॥

ब्राह्मण-वंश का यह महत्त्व है कि—जो आपसे डरे, वह और सब जगह से निडर हो जाता है। (इस तरह) रघुनाथजी के गूढ़ और कोमल वचन सुनकर परशुरामजी की बुद्धि के परदे खुल गये। (यहाँ पर "अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई" इस वाक्य का दूसरा अर्थ यह सूचित किया गया कि "जो सब प्रकार से भय-रहित हैं वे (विष्णु) तुम से डरते हैं। मैं सब प्रकार से भय-रहित होकर भी तुमसे डरनेवाला वही हूँ। परशुरामजी के पूर्वज भृगु मुनि ने वैकुंठ में जाकर विष्णु भगवान् को लात मारी थी, जिस पर भगवान् ने नम्रता ही प्रकट की थी। अतः इस संकेत को पाकर परशुरामजी को यह चेत हुआ कि ये कहीं भगवान् के दूसरे अवतार ही न हों, जिन्हें भूभार-हरण का कार्य्य सौंपकर मुझे अलग हो जाना चाहिए। अथवा

जनकपुर में जिस उद्देश्य से धनुष रक्खा गया था उसे स्मरण कर परशुरामजी को रामावतार होने की बात स्मरण आ गई ॥ ३ ॥

राम रमापति कर धनु लेहू । खैंचहु मिटइ मोर संदेहू ॥
देत चाप आपुहि चलि गयेऊ । परसुराम मन बिसमय भयेऊ ॥४॥

परशुरामजी ने कहा—हे राम ! विष्णु का (वैष्णव) धनुष हाथ में लीजिए और इसे खींच दीजिए तो मेरा संदेह मिट जाय। ऐसा कहकर वे जब रामचन्द्रजी को धनुष देने लगे तब वह आपसे आप उनके हाथ में चला गया। यह देखकर परशुरामजी के मन में आश्चर्य हुआ। (विष्णु ने यह धनुष परशुरामजी को दिया था और कहा था कि जो कोई इसे चढ़ा दे उसी को अवतार समझकर तुम वन को चल देना।) ॥ ४ ॥

दो०—जाना रामप्रभाव तब पुलक प्रफुल्लितगात ।
जोरि पानि बोले बचन हृदय न प्रेम समात ॥३१७॥

तब (जब रामचन्द्रजी के हाथ में वैष्णव धनुष आपसे चला गया) रामचन्द्रजी का प्रभाव परशुरामजी ने जाना (यहाँ पर राम शब्द उभयान्वयी है, दोनों रामों का अर्थ दे सकता है) और वे हाथ जोड़कर वचन बोले (उन्होंने स्तुति करना आरम्भ किया)। प्रेम हृदय के भीतर समाता नहीं और पुलकावलि हो आई है, शरीर प्रफुल्लित हो गया है ॥ ३१७ ॥

चौ०—जय रघुबंस-बनज-बन-भानू । गहन-दनुज-कुल-दहन कृसानू ॥
जय सुर-बिप्र-धेनु-हित-कारी । जय मद-मोह-कोह-भ्रम-हारी ॥१॥

हे रघुवंश-रूपी कमल-वन के सूर्य ! (वनज-वन-भानु—वन नाम जल का है उससे उत्पन्न कमल उसके वन अर्थात् समूह को खिलानेवाले सूर्य) और गहरे राक्षस कुल के जलाने के लिए अग्नि-स्वरूप ! आपकी जय हो। देव, ब्राह्मण, गौ के हितकर्ता, आपकी जय हो। मद, मोह, क्रोध और भ्रम के हरनेवाले आपकी जय हो ॥ १ ॥

बिनय-सील-करुना-गुन-सागर । जयति बचनरचना अति नागर ॥
सेवकसुखद सुभग सब अंगा । जय सरीर छबि कोटिअनंगा ॥२॥

नम्रता, शील, करुणा और गुणों के समुद्र; वचनों की रचना में अति निपुण आपकी विजय हो। सेवकों के सुख देनेवाले, सुन्दर हैं संपूर्ण अंग जिनके, जिनके शरीर की कांति कोटि कामदेव के जैसी है, आपकी जय हो ॥ २ ॥

करउँ काह मुख एक प्रसंसा । जय महेस-मन-मानस-हंसा ॥
अनुचित बचन कहेउँ अग्याता । छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता ॥३॥

मैं एक मुख से आपकी क्या प्रशंसा करूँ। श्रीमहादेवजी के मनरूपी मानसरोवर के हंस, आपकी जय हो। मैंने अनजाने में अनुचित वचन कहे। हे क्षमा के भवन दोनों भाइयो ! उन वचनों के लिए क्षमा करो ॥ ३ ॥

देत चाप आपुहि चलि गयेऊ।
परसुराम मन बिसमय भयऊ॥ पृ० २७४
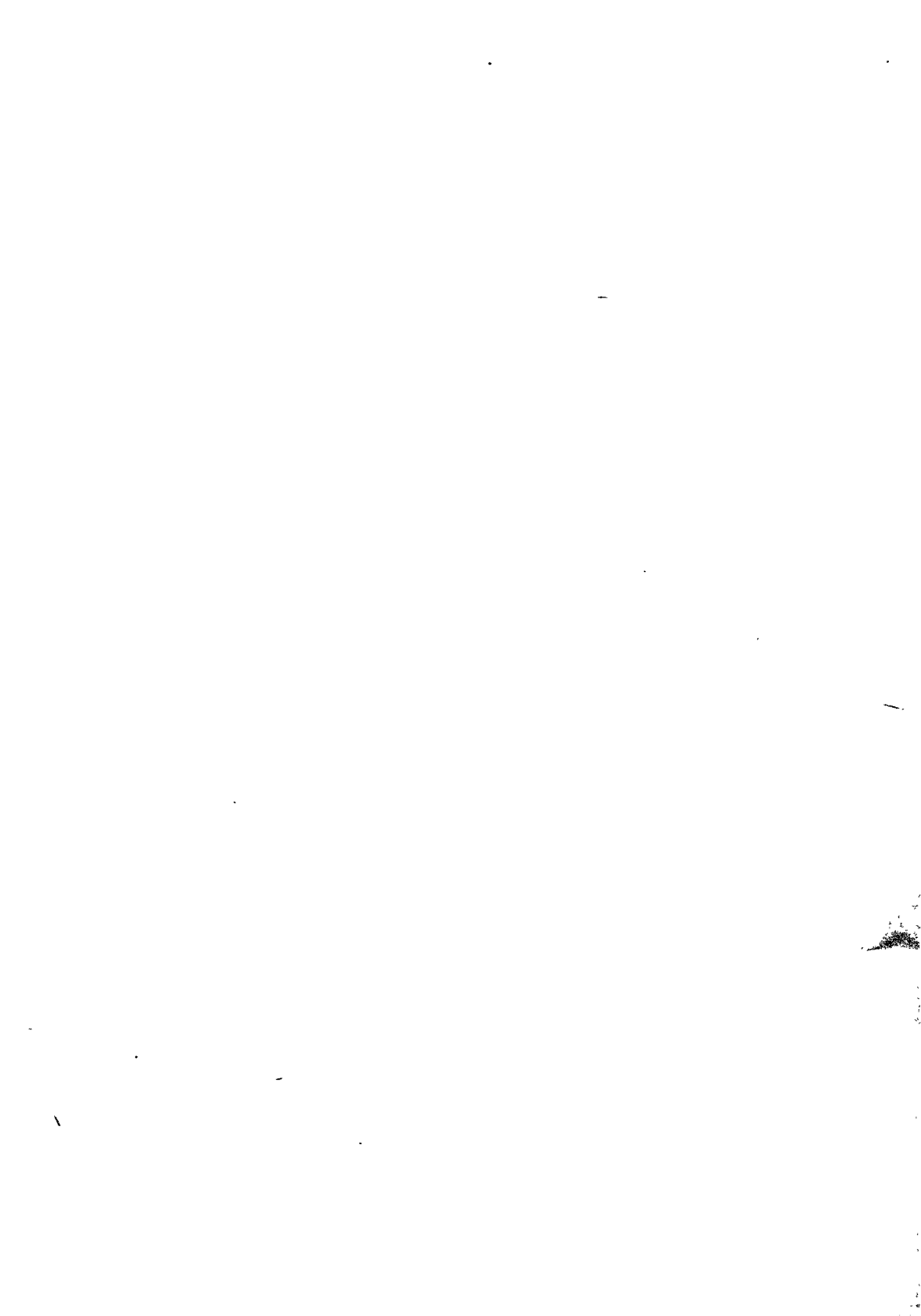
कहि जय जय जय रघु-कुल-केतू। भृगुपति गये बनहिं तप हेतू॥
अपभय सकल महीप डेराने। जहँ तहँ कायर गवहिं पराने॥४॥

अंत में हे रघुकुल के पताकास्वरूप अर्थात् रघुकुल में श्रेष्ठ रामचन्द्रजो! आपकी जय हो! जय हो!! जय हो!!! इतना कहकर परशुरामजी तपस्या करने के लिए वन को चले गये। कुटिल राजा (जो परशुरामजी के क्रोध करने पर प्रसन्न हुए थे) अब यह डरे कि अपने ऊपर कुछ संकट न आवे (क्योंकि लक्ष्मणजो ने उनकी बातें सुन ली थीं)। जो कायर (डरपोक) थे वे जहाँ तहाँ भाग खड़े हुए॥ ४॥

दो०—देवन दीन्ही दुंदुभी प्रभु पर बरषहिं फूल।
हरषे पुर-नर-नारि सब मिटा मोहमय सूल॥३१८॥

देवताओं ने नगारों पर चोब दी और प्रभु रामचन्द्रजी पर फूल बरसाये। नगरनिवासी सभी स्त्री-पुरुष प्रसन्न हो गये और मोहमय संताप मिट गया॥ ३१८॥

चौ०—अति गहगहे बाजने बाजे। सबहिं मनोहर मंगल साजे॥
जूथ जूथ मिलि सुमुखि सुनयनी। करहिं गान कल कोकिलबयनी॥१॥

खूब घनाघन बाजे बजने लगे, सबने मंगलकारक साज सजाये। सुन्दर मुँह और सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियाँ टोलियाँ बनाकर कोयल के समान मीठी आवाज़ से गीत गाने लगीं॥ १॥

सुख बिदेह कर बरनि न जाई। जनमदरिद्र मनहुँ निधि पाई॥
बिगतत्रास भइ सीय सुखारी। जनु बिधु उदय चकोरकुमारी॥२॥

जनक राजा का सुख तो कहा ही नहीं जा सकता, मानों किसी जन्म के दरिद्रो ने खज़ाना पा लिया हो। सीताजी का त्रास दूर हुआ। वे भी सुखी हुईं, मानों चन्द्रमा के उदय से चकोर की बच्ची ख़ुश हुई हो॥ २॥

जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा। प्रभुप्रसाद धनु भंजेउ रामा॥
मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाई। अब जो उचित सो कहिय गोसाईं॥३॥

जनकजी ने विश्वामित्रजी को प्रणाम किया, और कहा—महाराज! आपकी कृपा से रामचन्द्र ने धनुष तोड़ा। दोनों भाइयों ने मुझे कृतार्थ किया है, अब स्वामिन्! जो कुछ उचित है सो कहिए॥ ३॥

कह मुनि सुनु नरनाथ प्रबीना। रहा बिबाह चापआधीना॥
टूटतही धनु भयउ बिबाहू। सुर नर नाग बिदित सब काहू॥४॥

विश्वामित्रजी ने कहा—हे चतुर नरेश्वर! सुनो। विवाह धनुष के अधीन था। सो धनुष टूटते ही विवाह हो गया, यह देवता, नाग और मनुष्य सभी को मालूम हो चुका ॥ ४ ॥

दो०—तदपि जाइ तुम्ह करहु अब जथा-बंस-ब्यवहारु।
बूझि बिप्र कुल बृद्ध गुरु बेदबिदित आचारु ॥३१९॥

तथापि तुम अब जाकर कुल की मर्यादा के अनुसार सब व्यवहार करो। ब्राह्मण और वंश में बूढ़े लोगों, तथा गुरुओं से पूछकर वेदानुकूल आचार करो ॥ ३१९ ॥

चौ०—दूत अवध पुर पठवहु जाई। आनउ नृप दसरथहि बोलाई ॥
मुदित राउ कहि भलेहि कृपाला। पठये दूत बोलि तेहि काला ॥१॥

पहले जाते ही अयोध्या को दूत रवाना करो, और राजा दशरथ को बुला भेजो। राजा जनक यह सुनकर प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि हाँ दयालु! बहुत अच्छा! और उसी समय दूतों को बुलाकर भेजा ॥ १ ॥

बहुरि महाजन सकल बोलाये। आइ सबन्हि सादर सिरु नाये ॥
हाट बाट मंदिर सुरबासा। नगर सवाँरहु चारिहु पासा ॥२॥

फिर संपूर्ण महाजनों को बुलवाया। वे आये और सबों ने आदर से सिर झुकाया। उन्हें आज्ञा दो कि तुम लोग दुकानों, रास्तों, घरों, देवतों के मन्दिरों और शहर को चारों ओर से सजाओ ॥ २ ॥

हरषि चले निज निज गृह आये। पुनि परिचारक बोलि पठाये ॥
रचहु बिचित्र बितान बनाई। सिर धरि बचन चले सचुपाई ॥३॥

वे प्रसन्न हो होकर चले और अपने अपने घर पहुँचे। फिर सेवकों को बुलवाया, उन्हें आज्ञा दी कि तुम लोग विचित्र मंडप बनाकर तैयार करो। वे सब आज्ञा को सिर चढ़ाकर सुख पाकर (प्रसन्न होकर) चल दिये ॥ ३ ॥

पठये बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान-बिधि-कुसल सुजाना ॥
बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक कदलि के खंभा ॥४॥

उन्होंने अनेक कारीगरों को बुलाया, जो मंडप बनाने में निपुण, अच्छे जानकार थे। उन लोगों ने ब्रह्मा को नमस्कार कर (सृष्टि को रचना करनेवाले ब्रह्मा हैं, इसलिए) कार्य आरम्भ किया और सोने के केलों के खंभे बनाये ॥ ४ ॥

दो०—हरितमनिन्ह के पत्र फल पदुमराग के फूल।
रचना देखि बिचित्र अति मनु बिरंचि कर भूल ॥३२०॥

उनमें हरी मणियों (पन्ने) के पत्ते और फल लगाये और पद्मराग मणि (लाल) के फूल लगाये। उनको अत्यन्त विचित्र रचना को देखकर ब्रह्मा का चित्त भी भूल में पड़ गया (चकरा गया) ॥ ३२० ॥

चौ०—बेनु हरित-मनि-मय सब कीन्हे। सरल सपरन परहिं नहिं चीन्हे॥
कनककलित अहिबेलि बनाई। लखि नहिं परइ सपरन सुहाई॥१॥

हरित मणियों के सब बाँस हरे पत्तों समेत बनाये, वे सीधे खड़े किये गये तो पहचाने नहीं जाते थे (कि सच्चे पेड़ हैं कि बने हुए)। फिर सुनहरी नाग-बेल पत्तों समेत बनाई, वह भी पहचानी नहीं जाती थी ॥ १ ॥

तेहि के रचि पचि बंध बनाये। बिच बिच मुकुता दाम सुहाये॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥२॥

उन नागवल्लियों के बन्द बनाये, जिनके बीच बीच में मोतियों की लटकनियाँ लगाईं। फिर मानिक, मरकत मणि, वज्र मणि, (लाल, पन्ना, हीरा) और पिरोजाओं को चीर चीर कर कुरेद कर और पच्ची करके कमल बनाये ॥ २ ॥

किये भृंग बहुरंग बिहंगा। गुंजहिं कूजहिं पवनप्रसंगा॥
सुरप्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ी। मंगलद्रव्य लिये सब ठाढ़ी॥३॥
चौके भाँति अनेक पुराईं। सिंधुर-मनि-मय सहज सुहाईं॥४॥

उन पर भौंरे और अनेक रंग बिरंग के पक्षी बनाये, जो हवा के ज़ोर से गुंजार करते और चहकते हैं। खंभों में देवताओं की मूर्तियाँ गढ़कर निकालीं, वे सब मंगलकारी चीजें लिये खड़ी हैं ॥ ३ ॥ अनेक प्रकार से चौक पुरवाये हैं, जो गजमुक्ता से बनाये गये हैं ॥ ४ ॥

दो०—सौरभपल्लव सुभग सुठि किये नील-मनि कोरि।
हेमबौर मरकत घवरि लसत पाटमय डोरि॥३२१॥

नीलम को कोर कोरकर सुन्दर और सुहावने आम के पत्ते बनाये, जिनमें सोने के बौर लगे थे, मरकत मणियों के फलों के गुच्छे रेशम की डोर में लटक रहे थे ॥ ३२१ ॥

चौ०—रचे रुचिर बर बंदनवारे। मनहुँ मनोभव फंद सवाँरे॥
मंगल कलस अनेक बनाये। ध्वजपताक पट चँवर सुहाये॥१॥

सुन्दर और श्रेष्ठ बंदनवार रचे गये हैं, वे मानो कामदेव के फंदे बनाये गये हैं। अनेक मंगलकलश बनाये गये; ध्वजा, पताका, कपड़े और चँवर सभी सुहावने हैं ॥ १ ॥

दीप मनोहर मनिमय नाना। जाइ न बरनि बिचित्र बिताना॥
जेहि मंडप दुलहिनि बैदेही। सो बरनइ अस मति कबि केही॥२॥

मनोहर मणियों के अनेक दीपक बनाये गये, और विचित्र चँदोवा बने हैं, जिनका वर्णन नहीं बनता। जिस मंडप में श्रीसीताजी दुलहिन हैं उसका वर्णन करे ऐसी बुद्धि किस कवि की है ? ॥ २ ॥

दूलहु राम रूप-गुन-सागर। सो बितान तिहुँ लोक उजागर ॥
जनकभवन कै सोभा जैसी। गृह गृह प्रति पुर देखिय तैसी ॥३॥

जिस मंडप के दूल्हे गुणों के समुद्र श्रीरामचन्द्रजी हैं वह मंडप तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। जनक राजा के भवन की जैसी शोभा है वैसी ही शोभा जनकपुर भर में घर घर हो रही है ॥ ३ ॥

जेइ तिरहुति तेहि समय निहारी। तेहि लघु लगत भुवन दस चारी ॥
जो संपदा नीचगृह सोहा। सो बिलोकि सुरनायक मोहा ॥४॥

उस समय जिसने तिरहुत (मिथिलापुरी) को देखा उसको चौदह लोक (ब्रह्मांड) फीके लगते हैं। वहाँ जो संपत्ति नीच के घर की शोभा बढ़ा रही थी, उसे देखकर देवराज (इन्द्र) भी मोहित हो जाय ॥ ४ ॥

दो०—बसइ नगर जेहि लच्छि करि कपट नारिबर बेषु।
तेहि पुर कै सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु ॥३२२॥

जिस नगर में लक्ष्मीजी कपट से स्त्री का वेष धारणकर निवास करती हैं उस पुर की शोभा वर्णन करने के लिए सरस्वती और शेषजी भी सकुचाते हैं, क्योंकि वे पूरा वर्णन नहीं कर सकते ॥ ३२२ ॥

चौ०—पहुँचे दूत रामपुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन ॥
भूपद्वार तिन्ह खबर जनाई। दसरथ नृप सुनि लिये बोलाई ॥१॥

राजा जनक के भेजे हुए दूत रामचन्द्रजी की पुरी अयोध्या में पहुँच गये और सुहावने नगर को देखकर प्रसन्न हुए। उन्होंने राज-द्वार पर जाकर भीतर खबर भिजवाई। महाराज दशरथ ने खबर सुनकर तुरंत उन्हें बुला लिया ॥ १ ॥

करि प्रनाम तिन्ह पाती दीन्ही। मुदित महीप आपु उठि लीन्ही ॥
बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती ॥२॥

उन दूतों ने प्रणाम करके चिट्ठी दी तो राजा दशरथ ने प्रसन्न होकर स्वयं उठकर वह चिट्ठी ली। उस चिट्ठी को बाँचते ही नेत्रों में आँसू भर आये, शरीर पुलकित हो गया और छाती भर आई ॥ २ ॥

राम लषन उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी ॥
पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची। हरषी सभा बात सुनि साँची ॥३॥

दशरथजी के हृदय में तो राम-लक्ष्मण हैं और हाथ में श्रेष्ठ चिट्ठी है। वे चुप हो रहे हैं, न खट्टी कहते हैं, न मीठी (वियोग का दुःख और मंगल-समाचार का आनंद दोनों एक साथ इस प्रकार उदय हुए कि बड़ी देर तक कुछ कहते न बना)। फिर उन्होंने धीरज धरकर उस चिट्ठी को बाँचकर सुनाया। उसमें लिखी हुई सच्ची बात को सुनकर सभा प्रसन्न हो गई॥ ३॥

खेलत रहे तहाँ सुधि पाई। आये भरत सहित हित भाई॥
पूछत अतिसनेह सकुचाई। तात कहाँ तें पाती आई॥४॥

भरत बाहर खेल रहे थे। वहाँ उन्होंने खबर पाई। वे स्नेह के साथ भाई (शत्रुघ्न) को लिये महाराज के पास जा पहुँचे। वे बड़े स्नेह से सङ्कोच करते हुए पूछते हैं—पिताजी! यह चिट्ठी कहाँ से आई है?॥ ४॥

दो०—कुसल प्रानप्रिय बंधु दोउ अहहिं कहहु केहि देस।
सुनि सनेहसाने बचन बाँची बहुरि नरेस॥ ३२३॥

हमारे प्राण-समान प्यारे दोनों भैया कुशल से तो हैं? कहिए वे किस देश में हैं? ऐसे प्रेम-भरे वचन सुनकर नर-नाथ दशरथ ने फिर से वह पत्रिका पढ़ सुनाई॥ ३२३॥

चौ०—सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेह समात न गाता॥
प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभा सुख लहेउ बिसेखी॥१॥

पत्रिका सुनते ही दोनों भाई पुलकित हो गये, स्नेह इतना बढ़ा कि हृदय में समाता नहीं है। भरत की ऐसी पवित्र प्रीति देखकर संपूर्ण सभा में विशेष प्रसन्नता छा गई॥ १॥

तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर बचन उचारे॥
भैया कहहु कुसल दोउ बारे। तुम्ह नीके निज नयन निहारे॥२॥

फिर उस समय महाराजा दशरथ ने दूतों को पास में बैठा लिया और मीठे तथा मनोहर वचन उच्चारण किये—भैया! बताओ, दोनों बालक सकुशल तो हैं? तुमने उन्हें कुशलतापूर्वक अपनी आँखों से देखा है?॥ २॥

स्यामल गौर धरे धनुभाथा। बय किसोर कौसिकमुनि साथा॥
पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ। प्रेमबिबस पुनि पुनि कह राऊ॥३॥

एक श्याम, एक गौर हैं, धनुष और तरकस धारण किये हुए हैं, किशोर अवस्था है और साथ में विश्वामित्र मुनि हैं। क्या तुम उनको पहचानते हो? जो पहचानते हो तो उनका स्वभाव कहो। प्रेम से विवश महाराज इसी बात को बारंबार कह रहे हैं॥ ३॥

जा दिन तें मुनि गये लेवाई। तब तें आजु साँचि सुधि पाई॥
कहहु बिदेह कवन बिधि जाने। सुनि प्रिय बचन दूत मुसुकाने॥४॥

जिस दिन से उनको विश्वामित्र मुनि लिवा ले गये उस दिन से आज ही मैंने सच्ची खबर पाई है। अच्छा, यह तो बतलाओ कि जनक राजा ने उन्हें किस तरह जाना। इन प्रिय वचनों को सुनकर दूत मुस्कुराये ॥ ४ ॥

दो०—सुनहु मही-पति-मुकुट-मनि तुम्ह सम धन्य न कोउ।
राम लषनु जिन्ह के तनय बिस्वबिभूषन दोउ ॥३२४॥

दूत कहने लगे—हे पृथ्वीनाथों के सिरमौर! आपके समान कोई धन्य नहीं है, जिनके जगत् के भूषण दोनों पुत्र राम-लक्ष्मण हैं ॥ ३२४ ॥

चौ०—पूछन जोग न तनय तुम्हारे। पुरुषसिंह तिहुँ पुर उजियारे ॥
जिन के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥१॥

महाराज! आपके पुत्र पूछने के लायक नहीं हैं; वे पुरुषों में सिंह तीनों लोक में प्रकाश करनेवाले हैं। उनके यश और प्रताप के सामने चन्द्रमा मलिन और सूर्य ठंडा लगता है अर्थात् उनकी कीर्ति चन्द्र से भी अधिक उज्ज्वल और प्रताप सूर्य से भी अधिक है ॥ १ ॥

तिन्ह कहँ कहिय नाथ किमि चीन्हे। देखिय रबि कि दीप कर लीन्हे ॥
सीयस्वयंबर भूप अनेका। सिमिटे सुभट एक तें एका ॥२॥

हे नाथ! उनके लिए आप कहते हैं कि कैसे पहचाना? क्या हाथ में दीपक लेकर सूर्य को ढूँढ़ना होता है? महाराज! सीता के स्वयंवर में एक से एक उत्तम शूर-वीर अनेक राजा इकट्ठे हुए थे ॥ २ ॥

संभुसरासन काहु न टारा। हारे सकल बीर बरियारा ॥
तीनि लोक महँ जे भट मानी। सब कै सकति संभुधनु भानी ॥३॥

शिव-धनुष को किसी ने न हटाया, सभी वीर और अभिमानी राजा लोग हार गये। तीनों लोकों में जो वीरता के अभिमानी हैं, उन सभी की शक्ति को शिव-धनुष ने भंजन कर दिया ॥ ३ ॥

सकइ उठाइ सरासुर मेरू। सोउ हिय हारि गयेउ करि फेरू ॥
जेइ कौतुक सिवसैल उठावा। सोउ तेहि सभा पराभव पावा ॥४॥

जो बाणासुर सुमेरु पर्वत को भी उठा सकता है वह भी हृदय से हारकर, फेरी डालकर, चला गया। जिस रावण ने खेल ही खेल में कैलास पर्वत को उठा लिया था, वह भी उस सभा में आकर हार खा गया ॥ ४ ॥

दो०—तहाँ राम रघु-बंस-मनि सुनिय महामहिपाल।
भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गजु पंकजनाल ॥३२५॥

सुनिए महाराज ! वहाँ रघु-कुल-भूषण रामचन्द्र ने उस धनुष को बिना परिश्रम ही ऐसे तोड़ डाला जैसे हाथी कमल की डण्डी को तोड़ डाले ॥ ३२५ ॥

चौ०—सुनि सरोष भृगुनायकु आये । बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाये ॥
देखि रामबलु निज धनु दीन्हा । करि बहु बिनय गवन बन कीन्हा ॥ १ ॥

उस धनुष का टूटना सुनकर परशुरामजी कुपित होकर आये, और उन्होंने बहुत तरह से आँखें दिखाईं । अंत में उन्होंने रामचन्द्रजी का बल देखकर उन्हें अपना धनुष दे दिया और बहुत-सी प्रार्थना कर वे वन को चले गये ॥ १ ॥

राजन रामु अतुलबल जैसें । तेजनिधान लषनु पुनि तैसें ॥
कंपहिं भूप बिलोकत जाकें । जिमि गज हरिकिसोर के ताकें ॥ २ ॥

हे राजन् ! जैसे अतुल पराक्रमी रामचन्द्रजी हैं वैसे ही तेजस्वी लक्ष्मण हैं, जिनके देखते ही राजा लोग ऐसे काँपते हैं जैसे सिंह के बच्चे के ताकने से हाथी काँपे ॥ २ ॥

देव देखि तव बालक दोऊ । अब न आँखि तर आवत कोऊ ॥
दूत-बचन-रचना प्रिय लागी । प्रेम-प्रताप-बीर-रस-पागी ॥ ३ ॥

आपके दोनों बालकों को देखकर अब और कोई हमारी आँखों में नहीं जँचता । इस तरह प्रेम-प्रताप और वीर-रस की भरी दूतों की बातचीत दशरथजी को बहुत प्यारी लगी ॥ ३ ॥

सभासमेत राउ अनुरागे । दूतन्ह देन निछावरि लागे ॥
कहि अनीति ते मूँदहिं काना । धरमु बिचारि सबहि सुखु माना ॥ ४ ॥

सभा समेत महाराज स्नेह में भर गये और दूतों को न्योछावर (पारितोषिक) देने लगे । तब तो वे दूत अपने कान ढककर (कानों पर हाथ रखकर) कहने लगे कि यह तो अनीति है (क्योंकि हमारे यहाँ के राजा की कन्या आपके यहाँ ब्याही जायगी) । इस धर्म को विचारकर सभी प्रसन्न हुए ॥ ४ ॥

दो०—तब उठि भूप बसिष्ठ कहँ दीन्हि पत्रिका जाइ ।
कथा सुनाई गुरुहि सब सादर दूत बोलाइ ॥ ३२६ ॥

फिर महाराजा दशरथ ने जाकर वह पत्रिका वसिष्ठजी को दी और आदरपूर्वक उन्हीं दूतों को बुलवाकर वह सब खबर सुनाई ॥ ३२६ ॥

चौ०—सुनि बोले गुरु अति सुख पाई । पुन्यपुरुष कहँ महि सुख छाई ॥
जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं । जद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥ १ ॥

सब समाचार सुनकर वसिष्ठजी खुश होकर बोले—पुण्यात्मा पुरुषों के लिए सारी पृथ्वी सुख से छाई हुई है। जिस तरह नदियाँ समुद्र में जा मिलती हैं, यद्यपि उसे उनके मिलने की कामना नहीं है (क्योंकि वह आप अपार जल से भरा है) ॥ १ ॥

तिमि सुख संपति बिनहि बोलाये। धरमसील पहिं जाहिं सुभाये ॥
तुम्ह गुरु-बिप्र-धेनु-सुर-सेवी । तसि पुनीत कौसल्या देवी ॥२॥

इसी तरह धर्म-शील मनुष्यों के पास सुख और सम्पत्ति बिना बुलाये ही आपसे आप चली जाती हैं। आप गुरु, ब्राह्मण, गौ और देवतों के सेवक हैं और वैसी ही पवित्र महारानी कौशिल्या देवी हैं ॥ २ ॥

सुकृती तुम्ह समान जग माहीँ। भयउ न है कोउ होनउ नाहीँ ॥
तुम्ह तेँ अधिक पुन्य बड का कें। राजन राम सरिस सुत जा कें ॥३॥

तुम्हारे समान पुण्यवान् जगत् में दूसरा कोई न हुआ, न होने का। हे राजन्! तुमसे ज्यादा बड़ा पुण्य किसका हो सकता है कि जिनके राम सरीखे पुत्र हैं ॥ ३ ॥

बीर बिनीत धरम-ब्रत-धारी। गुनसागर बर बालक चारी ॥
तुम्ह कहँ सर्बकाल कल्याना। सजहु बरात बजाइ निसाना ॥४॥

तुम्हारे चारों पुत्र वीर, विनयवाले, धर्म और नियमों के धारण करनेवाले, गुणों के समुद्र और श्रेष्ठ हैं। तुम्हारे लिए सर्वदा ही कल्याण है, निशान (डंके) बजवा कर बरात सजाओ ॥ ४ ॥

दो०—चलहु बेगि सुनि गुरुबचन भलेहि नाथ सिरु नाइ।
भूपति गवने भवन तब दूतन्ह बासु देवाइ ॥३२७॥

'चलो जल्दी!' ऐसे गुरु-वचनों को सुनकर राजा ने कहा, 'महाराज! बहुत अच्छा।' फिर दूतों के ठहरने का प्रबंध कर महाराज महल में गये ॥ ३२७ ॥

चौ०—राजा सब रनिवास बोलाई। जनकपत्रिका बाँच सुनाई ॥
सुनि संदेस सकल हरषानी। अपरकथा सब भूप बखानी ॥१॥

राजा दशरथ ने सारे रनिवास को बुलाकर वह जनक महाराज की भेजी हुई पत्रिका बाँच कर सुनाई। विवाह का सँदेसा सुनकर सब प्रसन्न हुईं। और सब खबर (जो दूतों ने कही थी वह) भी राजा ने कह दी ॥ १ ॥

प्रेमप्रफुल्लित राजहिं रानी। मनहुँ सिखिनि सुनि बारिदबानी ॥
मुदित असीस देहिँ गुरुनारी। अति-आनंद-मगन महतारी ॥ २ ॥

रानियाँ प्रेम से खूब प्रफुल्लित होकर ऐसी शोभायमान हुईं मानों मेघ की गर्जना सुनकर मोरनी प्रफुल्लित हुई हो। गुरुकुल की स्त्रियाँ या बड़ी वृद्ध स्त्रियाँ प्रसन्नता के साथ आशीर्वाद देने लगीं और मातायें बड़े आनन्द में मग्न हो गईं ॥ २ ॥

लेहिँ परसपर अतिप्रिय पाती। हृदय लगाइ जुड़ावहिँ छाती ॥
राम लषन के कीरति करनी। बारहिँ बार भूप बर बरनी ॥ ३ ॥

रानियाँ उस बड़ी प्यारी पत्रिका को आपस में हाथों हाथ ले लेकर हृदय में लगा लगाकर छाती ठंढी करने लगीं। फिर राम-लक्ष्मण की कीर्ति और उनके किये हुए काम (धनुष-भङ्ग आदि) महाराज ने बारंबार वर्णन किये ॥ ३ ॥

मुनिप्रसादु कहि द्वार सिधाये। रानिन्ह तब महिदेव बोलाये ॥
दिये दान आनंदसमेता। चले बिप्रबर आसिष देता ॥४॥

अंत में, 'यह सब विश्वामित्र और वसिष्ठजी की कृपा का फल है' ऐसा कहकर महाराज राजद्वार पर आये। उधर रानियों ने भीतर ब्राह्मणों को बुलवाया और आनन्द के साथ उन्हें दान दिये। वे संतुष्ट हो आशीर्वाद देते हुए चल दिये ॥ ४ ॥

सो०—जाचक लिये हँकारि दीन्हि निछावरि कोटि बिधि।
चिरु जीवहु सुत चारि चक्रबर्ति दसरत्थ के ॥३२८॥

फिर मँगतों को बुलवाया और उन्हें करोड़ों तरह की चीजें न्योछावर में दीं। वे आशीर्वाद देने लगे कि चक्रवर्ती महाराज दशरथ के चारों पुत्र चिरंजीवी (बहुत दिनों तक जीनेवाले) हों ॥ ३२८ ॥

चौ०—कहत चले पहिरे पट नाना। हरषि हने गहगहे निसाना ॥
समाचार सब लोगन्ह पाये। लागे घर घर होन बधाये ॥१॥

वे इसी तरह कहते हुए और तरह तरह के कपड़े पहने चले और प्रसन्न होकर दनादन नगाड़े बजाने लगे। जब यह समाचार सब लोगों (नगर-निवासियों) को मालूम हुआ तब घर घर बधाइयाँ मनाई जाने लगीं ॥ १ ॥

भुवन चारि दस भयउ उछाहू। जनक-सुता-रघु-बीर-बिबाहू ॥
सुनि सुभकथा लोग अनुरागे। मग गृह गली सवाँरन लागे ॥२॥

राम-जानकी के विवाह की बात सुनकर चौदहों लोकों में आनन्द उत्सव छा गया। उस आनन्द समाचार को सुनकर लोग प्रसन्न हुए और रास्तों, घरों और गलियों को सजाने लगे ॥ २ ॥

जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि ॥
तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगलरचना रची बनाई ॥३॥

यद्यपि रामचन्द्रजी की पवित्र मङ्गलमय अयोध्यापुरी सदा ही सुहावनी रहती थी, तो भी प्रीति की सुन्दर रीति के अनुसार लोगों ने बहुत ही सुन्दर मङ्गलमय रचना बनाई ॥ ३ ॥

ध्वज पताक पट चामर चारू। छावा परमबिचित्र बजारू॥
कनककलस तोरन मनिजाला। हरद दूब दधि अच्छत माला॥४॥

ध्वजा, पताका, झंडियों और चँवरों से बाजार बहुत ही विचित्र सजा। सोने के कलश, बंदनवार, मणियों के समूह, हलदी, दूब, दही, चावल और माला ये सब मङ्गलवस्तुएँ रक्खी गईं ॥ ४ ॥

दो०—मंगलमय निज निज भवन लोगन्ह रचे बनाइ।
बीथीं सींचीं चतुरसम चौके चारु पुराइ॥३२६॥

नगर-निवासी लोगों ने अपने अपने घर मङ्गल की चीज़ों से खूब सजाये और चौरस गलियों में छिड़काव कराये और सुन्दर चौक पुरवाये ॥ ३२९ ॥

चौ०—जहँ तहँ जूथजूथ मिलि भामिनि। सजि नवसप्त सकल-दुति-दामिनि॥
बिधुबदनी मृग-सावक-लोचनि। निज सरूप रति-मानु-बिमोचनि॥१॥

अपने रूप से कामदेव की स्त्री का घमंड दूर करनेवाली चन्द्रवदनी, मृग-नयनी और बिजली की तरह चमकीली स्त्रियाँ सोलहों सिङ्गार करके जहाँ तहाँ इकट्ठी होकर— ॥ १ ॥

गावहिं मंगल मंजुल बानी। सुनि कलरव कलकंठ लजानी॥
भूपभवन किमि जाइ बखाना। बिस्वबिमोहन रचेउ बिताना॥२॥

मधुर वाणी से मङ्गलाचार गाने लगीं। उनकी मनोहर बोली को सुनकर कोयल भी लजा गई। राज-महल का वर्णन कैसे किया जाय, जहाँ जगत् को मोहनेवाला मंडप बनाया गया था ॥ २ ॥

मंगलद्रब्य मनोहर नाना। राजत बाजत बिपुल निसाना॥
कतहुँ बिरद बंदी उच्चरहीं। कतहुँ बेदधुनि भूसुर करहीं॥३॥

वहाँ तरह तरह की मंगलसूचक चीज़ें रक्खी हुई थीं, और अनेक बाजे बज रहे थे। कहीं बन्दीजन बिरदावली गा रहे थे और कहीं ब्राह्मण लोग वेद-पाठ कर रहे थे ॥ ३ ॥

गावहिं सुंदरि मंगलगीता। लेइ लेइ नामु रामु अरु सीता॥
बहुत उछाहु भवनु अति थोरा। मानहुँ उमगि चला चहुँ ओरा॥४॥

रामचन्द्र और सीता का नाम ले लेकर सुन्दरी स्त्रियाँ मङ्गलगीत गा रही थीं। राज-महल बहुत छोटा और उत्साह बहुत बड़ा था। ऐसा मालूम होता था कि मानों (राज-महल में से) आनन्द उमड़ कर चारों ओर फैल रहा है ॥ ४ ॥

दो०—सोभा दसरथ भवन कै को कबि बरनइ पार ।
जहाँ सकल-सुर-सीस-मनि राम लीन्ह अवतार ॥३३०॥

जहाँ सब देवों के शिरोमणि भगवान् रामचन्द्रजी ने अवतार लिया है उस (राजा दशरथ के) महल की शोभा का वर्णन कौन कवि कर सकता है ? ॥ ३३० ॥

चौ०—भूप भरत पुनि लिये बोलाई । हय गय स्यंदन साजहु जाई ॥
चलहु बेगि रघु-बीर-बराता । सुनत पुलक पूरे दोउ भ्राता ॥१॥

फिर राजा ने भरतजी को बुला लिया और आज्ञा दी कि जाकर घोड़े, हाथी और रथ सजवाओ और जल्दी रामचन्द्र की बरात में चलो । यह सुनकर (भरत और शत्रुघ्न) दोनों भाई आनन्द से भर गये ॥ १ ॥

भरत सकल साहनी बोलाये । आयसु दीन्ह मुदित उठि धाये ॥
रचि रुचि जीन तुरग तिन्ह साजे । बरन बरन बरबाजि बिराजे ॥२॥

भरतजी ने सब सिपाहियों को बुलाया और उन्हें बरात की तैयारी की आज्ञा दी। वे सुनकर प्रसन्न हो चले। उन्होंने खूब बना बनाकर घोड़ों पर जीन सजाये। तरह तरह के रङ्ग-बिरंगे अच्छे अच्छे घोड़े आ गये ॥ २ ॥

सुभग सकल सुठि चंचलकरनी । अय इव जरत धरत पग धरनी ॥
नाना जाति न जाहिं बखाने । निदरि पवनु जनु चहत उड़ाने ॥३॥

वे सब घोड़े बड़े सुन्दर थे और उनकी चाल चञ्चल थी। वे धरती पर पैर ऐसे रखते थे मानों उसे जलते हुए लोहे पर रख रहे हों। घोड़े इतनी जातियों के थे कि उनका वर्णन नहीं हो सकता, वे मानों हवा का भी निरादर कर उड़ना चाहते थे ॥ ३ ॥

तिन्ह सब छैल भये असबारा । भरतसरिस बय राजकुमारा ॥
सब सुंदर सब भूषनधारी । कर सरचाप तून कटि भारी ॥४॥

भरत की बराबर उमरवाले छैल राजकुमार उन घोड़ों पर सवार हुए। वे सभी सुन्दर थे और सभी गहने पहने हुए थे। उनके हाथों में धनुष-बाण और कमर में भारी तरकस कसे थे ॥ ४ ॥

दो०—छरे छबीले छैल सब सूर सुजान नबीन ।
जुग-पद-चर असवारप्रति जे असि-कला-प्रबीन ॥३३१॥

वे सब छैल छबीले छरहरे बदनवाले शूरवीर चतुर और जवान थे। हर एक सवार के साथ दो दो पैदल सिपाही थे जो तलवार चलाने में बड़े निपुण थे ॥ ३३१ ॥

चौ०—बाँधे बिरद बीर रनगाढ़े। निकसि भये पुर बाहिर ठाढ़े॥
फेरहिं चतुर तुरग गति नाना। हरषहिं सुनि सुनि पनव निसाना॥१

रण-बाँकुरे वीर लड़ाइ का बाना बाँधकर नगर के बाहर जा खड़े हुए। वे अपने अपने घोड़ों को अनेक चालों से फेरने लगे और बाजों की आवाज़ सुनकर प्रसन्न होने लगे॥ १॥

रथ सारथिन्ह बिचित्र बनाये। ध्वज पताक मनि भूषन लाये॥
चवँर चारु किंकिनि धुनि करहीं। भानु-जान-सोभा अपहरहीं॥२॥

रथ को हाँकनेवाले सारथियों ने ध्वजा, पताका, मणि और गहनों से रथों को खूब सजाया। उन (रथों) में सुन्दर चँवर लगे थे और घंटियाँ शब्द कर रही थीं। वे (रथ) सूर्य के रथ को शोभा को भी मात कर रहे थे॥ २॥

स्यामकरन अगनित हय होते। ते तिन्ह रथन्ह सारथिन्ह जोते॥
सुंदर सकल अलंकृत सोहे। जिन्हहिं बिलोकत मुनिमन मोहे॥३

वहाँ जो बहुत-से श्यामकर्ण घोड़े थे उन्हें सारथियों ने उन रथों में जोता। वे घोड़े सुन्दर और खूब सजे हुए थे, जिनको देखकर मुनियों (वैराग्यवानों) के भी मन मोहित हो जायँ॥ ३॥

जे जल चलहिं थलहि की नाईं। टाप न बूड़ बेग अधिकाई॥
अस्त्र सस्त्र सब साजु बनाई। रथी सारथिन्ह लिये बोलाई॥४॥

जो घोड़े जल पर भी थल के समान चलते हैं और वेग इतना अधिक है कि उनकी टापें पानी में नहीं डूबतीं। अस्त्र-शस्त्रों से सजे हुए लोगों को रथों में बैठने के लिए सारथियों ने बुलवा लिया॥ ४॥

दो०—चढ़ि चढ़ि रथ बाहिर नगर लागी जुरन बरात।
होत सगुन सुंदर सबन्हि जो जेहि कारज जात॥३३२॥

रथों में चढ़ चढ़कर नगर के बाहर बरात इकट्ठी होने लगी। जो जिस काम के लिए कहीं जाता था उसको अच्छे शकुन होते थे॥ ३३२॥

चौ०—कलित करिबरन्हि परी अँबारी। कहि न जाइ जेहि भाँति सवाँरी॥
चले मत्तगज घंट बिराजी। मनहुँ सुभग सावन-घन-राजी॥१॥

सुन्दर हाथियों पर अंबारियाँ सजाई गईं। वे जिस भाँति सजाई गई थीं उसका वर्णन नहीं हो सकता। मतवाले हाथी घंटियों को बजाते हुए चले, मानों श्रावण के महीने में सुन्दर बादलों का दल चला जा रहा है॥ १॥

वाहन अपर अनेक बिधाना। सिबिका सुभग सुखासन जाना॥
तिन्ह चढ़ि चले बिप्र-बर-बृंदा। जनु तनु धरे सकल-स्रुति-छंदा॥२॥

सुन्दर पालकियाँ और विमान, जिनमें बैठने की सुविधा है तथा और भी बहुत सी कई तरह की सवारियाँ थीं। उन पर सवार हो होकर श्रेष्ठ ब्राह्मणों के झुंड चले। वे ऐसे मालूम होते थे मानों संपूर्ण वेदों के छंद मूर्ति धारण कर जा रहे हैं॥२॥

मागध सूत बंदि गुनगायक। चले जान चढ़ि जो जेहि लायक॥
बेसर ऊँट बृषभ बहु जाती। चले बस्तु भरि अगनित भाँती॥३॥

मागध, सूत, बन्दी आदि जितने गुणगान करनेवाले थे वे सब अपने अपने योग्य सवारियों पर बैठ बैठकर चले। कई जाति के खच्चर, ऊँट और बैल अनगिनत तरह की चीजें लाद लादकर चले॥३॥

कोटिन्ह काँवरि चले कहारा। बिबिध बस्तु को बरनइ पारा॥
चले सकल-सेवक-समुदाई। निज निज साजु-समाजु बनाई॥४॥

करोड़ों काँवरें लेकर कहार चले। उनके पास इतनी चीजें थीं कि उनकी गिनती कौन कर सकता है। अपने अपने संगियों के साथ सज धजकर सब नौकरों-चाकरों के झुंड भी चले॥४॥

दो०—सब के उर निर्भर हरषु पूरित पुलक सरीर।
कबहिं देखिबइ नयन भरि रामु लषनु दोउ बीर॥३३३॥

सबों के अन्तःकरण में खूब आनन्द भर रहा है और शरीर में पुलकावलि हो रही है। उनके मन में यही हो रहा है कि (हम) राम-लक्ष्मण दोनों वीरों को कब अपनी आँखें भर देखेंगे?॥३३३॥

चौ०—गरजहिं गज घंटा धुनि घोरा। रथरव बाजिहिंस चहुँ ओरा॥
निदरि घनहिं घुम्मरहिं निसाना। निज पराइ कछु सुनिय न काना॥१

हाथी चिंघाड़ने लगे, उनके घंटों की घोर आवाज गूँजने लगी और चारों ओर रथों की घरघराहट तथा घोड़ों के हिनहिनाने की आवाज सुनाई देने लगी। बाजों की आवाज बादलों के गर्जने को भी मात करने लगी। अपनी या दूसरे की कुछ बात सुनाई नहीं देती थी॥१॥

महाभीर भूपति के द्वारे। रज होइ जाइ पषान पवारे॥
चढ़ी अटारिन्ह देखहिं नारी। लिये आरती मंगलथारी॥२॥

राजा दशरथ के दरवाज़े पर इतनी भारी भीड़ हो गई कि पत्थर भी डाल दे तो वह (पाँवों तले पड़कर) धूल हो जाय। स्त्रियाँ आरती का मङ्गल-थाल लिये हुए अटारियों पर चढ़ चढ़कर तमाशा देख रही हैं ॥ २ ॥

गावहिँ गीत मनोहर नाना। अति आनंदु न जाइ बखाना ॥
तब सुमंत्र दुइ स्यंदन साजी। जोते रबि-हय-निंदक बाजी ॥३॥

वे सब स्त्रियाँ मनोहर मङ्गल गीत गा रही हैं। इतना अधिक आनन्द हुआ कि वह कहा नहीं जा सकता। उस समय (दशरथ राजा के प्रसिद्ध सारथी) सुमंत ने दो रथ सजाकर तैयार किये और उनमें सूर्य के घोड़ों की चाल को भी मात करनेवाले (तेज़ चालवाले) घोड़े जोते ॥ ३ ॥

दोउ रथ रुचिर भूप पहिँ आने। नहिँ सारद पहिँ जाहिँ बखाने ॥
राजसमाज एक रथ साजा। दूसर तेजपुंज अति भ्राजा ॥४॥

दोनों सुन्दर रथ राजा के पास लाये गये, जिनका वर्णन सरस्वती से भी नहीं किया जा सकता। एक रथ राज-समाज (राजसी ठाठ) से सजाया गया, दूसरा तेज के समूह से खूब दमक रहा था ॥ ४ ॥

दो०—तेहि रथ रुचिर बसिष्ठ कहुँ हरषि चढाइ नरेसु।
आपु चढेउ स्यंदन सुमिरि हर गुरु गौरि गनेसु ॥३३४॥

दशरथजी ने उस तेजः-पुञ्ज सुन्दर रथ पर अपने गुरु वसिष्ठजी को प्रसन्नता-पूर्वक सवार कराया फिर आप भी महादेव, गुरु, पार्वती और गणेशजी को स्मरण करके दूसरे रथ पर सवार हुए ॥ ३३४ ॥

चौ०—सहित बसिष्ठ सोह नृप कैसे। सुर-गुरु-संग पुरंदर जैसे ॥
करि कुलरीति बेदबिधि राऊ। देखि सबहि सब भाँति बनाऊ ॥१॥

जैसे देवतां के गुरु (बृहस्पति) के साथ इन्द्र शोभायमान हों, तैसे गुरु वसिष्ठ के साथ राजा दशरथ शोभित हुए। महाराज वेदोक्त विधि और कुलरीति करके सबको सभी तरह सजे हुए देखकर—॥ १ ॥

सुमिरि राम गुरुआयसु पाई। चले महीपति संख बजाई ॥
हरषे बिबुध बिलोकि बराता। बरषहिँ सुमन सु-मंगल-दाता ॥२॥

मन में रामचन्द्रजी का स्मरण कर और गुरु की आज्ञा पाकर शङ्ख बजा कर चले। बरात को देखकर देवता लोग प्रसन्न हुए। वे मङ्गलदायक फूलों की वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

भयउ कोलाहल हय गय गाजे । ब्योम बरात बाजने बाजे ॥
सुर नर नाग सुमंगल गाई । सरस राग बाजहिं सहनाई ॥३॥

बड़ा शोर मचा, हाथी चिंघाड़ने और घोड़े हिनहिनाने लगे। आकाश में बरात के बाजे बजने लगे। देव, मनुष्य, नाग सभी मङ्गलाचार गाने लगे और सहनाई रसीले राग से बजने लगीं ॥ ३ ॥

घंट-घंटि-धुनि बरनि न जाहीं । सरव करहिं पायक फहराहीं ॥
करहिं बिदूषक कौतुक नाना । हासकुसल कलगान सुजाना ॥४॥

घंटों और घंटियों के शब्द का वर्णन नहीं हो सकता। कलाबाज़ अनेक प्रकार की कसरतें करते और हाथों में झंडियाँ फहराते चले जाते थे। हँसी करने में चतुर और गाने में निपुण विदूषक (भाँड़) तरह तरह के तमाशे करते जाते थे ॥ ४ ॥

दो०—तुरग नचावहिं कुअँर बर अकनि मृदंग निसान ।
नागर नट चितवहिं चकित डगहिं न ताल बँधान ॥३३५॥

सुन्दर राजकुमार मृदङ्ग और डंके के शब्द को सुनकर घोड़ों को ऐसे नचाते थे कि वे ताल से न डिगते थे अर्थात् वे ठीक ताल पर नाचते थे। चतुर नट चकित होकर उन्हें देखते थे ॥ ३३५ ॥

चौ०—बनइ न बरनत बनी बराता । होहिं सगुन सुंदर सुभदाता ॥
चारा चाषु बाम दिसि लेई । मनहुँ सकल मंगल कहि देई ॥१॥

बरात की सजावट का वर्णन नहीं किया जा सकता। सुन्दर मंगल-प्रद शकुन होने लगे। नीलकंठ पक्षी बाईं ओर चारा चुगता हुआ दिखाई पड़ा, मानों वह सारे मंगलों की बात सूचित कर रहा था ॥ १ ॥

दाहिन काग सुखेत सुहावा । नकुलदरस सब काहू पावा ॥
सानुकूल बह त्रिबिध बयारी । सघट सबाल आव बरनारी ॥२॥

कौआ अच्छे खेत में दाहिनी ओर दिखाई पड़ा और न्योले का भी दर्शन सभी ने पाया। हवा सानुकूल अर्थात् सामने से आनेवाली मन्द, सुगन्ध और शीतल चलती थी और सौभाग्यवती स्त्रियाँ भरे हुए घड़े लिये तथा बालकों को लिये हुए सामने से आ रही थीं ॥ २ ॥

लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा । सुरभी सनमुख सिसुहि पियावा ॥
मृगमाला फिरि दाहिनि आई । मंगलगन जनु दीन्ह देखाई ॥३॥

लोमड़ी बारंबार आकर दिखाई देने लगी, सामने खड़ी होकर गायें बछड़ों को दूध पिलाती थीं, फिर दाहिनी ओर हिरनों का झुंड आया मानों सभी मंगलों का समूह ही दिखाई दिया ॥ ३ ॥

छेमकरी कह छेम बिसेखी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी॥
सनमुख आयउ दधि अरु मीना। करपुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना॥४॥

क्षेमकरी चोल बोल बोलकर मानों विशेष कल्याण की बात कहने लगी और बाँई ओर सुन्दर पेड़ पर श्यामा चिड़िया देख पड़ी। सामने दही और मछलियाँ आईं और हाथ में पुस्तक लिये दो पण्डित ब्राह्मण भी आते दिखाई दिये ॥ ४ ॥

दो०—मंगलमय कल्यानमय अभिमत-फल-दातार।
जनु सब साँचे होन हित भये सगुन एक बार॥३३६॥

आनन्द, मंगल और मन-वांछित फल के देनेवाले सारे अच्छे अच्छे शकुन मानों सच्चे होने के लिए साथ ही हो आये ॥ ३३६ ॥

चौ०—मंगल सगुन सुगम सब ताके। सगुन ब्रह्म सुन्दर सुत जा के॥
रामसरिस वर दुलहिनि सीता। समधी दसरथु जनकु पुनीता॥१॥

जिसके सगुण ब्रह्म सुन्दर पुत्र हुए हैं और जहाँ रामचन्द्र जैसे दूल्हा और सीता जैसी दुलहिन, महाराज दशरथ और जनकजी जैसे समधी हैं, वहाँ के लिए सभी मंगलदायी शकुन सुलभ हैं ॥ १ ॥

सुनि अस ब्याहु सगुन सब नाँचे। अब कीन्हे बिरंचि हम साँचे॥
एहि बिधि कीन्ह बरात पयाना। हय गय गाजहिं हने निसाना॥२॥

ऐसा व्याह सुनकर सारे सगुन नाचने लगे और कहने लगे कि विधाता ने हमको अब सच्चा कर दिया। इस तरह बरात ने प्रस्थान किया; हाथी, घोड़े शब्द करने और बाजे बजने लगे ॥ २ ॥

आवत जानि भानु-कुल-केतू। सरितन्हि जनक बँधाये सेतू॥
बीच बीच बरबास बनाये। सुर-पुर-सरिस संपदा छाये॥३॥

सूर्य-वंश-भूषण (दशरथ) का आना जानकर महाराज जनक ने नदियों पर पुल बँधवा दिये थे। बीच बीच में पड़ाव बनवा दिये थे, जिनमें देव-लोक के समान सम्पदा छा रही थी ॥ ३ ॥

असन सयन बर बसन सुहाये। पावहिं सब निज निज मन भाये॥
नित नूतन सुख लखि अनुकूले। सकल बरातिन्ह मंदिर भूले॥४॥

वहाँ सभी को अपनी अपनी इच्छा के अनुसार मन-भावने भोजन, बिस्तर और (ओढ़ने के) कपड़े मिलते थे। नित्य नये सुख और सभी सुविधाओं को देखकर सब बराती अपने घरों को भूल गये। अर्थात् उन्होंने घर से भी ज्यादा आराम पाया॥ ४॥

दो०—आवत जानि बरातबर सुनि गहगहे निसान।
सजि गज रथ पदचर तुरग लेन चले अगवान॥३३७॥

इस तरह सजी हुई बरात को आती समझ और बजते हुए नगाड़ों को सुन (जनक की ओर के लोग) हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सज-धजकर अगवानी लेने चले॥ ३३७॥

चौ०—कनककलस भरि कोपर थारा। भाजन ललित अनेक प्रकारा॥
भरे सुधासम सब पकवाने। भाँति भाँति नहिँ जाहिँ बखाने॥१॥

महाराजा जनक ने सोने के कलश (पानी भरे हुए) और कई चीजों से भरे हुए कोपर तथा कई तरह के बढ़िया बरतन, जिनमें अमृत के समान स्वादिष्ठ पकान्न कई भाँति के भरे थे जिनका वर्णन करते नहीं बनता॥ १॥

फल अनेक बरबस्तु सुहाई। हरषि भेँट हित भूप पठाई॥
भूषन बसन महामनि नाना। खग मृग हय गय बहु बिधि जाना॥२॥

और फल तथा अच्छी अच्छी अनेक चीजें भेट के लिए प्रसन्नता से भिजवाईं। गहने, वस्त्र, जवाहिरात, तरह तरह के पत्ती, हिरन, घोड़े, हाथी इत्यादि कई तरह की सवारियाँ भी भेजीं॥ २॥

मंगल सगुन सुगंध सुहाये। बहुत भाँति महिपाल पठाये॥
दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि भरि काँवरि चले कहारा॥३॥

राजा ने मांगलिक और सुगंधित (अतर-फुलेल) पदार्थ आदि भिजवाये। कहार लोग बहँगियों में दही, चिउड़ा और कई चीजें उपहार (भेट) के लिए ले चले॥ ३॥

अगवानन्ह जब दीखि बराता। उर आनंदु पुलक भर गाता॥
देखि बनाव सहित अगवाना। मुदित बरातिन्ह हने निसाना॥४॥

अगवानी करनेवालों ने जब बरात देखी, तो उनके हृदय में आनन्द और शरीर में पुलकावलि भर गई। बरातियों ने अगवानियों को सज-धज के साथ देखकर प्रसन्न होकर बाजे बजाये॥ ४॥

दो०—हरषि परसपर मिलनहित कछुक चले बगमेल।
जनु आनंदसमुद्र दुइ मिलत बिहाइ सुबेल॥३३८॥

प्रसन्न होकर एक दूसरे से मिलने के लिए (दोनों ओर से) पंक्ति बाँधे हुए सवार चले। वह मिलाप ऐसा दिखाई पड़ता था मानों दो आनन्द के समुद्र अपने अपने किनारों से उमड़ कर मिलने जा रहे हैं॥ ३३८॥

चौ०—बरषि सुमन सुरसुंदरि गावहिं। मुदित देव दुंदुभी बजावहिं॥
बस्तु सकल राखी नृप आगे। बिनय कीन्ह तिन्ह अति अनुरागे॥१॥

देवताओं की स्त्रियाँ (अप्सरायें) फूल बरसाने और गीत गाने लगीं, देवता प्रसन्न होकर नगारे बजाने लगे। राजा जनक के लोगों ने भेट की सब चीजें राजा दशरथजी के सामने रक्खीं और बड़े स्नेह से उन्होंने प्रार्थना की॥ १॥

प्रेमसमेत राय सबु लीन्हा। भइ बकसीस जाचकन्हि दीन्हा॥
करि पूजा मान्यता बड़ाई। जनवासे कहँ चले लेवाई॥२॥

दशरथ महाराज ने प्रेम से सब चीजें ले लीं और माँगनेवालों को बहुत-सा इनाम दिया। वे लोग बरातियों का अच्छा सेवा-सत्कार करके उन्हें जनवासे में लिवा ले चले॥ २॥

बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं। देखि धनद धनमदु परिहरहीं॥
अति सुंदर दीन्हेउ जनवासा। जहँ सब कहुँ सब भाँति सुपासा॥३॥

राजा दशरथ के पैरों के नीचे ऐसे विचित्र कपड़े आगे बिछते जाते थे जिन्हें देखकर कुबेर भी अपने धन का अभिमान त्याग दे। फिर महाराज के ठहरने के लिए ऐसा जनवास दिया गया जिसमें सभी बरातियों को सभी तरह का सुभीता था॥ ३॥

जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई॥
हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई। भूप पहुनई करन पठाई॥४॥

जब सीताजी को मालूम हुआ कि बरात नगर में आ गई तब उन्होंने अपनी कुछ महिमा प्रकट करके दिखाई। उन्होंने मन में स्मरण करके सारी सिद्धियाँ बुलाईं और उन्हें राजा की पहुनाई करने के लिए भेज दिया॥ ४॥

दो०—सिधि सब सियआयसु अकनि गईं जहाँ जनवास।
लियें संपदा सकलसुख सुर-पुर-भोग-बिलास॥३३९॥

सब सिद्धियाँ सीताजी की आज्ञा पाकर स्वर्गलोक में प्राप्त होनेवाले भोग-विलास तथा संपूर्ण सुख-संपत्ति लिये हुए जनवासे में पहुँचीं॥ ३३९॥

चौ०—निज निज बास बिलोकि बराती। सुरसुख सकल सुलभ सब भाँती॥
बिभवभेद कछु कोउ न जाना। सकल जनक कर करहिं बखाना॥१॥

बरातियों ने अपने अपने रहने की जगह को देखकर देवताओं के भोगने योग्य सारे सुखों को सब तरह सुलभ पाया। उस सम्पत्ति का भेद किसी ने नहीं जाना, सब लोग राजा जनक की बड़ाई करने लगे॥ १॥

सिय महिमा रघुनायक जानी। हरषे हृदय हेतु पहिचानी॥
पितुआगमनु सुनत दोउ भाई। हृदय न अति आनंदु अमाई॥२॥

सीताजी की महिमा को जानकर और उनके प्रेम को पहचानकर रामचन्द्रजी अंतःकरण में प्रसन्न हुए। पिता का आना सुनते ही दोनों भाइयों को इतना अधिक आनन्द हुआ कि वह हृदय में न समाया॥ २॥

सकुचन्ह कहि न सकत गुरु पाहीं। पितु-दरसन-लालचु मनु माहीं॥
बिस्वामित्र बिनय बड़ि देखी। उपजा उर संतोषु बिसेखी॥३॥

उनके मन में पिताजी के दर्शन की लालसा बहुत है, पर संकोचवश गुरु (विश्वामित्रजी) से कह नहीं सकते। उनकी इतनी नम्रता देखकर विश्वामित्रजी के हृदय में विशेष संतोष हुआ॥ ३॥

हरषि बंधु दोउ हृदय लगाये। पुलक अंग अंबक जल छाये॥
चले जहाँ दसरथु जनवासे। मनहुँ सरोबर तकेउ पिपासे॥४॥

उन्होंने प्रसन्न होकर दोनों भाइयों को छाती से लगा लिया, उनकी रोमावलि खड़ी होगई और आँखों में जल भर आया। फिर जहाँ जनवासे में दशरथजी ठहरे थे वहाँ मुनि के साथ दोनों भाई चले। मालूम होता था मानों तालाब देखकर उसकी ओर प्यासे बढ़ रहे हैं॥ ४॥

दो०—भूप बिलोके जबहिं मुनि आवत सुतन्ह समेत।
उठेउ हरषि सुखसिंधु महँ चले थाह सी लेत॥३४०॥

जब राजा (दशरथ) ने पुत्रों समेत ऋषि को आते देखा, तो प्रसन्न होकर वे उठे और मानों सुखरूपी समुद्र में थाह लेते हुए (अर्थात् उसमें थाह न लगती थी इसलिए गोते लगाते हुए) चले॥ ३४०॥

चौ०—मुनिहिं दंडवत कीन्ह महीसा। बार बार पदरज धरि सीसा॥
कौसिक राउ लिये उर लाई। कहि असीस पूछी कुसलाई॥१॥

महाराज ने मुनि (विश्वामित्रजी) को बार बार उनके चरणों की धूल में सिर रखकर दंडवत् प्रणाम किया। विश्वामित्रजी ने महाराज को हृदय से लगा लिया और आशीर्वाद देकर कुशल प्रश्न पूछा॥ १॥

पुनि दंडवत करत दोउ भाई। देखि नृपति उर सुखु न समाई॥
सुत हिय लाइ दुसह दुखु मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे॥२॥

फिर दोनों भाई (राम-लक्ष्मण) को प्रणाम करते देखकर महाराज के हृदय में इतना सुख हुआ कि वह समाता न था। पुत्रों को हृदय से लगाकर राजा ने कठिन दुःखों को दूर किया, मानों मुर्दा शरीर में फिर प्राण आ गये हों॥ २॥

पुनि बसिष्ठपद सिर तिन्ह नाये। प्रेममुदित मुनिवर उर लाये॥
बिप्रबृंद बंदे दुहुँ भाई। मनभावती असीसें पाई॥३॥

फिर उन दोनों भाइयों ने वसिष्ठजी के चरणों में सिर झुकाया, और उन्होंने प्रेम में भरकर उन्हें अपनी छाती से लगाया। फिर उन दोनों भाइयों ने ब्राह्मण-समाज को नमस्कार किया और मनमाने आशीर्वाद पाये॥ ३॥

भरत सहानुज कीन्ह प्रनामा। लिये उठाइ लाइ उर रामा॥
हरषे लषन देखि दोउ भ्राता। मिले प्रेम-परि-पूरित गाता॥४॥

जब छोटे भाई शत्रुघ्न समेत भरतजी ने प्रणाम किया तब रामचन्द्रजी ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। लक्ष्मणजी ने भी दोनों भाइयों को देखा और प्रेम से परिपूर्ण-शरीर हो वे उनसे मिले॥ ४॥

दो०—पुरजन परिजन जातिजन जाचक मंत्री मीत।
मिले जथाबिधि सबहि प्रभु परमकृपालु बिनीत॥३४१॥

दयालु और नम्र रामचन्द्रजी अयोध्या-वासी लोग, कुटुम्बी, जाति के लोग, आश्रितजन, मंत्री, मित्र आदि सभी से यथायोग्य मिले॥ ३४१॥

चौ०—रामहिँ देखि बरात जुड़ानी। प्रीति कि रीति न जाति बखानी॥
नृपसमीप सोहहिँ सुत चारी। जनु धनधरमादिक तनुधारी॥१॥

रामचन्द्रजी को देखकर सारी बरात बड़ी प्रसन्न हुई, उनकी प्रीति की रीति का वर्णन नहीं करते बनता। महाराज दशरथजी के पास चारों पुत्र ऐसे शोभित हो रहे हैं मानों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारों मूर्त्ति धारण कर विराजमान हो रहे हों॥ १॥

सुतन्ह समेत दसरथहि देखी। मुदित नगर-नर-नारि बिसेखी॥
सुमन बरषि सुर हनहिँ निसाना। नाकनटी नाचहिँ करि गाना॥२॥

जनकपुर के नर-नारी पुत्रों समेत महाराज दशरथ को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। देवता फूल बरसाने और बाजे बजाने लगे तथा अप्सरायें गाने और नाचने लगीं॥ २॥

सतानंद अरु बिप्र सचिवगन। मागध सूत बिदुष बंदीजन ॥
सहित बरात राउ सनमाना। आयसु माँगि फिरे अगवाना ॥३॥

शतानन्द (जनक राजा के पुरोहित), ब्राह्मण और मंत्रीगण, मागध, सूत, विद्वान्, बन्दीजन आदि अगवानी करनेवाले बरात सहित राजा का सम्मान करके, आज्ञा पाकर, लौट चले ॥ ३ ॥

प्रथम बरात लगन तें आई। ता तें पुर प्रमोद अधिकाई ॥
ब्रह्मानंदु लोग सब लहहीं। बढ़इ दिवस निसि बिधि सन कहहीं ॥४॥

बरात लगन से पहले आ गई थी इसलिए नगर भर में आनन्द छा गया (सबों को खूब देखने का अवकाश मिला) अथवा पहले पहल बरात शुभलग्न में नगर में आई इससे सारे नगर में आनन्द छा गया। सभी लोग ब्रह्मानन्द (मोक्ष होने में जो ब्रह्म-लीन होने के समय आनन्द हो) को पा रहे हैं, (अथवा—रामचन्द्र ब्रह्म हैं उनके दर्शन के सुख को पा रहे हैं।) और विधाता से मना रहे हैं कि दिन रात बड़े हो जायँ (तो हम और भी खूब मज़ा लूट लें) ॥ ४ ॥

दो०—राम सीय सोभाअवधि सुकृतअवधि दोउ राज।
जहँ तहँ पुरजन कहहिं अस मिलि नर-नारि-समाज ॥३४२॥

जहाँ तहाँ नगर-निवासी क्या स्त्री, क्या पुरुष, मिल मिलकर यह कहते थे कि रामचन्द्र और सीता तो शोभा की सीमा (हद) हैं (इनसे बढ़कर शोभा नहीं) और दोनों राजा (दशरथ और जनक) पुण्य की सीमा हैं (इनसे अधिक पुण्यवान् कोई नहीं) ॥ ३४२ ॥

चौ०—जनक-सुकृत-मूरति बैदेही। दसरथसुकृत रामु धरे देही ॥
इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे ॥१॥

जानकीजी तो जनक राजा के पुण्यों की मूर्ति हैं और दशरथ महाराज के पुण्यों ने रामचन्द्रजी का शरीर धारण किया है। न किसी ने इनके बराबर शिवजी का आराधन किया और न किसी ने ऐसा फल ही पाया ॥ १ ॥

इन्ह सम कोउ न भयउ जग माहीं। है नहिं कतहूँ होनेउ नाहीं ॥
हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनक-पुर-बासी ॥२॥

जगत् में इनके बराबर न कोई हुआ, न अभी है, न फिर होने का है! हम सब बड़े पुण्य के पुंज हैं जो संसार में जन्म लेकर जनकपुर के निवासी हुए। (जो यहाँ न बसते तो क्यों यह दर्शन मिलता।) ॥ २ ॥

जिन्ह जानकी-राम-छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी ॥
पुनि देखब रघु-बीर-बिबाहू। लेब भली बिधि लोचनलाहू ॥३॥

जिन्होंने सीता-राम की झाँकी की, उन हमारे समान अधिक पुण्यवान् और कौन होगा ! फिर रामचन्द्रजी का विवाह देखेंगे और अपनी आँखों का लाभ भली भाँति उठावेंगे अर्थात् हम रामचन्द्रजी का विवाह देखकर अपने नेत्रों को सफल करेंगे ॥ ३ ॥

कहहिँ परस्पर कोकिलबयनी । एहि बिबाह बड लाभु सुनयनी ॥
बड़े भाग बिधि बात बनाई । नयन अतिथि होइहहिँ दोउ भाई ॥४॥

कोयल की-सी मीठी बोलनेवाली स्त्रियाँ आपस में कहने लगीं कि हे सुन्दर नेत्रोंवाली सखियो ! इस विवाह से हमें बहुत लाभ होगा । हमारे बड़े भाग्य से विधाता ने यह बात बनाई है। अब ये दोनों भाई हमारी आँखों के अतिथि बना करेंगे अर्थात् आँखों के सामने आया करेंगे ॥ ४ ॥

दो०—बारहिँ बार सनेहबस जनक बोलाउब सीय ।
लेन आइहहिँ बंधु दोउ कोटि-काम-कमनीय ॥३४३॥

राजा जनक प्रेम से विवश होकर बार बार सीताजी को बुलाया करेंगे और उनको बुला लेने के लिए करोड़ों कामदेवों से भी सुन्दर ये दोनों भाई आया करेंगे ॥ ३४३ ॥

चौ०—बिबिध भाँति होइहि पहुनाई । प्रिय न काहि अस सासुर माई ॥
तब तब राम लषनहिँ निहारी । होइहहिँ सब पुरलोग सुखारी ॥१॥

यहाँ इनकी तरह तरह की पहुनाई (स्वागत-सत्कार) हुआ करेगी । हे सखी ! भला ऐसी ससुराल किसको प्यारी न लगेगी ? (ये जब जब आवेंगे) तब तब संपूर्ण नगरनिवासी राम-लक्ष्मण को देख देखकर सुखी हुआ करेंगे ॥ १ ॥

सखि जस राम लषन कर जोटा । तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा ॥
स्याम गौर सब अंग सुहाये । ते सब कहहिँ देखि जे आये ॥२॥

हे सखी ! जैसी राम-लक्ष्मणजी की जोड़ी है, वैसे ही दो कुमार (और) राजा के साथ में हैं । जो लोग उनको देख आये हैं वे कहते हैं कि वे भी श्याम और गौर हैं और उनके भी सब अंग सुन्दर हैं ॥ २ ॥

कहा एक मैं आजु निहारे । जनु बिरंचि निज हाथ सवाँरे ॥
भरतु रामही की अनुहारी । सहसा लखि न सकहिँ नरनारी ॥३॥

एक ने कहा—मैंने उन्हें आज ही देखा है, मानों ब्रह्मा ने उन्हें अपने ही हाथों से सँवारा है । भरतजी रामचन्द्रजी की ही सूरत के हैं । कोई स्त्री-पुरुष उनको एकाएक देखकर पहचान नहीं सकता ॥ ३ ॥

लषन सत्रुसूदन एकरूपा। नख सिख तें सब अंग अनूपा॥
मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं। उपमा कहँ त्रिभुवन कोउ नाहीं॥४॥

लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी दोनों का एक-सा ही रूप है। उनके भी नख से चोटीपर्यन्त सभी अंग अनुपम हैं। वे सब मन को भाते हैं, पर मुँह से उनका वर्णन नहीं हो सकता। उनको उपमा देने के लिए तीनों लोकों में कोई नहीं है॥ ४॥

छंद—उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहुँ कबिकोबिद कहहिं।
बल-बिनय-बिद्या-सील-सोभा-सिंधु इन्ह से एइ अहहिं॥
पुरनारि सकल पसारि अंचल बिधिहि बचन सुनावहीं।
ब्याहियहु चारिउ भाइ एहि पुर हम सुमंगल गावहीं॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसी कोई उपमा नहीं है जिसे कोई कवि या पण्डित इन्हें दे। बल, नम्रता, विद्या, शील और शोभा के समुद्र इनके जैसे ये ही हैं। नगर की सब स्त्रियाँ अंचल (वस्त्र का पल्ला) पसार कर ब्रह्मा से प्रार्थना करती हैं कि हे विधाता! इन चारों सुन्दर भाइयों का विवाह इसी नगर में कराओ और हम मंगल गीत गावें॥

सो०—कहहिं परसपर नारि बारिबिलोचन पुलकतन।
सखि सबु करब पुरारि पुन्य-पयो-निधि भूप दोउ॥३४४॥

आँखों में जल भरकर और शरीर में पुलकायमान होकर सब स्त्रियाँ आपस में कहने लगीं कि हे सखियो! महादेवजी सब कामना पूरी करेंगे, क्योंकि ये दोनों राजा पुण्य के समुद्र हैं॥ ३४४॥

चौ०—एहि बिधि सकल मनोरथ करहीं। आनँद उमगि उमगि उर भरहीं॥
जे नृप सीयस्वयंबर आये। देखि बंधु सब तिन्ह सुख पाये॥१॥

इसी प्रकार सब इच्छा करने लगे और उमग उमगकर हृदय में आनन्द भरने लगे। जो (अच्छे) राजा सीताजी के स्वयंवर में आये थे वे चारों भाइयों को देखकर सुखी हुए॥ १॥

कहत रामजसु बिसद बिसाला। निज निज भवन गये महिपाला॥
गये बीति कछु दिन एहि भाँती। प्रमुदित पुरजन सकल बराती॥२॥

रामचन्द्रजी के बड़े शुद्ध यश को सराहते हुए राजा लोग अपने अपने घर को चले गये। इसी तरह आनन्द में सब नगर-निवासियों और बरातियों के कुछ दिन बीत गये॥ २॥

मंगलमूल लगनदिनु आवा। हिमरितु अगहनु मासु सुहावा॥
ग्रह तिथि नखतु जोगु बर बारू। लगन सोधि बिधि कीन्ह बिचारू॥३॥

मंगलमय विवाह का दिन आया। हेमन्त ऋतु में सुहावना अगहन महीना और तिथि, वार, नक्षत्र, ग्रह, योग सभी श्रेष्ठ था, ऐसा लग्न शोधनकर ब्रह्मा ने विचार किया ॥ ३ ॥

पठइ दीन्हि नारद सन सोई। गनी जनक के गनकन्ह जोई ॥
सुनी सकल लोगन यह बाता। कहहिँ जोतिषी आहिँ बिधाता ॥४॥

और वही लग्नपत्रिका उन्होंने नारदजी के हाथ से भेज दी। इधर जनकजी के ज्योतिषियों ने भी गणित कर वही समय निश्चित किया। जब सब लोगों ने यह बात सुनी तो वे कहने लगे कि ज्योतिषी लोग तो दूसरे विधाता ही हैं (इसी से तो वही लग्न शुद्ध ठहरा) ॥ ४ ॥

दो०—धेनु-धूलि-बेला बिमल सकल-सुमंगल-मूल।
बिप्रन्ह कहेउ बिदेह सन जानि सगुन अनुकूल ॥३४५॥

ब्राह्मणों ने शकुनों को अनुकूल जानकर जनकजी से कहा कि गोधूलि (सूर्यास्त की दो घड़ी से सूर्यास्त पर्यन्त का समय, जिसमें गौएँ चर चरकर लौटें और उनकी धूल उड़े उस समय का नाम गोधूलि है) का समय शुद्ध और संपूर्ण मंगलों से भरा हुआ है ॥ ३४५ ॥

चौ०—उपरोहितहि कहेउ नरनाहा। अब बिलंब कर कारन काहा ॥
सतानंद तब सचिव बोलाये। मंगल सकल साजि सब ल्याये ॥१॥

महाराज जनक ने पुरोहितजी से कहा कि अब देरी करने का कारण क्या है? तब शतानन्दजी (पुरोहित) ने मन्त्रियों को बुलाया और वे सारी मंगल की चीजें सजाकर ले आये ॥ १ ॥

संख निसान पनव बहु बाजे। मंगलकलस सगुन सुभ साजे ॥
सुभग सुआसिनि गावहिँ गीता। करहिँ बेदधुनि बिप्र पुनीता ॥२॥

शंख, निसान (राजाओं की सवारी में ध्वजा के साथ साथ नगारे के समान एक बाजा होता है), डफ इत्यादि बाजे बजने लगे और मंगल-कलश तथा शकुन की चीजें सजाई जाने लगीं। सौभाग्यवती स्त्रियाँ सुन्दर गीत गाने लगीं और ब्राह्मण लोग पवित्र वेद-पाठ करने लगे ॥२॥

लेन चले सादर एहि भाँती। गये जहाँ जनवास बराती ॥
कोसलपति कर देखि समाजू। अति लघु लाग तिन्हहिँ सुरराजू ॥३॥

इस तरह वे लोग जहाँ जनवासे में बराती ठहरे थे, वहाँ उन्हें लेने के लिए गये और कोसलपति महाराजा दशरथ के समाज को देख उसके आगे उन्हें देवराज (इन्द्र) का भी वैभव बहुत हलका लगा ॥ ३ ॥

भयउ समउ अब धारिय पाऊ। यह सुनि परा निसानहि घाऊ ॥
गुरुहि पूछिकर कुलबिधि राजा। चले संग मुनि-साधु-समाजा ॥४॥

उन लोगों ने महाराज से प्रार्थना की कि समय आ गया, अब आप पधारिए। यह सुनते ही निसान पर डंका पड़ा। राजा दशरथ गुरु वसिष्ठजी से पूछ कर और कुल की रीति पूरी करके साथ में ऋषियों और सज्जनों की मंडली लेकर चले॥ ४॥

दो०—भाग्यविभव अवधेस कर देखि देव ब्रह्मादि।
लगे सराहन सहसमुख जानि जनम निज बादि॥३४६॥

ब्रह्मादिक देवता अवधपति दशरथ के भाग्य के वैभव को देखकर, अपना जन्म व्यर्थ जानकर, हजार मुख से उनकी बड़ाई करने लगे॥ ३४६॥

चौ०—सुरन्ह सुमंगल अवसरु जाना। बरषहिँ सुमन बजाइ निसाना॥
सिव ब्रह्मादिक बिबुधबरूथा। चढ़े बिमानन्हि नाना जूथा॥१॥

देवताओं ने उत्तम मंगल का समय जानकर निसान बजाये और फूल बरसाये। शिव, ब्रह्मा आदि देवगण अनेक विमानों की पंक्तियों में चढ़े॥ १॥

प्रेम-पुलक-तन हृदय उछाहू। चले बिलोकन रामबिआहू॥
देखि जनकपुर सुर अनुरागे। निज-निज लोक सबहिं लघु लागे॥२॥

और प्रेम से पुलकित-शरीर हो तथा हृदयों में उत्साह भरकर रामचन्द्रजी का विवाहोत्सव देखने चले। जनकपुर देखकर देवता लोग स्नेह में भर गये। उसके सामने उनको अपने अपने देव-लोक भी तुच्छ लगे॥ २॥

चितवहिँ चकित बिचित्र बिताना। रचना सकल अलौकिक नाना॥
नगर - नारि - नर रूपनिधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना॥३॥

वे चकित होकर अनोखे मण्डपों और भाँति भाँति की सब अलौकिक बनावटों को देखने लगे। नगर के सब स्त्री-पुरुष स्वरूपवान्, चतुर, धर्मात्मा, सुशील और विवेकी थे॥ ३॥

तिन्हहिँ देखि सब सुर-सुर-नारी। भये नखत जनु बिधु उँजियारी॥
बिधिहि भयउ आचरजु बिसेखी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥४॥

उन्हें देखकर सब देवता और उनकी स्त्रियाँ ऐसे हो गये कि जैसे चन्द्रमा के उजेले में नक्षत्रगण। ब्रह्मा को विशेष आश्चर्य हुआ, क्योंकि उन्होंने वहाँ अपनी कारीगरी कहीं भी न देखी॥ ४॥

दो०—सिव समुझाये देव सब जनि आचरज भुलाहु।
हृदय बिचारहु धीर धरि सिय-रघु-बीर-बिआहु॥३४७॥

तब शिवजी ने सब देवताओं को समझाया कि अचंभे में मत पड़ो। धीरज धरकर मन में विचार करो कि यह सीता और रामचन्द्रजी का विवाह है॥ ३४७॥

चौ०—जिन्ह कर नामु लेत जग माहीँ। सकल-अमंगल-मूल नसाहीँ॥
करतल होहिँ पदारथ चारी। तेइ सिय रामु कहेउ कामारी॥१॥

जगत् में जिनका नाम लेने से ही सभी अमंगल का मूल नष्ट हो जाता है और चारों पदार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) मुट्ठी में आ जाते हैं। महादेवजी ने कहा कि यह वही सीता-रामजी हैं॥ १॥

एहि बिधि संभु सुरन्ह समुझावा। पुनि आगे बरबसह चलावा॥
देवन्ह देखे दसरथु जाता। महामोद मन पुलकित गाता॥२॥

शंकरजी ने इस तरह सब देवताओं को समझाया और अपने श्रेष्ठ नंदीश्वर को आगे बढ़ाया। देवताओं ने देखा कि दशरथजी मन में बड़े प्रसन्न होते हुए और पुलकितशरीर चले जा रहे हैं॥ २॥

साधु समाजु संग महिदेवा। जनु तनु धरे करहिँ सुख सेवा॥
सोहत साथ सुभग सुत चारी। जनु अपबरग सकल तनुधारी॥३॥

साथ में ब्राह्मण और सन्त-समाज था। वह ऐसा मालूम होता था मानों सुख ही शरीर धरकर सेवा करने आया है। उनके साथ भाग्यशाली चारों पुत्र हैं, वे मानों चारों मूर्त्तिमान् मोक्ष[1] ही देह धरे हुए हैं॥ ३॥

मरकत-कनक-बरन बर जोरी। देखि सुरन्ह भइ प्रीति न थोरी॥
पुनि रामहिँ बिलोकि हिय हरषे। नृपहि सराहि सुमन तिन्ह बरषे॥४॥

मरकत मणि के समान (राम और भरत) और सुवर्ण के समान (लक्ष्मण और शत्रुघ्न की) सुन्दर जोड़ी देखकर देवताओं को बड़ी प्रीति हुई। फिर रामचन्द्रजी को देखकर वे मन में प्रसन्न हुए और उन्होंने राजा की प्रशंसा कर फूल बरसाये॥ ४॥

दो०—रामरूप नख-सिख-सुभग बारहिँ बार निहारि।
पुलक गात लोचन सजल उमासमेत पुरारि॥३४८॥

रामचन्द्रजी का नख से चोटी पर्यन्त सुन्दर स्वरूप बारंबार देखकर पार्वती-सहित शङ्करजी का शरीर पुलकित हो गया और उनकी आँखों में प्रेम-जल भर आया॥ ३४८॥

चौ०—केकि-कंठ-दुति स्यामल अंगा। तडितबिनिंदक बसन सुरंगा॥
ब्याहबिभूषन बिबिध बनाये। मंगलमय सबु भाँति सुहाये॥१॥

रामचन्द्रजी का अंग तो मोर के कंठ की चमक का-सा श्याम और (पीले) वस्त्र बिजली

१—मोक्ष चार प्रकार का है— सायुज्य, सामीप्य, सारूप्य और सालोक्य।

को भी मात करनेवाले थे। ब्याह के लिए जो तरह तरह के गहने बनाये गये हैं, वे सभी तरह से सुहावने और मंगलमय हैं ॥ १ ॥

सरद-बिमल-बिधु-बदन सुहावन। नयन नवल - राजीव - लजावन॥
सकल अलौकिक सुंदरताई। कहि न जाइ मनहीँ मन भाई॥२॥

शरत्काल के निर्मल चन्द्र का-सा श्रीमुख, ताज़े कमल को भी मात करनेवाले नेत्र इत्यादि सभी सुन्दरता अलौकिक (जो संसार में देखनी दुर्लभ) है, वह कही नहीं जाती, मन ही मन भाती है ॥ २ ॥

बंधु मनोहर सोहहिँ संगा। जात नचावत चपल तुरंगा॥
राजकुअँर बरबाजि देखावहिँ। बंसप्रसंसक बिरद सुनावहिँ॥३॥

साथ में मनोहर भाई शोभित हैं, जो चंचल घोड़ों को नचाते हुए जा रहे हैं। राजकुमार तो सुन्दर घोड़े नचा नचाकर दिखाते हैं और भाट लोग विरदावली सुनाते जाते हैं ॥ ३ ॥

जेहि तुरंग पर रामु बिराजे। गति बिलोकि खगनायकु लाजे॥
कहि न जाइ सब भाँति सुहावा। बाजिबेषु जनु काम बनावा॥४॥

जिस घोड़े पर रामचन्द्रजी विराजमान हुए उसकी चाल को देखकर गरुड़ भी लजा गये। कहते नहीं बनता (इतना ही कहना है कि) सभी तरह से वह सुन्दर था मानों कामदेव ही घोड़े का रूप धरकर आ गया है ॥ ४ ॥

छंद—जनु बाजिबेषु बनाइ मनसिजु रामहित अति सोहई।
आपने बय बल रूप गुन गति सकल भुवन बिमोहई॥
जगमगत जीन जराव जोति सुमोति मनि मानिक लगे।
किंकिनि ललाम लगामु ललित बिलोकि सुर नर मुनि ठगे॥

मालूम होता है कि कामदेव रामचन्द्रजी के लिए घोड़े का वेष धरकर बहुत शोभित हो रहा है। वह अपनी अवस्था, बल, रूप, गुण और चाल से सारे लोकों को मोहित कर रहा है। उसका जड़ाऊ जीन जोत से जगमगा रहा है। उसमें बढ़िया मोती, मानिक और मणि जड़े हुए हैं। किंकिणी (घुँघुरू) लगी हुई सुन्दर बढ़िया लगाम है कि जिसको देखकर देवता, मनुष्य और ऋषि भी ठग गये (मोहित हो गये) ॥

दो०—प्रभुमनसहिँ लयलीन मनु चलत बाजि छबि पाव।
भूषित उडगन तड़ित घनु जनु बर बरहि नचाव॥३४६॥

प्रभु (रामचन्द्रजी) के मन में लवलीन मनवाला अर्थात् रामचन्द्रजी के इच्छानुसार चलता हुआ घोड़ा इस प्रकार शोभा पाता है मानों नक्षत्रों और बिजली से युक्त मेघ सुन्दर मोर

को नचा रहा है। (ज़ीन में जड़े हुए रत्न नक्षत्रों के समान, मानिक-मोती-जड़ी लगाम बिजली के समान, घोड़ा मोर के समान और रामचन्द्रजी मेघ के समान लगते हैं) ॥ ३४९ ॥

चौ०—जेहि बर बाजि रामु असवारा। तेहि सारदउ न बरनइ पारा॥
संकर राम-रूप-अनुरागे। नयन पंचदस अतिप्रिय लागे॥१॥

जिस श्रेष्ठ घोड़े पर रामचन्द्रजी सवार हैं उसका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकतीं। शंकरजी रामचन्द्रजी के रूप पर मोहित हो गये, उस समय उनकी पन्द्रहों आँखों को श्रीराम अत्यन्त प्रिय लगे। (शिवजी पञ्चमुख हैं। एक एक मुख में तीन तीन नेत्र यों १५ नेत्र हुए) ॥ १ ॥

हरि हितसहित रामु जब जोहे। रमासमेत रमापति मोहे॥
निरखि रामछबि बिधि हरषाने। आठै नयन जानि पछिताने॥२॥

जब लक्ष्मीपति विष्णु भगवान् ने प्रेम से रामचन्द्रजी को देखा तो वे भी लक्ष्मीसमेत मोहित हो गये। रामचन्द्रजी की कान्ति को देखकर ब्रह्माजी प्रसन्न हुए। पर वे अपने आठ ही नेत्र जानकर पछताये (जो ज्यादा नेत्र होते तो और ज्यादा देखते) ॥ २ ॥

सुर-सेनप-उर बहुत उछाहू। बिधि तें डेवढ सु-लोचन-लाहू॥
रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतमसापु परमहित माना॥३॥

देवताओं के सेनापति (स्वामिकार्तिक) के मन में बड़ा उत्साह हुआ। उन्होंने ब्रह्मा से डेवढ़े (छः मुख के बारह) नेत्रों का लाभ उठाया। चतुर इन्द्र ने जब रामचन्द्रजी को देखा तब उन्होंने गौतम ऋषि के शाप[१] को बड़ा हितकारी माना ॥ ३ ॥

देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरंदरसम कोउ नाहीं॥
मुदित देवगन रामहिं देखी। नृपसमाज दुहुँ हरष बिसेखी॥४॥

सब देवता इन्द्र की बड़ाई करने लगे कि आज इनके बराबर कोई नहीं है। देवगण रामचन्द्रजी को देखकर बड़े ख़ुश हुए। दोनों ओर के राज-समाज में बड़ा आनन्द छा गया ॥ ४ ॥

छंद—अतिहरष राजसमाजु दुहुँ दिसि दुंदुभी बाजहिं घनी।
बरषहिं सुमन सुर हरषि कहि जयजयति जय रघु-कुल-मनी॥
एहि भाँति जानि बरात आवत बाजने बहु बाजहीं।
रानी सुआसिनि बोलि परिछन हेतु मंगल साजहीं॥

दोनों ओर के राज-समाजों में अति-प्रसन्नता छा रही है, नगारे बज रहे हैं, देवता फूल बरसाते हुए रघु-कुल-मणि रामचन्द्रजी की जय जयकार कर रहे हैं। इस तरह बरात को आती हुई

१—कथा प्रसिद्ध है कि गौतम ने इन्द्र को व्यभिचार के कारण एक हज़ार भग होने का शाप दिया था, फिर प्रार्थना करने पर वे भग मिट कर नेत्र हो गये।

जानकर इधर (जनक के घर की ओर) भी खूब बाजे बजने लगे और रानी (जनक की स्त्री) सुवासिनी (सौभाग्यवती) स्त्रियों को बुलाकर परछन करने के लिए मंगल-वस्तु सजाने लगीं ॥

दो०—सजि आरती अनेक विधि मंगल सकल सवाँरि।
चलीं मुदित परिछन करन गजगामिनि बरनारि ॥३५०॥

मंगलकारी सभी चीजें सजाकर और अनेक प्रकार से आरती को सजाकर हाथी की चाल से चलनेवाली सुन्दर स्त्रियाँ प्रसन्न-चित्त से परछन[1] (आरती) करने के लिए चलीं ॥ ३५० ॥

चौ०—बिधुबदनी सब सब मृगलोचनि। सब निज-तन-छबि रति-मद-मोचनि ॥
पहिरे बरन बरन बर चीरा। सकल बिभूषन सजे सरीरा ॥१॥

वे सभी स्त्रियाँ चन्द्रमुखी, मृगनयनी और अपने शरीर की कान्ति से कामदेव की स्त्री रति के भी अभिमान को भंग कर देनेवाली थीं। वे सुन्दर रँगे हुए वस्त्र पहने हुए थीं और उनके अंगों में सभी गहने शोभित हो रहे थे ॥ १ ॥

सकल सुमंगल अंग बनाये। करहिँ गान कलकंठ लजाये ॥
कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिँ। चाल बिलोकि कामगज लाजहिँ ॥२॥

उनके सभी अंग मंगल वेष से सजे हुए थे, वे कोयल-स्वर को लजाती हुई गीत गा रही थीं। उनके कड़े, घूँघरवाली तागड़ी और पाजेब बज रहे हैं। उनकी चाल को देखकर मतवाले हाथी (अथवा कामदेवरूपी हाथी अथवा कामदेव और हाथी) लज्जित हो जाते थे ॥ २ ॥

बाजहिँ बाजन बिबिध प्रकारा। नभ अरु नगर सुमंगलचारा ॥
सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी ॥३॥

बहुत तरह के बाजे बज रहे हैं और नगर में तथा आकाश में सभी जगह सुन्दर मंगलाचार हो रहे हैं। इन्द्राणी, सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती तथा सहज पवित्र, चतुर और भी देवतों की स्त्रियाँ ॥ ३ ॥

कपट-नारि-बर-वेष बनाई। मिलीँ सकल रनिवासहिँ जाई ॥
करहिँ गान कल मंगलबानी। हरषबिबस सब काहु न जानी ॥४॥

छल से सुन्दर स्त्रियों के रूप धर धरकर रनिवास की स्त्रियों में जा मिलीं। मंगलवाणी से वे भी मनोहर गीत गाने लगीं। सभी आनन्द में लोट पोट थीं। उन्हें किसी ने नहीं जाना (कि ये कहाँ की कौन हैं) ॥ ४ ॥

१—परछन शब्द परीक्षण का अपभ्रंश है। तात्पर्य यह है कि विवाह के समय वर की परीक्षा करके यह जान लिया जाता है कि कहीं कुछ धोखा तो नहीं है।

छंद—को जान केहि आनंदबस सब ब्रह्म बर परिछन चलीं।
कलगान मधुर निसान बरषहिं सुमन सुर सोभा भलीं॥
आनंदकंद बिलोकि दूलहु सकल हिय हरषित भईं।
अंभोज-अंबक-अंबु उमगि सुअंग पुलकावलि छईं॥

मारे आनन्द के वहाँ कौन किसको पहचानता? सभी ब्रह्मरूप वर का परछन करने चलीं। मधुर गान हो रहा है, निसान बज रहे हैं, देवता फूल बरसा रहे हैं, अच्छी शोभा हो रही है। वे सभी स्त्रियाँ आनन्दकन्द दूल्हे (रामचन्द्रजी) को देखकर हृदय में प्रसन्न हुईं। कमल समान नेत्रों में से जल उमँग चला और दिव्य शरीरों में पुलकावलि छा गई॥

दो०—जो सुख भा सिय-मातु-मन देखि राम-बर-बेषु।
सो न सकहिं कहि कलप-सत-सहस सारदा सेषु॥३५१॥

श्रीरामचन्द्रजी के उत्तम वेष को देखकर सीताजी की माता को जो सुख हुआ उसको सरस्वती और शेषजी भी सैकड़ों हज़ारों कल्पों तक भी नहीं कह सकते॥ ३५१॥

चौ०—नयन नीर हटि मंगल जानी। परिछन करहिं मुदित मन रानी॥
बेदबिहित अरु कुलआचारू। कीन्ह भली बिधि सब ब्यवहारू॥१॥

रानियाँ मंगल का समय जानकर, नेत्रों के जल को रोककर, प्रसन्न मन से परछन करने लगीं। (पहले) वेदोक्त विधि और कुल-परम्परा की रीति आदि सभी व्यवहार भली भाँति किये गये॥ १॥

पंच सबद धुनि मंगल गाना। पट पावँडे परहिं बिधि नाना॥
करि आरती अरघ तिन्ह दीन्हा। राम गवनु मंडप तब कीन्हा॥२॥

पाँच मंगलसूचक बाजे (तंत्री, ताल, झाँझ, नगारा और तुरही ये पंचशब्द कहलाते हैं) बजने लगे और मंगल गीत गाये गये। फिर पाँवड़े के लिए कपड़े पड़ने (बिछाये जाने) लगे। उन स्त्रियों ने आरती करके अर्घ्य (हाथ पैर धोने को जल) दिया, तब रामचन्द्रजी मंडप में गये॥ २॥

दसरथ सहित समाज बिराजे। बिभव बिलोकि लोकपति लाजे॥
समय समय सुर बरषहिं फूला। सांति पढहिं महिसुर अनुकूला॥३॥

जिनके ऐश्वर्य को देखकर लोक-पाल भी शरमा जायँ वे महाराज दशरथ अपने समाज-सहित (मंडप में) विराजे। समय समय पर (थोड़ी थोड़ी देर में) देवता फूल बरसाते हैं और ब्राह्मण लोग अनुकूल शान्ति-पाठ करते हैं॥ ३॥

नभ अरु नगर कोलाहल होई। आपनि पर कछु सुनइ न कोई॥
एहि बिधि रामु मंडपहिँ आये। अरघु देइ आसन बैठाये॥४॥

नगर और आकाश में कोलाहल (शोर) मच रहा है जिससे कोई कुछ भी अपनी या पराई बात सुनता ही नहीं। इस विधि से रामचन्द्रजी मण्डप में आये और अर्घ्य देकर आसन पर बैठाये गये॥४॥

छंद—बैठारि आसन आरती करि निरखि बरु सुखु पावहीँ।
मनि बसन भूषन भूरि वारहिँ नारि मंगल गावहीँ॥
ब्रह्मादि सुरबर बिप्रबेष बनाइ कौतुक देखहीँ।
अवलोकि रघु-कुल-कमल-रबि-छबि सुफल जीवन लेखहीँ॥

वर को आसन पर बैठाकर और आरती करके, तथा उन्हें देख देख सब प्रसन्न हो रहे हैं। उन पर मणि, वस्त्र, भूषण, सब वार वार कर स्त्रियाँ मंगल गाती हैं। ब्रह्मादिक श्रेष्ठ देवता ब्राह्मण का वेष धरकर उत्सव देख रहे हैं और श्रीरघुकुलकमलदिवाकर (रामचन्द्रजी) की छवि देखकर अपना जीवन सफल मान रहे हैं॥

दो०—नाऊ बारी भाट नट रामनिछावरि पाइ।
मुदित असीसहिँ नाइ सिर हरषु न हृदय समाइ॥३५२॥

नाई, बारी, भाट और नट रामचन्द्रजी की न्यौछावरें पाकर प्रसन्न हो सिर झुकाकर आशीर्वाद देने लगे। उनके मन में आनन्द नहीं समाता था॥ ३५२॥

चौ०—मिले जनकु दसरथु अति प्रीती। करि बैदिक लौकिक सब रीती॥
मिलत महा दोउ राज बिराजे। उपमा खोजि खोजि कबि लाजे॥१॥

वैदिक रीति और लोकाचार करके महाराजा जनक और दशरथ बड़े प्रेम से मिले। उस समय उन दोनों की जो शोभा हुई उसके लिए उपमा ढूँढ़ ढूँढ़कर कवि लज्जित हो गये॥१॥

लही न कतहुँ हारि हिय मानी। इन्ह सम एइ उपमा उर आनी॥
सामध देखि देव अनुरागे। सुमन बरषि जसु गावन लागे॥२॥

जब कहीं उपमा न मिली, तब अपने जी में उन्होंने हार मानी। फिर यही उपमा दी कि इनकी समानता[१] तो इन्हीं से है। समधियों का मिलन देखकर देव-गण प्रेम में भर गये और फूलों की वर्षा कर उनका यश गाने लगे॥ २॥

१—यह अनन्वयालङ्कार है। जहाँ दोनों उपमाएँ एक-सी हों, वहाँ दूसरी उपमा न मिलने से यह अलङ्कार बनता है। जैसे—गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः। रामरावणयोर्युद्धं रामरावण-योरिव॥ अर्थात् आकाश आकाश ही जैसा है, समुद्र समुद्र ही जैसा है और रामचन्द्र रावण की लड़ाई राम-रावण ही जैसी है। यही अलङ्कार इस चौपाई में है।

जगु बिरंचि उपजावा जब तें। देखे सुने ब्याह बहु तब तें॥
सकल भाँति सम साजु समाजू। सम समधी देखे हम आजू॥३॥

(वे बोले) जब से ब्रह्मा ने संसार उत्पन्न किया है तब से बहुत-से विवाह हमने देखे और सुने, परन्तु सभी तरह सभी साज और समाज बराबर, समधी भी बराबरी के, यह हमने आज ही देखा है॥ ३॥

देवगिरा सुनि सुंदर साँची। प्रीति अलौकिक दुहुँ दिसि माँची॥
देत पावँडे अरघु सुहाये। सादर जनकु मंडपहिँ ल्याये॥४॥

ऐसी सुन्दर और सच्ची देव-वाणी सुनकर दोनों ओर (यहाँ दिशा शब्द 'ओर' का बोधक है) अलौकिक प्रीति छा गई। जनकजी उन (समधी) को पाँवड़े और अर्घ्य देते हुए बड़े प्रेम के साथ मंडप में लिवा लाये॥ ४॥

छंद—मंडपु बिलोकि बिचित्ररचना रुचिरता मुनिमन हरे।
निज पानि जनक सुजान सब कहँ आनि सिंहासन धरे॥
कुल-इष्ट-सरिस बसिष्ठ पूजे बिनय करि आसिष लही।
कौसिकहिँ पूजत परमप्रीति कि रीति तौ न परइ कही॥

मंडप की विचित्र (अनोखी) रचना की सुन्दरता देखने में मुनियों (त्यागियों) के भी मन को हरनेवाली है। विवेकी जनक महाराज ने अपने हाथ से सबके लिए सिंहासन लाकर रक्खे। फिर कुल-देव इष्ट-देव के समान वसिष्ठजी का पूजन और प्रार्थना कर उनसे आशीर्वाद लिया। फिर विश्वामित्रजी का पूजन करते समय जो परम प्रीति हुई उसकी रीति का वर्णन नहीं हो सकता॥

दो०—बामदेवआदिक रिषय पूजे मुदित महीस।
दिये दिब्य आसन सबहि सब सन लही असीस॥३५३॥

राजा (जनक) ने वामदेव आदि सभी ऋषियों की प्रसन्नता से पूजा की और सबके बैठने के लिए सुन्दर आसन दिये तथा सबसे आशीर्वाद लिये॥ ३५३॥

चौ०—बहुरि कीन्ह कोसलपति पूजा। जानि ईससम भाव न दूजा॥
कीन्हि जोरि कर बिनय बड़ाई। कहि निज भाग्य बिभव बहुताई॥१॥

फिर जनक ने कोसलेश दशरथजी को ईश्वर के समान जानकर दूसरा कुछ भाव न रखकर पूजा की, हाथ जोड़कर नम्रता से उनकी बड़ाई और प्रार्थना की और (उनके दर्शन तथा पूजन से) अपने भाग्य को बहुत ही सराहा॥ १॥

पूजे भूपति सकल बराती। समधीसम सादर सब भाँती॥
आसन उचित दिये सब काहू। कहउँ कहा मुख एक उछाहू॥२॥

फिर महाराज ने सभी बरातियों का समधी के समान सभी तरह आदरपूर्वक पूजन किया, सभों को योग्य आसन दिये। (तुलसीदासजी कहते हैं कि) मैं एक मुँह से उस उत्साह का वर्णन क्या करूँ॥ २॥

सकल बरात जनक सनमानी। दान मान बिनती बर बानी॥
बिधि हरि हर दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिँ रघु-बीर-प्रभाऊ॥३॥

जनकजी ने सभी बरात का दान, मान, श्रेष्ठ वचन और प्रार्थना से सत्कार किया। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, दिक्पाल, सूर्य आदि जो रामचन्द्रजी के प्रभाव को जानते थे॥ ३॥

कपट-बिप्र-बर बेषु बनाये। कौतुक देखहिँ अति सचुपाये॥
पूजे जनक देवसम जाने। दिये सुआसन बिनु पहिचाने॥४॥

वे सब कपट से श्रेष्ठ ब्राह्मण का वेष बनाये हुए बड़े आनन्द से तमाशा देख रहे थे। जनकजी ने उनको भी देवताओं के समान जानकर उनका पूजन किया और बिना पहचाने उन्हें उत्तम आसन दिये॥ ४॥

छंद—पहिचान को केहि जान सबहि अपान सुधि भोरी भई।
आनंदकंद बिलोकि दूलह उभय दिसि आनँदमई॥
सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दये।
अवलोकि सील सुभाउ प्रभु को बिबुधमन प्रमुदित भये॥

(उस समय) कोई किसी को क्या पहचानता! बरात में आनन्दकन्द रामचन्द्रजी को दूल्हा देखकर दोनों ओर आनन्द छा गया और सभी अपनी सुध बुध भूल गये। (ऐसे में) सुजान रामचन्द्रजी ने देवताओं को पहचान कर और उन्हें मानसिक आसन देकर उनकी मानसिक पूजा की। प्रभु के (इस) शील और स्वभाव को देखकर देवता मन में प्रसन्न हुए॥

दो०—रामचंद्र-मुख-चंद्र-छबि लोचन चारुचकोर।
करत पान सादर सकल प्रेमु प्रमोदु न थोर॥३५४॥

जिस तरह चकोर पक्षी चन्द्रमा को देखकर प्रसन्न होता और बराबर देखता ही रहता है उसी तरह श्रीरामचन्द्रजी के मुखरूपी चन्द्र की छवि को सभी के नेत्ररूपी चकोर आदर के साथ निरख रहे हैं और बड़ा भारी प्रेमानन्द छा गया है॥ ३५४॥

चौ०—समउ बिलोकि बसिष्ठ बोलाये। सादर सतानंदु मुनि आये॥
बेगि कुअँरि अब आनहु जाई। चले मुदित मुनि आयसु पाई॥१॥

समय जानकर वसिष्ठजी ने शतानन्द को बुलवाया। वे सुनते ही आदर के साथ आ गये। उनसे कहा कि जल्दी जाकर कन्या को लाइए। वसिष्ठजी की आज्ञा पाकर वे प्रसन्नतापूर्वक लाने को चले ॥ १ ॥

रानी सुनि उपरोहितबानी। प्रमुदित सखिन्ह समेत सयानी ॥
बिप्रबधू कुलबृद्ध बोलाईं। करि कुलरीति सुमंगल गाईं ॥२॥

(भीतर जाकर उन्होंने रानी से कहा) चतुर रानी ने पुरोहित (शतानन्द) की वाणी सुनकर, सखियों-समेत प्रसन्न होकर, कुल की बूढ़ी और ब्राह्मणियों को बुलवाकर मंगल-गानपूर्वक कुलाचार किया ॥ २ ॥

नारिबेष जे सुर-बर-बामा। सकल सुभाय सुंदरी स्यामा ॥
तिन्हहिँ देखि सुखु पावहिँ नारी। बिनु पहिचानि प्रान तेँ प्यारी ॥३॥

जो श्रेष्ठ देवताओं की स्त्रियाँ (प्राकृत) स्त्री-वेष धरकर आई थीं वे सभी स्वभाव से सुन्दरी और श्यामा (सोलह सोलह बरस की) थीं। सब स्त्रियाँ उन्हें देखकर बहुत सुखी हुईं। बिना जान-पहचान के भी वे प्राण से भी अधिक प्यारी लगीं ॥ ३ ॥

बार बार सनमानहिँ रानी। उमा-रमा-सारद-सम जानी ॥
सिय सवाँरि सब साजु बनाई। मुदित मंडपहिँ चलीँ लेवाई ॥४॥

जनक की स्त्री उनको लक्ष्मी, पार्वती और सरस्वती के समान समझकर बारंबार उनका सम्मान करने लगीं। वे सीताजी को सँवारकर (वस्त्र-भूषण आदि पहनाकर) और सब तरह उनका शृङ्गार करके प्रसन्नता के साथ मण्डप को लिवा चलीं ॥ ४ ॥

छंद—चलि ल्याइ सीतहिँ सखी सादर सजि सुमंगल भामिनी।
नवसत साजे सुंदरी सब मत्त-कुंजर-गामिनी ॥
कलगान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिँ काम कोकिल लाजहीँ।
मंजीर नूपुर कलित कंकन तालगति बर बाजहीँ ॥

सखी और स्त्रियाँ (दासियाँ) सजकर सीताजी को मंडप को लिवा चलीं। सभी स्त्रियों ने सोलह शृङ्गार कर रक्खे हैं, मतवाले हाथी की-सी उनकी चाल है, उनका मधुर गान सुनकर ऋषियों के ध्यान छूट जायँ, कामदेव और कोयल भी शरमा जायँ। करधनी, नूपुर और दिव्य कंकणों के शब्द ताल के स्वर के अनुसार बजते थे ॥

दो०—सोहति बनितावृंद महुँ सहज सुहावनि सीय।
छबि-ललना-गन मध्य जनु सुखमा तिय कमनीय ॥३५५॥

स्वाभाविक सुन्दर सीताजी उन स्त्रियों के समूह में ऐसी शोभित हुई कि मानों शोभारूपी स्त्रियों के बीच परम शोभा स्त्रीरूप धरकर आई हो ॥ ३५५ ॥

चौ०—सिय सुंदरता बरनि न जाई। लघुमति बहुत मनोहरताई ॥
आवत दीखि बरातिन्ह सीता। रूपरासि सब भाँति पुनीता ॥१॥

सीताजी की सुन्दरता वर्णन नहीं की जाती, क्योंकि (मेरी) बुद्धि तो छोटी है और मनोहरता बहुत है। सब बरातियों ने रूप-निधान, सभी भाँति से पवित्र, सीताजी को आते देख—॥ १ ॥

सबहि मनहि मन किये प्रनामा। देखि राम भये पूरनकामा ॥
हरषे दसरथ सुतन्ह समेता। कहि न जाइ उर आनँद जेता ॥२॥

मन ही मन उन्हें प्रणाम किया और रामचन्द्रजी तो उन्हें देखकर सफल-मनोरथ हो गये। दशरथजी पुत्रों-सहित प्रसन्न हुए। उनके हृदय में जितना आनन्द था वह कहा नहीं जा सकता ॥ २ ॥

सुर प्रनामु करि बरिषहिँ फूला। मुनि-असीस-धुनि मंगलमूला ॥
गान-निसान-कोलाहलु भारी। प्रेम-प्रमोद-मगन नरनारी ॥३॥

देवता प्रणाम करके फूल बरसाने लगे और ऋषियों के मंगलात्मक आशीर्वाद की ध्वनि गूँज उठी। कहीं तो गान हो रहे हैं, कहीं निसान बज रहे हैं, भारी हल्ला मच रहा है। सभी स्त्री-पुरुष आनन्दोत्सव में मग्न हैं ॥ ३ ॥

यहि बिधि सीय मंडपहिँ आई। प्रमुदित सांति पढ़हिँ मुनिराई ॥
तेहि अवसर कर बिधि ब्यवहारू। दुहुँ कुलगुरु सब कीन्ह अचारू ॥४॥

इस तरह सीताजी मण्डप में आई और ऋषीश्वर लोग शान्ति-पाठ करने लगे। दोनों कुल-गुरुओं (वसिष्ठ-विश्वामित्र) ने उस समय के व्यवहार की विधि और कुलाचार किये ॥ ४ ॥

छंद—आचार करि गुरु गौरि गनपति मुदित बिप्र पुजावहीँ।
सुर प्रगटि पूजा लेहि देहिँ असीस अति सुखु पावहीँ ॥
मधुपर्क मंगलद्रव्य जो जेहि समय मुनि मन महुँ चहहिँ।
भरे कनककोपर कलस सो तब लिये परिचारक रहहिँ ॥

ब्राह्मण लोग आचार-विधि कर प्रसन्नतापूर्वक गुरु, गणेश, गौरी आदिकों का पूजन कराने लगे। देवता प्रत्यक्ष प्रकट हो होकर पूजा स्वीकार करते और आशीर्वाद दे देकर प्रसन्न होते हैं। ऋषि जिस समय मधुपर्क, मंगल-द्रव्य आदि जो चीज़ चाहते हैं वे सभी चीज़ें सेवक लोग सोने के कलश और परातों में भरकर लिये उपस्थित मिलते हैं ॥

कुलरीति प्रीतिसमेत रबि कहि देत सबु सादर किये।
एहि भाँति देव पुजाइ सीतहि सुभग सिंहासन दिये॥
सिय-राम-अवलोकनि परसपर प्रेमु काहु न लखि परइ।
मन-बुद्धि-बर-बानी-अगोचर प्रगट कबि कैसे करइ॥

सूर्य-नारायण कुल की सब रीति बड़े प्रेम से कहते हैं (क्योंकि वे सूर्यवंश के आदिम पूर्वज हैं)। उसी के अनुसार बड़े आदर से सब कार्य हुआ। इस तरह देव-पूजा हो जाने पर सीताजी को दिव्य सिंहासन दिया गया। सीता और रामचन्द्रजी का आपस में देखना और एक पर दूसरे की प्रीति किसी को लखाई नहीं पड़ती; क्योंकि जो मन, बुद्धि और वाणी से परे है उस बात को कवि कैसे प्रकट कर सकता है? (अर्थात् वर्णनातीत प्रेम था)॥

दो०—होम समय तनु धरि अनलु अति सुख आहुति लेहिं।
बिप्रबेष धरि बेद सब कहि बिबाहबिधि देहिं॥३५६॥

हवन के समय अग्नि मूर्तिमान् प्रकट हो बड़ी प्रसन्नता से आहुति लेते थे। वेद ब्राह्मणों का वेष धरकर संपूर्ण विवाह-विधि कह देते थे॥ ३५६॥

चौ०—जनक-पाट-महिषी जग जानी। सीयमातु किमि जाइ बखानी॥
सुजस सुकृत सुख सुंदरताई। सब समेटि बिधि रची बनाई॥१॥

जनक महाराज की पटरानी और जगत्प्रसिद्ध सीताजी की माता का वर्णन कैसे किया जाय? उनको तो मानों ब्रह्मा ने सुयश, पुण्य, सुख और सुन्दरता सभी गुणों को इकट्ठा करके बनाया है॥ १॥

समउ जानि मुनिबरन्ह बोलाईं। सुनत सुआसिनि सादर ल्याईं॥
जनक-बाम-दिसि सोह सुनयना। हिमगिरि संग बनी जनु मयना॥२॥

समय जानकर मुनिवरों ने (महारानी को) बुलवाया। सुनते ही सुहागिनी स्त्रियाँ उन्हें आदर के साथ लिवा लाईं। सुनयना (महारानी) महाराजा जनक की बाईं ओर ऐसी शोभित हैं मानों हिमाचल के साथ मैना विराजी हो॥ २॥

कनककलस मनिकोपर रूरे। सुचि-सुगंध-मंगल-जल-पूरे॥
निज कर मुदित राय अरु रानी। धरे राम के आगे आनी॥३॥

सुन्दर सुवर्ण-कलश और मणि जड़ी हुई तथा पवित्र और सुगन्धित जल से भरी हुई परातें, राजा और रानी ने प्रसन्नतापूर्वक अपने हाथों से रामचन्द्रजी के सम्मुख लाकर रक्खीं॥ ३॥

पढ़हिं बेद मुनि मंगलबानी। गगन सुमन झरि अवसर जानी॥
बर बिलोकि दंपति अनुरागे। पाय पुनीत पखारन लागे॥४॥

ऋषि मंगलमय वेद पढ़ने लगे और अवसर जानकर आकाश से फूलों की झड़ी लग गई। वर (दूल्हे) को देखकर राजा और रानी प्रेम में भर गये और उनके पवित्र चरणों को धोने लगे ॥ ४ ॥

छंद—लागे पखारन पायपंकज प्रेम तनु पुलकावली।
नभ नगर गान-निसान-जय-धुनि उमगि जनु चहुँ दिसि चली ॥
जे पदसरोज मनोज-अरि-उर-सर सदैव बिराजहीँ।
जे सुकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीँ ॥

जिस समय महाराजा और महारानी रामचन्द्रजी के चरण-कमलों को धोने लगे उस समय प्रेम से शरीर में पुलकावलि हो गई, नगर में और आकाश में गान, निसान और जय जयकार की ध्वनि चारों दिशाओं में उमड़ चली। जो चरण-कमल कामदेव के शत्रु (शिवजी) के हृदयरूपी सरोवर में सदा ही विराजते हैं, जिन पुण्यमय चरणों के एक बार के स्मरण से भी मन में पवित्रता हो जाती और कलियुग-सम्बन्धी दोष नष्ट हो जाते हैं, ॥

जे परसि मुनिबनिता लही गति रही जो पातकमई।
मकरंदु जिन्ह को संभुसिर सुचिताअवधि सुर बरनई ॥
करि मधुप मुनि मन जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहहिँ।
ते पद पखारत भाग्यभाजनु जनकु जय जय सब कहहिँ ॥

जिनका स्पर्श करके मुनि-पत्नी (अहल्या)—जो महा पापमयी थी वह भी—गति (उद्धार) पा गई, जिनके मकरन्द (रज) को शिवजी मस्तक पर धरते हैं, देवता लोग जिनको पवित्रता की सीमा वर्णन करते हैं, और ऋषि-गण तथा योगि-गण अपने मन को भ्रमर बनाकर जिनका सेवन कर इच्छित गति (मोक्ष) पाते हैं, उन चरण-कमलों को बड़भागी जनक महाराज धो रहे हैं और सब लोग जय जयकार कर रहे हैं ॥

बर-कुअँरि-करतल जोरि साखोचारु दोउ कुलगुरु करहिँ।
भयो पानिगहन बिलोकि बिधि सुर मनुज मुनि आनँद भरहिँ ॥
सुखमूल दूलहु देखि दंपति पुलक तनु हुलस्यो हिये।
करि लोक-बेद-बिधानु कन्यादानु नृपभूषन किये ॥

वर और कन्या की हथेलियों को मिलाकर दोनों कुल-गुरु शाखोचार करने लगे। उस पाणिग्रहण (रामचन्द्रजी का अपने हाथ से सीताजी का हाथ पकड़ना) को देखकर ब्रह्मादि देवता, ऋषि और मनुष्य आनन्द में भर गये। सुख के मूल दूल्हे (रामचन्द्रजी) को देखकर दंपती (राजा-

रानी) का शरीर पुलकायमान हुआ और हृदय उमड़ने लगा। राजमणि (जनक) ने लौकिक और वेदोक्त विधि करके कन्यादान किया॥

हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई।
तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई॥
क्यौं करहिँ बिनय बिदेहु कियो बिदेहु मूरति सावँरी।
करि होमु बिधिवत गाँठि जोरी होन लागी भावँरी॥

जिस तरह हिमाचल ने पार्वती शंकर को और समुद्र ने लक्ष्मी विष्णु को दी थी, उसी तरह जनक ने रामचन्द्रजी को सीता सौंप दी। यह नई कीर्ति सारे संसार में फैल गई। विदेह (जनक) विनती कैसे करें, क्योंकि साँवली मूर्त्ति (रामचन्द्रजी) ने उन्हें विदेह कर दिया अर्थात् उनको अपने शरीर की भी सुधबुध नहीं रही। विधिपूर्वक हवन करके गाँठ बाँधी गई और भाँवरें होने लगीं॥

दो०—जयधुनि बंदी-बेद-धुनि मंगलगान निसान।
सुनि हरषहिँ बरषहिँ बिबुध सुर-तरु-सुमन सुजान॥३५७॥

बंदी और भाट जय शब्द करने लगे, वेद-पाठ होने लगा, मंगल-गीत गाये जाने लगे, निसान बजने लगे। इन सबको सुनकर चतुर देवता प्रसन्न होकर कल्पवृक्ष के फूल बरसाने लगे॥३५७॥

चौ०—कुअँरु कुअँरि कल भावँरि देहीँ। नयनलाभु सब सादर लेहीँ॥
जाइ न बरनि मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहउँ सो थोरी॥१॥

कुमार रामचन्द्र और कुमारी सीता सुन्दर भाँवरें ले रहे हैं और सब दर्शक आदरपूर्वक अपने नेत्रों का लाभ ले रहे हैं। इस मनोहर जोड़ी का वर्णन नहीं हो सकता। इनके लिए जो कुछ भी उपमा दी जाय वही थोड़ी है॥ १॥

राम सीय सुंदर प्रतिछाहीँ। जगमगाति मनि खंभन्ह माहीँ॥
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा। देखत रामबिबाहु अनूपा॥२॥

रामचन्द्र और सीता की सुन्दर परछाँही मणियों के खंभों में जगमगाने लगी। वह ऐसा जान पड़ने लगी मानों काम-देव और रति (उसकी स्त्री) बहुत से रूप धरकर अनुपम राम-विवाह देख रहे हैं॥२॥

दरसलालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी॥
भये मगन सब देखनिहारे। जनकसमान अपान बिसारे॥३॥

उनके मन में दर्शन की लालसा है परन्तु संकोच भी बहुत है, इसी लिए बारम्बार प्रकट हो जाते हैं और फिर छिप जाते हैं। (तात्पर्य यह कि जब परछाँही पड़ती है तब प्रकट हो जाते

हैं और जब नहीं पड़ती तब छिप जाते हैं।) सब देखनेवाले प्रेम-मग्न हो गये और जनक राजा के समान उन्होंने भी सब सुध-बुध भुला दी ॥ ३ ॥

प्रमुदित मुनिन्ह भावँरी फेरी। नेगसहित सब रीति निबेरी ॥
रामु सीयसिर सेँदुर देहीँ। सोभा कहि न जाति बिधि केहीँ ॥४॥

ऋषियों ने प्रसन्नतापूर्वक भाँवरी फिराईं और नेग-जोग से सब रीति समाप्त की। सप्तपदी में रामचन्द्रजी जिस समय सीताजी के मस्तक पर सिंदूर देने लगे उस समय की शोभा किसी तरह कही नहीं जाती ॥ ४ ॥

अरुनपराग जलजु भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के ॥
बहुरि बसिष्ठ दीन्हि अनुसासन। बर दुलहिनि बैठे एक आसन ॥५॥

उस समय ऐसा मालूम होता था मानों साँप अमृत के लोभ से लाल कमल में लाल पुष्प-रज को भली भाँति भरकर उससे चन्द्रमा को भूषित कर रहा है। (यहाँ पर लुप्तोपमा है। रामचन्द्रजी के भुजदंड सर्प हैं, हथेली कमल हैं, सिंदूर लाल रज है, सीताजी का मुख चंद्र है) फिर (सिंदूरदान के अनन्तर) वसिष्ठजी ने आज्ञा दी तब वर और दुलहिन एक आसन पर बैठे ॥ ५ ॥

छंद—बैठे बरासनु रामु जानकि मुदित मन दसरथु भये।
तनु पुलक पुनि पुनि देखि अपने सुकृत-सुर-तरु-फल नये ॥
भरि भुवन रहा उछाहु रामबिबाहु भा सबही कहा।
केहि भाँति बरनि सिरात रसना एक यह मंगल महा ॥

रामचन्द्र और जानकी दोनों वरासन (वर के लिए बिछे आसन) पर बैठ गये और महाराजा दशरथ मन में प्रसन्न हुए। अपने पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के नये फल को देखकर उनका शरीर बार बार पुलकित होने लगा। संपूर्ण लोकों में उत्साह भर गया, सभी कहने लगे कि रामचन्द्रजी का विवाह हो गया। उस महा आनन्द का वर्णन एक जीभ से कैसे पूरा पूरा हो सकता है ?

तब जनक पाइ बसिष्ठ आयसु ब्याहसाजु सवाँरि के।
मांडवी स्रुतिकीर्ति उर्मिला कुअँरि लईं हँकारि के ॥
कुस-केतु-कन्या प्रथम जो गुन-सील-सुख-सोभा-मई।
सब रीति प्रीति-समेत करि सो ब्याहि नृप भरतहि दई ॥

तब जनक राजा ने वसिष्ठजी की आज्ञा पाकर विवाह की सामग्री इकट्ठी सजाकर, मांडवी, श्रुतिकीर्ति और उर्मिला तीनों कन्याओं को बुला लिया। फिर पहले कुशकेतु की जो

कन्या गुण, शील, सुख और शोभा-स्वरूपिणी है, उसको राजा जनक ने सब रीति (व्यवहार) प्रेमपूर्वक करके भरतजी को ब्याह दी ॥

जानकी-लघु-भगिनी सकल सुंदरि सिरोमनि जानि कै।
सो तनय दीन्ही ब्याहि लषनहि सकल बिधि सनमानि कै॥
जेहि नामु स्रुतिकीरति सुलोचनि सुमुखि सब गुनआगरी।
सो दई रिपुसूदनहि भूपति रूप सील उजागरी॥

जनक ने जानकी की छोटी बहिन (उर्मिला) को सब सुन्दरियों में श्रेष्ठ जानकर वह कन्या लक्ष्मणजी को, सब तरह सम्मान कर, ब्याह दी। इसी तरह रूप और शील में उज्ज्वल, सुन्दर नेत्रोंवाली, सुन्दर मुखवाली और सब गुणों से भरी हुई श्रुतिकीर्ति नामवाली कन्या शत्रुघ्नजी को ब्याह दी ॥

अनुरूप बर दुलहिनि परसपर लखि सकुचि हिय हरषहीं।
सब मुदित सुंदरता सराहहिँ सुमन सुरगन बरषहीं॥
सुंदरी सुंदर बरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं।
जनु जीवउर चारिउ अवस्था बिभुन सहित बिराजहीं॥

सब दूल्हे दुलहिन अपनी अपनी बराबर की जोड़ी को देखकर कुछ सकुचाते हुए मन में प्रसन्न होते हैं। सब लोग प्रसन्न हो होकर सुन्दरता की प्रशंसा करने लगे और देवगण पुष्प-वर्षा करने लगे। उस समय सब सुन्दर वरों के साथ चारों दुलहिनें एक ही मंडप में ऐसी शोभित हुईं मानों प्राणी के हृदय में चारों अवस्थाएँ (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया) अपने अधिष्ठातृ देवताओं-सहित शोभायमान[1] हैं ॥

दो०—मुदित अवधपति सकलसुत बधुन्ह समेत निहारि।
जनु पाये महि-पाल-मनि क्रियन्ह सहित फल चारि॥३५८॥

अवध के स्वामी दशरथजी चारों पुत्रों को बहुओं-समेत देखकर इतनी ख़ुशी हुई कि मानों नरेश-रत्न को क्रियाओं[2] सहित चारों फल[3] मिल गये ॥ ३५८ ॥

चौ०—जसि रघुबीर ब्याहबिधि बरनी। सकल कुअँर ब्याहे तेहि करनी॥
कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनकमनि मंडप पूरी॥१॥

१—चारों अवस्थाओं के पति क्रम से विश्व, तैजस, विराग और अन्तर्यामी हैं। हृदय मण्डप है, चारों भाई चारों विश्व आदि पति हैं, चारों स्त्रियाँ चारों अवस्थाएँ हैं। २—चार क्रियायें—श्रद्धा, सेवा, तपस्या और भक्ति। ३—चार फल—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

जैसी रामचन्द्रजी के विवाह की विधि कही गई है उसी क्रिया से सब राजकुमारों का विवाह हुआ। दहेज की अधिकता कुछ कही नहीं जाती। सारा मण्डप सोने और मणियों से भरा हुआ था ॥ १ ॥

कंबल बसन बिचित्र पटोरे। भाँति भाँति बहुमोल न थोरे॥
गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा सी ॥२॥

ऊनी कपड़े (शाल-दुशाले आदि) और तरह तरह के रेशमी क़ीमती कपड़े भी थोड़े नहीं थे। हाथी, रथ, घोड़े, दास और दासियाँ तथा खूब सजी हुई कामधेनु के समान अच्छी अच्छी गायें ॥ २ ॥

बस्तु अनेक करिय किमि लेखा। कहि न जाइ जानहिं जिन्ह देखा॥
लोकपाल अवलोकि सिहाने। लीन्ह अवधपति सबु सुखु माने ॥३॥

और अनेक वस्तुएँ थीं। कहाँ तक उनकी गिनती करें, कहते नहीं बनतीं। जिन्होंने उन्हें देखा था वे ही जानते हैं। लोकपाल (उन वस्तुओं को) देखकर रीस करने लगे (कि ऐसी वस्तुएँ हमारे पास नहीं)। अयोध्यापति दशरथ ने बहुत सुख मानकर वे सब वस्तुएँ ले लीं ॥ ३ ॥

दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा। उबरा सो जनवासहिं आवा॥
तब कर जोरि जनकु मृदुबानी। बोले सब बरात सनमानी ॥४॥

याचक (माँगनेवाले) लोगों में से जिसने जो चाहा उसको वही दिया गया। जो सामान (देते देते) बच गया वह जनवासे में पहुँचाया गया। फिर जनक महाराज सारी बरात का सम्मान करके हाथ जोड़कर नम्रता से बोले ॥ ४ ॥

छंद—सनमानि सकल बरात आदर दान बिनय बड़ाइ कै।
प्रमुदित महा मुनिबृंद बंदे पूजि प्रेम लड़ाइ कै॥
सिर नाइ देव मनाइ सब सन कहत कर संपुट किये।
सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जलअंजलि दिये॥

राजा जनक ने आदर, दान, नम्रता और बड़ाई से सारी बरात का सत्कार करके बड़ी प्रसन्नता और प्रेम के साथ मुनिगणों की पूजा कर उनको प्रणाम किया। फिर सिर नवा और देवताओं को मनाकर राजा जनक हाथ जोड़कर सबसे कहने लगे—महाराज! देवता और साधुजन मन का भाव और प्रीति चाहते हैं। कहीं समुद्र भी एक अञ्जलि जल देने से संतुष्ट होता है? अर्थात् आप समुद्र हैं मेरा सत्कार एक अंजलिभर जल-मात्र है, तो जिस तरह भरे समुद्र में एक अञ्जलि जल किसी गिनती में नहीं हो सकता, इसी तरह मेरा सत्कार भी किसी गिनती में नहीं ॥

कर जोरि जनकु बहोरि बंधुसमेत कोसलराय सों।
बोले मनोहर बयन सानि सनेह सील सुभाय सों॥
सनबंध राजन रावरे हम बड़े अब सब बिधि भये।
यहि राज साज समेत सेवक जानिबी बिनु गथ लये॥

फिर महाराजा जनक अपने भाई समेत हाथ जोड़कर कोसलपति (दशरथजी) से प्रेम, शील और सुंदर भाव से युक्त करके मनोहर वचन बोले—हे राजन्! अब आपके सम्बन्ध से हम सब तरह से बड़े हो गये। अब आप मुझे इस राज-पाट के सहित बिना मोल का लिया हुआ दास जानिए॥

ए दारिका परिचारिका करि पालबी करुनामई।
अपराधु छमिबो बोलि पठये बहुत हौं ढीठ्यो कई॥
पुनि भानु-कुल-भूषन सकल-सनमान-निधि समधी किये।
कहि जाति नहिँ बिनती परसपर प्रेम परिपूरन हिये॥

इन कन्याओं को अपनी टहलनी जानकर दयापूर्वक इनका पालन कीजिएगा। मैंने आपको यहाँ बुलवा भेजने की ढिठाई की, इस मेरे अपराध को आप क्षमा कीजिएगा। फिर सूर्यवंश के भूषण दशरथ महाराज ने भी अपने समधी (जनकजी) का बहुत कुछ आदर किया। दोनों समधियों की आपस की विनती का वर्णन नहीं किया जा सकता। उन दोनों के हृदय प्रेम से परिपूर्ण थे॥

बृंदारकागन सुमन बरषहिँ राउ जनवासहिँ चले।
दुंदुभी जयधुनि बेदधुनि नभ नगर कौतूहल भले॥
तब सखी मंगलगान करत मुनीसआयसु पाइ कै।
दूलह दुलहिनिन्ह सहित सुंदरि चलीं कोहबर ल्याइ कै॥

जब राजा जनवासे को चले तब देवगण फूल बरसाने लगे, आकाश में और नगर में नगारे बजाने लगे, जय जय शब्द और वेद-पाठ तथा अनेक प्रकार के तमाशे होने लगे। फिर मुनिराज (वसिष्ठ) की आज्ञा पाकर सखियाँ मंगल-गीत गाती हुईं दुलहों को दुलहिनों के साथ कोहबर[1] में ले चलीं॥

१—विवाह हो जाने के बाद वर को एक स्थान-विशेष में ले जाने की रस्म का नाम कोहबर है। इसमें वर रूठ जाता और नेग लेता है।

दो०—पुनि पुनि रामहिँ चितव सिय सकुचति मन सकुचै न।
हरत मनोहर-मीन-छबि प्रेम पियासे नैन ॥ ३५६ ॥

सीताजी रामचन्द्रजी को बार बार देखकर सकुचाती हैं, पर मन नहीं सकुचाता। उनके प्रेमरस के प्यासे नेत्र मछली की मनोहर छबि को हरे लेते हैं। (मतलब यह कि जिस तरह पानी के लिए मछली चञ्चलता से छटपटाया करती है उसी तरह सीताजी की आँखें रामचन्द्रजी के दर्शन के लिए चञ्चल हो रही हैं) ॥ ३५९ ॥

चौ०—स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि-मनोज-लजावन ॥
जावकजुत पदकमल सुहाये। मुनि-मन-मधुप रहत जिन्ह छाये॥१॥

श्याम-सुन्दर शरीर स्वभाव ही से सुन्दर है, और शोभा (छबि) करोड़ों कामदेव को भी लजानेवाली है। यावक (महावर) लगे हुए चरण-कमल बहुत ही सुहावने हैं, जिनमें मुनियों के मनरूपी भँवर सदा ही छाये रहते हैं ॥ १ ॥

पीत पुनीत मनोहर धोती। हरति बाल-रबि-दामिन-जोती ॥
कल किंकिनि कटिसूत्रु मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर ॥२॥

उनकी पीले रंग की पवित्र धोती बाल-सूर्य और बिजली की चमक-दमक को हरनेवाली है। सुन्दर तगड़ी, कटिसूत्र, मन को हरनेवाले हैं। वे अपनी विशाल भुजाओं में सुन्दर भूषण धारण किये हुए हैं ॥ २ ॥

पीत जनेउ महाछबि देई। करमुद्रिका चोरि चित लेई ॥
सोहत ब्याहसाज सब साजे। उर आयत भूषन उरु राजे ॥३॥

पीला जनेऊ अत्यन्त शोभा बढ़ा रहा है, अँगूठी हाथ में (है जो दर्शकों के) चित्त को चुरा लेती है। विवाह-सम्बन्धी सब साज सजे हुए हैं। वक्षःस्थल विशाल है और उसमें अच्छे अच्छे भूषण दमक रहे हैं ॥ ३ ॥

पियर उपरना काँखा सोती। दुहुँ आचरन्हि लगे मनि मोती ॥
नयन कमल कल कुंडल काना। बदनु सकल सौंदर्जनिधाना ॥४॥

पीला दुपट्टा एक काँख के नीचे से होता हुआ दूसरे कंधे के ऊपर गया हुआ है। उसके दोनों किनारों पर मणि और मोती लगे हुए हैं। नेत्र कमल के-से हैं। कानों में सुन्दर कुण्डल (बाले) पड़े हैं। उनका मुख सारी सुन्दरता का घर है ॥ ४ ॥

सुंदर भृकुटि मनोहर नासा। भालतिलकु रुचिरता निवासा ॥
सोहत मौर मनोहर माथे। मंगलमय मुकुतामनि गाथे ॥ ५ ॥

भौंहें सुन्दर और नाक मनोहर है। ललाट पर तिलक सुन्दरता का निवास है। मस्तक पर मोतियों और मणियों से गुथा हुआ मंगलमय मौर (मुकुट) मनोहर लग रहा है ॥ ५ ॥

छंद—गाथे महामनि मौर मंजुल अंग सब चित चोरहीं।
पुरनारि सुरसुंदरी बरहि बिलोकि सब तृन तोरहीं॥
मनि बसन भूषन वारि आरति करहिँ मंगल गावहीं।
सुर सुमन बरिषहिँ सूत मागध बंदि सुजस सुनावहीं॥

मनोहर मौर में क़ीमती मणियाँ गुथी हैं, सभी अवयव चित्त को चुरा लेनेवाले (अति रमणीय) हैं। नगर की स्त्रियाँ और देवताओं की स्त्रियाँ वर को देख देखकर सब तिनुका (घास का टुकड़ा) तोड़ती हैं (जिसमें नज़र न लग जाय)। मणि, वस्त्र, भूषण वार वार कर आरती करती और मंगल गीत गाती हैं। देव-गण फूल बरसाते हैं और सूत, मागध, बंदीगण शुद्ध कीर्ति सुना रहे हैं।

कोहबरहिँ आने कुअँर कुअँरि सुआसिनिन्ह सुख पाइ कै।
अति प्रीति लौकिक रीति लागीं करन मंगल गाइ कै॥
लहकौरि गौरि सिखाव रामहिँ सीय सन सारद कहहिँ।
रनिवासु हास-बिलास-रस-बस जनम को फल सब लहहिँ॥

सुहागिनी स्त्रियाँ बड़ी ख़ुशी के साथ दूलह और दुलहिन को कोहबर में ले गईं और बड़ी प्रीति से मंगल-गीत गाकर लोकरीति करने लगीं। पार्वतीजी रामचन्द्रजी को और सरस्वतीजी सीताजी को लहकौरि (घी बतासा का ग्रास मुँह के भीतर देना) सिखाने लगीं। सारा रनिवास हँसी-दिल्लगी के रस में मग्न है और सब अपने जन्म पाने का फल ले रहे हैं॥

निज पानि-मनि महुँ देखि प्रतिमूरति सु-रूप-निधान की।
चालति न भुजबल्ली बिलोकनि-बिरह-भय-बस जानकी॥
कौतुक बिनोद प्रमोदु प्रेमु न जाइ कहि जानहिँ अली।
बर कुअँरि सुंदर सकल सखी लिवाइ जनवासहिँ चली॥

जानकीजी अपने हाथ के गहनों की मणि में सुन्दर रूप-निधान रामचन्द्रजी की प्रतिमूर्ति (परछाईं) देखकर अपने हाथों और भुजाओं को इस डर से हिलाती नहीं हैं कि रामचन्द्रजी के दर्शन का वियोग हो जायगा। उस जगह का आनन्द-विनोद (हँसी-ठट्ठा) और प्रेम कहा नहीं जाता। उसे सखियाँ ही जानती थीं। फिर सब सखियाँ वर-वधुओं को जनवासे में लिवा ले चलीं॥

तेहि समय सुनिय असीस जहँ तहँ नगर नभ आनँद महा।
चिरजिअहु जोरी चारु चार्‌यौ मुदित मन सबही कहा॥

जोगींद्र सिद्ध मुनीस देव बिलोकि प्रभु दुंदुभि हनी ॥
चले हरषि बरषि प्रसून निज निज लोक जय जय जय भनी ॥

नगर और आकाश में उस समय बड़ा आनन्द छाया हुआ था। जहाँ तहाँ चारों ओर से आशीर्वादों की झड़ी लग गई। सभी ने प्रसन्न मन से कहा कि चारों जोड़ी चिरंजीवनी बनो रहें। योगिराजों, सिद्धों और ऋषिराजों तथा देवताओं ने नगारे बजाये। फूल बरसाकर बारंबार जय जयकार करते हुए वे हर्षपूर्वक अपने अपने लोकों को चले ॥

दो०—सहित बधूटिन्ह कुअँर सब तब आये पितु पास।
सोभा मंगल मोद भरि उमगेउ जनु जनवास ॥३६०॥

तब चारों कुअँर बहुओं-समेत पिता के पास आये और शोभा तथा आनन्द-मङ्गल से मानों जनवासा उमड़ पड़ा ॥ ३६० ॥

चौ०—पुनि जेवनार भई बहु भाँती। पठये जनक बोलाइ बराती ॥
परत पाँवड़े बसन अनूपा। सुतन्ह समेत गवन किय भूपा ॥१॥

फिर बहुत प्रकार की रसोई बनी। जनक महाराज ने बरातियों को बुलौवा भेजा। महाराजा दशरथ अपने पुत्रों-समेत क़ीमती वस्त्रों पर (जो इसी लिए बिछाये गये थे) पैर रखते हुए गये ॥ १ ॥

सादर सब के पाय पखारे। यथाजोग पीढ़न बैठारे ॥
धोये जनक अवध-पति-चरना। सीलु सनेहु जाइ नहिं बरना ॥२॥

आदर के साथ सबके पाँव धोये गये और यथायोग्य आसनों पर सबको बैठाया गया। फिर जनकजी ने दशरथजी के पाँव धोये। उनका शील और प्रेम कहा नहीं जा सकता ॥ २ ॥

बहुरि राम-पद-पंकज धोये। जे हर हृदयकमलु महँ गोये ॥
तीनिउ भाइ रामसम जानी। धोये चरन जनक निज पानी ॥३॥

फिर उन्होंने रामचन्द्रजी के उन चरण-कमलों को धोया जो सदा शिवजी के हृदय-कमल में छिपे रहते हैं। फिर जनकजी ने तीनों भाइयों (लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न) के भी चरणों को, उन्हें रामचन्द्रजी के समान समझकर, अपने हाथ से धोया ॥ ३ ॥

आसन उचित सबहि नृप दीन्हें। बोलि सूपकारी सब लीन्हें ॥
सादर लगे परन पनवारे। कनककील मनिपान सवाँरे ॥४॥

राजा जनक ने सबों को जैसे चाहिए वैसे आसन दिये, फिर सब रसोइयों को बुलवाया। आदर के साथ पत्तलें पड़ने लगीं, जो मणियों के पत्तों में सोने की कीलें लगाकर बनाई हुई थीं ॥ ४ ॥

दो०—सूपोदन सुरभी सरपि सुंदर स्वादु पुनीत।
छन महँ सब के परुसि गे चतुर सुआर बिनीत ॥३६१॥

चतुर रसोइये नम्रता के साथ सुन्दर, स्वादिष्ठ और पवित्र दाल-भात और गौ का घी क्षण भर में सबको परस गये ॥ ३६१ ॥

चौ०—पंचकवलि करि जेवन लागे। गारि गान सुनि अति अनुरागे॥
भाँति अनेक परे पकवाने। सुधासरिस नहिं जाहिं बखाने॥१॥

सब पंचग्रासी[1] करके भोजन करने लगे, और गालियों का गाना सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। अमृत के समान बहुत पकान्न परोसे गये जिनका वर्णन नहीं हो सकता ॥ १ ॥

परुसन लगे सुआर सुजाना। बिंजन बिबिध नाम को जाना॥
चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक एक बिधि बरनि न जाई॥२॥

चतुर रसोइये तरह तरह के व्यञ्जन परोसने लगे, उनके नाम कौन जानता है? (सूपशास्त्र में) चार प्रकार की (भक्ष्य,[2] भोज्य, लेह्य, चोष्य) भोजन-विधि कही गई है, पर यहाँ तो उनमें से एक एक का भी वर्णन नहीं हो सकता ॥ २ ॥

छ रस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती॥
जेंवत देहिं मधुर धुनि गारी। लेइ लेइ नाम पुरुष अरु नारी॥३॥

सुन्दर छहों रसों (मीठा, खट्टा, खारा, कडुआ, तीता और कसैला) के कई तरह के व्यंजन थे, उनमें एक ही एक रस के अनगिनत प्रकार थे। भोजन करते समय स्त्रियाँ मीठी वाणी से स्त्रियों और पुरुषों के नाम ले लेकर गालियाँ देने (गाने) लगीं ॥ ३ ॥

समय सुहावनि गारि बिराजा। हँसत राउ सुनि सहित समाजा॥
एहि बिधि सबही भोजनु कीन्हा। आदरसहित आचमनु दीन्हा॥४॥

समय[3] के अनुसार सुहावनी गालियों को सुनकर राजा दशरथ अपने समाज-सहित हँसने लगे। इस तरह सबने भोजन किया फिर उन्हें सादर आचमन कराया गया अर्थात् कुल्ला करवाया गया ॥ ४ ॥

१—भोजन के पहले प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान इन पञ्च प्राणों को पाँच ग्रास देकर फिर भोजन किया जाता है। २—भक्ष्य जो चाबे जायँ—पापड़, ख़ुरमा, खारी सेव आदि; भोज्य जो खाये जायँ—पूरी, मिठाई, दाल, भात, मोहनभोग आदि; लेह्य जो चाटे जायँ—चटनी आदि; चोष्य जो चूसे जायँ—ऊख आदि।

३—दोहा—फीकी पै नीकी लगै कहिये समय विचारि। सबके मन हर्षित करे ज्यों विवाह में गारि॥
नीकी पै फीकी लगे बिन अवसर की बात। जैसे वर्णन युद्ध में रस सिंगार न सुहात॥
इस जगह विवाह की गालियाँ थी।

दो०—देइ पान पूजे जनक दसरथ सहित समाज।
जनवासे गवने मुदित सकल-भूप-सिरताज ॥३६२॥

राजा जनक ने समाज-सहित राजा दशरथ को पान देकर उनका सत्कार किया। फिर संपूर्ण राजाओं के शिरोमणि महाराजा दशरथ प्रसन्न होकर जनवासे को गये॥ ३६२॥

चौ०—नित नूतन मंगल पुर माहीं। निमिषसरिस दिन जामिनि जाहीं॥
बडे भोर भूपति-मनि जागे। जाचक गुनगन गावन लागे॥१॥

जनकपुर में नित्य नये मङ्गल-उत्सव होते थे, दिन-रात क्षण भर के समान बीत जाते थे। बड़े सवेरे राजाओं के मुकुटमणि (दशरथ) जागे, माँगनेवाले (भिक्षुक) राजा के गुणों का वर्णन करने लगे॥ १॥

देखि कुअँर बर बधुन्ह समेता। किमि कहि जात मोदु मन जेता॥
प्रातक्रिया करि गे गुरु पाहीं। महाप्रमोदु प्रेमु मनु माहीं॥२॥

चारों पुत्रों को बहुओं-समेत देखकर (राजा दशरथ को) जो आनन्द हुआ वह कैसे कहा जा सकता है? प्रातःकाल की क्रिया (स्नान-सन्ध्योपासनादि) कर वे गुरु वसिष्ठजी के पास गये। उनके मन में बड़ा ही आनन्द और प्रेम भरा हुआ था॥ २॥

करि प्रनामु पूजा कर जोरी। बोले गिरा अमिय जनु बोरी॥
तुम्हरी कृपा सुनहु मुनिराजा। भयउँ आजु मैं पूरनकाजा॥३॥

प्रणाम और पूजा करके तथा दोनों हाथ जोड़कर वे ऐसी वाणी बोले मानों वह अमृत में डुबाई हो—हे मुनिराज! सुनिए। आज मैं आपकी कृपा से पूर्ण-काम (कृतकृत्य) हो गया हूँ॥३॥

अब सब बिप्र बोलाइ गोसाईं। देहु धेनु सब भाँति बनाईं॥
सुनि गुरु करि महिपाल बड़ाई। पुनि पठये मुनिबृंद बोलाई॥४॥

हे गुसाइं! अब सब ब्राह्मणों को बुलवाकर, सब तरह सजाकर, गौएँ दान दीजिए। गुरु वसिष्ठजी ने सुनकर राजा की बड़ाई की और फिर ऋषि-गणों को बुलवा भेजा॥ ४॥

दो०—बामदेव अरु देवरिषि बालमीक जाबालि।
आये मुनि-बर-निकर तब कौसिकादि तपसालि॥३६३॥

तब वामदेव, देवर्षि (नारद), वाल्मीकि, जाबालि और तपोनिधि विश्वामित्र आदि ऋषियों का समाज आया॥ ३६३॥

चौ०—दंड प्रनाम सबहि नृप कीन्हे। पूजि सप्रेम बरासन दीन्हे॥
चारि लच्छ बर धेनु मँगाईं। काम-सुरभि-सम सील सुहाईं॥१॥

राजा ने सबको दण्डवत् प्रणाम किया और प्रेम के साथ पूजन कर उन्हें श्रेष्ठ आसन दिये। फिर कामधेनु के समान शीलवाली सुन्दर चार लाख गायें मँगवाईं ॥ १ ॥

सब बिधि सकल अलंकृत कीन्ही। मुदित महिप महिदेवन दीन्ही ॥
करत बिनय बहु बिधि नरनाहू। लहेउँ आजु जग जीवनलाहू ॥२॥

उन सब गायों को सब तरह के गहने (सोने के सींग, रत्न के खुर आदि) पहनाये, फिर प्रसन्नता के साथ राजा ने वे ब्राह्मणों को दान दीं। नरनाह दशरथ बहुत तरह से विनती करके बोले कि आज मैं जगत् में जीने का लाभ पा गया ॥ २ ॥

पाइ असीस महीसु अनंदा। लिये बोलि पुनि जाचकबृंदा ॥
कनक बसन मनि हय गय स्यंदन। दिये बूझि रुचि रबि-कुल-नंदन ॥३॥

ब्राह्मणों से आशीर्वाद पाकर राजा दशरथ प्रसन्न हुए। फिर उन्होंने याचकों (भिक्षार्थियों) को बुलवाया और उनकी इच्छा के अनुसार सोना, वस्त्र, मणि, घोड़े, गज और रथ उन्हें दिये ॥ ३ ॥

चले पढ़त गावत गुनगाथा। जय जय जय दिन-कर-कुल-नाथा ॥
एहि बिधि राम-बिबाह-उछाहू। सकइ न बरनि सहसमुख जाहू ॥४॥

वे सब दान ले लेकर राजा के गुणों का वर्णन पढ़ पढ़कर गाते हुए बोले कि हे सूर्यवंशी महाराज! आपकी जय हो। इस तरह श्रीरामचन्द्रजी के विवाहोत्सव का (पूरा) वर्णन जिसके हज़ार मुख हैं वह (शेष) भी नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

दो०—बार बार कौसिकचरन सीस नाइ कह राउ।
यह सबु सुखु मुनिराज तव कृपा-कटाच्छ-प्रभाउ ॥३६४॥

राजा ने विश्वामित्रजी के पाँवों में बार बार सिर नवाकर कहा कि हे मुनिराज! यह सब सुख आपके कृपाकटाक्ष का फल है ॥ ३६४ ॥

चौ०—जनक सनेह सीलु करतूती। नृपु सब भाँति सराह बिभूती ॥
दिन उठि बिदा अवधपति माँगा। राखहिं जनक सहित अनुरागा ॥१॥

राजा दशरथ ने राजा जनक के स्नेह, शील और करतूत तथा उनके ऐश्वर्य को भी सभी तरह सराहा। अवधपति दशरथ रोज़ उठकर बिदा माँगते हैं किन्तु जनकजी प्रेम के साथ और भी रखते हैं ॥ १ ॥

नित नूतन आदरु अधिकाई। दिनप्रति सहस भाँति पहुँनाई ॥
नित नव नगर अनंद उछाहू। दसरथगवँन सुहाइ न काहू ॥२॥

रोज़ रोज़ नया आदर बढ़ता जाता है, हज़ारों तरह से खातिरदारी होती है। नगर में भी नित्य नया आनन्द उत्साह बढ़ता जाता है, किसी को दशरथ का जाना नहीं सुहाता ॥ २ ॥

बहुत दिवस बीते एहि भाँती । जनु सनेहरजु बँधे बराती ॥
कौसिक सतानंद तब जाई । कहा बिदेह नृपहि समुझाई ॥३॥

इसी तरह बहुत दिन बीत गये मानों बराती लोग स्नेहरूपी रस्सी में बँध[1] गये। तब शतानन्द और विश्वामित्रजी ने जाकर राजा जनक को समझाकर कहा—॥ ३ ॥

अब दसरथ कहँ आयसु देहू । जद्यपि छाँड़ि न सकहु सनेहू ॥
भलेहिं नाथ कहि सचिव बोलाये । कहि जय जीव सीस तिन्ह नाये ॥४॥

हे राजन्! यद्यपि आप स्नेह से नहीं छोड़ सकते, तो भी अब दशरथजी को जाने की आज्ञा दीजिए। जनकजी ने कहा—हे नाथ! बहुत अच्छा। फिर उन्होंने मन्त्रियों को बुलवाया। वे आये और 'जय जीव' कहकर उन्होंने सिर झुकाये ॥ ४ ॥

दो०—अवधनाथ चाहत चलन भीतर करहु जनाउ ।
भये प्रेमबस सचिव सुनि बिप्र सभासद राउ ॥३६५॥

उनसे राजा जनक ने कहा कि भीतर (रनिवास में) जाकर खबर दो कि महाराजा दशरथ जाना चाहते हैं। इतना सुनते ही मन्त्री, ब्राह्मण, सभासद और स्वयम् राजा जनक भी प्रेम के वश हो गये ॥ ३६५ ॥

चौ०—पुरबासी सुनि चलिहि बराता । पूछत बिकल परसपर बाता ॥
सत्य गवनु सुनि सब बिलखाने । मनहुँ साँझ सरसिज सकुचाने ॥१॥

जब पुरवासियों ने सुना कि बरात जायगी तो वे आपस में बेचैनी से बातें पूछने लगे। बरात जाने की बात सच्ची और पक्की जानकर सब दुःखी हुए, मानो सन्ध्या-समय कमल मुरझा गये ॥ १ ॥

जहँ जहँ आवत बसे बराती । तहँ तहँ सिद्ध चला बहु भाँती ॥
बिबिध भाँति मेवा पकवाना । भोजनसाजु न जाइ बखाना ॥२॥

बराती लोग अयोध्या से आते समय जहाँ जहाँ टिके थे, वहाँ वहाँ बहुत तरह का सीधा अर्थात् चावल आदि कच्चा अन्न आने लगा। कई तरह का मेवा और पकान्न तथा भोजन का सामान था, जिसका वर्णन नहीं हो सकता ॥ २ ॥

१—बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुदृढबन्धनमाहुः। दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे ॥ अर्थात्—संसार में हज़ारों तरह के बन्धन हैं, परन्तु एक प्रेमरूपी रस्सी का बंधन मज़बूत बंधन है। देखिए भँवर मज़बूत लकड़ी को काटकर उसमें घर बनाकर रहता है, पर वही जब शाम को कमल की पखड़ी में बँध जाता है तब प्रेमवश उसे न काट कर निश्चेष्ट हो जाता है।

भरि भरि बसह अपार कहारा । पठये जनक अनेक सुआरा ॥
तुरग लाख रथ सहस पचीसा । सकल सवाँरे नख अरु सीसा ॥३॥

राजा जनक ने वे अन्न बैलों पर लाद लादकर कहारों के साथ रवाना किये और कितने ही रसोइये भी भेज दिये। एक लाख घोड़े, पचीस हज़ार रथ ये सब नख से चोटी तक सजाये हुए थे ॥ ३ ॥

मत्त सहस दस सिंधुर साजे । जिन्हहिं देखि दिसिकुंजर लाजे ॥
कनक बसन मनि भरि भरि जाना । महिषी धेनु बस्तु बिधि नाना ॥४॥

दस हज़ार मतवाले हाथी सजाये गये, जिन्हें देखकर दिग्गज भी शरमा जायँ। गाड़ी भर भरकर सोना, वस्त्र और मणि तथा गायें, भैंसें और तरह तरह की चीज़ें उन्होंने दीं ॥ ४ ॥

दो०—दाइज अमित न सकिय कहि दीन्ह बिदेह बहोरि ।
जो अवलोकत लोकपति-लोक-संपदा थोरि ॥३६६॥

राजा जनक ने फिर इतना अधिक दहेज दिया कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं और जिसको देखकर लोकपति इन्द्र कुबेर आदिकों की भी सम्पत्ति थोड़ी मालूम होती थी ॥ ३६६ ॥

चौ०—सब समाजु एहि भाँति बनाई । जनक अवधपुर दीन्ह पठाई ॥
चलिहि बरात सुनत सब रानी । बिकल मीनगन जनु लघु पानी ॥१॥

जनक राजा ने इस तरह सभी सामान तैयार कराके अयोध्या को रवाना कर दिया। इधर रानियों ने बरात चलने की ख़बर सुनी तो थोड़े पानी में जैसे मछलियाँ तड़पती हैं वैसे वे विकल हो गईं ॥ १ ॥

पुनि पुनि सीय गोद करि लेहीं । देइ असीस सिखावन देहीं ॥
होयहु संतत पियहि पियारी । चिर अहिवात असीस हमारी ॥२॥

रानियाँ सीताजी को बार बार गोद में लेती हैं और असीस देकर शिक्षा देती हैं। वे कहती हैं कि हे सीता ! तू सदा अपने पति की प्यारी बनी रहियो और सदा तेरा अखण्ड सौभाग्य बना रहे, यही हमारा आशीर्वाद है ॥ २ ॥

सासु - ससुर - गुरु - सेवा करेहू । पतिरुख लखि आयसु अनुसरेहू ॥
अति-सनेह बस सखी सयानी । नारिधरमु सिखवहिं मृदुबानी ॥३॥

तुम सदा सासु, ससुर और गुरु अर्थात् बड़ों की सेवा करना और पति का रुख (इच्छा) देखकर उनकी आज्ञा का पालन करना। चतुर सखियाँ अत्यन्त स्नेह के अधीन होकर कोमल वाणी से उन्हें स्त्री-धर्म की शिक्षा देने लगीं ॥ ३ ॥

सादर सकल कुअँरि समुझाई। रानिन्ह बार बार उर लाई॥
बहुरि बहुरि भेटहिँ महतारी। कहहिँ बिरंचि रचीं कत नारी॥४॥

रानियों ने बड़े आदर के साथ चारों लड़कियों को बहुत समझाया और उन्हें बार बार छाती से लगाया। मातायें बार बार अपनी पुत्रियों से मिल मिलकर कहने लगीं—हाय! ब्रह्मा ने स्त्री क्यों बनाई? (अर्थात् न ब्रह्मा स्त्री बनाता, न इस समय यह विषम वियोग का दुःख उठाना पड़ता)॥४॥

दो०—तेहि अवसर भाइन्ह सहित रामु भानु-कुल-केतु।
चले जनकमंदिर मुदित बिदा करावन हेतु॥३६७॥

उसी अवसर में सूर्य-वंश के ध्वजा-रूप रामचन्द्रजी भाइयों के साथ बिदा होने के लिए राजा जनक के महल में गये॥३६७॥

चौ०—चारिउ भाइ सुभाय सुहाये। नगर-नारि-नर देखन धाये॥
कोउ कह चलन चहत हहिँ आजू। कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू॥१॥

स्वाभाविक सुन्दर चारों भाइयों के देखने के लिए नगर के स्त्री-पुरुष दौड़े। कोई कहते हैं कि ये आज ही चले जायँगे, राजा जनक ने बिदा का सब सामान तैयार कर दिया है॥१॥

लेहु नयन भरि रूप निहारी। प्रिय पाहुने भूपसुत चारी॥
को जानइ केहि सुकृत सयानी। नयनअतिथि कीन्हे बिधि आनी॥२॥

हे प्रियमित्रो! हे सयानी सखियो! इन चारों मिहमान राज-कुमारों के रूप को आँखें भर भरकर देख लो। कौन जानता है कि किस पुण्य के प्रभाव से ब्रह्मा ने लाकर इनको हमारे नेत्रों का अतिथि बनाया है॥२॥

मरनसील जिमि पाव पिऊखा। सुरतरु लहइ जनम कर भूखा॥
पाव नारकी हरिपद जैसे। इन्ह कर दरसन हम कहँ तैसे॥३॥

मरनेवाले को जैसे अमृत मिल जाय, जन्म के भूखे को जैसे कल्पवृक्ष मिल जाय और नरक में बसनेवाले पापी को जैसे हरिपद (मोक्ष) मिल जाय वैसे ही इनके दर्शन हमारे लिए हैं॥३॥

निरखि रामसोभा उर धरहू। निज-मन-फनि-मूरति-मनि करहू॥
एहि बिधि सबहि नयनफल देता। गये कुअँर सब राजनिकेता॥४॥

रामचन्द्रजी की शोभा को देखकर अपने हृदय में धारण करो। जैसे साँप अपनी मणि को धारण करता है, वैसे तुम अपने मन को तो साँप बनाओ और इनकी मूर्त्तियों को मणि बना लो जिसमें निरन्तर ध्यान बना रहे। इस तरह वे राजकुमार देखनेवालों के नेत्रों को सफल करते हुए राजमहल में पहुँचे॥४॥

दो०—रूपसिंधु सब बंधु लखि हरषि उठेउ रनिवासु।
करहिं निछावरि आरती महामुदित मन सासु ॥३६८॥

रूप के सागर चारों भाइयों को देखकर सारा रनिवास प्रसन्न हो गया। सासु अति-प्रसन्न-चित्त से कुमारों की न्यौछावर कर आरती करने लगीं ॥ ३६८ ॥

चौ०—देखि रामछबि अति अनुरागीं। प्रेमबिबस पुनि पुनि पद लागीं॥
रही न लाज प्रीति उर छाई। सहज सनेहु बरनि किमि जाई ॥१॥

श्रीरामचन्द्रजी की छवि को देखकर सब रानियाँ अति-स्नेह में भर गईं। प्रेम के अधीन होकर वे बारंबार उनके चरणों में लगीं। हृदय में प्रीति छा गई इसी लिए लज्जा नहीं रही। वह स्वाभाविक प्रेम कैसे वर्णन किया जाय? ॥ १ ॥

भाइन्ह सहित उबटि अन्हवाये। छरस असन अतिहेतु जेवाये॥
बोले रामु सुअवसर जानी। सील-सनेह-सकुच-मय बानी ॥२॥

रानियों ने भाइयों-समेत रघुनाथजी को उबटन लगाकर स्नान कराया, फिर छहों रस-युक्त भोजन बड़े प्रेम के साथ कराया। श्रीरामचन्द्रजी अच्छा मौक़ा समझकर शील, स्नेह और संकोच से भरी वाणी से बोले— ॥ २ ॥

राउ अवधपुर चहत सिधाये। बिदा होन हम इहाँ पठाये॥
मातु मुदित मन आयसु देहू। बालक जानि करब नित नेहू ॥३॥

महाराज अयोध्या को जाना चाहते हैं। उन्होंने यहाँ हमको बिदा होने के लिए भेजा है। हे माताओ! प्रसन्न-चित्त से हमें आज्ञा दीजिए और हमको अपना बालक जानकर नित्य हम पर स्नेह रखना ॥ ३ ॥

सुनत बचन बिलखेउ रनिवासू। बोलि न सकहिं प्रेमबस सासू॥
हृदय लगाइ कुअँरि सब लीन्ही। पतिन्ह सौंपि बिनती अति कीन्ही ॥४॥

इन वचनों को सुनते ही रनिवास बिलख उठा। सास प्रेम में ऐसी फँस गईं कि कुछ बोल ही नहीं सकती थीं। उन्होंने अपनी सब पुत्रियों को हृदय से लगाकर पतियों को सौंप दिया और अति प्रार्थना की ॥ ४ ॥

छंद—करि बिनय सिय रामहिं समरपी जोरि कर पुनि पुनि कहइ।
बलि जाउँ तात सुजान तुम कहुँ बिदित गति सब की अहइ॥
परिवार पुरजन मोहि राजहि प्रानप्रिय सिय जानिबी।
तुलसी सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि मानबी॥

रानी सीताजी को रामचन्द्रजी को समर्पण कर बड़े विनयपूर्वक हाथ जोड़कर बार बार कहने लगीं—हे पुत्र! मैं बलि जाती हूँ, तुम स्वयं चतुर हो, तुमको सबकी दशा मालूम है। कुटुम्ब के लोगों को, पुर के लोगों को, मुझे और राजा (जनक) को सीता प्राणों से भी प्यारी जानिए। तुलसीदासजी कहते हैं—इसकी सुशीलता और स्नेह को देखकर इसको अपनी दासी मानना ॥

सो०—तुम परिपूरन काम ग्यान सिरोमनि भाव प्रिय।
जन-गुन-गाहक राम दोषदलन करुनायतन ॥३६६॥

हे श्रीराम! तुम पूर्ण-काम हो (तुम्हें किसी बात की इच्छा नहीं) और ज्ञानियों के मुकुट-मणि (परम ज्ञानवान्) हो। तुमको भाव—प्रेम प्यारा है। तुम भक्तों के गुणों के ग्रहण करनेवाले हो, अपराधों के क्षमा करनेवाले और दया के स्थान हो॥ ३६९ ॥

चौ०—अस कहि रही चरन गहि रानी। प्रेमपंक जनु गिरा समानी ॥
सुनि सनेहसानी बरबानी। बहु बिधि राम सासु सनमानी ॥१॥

ऐसा कहकर रानी ने रामचन्द्रजी के चरण पकड़ लिये। उनकी वाणी मानों प्रेमरूपी कीचड़ में फँस गई (अर्थात् फिर उनसे कुछ न बोला गया)। रामचन्द्रजी ने सास की स्नेह-भरी श्रेष्ठ वाणी सुनकर उनका बहुत तरह से सम्मान किया ॥ १ ॥

राम बिदा माँगा कर जोरी। कीन्ह प्रनाम बहोरि बहोरी ॥
पाइ असीस बहुरि सिरु नाई। भाइन्ह सहित चले रघुराई ॥२॥

रघुनाथजी ने हाथ जोड़कर बिदा माँगी और बारंबार प्रणाम किया। आशीर्वाद पाकर फिर सिर झुकाकर वे भाइयों-समेत बिदा हुए॥ २ ॥

मंजु-मधुर-मूरति उर आनी। भईं सनेह सिथिल सब रानी ॥
पुनि धीरजु धरि कुअँरि हँकारी। बार बार भेटहिं महतारी ॥३॥

उस समय सब रानियाँ रामचन्द्रजी की सुन्दर माधुरी मूर्ति को हृदय में धारण कर स्नेह से कातर हो गईं। फिर धीरज धरकर कन्याओं को बुला कर उनसे मातायें बारंबार मिलती हैं॥ ३ ॥

पहुँचावहिं फिरि मिलहिं बहोरी। बढ़ी परसपर प्रीति न थोरी ॥
पुनि पुनि मिलति सखिन्ह बिलगाई। बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई ॥४॥

एक बार पहुँचा आती हैं, फिर लौट कर मिलती हैं, आपस में बहुत प्रीति बढ़ गई। सखियों को अलग कर करके फिर फिर मातायें ऐसी मिलती हैं जैसे लवाई (हाल की ब्याई) गायें छोटे बछड़े से मिलें॥ ४ ॥

दो०—प्रेमबिबस नरनारि सब सखिन्ह सहित रनिवासु ।
मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर करुना-बिरह-निवासु ॥३७०॥

वह रनिवास स्त्री-पुरुष और सखियों-सहित प्रेम के विवश हो रहा है। मालूम होता है कि जनकपुर में करुणा और विरह (वियोग) ने निवास कर लिया है ॥ ३७० ॥

चौ०—सुक सारिका जानकी ज्याये । कनकपिंजरन्हि राखि पढ़ाये ॥
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही । सुनि धीरजु परिहरइ न केही ॥१॥

जानकीजी ने जिन तोतों और मैनाओं को पाला था, और सोने के पिंजरों में रखकर पढ़ाया था, वे व्याकुल हो होकर कहने लगीं कि जानकी कहाँ है! भला इसको सुनकर किसका धैर्य न छूट जायगा ? ॥ १ ॥

भये बिकल खग मृग एहि भाँती । मनुजदसा कैसे कहि जाती ॥
बंधुसमेत जनकु तब आये । प्रेम उमगि लोचन जल छाये ॥२॥

जहाँ पशु-पक्षी इस तरह बेचैन हो गये, वहाँ पर मनुष्यों की दशा कैसे बताई जाय ? उसी समय भाई (कुशकेतु) के साथ जनकजी आये। प्रेम के मारे उमड़ कर आँखों में आँसू भर आये ॥ २ ॥

सीय बिलोकि धीरता भागी । रहे कहावत परमबिरागी ॥
लीन्हि राय उर लाइ जानकी । मिटी महामरजाद ग्यान की ॥३॥

सीताजी को देखकर उनका भी, जो सदा से परम वैराग्यवान् कहे जाते थे, धैर्य छूट गया। राजा (जनक) ने जानकीजी को हृदय से लगा लिया। ज्ञान की महामर्यादा[1] मिट गई ॥ ३ ॥

समुझावत सब सचिव सयाने । कीन्ह बिचारु अनवसर जाने ॥
बारहिं बार सुता उर लाई । सजि सुंदर पालकी मँगाई ॥४॥

सब सुज्ञ मन्त्री समझाने लगे। तब आपने भी, यह समय ऐसी ममता का नहीं, ऐसा जानकर विचार किया। बारंबार सीताजी को छाती से लगाकर उन्होंने सुन्दर सजी हुई पालकी मँगवाई ॥ ४ ॥

दो०—प्रेमबिबस परिवारु सबु जानि सुलगन नरेस ।
कुअँरि चढ़ाई पालकिन्ह सुमिरे सिद्धि गनेस ॥३७१॥

१—गीता में वैराग्य की मर्यादा बतलाई है—"न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्" अर्थात् प्रिय वस्तु मिल जाने पर प्रसन्न न हो और अप्रिय वस्तु मिलने पर घबरा न जाय इत्यादि। जनकजी बड़े ज्ञानी थे पर यहाँ सीताजी के वियोग में घबरा गये।

सब कुटुम्ब तो प्रेम में पागल हो रहा है। आप राजा जनक ने शुभ लग्न जानकर सिद्धि-दाता गणेशजी का स्मरण करके कन्याओं को पालकी में चढ़ा दिया ॥ ३७१ ॥

चौ०—बहु बिधि भूप सुता समुझाई। नारिधरम कुलरीति सिखाई ॥
दासी दास दिये बहुतेरे। सुचि सेवक जे प्रिय सिय केरे ॥१॥

राजा जनक ने कन्याओं को बहुत तरह से समझाया, स्त्री-धर्म और कुल की रीति सिखाई। बहुत-से दास-दासी और जो सीताजी के प्यारे (विश्वास-पात्र) और पवित्र सेवक थे वे उनके साथ दिये ॥ १ ॥

सीय चलत ब्याकुल पुरबासी। होहिँ सगुन सुभ मंगलरासी ॥
भूसुर सचिव समेत समाजा। संग चले पहुँचावन राजा ॥२॥

सीताजी के बिदा होते समय नगर-निवासी सब बेचैन हो गये। शकुन मङ्गलमय और श्रेष्ठ होने लगे। महाराजा जनक ब्राह्मण, मन्त्रिगण और समाज-सहित साथ में पहुँचाने के लिए चले ॥ २ ॥

समय बिलोकि बाजने बाजे। रथ गज बाजि बरातिन्ह साजे ॥
दसरथ बिप्र बोलि सब लीन्हे। दान मान परिपूरन कीन्हे ॥३॥

मौक़ा देखकर बाजे बजने लगे। बरातियों ने रथ, हाथी और घोड़े सजाये। उधर महाराजा दशरथ ने सम्पूर्ण ब्राह्मणों को बुलवा लिया और दान-मान से उनको सन्तुष्ट कर दिया ॥ ३ ॥

चरन-सरोज-धूरि धरि सीसा। मुदित महीपति पाइ असीसा ॥
सुमिरि गजानन कीन्ह पयाना। मंगलमूल सगुन भये नाना ॥४॥

उन ब्राह्मणों के चरणों की धूल मस्तक पर चढ़ाकर और उनका आशीर्वाद पाकर महाराज मन में प्रसन्न हुए। उन्होंने श्रीगजाननजी का स्मरण कर प्रस्थान किया और मङ्गलमूलक अनेक शुभ शकुन हुए ॥ ४ ॥

दो०—सुर प्रसून बरषहिँ हरषि करहिँ अपछरा गान।
चले अवधपति अवधपुर मुदित बजाइ निसान ॥३७२॥

देवता प्रसन्न होकर फूल बरसाने लगे, अप्सरायें गान करने लगीं। अयोध्याधीश दशरथजी निसान बजाकर अयोध्या को चले ॥ ३७२ ॥

चौ०—नृप करि बिनय महाजन फेरे। सादर सकल माँगने टेरे ॥
भूषन बसन बाजि गज दीन्हे। प्रेम पोषि ठाढ़े सब कीन्हे ॥१॥

राजा दशरथ ने प्रार्थना करके महाजनों (प्रतिष्ठित लोगों) को लौटाया और बड़े आदर के साथ माँगनेवालों को बुलवाया। उन्हें भूषण, वस्त्र, घोड़े और हाथी दिये और प्रेमपूर्वक सन्तुष्ट करके खड़ा किया॥ १॥

बार बार बिरदावलि भाखी। फिरे सकल रामहि उर राखी॥
बहुरि बहुरि कोसलपति कहहीं। जनकु प्रेमबस फिरन न चहहीं॥२॥

उन लोगों ने बारंबार प्रशंसा (वंश को बड़ाई) कह सुनाई और रामचन्द्रजी को हृदय में रखकर वे सब लौट गये। महाराजा जनक को दशरथजी बारंबार लौटने को कहते हैं, परन्तु वे प्रेम के मारे लौटना नहीं चाहते॥ २॥

पुनि कह भूपति बचन सुहाये। फिरिय महीप दूरि बड़ि आये॥
राउ बहोरि उतरि भये ठाढ़े। प्रेमप्रबाह बिलोचन बाढ़े॥३॥

फिर (आगे चलकर) दशरथ महाराज ने शुभ वचनों से कहा कि हे राजन्! अब लौट जाइए, आप बड़ी दूर निकल आये हैं। फिर राजा दशरथ रथ से उतर कर खड़े हो गये और उनके नेत्रों से प्रेम-जल का प्रवाह बह चला॥ ३॥

तब बिदेहु बोले कर जोरी। बचन सनेहसुधा जनु बोरी॥
करउँ कवन बिधि बिनय बनाई। महाराज मोहि दीन्हि बड़ाई॥४॥

तब राजा जनक हाथ जोड़कर मानों स्नेहरूपी अमृत में सराबोर वचन बोले—हे महाराज! मैं किस तरह आपकी बड़ाई को बनाकर कहूँ, आपने तो (मुझको) सब तरह बड़ाई दी है॥ ४॥

दो०—कोसलपति समधी सजन सनमाने सब भाँति।
मिलनि परसपर बिनय अति प्रीति न हृदय समाति॥३७३॥

कोसलपति दशरथ ने सज्जन समधी का सब तरह से सत्कार किया। उस आपस के मिलने में अत्यन्त नम्रता थी। प्रेम हृदय में नहीं समाता था॥ ३७३॥

चौ०—मुनिमंडलिहि जनक सिरु नावा। आसिरबाद सबहि सन पावा॥
सादर पुनि भेंटे जामाता। रूप-सील-गुन-निधि सब भ्राता॥१॥

राजा जनक ने मुनियों की मंडली को सिर झुकाया और सभी से आशीर्वाद पाया। फिर वे, रूप शील और गुणों के भाण्डार चारों भाई जमाइयों से बड़े आदर के साथ मिले॥ १॥

जोरि पंक-रुह-पानि सुहाये। बोले बचन प्रेम जनु जाये॥
राम करउँ केहि भाँति प्रसंसा। मुनि-महेस-मन-मानस-हंसा॥२॥

फिर सुन्दर हस्त-कमलों को जोड़कर वे प्रेम से भरे वचन बोले—हे राम! आपकी प्रशंसा मैं किस तरह करूँ? आप तो ऋषि और शङ्करजी के मनरूपी मानसरोवर के हंस हैं ॥२॥

करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी॥
व्यापकु ब्रह्म अलखु अबिनासी। चिदानंदु निरगुन गुनरासी ॥३॥

योगी लोग क्रोध, मोह, ममता और मद का त्यागकर जिनके लिए योग-साधन करते हैं, जो परब्रह्म व्यापक (सभी में बसा हुआ), अलख (जो जानने में न आवे), अविनाशी (कभी न मिटनेवाला), चैतन्य आनन्दरूप, निर्गुण (सत्त्व-रज-तम-गुण-रहित) और संपूर्ण गुणों (दया दाक्षिण्यादि) की खान हैं ॥ ३ ॥

मनसमेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिँ सकल अनुमानी॥
महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँकाल एकरस अहई ॥४॥

जिनको मन और वाणी जान नहीं सकते, और अनुमानो या तार्किक तर्क द्वारा जिन्हें पूर्णरूप से निरूपित नहीं कर सकते, निगम (वेद) 'नेति, नेति' कहकर जिनकी महिमा को प्रतिपादन करते हैं, जो तीनों काल एक रस (जैसे के तैसे) रहते हैं ॥ ४ ॥

दो०—नयनविषय मो कहँ भयउ सो समस्त-सुख-मूल।
सबहि लाभ जग जीव कहँ भये ईस अनुकूल ॥३७४॥

वे ही संपूर्ण सुखों के मूल परमात्मा मेरी आँखों को प्रत्यक्ष हुए। अर्थात् मैंने उनका दर्शन पाया। जो ईश्वर अनुकूल होते हैं तो जीवों को जगत् में सभी लाभ मिल जाते हैं ॥ ३७४ ॥

चौ०—सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई॥
होहिँ सहस दस सारद सेखा। कहहिँ कलपकोटिक भरि लेखा॥१॥

आपने सभी तरह से मुझे बड़ाई दी और मुझे अपना जन (सेवक) जानकर अपना लिया। जो दस हज़ार सरस्वती और शेषजी हों और वे करोड़ों कल्पों तक गिन्ती किया करें ॥ १ ॥

मोर भाग्य राउर गुनगाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥
मैं कछु कहहुँ एकु बल मोरे। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे ॥२॥

तो भी हे रामचन्द्र! सुनो, वे मेरे भाग्य और आपके गुणों की प्रशंसा को कहकर पूरा नहीं कर सकते। मैं जो कुछ कहता हूँ वह अपने इस बल पर कि तुम बिलकुल थोड़े प्रेम से भी रीझ जाते हो ॥ २ ॥

बार बार माँगउँ कर जोरे। मनु परिहरइ चरन जनि भोरे॥
सुनि बरबचन प्रेम जनु पोषे। पूरनकामु रामु परितोषे ॥३॥

मैं हाथ जोड़ कर आपसे बार बार यही माँगता हूँ कि मेरा मन भूलकर भी कभी आपके चरणों को न छोड़े। जिन्हें कोई कामना शेष नहीं ऐसे रामचन्द्रजी स्नेह से परिपुष्ट वचनों को सुनकर सन्तुष्ट हो गये ॥ ३ ॥

करि बर बिनय ससुर सनमाने। पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने ॥
बिनती बहुरि भरत सन कीन्ही। मिलि सप्रेम पुनि आसिष दीन्ही ॥४॥

रामचन्द्रजी ने ससुर (राजा जनक) को पिताजी, विश्वामित्र और वसिष्ठ के समान जानकर उत्तम नम्रता कर उनका सत्कार किया। फिर महाराज ने भरतजी से विनती की और प्रेम सहित उनसे मिलकर फिर उन्हें आशीर्वाद दिया ॥ ४ ॥

दो०—मिले लषन रिपुसूदनहि दीन्हि असीस महीस।
भये परसपर प्रेमबस फिरि फिरि नावहिँ सीस ॥३७५॥

फिर महाराज लक्ष्मण और शत्रुघ्नजी से मिले और उन्होंने दोनों को आशीर्वाद दिये। वे आपस में प्रेम के विवश हो गये। दोनों भाई बार बार सिर झुकाकर प्रणाम करने लगे ॥ ३७५ ॥

चौ०—बार बार करि बिनय बड़ाई। रघुपति चले संग सब भाई ॥
जनक गहे कौसिकपद जाई। चरनरेनु सिर नयनन्हि लाई ॥१॥

रामचन्द्रजी बारंबार विनती और बड़ाई करके सब भाइयों के साथ चले। अब जनक राजा ने जाकर विश्वामित्रजी के चरण पकड़े और उनके चरणों की धूल अपने सिर और आँखों में लगाई ॥ १ ॥

सुनु मुनीसबर दरसन तोरे। अगमु न कछु प्रतीति मन मोरे ॥
जो सुखु सुजसु लोकपति चहहीं। करत मनोरथ सकुचत अहहीं ॥२॥

वे बोले—हे श्रेष्ठ मुनीश्वर! सुनिए। मेरा विश्वास है कि आपके दर्शन से कुछ भी दुर्लभ नहीं, जिस सुख और जिस कीर्ति को इन्द्र आदि लोकपाल चाहते हैं और मनोरथ करते हुए सकुचाते हैं ॥ २ ॥

सो सुखु सुजसु सुलभ मोहि स्वामी। सब सिधि तव दरसन अनुगामी ॥
कीन्ह बिनय पुनि पुनि सिरु नाई। फिरे महीस आसिषा पाई ॥३॥

हे स्वामी! वही सुख और वही सुयश मेरे लिए सुलभ हो गये, क्योंकि आपके दर्शन के पीछे सब सिद्धि चलनेवाली है। इस तरह प्रार्थना कर, फिर फिर सिर झुकाकर, आशीर्वाद पाकर राजा जनक लौटे ॥ ३ ॥

चली बरात निसान बजाई। मुदित छोट बड़ सब समुदाई ॥
रामहिँ निरखि ग्राम-नर-नारी। पाइ नयनफलु होहिँ सुखारी ॥४॥

निसान बजाकर बरात आगे चली। छोटे बड़े सब मण्डलो के जन प्रसन्न हैं। गाँव के स्त्री-पुरुष रामचन्द्रजी को देख देखकर, नेत्रों का फल पाकर, सुखी होते हैं॥ ४॥

दो०—बीच बीच बर बास करि मगलोगन्ह सुखु देत।
अवध समीप पुनीत दिन पहुँची आइ जनेत॥३७६॥

बीच बीच में अच्छे मुकाम करती और रास्ते में लोगों को सुख देती हुई बरात पवित्र (शुभ) दिन अयोध्याजी के पास आ पहुँची॥ ३७६॥

चौ०—हने निसान पनव बर बाजे। भेरि-संख-धुनि हय गय गाजे॥
झाँझि भेरि डिंडिमी सुहाई। सरसराग बाजहिँ सहनाई॥१॥

निकट पहुँचते ही डंके पीटे गये और सुन्दर डफ बजे। नगारे और शंख बजाये गये, हाथियों ने चिंघारा, घोड़े हिनहिनाये। झाँझ, नगारियाँ, डुगडुगी बजने लगीं और सुरीले रसीले राग से सहनाई बजने लगी॥ १॥

पुरजन आवत अकनि बराता। मुदित सकल पुलकावलि गाता॥
निज निज सुंदर सदन सवाँरे। हाट बाट चौहट पुर द्वारे॥२॥

अयोध्यावासी लोग बरात का आना सुनकर प्रसन्न हो गये, सबों के शरीर में पुलकावली हो गई। सबों ने अपने अपने सुन्दर घर, बाजार, रास्ते (सड़कें), चौहट्ट (चौराहे) और शहरपनाह के दरवाजे सजाये॥ २॥

गली सकल अरगजा सिँचाई। जहँ तहँ चौके चारु पुराई॥
बना बजारु न जाइ बखाना। तोरन केतु पताक बिताना॥३॥

सब गलियों में अर्गजा का छिड़काव हुआ, जगह जगह सुन्दर चौकें पुरवाई गईं। तोरण, ध्वजा पताका और मण्डपों से बाजार ऐसा सजा कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता॥३॥

सफल पूगफल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदंब तमाला॥
लगे सुभग तरु परसत धरनी। मनिमय आलबाल कलकरनी॥४॥

सुपारी, केला, आम, मौरसली, कदम्ब और तमाल, जो इधर उधर लगे हुए थे वे सब पेड़—फलों के भार से धरती छूते हुए बहुत सुन्दर लगते थे। उनके थाले मणियों की बड़ी कारीगरी से बनाये गये॥ ४॥

दो०—बिबिध भाँति मंगलकलस गृह गृह रचे सवाँरि।
सुर ब्रह्मादि सिहाहिँ सब रघु-बर-पुरी निहारि॥३७७॥

घर घर नाना प्रकार के मंगल-कलश सजाकर रक्खे गये। रघुवर की पुरी अयोध्या को देखकर ब्रह्मादिक देवगण भी प्रशंसा करते हैं॥ ३७७॥

चौ०—भूपभवनु तेहि अवसर सोहा। रचना देखि मदन मन मोहा॥
मंगल सगुन मनोहरताई। रिधि सिधि सुख संपदा सुहाई॥१॥

उस अवसर पर राजमहल ऐसा सुहावना हुआ था कि उसकी सजावट को देखकर कामदेव का भी मन लुभा गया। मंगलमय शकुन की चीजें, मनोहरता, ऋद्धि, सिद्धि, सुख और सम्पत्ति सभी शोभायमान थे॥१॥

जनु उछाह सब सहज सुहाये। तनु धरि धरि दशरथगृह आये॥
देखन हेतु रामबैदेही। कहहु लालसा होइ न केही॥२॥

मानों उस उत्सव में सभी प्रकार के आनंद आपसे आप शरीर धारणकर दशरथ के घर आये। भला कहिए तो, रामचन्द्रजी और जानकीजी के दर्शन की लालसा किसको न होगी?॥२॥

जूथ जूथ मिलि चली सुआसिनि। निज छबि निदरहिँ मदनबिलासिनि॥
सकल सुमंगल सजे आरती। गावहिँ जनु बहुबेष भारती॥३॥

अपनी कान्ति से कामदेव की स्त्री (रति) को भी लजानेवाली सुहागिनी स्त्रियाँ टोलो की टोली मिल मिलकर चलीं। सभी के मङ्गलमय वेष हैं और वे आरती सजाये हुए गा रही हैं, मानों बहुत-सी सरस्वती रूप धरकर गा रही हों॥३॥

भूपतिभवन कोलाहलु होई। जाइ न बरनि समउ सुखु सोई॥
कौसल्यादि राममहतारी। प्रेमबिबस तनुदसा बिसारी॥४॥

राजमहल में उत्सव की धूम मच गई, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कौशिल्यादि रामचन्द्र की माताओं को मारे प्रेम के शरीर की सुध-बुध भी भूल गई थी॥४॥

दो०—दिये दान बिप्रन्ह बिपुल पूजि गनेस पुरारि।
प्रमुदित परमदरिद्र जनु पाइ पदारथ चारि॥३७८॥

उन्होंने गणेशजी और शिवजी का पूजन कर ब्राह्मणों को भरपूर दान दिया। मन में ऐसी प्रसन्नता हुई कि मानों महादरिद्री मनुष्य चारों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) पदार्थ[1] पा गया हो॥३७८॥

चौ०—मोद-प्रमोद-बिबस सब माता। चलहिँ न चरन सिथिल भये गाता॥
रामदरस हित अति अनुरागीँ। परिछनि साजु सजन सब लागीँ॥१॥

सब मातायें उत्सव के आनन्द में बेबस हो रही हैं। उनका सारा शरीर इतना ढीला हो गया कि चलने के लिए उनके पाँव भी नहीं उठते। वे राम-दर्शन के लिए बड़ी आतुर होकर परछन करने का सब साज सजाने लगीं॥१॥

१—चारों पदार्थ की जगह चारों बहुएँ हैं, जिन्हें पाकर रानियों की प्रसन्नता बढ़ी।

बिबिध बिधान बाजने बाजे। मंगल मुदित सुमित्रा साजे॥
हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगलमूला॥२॥

कई तरह के बाजे बजने लगे, सुमित्राजी ने प्रसन्नता के साथ मंगलमय चीज़ें सजाई। हल्दी, दूब, दही, (आम के) पत्ते, फूल, पान, सुपारी जो मंगल चीज़ों में प्रधान हैं॥ २॥

अच्छत अंकुर रोचन लाजा। मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा॥
छुहे पुरटघट सहज सुहाये। मदन सकुच जनु नीड़ बनाये॥३॥

अक्षत (चावल) और अंकुर (जँवारे), गोरोचन, खील (लावा) और कोमल मंजरीयुक्त तुलसी इत्यादि चीज़ें सजाईं। रँगे सोने के कलश, जो आप ही सुन्दर थे, ऐसे शोभित हुए कि मानों कामदेव ने सकुचाकर अपने रहने के लिए घोंसले बनाये हैं॥ ३॥

सगुन सुगंध न जाइ बखानी। मंगल सकल सजहिं सब रानी॥
रची आरती बहुत बिधाना। मुदित करहिँ कल मंगल गाना॥४॥

शकुन की चीज़ें और सुगन्धित चीजें वर्णन नहीं करते बनतीं। सभी रानियाँ संपूर्ण मंगलकारक साज सजा रही हैं। बहुत विधि-विधानपूर्वक आरती सजाई गई। सब प्रसन्नता से मीठा और मंगलीक गीत गाने लगीं॥ ४॥

दो०—कनकथार भरि मंगलन्हि कमल करन लिये मात।
चलीँ मुदित परिछन करन पुलकपल्लवित गात॥३७६॥

मङ्गल-द्रव्यों को सोने के थालों में भरकर कमल समान हाथों में लिये हुए पुलकित-शरीर मातायें प्रसन्नता से परिछन करने के लिए चलीं॥ ३७९॥

चौ०—धूपधूम नभ मेचक भयऊ। सावन घनघमंड जनु ठयऊ॥
सुर-तरु-सुमन-माल सुर बरषहिँ। मनहुँ बलाक अवलि मनु करषहिँ॥१॥

धूप के धुएँ से आकाश ऐसा काला हो गया मानों सावन के महीने में बादल घुमड़ कर छा गये हों। देवता कल्पवृक्ष के फूलों को बरसाने लगे, मानों चित्त आकर्षित करनेवाली बगुलों की पंक्तियाँ हैं॥ १॥

मंजुल मनिमय बन्दनवारे। मनहुँ पाक-रिपु-चाप सवाँरे॥
प्रगटहिँ दुरहिँ अटन पर भामिनि। चारु चपल जनु दमकहिँ दामिनि॥२॥

दिव्य मणियों के बंदनवार क्या बँधे हैं, मानों इन्द्र के धनुष सजा कर रक्खे हैं। अटारियों पर स्त्रियाँ (बरात देखने के लिए) कभी झाँकती हैं, कभी फिर छिप जाती हैं, वे मानों सुन्दर चपल बिजलियाँ आकाश में दमक रही हैं। (जैसे बिजली बार बार चमक कर फिर छिप जाती है वैसे ही स्त्रियाँ बार बार झाँक झाँककर फिर भीतर चली जाती हैं।) ॥ २॥

दुंदुभिधुनि घनगरजनि घोरा । जाचक चातक दादुर मोरा ॥
सुर सुगंध सुचि बरषहिँ बारी । सुखी सकल ससि पुर-नर-नारी ॥३॥

नगारों को आवाज़ मानों घोर बादलों की गर्जना है, और माँगनेवालों की चिल्लाहट मानों पपीहा[1], मेंढक[2] और मोर[3] बोल रहे हैं। देवता पवित्र और सुगंधित जल की वर्षा करने लगे (छिड़कने लगे)। अयोध्यापुरी के स्त्री-पुरुष ऐसे प्रसन्न हो रहे हैं, मानों ससि (सस्य—खड़ी खेती) लहरा रही है ॥ ३ ॥

समय जानि गुरु आयसु दीन्हा । पुर प्रबेसु रघु-कुल-मनि कीन्हा ॥
सुमिरि संभु गिरिजा गनराजा । मुदित महीपति सहित समाजा ॥४॥

समय जानकर (मुहूर्त देखकर) गुरु वसिष्ठजी ने आज्ञा दी और मण्डली सहित महाराज दशरथ ने प्रसन्नतापूर्वक गणेशजी और शङ्कर-पार्वती का स्मरण किया। तब रघुवंश-भूषण रामचन्द्र का पुर-प्रवेश कराया गया ॥ ४ ॥

दो०—होहिँ सगुन बरषहि सुमन सुर दुंदुभी बजाइ ।
बिबुधबधू नाचहिँ मुदित मंजुल मंगल गाइ ॥३८०॥

(जब पुर में प्रवेश होने लगा तब) शकुन होने लगे, देव-गण नगारे बजा बजाकर फूल बरसाने लगे और देवतों की स्त्रियाँ (अप्सरायें) प्रसन्नता से मंगल-गीत गाने और नाचने लगीं ॥ ३८० ॥

चौ०—मागध सूत बंदि नट नागर । गावहिँ जस तिहुँ लोक उजागर ॥
जयधुनि बिमल बेद-बर-बानी । दस दिसि सुनिय सु-मंगल-सानी ॥१॥

मागध, सूत, बंदी (भाट) और चतुर नट तीनों लोकों में प्रकाशित रामचन्द्रजी का यश गाने लगे। शुभ मंगल भरी हुई वेद-ध्वनि और जय जय की वाणी दसों दिशाओं में सुनाई पड़ती थी ॥ १ ॥

बिपुल बाजने बाजन लागे । नभ सुर नगर लोग अनुरागे ॥
बने बराती बरनि न जाहीँ । महामुदित मन सुख न समाहीँ ॥२॥

अनेक बाजे बजने लगे, आकाश में देवता और नगर में लोग प्रेम में मस्त हो गये। बराती लोग ऐसे बने ठने थे कि कुछ कहते नहीं बनता। वे इतने अधिक प्रसन्न थे कि सुख उनके मन में नहीं समाता था ॥ २ ॥

१—पपीहा इसलिए कहा कि वह सदा मेघों को चाहता है, प्यासा पुकारा करता है, इसी तरह यहाँ याचक भी घनश्याम रामचन्द्रजी के दर्शनाभिलाषी उत्सुक हैं। २—मेंढकों की उपमा इसलिए दी कि चौमासे में वे टर्राने की धुनि बाँध देते हैं, इसी तरह इन याचकों ने भी जय जयकार की धुन मचा दी। ३—और मोर इसलिए कहा कि वह बादल को देखकर नाचने लगता है, याचक भी प्रसन्न हो होकर नाचने लगे।

पुरबासिन्ह तब राउ जोहारे। देखत रामहिँ भये सुखारे॥
करहिँ निछावर मनिगन चीरा। बारि बिलोचन पुलक सरीरा॥३॥

पुर-वासी लोगों ने तब राजा (दशरथ) को प्रणाम किया, और वे रामचन्द्रजी का दर्शन कर सुखी हुए और मणि-गण (रत्न) और वस्त्र निछावर करने लगे। उनके नेत्रों में प्रेम का जल भर आया तथा शरीर पुलकित हो गया॥ ३॥

आरति करहिँ मुदित पुरनारी। हरषहिँ निरखि कुअँर बर चारी॥
सिबिका सुभग ओहार उघारी। देखि दुलहिनिन्ह होहिं सुखारी॥४॥

नगर की स्त्रियाँ प्रसन्नतापूर्वक चारों राजकुमारों को देख देख आरती करतीं और प्रफुल्लित होती हैं। वे पालकी के बढ़िया परदे को खोलकर चारों दुलहिनों को देख देखकर सुख में भर जाती हैं॥ ४॥

दो०—एहि बिधि सबही देत सुख आये राजदुआर।
मुदित मातु परिछन करहिँ बधुन्ह समेत कुमार॥३८१॥

इसी तरह सभी को प्रसन्न करते हुए वे राजद्वार पर पहुँचे, तब मातायें बड़े हर्ष से बहुओं समेत राजकुमारों की परिछन करने लगीं॥ ३८१॥

चौ०—करहिँ आरती बारहिँ बारा। प्रेम प्रमोदु कहइ को पारा॥
भूषन मनि पट नाना जाती। करहिँ निछावरि अगनित भाँती॥१॥

वे बार बार आरती कर रही हैं, उस समय के प्रेमानुराग का वर्णन कौन कर सकता है? वे आरती करके भूषण, रत्न और अनेक तरह के वस्त्र कई तरह से न्यौछावर करने लगीं॥ १॥

बधुन्ह समेत देखि सुत चारी। परमानंदमगन महतारी॥
पुनि पुनि सीय राम-छबि-देखी। मुदित सुफल जग जीवन लेखी॥२॥

बहुओं समेत चारों पुत्रों को देखकर मातायें परम आनन्द में भर गईं। रामचन्द्रजी और सीताजी के श्रीमुख को बारम्बार देख देखकर वे प्रसन्न हुईं और संसार में अपना जीना सफल गिनने लगीं॥ २॥

सखी सीयमुख पुनि पुनि चाही। गान करहिँ निज सुकृत सराही॥
बरषहिँ सुमन छनहिँ छन देवा। नाचहिँ गावहिँ लावहिँ सेवा॥३॥

सखियाँ सीताजी का मुख बार बार देखकर अपने पुण्यों की प्रशंसा कर गीत गाती हैं। क्षण क्षण में देवता पुष्प बरसाते हैं और नाच गान आदि कर अपनी सेवा दिखाते हैं॥३॥

देखि मनोहर चारिउ जोरी। सारद उपमा सकल ढँढोरी॥
देत न बनहिँ निपट लघु लागी। एकटक रही रूपअनुरागी॥४॥

उन मनोहारिणी चारों जोड़ियों को देखकर सरस्वतीजी ने सब उपमायें खोज डालीं, परन्तु सभी हलकी लगने के कारण देते नहीं बनीं। फिर वे उस रूप के प्रेम में टकटकी लगाकर देखती ही रह गईं॥४॥

दो०—निगमनीति कुलरीति करि अरघ पाँवड़े देत।
बधुन्ह सहित सुत परिछि सब चलीँ लेवाइ निकेत॥३८२॥

सभी स्त्रियाँ शास्त्रोक्त रीति और कुलाचार करके पाँवड़े देती हुई और अर्घ्यप्रदान करती हुईं बहुओं समेत चारों कुअँरों की परछन कर घर (महल) में लिवा ले गईं॥३८२॥

चौ०—चारि सिँहासन सहज सुहाये। जनु मनोज निज हाथ बनाये॥
तिन्ह पर कुअँरि कुअँर बैठारे। सादर पाय पुनीत पखारे॥१॥

स्वाभाविक सुन्दर चार सिंहासन थे जो ऐसे मालूम होते थे मानों कामदेव ने उन्हें अपने हाथ से बनाया है। उन पर चारों कुअँरों और कुमारियों को बैठाकर उन्होंने आदर के साथ उनके पवित्र चरण धोये॥१॥

धूप दीप नैवेद्य बेदबिधि। पूजे बरदुलहिनि मंगलनिधि॥
बारहिँ बार आरती करहीँ। ब्यजन चारु चामर सिर ढरहीँ॥२॥

वेदोक्त-विधि से धूप, दीप और नैवेद्य देकर मङ्गल की खान वर-दुलहिनों की उन्होंने पूजा की। फिर वे बारम्बार आरती करने लगीं। उनके मस्तक पर चँवर और पंखे हिलाये जा रहे हैं॥२॥

बस्तु अनेक निछावरि होहीँ। भरी प्रमोद मातु सब सोहीँ॥
पावा परमतत्त्व जनु जोगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी॥३॥

अनेक वस्तुओं की न्यौछावरें हो रही हैं। सब मातायें आनन्द में भरी हुई शोभित हो रही हैं। वह आनन्द ऐसा था मानों किसी योगी को परमतत्त्व मिल गया हो, अथवा किसी सदा के रोगी को अमृत मिल गया हो॥३॥

जनमरंकु जनु पारस पावा। अंधहि लोचनलाभु सुहावा॥
मूकबदन जस सारद छाई। मानहु समर सूर जय पाई॥४॥

जन्म के दरिद्री को मानों पारस मिल गया हो, अन्धे को मानों आँखें मिल गई हों, मानों गूँगे के मुँह में सरस्वती बस गई हो, मानों किसी शूरवीर को लड़ाई में विजय मिल गई हो॥४॥

दो०—एहि सुख तें सत-कोटि-गुन पावहिं मातु अनंदु ।
भाइन्ह सहित बिआहि घर आये रघु-कुल-चंदु ॥३८३॥

इन सबों को जितना सुख होता है उससे भी सौ करोड़ गुना सुख-आनन्द माताओं को हुआ, जब कि रघु-वंश के चन्द्र (रामचन्द्रजी) भाइयों समेत विवाह कर घर आये॥ ३८३ ॥

लोकरीति जननी करहिं बरदुलहिनि सकुचाहिं ।
मोद बिनोद बिलोकि बड़ रामु मनहिं मुसुकाहिं ॥३८४॥

मातायें लोक-रीति करती हैं, उससे वर और दुलहिनें सकुचाती हैं । अत्यन्त आनन्द और विनोद को देखकर रामचन्द्रजी मन ही मन मुस्कराते हैं ॥ ३८४ ॥

चौ०—देव पितर पूजे बिधि नीकी । पूजी सकल बासना जी की ॥
सबहि बंदि माँगहिं बरदाना । भाइन्ह सहित राम कल्याना ॥१॥

फिर उन्होंने विधिपूर्वक देवता और पितरों की पूजा की, क्योंकि उन्होंने जी की सब बासना (इच्छा) पूर्ण कर दी । सबों को नमस्कार कर मातायें यह वरदान माँगती हैं कि "भाइयों समेत रामचन्द्रजी का कल्याण हो" ॥ १ ॥

अंतरहित सुर आसिष देहीं । मुदित मातु अंचल भरि लेहीं ॥
भूपति बोलि बराती लीन्हे । जान बसन मनि भूषन दीन्हे ॥२॥

छिपे हुए देव-गण आशीर्वाद देते हैं और मातायें अंचल (कपड़े का कोना) फैला कर प्रसन्नता से उन आशीर्वादों को लेती हैं। फिर महाराजा दशरथ ने बरातियों को बुलवा कर उन्हें सवारियाँ, वस्त्र, रत्न और भूषण दिये ॥ २ ॥

आयसु पाइ राखि उर रामहिं । मुदित गये सब निज निज धामहिं ॥
पुर-नर-नारि सकल पहिराये । घर घर बाजन लगे बधाये ॥३॥

फिर महाराज की आज्ञा पाकर और रामचन्द्रजी को हृदय में रखकर सब बराती लोग प्रसन्नता-पूर्वक अपने अपने घरों को गये । फिर नगर के सभी स्त्री-पुरुषों को महाराज ने वस्त्रादि पहनाये और घर घर बधाइयाँ बजने लगीं ॥ ३ ॥

जाचक जन जाचहिं जोइ जोई । प्रमुदित राउ देहिं सोइ सोई ॥
सेवक सकल बजनिया नाना । पूरन किये दान सनमाना ॥४॥

याचक लोग जो जो चीजें माँगते थे वे ही चीजें उन्हें महाराज बड़ी प्रसन्नता से देते थे । सम्पूर्ण सेवकों को और बाजेवालों को कई तरह के दान देकर तथा सम्मान करके महाराज ने सन्तुष्ट किया ॥ ४ ॥

दो०—देहिँ असीस जोहारि सब गावहिँ गुन-गन-गाथ ।
तब गुरु-भूसुर-सहित गृह गवनु कीन्ह नरनाथ ॥३८५॥

सब लोग जोहार (प्रणाम) करके महाराज के गुणों की कथा गाने लगे। तब गुरु और ब्राह्मणों सहित महाराज महल में गये॥ ३८५ ॥

चौ०—जो बसिष्ठ अनुसासन दीन्हा । लोक बेद बिधि सादर कीन्हा ॥
भू-सुर-भीर देखि सब रानी । सादर उठीँ भाग्य बड़ जानी ॥१॥

फिर वसिष्ठजी ने जो आज्ञा दी, उसी के अनुसार महाराज ने लौकिक व्यवहार और वेदोक्त विधि को बड़े आदर से किया। सब रानियाँ ब्राह्मणों की भीड़ देखकर अपने बड़े भाग्य जानकर प्रेम के साथ उठीं॥ १ ॥

पाय पखारि सकल अन्हवाये । पूजि भली बिधि भूप जेवाँये ॥
आदर दान प्रेम परिपोषे । देत असीस चले मन तोषे ॥२॥

फिर महाराज ने सबों के पाँव धो धोकर उन्हें स्नान कराया और अच्छी तरह उनका पूजन कर उनको भोजन कराया तथा आदर-सत्कार, दान और प्रेम से सबको सन्तुष्ट किया। वे मन में सन्तुष्ट होकर आशीर्वाद देते हुए चले गये॥ २ ॥

बहु बिधि कीन्ह गाधि-सुत-पूजा । नाथ मोहि सम धन्य न दूजा ॥
कीन्हि प्रसंसा भूपति भूरी । रानिन्ह सहित लीन्ह पगधूरी ॥३॥

फिर महाराज ने गाधि ऋषि के पुत्र विश्वामित्रजी की पूजा बड़ी विधि से की और कहा—हे नाथ! मेरे समान दूसरा कोई धन्य नहीं है। राजा ने उनकी बहुत बड़ाई की और उनके चरणों की रज को रानियों समेत लिया अर्थात् मस्तक पर चढ़ाया॥ ३ ॥

भीतर भवन दीन्ह बरबासू । मनु जोगवत रह नृपरनिवासू ॥
पूजे गुरु-पद-कमल बहोरी । कीन्ह बिनय उर प्रीति न थोरी ॥४॥

महल के भीतर ही विश्वामित्रजी को श्रेष्ठ निवास-स्थान दिया। रानियाँ और राजा बराबर उनकी इच्छा देखते रहे (कि वे जो इच्छा करें वह पूरी हो)। फिर महाराज ने गुरु वसिष्ठजी के चरण-कमलों की फिर से पूजा की और अत्यन्त प्रेम से विनय की॥ ४ ॥

दो०—बधुन्ह समेत कुमार सब रानिन्ह सहित महीसु ।
पुनि पुनि बंदत गुरुचरन देत असीस मुनीसु ॥३८६॥

फिर चारों राजकुमार बहुओं समेत और महाराजा दशरथ रानियों समेत बारम्बार गुरुजी के चरणों में प्रणाम करते हैं और मुनिराज वसिष्ठजी आशीर्वाद देते हैं॥ ३८६ ॥

चौ०—बिनय कीन्ह उर अति अनुरागे। सुत संपदा राखि नृप आगे॥
नेग माँगि मुनिनायक लीन्हा। आसिरबाद बहुत बिधि दीन्हा॥१॥

हृदय में अत्यन्त प्रेम-भरे हुए महाराज ने पुत्र और सम्पत्ति वसिष्ठजी के सम्मुख रखकर प्रार्थना की, तब मुनिराज ने अपना नेग (दक्षिणा) माँग लिया और बहुत प्रकार से आशीर्वाद दिया॥ १॥

उर धरि रामहि सीयसमेता। हरषि कीन्ह गुरु गवन निकेता॥
बिप्रबधू सब भूप बोलाई। चैल चारुभूषन पहिराई॥२॥

फिर सीता सहित रामचन्द्रजी को हृदय में (ध्यान-द्वारा) रखकर गुरु वसिष्ठजी प्रसन्न होकर अपने घर गये। अब महाराज ने सब ब्राह्मणों की स्त्रियों को बुलाया और उन्हें बढ़िया वस्त्र तथा भूषण पहनाये॥ २॥

बहुरि बोलाइ सुआसिनि लीन्ही। रुचि बिचारि पहिरावनि दीन्ही॥
नेगी नेग जोग सब लेहीं। रुचि अनुरूप भूपमनि देहीं॥३॥

इसके बाद उन्होंने सुहागिनी स्त्रियों को बुलाकर उनकी रुचि के अनुसार उन्हें पहिरावनी (वस्त्र भूषण आदि) दी और नेगी लोग सब नेग-जोग लेने लगे। राजाओं के भूषण दशरथजी ने उनकी भी इच्छा के अनुसार चीजें दीं॥ ३॥

प्रिय पाहुने पूज्य जे जाने। भूपति भली भाँति सनमाने॥
देव देखि रघु-बीर-बिबाहू। बरषि प्रसून प्रसंसि उछाहू॥४॥

महाराज ने जिन पाहुनों को पूज्य और प्यारे समझा, उनका सम्मान बहुत अच्छी तरह से किया। देवता रघुवीर रामचन्द्रजी का विवाहोत्सव देखकर फूल बरसाकर और उत्सव की बड़ाई करके॥ ४॥

दो०—चले निसान बजाइ सुर निज निज पुर सुख पाइ।
कहत परसपर रामजसु प्रेम न हृदय समाइ॥३८७॥

सब देवता सुख पाकर, निसान बजाकर, अपने अपने लोकों में गये। वे जाते हुए रामचन्द्रजी का यश आपस में कहते जाते थे और उनके हृदय में प्रेम समाता नहीं था॥ ३८७॥

चौ०—सब बिधि सबहि समदि नरनाहू। रहा हृदय भरि पूरि उछाहू॥
जहँ रनिवास तहाँ पगु धारे। सहित बधूटिन्ह कुअँर निहारे॥१॥

नरनाथ दशरथजी ने सबका आदर-सम्मान किया। उनके हृदय में आनन्द भर रहा था। फिर महाराज जहाँ रनिवास था वहाँ पधारे और उन्होंने बहुओं सहित पुत्रों को देखा॥ १॥

लिये गोद करि मोदसमेता । को कहि सकइ भयउ सुख जेता ॥
बधू सप्रेम गोद बैठारी । बार बार हिय हरषि दुलारी ॥२॥

और उनको बड़े हर्ष के साथ अपनी गोद में बैठा लिया। उस समय जितना सुख उन्हें हुआ उसको कौन कह सकता है ? पुत्रों के बाद बहुओं को प्रेम के साथ गोद में बैठाकर, बारम्बार हृदय से प्रसन्न हो होकर, उनका प्यार किया ॥ २ ॥

देखि समाजु मुदित रनिवासू । सब के उर आनँद कियो बासू ॥
कहेउ भूप जिमि भयउ बिबाहू । सुनि सुनि हरषु होइ सब काहू ॥३॥

उस समय का जमा समाज देखकर सब रनिवास प्रसन्न हो गया, सभी के हृदय में आनन्द ने घर कर लिया। फिर जिस तरह विवाह हुआ वह समाचार महाराज ने कह सुनाया। उसको सुन सुनकर सबको आनन्द हुआ ॥ ३ ॥

जनकराजगुन सीलु बड़ाई । प्रीति रीति संपदा सुहाई ॥
बहु बिधि भूप भाट जिमि बरनी । रानी सब प्रमुदित सुनि करनी ॥४॥

महाराजा ने राजा जनक के गुण, शील, बड़ाई तथा उनके प्रेम की रीति, उनकी सुहावनी सम्पत्ति का विस्तार से—जैसे भाट लोग करते हैं—वर्णन किया। उनकी करनी को सुनकर सब रानियाँ अति प्रसन्न हुईं ॥ ४ ॥

दो०—सुतन्ह समेत नहाइ नृप बोलि बिप्र गुरु जाति ।
भोजन कीन्ह अनेक बिधि घरी पंच गइ राति ॥३८८॥

महाराज ने पुत्रों समेत स्नान किया और ब्राह्मण, गुरु तथा जाति के लोगों को बुलाकर अनेक प्रकार का भोजन किया। इतने में पाँच घड़ी (२ घंटे) रात बीत गई ॥ ३८८ ॥

चौ०—मंगलगान करहिँ बरभामिनि । भइ सुखमूल मनोहर जामिनि ॥
अँचइ पान सब काहू पाये । स्रग-सुगंध-भूषित छबि छाये ॥१॥

श्रेष्ठ सुन्दरियाँ आकर मंगल गीत गाने लगीं। वह रात सुख की मूल और मनोहर हो गई। सबने (भोजनोत्तर) आचमन किये, पान खाये और माला, इत्र आदि से भूषित होकर सब शोभित हो गये ॥ १ ॥

रामहिँ देखि रजायसु पाई । निज निज भवन चले सिर नाई ॥
प्रेम प्रमोद बिनोद बड़ाई । समउ समाज मनोहरताई ॥२॥

रामचन्द्रजी को देखकर और जाने की आज्ञा पाकर सब लोग सिर झुकाकर अपने अपने घरों को गये। उस समय के प्रेम, आनन्द, विनोद, बड़ाई, शुभ अवसर और भीड़ की मनोहरता को ॥ २ ॥

कहि न सकहिँ सत सारद सेसू। बेद बिरंचि महेस गनेसू ॥
सो मैं कहउँ कवन बिधि बरनी। भूमिनागु सिर धरइ कि धरनी ॥३॥

सैकड़ों सरस्वती, शेष, वेद, ब्रह्मा, महादेव और गणेशजी भी नहीं कह सकते। वह मैं किस तरह वर्णन कर सकूँ? क्या कभी पृथ्वीतल का पैदा हुआ साँप भी पृथ्वी को धारण कर सकता है? (कदापि नहीं, पाताल का ही नाग उसे उठा सकता है।) ॥ ३ ॥

नृप सब भाँति सबहि सनमानी। कहि मृदुबचन बोलाई रानी ॥
बधू लरिकिनी परघर आईं। राखेहु नयनपलक की नाईं ॥४॥

राजा दशरथ ने सभी तरह से सबों का सम्मान किया, फिर रानियों को बुलवाकर कोमल वचनों से कहा—ये बहुएँ अभी लड़की हैं, पराये घर आई हैं, इनको तुम इस तरह रखना जिस तरह पलकें आँखों को सुरक्षित रखती हैं ॥ ४ ॥

दो०—लरिका स्रमित उनीदबस सयन करावहु जाइ।
अस कहि गे बिस्रामगृह रामचरन चित लाइ ॥३८९॥

लड़के भी थके हुए और उनींदे हो रहे हैं, उन्हें जाकर शयन कराओ। ऐसा कह कर महाराज श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में मन लगाकर आप भी विश्राम-भवन में चले गये ॥ ३८९ ॥

चौ०—भूपबचन सुनि सहज सुहाये। जटित कनकमनि पलँग डसाये ॥
सुभग-सुरभि-पय-फेनु-समाना। कोमल कलित सुपेती नाना ॥१॥

राजा के स्वभावतः सुन्दर वचनों को सुनकर रानियों ने मणियों से जड़े हुए सोने के पलँग बिछवाये। उन पर सुन्दर गाय के दूध के फेन के समान कोमल और मनोहर सफ़ेद चादरें बिछवाईं ॥ १ ॥

उपबरहन बर बरनि न जाहीं। स्रग सुगंध मनिमंदिर माहीं ॥
रतन दीप सुठि चारु चँदोवा। कहत न बनइ जान जेइ जोवा ॥२॥

बढ़िया तकिये थे, जिनका वर्णन नहीं करते बनता। उस मणि-मन्दिर में मालाओं और सुगन्धित पदार्थों की महक छा रही थी। बढ़िया चँदोवे लगे थे, रत्नों के दीपक थे। उस भवन की शोभा कहते नहीं बनती, जिसने देखी वही जाने ॥ २ ॥

सेज रुचिर रचि राम उठाये। प्रेमसमेत पलँग पौढाये ॥
अग्या पुनि पुनि भाइन्ह दीन्ही। निज निज सेज सयन तिन्ह कीन्ही ॥३॥

इस तरह सुन्दर सेज (शय्या) सजाकर फिर रामचन्द्रजी को उठाया और पलँग पर उन्हें पौढ़ाया। रामचन्द्रजी ने भाइयों को बारम्बार सोने की आज्ञा दी तब वे भी अपनी अपनी शय्याओं पर जाकर सो रहे ॥ ३ ॥

देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिँ सप्रेम बचन सब माता॥
मारग जात भयावन भारी। केहि बिधि तात ताड़िका मारी॥४॥

फिर रामचन्द्रजी के श्याम-सुन्दर और कोमल अंगों को देख देखकर सब मातायें प्रेम-भरे वचनों से कहने लगीं कि हे पुत्र! रास्ते में जाते समय महाभयंकर भारी ताड़का को तुमने किस तरह मार डाला? ॥ ४ ॥

दो०—घोर निसाचर बिकट भट समर गनहिँ नहिँ काहु।
मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु ॥३९०॥

घोर राक्षस भारी योद्धा, जो लड़ाई में किसी को कुछ समझते ही न थे, ऐसे दुष्ट मारीच और सुबाहु को उनके सहायकों समेत तुमने कैसे मार डाला ॥ ३९० ॥

चौ०—मुनिप्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरैं टारी ॥
मखरखवारी करि दुहुँ भाई। गुरुप्रसाद सब बिद्या पाई ॥१॥

हे पुत्र! मैं तुम्हारी बलैया लूँ। विश्वामित्रजी की कृपा से परमात्मा ने तुम्हारे अनेक विघ्न टाले। तुम दोनों भाइयों ने यज्ञ की रक्षा करके गुरु के अनुग्रह से सब विद्या पाई ॥ १ ॥

मुनि-तिय तरी लगत पग-धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी ॥
कमठ पीठि पबिकूट कठोरा। नृप समाज महँ सिवधनु तोरा ॥२॥

तुम्हारे पाँव की धूल लगते ही मुनि की स्त्री (अहल्या) तर गई। इस बात का यश सारे संसार में छा रहा है। कछुए की पीठ और वज्र से भी कठिन शिव-धनुष को तुमने भरी राजसभा में तोड़ डाला ॥ २ ॥

बिस्व-बिजय जसु जानकि पाई। आये भवन ब्याहि सब भाई ॥
सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिककृपा सुधारे ॥३॥

जिससे संसार में जय और यश तथा सीताजी को पाया और चारों भाई ब्याह करके घर आ गये। तुम्हारे ये सब काम मनुष्य की शक्ति के परे हैं, केवल विश्वामित्रजी की कृपा से ही ये काम बने हैं ॥ ३ ॥

आजु सुफल जग जनम हमारा। देखि तात बिधुबदन तुम्हारा ॥
जे दिन गये तुम्हहिँ बिनु देखे। ते बिरंचि जनि पारहिँ लेखे ॥४॥

हे पुत्र ! आज तुम्हारा चाँद सा मुखड़ा देखकर जगत् में हमारा जन्म सफल हुआ। तुमको बिना देखे हमारे जितने दिन गये हैं, उन दिनों को ब्रह्मा हमारी उमर की गिनती में न लगावें (अर्थात् उन दिनों हमारा जीना न जीने के बराबर था) ॥ ४ ॥

दो०—राम प्रतोषी मातु सब कहि बिनीत बर बैन ।
सुमिरि संभु-गुरु-बिप्र-पद किये नीँदबस नैन ॥३९१॥

रामचन्द्रजी ने नम्र और श्रेष्ठ वचन कहकर सब माताओं को संतुष्ट किया। फिर महादेवजी, गुरु और ब्राह्मणों के चरणों का स्मरणकर नेत्रों को निद्रा के वश में कर लिया (सो गये) ॥ ३९१ ॥

चौ०—नीँदहु बदनु सोह सुठि लोना। मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना ॥
घर घर करहिँ जागरन नारी। देहिँ परसपर मंगल गारी ॥१॥

नींद में भी श्रीमुख सुन्दर सुहावना लगता था, मानों सन्ध्या के समय का संपुटित कमल हो। घर घर स्त्रियाँ जागरण करती थीं और आपस में मंगलमय गालियाँ देती थीं ॥ १ ॥

पुरी बिराजति राजति रजनी। रानी कहहिँ बिलोकहु सजनी ॥
सुंदरि बधुन्ह सासु लेइ सोई। फनिकन्ह जनु सिर मनि उर गोई ॥२॥

रानियों ने कहा कि हे सखियो ! देखो अयोध्यापुरी की शोभा और आज को रात कैसी सुहावनो लगती है। जैसे नागिनी अपने मस्तक को मणि को हृदय में छिपाती है, वैसे सासुएँ चारों बहुओं को अपने हृदय से लगाकर, साथ में लेकर, सो गईं ॥ २ ॥

प्रात पुनीतकाल प्रभु जागे। अरुनचूड़ बर बोलन लागे ॥
बंदि मागधन्ह गुनगन गाये। पुरजन द्वार जोहारन आये ॥३॥

प्रातःकाल होते ही पवित्र समय में प्रभु रामचन्द्रजी जागे, जब कि सुन्दर मुर्गे बोलने लगे और मागध, बन्दीजन आकर गुणावली गाने लगे तथा नगर के लोग जुहार (प्रणाम) करने के लिए राजद्वार पर आये ॥ ३ ॥

बंदि बिप्र सुर गुरु पितु माता। पाइ असीस मुदित सब भ्राता ॥
जननिन्ह सादर बदन निहारे। भूपतिसंग द्वार पगु धारे ॥४॥

चारों भाई उठकर ब्राह्मण, देवता, गुरु और पिता-माता को प्रणाम करके और उनसे आशीर्वाद पाकर प्रसन्न हुए। माताओं ने आदर से सबके मुँह देखे। फिर वे राजा के साथ दरवाजे पर पधारे ॥ ४ ॥

दो०—कीन्ह सौच सब सहज सुचि सरित पुनीत नहाइ ।
प्रातक्रिया करि तात पहिँ आये चारिउ भाइ ॥३९२॥

फिर स्वभावतः शुद्ध चारों भाइयों ने शौच-विधि से निवृत्त होकर पवित्र नदी सरयू में स्नान किया और प्रातःकर्म (सन्ध्योपासन, ब्रह्मयज्ञ, तर्पण, वेदपाठ, अतिथिपूजा) करके वे पिताजी के पास आये ॥ ३९२ ॥

चौ०—भूप बिलोकि लिये उर लाई। बैठे हरषि रजायसु पाई ॥
देखि राम सब सभा जुड़ानी। लोचन-लाभ-अवधि अनुमानी ॥१॥

राजा ने उन्हें देखते ही छाती से लगा लिया। पिता की आज्ञा पाकर प्रसन्न होकर वे बैठ गये। रामचन्द्रजी का दर्शन कर संपूर्ण सभा शीतल (प्रसन्न) हो गई। सबने अनुमान से यह सोचा कि नेत्रों के सर्वोत्तम लाभ की सीमा यही है अर्थात् रामदर्शन से बढ़कर कोई लाभ नहीं ॥ १ ॥

पुनि बसिष्ठ मुनि कौसिक आये। सुभग आसनन्हि मुनि बैठाये ॥
सुतन्ह समेत पूजि पद लागे। निरखि राम दोउ गुरु अनुरागे ॥२॥

फिर वसिष्ठ और विश्वामित्र ऋषि आये। उन्हें राजा ने श्रेष्ठ आसनों पर बैठाया। पुत्रों समेत राजा ने मुनियों की पूजा करके उनके पाँव छुए। दोनों गुरु रामचन्द्रजी को देखकर स्नेह में भर गये ॥ २ ॥

कहहिँ बसिष्ठ धरम इतिहासा। सुनहिँ महीप सहित रनिवासा ॥
मुनिमन अगम गाधि-सुत-करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुलबिधि बरनी ॥३॥

वसिष्ठजी धार्मिक इतिहास कहने लगे और महाराज रनिवास समेत सुनने लगे। मुनिजनों के मन के लिए भी जो अगम्य है अर्थात् बड़े बड़े मुनियों के भी मन जिनका अनुमान नहीं कर सकते, ऐसी विश्वामित्रजी की करनी (तपस्या) को वसिष्ठजी ने विधिपूर्वक विस्तार से वर्णन किया ॥ ३ ॥

बोले बामदेव सब साँची। कीरति कलित लोक तिहुँ माँची ॥
सुनि आनंद भयउ सब काहू। राम-लषन-उर अधिक उछाहू ॥४॥

वामदेवजी ने साखी दी कि हाँ यह सब बात सची है, विश्वामित्रजी की सुन्दर कीर्ति तीनों लोकों में छा गई है। यह सुनकर सभी को आनन्द हुआ, राम-लक्ष्मण के हृदय में विशेष उत्साह हुआ ॥ ४ ॥

दो०—मंगल मोद उछाहु नित जाहिँ दिवस एहि भाँति।
उमगी अवध अनंद भरि अधिक अधिक अधिकाति ॥३९३॥

इसी तरह मंगल, आनन्द और उत्साह में नित्य दिन बीतते जाते हैं। मारे आनन्द के अयोध्यापुरी उमड़ पड़ी। दिन दिन आनन्द अधिक अधिक बढ़ता ही गया ॥ ३९३ ॥

चौ०—सुदिन सोधि कलकंकन छोरे। मंगल मोद बिनोद न थोरे॥
नित नव सुख सुर देखि सिहाहीं। अवध जनम जाचहिँ बिधि पाहीँ॥१॥

अच्छा दिन (मुहूर्त्त) शोधकर कंकण खोले गये। उस दिन भी मंगलाचार और विनोद आनन्द थोड़ा नहीं हुआ। ऐसे नित्य नये सुखों को देखकर देवता भी ललचाने लगे और ब्रह्मा से अयोध्या में जन्म पाने की प्रार्थना करने लगे॥ १॥

बिस्वामित्र चलन नित चहहीँ। राम-सनेह-बिनय-बस रहहीँ॥
दिन दिन सयगुन भूपतिभाऊ। देखि सराह महा-मुनि-राऊ॥२॥

विश्वामित्रजी रोज़ चलना चाहते थे, पर रामचन्द्रजी के स्नेह और प्रेम में फँसे हुए रह जाते थे। दिन पर दिन सौगुना भाव राजा का देख देखकर महामुनि विश्वामित्रजी ने राजा दशरथजी की बहुत बड़ाई की॥ २॥

माँगत बिदा राउ अनुरागे। सुतन्ह समेत ठाढ़ भये आगे॥
नाथ सकल संपदा तुम्हारी। मैं सेवक समेत सुत नारी॥३॥

जब मुनि ने बिदा माँगी तब राजा दशरथ पुत्रों को साथ लेकर प्रेम से भरे उनके आगे खड़े हो गये और बोले—हे नाथ! यह सारी सम्पदा सारा राज-पाट आप ही का है। मैं स्त्रियों और पुत्रों सहित आपका सेवक हूँ॥ ३॥

करब सदा लरिकन्ह पर छोहू। दरसन देत रहब मुनि मोहू॥
अस कहि राउ सहित सुत रानी। परेउ चरन मुख आव न बानी॥४॥

लड़कों पर सदा दया करते रहना और मुझे कभी कभी दर्शन देते रहना। ऐसा कहकर रानियों तथा पुत्रों समेत राजा दशरथ विश्वामित्रजी के चरणों में गिर पड़े। मारे प्रेम के उनके मुँह से कुछ बात न निकली॥ ४॥

दीन्हि असीस बिप्र बहु भाँती। चले न प्रीति रीति कहि जाती॥
राम सप्रेम संग सब भाई। आयसु पाइ फिरे पहुँचाई॥५॥

ब्राह्मण विश्वामित्रजी ने बहुत भाँति के आशीर्वाद दिये और फिर चले। उस समय की प्रीति की रीति कही नहीं जाती। रामचन्द्रजी अपने भाइयों समेत प्रेम के साथ उनको पहुँचाने गये और आज्ञा पाकर लौट आये[1]॥ ५॥

दो०—रामरूप भूपतिभगति ब्याह उछाह अनंद।
जात सराहत मनहिँ मन मुदित गाधि-कुल-चंद॥३६४॥

---

[1]—यदीच्छेत् पुनरागन्तुं नैनं दूरमनुव्रजेत्। वाल्मीकि०। जिससे फिर मिलने की आशा हो उसको बहुत दूर तक न पहुँचावे।

गाधिऋषि के वंश के चन्द्रमा विश्वामित्रजो बड़ो प्रसन्नता के साथ रामचन्द्रजी के स्वरूप, महाराज की भक्ति और विवाहोत्सव के आनन्द को मन हो मन सराहते जाते हैं ॥ ३९४ ॥

चौ०—बामदेव रघु-कुल-गुरु ग्यानी। बहुरि गाधिसुत कथा बखानी॥
सुनि मुनि सुजस मनहिँ मन राऊ। बरनत आपन पुन्यप्रभाऊ ॥१॥

ज्ञानो वामदेवजो और रघुकुल के गुरु वसिष्ठजो ने फिर विश्वामित्रजो को कथा[1] कहो। उनको सुन्दर कीर्ति को सुनकर महाराज मन ही मन अपने पुण्य का प्रभाव वर्णन करने लगे (बड़े हो पुण्य की बात है कि ऐसे मुनि को हम पर इतनो कृपा हुई!) ॥ १ ॥

बहुरे लोग रजायसु भयऊ। सुतन्ह समेत नृपति गृह गयऊ॥
जहँ तहँ रामब्याहु सबु गावा। सुजस पुनीत लोक तिहुँ छावा ॥२॥

फिर और लोग भी आज्ञा पाकर अपने घर गये और राजा दशरथ भी पुत्रों समेत महल में आये। जहाँ तहाँ रामचन्द्रजी का विवाहोत्सव सब गाते थे। उनका पवित्र सुयश तीनों लोकों में छा गया ॥ २ ॥

आये ब्याहि राम घर जब तेँ। बसे अनंद अवध सब तब तेँ॥
प्रभुबिबाह जस भयउ उछाहू। सकहिँ न बरनि गिरा अहिनाहू ॥३॥

जब से रामचन्द्रजो विवाह करके घर आये तब से सब आनन्द अयोध्या में आकर बस गये। प्रभु रामचन्द्रजी के विवाह में जैसा उत्सव हुआ उसे सरस्वती और शेषजी भी नहीं कह सकते ॥ ३ ॥

कबि-कुल-जीवन-पावन जानी। राम-सीय-जस मंगलखानी॥
तेहि तेँ मैँ कछु कहा बखानी। करन पुनीत हेतु निज-बानी ॥४॥

१—कथा यह थी—विश्वामित्र गाधि राजा के पुत्र क्षत्रिय थे। एक बार भूमिपर्यटन करते हुए वे वसिष्ठ मुनि के आश्रम में पहुँचे। मुनि ने उन्हें ससैन्य भोजन कराया। तब कामधेनु का प्रताप मालूम होने पर राजा ने गौ लेकर उसके बदले में सोना आदि द्रव्य और कोटि गौएँ भी देनी चाहीं, किन्तु वसिष्ठजी ने अनिच्छा प्रकट की। तब उन्होंने हठ से गौ छीन ली। पर गौ ने छूटकर वसिष्ठ के पास जा प्रार्थना की। तब उनका अभिप्राय समझकर वसिष्ठजी ने अपने अंग से म्लेच्छों को उत्पन्न कर विश्वामित्र की सेना का नाश कर दिया। इस पर विश्वामित्र ने खिसिया कर हिमालय पर जा १००० वर्ष तक तपस्या की और अन्त में शङ्कर ने प्रसन्न होकर इन्हें साङ्ग धनुर्वेद दिया। यहाँ से लौट-कर उन्होंने फिर वसिष्ठजी से युद्ध किया। वसिष्ठजी ने एक ब्रह्मदण्ड से विश्वामित्र के ४१ अस्त्र और अन्त में ४२ वें ब्रह्मास्त्र को भी हज़म कर लिया। तब राजा ने कहा "धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्। अतस्तत्साधयिष्येऽहं यद्वै ब्रह्मत्वकारणम्।" अर्थात्—'क्षत्रिय-बल को धिक्कार है, ब्रह्म-तेज का बल ही सच्चा बल है, इसलिए मैं ब्राह्मण होने का यत्न करूँगा'। तदनुसार संकल्प कर फिर कई बार घोर तपस्या कर और समस्त विघ्नों को नष्ट कर वे ब्रह्मर्षि हुए।

सीतारामजी के यश को कवियों के जीवन को पवित्र करनेवाला और मंगल की खान समझकर, अपनी वाणी को पवित्र करने के लिए मैंने उसका कुछ थोड़ा सा वर्णन किया है ॥ ४ ॥

छंद—निज-गिरा-पावनि-करन कारन रामजस तुलसी कह्यौ।
रघु-बीर-चरित अपार बारिधि पार कबि कौने लह्यौ ॥
उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
बैदेहि-राम-प्रसाद तें जन सर्वदा सुख पावहीं ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि—मैंने अपनी वाणी पवित्र करने के ही लिए रामचन्द्रजी का यश कुछ वर्णन किया है। रघुवीर का चरित्र समुद्र की तरह अपार है, उसका पार किस कवि ने पाया है? जो लोग यज्ञोपवीत, विवाह आदि उत्सवों के इस वर्णन को सुन कर आदर के साथ गावेंगे वे लोग सीताजी और रामचन्द्रजी की कृपा से सर्वदा सुख पावेंगे ॥

सो०—सिय-रघु-बीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिँ सुनहिँ।
तिन कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन रामजस ॥३६५॥

जो लोग सीतारामजी के विवाह को प्रेम के साथ गावेंगे और सुनेंगे उनके यहाँ सदा आनन्दोत्सव होते रहेंगे, क्योंकि रामचन्द्रजी का यश मंगल का घर है ॥ ३९५ ॥

इति श्रीमद्रामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विमलसन्तोष-सम्पादनो नाम प्रथमः सोपानः समाप्तः।

यह कलियुग के समस्त पापों को विध्वंस करनेवाले श्रीमद्रामचरितमानस में 'विमल-सन्तोष-सम्पादन' नाम का पहला सोपान समाप्त हुआ ॥ १ ॥

(बालकाण्ड समाप्त)

श्रीगणेशाय नमः

द्वितीय सोपान

(अयोध्याकाण्ड)

श्लोकाः

वामाङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट् ।
सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करः पातु माम् ॥१॥

जिनके वाम भाग में पार्वती, मस्तक पर गङ्गा, ललाट पर द्वितीया का चन्द्र, कण्ठ में हलाहल विष और वक्षःस्थल में नागराज सुशोभित हैं, वे भस्म से विभूषित, देवतों में प्रधान, सबके ईश्वर, सर्वदा सबके अन्तर्यामी, कल्याणस्वरूप और कल्याण के करनेवाले, चन्द्र-सा शुक्ल वर्ण है जिनका वे श्रीमहादेवजी मेरी रक्षा करें ॥ १ ॥

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः ।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदाऽस्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥२॥

जो श्रीरामचन्द्रजी के मुखकमल की शोभा, राज्याभिषेक से प्रसन्नता को न प्राप्त हुई और वनवास के खेद से मलिन भी न हुई, वह सदा मेरे लिए सुन्दर मङ्गल की देनेवाली हो ॥२॥

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥३॥

नील कमल के सदृश श्याम और कोमल जिनके अंग हैं, श्रीसीताजी जिनके वाम भाग में सुशोभित हैं और जिनके कर में श्रेष्ठ धनुष और सुन्दर बाण हैं, उन रघुवंशियों के नाथ श्रीरामचन्द्रजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

दो०—श्रीगुरु-चरन-सरोज-रज निज-मनु-मुकुरु सुधारि ।
बरनउँ रघुबर-बिमल-जसु जो दायकु फल चारि ॥१॥

श्रीगुरु महाराज के चरण-कमलों की रज से अपने मनरूपी दर्पण को धारकर (साफ़ करके) मैं रामचन्द्रजी के उस निर्मल यश का वर्णन करता हूँ, जो चारों फलों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का देनेवाला है ॥ १ ॥

चौ०—जब तेँ राम ब्याहि घर आये । नित नवमंगल मोद बधाये ॥
भुवन चारि दस भूधर भारी । सुकृत मेघ बरषहिँ सुखबारी ॥१॥

जब से रामचन्द्रजी विवाह करके घर आये तब से नित्य नये मंगल और आनन्द-बधाई रहने लगीं, मानों चौदह लोकरूपी बड़े बड़े पर्वतों पर पुण्यरूपी मेघ सुखरूपी जल की वर्षा करने लगे। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी और राजा दशरथ का इतना पुण्यप्रताप फैला कि वह चौदहों लोकों में छा गया। उन पुण्य-कर्मों के प्रभाव से सर्वत्र सुख ही सुख हो गया, दुःख का नाम ही न रहा ॥ १ ॥

रिधिसिधि संपति नदी सुहाई । उमगि अवध अंबुधि कहुँ आई ॥
मनिगन पुर-नर-नारि-सुजाती । सुचि अमोल सुंदर सब भाँती ॥२॥

(जैसे चौमासे में बरसे हुए जल को लेकर नदियाँ समुद्र में जाया करती हैं वैसे ही) उस सुख-रूपी बरसे हुए जल को लेकर ऋद्धि-सिद्धि की सम्पत्ति-रूपी नदियाँ उमड़ उमड़कर अयोध्या-रूपी समुद्र में आकर मिल गईं। अर्थात् अयोध्यापुरी सकल-सम्पदाओं की सागर बन गई (समुद्र में मोती और रत्न होते हैं—) यहाँ अयोध्यारूपी समुद्र में नगर के कुलीन स्त्री-पुरुष ही मणियों के समूह हैं, जो सब तरह पवित्र, अमोल और सुन्दर हैं ॥ २ ॥

कहि न जाइ कछु नगरबिभूती । जनु एतनिअ बिरंचि करतूती ॥
सबबिधि सब पुरलोग सुखारी । रामचंद-मुख-चंदु निहारी ॥३॥

नगर का वैभव (ऐश्वर्य) कुछ कहा नहीं जाता। ऐसा मालूम होता था कि बस ब्रह्मा की करतूत इतनी ही है (जो अयोध्या में देख पड़ती है) अर्थात् ब्रह्मा ने अपनी सारी कारीगरी इसी में ख़र्च कर दी। श्रीरामचन्द्रजी के मुख-रूपी चन्द्रमा को देखकर सब नगर-निवासी लोग सब तरह से सुखी हो गये ॥ ३ ॥

मुदित मातु सब सखी सहेली। फलित बिलोकि मनोरथ बेली॥
राम-रूप-गुन - सीलु - सुभाऊ। प्रमुदित होहिँ देखि सुनि राऊ॥४॥

सब मातायें और सखी-सहेलियाँ अपनी मनोरथ-रूपी बेल को फलती देखकर प्रसन्न हुईं। श्रीरामचन्द्रजी के रूप, गुण, शील और स्वभाव को देख और सुनकर राजा दशरथ बहुत आनन्दित होते हैं॥ ४॥

दो०—सबके उर अभिलाषु अस कहहिँ मनाइ महेसु।
आपु अछत जुबराज-पदु रामहिँ देउ नरेसु॥२॥

सभी लोगों के अन्तःकरण में यह लालसा थी और वे महादेवजी को मनाकर यही कहते थे कि राजा अपने जीते जी रामचन्द्रजी को युवराज पद दे दें (अपनी देखरेख में भावी राजा बना दें)॥ २॥

चौ०—एक समय सब सहित समाजा। राजसभा रघुराजु बिराजा।
सकल-सुकृत-मूरति नरनाहू। रामसुजसु सुनि अतिहि उछाहू॥१॥

एक समय रघुकुल में श्रेष्ठ दशरथजी अपने समाज (मण्डली) सहित राजसभा में विराजमान थे। वहाँ संपूर्ण पुण्यों की मूर्त्ति महाराज दशरथ को रामचन्द्रजी की सुकीर्ति सुनकर अत्यन्त उत्साह हुआ॥ १॥

नृप सब रहहिँ कृपा अभिलाषे। लोकप करहिँ प्रीतिरुख राषे॥
त्रिभुवन तीनि काल जग माहीँ। भूरिभाग दसरथसम नाहीँ॥२॥

सब राजा लोग दशरथ महाराज की कृपा चाहते रहते थे, क्योंकि जो लोग उनकी कृपा-दृष्टि प्राप्त करते थे उन्हें वे लोकपाल बना देते थे। संसार में तीनों लोकों (पाताल, पृथ्वी, स्वर्ग) में और तीनों कालों (भूत, भविष्य, वर्तमान) में दशरथ के समान बड़भागी कोई नहीं था॥ २॥

मंगलमूल राम सुत जासू। जो कछु कहिय थोर सबु तासू॥
राय सुभाय मुकुरु कर लीन्हा। बदनु बिलोकि मुकुट सम कीन्हा॥३॥

जिसके पुत्र मंगल के मूल रामचन्द्रजी हैं उसके लिए जो कुछ कहा जाय सभी थोड़ा है। महाराज ने मामूली तौर से हाथ में दर्पण लिया और उसमें मुँह देखकर अपने मुकुट को ठीक किया॥ ३॥

स्रवनसमीप भये सित केसा। मनहुँ जरठपनु अस उपदेसा॥
नृप जुबराजु राम कहुँ देहू। जीवन जनम लाहु किन लेहू॥४॥

कानों के पास बाल सफ़ेद हो गये हैं, वे मानों महाराज को ऐसा उपदेश दे रहे हैं कि अब आपकी बुढ़ाई आई। हे राजन्! रामचन्द्रजी को युवराज पद देकर अपने जीवन का लाभ क्यों नहीं उठाते। (जन्म को सफल क्यों नहीं कर लेते!) ॥ ४ ॥

दो०—यह बिचारु उर आनि नृप सुदिनु सुअवसरु पाइ।
प्रेम पुलकि तन मुदित मन गुरुहि सुनायेउ जाइ ॥३॥

राजा दशरथ ने इस विचार को मन में लाकर शुभ दिन और शुभ घड़ी पाकर प्रेम से पुलकित शरीर और मन में प्रसन्न होते हुए गुरु (वसिष्ठ) जी के पास जाकर उन्हें वह विचार सुनाया ॥ ३ ॥

चौ०—कहइ भुआलु सुनिय मुनिनायक। भये रामु सब बिधि सब लायक ॥
सेवक सचिव सकल पुरबासी। जे हमरे अरि मित्र उदासी ॥१॥

राजा ने कहा—हे मुनिराज! सुनिए। अब रामचन्द्र सब तरह से सब लायक़ हो गये। नौकर-चाकर, मन्त्री, सारे नगर-निवासी और हमारे शत्रु, मित्र, उदासीन (तटस्थ) जितने हैं—॥ १ ॥

सबहिँ रामु प्रिय जेहि बिधि मोही। प्रभु असीस जनु तनु धरि सोही ॥
बिप्र सहित परिवार गोसाईँ। करहिँ छोहु सब रउरहिँ नाईँ ॥२॥

सभी को रामचन्द्र वैसे ही और उतने ही प्यारे हैं जितने मुझे। रामचन्द्र क्या हैं मानों आपके आशीर्वादों की साक्षात् मूर्ति हैं। हे स्वामी! सभी ब्राह्मण लोग कुटुम्ब समेत आप ही के समान उन पर प्रेम करते हैं ॥ २ ॥

जे गुरु-चरन-रेनु सिर धरहीँ। ते जनु सकल बिभव बस करहीँ ॥
मोहि सम यहु अनुभयउ न दूजे। सबु पायउँ रज पावनि पूजे ॥३॥

जो गुरु के चरणों की धूल को मस्तक पर धारण करते हैं, वे मानों सारे ऐश्वर्यों को अपने वश में कर लेते हैं। यह अनुभव मेरे बराबर और किसी को न हुआ होगा, मैंने पवित्र रज की पूजा करके ही सब कुछ पाया है ॥ ३ ॥

अब अभिलाषु एकु मन मोरे। पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे ॥
मुनि प्रसन्न लखि सहज सनेहू। कहेउ नरेसु रजायसु देहू ॥४॥

हे नाथ! अब मेरे मन में एक अभिलाषा और है, वह भी आपके अनुग्रह से पूरी हो जायगी। राजा का स्वाभाविक स्नेह देख मुनि प्रसन्न हुए और कहा—महाराज! कहिए क्या आज्ञा है ॥ ४ ॥

दो०—राजन राउर नामु जसु सब अभिमतदातार।
फल अनुगामी महिपमनि मन-अभिलाषु तुम्हार ॥४॥

हे राजन्! तुम्हारा नाम और यश सारे मनोरथों को पूरा करनेवाला है। राजाओं के मुकुटमणि! फल तो तुम्हारी मन की इच्छाओं के पहले ही प्राप्त हो जाता है ॥ ४ ॥

चौ०—सब बिधि गुरु प्रसन्न जिय जानी। बोलेउ राउ रहसि मृदुबानी ॥
नाथ रामु करियहि जुबराजू। कहिय कृपा करि करिय समाजू ॥१॥

राजा ने अपने मन में गुरुजी को सब तरह से प्रसन्न जानकर आनन्द में भर कर कोमल वाणी से उनसे कहा—हे नाथ! रामचन्द्र को युवराज कर देना चाहिए। यदि आप कहिए तो समाज जुटाया जाय ॥ १ ॥

मोहि अछत यहु होइ उछाहू। लहहिँ लोग सब लोचनलाहू ॥
प्रभुप्रसाद सिव सबइ निबाहीँ। यह लालसा एक मन माहीँ ॥२॥

मेरे जीते जी यह उत्सव हो जाय और सब लोग अपने नेत्रों का लाभ पा जायँ। आपकी कृपा से और तो सब इच्छायें शिवजी ने निबाह दीं, बस! अब एक यही लालसा मेरे मन में बाक़ी है ॥ २ ॥

पुनि न सोचु तनु रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ ॥
सुनि मुनि दसरथ-बचन सुहाये। मंगल-मोद-मूल मन भाये ॥३॥

इतना हो जाय तो फिर शरीर रहे, या चला जाय, मुझे उसका कुछ सोच नहीं होगा, जिससे फिर पीछे पछतावा न हो। दशरथजी के सुहावने और आनन्द-मङ्गल के मूल वचन सुनकर मुनि को बहुत अच्छे लगे ॥ ३ ॥

सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीँ। जासु भजनु बिनु जरनि न जाहीँ ॥
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। रामु पुनीत प्रेम-अनुगामी ॥४॥

गुरुजी ने कहा—हे राजन्! सुनो, जिसके विमुख होने से लोग पछताते हैं और जिसके भजन किये बिना जी की जलन नहीं बुझती, वही पवित्र प्रेम के पीछे चलनेवाले स्वामी राम तुम्हारे पुत्र हुए हैं ॥ ४ ॥

दो०—बेगि बिलंबु न करिय नृप साजिय सबइ समाजु।
सुदिनु सुमंगलु तबहिँ जब रामु होहिँ जुबराजु ॥५॥

हे राजन्! जल्दी ही "शुभस्य शीघ्रम्", देर न कीजिए। सब समाज को सजाइए। किसी दिन और घड़ी का आसरा न देखिए। वही दिन शुभ और मंगलमय है जब रामचन्द्र युवराज हो जायँ ॥ ५ ॥

चौ०—मुदित महीपति मंदिर आये। सेवक सचिव सुमंत्रु बोलाये ॥
कहि जय जीव सीस तिन्ह नाये। भूप सुमंगल बचन सुनाये ॥१॥

राजा प्रसन्न होकर महल में आये। उन्होंने सेवकों तथा सुमन्त्र नामक मन्त्री को बुलवाया। उन लोगों ने 'जय जीव' कहकर सिर झुकाया। फिर राजा ने उत्तम मङ्गलकारक वचन उन्हें सुनाये—॥ १ ॥

प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू। रामहिँ राय देहु जुबराजू॥
जौ पाँचहि मत लागइ नीका। करहु हरषि हिय रामहिँ टीका॥२॥

हे मन्त्री! आज गुरुजी ने प्रसन्न चित्त से आज्ञा दी है कि हे राजन्! तुम रामचन्द्र को युवराज पद दे दो। जो यह मंगल-समाचार पंचों को प्यारा लगे तो रामचन्द्र को राज-तिलक करो॥ २॥

मंत्री मुदित सुनत प्रियबानी। अभिमत बिरव परेउ जनु पानी॥
बिनती सचिव करहिँ कर जोरी। जियहु जगतपति बरिस करोरी॥३॥

इस प्रिय वाणी को सुनकर मन्त्री प्रसन्न हुए, मानों मनोरथ-रूपी पौधे में पानी पड़ गया। मन्त्री लोग हाथ जोड़कर विनती करने लगे कि हे जगत्पति! आप करोड़ बरस तक जिओ॥ ३॥

जगमंगल भल काजु बिचारा। बेगिय नाथ न लाइय बारा॥
नृपहिँ मोदु सुनि सचिव सुभाखा। बढत बौंड जनु लही सुसाखा॥४॥

आपने जगत् के मङ्गलकारी अच्छे काम को सोचा है। हे नाथ! ऐसे काम को जल्दी करना चाहिए, देर नहीं करनी चाहिए। मन्त्रियों के शुभ भाषण सुनकर राजा को ऐसा हर्ष हुआ कि मानों बढ़ती हुई लता को (सहारे के लिए) अच्छी शाखा मिल गई॥ ४॥

दो०—कहेउ भूप मुनिराज कर जोइ जोइ आयसु होइ।
राम-राज-अभिषेक-हित बेगि करहु सोइ सोइ॥६॥

राजा ने कहा कि रामचन्द्र का राज्याभिषेक करने के लिए मुनिराज (वसिष्ठ) की जो जो आज्ञा हो वह वह जल्दी करो॥ ६॥

चौ०—हरषि मुनीस कहेउ मृदुबानी। आनहु सकल सु-तीरथ-पानी॥
औषध मूल फूल फल पाना। कहे नाम गनि मंगल नाना॥१॥

मुनि ने प्रसन्न होकर कोमल वाणी से कहा—सब श्रेष्ठ तीर्थों के जल लाओ। फिर उन्होंने नाम गिना गिनाकर मङ्गलमय अनेक ओषधियाँ, मूल, फूल, फल और पत्ते लाने के लिए कहा॥ १॥

चामर चरम बसन बहु भाँती। रोम पाट पट अगनित जाती॥
मनिगन मंगलबस्तु अनेका। जो जग जोगु भूप अभिषेका॥२॥

चवँर, मृगचर्म, बहुत तरह के वस्त्र, अनगिनती तरह के ऊनो और रेशमी वस्त्र, मणियाँ और बहुत-सी मङ्गल की चीजें सारांश यह कि संसार में जो जो चीजें राज्याभिषेक के योग्य होती हैं, उन सबके इकट्ठा करने की उन्होंने आज्ञा दी ॥ २ ॥

बेदबिदित कहि सकल बिधाना। कहेउ रचहु पुर बिबिध बिताना ॥
सफल रसाल पूँगफल केरा। रोपहु बीथिन्ह पुर चहुँ फेरा ॥३॥

वेद में कही हुई सब विधि बताकर कहा—नगर में बहुत-से मण्डप बनवाओ। आम, सुपारी और केले के पेड़ फलों समेत नगर की गलियों में चारों ओर रोपो (लगाओ) ॥ ३ ॥

रचहु मंजु मनि चौकइ चारू। कहहु बनावन बेगि बजारू ॥
पूजहु गनपति गुरु कुलदेवा। सब बिधि करहु भूमि-सुर-सेवा ॥४॥

मनोहर मणियों के सुन्दर चौक पुरवाओ और बाज़ार को सजाने के लिए लोगों से कह दो। श्रीगणेशजी, गुरु और कुल-देवता की पूजा करो और ब्राह्मणों की सब तरह से सेवा करो ॥ ४ ॥

दो०—ध्वज पताक तोरन कलस सजहु तुरग रथ नाग।
सिर धरि मुनिवर बचन सबु निज निज काजहिं लाग ॥७॥

ध्वजायें, झंडियाँ, बन्दनवार, कलश और घोड़े, रथ, हाथी सबको सजाओ। इस तरह की मुनिवर की आज्ञा को सिर धरकर सब लोग अपने अपने काम में लग गये ॥ ७ ॥

चौ०—जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहि काजु प्रथम जनु कीन्हा ॥
बिप्र साधु सुर पूजत राजा। करत रामहित मंगल काजा ॥१॥

मुनिवर ने जिसको जिस काम के करने को आज्ञा दी, उसने वह काम इतनी जल्दी कर दिया कि मानों वह पहले ही किया रक्खा था। राजा ब्राह्मण, साधु और देवतों को पूजने लगे और रामचन्द्रजी के लिए हितकारी मंगल कार्य करने लगे ॥ १ ॥

सुनत रामअभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा ॥
राम-सीय-तन सगुन जनाये। फरकहिं मंगल अंग सुहाये ॥२॥

रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक की सुहावनी खबर सुनते ही सारी अयोध्या में बधाई के बाजे खूब बजने लगे। रामचन्द्रजी और सीताजी के शरीर में शकुन विदित होने लगे, उनके सुन्दर मङ्गल अंग फरकने लगे ॥ २ ॥

पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं। भरत-आगमनु-सूचक अहहीं ॥
भये बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी ॥३॥

वे दोनों पुलकायमान होकर आपस में कहने लगे—ये सब शकुन भरत के आने की सूचना देनेवाले हैं। उनको (मामा के घर) गये बहुत दिन हो गये, मिलने की बड़ी चिंता है; इसलिए इन शकुनों से उन प्रिय के मिलने का निश्चय है ॥ ३ ॥

भरतसरिस प्रिय को जग माहीँ। इहइ सगुनफलु दूसर नाहीँ ॥
रामहिँ बंधुसोचु दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती ॥४॥

जगत् में भरत के समान मुझको कौन प्यारा है? बस शकुनों का यही फल मालूम होता है, दूसरा नहीं। रामचन्द्रजी को अपने भाई भरतजी का रात-दिन ऐसा सोच रहता है जैसा कछुए के जी में अंडों का[1] ॥ ४ ॥

दो०—एहि अवसर मंगलु परम सुनि रहँसेउ रनिवासु।
सोभत लखि बिधु बढत जनु बारिधि बीचिबिलासु ॥८॥

इसी अवसर पर इस परम मङ्गल समाचार को सुनकर सारा रनिवास इस तरह आनन्द में उमड़ उठा जैसे समुद्र पूरे चन्द्रमा को देखकर लहरों से लहलहाता हुआ शोभित होता है ॥ ८ ॥

चौ०—प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये ॥
प्रेम पुलकि तन मनु अनुरागीँ। मंगलकलस सजन सब लागीँ ॥१॥

रनिवास में जिसने पहले जाकर यह समाचार सुनाया उसने इनाम में बहुत-से भूषण और वस्त्र पाये। प्रेम से रानियों के शरीर पुलकायमान और मन आनन्द से भर गये और वे सब मङ्गल-कलश सजाने लगीं ॥ १ ॥

चौकइ चारु सुमित्रा पूरी। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी ॥
आनँद-मगन राममहतारी। दिये दान बहु बिप्र हँकारी ॥२॥

सुमित्रा ने अनेकों तरह की बहुत ही मनोहर मणियों की सुन्दर चौकें पूरीं। रामचन्द्रजी की माता कौसल्या ने आनन्द में मग्न होकर ब्राह्मणों को बुलवाकर बहुत दान दिये ॥ २ ॥

पूजी ग्रामदेबि सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलिभागा ॥
जेहि बिधि होइ राम-कल्यानू। देहु दया करि सो बरदानू ॥३॥
गावहिँ मंगल कोकिलबयनी। बिधुबदनी मृग-सावक-नयनी ॥४॥

फिर गाँव के देवी-देवतों और नागों की पूजा की और (फिर कार्य सिद्ध हो जाने पर) बलि-भेंट चढ़ाने की मनौती मानी। उनकी प्रार्थना की कि हे देवो! कृपा करके

१—कछुआ अपने अंडों को बैठकर नहीं सेता, वरन वह दूर से बैठा हुआ उनको मन ही मन सेता है।

वही वर दीजिए जिसमें रामचन्द्रजी का कल्याण हो ॥ ३ ॥ स्त्रियाँ, जिनके चन्द्र के समान मुख और हिरन के बच्चों के नेत्रों के समान नेत्र थे, कोयल की-सी बोली में मङ्गल गीत गाने लगीं ॥ ४ ॥

दो०—राम-राज-अभिषेकु सुनि हिय हरषे नरनारि।
लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि ॥९॥

रामचन्द्रजी का राज्याभिषेक सुनकर सभी स्त्री-पुरुष मन में बहुत प्रसन्न हुए और विधि को अनुकूल विचार कर सुन्दर माङ्गलिक सामान सजाने लगे ॥ ९ ॥

चौ०—तब नरनाहु बसिष्ठ बोलाये। रामधाम सिख देन पठाये॥
गुरु-आगमनु सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायेउ माथा ॥१॥

तब राजा ने वसिष्ठजी को बुलाया और उचित शिक्षा देने के लिए उन्हें रामचन्द्रजी के महल में भेजा। रामचन्द्रजी ने गुरु का आगमन सुनते ही दरवाज़े पर आकर उन्हें मस्तक नवाया ॥ १ ॥

सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने ॥
गहे चरन सियसहित बहोरी। बोले रामु कमल कर जोरी ॥२॥

फिर वे आदरपूर्वक अर्घ्य देकर उन्हें घर में लिवा लाये और सोलह[१] भाँति की पूजा से उन्होंने उनका सम्मान किया। फिर सीता समेत रामचन्द्रजी ने उनके चरण छुए और कमल के समान हाथ जोड़कर वे बोले—॥ २ ॥

सेवकसदन स्वामिआगमनू। मंगलमूल अमंगलदमनू ॥
तदपि उचित जन बोलि सप्रीती। पठइय काज नाथ असि नीती ॥३॥

सेवक के घर स्वामी का आगमन मंगल का मूल और अमंगल का नाश करनेवाला होता है। तो भी हे नाथ! यदि कुछ कार्य हो तो किसी योग्य मनुष्य को भेजकर प्रेम सहित बुलवा लेना था ऐसी नीति है ॥ ३ ॥

प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आजु यह गेहू ॥
आयसु होइ सो करउँ गोसाईं। सेवकु लहइ स्वामिसेवकाई ॥४॥

आप प्रभु (समर्थ) ने प्रभुता (मालिकी का भाव) छोड़कर मुझ पर स्नेह किया, इसलिए आज यह घर पवित्र हो गया। हे गुसाईं! जो कुछ आज्ञा हो वही मैं करूँ। स्वामी की सेवा यह सेवक पा जाय ॥ ४ ॥

१—वेद में षोडशोपचार पूजा कही है—आवाहन, आसन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आरती, दक्षिणा, प्रदक्षिणा और विसर्जन। जिनका नित्य आवाहन विसर्जन नहीं होता उनका तत्स्थानापन्न स्वागत और शयन होता है ॥

दो०—सुनि सनेहसाने बचन मुनि रघुबरहि प्रसंस ।
राम कस न तुम्ह कहहु अस हंस-बंस-अवतंस ॥१०॥

वसिष्ठजी ने ऐसे स्नेह भरे हुए वचन सुनकर और रामचन्द्रजी की प्रशंसा करके उनसे कहा—हे राम ! भला तुम ऐसी बात क्यों न कहो ? क्योंकि तुम सूर्य के वंश में भूषण-रूप हो ॥ १० ॥

चौ०—बरनि राम गुन सील सुभाऊ । बोले प्रेम पुलकि मुनिराऊ ॥
भूप सजेउ अभिषेकसमाजू । चाहत देन तुम्हहिँ जुबराजू ॥१॥

मुनिराज वसिष्ठजी रामचन्द्र के गुण, शील और स्वभाव का वर्णन कर प्रेम से पुलकित होकर बोले—हे रामचन्द्र ! राजा ने राज्याभिषेक के लिए समाज सजाया है, वे तुमको युवराज पद देना चाहते हैं ॥ १ ॥

राम करहु सब संजम आजू । जौँ बिधि कुसल निबाहइ काजू ॥
गुरु सिख देइ राय पहिँ गयऊ । राम हृदय अस बिसमय भयऊ ॥२॥

इसलिए हे राम ! आज तुम संयम (ब्रह्मचर्यादि जितेन्द्रियता पालन) करो जिससे विधाता कुशलपूर्वक इस काम को निबाह दे । गुरुजी शिक्षा देकर राजा (दशरथ) के पास गये और रामचन्द्रजी के हृदय में इस बात का आश्चर्य हुआ कि ॥ २ ॥

जनमे एक संग सब भाई । भोजन सयन केलि लरिकाई ॥
करनबेध उपबीत बियाहा । संग संग सब भयउ उछाहा ॥३॥

सब भाई एक साथ ही जन्मे; लकड़पन में भोजन, शयन, खेलना कूदना, कर्णवेध (कान छिदाना) संस्कार, यज्ञोपवीत और विवाह आदि सब उत्सव सबके साथ ही साथ हुए ॥ ३ ॥

बिमलबंस यह अनुचित एकू । बंधु बिहाइ बडेहिँ अभिषेकू ॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई । हरउ भगतमन कै कुटिलाई ॥४॥

पर निर्मल वंश में एक यही अनुचित है कि और भाइयों को छोड़कर एक बड़े ही को राज्याभिषेक होता है । तुलसीदासजी कहते हैं कि यह प्रभु (रामचन्द्रजी) का सुन्दर प्रेम-सहित पछतावा भक्तों के मन की कुटिलता को हरनेवाला हो ॥ ४ ॥

दो०—तेहि अवसर आये लषनु मगन प्रेम आनंद ।
सनमाने प्रिय बचन कहि रघु-कुल-कैरव-चंद ॥११॥

उसी समय प्रेम और आनन्द में भरे हुए लक्ष्मणजी आये । सूर्यवंशरूपी कुमुद के खिलानेवाले चन्द्र रामचन्द्रजी ने प्रिय वचन कहकर उनका सम्मान किया ॥ ११ ॥

चौ०—बाजहिँ बाजन बिबिध बिधाना। पुरप्रमोद नहिँ जाइ बखाना॥
भरत आगमनु सकल मनावहिँ। आवहिँ बेगि नयनफलु पावहिँ॥१॥

अयोध्यापुरी में नाना प्रकार के बाजे बजने लगे। नगर में जो हर्ष था उसका वर्णन नहीं हो सकता। सब लोग भरतजी का आना मना रहे थे और कह रहे थे कि वे भी जल्दी आ जायँ तो नेत्रों को सफल कर लें॥ १॥

हाट बाट घर गली अथाईं। कहहिँ परसपर लोग लोगाईं॥
कालि लगन भलि केतिक बारा। पूजिहि बिधि अभिलाषु हमारा॥२॥

बाजार में, रास्तों में, घरों में और गलियों में तथा अथाइयों (बैठकों या चौपालों) में औरतें और मर्द इकट्ठे होकर आपस में कहते थे कि कल शुभ लग्न किस समय है जब विधाता हमारी इच्छा पूरी करेंगे॥ २॥

कनकसिंघासन सीयसमेता। बैठहिँ रामु होइ चित चेता॥
सकल कहहिँ कब होइहि काली। बिघन मनावहिँ देव कुचाली॥३॥

जो सीता-सहित रामचन्द्रजी सुवर्ण के सिंहासन पर विराज जायँ, तो हमारी मनचाही बात हो जाय। सब लोग यही कहते थे कि कल कब होगा। पर कुचाली, खोटी चालवाले, देवता विघ्न मनाने लगे॥ ३॥

तिन्हहिँ सुहाइ न अवध बधावा। चोरहिँ चाँदिनि राति न भावा॥
सारद बोलि बिनय सुर करहीँ। बारहिँ बार पाँय लै परहीँ॥४॥

जैसे चोर को चाँदनी रात नहीं सुहाती वैसे ही उन (कुचाली) देवतों को अवध में बधाई होना नहीं सुहाता। देवतों ने सरस्वतीजी को बुलाया और बार बार उनके पाँवों में गिर गिरकर वे प्रार्थना करने लगे—॥४॥

दो०—बिपति हमारि बिलोकि बडि मातु करिय सोइ आजु।
रामु जाहिँ बन राजु तजि होइ सकल सुरकाजु॥१२॥

हे माता! हमारी बड़ी भारी विपत्ति को देखकर आप वही कीजिए जिसमें रामचन्द्रजी राज्य छोड़कर वन को चले जायँ और देवतों के सब कार्य सिद्ध हों॥ १२॥

चौ०—सुनि सुर बिनय ठाढि पछिताती। भइउँ सरोज बिपिन हिमराती॥
देखि देव पुनि कहहिँ निहोरी। मातु तोहि नहिँ थोरिउ खोरी॥१॥

देवतों की प्रार्थना सुनकर सरस्वती खड़े खड़े पछताने लगी कि हाय! मैं कमल के वन के लिए पाले की रात बनती हूँ। फिर देवता उनकी ओर देख कृतज्ञता दिखाते हुए बोले कि हे माता! इसमें आपकी ज़रा भी बदनामी न होगी॥ १॥

बिसमय-हरष-रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब रामप्रभाऊ॥
जीव करमबस सुख-दुख-भागी। जाइय अवध देवहित लागी॥२॥

क्योंकि तुम तो रामचन्द्रजी के प्रभाव को जानती हो कि उन्हें न किसी बात का विस्मय (उदासी) है और न हर्ष हो। जो जीव कर्म के वश में हैं वे सुख-दुःख भोगते हैं। (रामचन्द्रजी जीव नहीं) इसलिए देवतों के हित के लिए तुम अयोध्या जाओ॥ २॥

बार बार गहि चरन सँकोची। चली बिचारि बिबुधमति पोची॥
ऊँच निवासु नीच करतूती। देखि न सकहिँ पराइ बिभूती॥३॥

जब देवतों ने बार बार पाँवों में पड़कर सरस्वती को संकोच में डाला, तब वह यह विचार कर चली कि देवतों की बुद्धि ही नीच है। इनका निवास तो ऊँचा पर इनके कर्म नीच हैं। ये पराई सम्पत्ति को देख नहीं सकते॥ ३॥

आगिल काजु बिचारि बहोरी। करिहहिँ चाह कुसल कबि मोरी॥
हरषि हृदय दसरथपुर आई। जनु ग्रहदसा दुसह दुखदाई॥४॥

जो चतुर कवि होंगे वे अगले काम (राक्षस-वध आदि) को बड़ा भारी विचारकर मेरी चाह करेंगे। सरस्वती ऐसा सोचकर प्रसन्न हो दशरथ के पुर अयोध्या में आई, मानों दुःसह दुःख देनेवाली कोई ग्रहदशा आई हो॥ ४॥

दो०—नामु मंथरा मंदमति चेरी कैकइ केरि।
अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि॥१३॥

केकया की एक मूर्ख-बुद्धिवाली दासी थी, जिसका नाम मंथरा था। उसे अपयश की पिटारी बनाकर सरस्वती उसकी बुद्धि को फेर गई॥ १३॥

चौ०—दीख मंथरा नगरु बनावा। मंजुल मंगल बाज बधावा॥
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। रामतिलकु सुनि भा उरदाहू॥१॥

मंथरा ने देखा कि नगर सजाया गया है, सुन्दर मंगलाचार हो रहे हैं और बधाइयाँ बज रही हैं। उसने लोगों से पूछा कि कौन सा उत्सव है? उत्तर में रामचन्द्रजी का राज्य-तिलक सुनते ही उसकी छाती में जलन हुई॥ १॥

करइ बिचारु कुबुद्धि कुजाती। होइ अकाजु कवनि बिधि राती॥
देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गवँ तकइ लेउँ केहि भाँती॥२॥

खोटी बुद्धि और खोटी (नीच) जातिवाली मंथरा विचार करने लगी कि रात ही रात में यह काम कैसे बिगड़ जाय! जिस तरह कुटिल भीलनी शहद के छत्ते को लगा देखकर अपना मौक़ा ताकती है कि इसको किस तरह ले लूँ॥ २॥

भरतमातु पहिँ गइ बिलखानी। का अनमनि हसि कह हँसि रांनी ॥
उतरु देइ नहिँ लेइ उसासू। नारिचरित करि ढारइ आँसू ॥३॥

वह बिलखती हुई भरतजी की माता केकयी के पास गई। उसको देखकर केकयी ने हँसकर कहा कि आज तू उदास क्यों हो रही है? मन्थरा कुछ जवाब नहीं देती और लम्बी साँस खींचती है और स्त्री-चरित्र करके आँखों से आँसू टपकाती है ॥ ३ ॥

हँसि कह रानि गालु बड तोरे। दीन्ह लषन सिख अस मन मोरे ॥
तबहुँ न बोल चेरि बडि पापिनि। छाँडइ स्वास कारि जनु साँपिनि ॥४॥

रानी केकयी हँसकर कहने लगी कि तेरे बड़े गाल हैं (तू बहुत बढ़कर बोला करती है) मेरे मन में जँचता है कि लक्ष्मण ने तुझे कुछ सीख (दंड) दी है? इतने पर भी मन्थरा कुछ न बोली, क्योंकि वह बड़ी पापिनी दासी है। वह ऐसी लंबी साँसें छोड़ने लगी मानों काली नागिन है ॥ ४ ॥

दो०—सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु।
लषनु भरतु रिपुदमनु सुनि भा कुबरी उर सालु ॥१४॥

रानी केकयी ने डरकर कहा कि अरी! कहती क्यों नहीं? राजा दशरथ, रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न कुशल से तो हैं? यह सुनकर कूबरी मन्थरा के मन में बड़ा ही खेद हुआ ॥ १४ ॥

चौ०—कत सिख देइ हमहिँ कोउ माई। गालु करब केहि कर बलु पाई ॥
रामहिँ छाडि कुसल केहि आजू। जेहि जनेसु देइ जुबराजू ॥१॥

हे माता! हमें कोई क्या सीख देगा? और किसका बल पाकर हम मुँहजोरी करेंगी? आज रामचन्द्र को छोड़कर और किसका कुशल है कि जिन्हें राजा युवराज पद दे रहे हैं ॥ १ ॥

भयउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिन ॥
देखहु कस न जाइ सब सोभा। जो अवलोकि मोर मनु छोभा ॥२॥

कौसल्या को विधाता बहुत ही दाहिने (अनुकूल) हैं, देखने में उनका घमंड हृदय में नहीं समाता। सब शोभा को जाकर तुम क्यों नहीं देखतीं कि जिसे देखकर मेरा मन दुखी हुआ है ॥ २ ॥

पूतु बिदेस न सोचु तुम्हारे। जानति हहु बस नाहु हमारे ॥
नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप कपट चतुराई ॥३॥

तुम्हारा पुत्र परदेश में है, किन्तु तुम्हें कुछ सोच नहीं। तुम जानती हो कि पति हमारे वश में हैं। तुम्हें नींद और तोशक-तकिये से सजी सेज बहुत प्यारी लगती है। तुम राजा का कपट और चतुराई नहीं देखतीं ॥ ३ ॥

सुनि प्रिय बचन मलिनमनु जानी। झुकी रानि अब रहु अरगानी ॥
पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तब धरि जीभ कढावउँ तोरी ॥४॥

मन्थरा के प्यारे वचनों को सुनकर और उसका मन मैला जानकर रानी कैकयी उसके ऊपर फिर पड़ीं (रिसाईं) और बोलीं—बस चुप रह। जो फिर कभी ऐसी घर फोड़नेवाली बात कहेगी तो तेरी जीभ पकड़कर उसी समय खिंचवा लूँगी ॥ ४ ॥

दो०—काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरतमातु मुसुकानि ॥१५॥

काने, लँगड़े, कुबड़े ये बड़े कुटिल और कुचाली होते हैं और उस पर भी स्त्री और स्त्री भी दासी! ऐसा जानकर भरतजी की माता कैकयी मुस्कुराकर कहने लगी—॥ १५ ॥

चौ०—प्रियबादिनि सिख दीन्हिउँ तोही। सपनेहु तो पर कोपु न मोही ॥
सुदिनु सु-मंगल-दायकु सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई ॥१॥

हे प्रिय बोलनेवाली मंथरा! मैंने यह तुमको सीख दी है, मुझे तेरे ऊपर क्रोध स्वप्न में भी नहीं है। वही शुभ दिन सुन्दर मङ्गल-प्रद होगा जिस दिन तेरा कहा (रामचन्द्र का राज-तिलक) सच्चा हो जायगा ॥ १ ॥

जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिन-कर-कुल-रीति सुहाई ॥
रामतिलकु जौं साचेहु काली। देउँ माँगु मनभावत आली ॥२॥

सूर्यवंश की यह सुहावनी रीति है कि इस वंश में बड़ा भाई स्वामी और छोटा सेवक होता है। जो सचमुच ही कल रामचन्द्र को तिलक चढ़ेगा तो हे सखी! अपनी मनमानी चीज़ मुझसे माँग ले, मैं दूँगी ॥ २ ॥

कौसल्यासम सब महतारी। रामहिँ सहज सुभाय पियारी ॥
मो पर करहिँ सनेहु बिसेखी। मैं करि प्रीति परीछा देखी ॥३॥

रामचन्द्र को सहज स्वभाव ही से सब मातायें कौसल्या के समान प्यारी हैं। फिर मुझ पर तो वे और भी ज्यादा प्रीति करते हैं, मैंने परीक्षा करके देख लिया है ॥ ३ ॥

जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहिँ रामसिय पूतपतोहू ॥
प्रान तेँ अधिक रामु प्रिय मोरे। तिन्ह के तिलक छोभु कस तोरे ॥४॥

एकहि वार आस सब पूजी।
अब कछु कहब जीभ करि दूजा॥ – पृ० ३६९

जो विधाता कृपाकर मुझे फिर जन्म दे तो मेरे रामचन्द्र पुत्र और सीता बहू हों। रामचन्द्र मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं, उनका तिलक चढ़ने में तुझे दुःख क्यों हुआ ? ॥४॥

दो०—भरतसपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।
हरष समय बिसमय करसि कारन मोहि सुनाउ ॥१६॥

तुझको भरत को सौगंद है, तू छल-कपट और छिपाव को छोड़कर सत्य कह। आनन्द के समय में जो तू आश्चर्य कर रही है इसका कारण मुझे सुना ॥ १६ ॥

चौ०—एकहि बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी ॥
फोरइ जोगु कपारु अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहिँ लागा ॥१॥

मन्थरा ने कहा—बस, एक बार ही कहने से मेरी आशा पूरी हो गई। अब उसी मुँह से क्या दूसरी जीभ लगाकर फिर कुछ कहूँगी ! यह मेरा अभागा कपाल फोड़ने ही के लायक़ है। भलाई की बात कहने पर भी वह आपको दुखदायी लगी ॥ १ ॥

कहहिँ झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहिँ करुइ मैँ माई ॥
हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती। नाहिँ त मौन रहब दिन राती ॥२॥

हे सखी ! जो भूठी-सच्ची बातें बनाकर कहें वे तुम्हें प्यारे लगते हैं और मैं तो कड़वी हूँ। अब हम भी ठकुर-सोहाती कहा करेंगी, नहीं तो दिन-रात चुप रहा करेंगी ॥ २ ॥

करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा ॥
कोउ नृप होउ हमहिँ का हानी। चेरि छाँडि अब होब कि रानी ॥३॥

विधाता ने कुरूप करके मुझे परवश कर दिया है। जो बोया है वह काटना है, जो दिया है सो मिलेगा। कोई भी राजा हो, हमारी इसमें कौनसी हानि है ? दासी छोड़कर हम रानी थोड़े ही हो जायँगी ? ॥ ३ ॥

जारइ जोगु सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ॥
ता तेँ कछुक बात अनुसारी। छमिय देबि बडि चूक हमारी ॥४॥

हमारा स्वभाव जलाने के लायक़ है, कि तुम्हारा बुरा नहीं देखा जाता। इसी लिए कुछ उचित बातें कहीं। हे देवि ! क्षमा करो, हमारी बड़ी भूल हुई ॥ ४ ॥

दो०—गूढ-कपट-प्रिय-बचन सुनि तीय अधर-बुधि रानि।
सुरमाया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतियानि ॥१७॥

स्त्रियों की बुद्धि ओठों में होती है अर्थात् बातों में आकर वे चल-विचल हो जाया करती हैं। तदनुसार रानी केकयी ने गुप्त कपट भरे हुए, ऊपर से प्यारे, वचनों को सुनकर देवताओं

की माया के वश में होकर बैरिन मन्थरा को अपना हितू जानकर उसका विश्वास कर लिया ॥ १७ ॥

चौ०—सादर पुनि पुनि पूछति ओही । सबरीगान मृगी जनु मोही ॥
तसि मति फिरी अहइ जसि भाबी । रहसी चेरि घात जनु फाबी ॥ १ ॥

वह केकयी उस मन्थरा से आदर के साथ बारम्बार पूछती है, मानों भीलनी के गान को सुनकर हिरनी मोहित हो गई हो। जैसा भविष्य (होनहार) है, वैसी ही बुद्धि पलट गई। दासी मन्थरा अपना दाँव लगा समझकर प्रसन्न हो गई ॥ १ ॥

तुम्ह पूछहु मैं कहत डराऊँ । धरेउँ मोर घरफोरी नाऊँ ॥
सजि प्रतीति बहु बिधि गढि छोली । अवध साढसाती तब बोली ॥२॥

तुम तो पूछती हो पर मैं कहने में डरती हूँ, क्योंकि तुमने मेरा नाम घर-फोड़ी रख दिया है। बहुत तरह की बातों को छील-छाल किसी तरह अपने ऊपर भरोसा जमवाकर अयोध्या के लिए साढ़साती (साढ़े सात वर्ष की शनि की) दशा के समान (कष्टकारी) मन्थरा बोली—॥ २ ॥

प्रिय सियरामु कहा तुम्ह रानी । रामहिँ तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी ॥
रहा प्रथम अब ते दिन बीते । समउ फिरे रिपु होहिँ पिरीते ॥३॥

हे रानी! तुमने जो कहा कि मुझे सीता-राम प्यारे हैं और तुम रामचन्द्र को प्यारी हो, सो तो ठीक है। परन्तु यह बात पहले थी, अब वे दिन बीत गये। समय पलटता है तो मित्र भी शत्रु हो जाते हैं ॥ ३ ॥

भानु कमल-कुल-पोषनि - हारा । बिनु जर जारि करइ सोइ छारा ॥
जर तुम्हारि चह सवति उखारी । रूँधहु करि उपाउ बरबारी ॥४॥

जैसे सूर्य कमल के समूहों का पालनेवाला है (उसके उदय होने से कमल खिलते हैं), पर बिना जड़ के वही सूर्य उन्हीं कमलों को जलाकर भस्म कर देता है, वैसे ही तुम्हारी जड़ को तुम्हारी सौत कौसल्या उखाड़ना चाहती है। अपनी बारी (बाटिका) को उपाय करके रूँधो (काँटे आदि से घेरो) ॥ ४ ॥

दो०—तुम्हहिँ न सोचु सोहाग बल निजबस जानहु राउ ।
मन मलीन मुहु मीठ नृपु राउर सरलसुभाउ ॥१८॥

तुम अपने सुहाग के घमण्ड में चूर हो रही हो इसी से तुम्हें कुछ सोच नहीं है। तुम राजा को अपने वश में जानती हो। पर राजा मुँह के मीठे और मन के मैले हैं और आपका स्वभाव सीधा है ॥ १८ ॥

चौ०—चतुर गँभीर राम-महतारी। बीचु पाइ निज बात सवाँरी॥
पठये भरतु भूप ननिअउरे। राम-मातु मत जानब रउरे॥१॥

राम की माता कौसल्या चतुर और गंभीर है। उसने मौक़ा पाकर अपनी बात बना ली। राजा ने भरत को जो ननिहाल भेज दिया है, यह सब राम की माता ही की सलाह से हुआ है ऐसा आप समझें॥ १॥

सेवहिँ सकल सवति मोहि नीके। गरबित भरतमातु बल पी के॥
सालु तुम्हार कौसिलहि माई। कपट चतुर नहिँ होइ जनाई॥२॥

कौसल्या जानती है कि और सब सौतें तो मेरी टहल अच्छी तरह करती हैं, पर भरत की माता राजा के बल से घमंड में रहती है। हे सखी! कौसल्या के जी में बस तुम्हारी ही कसक रहती है। चतुर आदमी का कपट समझ नहीं पड़ता॥ २॥

राजहि तुम्ह पर प्रेमु बिसेखी। सवति सुभाउ सकइ नहिँ देखी॥
रचि प्रपंचु भूपहिँ अपनाई। राम-तिलक-हित लगन धराई॥३॥

राजा का तुम पर अधिक स्नेह है, सौत इस बात को स्वभाव ही से देख नहीं सकती। इसलिए कौसल्या ने प्रपंच (जाल) रचकर राजा को अपने वश में करके राम के राजतिलक का लग्न निश्चित किया॥ ३॥

यह कुल उचित राम कहुँ टीका। सबहि सुहाइ मोहि सुठि नीका॥
आगिल बात समुझि डर मोही। देउ दैव फिरि सो फलु ओही॥४॥

इस कुल की रीति से राम को तिलक चढ़ना उचित है और यह बात सभी को सुहाती है, मुझे और भी अच्छी लगती है। पर मुझे आगे होनेवाली बात का विचारकर डर लगता है। पर ईश्वर करे, जैसा बुरा फल वह (कौसल्या) तुम्हारे लिए चाहती है वैसा उसी को मिले॥४॥

दो०—रचि पचि कोटिक कुटिलपन कीन्हेसि कपटप्रबोधु।
कहेसि कथा सत सवति कै जेहि बिधि बाढ बिरोधु॥१६॥

इसी तरह करोड़ों तरह की कुटिलपन की बात बनाकर मन्थरा ने केकयी को बहुत-सी छल-कपट की पट्टी पढ़ाई। और सौतों की ऐसी सैकड़ों कहानियाँ सुनाईं जिनसे आपस में फूट और विरोध बढ़े॥ १९॥

चौ०—भावीबस प्रतीति उर आई। पूछु रानि पुनि सपथ देवाई॥
का पूछहु तुम्ह अबहु न जाना। निज हित अनहित पसु पहिचाना॥१॥

होनहार के वश केकयी के मन में विश्वास हो आया। वह रानी फिर सौगन्द दे देकर पूछने लगी। मन्थरा ने कहा—रानी! क्या पूछती हो? तुमने अब भी नहीं समझा! अपने हित और अनहित (भले, बुरे) को पशु भी पहचान लेते हैं॥ १॥

भयउ पाख दिनु सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू॥
खाइय पहिरिय राज तुम्हारे। सत्य कहे नहिं दोषु हमारे॥२॥

अरे! पन्द्रह दिन हो गये, तैयारियाँ हो रही हैं और तुमने मुझसे आज ख़बर पाई है! मैं तुम्हारे राज्य में खाती हूँ पहनती हूँ इसलिए सच कहने में मुझे कोई दोष नहीं है॥ २॥

जौं असत्य कछु कहब बनाई। तौं बिधि देइहि हमहि सजाई॥
रामहिं तिलकु कालि जौं भयऊ। तुम्ह कहुँ बिपति बीजु बिधि बयऊ॥३॥

जो मैं कुछ बात बनाकर झूठ बोलूँगी तो विधाता मुझे दण्ड देंगे। जो कल राम को राजतिलक हो गया तो तुम्हारे लिए ब्रह्मा ने विपत्ति के बीज बो दिये॥ ३॥

रेख खँचाइ कहउँ बलु भाखी। भामिनि भइहु दूध कइ माखी॥
जौं सुतसहित करहु सेवकाई। तौं घर रहहु न आन उपाई॥४॥

हे रानी! मैं लकीर खींचकर बड़े ज़ोर से कहती हूँ कि तुम तो दूध को मक्खी हो गईं। (मक्खी दूध में गिर जाती है तो वह निकाल कर फेंक दी जाती है) जो पुत्र-सहित सेवकाई करो तो घर में रहो, दूसरा उपाय नहीं। अर्थात् राम-कौसल्या की सेवकाई किये बिना घर में रहना तक कठिन हो जायगा॥ ४॥

दो०—कद्रू बिनतहि दीन्ह दुखु तुम्हहिं कौसिला देब।
भरतु बंदिगृह सेइहहिं लषनु राम के नेब॥२०॥

जिस तरह कद्रू[1] ने विनता को दुःख दिया था उसी तरह कौसल्या तुम्हें देगी। भरत तो जेलख़ाने में पड़ेंगे और लक्ष्मण राम के नायब होंगे॥ २०॥

चौ०—कैकयसुता सुनत कटुबानी। कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी॥
तन पसेउ कदली जिमि काँपी। कुबरी दसन जीभ तब चाँपी॥१॥

१—कश्यप मुनि के कद्रू और विनता दो स्त्रियाँ थीं। उनमें से कद्रू के पुत्र सर्प और विनता के गरुड़ हुए। एक समय कद्रू ने विनता से पूछा कि सूर्य के घोड़े की पूँछ का रंग कैसा है? विनता ने सफ़ेद रंग बताया। कद्रू ने उस बात का खंडन कर काला रंग कहा। बस, इसी पर आपस में झगड़ा बढ़ा और अन्त में निश्चित हुआ कि जिसकी बात झूठी हो वह दासी बनकर रहे। फिर दोनों इस बात को देखने के लिए चलीं। कद्रू ने अपने पुत्रों, सर्पों, को पहले ही समझाकर भेज रक्खा था। वे सूर्य के घोड़े की पूँछ में जा लिपटे। बस, कद्रू ने जाकर दिखाया तो पूँछ काले रंग की निकली इसलिए बिनता कद्रू की दासी हो गई।

मन्थरा की कड़वी वाणी को सुनकर केकयी सहम कर सूख गई, कुछ कह नहीं सकी। उसका शरीर पसीने में भीग गया और वह केले के पत्ते की तरह काँप उठी। उस समय कूबरी मन्थरा ने अपनी जीभ दाँतों के नीचे दबा ली ॥ १ ॥

कहि कहि कोटिक कपटकहानी। धीरजु धरहु प्रबोधेसि रानी ॥
कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू। जिमि न नवइ फिरि उकठ कुकाठू ॥२॥

फिर करोड़ों तरह की कपट की कहानियाँ कह कहकर उसने रानी को समझाया कि धीरज धरो, घबराओ मत। मन्थरा ने केकयी को, कपट का खोटा पाठ पढ़ाकर, कठोर (पक्का) कर दिया। जिस तरह सूखा लकड़ नमता नहीं, इसी तरह केकयी भी अब अपने हठ से हटती नहीं ॥ २ ॥

फिरा करमु प्रिय लागि कुचाली। बकिहि सराहइ मानि मराली ॥
सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी ॥३॥

कर्म (भाग्य) पलट गया, कुचाल प्यारी लगी। केकयी बगुली के समान मन्थरा को हंसिनी मानकर उसकी सराहना करने लगी। केकयी बोली—मन्थरा! सुन, तेरी बात सची है। मेरी दहिनी आँख[1] रोज़ फरकती है ॥ ३ ॥

दिन प्रति देखहुँ राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोहबस अपने ॥
काह करउँ सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ ॥४॥

मैं रोज़ रात को खोटे स्वप्न देखती[2] हूँ। मैं मोहवश उन्हें तुझसे नहीं कहती। अरी सखी! क्या करूँ, मेरा तो सीधा स्वभाव है। मैं कुछ अनुकूल या प्रतिकूल समझती ही नहीं हूँ ॥ ४ ॥

दो०—अपने चलत न आजु लगि अनभल काहु क कीन्ह।
केहि अघ एकहि बार मोहि दैव दुसह दुख दीन्ह ॥२१॥

मैंने भरसक आज तक कभी किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा, फिर दैव ने मुझे न जाने किस पाप से एक साथ ही यह दुःसह दुःख दिया ॥ २१ ॥

चौ०—नैहर जनमु भरब बरु जाई। जियत न करब सवति सेवकाई ॥
अरिबस दैव जियावत जाही। मरनु नीक तेहि जीव न चाही ॥१॥

१—स्त्री की दाहिनी आँख का फड़कना अशुभ माना गया है।

२—केकयी को आँख फड़कना आदि दुःस्वप्न भविष्य में दशरथ-वियोग और अपयश के सूचक थे, पर इस समय उनका मतलब दूसरी ओर जान पड़ा।

मैं अपने मायके जाकर वहीं जन्म बिता दूँगी, पर जीते जी सवत की टहल न करूँगी। दैव जिसको शत्रु के वश में रखकर जिलाता है उसके लिए तो मरना ही अच्छा है, उसे जीनो न चाहिए॥ १॥

दीनबचन कह बहु बिधि रानी। सुनि कुबरी तियमाया ठानी॥
अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुख सोहागु तुम्ह कहँ दिन दूना॥२॥

रानी ने बहुत तरह से दीन वचन कहे। उनको सुनकर कूबरी ने स्त्री-माया (तिरिया-चरित्र) फैलाया। कूबरी बोली—रानी! तुम जी छोटा करके ऐसा कैसे कह रही हो? तुम्हारा दिन दिन दूना सुख और सौभाग्य बढ़े॥ २॥

जेइ राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फलु परिपाका॥
जब तें कुमत सुना मैं स्वामिनि। भूख न बासर नींद न जामिनि॥३॥

जिसने तुम्हारा अहित विचारा है, वही इसके फल को पावेगा (अर्थात् कौसल्या ही को बुरा फल मिलेगा)। हे स्वामिनि! मैंने जब से यह खोटी सलाह सुनी है, तब से मुझे दिन में भूख नहीं लगती और रात में नींद नहीं आती॥ ३॥

पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिँ यह साँची॥
भामिनि करहु त कहउँ उपाऊ। हैं तुम्हरी सेवाबस राऊ॥४॥

मैंने गुणी (विज्ञ) लोगों से पूछा। उन्होंने रेखा खींचकर (जोर देकर) कहा कि भरत राजा होंगे यह बात सच्ची है। हे रानी! जो तुम करो तो उपाय मैं बता दूँ, क्योंकि राजा तुम्हारी सेवा के वश में हैं॥ ४॥

दो०—परउँ कूप तव बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि।
कहसि मोर दुख देखि बड कस न करब हित लागि॥२२॥

केकयी ने कहा—मैं तेरे कहने पर कुएँ में भी कूद पड़ूँ, पति और पुत्र को भी छोड़ दूँ। अरी! जब तू मेरा बड़ा भारी दुख देखकर हित के लिए कुछ कहेगी तो भला मैं क्यों न करूँगी?॥ २२॥

चौ०—कुबरी करि कबुली कैकेई। कपटछुरी उरपाहन टेई॥
लखइ न रानि निकट दुखु कैसे। चरइ हरित त्रिन बलिपसु जैसे॥१॥

कूबरी ने केकयी को बलि का पशु बनाकर (अथवा उसे बात मानने के लिए पक्का करके) अपनी कपटरूपी छुरी को हृदयरूपी पत्थर पर टेया (शान दी)। जिस तरह बलिदान किया जानेवाला पशु हरी घास खाता और तुरन्त आनेवाले महादुःख (मरण) को नहीं जानता, उसी तरह रानी केकयी अपने भावी दुख (वैधव्य और कलङ्क) को नहीं देखती बरन् खुश होती है॥ १॥

सुनत बात मृदु अंत कठोरी। देति मनहुँ मधु माहुर घोरी॥
कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाहीँ। स्वामिनि कहिहु कथा मोहि पाहीँ॥२॥

मन्थरा की बात सुनने में कोमल है पर अन्त (परिणाम) में कठोर है। मानों वह शहद में विष घोलकर पिला रही है। दासी मन्थरा कहती है—हे स्वामिनि! तुमने जो जिक्र मुझसे किया था उसकी याद है या नहीं?॥ २॥

दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु आजु जुड़ावहु छाती॥
सुतहि राजु रामहिँ बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥३॥

तुम्हारे दो वरदान राजा के पास धरोहर रक्खे[1] हुए हैं, आज उन्हें माँगकर छाती ठंढी कर लो। बस! भरत के लिए राज्य और राम के लिए वनवास माँगकर दे दो और सवत के आनन्द (पुत्र-राज्य) को तुम ले लो॥ ३॥

भूपति रामसपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचनु न टरई॥
होइ अकाजु आजु निसि बीते। बचनु मोर प्रिय मानेहु जी ते॥४॥

राजा जब रामचन्द्र की सौगंद खा लें तब तुम दोनों वर माँगना, जिससे फिर वे अपने वचन टाल न सकें। जो आज की रात बीत गई तो काम बिगड़ जायगा, मेरा वचन जी-जान से प्यारा समझो॥ ४॥

दो०—बड कुघातु करि पातकिनि कहेसि कोपगृह जाहु।
काजु सवाँरहु सजग सब सहसा जनि पतियाहु॥२३॥

१—दक्षिण देश के दण्डकारण्य में वैजयन्त नगर में, तिमिध्वज राजा के राज्यकाल में, शम्बरासुर के साथ इन्द्र का युद्ध हुआ। उसमें इन्द्र की सहायता के लिए कई राजाओं समेत दशरथजी भी सपत्नीक (केकयी समेत) गये। वहाँ युद्ध करते करते रात हो जाने पर, निशाचरों का बल बढ़ गया। उन्होंने बहुत वीर मार डाले। दशरथजी भी अधिक घायल होकर मूर्छित हो गये। सारथी मार डाला गया था। उस समय केकयी सारथी का काम कर रथ भगा ले गई और उसने दशरथ की प्राण-रक्षा की। दशरथ को मूर्छा मिटकर होश आया तो वे स्त्री पर प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे दो वरदान देने को कहे। रानी ने वे वरदान धरोहर के तौर पर महाराज के पास ही रक्खे कि जब ज़रूरत होगी तब लूँगी।

कहीं यह कथा है कि लड़ाई में जब रथ के पहिये गिरने लगे तब कीले की जगह केकयी ने अपने हाथ की अँगुली लगा रक्खी। एक ऋषि सोये हुए थे और केकयी ने उनके मुख में स्याही लगा कर काला मुँह कर दिया था। उन्होंने क्रोध से शाप दिया था कि तुझे ऐसा कलङ्क लगेगा कि कोई तेरा मुख न देखेगा। फिर ऋषि ने अपना दण्ड माँगा तो केकयी ने दे दिया। इस पर सन्तुष्ट होकर उन्होंने वर दिया कि तू चाहेगी तब तेरा हाथ लोहदण्ड का काम देगा। यह खबर केकयी से ही मन्थरा ने सुनी थी इसलिए वह याद दिला रही है।

पापिनी मन्थरा ने बड़ा बुरा घात लगाकर कहा कि कोप-भवन में जाओ। होशियारी से सब काम बना लेना, एक-दम राजा का विश्वास न कर लेना ॥ २३ ॥

चौ०—कुबरिहि रानि प्रानप्रिय जानी। बार बार बडि बुद्धि बखानी ॥
तोहि सम हितु न मोर संसारा। बहे जात कर भइसि अधारा ॥१॥

रानी ने कूबरी को प्राण के समान प्यारी समझा और बार बार उसकी बुद्धि की बड़ाई की। वह बोली—संसार में तेरे बराबर मेरा हितकारी दूसरा नहीं है, तू बहते हुए का सहारा हो गई ॥ १ ॥

जौं बिधि पुरव मनोरथु काली। करउँ तोहि चषपूतरि आली ॥
बहु बिधि चेरिहि आदरु देई। कोपभवन गवनी कैकेई ॥२॥

हे सखी! जो विधाता कल मेरे मनोरथ को पूर्ण कर दें तो मैं तुझे अपनी आँख की पुतली बनाऊँगी। इस तरह मन्थरा का बहुत सा आदर करके केकयी कोप-भवन में चली गई ॥ २ ॥

बिपति बीजु बरषारितु चेरी। भुइँ भइ कुमति कैकई केरी ॥
पाइ कपटजलु अंकुर जामा। बर दोउ दल दुखफल परिनामा ॥३॥

केकयी की कुबुद्धि भूमि हुई, उसमें विपत्ति रूपी बोये, बीज के लिए वह दासी मन्थरा वर्षाऋतु हो गई। कपटरूपी पानी पाकर अङ्कुर फूटा, दोनों वरदान दो पत्ते हुए और परिणाम जो दुःख हुआ वही फल हुआ ॥ ३ ॥

कोपसमाजु साजि सब सोई। राजु करत निज कुमति बिगोई ॥
राउरनगर कोलाहलु होई। यह कुचालि कछु जान न कोई ॥४॥

कोप का सब साज सजाकर केकयी सो गई। राज्य करते हुए उसने अपनी दुष्ट बुद्धि से अपना नाश किया। राजा के नगर में हल्ला-गुल्ला हो रहा था। इस कुचाल को कोई नहीं जानता था ॥ ४ ॥

दो०—प्रमुदित पुर नरनारि सब सजहिँ सुमंगलचार।
एक प्रबिसहिँ एक निर्गमहि भीर भूपदरबार ॥२४॥

नगर के नर-नारी हर्ष में फूले, शुभ मंगलाचार के साज सजा रहे हैं। और राजा के दरबार में आने-जानेवालों का ताँता लग रहा है। कोई भीतर जाते हैं, कोई बाहर आते हैं ॥२४॥

चौ०—बालसखा सुनि हिय हरषाहीँ। मिलि दस पाँच राम पहिँ जाहीँ ॥
प्रभु आदरहिँ प्रेमु पहिचानी। पूछहिँ कुसल षेम मृदुबानी ॥१॥

रामचन्द्रजी के बाल-मित्र राज-तिलक का समाचार सुनकर हृदय में प्रसन्न होते और दस दस पाँच पाँच मित्र मिलकर रामचन्द्रजी के पास जाते हैं। उनके प्रेम को पहचान कर प्रभु रामचन्द्रजी उनका आदर करते हैं और कोमल वाणी से उनका कुशलक्षेम पूछते हैं ॥ १ ॥

फिरहिँ भवन प्रिय आयसु पाई। करत परसपर राम बडाई ॥
को रघुबीरसरिस संसारा। सीलु सनेहु निबाहनिहारा ॥२॥

वे रामचन्द्रजी की प्रिय आज्ञा पाकर अपने घर को लौटते और आपस में रामचन्द्रजी की बड़ाई करते हैं—संसार में रघुवीर रामचन्द्रजी के समान शील और स्नेह को निबाहनेवाला कौन है ? ॥ २ ॥

जेहि जेहि जोनि करमबस भ्रमहीँ। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीँ ॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू ॥३॥

हे ईश्वर ! हम कर्म के वश जिस जिस योनि में भ्रमते फिरें, वहाँ वहाँ हमें यह देना कि हम तो सेवक हों और सीतापति रामचन्द्रजी हमारे स्वामी हों, जिससे यह नाता अन्त तक निभ जाय ॥ ३ ॥

अस अभिलाषु नगर सब काहू। कैकयसुता हृदय अति दाहू ॥
को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीचमते चतुराई ॥४॥

नगर में सभी लोगों की ऐसी इच्छा थी, पर केकयी के मन में तो बड़ा दाह हो रहा था। दुष्ट सङ्गति पाकर कौन नहीं बिगड़ता ? नीच के मत (सलाह) से चतुराई नहीं रहती ॥ ४ ॥

दो०—साँझ समय सानंद नृपु गयउ कैकई गेह।
गवनु निठुरतानिकट किय जनु धरि देह सनेह ॥२५॥

सायङ्काल के समय राजा आनन्द के साथ केकयी के महल में गये, मानो स्नेह शरीर धारण कर निष्ठुरता के पास गया हो। अर्थात् राजा इस समय स्नेहमूर्त्ति हैं और केकयी कठोरता की मूर्त्ति है ॥ २५ ॥

चौ०—कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ। भयबस अगहुँड परइ न पाऊ ॥
सुरपति बसइ बाँहबल जाके। नरपति सकल रहहिँ रुख ताके ॥१॥

कोप-भवन का नाम सुनते ही राजा दशरथ सहम गये, मारे डर के उनका पाँव आगे को नहीं पड़ता। जिनकी भुजाओं के बल से इन्द्र बसते हैं, सम्पूर्ण राजा लोग जिनके रुख को सदा देखते रहते हैं ॥ १ ॥

सो सुनि तियरिस गयउ सुखाई। देखहु कामप्रताप बडाई ॥
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमनसर मारे ॥२॥

वहो राजा दशरथ स्त्री का क्रोध सुनकर सूख गये। कामदेव का प्रताप और बड़ाइ देखिए। जो त्रिशूल, वज्र और तलवार के घाव को सहन करनेवाले हैं उन्हें भी रतिनाथ कामदेव ने पुष्प के बाणों से मार दिया ॥ २ ॥

सभय नरेसु प्रिया पहिँ गयऊ। देखि दसा दुखु दारुन भयऊ॥
भूमिसयन पटु मोट पुराना। दिये डारि तन भूषन नाना ॥३॥

राजा डरते डरते प्यारी केकयी के पास गये। उसकी दशा को देखकर उन्हें घोर दुःख हुआ। केकयी जमीन पर सोई हुई है, मोटा और पुराना कपड़ा पहन रक्खा है, शरीर के अनेक प्रकार के भूषण फेंक दिये हैं ॥ ३ ॥

कुमतिहि कसि कुबेषता फाबी। अन-अहिवातु-सूच जनु भाबी॥
जाइ निकट नृपु कह मृदुबानी। प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी ॥४॥

इस कुबुद्धिवाली केकयी को यह खोटा वेष ऐसा लगा मानों उसका भविष्य (होनहार) उसके विधवापन की सूचना दे रहा है। राजा दशरथ उसके पास जाकर कोमल वाणी से कहने लगे—हे प्राण-प्यारी ! तुम किस लिए क्रोधित हुई हो ? ॥ ४ ॥

छंद—केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि निवारई।
मानहुँ सरोष भुअंगभामिनि बिषम भाँति निहारई॥
दोउ बासना रसना दसन बर मरम ठाहरु देखई।
तुलसी नृपतिभवितब्यता-बस काम-कौतुक लेखई॥

'रानी, किस लिए क्रोधित हो,' यह कहकर राजा उसका हाथ पकड़ते हैं पर रानी उनके हाथ को हटा देती है और इस तरह से देखती है मानों क्रोध में भरी हुई नागिन टेढ़ी दृष्टि से देख रही हो। नागिन के दो जीभें होती हैं, यहाँ केकयी के दोनों वरदान माँगने की इच्छा ही दो जीभें हैं और वे वरदान दाँत हैं और वह काटने की जगह मर्मस्थान को देख रही है। तुलसीदासजी कहते हैं कि राजा दशरथ होनहार के वश में होकर कामदेव का तमाशा देख रहे हैं ॥

सो०—बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि।
कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर ॥२६॥

राजा बार बार कहने लगे कि हे सुमुखि ! हे सुलोचनि ! (अच्छी आँखोंवाली) पिकवचनि ! (कोयल की सी बोलीवाली) हे गजगामिनि ! (हाथी की सी चालवाली) मुझे अपने क्रोध का कारण सुना ॥ २६ ॥

चौ०—अनहित तोर प्रिया केइ कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा॥
कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासउँ देसू ॥१॥

सभय नरेसु प्रिया पहिं गयऊ ।
देखि दसा दुखु दारुन भयऊ ॥ पृ० ३७४

हे प्यारी! तेरा बिगाड़ किसने किया है? किसके दो सिर हुआ चाहते हैं? यम-राज किसको लेना चाहते हैं? अर्थात् किसे मौत ने घेर रक्खा है। तू कह कि मैं किस दरिद्र को राजा कर दूँ या किस राजा को देश से निकाल दूँ?॥ १॥

सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नरनारी॥
जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मनु तव आनन चंद चकोरू॥२॥

यदि तेरा शत्रु देवता हो तो उसे भी मैं मार सकता हूँ, बेचारे कीड़े समान स्त्री-पुरुष क्या हैं? हे वरोरु! (सुन्दर जाँघोंवाली) तू मेरा स्वभाव जानती ही है कि मेरा मन तेरे मुखरूपी चन्द्र का चकोर है॥ २॥

प्रिया प्रान सुत सरबसु मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥
जौं कछु कहउँ कपटु करि तोही। भामिनि राम-सपथ-सत मोही॥३॥

हे प्यारी! मेरे प्राण, मेरे पुत्र, और मेरा सर्वस्व तथा मेरे कुटुम्बी और समस्त प्रजा तेरे अधीन है। जो मैं इसमें कुछ कपट से तुझे कहता होऊँ तो मुझे सौ बार रामचन्द्र की सौगंद है॥ ३॥

बिहँसि माँगु मनभावति बाता। भूषन सजहि मनोहर गाता॥
घरी कुघरी समुझि जिय देखू। बेगि प्रिया परिहरहि कुबेखू॥४॥

जो कुछ तेरे मन को रुचती हो वही बात हँसकर खुशी से माँग ले, और अपने अङ्ग भूषणों से सजा ले। हे प्यारी! समय कुसमय को जी में समझ कर देख और जल्दी इस बुरे वेष को दूर कर॥ ४॥

दो०—यह सुनि मन गुनि सपथ बडि बिहँसि उठी मतिमंद।
भूषन सजति बिलोकि मृगु मनहुँ किरातिनि फंद॥२७॥

वह मन्दबुद्धि केकयी इन बातों को सुनकर और अपने मन में राजा की सौगंद को बड़े महत्त्व की समझ मुसकराई और इस प्रकार भूषण पहनने लगी, मानों मृग को देखकर उसको फँसाने के लिए भीलनी फंदा ठीक कर रही हो॥ २७॥

चौ०—पुनि कह राउ सुहृद जिय जानी। प्रेम पुलकि मृदु मंजुल बानी॥
भामिनि भयउ तोर मनभावा। घर घर नगर अनंदबधावा॥१॥

राजा दशरथ अपने जी में उसे मित्र जानकर प्रेम से पुलकायमान होकर कोमल और मीठी वाणी से फिर कहने लगे—हे भामिनि! तेरी मनचाही हो गई, नगर में घर घर आनन्द-बधाई हो रही है॥ १॥

रामहिँ देउँ कालि जुबराजू। सजहि सुलोचनि मंगलसाजू॥
दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू। जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू॥२॥

हे सुलोचनि! (अच्छे नेत्रोंवाली) मैं कल रामचन्द्र को युवराज पद दूँगा, इसलिए तू भी मंगल-साज सजा ले। यह सुनते ही उसका कठोर हृदय दहल उठा, मानों कोई पका हुआ बालतोड़[१] छू गया हो॥ २॥

ऐसिउ पीर बिहँसि तेइ गोई। चोरनारि जिमि प्रगटि न रोई॥
लखी न भूप कपट चतुराई। कोटि-कुटिल-मनि गुरू पढाई॥३॥

ऐसी पीड़ा को भी केकयी ने हँसकर छिपाया, जिस तरह चोर की स्त्री (अपने पति के पकड़े जाने पर) प्रकट में सबके सामने नहीं रोती। अथवा—चोरनारि व्यभिचारिणी स्त्री अपने जार के दुःख को प्रकट में नहीं रोती[२]। राजा ने उसकी कपट भरी हुई चतुराई को नहीं देखा, क्योंकि वह करोड़ों कुटिलों की शिरोमणि (गुरु मन्थरा) की पढ़ाई हुई थी॥ ३॥

जद्यपि नीतिनिपुन नरनाहू। नारिचरित जलनिधि अवगाहू॥
कपटसनेहु बढाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी॥४॥

यद्यपि नरनाथ दशरथ राजनीति में दक्ष थ, परन्तु स्त्री-चरितरूपी समुद्र अथाह है। फिर केकयी कपट से स्नेह बढ़ाकर और आँखें और मुँह मटका कर हँसकर बोली—॥ ४॥

दो०—माँग माँग पै कहहु पिय कबहुँ न देहु न लेहु।
देन कहेहु बरदान दुइ तेउ पावत संदेहु॥२८॥

हे प्यारे! आप माँग माँग तो कहा करते हो, पर कभी कुछ देते लेते नहीं। आपने मुझे दो वरदान देने को कहे थे, मुझको तो उन्हीं के मिलने में सन्देह हो रहा है॥ २८॥

चौ०—जानेउँ मरम राउ हँसि कहई। तुम्हहि कोहाब परम प्रिय अहई॥
थाती राखि न माँगेहु काऊ। बिसरि गयउ मोहि भोर सुभाऊ॥१॥

राजा ने हँसकर कहा—मैंने तुम्हारा मर्म अब जाना। तुमको रूठना बहुत प्यारा लगता है। तुमने उन दोनों वरों को धरोहर रखकर फिर कभी नहीं माँगा और भूलने स्वभाव के कारण मैं भी उन्हें भूल गया॥ १॥

झूठेहु हमहिं दोषु जनि देहू। दुइ कै चारि माँगि मकु लेहू॥
रघु-कुल-रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचनु न जाई॥२॥

१—बालतोड़ उस फोड़े का नाम है, जो शरीर में दबकर बाल टूट जाने से उसी जगह हो जाता है। वह बढ़कर बहुत कड़ा हो जाता है, और ज़रासा भी छू जाने पर बहुत दर्द करता है।

२—इस जगह एक दृष्टान्त भी है—एक स्त्री कुतिया बनकर मुसाफ़िर के कपड़े चुराने गई। मुसाफ़िर जाग पड़ा, उसने कुतिया को डंडा मारा। वह मार खाकर चली गई, प्रकट में नहीं रोई।

इसलिए मुझे व्यर्थ दोष मत दो, दो की जगह चार वरदान क्यों नहीं माँग लेती हो? रघु के कुल में सदा से यह रीति चली आई है कि प्राण भले ही चले जायँ, किन्तु वचन नहीं टलता॥ २॥

नहिँ असत्य सम पातक पुंजा। गिरिसम होहिँ कि कोटिक गुंजा॥
सत्यमूल सब सुकृत सुहाये। बेद पुरान बिदित मुनि गाये॥३॥

झूठ के बराबर और पापों के समूह नहीं हैं। भला करोड़ों घुँघचियाँ भी एक पहाड़ की बराबर हो सकती हैं क्या? सब पुण्य और अच्छे काम सत्य-मूलक हैं अर्थात् सत्य ही उनकी जड़ है। यह बात वेदों और पुराणों में प्रसिद्ध है और ऋषियों ने भी (स्मृतियों में) कही है॥ ३॥

तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत-सनेह-अवधि रघुराई॥
बात दृढाइ कुमति हँसि बोली। कुमत-कुबिहँग-कुलह जनु खोली॥४॥

इतने पर भी उन रामचन्द्र की सौगंद मैंने खाई है, जो पुण्य और स्नेह की सीमा हैं। इस तरह बात को पक्की करके दुष्ट बुद्धिवाली केकयी हँसकर बोली, मानों कुबुद्धि-रूपी शिकारी पक्षी का कुलह (परदा या ढक्कन) खोला गया हो[1]॥ ४॥

दो०—भूप मनोरथ सुभग बनु सुख सु-बिहंग-समाजु।
भिल्लिनि जिमि छाडन चहति बचनु भयंकर बाजु॥२९॥

राजा का मनोरथ ही मानों सुन्दर वन है और उनका सुख ही सुन्दर चिड़ियों का झुण्ड है। उस पर केकयी-रूपी भीलनी अपने भयङ्कर वचन-रूपी बाज़ को छोड़ना चाहती है॥ २९॥

चौ०—सुनहुँ प्रानप्रिय भावत जीका। देहु एक बर भरतहि टीका॥
मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥१॥

केकयी कहती है—हे प्राणप्यारे! सुनो, मेरे मन को भाता हुआ एक वर तो यह दो कि भरत को राजतिलक हो। और हे नाथ! मैं हाथ जोड़कर दूसरा वरदान भी माँगती हूँ। आप मेरे मनोरथ को पूरा करो॥ १॥

तापसबेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनबासी॥
सुनि मृदुबचन भूपहिय सोकू। ससिकर छुअत बिकल जिमि कोकू॥२॥

१—शिकारी चिड़ियों को शिकार पर उड़ाने के समय उनकी टोपी खोल दी जाती है।

वह मनोरथ यह है कि रामचन्द्र तपस्वी का वेष धर, विशेष राज-विलासादि बातों से उदासीन (लापरवा) होकर, चौदह बरस तक के लिए वनवासी हों[१]। केकयी के ये कोमल वचन सुनकर राजा के हृदय में इस तरह शोक बढ़ा जिस तरह चन्द्रमा की किरणों के छूते ही चकवा[२] पत्ती विकल हो जाता है ॥ २ ॥

गयउ सहमि नहिँ कछु कहि आवा । जनु सचान बन झपटेउ लावा ॥

बिबरन भयउ निपट नरपालू । दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू ॥३॥

राजा सहम गये और उनसे कुछ कहते नहीं बना, मानों बटेर के वन में बाज़ ने झपट्टा मारा हो। राजा का चेहरा बिलकुल बिगड़ गया, मानों किसी ताड़ के पेड़ पर बिजली गिर पड़ी हो ॥ ३ ॥

माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन । तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन ॥

मोर मनोरथु सुर-तरु फूला । फरत करिनि जिमि हतेउ समूला ॥४॥

अवध उजारि कीन्हि कैकेई । दीन्हेसि अचल बिपति कै नेई ॥५॥

राजा माथे पर हाथ रखकर दोनों आँखें बन्द कर इस तरह सोच करने लगे मानों सोच हो मूर्ति धारण कर सोच कर रहा हो। वे मन में सोचने लगे कि हाय! फूले हुए मेरे मनोरथ-रूपी कल्पवृक्ष को फूलते समय मानों हथिनी (केकयी) ने जड़ मूल से उखाड़ फेंका हो ॥ ४ ॥ केकयी ने अयोध्या को उजाड़ दिया और उसके लिए अटल विपत्ति की नींव दे दी ॥ ५ ॥

दो०—कवने अवसर का भयउ गयउ नारिबिस्वास ।

जोग-सिद्धि-फल-समय जिमि जतिहि अबिद्यानास ॥३०॥

हाय! किस समय क्या हो गया! क्या हो रहा था और क्या हो गया! स्त्री का विश्वास चला गया। जैसे किसी योगी के योग की सिद्धि (फल) मिलने के समय वह अविद्या से नष्ट हो जाय ॥ ३० ॥

चौ०—एहि बिधि राउ मनहिँ मन झाँखा । देखि कुभाँति कुमति मनु माँखा ॥

भरत कि राउर पूत न होही । आनेहु मोल बेसाहि कि मोही ॥१॥

१—वर माँगते समय सरस्वती जिह्वा पर है। रावण की आयु १४ वर्ष की है, इसलिए उसने १४ वर्ष का वनवास केकयी से मँगवाया। अथवा—१४ वर्ष में लीला कर राक्षस-वध से १४ भुवन सुखी होंगे, इसलिए १४ वर्ष मँगवाये। वा—१४ दिन तक होनेवाला राजसमाज १५वें दिन मन्थरा ने सुना, उन १४ दिन के बदले १४ वर्ष। वा—राज्य-तिलकोत्सव में १४ घड़ी बाक़ी हैं, उनकी एक एक घड़ी के बदले एक एक वर्ष—ऐसे कई कारण पण्डित लोग कहा करते हैं।

२—रात में चकवा-चकई एक जगह नहीं रह सकते, इसी लिए वह चन्द्रमा की किरणों को रात की वियोग देनेवाली समझकर चिन्ता में पड़ जाता है।

राजा इस तरह मन ही मन झींख रहे थे, इतने में दुष्ट-बुद्धि केकयी ने बुरी तरह से (क्रोध से) देखकर, मन में रिसा कर कहा—क्या भरत आपका पुत्र नहीं है ? क्या आप मुझे मोल खरीद ले आये हैं ? ॥ १ ॥

जो सुनि सर अस लागु तुम्हारे। काहे न बोलहु बचनु सँभारे॥
देहु उतर अरु कहहु कि नाहीं। सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं॥२॥

जो मेरी बात सुनते हो तुम्हें बाण सी लग गई। तुमने पहले ही सोच समझ कर बचन क्यों नहीं निकाले ? या तो जवाब दो या नहीं कर दो। तुम रघु राजा के वंश में सत्य प्रतिज्ञावाले हो ॥ २ ॥

देन कहेहु अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग अपजसु लेहू॥
सत्य सराहि कहेहु बरु देना। जानेहु लेइहि माँगि चबेना॥३॥

तुम्हीं ने तो वर देने को कहा, अब मत दो, सत्य को त्याग कर जगत् में अपयश लो। तुमने सत्य की बड़ाई करके वर देने को कहा, सो तुमने सोचा होगा कि यह चबैना माँग लेगी ॥३॥

सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा। तनु धनु तजेउ बचनपनु राखा॥
अति-कटु-बचन कहत कैकेई। मानहुँ लोन जरे पर देई॥४॥

शिवि[१], दधीचि[२] और राजा बलि[३] ने जो कुछ कह दिया था उस अपने वचन (वादे) को अपने शरीर और धन का त्याग कर भी पूरा किया। केकयी अत्यन्त कड़वे वचन कह रही है, मानों जले पर नमक छिड़कती है ॥ ४ ॥

१—एक बेर राजा शिवि यज्ञ कर रहे थे। उस समय इन्द्र बाज़ का और अग्नि कबूतर का रूप लेकर गये। कबूतर पर बाज़ झपटा, तो कबूतर राजा शिवि की गोद में जा बैठा। बाज़ ने कहा कि राजन्! मेरा आहार मुझे दे दो। मैं मारे भूख के मरा जाता हूँ, मेरे मरने पर मेरे कुटुम्बी सब मर जावेंगे, तो तुम्हें उनकी हत्या लगेगी। राजा ने उत्तर दिया कि मैं इसे, शरणागत होने से, त्याग नहीं सकता। हाँ इसके बदले में और जो कुछ चाहो, तुम ले सकते हो। अन्त में उस कबूतर के बराबर राजा का मांस देना निश्चित हुआ। तराज़ू के एक पलड़े में कबूतर को रख दूसरे पलड़े में अपना मांस काट कर राजा ने रक्खा तो वह पूरा ही न हो। जब राजा ने अपना मस्तक काटने की तैयारी की तब इन्द्र और अग्नि दोनों ने प्रसन्न और प्रकट हो राजा का हाथ पकड़ लिया।

२—इन्द्र और वृत्रासुर का युद्ध होता था। वृत्रासुर और किसी शस्त्र से मरनेवाला नहीं था। ब्रह्मा के कहने से इन्द्र ने दधीचि मुनि के पास जाकर उनकी हड्डी माँगी। दधीचि ने बड़ी प्रसन्नता से गौ से चटवा कर अपनी हड्डियाँ निकालकर दे दीं और अपना शरीर त्याग दिया।

३—राजा बलि महायज्ञ कर रहा था। विष्णु ने वामन रूप होकर राजा से ३ पाँव पृथ्वी माँगी। राजा ने वह संकल्प कर दी। पृथ्वी नापने में विष्णु वामन से त्रिविक्रम हो गये। १ पाँव में नीचे पाताल तक और दूसरे में ऊपर सत्यलोक तक उन्होंने नाप लिया। तब तीसरे पैर के लिए राजा ने अपनी पीठ दी। इस पर भगवान् ने प्रसन्न हो उसे पाताल में जाकर राज्य करने की आज्ञा दी।

दो०—धरम-धुरंधर धीर धरि नयन उघारे राय।
सिर धुनि लीन्हि उसास असि मारेसि मोहि कुठाय ॥३१॥

धर्म-धुरंधर महाराजा ने धीरज धरकर नेत्र खोले और सिर धुनकर यह कहते हुए लम्बी साँस ली कि इसने मुझे बुरी जगह मारा ॥ ३१ ॥

चौ०—आगे दीखि जरति रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी ॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई ॥१॥

राजा ने अपने सम्मुख भारी क्रोध से जलती हुई केकयी को देखा। मानों क्रोध-रूपी तलवार म्यान से बाहर निकल कर खड़ी है। उस तलवार की कुबुद्धिरूपी मूठ है, निष्ठुरता धार है, और कूबरी मन्थरा ने मानों उस पर सान रक्खी है ॥ १ ॥

लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा ॥
बोलेउ राउ कठिन करि छाती। बानी सबिनय तासु सोहाती ॥२॥

राजा ने उसे बड़ी ही कराल (डरावनी) और कठोर देखा, और सोचा कि क्या यह सचमुच ही मेरे जीवन को हर लेगी। राजा कड़ी छाती करके नम्रता के साथ केकयी को सुहाती हुई वाणी बोले—॥ २ ॥

प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती ॥
मोरे भरतु रामु दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि शंकर साखी ॥३॥

हे प्यारी! भय, विश्वास और प्रीति सब किनारे कर ऐसी बुरी तरह वचन क्यों कहती हो? मैं शङ्कर को साक्षी देकर सत्य कहता हूँ कि रामचन्द्र और भरत दोनों मेरी आँखें हैं ॥३॥

अवसि दूत मैं पठउब प्राता। ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता ॥
सुदिन सोधि सबु साजु सजाई। देउँ भरत कहँ राजु बजाई ॥४॥

मैं सवेरे अवश्य दूत भेजूँगा और दोनों भाई सुनते ही जल्दी चले आवेंगे। अच्छा दिन देखकर सब सामान तैयार करके बड़ी धूमधाम से मैं भरत को राज्य दे दूँगा ॥ ४ ॥

दो०—लोभु न रामहिँ राज कर बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति ॥३२॥

रामचन्द्र को राज्य का लोभ नहीं है और उनको भरत पर बड़ी प्रीति है। मैं तो बड़े-छोटे का अपने जी में विचार करके राजनीति का काम करता था ॥ ३२ ॥

चौ०—राम-सपथ-सत कहउँ सुभाऊ। राममातु कछु कहेउ न काऊ ॥
मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूछे। तेहि तें परेउ मनोरथु छूछे ॥१॥

मैं रामचन्द्र की सौ बार सौगन्द खाकर स्वाभाविक कहता हूँ कि रामचन्द्र की माता कौशल्या ने कभी मुझसे कुछ नहीं कहा। मैंने यह सब काम तुझसे बिना पूछे किया इसी लिए मेरे मनोरथ निष्फल हो गये ॥ १ ॥

रिस परिहरु अब मंगल साजू। कछु दिन गये भरत जुबराजू ॥
एकहि बात मोहि दुखु लागा। बर दूसर असमंजस माँगा ॥२॥

अब क्रोध को दूर कर मङ्गल साज सजाओ, कुछ दिनों के बाद युवराज-पद भरत को मिल जायगा। तुम्हारी एक ही बात से मुझे दुख हुआ है। तुमने दूसरा वर जो माँगा है उसी के देने में मुझे बहुत आगा-पीछा है ॥ २ ॥

अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा। रिस परिहास कि साँचेहु साँचा ॥
कहु तजि रोषु रामअपराधू। सब कोउ कहइ रामु सुठि साधू ॥३॥

उसको आँच से अभी तक कलेजा जल रहा है। तुमने जो ऐसा वर माँगा है वह क्रोध से माँगा है या हँसी से या सचमुच ? तू क्रोध को त्यागकर रामचन्द्र का अपराध बता। सब कोई तो रामचन्द्र को बिलकुल अच्छा ही कहते हैं ॥ ३ ॥

तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अब सुनि मोहि भयउ संदेहू ॥
जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला। सो किमि करिहि मातुप्रतिकूला ॥४॥

तू भी राम को बड़ाई किया करती है और स्नेह करती है। अब यह सुनकर मुझे सन्देह हुआ है। भला जिसका स्वभाव शत्रु के भी अनुकूल हो वह माता के प्रतिकूल काम कैसे कर सकता है ? ॥ ४ ॥

दो०—प्रिया हास रिस परिहरहि माँगु बिचारि बिबेकु।
जेहि देखउँ अब नयन भरि भरत-राज-अभिषेकु ॥३३॥

हे प्यारी ! हँसी या गुस्से को दूर कर सोच विचार कर समझदारी से वर माँग, जिसमें अब मैं भरत का राज्याभिषेक आँखें भर कर देखूँ ॥ ३३ ॥

चौ०—जिअइ मीन बरु बारिबिहीना। मनि बिनु फनिक जिअइ दुखदीना ॥
कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं। जीवनु मोर राम बिनु नाहीं ॥१॥

चाहे पानी के बिना मछली जीती रहे, चाहे साँप बिना मणि का हो जाने पर दुःखी दीन बना हुआ जीता रहे। मैं अपना सहज स्वभाव कहता हूँ, मन में किसी तरह का छल नहीं है, कि मेरा जीना रामचन्द्र के बिना नहीं हो सकता ॥ १ ॥

समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना। जीवनु राम-दरस-आधीना ॥
सुनि मृदुबचन कुमति अति जरई। मनहुँ अनल आहुति घृत परई ॥२॥

हे प्यारी ! तू स्वयं चतुर है, जी में सोचकर समझ ले, मेरा जीवन रामचन्द्र के दर्शन के अधीन है। अर्थात् रामचन्द्र के बिना मैं पल भर भी न जी सकूँगा। ऐसे कोमल वचनों को सुनकर वह दुष्ट-बुद्धि केकयी इस तरह अत्यन्त जल रही है, मानों जलती अग्नि में घी की आहुति पड़ रही है॥ २॥

कहइ करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया॥
देहु कि लेहु अजस करि नाहीं। मोहि न बहुत प्रपंच सुहाहीं॥३॥

केकयी ने कहा—आप करोड़ों उपाय क्यों न करें, यहाँ आपकी माया (बनावट) न चलेगी। बहुत प्रपंच बढ़ाना मुझे नहीं सुहाता, या तो मैंने जो माँगा है वह दे दो, या नाहीं करके जगत् में अपयश लो॥ ३॥

रामु साधु तुम्ह साधु सयाने। राममातु भलि सब पहिचाने॥
जस कौसिला मोर भल ताका। तस फलु उन्हहिँ देउँ करि साका॥४॥

राम अच्छे हैं, तुम अच्छे और चतुर हो, और राम की माता भी अच्छी हैं, मैंने सब को पहचान लिया है! कौसल्या ने जैसा मेरा भला चाहा है वैसा ही मैं भी उसको फल चखाऊँगी जो बहुत दिन याद रहेगा॥ ४॥

दो०—होत प्रातु मुनिबेषु धरि जौं न रामु बन जाहिँ।
मोर मरनु राउर अजसु नृप समुझिय मन माहिँ॥३४॥

हे राजन्! जो प्रातःकाल होते ही राम मुनियों का वेष धारणकर वन को न चले जायँगे तो मेरा मरना और अपना अपयश होना मन में समझ लो॥ ३४॥

चौ०—अस कहि कुटिल भई उठि ठाढी। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढी॥
पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥१॥

कुटिल केकयी ऐसा कहकर उठ खड़ी हुई, मानों क्रोधरूपी नदी में बाढ़ आई है। वह नदी पापरूपी पहाड़ से पैदा हुई है और क्रोधरूपी जल उसमें भरा है, वह देखी नहीं जाती॥१॥

दोउ बर कूल कठिनहठ धारा। भवँर कूबरी-बचन-प्रचारा॥
ढाहत भूपरूप तरुमूला। चली बिपतिबारिधि अनुकूला॥२॥

दोनों वरदान इस नदी के किनारे हैं और कठिन हठ ही इसकी धारा है और मन्थरा के वचनों का प्रचार ही भँवर है। वह राजा दशरथ-रूपी वृक्ष की जड़ को उखाड़ती हुई विपत्ति-रूपी समुद्र की ओर बह चली॥ २॥

लखी नरेस बात सब साँची। तियमिसु मीचु सीस पर नाँची॥
गहि पद बिनय कीन्हि बैठारी। जनि दिन-कर-कुल होसि कुठारी॥३॥

राजा ने ठीक ठीक देखा कि स्त्री के बहाने मेरी मृत्यु मस्तक पर नाच रही है। केकयी के पाँव पकड़ कर उसको बिठाकर उन्होंने प्रार्थना की —तू सूर्य-कुल को काटने के लिए कुठार मत बन॥ ३॥

माँगु माथ अबहीं देउँ तोही। रामबिरह जनि मारसि मोही॥
राखु राम कहँ जेहि तेहि भाँती। नाहिं त जरिहि जनमु भरि छाती॥४॥

तू मेरा मस्तक माँग ले तो मैं तुझे अभी दे दूँ, पर मुझे राम के विरह से मत मार। जिस तरह बने उसी तरह राम को रख, नहीं तो जन्म भर तेरी छाती जलेगी॥ ४॥

दो०—देखी ब्याधि असाधि नृपु परेउ धरनि धुनि माथ।
कहत परम आरतबचन राम राम रघुनाथ॥३५॥

राजा ने जब केकयी के हठ-रूपी रोग को असाध्य देखा, तब वे माथा धुनकर ज़मीन पर गिर पड़े और अत्यन्त आर्त्त (दीन) वचन से हाय! राम, राम, रघुनाथ पुकार उठे॥ ३५॥

चौ०—ब्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता॥
कंठु सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीनु दीनु बिनु पानी॥१॥

राजा व्याकुल हो गये। उनके सब अङ्ग शिथिल हो गये, मानों हथिनी ने कल्पवृक्ष को उखाड़ कर गिरा दिया। कंठ सूख गया, मुँह से वाणी नहीं निकलती, जैसे बिना पानी के मछली दीन और दुखी हो॥ १॥

पुनि कह कटु कठोर कैकेई। मनहुँ घाय महुँ माहुरु देई॥
जौं अंतहु अस करतब रहेऊ। माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ॥२॥

केकयी फिर भी कड़ुवे और कठोर वचन से इस तरह बोली मानों घाव के भीतर ज़हर भर रही हो। उसने कहा—जो अन्त में तुम्हें यही करना था तो माँग! माँग! ऐसा तुमने किस बल पर कहा॥ २॥

दुइ कि होइ एक समय भुआला। हँसब ठठाइ फुलाउब गाला॥
दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि षेम कुसल रौताई॥३॥

हे राजा! खिलखिलाकर हँसना और गालों का फुलाना दोनों काम एक साथ कैसे हो सकते हैं? दानी भी कहाना चाहते हो और कंजूसी भी करते हो? राजा होना क्या ठट्ठा है, उसमें क्या सदा कुशलक्षेम ही रहता है?॥ ३॥

छाडहु बचनु कि धीरजु धरहू। जनि अबला जिमि करुना करहू॥
तनु तिय तनय धामु धनु धरनी। सत्यसंध कहँ तृनसम बरनी॥४॥

या तो वचन (प्रतिज्ञा) छोड़ दो, या धीरज धरो। स्त्री के समान करुणा मत करो। सत्य प्रतिज्ञावालों को तो अपना शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन और पृथ्वी सभी तिनके के बराबर कहे हैं ॥ ४ ॥

दो०—मरमबचन सुनि राउ कह कहु कछु दोषु न तोर।
लागेउ तोहि पिसाच जिमि काल कहावत मोर ॥३६॥

ऐसे मार्मिक (चुभनेवाले) वचन सुनकर राजा दशरथ ने कहा—तू कुछ भी कह, तेरा कुछ दोष नहीं है। तुझे मानों पिशाच लगा हुआ है। मेरा काल तुझसे कहलाता है ॥ ३६ ॥

चौ०—चहत न भरत भूपतहि भोरे। बिधिबस कुमति बसी जिय तोरे ॥
सो सबु मोर पापपरिनामू। भयउ कुठाहर जेहि बिधि बामू ॥१॥

भरत तो भूलकर भी राजा होना नहीं चाहता, पर होनहार के वश से तेरे जी में कुबुद्धि छा गई है। यह सब मेरे पापों का परिणाम (नतीजा) है, कि जो कुसमय में विधाता उलटा हो गया ॥ १ ॥

सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुनधाम राम प्रभुताई ॥
करिहहिँ भाइ सकल सेवकाई। होइहि तिहुँ पुर रामबड़ाई ॥२॥

सकल गुणों के स्थान रामचन्द्र की प्रभुता हो जायगी और अयोध्या फिर शुभ निवासों से सजो सुहावनी हो जायगी। सब भाई रामचन्द्र की सेवा करेंगे और तीनों लोकों में रामचन्द्र की बड़ाई होगी ॥ २ ॥

तोर कलंकु मोर पछिताऊ। मुयहु न मिटिहि न जाइहि काऊ ॥
अब तोहि नीक लाग करु सोई। लोचनओट बैठु मुँहु गोई ॥३॥

पर कैकयी! तेरा कलङ्क मरने पर भी नहीं मिटेगा और मेरा पछतावा कभी नहीं जायगा। अब जो कुछ तुझे अच्छा लगे वही कर, मेरी आँखों की ओट (आड़) में, मुँह छिपाकर, बैठ ॥ ३ ॥

जब लगि जिअउँ कहउँ करजोरी। तब लगि जनि कछु कहेसि बहोरी ॥
फिरि पछतैहसि अंत अभागी। मारसि गाइ नहारुहि लागी ॥४॥

मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ कि जब तक मैं जीता रहूँ तब तक तू फिर कुछ न कहना। अरी अभागिनी! तू अंत में फिर पछतावेगी जो तू बाघ के लिए गौ को मारती है, (नहारू नाम सिंह का भी है) अथवा सिंह के लिए गौ को मारना चाहती है ॥ ४ ॥

दो०—परेउ राउ कहि कोटिबिधि काहे करसि निदानु।
कपटसयानि न कहति कछु जागति मनहुँ मसानु ॥३७॥

राजा ने करोड़ों तरह से केकयी को समझाकर कहा कि तू क्यों वंश का सत्यानाश करती है। ऐसा कह वे पृथ्वी पर गिर पड़े। पर कपट करने में चतुर केकयी ने कुछ भी उत्तर न दिया, मानों बैठे बैठे वह श्मशान जगा रही हो ॥ ३७ ॥

चौ०—राम राम रट बिकल भुआलू। जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू ॥
हृदय मनाव भोरु जनि होई। रामहिँ जाइ कहइ जनि कोई ॥१॥

राजा दशरथ राम राम रटते हुए ऐसे व्याकुल हुए कि जैसे बिना पंख के कोई पक्षी बेहाल हो जाय। वे अपने हृदय में मनाने लगे कि सवेरा न हो और यह ख़बर कोई जाकर रामचन्द्र से न कह दे ॥ १ ॥

उदय करहु जनि रबि रघुकुलगुर। अवध बिलोकि सूल होइहि उर ॥
भूपप्रीति कैकइ-कठिनाई। उभय अवधि बिधि रची बनाई ॥२॥

हे रघुवंश के गुरु सूर्य ! आप उदय न होओ, क्योंकि अयोध्या की अवस्था देखकर आपके हृदय में भारी वेदना होगी। राजा दशरथ की प्रीति और केकयी की कठोरता इन दोनों को ब्रह्मा ने अपनी सीमा तक बना दिया। अर्थात् संसार में राजा की प्रीति से बढ़कर प्रीति कहीं नहीं और केकयी की कठोरता से बढ़कर कठोरता ॥ २ ॥

बिलपत नृपहि भयउ भिनुसारा। बीना-बेनु-संख-धुनि द्वारा ॥
पढ़हि भाट गुन गावहि गायक। सुनत नृपहि जनु लागहिँ सायक ॥३॥

राजा को इसी तरह विलाप करते करते सबेरा हो गया। राजद्वार में वीणा, बाँसुरी, शंख की ध्वनि गूँज उठी। भाट लोग यश वर्णन करने लगे और गवैये गाने लगे। राजा को वे सुनते ही बाण जैसे लगने लगे ॥ ३ ॥

मंगल सकल सुहाहिँ न कैसे। सहगामिनिहिँ बिभूषन जैसे ॥
तेहि निसि नींद परी नहि काहू। रामदरस लालसा उछाहू ॥४॥

जैसे सती होने के लिए तैयार स्त्री को गहने नहीं सुहाते वैसे ही वे सभी मंगल-साज राजा को नहीं सुहाते। उधर रामचन्द्रजी के दर्शन की लालसा के उत्साह के मारे उस रात भर किसी को नींद नहीं आई ॥ ४ ॥

दो०—द्वार भीर सेवक सचिव कहहिँ उदित रबि देखि।
जागे अजहुँ न अवधपति कारनु कवनु बिसेखि ॥३८॥

राजद्वार पर मन्त्री और सेवकों की भीड़ लग गई। वे सब सूर्योदय हुआ देखकर कहने लगे कि आज अवध-पति दशरथ अभी नहीं जागे इसका विशेष कारण क्या है ? ॥३८॥

चौ०—पछिले पहर भूपु नित जागा। आजु हमहिँ बड अचरजु लागा ॥
जाहु सुमंत्र जगावहु जाई। कीजिय काज रजायसु पाई ॥१॥

राजा नित्य पिछले पहर रात्रि में ही जगा करते थे, आज अभी तक न जागना देख हमें बड़ा आश्चर्य होता है। हे सुमन्त्र! तुम जाकर जगाओ और उनकी आज्ञा पाकर हम लोग काम काज करें ॥ १ ॥

गये सुमंत्र तब राउर पाहीँ। देखि भयावन जात डेराहीँ॥
धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा। मानहुँ बिपति-बिषाद-बसेरा ॥२॥

सुमन्त्र महल में गये, पर डरावनी हालत देखकर वे भी जाने में डरने लगे। वह स्थान देखने में मानों काटने को दौड़ता है, उसकी ओर देखा भी नहीं जाता, मानों विपत्ति और दुःख का वहाँ डेरा जम गया हो ॥ २ ॥

पूछे कोउ न ऊतरु देई। गये जेहि भवन भूप कैकेई॥
कहि जय जीव बैठ सिरु नाई। देखि भूपगति गयउ सुखाई ॥३॥

पूछने पर भी किसी ने कुछ जवाब न दिया, फिर वे उस मकान में जा पहुँचे जहाँ राजा और केकयी थे। वे दोनों को जय जीव कहकर सिर नवाकर बैठ गये और राजा की हालत देखकर सूख गये ॥ ३ ॥

सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहुँ कमल मूल परिहरेऊ॥
सचिव सभीत सकइ नहि पूछी। बोली असुभभरी सुभछूछी ॥४॥

राजा सोच के मारे बेहाल और उदास होकर जमीन पर ऐसे पड़े थे, मानों जड़ से उखड़ा हुआ कमल मुरझाया पड़ा हो। मन्त्री मारे डर के कुछ पूछ नहीं सकते थे, तब शुभ से खाली और अशुभ से भरी हुई केकयी बोली—॥ ४ ॥

दो०—परी न राजहि नींद निसि हेतु जान जगदीसु।
रामु रामु रटि भोरु किय कहइ न मरमु महीसु ॥३९॥

राजा को रात भर नींद नहीं आई, इसका कारण तो ईश्वर ही जाने। इन्होंने राम राम रटते हुए सबेरा किया। राजा अपना मर्म प्रकट नहीं करते ॥ ३९ ॥

चौ०—आनहु रामहिँ बेगि बोलाई। समाचार तब पूछेहु आई॥
चलेउ सुमंत्रु रायरुख जानी। लखी कुचालि कीन्हि कछु रानी ॥१॥

इसलिए तुम जल्दी राम को बुला लाओ, तब फिर आकर समाचार पूछना। राजा का रुख पहचानकर सुमंत्र चला और उसने समझ लिया कि अवश्य रानी ने कुछ कुचाल की है ॥ १ ॥

सोच बिकल मग परइ न पाऊ। रामहिँ बोलि कहिहिँ का राऊ॥
उर धरि धीरज गयउ दुआरे। पूछहि सकल देखि मनमारे ॥२॥

रामचन्द्रजी को बुलाकर राजा क्या कहेंगे, इसी सोच में बेचैन सुमन्त्र का पाँव आगे को नहीं पड़ता। फिर हृदय में धीरज धरकर वह राजद्वार पर पहुँचा तो इसको मन मारे हुए (उदास) देखकर सब पूछने लगे ॥ २ ॥

समाधानु करि सो सबही का। गयउ जहाँ दिन-कर-कुल-टीका ॥
राम सुमंत्रहि आवत देखा। आदर कीन्ह पितासम लेखा ॥३॥

उन सब लोगों का समाधान करके सुमन्त्र वहाँ गया जहाँ रघुकुल-तिलक श्रीरामचन्द्र थे। रामचन्द्रजी ने सुमंत्र को आते देखा तो उसको पिता के समान समझकर उसका आदर किया ॥ ३ ॥

निरखि बदनु कहि भूपरजाई। रघु-कुल-दीपहिँ चलेउ लेवाई ॥
राम कुभाँति सचिव सँग जाहीँ। देख लोग जहँ तहँ बिलखाहीँ ॥४॥

रामचन्द्रजी का श्रीमुख देखकर उसने राजा दशरथ की आज्ञा सुना दी और रघुवंश के दीपक रामचन्द्रजी को वह लिवा ले चला। (यहाँ पर रघुकुल के सूर्य न कह के दीप कहने का भाव कुछ लोग यह लगाते हैं कि राजा शोक-भवन में अन्धकार में पड़े हैं, सूर्य का प्रकाश बाहर होते भी ऐसे घरों के भीतर के लिए दीपक की आवश्यकता होती है।) रामचन्द्रजी बुरी तरह से (पैदल, बिना चवँर छत्र आदि) मन्त्री के साथ जा रहे हैं, यह देखकर लोग जहाँ तहाँ चिन्ता करने लगे ॥ ४ ॥

दो०—जाइ देखि रघु-बंसमनि नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहुँ वृद्ध गजराजु ॥४०॥

रघुवंश-भूषण रामचन्द्र ने जाकर राजा को बिलकुल कुत्सित वेष में देखा और देखते ही वे सहम गये। वे इस तरह ज़मीन पर पड़े थे कि मानों कोई बूढ़ा (नाताक़त) हाथी सिंहिनी को देखकर गिर पड़ा हो ॥ ४० ॥

चौ०—सूखहिँ अधर जरहिँ सब अंगू। मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू ॥
सरुख समीप देखि कैकेई। मानहुँ मीचु घरी गनि लेई ॥१॥

राजा के ओंठ सूख रहे हैं, सब शरीर जल रहा है, मानों बिना मणि के साँप दीन और दुःखी हो रहा है। पास ही में क्रोध से भरी हुई केकयी को उन्होंने देखा। वह मानों मूर्त्तिमान मृत्यु है जो मरने की घड़ी गिन रही है ॥ १ ॥

करुनामय मृदु राम सुभाऊ। प्रथम दीख दुख सुना न काऊ ॥
तदपि धीर धरि समउ बिचारी। पूछी मधुर बचन महतारी ॥२॥

रामचन्द्रजी स्वभाव के दयालु और कोमल हैं। आपने यह पहला ही दुःख देखा है। अभी तक तो उन्होंने दुःख कभी सुना भी नहीं था। तो भी आप समय को सोचकर और हृदय में धीरज धरकर मीठे वचनों से माता केकयी से पूछने लगे—॥ २ ॥

मोहि कहु मातु तात-दुख-कारनु । करिय जतनु जेहि होइ निवारनु ॥
सुनहु राम सब कारन एहू । राजहिँ तुम्ह पर बहुत सनेहू ॥३॥

हे माता ! मुझे पिताजी के दुःख का कारण कहो जिसमें वही यत्न किया जाय जिससे वह दुःख निवृत्त हो जाय । यह सुनते ही केकयी ने कहा—हे राम ! सुनो, सब कारण यही है कि तुम पर राजा का बहुत ही स्नेह है ॥ ३ ॥

देन कहेन्हि मोहि दुइ बरदाना । माँगेउँ जो कछु मोहिँ सुहाना ॥
सो सुनि भयउ भूपउर सोचू । छाडि न सकहिँ तुम्हार सँकोचू ॥४॥

मुझे इन्होंने दो वरदान देने को कहे थे और जो मुझे अच्छे लगे वही मैंने माँग लिये । उन्हें सुनकर राजा के जी में सोच पैदा हो गया, क्योंकि ये तुम्हारे सङ्कोच को छोड़ नहीं सकते ॥ ४ ॥

दो०—सुत सनेहु इत बचनु उत संकट परेउ नरेसु ।
सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेसु ॥४१॥

इधर तो पुत्र का स्नेह और उधर वचन (प्रतिज्ञा), इन दोनों के संकट में राजा पड़े हैं । अर्थात् न तो पुत्र-प्रेम ही इनसे छूट सके, न वचन ही फिर सके । जो तुम कर सकते हो तो राजा की आज्ञा सिर चढ़ाओ और इस कठिन क्लेश को मिटा दो ॥ ४१ ॥

चौ०—निधरक बैठि कहइ कटुबानी । सुनत कठिनता अति अकुलानी ॥
जीभ कमान बचन सर नाना । मनहुँ महिपु मृदु-लच्छ-समाना ॥१॥

रानी बेखटके बैठी हुई ऐसी कड़ुवी बात कह रही है कि जिसको सुनने में कठोरता को भी बड़ी घबराहट हो । मानों रानी की जीभ तो कमान है और तरह तरह के वचन तीर हैं और उन तीरों के कोमल निशाने के समान महाराजा दशरथ हैं ॥ १ ॥

जनु कठोरपनु धरे सरीरू । सिखइ धनुषबिद्या बरबीरू ॥
सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई । बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई ॥२॥

मानों कठोरपन एक अच्छे शूरवीर का शरीर धारणकर धनुष-विद्या सीख रहा है । वह रामचन्द्रजी को सब प्रसंग (खुलासा) सुनाकर बैठी हुई है मानों निठुराई ही मूर्त्तिमती होकर बैठी है ॥ २ ॥

मन मुसुकाइ भानु-कुल-भानू । रामु सहज-आनंद-निधानू ॥
बोले बचन बिगत सब दूषन । मृदु मंजुल जनु बागबिभूषन ॥३॥

स्वभाव ही से आनन्द के धाम, सूर्यकुलभूषण, रामचन्द्रजी, मन में मुसकुरा[1] कर, कोमल, मधुर और सब दोषों से रहित ऐसे वचन बोले, जो वाणी (सरस्वती) के भूषण[2] के समान थे ॥ ३ ॥

सुनु जननी सोइ सुत बडभागी । जो पितु-मातु-बचन-अनुरागी ॥
तनय मातु-पितु-तोषनि - हारा । दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥४॥

आपने कहा—हे माता ! सुनो। पुत्र वही बड़भागी है जो पिता और माता के वचनों का प्रेमी हो। हे माता ! माता-पिता के सन्तुष्ट करनेवाला पुत्र सारे संसार में दुर्लभ है ॥ ४ ॥

दो०—मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर ।
तेहि महँ पितुआयसु बहुरि संमत जननी तोर ॥४२॥

वन में ज्यादा करके ऋषि-मण्डली से मिलाप होगा और सभी तरह मेरा हित होगा। उस पर भी पिताजी की आज्ञा ! और उसमें भी माताजी तुम्हारी सम्मति ! ॥ ४२ ॥

चौ०—भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू । बिधि सबबिधि मोहि सनमुख आजू ॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा । प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा ॥१॥

मेरे प्राण-प्रिय भरत राज्य पावेंगे, मुझे तो आज के दिन सभी तरह से विधाता अनुकूल है। जो ऐसे काम में भी मैं वन को न जाऊँ तो मुझे मूर्खों के समाज में प्रथम (महामूर्ख) गिनना चाहिए ॥ १ ॥

सेवहिं अरँडु कलपतरु त्यागी । परिहरि अमृतु लेहि बिषु माँगी ॥
तेउ न पाइ अस समउ चुकाहीं । देखु बिचारि मातु मन माहीं ॥२॥

हे माता ! आप मन में विचार कर देख लें कि जो कल्पवृक्ष को छोड़कर एरंड के पेड़ का सेवा करते हैं और अमृत को छोड़कर विष माँग लेते हैं, वे भी ऐसा अवसर पाकर कभी नहीं चूकते ॥ २ ॥

अब एक दुखु मोहि बिसेखी । निपट बिकल नरनायकु देखी ॥
थोरिहि बात पितहि दुखु भारी । होति प्रतीति न मोहि महतारी ॥३॥

हे माता ! मुझे एक बात का विशेष दुःख है कि मैं नरेश्वर को बिलकुल व्याकुल देख रहा हूँ। हे माता ! इतनी थोड़ी सी बात का पिताजी को इतना भारी दुःख होगा, इसका मुझे विश्वास नहीं होता ॥ ३ ॥

१—मुस्कुराने में एक तो प्रत्यक्ष कारण यह है कि रामचन्द्रजी हर्ष-विषाद से उदासीन हैं। दूसरे उन्होंने मन में समझ लिया कि यह सब खेल देवताओं की माया का है और मुझे करना ही है।

२—सरस्वती का, जो केकयी की जीभ में बसकर बोल रही है आप सत्कार कर रहे हैं।

राउ धीरु गुन-उदधि-अगाधू। भा मोहि तें कछु बड अपराधू॥
ता तें मोहि न कहत कछु राऊ। मोरि सपथ तोहि कहु सतिभाऊ॥४॥

राजा तो धैर्य्यधारी और गुणों के अगाध समुद्र हैं (वे इतनी सी बात के लिए दुखी होनेवाले नहीं)। अत: अवश्य मुझसे कोई बड़ा अपराध हो गया है, इसी से महाराज मुझे कुछ नहीं कहते। हे माता! तुझे मेरी सौगन्द है, तू मुझे सच्चे भाव से बतला दे॥ ४॥

दो०—सहज सरल रघुबरबचन कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जिमि बक्रगति जद्यपि सलिल समान॥४३॥

रामचन्द्रजी के वचन स्वाभाविक सरल थे, तो भी कुबुद्धि केकयी ने उन्हें कुटिल ही जाने, जिस तरह पानी समान (सीधा) होता है तो भी जोंक उसमें टेढ़ी ही चाल से चलती है॥ ४३॥

चौ०—रहसी रानि रामरुख पाई। बोली कपटसनेहु जनाई॥
सपथ तुम्हार भरत कइ आना। हेतु न दूसर मैं कछु जाना॥१॥

रानी केकयी रामचन्द्रजी का रुख पाकर प्रसन्न हो गई और कपट से स्नेह जनाकर बोली— हे पुत्र! तुम्हारी और भरत की सौगन्द है, मैं और दूसरा कुछ भी कारण नहीं जानती॥ १॥

तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता। जननी - जनक - बंधु - सुख - दाता॥
राम सत्य सबु जो कछु कहहू। तुम्ह पितु-मातु-बचन-रत अहहू॥२॥

हे पुत्र! तुम अपराध के लायक़ नहीं हो। तुम तो माता, पिता, भाई सभी को सुख देनेवाले हो। हे राम! तुम जो कुछ कहते हो वह सब सत्य है। तुम पिता और माता के वचनों में अनुरक्त (आज्ञाकारी) हो॥ २॥

पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन जेहि अजसु न होई॥
तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहि दीन्हे। उचित न तासु निरादरु कीन्हे॥३॥

हे पुत्र! मैं बलि जाऊँ, तुम पिता को समझाकर वही बात कहो जिसमें चौथेपन (बुढ़ापे) में इनका अपयश न हो। जिन सुकृतों ने तुम जैसे पुत्र दिये उनका निरादर करना उचित नहीं है॥ ३॥

लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगह गयादिक तीरथ जैसे॥
रामहि मातुबचन सब भाये। जिमि सुरसरिगत सलिल सुहाये॥४॥

केकयी के कुत्सित मुख में ये सुन्दर वचन कैसे लगे जैसे मगध देश में गया आदि तीर्थ अच्छे लगते हैं। (मगधादि देश अपवित्र हैं किन्तु उनमें के ये तीर्थ पवित्र हैं।) जिस तरह गंगाजी में मिला हुआ ख़राब पानी भी अच्छा हो जाता है इसी तरह माता (केकयी) के कुटिल वचन भी रामचन्द्रजी को अच्छे लगे॥ ४॥

दो०—गइ मुरुछा रामहिँ सुमिरि नृप फिरि करवट लीन्ह ।
सचिव रामआगमनु कहि बिनय समयसम कीन्ह ॥४४॥

इतने में राजा की मूर्छा गई और उन्होंने रामचन्द्रजी को फिर याद करके करवट बदली। उस समय मन्त्री ने रामचन्द्रजी के आने की खबर देकर समयानुसार विनती की ॥ ४४ ॥

चौ०—अवनिप अकनि रामु पगुधारे । धरि धीरजु तब नयन उघारे ॥
सचिव सँभारि राउ बैठारे । चरन परत नृप रामु निहारे ॥१॥

रामचन्द्रजी के आने की आहट राजा के कान में पड़ते ही उन्होंने धीरज धरकर नेत्र खोले। मन्त्री ने राजा को सँभालकर (अच्छी तरह) बैठा दिया। राजा ने रामचन्द्रजी को अपने चरणों में गिरते हुए देखा ॥ १ ॥

लिये सनेहबिकल उर लाई । गई मनि मनहुँ फनिकु फिरि पाई ॥
रामहिँ चितइ रहेउ नरनाहू । चला बिलोचन बारिप्रबाहू ॥२॥

स्नेह से विकल राजा ने रामचन्द्रजी को छाती से लगा लिया मानों किसी साँप ने अपनी खोई हुई मणि को फिर से पा लिया। महाराज रामजी को देखते ही रह गये और नेत्रों से जल की धारा बह चली ॥ २ ॥

सोकबिबस कछु कहइ न पारा । हृदय लगावत बारहिँ बारा ॥
बिधिहि मनाव राउ मन माहीँ । जेहि रघुनाथ न कानन जाहीँ ॥३॥

शोक के मारे राजा कुछ कह नहीं सकते थे। वे बार बार रामचन्द्रजी को हृदय से लगाते थे और मन ही मन विधाता से मनाते थे जिसमें रामचन्द्रजी वन को न जायँ ॥ ३ ॥

सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी । बिनती सुनहु सदासिव मोरी ॥
आसुतोषु तुम्ह अवढर दानी । आरति हरहु दीनजनु जानी ॥४॥

राजा महादेवजी का स्मरण कर उनकी प्रार्थना करने लगे कि हे सदाशिव ! आप मेरी प्रार्थना को सुनें, आप आशुतोष (जल्दी से प्रसन्न हो जानेवाले) और मनमौजी उदार दानी हैं इसलिए मुझे दीन जन जानकर मेरा दुःख दूर करो ॥ ४ ॥

दो०—तुम्ह प्रेरक सब के हृदय सो मति रामहिँ देहु ।
बचनु मोर तजि रहहिँ घर परिहरि सीलु सनेहु ॥४५॥

हे शिवजी ! आप सबके हृदय के प्रेरक हैं, इसलिए रामचन्द्र को ऐसी बुद्धि दीजिए कि वे शील और स्नेह को छोड़ दें और मेरे वचन को त्याग कर घर ही रह जायँ ॥ ४५ ॥

चौ०—अजस होउ जग सुजस नसाऊँ । नरक परउँ बरु सुरपुरु जाऊँ ॥
सब दुख दुसह सहावहु मोहीँ । लोचन ओट राम जनि होहीँ ॥१॥

संसार में मेरी अपकीर्ति छा जाय, शुद्ध यश नष्ट हो जाय, मैं नरक में गिरूँ या देवलोक (स्वर्ग) में जाऊँ और न सहने के लायक सभी दुःख मुझे सहन कराओ, पर रामचन्द्र मेरी आँखों की ओट न हों ॥ १ ॥

अस मन गुनइ राउ नहिँ बोला । पीपर-पात-सरिस मनु डोला ॥
रघुपति पितहि प्रेम बस जानी । पुनि कछु कहहि मातु अनुमानी ॥२॥

राजा इस तरह मन में सोच रहे हैं और कुछ बोलते नहीं हैं। उनका मन पीपल के पत्ते की तरह काँप रहा है। रामचन्द्रजी ने पिता को प्रेम के वश में जानकर और माता फिर कुछ कहेगी ऐसा अनुमान करके ॥ २ ॥

देस काल अवसर अनुसारी । बोले बचन बिनीत बिचारी ॥
तात कहउँ कछु करउँ ढिठाई । अनुचित छमब जानि लरिकाई ॥३॥

देश (जगह), काल के अनुसार सोच विचारकर नम्रता से समयोचित वचन कहे—हे पिताजी ! मैं कुछ ढिठाई कर कहता हूँ, यदि वह कहना अनुचित हो तो लड़कपन समझकर क्षमा कीजिएगा ॥ ३ ॥

अति लघु-बात लागि दुखु पावा । काहु न मोहि कहि प्रथम जनावा ॥
देखि गोसाइहिँ पूछिउँ माता । सुनि प्रसंगु भये सीतल गाता ॥४॥

आप जरा सी बात के लिए इतना भारी दुःख उठा रहे हैं, यह बात मुझे किसी ने पहले ही कहकर न जता दी। हे स्वामी ! आपको इस दशा में देख मैंने माताजी से पूछा और उनसे सब प्रसङ्ग सुनकर मेरे शरीर में ठंढक हुई ॥ ४ ॥

दो०—मंगलसमय सनेहबस सोचु परिहरिय तात ।
आयसु देइय हरषि हिय कहि पुलके प्रभुगात ॥४६॥

हे पिताजी ! इस मङ्गलकारी समय में स्नेह के कारण उत्पन्न इस सोच को दूर कीजिए और हृदय में प्रसन्न होकर मुझे आज्ञा दीजिए। इतना कहकर रामचन्द्रजी शरीर से पुलकित हो गये ॥ ४६ ॥

चौ०—धन्य जनम जगतीतल तासू । पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू ॥
चारि पदारथ करतल ता के । प्रिय पितुमातु प्रानसम जा के ॥१॥

इस पृथ्वीतल पर उसी का जन्म धन्य है जिसके चरित को सुनकर पिता को परम आनन्द हो। जिसको पिता-माता प्राण के समान प्यारे हैं उसके हाथ में चारों पदार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) हैं ॥ १ ॥

आयसु पालि जनमफलु पाई । ऐहउँ बेगिहि होउ रजाई ॥
बिदा मातु सन आवउँ माँगी । चलिहउँ बनहिँ बहुरि पग लागी ॥२॥

आपको आज्ञा का पालनकर और जन्म को सफलता पाकर मैं जल्दी ही आ जाऊँगा, मुझे आज्ञा मिले। मैं माताजी से बिदा माँग आऊँ। वहाँ से लौटकर, आपके चरणों को छूकर, मैं वन को जाऊँगा॥ २॥

अस कहि रामु गवनु तब कीन्हा। भूप सोकबस उतरु न दीन्हा॥
नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढी जनु सब तन बीछी॥३॥

ऐसा कहकर रामचन्द्रजी वहाँ से चले गये। राजा ने शोक के अधीन होकर कुछ भी उत्तर न दिया। यह अत्यन्त तीक्ष्ण बात सारे शहर में ऐसी जल्दी फैल गई जैसे डङ्क मारते ही बिच्छू का विष सारे शरीर में चढ़ जाता है॥ ३॥

सुनि भये बिकल सकल नरनारी। बेलि बिटप जिमि देखि दवारी॥
जो जहँ सुनइ धुनइ सिरु सोई। बड बिषादु नहिँ धीरजु होई॥४॥

इस बात के सुनते ही स्त्री-पुरुष ऐसे व्याकुल हुए जैसे वन में आग लगी देखकर वृक्ष और उन पर की बेलें कुम्हला जायँ। जो जहाँ सुनता है वह वहीं सिर धुनने लगता है, उसे बड़ा दुःख होता है, धीरज नहीं बँधता॥ ४॥

दो०—मुख सुखाहिँ लोचन स्रवहिँ सोक न हृदय समाइ।
मनहुँ करुन-रस-कटकई उतरी अवध बजाइ॥४७॥

सबके मुंह सूखे जाते हैं, आँखों से आँसू बहते हैं, सोच हृदय में नहीं समाता। उस समय यह मालूम होता है मानो करुण रस की सेना डंका बजाकर अयोध्या में आ उतरी है॥ ४७॥

चौ०—मिलेहि माँझ बिधि बात बिगारी। जहँ तहँ देहिँ कैकइहि गारी॥
एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावकु धरेऊ॥१॥

लोग जहाँ तहाँ केकयी को गाली देने लगे और कहने लगे कि विधाता ने बनी बनाई बात बीच में ही बिगाड़ दी। इस पापिनी को क्या समझ पड़ा, जो इसने छाये हुए छप्पर में आग लगा दी॥ १॥

निजकर नयन काढि चह दीखा। डारि सुधा बिषु चाहति चीखा॥
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघु-बंस-बेनु-बन आगी॥२॥

अरे! वह अपने हाथ से अपनी आँखों को निकालकर देखना चाहती है और अमृत को फेंककर विष को चखना चाहती है। यह केकयी टेढ़ी, कठोर, दुष्टबुद्धि और अभागिनी (फूटे भाग की) है। यह रघुवंशरूपी बाँसों के वन के लिए आग हो गई॥ २॥

पालव बैठि पेडु एइ काटा। सुख महँ सोक ठाटु धरि ठाटा॥
सदा राम एहि प्रानसमाना। कारन कवन कुटिलपनु ठाना॥३॥

इसने डाल पर बैठकर उसी पेड़ को काट डाला, और सुख के समय में इसने शोक का सामान इकट्ठा कर दिया। इसे तो रामचन्द्रजी सदा प्राण के समान प्यारे थे, फिर किस कारण इसने कुटिलता की॥ ३॥

सत्य कहहिँ कबि नारिसुभाऊ। सब बिधि अगम अगाध दुराऊ॥
निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारिगति भाई॥४॥

विद्वानों ने स्त्रियों का स्वभाव ठीक कहा है। उनका कपट (छिपाव) सभी तरह अगम, (न जानने लायक़) और अथाह होता है। कोई अपनी परछाहीं को भले ही पकड़ ले, पर भाई! स्त्री की गति (चाल) नहीं जानी जाती॥ ४॥

दो०—काह न पावकु जारि सक का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ॥४८॥

आग में क्या नहीं जल सकता? समुद्र में क्या नहीं समा सकता? प्रबला स्त्री क्या नहीं कर सकती और संसार में काल किसे नहीं खा जाता?॥ ४८॥

चौ०—का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा॥
एक कहहिँ भल भूप न कीन्हा। बर बिचारि नहिँ कुमतिहि दीन्हा॥१॥

हाय! विधाता ने क्या सुनाकर क्या सुना दिया और क्या दिखाकर अब क्या दिखाना चाहता है? किसी ने कहा—राजा ने अच्छा नहीं किया। इस कुबुद्धि केकयी को वरदान विचारकर नहीं दिया॥ १॥

जो हठि भयउ सकल दुखभाजनु। अबलाबिबस ग्यानु गुन गा जनु॥
एक धरमपरमिति पहिचाने। नृपहि दोसु नहिँ देहिँ सयाने॥२॥

जो दिया हुआ वरदान हठपूर्वक (ज़बरदस्ती) संपूर्ण दुःखों का पात्र हो गया। स्त्री की अधीनता में मानों राजा का ज्ञान और गुण जाता रहा। दूसरे चतुर लोग, जो धर्म की मर्यादा को जानते हैं, राजा को दोष नहीं देते॥ २॥

सिवि - दधीचि - हरिचंद - कहानी। एक एक सन कहहिँ बखानी॥
एक भरत कर संमत कहहीँ। एक उदास भाय सुनि रहहीँ॥३॥

वे आपस में एक दूसरे से राजा शिबि,[1] दधीचि ऋषि[2] और हरिश्चन्द्र[3] की कथा कहने लगे। कोई कहता कि इसमें (रामचन्द्रजी को वन भेजने में) भरत की सम्मति है। कोई सुनकर उदासीन रह जाता है॥ ३॥

१—२—राजा शिबि और दधीचि की कथा के लिए इसी काण्ड के ३० वें दोहे की चौथी चौपाई देखो। ३—अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र की कथा भी प्रसिद्ध है। इन्होंने विश्वामित्र को अपना सारा राज्य संकल्प करके दे दिया। जब उन्होंने दक्षिणा माँगी तो राजा ने काशी में आकर स्त्री

कान मूँदि कर रद गहि जीहा। एक कहहिँ यह बात अलीहा॥
सुकृत जाहिँ अस कहत तुम्हारे। रामु भरत कहँ प्रानपियारे॥४॥

कोई बात सुनते ही कानों पर हाथ रखकर और दाँतों के नीचे जीभ दबाकर कहते हैं कि यह बात झूठ है। ऐसी बात कहने से तुम्हारे पुण्य नष्ट हो जायँगे, भरतजी को तो रामचन्द्रजी प्राणों के समान प्रिय हैं॥ ४॥

दो०—चंद चवइ बरु अनलकन सुधा होइ बिष तूल।
सपनेहुँ कबहुँ न करहिँ कछु भरतु रामप्रतिकूल॥४६॥

चाहे कभी चन्द्रमा आग के कण बरसाने लगे और अमृत विष के समान हो जाय, परन्तु भरतजी रामचन्द्रजी के प्रतिकूल (विरुद्ध) कुछ कभी स्वप्न में भी नहीं कर सकते॥४९॥

चौ०—एक बिधातहि दूषन देहीँ। सुधा देखाइ दीन्ह बिषु जेहीँ॥
खरभरु नगर सोचु सब काहू। दुसह दाहु उर मिटा उछाहू॥१॥

कोई विधाता को दोष देने लगे जिसने अमृत दिखाकर फिर विष दिया अर्थात् राजतिलक सुनाकर वनवास दिखाया। नगर भर में खलबली मच गई और सब कोई सोच में पड़ गये। हृदय में उत्साह भरा था वह मिट गया और कठिन दाह पैदा हो गया॥ १॥

बिप्रबधू कुलमान्य जठेरी। जे प्रिय परम कैकई केरी॥
लगीँ देन सिख सीलु सराही। बचन बानसम लागहि ताही॥२॥

ब्राह्मणों की स्त्रियाँ, कुल की पूज्य और घर की बड़ी स्त्रियाँ जो केकयी की परम प्यारी थीं, वे उसके स्वभाव की प्रशंसा कर उसे समझाने लगीं, पर उसे वे हित वचन बाण जैसे लगने लगे॥ २॥

भरत न मोहि प्रिय रामसमाना। सदा कहहु यहु सब जग जाना॥
करहु राम पर सहजसनेहू। केहि अपराध आजु बन देहू॥३॥

उन स्त्रियों ने कहा—सारा संसार जानता है और तुम सदा कहा करती थीं कि मुझे रामचन्द्र के समान भरत भी प्यारे नहीं हैं। रामचन्द्र पर तुम स्वाभाविक स्नेह करती थीं, फिर आज किस अपराध पर उन्हें वनवास देती हो?॥ ३॥

कबहुँ न कियहु सवति आरेसू। प्रीतिप्रतीति जान सबु देसू॥
कौसल्या अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा॥४॥

को बेचकर, अपने लिए एक चाण्डाल का दासत्व स्वीकार करके, वह दक्षिणा चुकाई और श्मशान में बैठकर मुर्दों का कर लेने का काम किया। अन्त में इन्हीं राजा का लड़का मर गया। उसे श्मशान में जलाने के समय अपनी स्त्री से कर लिये बिना उन्होंने उसे नहीं जलाने दिया। इस प्रकार वे सत्य की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर फिर अयोध्या के सिंहासन पर विराजे और मृत्यु होने पर वैकुण्ठवासी हुए।

तुमने कभी सौतियाडाह नहीं की, तुम्हारी प्रीति और विश्वास सारा संसार जानता है। फिर उसी कौसल्या ने अब क्या बिगाड़ा है जिसके लिए तुमने शहर भर पर यह वज्रपात कर दिया॥ ४॥

दो०—सीय कि पिय सँगु परिहरिहि लषनु कि रहिहहिं धाम।

राजु कि भूँजब भरत पुर नृपु कि जिइहि बिनु राम॥५०॥

क्या सीता रामचन्द्रजी का संग छोड़ देंगी? क्या रामचन्द्रजी के बिना लक्ष्मणजी घर रह जायँगे? क्या भरतजी रामचन्द्रजी बिना पुरी का राज्य भोगेंगे? क्या राजा दशरथ रामचन्द्रजी के बिना जीते बचेंगे?॥ ५०॥

चौ०—अस बिचारि उर छाडहु कोहू। सोक कलंक कोटि जनि होहू॥

भरतहि अवसि देहु जुबराजू। कानन काह राम कर काजू॥१॥

हृदय में ऐसा विचारकर तुम क्रोध को छोड़ दो और शोक तथा भारी कलङ्क का समूह मत बनो। हाँ, भरत को राजतिलक अवश्य दे दो, पर भला रामचन्द्रजी को वन जाने का क्या काम है?॥ १॥

नाहिन राम राज के भूखे। धरमधुरीन बिषयरस रूखे॥

गुरगृह बसहिं राम तजि गेहू। नृप सन अस बर दूसर लेहू॥२॥

रामचन्द्रजी राज्य के भूखे नहीं हैं, क्योंकि वे धर्मधुरन्धर (धर्म का भार उठानेवाले) और भोग-विलासादि के स्वाद से उदासीन हैं। इसलिए तुम राजा से दूसरा वर यह माँग लो कि रामचन्द्र घर छोड़कर गुरु के भवन में जा बसें॥ २॥

जौं नहि लगिहहु कहे हमारे। नहिँ लागिहि कछु हाथ तुम्हारे॥

जौं परिहास कीन्हि कछु होई। तौ कहि प्रगट जनावहु सोई॥३॥

जो तुम हमारा कहा न मानोगी तो तुम्हारे हाथ कुछ भी न लगेगा। जो तुमने कुछ हँसी की हो तो उसे स्पष्ट प्रकट कर दो॥ ३॥

रामसरिस सुत कानन जोगू। काह कहिहि सुनि तुम कहँ लोगू॥

उठहु बेगि सोइ करहु उपाई। जेहि बिधि सोकु कलंकु नसाई॥४॥

राम जैसा पुत्र क्या वन जाने के योग्य है? इस बात को सुनकर लोग तुम्हें क्या कहेंगे? इसलिए केकयी! तुम जल्दी उठो और ऐसा उपाय करो जिसमें कलङ्क और शोक मिट जाय॥ ४॥

छंद—जेहि भाँति सोकु कलंकु जाइ उपाय करि कुल पालही।

हठि फेरु रामहिं जात बन जनि बात दूसरि चालही॥

जिमि भानु बिनु दिन प्रान बिनु तनु चंदु बिनु जिमि जामिनी।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जिय भामिनी ॥

जिस तरह शोक और कलंक मिट जाय, वही उपाय करके तुम कुल की रक्षा करो। रामचन्द्रजी को वन जाने से ज़ोर देकर लौटा लो, दूसरी बात मत चलाओ। तुलसीदासजी कहते हैं—हे रानी! तुम अपने जी में निश्चय जानो कि जिस तरह सूर्य बिना दिन, प्राण बिना शरीर और चन्द्रमा के बिना रात शोभित नहीं होती ठीक इसी तरह रामचन्द्रजी बिना अयोध्या को दशा समझो॥

सो०—सखिन्ह सिखावन दीन्ह सुनत मधुर परिनाम हित।
तेइ कछु कान न कीन्ह कुटिल प्रबोधी कूबरी ॥५१॥

केकयी को सखियां ने ऐसी सीख दी जो सुनने में मीठी और परिणाम (नतीजे) में हितकारिणी थी, पर उस सीख पर उसने कुछ भी ध्यान नहीं दिया क्योंकि उसको कुटिल कूबरी ने अच्छी तरह सिखा पढ़ा रक्खा था॥ ५१॥

चौ०—उतरु न देइ दुसह रिस रूखी। मृगिन्ह चितव जनु बाघिनि भूखी॥
ब्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी। चलीं कहत मतिमंद अभागी॥१॥

वह रूखी केकया दुस्सह (हद के बाहर) क्रोध में भर रही है, उन सखियों के वचनों का कुछ भी उत्तर नहीं देती और उनकी ओर ऐसे देखती है जैसे भूखी सिंहिनी हरनी की ओर (उसे खाने को) देखे। तब तो सखियां ने इस क्रोध को असाध्य रोग समझकर उपाय करना छोड़ दिया। (वैद्यक-शास्त्र में रोगी का रोग असाध्य हो जाने पर औषधादि यत्न करना निषिद्ध है) और वे यह कहती हुई वहाँ से चल दीं कि यह मन्दबुद्धि और अभागिन है॥ १॥

राजु करत यह दैव बिगोई। कीन्हेसि अस जस करइ न कोई॥
एहि बिधि बिलपहिं पुर-नर-नारी। देहिं कुचालिहिं कोटिक गारी॥२॥

उन्होंने कहा—दैव को मारो इस केकयी ने राज्य करते हुए जैसा कुछ किया वैसा कोइ भी न करेगा। अयोध्या भर में सभी नर-नारी इसी तरह विलपने लगे और कुचाली केकयी को करोड़ों गालियाँ देने लगे॥ २॥

जरहिं बिषमजर लेहिं उसासा। कवनि राम बिनु जीवन-आसा॥
बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी। जनु जल-चर-गन सूखत पानी॥३॥

लोग विषमताप से जलते और ऊँची ऊँची साँसें लेते हैं और कहते हैं कि रामचन्द्रजी के बिना जीने को क्या आशा है। इस गहरे वियोग से प्रजा ऐसी व्याकुल हुई जैसे किसी तालाब आदि का पानी सूखने लगे और उसके रहनेवाले पानी के जीव घबरा उठें॥ ३॥

अतिबिषाद बस लोग लुगाई। गये मातु पहिं राम गोसाईं॥
मुखप्रसन्नु चित चौगुन चाऊ। मिटा सोचु जनि राखइ राऊ॥४॥

सभी स्त्री-पुरुष महादुःख में डूब रहे हैं। उधर समर्थ रामचन्द्रजी माता (कौसल्या) के पास गये। उनका श्रीमुख प्रसन्न और मन में चौगुना चाव (उल्लास) था और 'दशरथजी वन जाने से रोक न दें' यह सोच मिट गया था ॥ ४ ॥

दो०—नवगयंदु रघुबीरमनु राजु अलानसमान।
छूट जानि बनगमनु सुनि उर अनंदु अधिकान ॥५२॥

श्रीरामचन्द्रजी का मन नये गजराज के समान है और राज-तिलक हाथी के बाँधने की जंजीर के समान है। अपने लिए वनवास सुनकर वे मानों उस बन्धन से छूट गये, अर्थात् जङ्गल से नया हाथी पकड़ कर आवे तो जंजीर में बँधना उसे दुखदायी होता है, और जङ्गल में स्वच्छन्द घूमने को छोड़ देने से उसे प्रसन्नता होती है, उसी तरह यहाँ रामचन्द्रजी को राज्य-बन्धन दुखदायी प्रतीत होता है, और उसके छूटने से हृदय में अधिक आनन्द छा रहा है ॥ ५२ ॥

चौ०—रघु-कुल-तिलक जोरि दोउ हाथा। मुदित मातुपद नायउ माथा ॥
दीन्हि असीस लाइ उर लीन्हे। भूषनबसन निछावरि कीन्हे ॥१॥

रघु-कुल-भूषण रामचन्द्रजी ने दोनों हाथ जोड़कर प्रसन्नता के साथ माताजी के चरणों में सिर नवाया। माताजी ने आशीर्वाद दिया और उन्हें छाती से लगा लिया और बहुत-से वस्त्र तथा गहने न्यौछावर कर दिये ॥ १ ॥

बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेहजलु पुलकित गाता ॥
गोद राखि पुनि हृदय लगाये। स्रवत प्रेम रस पयद सुहाये ॥२॥

माताजी बार बार रामचन्द्रजी का मुख चूमती हैं। नेत्रों में स्नेह से जल भर आया है, शरीर पुलकायमान हो रहा है। फिर उन्होंने उन्हें अपनी गोद में बैठाकर हृदय से लगाया। उसी समय प्रेम के मारे स्तनों में से दूध बहने लगा ॥ २ ॥

प्रेमु प्रमोदु न कछु कहि जाई। रंक धनदपदबी जनु पाई ॥
सादर सुंदरबदनु निहारी। बोली मधुरबचन महतारी ॥३॥

उस समय का प्रेम और आनन्द कुछ कहा नहीं जाता, मानों किसी दरिद्री ने कुबेर की पदवी पा ली। माता कौसल्या बड़े आदर के साथ सुन्दर मुख देखकर मीठे वचनों से बोलीं—॥ ३ ॥

कहहु तात जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुद-मंगल-कारी ॥
सुकृत सील सुख सीव सुहाई। जनमलाभ कइ अवधि अघाई ॥४॥

हे पुत्र ! माता बलैया लेती है, कहो कब वह आनन्द और मङ्गल करनेवाला लग्न है, जो कि पुण्य और शील तथा सुखों की सीमा है और जन्म के लाभ की पूर्ण अवधि है ॥ ४ ॥

दो०—जेहि चाहत नरनारि सब अति आरत एहि भाँति ।
जिमि चातक चातकि त्रिषित वृष्टि सरद रितु स्वाति ॥५३॥

जिस लग्न (राजतिलक के समय) को सभी स्त्री-पुरुष अत्यन्त दीन हुए इस तरह चाहते हैं जिस तरह प्यासे पपीहा और पपिहरी शरत्काल में स्वाति नक्षत्र की वर्षा की बूंद को चाहते हैं ॥ ५३ ॥

चौ०—तात जाउँ बलि बेगि नहाहू । जो मन भाव मधुर कछु खाहू ॥
पितुसमीप तब जायहु भैया । भइ बडि बार जाइ बलि मैया ॥१॥

हे पुत्र ! मैं बलैया लेती हूँ, तुम जल्दी नहाओ और जो कुछ मन में भावे मिठाई खा लो । भैया ! फिर पिता के पास जाना । अब बहुत देर हो गई । माता बलैया लेती है ॥ १ ॥

मातुबचन सुनि अति अनुकूला । जनु सनेह-सुर-तरु के फूला ॥
सुखमकरंद भरे स्त्रियमूला । निरखि राम-मन-भवँरु न भूला ॥२॥

रामचन्द्रजी ने माता के अत्यन्त अनुकूल वचन सुने, जो मानों स्नेहरूपी कल्पवृक्ष के फूल थे । श्री (राजलक्ष्मी) उस वृक्ष की जड़ और सुख ही पुष्प-रस (मकरन्द) है । ऐसे स्नेहरूपी कल्प-वृक्ष को देखकर भी रामचन्द्रजी का मनरूपी भँवरा नहीं भूला अर्थात् माता के इतने बड़े स्नेह को देखकर भी वे संकल्प से विचलित न हुए ॥ २ ॥

धरमधुरीन धरमगति जानी । कहेउ मातु सन अति-मृदु-बानी ॥
पिता दीन्ह मोहि काननराजू । जहँ सब भाँति मोर बड काजू ॥३॥

धर्म-धुरन्धर रामचन्द्रजी ने धर्म की गति को जानकर माताजी से अति विनीत वचनों में कहा—हे माता ! मुझे पिताजी ने वन का राज्य दिया है जहाँ सभी तरह से मेरा बड़ा काम बनेगा ॥ ३ ॥

आयसु देहि मुदितमन माता । जेहि मुदमंगल कानन जाता ॥
जनि सनेह बस डरपसि भोरे । आनँदु अंब अनुग्रह तोरे ॥४॥

हे माता ! आप प्रसन्न-चित्त से मुझे आशीर्वाद दीजिए जिसमें वन जाते हुए आनन्द-मङ्गल हो । हे माता ! स्नेह के वश होकर भूल से भी डरना नहीं । तेरी कृपा से (वन में भी) आनन्द ही होगा ॥ ४ ॥

दो०—बरष चारि दस बिपिन बसि करि पितु-बचन-प्रमान ।
आइ पाय पुनि देखिहउँ मन जनि करसि मलान ॥५४॥

मैं चौदह वर्ष वन में निवासकर पिताजी का वचन पालन कर लौटूँगा, तब फिर चरणों के दर्शन करूँगा । हे माता ! तू मन उदास मत कर ॥ ५४ ॥

चौ०—बचन बिनीत मधुर रघुबर के । सरसम लगे मातुउर करके ॥
सहमि सूखि सुनि सीतलबानी । जिमि जवास परे पावस पानी ॥१॥

रघुवर के वे कोमल और मीठे वचन माताजी को बाण जैसे लगे और छाती में कसके। उस शीतल वाणी को सुनकर कौसल्याजी सहम गईं और सूख गईं, मानों जवासे[1] पर वर्षा का पानी गिर गया ॥ १ ॥

कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू । मनहुँ मृगी सुनि केहरिनादू ॥
नयन सजल तन थरथर काँपी । माँजहि खाइ मीन जनु मापी ॥२॥

उनके हृदय का दुःख कुछ कहा नहीं जाता, मानों किसी हिरनी ने सिंह की गर्जना सुनी हो। नेत्रों से आँसू बहने लगे, वे थर थर काँपने लगीं, मानों मछली माँजा[2] खाकर बेसुध हो गई है ॥ २ ॥

धरि धीरजु सुतबदनु निहारी । गदगदबचन कहति महतारी ॥
तात पितहि तुम्ह प्रानपियारे । देखि मुदित नित चरित तुम्हारे ॥३॥

माता कौसल्याजी ने धीरज धरकर पुत्र का मुख देखकर गद्गद वाणी से कहा—हे पुत्र! तुम पिता को प्राण-समान प्यारे हो और वे नित्य तुम्हारे चरित्रों को देखकर प्रसन्न होते हैं ॥ ३ ॥

राज देन कहुँ सुभ दिन साधा । कहेउ जान बन केहि अपराधा ॥
तात सुनावहु मोहि निदानू । को दिन-कर-कुल भयउ कृसानू ॥४॥

तुमको राज्य देने के लिए शुभ दिन निश्चित किया था। ऐसी अवस्था में वन जाने के लिए किस अपराध से कहा? हे पुत्र! मुझे इसका निदान (मूल कारण) सुनाओ कि सूर्यवंश के लिए अग्नि कौन बन गया ॥ ४ ॥

दो०—निरखि रामरुख सचिवसुत कारनु कहेउ बुझाइ ।
सुनि प्रसंगु रहि मूक जिमि दसा बरनि नहिँ जाइ ॥५५॥

तब रामचन्द्रजी का रुख़ देखकर मन्त्री के पुत्र ने सब कारण समझाकर कहा। उस प्रसङ्ग को सुनकर वे गूँगी जैसी चुप रह गईं। उस समय की उनकी वह दशा वर्णन नहीं की जा सकती ॥ ५५ ॥

१—जवासा काँटेदार छोटा पेड़ होता है। कहीं कहीं गर्मी के मौसिम में ठंढक के लिए इसकी टट्टी भी लगाई जाती है। यह गर्मी में खूब हरा भरा रहता है और बरसात के पानी से सूख जाता है।

२—माँजा एक तरह का रोग है जो अक्सर बरसात के प्रारम्भ में मछलियों को होता है। उससे मछलियाँ तड़पती और मर भी जाती हैं।

बचन बिनीत मधुर रघुबर के।
सरसम लगे मातुउर करके॥—पृष्ठ ४००

चौ०—राखि न सकइ न कहि सक जाहू । दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू ॥
लिखत सुधाकर गा लिखि राहू । बिधिगति बाम सदा सब काहू ॥ १ ॥

अब कौसल्याजी न उन्हें घर ही रख सकती हैं, न वन ही जाने को कह सकती हैं; क्योंकि दोनों तरह से उनके हृदय में कठोर दाह हो रहा है। विधाता की गति सदा सभी के लिए टेढ़ी है। देखिए, कहाँ लिखता था चन्द्रमा और लिख गया राहु अर्थात् राज्य देनेवाला था पर उसने वनवास दे दिया ॥ १ ॥

धरम सनेह उभय मति घेरी । भइ गति साँप छछुंदरि केरी ॥
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू । धरमु जाइ अरु बंधुबिरोधू ॥ २ ॥

कौसल्याजी की बुद्धि को धर्म और स्नेह दोनों ने घेर लिया। उस समय उनकी साँप-छछूँदर की सी गति हो गई। (जब साँप छछूँदर को पकड़ता है तब जो उसको छोड़ दे तो अन्धा हो जाय, जो खा जाय तो कोढ़ी हो जाय इसलिए वह पसोपेश में पड़ जाता है।) वे सोचने लगीं कि जो मैं अनुरोध करके पुत्र को रख लूँ तो धर्म जाता है और भाइयों से विरोध होता है ॥ २ ॥

कहउँ जान बन तौ बडि हानी । संकट-सोच-बिबस भइ रानी ॥
बहुरि समुझि तियधरमु सयानी । रामु भरत दोउ सुत सम जानी ॥ ३ ॥

और जो उनको वन जाने को कहती हूँ तो बड़ी हानि होती है। इस तरह धर्म-संकट में पड़कर रानी सोच के वश हो गई। फिर चतुर रानी ने स्त्री-धर्म (पातिव्रत) को समझकर और रामचन्द्र तथा भरत दोनों पुत्रों को समान जानकर ॥ ३ ॥

सरलसुभाउ राममहतारी । बोली बचन धीर धरि भारी ॥
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका । पितुआयसु सब धरम क टीका ॥ ४ ॥

रामचन्द्रजी की माता कौसल्या भारी धीरज धरकर सीधे स्वभाव से वचन बोलीं—हे पुत्र! मैं तुम्हारी बलैया लेती हूँ, तुमने अच्छा किया। पिता की आज्ञा का पालन करना ही सब धर्मों का टीका (सबसे बड़ा धर्म) है ॥ ४ ॥

दो०—राज देन कहि दीन्ह बन मोहि न सो दुखलेसु ।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु ॥ ५६ ॥

हे पुत्र! तुमको राज्य देने के लिए कहा था और दे दिया वन, इस बात का मुझे लेश-मात्र भी दुःख नहीं, पर दुःख इस बात का है। कि तुम्हारे बिना भरत को, महाराज को और प्रजा को भारी क्लेश होगा ॥ ५६ ॥

चौ०—जौं केवल पितुआयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बडि माता ॥
जौं पितुमातु कहेउ बन जाना । तौ कानन सत-अवध-समाना ॥ १ ॥

हे पुत्र ! जो खाली पिता की आज्ञा वन जाने की हो और माता की न हो तो माता को पिता से बड़ा[१] जानकर वन को मत जाओ। हाँ, जो पिता-माता[२] दोनों ने वन जाने की आज्ञा दी हो तो तुम्हारे लिए वन सौ अयोध्या के समान है ॥ १ ॥

पितु बनदेव मातु बनदेवी। खग मृग चरनसरोरुह सेवी ॥
अंतहु उचित नृपहि बनबासू। बय बिलोकि हिय होइ हरासू ॥२॥

वन के देवता तो पिता हैं और वन की देवियाँ ही माता हैं तथा पक्षी, मृग आदि चरण-कमल के सेवक हैं। राजाओं के लिए अंत में अर्थात् वृद्धा अवस्था में वनवास करना उचित ही होता है, पर तुम्हारी अवस्था देखकर मेरा जी घबराता है ॥ २ ॥

बड़भागी बन अवध अभागी। जो रघु-बंस-तिलकु तुम्ह त्यागी ॥
जौं सुत कहउँ संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदय होइ संदेहू ॥३॥

हे रघुकुल के तिलक ! जिस वन में तुम जाओगे वह बड़भागी होगा और यह अयोध्या अभागिनी हो जायगी, जिसे तुम छोड़ दोगे। हे पुत्र ! जो मैं तुमसे कहूँ कि तुम मुझे भी साथ ले चलो तो तुम्हारे मन में सन्देह होगा ॥ ३ ॥

पूत परमप्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के ॥
ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ ॥४॥

हे पुत्र ! तुम सभी के बहुत प्यारे हो, प्राणों के प्राण और जीवों के जिलानेवाले हो। वही तुम कहते हो कि माता ! मैं वन को जाऊँ। इस वचन को सुनकर मैं बैठकर पछताती हूँ ॥ ४ ॥

दो०—यह बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेह बढाइ।
मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ ॥५७॥

इसलिए यही सोचकर और झूठा (बनावटी) स्नेह बढ़ाकर मैं हठ नहीं करती। हे पुत्र ! मैं बलैया लूँ, तुम माता के नाते को बलवान् मानते हुए मेरी सुध न भूल जाना ॥ ५७ ॥

चौ०—देव पितर सब तुम्हहि गोसाईं। राखहिं नयन पलक की नाईं ॥
अवधि अंबु प्रियपरिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरमधुरीना ॥१॥

हे पुत्र ! जिस तरह पलकें आँखों की रक्षा करती हैं उसी तरह देव और पितर सब तुम्हारी रक्षा करें। तुम्हारे वनवास की अवधि (१४ वर्ष) तो जल है और तुम्हारे प्यारे और कुटुम्बी लोग मछली हैं। तुम दया के करनेवाले और धर्म के धुरन्धर हो ॥ १ ॥

१—धर्म-शास्त्र में पिता से माता का मान अधिक है। 'पितुर्दशगुणा माता गौरवादतिरिच्यते'। अर्थात् माता अपने बड़प्पन में पिता से दशगुनी है। २—कौसल्या ने अपने से भी। केकयी के वचनों को महत्त्व दिया क्योंकि—"मातुर्दशगुणा मान्या विमाता धर्मभीरुणा" अर्थात् धर्म से डरनेवाले को अपनी माता से दशगुना अधिक विमाता (सौतेली माता) को मानना चाहिए।

अस बिचारि सोइ करहु उपाई। सबहिँ जिअत जेहि भेँटहु आई॥
जाहु सुखेन बनहिँ बलि जाऊँ। करि अनाथ जन-परिजन-गाऊँ॥२॥

ऐसा विचारकर वही उपाय करना जिससे सबके जीते जी तुम आकर मिलो। (अर्थात् मछली पानी बिना नहीं रह सकती, अतः अवधिरूपी पानी पूरा हो जाने से प्रिय कुटुम्बी आदि मछलियाँ भी मर जायँगी।) बेटा! मैं बलैया लेती हूँ, तुम प्रजा, कुटुम्बी जन और गाँव को अनाथ कर सुखपूर्वक वन को जाओ॥ २॥

सब कर आजु सुकृतफल बीता। भयउ करालकाल बिपरीता॥
बहुबिधि बिलपि चरन लपटानी। परमअभागिनि आपुहि जानी॥३॥

आज सभी के पुण्यों का फल बीत गया और समय विरुद्ध हो गया। इस प्रकार बहुत तरह से विलाप करके और अपने को अभागिनी मानकर कौसल्या रामचन्द्रजी के चरणों में लिपट गई॥ ३॥

दारुन-दुसह-दाह उर ब्यापा। बरनि न जाइ बिलापकलापा॥
राम उठाइ मातु उर लाई। कहि मृदुवचन बहुरि समुझाई॥४॥

उस समय उनके हृदय में कठिन और असह्य जलन व्याप्त हो गई। उस समय के विलापों के समूह का वर्णन नहीं किया जा सकता। रामचन्द्रजी ने माता को उठाकर छाती से लगा लिया और फिर कोमल वचन कहकर उन्हें समझाया॥ ४॥

दो०—समाचार तेहि समय सुनि सीय उठी अकुलाइ।
जाइ सासु पद-कमल-जुग बंदि बैठि सिरु नाइ॥५८॥

उस समय यह समाचार सुनकर सीताजी व्याकुल हो उठीं और तुरन्त ही जाकर सासु के दोनों चरणों की वन्दना कर सिर नीचा कर बैठ गईं॥ ५८॥

चौ०—दीन्हि असीस सासु मृदुबानी। अति सुकुमारि देखि अकुलानी॥
बैठि नमित मुख सोचति सीता। रूपरासि पति-प्रेम-पुनीता॥१॥

सासु ने कोमल वचनों में आशीर्वाद दिया और वे उन्हें अत्यन्त सुकुमारी देखकर बड़ी व्याकुल हुईं। रूप की राशि और पति के प्रेम में पवित्र सीताजी नीचा मुख किये बैठी सोचने लगीं॥ १॥

चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि करतबु कछु जाइ न जाना॥२॥

प्राणनाथ वन को चलना चाहते हैं, किस पुण्य के प्रभाव से मैं इनके साथ जा सकूँगी। देखें, शरीर और प्राण दोनों साथ देते हैं या केवल प्राण ही। (अर्थात् जो शरीर से न जाने पाऊँगी तो प्राण तज दूँगी।) विधाता का क्या करना है, यह कुछ जाना नहीं जाता॥ २॥

चारु चरननख लेखति धरनी। नूपुरमुखर मधुर कवि बरनी॥
मनहुँ प्रेमबस बिनती करहीं। हमहि सीयपद जनि परिहरहीं॥३॥

सीताजी अपने सुन्दर चरणों के नख से धरती को कुरेदने लगीं, उस समय जो नूपुरों का मधुर शब्द हुआ उसके लिए कवि कहता है कि—मानों वे नूपुर प्रेम के वश होकर प्रार्थना कर रहे हैं कि सीताजी के चरण हमें त्याग न दें॥ ३॥

मंजुबिलोचन मोचति बारी। बोली देखि राममहतारी।
तातु सुनहु सिय अति सुकुमारी। सासु-ससुर-परिजनहिं पियारी॥४॥

सीताजी सुन्दर नेत्रों से आँसू बहा रही हैं। यह दशा देखकर रामचन्द्रजी की माता कौसल्याजी बोलीं—हे पुत्र! सुनो। सीता बड़ी सुकुमार है और सासुएँ, ससुर और कुटुम्बियों को प्यारी है॥ ४॥

दो०—पिता जनक भूपालमनि ससुर भानु-कुल-भानु।
पति रवि-कुल-कैरव-बिपिन-बिधु गुन-रूप-निधानु॥५९॥

इसके पिता राजाओं के मुकुटमणि राजा जनक हैं और सूर्यकुल में सूर्यरूप महाराजा दशरथ ससुर हैं और गुणों तथा रूप के भाण्डार सूर्य-कुल-रूपी कमोदिनी के वन के चन्द्र तुम इसके पति हो॥ ५९॥

चौ०—मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूपरासि गुन सील सुहाई॥
नयनपुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखउँ प्रान जानकिहिं लाई॥१॥

फिर मैंने रूप की खान, सुन्दर गुण और अच्छे स्वभाववाली सुन्दर प्यारी पुत्र-वधू (बहू) पाई है। मैं अपनी आँखों की पुतली बनाकर और प्रेम बढ़ा कर जानकी में अपना हृदय लगाये रहती हूँ॥ १॥

कलपबेलि जिमि बहु बिधि लाली। सींचि सनेहसलिल प्रतिपाली॥
फूलत फलत भयउ बिधि बामा। जानि न जाइ काह परिनामा॥२॥

मैंने कल्पवृक्ष की बेल के समान इसका बहुत तरह से लालन-पालन किया है और स्नेहरूपी जल से इस बेल को सींच सींचकर बढ़ाया है। अब इस बेल के फूलने-फलने के समय विधाता प्रतिकूल हो गया। इसका परिणाम क्या होगा सो जाना नहीं जाता॥ २॥

पलँगपीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनिकठोरा॥
जिवनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीपबाति नहिं टारन कहऊँ॥३॥

सीता ने पलंग, पीढ़ा, गोद और हिंडोले को छोड़कर कड़ी जमीन पर कभी पैर भी नहीं रक्खा। मैं इसे जीवनमूल (संजीवनी जड़ी) के समान सँभाले रहती हूँ। मैं कभी इसे दीये की बत्ती बढ़ा देने को भी नहीं कहती॥ ३॥

सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा॥
चंद-किरिन-रस-रसिक चकोरी। रबिरुख नयन सकइ किमि जोरी॥४॥

हे रघुनाथ ! वही यह सीता अब तुम्हारे साथ वन जाना चाहती है। इसको क्या आज्ञा है ? चन्द्रमा की किरणों के रस को चखनेवाली चकोरी भला कहीं सूर्य की ओर आँख उठाकर देख सकती है ॥ ४ ॥

दो०—करि केहरि निसिचर चरहिँ दुष्ट जंतु बन भूरि।
बिषबाटिका कि सोह सुत सुभग सजीवनि मूरि ॥६०॥

वन में हाथी, सिंह, राक्षस आदि अनेक दुष्ट जीव-जन्तु फिरा करते हैं। हे पुत्र ! क्या विष की बग़ीचों में सुन्दर संजीवनी जड़ी शोभा देती है ? ॥ ६० ॥

चौ०—बनहित कोल किरात किसोरी। रची बिरंचि बिषय-सुख-भोरी ॥
पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ। तिन्हहि कलेसु न कानन काऊ ॥१॥

ब्रह्मा ने वन में रहने के लिए कोल और भीलों की लड़कियों को बनाया है, जो सुन्दर सुखभोगों को जानती ही नहीं। जिनका स्वभाव पत्थर के कीड़े का-सा कड़ा होता है उन्हें वन में किसी तरह का क्लेश नहीं होता ॥ १ ॥

कै तापसतिय काननजोगू। जिन्ह तपहेतु तजा सब भोगू ॥
सिय बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्रलिखित कपि देखि डराती ॥२॥

या तो वे तपस्वियों की स्त्रियाँ वन में रहने के लायक़ हैं जिन्होंने तपस्या के लिए सब भोग-विलास त्याग दिये हैं। हे पुत्र ! सीता वन में किस तरह रह सकेगी जो तसवीर में भी बन्दर को देखकर डरती है ॥ २ ॥

सुर-सर-सुभग बनज-बन-चारी। डाबर जोग कि हंसकुमारी ॥
अस बिचारि जस आयसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई ॥३॥

मान-सरोवर के सुन्दर कमलों के वन में विचरनेवाली हंसिनी क्या तलैया के योग्य है ? ऐसा विचार कर जैसी तुम्हारी आज्ञा हो वैसी ही शिक्षा मैं जानकी को दूँ ॥ ३ ॥

जौं सिय भवन रहइ कह अंबा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा ॥
सुनि रघुबीर मातु-प्रिय-बानी। सील सनेह सुधा जनु सानी ॥४॥

माताजी कहती हैं कि जो सीता घर रह जाय तो मुझे बड़ा भारी सहारा हो जाय। (वे जानती हैं कि रामचन्द्र मेरी इच्छा को अवश्य ही पूरा करेंगे इसलिए इशारे से सूचित करती हैं कि सीता को घर ही रहने का निर्देश रामचन्द्र करें।) रामचन्द्रजी ने मानों शील, स्नेह और अमृत से सनी हुई माता की प्रिय वाणी सुनकर ॥ ४ ॥

दो०—कहि प्रियबचन बिबेकमय कीन्ह मातुपरितोषु।
लगे प्रबोधन जानकिहि प्रगटि बिपिन गुन दोषु ॥६१॥

विवेक से भरे हुए प्यारे वचन कहकर उन्होंने माता को सन्तुष्ट किया, फिर वन की भलाई बुराई दिखाकर वे सीताजी को समझाने लगे ॥ ६१ ॥

चौ०—मातुसमीप कहत सकुचाहीं । बोले समउ समुझि मन माहीं ॥
राजकुमारि सिखावन सुनहू । आन भाँति जिय जनि कछु गुनहू ॥ १ ॥

माताजी के समीप खड़े हुए रामचन्द्र सीताजी से कुछ कहने में संकोच करते हैं, पर मन में समय (आपत्काल) को समझकर वे बोले—हे राजकुमारी ! हमारी शिक्षा सुनो और अपने जी में कुछ और बात न समझो ॥ १ ॥

आपन मोर नीक जौं चहहू । बचनु हमार मानि गृह रहहू ॥
आयसु मोर सासुसेवकाई । सब बिधि भामिनि भवन भलाई ॥ २ ॥

जो अपना और मेरा भला चाहती हो तो मेरा वचन मानकर घर रहो । हे भामिनि ! घर रहने में मेरी आज्ञा का पालन, सासु की सेवा और सभी तरह से भलाई ही है ॥ २ ॥

एहि तें अधिक धरमु नहिं दूजा । सादर सासु-ससुर-पद-पूजा ॥
जब जब मातु करिहि सुधि मोरी । होइहि प्रेमबिकल मतिभोरी ॥ ३ ॥

आदर के साथ सासु और ससुर के चरणों की पूजा करना, इससे अधिक दूसरा धर्म नहीं है । माता जब जब मेरी सुध करेंगी और भोली बुद्धिवाली ये प्रेम के मारे बेचैन हो जायँगी ॥ ३ ॥

तब तब तुम्ह कहि कथा पुरानी । सुंदरि समुझायेहु मृदुबानी ॥
कहउँ सुभाय सपथ सत मोही । सुमुखि मातुहित राखउँ तोही ॥ ४ ॥

हे सुन्दरी ! तब तब तुम पुरानी कथाओं को कहकर कोमल वाणी से इन्हें समझाना । मैं सैकड़ों सौगन्दें खाकर सीधे स्वभाव से कहता हूँ कि मैं तुमको केवल माता की भलाई ही के लिए घर पर छोड़ता हूँ ॥ ४ ॥

दो०—गुरु-स्रुति-संमत धरमफलु पाइअ बिनहिं कलेस ।
हठवस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस ॥ ६२ ॥

गुरु और वेद के कहे अनुसार चलने से धर्म के फल को बिना परिश्रम लोग पा सकते हैं । जो लोग हठ करते हैं वे जैसे राजा गालव[1] और नहुष[2] ने संकट सहे वैसे ही दुःख पाते हैं ॥ ६२ ॥

१—गालव मुनि विश्वामित्र के शिष्य थे । विद्याध्ययन समाप्त करके उन्होंने जब गुरु को दक्षिणा देने का हठ किया तब गुरु ने ८०० श्यामकर्ण घोड़े माँगे । इनको इकट्ठा करने में गालव मुनि को बड़े कष्ट उठाने पड़े ।

२—राजा नहुष बड़े ज्ञानी और सन्तोषी थे । एक बेर जब इन्द्र ब्रह्महत्या के कारण छिप गये थे तब इन्द्र-पद पर नहुष जा विराजे । वहाँ इन्होंने राजमद में चूर होकर इन्द्राणी को अपने पास

चौ०—मैं पुनि करि प्रवान पितुबानी। बेगि फिरब सुनि सुमुखि सयानी॥
दिवस जात नहिं लागिहि बारा। सुंदरि सिखवनु सुनहु हमारा॥१॥

हे सुन्दरी! हे सयानी! सुनो, मैं पिता की आज्ञा को पूरा कर फिर जल्दी ही लौटूँगा। दिन जाते देर नहीं लगती। हे सुन्दरी! हमारा उपदेश सुनो॥ १॥

जौं हठ करहु प्रेमबस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा॥
काननु कठिन भयंकरु भारी। घोर घाम हिम बारि बयारी॥२॥

हे वामा! जो प्रेम के वश में पड़कर हठ करोगी तो तुम परिणाम में दुःख पाओगी। वन बड़ा कठिन और डरावना होता है। वहाँ बड़ी तेज़ धूप पड़ती है, कड़ी सर्दी पड़ती है, बड़ी वर्षा होती है और ख़ूब तेज़ हवा चलती है॥ २॥

कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना॥
चरनकमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे॥३॥

रास्ते में कुशा, काँटे और तरह तरह के कंकड़ पड़े रहते हैं, उनमें पैदल बिना जूते चलना पड़ेगा। तुम्हारे चरणकमल कोमल और सुन्दर हैं। रास्ते में बड़े बड़े भारी और बीहड़ पहाड़ हैं॥ ३॥

कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे॥
भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरजु भागा॥४॥

गुफायें, खोह, नदी, नद और नाले ऐसे अगम और गहरे हैं कि जिनकी ओर देखा तक नहीं जाता। रीछ, बाघ, भेड़िये, सिंह और हाथी ऐसे ज़ोर से चिल्लाते हैं कि उनकी आवाज़ को सुनकर धीरज भाग जाता है॥ ४॥

दो०—भूमिसयन बलकलबसन असन कंद-फल-मूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं समय समय अनुकूल॥६३॥

धरती पर सोना, पेड़ों की छाल के कपड़े पहनना-ओढ़ना और कन्द, मूल, फल का भोजन वहाँ है—वे भी क्या रोज़ रोज़ मिलते हैं? नहीं। कभी अनुकूल समय हुआ तो मिले॥ ६३॥

बुला भेजा। इन्द्राणी ने बृहस्पति की सम्मति से कहला भेजा कि यदि तुम पालकी में बैठकर और उस पालकी को ब्राह्मणों से उठवाकर आओ तो मैं तुम्हें स्वीकार करूँगी। नहुष कुछ आगा-पीछा न सोच कर सप्तर्षियों से पालकी उठवाकर उसमें सवार हो चले। रास्ते में मुनियों से जल्दी चलने के लिए उन्होंने संस्कृत में कहा 'सर्प, सर्प' तो सप्तर्षि ने क्रोधित होकर शाप दे दिया कि तू सर्प हो जा। बस, इन्द्र-पद से गिरकर नहुष को साँप हो जाना पड़ा और अनेक दुःख सहने पड़े।

चौ०—नरअहार रजनीचर चरहीं। कपटवेष बिधि कोटिक करहीं॥
लागइ अति पहार कर पानी। बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी॥१॥

मनुष्य खानेवाले राक्षस फिरते रहते हैं। वे कपट से करोड़ों तरह के वेष बदल लेते हैं। पहाड़ी पानी बहुत लगता है। (मतलब यह कि) वन की विपत्ति कहते नहीं बनती॥ १॥

ब्याल कराल बिहँग बन घोरा। निसि-चर-निकर नारि-नर-चोरा॥
डरपहिं धीर गहन सुधि आयें। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभायें॥२॥

वन में बड़े डरावने साँप और भयंकर पक्षी रहते हैं और स्त्री-पुरुषों को चुरानेवाले राक्षसों के झुण्ड रहते हैं। वन को याद करके बड़े बड़े धीर भी डर जाते हैं और हे मृगलोचनि! तुम तो पहले से ही डरपोक स्वभाव की हो॥ २॥

हंसगवनि तुम्ह नहिं बनजोगू। सुनि अपजसु मोहिं देइहि लोगू॥
मानस-सलिल-सुधा प्रतिपाली। जिअइ कि लवनपयोधि मराली॥३॥

हे हंसगमनि! तुम वन में जाने के योग्य नहीं हो। तुम्हारा वन में जाना सुनकर लोग मुझे अपयश देंगे। जो हंसिनी मान-सरोवर के जलरूपी अमृत से पाली गई है वह क्या खारे समुद्र के किनारे रहकर जी सकती है?॥ ३॥

नव-रसाल-बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥
रहहु भवन अस हृदय बिचारी। चंदबदनि दुख कानन भारी॥४॥

नये रसीले आमों के बग़ीचों में स्वच्छन्द विचरनेवाली कोयल क्या करील के जंगल में शोभा दे सकती है? हे चन्द्रवदनि! तुम हृदय में ऐसा विचार कर घर ही रहो। जंगल में भारी दुःख हैं॥ ४॥

दो०—सहज सुहृद-गुर-स्वामि-सिख जो न करइ सिर मानि।
सो पछिताइ अघाइ उर अवसि होइ हितहानि॥६४॥

स्वभाव ही से हितचिन्तक अपने गुरु और मालिक की शिक्षा को माथे चढ़ाकर जो कोइ नहीं मानता, वह फिर पीछे मन में खूब पछताता है और हित की हानि भी अवश्य ही होती है॥ ६४॥

चौ०—सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के। लोचन ललित भरे जल सिय के॥
सीतल सिख दाहक भइ कैसे। चकइहि सरदचंद निसि जैसे॥१॥

प्यारे पति के मनोहर कोमल वचनों को सुनकर सीताजी के सुन्दर नेत्र जल से भर आये। रामचन्द्रजी की वह शीतल (मन को शान्त करनेवाला) शिक्षा सीताजी को किस प्रकार जलन उत्पन्न करनेवाली हुई जैसे रात में शरत्काल का चंद्रमा चकई को संतापदायक होता है॥१॥

उतरु न आव बिकल बैदेही। तजन चहत सुचि स्वामि सनेही॥
बरबस रोकि बिलोचनबारी। धरि धीरज उर अवनिकुमारी॥२॥

जानकीजी व्याकुल हो गईं। उनसे कुछ जवाब न दिया गया। सोचने लगीं कि मुझे पवित्र प्रेमी मेरे स्वामी छोड़ जाना चाहते हैं। वह पृथ्वी की कन्या सीताजी (यहाँ पृथ्वी की कन्या इसलिए कहा कि पृथ्वी के समान क्षमा सीताजी में भी है) नेत्रों के आँसुओं को जबरदस्ती ज्यों त्यों रोककर और मन में धीरज धरकर॥२॥

लागि सासुपग कह कर जोरी। छमबि देबि बडि अबिनय मोरी॥
दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई। जेहि बिधि मोर परमहित होई॥३॥
मैं पुनि समुझि दीख मन माहीं। पिय-बियोग-सम दुख जग नाहीं॥४॥

सासु के पाँवों पर पड़कर हाथ जोड़कर बोलीं—हे देवि! मेरी बड़ी भारी ढिठाई को क्षमा करना। मुझे प्राणनाथ ने वही शिक्षा दी है जिससे मेरा परम हित हो॥३॥ परन्तु फिर मैंने मन में समझकर यह देखा कि जगत् में पति के वियोग के समान दूसरा दुःख नहीं है॥४॥

दो०—प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघु-कुल-कुमुद-बिधु सुरपुर नरक समान॥६५॥

हे प्राणनाथ! हे दया के सागर! हे सुन्दर! हे सुखप्रद! हे चतुर! हे रघुकुलरूपी कुमुद के खिलानेवाले चन्द्र! तुम्हारे बिना मुझे स्वर्ग भी नरक के समान है॥६५॥

चौ०—मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रियपरिवार सुहृद समुदाई॥
सास ससुर गुरु सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥१॥

हे स्वामी! माता, पिता, बहिन, प्यारे भाई, प्यारे कुटुम्बी, मित्रों के समुदाय, सासु, ससुर, गुरु, स्वजन (हितचिन्तक), सहायक और सुन्दर अच्छे सुशील और सुखदायी पुत्र॥१॥

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुरराजू। पतिबिहीन सब सोकसमाजू॥२॥

वे सब जहाँ तक स्नेह और नाते हैं हे नाथ! स्त्री के लिए पति बिना सूर्य से भी अधिक तपानेवाले हैं। शरीर, धन, मकान, पृथ्वी और नगर का राज्य पतिहीन स्त्री के लिए सब शोक का समाज (समूह) है॥२॥

भोग रोगसम भूषन भारू। जम - जातना - सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥३॥

पति बिना सब प्रकार के भोग रोग के समान और गहने बोझ हैं, संसार यमराज की यातना के समान है। हे प्राणनाथ ! जगत् में मेरे लिए तुम्हारे बिना सुख देनेवाला कहीं कुछ भी नहीं है॥ ३॥

जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी। तइसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद-बिमल-बिधु-बदन निहारे॥४॥

हे नाथ ! जिस तरह बिना जीव के शरीर, और बिना पानी के नदी व्यर्थ है, उसी तरह बिना पुरुष के स्त्री भी व्यर्थ है। हे नाथ ! आपके साथ रहकर आपका शरद् ऋतु के समान शुद्ध चन्द्रमुख देखने से ही मुझे सब सुख हैं॥ ४॥

दो०—खग मृग परिजन नगरु बनु बलकल बिमल दुकूल।
नाथसाथ सुर-सदन-सम परनसाल सुखमूल॥६६॥

हे नाथ ! आपके साथ रहने में पक्षी और पशु ही मेरे कुटुम्बी होंगे, जङ्गल ही शहर होगा, और पेड़ों के वल्कल ही सुन्दर वस्त्र होंगे तथा पर्णशाला (पत्तों की झोपड़ी) ही स्वर्ग के समान सुख की मूल होगी॥ ६६॥

चौ०—बनदेवी बनदेव उदारा। करिहहिँ सासु-ससुर-सम-सारा॥
कुस-किसलय-साथरी सुहाई। प्रभुसँग मंजु मनोज-तुराई॥१॥

वन-देवी और वन-देवता सासु-ससुर की सी मेरी सँभाल करेंगे और स्वामी के साथ कुश और नर्म पत्तों की चटाई कामदेव की तोशक के समान सुन्दर होगी॥ १॥

कंद मूल फल अमिअ अहारू। अवध-सौध - सत सरिस पहारू॥
छिनु छिनु प्रभु-पद-कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥२॥

वहाँ के कन्द मूल और फलों का आहार ही अमृत होगा और वन के पहाड़ अयोध्या के राजमहलों के बराबर होंगे। क्षण क्षण में स्वामी के चरण-कमलों को देखकर मैं ऐसी प्रसन्न रहूँगी जैसी दिन में चकवी प्रसन्न रहती है॥ २॥

बनदुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु-बियोग-लव-लेस-समाना। सब मिलि होहिँ न कृपानिधाना॥३॥

हे नाथ ! आपने वन के बहुत-से दुःख, भय, क्लेश और सन्ताप कहे हैं। हे कृपा-निधान ! वे सब मिलकर स्वामी के वियोग-दुःख के एक लवलेशमात्र के बराबर भी नहीं हो सकते। अर्थात् वियोग का दुःख उन सब दुःखों से भयङ्कर है॥ ३॥

अस जिय जानि सुजान-सिरोमनि। लेइअ संग मोहि छाडिअ जनि॥
बिनती बहुत करउँ का स्वामी। करुनामय उर-अंतर-जामी॥४॥

हे चतुर-शिरोमणि ! ऐसा जी में सोचकर मुझे साथ लीजिए, यहाँ न छोड़िए। हे स्वामी ! मैं अधिक क्या प्रार्थना करूँ। आप दयामय हैं और सबके हृदय के भीतरी भावों के जाननेवाले हैं ॥ ४ ॥

दो०—राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत जानिअहि प्रान ।
दीनबंधु सुंदर सुखद सील-सनेह-निधान ॥६७॥

हे दीनबन्धु ! हे सुन्दर ! हे सुखदायक ! हे शील और प्रेम के स्थान ! जो आप यह समझें कि चौदह वर्ष तक मेरे प्राण बने रहेंगे तो मुझे अयोध्या में छोड़ जायँ। अर्थात् आपके बिना प्राण ही न रहेंगे ॥ ६७ ॥

चौ०—मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरनसरोज निहारी ॥
सबहि भाँति पिय सेवा करिहउँ। मारगजनित सकल स्रम हरिहउँ ॥१॥

क्षण क्षण में श्रीचरणकमलों को देखकर मुझे मार्ग में चलने की थकावट न होगी। हे प्यारे ! मैं सभी प्रकार की सेवा करूँगी, रास्ता चलने की सभी थकावट को दूर करूँगी ॥ १ ॥

पाय पखारि बैठि तरुछाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं ॥
स्रम-कन-सहित स्याम तनु देखें। कहँ दुखसमउ प्रानपति पेखें ॥२॥

पाँव धोकर पेड़ों की छाया में बैठ कर मन में प्रसन्न होती हुई आपको हवा किया करूँगी। पसीने की बूँदों सहित श्याम-सुन्दर शरीर को देखूँगी। प्राणपति को देखते रहने पर फिर दुःख का अवसर कहाँ ? ॥ २ ॥

सम महि तृन-तरु पल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी ॥
बार बार मृदुमूरति जोही। लागिहि ताति बयारि न मोही ॥३॥

समतल ज़मीन पर घास और वृक्षों के पत्ते बिछाकर यह दासी रात भर आपके पाँव दाबा करेगी और आपकी कोमल मूर्ति को बारबार देख देखकर मुझको गरम हवा न लगेगी ॥ ३ ॥

को प्रभुसँग मोहि चितवनिहारा। सिंघबधुहि जिमि ससक सिआरा ॥
मैं सुकुमारि नाथ बनजोगू। तुम्हहि उचित तपु मो कहँ भोगू ॥४॥

प्रभु के साथ रहते हुए मेरी ओर देखनेवाला कौन है ? जैसे सिंह की स्त्री को खरगोश और सियार नहीं देख सकते। (अर्थात् कोई आँख उठाकर मेरी ओर नहीं ताक सकता।) (यह आपने अच्छा कहा कि) मैं सुकुमारी हूँ और आप वन जाने के योग्य हैं ? क्या आपको तो तपस्या करना उचित है और मुझे भोग (ऐश-आराम) ! ॥ ४ ॥

दो०—ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदय बिलगान ।
तौ प्रभु-बिषम-बियोग-दुख सहिहहिं पाँवर प्रान ॥६८॥

हे प्राणनाथ! जो ऐसे कठोर वचनों को सुनकर भी मेरा हृदय न फटा, तब तो ये नीच प्राण स्वामी के कठिन वियोगरूपी दुःख को भी सह लेंगे ॥ ६८ ॥

चौ०—अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचनबियोग न सकी सँभारी ॥
देखि दसा रघुपति जिय जाना। हठि राखे नहिँ राखिहि प्राना ॥ १ ॥

सीताजी ऐसा कहकर भारी बेचैन हो गईं, वियोगसम्बन्धी वचनों के दुःख को न सम्हाल सकीं। उनकी दशा को देखकर रामचन्द्रजी ने अपने जी में निश्चय कर लिया कि जो हम ज़बरदस्ती इसे यहाँ छोड़ जायँगे तो यह निश्चय प्राणों को न रक्खेगी ॥ १ ॥

कहेउ कृपाल भानु-कुल-नाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा ॥
नहिँ बिषाद कर अवसरु आजू। बेगि करहु बन-गवन-समाजू ॥ २ ॥

तब दयालु, सूर्यकुल के स्वामी, रामचन्द्रजी ने कहा—अच्छा, सोच छोड़कर साथ हो वन को चलो। आज दुःख करने का अवसर नहीं है, जल्दी वन चलने की तैयारी करो ॥ २ ॥

कहि प्रियबचन प्रिया समुझाई। लगे मातुपद आसिष पाई ॥
बेगि प्रजादुख मेटब आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई ॥ ३ ॥

रामचन्द्रजी ने प्रिय वचन कहकर प्रिया सीताजी को समझा दिया, फिर माता के पाँव पड़े और उन्होंने उनका आशीर्वाद पाया। माता ने कहा—बेटा! जल्दी लौटकर प्रजा के दुःख को मिटाना और इस निठुर माता को भूल मत जाना! ॥ ३ ॥

फिरिहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी। देखिहउँ नयन मनोहर जोरी ॥
सुदिन सुघरी तात कब होइहि। जननी जिअत बदनबिधु जोइहि ॥ ४ ॥

हे विधाता! क्या फिर मेरी दशा फिरेगी कि मैं इस मनोहर जोड़ी (राम-सीता) को आँखों से देखूँगी? हे पुत्र! वह शुभ दिन और शुभ घड़ी कब होगी जब तुम्हारी माता जीते जी तुम्हारे मुखचन्द्र को फिर देखेगी ॥ ४ ॥

दो०—बहुरि बच्छु कहि लालु कहि रघुपति रघुबर तात।
कबहिँ बोलाइ लगाइ हिय हरषि निरखिहउँ गात ॥ ६९ ॥

हे पुत्र! फिर कब वत्स कहकर, लाल कहकर, रघुपति कहकर, रघुवर कहकर तुम्हें बुलाऊँगी और छाती से लगाकर प्रसन्न होकर अंग अंग देखूँगी ॥ ६९ ॥

चौ०—लखि सनेह कातरि महतारी। बचनु न आव बिकल भइ भारी ॥
राम प्रबोधु कीन्ह बिधि नाना। समउ सनेह न जाइ बखाना ॥ १ ॥

जब रामचन्द्रजी ने देखा कि माताजी स्नेह के मारे कातर हो गई हैं और ऐसी विकल हो गई कि मुँह से कुछ वचन नहीं निकलता, तब उन्होंने अनेक प्रकार से उन्हें समझाया। उस समय का स्नेह वर्णन करते नहीं बनता ॥ १ ॥

तब जानकी सासुपग लागी। सुनिय माय मैं परम अभागी॥
सेवा समय दैव बन दीन्हा। मोर मनोरथु सुफल न कीन्हा॥२॥

तब जानकीजी ने सासु के पाँवों में पड़कर कहा—माताजी ! सुनिए, मैं बड़ी अभागिनी हूँ। दैव (विधाता या प्रारब्ध) ने आपकी सेवा करने के समय मुझे वनवास दे दिया, मेरा मनोरथ सफल न किया॥ २॥

तजब छोभु जनि छाडिअ छोहू। करमु कठिन कछु दोष न मोहू॥
सुनि सियबचन सासु अकुलानी। दसा कवनि बिधि कहउँ बखानी॥३॥

आप दुःख को दूर कीजिए, प्रेम को न छोड़ना। कर्म की गति बड़ी कठिन है, इसमें मेरा कुछ दोष नहीं है। सीताजी के वचन सुनकर सासु व्याकुल हो गईं। उनकी उस समय की दशा को मैं किस तरह कहूँ ?॥ ३॥

बारहिँ बार लाइ उर लीन्ही। धरि धीरज सिख आसिष दीन्ही॥
अचल होउ अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग-जमुन-जल-धारा॥४॥

कौसल्याजी ने सीताजी को बार बार हृदय से लगाया और धीरज धरकर शिक्षा और आशीर्वाद दिये। उन्होंने कहा—जब तक गंगा और यमुना में जल की धारा है तब तक तुम्हारा सौभाग्य अचल रहे॥ ४॥

दो०—सीतहि सासु असीस सिख दीन्हि अनेक प्रकार।
चली नाइ पदपदुम सिरु अति हित बारहिँ बार॥७०॥

इसी तरह सीताजी को सासु ने अनेक तरह की शिक्षा और आशीर्वाद दिये। सीताजी बड़े प्रेम के साथ सासु के चरण-कमलों में सिर झुकाकर चलीं॥ ७०॥

चौ०—समाचार जब लछिमन पाये। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाये॥
कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥१॥

जब ये समाचार लक्ष्मणजी को मालूम हुए, तब वे व्याकुल हो और उदास मुँह करके उठकर दौड़े हुए आये। उनका शरीर काँप रहा है, पुलकावलि हो रही है, नेत्रों में आँसू भर रहे हैं। उन्होंने आकर और प्रेम से अधीर होकर रामचन्द्रजी के चरण पकड़ लिये॥ १॥

कहि न सकत कछु चितवत ठाढे। मीनु दीनु जनु जल ते काढे॥
सोचु हृदय बिधि का होनिहारा। सबु सुखु सुकृत सिरान हमारा॥२॥

जैसे मछली को पानी के बाहर निकालने से वह दीन दशा में हो जाती है, वैसे ही लक्ष्मणजी हो गये हैं। वे खड़े खड़े देख रहे हैं, मुँह से कुछ कह नहीं सकते। हृदय में सोचते हैं कि हे विधाता ! अब क्या होनेवाला है। हमारा सारा सुख और पुण्य तो समाप्त हो चुका॥ २॥

मो कहँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहिँ भवन कि लेइहहिँ साथा॥
राम बिलोकि बंधु करजोरे। देह गेह सब सन तृनु तोरे॥३॥

मुझे रघुनाथजी क्या कहेंगे? घर पर छोड़ जायँगे या साथ ले जायँगे? रामचन्द्रजी ने देखा कि भाई लक्ष्मण हाथ जोड़े हुए खड़े हैं और घर बार तथा अपने शरीर से भी उन्होंने नाता तोड़ दिया है॥ ३॥

बोले बचन रामु नयनागर। सील-सनेह-सरल-सुख-सागर॥
तात प्रेमबस जनि कदराहू। समुझि हृदय परिनाम उछाहू॥४॥

तब नीति में चतुर तथा शील, स्नेह, सरलता और सुख के समुद्र रामचन्द्रजी वचन बोले—हे तात! (हे प्यारे भाई) तुम अन्त में होनेवाले आनन्द को हृदय में समझकर अभी प्रेम के वश में पड़कर दुःखी मत हो॥ ४॥

दो०—मातु-पिता-गुरु-स्वामि-सिख सिर धरि करहिँ सुभाय।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर न तरु जनमु जग जाय॥७१॥

जो माता, पिता, गुरु (बड़े) और स्वामी इनकी शिक्षा को सिर पर चढ़ाकर सद्भाव से उसी के अनुसार चलते हैं, उन्होंने जन्म लेने का लाभ पाया है और जो ऐसा नहीं करते उनका जन्म जगत् में व्यर्थ है॥ ७१॥

चौ०—अस जिय जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु-पितु-पद-सेवकाई॥
भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीँ। राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीँ॥१॥

हे भाई! अपने जी में ऐसा जानकर मेरी सीख सुनो। तुम माता-पिता के चरणों की सेवा करो। देखो, भरत और शत्रुघ्न भी घर में नहीं हैं, पिताजी वृद्ध हैं और उनके मन में मेरा दुःख हो रहा है॥ १॥

मैं बन जाउँ तुम्हहिँ लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह-दुख-भारू॥२॥

जो मैं तुमको साथ लेकर वन को चला जाऊँ तो अयोध्या सभी तरह से अनाथ हो जायगी। गुरु, पिता, माता, प्रजा और कुटुम्बी सब पर न सहने के लायक़ भारी दुःख आ पड़ेगा॥ २॥

रहहु करहु सब कर परितोषू। न तरु तात होइहि बड दोषू॥
जासु राज प्रियप्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरकअधिकारी॥३॥

इसलिए तुम यहीं रहो और सबको सन्तुष्ट रक्खो। नहीं तो हे तात! बड़ा भारी दोष होगा। क्योंकि जिसके राज्य में प्यारी प्रजा दुःखी रहती है वह राजा अवश्य ही नरक का अधिकारी होता है॥ ३॥

रहहु तात असि नीति बिचारी। सुनत लषन भये ब्याकुल भारी॥
सिअरे बचन सूखि गये कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे॥४॥

हे भाई! ऐसो नीति विचारकर तुम घर ही रहो। इन वचनों को सुनते ही लक्ष्मणजी बहुत व्याकुल हो गये। उन ठण्डे वचनों से लक्ष्मणजी कैसे सूख गये जैसे पाला पड़ने से कमल सूख जाते हैं॥ ४॥

दो०—उतर न आवत प्रेमबस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह तजहु त कहा बसाइ॥७२॥

प्रेम के वश हो जाने से लक्ष्मणजी से कुछ जवाब नहीं देते बनता। उन्होंने घबराकर रामचन्द्रजी के चरणों को पकड़ लिया। वे बोले—हे नाथ! मैं तो दास हूँ और आप स्वामी हैं। जो आप मुझे छोड़ते ही हैं तो मेरा क्या वश है अर्थात् मैं क्या कर सकता हूँ॥ ७२॥

चौ०—दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराई॥
नरबर धीर धरम-धुर-धारी। निगम नीति कहँ ते अधिकारी॥१॥

स्वामी ने तो मुझे बहुत ही अच्छी सीख दी है, पर वह मेरी कायरता से मुझे अगम या कठिन लगी। जो धीर, धर्म के भार के उठानेवाले श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, वे ही शास्त्र और नीति के पालन के योग्य होते हैं॥ १॥

मैं सिसु प्रभु-सनेह-प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥२॥

मैं तो स्वामी के स्नेह का पाला हुआ बालक हूँ। भला कभी हंस भी मन्दराचल या सुमेरु पर्वत को उठा सकते हैं? अर्थात् जैसे हंस पहाड़ नहीं उठा सकते वैसे ही मैं नीतिशास्त्र का वचन नहीं पाल सकता। हे नाथ! मैं अपना स्वभाव कहता हूँ, आप विश्वास मान लीजिए, कि मैं गुरु (बड़े), पिता-माता किसी को नहीं जानता॥ २॥

जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर-अंतर-जामी॥३॥

जगत् में जहाँ तक स्नेह और नाते हैं तथा शास्त्र में जो कुछ प्रीति और विश्वास की बात कही गई है, हे स्वामी, दीनों के मित्र, सबके अन्तर्यामी! मेरे लिए तो एक आप ही सब कुछ (माता, पिता, गुरु आदि) हैं॥ ३॥

धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति-भूति-सुगति-प्रिय जाही॥
मन-क्रम-बचन चरनरत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥४॥

हे नाथ! धर्मनीति का उपदेश उसी को देना चाहिए जिसे कीर्ति, ऐश्वर्य और सद्गति प्यारी हो। कृपासागर! जो मन, वचन और कर्म से चरणों में अनुरक्त हो, उसे क्या कभी छोड़ना चाहिए? ॥ ४॥

दो०—करुनासिंधु सुबंधु के सुनि मृदुबचन बिनीत।
समुझाये उर लाइ प्रभु जानि सनेह सभीत ॥७३॥

दया के समुद्र रघुनाथजी ने अच्छे भाई लक्ष्मणजी के कोमल नम्र वचनों को सुनकर और उन्हें स्नेह से सभय (छोड़े जाने से डरे हुए) जानकर हृदय से लगाकर समझाया ॥ ७३ ॥

चौ०—माँगहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई॥
मुदित भये सुनि रघुबर बानी। भयउ लाभ बड गई बडि हानी॥१॥

उन्होंने कहा—अच्छा, जाकर माताजी से बिदा माँग लो और आओ जल्दी वन को चलो। रघुवर की इस वाणी को सुनते ही लक्ष्मणजी प्रसन्न हो गये। उनको बड़ा भारी लाभ हुआ और बड़ी भारी हानि दूर हो गई॥ १॥

हरषित हृदय मातु पहिँ आये। मनहुँ अंध फिरि लोचन पाये॥
जाइ जननि पग नायउ माथा। मनु रघुनंदन-जानकि-साथा॥२॥

लक्ष्मणजी प्रसन्न-हृदय होकर माता (सुमित्राजी) के पास आये। उन्हें इतनी प्रसन्नता हुई कि मानों किसी अन्धे को आँखें मिल गई हों। उन्होंने जाकर माताजी के चरणों में मस्तक रख दिया, पर उनका मन तो श्रीजानकी और रामचन्द्रजी के साथ था॥ २॥

पूछे मातु मलिन मनु देखी। लषन कहा सब कथा बिसेखी॥
गई सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा॥३॥

माताजी ने मलिन-मन (उदास) देखकर उसका कारण पूछा, तब लक्ष्मणजी ने सब विशेष कथा (पूरा हाल) कह सुनाई। उन कठोर वचनों को सुनकर सुमित्रा सहम गईं और जिस तरह वन में आग लगने पर हरनी घबराकर चारों ओर देखने लगे इस तरह वे भी देखने लगीं॥ ३॥

लषन लखेउ भा अनरथ आजू। एहि सनेह बस करब अकाजू॥
माँगत बिदा सभय सकुचाहीँ। जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीँ॥४॥

लक्ष्मणजी ने देखा कि बस! आज अनर्थ हुआ। इस स्नेह के वश पड़कर माताजी काम बिगाड़ देंगी। वे बिदा माँगने में डरते हुए सकुचाते हैं और मन में कहते हैं कि हे विधाता! माताजी साथ जाने को कह देंगी या नहीं॥ ४॥

दो०—समुझि सुमित्रा राम-सिय-रूप-सुसीलु-सुभाउ।
नृपसनेहु लखि धुनेउ सिर पापिनि दीन्ह कुदाउ ॥७४॥

सुमित्राजी ने राम और सीता के रूप, सुन्दर शील और स्वभाव को समझकर और राजा दशरथ के प्रेम को देखकर अपना सिर धुना। वे बोलीं कि पापिनी केकयी ने बुरा घात किया ॥ ७४ ॥

चौ०—धीरज धरेउ कुअवसर जानी। सहज सुहृद बोली मृदुबानी ॥
तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही ॥१॥

स्वभाव ही से सुन्दर हृदयवाली सुमित्राजी ने कुसमय जानकर धीरज धरा और वे कोमल वाणी से बोलीं—हे पुत्र! तुम्हारी माता जानकी हैं और पिता तथा सभी तरह के स्नेही राम हैं ॥ १ ॥

अवध तहाँ जहँ रामनिवासू। तहँइ दिवस जहँ भानुप्रकासू ॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं ॥२॥

जहाँ रामचन्द्र का निवास है वहीं अयोध्या है, क्योंकि जहाँ सूर्य का प्रकाश है वहीं दिन होता है। जो सीताराम वन को जाते ही हैं तो अयोध्या में रहने का तुम्हारा कुछ काम नहीं ॥ २ ॥

गुरु पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहि सकल प्रान की नाईं ॥
रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथरहित सखा सबही के ॥३॥

हे पुत्र! गुरु, पिता, माता, बन्धु (भाई और इष्ट मित्र) देवता और स्वामी इन सबों की सेवा प्राण के समान करनी चाहिए। रामचन्द्र सभी के प्राणप्यारे हैं, प्राणों के भी प्राण हैं और सभी के, बिना स्वार्थ के, सखा[1] हैं अर्थात् मतलबी मित्र सभी हो जाते हैं, पर रामचन्द्र स्वभाव ही से बिना प्रयोजन भी सभी के मित्र हैं ॥ ३ ॥

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहि राम के नाते ॥
अस जिय जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू ॥४॥

हे पुत्र! जहाँ तक पूज्य और परम प्यारे हैं उन सबों को रामचन्द्र के नाते से मानो अर्थात् वे ही सब कुछ हैं। अपने जी में ऐसा जानकर उनके साथ वन को जाओ और संसार में जन्म लेने का लाभ उठाओ ॥ ४ ॥

दो०—भूरि भागभाजन भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरे मन छाडि छल कीन्ह रामपद ठाउँ ॥७५॥

१—यहाँ मित्र शब्द के अर्थ में सखा शब्द इसलिए दिया कि मित्र चार तरह के होते हैं बन्धु, सुहृत्, मित्र और सखा। जो जुदाई को न सह सके वह बन्धु कहाता है। सदा आज्ञा में रहनेवाला सुहृत् होता है। दोनों एक ही काम करें वे मित्र होते हैं और जो प्राण-समान प्यारा हो वह सखा होता है। "अत्यागसहनो बन्धुः सदैवानुमतः सुहृत्। एकक्रियं भवेन्मित्रं समप्राणः सखा मतः ॥"

हे पुत्र ! मैं तुम्हारी बलैया लेती हूँ, तुम गुफ समेत बड़े ही भाग्यशाली हुए जो तुम्हारा चित्त छल को छोड़कर श्रीराम के चरणों में लगा ॥ ७५ ॥

चौ०—पुत्रवती जुवती जग सोई। रघु-पति-भगतु जासु सुतु होई ॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। रामबिमुख सुत तें हित हानी ॥१॥

संसार में पुत्रवती वही स्त्री है जिसका पुत्र रघुनाथजी का भक्त हो। नहीं तो व्यर्थ कुपूतों के जनने से बाँझ ही रहना अच्छा है। जिसके पुत्र राम से विमुख हैं उसके हित की हानि है, अर्थात् उसका भला कभी नहीं हो सकता ॥ १ ॥

तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं ॥
सकल सुकृत कर बड फल एहू। राम-सीय-पद सहज सनेहू ॥२॥

हे पुत्र ! रामचन्द्र तुम्हारे ही भाग्य से वन को जा रहे हैं और दूसरा कुछ कारण नहीं है। सम्पूर्ण पुण्यों का बड़ा भारी फल यही है कि श्रीरामसीता के चरणों में स्वाभाविक स्नेह हो ॥ २ ॥

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू ॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ॥३॥

हे पुत्र ! प्रेम, क्रोध, ईर्ष्या, मद और मोह इनके वश में स्वप्न में भी मत होना। सब प्रकार के विकारों को हटाकर मन, वचन और कर्म से इनको सेवकाई करना ॥ ३ ॥

तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु रामु सिय जासू ॥
जेहि न रामु बन लहहिँ कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू ॥४॥

हे पुत्र ! जिनके सङ्ग पिता-माता राम और सीता हैं, उन तुमको वन में सब प्रकार का सुभीता है। बस, तुम वही करना जिसमें वन में रामचन्द्र क्लेश न पावें। मेरा यही उपदेश है ॥ ४ ॥

छं०—उपदेसु यह जेहि तात तुम्हरे रामुसिय सुखु पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवारु पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं ॥
तुलसी सुतहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई ॥
रति होउ अबिरल अमल सिय-रघु-बीर-पद नित नित नई ॥

हे पुत्र ! मेरा यही उपदेश है कि तुम्हारे जाने से राम और सीता सुख पावें, और वन में रहते हुए पिता, माता, प्रिय, कुटुम्बी, अयोध्या पुरी, सुख इत्यादिकों को याद भूल जायँ। तुलसीदासजी कहते हैं कि इस तरह पुत्र को उपदेश देकर, वन जाने की आज्ञा दी और फिर यह आशीर्वाद दिया कि श्रीसीताराम के चरणों में तुम्हारी सघन, शुद्ध और नित्य नई प्रीति बढ़े ॥

सो०—मातु चरन सिरु नाइ चले तुरत संकित हृदय।
बागुर बिषम तोराइ मनहुँ भाग मृगु भागबस ॥७६॥

लक्ष्मणजी, माताजी के चरणों में सिर झुकाकर डरते हुए झट इस तरह चल दिये जिस तरह कोई मृग भाग्यवश कठिन जाल को तुड़ा कर भाग हो ॥ ७६ ॥

चौ०—गये लषन जहँ जानकिनाथू। भे मन मुदित पाइ प्रियसाथू॥
बंदि राम-सिय-चरन सुहाये। चले संग नृपमंदिर आये॥१॥

लक्ष्मणजी वहाँ गये, जहाँ जानकीनाथ रामचन्द्रजी थे। वे प्यारे का साथ पाकर मन में बड़े प्रसन्न हुए। श्रीराम और सीताजी के सुहावने चरणों को प्रणाम कर वे साथ चले और राजा दशरथ के मन्दिर (महल) में पहुँचे ॥ १ ॥

कहहिं परसपर पुर-नर-नारी। भलि बनाइ बिधि बात बिगारी॥
तन कृस मन दुखु बदन मलीने। बिकल मनहुँ माखी मधु छीने॥२॥

नगर के स्त्री-पुरुष आपस में कहने लगे कि विधाता ने अच्छी बात बनाकर बिगाड़ दी। सभी के शरीर दुबले, मन में दुःख और मुख मलिन हो गये हैं और वे ऐसे विकल हैं जैसे शहद छिन जाने पर मक्खियाँ हो जाती हैं ॥ २ ॥

कर मीजहिं सिरु धुनि पछिताहीं। जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं॥
भइ बड़ि भीर भूपदरबारा। बरनि न जाइ बिषादु अपारा॥३॥

वे सभी हाथ मलने और सिर धुनकर पछताने लगे और ऐसे व्याकुल हुए मानों बिना पंख के पक्षी हों। राजा के दरबार में बड़ी भारी भीड़ हो गई और अपार दुःख हुआ जिसका वर्णन करते नहीं बनता ॥ ३ ॥

सचिव उठाइ राउ बैठारे। कहि प्रियबचन रामु पगु धारे॥
सियसमेत दोउ तनय निहारी। ब्याकुल भयउ भूमिपति भारी॥४॥

मन्त्री ने 'रामचन्द्र आ गये' इन प्रिय वचनों को कहकर राजा दशरथ को उठाकर बैठाया। सीताजी सहित दोनों पुत्रों को देखकर राजा बहुत व्याकुल हुए ॥ ४ ॥

दो०—सीयसहित सुत सुभग दोउ देखि देखि अकुलाइ।
बारहिं बार सनेहबस राउ लेइ उर लाइ॥७७॥

राजा दशरथ फिर सीता सहित दोनों सुन्दर पुत्रों को देख देखकर घबराते हैं और मारे स्नेह के उन्हें बारम्बार छाती से लगा लेते हैं ॥ ७७ ॥

चौ०—सकइ न बोलि बिकल नरनाहू। सोकजनित उर दारुन दाहू॥
नाइ सीसु पद अतिअनुरागा। उठि रघुबीर बिदा तब माँगा॥१॥

मारे बेचैनी के राजा कुछ बोल नहीं सकते, हृदय में शोक से उत्पन्न कठोर दाह हो रहा है। तब रामचन्द्रजी ने बड़े प्रेम के साथ उनके चरणों में सिर नवाकर और खड़े होकर बिदा माँगी॥ १॥

पितु असीस आयसु मोहि दीजै। हरषसमय बिसमउ कत कीजै॥
तात किये प्रिय प्रेमप्रमादू। जसु जग जाइ होइ अपबादू॥२॥

उन्होंने कहा—हे पिता जी! मुझे आशीर्वाद और वन जाने की आज्ञा दीजिए। आप आनन्द के समय दुःख किस लिए कर रहे हैं? हे प्यारे पिता जी! जो प्रेम के मोह में आप इस समय अपने मन की करेंगे तो संसार में आपका यश नष्ट हो जायगा और निन्दा होगी॥ २॥

सुनि सनेहबस उठि नरनाहा। बैठारे रघुपति गहि बाँहा॥
सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम चराचरनायकु अहहीं॥३॥

राजा दशरथ ने यह सुनकर स्नेह के वश उठकर रामचन्द्रजी को बाँह पकड़कर बैठा लिया और वे कहने लगे—हे पुत्र! सुनो, तुमको मुनिजन ऐसा कहते हैं कि राम तो चराचर (स्थावर-जङ्गम) के मालिक हैं॥ ३॥

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देइ फलु हृदय बिचारी॥
करइ जो करमु पाव फलु सोई। निगम नीति असि कह सबु कोई॥४॥

जैसे जिसके शुभ या अशुभ कर्म होते हैं उन्हीं के अनुसार हृदय में विचारकर ईश्वर फल देते हैं। जो कर्म करता है वही उसका फल भोगता है, ऐसी ही शास्त्र की नीति है और ऐसा ही सब कोई कहते हैं॥ ४॥

दो०—अउर करइ अपराध कोउ अउर पाव फल भोगु।
अति बिचित्र भगवंतगति को जग जानइ जोगु॥७८॥

पर अपराध तो कोई और करे और उसके फल का भोग और ही कोई भोगे, यह बड़ी ही विचित्र ईश्वर की गति है। उसको जानने के योग्य जगत् में कौन है?॥ ७८॥

चौ०—राय रामराखन हित लागी। बहुत उपाय किये छलु त्यागी॥
लखा रामरुख रहत न जाने। धरम-धुरंधर धीर सयाने॥१॥

राजा ने रामचन्द्रजी को रख लेने के लिए निश्छल भाव से बहुत से उपाय किये, पर अन्त में उनका रुख देखा तो यह निश्चय हो गया कि ये धर्म के धुरंधर, धीर और चतुर हैं, इसलिए किसी तरह न रह सकेंगे ॥ १ ॥

तब नृप सीय लाइ उर लीन्हो । अतिहित बहुत भाँति सिख दीन्ही ॥
कहि बन के दुख दुसह सुनाये । सासु ससुर पितु सुख समुझाये ॥२॥

तब तो राजा ने सीताजी को हृदय से लगा लिया और बड़े प्रेम से उन्हें बहुत तरह की सीख दी। उन्हें वन के कठिन दुःख सुनाये और सासु-ससुर तथा पिता के सुखों को भी समझाया ॥ २ ॥

सियमनु रामचरन अनुरागा । घरु न सुगमु बन बिषमु न लागा ॥
अउरउ सबहि सीय समुझाई । कहि कहि बिपिन बिपति अधिकाई ॥३॥

सीताजी के मन में रामचन्द्रजी के चरणों से प्रेम था इसलिए न उन्हें घर का रहना सुखद या सहज मालूम हुआ और न वन का जाना कठिन। फिर और और लोगों ने भी वन की भारी विपत्तियों को बताकर समझाया ॥ ३ ॥

सचिवनारि गुरनारि सयानी । सहित सनेह कहहिँ मृदुबानी ॥
तुम्ह कहँ तौ न दीन्ह बनबासू । करहु जो कहहिँ ससुर-गुर-सासू ॥४॥

मन्त्री की स्त्री और गुरु की चतुर स्त्रियाँ स्नेह के साथ कोमल वाणी से कहने लगीं—तुमको तो सासु-ससुर ने वनवास नहीं दिया है, इसलिए सास-ससुर और बड़े लोग जो कुछ कहें वही तुम करो ॥ ४ ॥

दो०—सिख सीतलि हित मधुर मृदु सुनि सीतहि न सोहानि ।
सरद - चंद - चंदिनि लगत जनु चकई अकुलानि ॥७९॥

सीताजी को वह शीतल, हितकारी, मीठी और कोमल सीख सुनकर नहीं सुहाई। जैसे चकई शरदकाल के चन्द्र की चाँदनी लगते ही व्याकुल हो जाती है वैसे ही सीताजी भी व्याकुल हो गईं ॥ ७९ ॥

चौ०—सीय सकुचबस उतरु न देई । सो सुनि तमकि उठी कैकेई ॥
मुनि-पट-भूषन-भाजन आनी । आगे धरि बोली मृदुबानी ॥१॥

सीताजी ने संकोच के वश होकर कुछ उत्तर न दिया। ये बातें सुनकर केकयी झपाटे के साथ उठी और उसने मुनियों के कपड़े, गहने और बर्तन लाकर आगे रख दिये और फिर कोमल वाणी से बोली—॥ १ ॥

नृपहिँ प्रानप्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाँडिहि भोरा॥
सुकृतु सुजसु परलोकु नसाऊ। तुम्हहिँ जान बन कहिहि न काऊ॥२॥

हे रघुवीर! तुम राजा को प्राण के समान प्यारे हो, इसलिए वे भीरु तुम्हारा शील और स्नेह नहीं छोड़ेंगे। चाहे पुण्य, शुद्ध यश और परलोक ये सभी बिगड़ जायँ पर तुमको वन जाने के लिए वे कभी न कहेंगे॥ २॥

अस बिचारि सोइ करहु जो भावा। राम जननिसिख सुनि सुखु पावा॥
भूपहि बचन बानसम लागे। करहिँ न प्रान पयान अभागे॥३॥

ऐसा विचारकर जो तुम्हें अच्छा लगे वही करो। माता केकयी की यह शिक्षा सुनकर रामचन्द्रजी ने बड़ा ही सुख पाया। केकयी के वे ही वचन राजा को बाण के समान लगे और वे कहने लगे कि हाय! ये अभागे प्राण अब भी नहीं निकलते!॥ ३॥

लोग बिकल मुरछित नरनाहू। काह करिय कछु सूझ न काहू॥
राम तुरत मुनिबेषु बनाई। चले जनक जननिहिँ सिरु नाई॥४॥

राजा तो मूर्छित (बेहोश) हो गये और सब लोग व्याकुल हो गये। क्या करें क्या न करें? किसी को कुछ सूझ नहीं पड़ता। रामचन्द्रजी तुरन्त मुनि का वेष बनाकर और पिता-माता को सिर झुकाकर चल पड़े॥ ४॥

दो०—सजि बन-साजु-समाजु सबु बनिता-बंधु-समेत।
बंदि बिप्र-गुर-चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत॥८०॥

रामचन्द्रजी स्त्री और भाई सहित सब वन की सामग्री सजकर ब्राह्मणों और गुरु (बड़े) जनों के चरणों में वन्दनाकर सबको अचेत छोड़ कर चले॥ ८०॥

चौ०—निकसि बसिष्ठद्वार भये ठाढे। देखे लोग बिरहदव दाढे॥
कहि प्रियबचन सकल समुझाये। बिप्रबृंद रघुबीर बोलाये॥१॥

रामचन्द्रजी राजमहल से निकलकर वसिष्ठजी के दरवाज़े पर खड़े हुए। उन्होंने देखा कि सब लोग विरहरूपी आग में जल रहे हैं। उन्होंने प्यारे वचन कहकर सबको समझाया, फिर ब्राह्मणों की मण्डली को बुलाया॥ १॥

गुरु सन कहि बरषासन दीन्हे। आदर दान बिनयबस कीन्हे॥
जाचक दान मान संतोषे। मीत पुनीत प्रेम परितोषे॥२॥

गुरुजी से कहकर उन ब्राह्मणों को उन्होंने वर्षा के लिए भोजन दिया और आदर, दान तथा विनय से उन्हें प्रसन्न किया। फिर माँगनेवालों को दान और मान से तथा मित्रों को पवित्र प्रीति से सन्तुष्ट किया॥ २॥

साजि बन-साजु-समाजु सबु बनिता बंधु-समेत ।
बंदि बिप्र-गुर-चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत ॥—पृष्ठ ४२२
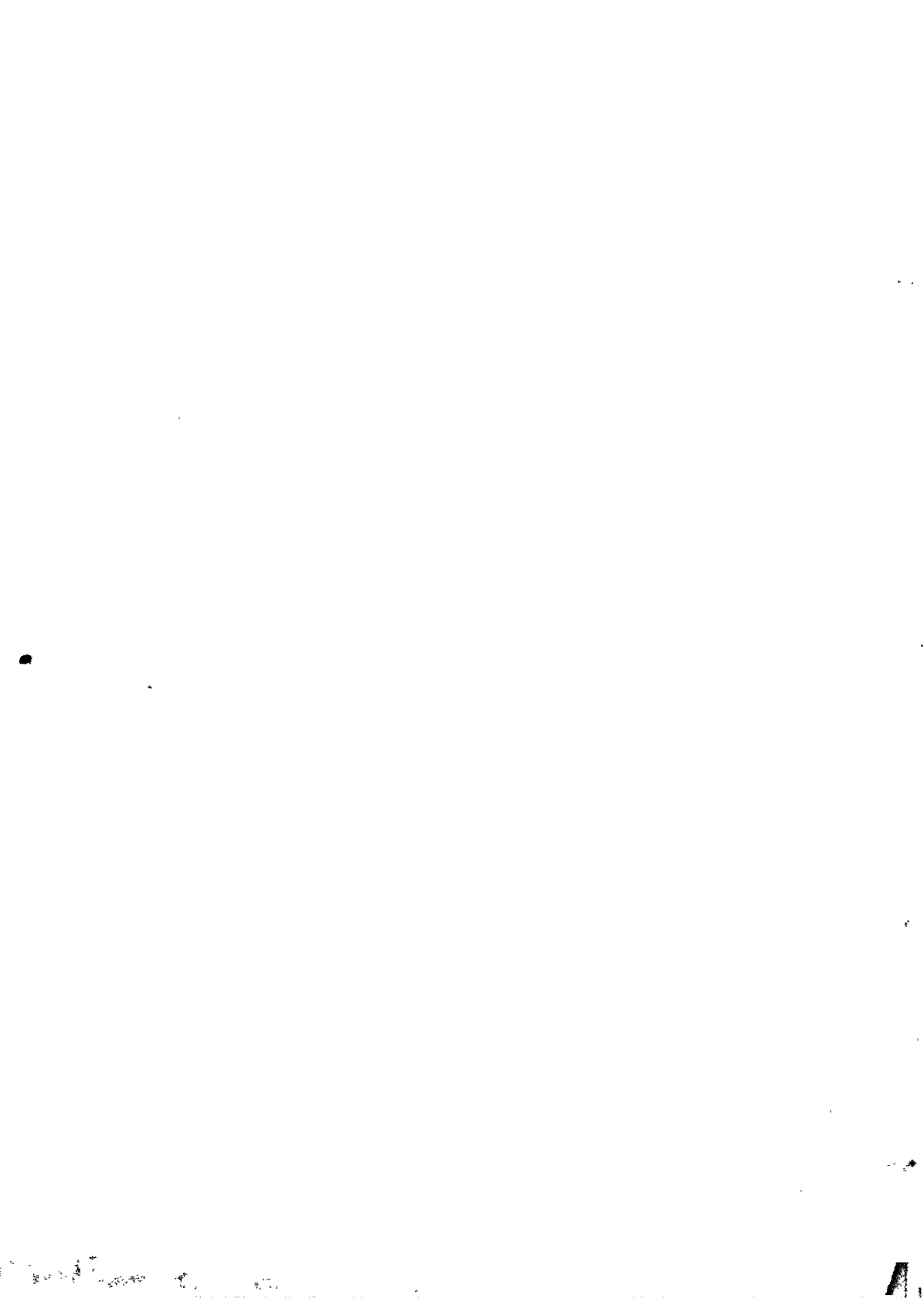
दासी दास बोलाइ बहोरी । गुरुहि सौंपि बोले कर जोरी ॥
सब के सार सँभार गोसाईं । करबि जनक जननी की नाईं ॥३॥

फिर रामचन्द्रजी ने अपने दास-दासियों को बुलाकर उनको गुरुजी को सौंपकर हाथ जोड़कर कहा—हे गुसाईं ! आप इन सबकी देख-भाल और सँभाल माता-पिता के समान करना ॥ ३ ॥

बारहिं बार जोरि जुग पानी । कहत रामु सब सन मृदुबानी ॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी । जेहितें रहइ भुआल सुखारी ॥४॥

रामचन्द्रजी बारंबार दोनों हाथ जोड़कर सबसे नम्रता के साथ वचन कहने लगे कि मेरा सब तरह से हितकारी मित्र वही होगा जो महाराज को प्रसन्न रख सकेगा ॥ ४ ॥

दो०—मातु सकल मोरे बिरह जेहि न होहिं दुख दीन ।
सोइ उपाउ तुम्ह करेहु सब पुरजन परम प्रबीन ॥८१॥

हे पुर-वासी सज्जनो ! तुम सब बड़े चतुर हो, इसलिए तुम लोग वही उपाय करना जिसमें मेरी सभी मातायें मेरे विरह में दुखी और उदास न हों ॥ ८१ ॥

चौ०—एहि बिधि राम सबहिँ समुझावा । गुर-पद-पदुम हरषि सिरु नावा ॥
गनपति गौरि गिरीस मनाई । चले असीस पाइ रघुराई ॥१॥

रामचन्द्रजी ने इस तरह सबको समझाया । फिर गुरुजी के चरण-कमलों में प्रणाम किया और गणपति पार्वती और महादेव को मनाकर तथा आशीर्वाद पाकर वे चले ॥ १ ॥

रामु चलत अति भयउ बिषादू । सुनि न जाइ पुर आरतनादू ॥
कुसगुन लंक अवध अति सोकू । हरष-बिषाद-बिबस सुरलोकू ॥२॥

रामचन्द्रजी के चलते ही बड़ा भारी दुःख हुआ । पुरी भर में भयङ्कर शब्द (हाहाकार) हो गया, जो सुना नहीं जाता था । उसी समय लङ्का में अपशकुन हुए, अयोध्या में अत्यन्त शोक छा गया और स्वर्गलोकवासी (देवता) आनन्द और दुःख दोनों के वश में हो गये। अर्थात् वे रामवनवास और पुरी का दुख देखकर तो दुखी और भविष्य में राक्षसवधरूपी अपनी कार्य-सिद्धि से प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

गइ मुरुछा तब भूपति जागे । बोलि सुमंत्रु कहन अस लागे ॥
रामु चले बन प्रान न जाहीं । केहि सुख लागि रहत तन माहीं ॥३॥

जब मूर्च्छा दूर हुई तब राजा जागे और सुमन्त्र को बुलाकर ऐसा कहने लगे—देखो, राम तो वन को चले पर मेरे प्राण नहीं जाते । ये कौन से सुख के लिए शरीर में ठहरे हुए हैं ॥ ३ ॥

एहि तें कवन व्यथा बलवाना। जो दुखु पाइ तजिहि तनु प्राना ॥
पुनि धरि धीर कहइ नरनाहू। लेइ रथु संग सखा तुम्ह जाहू ॥४॥

इससे भी अधिक बलवान् और कौनसी पीड़ा होगी जिससे दुःख पाकर प्राण शरीर को छोड़ेंगे ? फिर धीरज धरकर राजा ने कहा—हे सखा ! तुम रथ लेकर राम के साथ जाओ ॥ ४ ॥

दो०—सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनकसुता सुकुमारि।
रथ चढाइ देखराइ बनु फिरेहु गये दिन चारि ॥८२॥

अत्यन्त सुकुमार दोनों भाई हैं और जानकी भी सुकुमारी हैं, इसलिए उन्हें रथ में चढ़ा इधर-उधर वन दिखाकर दो-चार दिन के बाद लौट आना ॥ ८२ ॥

चौ०—जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढब्रत रघुराई ॥
तौ तुम्ह विनय करेहु कर जोरी। फेरिय प्रभु मिथिलेसकिसोरी ॥१॥

यदि दोनों धीर भाई न लौटें, क्योंकि वे सत्य प्रतिज्ञावाले और दृढ़ नियमवाले हैं, तो तुम हाथ जोड़कर प्रार्थना करना कि हे स्वामी ! श्रीजनकसुताजी को तो लौटा दीजिए ॥ १ ॥

जब सिय कानन देखि डेराई। कहेहु मोरि सिख अवसर पाई ॥
सासु ससुर अस कहेउ सँदेसू। पुत्रि फिरिय बन बहुत कलेसू ॥२॥

जब सीता वन देखकर डरें तब अवसर पाकर मेरी दी हुई सीख उनसे कहना कि हे बेटी ! सासु और ससुर ने यह सँदेशा कहलाया है कि तुम अयोध्या को लौट चलो, क्योंकि वन में बड़े भारी कष्ट हैं ॥ २ ॥

पितुगृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी ॥
एहि बिधि करेहु उपायकदंबा। फिरइ त होइ प्रानअवलंबा ॥३॥

कभी पिता के घर (नैहर में), कभी ससुर के घर जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहीं रहना। इसी तरह तुम बहुत-से उपाय करना। जो सीता लौट आवेंगी तो मेरे प्राणों को सहारा होगा ॥ ३ ॥

नाहिँ त मोर मरनु परिनामा। कछु न बसाइ भये बिधि बामा ॥
अस कहि मुरुछि परा महिराऊ। राम लषनु सिय आनि देखाऊ ॥४॥

नहीं तो अन्त में तो मेरा मरना निश्चित ही है। विधाता के विपरीत होने पर कुछ बस नहीं चलता। इतना कहकर फिर यह कहते कहते राजा मूर्छित हो गये कि राम, लक्ष्मण और सीता को लाकर मुझे दिखाओ ॥ ४ ॥

दो०—पाइ रजायस नाइ सिरु रथु अतिबेग बनाइ ।
गयउ जहाँ बाहर नगर सीयसहित दोउ भाइ ॥८३॥

सुमन्त्र राजा की आज्ञा पाकर, उन्हें प्रणाम कर और बड़ी जल्दी रथ तैयार कर नगर के बाहर वहाँ गया जहाँ सीता समेत दोनों भाई थे ॥ ८३ ॥

चौ०—तब सुमंत्र नृपबचन सुनाये । करि बिनती रथ रामु चढाये ॥
चढि रथ सीयसहित दोउ भाई । चले हृदय अवधहि सिरु नाई ॥१॥

तब राजा के वचन सुमन्त्र ने सुना दिये और प्रार्थना करके रामचन्द्रजी को रथ पर चढ़ाया । सीता समेत दोनों भाई रथ पर चढ़कर मन में अयोध्या को प्रणाम करके चले ॥ १ ॥

चलत रामु लखि अवध अनाथा । बिकल लोग सब लागे साथा ॥
कृपासिंधु बहुबिधि समुझावहिँ । फिरहिँ प्रेमबस पुनि फिरि आवहिँ ॥२॥

रामचन्द्रजी के चलते ही अयोध्या को अनाथ हुई जानकर सब लोग व्याकुल होकर रामचन्द्रजी के साथ हो गये । कृपासागर रामचन्द्रजी बहुत तरह से उनको समझाते हैं और वे लौटने लगते हैं, पर प्रेम के वश कुछ दूर लौटकर फिर उलटे आकर साथ हो जाते हैं ॥ २ ॥

लागति अवध भयावन भारी । मानहुँ कालराति अँधियारी ॥
घोर जंतुसम पुर-नर-नारी । डरपहिँ एकहिँ एक निहारी ॥३॥

अयोध्या बहुत डरावनी लगती है मानों उस पर कालरात्रि की अँधेरी छाई हो । नगर के स्त्री-पुरुष डरावने जन्तुओं से लगते हैं । वे एक दूसरे को देख देख डरते हैं ॥ ३ ॥

घर मसान परिजन जनु भूता । सुत हित मीतु मनहुँ जमदूता ॥
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीँ । सरित सरोबर देखि न जाहीँ ॥४॥

सबके घर मानों श्मशान हैं, कुटुम्बी लोग मानों भूत हैं और पुत्र मित्र आदिक मानों यमराज के दूत हैं । बगीचों में वृक्ष और बेलें कुम्हला गईं, नदी और तालाबों की ओर तो किसी से देखा भी नहीं जाता था ॥ ४ ॥

दो०—हय गय कोटिन्ह केलिमृग पुर-पसु चातक मोर ।
पिक रथांग सुक सारिका सारस हंस चकोर ॥८४॥

घोड़े, हाथी, क्रीड़ामृग (पाले हुए हिरन), नगर के पशु, पपीहा, मोर, कोयल, चकवा, तोता, मैना, सारस, हंस और चकोर आदि करोड़ों जीव ॥ ८४ ॥

चौ०—रामबियोग बिकल सब ठाढे। जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढे॥
नगरु सकल बनु गहबर भारी। खग मृग बिपुल सकल नरनारी॥१॥

सब रामचन्द्रजी के वियोग में विह्वल जहाँ के तहाँ ऐसे खड़े रह गये मानों चितेरे ने चित्र में लिखकर उन्हें खड़ा कर दिया हो। सारा नगर ही मानों बड़ा भयङ्कर वन हो गया और उसके निवासी स्त्री-पुरुष ही वन के पशु-पत्ती हो गये॥ १॥

बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही॥
सहि न सके रघु-बर-बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥२॥

विधाता ने इस वन को जलाने के लिए केकयी को भीलनी बनाया जिसने दसों दिशाओं में दुःसह आग लगा दी। रामचन्द्रजी को विरह-अग्नि को कोई भी न सह सका, सब लोग घबरकर भाग खड़े हुए॥ २॥

सबहिँ बिचारु कीन्ह मन माहीँ। राम लषनु सिय बिनु सुख नाहीँ॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिँ काजू॥३॥

सबने मन में सोच लिया कि राम, लक्ष्मण और सीता बिना सुख नहीं, इसलिए जहाँ राम तहाँ हम सब। रामचन्द्र के बिना हमारा अयोध्या में कुछ काम नहीं है॥ ३॥

चले साथ अस मंत्रु दृढाई। सुरदुर्लभ सुखसदन बिहाई॥
राम-चरन-पंकज प्रिय जिन्हहीँ। बिषयभोग बस करहिँ कि तिन्हहीँ॥४॥

बस ऐसी सलाह को पक्का करके देवताओं को भी दुर्लभ ऐसे घर के सुखों को छोड़कर सब लोग रामचन्द्रजी के साथ चल पड़े। जिनको रामचन्द्रजी के चरण-कमल प्यारे हैं, उन्हें क्या कभी संसारी सुख अपने वश में कर सकते हैं?॥ ४॥

दो०—बालक बृद्ध बिहाय गृह लगे लोग सब साथ।
तमसा तीर निवासु किय प्रथम दिवस रघुनाथ॥८५॥

बालकों से लगाकर बूढ़े तक सभी लोग—अथवा बालक और बुड्ढों को घर में रखकर और सभी लोग—अपने घर छोड़कर साथ हो लिये। पहले दिन श्रीरघुनाथजी ने तमसा नदी के किनारे निवास किया॥ ८५॥

चौ०—रघुपति प्रजा प्रेमबस देखी। सदय हृदय दुखु भयउ बिसेखी॥
करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई॥१॥

रामचन्द्रजी ने प्रजा को प्रेम के वश में देखा, तब उनके दयालु अन्तःकरण में बड़ा भारी दुःख हुआ। श्रीरघुनाथजी समर्थ और परम दयालु हैं, इसी से वे पराये दुःखों को तुरन्त ही समझ लेते हैं॥ १॥

कहि सप्रेम मृदुबचन सुहाये । बहुबिधि राम लोग समुझाये ॥
किये धरम उपदेस घनेरे । लोग प्रेमबस फिरहिँ न फेरे ॥२॥

रामचन्द्रजी ने प्रेम के साथ कोमल और सुहावने वचन कहकर बहुत तरह से लोगों को समझाया और बहुत-से धर्म-सम्बन्धी उपदेश दिये पर लोग प्रेम के वश लौटाने से नहीं लौटते थे ॥ २ ॥

सील सनेहु छाडि नहिँ जाई । असमंजसबस भे रघुराई ॥
लोग सोग - स्रम - बस गये सोई । कछुक देवमाया मति मोई ॥३॥

रामचन्द्रजी से शील और स्नेह छोड़े नहीं जाते। इसलिए वे बड़ी दुविधा में पड़ गये। क्योंकि लोगों को न साथ ही लेते बनता है, न वे समझाने से फिरते ही हैं। शोक और परिश्रम से थके हुए लोग सो गये और कुछ देवताओं की माया ने भी उनकी बुद्धि को मोह लिया ॥ ३ ॥

जबहिँ जामजुग जामिनि बीती । राम सचिव सन कहेउ सप्रीती ॥
खोजु मारि रथ हाँकहु ताता । आन उपाय बनिहि नहिँ बाता ॥४॥

जब दो पहर रात बीत गई तब (अर्ध रात्रि में) रामचन्द्रजी ने मन्त्री से प्रीति के साथ कहा कि हे तात ! यहाँ से रथ को इस रीति से हाँक ले चलो कि उसका निशान न पड़े। और किसी उपाय से बात नहीं बनेगी ॥ ४ ॥

दो०—राम लषन सिय जान चढि संभुचरन सिरु नाइ ।
सचिव चलायउ तुरत रथु इत उत खोज दुराइ ॥८६॥

फिर राम, लक्ष्मण और सीताजी शिवजी के चरणों को प्रणाम कर रथ पर सवार हुए। तुरन्त ही मन्त्री ने रथ के चिह्नों को इधर उधर छिपाकर उसे हाँक दिया ॥ ८६ ॥

चौ०—जागे सकल लोग भये भोरू । गे रघुनाथ भयउ अति सोरू ॥
रथ कर खोज कतहुँ नहिँ पावहिँ । राम राम कहि चहुँ दिसि धावहिँ ॥१॥

सवेरा होते ही लोग जागे। 'रामचन्द्रजी तो चले गये' इसका बड़ा भारी शोर मच गया। ढूँढ़ने पर रथ का चिह्न कहीं नहीं मिला अर्थात् यह पता न लग सका कि रथ किधर गया है। इसलिए वे सब राम राम कहते हुए चारों ओर दौड़ने लगे ॥ १ ॥

मनहुँ बारिनिधि बूड जहाजू । भयउ बिकल बड बनिकसमाजू ॥
एकहिँ एक देहिँ उपदेसू । तजे राम हम जानि कलेसू ॥२॥

उस समय की उन सबकी घबराहट ऐसी हुई जैसे समुद्र के भीतर किसी बड़े भारी जहाज के डूब जाने से उसके मालिक व्यापारियों का समूह घबरावे। वे एक दूसरे से कहने लगे कि रामचन्द्रजी ने हम लोगों के क्लेश का विचार करके छोड़ दिया ॥ २ ॥

निंदहिं आपु सराहहिँ मीना। धिक जीवन रघु-बीर-बिहीना॥
जौँ पै प्रियबियोगु बिधि कीन्हा। तौ कस मरनु न माँगे दीन्हा॥३॥

वे सब लोग अपनी निन्दा करते हुए मछलियों की प्रशंसा करने लगे (क्योंकि मछली पानी बिना मर जाती है पर वे लोग राम बिना मर नहीं गये)। वे कहने लगे कि रघुवीर के बिना हमारे जीने को धिक्कार है। यदि विधाता ने प्यारे (राम) का वियोग ही दिया तो वह अब हमें माँगने पर मृत्यु क्यों नहीं दे देता? ॥ ३ ॥

एहि बिधि करत प्रलापकलापा। आये अवध भरे परितापा॥
बिषमबियोग न जाइ बखाना। अवधिआस सब राखहिँ प्राना॥४॥

इसी तरह विलाप में बकते और सन्ताप में भरे हुए वे लोग अयोध्या में आये। उन लोगों का कठिन वियोग कहते नहीं बनता। सब लोग वनवास से लौट आने की अवधि की आशा से प्राण रक्खे हुए हैं॥ ४॥

दो०—राम-दरस-हित नेम ब्रत लगे करन नरनारि।
मनहुँ कोक कोकी कमल दीन बिहीन तमारि॥८७॥

सब स्त्री-पुरुष रामचन्द्रजी का दर्शन मिलने के उद्देश से नियम और व्रत करने लगे और ऐसे दीन हो गये जैसे चकवा-चकवी और कमल सूर्य के बिना हो जाते हैं॥ ८७॥

चौ०—सीता-सचिव-सहित दोउ भाई। सृंगबेरपुर पहुँचे जाई॥
उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरखु बिसेखी॥१॥

उधर राम-लक्ष्मण दोनों भाई सीता और मन्त्री सहित शृङ्गवेरपुर जा पहुँचे। रामचन्द्रजी वहाँ गंगाजी को देखकर उतर पड़े और उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से गंगाजी को दण्डवत् प्रणाम किया॥ १॥

लषन सचिव सिय किये प्रनामा। सबहिँ सहित सुख पायउ रामा॥
गंग सकल-मुद - मंगल - मूला। सब सुखकरनि हरनि सब सूला॥२॥

फिर लक्ष्मण, मन्त्री और सीताजी ने भी प्रणाम किया। रामचन्द्रजी ने सबके साथ सुख पाया। गंगाजी सम्पूर्ण आनन्द-मंगल की मूल हैं और सब सुखों की करनेवाली तथा सब शूलों (दुःखों) की मिटानेवाली हैं॥ २॥

कहि कहि कोटिक कथाप्रसंगा। रामु बिलोकहिँ गंगतरंगा॥
सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई। बिबुध-नदी-महिमा अधिकाई॥३॥

श्रीरामचन्द्रजी अनेक प्रकार की कथाओं को कहते हुए श्रीगंगाजी की तरङ्गों को देखने लगे। उन्होंने देव-नदी श्रीगंगाजी की बड़ी महिमा मन्त्री, लक्ष्मण और सीताजी को सुनाई॥ ३॥

मज्जनु कीन्ह पंथस्रमु गयऊ। सुचि जलु पियतु मुदित मनु भयऊ॥
सुमिरत जाहि मिटइ स्रमु भारू। तेहि स्रमु यह लौकिक ब्यवहारू॥४॥

फिर सबने स्नान किया, उससे रास्ते की थकावट दूर हो गई और शुद्ध जल पीते ही मन प्रसन्न हो गया। तुलसीदासजी कहते हैं कि जिन श्रीराम के स्मरणमात्र करने से सारे सांसारिक श्रम मिट जाते हैं उनके लिए श्रम का होना मिटना आदि कहना केवल लौकिक व्यवहार ही के लिए है॥ ४॥

दो०—सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानु-कुल-केतु।
चरित करत नरअनुहरत संसृति-सागर-सेतु॥८८॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र तो शुद्ध, सत्, चित, आनन्द-कन्द परमात्मा हैं। वे सूर्यवंश के ध्वजारूप इस जगह मनुष्यों के अनुसार चरित्र कर आदर्श दिखाते हैं। वे वास्तव में संसाररूपी समुद्र के सेतु हैं॥ ८८॥

चौ०—यह सुधि गुह निषाद जब पाई। मुदित लिये प्रिय बंधु बोलाई॥
लिय फल मूल भेट भरि भारा। मिलन चलेउ हिय हरषु अपारा॥१॥

गुह निषाद ने जब यह ख़बर पाई तब उसने प्रसन्न होकर अपने भाई-बन्धुओं को बुला लिया। और भेट में देने के लिए अनेक फल-मूल से भरे बहँगे साथ लिये मन में अपार आनन्द से भरकर वह मिलने चला॥ १॥

करि दंडवत भेँट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे॥
सहज-सनेह-बिबस रघुराई। पूछी कुसल निकट बैठाई॥२॥

दंडवत करके और रामचन्द्रजी के सम्मुख भेट रखकर वह बड़े प्रेम के साथ उनकी ओर देखने लगा। रघुनाथजी ने स्वाभाविक स्नेह के वश हो गुह को अपने पास बैठाकर उससे कुशल पूछी॥ २॥

नाथ कुसल पदपंकज देखे। भयउँ भागभाजन जन लेखे॥
देव धरनि-धनु-धाम तुम्हारा। मैँ जन नीच सहित परिवारा॥३॥

गुह ने उत्तर में कहा—हे नाथ! आपके चरण-कमलों के दर्शन से कुशल है, आज मैं लोगों की समझ में भाग्यवान् हुआ। हे स्वामी! यह पृथ्वी, धन और घर सब आपका है, मैं तो परिवार सहित आपका नीच दास हूँ॥ ३॥

कृपा करिय पुर धारिय पाऊ। थापिय जन सबु लोगु सिहाऊ॥
कहेहु सत्य सब सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयसु आना॥४॥

हे नाथ! दास पर कृपा कीजिए और पुर (शृंगवेरपुर) में चरण रखिए। मुझे अपना दास बनाइए जिसमें सब लोग मुझसे ईर्ष्या करें (भाग्य के कारण)। रामचन्द्रजी ने कहा— हे चतुर मित्र! यह तो तुमने सत्य कहा पर मुझे पिताजी ने और ही आज्ञा दी है॥ ४॥

दो०—बरष चारिदस बासु बन मुनि-ब्रतु-बेषु-अहारु।
ग्रामुबास नहिं उचित सुनि गुहहि भयउ दुखभारु॥८९॥

मेरे लिए चौदह वर्ष तक वन का निवास, मुनियों का व्रत (नियम), उन्हीं का वेष और उन्हीं का आहार करना है। ऐसी दशा में गाँव के भीतर बसना योग्य नहीं है। यह सुनकर गुह को भारी दुःख हुआ॥ ८९॥

चौ०—राम-लषन-सिय-रूपु निहारी। कहहिं सप्रेम ग्राम-नर-नारी॥
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठये बन बालक ऐसे॥१॥

राम-लक्ष्मण और सीता के रूप को देखकर गाँव के नर-नारी प्रेम के साथ कहने लगे कि हे सखि! वे कैसे माता-पिता हैं जिन्होंने ऐसे पुत्रों को वन में भेज दिया!॥ १॥

एक कहहिं भल भूपति कीन्हा। लोयनलाहु हमहिं बिधि दीन्हा॥
तब निषादपति उर अनुमाना। तरु सिसुपा मनोहर जाना॥२॥

कोई कहने लगे—राजा ने अच्छा किया जिससे विधाता ने हमें भी नेत्रों का लाभ दे दिया। उस समय निषादों के राजा गुह ने मन में अनुमान (अन्दाज) किया तो एक सीसम या अशोक का पेड़ (निवास के योग्य) मनोहर समझा॥ २॥

लेइ रघुनाथहि ठाउँ देखावा। कहेउ राम सब भाँति सुहावा॥
पुरजन करि जोहारु घर आये। रघुबर संध्याकरन सिधाये॥३॥

उसने रामचन्द्रजी को साथ ले जाकर वह ठिकाना दिखाया। रामचन्द्रजी ने देखकर कहा कि ठीक है, यहाँ सब अनुकूलता है। पुर-वासी लोग जोहार (मुजरा) करके अपने घर गये और रामचन्द्रजी सन्ध्या करने चले गये॥ ३॥

गुह सवाँरि साथरी डसाई। कुस-किसलय-मय मृदुल सुहाई॥
सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि आनी॥४॥

(इधर) गुह ने कुश और कोमल पत्तों का नरम और मनोहर बिछौना तैयार करके बिछा दिया और पवित्र और मीठे फल-मूल चुनकर दोने में भर भरकर लाकर रख दिये॥ ४॥

दो०—सिय-सुमंत्र-भ्राता-सहित कंद मूल फल खाइ।
सयन कीन्ह रघु-बंस-मनि पाय पलोटत भाइ॥९०॥

रामचन्द्रजी—सीता, सुमन्त्र और भाई लक्ष्मण सहित—कन्द मूल और फल खाकर सो गये और भाई उनके चरण दबाने लगे ॥ ९० ॥

चौ०—उठे लषनु प्रभु सोवत जानी । कहि सचिवहि सोवन मृदुबानी ॥
कछुक दूरि सजि बानसरासन । जागन लगे बैठि बीरासन ॥१॥

लक्ष्मणजी ने प्रभु रामचन्द्र को सो गये जानकर कोमल वाणी से मन्त्री को सोने के लिए कहा और वे वहाँ से कुछ दूर पर, धनुष बाण ताने हुए, वीरासन से बैठकर जागने लगे अर्थात् पहरा देने लगे ॥ १ ॥

गुह बोलाइ पाहरू प्रतीती । ठावँ ठावँ राखे अति प्रीती ॥
आपु लषन पहिँ बैठेउ जाई । कटि भाथा सर चाप चढाई ॥२॥

गुह ने विश्वासपात्र पहरेदारों को बुलाकर बड़ी प्रीति से उनको जगह जगह खड़ा कर दिया। और आप कमर में तरकस बाँधकर, धनुष पर बाण चढ़ाकर, लक्ष्मणजी के निकट जा बैठा ॥ २ ॥

सोवत प्रभुहि निहारि निषादू । भयउ प्रेमबस हृदय बिषादू ॥
तनु पुलकित जल लोचन बहई । बचन सप्रेम लषन सन कहई ॥३॥

श्रीप्रभु रामचन्द्रजी को सोते हुए देखकर निषाद को प्रेम के वश बड़ा दुःख हुआ। उसका शरीर पुलकित हो गया, नेत्रों से आँसू बहने लगे। वह लक्ष्मणजी से प्रेमयुक्त वचन कहने लगा—॥ ३ ॥

भू-पति-भवन सुभाय सुहावा । सुर-पति-सदनु न पटतर पावा ॥
मनि-मय रचित चारु चौबारे । जनु रतिपति निज हाथ सवाँरे ॥४॥

हे लक्ष्मणजी ! राज-महल तो स्वभाव ही से ऐसा सुन्दर है कि उसके सामने इन्द्र का महल भी कुछ चीज नहीं। उसके चौबारे मणियों के जड़े हुए ऐसे मनोहर हैं मानें उन्हें कामदेव ने अपने ही हाथों सजाया हो ॥ ४ ॥

दो०—सुचि सुबिचित्र सु-भोग-मय सुमन सुगंध सुबास ।
पलँग मंजु मनिदीप जहँ सब बिधि सकल सुपास ॥९१॥

वह राज-भवन पवित्र, बड़ा ही विचित्र और सुन्दर भोग्य पदार्थों से भरा हुआ है। वहाँ अतर फूलों की सुगन्ध भरी हुई है, सुन्दर पलँगों के आस पास मणियों के दीप जल रहे हैं और वहाँ सब प्रकार की सभी अनुकूलता है ॥ ९१ ॥

चौ०—बिबिध बसन उपधान तुराई । छीरफेन मृदु बिसद सुहाई ॥
तहँ सियरामु सयन निसि करहीं । निज छबि रति-मनोज-मद हरहीं ॥१॥

वहाँ कई तरह के वस्त्र, गद्दो, तकिये आदि दूध के फेन के समान नरम और सफ़ेद स्वच्छ सुहावने हैं। वहाँ सीता और रामचन्द्रजी रात को सोते हैं और अपनी कांति से रति और कामदेव के मद को हरते हैं ॥ १ ॥

ते सियरामु साथरी सोये। स्रमित बसन बिनु जाहिँ न जोये॥
मातु पिता परिजन पुरबासी। सखा सुसील दास अरु दासी॥२॥

वही सीता राम आज थके हुए इस साथरी पर, जिस पर कपड़ा भी नहीं बिछा है, सोये हैं। वे देखे नहीं जाते। माता, पिता, कुटुम्बी, नगरवासी, मित्र, अच्छे स्वभाववाले दास और दासियाँ ॥ २ ॥

जोगवहिँ जिन्हहिँ प्रान की नाईँ। महि सोवत तेइ रामु गोसाईँ॥
पिता जनक जग विदित प्रभाऊ। ससुर सुरेससखा रघुराऊ॥३॥

जिन रामचन्द्रजी का रक्षण प्राणों के समान करते थे वही समर्थ रामचन्द्रजी आज पृथ्वी पर सो रहे हैं! जिनके पिता जनक, जिनका प्रभाव जगत् में प्रसिद्ध है, जिनके ससुर इन्द्र के मित्र दशरथजी हैं ॥ ३ ॥

रामचन्द्रु पति सो वैदेही। सोवत महि बिधि बाम न केही॥
सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करमु प्रधान सत्य कह लोगू॥४॥

और जिनके पति साक्षात् रामचन्द्रजी हैं, वही जानकी आज धरती पर सो रही हैं। विधाता किसको उलटा नहीं होता? क्या सीता-राम भी वन भेजने के योग्य हैं? लोगों का कहना सच है कि कर्म ही प्रधान है ॥ ४ ॥

दो०—कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपन कीन्ह।
जेहि रघुनंदन जानकिहिँ सुखअवसर दुखु दीन्ह॥९२॥

मन्द-बुद्धि केकयी ने कठोर कुटिलता की जिसने रामचन्द्र और जानकी को सुख के समय यह दुःख दिया ॥ ९२ ॥

चौ०—भइ दिन-कर-कुल-बिटप-कुठारी। कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी॥
भयउ बिषादु निषादहि भारी। रामुसीय महिसयन निहारी॥१॥

केकयी सूर्यवंशरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी हो गई। उस कुबुद्धि ने सारे संसार को दुःखी कर दिया। इस तरह राम-सीता को धरती पर सोते हुए देखकर गुह निषाद को बड़ा भारी दुःख हुआ ॥ १ ॥

बोले लषनु मधुर-मृदु-बानी। ग्यान-बिराग-भगति-रस सानी॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निजकृत करम भोग सबु भ्राता॥२॥

उस समय लक्ष्मणजी ज्ञान, वैराग्य और भक्ति रस से मिली हुई मीठी और कोमल वाणी बोले—हे भाई! कोई किसी को सुख या दुःख का देनेवाला नहीं है, सब अपने ही किये हुए कर्मों का फल भोगते हैं॥ २॥

जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जगजालू। संपति बिपति करमु अरु कालू॥३॥

संयोग (मिलना), वियोग (बिछुड़ना), अच्छा और बुरा भोग, शत्रु, मित्र और मध्यस्थ (उदासीन जो शत्रु भी नहीं मित्र भी नहीं) इत्यादि सभी भ्रम के फन्दे हैं। जन्म, मरण और जहाँ तक संसार के जाल हैं, सम्पत्ति, विपत्ति, कर्म और काल, ॥ ३॥

धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीँ। मोहमूल परमारथु नाहीँ॥४॥

धरती, घर-द्वार, धन, गाँव, कुटुम्ब, स्वर्ग, नरक आदि जहाँ तक व्यवहार हैं, जो देखे सुने और मन में माने जाते हैं वे सब मोह के कारण हैं, परमार्थ (वास्तव) में वे कुछ नहीं हैं॥ ४॥

दो०—सपने होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागे लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंचु जिय जोइ॥९३॥

जैसे स्वप्न में कोई भिखारी राजा हो जाय, या कोई कंगाल इन्द्र हो जाय, पर जागने पर न भिखारी होने की हानि है, न राजा होने का लाभ ठीक इसी तरह जीव के लिए संसार स्वप्न की अवस्था है॥ ९३॥

चौ०—अस बिचारि नहिँ कीजिय रोषू। काहुहि बादि न देइय दोषू॥
मोहनिसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥१॥

ऐसा विचार करके न तो क्रोध करना चाहिए और न किसी को व्यर्थ दोष देना चाहिए। सब लोग मोहरूपी रात में सोते हैं और उसी में अनेक प्रकार के स्वप्न देखते हैं॥ १॥

एहि जग जामिनि जागहिँ जोगी। परमारथी प्रपंचबियोगी॥
जानिय तबहिँ जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥२॥

इस जगत्‌रूपी रात्रि में योगी लोग जागते हैं जो परमार्थ (असली चीज़) की ओर ध्यान देनेवाले और प्रपंच (संसार के फैलाव) से अलग हैं, अर्थात् जो इसके फंदे में नहीं फँसते। इस जगत् में जीव को जागा हुआ तभी जानना चाहिए जब वह सभी विषय-सुख (भोग-विलासों) से विरक्त हो जाय॥ २॥

होइ बिबेकु मोहभ्रम भागा। तब रघु-नाथ-चरन अनुरागा॥
सखा परमपरमारथ एहू। मन-क्रम-बचन रामपद नेहू॥३॥

जब मनुष्य को विचार उत्पन्न होता है और मोह से उत्पन्न हुआ भ्रम नष्ट हो जाता है, तब उसको श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में प्रेम होता है। हे मित्र गुह! बड़ा परमार्थ यही है कि मन, वचन और कर्म से रामचन्द्र जी के चरणों में स्नेह हो॥ ३॥

रामु ब्रह्म परमारथरूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल-बिकार-रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिँ बेदा॥४॥

रामचन्द्रजी परमार्थरूप ब्रह्म हैं, स्थिर और व्यापक हैं, वे जानने में न आनेवाले हैं, और उनका आदि नहीं कि कब से हैं, और अनुपमेय (जिनके समान और जिनसे अधिक कोई नहीं) हैं। वे सभी विकारों से अलग और भेद से रहित हैं। वेद इनको नित्य स्वरूप निरूपण करते हुए अन्त में थक कर नेति[1] (अर्थात् परमात्मा यह नहीं इससे भी परे है) कह देते हैं॥ ४॥

दो०—भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तन सुनत मिटहिँ जगजाल॥६४॥

दयालु रामचन्द्रजी भक्त, पृथ्वी, ब्राह्मण, गौ और देवतों के हित करने के लिए मनुष्य का शरीर धारणकर हर तरह के चरित्र करते हैं, जिनको सुनने से संसार के जाल कट जाते हैं॥ ९४॥

चौ०—सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय-रघुबीर-चरन रत होहू॥
कहत रामगुन भा भिनुसारा। जागे जगमंगल दातारा॥१॥

हे मित्र! ऐसा समझकर मोह को त्यागकर सीता-रामजी के चरित्र में अनुरक्त हो जाओ। इस तरह रामचन्द्रजी के गुण वर्णन करते करते सवेरा हो गया और जगत् के आनन्द देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी जाग उठे॥ १॥

सकल सौच करि राम नहावा। सुचि सुजान बटछीर मँगावा॥
अनुजसहित सिर जटा बनाये। देखि सुमंत्र नयनजल छाये॥२॥

पवित्र और चतुर रामचन्द्रजी ने सब शौच-विधि करके स्नान किया। फिर बड़ का दूध मँगाया और छोटे भाई (लक्ष्मण) सहित उस दूध से जटाएँ बनाईं। यह देखकर सुमन्त्र की आँखों में पानी भर आया॥ २॥

हृदय दाहु अति बदन मलीना। कह कर जोरि बचन अति दीना॥
नाथ कहेउ अस कोसलनाथा। लेइ रथु जाहु राम के साथा॥३॥

उस समय सुमंत्र के हृदय में बड़ी भारी जलन थी, उसका मुँह मलिन हो गया था। वह हाथ जोड़कर बड़ी दीनता से कहने लगा—हे नाथ! मुझे कोसलनाथ (दशरथ) ने ऐसी आज्ञा दी है कि तू रथ लेकर रामचन्द्र के साथ जा॥ ३॥

१—एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः। यजु० अ० ३१।

बनु देखाइ सुरसरि अन्हवाई। आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई॥
लषनु रामु सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी॥४॥

और उन्हें वन दिखाकर तथा गङ्गाजी का स्नान कराकर दोनों भाइयों को जल्दी लौटा लाना। सब संशय और संकोच को दूर करके सीता, राम, लक्ष्मण को फिरा लाना॥ ४॥

दो०—नृप अस कहेउ गोसाइँ जस कहिय करउँ बलि सोइ।
करि बिनती पायन्ह परेउ दीन्ह बाल जिमि रोइ॥९५॥

हे स्वामी! बलि जाऊँ। महाराज ने तो ऐसा ही कहा था, फिर जैसा आप कहें वही करूँ। इस तरह प्रार्थना कर, बालक की तरह रोकर, सुमंत्र रामचन्द्रजी के चरणों में गिर पड़ा॥ ९५॥

चौ०—तात कृपा करि कीजिय सोई। जा तें अवध अनाथ न होई॥
मंत्रिहि रामु उठाइ प्रबोधा। तात धरममगु तुम्ह सबु सोधा॥१॥

और बोला कि हे तात! आप कृपा करके वही कीजिए जिसमें अयोध्या अनाथ न हो। रामचन्द्रजी ने मन्त्री को उठाकर समझाया—हे तात! तुमने तो धर्म के मार्ग सभी छान डाले हैं (तुम धर्म की सभी बात जानते हो)॥ १॥

सिवि दधीच हरिचंद नरेसा। सहे धरमहित कोटि कलेसा॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि संकट नाना॥२॥

देखो राजा शिबि[1], दधीचि[2] ऋषि और हरिश्चन्द्र[3] राजा ने धर्म के लिए करोड़ों दुःख सह लिये। इसी तरह रंतिदेव[4] राजा और बलि[5] राजा ने भी अनेक तरह के सङ्कट सहकर धर्म को धारण किया॥ २॥

धरमु न दूसर सत्यसमाना। आगम निगम पुरान बखाना॥
मैं सोइ धरमु सुलभ करि पावा। तजे तिहूँपुर अपजसु छावा॥३॥

१-२—अयोध्या काण्ड के ३० वें दोहे की चौथी चौपाई देखो।

३—अयोध्या काण्ड के ४८ वें दोहे की तीसरी चौपाई देखो।

४—राजा रतिदेव बड़े धर्मात्मा थे। वे ब्राह्मणों और भिक्षुकों का बराबर सत्कार करते थे। काल पाकर वे राज्य छोड़कर स्त्री पुत्रसहित वन को चले गये और वहाँ तपस्या करने लगे। एक समय ४८ दिन के बाद उनको थोड़ा सा अन्न मिला। उसको सिद्ध कर वे भोजन करनेवाले थे कि एक भिक्षुक वहाँ आ गया। उसने दीन वाणी से राजा से भोजन माँगा। राजा ने उसे पहले उस अन्न में से अपना भाग, फिर स्त्री का, फिर पुत्र का भी भाग दे दिया। इस पर विष्णु भगवान् ने प्रसन्न हो दर्शन दिया और उन्हें परम धाम भेज दिया।

५—अयोध्या काण्ड के ३० वें दोहे की चौथी चौपाई देखो।

वेद, शास्त्र और पुराणों में कहा है कि सत्य के समान दूसरा धर्म नहीं है। मैंने वही सत्य धर्म सुगमता से पाया है। इसके छोड़ने से तीनों लोकों में मेरा अपयश छा जायगा ॥ ३ ॥

संभावित कहुँ अपजसलाहू। मरन - कोटि - सम दारुन दाहू ॥

तुम सन तात बहुत का कहऊँ। दिये उतरु फिरि पातकु लहऊँ ॥४॥

प्रतिष्ठित या यशस्वी मनुष्य के लिए अपयश मिलना करोड़ों मृत्यु के समान कठिन दाह है। हे तात ! मैं तुमसे ज्यादा क्या कहूँ ? क्योंकि फिर उत्तर देने में भी पाप का भागी होता हूँ ॥ ४ ॥

दो०—पितुपद गहि कहि कोटि नति बिनय करबि कर जोरि।

चिंता कवनिहुँ बात कै तात करिय जनि मोरि ॥९६॥

इसलिए तुम जाकर पिताजी के चरण पकड़कर करोड़ नम्रता के साथ हाथ जोड़कर विनती करना कि हे पिताजी ! आप मेरे लिए किसी बात की चिन्ता न करें ॥ ९६ ॥

चौ०—तुम्ह पुनि पितुसम अति हित मोरे। बिनती करउँ तात कर जोरे ॥

सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारे। दुखु न पाव पितु सोच हमारे ॥१॥

तुम भी मेरे पिता के समान बड़े हितकारी हो, इसलिए हे तात ! मैं हाथ जोड़कर विनती करता हूँ कि तुम्हारा भी सब तरह से यही कर्तव्य होगा जिसमें पिताजी हम लोगों के सोच में दुःख न पावें ॥ १ ॥

सुनि रघु-नाथ-सचिव-संबादू। भयउ सपरिजन बिकल निषादू ॥

पुनि कछु लषन कही कटुबानी। प्रभु बरजेउ बड अनुचित जानी ॥२॥

इस तरह रघुनाथजी और सुमन्त्र मन्त्री का संवाद सुनकर गुह निषाद अपने कुटुम्बियों समेत व्याकुल हो गया। फिर लक्ष्मणजी ने कुछ कड़वी वाणी कही तब प्रभु रामचन्द्रजी ने बहुत ही अनुचित जानकर उनको रोक दिया ॥ २ ॥

सकुचि राम निज सपथ देवाई। लषनसँदेसु कहिय जनि जाई ॥

कह सुमंत्रु पुनि भूप सँदेसू। सहि न सकिहि सिय बिपिनकलेसू ॥३॥

रामचन्द्रजी ने बड़े संकोच में पड़कर, अपनी सौगन्द दिलाकर, सुमन्त्र से कहा कि तुम जाकर लक्ष्मण का सँदेसा न कह देना। तब फिर सुमन्त्र ने राजा का सँदेसा सुनाया कि राजा ने कहा है—सीताजी वन के दुःखों को न सह सकेंगी ॥ ३ ॥

जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबरहिँ तुम्हहिँ करनीया ॥

नतरु निपट अवलंबबिहीना। मैं न जियब जिमि जल बिनु मीना ॥४॥

इसलिए तुमको और रामचन्द्र को वही उपाय करना चाहिए जिससे सीताजी अयोध्या में लौट आवें। नहीं तो बिलकुल बिना सहारे मैं उसी तरह न जीऊँगा जिस तरह बिना पानी के मछली ॥ ४ ॥

दो०—मइके ससुरे सकल सुख जबहिँ जहाँ मनु मान।
तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपत बिहान ॥९७॥

सीताजी को मायके (पिता के घर) और ससुराल में सब सुख हैं, जब जहाँ जी चाहे वहाँ वह सुख से रहे, जब तक कि विपत्ति न दूर हो ॥ ९७ ॥

चौ०—बिनती भूप कीन्ह जेहि भाँती। आरति प्रीति न सो कहि जाती ॥
पितुसँदेसु सुनि कृपानिधाना। सियहि दीन्ह सिख कोटि बिधाना ॥१॥

हे रामचन्द्रजी ! राजा ने जिस दुःख के साथ प्रेम में भरकर बिनती की है, वह दशा मैं कह नहीं सकता। दयासागर रामचन्द्रजी ने पिता का सँदेसा सुनकर सीताजी को करोड़ों तरह से सीख दी ॥ १ ॥

सासु ससुर गुरु प्रिय परिवारू। फिरहु त सब कर मिटइ खँभारू ॥
सुनि पतिबचन कहति बैदेही। सुनहु प्रानपति परमसनेही ॥२॥

हे प्रिये ! जो तुम घर लौट जाओ तो सासु, ससुर, बड़े बूढ़े, इष्ट मित्र और कुटुम्बी सबका दुःख मिट जाय। पति के वचन सुनकर जानकीजी बोलीं—हे प्राणपति ! हे परमस्नेही ! सुनिए ॥ २ ॥

प्रभु करुनामय परमबिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेँकी ॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई ॥३॥

आप तो परम विचारवान् और दयामय हैं, ज़रा सोचिए तो कि शरीर की छाया रोकने से शरीर को छोड़कर अलग कैसे रह सकती है ? सूर्य को छोड़कर धूप कहाँ जा सकती है ? चन्द्रमा को छोड़कर चाँदनी कहाँ अलग हो सकती है ? ॥ ३ ॥

पतिहिँ प्रेममय बिनय सुनाई। कहति सचिव सन गिरा सुहाई ॥
तुम्ह पितु-ससुर-सरिस हितकारी। उतरु देउँ फिरि अनुचित भारी ॥४॥

सीताजी इस तरह पति से प्रेमभरी विनती कर फिर सुमन्त्र मन्त्री से सुहावनी वाणी कहने लगीं—हे मन्त्री ! तुम मेरे पिता और ससुर के समान हित करनेवाले हो, मैं तुमको फिर उत्तर देती हूँ, यह बहुत ही अयोग्य होता है ॥ ४ ॥

दो०—आरतिबस सनमुख भइउँ बिलगु न मानव तात।
आरज-सुत-पद-कमल बिनु बादि जहाँ लगि नात ॥९८॥

हे तात ! मैं इस विपत्ति ही के कारण तुम्हारे सम्मुख हुई हूँ, इसके लिए तुम बुरा न मानना। जगत् में जहाँ तक नाते हैं वे सब आर्यपुत्र (श्रीरामचन्द्रजी) के चरण-कमलों के बिना व्यर्थ हैं ॥ ९८ ॥

चौ०—पितु-बैभव-बिलासु मैं डीठा। नृप-मनि-मुकुट मिलत पदपीठा ॥
सुखनिधान अस पितुगृह मोरे । पिय-बिहीन मन भाव न भोरे ॥१॥

मैंने पिताजी का वैभव और सुख देखा है। उनके चरणों में बड़े बड़े राजाओं के मुकुट टकराते हैं अर्थात् सब उनके पाँव पड़ते हैं। वह सब सुखों का स्थान ऐसा पिता का घर पति के बिना मेरे मन में भूल कर भी नहीं भाता ॥ १ ॥

ससुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ ॥
आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरधसिंहासन आसनु देई ॥२॥

मेरे ससुर कोसलराज चक्रवर्ती हैं, जिनका प्रताप चौदहों लोकों में प्रकट हो रहा है, जिनको इन्द्र भी सम्मुख आकर आदर से लेते हैं और अपना आधा सिंहासन बैठने को देते हैं ॥ २ ॥

ससुर एतादृस अवधनिवासू। प्रिय परिवार मातुसम सासू ॥
बिनु रघुपति-पद-पदुम-परागा। मोहि कोउ सपनेहु सुखद न लागा ॥३॥

ऐसे तो ससुर, और अयोध्या जी का रहना, प्यारे कुटुम्बीजन, और माता के समान सासु, ये सब कुछ श्रीरामचन्द्रजी के चरण-कमल की रज बिना मुझे स्वप्न में भी सुखदायक नहीं लग सकते ॥ ३ ॥

अगम पंथ बन भूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा ॥
कोल किरात कुरंग बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रान-पति-संगा ॥४॥

और प्राण-पति के साथ रहने में कठिन रास्ते, जङ्गली भूमि, पहाड़, हाथी, सिंह, तालाब, अथाह नदियाँ, कोल, भील, हिरन, जङ्गली पक्षी ये सब सुखदायी होंगे ॥ ४ ॥

दो०—सासु ससुर सन मोरि हुँति बिनय करबि परि पाय।
मोरि सोचु जनि करिय कछु मैं बन सुखी सुभाय ॥९९॥

मेरी ओर से सासु और ससुर के पाँव पड़कर हाथ जोड़कर प्रार्थना करना। वे मेरा कुछ सोच न करें, मैं वन में स्वभाव ही से प्रसन्न हूँ ॥ ९९ ॥

चौ०—प्राननाथ प्रियदेवर साथा। बीर धुरीन धरे धनु भाथा ॥
नहिं मग स्रमु भ्रमु दुखु मन मोरे। मोहि लगि सोचु करिय जनि भोरे ॥१॥

धीरों में धुरन्धर और धनुष, तरकस लिये हुए मेरे प्राणनाथ तथा प्यारे देवर साथ हैं, इसलिए मेरे मन में न रास्ते चलने की थकावट है, न कुछ भ्रम है और न दुःख है, इसलिए भूलकर भी मेरे निमित्त सोच न करें ॥ १ ॥

सुनि सुमंत्रु सिय सीतलबानी। भयउ बिकल जनु फनि मनिहानी ॥
नयन सूझ नहिँ सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना ॥२॥

सीताजी की शीतल वाणी सुनकर सुमन्त्र विह्वल हो गया, मानों किसी साँप की मणि चली गई हो। उसे आँखों से दिखाई न दिया और कानों से कुछ सुनाई न दिया। वह बहुत घबरा गया, और कुछ कह न सका ॥ २ ॥

राम प्रबोधु कीन्ह बहु भाँती। तदपि होति नहिँ सीतल छाती ॥
जतन अनेक साथ हित कीन्हे। उचित उतर रघुनंदन दीन्हे ॥३॥

रामचन्द्रजी ने सुमन्त्र को बहुत तरह से समझाया, तो भी उसकी छाती ठंढी न हुई। फिर रामचन्द्रजी के लौट चलने के लिए मन्त्री ने प्रेम के साथ अनेक यत्न किये, पर रामचन्द्रजी ने उसको सब बातों का योग्य उत्तर दे दिया ॥ ३ ॥

मेटि जाइ नहिँ रामरजाई। कठिन करमगति कछु न बसाई ॥
राम-लषन-सिय-पद सिरु नाई। फिरेउ बनिकु जिमि मूरु गवाँई ॥४॥

रामचन्द्रजी की आज्ञा मेटी नहीं जाती, कर्म की गति कठिन है, उसके आगे किसी को कुछ नहीं चलती। अन्त में सुमन्त्र राम-लक्ष्मण और सीताजी के चरणों में प्रणाम करके इस तरह लौटा जैसे कोई व्यापारी अपना मूल-धन (पूँजी) गवाँकर लौटा हो ॥ ४ ॥

दो०—रथु हाँकेउ हय रामतन हेरि हेरि हिहिनाहिँ।
देखि निषाद बिषादबस धुनहि सीस पछिताहि ॥१००॥

सुमन्त्र ने रथ हाँका तो घोड़े रामचन्द्रजी की ओर देख देखकर हिनहिनाने लगे। यह सब देखकर गुह निषाद भी दुखी हो सिर धुन धुनकर पछताने लगा ॥ १०० ॥

चौ०—जासु वियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जीहहिँ कैसे।
बरबस राम सुमंत्रु पठाये। सुरसरितीर आपु तब आये ॥१॥

जिसके वियोग में पशुओं की यह दशा है, उसके बिना प्रजा, माता और पिता किस तरह जीयेंगे? रामचन्द्रजी ने सुमन्त्र को जैसे तैसे रवाना किया और आप गङ्गाजी के किनारे आये ॥ १ ॥

माँगी नाव न केवट आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना ॥
चरन-कमल-रज कहँ सबु कहई। मानुषकरनि मूरि कछु अहई ॥२॥

गङ्गाजी के पार जाने के लिए रामचन्द्रजी ने नाव मँगवाई तो केवट (मल्लाह) नाव नहीं लाया। वह कहने लगा—मैं तुम्हारे मर्म (भेद) को जानता हूँ। सब लोग कहते हैं कि आपके चरण-कमलों की धूल मनुष्य बना देनेवाली ओषधि है॥ २॥

छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउँ मुनिघरनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उडाई॥३॥

क्योंकि उस धूल के छूते ही एक सिला सुन्दर स्त्री हो गई, फिर महाराज! पत्थर से ज्यादा कड़ाई काठ (नाव की लकड़ी) में थोड़े ही है (जो यह मनुष्य न हो जायगी)। मेरी नाव भी किसी ऋषि की स्त्री हो जायगी (जैसे पहले गौतम की स्त्री अहल्या हो चुकी है।) तब तो डाका पड़ जायगा और मेरी नाव उड़ जायगी॥ ३॥

एहि प्रतिपालउँ सबु परिवारू। नहिँ जानउँ कछु अउर कबारू॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पदपदुम पखारन कहहू॥४॥

मैं तो इसी नाव से अपना सब कुटुम्ब पालता हूँ और कुछ कारबार नहीं जानता। इसलिए हे प्रभु! जो आप इस नाव से अवश्य पार जाना चाहें तो मुझे चरण-कमल धो लेने की आज्ञा दें॥ ४॥

छंद—पदकमल धोइ चढाइ नाव न नाथ उतराई चहउँ।
मोहि राम राउरि आन दसरथसपथ सब साँची कहउँ॥
बरु तीर मारहु लषनु पै जब लगि न पाय पखारिहउँ।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पारु उतारिहउँ॥

हे नाथ! मैं चरण-कमल धोकर अपनी नाव पर आप लोगों को चढ़ाऊँगा और नाव की उतराई कुछ नहीं चाहता। हे राम! मुझे आपकी आन (सौगंद) है और दशरथ की सौगंद है, मैं सब सच्ची कहता हूँ। मुझे चाहे लक्ष्मणजी तीर मारें, पर मैं जब तक पाँव न धो लूँगा तब तक हे नाथ! हे दयालु! मैं पार नहीं उतारूँगा।

सो०—सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुनाऐन चितइ जानकी-लषन-तन॥१०१॥

इस तरह प्रेम के सने हुए अटपटे वचन सुनकर दया-निधान रामचन्द्रजी जानकी और लक्ष्मणजी की ओर देखकर[1] हँसे॥ १०१॥

१—रामचन्द्रजी के देखने पर कई भाव लोग कहा करते हैं—(१) यह कि सीताजी को सूचित किया कि तुम्हारे पिता ने कन्या देकर हम दोनों के चरण धोये, यह मुफ़्त ही में धोना चाहता है। (२) इन चरणों के तुम दोनों सेवक हो, उन्हीं का यह भी हिस्सेदार होना चाहता है। (३) हम

चौ०—कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहि तव नाव न जाई॥
बेगि आनु जलु पाय पखारू। होत बिलंबु उतारहि पारू॥१॥

कृपासागर रामचन्द्रजी तब मुस्कुराकर बोले—अच्छा भाई! वही कर जिससे तेरी नाव न जाय। जल्दी से पानी लाकर पाँव धो ले और हमको पार उतार दे। देरी हो रही है॥ १॥

जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिँ नर भवसिंधु अपारा॥
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहि जगु किय तिहुँ पगहुँ तेँ थोरा॥२॥

एक ही बार जिनका नाम याद करने से मनुष्य संसाररूपी अथाह समुद्र के पार उतर जाते हैं और जिन्होंने तीनों लोकों को तीन डगों से भी छोटा[1] कर दिया वही दयालु, रामचन्द्रजी आज गङ्गा पार होने के लिए केवट से अनुरोध कर रहे हैं! ॥ २॥

पदनख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभुवचन मोह मति करषी॥
केवट रामुरजायसु पावा। पानि कठवता भरि लेइ आवा॥३॥

रामचन्द्रजी के चरणों के नखों को देखकर गङ्गाजी प्रसन्न हुईं, किन्तु उनके "होत बिलम्बु उतारहि पारू" इन वचनों को सुनकर मोह की ओर उनकी बुद्धि खिँच गई।[2] केवट रामचन्द्रजी की आज्ञा पाकर कठौता (लकड़ी का एक बर्तन) भरकर जल ले आया॥ ३॥

अतिआनंद उमगि अनुरागा। चरनसरोज पखारन लागा॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीँ। एहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीँ॥४॥

वह बड़े आनन्द की उमङ्ग में आकर प्रेम के साथ चरणकमल धोने लगा। उस समय सब देवता फूल बरसाकर उससे ईर्ष्या करने लगे कि इसके बराबर कोई पुण्यवान नहीं है॥ ४॥

तो केवल गुह को ही चतुर समझे थे किन्तु उसके सेवक भी चतुर हैं जो मौक़ा नहीं चूकते। (४) हमारे चरणों के ऐसे ऐसे प्रेमी हैं। (५) तुम दोनों तो एक एक चरण के उपासक हो, तुम्हारे लिए जो गति मोक्ष में होगी इसके दोनों चरणों के सेवकत्व में उससे अधिक हम क्या देंगे! इत्यादि।

१—वामन अवतार लेकर भगवान् ने बलि राजा से तीन पाँव पृथ्वी माँगी। दान का सङ्कल्प हो जाने पर पृथ्वी नापते समय वे त्रिविक्रम हो गये। उन्होंने एक ही पाँव में नीचे के सब लोक और दूसरे में ऊपर के नाप लिये। तीसरे पाँव के लिए कुछ न रहा। ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी इसका वर्णन है "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे॥ १॥"

२—गङ्गाजी को यह मोह हुआ कि रामचन्द्रजी केवट के वचनों पर क्रोधित हो यों ही मुझे लाँघ जायँ तो मैं चरणों का स्पर्श ही न कर पाऊँ। अथवा—जो जल्दी पार उतारने को कहा इसलिए उन्हें मोह हुआ कि प्रभु हमसे जल्दी अलग होना चाहते हैं। अथवा—यह समर्थ होकर भी 'बेगि उतारहि पारू' कहकर खुशामद करते हैं! यह मोह हुआ। अथवा—पाँव धोने पर नाव में बैठकर उतरेंगे जो पाँव ही से उतरते तो मैं भली भाँति कृतार्थ होती। इत्यादि।

दो०—पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥१०२॥

केवट ने चरणों को धोकर अपने कुटुम्ब सहित उस चरणोदक को पिया और इस पुण्य के प्रभाव से अपने पितरों को भवसागर के पारकर फिर प्रसन्नता के साथ वह रामचन्द्रजी को गङ्गाजी के पार ले गया॥ १०२॥

चौ०—उतरि ठाढ भये सुरसरि रेता। सीय रामु गुह लखन समेता॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिँ कछु दीन्हा॥१॥

सीताजी और रामचन्द्रजी, गुह और लक्ष्मण सहित, नाव से उतरकर गङ्गाजी की रेत (बालू) में खड़े हो गये। केवट ने भी नाव से उतरकर प्रभु को दंडवत् किया तब उन्हें सङ्कोच हुआ कि इसको कुछ उतराई नहीं दी॥ १॥

पियहिय की सिय जाननिहारी। मनिमुँदरी मन मुदित उतारी॥
कहेउ कृपाल लेहि उतराई। केवट चरन गहेउ अकुलाई॥२॥

स्वामी के मन की बात जाननेवाली जानकीजी ने अपनी मणि जड़ी हुई अँगूठी प्रसन्न-चित्त होकर उतार दी। तब दयालु रामचन्द्रजी ने कहा कि यह नाव की उतराई लो। इतना सुनते ही केवट ने व्याकुल होकर चरण पकड़ लिये॥ २॥

नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष-दुख-दारिद-दावा॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्हि बिधि बनि भलि भूरी॥३॥

केवट ने कहा—हे नाथ! आज मैंने क्या नहीं पाया? आज मेरे दोष, दुःख और दरिद्रता की आग शान्त हो गई। मैंने बहुत दिन मजदूरी की, पर विधाता ने आज पूरी मजदूरी भली भाँति मुझे दे दी॥ ३॥

अब कछु नाथ न चाहिय मोरें। दीनदयाल अनुग्रह तोरें॥
फिरती बार मोहि जोइ देवा। सो प्रसाद मैं सिर धरि लेवा॥४॥

हे नाथ! हे दीनदयाल! आपकी कृपा से अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। लौटती बार आप मुझे जो कुछ देंगे वह प्रसाद मैं माथे चढ़ाकर ले लूँगा[1]॥ ४॥

१—इस जगह भी कई कारण कहे जाते हैं—(१) यह कि रामचन्द्रजी भवसागर के केवट और यह गङ्गा का केवट है, इसलिए एक जाति होने से जातिवाले से मजूरी न लेनी चाहिए। (२) अब की बार तो उतराई न लेने की सौगन्द खा चुका, अब ले नहीं सकता, लौटती बार लूँगा। (३) अभी आप वन जाते हैं, लौटती बार अपने राज्य में लौटेंगे तभी मेरे लेने का हक़ होगा। (४) आपने मेरे पितर भव-पार किये, मैंने आपको गङ्गा पार किया, बदला चुक गया। अब फिर जब उतारूँगा तब लूँगा। (५) रामचन्द्रजी से निवेदन है कि कृपया इसी घाट से लौटिएगा। इत्यादि।

दो०—बहुतु कीन्ह प्रभु लखनु सिय नहिँ कछु केवटु लेइ ।
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ ॥१०३॥

राम-लक्ष्मण और सीताजी ने बहुत आग्रह किया, पर केवट ने जब कुछ न लिया तब दयामय रामचन्द्रजी ने उसे निर्मल भक्ति का वरदान देकर बिदा किया ॥ १०३ ॥

चौ०—तब मज्जनु करि रघुकुलनाथा । पूजि पारथिव नायउ माथा ॥
सिय सुरसरिहिं कहेउ कर जोरी । मातु मनोरथ पुरउबि मोरी ॥१॥

तब रामचन्द्रजी ने स्नान करके पार्थिव (मिट्टी की बनाई हुई शिवमूर्त्ति) की पूजा की और उसे प्रणाम किया। सीताजी ने हाथ जोड़कर गङ्गाजी से कहा—हे माता! मेरा मनोरथ पूर्ण करना ॥ १ ॥

पति-देवर-सँग कुसल बहोरी । आइ करउँ जेहि पूजा तोरी ॥
सुनि सियबिनय प्रेम-रस-सानी । भइ तब बिमल बारि बरबानी ॥२॥

ऐसी कृपा करना जिसमें मैं, पति और देवर के साथ, कुशल-पूर्वक लौट आकर तुम्हारी पूजा करूँ। सीताजी की प्रेम-रसभरी हुई प्रार्थना सुनकर गङ्गाजी के शुद्ध जल में से श्रेष्ठ वाणी हुई कि—॥ २ ॥

सुनु रघु - बीर - प्रिया बैदेही । तव प्रभाउ जग बिदित न केही ॥
लोकप होहिँ बिलोकत तोरे । तोहि सेवहिँ सब सिधि कर जोरे ॥३॥

हे रघुवीर की प्यारी जानकी! सुन। जगत् में तेरा प्रभाव किसको नहीं मालूम है? तेरे देखते (कृपाकटाक्ष पड़ते) ही लोग लोकपाल (देवता-ऐश्वर्यवान्) हो जाते हैं और सब सिद्धियाँ हाथ जोड़े हुए तेरी सेवा करती हैं ॥ ३ ॥

तुम्ह जो हमहिँ बडि बिनय सुनाई । कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई ॥
तदपि देबि मैं देवि असीसा । सफल होन हित निज बागीसा ॥४॥

तुमने जो हमें बड़ी प्रार्थना सुनाई, यह मुझ पर कृपा करके मुझे बड़ाई दी है। फिर भी हे देवि! मैं अपनी वाणी को सफल करने के लिए तुमको आशीर्वाद दूँगी ॥ ४ ॥

दो०—प्राननाथ देवरसहित कुसल कोसला आइ ।
पूजिहि सब मनकामना सुजसु रहिहि जग छाइ ॥१०४॥

तुम अपने प्राणनाथ और देवर सहित कुशलपूर्वक अयोध्या लौटोगी, तुम्हारे मन की सब कामनाएँ सिद्ध होंगी और संसार में तुम्हारा शुद्ध यश छा जायगा ॥ १०४ ॥

चौ०—गंगबचन सुनि मंगलमूला। मुदित सीय सुरसरि अनुकूला॥
तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू। सुनत सूख मुखु भा उर दाहू॥१॥

ऐसे मङ्गल के मूल श्रीगङ्गाजी के वचन सुनकर सीताजी यह जानकर प्रसन्न हुईं कि गंगाजी मुझ पर प्रसन्न हैं। फिर रघुनाथजी ने गुह से कहा कि तुम अपने घर जाओ। यह सुनते ही गुह का मुँह सूख गया और हृदय में दाह हुआ॥ १॥

दीनबचन गुह कह कर जोरी। बिनय सुनहु रघु-कुल-मनि मोरी॥
नाथ साथ रहि पंथु दिखाई। करि दिन चारि चरनसेवकाई॥२॥

गुह हाथ जोड़कर दीन वचनों से कहने लगा—हे रघुकुलमणि! मेरी प्रार्थना सुनो। हे नाथ! मैं आपके साथ रहकर आपको रास्ता दिखाकर चार दिन (कुछ दिन) चरणों की सेवा करूँगा॥ २॥

जेहि बन जाइ रहब रघुराई। परनकुटी मैं करबि सुहाई॥
तब मोहि कहँ जसि देबि रजाई। सोइ करिहउँ रघु-बीर-दोहाई॥३॥

हे रघुराई! आप जिस वन में जाकर रहेंगे, वहाँ आपके लिए पत्तों की सुन्दर कुटी (झोपड़ी) बना दूँगा। तब फिर मुझे आप जैसी आज्ञा देंगे, मैं वैसा ही करूँगा। मैं आपकी सौगंद खाकर कहता हूँ॥ ३॥

सहज सनेह राम लखि तासू। संग लीन्ह गुह हृदय हुलासू॥
पुनि गुह जाति बोलि सब लीन्हे। करि परितोषु बिदा तब कीन्हे॥४॥

रामचन्द्रजी ने उसके स्वाभाविक स्नेह को देखकर उसको साथ ले लिया। इससे गुह मन में बड़ा प्रसन्न हुआ। फिर गुह ने अपने सब जातिवालों को बुला लिया और उनको सन्तुष्ट करके बिदा किया॥ ४॥

दो०—तब गनपति सिव सुमिर प्रभु नाइ सुरसरिहिं माथ।
सखा-अनुज-सिय-सहित बन गवनु कीन्ह रघुनाथ॥१०५॥

तब प्रभु रघुनाथजी गणपति और शिवजी को स्मरण करके और गङ्गाजी को प्रणाम करके मित्र (गुह), छोटे भाई (लक्ष्मण) और सीता सहित वन को चले॥ १०५॥

चौ०—तेहि दिन भयउ बिटप तर बासू। लषन सखा सब कीन्ह सुपासू॥
प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराजु दीख प्रभु जाई॥१॥

उस दिन एक पेड़ के नीचे निवास हुआ। लक्ष्मण और मित्र गुह ने सुख का सब सामान ठीक कर दिया। सबेरे प्रातःकृत्य (शौच-दन्तधावनादि) कर प्रभु ने जाकर तीर्थराज (प्रयाग) के दर्शन किये॥ १॥

सचिव सत्य स्रद्धा प्रियनारी। माधवसरिस मीतु हितकारी ॥
चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू ॥२॥

उस तीर्थराज का सत्य तो मन्त्री है, श्रद्धा प्यारी स्त्री है, और माधवजी जैसे हितकारी मित्र हैं। उसका भांडार चार (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) पदार्थों से भरा हुआ है। पुण्यस्थान ही उसका सुन्दर देश (राज्य) है॥ २॥

छेत्रु अगमु गढ गाढु सुहावा। सपनेहुँ नहिँ प्रतिपच्छिन्ह पावा ॥
सेन सकल तीरथ बरबीरा। कलुष-अनीक-दलन रनधीरा ॥३॥

उसका क्षेत्र (फैलाव) ही ऐसा अगम, सुन्दर और मज़बूत क़िला है, जिसको शत्रु स्वप्न में भी नहीं पा सकते। सम्पूर्ण तीर्थ ही उसकी श्रेष्ठ योद्धाओं की सेना है जो पापरूपी फ़ौज को नष्ट करने में धीर है॥ ३॥

संगम सिंहासनु सुठि सोहा। छत्रु अषयबटु मुनिमन मोहा ॥
चँवर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होहिँ दुख-दारिद-भंगा ॥४॥

श्रीगङ्गा-यमुना का सङ्गम ही उसका सुन्दर सिंहासन है और मुनियों के मन को मोहित करनेवाला अक्षयवट ही उसका छत्र है। गङ्गा-यमुना की लहरें ही चँवर हैं जिनके दर्शन करते ही दुःख और दारिद्र्य का नाश हो जाता है॥ ४॥

दो०—सेवहिँ सुकृती साधु सुचि पावहिँ सब मन काम।
बंदी बेद-पुरान-गन कहहिँ बिमल गुनग्राम ॥१०६॥

पुण्यवान्, महात्मा और पवित्र लोग उसकी सेवा करते हैं और मनोवाञ्छित फल पाते हैं। वेद और पुराण ही इसके बन्दीगण हैं, जो इसके शुद्ध गुण-गणों का गान करते हैं॥ १०६॥

चौ०—को कहि सकइ प्रयागप्रभाऊ। कलुष-पुंज-कुंजर - मृग - राऊ ॥
अस तीरथपति देखि सुहावा। सुखसागर रघुबर सुख पावा ॥१॥

श्रीप्रयागराज के प्रभाव को कौन कह सकता है! वह पापों के झुंडरूपी हाथियों के लिए सिंहरूप है। ऐसे सुहावने तीर्थराज का दर्शन कर सुख के समुद्र रामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए॥ १॥

कहि सिय लषनहिँ सखहिँ सुनाई। श्रीमुख तीरथ - राज - बडाई ॥
करि प्रनामु देखत बन बागा। कहत महातम अति अनुरागा ॥२॥

रामचन्द्रजी अपने श्रीमुख से श्रीतीर्थराज की बड़ाई सीता, लक्ष्मण और गुह को सुनाकर कहने लगे और वहाँ के वन तथा बग़ीचों को देखकर बड़े प्रेम के साथ उन सबका माहात्म्य वर्णन करने लगे॥ २॥

एहि बिधि आइ बिलोकी बेनी । सुमिरत सकल सुमंगल देनी ॥
मुदित नहाइ कीन्हि सिवसेवा । पूजि जथाबिधि तीरथदेवा ॥३॥

इस तरह उन्होंने आकर त्रिवेणी का दर्शन किया । त्रिवेणी स्मरण करने से ही सभी अच्छे मङ्गल पदार्थों की देनेवाली है । वहाँ उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक स्नान कर शिवजी की पूजा की, फिर विधिपूर्वक तीर्थ-देवता का पूजन किया ॥ ३ ॥

तब प्रभु भरद्वाज पहिँ आये । करत दंडवत मुनि उर लाये ॥
मुनि-मन-मोद न कछु कहि जाई । ब्रह्मानंदरासि जनु पाई ॥४॥

इतना कृत्य करके श्रीरामजी भरद्वाज मुनि के आश्रम में आये और ज्योंही मुनि को दंडवत् करने लगे त्योंही उन्होंने रामचन्द्रजी को पकड़कर छाती से लगा लिया । मुनि के चित्त में जितना आनन्द हुआ वह कहा नहीं जा सकता । वे ऐसे प्रसन्न हुए मानों उन्हें ब्रह्मानन्द की ढेरी मिल गई हो ॥ ४ ॥

दो०—दीन्ह असीस मुनीस उर अति अनंद अस जानि ।
लोचनगोचर सुकृतफल मनहुँ किये बिधि आनि ॥१०७॥

मुनीश्वर भरद्वाज ने आशीर्वाद दिया । उनके हृदय में यह जानकर विशेष आनन्द हुआ कि आज विधाता ने मानो हमारे सारे पुण्यों का फल आँखों के सामने लाकर दिखा दिया ॥ १०७ ॥

चौ०—कुसलप्रस्न करि आसनु दीन्हे । पूजि प्रेम परिपूरन कीन्हे ॥
कंद मूल फल अंकुर नीके । दिये आनि मुनि मनहुँ अमी के ॥१॥

फिर मुनिराज ने उनसे कुशल-प्रश्न पूछकर उनको आसन दिये और उनका सत्कार करके पूरा प्रेम प्रकट किया । मुनि ने अच्छे अच्छे अमृत के समान कन्द, मूल, फल और बढ़िया अङ्कुर लाकर भेंट किये ॥ १ ॥

सीय-लषन-जन-सहित सुहाये । अति रुचि राम मूल फल खाये ॥
भये बिगतस्रम राम सुखारे । भरद्वाज मृदुबचन उचारे ॥२॥

रामचन्द्रजी ने सीता, लक्ष्मण और गुह सहित सुन्दर मूल-फल बड़ी रुचि से खाये । जब रामचन्द्रजी की थकावट दूर हुई और वे सुखी हो गये, तब भरद्वाजजी कोमल वचनों से बोले— ॥ २ ॥

आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू । आजु सुफल जपु जोगु बिरागू ॥
सुफल सकल-सुभ-साधन-साजू । राम तुम्हहि अवलोकत आजू ॥३॥

हे रामचन्द्रजी ! आज आपका दर्शन करते ही मेरा तप, तीर्थवास और संसार का त्याग सफल हुआ और जप, योग, वैराग्य भी आज ही सफल हुए, इसी तरह सब पुण्य के साधन की सामग्री सफल हो गई ॥ ३ ॥

लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥
अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद-सरसिज सहजसनेहू ॥४॥

इससे बढ़कर लाभ के लिए दूसरी अवधि नहीं है और न सुख ही के लिए इससे बढ़कर और कोई अवधि है ! आपके दर्शन ही से सब आशा परिपूर्ण हो गई। अब आप कृपाकर यह वरदान दीजिए कि आपके चरण-कमलों में मेरा स्वाभाविक स्नेह हो जाय ॥ ४ ॥

दो०—करम बचन मन छाँडि छलु जब लगि जन न तुम्हार।
तब लगि सुखु सपनेहुँ नहिँ किये कोटि उपचार ॥१०८॥

हे रामचन्द्रजी ! कर्म, मन और वचन से छल को छोड़कर जब तक मनुष्य आपका भक्त न हो जाय, तब तक उसे करोड़ उपाय करने पर भी स्वप्न में भी सुख नहीं ॥ १०८ ॥

चौ०—सुनि मुनिबचन रामु सकुचाने। भाव भगति आनंद अघाने॥
तब रघुबर मुनि सुजस सुहावा। कोटि भाँति कहि सबहिँ सुनावा॥१॥

मुनि के वचन सुनकर रामचन्द्रजी सकुचा गये, उनके भक्तिभाव से तृप्त हो गये। फिर रामचन्द्रजी ने भरद्वाज मुनि का सुहावना शुद्ध यश करोड़ों तरह से सबको कहकर सुनाया—॥ १ ॥

सो बड सो सब-गुन-गन-गेहू। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू॥
मुनि रघुबीर परसपर नवहीँ। बचन अगोचर सुखु अनुभवहीँ॥२॥

हे मुनिराज ! जिसको आप आदर दें, वही बड़ा और वही सब गुणों का स्थान हो जाता है। इस तरह रामचन्द्र और मुनि (भरद्वाजजी) दोनों परस्पर नम्रता दिखा रहे हैं और ऐसे सुख का अनुभव कर रहे हैं जिसका वर्णन मुँह से नहीं हो सकता ॥ २ ॥

यह सुधि पाइ प्रयागनिवासी। बटु तापस मुनि सिद्ध उदासी॥
भरद्वाजआस्रम सब आये। देखन दसरथसुअन सुहाये ॥३॥

जब उनके आने की खबर प्रयाग के निवासी ब्रह्मचारियों, तपस्वियों, ऋषियों, सिद्धों और उदासियों ने पाई तब वे सब लोग दशरथ के सुन्दर पुत्रों के दर्शन करने को भरद्वाजजी के आश्रम में आये ॥ ३ ॥

राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित भये लहि लोयन लाहू॥
देहिँ असीस परमसुखु पाई। फिरे सराहत सुंदरताई ॥४॥

रामचन्द्रजी ने सबको प्रणाम किया और वे सब अपने नेत्रों को सफल कर प्रसन्न हुए तथा बड़ा भारी सुख पाकर रामचन्द्रजी को आशीर्वाद देने लगे और उनकी सुन्दरता की बड़ाई करते हुए लौट कर चले गये॥ ४॥

दो०—राम कीन्ह बिस्राम निसि प्रात प्रयाग नहाइ।
चले सहित सिय लषन जन मुदित मुनिहिँ सिर नाइ॥१०६॥

रामचन्द्रजी ने रात को वहीं (आश्रम में) विश्राम किया और सबेरे सीता, लक्ष्मण और गुह सहित प्रयागराज का स्नानकर और भरद्वाज मुनि को सिर नवाकर प्रसन्नतापूर्वक चले॥ १०९॥

चौ०—राम सप्रेम कहेउ मुनि पाहीँ। नाथ कहिय हम केहि मग जाहीँ॥
मुनि मन बिहँसि राम सन कहहीँ। सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीँ॥१॥

रामचन्द्रजी ने बड़े प्रेम से मुनिजी से कहा कि हे नाथ! कहिए, हम किस मार्ग से जायँ? मुनिजी मन में हँसकर रामचन्द्रजी से कहने लगे कि आपके लिए तो सभी मार्ग सुगम हैं॥ १॥

साथ लागि मुनि सिष्य बोलाये। सुनि मन मुदित पचासक आये॥
सबन्हि राम पर प्रेम अपारा। सकल कहहिँ मगु दीख हमारा॥२॥

उनके साथ भेजने के लिए मुनि ने शिष्यों को बुलाया। सुनते ही पचासों शिष्य आ गये। उन सभी का श्रीरामजी पर अपार प्रेम है, इसलिए सभी कहने लगे कि रास्ता तो हमारा देखा हुआ है॥ २॥

मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे। जिन्ह बहु जनम सुकृत सब कीन्हे॥
करि प्रनामु रिषि आयसु पाई। प्रमुदित हृदय चले रघुराई॥३॥

तब मुनिजी ने ऐसे चार ब्रह्मचारियों को साथ में कर दिया, जिन्होंने बहुत जन्म तक सब पुण्य किये थे। रामचन्द्रजी भरद्वाज ऋषि को प्रणामकर और उनकी आज्ञा पाकर प्रसन्न-चित्त होकर चले॥ ३॥

ग्राम निकट निकसहिँ जब जाई। देखहिँ दरसु नारि नर धाई॥
होहिँ सनाथ जनमफलु पाई। फिरहिँ दुखित मनु संग पठाई॥४॥

रामचन्द्रजी जब किसी गाँव के पास होकर निकलते थे, तब उनका दर्शन करने को स्त्री-पुरुष दौड़ आते थे। उनके दर्शन को जन्म लिये का फल रूप पाकर वे लोग सनाथ (कृतकृत्य) होते थे और मन को उन्हीं के साथ छोड़कर दुखी होकर लौट जाते थे॥ ४॥

दो०—बिदा किये बटु बिनय करि फिरे पाइ मन काम ।
उतरि नहाये जमुनजल जो सरीरसम स्याम ॥११०॥

फिर रामचन्द्रजी ने विनती करके ब्रह्मचारियों को बिदा किया। वे भी मन इच्छित फल पाकर लौटे। फिर रामचन्द्रजी ने उतरकर यमुनाजी के जल में स्नान किया। वह जल रामचन्द्रजी के शरीर के समान श्याम रङ्ग का था ॥ ११० ॥

चौ०—सुनत तीरबासी नरनारी। धाये निज निज काज बिसारी ॥
लषन-राम-सिय-सुंदरताई। देखि करहिँ निज भाग्य बडाई ॥१॥

इनका आना सुनते ही किनारे पर रहनेवाले स्त्री-पुरुष, अपना अपना काम छोड़ कर, दौड़े और लक्ष्मण, राम और सीता की सुन्दरता देखकर अपने भाग्य की बड़ाई करने लगे, अर्थात् अपना अहोभाग्य मानने लगे ॥ १ ॥

अति लालसा सबहिँ मन माहीँ। नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीँ ॥
जे तिन्ह महँ बयबृद्ध सयाने। तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने ॥२॥

सभी के मन में बड़ी भारी लालसा थी, तो भी वे रहने का गाँव और नाम पूछने में सङ्कोच करने लगे। उन लोगों में जो वृद्ध और चतुर थे उन्होंने युक्ति से रामचन्द्रजी को पहचान लिया ॥ २ ॥

सकल कथा तिन्ह सबहिँ सुनाई। बनहि चले पितुआयसु पाई ॥
सुनि सबिषाद सकल पछिताहीँ। रानी राय कीन्हि भल नाहीँ ॥३॥

उन बूढ़े लोगों ने सब कथा सब लोगों को कह सुनाई कि ये पिता की आज्ञा पाकर वन को जा रहे हैं। यह सुनकर सब लोग दुःख में भरकर पछताने लगे और बोले कि रानी (केकयी) और राजा (दशरथ) ने अच्छा नहीं किया (जो इनको वन में भेजा) ॥ ३ ॥

तेहि अवसरु एक तापसु आवा। तेजपुंज लघुबयसु सुहावा ॥
कबि अलषित गति बेषु बिरागी। मन-क्रम-बचन रामअनुरागी ॥४॥

उसी[1] अवसर पर वहाँ एक तपस्वी आया। वह बड़ा तेजस्वी, छोटी अवस्थावाला और देखने में सुहावना था। उसकी गति को पण्डित लोग भी नहीं जान सकते थे। वह वैरागी का वेष धारण किये हुए मन क्रम और वचन से रामचन्द्रजी का प्रेमी था ॥ ४ ॥

१—यद्यपि इस कथा को, जो यहाँ से १११ वें दोहे की तीसरी चौपाई तक है, क्षेपक लिखा है, पर यह सब प्राचीन प्रतियों में मिलती है। इस जगह की कथा बड़े सार से भरी है। इस तेजस्वी तपस्वी को कोई कोई अग्नि बताते हैं। प्रमाण में, अग्नि का साथ रहना, सुग्रीव की मित्रता में साक्षी, दण्डकारण्य में सीताजी को सौंपना आदि बताते हैं। कोई इस तपस्वी को भरद्वाजमुनि का शिष्य बताते हैं। कोई वहाँ के कामनाथ महादेव का इस वेष में आना बताते हैं, किन्तु चौपाई में इतना ही है—"कवि अलषित गति" इसी लिए वह अज्ञात-नामा ऋषि था।

दो०—सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेउ पहिचानि ।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि ॥१११॥

अपने इष्टदेव रामचन्द्रजी को पहचानकर उसका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों में जल भर आया। वह दंड के समान जमीन पर गिर पड़ा। उसकी प्रेमभरी दशा कहते नहीं बनती ॥ १११ ॥

चौ०—राम सप्रेम पुलकि उर लावा । परमरंक जनु पारस पावा ॥
मनहुँ प्रेमु परमारथ दोऊ । मिलत धरे तन कह सब कोऊ ॥१॥

रामचन्द्रजी ने भी पुलकित होकर उस तपस्वी को हृदय से लगाया। वह ऐसा प्रसन्न हुआ जैसे कोई महादरिद्री मनुष्य पारस की बटिया पा जाय। वे दोनों आपस में ऐसे मिले कि सब लोग कहने लगे कि प्रेम और परमार्थ दोनों शरीर धारण कर मिल रहे हैं ॥ १ ॥

बहुरि लषन पायन्ह सोइ लागा । लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा ॥
पुनि सिय-चरन-धूरि धरि सीसा । जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा ॥२॥

फिर वह तपस्वी लक्ष्मणजी के चरणों में गिरा। उन्होंने भी स्नेह से उमगकर उसको पकड़कर उठा लिया। फिर उसने सीताजी के चरणों की धूल अपने सिर में चढ़ाई। सीता माता ने उसको पुत्र जानकर आशीर्वाद दिया ॥ २ ॥

कीन्ह निषाद दंडवत तेही । मिलेउ मुदित लखि रामसनेही ॥
पियत नयनपुट रूपु पियूखा । मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा ॥३॥

फिर गुह निषाद ने उसको दण्डवत् किया। वह गुह को रामचन्द्र का स्नेही जानकर प्रसन्न होता हुआ मिला। वह तपस्वी अपने नेत्ररूपी दोने से रामचन्द्रजी के रूप-अमृत को पीते पीते ऐसा प्रसन्न हुआ जैसे कोई भूखा आदमी अच्छा भोजन पाकर प्रसन्न हो ॥ ३ ॥

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे । जिन्ह पठये बन बालक ऐसे ॥
राम-लषन-सिय-रूप निहारी । होहिँ सनेह बिकल नरनारी ॥४॥

स्त्रियाँ आपस में कहने लगीं कि हे सखी ! कहो तो वे माता-पिता कैसे हैं जिन्होंने ऐसे बालकों को वन में भेजा ! राम, लक्ष्मण और सीता के रूप को देखकर सब स्त्री-पुरुष स्नेह से व्याकुल हो जाते हैं ॥ ४ ॥

दो०—तब रघुबीर अनेक बिधि सखहि सिखावन दीन्ह ।
रामरजायसु सीस धरि भवन गवन तेइ कीन्ह ॥११२॥

अब रामचन्द्रजी ने अपने मित्र गुह को अनेक तरह से समझाया, तब वह रामचन्द्रजी की आज्ञा सिर चढ़ाकर अपने घर को लौट गया ॥ ११२ ॥

चौ०—पुनि सिय राम लषन कर जोरी। जमुनहिँ कीन्ह प्रनाम बहोरी॥
चले ससीय मुदित दोउ भाई। रबितनुजा कै करत बडाई॥१॥

फिर सीता, राम और लक्ष्मण ने हाथ जोड़कर यमुनाजी को बारंबार प्रणाम किया। सीता समेत दोनों भाई सूर्य की कन्या (यमुना) की बड़ाई करते हुए आगे चले॥१॥

पथिक अनेक मिलहिँ मग जाता। कहहिँ सप्रेम देखि दोउ भ्राता॥
राजलषन सब अंग तुम्हारे। देखि सोचु अति हृदय हमारे॥२॥

रास्ते में जाते हुए बहुत-से यात्री (मुसाफिर) मिलते थे। वे दोनों भाइयों को देखकर प्रेम के साथ कहते थे कि तुम्हारे सब अंगों में राज-चिह्न देखकर हमारे मन में बड़ा सोच होता है॥२॥

मारग चलहु पयादेहिँ पाये। ज्योतिषु झूठ हमारेहि भाये॥
अगमु पंथु गिरि कानन भारी। तेहि महँ साथ नारि सुकुमारी॥३॥

तुम लोग पैदल हो रास्ता चल रहे हो इसलिए हमारी समझ में ज्योतिष-शास्त्र झूठा है। इस भारी जंगल में न समझ पड़नेवाले रास्ते और पहाड़ हैं। तिस पर तुम्हारे साथ में सुकुमार स्त्री है!॥३॥

करि केहरि बन जाइ न जोई। हम सँग चलहिँ जो आयसु होई॥
जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरब बहोरि तुम्हहिँ सिर नाई॥४॥

हाथियों और सिंहों का यह जंगल है, जिसकी ओर देखा तक नहीं जाता। जो आपकी आज्ञा हो तो हम साथ चलें। आप लोग जहाँ तक जाना चाहें वहाँ तक पहुँचाकर हम प्रणाम-कर लौट आवेंगे॥४॥

दो०—एहि बिधि पूछहिँ प्रेमबस पुलकगात जल नैन।
कृपासिंधु फेरहिँ तिन्हहिँ कहि बिनीत मृदु बैन॥११३॥

वे यात्री लोग इस तरह प्रेम के वश होकर, शरीर पुलकित किये और आँखों में जल भरे हुए, पूछने लगते थे। दया-सागर रामचन्द्रजी उन सबको, कोमल विनय के वचन कहकर, लौटा देते थे॥११३॥

चौ०—जे पुर गाँव बसहिँ मग माहीँ। तिन्हहिँ नाग-सुर-नगर सिहाहीँ॥
केहि सुकृती केहि घरी बसाये। धन्य पुन्यमय परम सुहाये॥१॥

रास्ते में जो गाँव और शहर बसते थे उनकी बड़ाई नागलोक और देवलोकवासी भी करते थे कि ये गाँव किस पुण्यवान् ने किस शुभ घड़ी में बसाये थे, जो धन्य और पुण्यरूप तथा सुहावने हैं॥१॥

जहँ जहँ रामचरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं॥
पुन्यपुंज मग-निकट-निवासी। तिन्हहिँ सराहहिँ सुर-पुर-बासी॥२॥

जहाँ जहाँ रामचन्द्रजी के चरण चले जाते हैं, उन स्थानों के समान अमरावती (इन्द्र की पुरी) भी नहीं है। रास्ते के पास के रहनेवाले भी पुण्यवान् हैं। उनकी बड़ाई स्वर्ग के निवासी (देवता) करते हैं॥ २॥

जे भरि नयन बिलोकहिँ रामहिँ। सीता-लषन-सहित घनस्यामहिँ॥
जे सर सरित राम अवगाहहिँ। तिन्हहिँ देव-सर-सरित सराहहिँ॥३॥

वे कहते हैं कि ये लोग धन्य हैं जिन्होंने घनश्याम राम को लक्ष्मण-सीता समेत आँखों भरकर देख लिया। जिन तालाबों और नदियों में रामचन्द्रजी स्नान कर लेते हैं उनकी बड़ाई देवतों के तालाब और नदी (मन्दाकिनी) भी करते थे॥ ३॥

जेहि तरुतर प्रभु बैठहिँ जाई। करहिँ कलपतरु तासु बड़ाई॥
परसि राम-पदु-पदुम-परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा॥४॥

प्रभु रामचन्द्रजी जिस वृक्ष के नीचे जाकर बैठ जाते थे उसकी बड़ाई कल्पवृक्ष करता था, और रामचन्द्रजी के चरण-कमलों की धूल को छूकर पृथ्वी अपने को बड़भागिनी मानती थी॥ ४॥

दो०—छाहँ करहिँ घन बिबुधगन बरषहिँ सुमन सिहाहिँ।
देखत गिरि बन बिहँग मृग रामु चले मग जाहिँ॥११४॥

रास्ते में बादल रामचन्द्रजी के ऊपर छाया करते, देवता फूल बरसाते और बड़ाई करते हैं। इस तरह पहाड़, जङ्गल और उनके पक्षियों को देखते हुए रास्ते रास्ते रामचन्द्रजी चले जा रहे हैं॥ ११४॥

चौ०—सीता-लषन-सहित रघुराई। गावँ निकट जब निकसहिँ जाई॥
सुनि सब बाल वृद्ध नर नारी। चलहिँ तुरत गृह काज बिसारी॥१॥

जब सीता और लक्ष्मण-समेत रामचन्द्रजी किसी गाँव के पास जा निकलते, तब उनका आना सुनते ही बालक और बूढ़े, स्त्री और पुरुष, सब अपने घर के कामकाज को छोड़कर तुरन्त दर्शन के लिए चल देते थे॥ १॥

राम-लषन-सिय-रूप निहारी। पाइ नयनफलु होहिँ सुखारी॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भये मगन देखि दोउ बीरा॥२॥

वे राम-लक्ष्मण और सीताजी के रूप को देखकर, अपने नेत्रों का फल पाकर, सुखी होते थे। उन दोनों वीरों को देखकर सभी के शरीर पुलकित हो गये, नेत्रों में जल भर गया और वे प्रेम में मग्न हो गये॥ २॥

बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्हि सुर-मनि-ढेरी॥
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचनलाहु लेहु छन एही॥३॥

उनकी उस समय की दशा वर्णन करते नहीं बनती, मानों कङ्गालों को चिन्तामणि की ढेरी मिल गई हो। एक को एक बुलाकर वे आपस में सलाह देते थे कि भाई! इस क्षण में नेत्रों का लाभ तो ले लो!॥ ३॥

रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥
एक नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन बरबानी॥४॥

कोई कोइ रामचन्द्रजी को देखकर प्रेम में ऐसे फँस गये कि वे उन्हें देखते देखते उनके साथ हो चले जा रहे हैं। कोई नेत्रों के रास्ते से रामचन्द्रजी की छबि को हृदय में लाकर शरीर, मन और वाणी सबसे शिथिल (ढोले) हो जाते हैं अर्थात् थोड़ी देर तक न उनका शरीर हिलता डोलता है, न कुछ कहते या सोचते विचारते बनता है॥ ४॥

दो०—एक देखि बटछाहँ भलि डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं गवाँइय छिनुकु स्रम गवनब अबहिं कि प्रात॥११५॥

कोई कोइ लोग बड़ के पेड़ की गहरी छाया देखकर वहाँ नरम घास और पत्त बिछाकर रामचन्द्रजो से कहते कि यहाँ कुछ देर विश्राम (आराम) कोजिए। आप अभी जाइएगा, या कल सबेरे?॥ ११५॥

चौ०—एक कलसभरि आनहिं पानी। अँचइय नाथ कहहिं मृदुबानी॥
सुनि प्रियबचन प्रीति अति देखी। राम कृपालु सुसील बिसेखी॥१॥

कोई पानी का घड़ा भरकर ले आये और मीठो वाणी से कहने लगे कि हे नाथ! पी लीजिए। दयालु और अत्यन्त सुशोल रामचन्द्रजी ने उनके प्यारे वचन सुन और उनकी बड़ी प्रीति देखकर॥ १॥

जानी स्रमित सीय मन माहीं। घरिक बिलंब कीन्ह बटछाहीं॥
मुदित नारिनर देखहिं सोभा। रूपअनूप नयन मनु लोभा॥२॥

और मन में सीताजी को थकी हुई सोचकर बड़ की छाया में घड़ी भर विश्राम किया। स्त्री-पुरुष प्रसन्न होकर उनकी शोभा देखने लगे। उनके अनुपम रूप को देखकर उनकी आँखें और मन लुभा गये॥ २॥

एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। राम-चंद्र-मुख - चंद - चकोरा॥
तरुन-तमाल-बरन तनु सोहा। देखत कोटि-मदन-मनु मोहा॥३॥

रामचन्द्रजी के चारों ओर बैठे हुए लोग उनके मुख-चन्द्र को इस प्रकार टकटकी बाँधे देख रहे थे जैसे चन्द्रमा को चकोर देखा करते हैं। उनके शरीर का रङ्ग नवीन तमालपत्र के समान सुहावना था जिसे देखकर करोड़ों कामदेव के मन मोहित हो जायँ ॥ ३ ॥

दामिनिबरन लषनु सुठि नीके। नखसिख सुभग भावते जी के ॥
मुनिपट कटिन्ह कसे तूनीरा। सोहहिँ करकमलनि धनुतीरा ॥४॥

लक्ष्मणजी का रङ्ग बिजली का सा था। वे नख से चोटी तक सुन्दर सलोने, देखनेवालों के जी में प्यारे लगनेवाले हैं। दोनों मुनियों के वस्त्र धारण किये हुए हैं, कमर में तरकस कसे हुए हैं और कमलरूपी हाथों में धनुष-बाण सुहा रहे हैं ॥ ४ ॥

दो०—जटा मुकुट सीसनि सुभग उर भुज नयन बिसाल।
सरद परब-बिधु-बदन पर लसत स्वेद-कन-जाल ॥११६॥

उनके मस्तकों में सुन्दर जटाओं के मुकुट हैं, वक्षःस्थल (छाती), हाथ और नेत्र विशाल हैं, और शरद्काल के पूर्ण चन्द्रमा के समान श्रीमुख पर पसीने की बूँदें चमक रही हैं ॥ ११६ ॥

चौ०—बरनि न जाइ मनोहर जोरी। सोभा बहुत थोरि मति मोरी ॥
राम-लषन-सिय-सुंदरताई। सब चितवहिँ चित मन मति लाई ॥१॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि उस मनोहर जोड़ी की शोभा वर्णन करते नहीं बनती, क्योंकि शोभा बहुत अधिक और मेरी बुद्धि तुच्छ है। राम, लक्ष्मण और सीताजी की सुन्दरता को सब लोग मन, बुद्धि और चित्त लगाकर देखने लगे ॥ १ ॥

थके नारि नर प्रेम-पियासे। मनहुँ मृगी मृग देखि दियासे ॥
सीयसमीप ग्रामतिय जाहीं। पूछत अति सनेह सकुचाहीं ॥२॥

प्रेम के प्यासे स्त्री-पुरुष ऐसे थककर खड़े हो गये जैसे हिरनी और हिरन मृगतृष्णा का जल देखकर चुपचाप खड़े हो जाते हैं। गाँवों की स्त्रियाँ सीताजी के पास जाती हैं, पर स्नेह के मारे पूछने में सकुचाती हैं ॥ २ ॥

बार बार सब लागहिँ पाये। कहहिँ बचन मृदु सरल सुभाये ॥
राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय सुभाय कछु पूछत डरहीं ॥३॥

वे सब बार बार पाँव पड़तीं और कोमल सरल स्वाभाविक वचन से कहने लगती हैं— हे राजकुमारि! हम विनती करती हैं और स्त्री-स्वभाव से कुछ पूछना चाहती हैं, पर डर लगता है ॥ ३ ॥

स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गवाँरी ॥
राजकुअँर दोउ सहज सलोने। इन्ह तेँ लहि दुति मरकत सोने ॥४॥

हे स्वामिनि ! हमारी ढिठाई को क्षमा करना और हमको गँवारी जानकर हमारी बातों का बुरा न मानना। ये दोनों राजकुमार स्वाभाविक सलोने (सुहावने) हैं, मानों इन्हीं की कांति को लेकर मरकत मणि और सोना चमकते हैं॥ ४॥

दो०—स्यामल गौर किसोर बर सुंदर सुखमा ऐन।
सरद-सर्बरी-नाथ-मुखु सरदसरोरुह नैन॥११७॥

एक श्याम, दूसरे गौर हैं, सुन्दर किशोर अवस्था है, और सुन्दरता तथा शोभा के स्थान हैं। शरद ऋतु के चन्द्र के से इनके मुख और शरद के कमल के समान नेत्र हैं॥ ११७॥

चौ०—कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिँ तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महुँ मुसुकानी॥१॥

हे सुमुखि ! करोड़ों कामदेव को भी लज्जित करनेवाले, कहो तो ये तुम्हारे कौन हैं ? ऐसी स्नेह से भरी हुई उन स्त्रियों की सुन्दर वाणी सुनकर सीताजी मन में सकुचाईं और मुसकुराईं॥ १॥

तिन्हहिँ बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल-मृग-नैनी। बोली मधुरबचन पिकबैनी॥२॥

फिर उन स्त्रियों की ओर देखकर वे जमीन की ओर देखने लगीं (नीची नजर कर ली) और सुन्दर वर्णवाली सीताजी दोनों संकोचों से सकुचाने लगीं। (अर्थात्—एक तो यह संकोच कि इनसे कुछ न कहूँ तो ये बुरा मानेंगी और दूसरा यह संकोच कि श्रीरामचन्द्र के सामने कैसे कहूँ कि ये मेरे पति हैं) फिर हिरन के बच्चे के समान नेत्रोंवाली और कोयल की सी मीठी बोलीवाली सीताजी संकोच करती हुई प्रेम के साथ मीठे वचनों में बोलीं—॥ २॥

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लषनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदनबिधु अंचल ढाँकी। पियतन चितइ भौँह करि बाँकी॥३॥

ये जो सीधे स्वभाव के, सुन्दर और गोरे हैं इनका नाम लक्ष्मण है। ये मेरे छोटे देवर हैं। इतना कहकर फिर अपने मुख-चन्द्र को अंचल से ढक और प्यारे की ओर निहारकर, भौंह टेढ़ी करके॥ ३॥

खंजनमंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिँ सिय सैननि॥
भईँ मुदित सब ग्रामबधूटी। रंकन्ह रायरासि जनु लूटी॥४॥

खञ्जन पक्षी की सी मनोहर आँखों की तिरछी निगाह से सीताजी ने उन्हें (रामचन्द्रजी को) अपना पति सैन (इशारे) से ही बता दिया। यह जानकर गाँव की सब स्त्रियाँ ऐसी प्रसन्न हुईं मानों कंगालों को राजा का खजाना लूट में मिल गया॥ ४॥

दो०—अति सप्रेम सियपाय परि बहु बिधि देहिँ असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहिसीस ॥११८॥

वे बहुत ही प्रेम के साथ सीताजी के पाँव पड़ीं और बहुत प्रकार से उन्हें असीसने लगीं—जब तक शेषजी के मस्तक पर पृथ्वी है तब तक तुम सदा सुहागिनी (अखण्ड सौभाग्य-वती) बनी रहो ॥ ११८ ॥

चौ०—पारबतीसम पतिप्रिय होहू। देबि न हम पर छाडब छोहू ॥
पुनि पुनि बिनय करिय कर जोरी। जौं एहि मारग फिरिय बहोरी ॥१॥

हे देवि! तुम पार्वतीजी के समान अपने पति को प्यारी बनी रहो और हम पर से दया मत हटाना। हमारी बार बार, हाथ जोड़कर, यह प्रार्थना है कि जो इसी रास्ते से फिर लौटना ॥ १ ॥

दरसन देब जानि निज दासी। लखी सीय सब प्रेमपियासी ॥
मधुर बचन कहि कहि परितोषी। जनु कुमुदिनी कौमुदी पोषी ॥२॥

तो हमें अपनी दासी जानकर दर्शन देना। इस तरह जब सीताजी ने उन सबको प्रेम की प्यासी देखा, तो मीठे वचन कह कहकर उनको सन्तुष्ट किया; मानों चाँदनी ने कुमुदिनी को खिला दिया ॥ २ ॥

तबहिँ लषन रघुबररुख जानी। पूछेउ मगु लोगन्हि मृदुबानी ॥
सुनत नारिनर भये दुखारी। पुलकित गात बिलोचन बारी ॥३॥

उसी समय लक्ष्मणजी ने रामचन्द्रजी का रुख देखकर लोगों से बड़ी नरमी के साथ रास्ता पूछा। उस प्रश्न को सुनते ही स्त्री-पुरुष सब दुखी हो गये। उनके शरीर पुलकित हो गये, आँखों से आँसू बहने लगे ॥ ३ ॥

मिटा मोदु मन भये मलीने। बिधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने ॥
समुझि करमगति धीरजु कीन्हा। सोधि सुगम मगु तिन्ह कहि दीन्हा ॥४॥

उनका दर्शन से उत्पन्न हुआ आनन्द मिट गया और उनके मन मलिन हो गये। मानों विधाता दी हुई सम्पत्ति फिर छीने लेता है। फिर कर्म की गति समझकर उन्होंने धैर्य धरा और सीधा रास्ता सोचकर उनको बतला दिया ॥ ४ ॥

दो०—लषन-जानकी-सहित तब गवन कीन्ह रघुनाथ।
फेरे सब प्रियबचन कहि लिये लाइ मन साथ ॥११९॥

तब श्रीरघुनाथजी सीता और लक्ष्मणजी समेत चले और सब लोगों को प्यारे वचन कहकर उन्होंने लौटा दिया, पर वे उनके मनों को अपने साथ ही ले चले ॥ ११९ ॥

चौ०—फिरत नारिनर अति पछिताहीं । दैवहि दोषु देहिं मन माहीं ॥
सहित बिषाद परसपर कहहीं । बिधिकरतब उलटे सब अहहीं ॥१॥

लौटती बार वे स्त्री-पुरुष बहुत पछताने लगे और मन ही मन अपने प्रारब्ध को दोष देने लगे। आपस में बात-चीत में बड़े दुःख के साथ वे कहने लगे कि विधाता के सभी कर्तव्य उलटे हुआ करते हैं॥ १॥

निपट निरंकुस निठुर निसंकू । जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू ॥
रूखु कलपतरु सागरु खारा । तेहि पठये बन राजकुमारा ॥२॥

यह विधाता बिलकुल निरंकुश (स्वतन्त्र), कठोर और निडर है, जिसने चन्द्रमा को रोगी और कलङ्कित कर दिया, जिसने कल्पवृक्ष को पेड़ (जड़) बना दिया और समुद्र को खारा कर दिया। उसी ने इन राज-कुमारों को वन भेजा है॥ २॥

जौं पै इन्हहिं दीन्ह बनबासू । कीन्ह बादि बिधि भोगबिलासू ॥
ए बिचरहिं मग बिनु पदत्राना । रचे बादि बिधि बाहन नाना ॥३॥

जो विधाता ने इन राजकुमारों को वनवास दिया है, तो हर तरह के भोग-विलास उसने व्यर्थ ही बनाये। जो ये बिना जूते पहने नंगे पैरों ही फिरते हैं, तो विधाता ने अनेक प्रकार के वाहन (सवारियाँ) व्यर्थ ही रचे॥ ३॥

ए महि परहिं डासि कुसपाता । सुभगसेज कत सृजत बिधाता ॥
तरु-तर-बास इन्हहिँ बिधि दीन्हा । धवलधाम रचि रचि स्रम कीन्हा ॥४॥

जो ये कुश बिछाकर जमीन पर सो जाते हैं, तो विधाता ने अच्छे अच्छे पलङ्ग आदि किस लिए बनाये? जो इनको पेड़ों के नीचे निवास दिया तो फिर सफ़ेद महल बना बनाकर व्यर्थ ही उसने परिश्रम किया॥ ४॥

दो०—जौं ए मुनि-पट-धर जटिल सुंदर सुठि सुकुमार ।
बिबिध भाँति भूषन बसन बादि किये करतार ॥१२०॥

जो ये सुन्दर अत्यन्त सुकुमार राजपुत्र मुनियों के से वस्त्र पहनते और जटा बढ़ाते हैं, तो फिर कर्ता (विधाता) ने तरह तरह के वस्त्र-भूषण आदि व्यर्थ ही बनाये॥ १२०॥

चौ०—जौं ए कंद मूल फल खाहीं । बादि सुधादि असन जग माहीं ॥
एक कहहिं ए सहज सुहाये । आपु प्रगट भये बिधि न बनाये ॥१॥

जो ये कन्द मूल फल खाते हैं, तो संसार में अमृत आदि भोजन व्यर्थ ही हैं। कोई कहने लगे—ये स्वाभाविक ही सुन्दर हैं। ये आप ही प्रकट हुए हैं। इन्हें विधि (ब्रह्मा) ने नहीं बनाया है॥ १॥

जहँ लगि बेद कही बिधिकरनी । स्रवन नयन मन गोचर बरनी ॥
देखहु खोजि भुअन दसचारी । कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी ॥२॥

वेदों में जहाँ तक विधाता की करतूत (सृष्टि) बतलाई है, या कानों से सुन पड़नेवाली, आँखों से देखी जानेवाली और मन में आनेवाली है, सबमें तुम चौदहों लोकों में ढूँढ़कर देखो, कहाँ ऐसा पुरुष है और कहाँ ऐसी स्त्री ? ॥ २ ॥

इन्हहिँ देखि बिधि मनु अनुरागा । पटतर जोगु बनावइ लागा ॥
कीन्ह बहुत स्रम एक न आये । तेहि इरिषा बन आनि दुराये ॥३॥

इन्हें देखकर ब्रह्मा के मन में प्रेम हुआ, और वह इनके जोड़ के मनुष्य बनाने लगा। जब बहुत-सा परिश्रम करने पर भी समता न आई तब ईर्ष्या के मारे उसने इन्हें जङ्गल में ला छिपाया ॥ ३ ॥

एक कहहिँ हम बहुत न जानहिँ । आपुहिँ परम धन्य करि मानहिँ ॥
ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे । जे देखहिँ देखिहहिँ जिन्ह देखे ॥४॥

किसी ने कहा—भाई ! हम तो बहुत कुछ जानते नहीं, पर अपने को हम अवश्य अत्यन्त धन्य मानते हैं। हमारे लेखे (गिनती में) वे पुण्यवान् हैं जिन्होंने इनको पहले ही देखा है और अभी देख रहे हैं, या भविष्य में देखेंगे ॥ ४ ॥

दो०—एहि बिधि कहि कहि बचन प्रिय लेहिँ नयन भरि नीर ।
किमि चलिहहिँ मारग अगम सुठि सुकुमार सरीर ॥१२१॥

इस तरह प्यारे वचन कह कहकर सब लोग आँखों में आँसू भर लेते और कहते कि ये सुन्दर सुकुमार शरीरवाले राजकुमार वन के अगम मार्ग में कैसे चलेंगे ? ॥ १२१ ॥

चौ०—नारि सनेह बिकलबस होहीँ । चकई साँझ समय जनु सोहीँ ॥
मृदु-पद-कमल कठिन मगु जानी । गहबरि हृदय कहहिँ बरबानी ॥१॥

जैसे संध्या के समय चकवी व्याकुल होती है, वैसेही सब स्त्रियाँ उन (श्रीरामादि) के प्रेम से बेचैन और बेबस हो गईं और उनके चरण-कमलों को कोमल तथा मार्ग को कठिन जानकर गद्गद-हृदय होकर श्रेष्ठ वाणी से कहने लगीं—॥ १ ॥

परसत मृदुलचरन अरुनारे । सकुचति महि जिमि हृदय हमारे ॥
जौं जगदीस इन्हहिँ बनु दीन्हा । कस न सुमनमय मारगु कीन्हा ॥२॥

जिस तरह हमारा हृदय सकुचता है उसी तरह इनके कोमल और लाल चरणों को छूकर पृथ्वी सकुचती है। जो जगदीश ने इनको वन दिया, तो फिर रास्ता फूलों का ही क्यों न बना दिया ! ॥ २ ॥

जौं माँगा पाइय बिधि पाहीं। ए रखिअहि सखि आँखिन्ह माहीं॥
जे नरनारि न अवसर आये। तिन्ह सिय रामु न देखन पाये॥३॥

हे सखी! जो ब्रह्मा से मुँह माँगा वर मिले तो हम यही माँगें कि इन (तीनों) को अपनी आँखों में रक्खें। जो स्त्री-पुरुष उस अवसर पर न पहुँच सके, उन्होंने सीता-रामजी को नहीं देख पाया॥ ३॥

सुनि सुरूप बूझहिँ अकुलाई। अब लगि गये कहाँ लगि भाई॥
समरथ धाइ बिलोकहिँ जाई। प्रमुदित फिरहिँ जनमुफलु पाई॥४॥

वे उनकी सुन्दरता को सुनकर व्याकुल हो उठते और पूछते कि क्यों भाइ! अभी वे कहाँ तक पहुँचे होंगे? समर्थ (ताक़तवर) लोगों ने दौड़े जाकर दर्शन किये और जन्म का फल पाकर प्रसन्न होकर वे लौट आये॥ ४॥

दो०—अबला बालक बृद्ध जन कर मीजहिँ पछिताहिँ।
होहिँ प्रेमबस लोग इमि राम जहाँ जहँ जाहिँ॥१२२॥

स्त्री, बच्चे और बूढ़े (दर्शन न पाने से) हाथ मल मलकर पछताने लगे। इस तरह जहाँ जहाँ रामचन्द्रजी जाते, वहाँ वहाँ के लोग प्रेम के वश में हो जाते॥ १२२॥

चौ०—गावँ गावँ अस होइ अनंदू। देखि भानु-कुल-कैरव-चंदू॥
जे यह समाचार सुनि पावहिँ। ते नृपरानिहिँ दोषु लगावहिँ॥१॥

सूर्य-वंश-रूपी कुमुद के लिए चन्द्रस्वरूप श्रीरामचन्द्रजी का दर्शन कर गाँव गाँव में ऐसा ही आनन्द होता था। जो कोई यह समाचार सुन पाते, वे राजा-रानी (दशरथ-केकयी) को दोष देते॥ १॥

कहहिँ एक अति भल नरनाहू। दीन्ह हमहिँ जेहि लोचनलाहू॥
कहहिँ परसपर लोग लुगाई। बातैँ सरल सनेह सुहाई॥२॥

कोई कहते कि राजा (दशरथ) बहुत ही अच्छे हैं, जिन्होंने हमें नेत्रों का लाभ दिया। स्त्री-पुरुष आपस में सीधी स्नेह-भरी सुहावनी बातें करते हैं कि॥ २॥

ते पितु मातु धन्य जिन्ह जाये। धन्य सो नगरु जहाँ तेँ आये॥
धन्य सो देसु सैलु बन गाऊँ। जहँ जहँ जाहिँ धन्य सोइ ठाऊँ॥३॥

वे माता-पिता धन्य हैं, जिन्होंने इन्हें पैदा किया और वह नगर भी धन्य है जहाँ से ये आये हैं। फिर वह देश, पर्वत, वन, गाँव और स्थान धन्य हैं, जहाँ ये जाते हैं॥ ३॥

सुखु पायउ बिरंचि रचि तेही । ए जेहि के सब भाँति सनेही ॥
राम-लषन-पथि-कथा सुहाई । रही सकल मग कानन छाई ॥४॥

ब्रह्मा ने उन्हीं को रचकर सुख पाया है जिनके ये (राम-सीता) सब प्रकार के स्नेही हैं। राम-लक्ष्मण के मार्ग को सुन्दर कथा सब मार्ग और वन में छा गई ॥ ४ ॥

दो०—एहि बिधि रघु-कुल-कमल-रबि मग लोगन्ह सुख देत ।
जाहिँ चले देखत बिपिन सिय-सौमित्रि-समेत ॥१२३॥

रघु-कुल-कमल-दिवाकर श्रीरामजी इस तरह रास्ते में लोगों को सुख देते हुए और सीता लक्ष्मण समेत वन को देखते हुए चले जा रहे हैं ॥ १२३ ॥

चौ०—आगे रामु लषनु बने पाछे । तापसबेषु बिराजत काछे ॥
उभय बीच सिय सोहति कैसी । ब्रह्म-जीव-बिच माया जैसी ॥१॥

आगे आगे रामचन्द्रजी और पीछे तपस्वियों का वेष बनाये हुए सुहावने लक्ष्मणजी जा रहे हैं। इन दोनों के बीच सीता कैसी शोभित होती हैं जैसी जीव और ब्रह्म दोनों के बीच में माया ॥ १ ॥

बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई । जनु मधु-मदन-मध्य रति लसई ॥
उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही । जनु बुध-बिधु-बिच रोहिनि सोही ॥२॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि मैं फिर उस छबि को कहूँगा जिस तरह वह मेरे मन में बस रही है। उन दोनों के बीच में सीताजी ऐसी मालूम होती थीं मानों वसन्त ऋतु और कामदेव के बीच में रति (कामदेव की स्त्री) हो। मैं फिर अपने जी में सोचकर उपमा कहता हूँ कि मानों बुध और चन्द्रमा दोनों के बीच में रोहिणी शोभायमान हो ॥ २ ॥

प्रभु-पद-रेख बीच बिच सीता । धरति चरन मग चलति सभीता ॥
सीय - राम - पद - अंक बराये । लषनु चलहिँ मगु दाहिन बायेँ ॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों के चिह्नों के बीच में (रामचन्द्रजी के पैरों के जो निशान पड़े हुए थे उनके बीच में) सीताजी अपना पाँव धरती और डरती हुई रास्ता चलती हैं। लक्ष्मणजी, सीता और रामचन्द्रजी के चरणों के चिह्नों को बचा बचाकर (उन पर पैर न रखकर) उन चिह्नों से दहिनी या बाँईं ओर से रास्ता चलने लगे ॥ ३ ॥

राम - लषन - सिय - प्रीति सुहाई । बचनअगोचर किमि कहि जाई ॥
खग मृग मगन देखि छबि होहीँ । लिये चोरि चित राम बटोही ॥४॥

राम-लक्ष्मण और सीताजी की अनोखी प्रीति वाणी के अगोचर है, इसलिए वह कैसे कही जा सकती है ? उनकी छवि को देखकर पक्षी और मृग भी प्रसन्न हो गये, क्योंकि रामचन्द्ररूपी बटोही ने उनके चित्त चुरा लिये थे ॥ ४ ॥

दो०—जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय सियसमेत दोउ भाइ।
भव-मगु अगम अनंद तेइ बिनु स्रमु रहे सिराइ ॥१२४॥

सीता सहित दोनों प्यारे भाइयों को जिन जिन ने रास्ते से जाते हुए देखा उन्होंने कठिन संसार के मार्ग को बिना परिश्रम के ही सदा के लिए निवृत्त कर दिया अर्थात् उनके लिए संसार का आवागमन मिट गया ॥ १२४ ॥

चौ०—अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ। बसहिँ लषन-सिय-रामु बटाऊ ॥
राम-धाम-पथु पाइहि सोई। जो पथु पाव कबहुँ मुनि कोई ॥१॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि अब भी जिनके हृदय में कभी स्वप्न में भी राम, लक्ष्मण और सीता तीनों पवित्र बटोही बसते हैं, वे रामचन्द्रजी के स्थान के उस मार्ग को पा जाते हैं, जिस को कोई कोई मुनि (मननशील, योगी) कभी कभी पा सकते हैं ॥ १ ॥

तब रघुबीर स्रमित सिय जानी। देखि निकट बटु सीतल-पानी ॥
तहँ बसि कंद मूल फल खाई। प्रात नहाइ चले रघुराई ॥२॥

जब रामचन्द्रजी ने सीताजी को थकी हुई जाना, तब पास ही एक बड़ का पेड़ और ठंढा पानी देखकर और कन्द, मूल, फल खाकर वहाँ विश्राम किया। प्रातःकाल स्नान करके फिर रामचन्द्रजी चले ॥ २ ॥

देखत बन सर सैल सुहाये। बालमीकिआस्रम प्रभु आये ॥
रामु दीख मुनिबास सुहावन। सुंदर गिरि कानन जलु पावन ॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी सुहावने वनों, तालाबों और पर्वतों को देखते हुए, वाल्मीकिजी के आश्रम में पहुँचे। रामचन्द्रजी ने वाल्मीकिजी के सुन्दर स्थान को देखा। उसमें अच्छे-अच्छे पर्वत और वन तथा शुद्ध जल है ॥ ३ ॥

सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले ॥
खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं ॥४॥

सरोवरों में कमल और वनों में वृक्ष फूल रहे हैं और उन फूलों के रस में मस्त हुए भँवर मीठी गुञ्जार कर रहे हैं। तरह तरह के पक्षी और पशु खूब बोल रहे हैं और सब प्रसन्न-चित्त से वैर छोड़कर (जैसे सिंह हिरन के साथ) घूम रहे हैं ॥ ४ ॥

दो०—सुचि सुंदर आस्रमु निरखि हरषे राजिवनैन।
सुनि रघु-बर-आगमनु मुनि आगे आयउ लैन ॥१२५॥

कमल-नयन रामचन्द्रजी पवित्र और सुन्दर आश्रम को देखकर प्रसन्न हुए। वाल्मीकि मुनि भी रामचन्द्रजी का आना सुनकर, उनको लेने के लिए, आगे आये ॥ १२५ ॥

चौ०—मुनि कहँ राम दंडवत कीन्हा। आसिरबाद बिप्रबर दीन्हा॥
देखि रामछबि नयन जुडाने। करि सनमानु आस्रमहिँ आने॥१॥

रामचन्द्रजी ने वाल्मीकि मुनि को दंडवत् प्रणाम किया। मुनिवर ने आशीर्वाद दिया। रामचन्द्रजी की छवि देखकर मुनि के नेत्र ठंढे हो गये, फिर वे श्रीरामचन्द्र का सम्मान कर उन्हें आश्रम में लिवा लाये॥ १॥

मुनिबर अतिथि प्रानप्रिय पाये। तब मुनि आसन दिये सुहाये॥
कंद मूल फल मधुर मँगाये। सिय सौमित्रि राम फल खाये॥२॥

मुनिवर वाल्मीकिजी ने जब प्राणों के समान प्यारे रामचन्द्रजी को अतिथि पाया तब उन्होंने उनके लिए सुन्दर आसन दिया और फिर मीठे मीठे कन्द, मूल और फल मँगवाये। सीताजी, लक्ष्मण और रामचन्द्रजी ने उन फलों को खाया॥ २॥

बालमीकि मन आनँदु भारी। मंगलमूरति नयन निहारी॥
तब करकमल जोरि रघुराई। बोले बचन स्रवन-सुख-दाई॥३॥

मङ्गल की मूर्ति रामचन्द्रजी को आँखों से देखकर वाल्मीकि मुनि को बड़ा ही आनन्द हुआ। तब रामचन्द्रजी हस्त-कमलों को जोड़कर कानों के सुख देनेवाले मधुर वचन बोले—॥ ३॥

तुम्ह त्रि-काल-दरसी मुनिनाथा। बिस्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा॥
अस कहि प्रभु सब कथा बखानी। जेहि जेहि भाँति दीन्ह बनु रानी॥४॥

हे मुनीश्वर! तुम त्रिकालदर्शी हो, (हुई, होनेवाली और होती हुई सब बातों को जानते हो।) सारा संसार बेर (या आँवले) के समान तुम्हारे हाथ पर रक्खा हुआ है। प्रभु रामचन्द्रजी ने ऐसा कहकर फिर जिस तरह रानी केकयी ने वनवास दिया वह सब कथा कहकर सुनाई॥ ४॥

दो०—तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।
मो कहँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्यप्रभाउ॥१२६॥

हे प्रभु! पिता की आज्ञा, फिर माता का हित और भरत जैसे भाई को राज्य और मुझे आपके दर्शन, ये सब बातें मेरे बड़े भारी पुण्यों के प्रभाव से हुई हैं॥ १२६॥

चौ०—देखि पाय मुनिराय तुम्हारे। भये सुकृत सब सुफल हमारे॥
अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेग न पावइ कोई॥१॥

हे मुनिराज! आपके चरणों के दर्शन करके हमारे सारे सुकर्म आज सफल हुए। अब जहाँ आपकी आज्ञा हो, और जहाँ रहने से कोई मुनि कष्ट न पावे वहीं मैं रहूँ॥ १॥

मुनि तापस जिन्ह तें दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं॥
मंगलमूल बिप्रपरितोषू। दहइ कोटि कुल भू-सुर-रोषू॥२॥

हे मुनिराज! जिनसे मुनि और तपस्वी लोग दुःख पाते हैं, वे राजा लोग बिना आग के ही जलकर भस्म हो जाते हैं। ब्राह्मणों का प्रसन्न होना ही सब मङ्गल की जड़ है। ब्राह्मणों का क्रोध करोड़ों कुलों को भस्म कर डालता है॥ २॥

अस जिय जानि कहिय सोइ ठाऊँ। सिय-सौमित्रि-सहित जहँ जाऊँ॥
तहँ रचि रुचिर परन-तृन-साला। बासु करउँ कछु कालु कृपाला॥३॥

इन सब बातों को विचार कर ऐसा स्थान बतलाइए जहाँ मैं लक्ष्मण-सीता समेत जाऊँ। हे दयालु! वहाँ सुन्दर पत्तों की कुटी बनाकर कुछ दिन निवास करूँ॥ ३॥

सहज सरल सुनि रघुबरबानी। साधु साधु बोले मुनि ग्यानी॥
कस न कहहु अस रघु-कुल-केतू। तुम्ह पालक संतत स्रुतिसेतू॥४॥

ज्ञानी मुनि वाल्मीकिजी स्वाभाविक सीधी सादी रामचन्द्रजी की वाणी सुनकर साधु! साधु! (धन्य, धन्य!) कहने लगे और बोले—हे रघुकुल के ध्वजरूप रामचन्द्रजी! आप ऐसा क्यों न कहोगे? क्योंकि आप सदा ही वेद की मर्यादा के रक्षक हो॥ ४॥

छंद—स्रुति-सेतु-पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
जो सहससीसु अहीसु महिधरु लषन स-चराचर-धनी।
सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल-निसिचर-अनी॥

हे राम! आप तो वेद की मर्यादा के रक्षक जगदीश्वर हैं और जानकीजी आपकी माया हैं, जो आप दयासागर का रुख (प्रेरणा) पाकर जगत् को उत्पन्न करती, पालती और संहार कर देती हैं। जिनके एक हजार मस्तक हैं, जो सर्पों के नायक हैं और जिन्होंने पृथ्वी को अपने सिर पर उठा रक्खा है, वही स्थावर-जङ्गम संसार के मालिक शेषजी, लक्ष्मणजी हैं। देवतों की कार्य-सिद्धि के लिए आप सब राजा का देह धारण कर दुष्ट राक्षसों की सेना को मर्दन करने के लिए जा रहे हैं॥

सो०—राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥१२७॥

हे राम! आपका स्वरूप वाणी से कहने के योग्य नहीं, क्योंकि वह बुद्धि से भी परे है, इसी लिए वह अप्राप्त, अकथनीय (जो कहते न बने) और अपार है। वेद उसको सदा 'नेति नेति' पुकारते हैं॥ १२७॥

चौ०—जगुपेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि-हरि-संभु - नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। अउर तुम्हहिं को जाननिहारा॥१॥

हे राम! यह जगत् एक दृश्य (तमाशा) है, आप उसके द्रष्टा (देखनेवाले) हैं। आप ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर को भी नचानेवाले हैं। ब्रह्मा आदि देवगण भी जब आपके मर्म को नहीं जानते तब और कौन आपको जाननेवाला है!॥१॥

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगत-उर चंदन॥२॥

आप जिसको जना देते हैं अर्थात् जिसको आप ज्ञानवान् कर देते हैं, वही आपको जान सकता है और वह आपको जानते ही आपही का सा हो जाता है। हे भक्तों के हृदय के चन्दन! रघुनन्दन! आप ही की कृपा से भक्त लोग आपको जानते हैं॥२॥

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगतबिकार जान अधिकारी॥
नरतनु धरेउ संत-सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥३॥

आपका शरीर चैतन्य आनन्दघन है। उसको निर्विकार (शुद्ध अन्तःकरणवाले) अधिकारी जानते हैं। देवता और सन्तों के कार्य करने के लिए आपने मनुष्य की देह धारण की है इसी से प्राकृत (संसारी) राजाओं के समान आप कहते और करते हैं॥३॥

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥
तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिय तस चाहिय नाचा॥४॥

हे राम! आपके चरित्रों को देख और सुनकर मूर्ख लोग तो मोहित हो जाते हैं (अनेक प्रकार के सन्देह और भ्रम में पड़ जाते हैं) और पण्डित प्रसन्न होते हैं। आप जो कुछ कहते हैं वह सब सच्चा कर दिखाते हैं, क्योंकि जैसो कछनो काछे वैसा ही नाचना भी तो चाहिए॥४॥

दो०—पूछेहु मोहि कि रहउँ कहँ मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ॥१२८॥

आपने मुझसे पूछा कि 'मैं कहाँ रहूँ?' मैं इस पूछने से सकुचाता हूँ। क्योंकि आप जहाँ न हों, वहाँ आपको रहने को कहूँ और स्थान बता दूँ (अर्थात् सर्वव्यापी आप सभी जगह वर्तमान हैं तब कहाँ बतलाऊँ कि आप वहाँ रहो)॥१२८॥

चौ०—सुनि मुनिबचन प्रेमरस साने। सकुचि राम मन महँ मुसुकाने॥
बालमीकि हँसि कहहिं बहोरी। बानी मधुर अमिय रस बोरी॥१॥

इस तरह प्रेम रस से सने हुए मुनि के वचन सुनकर रामचन्द्रजी अपने मन में सकुचाये और मुस्कुराये, तब वाल्मीकिजी फिर हँसकर अमृतभरी मीठी वाणी से बोले—॥१॥

सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय-लषन-समेता॥
जिन्ह के स्रवन समुद्रसमाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥२॥

हे राम! सुनिए, अब मैं आपके रहने के लिए स्थान कहता हूँ, जहाँ आप सीता और लक्ष्मण समेत बसें। जिनके कान आपकी नाना प्रकार की कथारूपी अनेक नदियों को ग्रहण करने के लिए समुद्ररूप हो गये हैं॥ २॥

भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे॥
लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरसजलधर अभिलाषे॥३॥

वे दिन रात भरे जाते हैं किन्तु पूरे नहीं होते, (अर्थात् जैसे हज़ारों नदियों के गिरने पर भी समुद्र भर नहीं जाता, उसी तरह हज़ारों हरि-कथाओं के सुनने पर भी जिनके कान उकता नहीं जाते) और जिन्होंने आपके दर्शनरूपी बादलों की अभिलाषा से अपने नेत्रों को पपीहा बना रक्खा है उन (भगवद्भक्तों) के हृदय आपके रहने के लिए उत्तम स्थान हैं॥ ३॥

निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूपबिंदु जल होहिं सुखारी॥
तिन्ह के हृदयसदन सुखदायक। बसहु बंधु-सिय-सह रघुनायक॥४॥

जो नदी समुद्र और भारी तालाबों का निरादर करते हैं और आपके रूप (दर्शन) के जलबिन्दु से ही सुखी होते हैं (अर्थात् जिस तरह पपीहा चौमासे के इतने पानी और नदी नाले आदि किसी के पानी को न पीकर स्वाती की बूँद पाकर प्रसन्न होता है इसी तरह जो अनेक देवताओं के आश्रयरूप जलों को छोड़ एक आपही की शरण होते हैं।) हे रघुनायक! उन लोगों के हृदयरूपी सुखदायी स्थानों में आप भाई और सीता सहित रहो॥ ४॥

दो०—जस तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुनगन चुनइ राम बसहु मन तासु॥१२९॥

हे राम! आपके यशरूपी मान सरोवर के लिए जिनकी जीभ हंसिनी हो गई है और आपके गुण-गणरूपी मोतियों को चुनती है उनके मन में आप बसो॥ १२९॥

चौ०—प्रभुप्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥
तुम्हहिं निबेदित भोजनु करहीं। प्रभुप्रसाद पटु भूषन धरहीं॥१॥

जिनकी नाक आपके सुन्दर, पवित्र और सुगन्धित प्रसाद को आदर के साथ नित्य सूँघती है और जो आपको ही अर्पण (भोग लगा) कर भोजन करते हैं और आपके प्रसादरूप (अर्थात् आपको चढ़ा कर) वस्त्र और भूषण धारण करते हैं॥ १॥

सीस नवहिं सुर-गुरु-द्विज देखी। प्रीतिसहित करि बिनय बिसेखी॥
कर नित करहिं रामपद पूजा। रामभरोस हृदय नहिं दूजा॥२॥

जिनके मस्तक देवता, गुरु और ब्राह्मणों को देखकर प्रेम के साथ बड़ी नम्रता से झुक जाते हैं, जिनके हाथ नित्य रामचन्द्रजी के चरण-कमलों की पूजा करते हैं, जिनके हृदय में रामचन्द्रजी का ही विश्वास है और किसी का नहीं ॥ २ ॥

चरन रामतीरथ चलि जाहीँ। राम बसहु तिन्ह के मन माहीँ॥
मंत्रराजु नित जपहिँ तुम्हारा। पूजहिँ तुम्हहिँ सहित परिवारा॥३॥

जिनके पाँव रामचन्द्रजी के तीर्थों में चलकर जाते हैं, हे राम ! आप उनके हृदय में बसो। जो आपके मन्त्रराज (रामषडक्षर तारक) को नित्य जपते हैं और जो कुटुम्बसहित आपकी पूजा करते हैं ॥ ३ ॥

तरपन होम करहिँ बिधि नाना। बिप्र जेवाँय देहिँ बहु दाना॥
तुम्ह तेँ अधिक गुरुहिँ जिय जानी। सकल भाय सेवहिँ सनमानी॥४॥

जो लोग नित्य तरह तरह के तर्पण और अग्नि-होत्र करते हैं, ब्राह्मणों को भोजन कराते और बहुत दान देते हैं, जो आपसे भी अधिक अपने गुरु को जी में जानकर सब प्रकार से सम्मानपूर्वक उनकी सेवा करते हैं ॥ ४ ॥

दो०—सब करि माँगहिँ एकु फलु राम-चरन-रति होउ।
तिन्ह के मनमंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥१३०॥

जो इतने सब कर्मों का एक ही फल माँगते हैं कि रामचन्द्रजी के चरणों में हमारी प्रीति हो, हे राम ! उन लोगों के मनरूपी मन्दिरों में आप सीता और लक्ष्मण सहित बसो ॥ १३० ॥

चौ०—काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्ह के कपट दंभ नहिँ माया। तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया॥१॥

जिनके मन में न काम है न क्रोध, न मद है न मान है न मोह, न लोभ है न क्षोभ (चिढ़ना), न स्नेह है न द्रोह, न कपट है, न दंभ (छल), और न माया है, हे रघुराज ! आप उनके हृदय में वास करो ॥ १ ॥

सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिँ सत्य प्रियबचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥२॥

जो सबको प्यारे और सबके हित करनेवाले हैं, जिनको दुःख और सुख एक समान हैं और जिन्हें बड़ाई तथा गालियाँ भी एक सी हैं, जो सत्य और प्यारे वचनों को विचार कर कहते हैं, जो जागते और सोते आपकी शरण में रहते हैं ॥ २ ॥

तुम्हहिँ छाँडि गति दूसरि नाहीँ। राम बसहु तिन्ह के मन माहीँ॥
जननीसम जानहिँ परनारी। धनु पराव बिष तेँ बिष भारी॥३॥

जिनको आपके सिवा दूसरी कोई गति (शरण, उपाय) नहीं है, हे राम ! आप उनके मन में निवास करो। जो पराई स्त्री को माता के समान मानते हैं और दूसरे के धन को विष से भी भारी (महा) विष समझते हैं ॥ ३ ॥

जे हरषहिँ परसंपति देखी। दुखित होहिँ परबिपति बिसेखी ॥
जिन्हहिँ राम तुम्ह प्रान पियारे। तिन्ह के मन सुभसदन तुम्हारे ॥४॥

जो दूसरे की सम्पत्ति देखकर प्रसन्न होते हैं और दूसरे की विपत्ति देखकर भारी दुखी होते हैं, हे राम ! जिनको आप प्राणसमान प्रिय हैं, उनके चित्त आपके सुन्दर निवास-स्थान हैं ॥ ४ ॥

दो०—स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मनमंदिर तिन्ह के बसहु सीयसहित दोउ भ्रात ॥१३१॥

हे तात ! जिनके आप ही स्वामी, सखा, पिता, माता और गुरु हैं, उनके मनरूपी मन्दिर में सीतासहित दोनों भाई निवास करो ॥ १३१ ॥

चौ०—अवगुन तजि सब के गुन गहहीं। बिप्र-धेनु-हित संकट सहहीं ॥
नीतिनिपुन जिन्ह कइ जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह कर मन नीका ॥१॥

जो लोग सबके अवगुणों को छोड़कर गुणों को ग्रहण करते हैं, जो ब्राह्मणों और गौओं के हित के लिए सङ्कट भी सह लेते हैं, संसार में जो नीतिज्ञ माने जाकर प्रतिष्ठित हैं उनके मन आपके रहने को अच्छा घर है ॥ १ ॥

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥
रामभगत प्रिय लागहिँ जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही ॥२॥

जो लोग तुम्हारे गुणों या उपकारों को तथा अपने दोषों को समझते हैं अथवा जो लोग गुण को तो आपका किया हुआ (किसी को कुछ फ़ायदा हो तो उसे ईश्वर का किया समझते) और दोषों (नुक़सानों) को अपना किया समझते हैं, जिन्हें सब तरह से आपका भरोसा है, जिनको रामचन्द्रजी के भक्त प्यारे लगते हैं, उनके हृदय में सीतासहित आप निवास करो ॥ २ ॥

जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदनु सुखदाई ॥
सब तजि तुम्हहिँ रहइ लउ लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई ॥३॥

हे रामचन्द्रजी ! जो जाति, पाँति, धन, धर्म, प्रशंसा और प्यारे कुटुम्बी तथा सुख देनेवाले घर को भी छोड़कर आप ही में लव लगाये रहते हैं, उनके हृदय में आप निवास करो ॥ ३ ॥

सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनुबाना ॥
करम-बचन-मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा ॥४॥

हे राम ! जिनको स्वर्ग, नरक और मोक्ष समान है, जो जहाँ तहाँ (सभी जगह) धनुष-बाण-धारी आप ही को देखते हैं, जो कर्म से, वचन से और मन से आपके दास हैं, उनके हृदय में आप (सदा) डेरा करो ॥ ४ ॥

दो०—जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु ।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥१३२॥

जिनको कभी कुछ भी चाहना नहीं है, जिनको आपसे स्वाभाविक प्रीति है, उनके मन में आप निरन्तर निवास करो, वही आपका निज का घर है ॥ १३२ ॥

चौ०—एहि बिधि मुनिबर भवन देखाये। बचन सप्रेम राममन भाये ॥
कह मुनि सुनहु भानु-कुल-नायक। आस्रमु कहउँ समय सुखदायक ॥१॥

इस तरह मुनिवर वाल्मीकिजी ने रामचन्द्रजी के निवास-स्थान बताये। वे प्रेम सहित वचन रामचन्द्रजी के चित्त में प्रिय लगे। फिर मुनि ने कहा—हे सूर्यकुल के स्वामी ! सुनिए, अब मैं इस समय के योग्य सुख देनेवाला आश्रम कहता हूँ ॥ १ ॥

चित्रकूट गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू ॥
सैल सुहावन कानन चारू। करि-केहरि-मृग-बिहँग बिहारू ॥२॥

आप चित्रकूट पर्वत पर जाकर निवास करें। वहाँ आपको सब प्रकार का सुपास (सुबीता) होगा। वह पर्वत भी सुहावना है, और वन भी सुन्दर है। वहाँ हाथियों, सिंहों, हिरनों और पक्षियों का सुन्दर विहार होता है ॥ २ ॥

नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रिप्रिया निज-तप-बल आनी ॥
सुरसरिधार नाउँ मंदाकिनि। जो सब-पातक-पोतक-डाकिनि ॥३॥

वहाँ एक पवित्र नदी है, जिसका वर्णन पुराणों में है। अत्रि ऋषि की स्त्री (अनुसूयाजी) अपनी तपस्या के बल से उसको लाई हैं। वह गङ्गाजी की धारा है। उसका नाम मन्दाकिनी है। वह नदी सब पापरूपी बालकों को खा जाने के लिए डाकिनीरूप है ॥ ३ ॥

अत्रि-आदि मुनि-बर बहु बसहीं। करहिं जोग जप तप तन कसहीं ॥
चलहु सफल स्रम सब कर करहू। राम देहु गौरव गिरिबरहू ॥४॥

अत्रि आदि अच्छे अच्छे बहुत-से ऋषि वहाँ निवास करते हैं और वे योगाभ्यास करते तथा जप और तपस्या से शरीर को कसते (साधते या कष्ट देते) हैं। हे राम ! चलिए और सबके परिश्रम को सफल कीजिए और पर्वत-श्रेष्ठ चित्रकूट को भी (गौरव) बड़ाई दीजिए ॥ ४ ॥

दो०—चित्र-कूट-महिमा-अमित कही महामुनि गाइ ।
आइ नहाये सरितबर सियसमेत दोउ भाइ ॥१३३॥
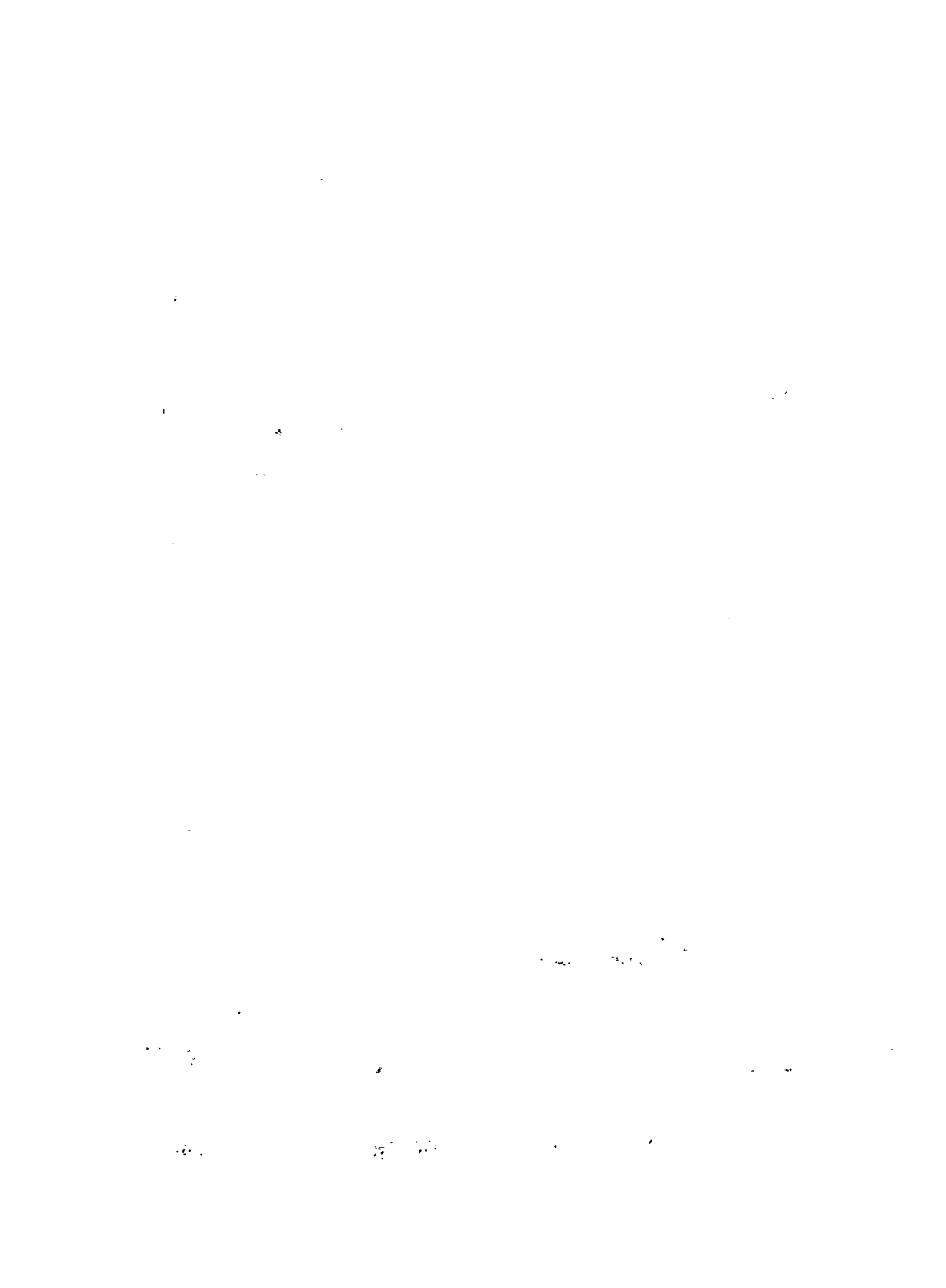
लषन-जानकी-सहित प्रभु राजत रुचिर निकेत।
सोह मदन मुनिबेष जनु रति-रितु-राज-समेत॥—पृष्ठ ४६१

महामुनि (वाल्मीकिजी) ने चित्रकूट पर्वत की अपार महिमा गाकर वर्णन की, तब सीता-सहित दोनों भाई राम-लक्ष्मण उस श्रेष्ठ नदी मन्दाकिनी पर आये। उसमें उन्होंने स्नान किया ॥ १३३ ॥

चौ०—रघुबर कहेउ लषन भल घाटू। करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू ॥
लषन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा ॥१॥

रामचन्द्रजी ने कहा—लक्ष्मण ! घाट तो अच्छा है, अब कहीं ठहरने के लिए प्रबन्ध (तजवीज़) करो। तब लक्ष्मणजी ने पयस्विनी के उत्तर किनारे के करारे को देखा, जिसके चारों ओर धनुष के समान टेढ़ा नाला फिरा हुआ था ॥ १ ॥

नदी पनच सर सम दम दाना। सकलकलुष कलिसाउज नाना ॥
चित्रकूट जनु अचलु अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी ॥२॥

उस धनुष की प्रत्यञ्चा तो वह नदी है, और शम, दम, दान, बाण हैं, कलियुग के नाना प्रकार के पाप शिकार के जंगली जन्तु हैं; चित्रकूट पर्वत ही अचल अहेरी (बिना चूक निशाना लगानेवाला शिकारी) है। उसका घात (निशाना) कभी नहीं चूकता। वह खूब भिड़ कर बराबर पापरूपी पशुओं को मारता रहता है ॥ २ ॥

अस कहि लषन ठाँव देखरावा। थलु बिलोकि रघुबर सुखु पावा ॥
रमेउ राममन देवन्ह जाना। चले सहित सुरपति परधाना ॥३॥

लक्ष्मणजी ने इस प्रकार कहकर (निवास के लिए) जगह दिखाई। उस जगह को देखकर रामचन्द्रजी भी प्रसन्न हुए। जब देवतों ने जाना कि अब रामचन्द्रजी का मन रम गया, तब वे अपने प्रधान या अधिपति (इन्द्र) को आगे करके वहाँ आये ॥ ३ ॥

कोल-किरात-बेष सब आये। रचे परन-तृन-सदन सुहाये ॥
बरनि न जाहिँ मंजु दुइ साला। एक ललित लघु एक बिसाला ॥४॥

वे सब देवता कोल-भीलों के वेष धारण करके आये और उन्होंने सुन्दर पत्तों और घासों की अच्छी कुटियाँ बनाईं। दो कुटियाँ ऐसी सुन्दर बनाईं जिनका वर्णन करते नहीं बनता। उनमें एक छोटी और सुन्दर थी और दूसरी बड़ी ॥ ४ ॥

दो०—लषन-जानकी-सहित प्रभु राजत रुचिर निकेत।
सोह मदनु मुनिबेष जनु रति-रितु-राज-समेत ॥१३४॥

उस मनोहर घर (कुटी) में लक्ष्मण और जानकी सहित रामचन्द्रजी ऐसे विराजमान थे, मानों कामदेव वसन्त ऋतु और रति के साथ मुनि का वेष धारण कर आ बसा हो ॥ १३४ ॥

चौ०—अमर नाग किन्नर दिसि पाला। चित्रकूट आये तेहि काला ॥
रामु प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित देव लहि लोचनलाहू ॥१॥

उस समय चित्रकूट पर देवता, नाग, किन्नर और दिक्पाल आये। सबने रामचन्द्र को प्रणाम किया। नेत्रों का लाभ (रामदर्शन) पाकर देवता प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

बरषि सुमन कह देवसमाजू। नाथ सनाथ भये हम आजू ॥
करि बिनती दुख दुसह सुनाये। हरषित निज निज सदन सिधाये ॥२॥

देवगण फूलों की वर्षा करके कहने लगे कि हे नाथ! आज हम सनाथ हुए। फिर रामचन्द्रजी की प्रार्थना करके उन्होंने अपने कठिन दुःख सुनाये और प्रसन्न होकर वे अपने अपने स्थानों को गये ॥ २ ॥

चित्रकूट रघुनंदन छाये। समाचार सुनि सुनि मुनि आये ॥
आवत देखि मुदित मुनिबृंदा। कीन्ह दंडवत रघु-कुल-चंदा ॥३॥

चित्रकूट में रामचन्द्रजी के बसने का समाचार सुन सुनकर ऋषि लोग आये। रघुकुल के चन्द्र श्रीरामचन्द्रजी ने मुनियों के समूह को आते देखकर प्रसन्न होकर उनको प्रणाम किया ॥ ३ ॥

मुनि रघुबरहिँ लाइ उर लेहीँ। सुफल होन हित आसिष देहीँ ॥
सिय-सौमित्रि-राम-छबि देखहिँ। साधन सकल सफल करि लेखहिँ ॥४॥

मुनिजन रामचन्द्रजी को गले से लगा लेते हैं, उनको सफलता के लिए उन्हें आशीर्वाद देते हैं। वे सीता और लक्ष्मण-सहित रामचन्द्रजी की सुन्दरता को देखकर अपने सब साधनों को सफल हुए समझने लगे ॥ ४ ॥

दो०—जथायोग सनमानि प्रभु बिदा किये मुनिबृंद।
करहिँ जोग जप जाग तप निज आस्रमनि सुछंद ॥१३५॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने सब ऋषि-गणों का यथायोग्य सम्मान करके उनको बिदा किया। वे सब अपने अपने आश्रमों में स्वतन्त्रता से योग, जप, यज्ञ और तपस्या करने लगे ॥ १३५ ॥

चौ०—यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नवनिधि घर आई ॥
कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना ॥१॥

यह समाचार (रामचन्द्रजी का चित्रकूट का निवास) जब कोल-भीलों ने पाया तब वे ऐसे प्रसन्न हुए मानों उनके घरों में नौ निधि आ गई हो। वे दोनों में कन्द, मूल, फल भर भरकर ऐसे चले जैसे दरिद्री लोग सोना लूटने के लिए दौड़ें ॥ १ ॥

तिन्ह महँ जिन्ह देखे दोउ भ्राता। अपर तिन्हहिँ पूछहिं मग जाता ॥
कहत सुनत रघुबीर निकाई। आइ सबन्हि देखे रघुराई ॥२॥

उनमें जिन्होंने राम-लक्ष्मण दोनों भाइयों को देखा था, उनसे दूसरे लोग रास्ते में जाते हुए उनके विषय में पूछते थे। इस तरह आपस में रामचन्द्रजी की बड़ाई कहते-सुनते सबने आकर रामचन्द्रजी को देखा ॥ २ ॥

करहिँ जोहारु भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकहिँ अति अनुरागे ॥

चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढे। पुलक सरीर नयन जल बाढे ॥३॥

वे सब सामने भेंट रखकर जोहार (प्रणाम) करके बड़े प्रेम के साथ रामचन्द्रजी को देखने लगे। उनके शरीर पुलकित हो गये, नेत्रों से जल-धारा बह चली और वे चित्र में लिखे से जहाँ के तहाँ खड़े रह गये ॥ ३ ॥

राम सनेहमगन सब जाने। कहि प्रियबचन सकल सनमाने ॥

प्रभुहि जोहारि बहोरि बहोरी। बचन बिनीत कहहिँ कर जोरी ॥४॥

रामचन्द्रजी ने उन सबको स्नेह में मग्न जान लिया और सबको प्रिय वचन कहकर उनका सम्मान किया। फिर वे सब स्वामी रामचन्द्रजी को बारंबार प्रणाम कर हाथ जोड़कर नम्र वचनों से कहने लगे—॥ ४ ॥

दो०—अब हम नाथ सनाथ सब भये देखि प्रभुपाय।

भाग हमारे आगमनु राउर कोसलराय ॥१३६॥

हे नाथ ! अब स्वामी के चरणों का दर्शन पाकर हम सब सनाथ हो गये। हे कोसला-धीश ! हमारे ही भाग्य से आपका यहाँ आगमन हुआ है ॥ १३६ ॥

चौ०—धन्य भूमि बन पंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाउँ तुम्ह धारा ॥

धन्य बिहँग मृग काननचारी। सफल जनम भये तुम्हहिँ निहारी ॥१॥

हे नाथ ! जहाँ जहाँ आपने अपने चरण रक्खे हैं, वह पृथ्वी धन्य है तथा वह वन, वह मार्ग और वे पहाड़ धन्य हैं। इस जङ्गल में फिरनेवाले पक्षी और मृग भी धन्य हैं जो आपका दर्शन पाकर सफल-जन्म हो गये ॥ १ ॥

हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरसु भरि नयन तुम्हारा ॥

कीन्ह बासु भल ठाँउ बिचारी। इहाँ सकल रितु रहब सुखारी ॥२॥

हम सब अपने कुटुम्ब-सहित धन्य हैं कि जिन्होंने आँखें भरकर आपका दर्शन किया। आपने अपना निवास बड़ी अच्छी जगह सोचकर किया है। यहाँ सभी ऋतुओं में आप सुखी रहोगे ॥ २ ॥

हम सब भाँति करबि सेवकाई। करि-केहरि-अहि-बाघ बराई ॥

बन बेहड गिरि कंदर खोहा। सब हमार प्रभु पग पग जोहा ॥३॥

हम सब लोग हाथियों, सिंह, साँप, और बाघों से बचाकर सब प्रकार से आपकी सेवा करेंगे। हे स्वामी! यहाँ के वन, जंगल, पहाड़, गुफायें और खोह (गड्ढे) सब हमारे पग पग (बिलकुल) देखे हुए हैं॥ ३॥

जहँ तहँ तुम्हहिँ अहेर खेलाउब। सर निरझर भल ठाउँ देखाउब॥
हम सेवक परिवारसमेता। नाथ न सकुचब आयसु देता॥४॥

हम आपको जहाँ तहाँ अहेर (शिकार) खिलावेंगे और तालाब, झरने आदि अच्छे अच्छे ठिकाने दिखावेंगे। हम कुटुम्ब समेत आपके सेवक हैं, आप स्वामी हैं, इसलिए आज्ञा देने में किसी प्रकार का सङ्कोच न कीजिएगा॥ ४॥

दो०—बेदबचन मुनिमन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालकबैन॥१३७॥

जो परमात्मा रामचन्द्र वेदों के वचनों को और ऋषियों के मनों को भी अगम हैं (जाने भी नहीं जाते तो प्राप्त होना कहाँ?) वे दया के स्थान प्रभु रामचन्द्र उन भीलों के वचनों को ऐसे सुन रहे हैं जैसे पिता बालक के वचनों को सुने॥ १३७॥

चौ०—रामहिँ केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
राम सकल-बन-चर तब तोषे। कहि मृदुबचन प्रेम परिपोषे॥१॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि रामचन्द्रजी को तो केवल प्रेम ही प्यारा है, जो जाननेवाला हो वह जान ले। फिर रामचन्द्रजी ने सब वनवासियों से प्रेम-भरे कोमल वचन कहकर उन्हें सन्तुष्ट किया॥ १॥

बिदा किये सिरुनाइ सिधाये। प्रभुगुन कहत सुनत घर आये॥
एहि बिधि सियसमेत दोउ भाई। बसहिँ बिपिन सुर-मुनि-सुख-दाई॥२॥

फिर उनको बिदा किया। वे सिर झुकाकर वहाँ से चले और प्रभु के गुणों को कहते सुनते हुए अपने अपने घर पहुँचे। इस तरह से देवतों और ऋषियों को सुख देनेवाले रामचन्द्रजी लक्ष्मण और सीताजी समेत वन में निवास करने लगे॥ २॥

जब तेँ आइ रहे रघुनायक। तब तेँ भयउ बनु मंगलदायक॥
फूलहिँ फलहि बिटप बिधि नाना। मंजु-बलित-बर-बेलि-बिताना॥३॥

जब से रामचन्द्रजी आकर बसे तब से वह वन मंगल-दायक हो गया। अनेक तरह के वृक्ष फूलते और फलते थे और उन पर सुन्दर लिपटी हुई बेलों के मंडप छाये हुए थे॥ ३॥

सुर-तरु-सरिस सुभाय सुहाये। मनहुँ बिबुधबन परिहरि आये॥
गुंज मंजुतर मधुकर स्रेनी। त्रिबिध बयारि बहइ सुखदेनी॥४॥

वे वृक्ष कल्पवृक्ष के समान स्वाभाविक सुन्दर थे, मानों वे देवतों के वन को छोड़-कर आ गये हों। बहुत ही सुन्दर भवरों की पंक्तियाँ गुंजार करती थीं और सुख देनेवाली तीन प्रकार की (शीतल, मन्द और सुगन्ध) हवा चल रही थी ॥ ४ ॥

दो०—नीलकंठ कलकंठ सुक चातक चक्क चकोर।
भाँति भाँति बोलहिँ बिहँग स्रवनसुखद चितचोर ॥१३८॥

मोर, कोयल, तोते, पपोहा, चकवा और चकोर इत्यादि पक्षी तरह तरह की बोलियाँ बोलते थे, जो कानों को सुख देनेवाली और मन को मोहित करनेवाली थीं ॥ १३८ ॥

चौ०—करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगतबैर बिचरहिँ सब संगा ॥
फिरत अहेर रामछबि देखी। होहिँ मुदित मृगबृंद बिसेखी ॥१॥

हाथी और सिंह, बन्दर, सूअर और हिरन ये सब आपस के वैरभाव को छोड़कर साथ साथ घूमते थे। अहेर करने के लिए फिरते समय रामचन्द्रजी की छवि को देखकर हिरनों के झुण्ड अधिक प्रसन्न होते थे ॥ १ ॥

बिबुधबिपिन जहँ लगि जग माहीँ। देखि रामबन सकल सिहाहीँ ॥
सुरसरि सरसइ दिनकर-कन्या। मेकलसुता गोदावरि धन्या ॥२॥

जहाँ तक संसार में देवतों के वन हैं वे सब रामचन्द्रजी के वन को देखकर उसकी प्रशंसा करते थे। गङ्गा, सरस्वती, यमुना, नर्मदा, गोदावरी आदि बड़ी बड़ी नदियाँ ॥ २ ॥

सब सर सिंधु नदी नद नाना। मंदाकिनि कर करहिँ बखाना ॥
उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल-सुर-बासू ॥३॥

सारे सरोवर, समुद्र, नदी और अनेक नद सब मन्दाकिनी नदी की बड़ाई करते थे। उदयाचल, अस्ताचल, कैलास, मन्दर पर्वत और सुमेरु आदि जितने देवतों के रहने के पर्वत थे; ॥ ३ ॥

सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूटजसु गावहिँ तेते ॥
बिंध मुदितमन सुखु न समाई। स्रम बिनु बिपुल बडाई पाई ॥४॥

हिमालय आदि को लेकर सभी पहाड़, चित्रकूट को कीर्त्ति गाने लगे। विंध्याचल तो मन में फूला नहीं समाता था, क्योंकि उसको बिना ही परिश्रम बहुत बड़ाई मिल गई[1] ॥ ४ ॥

१—चित्रकूट विन्ध्याचल ही का एक टुकड़ा है। चित्रकूट की बड़ाई से विन्ध्य की बड़ाई भी हो गई।

दो०—चित्रकूट के बिहँग मृग बेलि बिटप तृन जाति।
पुन्यपुंज सब धन्य अस कहहिँ देव दिनराति ॥१३९॥

देवतागण दिन रात यही कहते थे कि चित्रकूट के पक्षी, पशु, बेल, वृक्ष, घास फूँस आदि सभी धन्य हैं और सब पुण्य के पुंज हैं ॥ १३९ ॥

चौ०—नयनवंत रघुबरहिँ बिलोकी। पाइ जनमफल होहिँ बिसोकी ॥
परसि चरनरज अचर सुखारी। भये परमपद के अधिकारी ॥१॥

जिनके आँखें हैं वे रामचन्द्रजी को देखकर जन्म की सफलता पाकर बेफ़िक्र हो जाते हैं। अचर (पत्थर, पहाड़, पेड़ आदि) रामचन्द्रजी के चरणों की धूल को स्पर्श कर सुखी हो गये और वे सब परमपद (मोक्ष) के अधिकारी हो गये ॥ १ ॥

सो बनु सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति-पावन-पावन ॥
महिमा कहिय कवन बिधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ॥२॥

सुख के सागर रामचन्द्रजी ने जहाँ निवास किया, वह वन और पर्वत स्वाभाविक सुहावना, मङ्गल-स्वरूप और अति पवित्रों को भी पवित्र करनेवाला हो गया। उसकी महिमा का किस तरह वर्णन किया जाय? ॥ २ ॥

पयपयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय-लषनु-रामु रहे आई ॥
कहि न सकहिँ सुखमा जसि कानन। जौं सत सहस होहिँ सहसानन ॥३॥

भला क्षीरसागर को छोड़कर और अयोध्या को छोड़कर जहाँ सीता, लक्ष्मण और रामचन्द्रजी आकर बसे उस वन की जैसी कुछ शोभा हुई उसका जो सौ हज़ार शेषजी हों तो भी पूरा वर्णन न कर सकें ॥ ३ ॥

सो मैं बरनि कहौं बिधि केहीं। डाबरकमठ कि मंदर लेहीं ॥
सेवहिँ लषनु करम-मन-बानी। जाइ न सील सनेहु बखानी ॥४॥

फिर भला, मैं उस शोभा का वर्णन कैसे कर सकता हूँ? कहीं तलैया का कछुआ अपनी पीठ पर मन्दराचल को उठा सकता है? लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी की मन, वचन और कर्म से सेवा करते थे। उनके शील और प्रेम का वर्णन करते नहीं बनता ॥ ४ ॥

दो०—छिनु छिनु लखि सिय-राम-पद जानि आपु पर नेहु।
करत न सपनेहुँ लषनु चित बंधु-मातु-पितु-गेहु ॥१४०॥

लक्ष्मणजी क्षण क्षण में सीता-रामजी के चरणों को देखकर और अपने ऊपर उनके प्रेम को पहचान कर स्वप्न में भी भाई (भरत-शत्रुघ्न), माता पिता और घर की सुध नहीं करते थे ॥१४०॥

चौ०—रामसंग सिय रहति सुखारी। पुर-परिजन-गृह-सुरति बिसारी॥
छिनु छिनु पिय-बिधु-बदनु निहारी। प्रमुदित मनहुँ चकोरकुमारी॥१॥

रामचन्द्रजी के साथ सीताजी अयोध्यापुरी, कुटुम्बी जन और घर की सुध भूलकर बड़े सुख से रहने लगीं। जिस तरह चन्द्रमा को देखकर चकोरी प्रसन्न होती है उसी तरह प्रति क्षण सीताजी अपने पति रामचन्द्रजी के मुख-चन्द्र को देखकर प्रसन्न रहती थीं॥ १॥

नाहनेह नित बढत बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥
सियमन रामचरन अनुरागा। अवध-सहस-सम बनु प्रिय लागा॥२॥

जैसे चकवी दिन में प्रसन्न रहती है वैसे सीताजी भी अपने ऊपर स्वामी के प्रेम को नित्य बढ़ता हुआ देखकर प्रसन्न रहती थीं। सीताजी का मन रामचन्द्रजी के चरणों के प्रेम में ऐसा लग गया था कि वह वन उन्हें हजारों अयोध्याओं के समान प्रिय लगता था॥ २॥

परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा॥
सासु-ससुर-सम मुनितिय मुनिबर। असन अमियसम कंद मूल फर॥३॥

अत्यन्त प्यारे रामचन्द्रजी के साथ वह पत्तों की कुटी सीताजी को प्यारी लगती और वहाँ के मृग और पक्षी कुटुम्बियों जैसे प्यारे लगते थे। ऋषियों की स्त्रियाँ सासु के समान और ऋषि लोग ससुर के समान और कन्द मूल फलों का आहार उनको अमृत-भोजन समान लगता था॥ ३॥

नाथसाथ साथरी सुहाई। मयन-सयन-सय-सम सुखदाई॥
लोकप होहिं बिलोकत जासू। तेहि कि मोह सक बिषय बिलासू॥४॥

स्वामी के साथ कुशों और पत्तों की सुन्दर चटाई ही कामदेव की सैकड़ों शय्याओं के समान सुख देनेवाली थी। जिनके दर्शन-मात्र से मनुष्य लोकपाल (इन्द्र-आदि) हो जाते हैं, भला क्या उन्हें भी संसारी भोग-विलास मोहित कर सकते हैं?॥ ४॥

दो०—सुमिरत रामहिं तजहिं जन तृनसम बिषय बिलासु।
रामप्रिया जग-जननि सिय कछु न आचरजु तासु॥१४१॥

जब साधारण मनुष्य रामचन्द्रजी का स्मरण-मात्र करने पर विषयसम्बन्धी सुखों को तिनके के समान त्याग देते हैं तब रामचन्द्रजी की प्यारी और जगत् की माता सीताजी विषयों को त्याग दें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?॥ १४१॥

चौ०—सीयलषन जेहि बिधि सुखु लहहीं। सोइ रघुनाथु करहिं सोइ कहहीं॥
कहहिं पुरातन कथा कहानी। सुनहिं लषनु सिय अतिसुखु मानी॥१॥

जिस तरह सीताजी और लक्ष्मणजी को सुख प्राप्त हो, वही काम रामचन्द्रजी करते और वही बात कहते थे। रामचन्द्रजी पुरानी कथाएँ और कहानियाँ कहते थे और सीता तथा लक्ष्मणजी बड़े सुख से ध्यान देकर सुनते थे ॥ १ ॥

जब जब राम अवध सुधि करहीं। तब तब बारि बिलोचन भरहीं ॥
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरत-सनेहु-सील-सेवकाई ॥२॥

रामचन्द्रजी जब जब अयोध्या की सुध करते थे, तब तब आँखों में आँसू भर आते थे। माता-पिता, कुटुम्बियों और भाइयों को तथा भरत के स्नेह, शील और सेवकपन को याद करके ॥ २ ॥

कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी। धीरजु धरहिं कुसमउ बिचारी ॥
लखि सिय लषनु बिकल होइ जाहीं। जिमि पुरुषहिं अनुसर परिछाहीं ॥३॥

दयासागर स्वामी रामचन्द्रजी बड़े दुखी होते थे, पर बुरा समय जानकर धीरज धारण कर लेते थे। जिस तरह मनुष्य की छाया उसी के अनुसार काम करती है उसी तरह रामचन्द्रजी को दुखी देखकर उनके छायारूप लक्ष्मण और सीताजी भी व्याकुल हो जाते थे ॥ ३ ॥

प्रिया-बंधु-गति लखि रघुनंदनु। धीर कृपाल भगत-उर-चंदनु ॥
लगे कहन कछु कथा पुनीता। सुनि सुखु लहहिं लषनु अरु सीता ॥४॥

भक्तों के हृदयों को शीतल करनेवाले चन्दनरूप, धीर, दयालु, रामचन्द्रजी प्यारी (सीताजी) और भाई लक्ष्मणजी की वह दशा देखकर कुछ पुरानी पवित्र कथा कहने लगते, जिसे सुनकर लक्ष्मण और सीताजी सुखी हो जाते ॥ ४ ॥

दो०—रामु लषन-सीता-सहित सोहत परननिकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर सची-जयंत-समेत ॥१४२॥

रामचन्द्रजी, लक्ष्मण और सीताजी सहित, पर्णकुटी में ऐसे शोभित होते थे जैसे अमरावती पुरी में शची (इन्द्राणी) और जयन्त (इन्द्र का पुत्र) समेत इन्द्र शोभित हों ॥ १४२ ॥

चौ०—जोगवहिं प्रभु सियलषनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे ॥
सेवहिं लषन सीय-रघुबीरहिं। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं ॥१॥

स्वामी रामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मण की कैसे रक्षा करते थे जैसे पलकें आँखों की पुतलियों की करती हैं। सीता और लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी की सेवा ऐसी करते थे जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने शरीर की करते हैं ॥ १ ॥

एहि बिधि प्रभु बन बसहिं सुखारी। खग-मृग-सुर-तापस-हित-कारी ॥
कहेउँ राम-बन-गवनु सुहावा। सुनहु सुमंत्र अवध जिमि आवा ॥२॥

पक्षियों, मृगों, देवतों और तपस्वियों के हितकारी प्रभु रामचन्द्रजी इस तरह वन में बसने लगे। तुलसीदासजी कहते हैं कि यह सुन्दर रामचन्द्रजी का वन जाना मैंने कहा। अब आगे जिस तरह सुमन्त्र अयोध्या में आया वह कथा सुनो ॥ २ ॥

फिरेउ निषादु प्रभुहिँ पहुँचाई। सचिव सहित रथ देखेसि आई ॥
मंत्री बिकल बिलोकि निषादू। कहि न जाइ जस भयउ बिषादू ॥३॥

स्वामी रामचन्द्रजी को पहुँचाकर गुह निषाद जब लौटा, तब आकर उसने (सुमन्त्र) मन्त्री-सहित रथ देखा। वहाँ उस मन्त्री को बेचैन देखकर निषाद को जैसा दुःख हुआ वह कहते नहीं बनता ॥ ३ ॥

राम राम सिय लषन पुकारी। परेउ धरनितल ब्याकुल भारी ॥
देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीँ। जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीँ ॥४॥

वह हा राम! हा राम! हा सीते! हा लक्ष्मण! पुकारकर बहुत व्याकुल होकर धरती पर गिर पड़ा। रथ के घोड़े दक्षिण दिशा की ओर देखकर हिनहिनाने लगे और ऐसे व्याकुल होने लगे जैसे बिना पंख के पक्षी व्याकुल होते हैं ॥ ४ ॥

दो०—नहिँ तृन चरहिँ न पियहिँ जलु मोचहिँ लोचन बारि।
ब्याकुल भयउ निषाद तब रघु-बर-बाजि निहारि ॥१४३॥

वे घोड़े न घास चरते, न पानी पीते हैं, केवल आँखों से आँसू बहाते हैं। इस दशा में रामचन्द्रजी के घोड़ों को देखकर निषाद (गुह) व्याकुल हो गया ॥ १४३ ॥

चौ०—धरि धीरजु तब कहइ निषादू। अब सुमंत्र परिहरहु बिषादू ॥
तुम्ह पंडित परमारथग्याता। धरहु धरी लखि बिमुख बिधाता ॥१॥

तब निषाद धीरज धरकर कहने लगा कि हे सुमंत्र! अब दुख को दूर करो। तुम तो पण्डित (भलाई बुराई को समझने की बुद्धिवाले) और परमार्थ के जाननेवाले हो, इसलिए विधाता को प्रतिकूल जानकर धीरज धरो ॥ १ ॥

बिबिध कथा कहि कहि मृदुबानी। रथ बैठारेउ बरबस आनी ॥
सोकसिथिल रथु सकइ न हाँकी। रघु-बर-बिरह-पीर उर बाँकी ॥२॥

कोमल वाणी से तरह तरह की कथाएँ कहकर निषाद ने जबरदस्ती लाकर सुमंत्र को रथ पर बैठा दिया। सुमंत्र शोक के मारे ऐसा शिथिल हो गया कि रथ न हाँक सका। रामचन्द्रजी के विरह की चोट उसके हृदय में बड़ी गहरी लगी थी ॥ २ ॥

चरफराहिँ मग चलहिँ न घोरे। बनमृग मनहुँ आनि रथ जोरे ॥
अढुकि परहिँ फिरि हेरहिँ पीछे। रामबियोग बिकल दुख तीछे ॥३॥

घोड़े तड़फड़ाते थे और रास्ता नहीं चलते थे। ऐसा मालूम होता था मानों जङ्गली जानवर या हिरन लाकर रथ में जोत दिये गये हैं। वे चलते चलते अटक जाते और पीछे की ओर देखने लगते, क्योंकि वे रामचन्द्रजी के वियोग के तीक्ष्ण दुःख में व्याकुल हो रहे थे ॥ ३ ॥

जो कह रामु लषनु बैदेही। हिंकरि हिंकरि हित हेरहिँ तेही ॥
बाजिबिरहगति कहि किमि जाती। बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती ॥४॥

जो कोई राम, लक्ष्मण, जानकी का नाम ले लेता, तो घोड़े हिहिना हिहिनाकर उसकी ओर प्यार से देखने लगते थे। घोड़ों की विरह की दशा कैसे कही जाय? वे ऐसे व्याकुल थे जैसे बिना मणि के साँप ॥ ४ ॥

दो०—भयउ निषादु बिषादबस देखत सचिव तुरंग।
बोलि सुसेवक चारि तब दिये सारथी संग ॥१४४॥

मन्त्री और घोड़ों की दशा देखकर निषाद दुःख से पूर्ण हो गया। फिर उसने अपने चार विश्वासी सेवकों को बुलवाकर सुमंत्र सारथि के साथ कर दिया ॥ १४४ ॥

चौ०—गुह सारथिहि फिरेउ पहुँचाई। बिरहबिषादु बरनि नहिँ जाई ॥
चले अवध लेइ रथहि निषादा। होहिँ छनहिँ छन मगन बिषादा ॥१॥

सारथि को कुछ दूर तक पहुँचाकर गुह घर को लौटा। उसे रामचन्द्रजी के विरह का इतना दुख हुआ जो कहा नहीं जा सकता। वे चारों निषाद रथ लेकर अयोध्या को चले। वे भी रह रह कर दुःख में डूब जाते थे ॥ १ ॥

सोच सुमंत्र बिकल दुखदीना। धिग जीवन रघुबीर-बिहीना ॥
रहिहि न अंतहु अधमु सरीरू। जस न लहेउ बिछुरत रघुबीरू ॥२॥

सुमन्त्र सोच के मारे व्याकुल और उस दुःख से दीन हो सोचता था कि रामचन्द्रजी के बिना जीवन को धिक्कार है। यह नीच शरीर अन्त में रहने का तो है ही नहीं, फिर रामचन्द्रजी के बिछुड़ते ही इसने (छूटकर) यश क्यों नहीं ले लिया! ॥ २ ॥

भये अजस-अघ-भाजन प्राना। कवन हेतु नहिँ करत पयाना ॥
अहह मंद मनु अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका ॥३॥

हाय! मेरे प्राण निन्दा और पाप के भागी हुए। न मालूम ये अब भी क्यों नहीं निकलते! हाय! हाय! अरे मूर्ख मन! अवसर चूक गया, अब भी हृदय के दो टुकड़े नहीं हो जाते! ॥ ३ ॥

मीँजि हाथ सिर धुनि पछिताई। मनहुँ कृपिन धनरासि गवाँई ॥
बिरद बाँधि बरबीर कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई ॥४॥

उस समय सुमन्त्र हाथ मलकर और सिर पीट पीटकर ऐसा पछताने लगा जैसे कोई कंजूस धन की ढेरी गवाँकर पछताये, और जैसे कोई शूरवीर युद्ध का बाना पहनकर और नामी योद्धा कहाकर युद्ध से पीठ दिखाकर भागा आता हो ॥ ४ ॥

दो०—विप्र बिबेकी बेदबिद संमत साधु सुजाति ।
जिमि धोखे मदपान कर सचिव सोच तेहि भाँति ॥१४५॥

जैसे कोई विचारवान्, वेद का जाननेवाला, प्रतिष्ठित, साधु, उत्तम जाति में उत्पन्न हुआ ब्राह्मण धोखे से मदिरा पी ले और पछतावे, वैसे ही सुमन्त्र मंत्री उस समय पछता रहा था ॥ १४५ ॥

चौ०—जिमि कुलीनतिय साधु सयानी। पतिदेवता करम - मन - बानी ॥
रहइ करमबस परिहरि नाहू। सचिवहृदय तिमि दारुनदाहू ॥१॥

जैसे कोई कुलीन, सती, चतुर, मन वचन और कर्म से पति को देवता माननेवाली स्त्री भाग्यवश अपने पति को छोड़कर रहे और उसके हृदय में कठिन दाह हो, वैसा ही दाह मंत्री के हृदय में था ॥ १ ॥

लोचन सजल डीठि भइ थोरी । सुनइ न स्रवन बिकल मति भोरी ॥
सूखहिं अधर लागि मुँह लाटी । जिउ न जाइ उर अवधिकपाटी ॥२॥

उसके नेत्रों में आँसू भर रहे थे, दृष्टि कमजोर हो रही थी, कानों से सुनाई नहीं पड़ता था और बुद्धि बे-ठिकाने हो रही थी। उसके होठ सूख रहे थे, मुँह का थूक सूखा जाता था पर प्राण नहीं निकलते थे, क्योंकि (१४ वर्ष के बाद लौटने की) अवधि के किवाड़ हृदय में लगे हुए थे ॥ २ ॥

बिबरन भयउ न जाइ निहारी । मारेसि मनहुँ पिता महतारी ॥
हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी । जम-पुर-पंथ सोच जिमि पापी ॥३॥

उसके चेहरे का रंग-रूप ऐसा फीका पड़ गया कि देखा भी नहीं जाता था। ऐसा मालूम होता था मानों वह माता-पिता को मारकर आया हो। उसके मन में ऐसी हानि और ग्लानि (उदासी) छा गई थी जैसे पापी मनुष्य यमपुर के रास्ते में सोच कर रहा हो ॥ ३ ॥

बचनु न आव हृदय पछिताई । अवध काह मैं देखब जाई ॥
रामरहित रथु देखिहि जोई । सकुचिहि मोहि बिलोकत सोई ॥४॥

उसके मुँह से कुछ वचन नहीं निकलता था, वह अपने हृदय में पछताता था और कहता था कि मैं अयोध्या में जाकर क्या देखूँगा ? रामचन्द्रजी के बिना रथ को जो कोई देखेगा उसे मुझे देखने में सङ्कोच होगा ॥ ४ ॥

दो०—धाइ पूछिहहिँ मोहि जब बिकल नगर नरनारि।
उतरु देब मैं सबहिँ तब हृदय बज्रु बैठारि ॥१४६॥

जब पुरी के स्त्री पुरुष बेचैनी से दौड़े आकर मुझसे पूछेंगे, तब मैं उन्हें छाती पर वज्र रखकर उत्तर दूँगा ॥ १४६ ॥

चौ०—पुछिहहिँ दीन दुखित जब माता। कहब काह मैं तिन्हहिँ बिधाता॥
पूछिहि जबहिँ लषनमहतारी। कहिहउँ कवन सँदेस सुखारी ॥१॥

हे विधाता! जब दीन और दुःखी सब मातायें पूछेंगी तब मैं उन्हें क्या कहूँगा? जब लक्ष्मणजी की माता मुझे पूछेंगी, तब मैं उन्हें कौन सा सुखदायी सन्देसा कहूँगा!॥ १ ॥

रामजननि जब आइहि धाई। सुमिरि बच्छु जिमि धेनु लवाई॥
पूछत उतर देब मैं तेही। गे बनु राम लषनु बैदेही ॥२॥

जिस तरह लवारी (नई ब्याई हुई) गाय बच्चे को याद करके दौड़ पड़ती है, उसी तरह रामचन्द्रजी की माता जब उन्हें याद करती हुई दौड़कर आवेंगी और पूछेंगी तब मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा कि राम-लक्ष्मण और सीताजी वन को चले गये!॥ २ ॥

जोइ पूछिहि तेहि ऊतरु देबा। जाइ अवध अब यह सुख लेबा॥
पुछिहहि जबहिँ राउ दुखदीना। जिवन जासु रघुनाथ अधीना ॥३॥

अब मैं अयोध्या जाकर क्या यही सुख लूँगा कि जो कोई मुझसे पूछेगा उसे एक यही जवाब दूँगा! जब दुःख से दीन महाराजा दशरथ मुझे पूछेंगे, जिनका जीना ही रामचन्द्रजी के अधीन है॥ ३ ॥

देइहउँ उतरु कवन मुँह लाई। आयउँ कुसल कुअँर पहुँचाई॥
सुनत लषन-सिय-राम-सँदेसू। तृन जिमि तनु परिहरिहि नरेसू ॥४॥

उन्हें मैं कौनसा मुँह लेकर उत्तर दूँगा कि मैं राजकुमारों को पहुँचाकर कुशल-पूर्वक लौट आया हूँ! श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी के सन्देसे को सुनते ही महाराज शरीर को तिनके के समान त्याग देंगे॥ ४ ॥

दो०—हृदउ न बिदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतमु नीरु।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यह जातना सरीरु ॥१४७॥

जिस तरह प्यारे पानी के सूख जाने से कीचड़ फट जाता है, उसी तरह मेरा हृदय राम-वियोग पाकर फट न गया। इससे मैं समझता हूँ, कि मुझे विधाता ने यह यातना-शरीर[1] भोगने को दिया है॥ १४७ ॥

१—मनुष्य के मरने पर जीव यातना-शरीर में रहकर पाप-पुण्य के फलों को भोगता हुआ परलोक में जाता है, वही यहाँ सचिव ने मान लिया है।

चौ०—एहि बिधि करत पंथ पछितावा। तमसातीर तुरत रथु आवा॥
बिदा किये करि बिनय निषादा। फिरे पाँय परि बिकल बिषादा॥१॥

इस तरह रास्ते में पछतावा करते करते तुरन्त ही रथ तमसा नदी के किनारे आ पहुँचा। तब मंत्री ने उन चारों निषादों को नम्रता-पूर्वक बिदा किया। वे बेचारे दुःख से व्याकुल हो, मन्त्री के पाँव पड़कर, लौटे॥ १॥

पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुरु-बाँभन-गाई॥
बैठि बिटपतर दिवस गवाँवा। साँझ समय तब अवसरु पावा॥२॥

मंत्री नगर में घुसते समय ऐसा सकुचता है मानों उसने गुरु, ब्राह्मण और गाय मार डाली हो। उसने एक पेड़ के नीचे बैठकर दिन बिता दिया। जब शाम हुई, तब मौक़ा मिला॥ २॥

अवधप्रबेसु कीन्ह अँधियारे। पैठ भवन रथु राखि दुआरे॥
जिन्ह जिन्ह समाचार सुनि पाये। भूपद्वार रथु देखन आये॥३॥

अँधेरा होने पर सुमन्त्र ने अयोध्या में प्रवेश किया और दरवाज़े पर रथ खड़ा करके आप राजमहल में गया। जिन जिन लोगों ने ख़बर पाई वे रथ देखने को राजद्वार पर आये॥ ३॥

रथ पहिचानि बिकल लखि घोरे। गरहिँ गात जिमि आतप ओरे॥
नगर-नारि-नर ब्याकुल कैसे। निघटत नीर मीनगन जैसे॥४॥

(जिसमें बैठकर रामचन्द्रजी गये थे उस) रथ को पहचान कर और घोड़ों को व्याकुल देखकर उनके हाथ-पैर ऐसे गल गये जैसे घाम में ओले गल जाते हैं। नगर के स्त्री-पुरुष ऐसे व्याकुल हुए जैसे पानी के घटने पर मछलियाँ होती हैं॥ ४॥

दो०—सचिव आगमनु सुनत सबु बिकल भयउ रनिवासु।
भवनु भयंकरु लाग तेहि मानहुँ प्रेतनिवासु॥१४८॥

मन्त्री का आना सुनकर सारा रनिवास विकल हो गया। उस समय उनको वह राजमहल ऐसा भयंकर दिखाई देने लगा जैसे वह प्रेतों का निवास-स्थान (श्मशान) हो गया हो॥ १४८॥

चौ०—अति आरति सब पूछहिँ रानी। उतरु न आव बिकल भइ बानी॥
सुनइ न स्त्रवन नयन नहि सूझा। कहहु कहाँ नृप जेहि तेहि बूझा॥१॥

सब रानियाँ बहुत दुःखी होकर पूछती हैं, पर सुमंत्र से कुछ जवाब देते नहीं बनता। उसकी वाणी विकल हो गई। उसको कानों से सुन नहीं पड़ता, और आँखों के आगे सुझाई नहीं पड़ता। जो मिला उसी से उसने पूछा कि कहो, राजा कहाँ हैं॥ १॥

दासिन्ह दीख सचिवबिकलाई। कौसल्यागृह गईं लेवाई॥
जाइ सुमंत्र दीख कस राजा। अमियरहित जनु चंदु बिराजा॥२॥

दासियाँ मन्त्री की व्याकुलता देखकर उसको कौसल्याजी के महल में लिवा ले गईं। सुमन्त्र ने वहाँ जाकर राजा दशरथ को कैसा देखा मानों बिना अमृत का चन्द्रमा (अमावस्या के दिन हो जाता है) हो॥ २॥

आसन-सयन-बिभूषन-हीना। परेउ भूमितल निपट मलीना॥
लेइ उसासु सोच एहि भाँती। सुरपुर तें जनु खँसेउ जजाती॥३॥

वे आसन, शय्या और भूषणों से रहित बिलकुल मलिन वेष से धरती पर पड़े हुए हैं। वे मारे सोच के इस तरह ऊँची साँसें लेते हैं, मानो ययाति[1] राजा स्वर्ग से गिर कर पछताता हो॥ ३॥

लेत सोच भरि छिनु छिनु छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती॥
राम राम कह राम सनेही। पुनि कह रामु लषन बैदेही॥४॥

राजा दशरथ सोच के मारे क्षण क्षण में छाती भर लेते हैं। उनकी दशा ऐसी हो गई है मानों संपाती[2] पक्षी पङ्खों के जल जाने पर गिर पड़ा हो। राम, राम, प्यारे राम, कहकर राजा फिर राम, लक्ष्मण, जानकी कहने लगते॥ ४॥

दो०—देखि सचिव जय जीव कहि कीन्हेउ दंड प्रनामु।
सुनत उठेउ ब्याकुल नृपति कहु सुमंत्र कहँ रामु॥१४९॥

मन्त्री ने देखकर, जय जीव कहकर, दण्डवत् प्रणाम किया। मंत्री की बोली सुनत ही राजा व्याकुल होकर उठ बैठे और बोले कि सुमंत्र! बताओ राम कहाँ हैं॥ १४९॥

चौ०—भूप सुमंत्रु लीन्ह उर लाई। बूडत कछु अधार जनु पाई॥
सहित सनेह निकट बैठारी। पूछत राउ नयन भरि बारी॥१॥

राजा ने सुमन्त्र को छाती से लगा लिया, मानों कोई पानी में डूबते डूबते कुछ सहारा पा गया हो। वे बड़े स्नेह के साथ मन्त्री को पास बिठाकर आँखों में आँसू भरकर पूछने लगे—॥ १॥

१—ययाति राजा ने अपने तपोबल से इन्द्रपद प्राप्त किया। जब वह इन्द्रलोक में पहुँचा तो इन्द्र ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया और पूछा कि आपने कौन कौन से पुण्य किये हैं, जिनसे आपको यह पद मिला। राजा ययाति ज्यों ज्यों अपने किये पुण्यों का वर्णन करने लगा त्यों त्यों वे पुण्य क्षीण होते गये। अन्त में सब पुण्य, अपने मुँह बड़ाई करने से, क्षीण हो चुके तब वह इन्द्र की आज्ञा से स्वर्ग से ढकेल दिया गया।

२—किष्किन्धा-काण्ड में संपाती की कथा है।

रामकुसल कहु सखा सनेही। कहँ रघुनाथ लषनु बैदेही ॥
आने फेर कि बनहिँ सिधाये। सुनत सचिवलोचन जल छाये ॥२॥

हे प्यारे मित्र! कहो रामचन्द्र सकुशल हैं? राम, लक्ष्मण और जानकी कहाँ हैं? तुम उनको लौटा लाये कि वे वन ही को गये? ये प्रश्न सुनकर मन्त्री की आँखों में जल भर आया ॥ २ ॥

सोक बिकल पुनि पूछ नरेसू। कहु सिय-राम-लषनु-संदेसू ॥
राम-रूप-गुन-सील-सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ ॥३॥

राजा शोक से व्याकुल हो फिर पूछने लगे, कि सीता और राम-लक्ष्मण का संदेशा कहो। रामचन्द्रजी के गुण, शील और स्वभाव को याद करके राजा हृदय में सोचने लगे ॥ ३ ॥

राज सुनाइ दीन्ह बनवासू। सुनि मन भयउ न हरष हरासू ॥
सो सुत बिछुरत गये न प्राना। को पापी बड मोहि समाना ॥४॥

'कि मैंने राजतिलक होना सुनाकर वनवास दिया, पर ये दोनों बातें सुनकर भी जिनके मन में न (राजगद्दी का) हर्ष हुआ, न (वनवास का) दुःख, ऐसे पुत्र के बिछुड़ने पर भी जो मेरे प्राण न चले गये तो मेरे बराबर बड़ा पापी दूसरा कौन होगा ॥ ४ ॥

दो०—सखा रामु-सिय-लषनु जहँ तहाँ मोहि पहुँचाउ।
नाहिँ त चाहत चलन अब प्रान कहउँ सतिभाउ ॥१५०॥

हे सखा सुमन्त्र! जहाँ राम, लक्ष्मण और जानकी हैं, वहाँ मुझे पहुँचा दे। नहीं तो अब प्राण चलना चाहते हैं। मैं सत्य भाव से कहता हूँ ॥ १५० ॥

चौ०—पुनि पुनि पूछत मंत्रिहि राऊ। प्रियतम-सुअन-सँदेस सुनाऊ ॥
करहि सखा सोइ बेगि उपाऊ। राम-लषनु-सिय नयन देखाऊ ॥१॥

राजा मन्त्री से बार बार पूछने लगे कि अत्यन्त प्यारे पुत्रों का संदेशा सुनाओ। हे मित्र! तुम कोई उपाय जल्दी करो और राम, लक्ष्मण, सीता को आँखों से दिखाओ ॥ १ ॥

सचिव धीर धरि कह मृदुबानी। महाराज तुम्ह पंडित ग्यानी ॥
बीर सुधीर धुरंधर देवा। साधुसमाज सदा तुम्ह सेवा ॥२॥

मन्त्री धीरज धरकर कोमल वाणी से कहने लगा—महाराज! आप पण्डित और ज्ञानवान् हैं। आप शूरवीर, बड़े धैर्यधारी, और धुरन्धर राजा हैं। आपने सत्पुरुषों के समाज का सदा सेवन किया है ॥ २ ॥

जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभु प्रियमिलन बियोगा ॥
काल करम बस होहिँ गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं ॥३॥

हे स्वामी ! जन्म, मरण, सब प्रकार के सुख-दुःख, भोग-विलास, हानि-लाभ, प्यारों का मिलना, बिछुड़ना, ये सब बातें काल और कर्म के अधीन वैसे ही हुआ करती हैं जैसे दिन और रात सदा एक के पीछे एक हुआ करते हैं ॥ ३ ॥

सुख हरषहिँ जड दुख बिलखाहीँ । दोउ सम धीर धरहिँ मन माहीँ ॥
धीरजु धरहु बिबेक बिचारी । छाडिय सोचु सकल हितकारी ॥४॥

मूर्ख लोग सुख मिलने पर प्रसन्न होते और दुःख मिलने पर बिलखते हैं, पर धीर पुरुष सुख और दुःख दोनों में समान रहकर मन में धीरज धरते हैं। हे सबके हितकारी ! आप ज्ञान से विचार कर धीरज धारण करो और सोच करना छोड़ दो ॥ ४ ॥

दो०—प्रथम बासु तमसा भयउ दूसर सुरसरि तीर ।
न्हाइ रहे जलपान करि सियसमेत दोउ बीर ॥१५१॥

रामचन्द्रजी का पहला मुक़ाम तमसा नदी के किनारे और दूसरा गङ्गातट पर हुआ। वहाँ दोनों वीर स्नानकर जल पान (मात्र) करके रहे थे ॥ १५१ ॥

चौ०—केवट कीन्ह बहुत सेवकाई । सो जामिनि सिंगरौर गवाँई ॥
होत प्रात बटछीरु मँगावा । जटामुकुट निज सीस बनावा ॥१॥

फिर केवट (गुह) ने उनकी बड़ी सेवा की। वह रात उन्होंने सिंगरौर (शृंगवेरपुर) में बिताई। दूसरे दिन सबेरा होते ही रामचन्द्रजी ने बड़ का दूध मँगवाया और उससे अपने माथे में जटाओं का मुकुट बनाया ॥ १ ॥

रामसखा तब नाव मँगाई । प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई ॥
लषन बानधनु धरे बनाई । आपु चढ़े प्रभुआयसु पाई ॥२॥

तब रामचन्द्रजी के मित्र (गुह) ने नाव मँगवाई। उस पर प्रिया (सीताजी) को चढ़ाकर रामचन्द्रजी भी चढ़े। फिर लक्ष्मणजी हाथ में धनुप बाण लिये हुए, स्वामी रामचन्द्रजी की आज्ञा पाकर, चढ़े ॥ २ ॥

बिकल बिलोकि मोहि रघुबीरा । बोले मधुरबचन धरि धीरा ॥
तात प्रनाम तात सन कहेहू । बार बार पदपंकज गहेहू ॥३॥

रामचन्द्रजी मुझे विकल देखकर धीरज धरकर मधुर वचनों में बोले—हे तात ! तुम पिताजी से मेरा प्रणाम कहना और मेरी ओर से बार बार उनके पाँव पकड़ना ॥ ३ ॥

करबि पाय परि बिनय बहोरी । तात करिय जनि चिंता मोरी ॥
बनमग मंगल कुसल हमारे । कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे ॥४॥

फिर उन्होंने कहा कि तुम मेरी ओर से पाँव पड़कर विनती करना कि हे पिताजी! आप मेरी चिन्ता न कीजिए। आपकी कृपा और पुण्य से वन के मार्ग में हमारा कुशल-मङ्गल है॥ ४॥

छंद—तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहउँ।
प्रतिपालि आयसु कुसल देखन पाय पुनि फिरि आइहउँ॥
जननी सकल परितोषि परि परि पाय करि बिनती घनी।
तुलसी करेहु सोइ जतन जेहि कुसली रहहिँ कोसलधनी॥

हे पिताजी! आपकी कृपा से मैं वन में जाते हुए सब सुख पाऊँगा। मैं कुशल-पूर्वक आज्ञा (१४ वर्ष वनवास को) पालनकर फिर चरणों का दर्शन करने लौट आऊँगा। सब माताओं के पाँव पड़ पड़कर उनको भी समझा कर उनकी भी गहरी प्रार्थना करना। तुलसीदासजी कहते हैं कि रामचन्द्रजी ने कहा कि हे तात! तुम वही यत्न करना जिसमें कोसलाधीश (दशरथ) प्रसन्न रहें॥

सो०—गुरु सन कहब सँदेसु बार बार पदपदुम गहि।
करब सोइ उपदेसु जेहि न सोच मोहि अवधपति॥१५२॥

फिर कहा कि गुरु (वशिष्ठजी) के चरण-कमल बार बार पकड़कर सन्देशा कहना कि वे वही उपदेश दें जिससे अवधपति (दशरथजी) मेरा सोच न करें॥ १५२॥

चौ०—पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनायेहु बिनती मोरी॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जा तेँ रह नरनाह सुखारी॥१॥

हे तात! नगरनिवासी और कुटुम्बी जन सबों से नम्रतापूर्वक मेरी प्रार्थना सुनाना कि वही मनुष्य मेरा सब प्रकार से हितकारी है, जिससे नरनाथ (राजा दशरथ) सुखी रहें॥ १॥

कहब सँदेसु भरत के आये। नीति न तजिय राजपद पाये॥
पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेयेहु मातु सकल सम जानी॥२॥

भरत के आजाने पर उसको भी मेरा सन्देशा कहना कि भाई! राज्यपद पाकर नीति को न छोड़ देना। कर्म, मन और वाणी से प्रजा का पालन करना और सब माताओं को समान जानकर उनकी सेवा करना॥ २॥

अउर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु-मातु-सुजन-सेवकाई॥
तात भाँति तेहि राखब राऊ। सोच मोर जेहि करइ न काऊ॥३॥

और हे भाई! माता-पिता और आत्मीयों की सेवा करके भाईपन निबाहना। हे तात! राजा को इस तरह से रखना कि वे मेरा सोच कभी किसी तरह न करें॥ ३॥

लषन कहे कछु बचन कठोरा । बरजि राम पुनि मोहि निहोरा ॥
बारबार निज सपथ देवाई । कहबि न तात लषनलरिकाई ॥४॥

उस समय लक्ष्मणजी ने कुछ कठोर वचन कहे थे, पर रामचन्द्रजी ने उन्हें मना करके मुझसे विनती की और बार बार अपनी सौगन्द दिलाकर कहा कि हे तात! लक्ष्मण का लड़कपन पिताजी से न कहना ॥ ४ ॥

दो०—कहि प्रनाम कछु कहन लिय सिय भइ सिथिल सनेह ।
थकित बचन लोचन सजल पुलक पल्लवित देह ॥१५३॥

सीताजी प्रणाम कहकर कुछ कहना चाहती थीं कि उनका शरीर स्नेह से शिथिल हो गया, वाणी रुक गई, नेत्रों में जल भर गया और रोमावलि खड़ी हो गई ॥ १५३ ॥

चौ०—तेहि अवसर रघुबररुख पाई । केवट पारहिँ नाव चलाई ॥
रघु-कुल-तिलक चले एहि भाँती । देखेउँ ठाढ कुलिस धरि छाती ॥१॥

उसी समय रामचन्द्रजी का रुख पाकर केवट नाव को पार ले चला। इस तरह रघुवंश के तिलक रामचन्द्रजी चल दिये और मैं छाती पर वज्र रखकर खड़ा खड़ा देखता रहा ॥ १ ॥

मैं आपन किमि कहउँ कलेसू । जियत फिरउँ लेइ रामसँदेसू ॥
अस कहि सचिव बचन रहि गयऊ । हानि गलानि सोच बस भयऊ ॥२॥

मैं अपने क्लेश को कैसे सुनाऊँ, क्योंकि मैं रामचन्द्रजी का सन्देशा लेकर जीता जागता लौट आया हूँ। इतना वचन कहकर मन्त्री चुप रह गया और मारे ग्लानि के शोच में बेबस हो गया ॥ २ ॥

सूत बचन सुनतहि नरनाहू । परेउ धरनि उर दारुनदाहू ॥
तलफत बिषम मोह मन मापा । माँजा मनहुँ मीन कहँ ब्यापा ॥३॥

नरनाथ (दशरथ) सारथि के उन वचनों को सुनते ही धरती पर गिर पड़े। उनके हृदय में बड़ा भारी दाह हुआ और महा-घोर मोह ने उनके मन को घेर लिया मानों मछली को माँझा (बरसात का रोग) हो गया हो ॥ ३ ॥

करि बिलाप सब रोवहिँ रानी । महाबिपति किमि जाइ बखानी ॥
सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा । धीरजहू कर धीरजु भागा ॥४॥

सब रानियाँ विलाप कर रोने लगीं। उस समय की घोर विपत्ति कैसे कही जा सकती है। उस विलाप को सुनकर दुख को भी दुःख लगा और धीरज का भी धीरज दूर हो गया ॥ ४ ॥

दो०—भयउ कोलाहलु अवध अति सुनि नृप राउर सोरु।
बिपुल बिहँगबन परेउ निसि मानहुँ कुलिस कठोरु ॥१५४॥

राज-महल में बड़ा भारी शोर मचा हुआ सुनकर सारी अयोध्या में कुहराम मच गया, मानों पक्षियों के विशाल वन में रात्रि के समय घोर वज्र गिरा हो ॥ १५४ ॥

चौ०—प्रान कंठगत भयउ भुआलू। मनिबिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू ॥
इंद्री सकल बिकल भइँ भारी। जनु सर सरसिज-बन बिनु बारी ॥१॥

जैसे बिना मणि के साँप व्याकुल होता है, वैसी ही व्याकुलता के मारे राजा (दशरथ) के प्राण कंठ में आ गये। उनकी सब इन्द्रियाँ विह्वल हो गईं मानों तालाब में पानी न रहने से उसमें कमलों का वन मुरझा गया हो ॥ १ ॥

कौसल्या नृपु दीख मलाना। रबि-कुल-रबि अथयेउ जिय जाना ॥
उर धरि धीर राम महतारी। बोली बचन समय अनुसारी ॥२॥

कौसल्याजी ने राजा को मलिन देखकर अपने जी में जान लिया कि सूर्य-कुल का सूर्य अब अस्त होने को है। उस समय रामचन्द्रजी की माता कौसल्या हृदय में धीरज धरकर समय के अनुसार वचन बोलीं— ॥ २ ॥

नाथ समुझि मन करिय बिचारू। राम - बियोग - पयोधि अपारू ॥
करनधार तुम्ह अवधजहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय-पथिक-समाजू ॥३॥

हे नाथ! आप मन में समझकर विचार कीजिए। रामचन्द्र का वियोगरूपी अपार समुद्र है और अयोध्यारूपी जहाज़ के कर्णधार (खिवैया) आप हो। उस जहाज़ में सब प्यारे यात्रिगण चढ़े हुए हैं ॥ ३ ॥

धीरजु धरिय त पाइय पारू। नाहिँ त बूड़िहि सब परिवारू ॥
जौं जिय धरिय बिनय पिय मोरी। रामु लषनु सिय मिलहिँ बहोरी ॥४॥

जो धीरज धरिएगा तो पार पहुँच जायँगे, नहीं तो सब परिवार डूब जायगा। हे प्यारे! जो मेरी प्रार्थना जी में रख लीजिएगा तो राम, लक्ष्मण, सीता फिर मिलेंगे ॥ ४ ॥

दो०—प्रिया बचन मृदु सुनत नृप चितयउ आँखि उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु सींचेउ सीतलबारि ॥१५५॥

प्यारी कौसल्या के कोमल वचन सुनकर राजा आँखें खोलकर देखने लगे, मानों किसी ने तड़पती हुई दुखी मछली पर ठंढा पानी डाल दिया हो ॥ १५५ ॥

चौ०—धरि धीरजु उठि बैठि भुआलू। कहु सुमंत्र कहँ रामु कृपालू॥
कहाँ लषनु कहँ रामुसनेही। कहँ प्रिय पुत्रबधू बैदेही॥१॥

राजा धीरज धरकर उठ बैठे और बोले कि सुमन्त्र! कहो, दयालु रामचन्द्र कहाँ हैं? कहाँ लक्ष्मण हैं? कहाँ स्नेही राम हैं? और कहाँ प्यारी बहू जानकी है॥१॥

बिलपत राउ बिकल बहु भाँती। भइ जुगसरिस सिराति न राती॥
तापस-अंध-साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई॥२॥

राजा व्याकुल होकर बहुत तरह से विलाप करने लगे। वह रात जुग के बराबर हो गई, काटे नहीं कटती। राजा को अंधे तपस्वी के शाप की याद हो आई। उन्होंने सब कथा[1] कौसल्याजी को कह सुनाई॥२॥

भयउ बिकल बरनत इतिहासा। रामरहित धिग जीवनआसा॥
सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेमपनु मोर निबाहा॥३॥

उस इतिहास को कहते कहते राजा व्याकुल हो गये और कहने लगे कि राम के बिना जीने की आशा को धिक्कार है। मैं उस शरीर को रखकर क्या करूँगा, जिसने मेरा प्रेम-प्रण नहीं निबाहा॥३॥

हा रघुनंदन प्रानपिरीते। तुम्ह बिनु जियत बहुत दिन बीते॥
हा जानकी लषन हा रघुबर। हा पितु-हित-चित-चातक-जलधर॥४॥

हाय! प्राणों से भी प्यारे रघुनन्दन! तुम्हारे बिना जीते हुए बहुत दिन बीत गये। हाय! जानकी, लक्ष्मण! हाय! रघुवर! हाय! पिता के प्रेम से भरे चित्तरूपी पपीहा के लिए मेघरूप!॥४॥

१—एक समय राजा दशरथ शिकार खेलने के लिए तमसा नदी के किनारे पहुँचे। वहाँ रात के समय श्रवण अपने अंधे माता-पिता के लिए पानी भरने गया। उसके घड़ा भरने का शब्द सुनकर और यह समझकर कोई जङ्गली हाथी पानी पी रहा है, राजा ने शब्दवेधी बाण छोड़ दिया। वह श्रवण को जा लगा और श्रवण गिर पड़ा। जब राजा उसके पास पहुँचे तो मालूम हुआ कि हाथी के धोखे से एक तपस्वी आहत हुआ है। तपस्वी ने कहा कि मुझे अपनी चिंता नहीं है, मेरे अन्धे माता-पिता प्यास से व्याकुल हैं, जाकर उन्हें जल पिलाओ और यह बाण मेरे शरीर से निकाल लो। राजा ने ज्यों ही बाण शरीर से निकाला त्यों ही श्रवण मर गया। राजा ने पानी का घड़ा उठाया और ढूँढ़ते ढूँढ़ते उन अंधे माता-पिता के पास पहुँच कर उन्हें चुपचाप पानी पिलाना चाहा, पर बिना बोले उन दोनों ने पानी न पिया। अन्त में राजा ने पुत्र के मार डालने की ख़बर सुनाई और उन दोनों को वे पुत्र के पास ले गये। दोनों रो-पीटकर चिता लगाकर पुत्र के साथ जल मरे। उन्होंने मरते मरते शाप दिया कि जिस तरह पुत्रशोक से हम प्राण त्याग रहे हैं इसी तरह पुत्रशोक से तुम भी मरोगे।

दो०—राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबरबिरह राउ गयउ सुरधाम ॥१५६॥

अन्त में राम राम कहकर, फिर राम कहकर, फिर भी राम राम राम कहकर राजा, रामचन्द्रजी के विरह में, शरीर को त्यागकर सुरलोक (स्वर्ग) को सिधार गये ॥ १५६ ॥

चौ०—जियन मरन फलु दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जस छावा ॥
जियत राम-बिधु-बदन निहारा। रामबिरह करि मरनु सवाँरा ॥१॥

जीने और मरने का फल तो दशरथ पा गये, जिनका यश अनेक ब्रह्मांडों में छा गया। जीते जो तो उन्होंने रामचन्द्रजी के मुख-चन्द्र को देखा और मरते समय राम का वियोग करके (राम-स्मरण करते करते) अपना मरण सुधार लिया अर्थात् सद्गति पा ली ॥ १ ॥

सोकबिकल सब रोवहिँ रानी। रूप सीलु बलु तेजु बखानी ॥
करहिँ बिलाप अनेक प्रकारा। परहिँ भूमितल बारहिँ बारा ॥२॥

सब रानियाँ राजा के रूप, शील, बल और तेज की बड़ाई कर करके शोक से व्याकुल होकर रोती हैं। वे अनेक प्रकार से विलापकर बार बार धरती पर गिरती हैं ॥ २ ॥

बिलपहिँ बिकल दास अरु दासी। घर घर रुदनु करहिँ पुरबासी ॥
अथयेउ आजु भानु-कुल-भानू। धरमअवधि गुन-रूप-निधानू ॥३॥

दास-दासी-गण (नौकर चाकर) भी अधीर हो विलाप करते हैं और नगरनिवासी अपने अपने घर रोते हैं। वे कहने लगे कि आज धर्म की मर्यादा, गुण और रूप के स्थान सूर्य-वंश के सूर्य (प्रकाशक) अस्त हो गये ॥ ३ ॥

गारी सकल कैकइहि देहीँ। नयनबिहीन कीन्ह जग जेहीँ ॥
एहि बिधि बिलपत रैनि बिहानी। आये सकल महामुनि ग्यानी ॥४॥

सब केकयी को गालियाँ देते हैं, जिसने सारे संसार को अंधा कर दिया (अंधकारमय कर दिया)। इसी तरह विलाप करते करते रात बीत गई। सबेरा होने पर सब ज्ञानवान् महर्षि लोग आये ॥ ४ ॥

दो०—तब बसिष्ठ मुनि समयसम कहि अनेक इतिहास।
सोक नेवारेउ सबहिँ कर निज बिग्यान प्रकास ॥१५७॥

उस समय वशिष्ठ मुनि ने समयानुसार अनेक इतिहास कहकर, अपने विज्ञान का प्रकाश कर, सबका शोक निवारण किया ॥ १५७ ॥

चौ०—तेल नाव भरि नृपतनु राखा। दूत बोलाइ बहुरि अस भाखा ॥
धावहु बेगि भरत पहिँ जाहू। नृप सुधि कतहुँ कहहु जनि काहू ॥१॥

एक नाव में तेल भरवाकर उसमें राजा दशरथ के शरीर को रख दिया और दूतों को बुलवाकर उनसे ऐसा कहा— तुम लोग जल्दी दौड़कर भरत के पास जाओ। राजा की मृत्यु का समाचार कहीं किसी से न कहना ॥ १ ॥

एतनेइ कहेहु भरत सन जाई। गुरु बोलाइ पठयउ दोउ भाई ॥
सुनि मुनिआयसु धावन धाये। चले बेग बर बाजि लजाये ॥२॥

तुम जाकर भरत से इतना ही कहना कि दोनों भाइयों को गुरुजी ने बुला भेजा है। इस तरह मुनि की आज्ञा सुनकर धावन (दूत) दौड़ चले। वे ऐसे जल्दी चले कि अपनी चाल से अच्छे घोड़े को भी शर्मिन्दा करते थे ॥ २ ॥

अनरथु अवध अरंभेउ जब तें। कुसगुन होहिँ भरत कहँ तब तें ॥
देखहिँ राति भयानक सपना। जागि करहिँ कटु कोटि कलपना ॥३॥

इधर जब से अयोध्या में अनर्थ होना शुरू हुआ, तभी से उधर भरतजी को अपशकुन होने लगे। वे रात्रि में भयङ्कर स्वप्न देखते थे और जागने पर, उन पर, करोड़ों तरह की बुरी कल्पनायें करते थे ॥ ३ ॥

बिप्र जेवाँइ देहिँ दिन दाना। सिव अभिषेक करहिँ बिधि नाना ॥
माँगहिँ हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई ॥४॥

रोज़ ब्राह्मण-भोजन कराते और दान देते थे। कई तरह की विधियों से रुद्राभिषेक कराते थे। मन में महादेवजी को मना मनाकर उनसे माता-पिता, भाइयों और कुटुम्बियों की कुशल माँगते थे ॥ ४ ॥

दो०—एहि बिधि सोचत भरत मन धावन पहुँचे आइ।
गुरुअनुसासन स्रवन सुनि चले गनेसु मनाइ ॥१५८॥

इस तरह भरतजी सोच विचार में पड़े ही थे कि वे दूत आ पहुँचे। उनके द्वारा अपने कानों से गुरुजी की आज्ञा सुनते ही वे गणेशजी को मनाकर वहाँ से चल पड़े ॥ १५८ ॥

चौ०—चले समीरबेग हय हाँके। नाँघत सरित सैल बन बाँके ॥
हृदय सोचु बड कछु न सोहाई। अस जानहिँ जिय जाउँ उडाई ॥१॥

हवा की तरह चलनेवाले घोड़ों को हाँकते हुए वे नदी, पहाड़ तथा विकट जङ्गलों को लाँघते (पार करते) हुए चले। उनके हृदय में बड़ा भारी सोच था। उन्हें कुछ सुहाता नहीं था। वे अपने जी में यह सोचते थे कि हम उड़कर चले जायँ॥ १॥

एक निमेष बरषसम जाई। एहि बिधि भरत नगर नियराई॥
असगुन होहिँ नगर पैठारा। रटहिँ कुभाँति कुखेत करारा॥२॥

उनको एक निमेष (आँख बन्दकर खोलने) का समय एक वर्ष के बराबर जाता था। इसी तरह करते करते भरतजी नगर (अयोध्या) के पास पहुँचे। उन्हें नगर में घुसते समय अशकुन होने लगे। कौवे बुरी जगह बैठकर बुरे शब्द करने लगे॥ २॥

खर सियार बोलहिँ प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरतमन सूला॥
श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगरु बिसेषि भयावन लागा॥३॥

गधे और सियार प्रतिकूल (बुरी तरह) बोलने लगे, जिसे सुन सुनकर भरतजी के मन में वेदना होती। तालाब, नदी, बाग़-बग़ीचे सब श्रीहत (फीके) हो गये और नगर तो और भी डरावना लगने लगा॥ ३॥

खग मृग हय गय जाहिँ न जोये। राम-बियोग-कुरोग बिगोये॥
नगर-नारि-नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सब संपति हारी॥४॥

रामचन्द्रजी के वियोगरूपी रोग से सताये हुए पक्षी, मृग, घोड़े और हाथी ऐसे बुरे दिखाई देते थे कि उनकी ओर देखा नहीं जाता था। नगर के स्त्री-पुरुष सब बिलकुल दुखी हो रहे हैं, मानों सबने अपनी सब सम्पत्ति खो दी हो॥ ४॥

दो०—पुरजन मिलहिँ न कहहिँ कछु गवहिँ जोहारहिँ जाहिँ।
भरत कुसल पूछि न सकहिँ भय बिषादु मन माहिँ॥१५६॥

नगर के लोग जो मिलते वे जुहार (दण्डवत् प्रणाम आदि) करके चले जाते। कोई कुछ कहता नहीं। भरतजी के मन में भय और दुःख बढ़ता ही जाता है। ऐसी हालत में वे किसी से कुशल-समाचार भी नहीं पूछ सकते॥ १५९॥

चौ०—हाट बाट नहिँ जाहिँ निहारी। जनु पुर दह दिसि लागि दवारी॥
आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि। हरषी रबि-कुल-जलरुह-चंदिनि॥१॥

बाज़ार और रास्ते देखे नहीं जाते, मानों उस नगर में दसों दिशाओं में आग लग गई हो। सूर्य-कुल-रूपी कमल के लिए चाँदनीरूप (मुरझानेवाली) केकयी अपने पुत्र को आते सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई॥ १॥

सजि आरती मुदित उठि धाई। द्वारहिँ भेँटि भवन लेइ आई॥
भरत दुखित परिवारु निहारा। मानहुँ तुहिन बनजबनु मारा॥२॥

वह आरती सजाकर प्रसन्नता से उठ दौड़ी और द्वार पर ही पुत्र से मिलकर अपने साथ घर में लिवा ले आई। भरतजी ने अपने परिवार को ऐसा दुखी देखा, मानों कमलों के वन को पाला मार गया हो॥ २॥

कैकेई हरषित एहि भाँती। मनहुँ मुदित दव लाइ किराती॥
सुतहि ससोच देखि मनु मारे। पूछति नैहर कुसल हमारे॥३॥

केकयी इस तरह प्रसन्न है जैसे कोई भीलनी जङ्गल में आग लगाकर प्रसन्न हुई हो। पुत्र को सोच में भरा हुआ और मन मारे देखकर वह पूछने लगी कि हमारे नैहर (मायके) में कुशल तो है?॥ ३॥

सकल कुसल कहि भरत सुनाई। पूछी निज कुल-कुसल भलाई॥
कहु कहँ तात कहाँ सब माता। कहँ सिय रामु लषन प्रियभ्राता॥४॥

भरतजी ने वहाँ की सब कुशल की खबर सुना दी, फिर अपने कुल की कुशल-भलाई पूछी। उन्होंने पूछा—कहो, पिताजी कहाँ हैं? सब माताएँ कहाँ हैं? सीता-राम और प्यारे भाई लक्ष्मण कहाँ हैं?॥ ४॥

दो०—सुनि सुतबचन सनेहमय कपटनीर भरि नैन।
भरत-स्रवन-मन-सूल सम पापिनि बोली बैन॥१६०॥

वह पापिनी केकयी पुत्र के स्नेह-भरे वचनों को सुनकर और आँखों में कपट के आँसू भरकर भरतजी के कानों और मन के लिए शूल (काँटे) के समान चुभनेवाले वचन बोली—॥१६०॥

चौ०—तात बात मैँ सकल सवाँरी। भइ मंथरा सहाय बिचारी॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुर-पति-पुर पगु धारेउ॥१॥

हे पुत्र! मैंने सारी बात बना ली है। बेचारी मन्थरा बहुत सहायक हुई। बीच में विधाता ने कुछ थोड़ा सा काम बिगाड़ दिया। वह यह कि राजा स्वर्गवासी हो गये॥ १॥

सुनत भरत भय बिबस बिषादा। जनु सहमेउ करि केहरिनादा॥
तात तात हा तात पुकारी। परे भूमितल ब्याकुल भारी॥२॥

इस बात को सुनते ही भरतजी दुःख से ऐसे बेबस हो गये, जैसे किसी सिंह की गर्जना सुनकर हाथी सहम गया हो। और हे पिता! हाय! पिता!! पुकारकर बहुत व्याकुल होकर व जमीन पर गिर पड़े॥ २॥

चलत न देखन पायउँ तोही। तात न रामहिँ सौंपेहु मोही॥
बहुरि धीर धरि उठे सँभारी। कहु पितुमरन हेतु महतारी॥३॥

भरतजी विलाप करते हुए कहने लगे—हे पिता! मैं अन्तकाल में आपको देख भी न सका। हा! आपने मुझे रामचन्द्रजी को सौंप भी न दिया। फिर धीरज धरकर वे सम्हलकर उठे और उन्होंने पूछा कि माता! पिताजी के मरने का कारण बतलाओ॥३॥

सुनि सुतबचन कहति कैकेई। मरमु पाछि जनु माहुर देई॥
आदिहु तेँ सब आपनि करनी। कुटिल कठोर मुदितमन बरनी॥४॥

पुत्र का वचन सुनकर केकयी कहने लगी, मानों वह मर्म स्थान में घाव कर उसमें विष डालने लगी हो। उस कुटिला और कठोर केकयी ने बड़ी प्रसन्नता के साथ शुरू से अपनी करतूत सुना दी॥४॥

दो०—भरतहि बिसरेउ पितुमरन सुनत राम-बन-गौन।
हेतु अपनपउ जानि जिय थकित रहे धरि मौन॥१६१॥

भरतजी को रामचन्द्रजी का वन जाना सुनकर पिताजी का मरना भी भूल गया और उस वनवास का कारण अपने को ही जी में समझकर वे ठक मारे से होकर चुप रह गये॥१६१॥

चौ०—बिकल बिलोकि सुतहि समुझावति। मनहुँ जरे पर लोनु लगावति॥
तात राउ नहिँ सोचन जोगू। बिढइ सुकृत जसु कीन्हेउ भोगू॥१॥

पुत्र को व्याकुल देखकर केकयी समझाने लगी, मानों वह जले पर नमक लगा रही हो—हे पुत्र! राजा सोच करने के योग्य नहीं हैं। उन्होंने पुण्य कमा कर खूब भोग भोगे॥१॥

जीवत सकल जनम फल पाये। अंत अमर-पति-सदन सिधाये॥
अस अनुमानि सोच परिहरहू। सहित समाज राज पुर करहू॥२॥

वे जीते जो जन्म पाने के सभी फल पा गये और अन्त में इन्द्र के स्थान (स्वर्ग) में चले गये। ऐसा अनुमान करके सोच को दूर करो। तुम सब समाजसहित नगर का राज्य करो॥२॥

सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू। पाके छत जनु लाग अँगारू॥
धीरजु धरि भरि लेहिँ उसासा। पापिनि सबहिँ भाँति कुल नासा॥३॥

इन वचनों को सुनकर राजकुमार भरतजी बहुत ही सहम गये, मानों किसी ने पके घाव पर आग रख दी हो। वे धीरज धरकर बड़ी लम्बी साँस—लेकर बोले—हे पापिनि! तूने सभी तरह से कुल का नाश कर दिया॥३॥

जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारेसि मोही॥
पेड़ु काटि तैं पालउ सींचा। मीनजियन निति बारि उलीचा॥४॥

हाय! जो तेरी ऐसी ही अत्यन्त दुष्ट इच्छा थी, तो तूने मुझे जनमते ही क्यों न मार डाला! अरो! तूने पेड़ को काटकर पत्तों को सींचा और मछली के जोने के नित्यसाधन पानी को तूने उलोच डाला (अर्थात् मैं मछली और रामचन्द्रजो मेरे जोने के लिए पानी हैं, उन्हें वन भेज दिया)॥ ४॥

दो०—हंसबंस दसरथु जनकु राम लषन से भाइ।
जननी तूँ जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ॥१६२॥

सूर्यवंश के समान कुल, दशरथजो-से पिता, राम-लक्ष्मण-से भाई, पर हाय! हे माता! मेरी जननो तू हुई। विधाता से कुछ वश नहीं चलता॥ १६२॥

चौ०—जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ॥
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥१॥

अरी दुर्बुद्धिवालो! जब से तेरे जो में ऐसी दुष्टबुद्धि होने लगो तभो तेरो छाती फटकर टुकड़े टुकड़े क्यों न हो गई? तुझे वरदान माँगते समय कुछ दुःख न हुआ, तेरी जीभ न गल गई, तेरे मुँह में कीड़े न पड़ गये!॥ १॥

भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरनकाल बिधि मति हरि लीन्ही॥
बिधिहु न नारि हृदयगति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥२॥

अरी! राजा ने तेरा विश्वास कैसे कर लिया? हाय! मरते समय विधाता ने उनको बुद्धि को हर लिया! स्त्री के हृदय को गति को विधाता भी नहीं जान सकता। स्त्री का हृदय सभो तरह के कपट, पाप और अवगुणों (दोषों) को खान होता है॥ २॥

सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानइ तीयसुभाऊ॥
अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं॥३॥

राजा तो सोधे, सुशोल और धर्म में तत्पर थे। वे भला स्त्री के स्वभाव को कैसे जान सकते थे! जगत् में ऐसा जोव-जन्तु कौन है जिसे रामचन्द्रजा प्राण-प्रिय नहीं हैं?॥ ३॥

भे अति अहित रामु तेउ तोही। को तूँ अहसि सत्य कहु मोही॥
जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई॥४॥

ऐसे रामचन्द्रजी भी तुझे अहित (शत्रु) हो गये! अरी! तू है कौन? मुझे सत्य कह दे। तू जो कुछ होगो सो होगो अपना मुँह काला करके उठकर आँखों की ओट में जा बैठ (टल जा)॥ ४॥

दो०—राम-बिरोधी-हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहि ॥
मो समान को पातकी बादि कहउँ कछु तोहि ॥१६३॥

हाय ! रामचन्द्रजी के विरोधी तेरे हृदय से विधाता ने मेरा जन्म दिया। मेरे बराबर पापी दूसरा कौन है ? मैं तुझे व्यर्थ ही कुछ कहता हूँ ॥ १६३ ॥

चौ०—सुनि सत्रुघन मातुकुटिलाई । जरहिं गात रिस कछु न बसाई ॥
तेहि अवसर कुबरी तहँ आई । बसन बिभूषन बिबिध बनाई ॥१॥

माता की कुटिलता को सुनकर शत्रुघ्न के सब अंग क्रोध के मारे जलते थे, पर कुछ वश न चलता था। उसी मौक़े पर तरह तरह के (बढ़िया) कपड़े और गहने पहने हुए कुबड़ी मन्थरा वहाँ आ पहुँची ॥ १ ॥

लखि रिस भरेउ लषन-लघु-भाई । बरत अनल घृतआहुति पाई ॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा । परि मुँह भरि महि करत पुकारा ॥२॥

लक्ष्मणजी के छोटे भाई शत्रुघ्नजी क्रोध में तो भरे ही थे, कूबरी को देखते ही मानों जलती हुई आग में घी की आहुति पड़ गई। उन्होंने उछलकर कूबरी के कूबर में ताककर एक लात जमाई, जिससे वह चिल्लाती हुई मुँह के बल ज़मीन पर गिर पड़ी ॥ २ ॥

कूबर टूटेउ फूट कपारू । दलितदसन मुख रुधिरप्रचारू ॥
आह दइय मैं काह नसावा । करत नीक फल अनइस पावा ॥३॥

उसका कूबर टूट गया, सिर फूट गया, दाँत टूट गये और मुँह से ख़ून बह चला। वह कहने लगी—हाय ! दैव ! मैंने क्या बिगाड़ा, मैंने अच्छा करते हुए बुरा फल पाया ॥ ३ ॥

सुनि रिपुहन लखि नख सिख खोटी । लगे घसीटन धरि धरि झोंटी ॥
भरत दयानिधि दीन्हि छुड़ाई । कौसल्या पहिं गे दोउ भाई ॥४॥

यह बात सुन और उसे नख से चोटी पर्यन्त बुरी जान वे उसे बाल पकड़ पकड़ कर (इधर-उधर) घसीटने लगे। (तब) दयासागर भरतजी ने उसको छुड़ा दिया। (फिर) दोनों भाई कौसल्याजी के पास गये ॥ ४ ॥

दो०—मलिनबसन बिबरन बिकल कृस सरीर दुखभारु ।
कनक-कलप-वर-बेलि-बन मानहुँ हनी तुषार ॥१६४॥

(कौसल्याजी) मैले वस्त्र पहने थीं, उनके चेहरे का रंग फीका पड़ा हुआ था। मारे दुःख के बेचैन और शरीर दुबला होने से ऐसी मालूम होती थीं, मानों सोने की कल्पवृक्ष की बेल के बग़ीचे को पाला मार गया हो ॥ १६४ ॥

चौ०—भरतहिँ देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी झइँ आई॥
देखत भरतु बिकल भये भारी। परे चरन तनदसा बिसारी॥१॥

माता कौसल्याजी भरतजी को देखकर उठकर दौड़ीं, पर उन्हें चक्कर आ गया और वे अचेत होकर धरती पर गिर पड़ीं। उनकी दशा को देखते ही भरतजी बहुत व्याकुल हुए और शरीर की सारी सुध भूल (दौड़कर) चरणों में गिर पड़े॥ १॥

मातु तात कहँ देहि देखाई। कहँ सिय रामु लषनु दोउ भाई॥
केकइ कत जनमी जग माँझा। जौं जनमि त भइ काहे न बाँझा॥२॥

वे कहने लगे—हे माता! मुझे पिताजी को दिखा दो। सीता तथा दोनों भाई राम लक्ष्मण कहाँ हैं? जगत् के बीच में केकयी माता क्यों पैदा हुई? यदि पैदा भी हुई तो वह बाँझ ही क्यों न रह गई?॥ २॥

कुलकलंक जेहि जनमेउ मोही। अपजस-भाजन प्रिय-जन-द्रोही॥
को त्रिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥३॥

जिसने कुल के कलङ्क, अपयश के पात्र और प्यारे कुटुम्बियों के द्रोही मुझे पैदा किया। त्रिलोकी में मेरे समान अभागी कौन है? हे माता! जिसके कारण तुम्हारी यह दशा हुई॥ ३॥

पितु सुरपुर बन रघु-बर-केतू। मैं केवल सब अनरथहेतू॥
धिग मोहि भयउँ बेनु-बन-आगी। दुसह-दाह-दुख दूषन-भागी॥४॥

पिताजी स्वर्गवासी हो गये, रघुवंश के ध्वजा (रामचन्द्रजी) वन को चले गये; इन सब अनर्थों का कारण मैं हूँ। मुझे धिक्कार है, मैं बाँसों के वन के लिए आग पैदा हुआ। मैं बड़े कठिन दाह, दुःख और दोष का भागी हुआ॥ ४॥

दो०—मातु भरत के बचन मृदु सुनि पुनि उठी सँभारि।
लिये उठाइ लगाइ उर लोचन मोचति बारि॥१६५॥

भरतजी के कोमल वचन सुनकर माता कौसल्याजी सम्हलकर उठीं। उन्होंने भरतजी को उठाकर छाती से लगा लिया और वे आँखों से आँसू बहाने लगीं॥ १६५॥

चौ०—सरल सुभाय माय हिय लाये। अति हित मनहुँ राम फिरि आये॥
भेँटेउ बहुरि लषनु-लघु-भाई। सोकु सनेहु न हृदय समाई॥१॥

माताजी ने सरल स्वभाव और बड़े प्रेम से भरतजी को गले लगा लिया। उन्हें ऐसा जान पड़ा मानों रामचन्द्रजी ही वन से लौटकर आ गये हों। फिर वे लक्ष्मणजी के छोटे भाई शत्रुघ्नजी से मिलीं। उनका शोक और प्रेम हृदय में नहीं समाता था॥ १॥

देखि सुभाउ कहत सब कोई। राममातु अस काहे न होई॥
माता भरतु गोद बैठारे। आँसु पोंछि मृदुबचन उचारे॥२॥

कौसल्याजी के स्वभाव को देखकर सब लोग कहने लगे कि भाई! रामचन्द्रजी की माता ऐसी क्यों न हों! माताजी ने भरत को (अपनी) गोद में बैठा लिया और उनके आँसू पोंछकर कोमल वचनों में कहा—॥ २ ॥

अजहुँ बच्छ बलि धीरजु धरहू। कुसमउ समुझि सोक परिहरहू॥
जनि मानहु हिय हानि गलानी। काल-करम-गति अघटित जानी॥३॥

हे वत्स! मैं बलि जाऊँ! तुम अब भी धीरज धारण करो। बुरा समय जानकर सोच को दूर करो। काल और कर्म की गति को अमिट जानकर तुम अपने हृदय में हानि और ग्लानि मत मानो॥ ३ ॥

काहुहि दोस देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता॥
जो एतेहु दुख मोहि जियावा। अजहुँ को जानइ का तेहि भावा॥४॥

हे पुत्र! तुम किसी को दोष मत दो। मुझे सब प्रकार से विधाता प्रतिकूल हुआ है। जो इतना दुःख पड़ जाने पर भी मुझे जीती रक्खा है, तो अभी न मालूम उसके मन में क्या है॥ ४ ॥

दो०—पितुआयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरष न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर॥१६६॥

हे पुत्र! पिताजी की आज्ञा पाकर रामचन्द्र ने गहने और कपड़े उतार दिये और बक्कल (पेड़ों की छाल) के वस्त्र पहन लिये। (यह करते समय) उनके हृदय में न कुछ विस्मय था, न हर्ष॥ १६६ ॥

चौ०—मुख प्रसन्न मन राग न रोषू। सब कर सब बिधि करि परितोषू॥
चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी। रहइ न राम-चरन-अनुरागी॥१॥

उनका श्रीमुख प्रसन्न था। न तो किसी पर अनुराग ही था, न क्रोध। वे सब तरह से सबका संतोष करके वन को चलने लगे तो सीता भी उनके साथ लग गई। रामचन्द्र के चरणों में प्रेम होने के कारण वह किसी तरह (घर) न रही॥ १ ॥

सुनतहि लषनु चले उठि साथा। रहहिँ न जतन किये रघुनाथा॥
तब रघुपति सबही सिरु नाई। चले संग सिय अरु लघु भाई॥२॥

लक्ष्मण सुनते ही रामचन्द्र के साथ ही उठ कर चल पड़े। रघुनाथ ने बहुत-से यत्न किये पर वे किसी तरह न रुके। तब रामचन्द्र सबको प्रणाम करके, साथ में सीता और लक्ष्मण को लेकर, वन को चले गये ॥ २ ॥

रामु लषनु सिय बनहिँ सिधाये। गइउँ न संग न प्रान पठाये ॥
यह सबु भा इन्ह आँखिन्ह आगे। तउ न तजा तनु प्रान अभागे ॥३॥

राम, लक्ष्मण और सीता वन को चले गये पर न मैं साथ गई और न मैंने अपने प्राण ही उनके साथ भेजे। यह सब इन्हीं आँखों के सामने हो गया, तो भी इन अभागे प्राणों ने यह शरीर न छोड़ा !॥ ३ ॥

मोहि न लाज निज नेहु निहारी। रामसरिस सुत मैं महतारी ॥
जिअइ मरइ भल भूपति जाना। मोर हृदय सत-कुलिस-समाना ॥४॥

अपने स्नेह की ओर देखकर मुझे लज्जा भी नहीं आती, राम जैसे पुत्र की मैं माता ! जीना और मरना राजा ही अच्छी तरह जानते थे। मेरा हृदय तो सौ वज्रों के समान (कठोर) है ॥ ४ ॥

दो०—कौसल्या के बचन सुनि भरतसहित रनिवासु ।
ब्याकुल बिलपत राजगृहु मानहुँ सोकनिवासु ॥१६७॥

कौसल्याजी के वचनों को सुनकर भरतजी सहित सारा रनिवास व्याकुल होकर राज-भवन में ऐसा तड़पने लगा, मानों वहाँ शोक का निवास हो गया हो ॥ १६७ ॥

चौ०—बिलपहिँ बिकल भरत दोउ भाई। कौसल्या लिये हृदय लगाई ॥
भाँति अनेक भरतु समुझाये। कहि बिबेकमय बचन सुनाये ॥१॥

दोनों भाई (भरत, शत्रुघ्न) विकल होकर विलाप करने लगे, तब कौसल्याजी ने उनको हृदय से लगाया और विचार से भरी हुई अनेक बातें कह-सुनकर माता ने उनको समझाया ॥ १ ॥

भरतहु मातु सकल समुझाईं। कहि पुरान स्रुति कथा सुहाईं ॥
छलबिहीन सुचि सरल सुबानी। बोले भरत जोरि जुगपानी ॥२॥

भरतजी ने भी माता को पुराणों और वेदों की सुन्दर कथायें कहकर सब तरह समझाया। भरतजी दोनों हाथ जोड़कर छल-रहित, पवित्र और सीधी सुन्दर वाणी बोले—॥ २ ॥

जे अघ मातु-पिता-सुत मारे। गाइगोठ महि-सुर-पुर जारे ॥
जे अघ तिय-बालक-बध कीन्हे। मीत महीपति माहुर दीन्हे ॥३॥

जो पाप माता-पिता और पुत्र के मारने से होते हैं, जो गोशाला और ब्राह्मणों के नगर जलाने से होते हैं, जो पाप स्त्री और बालक को मार डालने से होते हैं, जो मित्र और राजा को विष देने से होते हैं ॥ ३ ॥

जे पातक उपपातक अहहीं । करम-बचन-मन-भव कबि कहहीं ॥
ते पातक मोहि होहु बिधाता । जौं एहु होइ मोर मत माता ॥४॥

मानसिक, वाचिक, कायिक जो जो कुछ पातक (बड़े बड़े पाप) और उपपातक (छोटे पाप) विद्वान् लोग कहा करते हैं, हे विधाता ! जो इस काम (राम-वनवास) में मेरी सम्मति हो तो हे माता, वे सारे पाप मुझे लगें ॥ ४ ॥

दो०—जे परिहरि हरि-हर-चरन भजहिँ भूतगन घोर ।
तिन्ह कइ गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर ॥१६८॥

जो लोग हरिहर (विष्णु और महादेव) के चरणों को छोड़कर घोर भूत-प्रेतों को भजते हैं, उनकी गति (नरक) मुझे विधाता दे जो हे माता ! इसमें मेरी सम्मति हो ॥ १६८ ॥

चौ०—बेचहिँ बेद धरम दुहि लेहीँ । पिसुन पराय पाप कहि देहीँ ॥
कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी । बेदबिदूषक बिस्वबिरोधी ॥१॥

जो वेदों को बेचते हैं अर्थात् कुछ लेकर पढ़ाते हैं; जो धर्म के नाम पर स्वार्थ साधते हैं; जो चुगलखोर दूसरों के पाप कह देते हैं; जो कपटी, टेढ़े, झगड़ालू और क्रोधी हैं तथा वेद-निन्दक और जगत् के विरोधी हैं ॥ १ ॥

लोभी लंपट लोलुपचारा । जे ताकहिँ परधनु परदारा ॥
पावउँ मैं तिन्ह कै गति घोरा । जौं जननी एहु संमत मोरा ॥२॥

जो लोभी, लंपट, लालची हैं; जो पराये धन और पराई स्त्री को (खोटी दृष्टि से) ताकते हैं; जो इस काम में मेरा मत हो, तो हे माता, मैं इन सबकी गति पाऊँ । (जो हाल इनका होता है वही मेरा हो) ॥ २ ॥

जे नहिँ साधुसंग अनुरागे । परमारथपथ बिमुख अभागे ॥
जे न भजहिँ हरि नरतनु पाई । जिन्हहिँ न हरि-हर-सुजसु सुहाई ॥३॥

जिन लोगों ने कभी सन्त-समागम में प्रेम नहीं किया, जो अभागे परमार्थ के मार्ग से विमुख हैं, जो मनुष्य-शरीर पाकर हरि-भजन नहीं करते, जिनको हरिहर का सुन्दर यश नहीं सुहाता ॥ ३ ॥

तजि स्रुतिपंथ बामपथ चलहीँ । बंचक बिरचि बेषु जगु छलहीँ ॥
तिन्ह कइ गति मोहि संकर देऊ । जननी जौं एहु जानउँ भेऊ ॥४॥

जो वेद-मार्ग को छोड़कर वाममार्ग[१] (उलटे रास्ते) में चलते हैं और जो ठग साधु का वेष बनाकर संसार को छलते हैं, उन लोगों की गति मुझे शङ्कर दें यदि हे माता, मैं इस भेद को जानता होऊँ ॥ ४ ॥

दो०—मातु भरत के बचन सुनि साँचे सरल सुभाय।
कहति रामप्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन काय ॥१६९॥

माता कौसल्याजी भरतजी के सच्चे, सीधे स्वभाव के वचनों को सुनकर कहने लगीं—हे पुत्र! तुम तो सदा मन, वचन, काया से रामचन्द्र के प्यारे हो ॥ १६९ ॥

चौ०—राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहिं प्रान तें प्यारे ॥
बिधु बिष चवइ स्रवइ हिमु आगी। होइ बारिचर बारिबिरागी ॥१॥

तुम्हें रामचन्द्र प्राणों के प्राण हैं और तुम भी रामचन्द्र को प्राणों से भी अधिक प्यारे हो। हे पुत्र! चाहे चन्द्रमा से विष टपकने लगे और हिम आग बरसाने लगे, जलचर जीव जल से अलग होकर बिना जल के रहने लगें ॥ १ ॥

भये ग्यानु बरु मिटइ न मोहू। तुम्ह रामहिं प्रतिकूल न होहू ॥
मत तुम्हार एहु जो जग कहहीं। सो सपनेहु सुख सुगति न लहहीं ॥२॥

चाहे ज्ञान होने पर भी मोह न मिटे (इतने न होनेवाले काम कदाचित् हो जायँ) पर तुम रामचन्द्र के प्रतिकूल नहीं हो सकते। जो कोई जगत् में इस विषय में तुम्हारी सम्मति बतलाते हैं वे स्वप्न में भी सुख और सद्गति नहीं पा सकते ॥ २ ॥

अस कहि मातु भरतु हिय लाये। थनपय स्रवहिं नयनजल छाये ॥
करत बिलाप बहुत एहि भाँती। बैठेहि बीति गई सब राती ॥३॥

माता कौसल्याजी ने ऐसा कहकर भरतजी को छाती से लगा लिया। कौसल्याजी के स्तनों से दूध बहने लगा और आँखों में आँसू भर गये। इसी तरह बहुत-सा विलाप करते हुए बैठे ही बैठे सारी रात बीत गई ॥ ३ ॥

बामदेव बसिष्ठ तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाये ॥
मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे। कहि परमारथ बचन सुदेसे ॥४॥

तब (दूसरे दिन प्रातःकाल) वामदेव और वसिष्ठजी आये और उन्होंने मन्त्रियों को तथा सब महाजनों को बुलवाया। मुनियों ने बहुत तरह के परमार्थ के शुभ वचन कहकर भरतजी को उपदेश दिया ॥ ४ ॥

१—वाममार्ग शाक्त आदि मत हैं जिनमें मदिरा पीना, परस्त्रीगमन आदि मोक्ष के साधन माने जाते हैं।

मेघनाद के यज्ञविध्वंस करने के लिए लक्ष्मण का आना। पृ० ५०१

दो०—तात हृदय धीरज धरहु करहु जो अवसर आजु।
उठे भरतु गुरुबचन सुनि करन कहेउ सब काजु ॥१७०॥

फिर वसिष्ठजी ने कहा—हे पुत्र! अब तुम धीरज धारण करके वह (राज-देह का दाह) कार्य करो जिसके करने का अवसर है। इस प्रकार गुरुजी के वचन सुनकर भरतजी उठे और उन्होंने सब काम ठीक करने की आज्ञा दी॥ १७०॥

चौ०—नृपतनु बेद बिहित अन्हवावा। परमबिचित्र बिमान बनावा॥
गहि पग भरत मातु सब राखीं। रहीं राम दरसन अभिलाखीं॥१॥

राजा दशरथ की देह को वेदोक्त विधि से स्नान कराया गया और बहुत ही विचित्र विमान बनवाया गया। भरतजी ने सब माताओं के पाँव पकड़कर उनको सती होने से रोक लिया। वे भी रामचन्द्र के दर्शनों की अभिलाषा से रह गईं (सती न हुईं)॥ १॥

चंदन-अगर-भार बहु आये। अमित अनेक सुगंध सुहाये॥
सरजुतीर रचि चिता बनाई। जनु सुर-पुर-सोपान सुहाई॥२॥

चन्दन और अगर के बहुत-से गट्ठे आये और तरह तरह के अपार सुगन्धित पदार्थ आये। सरयूजी के किनारे सुन्दर चिता रचकर बनाई गई, वह मानो स्वर्ग के लिए सीढ़ी बनी हो॥ २॥

एहि बिधि दाहक्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥३॥

भरतजी ने इस विधि से सब दाह-क्रिया की और स्नान करके राजा को यथाविधि तिलाञ्जलि दी। फिर वेद, स्मृति और पुराणों के प्रमाण देखकर भरतजी ने पिताजी का दशगात्र-विधान किया॥ ३॥

जहँ जस मुनिबर आयसु दीन्हा। तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा॥
भये बिसुद्ध दिये सबु दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना॥४॥

वसिष्ठजी ने जहाँ जैसी आज्ञा दी, वहाँ सब वैसा ही हज़ारों तरह से किया। शुद्ध हो जाने पर (ग्यारहवें दिन) गौ, घोड़े, हाथी, अनेक प्रकार के वाहन (सवारियाँ),॥ ४॥

दो०—सिंघासन भूषन बसन अन्न धरनि धन धाम।
दिये भरत लहि भूमिसुर भे परिपूरन काम॥१७१॥

सिंहासन, भूषण, वस्त्र, अन्न, पृथ्वी, धन, मकान सब दान भरतजी ने दिये, और उन दानों को ले लेकर ब्राह्मण पूर्ण-काम (तृप्त) हो गये॥ १७१॥

चौ०—पितुहित भरत कीन्हि जसि करनी। सो मुख लाख जाइ नहिँ बरनी ॥
सुदिन सोधि मुनिबर तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाये ॥ १ ॥

भरतजी ने पिता के निमित्त जैसी क्रिया की वह लाख मुँह से भी वर्णन नहीं की जा सकती। तब (मङ्गलश्राद्ध हो जाने पर) अच्छा दिन सोधकर मुनियों में श्रेष्ठ वसिष्ठजी महाराज आये। उन्होंने मंत्रियों तथा सब महाजनों को बुलाया ॥ १ ॥

बैठे राजसभा सब जाई। पठये बोलि भरत दोउ भाई ॥
भरतु बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति-धरम-मय बचन उचारे ॥ २ ॥

जब वे सब राज-सभा में जाकर बैठे, तब भरत और शत्रुघ्न दोनों भाइयों को उन्होंने बुलवाया। फिर भरतजी को वसिष्ठजी ने अपने पास बैठा लिया और नीति तथा धर्म के वचन कहे ॥ २ ॥

प्रथम कथा सब मुनिबर बरनी। केकइ कुटिल कीन्हि जसि करनी ॥
भूप धरमब्रतु सत्य सराहा। जेहि तनु परिहरि प्रेमु निबाहा ॥ ३ ॥

पहले तो मुनिवर ने वह सारी कथा कह सुनाई, जिस तरह केकयी ने कुटिलता की करतूत की। फिर राजा के धर्म और सत्य-व्रत की प्रशंसा की जिन्होंने शरीर त्यागकर प्रेम को निबाहा ॥ ३ ॥

कहत राम-गुन-सील-सुभाऊ। सजल नयन पुलकेउ मुनिराऊ ॥
बहुरि लषन-सिय-प्रीति बखानी। सोक सनेह मगन मुनि ग्यानी ॥ ४ ॥

रामचन्द्रजी के गुण, शील और स्वभाव का वर्णन करते करते मुनि की आँखों में जल भर गया और वे पुलकायमान हो गये। फिर लक्ष्मणजी और सीताजी की प्रीति का वर्णन करके, यद्यपि वसिष्ठ मुनि ज्ञानवान् थे, तो भी वे शोक और स्नेह में मग्न हो गये ॥ ४ ॥

दो०—सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ ॥ १७२ ॥

अन्त में मुनिराज ने दुखी होकर कहा—हे भरत! सुनो, भावी (होनहार) प्रबल होती है। हानि, लाभ, जीना, मरना, यश और अपयश ये सब विधाता के हाथ हैं ॥ १७२ ॥

चौ०—अस बिचारि केहि देइय दोषू। ब्यरथ काहि पर कीजिय रोषू ॥
तात बिचारु करहु मन माहीँ। सोच जोगु दसरथु नृपु नाहीँ ॥ १ ॥

ऐसा विचारकर किसको व्यर्थ दोष देना और किस पर क्रोध करना। हे पुत्र! मन में विचार करो। राजा दशरथ सोच करने के योग्य नहीं हैं ॥ १ ॥

सोचिय बिप्र जो बेदबिहीना । तजि निज धरमु बिषय लयलीना ॥
सोचिय नृपति जो नीति न जाना । जेहि न प्रजा प्रिय प्रानसमाना ॥२॥

सोचे तो वेद न जाननेवाले उस ब्राह्मण का करना चाहिए जो अपने धर्म को छोड़कर विषय-भोग में लीन हो रहा हो और उस राजा का सोच करना चाहिए जो नीति को नहीं जानता और जिसको प्रजा प्राण के समान प्यारी नहीं है ॥ २ ॥

सोचिय बयसु कृपिन धनवानू । जो न अतिथि सिवभगति सुजानू ॥
सोचिय सूद्र बिप्र-अपमानी । मुखर मानप्रिय ग्यानगुमानी ॥३॥

उस वैश्य का सोच करना चाहिए जो धनवान् होकर कृपण हो और जो अतिथियों को तथा शिवजी की भक्ति करने में पटु न हो। उस शूद्र का सोच करना चाहिए जो ब्राह्मणों का अपमान करता हो, बहुत बोलनेवाला हो, प्रतिष्ठा चाहता हो और ज्ञान का अभिमानी हो ॥ ३ ॥

सोचिय पुनि पतिबंचक नारी । कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी ॥
सोचिय बटु निज ब्रतु परिहरई । जो नहिँ गुरुआयसु अनुसरई ॥४॥

फिर उस स्त्री का सोच करना चाहिए जो पति से छल करती हो, जो कुटिल हो, लड़ाकू हो, और स्वेच्छाचारिणी हो। उस बटु (ब्रह्मचारी) का सोच करना चाहिए जो अपने ब्रह्मचर्य व्रत को छोड़ दे और जो गुरु की आज्ञा के अनुसार न चले ॥ ४ ॥

दो०—सोचिय गृही जो मोहबस करइ करमपथ त्याग ।
सोचिय जती प्रपंचरत बिगत बिबेक बिराग ॥१७३॥

उस गृहस्थाश्रमी का सोच करना चाहिए जो मोह के वश होकर अपने कर्म-मार्ग का त्याग कर दे। उस संन्यासी का सोच करना चाहिए जो प्रपंच (संसार के झगड़े) में लगा रहे और ज्ञान-वैराग्य-रहित हो ॥ १७३ ॥

चौ०—बैखानस सोइ सोचन जोगू । तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू ॥
सोचिय पिसुन अकारनक्रोधी । जननि-जनक-गुरु-बंधु-बिरोधी ॥१॥

वही तपस्वी सोचने योग्य है जिसको तपस्या छोड़कर भोग (आराम) अच्छा लगता हो। सोच उसका करना चाहिए जो चुगलखोर हो, बिना कारण क्रोध करनेवाला हो और माता, पिता, गुरु, भाई-बन्दों के साथ वैर रखता हो ॥ १ ॥

सब बिधि सोचिय परअपकारी । निज तनुपोषक निरदय भारी ॥
सोचनीय सबही बिधि सोई । जो न छाडि छलु हरिजन होई ॥२॥

जो मनुष्य दूसरों का बुरा चाहता हो, अपने शरीर को पुष्ट करता हो और बड़ा निर्दयी हो उसका सब तरह से सोच करना चाहिए। जो मनुष्य छल को छोड़कर भगवद्भक्त नहीं हो जाता वही सब तरह सोच करने के लायक़ है ॥ २ ॥

सोचनीय नहिँ कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ ॥
भयउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा ॥३॥
बिधि हरि हर सुरपति दिसिनाथा। बरनहिँ सब दसरथ-गुन-गाथा ॥४॥

कोसलाधीश (दशरथजी) सोच करने के योग्य नहीं हैं। उनका प्रभाव चौदहों लोकों में प्रकट हो रहा है। हे भरत, जैसे तुम्हारे पिता थे वैसा राजा न तो कोई हुआ, न अभी है, न होगा ॥ ३ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र और लोकपाल सभी दशरथ के गुणों की प्रशंसा करते हैं ॥ ४ ॥

दो०—कहहु तात केहि भाँति कोउ करिहि बड़ाई तासु।
राम लषन तुम्ह सत्रुहन सरिस सुअन सुचि जासु ॥१७४॥

कहो बेटा भरत! उनकी बड़ाई कोई किस तरह करे, जिनके राम, लक्ष्मण, तुम (भरत) और शत्रुघ्न जैसे पवित्र पुत्र हैं ॥ १७४ ॥

चौ०—सब प्रकार भूपति बड़भागी। बादि बिषाद करिय तेहि लागी ॥
एहु सुनि समुझि सोचु परिहरहू। सिर धरि राजरजायसु करहू ॥१॥

राजा सब प्रकार से भाग्यवान् थे। उनके लिए सोच-सन्ताप करना व्यर्थ है। यह सुन और समझकर सोच को दूर करो और राजा की आज्ञा सिर पर रखकर उसका पालन करो ॥१॥

राय राजपदु तुम्ह कहँ दीन्हा। पिताबचन फुर चाहिय कीन्हा ॥
तजे रामु जेहि बचनहिँ लागी। तनु परिहरेउ रामबिरहागी ॥२॥

राजा ने तुमको राजगद्दी दी है, तुम्हें पिता का वचन सत्य करना चाहिए, जिस वचन के लिए राजा ने रामचन्द्रजी को त्याग दिया और उनके वियोग की अग्नि में शरीर छोड़ दिया ॥ २ ॥

नृपहिँ बचन प्रिय नहिँ प्रिय प्राना। करहु तात पितुबचन प्रवाना ॥
करहु सीस धरि भूपरजाई। हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई ॥३॥

राजा को वचन प्यारे थे प्राण नहीं। इसलिए हे तात! पिता के वचनों को सत्य करो। राजा की आज्ञा को माथे पर रखकर उसे पूरा करो, इसी में तुम्हारी सब तरह भलाई है ॥ ३ ॥

परसुराम पितुअग्या राखी। मारी मातु लोक सब साखी ॥
तनय जजातिहि जौबनु दयऊ। पितुअग्या अघ अजसु न भयऊ ॥४॥

देखो, परशुरामजी ने पिता की आज्ञा पालन की। उस (आज्ञापालन) के लिए उन्होंने माता को भी मार डाला,[१] इस बात के सब लोग गवाह हैं। राजा ययाति के पुत्र[२] ने पिता को अपनी जवानी दे दी, पिता की आज्ञा पालन करने से उन्हें पाप भी नहीं लगा और अपयश भी नहीं हुआ ॥ ४ ॥

दो०—अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिँ पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिँ अमरपति ऐन ॥१७५॥

जो लोग उचित और अनुचित का विचार छोड़कर पिता के वचनों का पालन करते हैं, वे सुख और शुद्ध यश के पात्र होकर स्वर्ग में निवास करते हैं ॥ १७५ ॥

चौ०—अवसि नरेस बचन फुर करहू। पालहु प्रजा सोक परिहरहू ॥
सुरपुर नृपु पाइहिँ परितोषू। तुम्ह कहँ सुकृतु सुजसु नहिँ दोषू ॥१॥

इसलिए हे पुत्र! तुम अवश्य ही राजा के वचन को सत्य करो। शोक दूर करो और प्रजा का पालन करो। ऐसा करने से राजा स्वर्ग में सन्तुष्ट होंगे और तुमको पुण्य तथा यश मिलेगा, कोई दोष न होगा ॥ १ ॥

बेदबिहित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका ॥
करहु राज परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी ॥२॥

वेद में भी कहा है और सब लोगों को भी सम्मत (मान्य) है कि जिसको पिता दे वही राज-तिलक पाता है, इसलिए तुम ग्लानि (उदासी) छोड़कर राज्य करो। मेरे वचन को हित समझकर मान लो ॥ २ ॥

सुनि सुख लहब रामबैदेही। अनुचित कहब न पंडित केही ॥
कौसल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजासुख होहिँ सुखारी ॥३॥

१—परशुरामजी की माता रेणुका एक बेर जल भरने गई। वहाँ वह गन्धर्वों की क्रीड़ा देखने में लग गई और उसका मन धर्मपथ से विचलित हो गया। अन्त में उसे जब सुध आई तब वह झट पानी लेकर आश्रम को लौट पड़ी। जमदग्नि ऋषि ने सब वृत्तान्त जान लिया और क्रुद्ध होकर अपने पुत्रों को आज्ञा दी कि इसे मार डालो। इस आज्ञा का पालन केवल परशुरामजी ने किया।

२—राजा ययाति के दो रानियाँ थीं। एक शुक्राचार्यजी की कन्या देवयानी और दूसरी राजा वृषपर्वा की शर्मिष्ठा। शुक्राचार्यजी ने विवाह के समय यह नियम करा लिया था कि राजा ययाति शर्मिष्ठा से संभोग न करें। पर शर्मिष्ठा के पुत्र होने पर विदित हुआ कि राजा ने नियम-भङ्ग किया, इस पर क्रुद्ध हो शुक्राचार्यजी ने राजा को शाप दिया कि तू बुड्ढा हो जा। फिर बहुत प्रार्थना करने पर अवस्था बदल लेने का नियम शुक्राचार्यजी ने निश्चित कर दिया। तब राजा ने अपने सभी पुत्रों से, अलग अलग, अवस्था बदल लेने को कहा, पर कोई राज़ी न हुआ, तब सबसे छोटे लड़के पुरु ने पिता की आज्ञा का महत्त्व समझकर अपनी जवानी देकर उनका बुढ़ापा आप ले लिया।

इस बात को सुनकर रामचन्द्रजी और जानकी भी सुख पावेंगे और कोई पण्डित भी अनुचित नहीं कहेगा। कौसल्याजी आदि तुम्हारी सब मातायें भी प्रजा के सुख से सुखी होंगी ॥ ३ ॥

मरम तुम्हार राम कर जानिहि। सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि॥
सौंपेहु राज राम के आये। सेवा करेहु सनेह सुहाये ॥४॥

जो तुम्हारे और रामचन्द्रजी के मर्म को जानता है, वह सभी तरह तुमको भला कहेगा। रामचन्द्रजी के आ जाने पर उनको राज्य सौंप देना और सुन्दर स्नेह से उनकी सेवा करना ॥४॥

दो०—कीजिय गुर आयसु अवसि कहहिं सचिव कर जोरि।
रघुपति आयें उचित जस तस तब करब बहोरि ॥१७६॥

मन्त्री लोग भी हाथ जोड़कर कहने लगे कि महाराज! अवश्य ही गुरु के आज्ञानुसार काम कीजिए। रामचन्द्रजी के लौट आने पर उस समय जैसा कुछ उचित होगा वैसा करना ॥ १७६ ॥

चौ०—कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत पथ्य गुरुआयसु अहई ॥
सो आदरिय करिय हित मानी। तजिय बिषादु कालगति जानी ॥१॥

कौसल्याजी भी धीरज धरकर कहने लगीं—हे पुत्र! गुरुजी की आज्ञा पथ्य अर्थात् हितकर है, उसका आदर करो और अपना भला समझ कर (वैसा ही) करो। काल की गति को जानकर दुःख को त्याग दो ॥ १ ॥

बन रघुपति सुरपुर नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू ॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा ॥२॥

हे पुत्र! रामचन्द्र तो वन में हैं, महाराज स्वर्ग में, और तुम इस तरह घबरा रहे हो। हे पुत्र! (अब तो) कुटुम्बी, प्रजा, मन्त्री और सब माताओं को एक तुम्हारा ही अवलंब (आसरा) है ॥ २ ॥

लखि बिधि बाम कालकठिनाई। धीरजु धरहु मातु बलि जाई ॥
सिर धरि गुरआयसु अनुसरहू। प्रजा पालि पुर-जन-दुखु हरहू ॥३॥

विधाता की प्रतिकूलता और काल की कठिनता को देखकर तुम धीरज धारण करो, मातायें तुम्हारी बलि जाती हैं। तुम गुरु की आज्ञा को सिर चढ़ाकर उसी के अनुसार चलो और प्रजा का पालनकर पुर-वासियों के दुःख दूर करो ॥ ३ ॥

गुरु के बचन सचिव अभिनंदनु। सुने भरत हिय हित जनु चंदनु ॥
सुनी बहोरि मातु मृदुबानी। सील-सनेह-सरल-रस-सानी ॥४॥

इस तरह गुरु के वचन और मन्त्रियों का अभिनन्दन (समर्थन) सुनने से भरतजी के हृदय को चन्दन के समान (शीतल) लगा। फिर माताजी की कोमल वाणी सुनी जो शील और स्नेहरस से भरी हुई साधी सच्ची थी॥ ४॥

छंद—सानी सरलरस मातुबानी सुनि भरतु ब्याकुल भये।
लोचनसरोरुह स्त्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नये॥
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की।
तुलसी सराहत सकल सादर सीवँ सहजसनेह की॥

वह सीधी रसभरी माता की वाणी सुनकर भरतजी व्याकुल हो उठे। उनके नेत्र-कमलों से जल बहने लगा। वे आँसू मानों उनके हृदय में नये विरह के अंकुर सींचने लगे। उस समय की वह दशा देखकर सबको अपने अपने शरीर की सुध-बुध भूल गई। तुलसीदासजी कहते हैं कि उस स्वाभाविक स्नेह की सीमा को सब लोग बड़े आदर से सराहने लगे (धन्य धन्य कहने लगे)॥

सो०—भरतु कमल कर जोरि धीर-धुरंधर धीर धरि।
बचनु अमिय जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहिँ॥१७७॥

धैर्य के भार को उठानेवाले भरतजी धीरज धारणकर, कमल के समान हाथों को जोड़कर, मानों अमृत में डुबाये हुए वचनों से सबको उचित उत्तर देने लगे॥ १७७॥

चौ०—मोहि उपदेसु दीन्ह गुर नीका। प्रजा सचिव संमत सबही का॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा॥१॥

वे बोले—मुझे गुरुजी ने अच्छा उपदेश दिया। वह प्रजा, मन्त्री और सभी को सम्मत है। माताजी ने भी उचित ही सोचकर आज्ञा दी है और उसे सिर पर चढ़ाकर अवश्य ही मैं वैसा करना चाहता हूँ॥ १॥

गुरु-पितु-मातु-स्वामि-हितबानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी॥
उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरमु जाय सिर पातकभारू॥२॥

क्योंकि गुरु, पिता, माता, स्वामी, इनकी हित की वाणी को सुनकर और उसे अच्छी समझकर प्रसन्नता से मानना चाहिए। उसमें उचित-अनुचित का विचार करने से धर्म नष्ट होता है और माथे पर पाप का भार चढ़ता है॥ २॥

तुम्ह तउ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर भल होई॥
जद्यपि यह समुझत हउँ नीके। तदपि होत परितोषु न जी के॥३॥

तुम लोग तो वही सीधी सीख मुझे देते हो, जिसके आचरण करने में मेरा भला हो। यद्यपि मैं इस बात को भली भाँति समझता हूँ, तो भी मेरे जी में संतोष नहीं होता ॥ ३ ॥

अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावन देहू ॥
ऊतरु देउँ छमब अपराधू। दुखित-दोष-गुन गनहिँ न साधू ॥४॥

अब तुम लोग मेरी प्रार्थना को भी सुन लो, फिर मुझे मेरे अनुकूल शिक्षा दो। मैं सामने उत्तर देता हूँ, इस मेरे अपराध को क्षमा करना। सज्जन लोग दुःखी आदमी के दोष और गुणों को नहीं गिनते ॥ ४ ॥

दो०—पितु सुरपुर सिय राम बन करन कहहु मोहि राजु।
एहि ते जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु ॥१७८॥

पिताजी तो स्वर्ग चले गये, सीतारामजी वन में हैं और मुझे आप राज्य करने के लिए कहते हैं। इसी में मेरा हित अथवा अपना बड़ा भारी कार्य आप लोगों ने समझ रक्खा है! ॥ १७८ ॥

चौ०—हित हमार सिय-पति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातुकुटिलाई ॥
मैं अनुमानि दीखि मन माहीँ। आन उपाय मोर हित नाहीँ ॥१॥

हमारा हित तो सीतारामजी की सेवा में है, वह सेवा माता केकयी की कुटिलता ने हर ली। मैंने अपने मन में अनुमानकर समझ लिया है कि और किसी उपाय से मेरा हित नहीं है ॥ १ ॥

सोकसमाजु राजु केहि लेखे। लषन-राम-सिय-पद बिनु देखे ॥
बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्मबिचारू ॥२॥

लक्ष्मण, श्रीरामचन्द्र और सीताजी के चरणों को देखे बिना यह शोक का सामान राज्य किस गिनती में है? कपड़ों के बिना गहनों का बोझा लादना व्यर्थ है। वैराग्य हुए बिना ब्रह्मज्ञान छाँटना व्यर्थ है ॥ २ ॥

सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरिभगति जाय जप जोगा ॥
जाय जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सब बिनु रघुराई ॥३॥

शरीर रोगी हो तो भोग व्यर्थ हैं। भगवद्भक्ति के बिना जप और योग व्यर्थ हैं। जीव के बिना सुन्दर देह व्यर्थ है, इसी तरह रामचन्द्रजी के बिना मेरा सभी कुछ व्यर्थ है ॥३॥

जाउँ राम पहिँ आयसु देहू। एकहि आँक मोर हित एहू ॥
मोहि नृपु करि भल आपन चहहू। सोउ सनेहु जडताबस कहहू ॥४॥

मुझे आज्ञा दीजिए तो मैं रामचन्द्रजी के पास जाऊँ। बस यही एक बात निश्चय ऐसी है जिसमें मेरा भला है। जो तुम मुझे राजा बनाकर अपना भला चाहते हो तो यह भी तुम स्नेह की जड़तावश (प्रेम के कारण विचार खोकर) कह रहे हो ॥ ४ ॥

दो०—कैकेइसुअन कुटिल मति रामबिमुख गतलाज ।
तुम्ह चाहत सुखु मोहबस मोहि से अधमु के राज ॥१७९॥

मैं केकयी का पुत्र हूँ, मेरी कुटिल बुद्धि है, मैं रामचन्द्रजी से विमुख और निर्लज्ज हूँ। तुम लोग केवल मोहवश मेरे जैसे अधम के राज्य में सुख चाहते हो ॥ १७९ ॥

चौ०—कहउँ साँचु सब सुनि पतियाहू । चाहिय धरमसील नरनाहू ॥
मोहि राज हठि देइहहु जबहीं । रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥१॥

मैं सच कहता हूँ, सुनकर निश्चय मान लो, राजा धार्म्मिक होना चाहिए। तुम लोग हठ करके जिस समय मुझे राज्य दोगे, उसी समय पृथ्वी रसातल को चली जायगी ॥ १ ॥

मोहि समान को पापनिवासू । जेहि लगि सीयराम बनबासू ॥
राय राम कहँ कानन दीन्हा । बिछुरत गमन अमरपुर कीन्हा ॥२॥

मेरे बराबर पापों का घर और कौन होगा जिसके लिए सीता-रामजी वनवास को गये! राजा ने रामचन्द्रजी को वनवास दिया, तो उनके बिछुड़ते ही उन्होंने स्वर्ग-यात्रा की ॥ २ ॥

मैं सठु सब अनरथ कर हेतू । बैठ बात सब सुनउँ सचेतू ॥
बिनु रघुबीर बिलोकिय बासू । रहे प्रान सहि जग उपहासू ॥३॥

और मैं दुष्ट सब अनर्थों की जड़ अब बैठा हुआ सावधानी के साथ सब बातें सुन रहा हूँ! बिना रामचन्द्रजी के इस भवन को देखकर भी ये प्राण जगत् की हँसी सहकर बने रहे ॥३॥

राम पुनीत बिषयरस रूखे । लोलुप भूमिभोग के भूखे ॥
कहँ लगि कहउँ हृदयकठिनाई । निदरि कुलिसु जेहि लही बड़ाई ॥४॥

रामचन्द्रजी पवित्र और विषय के स्वाद से रूखे (उदासीन, बेपरवाह) हैं। लालची लोग पृथ्वी के राज्य के भूखे होते हैं। मैं अपने हृदय की कठिनता कहाँ तक कहूँ। इसने वज्र को भी मातकर बड़ाई पा ली। अर्थात् राम-वियोग पाकर भी जो हृदय न फट गया तो वह वज्र से भी अधिक कड़ा है ॥ ४ ॥

दो०—कारन तें कारजु कठिन होइ दोसु नहिं मोर ।
कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर ॥१८०॥

(उत्पन्न करनेवाले) कारण से (उत्पन्न) कार्य कठिन होता है, इसलिए इसमें मेरा कुछ दोष नहीं। हड्डियों से[1] वज्र और पत्थर से लोहा ज्यादा कराल और कठिन होता है। अर्थात् केकयी मेरा कारण, मैं उसका कार्य (पुत्र) हूँ, तो उसको कठिनाई से मेरी कठिनाई अधिक ही होनी चाहिए ॥ १८० ॥

चौ०—कैकेईभव तनु अनुरागे । पाँवर प्रान अघाइ अभागे ॥
जौं प्रियबिरह प्रान प्रिय लागे । देखब सुनब बहुत अब आगे ॥१॥

केकयी से उत्पन्न देह के प्रेम करनेवाले ये नीच अभागे प्राण खूब सन्तुष्ट हो लें। जो प्यारे (रामचन्द्रजी) के वियोग में भी प्राण प्यारे लगे तो आगे बहुत कुछ देखना और सुनना है। अर्थात् राम-वियोग होते ही मर जाना अच्छा था। जो ऐसे वज्र-दुःख में भी प्राण न गये, तो भविष्य में बहुत कुछ देखना सुनना बाक़ी है ॥ १ ॥

लखन-राम-सिय कहँ बन दीन्हा । पठइ अमरपुर पतिहित कीन्हा ॥
लीन्ह बिधवपन अपजसु आपू । दीन्हेउ प्रजहिँ सोकु संतापू ॥२॥

केकयी ने लक्ष्मण, श्रीराम और सीता को तो वनवास दिया और पति को स्वर्ग भेजकर उनका हित किया। आप विधवापन और अपयश लिया और प्रजा को शोक और सन्ताप दिया ॥ २ ॥

मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू । कीन्ह कैकई सब कर काजू ॥
एहि तेँ मोर काह अब नीका । तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका ॥३॥

मुझे सुख, सुन्दर यश और उत्तम राज्य दिया। यों केकयी ने सबके काम बना दिये। इससे अच्छा अब मेरे लिए और क्या होगा। उस पर तुम लोग मुझे राजतिलक देने को कहते हो ॥ ३ ॥

कैकइजठर जनमि जग माहीँ । यह मो कहँ कछु अनुचित नाहीँ ॥
मोरि बात सब बिधिहि बनाई । प्रजा पाँच कत करहु सहाई ॥४॥

संसार में केकयी के पेट से जन्म लेकर यह (तिलक लेना) मेरे लिए कुछ भी अनुचित नहीं है। मेरी सब बात तो विधाता ने ही बना दी है, फिर उसमें प्रजा और पंच क्यों सहायता दे रहे हैं ? ॥ ४ ॥

दो०—ग्रहग्रहीत पुनि बातबस तेहि पुनि बीछी मार ।
तेहि पियाइय बारुनी कहहु कवन उपचार ॥१८१॥

१—दधीचि ऋषि की हड्डियों का वज्र बना था और उससे वृत्रासुर मारा गया था। इसलिए हड्डियों को वज्र का कारण कहा।

कोई आदमी पहले तो ग्रहों से पकड़ा गया हो अर्थात् उसके बुरे ग्रह हों, फिर उसे बाई भी चढ़ो हो, ऊपर से बोछू भी डंक मार दे, इस पर भी उसको मदिरा पिला देना कहो कौन सा अच्छा इलाज है ? अर्थात् भरतजी कहते हैं कि एक तो मैं केकयी से जन्मा, दूसरे पिता स्वर्गवासो हो गये, तीसरे राम-वियोग। इतने रोग लगे हुए हैं, तो भो राज-तिलक-रूपी मदिरा आप लोग पिलाते हैं तो फिर मेरे बचने का क्या उपाय है ? कुछ भी नहीं ॥ १८१ ॥

चौ०—कैकइसुअन जोग जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई ॥
दसरथ-तनय राम-लघु-भाई। दीन्हि मोहि बिधि बादि बड़ाई ॥१॥

केकयी के पुत्र के लिए जगत् में जो योग्य था, वही मुझे चतुर विधाता ने दिया है। पर (साथ ही साथ) दशरथ का पुत्र और राम-लक्ष्मण का छोटा भाई यह बड़ाई विधाता ने मुझे व्यर्थ दी ॥ १ ॥

तुम्ह सब कहहु कढावन टीका। रायरजायसु सब कहँ नीका ॥
उतरु देउँ केहि बिधि केहि केही। कहहु सुखेन जथा रुचि जेही ॥२॥

तुम सब लोग मुझे राज-तिलक लगवाने के लिए कहते हो, राजा की आज्ञा भी है और सबको यह अच्छा भी लगता है। भला मैं किस किसको किस किस तरह उत्तर दूँ ? इसलिए जिनको जैसो रुचि हो, वे वैसा ख़ुशी के साथ कहें ॥ २ ॥

मोहि कु-मातु-समेत बिहाई। कहहु कहिहि के कीन्हि भलाई ॥
मो बिनु को सचराचर माहीँ। जेहि सियरामु प्रानप्रिय नाहीँ ॥३॥

ठीक है, कुमाता (केकयी) समेत मुझे छोड़कर और किसने इतनी भलाई की है ? चराचर समेत सारे संसार में मेरे बिना और कौन होगा जिसे सीता-रामजी प्राणों के समान प्रिय नहीं ? ॥ ३ ॥

परमहानि सबु कहँ बड लाहू। अदिनु मोर नहिँ दूषन काहू ॥
संसय सील प्रेम बस अहहू। सबुइ उचित सब जो कछु कहहू ॥४॥

परम हानि ही में सबको बड़ा लाभ दीखता है ! इसमें किसी का दोष नहीं, मेरे दिन ही बुरे हैं। तुम सब लोग सन्देह और प्रेम के वश में हो, इसलिए सब लोग जो कुछ कहो वह उचित ही है ॥ ४ ॥

दो०—राममातु सुठि सरलचित मो पर प्रेमु बिसेखि।
कहइ सुभाय सनेह बस मोरि दीनता देखि ॥१८२॥

रामचन्द्रजी की माता बिलकुल सीधे स्वभाववाली है और मुझ पर इनका स्नेह भी अधिक है। इसलिए वे स्वभावत: स्नेह के वश होकर और मेरी दीनता देखकर ऐसा कह रही हैं ॥ १८२ ॥

चौ०—गुरु बिबेकसागर जगु जाना। जिन्हहि बिस्व कर-बदर-समाना॥
मो कहँ तिलकसाज सज सोऊ। भये बिधिबिमुख बिमुख सब कोऊ॥१॥

संसार जानता है कि गुरु महाराज विचार के समुद्र हैं। जिनके लिए संसार हाथ में लिये हुए बेर के फल के समान है (अर्थात् जो उसका रहस्य खूब जानते हैं) वे भी मेरे लिए राजतिलक की सजावट कर रहे हैं! ठीक है, विधाता के प्रतिकूल होने पर सभी प्रतिकूल हो जाते हैं॥ १॥

परिहरि रामु सीय जग माहीँ। कोउ न कहहिँ मोर मत नाहीँ॥
सो मैं सुनब सहब सुखु मानी। अंतहु कीच तहाँ जहँ पानी॥२॥

श्रीरामचन्द्र और सीताजी को छोड़कर जगत् में और कोई नहीं है जो यह कहे कि इसमें (श्रीराम को वन भेजने और आप राजा होने में) मेरी सम्मति नहीं है। इसलिए मैं वह सब सुख मानकर सुनूँगा और सहूँगा, क्योंकि अन्त में कीचड़ तो वहीं होता है जहाँ पानी होता है॥ २॥

डर न मोहि जगु कहहि कि पोचू। परलोकहु कर नाहिन सोचू॥
एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सियराम दुखारी॥३॥

संसार मुझे कितना ही बुरा कहे, उसका मुझे डर नहीं। मुझे परलोक (स्वर्ग-नरक) का भी कुछ सोच नहीं है। मेरे हृदय में एक ही न सहने लायक़ वन की आग भभक रही है कि श्रीसीतारामजी मेरे लिए दुखी हुए!॥ ३॥

जीवनलाहु लषनु भल पावा। सबु तजि रामचरनु मनु लावा॥
मोर जनम रघुबर बन-लागी। झूठ काह पछिताउँ अभागी॥४॥

हाँ, जन्म लेने का अच्छा लाभ तो लक्ष्मणजी ने पाया, जिन्होंने सब कुछ छोड़कर रामचन्द्रजी के चरणों में चित्त लगाया। मेरा तो जन्म ही रामचन्द्रजी के वनवास के लिए है, तो मैं अभागा झूठ मूठ पछताता हूँ॥ ४॥

दो०—आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहिँ सिरु नाइ।
देखे बिनु रघु-नाथ-पद जिय कै जरनि न जाइ॥१८३॥

मैं सबको सिर झुकाकर अपनी कठोर दीनता निवेदन करता हूँ। (वह यह कि) श्रीरघुनाथजी के चरणों के दर्शन किये बिना मेरे जी की जलन न जायगी॥ १८३॥

चौ०—आन उपाउ मोहि नहिँ सूझा। को जिय कै रघुबर बिनु बूझा॥
एकहि आँक इहइ मन माहीँ। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीँ॥१॥

मुझे और कोई उपाय नहीं सूझता, रामचन्द्रजी के विना मेरे जी की बात और कौन समझता है? बस, मेरे मन में एक यही निश्चय हो रहा है कि सबेरे ही मैं स्वामी (रामचन्द्रजी) के पास चलूँगा ॥ १ ॥

जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भइ मोहि कारन सकल उपाधी॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेखी॥२॥

यद्यपि मैं दुष्ट अपराधी हूँ, मेरे ही कारण सब उपाधि हुई है, तो भी रामचन्द्रजी मुझे सम्मुख शरण में आया हुआ देखकर, सब अपराध क्षमाकर, मुझ पर विशेष कृपा करेंगे ॥ २ ॥

सीलु सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा-सनेह-सदन रघुराऊ॥
अरिहु क अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥३॥

रामचन्द्रजी का बड़ा ही शील है और सीधा तथा सकोची स्वभाव है। वे रघुराई, दया और स्नेह के तो घर हैं। रामचन्द्रजी ने कभी शत्रु का भी बुरा नहीं किया। मैं तो यद्यपि प्रतिकूल हूँ, तथापि उनका बालक और सेवक हूँ ॥ ३ ॥

तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥
जेहि सुनि बिनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी॥४॥

इसलिए तुम पंच लोग भी इसमें मेरा कल्याण मानकर (जाने की) आज्ञा दो और श्रेष्ठ वाणी से (मुझे) आशीर्वाद दो, जिसमें रामचन्द्रजी मेरी प्रार्थना सुनकर, मुझे अपना सेवक जानकर, राजधानी को लौट आवें ॥ ४ ॥

दो०—जद्यपि जनम कुमातु तें मैं सठ सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघु-बीर-भरोस॥१८४॥

यद्यपि जन्म कुमाता से हुआ है और मैं दुष्ट तथा सदा दोषों से भरा हुआ हूँ, तथापि मुझे रामचन्द्रजी का भरोसा है कि वे मुझे अपना जानकर त्याग नहीं देंगे ॥ १८४ ॥

चौ०—भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम-सनेह-सुधा जनु पागे॥
लोग बियोग-बिषम-बिष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥१॥

रामचन्द्रजी के स्नेह-रूपी अमृत में डुबाये हुए भरतजी के वचन सबको प्रिय लगे। लोग राम-वियोगरूपी विष से दगे (जले) हुए थे; वे ऐसे जगे मानों कोई साँप का काटा हुआ मनुष्य बीज-सहित (सिद्ध) मन्त्र को सुनकर जाग उठा हो ॥ १ ॥

मातु सचिव गुरु पुर-नर-नारी। सकल सनेह बिकल भये भारी॥
भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम-प्रेम-मूरति-तनु आही॥२॥

मातायें, मन्त्री, गुरु, नगर के स्त्री-पुरुष सभी स्नेह के वश होकर भारी विह्वल हो गये। सब लोग भरतजी की प्रशंसा करके कहने लगे कि ये रामचन्द्रजी के प्रेम की साक्षात् मूर्त्ति हैं॥ २॥

तात भरत अस काहे न कहहू। प्रानसमान रामप्रिय अहहू॥
जो पावँरु अपनी जडताईं। तुम्हहिँ सुगाइ मातुकुटिलाईं॥३॥

वे कहने लगे—हे तात, भरत! तुम ऐसा क्यों न कहो। तुम रामचन्द्रजी को प्राण के समान प्यारे हो। जो नीच अपनी मूर्खता से माता केकयी की कुटिलता को तुम पर लगाता है (संशय करता है)॥ ३॥

सो सठ कोटिक-पुरुष-समेता। बसहिँ कलपसत नरकनिकेता॥
अहि-अघ-अवगुन नहिँ मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई॥४॥

वह दुष्ट करोड़ों पुरुषों के साथ सौ कल्प पर्यन्त नरक स्थान में रहेगा। साँप का अवगुण (विष) उसकी मणि में नहीं आता। वह (मणि) साँप के विष को हर लेती और दुख-दरिद्र का नाश कर देती है॥ ४॥

दो०—अवसि चलिय बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह।
सोकसिंधु बूड़त सबहिँ तुम्ह अवलंबनु दीन्ह॥१८५॥

भरतजी! तुमने बड़ी अच्छी सलाह की है। जहाँ रामचन्द्रजी हैं उस वन में अवश्य चलना चाहिए। शोकरूपी समुद्र में डूबते हुए सबको तुमने यह अवलम्बन (आधार) दिया है॥ १८५॥

चौ०—भा सब के मन मोदु न थोरा। जनु घनधुनि सुनि चातक मोरा॥
चलत प्रात लखि निरुनउ नीके। भरतु प्रानप्रिय भे सबही के॥१॥

सबके मन में बड़ा भारी आनन्द हुआ जैसा कि मेघों की गर्जना को सुनकर पपीहों और मोरों को होता है। दूसरे दिन सबेरे ही चलने का निश्चय अच्छी तरह जानकर भरतजी सबको प्राण-प्रिय लगे॥ १॥

मुनिहिँ बंदि भरतहिँ सिनाईरु। चले सकल घर बिदा कराई॥
धन्य भरत जीवनु जग माहीँ। सीलु सनेहु सराहत जाहीँ॥२॥

मुनि (वसिष्ठजी) और भरतजी को प्रणामकर, बिदा माँग माँगकर, सब लोग अपने अपने घर चले। जगत् में भरतजी का जीना धन्य है, इस तरह वे उनके शील और स्नेह की बड़ाई करते जाते थे॥ २॥

कहहिँ परसपर भा बड काजू। सकल चलइ कर साजहिँ साजू॥
जेहि राखहिँ रहु घररखवारी। सो जानइ जनु गरदनि मारी॥३॥
कोउ कह रहन कहिय नहिँ काहू। को न चहइ जग जीवन-लाहू॥४॥

सब लोग आपस में कहने लगे कि यह तो बड़ा अच्छा काम बना। सभी चलने के लिए तैयारी करने लगे। जिस किसी के घर की रखवाली करने के लिए घर रहने के कहते थे वह मन में समझता कि मेरी गर्दन मार दी गई (मुझे सजा दे दी)॥ ३॥ कोई कोई कहते थे कि भाई! किसी के भी रहने के लिए मत कहो, क्योंकि संसार में जीवन के लाभ को कौन नहीं चाहता?॥ ४॥

दो०—जरउ सो संपति सदनसुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो रामपद करइ न सहज सहाइ॥१८६॥

रामचन्द्रजी के चरणों के सम्मुख होने में जो आपसे आप सहायता न करे, वह सुन्दर सम्पत्ति, सारे घर का सुख, मित्र, माता, पिता, और भाई सब जल जायँ। (राम-चरणों से बढ़कर वे किसी काम के नहीं)॥ १८६॥

चौ०—घर घर साजहिँ बाहन नाना। हरषु हृदय परभात पयाना॥
भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू। नगरु बाजि गजु भवनु भँडारू॥१॥

सब लोग घर घर अनेकों तरह की सवारियाँ सजाने लगे। सबके हृदय में आनन्द छा गया कि सबेरे चलना है। भरतजी ने घर में जाकर विचार किया कि नगर, घोड़े, हाथी, घर, खज़ाना॥ १॥

संपति सब रघुपति कै आही। जौँ बिनु जतन चलउँ तजि ताही॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई। पापसिरोमनि साइँ दोहाई॥२॥

और सब सम्पत्ति रामचन्द्रजी की है। जो उसको रक्षा का प्रबन्ध किये बिना यों ही छोड़कर चल दूँ, तो अन्त में मेरे लिए अच्छा न होगा। मैं स्वामी की सौगन्द खाकर कहता हूँ कि मैं पापियों का सरदार कहलाऊँगा॥ २॥

करइ स्वामिहित सेवकु सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥
अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धरमु न डोले॥३॥

कोई करोड़ों दोष क्यों न दे, पर सेवक वही है जो स्वामी का हित करे। भरतजी ने ऐसा विचारकर ऐसे पवित्र (विश्वासी) सेवकों को बुलाया, जो स्वप्न में भी अपने धर्म्म से चलायमान न हों॥ ३॥

कहि सबु मरमु धरमु सब भाखा। जो जेहि लायक सो तहँ राखा ॥
करि सबु जतनु राखि रखवारे। राममातु पहिँ भरत सिधारे ॥४॥

भरतजी ने उनको सब मर्म की बातें कहकर धर्म का उपदेश दिया और जो जिस लायक़ था उसको उसी काम में लगा दिया। सब जगह रक्षक (पहरेदार) रखकर और सब प्रबन्ध ठीक करके भरतजी रामचन्द्रजी की माता के पास आये ॥ ४ ॥

दो०—आरत जननी जानि सब भरत सनेहसुजान।
कहेउ बनावन पालकी सजन सुखासन जान ॥१८७॥

स्नेह को भली भाँति जाननेवाले भरतजी ने सब माताओं को आर्त्त (दुखी) जानकर उनके लिए पालकी और सुखपाल (सवारियाँ) तैयार करने के लिए कह दिया ॥ १८७ ॥

चौ०—चक्क चक्कि जिमि पुर-नर-नारी। चहत प्रात उर आरत भारी ॥
जागत सब निसि भयउ बिहाना। भरत बोलाये सचिव सुजाना ॥१॥

जैसे चकवा-चकवी सबेरा होने की बाट देखा करते हैं, वैसे ही नगर के सभी स्त्री-पुरुष दिन निकलने के लिए बहुत घबरा रहे हैं। सारी रात जागते ही जागते सबेरा हो गया और भरतजी ने चतुर मन्त्रियों को बुलवाया ॥ १ ॥

कहेउ लेहु सब तिलकसमाजू। बनहिँ देब मुनि रामहिँ राजू ॥
बेगि चलहु सुनि सचिव जोहारे। तुरत तुरग रथ नाग सँवारे ॥२॥

भरतजी ने उनसे कहा, कि तिलक का सब सामान ले चलो, वहीं वन में वसिष्ठजी रामचन्द्रजी को राजतिलक देंगे। मन्त्रियों ने जल्दी चलने की (आज्ञा) सुनकर प्रणाम किया और तुरन्त ही घोड़े, रथ और हाथी सजवा दिये ॥ २ ॥

अरुंधती अरु अगिनिसमाजू। रथ चढि चले प्रथम मुनिराजू ॥
बिप्रबृंद चढि बाहन नाना। चले सकल तप-तेज-निधाना ॥३॥

पहले मुनिराज (वसिष्ठजी) अरुंधती (अपनी स्त्री) और अग्निहोत्र के सब सामान सहित रथ पर चढ़कर चले। फिर तपस्या और तेज के स्थान सब ब्राह्मणों के समूह तरह तरह की सवारियों पर चढ़कर चले ॥ ३ ॥

नगर लोग सब सजि सजि नाना। चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना ॥
सिबिका सुभग न जाहिँ बखानी। चढि चढि चलत भईं सब रानी ॥४॥

नगर के लोग तरह तरह से सज धजकर चित्रकूट को चल पड़े। जिनका वर्णन न हो सके ऐसी सुन्दर पालकियों में चढ़ चढ़कर सब रानियाँ चलीं ॥ ४ ॥

दो०—सौंपि नगर सुचि सेवकन्हि सादर सबहिँ चलाइ।
सुमिरि राम-सिय-चरन तब चले भरतु दोउ भाइ ॥१८८॥

यों आदर के साथ सबको रवाना कराकर और विश्वासी सेवकों को नगर सौंप कर फिर श्रीराम-सीताजी के चरणों को स्मरणकर भरत, शत्रुघ्न दोनों भाई चले ॥ १८८ ॥

चौ०—राम-दरस-बस सब नरनारी। जनु करि करिनि चले तकि बारी॥
बन सिय रामु समुझि मन माहीँ। सानुज भरत पयादेहि जाहीँ ॥१॥

सब स्त्री-पुरुष रामचन्द्रजी के दर्शन की लालसा में ऐसे चले कि मानों प्यासे हाथी और हथिनियाँ पानी को देखकर दौड़ती हों। छोटे भाई शत्रुघ्न-सहित भरतजी मन में सीता-रामजी को वन में (उनके पास सवारी नहीं है) समझकर पैदल हो जाने लगे ॥ १ ॥

देखि सनेहु लोग अनुरागे। उतरि चले हय गय रथ त्यागे॥
जाइ समीप राखि निज डोली। राममातु मृदुबानी बोली ॥२॥

उनके स्नेह को देखकर लोग प्रेम में मग्न हो गये और घोड़े, हाथी, रथों से उतर उतरकर (पैदल) चलने लगे। तब रामचन्द्रजी की माता (कौसल्याजी) अपनी पालकी भरतजी के पास ले जाकर कोमल वाणी से बोलीं—॥ २ ॥

तात चढहु रथ बलि महतारी। होइहि प्रिय परिवारु दुखारी॥
तुम्हरे चलत चलिहि सबु लोगू। सकल सोक कृस नहिँ मग जोगू ॥३॥

हे पुत्र! माता बलैया लेती है, तुम रथ पर सवार हो लो, क्योंकि हे प्यारे! तुम्हारे पीछे सब कुटुम्ब दुःख पावेगा। तुम्हारे पैदल चलने पर सब लोग पैदल चलेंगे, सब शोक के मारे दुबले हैं, रास्ता चलने के लायक़ नहीं हैं ॥ ३ ॥

सिर धरि बचन चरन सिरु नाई। रथ चढि चलत भये दोउ भाई॥
तमसा प्रथम दिवस करि बासू। दूसर गोमतितीर निवासू ॥४॥

माता की आज्ञा को सिर चढ़ाकर और उनके चरणों में सिर झुकाकर दोनों भाई रथ पर चढ़कर चले। पहले दिन तमसा नदी के किनारे निवास कर, दूसरे दिन गोमती के किनारे निवास किया ॥ ४ ॥

दो०—पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग।
करत रामहित नेम ब्रत परिहरि भूषन भोग ॥१८९॥

कोइ तो केवल दूध पीते, कोई फलाहार करते, कोइ रात्रि ही में एक बार भोजन कर लेते—इस तरह सब लोग रामचन्द्रजी के लिए भूषण और भोग (आराम) छोड़कर नियम और व्रत करने लगे ॥ १८९ ॥

चौ०—सई तीर बसि चले बिहाने। सृंगबेरपुर सब नियराने ॥
समाचार सब सुने निषादा। हृदय बिचार करइ सबिषादा ॥१॥

वे सब 'सई' नदी के किनारे बसकर दूसरे दिन सबेरे चले और शृंगवेरपुर के पास पहुँचे। निषाद (गुह) ने सब समाचार (प्रजा-सहित भरतजी का आना) सुने। वह मन में दुःखी होकर विचार करने लगा कि॥ १ ॥

कारन कवन भरतु बन जाहीं। है कछु कपटभाउ मन माहीं ॥
जौं पै जिय न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्ह संग कटकाई ॥२॥

भरत किस कारण वन में जाते हैं, इनके मन में कुछ कपट भाव (दग़ाबाज़ी) है। जो इनके जी में कुटिलता न होती तो साथ में फ़ौज लाने की क्या आवश्यकता थी ? ॥२॥

जानहिँ सानुज रामहिँ मारी। करउँ अकंटक राजु सुखारी ॥
भरत न राजनीति उर आनी। तब कलंकु अब जीवनुहानी ॥३॥

इन्होंने सोचा है कि मैं लक्ष्मण-सहित रामचन्द्र को मारकर सुखी हो निष्कंटक राज्य करूँगा। किन्तु भरत ने मन में राजनीति नहीं सोची। तब (रामचन्द्रजी के जाने पर) तो इन्हें कलंक ही लगा, पर अब इनके जीवन ही का नाश है॥ ३ ॥

सकल-सुरासुर जुरहिँ जुझारा। रामहिँ समर न जीतनिहारा ॥
का आचरजु भरतु अस करहीँ। नहिँ बिषबेलि अमियफल फरहीँ ॥४॥

सब देवता और दैत्य योद्धा जुट जायँ, तो भी रण में रामचन्द्रजी को जीतनेवाला कोई नहीं है। भरत जो ऐसा करें तो इसमें आश्चर्य क्या है ? क्योंकि विष की बेल में अमृत का फल नहीं लगता॥ ४ ॥

दो०—अस बिचारि गुह ग्याति सन कहेउ सजग सब होहु।
हथबाँसहु बोरहु तरनि कीजिय घाटारोहु ॥१९०॥

गुह ने ऐसा विचारकर जातिवालों से कहा कि तुम सब सावधान हो जाओ। डाँड़ों और नावों को डुबा दो और घाटों को रोक लो॥ १९० ॥

चौ०—होहु सँजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरइ के ठाटा ॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जियत न सुरसरि उतरन देऊँ ॥१॥

सावधान होकर घाटों को रोक लो, और मरने के लिए तैयार हो जाओ। मैं शस्त्र लेकर भरत का सामना करूँगा और जीते जी इन्हें गङ्गा न उतरने दूँगा॥ १ ॥

समर मरन पुनि सुर-सरि-तीरा । रामकाजु छनभंगु सरीरा ॥
भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू । बडे भाग असि पाइय मीचू ॥२॥

एक तो युद्ध में मरना, फिर वह भी गंगाजी के किनारे, उसमें भी रामचन्द्रजी के लिए और यह क्षणभंगुर (शीघ्र नष्ट होनेवाला) शरीर है। भरत तो उनका भाई और राजा है, मैं नीच सेवक हूँ। ऐसी मृत्यु बड़े भाग्य से मिलती है ॥ २ ॥

स्वामिकाज करिहउँ रन रारी । जस धवलिहउँ भुवन दस चारी ॥
तजउँ प्रान रघु - नाथ - निहोरे । दुहूँ हाथ मुदमोदक मोरे ॥३॥

मैं स्वामी के कार्य के लिए रण में लड़ूँगा और चौदहों लोकों में उज्ज्वल यश फैला दूँगा। रामचन्द्रजी के लिए प्राण त्याग करूँगा। यों मेरे दोनों हाथों में लड्डू हैं (जीतने पर यश और मरने पर स्वर्ग) ॥ ३ ॥

साधु समाज न जा कर लेखा । राम-भगत महँ जासु न रेखा ॥
जाय जियत जग सो महिभारू । जननी-जौबन-बिटप-कुठारू ॥४॥

सज्जनों के समाज में जिसकी गिनती न हो, और राम-भक्तों में जिसकी रेखा (साख या मर्य्यादा) न हो, वह संसार में पृथ्वी का भार-रूप व्यर्थ जीता है। वह आदमी माता के जवानी-रूपी पेड़ के काटने के लिए कुल्हाड़ा ही हुआ है ॥ ४ ॥

दो०—बिगतबिषाद निषादपति सबहिँ बढाइ उछाहु ।
सुमिरि राम माँगेउ तुरत तरकस धनुष सनाहु ॥१९१॥

निषादों (भीलों) के सरदार गुह ने ऐसा विचारकर दुःख को दूरकर तथा सबका उत्साह बढ़ाकर श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण करके तुरन्त तरकस, धनुष और कवच माँगा ॥ १९१ ॥

चौ०—बेगहि भाइहु सजहु सँजोऊ । सुनि रजाइ कदराइ न कोऊ ॥
भलेहि नाथ सब कहहिँ सहरषा । एकहिँ एक बढावहिँ करषा ॥१॥

उसने कहा—भाइयो! झटपट जल्दी ही सब तैयारी कर लो। मेरी आज्ञा को सुनकर कोई कायरता न करना। सबने बड़े आनन्द से कहा, कि स्वामी! बहुत अच्छा। अब और वे आपस में एक दूसरे को उमंग बढ़ाने लगे ॥ १ ॥

चले निषाद जोहारि जोहारी । सूर सकल रन रूचइ रारी ॥
सुमिरि राम - पद-पंकज - पनही । भाथा बाँधि चढाइन्हि धनही ॥२॥

सब निषाद प्रणाम करके चल दिये। ये सब बड़े शूरवीर थे और लड़ाई इन्हें बहुत पसन्द थी। रामचन्द्रजी के चरण-कमल की पनही (जूते) को स्मरण करके उन्होंने तरकस बाँध कर धनुष चढ़ाया ॥ २ ॥

अँगरी पहिरि कूँडि सिर धरहीं। फरसा बाँस सेल सम करहीं॥
एक कुसल अति ओडन खाँडे। कूदहिँ गगन मनहुँ छिति छाँडे॥३॥

सबने कवच पहनकर सिर पर लोहे का टोप रख लिया और वे फरसे, भाले तथा बरछी आदि शस्त्र सुधारने लगे। कोई कोई खाँडा चलाने में बड़े ही चतुर थे, वे मानों धरती छोड़कर आकाश में कूद जाते थे॥ ३॥

निज निज साजु समाजु बनाई। गुहराउतहिँ जोहारे जाई॥
देखि सुभट सब लायक जाने। लेइ लेइ नाम सकल सनमाने॥४॥

अपना अपना साज और समाज (टोली) तैयारकर उन्होंने अपने सरदार गुह के पास जाकर प्रणाम किया। सब वीरों को देख और उनको योग्य जानकर गुह ने सबका नाम ले लेकर उनका सम्मान किया॥ ४॥

दो०—भाइहु लावहु धोख जनि आजु काज बड मोहि।
सुनि सरोष बोले सुभट बीरु अधीरु न होहि॥१९२॥

उनसे कहा कि भाइयो! चूकना मत, आज मेरा बड़ा भारी काम है। यह सुनकर सब लोग क्रोध में भरकर बोले कि हे वीर! आप अधीर न हूजिए॥ १९२॥

चौ०—रामप्रताप नाथ बल तोरे। करहिँ कटकु बिनु भट बिनु घोरे॥
जीवत पाउ न पाछे धरहीँ। रुंड-मुंड-मय मेदिनि करहीँ॥१॥

हे नाथ! रामचन्द्रजी के प्रताप और आपके बल से हम लोग भरतजी की सेना को बिना वीर और बिना घोड़े का कर देंगे (सबको मार डालेंगे)। हम लोग जीते जी पीछे पाँव न रक्खेंगे, सारी पृथ्वी रुंडमुंडों से भर देंगे॥ १॥

दीख निषादनाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू॥
एतना कहत छींक भइ बायेँ। कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाये॥२॥

निषादराज ने अच्छी टोली देखकर कहा कि जुझाऊ (लड़ाई का) ढोल बजाओ। इतना कहते ही बाईं ओर छींक हुई। शकुन जाननेवालों ने कहा कि खेत अच्छे हैं अर्थात् हमारी ही जीत होगी॥ २॥

बूढ एक कह सगुन बिचारी। भरतहि मिलिय न होइहि रारी॥
रामहिँ भरत मनावन जाहीँ। सगुन कहइ अस बिग्रह नाहीँ॥३॥

एक बूढ़े ने शकुन विचारकर कहा—भरतजी से मेल कीजिए, लड़ाई नहीं होगी। शकुन ऐसा कहता है कि भरत रामचन्द्रजी को मनाने जा रहे हैं, लड़ाई के लिए नहीं॥ ३॥

सुनि गुह कहइ नीक कह बूढ़ा। सहसा करि पछिताहिँ बिमूढ़ा॥
भरत-सुभाउ-सील बिनु बूझे। बड़ि हितहानि जानि बिनु जूझे॥४॥

इसको सुनते ही गुह ने कहा—बुड्ढा ठीक कह रहा है, मूर्ख लोग एकाएक (बिना सोचे-समझे) काम करके पछताते हैं। भरत का शील-स्वभाव समझे बिना और बिना जाने लड़ने में बहुत ही हानि होगी॥ ४॥

दो०—गहहु घाट भट सिमिटि सब लेउँ मरमु मिलि जाइ।
बूझि मित्र अरि मध्य गति तब तस करिहउँ आइ॥१९३॥

इसलिए तुम सब लोग मिलकर घाटों को जा घेरो। मैं जाकर भरत से मिलकर भेद लूँ। शत्रु, मित्र और उदासीनों की रीति से समझकर फिर जैसा होगा वैसा आकर करूँगा॥ १९३॥

चौ०—लखब सनेहु सुभाय सुहाये। बैर प्रीति नहिँ दुरइ दुराये॥
अस कहि भेँट सँजोवन लागे। कंद मूल फल खग मृग माँगे॥१॥

उनके सुन्दर स्वभाव से स्नेह को पहचान लूँगा, क्योंकि वैर और प्रीति छिपाने से नहीं छिपती। इतना कहकर गुह भेंट ले जाने की तैयारी करने लगा। उसने भेंट में देने के लिए कंद, मूल, फल, पक्षी और मृग मँगवाये॥ १॥

मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने॥
मिलन साजु सजि मिलन सिधाये। मंगलमूल सगुन सुभ पाये॥२॥

कहार लोग अच्छी मोटी मोटी 'पहिना' मछलियों के भार भरकर लाये। मिलने की सामग्री इकट्ठी करके मिलने के लिए चले तो मंगल-सूचक शुभ शकुन होने लगे॥ २॥

देखि दूरि ते कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहिँ दंडप्रनामू॥
जानि रामप्रिय दीन्ह असीसा। भरतहिँ कहेउ बुझाइ मुनीसा॥३॥

गुह ने जाकर दूर ही से मुनिराज (वसिष्ठजी) को देखकर अपना नाम लेते हुए साष्टाङ्ग प्रणाम किया। वसिष्ठजी ने उसको रामजी का प्यारा जानकर आशीर्वाद दिया और भरतजी को समझाकर कहा॥ ३॥

रामसखा सुनि स्यंदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥
गाउँ जाति गुह नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥४॥

यह रामजी का मित्र है, इतना सुनते ही भरतजी ने रथ को छोड़ दिया। वे नीचे उतरकर प्रेम से उमँगते हुए चले। तब गुह ने अपना गाँव, जाति और नाम सुनाकर जमीन में सिर लगाकर प्रणाम किया॥ ४॥

दो०—करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लषन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदय समाइ ॥१९४॥

भरतजी ने उसको दण्डवत् करते देख उठाकर छाती से लगा लिया। उस समय भरतजी को इतनी खुशी हुई मानों लक्ष्मणजी से भेंट हो गई हो। उनके हृदय में प्रेम समाता नहीं था॥ १९४॥

चौ०—भेंटत भरतु ताहि अतिप्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥
धन्य धन्य धुनि मंगलमूला। सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला॥१॥

भरतजी गुह से बड़े प्रेम के साथ मिले। उनके प्रेम की रीति को देख सब लोग स्पर्द्धा करने लगे। मङ्गल-सूचक धन्य धन्य की आवाज़ गूँज उठी। देवता भी उसकी प्रशंसाकर फूल बरसाने लगे॥ १॥

लोक बेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा।
तेहि भरि अंक राम-लघु-भ्राता। मिलत पुलकपरिपूरित गाता॥२॥

लोक और वेद में जो सब तरह से नीच गिना जाता है और जिसकी छाया के छू जाने से भी स्नान करना होता है, उसी निषाद को रामचन्द्रजी के छोटे भाई भरतजी लिपटकर मिल रहे हैं और उनका शरीर पुलकायमान हो रहा है॥ २॥

राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहिं न पाप-पुंज समुहाहीं॥
एहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुलसमेत जग पावन कीन्हा॥३॥

जो कोई जँभाई आते में भी राम राम कह दें, उनको पापों के समूह नहीं सता सकते, फिर इस गुह को तो रामचन्द्रजी ने स्वयं छाती से लगा लिया और उसको कुल (परिवार) सहित जगत में पवित्र या जगत् को भी पवित्र करनेवाला कर दिया॥ ३॥

करम-नास-जलु सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई॥
उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भये ब्रह्मसमाना॥४॥

कर्मनाशा[1] नदी का जल जब गंगाजी में मिल जाता है तब भला कहिए तो, उसे कौन सिर पर नहीं चढ़ाता? संसार जानता है कि रामनाम का उलटा (मरा मरा) जप करने से वाल्मीकिजी[2] ब्रह्म के समान हो गये॥ ४॥

दो०—स्वपच सबर खस जमन जड पाँवर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात ॥१९५॥

१—कर्मनाशा नदी के पानी को छूने से सब पुण्य नष्ट हो जाते हैं, इसलिए उसे कोई छूता नहीं।
२—बालकाण्ड के ८ वें दोहे की दूसरी चौपाई देखिए।

श्वपच (चाण्डाल, भंगी), शबर, खस, यवन, मूर्ख, नीच, कोल भील इत्यादि सभी रामनाम के कहने से परम पवित्र हो जाते हैं, यह बात सारे संसार में प्रसिद्ध है ॥ १९५ ॥

चौ०—नहिँ अचरजु जुग जुग चलि आई। केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई ॥
राम-नाम-महिमा सुर कहहीँ। सुनि सुनि अवध लोग सुखु लहहीँ ॥१॥

इसलिए (गुह इतना योग्य हो गया) इसमें आश्चर्य नहीं, यह रीति तो युग-युगान्तर (प्राचीन काल) से चली आई है। रामचन्द्रजी ने किसको बड़ाई नहीं दी? इस तरह देव-गण राम-नाम का माहात्म्य वर्णन करने लगे और अयोध्यावासी लोग सुन सुनकर सुख पाने लगे, तथा अपने को धन्य मानने लगे ॥ १ ॥

रामसखहिँ मिलि भरतु सप्रेमा। पूछी कुसल सुमंगल षेमा ॥
देखि भरत कर सीलु सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू ॥२॥

भरतजी ने (इस तरह) प्रेम के साथ रामचन्द्रजी के सखा गुह से मिलकर क्षेमकुशल पूछी। भरतजी का शील और स्नेह देखकर उस समय निषाद विदेह हो गया अर्थात् प्रेम में मग्न होकर देह की सुध भूल गया ॥ २ ॥

सकुच सनेहु मोदु मन बाढा। भरतहिँ चितवत एकटक ठाढा ॥
धरि धीरजु पद बंदि बहोरी। बिनय सप्रेम करत कर जोरी ॥३॥

गुह के मन में संकोच, प्रेम और आनन्द बढ़ गया और वह खड़े खड़े भरतजी को टकटकी लगाये देखता रहा। फिर गुह धीरज धरकर फिर से भरतजी के चरणों की वन्दना कर प्रेम के साथ हाथ जोड़कर विनय करने लगा—॥ ३ ॥

कुसल मूल पदपंकज पेखी। मैँ तिहुँ काल कुसल निज लेखी ॥
अब प्रभु परम अनुग्रह तोरे। सहित कोटि कुल मंगल मोरे ॥४॥

महाराज! कुशल के मूल आपके चरण-कमलों का दर्शन कर मैंने तीनों काल में अपना कुशल समझ लिया। हे प्रभु! अब आपके परम अनुग्रह से करोड़ों कुलों-समेत मेरे लिए मंगल ही मंगल है ॥ ४ ॥

दो०—समुझि मोरि करतूति कुलु प्रभु महिमा जिय जोइ।
जो न भजइ रघु-बीर-पद जग बिधिबंचित सोइ ॥१९६॥

मेरे कुल और करतूत को समझकर और प्रभु (रामचन्द्रजी) की महिमा को देखकर जो रघुवीर के चरणों का भजन न करे, उसे संसार में विधाता ने छल रक्खा है अर्थात् वह हत-भाग्य है ॥ १९६ ॥

चौ०—कपटी कायरु कुमति कुजाती । लोक बेद बाहेर सब भाँती ॥
राम कीन्ह आपन जबही तें । भयउँ भुवन-भूषन तबही तें ॥१॥

मैं कपटी, कायर, कुमति और कुजाति था और लोक-वेद से सब तरह बाहर (पतित) था, पर जब से रामचन्द्रजी ने मुझे अपनाया है तभी से मैं संसार का भूषण (बहुमान्य) हो गया हूँ ॥ १ ॥

देखि प्रीति सुनि बिनय सुहाई । मिलेउ बहोरि भरत-लघु-भाई ॥
कहि निषाद निज नामु सुबानी । सादर सकल जोहारी रानी ॥२॥

फिर भरतजी के छोटे भाई शत्रुघ्नजी भी गुह की प्रीति को देख और सुन्दर विनय को सुनकर मिले। फिर गुह ने शुभ वाणी में अपना नाम ले लेकर सब रानियों को सप्रेम प्रणाम किया ॥ २ ॥

जानि लषनसम देहिँ असीसा । जियहु सुखी सय लाख बरीसा ॥
निरखि निषादु नगर-नर-नारी । भये सुखी जनु लषनु निहारी ॥३॥

रानियाँ गुह को लक्ष्मणजी के समान जानकर आशीर्वाद देने लगीं कि तुम सौ लाख बरस जिओ। नगर के स्त्री-पुरुष निषाद (गुह) को देखकर लक्ष्मणजी के मिलने के समान सुखी हुए ॥ ३ ॥

कहहिँ लहेउ एहि जीवन लाहू । भेँटेउ रामभाइ भरि बाहू ॥
सुनि निषादु निज भाग - बड़ाई । प्रमुदित मन लै चलेउ लेवाई ॥४॥

सब लोग कहने लगे कि जीने का लाभ तो इसी ने पाया है, जो रामचन्द्रजी के भाई से भुजा भरकर मिला है। निषाद अपने भाग्य की बड़ाई सुनकर प्रसन्न-चित्त होकर उनको अपने साथ लिवा ले चला ॥ ४ ॥

दो०—सनकारे सेवक सकल चले स्वामि रुख पाइ ।
घर तरु तर सर बाग बन बास बनायन्हि जाइ ॥१९७॥

उसने अपने सब सेवकों को इशारा किया। वे लोग स्वामी गुह का रुख पाकर चले। उन्होंने घरों में, वृक्षों के नीचे, तालाबों पर, बगीचों और जङ्गलों में सबके ठहरने के लिए वास (झोंपड़े) बनाये ॥ १९७ ॥

चौ०—सृंगबेरपुर भरत दीख जब । भे सनेहबस अंग सिथिल तब ॥
सोहत दिये निषादहि लागू । जनु तनु धरे बिनय अनुरागू ॥१॥

जब भरतजी ने शृङ्गवेरपुर को देखा तब स्नेह के वश उनके सब अङ्ग ढीले हो गये। वे निषाद के ऊपर कुछ भार दिये (सहारा लिये) हुए ऐसे लगते थे मानों विनय और प्रेम मूर्त्तिमान् होकर जा रहे हैं ॥ १ ॥

एहि बिधि भरत सेनु सब संगा। दीख जाइ जगपावनि गंगा॥
रामघाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भा मनु मगनु मिले जनु रामू॥२॥

इस तरह भरतजी ने सब सेना के साथ जाकर जगत् को पवित्र करनेवाली गङ्गाजी का दर्शन किया तथा रामघाट (जहाँ से रामचन्द्रजी पार हुए थे) को प्रणाम किया। वे मन में ऐसे प्रसन्न हुए, मानों रामचन्द्रजी मिल गये हों॥ २॥

करहिँ प्रनाम नगर-नर-नारी। मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी॥
करि मज्जनु माँगहिँ कर जोरी। राम-चंद्र-पद-प्रीति न थोरी॥३॥

अयोध्यानगर के नर-नारी प्रणाम करते और उस ब्रह्ममय जल को देखकर प्रसन्न होते हैं। वे सब गङ्गाजी में स्नानकर हाथ जोड़कर वर माँगने लगे कि हमारी श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में प्रीति कभी कम न हो॥ ३॥

भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू। सकल-सुखद सेवक-सुर-धेनू॥
जोरि पानि बर माँगउँ एहू। सीय-राम-पद सहज सनेहू॥४॥

भरतजी ने कहा—हे गंगे! आपकी धूल सबको सुख देनेवाली और सेवा करनेवालों के लिए कामधेनु है। मैं हाथ जोड़कर आपसे यह वरदान माँगता हूँ कि सीतारामजी के चरणों में मेरा स्वाभाविक प्रेम बना रहे॥ ४॥

दो०—एहि बिधि मज्जनु भरतु करि गुरुअनुसासन पाइ।
मातु नहानीँ जानि सब डेरा चले लवाइ॥१९८॥

भरतजी इस तरह से स्नानकर और गुरुजी की आज्ञा पाकर तथा यह जानकर कि सब माताओं ने स्नान कर लिया है, सबको डेरों पर लिवा ले चले॥ १९८॥

चौ०—जहँ तहँ लोगन्ह डेरा कीन्हा। भरत सोधु सबही कर लीन्हा॥
सुरसेवा करि आयसु पाई। राममातु पहिँ गे दोउ भाई॥१॥

लोगों ने जहाँ तहाँ डेरा कर दिया (टिके)। भरतजी ने सबकी खोज खबर ली (अर्थात् देख लिया कि कौन कहाँ ठहरे हैं)। फिर देव-पूजा करके गुरुजी की आज्ञा पाकर दोनों भाई रामचन्द्रजी की माता के पास गये॥ १॥

चरन चाँपि कहि कहि मृदुबानी। जननी सकल भरत सनमानी॥
भाइहिँ सौंपि मातुसेवकाई। आपु निषादहि लीन्ह बोलाई॥२॥

भरतजी ने पाँव दाबकर और कोमल वाणी बोल बोलकर सब माताओं का सम्मान किया। फिर माताओं की सेवा भाई (शत्रुघ्न) को सौंपकर उन्होंने निषाद को बुला लिया॥ २॥

चले सखा कर सों कर जोरे । सिथिल सरीर सनेहु न थोरे ॥
पूछत सखहि सो ठाउँ देखाऊ । नेकु नयन-मन-जरनि जुडाऊ ॥३॥

दोनों सखा (भरत और गुह) हाथ से हाथ मिलाये हुए चले । भारी स्नेह से दोनों के अंग शिथिल हो गये हैं । भरतजी ने सखा (गुह) से पूछा कि मुझे जरा, नेत्र और मन को ठंढा कर देनेवाला, वह स्थान बतलाओ ॥ ३ ॥

जहँ सिय रामु लषनु निसि सोये । कहत भरे जल लोचनकोये ॥
भरतबचन सुनि भयउ बिषादू । तुरत तहाँ लेइ गयउ निषादू ॥४॥

जहाँ श्रीसीता, रामचन्द्र और लक्ष्मणजी रात को सोये थे । इतना कहते ही उनकी आँखों के डेलों में आँसू भर आये । भरतजी के वचन सुनकर निषाद को बड़ा दुःख हुआ और वह तुरन्त उन्हें वहाँ लिवा ले गया ॥ ४ ॥

दो०—जहँ सिंसुपा पुनीत तरु रघुबर किय बिस्रामु ।
अति सनेह सादर भरत कीन्हे दंड प्रनामु ॥१९९॥

जहाँ पवित्र सीसम के वृक्ष के नीचे रघुनाथजी ने विश्राम किया था । वहाँ (उस वृक्ष और भूमि को) भरतजी ने बड़े आदर और स्नेह से दण्डवत् प्रणाम किया ॥ १९९ ॥

चौ०—कुस साथरी निहारि सुहाई । कीन्ह प्रनाम प्रदच्छिन जाई ॥
चरन-रेख-रज आँखिन्ह लाई । बनइ न कहत प्रीति अधिकाई ॥१॥

फिर कुशों की सुन्दर साथरी (चटाई) को देखकर और उसकी प्रदक्षिणा करके उन्होंने उसे प्रणाम किया । जहाँ रामचन्द्रजी के चरणों की रेखा के चिह्न बने थे, वहाँ की धूल भरतजी ने आँखों में लगाई । उस समय के प्रेम की अधिकता कहते नहीं बनती ॥ १ ॥

कनकबिंदु दुइ चारिक देखे । राखे सीस सीयसम लेखे ॥
सजल बिलोचन हृदय गलानी । कहत सखा सन बचन सुबानी ॥२॥

भरतजी ने दो-चार सुनहरे सितारे (जो सीताजी के वस्त्रों से छुटे हुए पड़े थे) देखे और उनको सीताजी के समान समझकर सिर पर रख लिया । उनकी आँख डबडबा गईं, हृदय में ग्लानि हो गई और वे सखा से सुन्दर वाणी से बोले—॥ २ ॥

श्रीहत सीयबिरह दुतिहीना । जथा अवध नरनारि मलीना ॥
पिता जनक देउँ पटतर केही । करतल भोग जोग जग जेही ॥३॥

हाय ! ये सितारे भी सीताजी के विरह से शोभा-रहित, कान्तिहीन और ऐसे मैले हो गये जैसे राम-वियोग में अयोध्या के नर-नारी । जिनकी मुट्ठी में संसार के सारे भोग और योग हैं वे जनक राजा जिनके पिता हैं, उन सीताजी को किससे उपमा दूँ ? ॥ ३ ॥

ससुर भानु-कुल-भानु भुआलू। जेहि सिहात अमरावतिपालू॥
प्रानुनाथ रघुनाथ गोसाईँ। जो बड होत सो रामबडाई॥४॥

अमरावती का राजा इन्द्र भी जिनकी ईर्ष्या करता था वे सूर्यवंश के सूर्य (प्रकाशक) राजा (दशरथजी) जिनके ससुर थे और जिनके प्राणनाथ (पति) समर्थ रघुनाथजी हैं, जिनकी बड़ाई से सब बड़े होते हैं, अर्थात् बड़ा वही हो सकता है जिसे राम बड़ाई दें (उन्हीं)॥ ४॥

दो०—पतिदेवता सु-तीय-मनि सीय साथरी देखि।
बिहरत हृदय न हहरि हर पबि तेँ कठिन बिसेखि॥२००॥

पतिव्रता, अच्छी स्त्रियों में मणिरूपा, सीताजी की साथरी (कुश-शय्या) देखकर भी जो मेरा हृदय हहराकर फट नहीं जाता तो हे शिव! यह वज्र से भी अधिक कठोर है॥ २००॥

चौ०—लालनजोगु लखन लघु लोने। भे न भाइ अस अहहिँ न होने॥
पुरजन प्रिय पितु मातु दुलारे। सिय-रघुबीरहिँ प्रानपियारे॥१॥

लक्ष्मणजी छोटे, सलोने, लालन (प्यार) करने के योग्य हैं। ऐसे भाई न तो किसी के हुए, न अभी हैं, न होंगे। लक्ष्मणजी नगर के लोगों को प्यारे, माता-पिता के दुलारे और सीता-रामचन्द्रजी के प्राणप्यारे हैं॥ १॥

मृदुमूरति सुकुमार सुभाऊ। ताति बाउ तन लाग न काऊ॥
ते बन सहहिँ बिपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस एहि छाती॥२॥

जिनकी मूर्ति कोमल और स्वभाव सुकुमार है, जिनके शरीर में कभी गरम हवा भी नहीं लगी, वे वन में बसकर सब तरह की विपत्तियाँ सह रहे हैं। इस मेरी छाती ने तो करोड़ों वज्रों का भी निरादर कर दिया अर्थात् यह उनसे भी ज्यादा कड़ी है जो यह सब देखकर भी फट नहीं जाती॥ २॥

राम जनमि जगु कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुनसागर॥
पुरजन परिजन गुरु पितु माता। रामसुभाउ सबहिँ सुखदाता॥३॥

रामचन्द्रजी ने जन्म लेकर सारे जगत् में प्रकाश कर दिया। वे रूप, शील, सुख और सब गुणों के समुद्र हैं। पुरवासी, कुटुम्बी, गुरु, माता-पिता आदि सभी को रामचन्द्रजी का स्वभाव सुख देनेवाला है॥ ३॥

बैरिउ रामबडाई करहीँ। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीँ॥
सारद कोटि कोटि सत सेखा। करि न सकहिँ प्रभु-गुन-गन-लेखा॥४॥

शत्रु भी रामचन्द्रजी की बड़ाई करते हैं। उनका बोलना, मिलना और विनय करना मन को हर लेता है। करोड़ों सरस्वती और करोड़ों शेषजी भी रामचन्द्रजी के गुणों के समूहों का हिसाब नहीं लगा सकते॥ ४॥

दो०—सुखसरूप रघु-बंस - मनि मंगल-मोद - निधान ।
ते सोवत कुस डासि महि विधिगति अति बलवान ॥२०१॥

जो रघुकुल-भूषण, सुखस्वरूप, मङ्गल और आनन्द के भाण्डार हैं वही रामचन्द्रजी पृथ्वी पर कुश बिछाकर सोते हैं! विधाता की गति बड़ी बलवती है ॥ २०१ ॥

चौ०—राम सुना दुख कान न काऊ। जीवनतरु जिमि जोगवइ राऊ ॥
पलक नयन फनि मनि जेहि भाँती। जोगवहिं जननि सकल दिनराती ॥१॥

रामचन्द्रजी ने कभी कोई दुःख कान से भी नहीं सुना था। उनकी रक्षा तो राजा दशरथ जीवन-मूल की भाँति करते थे। सब मातायें रात दिन उनकी ऐसी रक्षा करती थीं, जैसे नेत्र पलकों की और साँप अपनी मणि की करते हैं ॥ १ ॥

ते अब फिरत बिपिन पदचारी। कंद - मूल - फल - फूल - अहारी ॥
धिग कैकेई अमंगलमूला। भइसि प्रान-प्रियतम-प्रतिकूला ॥२॥

अब वही रामचन्द्रजी जङ्गल में पैदल घूमते हैं और कंद, मूल, फल, फूलों का भोजन करते हैं। इस अमंगल की मूल केकयी को धिक्कार है, जो अपने प्राण-प्यारे के भी प्रतिकूल हो गई ॥ २ ॥

मैं धिगधिग अघउदधि अभागी। सबु उतपातु भयउ जेहि लागी ॥
कुलकलंकु करि सृजेउ बिधाता। साइँद्रोह मोहि कीन्ह कुमाता ॥३॥

मैं पापों का समुद्र और अभागी हूँ; मुझे धिक्कार है जिसके कारण ये सब उत्पात हुए। हाय! विधाता ने मुझे कुल का कलङ्क पैदा किया और कुमाता ने मुझे स्वामी का द्रोही बना दिया ॥ ३ ॥

सुनि सप्रेम समुझाव निषादू। नाथ करिय कत बादि बिषादू ॥
राम तुम्हहि प्रिय तुम्ह प्रिय रामहिँ। एह निरजोसु दोसु बिधि बामहि ॥४॥

यह सुनकर निषाद (गुह) प्रेम से समझाने लगा—हे नाथ! व्यर्थ दुख किसलिए करते हैं। रामचन्द्रजी तुमको प्यारे हैं और तुम रामचन्द्रजी को प्यारे हो। असल निचोड़ की बात यह है कि सब दैव की प्रतिकूलता का दोष है ॥ ४ ॥

छंद—बिधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्ही बावरी ।
तेहि राति पुनि पुनि करहिँ प्रभु सादर सराहन रावरी ॥
तुलसी न तुम्ह सोँ राम प्रीतमु कहतु हौँ सौँहे किये ।
परिनामु मंगलु जानि अपने आनिये धीरजु हिये ॥

हे नाथ! उलटे दैव की करनी बड़ी कठिन है, जिसने माता को पागल बना दिया। अभी उस रात को (जब वे यहाँ बसे थे) प्रभु रामचन्द्रजी आदर के साथ आपकी बार बार बड़ी सराहना करते थे। रामचन्द्रजी को तुम्हारे समान प्यारा और कोई नहीं है, मैं सौगन्द खाकर कहता हूँ। इस (दुख) का परिणाम मंगलदायी होगा, ऐसा अपने हृदय में विचारकर धीरज धरिए॥

सो०—अंतरजामी रामु सकुच सप्रेम कृपायतन।
चलिय करिय बिस्रामु यह बिचार दृढ आनि मन ॥२०२॥

रामचन्द्रजी अन्तर्यामी, संकोची, प्रेमी और दया के स्थान हैं। इन बातों को दृढ़तापूर्वक मन में लाकर चलकर विश्राम कीजिए॥ २०२॥

चौ०—सखा बचन सुनि उर धरि धीरा। बास चले सुमिरत रघुबीरा॥
यह सुधि पाइ नगर-नर-नारी। चले बिलोकन आरत भारी॥१॥

सखा के ऐसे वचन सुनकर भरतजी मन में धीरज धरकर रामचन्द्रजी का स्मरण करते हुए डेरे को चले। नगर (शृङ्गवेरपुर) के सारे स्त्री-पुरुष यह खबर पा बहुत दुखी होकर भरतजी को देखने चले॥ १॥

परदछिना करि करहिं प्रनामा। देहिं कैकेइहि खोरि निकामा॥
भरि भरि बारि बिलोचन लेहीं। बाम बिधातहि दूषन देहीं॥२॥

वे प्रदक्षिणा कर भरतजी को प्रणाम करते और केकयी को व्यर्थ दोष देते हैं। वे आँखों में बार बार आँसू भर लाते और प्रतिकूल विधाता को दोष देते हैं॥ २॥

एक सराहहिं भरतसनेहू। कोउ कह नृपति निबाहेउ नेहू॥
निंदहि आपु सराहि निषादहि। को कहि सकइ बिमोहबिषादहि॥३॥

कोई तो भरतजी के स्नेह की प्रशंसा करता और कोई कहता कि राजा ने स्नेह को खूब निबाहा। सब अपनी निन्दा करके निषाद को सराहते हैं। उस समय के दुख और घबराहट को कौन बता सकता है॥ ३॥

एहि बिधि राति लोगु सबु जागा। भा भिनुसारु गुदारा लागा॥
गुरुहि सुनाव चढाइ सुहाई। नईं नाव सब मातु चढाई॥४॥
दंड चारि महँ भा सब पारा। उतरि भरत तब सबहि सँभारा॥५॥

इस तरह रात भर सब लोग जागते रहे। सबेरा होते ही घाट खुला (लोग उतरने लगे)। पहले सुन्दर नाव पर गुरुजी को चढ़ाकर फिर नई नाव में सब माताओं को चढ़ाया॥ ४॥ चार घड़ी में सब लोग गंगाजी के पार हो गये, तब भरतजी ने उतरकर सबको सँभाल लिया॥ ५॥

दो०—प्रातक्रिया करि मातुपद बंदि गुरुहि सिर नाइ ।
आगे किये निषादगन दीन्हेउ कटकु चलाइ ॥२०३॥

भरतजी ने प्रातःकाल का नित्यकर्म करके माता के चरणों में और गुरु को सिर नवा-कर, निषादगणों को आगे करके, सेना चला दी ॥ २०३ ॥

चौ०—कियेउ निषादनाथु अगुआई। मातु पालकी सकल चलाई ॥
साथ बोलाइ भाइ लघु दीन्हा। बिप्रन्ह सहित गवनु गुर कीन्हा ॥१॥

निषादों के स्वामी (गुह) को अगुआ करके पीछे सब माताओं की पालकियाँ चलाईं। अपने छोटे भाई शत्रुघ्न को बुलाकर उनके साथ कर दिया, फिर ब्राह्मणों-सहित गुरुजी ने यात्रा की ॥ १ ॥

आपु सुरसरिहिं कीन्ह प्रनामू। सुमिरे लषनसहित सियरामू ॥
गवने भरत पयादेहि पाये। कोतल संग जाहिं डोरिआये ॥२॥

आपने गंगाजी को प्रणाम किया और लक्ष्मण-सहित सीतारामजी को याद किया। फिर भरतजी पैदल ही पैदल चले। उनके साथ कोतल (सजे सजाये) घोड़े बागडोर से बँधे हुए चले जाते थे ॥ २ ॥

कहहिं सुसेवक बारहिं बारा। होइय नाथ अस्व असवारा ॥
रामु पयादेहि पाय सिधाये। हम कहँ रथ गज बाजि बनाये ॥३॥

अच्छे सेवक लोग बारम्बार कहते थे कि हे नाथ! आप घोड़े पर सवार हो लीजिए। भरतजी ने कहा—रामचन्द्रजी तो पैदल ही पैदल गये और हमारे लिए रथ, हाथी और घोड़े सजाये गये ॥ ३ ॥

सिरभर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवकधरमु कठोरा ॥
देखि भरतगति सुनि मृदुबानी। सब सेवकगन गरहिं गलानी ॥४॥

उचित तो यह है कि मैं सिर के बल चलकर जाऊँ, क्योंकि सेवक का धर्म सबसे कठिन है। भरतजी की दशा देखकर और उनकी कोमल वाणी सुनकर सब सेवकगण ग्लानि से गलित हुए अर्थात् शिथिल हुए ॥ ४ ॥

दो०—भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रवेसु प्रयाग ।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग ॥२०४॥

प्रेम की उमंग में भरे हुए भरतजी सीताराम, सीताराम कहते हुए तीसरे पहर प्रयाग में पहुँचे ॥ २०४ ॥

चौ०—झलका झलकत पायन्ह कैसे। पंकजकोस ओसकन जैसे ॥
भरत पयादेहि आये आजू। भयउ दुखित सुनि सकलसमाजू ॥१॥

भरतजी के पाँवों में छाले पड़ गये। वे ऐसे चमकने लगे जैसे कमल की कलियों पर (सफ़ेद) ओस की बूँदें हों। आज भरतजी पैदल ही चलकर आये हैं, यह समाचार सुनकर सब समाज (मण्डली के लोग) दुखी हुए ॥ १ ॥

खबरि लीन्ह सब लोग नहाये। कीन्ह प्रनामु त्रिबेनिहि आये ॥
सबिधि सितासित नीर नहाने। दिये दान महिसुर सनमाने ॥२॥

जब भरतजी ने सब लोगों के स्नान कर लेने की खबर ले ली तब वे भी त्रिवेणीजी पर आये और उन्होंने प्रणाम किया। फिर विधिपूर्वक गंगा-यमुना के जल (सङ्गम) में स्नान किया और दान देकर ब्राह्मणों का सम्मान किया ॥ २ ॥

देखत स्यामल-धवल-हलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे ॥
सकल-काम-प्रद तीरथराऊ। बेदबिदित जग प्रगट प्रभाऊ ॥३॥

काली (यमुनाजी की) और सफ़ेद (गंगाजी की) लहरें देखकर भरतजी का शरीर पुलकायमान हो गया। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—हे तीर्थराज! आप संपूर्ण कामनाओं के पूर्ण करनेवाले हो, वेद में और संसार में आपका प्रभाव प्रकट है ॥ ३ ॥

मागउँ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू ॥
अस जिय जानि सुजान सुदानी। सफल करहिँ जग जाचकबानी ॥४॥

मैं अपने धर्म (क्षत्रिय-धर्म) को त्यागकर आपसे भीख माँगता हूँ। महाराज! आर्त (दुखी) मनुष्य कौनसा कुकर्म नहीं करते? यही बात जी में जानकर चतुर, श्रेष्ठ दानी लोग संसार में माँगनेवाले की वाणी को सफल किया करते हैं ॥ ४ ॥

दो०—अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति रामपद यह बरदानु न आन ॥२०५॥

महाराज! मेरी रुचि न अर्थ (धन) में है, न धर्म (स्वार्थसिद्धि के लिए किये जाने-वाले) में, न काम (भोग-विलास) में है, और न मैं निर्वाण पद (मोक्ष) ही चाहता हूँ। जन्म जन्म में सीतारामजी के चरणों में मेरी प्रीति बनी रहे। बस, यही वरदान माँगता हूँ, दूसरा नहीं ॥ २०५ ॥

चौ०—जानहु रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर-साहिब-द्रोही ॥
सीता-राम-चरन रति मोरे। अनुदिन बढउ अनुग्रह तोरे ॥१॥

रामचन्द्रजी मुझे कुटिल ही क्यों न समझें और लोग मुझे गुरुद्रोही, स्वामिद्रोही क्यों न कहें; पर, आपकी कृपा से मेरा दिन दिन अनुराग सीतारामजी के चरणों में बढ़े ॥ १ ॥

जलद जनम भरि सुरति बिसारउ । जाचत जलु पबिपाहन डारउ ॥
चातकु रटनि घटे घटि जाई । बढे प्रेम सब भाँति भलाई ॥२॥

चाहे बादल जन्म भर पपीहे की याद भूल जाय, पपीहे के जल माँगने पर उस पर वह चाहे वज्र और पत्थर (ओले) ही क्यों न बरसा दे, पर पपीहे को रट न घटे। रट के कम होने से उसकी बड़ी हेठी है और प्रेम के बढ़ने से सभी तरह से भलाई है ॥ २ ॥

कनकहि बान चढइ जिमि दाहे । तिमि प्रिय-तम-पद नेम निबाहे ॥
भरतबचन सुनि माँझ त्रिबेनी । भइ मृदुबानि सु-मंगल-देनी ॥३॥

और जिस तरह सोने को बार बार तपाने पर उस पर आभा चढ़ती है, इसी प्रकार प्रियतम के चरणों के प्रेम के नियम को निबाहने से प्रेमी का गौरव बढ़ता है। भरतजी के वचन सुनकर बीच त्रिवेणी में से शुभ मङ्गल देनेवाली कोमल वाणी हुई—॥ ३ ॥

तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू । राम - चरन - अनुराग - अगाधू ॥
बादि गलानि करहु मन माहीँ । तुम्ह सम रामहिँ कोउ प्रिय नाहीँ ॥४॥

हे तात भरत ! तुम सब तरह से साधु (श्रेष्ठ) हो, रामचन्द्रजी के चरणों में तुम्हारा अथाह प्रेम है। तुम व्यर्थ ही मन में ग्लानि (उदासी) करते हो। रामचन्द्रजी को तुम्हारे समान कोई (दूसरा) प्रिय नहीं है ॥ ४ ॥

दो०—तनु पुलकेउ हिय हरष सुनि बेनिबचन अनुकूल ।
भरत धन्य कहि धन्य सुर हरषित बरषहिँ फूल ॥२०६॥

त्रिवेणीजी के अनुकूल वचनों को सुनकर भरतजी का शरीर पुलकित हो गया, मन प्रसन्न हो गया। धन्य है, धन्य है, ऐसा कहकर देवता भरतजी पर फूल बरसाने लगे ॥ २०६ ॥

चौ०—प्रमुदित तीरथ-राज-निवासी । बैषानस बटु गृही उदासी ॥
कहहिँ परसपर मिलि दस पाँचा । भरत सनेह सीलु सुचि साँचा ॥१॥

तीर्थराज के तीर पर बसनेवाले संन्यासी, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और उदासी सब प्रसन्न हुए और दस-पाँच आपस में मिलकर बात-चीत में कहने लगे कि भरतजी का स्नेह तथा शील पवित्र और सच्चा है ॥ १ ॥

सुनत राम-गुन-ग्राम सुहाये । भरद्वाज मुनिबर पहिँ आये ॥
दंडप्रनामु करत मुनि देखे । मूरतिवंत भाग निज लेखे ॥२॥

फिर भरतजी रामचन्द्रजी के गुण-गणों को सुनते हुए भरद्वाज मुनि के समीप आये। मुनि ने भरतजी को साष्टांग प्रणाम करते देखा और उन्हें अपना मूर्तिमान् भाग्य (आ गया) समझा ॥ २ ॥

धाइ उठाइ लाइ उर लीन्हे। दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हे ॥
आसन दीन्ह नाइ सिरु बैठे। चहत सकुच-गृह जनु भजि पैठे ॥३॥

भरद्वाज ने दौड़कर भरतजी को उठाकर छाती से लगा लिया और आशीर्वाद देकर उन्हें कृतार्थ किया। फिर मुनि ने उन्हें बैठने के लिए आसन दिया। वे सिर नवाकर उस पर इस तरह बैठे मानों भागकर संकोच के घर में घुसना चाहते हों (अर्थात् मुनिजी के बहुत मान करने में बड़े संकोच में पड़े हैं) ॥ ३ ॥

मुनि पूछब किछु यह बड सोचू। बोले रिषि लखि सीलसँकोचू ॥
सुनहु भरत हम सब सुधि पाई। बिधिकरतब पर किछु न बसाई ॥४॥

भरतजी के मन में यह बड़ा सोच था कि मुनिजी कुछ पूछेंगे। ऋषि (भरद्वाजजी) भरतजी के शील और संकोच को देखकर बोले—भरत! सुनो, हमको सब हाल मालूम हो चुका है। विधाता के कर्तव्य पर किसी की कुछ नहीं चलती ॥ ४ ॥

दो०—तुम्ह गलानि जिय जनि करहु समुझि मातुकरतूति।
तात कैकइहि दोसु नहिँ गई गिरा मति धूति ॥२०७॥

तुम माता (केकयी) की करतूत को समझकर अपने जी में कुछ उदासी न लाओ। हे तात! इसमें केकयी का कुछ दोष नहीं। सरस्वती ने उसकी बुद्धि छल से हर ली थी ॥ २०७ ॥

चौ०—यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ। लोकु बेदु बुधसंमत दोऊ ॥
तात तुम्हार बिमल जसु गाई। पाइहि लोकउ बेदु बडाई ॥१॥

इस बात को भी कहने में कोई अच्छा न कहेगा, क्योंकि विद्वानों को लोक और वेद दोनों की बात सम्मत (मान्य) होती है। हे तात! तुम्हारे निर्मल यश को गाकर लोक (शास्त्र) और वेद दोनों बड़ाई पावेंगे ॥ १ ॥

लोक-बेद-संमत सब कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई ॥
राउ सत्यब्रत तुम्हहिँ बोलाई। देत राजु सुखु धरमु बडाई ॥२॥

सब लोग कहते हैं कि यह बात वेद और शास्त्र के अनुकूल है कि पिता जिसको राज्य दे उसी को मिले। सत्य नियमवाले राजा (दशरथ) तुमको बुलाकर राज्य देते तो सुख होता और धर्म भी रह जाता, बड़ाई भी होती ॥ २ ॥

रामगवनु बन अनरथमूला। जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला ॥
सो भावीबस रानि अयानी। करि कुचालि अंतहु पछितानी ॥३॥

पर रामचन्द्रजो का वन को जाना अनर्थ का मूल-कारण हो गया, जिसको सुनकर सारे संसार में दुख छा गया। अनजान रानी (केकयी) होनहार के वश में होकर कुचाल करके अन्त में पछताई ॥ ३ ॥

तहुँ तुम्हार अलप अपराधू। कहइ सो अधम अयान असाधू ॥
करतेहु राजु त तुम्हहिँ न दोषू। रामहिँ होत सुनत संतोषू ॥४॥

उसमें भो तुम्हारा जरा सा भो अपराध जो कोई कहे तो वह नीच, अजान और दुष्ट है। जो तुम राज्य करते तो तुम्हें कोई दोष नहीं था। रामचन्द्रजी को तुम्हारा राज्य करना सुनकर संतोष होता ॥ ४ ॥

दो०—अब अति कीन्हेहु भरत भल तुम्हहिँ उचित मत एहु।
सकल-सुमंगल-मूल जग रघु-बर-चरन-सनेहु ॥२०८॥

हे भरत! अब तुमने बहुत हो अच्छा किया। तुम्हारे लिए ऐसा हो करना उचित था। रघुनाथजी के चरणों में स्नेह करना संपूर्ण भलाइयों का मूल है ॥ २०८ ॥

चौ०—सो तुम्हार धनु जीवनप्राना। भूरि भाग को तुम्हहिँ समाना ॥
यह तुम्हार आचरजु न ताता। दसरथसुअन राम-प्रिय-भ्राता ॥१॥

वह रामचन्द्रजो तुम्हारे लिए धन और जोवन-प्राण हैं। तुम्हारे बराबर बड़भागो दूसरा कौन होगा! हे तात! यह तुम्हारा आचरण कुछ आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि तुम दशरथजी के पुत्र और रामचन्द्रजो के प्यारे भाई हो ॥ १ ॥

सुनहु भरत रघु-पति-मन माहीँ। प्रेमपात्रु तुम सम कोउ नाहीँ ॥
लषन राम सीतहिँ अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिँ सराहत बीती ॥२॥

हे भरत! सुनो, रामचन्द्रजी के मन में तुम्हारे समान प्रेम-पात्र दूसरा कोई नहीं है। लक्ष्मण, राम और सीता तीनों का तुम पर बड़ा प्रेम है। उस दिन उन्हें सारी रात तुम्हारी बड़ाई करते ही बीती थी ॥ २ ॥

जाना मरमु नहात प्रयागा। मगन होहिँ तुम्हरे अनुरागा ॥
तुम्ह पर अस सनेहु रघुबर के। सुख जीवन जग जस जड नर के ॥३॥

प्रयागराज में स्नान करते समय उनका मर्म (भोतरो भाव) मैंने जान लिया था। वे तुम्हारे प्रेम में मग्न हो जाते हैं। रामचन्द्रजो का तुम पर ऐसा स्नेह है, जैसा मूर्ख मनुष्य को संसार में सुख-पूर्वक जीने से होता है ॥ ३ ॥

यह न अधिक रघुबीरबडाई। प्रनत-कुटुंब-पाल रघुराई ॥
तुम्ह तउ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु रामसनेहू ॥४॥

इसमें कुछ रामचन्द्रजी को बहुत बड़ाई नहीं है। वे रघुराई प्रणत (नम्र सेवकों) के कुटुम्ब के रक्षक हैं। हे भरत! मेरी सम्मति में तुम तो मानों शरीर धारण किये हुए (मूर्त्तिमान्) रामचन्द्रजी के स्नेह ही हो॥ ४॥

दो०—तुम कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।
राम-भगति-रस-सिद्धि हित भा यह समय गनेसु॥२०६॥

हे भरत! तुमको यह कलंक लगाना हम सबों के लिए उपदेश हुआ है। राम-भक्ति-रूपी रस की सिद्धि के लिए इस समय श्रीगणेश हुआ। अर्थात् यहाँ से इसका आरम्भ है (रस सिद्ध करने में कलंक या कजली पड़ती है)॥ २०९॥

चौ०—नवबिधु बिमल तात जसु तोरा। रघु-बर - किंकर - कुमुद-चकोरा॥
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥१॥

हे तात! तुम्हारा यश निर्मल, नया (नया उदय हुआ, द्वितीया का) चन्द्र है और रामचन्द्रजी के भक्त लोग उसके कुमुद और चकोर हैं। इस यश-चन्द्रमा का सदा उदय ही बना रहेगा। यह कभी अस्त न होगा। संसाररूपी आकाश में यह घटेगा नहीं बरन् दिन दिन दूना बढ़ेगा॥ १॥

कोक तिलोक प्रीति अति करही। प्रभुप्रतापु रबि छबिहि न हरिही॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइकरतबु राहू॥२॥

त्रिलौकीरूपी चकवा इस पर बड़ा ही प्रेम करेगा। प्रभु रामचन्द्रजी का प्रतापरूपी सूर्य इसकी कान्ति को हरण न करेगा। यह चन्द्रमा दिन रात सदा सभी को सुख देनेवाला होगा। केकयी को करतूतरूपी राहु इसको ग्रास नहीं करेगा॥ २॥

पूरन रामु-सु-प्रेम-पियूषा। गुरुअवमान दोख नहिँ दूषा॥
रामभगत अब अमिय अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥३॥

रामचन्द्रजी के सुन्दर प्रेमरूपी अमृत से यह चन्द्रमा पूर्ण है। इसमें गुरु का अपमानरूपी कलङ्क[1] नहीं लगा है। अब राम-भक्त लोग इस अमृत को पीकर तृप्त हों, क्योंकि तुमने इस अमृत को पृथ्वी पर भी सुलभ[2] कर दिया॥ ३॥

भूप भगीरथ सुरसरि आनी। सुमिरत सकल-सु-मंगल-खानी॥
दसरथ-गुन-गन बरनि न जाहीँ। अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीँ॥४॥

देखो, राजा भगीरथ गङ्गाजी को लाये, उनके चरित्र को स्मरण करना सब मङ्गलों की खान है। दशरथ राजा के गुण-गण वर्णन नहीं करते बनते। ज्यादा क्या, जिनके बराबर संसार में दूसरा कोई नहीं॥ ४॥

१—चन्द्रमा के गुरुपत्नी-गमन से बुध नामक पुत्र हुआ और फिर देवतों में युद्ध ठना तो ब्रह्मा ने आपस में उन्हें समझा दिया।

२—अमृत स्वर्ग में होता है, पृथ्वी पर नहीं। अब पृथ्वी पर भी वह सुलभ हुआ।

दो०—जासु सनेह-सकोच-बस रामु प्रगट भये आइ।
जे हर-हिय-नयननि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ ॥२१०॥

जिन (राजा दशरथ) के स्नेह और सङ्कोच के वश में होकर रामचन्द्रजी आकर प्रकट हुए, जिन रामचन्द्रजी को महादेवजी के हृदय और नेत्र देखते देखते कभी तृप्त नहीं होते ॥ २१० ॥

चौ०—कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा। जहँ बस राम-प्रेम-मृग-रूपा ॥
तात गलानि करहु जिय जाये। डरहु दरिद्रहि पारस पाये ॥१॥

तुमने कीर्तिरूपी बड़ा अनोखा चन्द्रमा उत्पन्न किया जिसमें रामचन्द्रजी का प्रेम मृग का रूप धारण करके बस रहा है। इसलिए हे तात! तुम अपने जी में व्यर्थ ग्लानि करते हो। पारस पाकर भी तुम दरिद्रता को डरते हो! ॥ १ ॥

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं ॥
सब साधनु कर सुफल सुहावा। लषन-राम-सिय-दरसनु पावा ॥२॥

हे भरत! सुनो। हम झूठ नहीं कहते, हम उदासीन हैं (न कोई हमारा शत्रु है, न मित्र), तपस्वी हैं, वन में रहते हैं। सब साधनों का उत्तम फल यही है कि हमको राम, लक्ष्मण और जानकी का दर्शन मिला ॥ २ ॥

तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा ॥
भरत धन्य तुम्ह जग जस जयऊ। कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ ॥३॥

और यह उस फल का ही फल हमें मिल गया जो तुम्हारा दर्शन हो गया। इसमें प्रयागराज-समेत हमारा अहोभाग्य[1] है। हे भरत! तुम धन्य हो, जो जगत् में तुमने इतना यश लूट लिया। ऐसा कहकर भरद्वाज मुनि प्रेम में डूब गये ॥ ३ ॥

सुनि मुनिबचन सभासद हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे ॥
धन्य धन्य धुनि गगन प्रयागा। सुनि सुनि भरत मगन अनुरागा ॥४॥

भरद्वाजजी के वचन सुनकर (वहाँ बैठे हुए) सभासद प्रसन्न हुए और देवताओं ने धन्य धन्य कह कर फूल बरसाये। प्रयागराज धन्य है, प्रयागराज धन्य है—ऐसी आवाज आकाश में हुई। उसे सुनकर भरतजी प्रेम में मग्न हो गये ॥ ४ ॥

दो०—पुलकगात हिय राम सिय सजल सरोरुह नैन।
करि प्रनामु मुनिमंडलिहि बोले गदगद बैन ॥२११॥

१—स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः। भगवद्भक्त लोग स्वयं शुद्ध ही हैं, तीर्थों में जाकर वे तीर्थों को पवित्र करते हैं। श्रीमद्भागवत के इस वचनानुसार भरद्वाजजी प्रयाग सहित अपने भाग्य को सराहते हैं।

भरतजी के शरीर में रोमावलि खड़ी हो गई। उनके हृदय में सीतारामजी हैं और उनके कमल समान नेत्रों में आँसू भरे हैं। वे ऋषियों की मण्डली को प्रणाम करके गद्गद कण्ठ से वचन बोले—॥ २११ ॥

चौ०—मुनिसमाजु अरु तीरथराजू। साँचिहु सपथ अघाइ अकाजू॥
एहि थल जौं कछु कहिय बनाई। एहि सम अधिक न अघ अधमाई॥१॥

ऋषियों की मण्डली और तीर्थराज का समागम है। इस जगह सच्ची सौगन्द भी खाने से बड़ी हानि है। इस जगह यदि कुछ बात बनाकर (झूठी) कही जाय तो इसके समान पाप और नीचता दूसरी नहीं है॥ १॥

तुम्ह सर्बग्य कहउँ सतिभाऊ। उर-अंतर-जामी रघुराऊ॥
मोहि न मातु-करतब कर सोचू। नहिँ दुख जिय जग जानहिँ पोचू॥२॥

आप लोग सर्वज्ञ हैं। मैं अपने सच्चे भाव से कहता हूँ, हृदय में अन्तर्यामी (साक्षी) रामचन्द्रजी हैं। मुझे माता (केकयी) के कर्तव्य पर कुछ सोच नहीं है और संसार मुझे बुरा समझे—इसका भी दुःख नहीं॥ २॥

नाहिँन डरु बिगरहि परलोकू। पितहु मरन कर मोहि न सोकू॥
सुकृत सुजस भरि भुवन सुहाये। लछिमन-राम-सरिस सुत पाये॥३॥

मेरा परलोक बिगड़ जायगा—इसका भी डर मुझे नहीं, पिताजी के भी मरने का मुझे सोच नहीं, क्योंकि उनके पुण्यों का शुभ यश सम्पूर्ण लोकों में छा रहा है। उनको राम-लक्ष्मण-से पुत्र मिले॥ ३॥

रामबिरह तजि तनु छनभंगू। भूप-सोच कर कवन प्रसंगू॥
राम-लषन-सिय बिनु पग पनहीँ। करि मुनिबेष फिरहिँ बन बनहीँ॥४॥

क्षण-भंगुर शरीर को रामचन्द्रजी के वियोग में त्याग देने से राजा के लिए सोच करने की क्या बात है? सोच है तो इस बात का कि रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीताजी पाँवों में विना जूता पहने (नंगे पाँव), मुनि-वेष धारण किये हुए वन वन में फिरते हैं॥ ४॥

दो०—अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥२१२॥

मृगछाला ही उनके वस्त्र हैं और फलों ही का भोजन है। वे ज़मीन पर कुश और पत्ते बिछाकर सोते हैं और रोज़ पेड़ों के नीचे निवासकर ठंढ, गर्मी, वर्षा और हवा सहते हैं॥ २१२॥

चौ०—एहि दुखदाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नीँद न राती॥
एहि कुरोग कर औषधु नाहीँ। सोधेउँ सकल बिस्व मन माहीँ॥१॥

इस दुःख की जलन से सदा मेरी छाती जलती है। मुझे दिन को भूख नहीं लगती, रात भर नींद नहीं आती। मैंने मन ही मन सारा संसार ढूँढ़ मारा, पर इस कुरोग के लिए कोई औषध न मिली ॥ १ ॥

मातु कुमत बढ़ई अघमूला। तेहि हमार हित कीन्ह बसूला॥
कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवधि पढ़ि कठिन कुमंत्रू॥२॥

माता की दुष्ट बुद्धि, जो पापों की जड़ है वह तो, हुई बढ़ई। उसने हमारे लिए जो हित (राज माँगना इत्यादि) किया, वह हुआ बसूला। उससे उसने कलिरूपी कुकाठ (कलि = कलिकाल, भिलावाँ) का कुयंत्र बनाया और कठिन कुमन्त्र पढ़कर उसे अयोध्या में गाड़ दिया[१] ॥ २ ॥

मोहि लगि यहु कुठाटु तेहि ठाटा। घालिसि सबु जगु बारह बाटा॥
मिटइ कुजोगु राम फिरि आये। बसइ अवध नहिँ आन उपाये॥३॥

उसने यह सब बुरा ठाट मेरे लिए रचा और सारे संसार को तहस-नहस या छिन्न-भिन्न[२] कर दिया। यह कुयोग रामचन्द्रजी के लौट आने से ही मिट सकता है। दूसरे किसी उपाय से अयोध्या नहीं बस सकती ॥ ३ ॥

भरतबचन सुनि मुनि सुखु पाई। सबहिँ कीन्हि बहु भाँति बड़ाई॥
तात करहु जनि सोचु बिसेखी। सब दुख मिटिहि रामपग देखी॥४॥

भरतजी के वचनों को सुनकर मुनियों ने सुख पाया और सबने भरतजी की बहुत तरह से बड़ाई की। मुनि ने कहा—हे पुत्र! आप अधिक सोच मत करो, रामचन्द्रजी के चरणों के दर्शन करते ही सब दुःख मिट जायँगे ॥ ४ ॥

दो०—करि प्रबोध मुनिबर कहेउ अतिथि प्रेमप्रिय होहु।
कंद मूल फल फूल हम देहिँ लेहु करि छोहु॥२१३॥

फिर ऋषिराज भरद्वाजजी ने समझाकर कहा कि अब तुम हमारे प्रिय अतिथि होओ और कृपाकर कंद, मूल, फल, फूल जो कुछ हम दें उसे स्वीकार करो ॥ २१३ ॥

१—कैकयी का हठ करना गढ़ना है, दोनों वरदान माँगना कुमंत्र पढ़ना है। इस तरह पाप-रूपी काठ को गढ़कर उसने राम-वनवासरूपी मंत्र को पढ़कर उसे अयोध्या में गाड़ दिया, जैसे जादू-टोनेवाले कोई चीज़ मन्त्र पढ़कर गाड़ देते हैं।

२—बारहबाटा शब्द का एक और अर्थ यह होता है बारह—रास्ते। वे ये हैं "मोहो दैन्यं भयं हासो हानिर्ग्लानिः क्षुधा तृषा। मृत्युः क्षोभो वृथाऽकीर्तिर्वाटा ह्येते हि द्वादश ॥" मोह (घबराहट), दीनता, डर, अवनति, हानि, ग्लानि, भूख, प्यास, मृत्यु, क्षोभ, व्यर्थ (झूठ) और अपयश ये बारह बाट हैं।

चौ०—सुनि मुनिबचन भरत हिय सोचू। भयउ कुअवसर कठिन सँकोचू॥
जानि गरइ गुरुगिरा बहोरी। चरन बंदि बोले कर जोरी॥१॥

मुनिजी के वचन सुनकर भरतजी के हृदय में सोच हुआ। उनके लिए यह कठिन संकोच का टेढ़ा अवसर हुआ। फिर गुरु (भरद्वाजजी) की वाणी की बड़ाई (महत्त्व) जानकर उनके चरणों की वन्दना कर हाथ जोड़कर वे बोले—॥ १ ॥

सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परमधरम यह नाथ हमारा॥
भरतबचन मुनिबर मन भाये। सुचि सेवक सिष निकट बोलाये॥२॥

हे नाथ! हमारा यह परमधर्म है कि आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर पालन करें। भरतजी के ये वचन ऋषिराज के मन में प्रिय लगे। उन्होंने पवित्र सेवक शिष्यों को पास बुलाया और॥ २ ॥

चाहिय कीन्हि भरतपहुनाई। कंद मूल फल आनहु जाई॥
भलेहि नाथ कहि तिन्ह सिर नाये। प्रमुदित निज निज काज सिधाये॥३॥

उनको आज्ञा दो कि भरतजी की पहुनई करनी चाहिए, इसलिए तुम लोग जाकर कंद, मूल और फल लाओ। उन शिष्यों ने 'हे नाथ! बहुत अच्छा' ऐसा कहकर सिर झुकाया। फिर प्रसन्न होकर वे अपने अपने काम से चल दिये॥ ३ ॥

मुनिहि सोचु पाहुन बड नेवता। तसि पूजा चाहिय जस देवता॥
सुनि रिधिसिधि अनिमादिक आईं। आयसु होइ सो करहिँ गोसाईं॥४॥

मुनिजी सोचने लगे कि हमने बड़े भारी पाहुने को न्योता दिया है। जैसा देवता हो वैसी ही उसकी पूजा भी होनी चाहिए। यह सुनकर ऋद्धि सिद्धि और अणिमादिक[1] (आठों) सिद्धियाँ आईं। उन्होंने कहा कि हे गुसाईं! जो कुछ आज्ञा हो, हम करें॥ ४ ॥

दो०—रामबिरह ब्याकुल भरतु सानुज सहित समाज।
पहुनाई करि हरहु स्रमु कहा मुदित मुनिराज॥२१४॥

मुनिराज ने प्रसन्न होकर कहा कि छोटे भाई और समाज-सहित भरतजी रामचन्द्रजी के विरह से व्याकुल हैं, इनकी पहुनाई करके थकावट दूर कर दो॥ २१४ ॥

चौ०—रिधि सिधि सिर धरि मुनि-बर-बानी। बडभागिनि आपुहि अनुमानी॥
कहहिँ परसपर सिधिसमुदाई। अतुलित अतिथि राम-लघु-भाई॥१॥

१—अणिमादि आठ सिद्धियाँ ये हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता और वशिता। ये अपने नामों के अनुरूप कार्य करती हैं।

ऋद्धि, सिद्धि ने मुनिराज की वाणी माथे चढ़ाकर अपने को बड़भागिनी समझा। सब सिद्धियाँ आपस में कहने लगीं कि रामचन्द्रजी के छोटे भाई भरत-शत्रुघ्न अतुल (जिनके समान दूसरा कोई न हो) अतिथि हैं ॥ १ ॥

मुनिपद बंदि करिय सोइ आजू। होइ सुखी सब राजसमाजू ॥
अस कहि रचे रुचिर गृह नाना। जेहि बिलोकि बिलखाहिँ बिमाना ॥२॥

इसलिए हम सबको मुनि के चरणों में प्रणाम करके वही काम करना चाहिए जिससे सारा राज-समाज सुखी हो। ऐसा कहकर उन्होंने ऐसे सुन्दर घर बनाये जिन्हें देखकर (देवतों के) विमान भी लजा जावें ॥ २ ॥

भोग बिभूति भूरि भरि राखे। देखत जिन्हहिँ अमर अभिलाषे ॥
दासी दास साजु सब लीन्हे। जोगवत रहहिँ मनहिँ मनु दीन्हे ॥३॥

उन घरों में भोगने के लिए उन्होंने बहुत-सी ऐश्वर्य्य-सामग्रियाँ भर दीं जिन्हें देखकर देवतों का भी जी ललचा जाय। दासियाँ और दास सब तरह की जरूरी चीज़ें लिये हुए मन लगाकर उनकी रुचि पूरी करने को तैयार थे ॥ ३ ॥

सबु समाजु सजि सिधि पल माहीँ। जे सुख सुरपुर सपनेहुँ नाहीँ ॥
प्रथमहिँ बास दिये सब केही। सुंदर सुखद जथारुचि जेही ॥४॥

सिद्धियों ने वहाँ पल भर में सब सामान सजाकर रख दिये। जो सुख स्वर्ग में भी स्वप्न में देखने को भी न मिलें वे वहाँ मौजूद थे। पहले तो सब प्रजाओं को, जिनकी जैसी रुचि थी उसी के अनुसार, सुन्दर सुखदायी निवास दिये ॥ ४ ॥

दो०—बहुरि सपरिजन भरत कहुँ रिषि अस आयसु दीन्ह।
बिधि-बिसमय-दायकु बिभव मुनिबर तपबल कीन्ह ॥२१५॥

फिर मुनिवर ने कुटुम्ब-सहित भरतजी को वहाँ निवास करने की आज्ञा दी। उन्होंने अपनी तपस्या के बल से ऐसा वैभव रच दिया जिसको देखकर ब्रह्मा को भी आश्चर्य हो ॥ २१५ ॥

चौ०—मुनिप्रभाउ जब भरत बिलोका। सब लघु लगे लोकपति लोका ॥
सुखसमाजु नहिँ जाइ बखानी। देखत बिरति बिसारहिँ ग्यानी ॥१॥

भरतजी ने जब वहाँ मुनि के प्रभाव को देखा तब उसके आगे उन्हें इन्द्रादि लोकपालों के लोक भी छोटे मालूम होने लगे। सुख की सामग्री कहते नहीं बनती थी, जिसे देखते ही ज्ञानवान् लोग भी वैराग्य भूल जायँ (अनुरक्त हो जायँ) ॥ १ ॥

आसन सयन सुबसन बिताना। बन बाटिका बिहँग मृग नाना ॥
सुरभि फूल फल अमिय समाना। बिमल जलासय बिबिध बिधाना ॥२॥

आसन, शय्या, वस्त्र और चाँदनियाँ आदि थीं। जङ्गल और उनके भीतर बग़ीचे लगे हुए थे जिनमें तरह तरह के पक्षी और मृग थे। सुगन्धित फूल और अमृत समान स्वादिष्ट फल तथा शुद्ध जल के अनेकों तरह के जलाशय (कुएँ, तालाब, बावलियाँ) आदि बने हुए थे॥ २॥

असन पान सुचि अमिय अमी से। देखि लोग सकुचात जमी से॥

सुरसुरभी सुरतरु सबही के। लखि अभिलाषु सुरेस सची के॥३॥

खाने-पीने को अपार सामग्री पवित्र और अमृत-सी थी जिसको देखकर सब लोग ऐसे सकुचाने लगे, जैसे कोई संयमी विषय उत्पन्न करनेवाली चीज़ों को देखकर सकुचाये। सभी के निवास-स्थानों में अलग अलग कामधेनु और कल्पवृक्ष उपस्थित थे, जिन्हें देखकर इन्द्र और इन्द्राणी का भी जी ललचा जाय (क्योंकि स्वर्ग में एक ही कामधेनु और कल्पवृक्ष है, यहाँ अनेक!)॥ ३॥

रितु बसंत बह त्रिबिध बयारी। सब कहँ सुलभ पदारथ चारी॥

स्रक चंदन बनितादिक भोगा। देखि हरष बिसमयबस लोगा॥४॥

वहाँ वसन्त ऋतु छा गई। शीतल, मन्द, सुगन्ध तीन प्रकार की हवा चलने लगी। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थ सबके लिए सुलभ हो गये। माला, चन्दन और स्त्रियों के संभोग इत्यादि सभी ठाठ देखकर सब लोगों को (जङ्गल में मङ्गल देखकर) आनन्द और आश्चर्य भी हुआ॥ ४॥

दो०—संपति चकई भरतु चक मुनि आयसु खेलवार।

तेहि निसि आस्रमपींजरा राखे भा भिनुसार॥२१६॥

इस संपत्तिरूपी चकई के लिए भरतजी चकवा थे और मुनिजी की आज्ञा बहेलिया थी। उस रात को आश्रमरूपी पींजरे में इन दोनों को उस बहेलिये ने बन्द कर रक्खा था। बन्द हो रहते सबेरा हो गया। अर्थात् जिस तरह चकई चकवा एक पींजरे में रहने पर भी रात को समागम नहीं करते, इसी तरह भोग-विलास की अनेक सामग्रियों के उपस्थित रहते भी भरतजी ने किसी वस्तु को नहीं छूआ, क्योंकि उनका चित्त तो रामचन्द्रजी के चरणों में लगा था॥ २१६॥

चौ०—कीन्ह निमज्जनु तीरथराजा। नाइ मुनिहिँ सिरु सहित समाजा॥

रिषिआयसु असीस सिर राखी। करि दंडवत बिनय बहु भाखी॥१॥

प्रातःकाल भरतजी ने समाज-सहित मुनिराज की वन्दना कर तीर्थराज में स्नान किया, और ऋषि की आज्ञा तथा आशीर्वाद को मस्तक पर रखकर उन्हें दण्डवत् कर बहुत विनय की॥ १॥

पथ-गति-कुसल साथ सब लीन्हे। चले चित्रकूटहि चितु दीन्हे॥

रामसखा कर दीन्हे लागू। चलत देह धरि जनु अनुरागू॥२॥

रास्ते का हाल जाननेवाले लोगों को साथ में लेकर सब लोग चित्रकूट की ओर मन लगाये चले। भरतजी रामसखा (गुह) के हाथ का सहारा लिये हुए ऐसे जा रहे हैं मानों अनुराग ही शरीर धारणकर जा रहा हो॥ २॥

नहिँ पदत्रान सीस नहिँ छाया। प्रेमु नेमु ब्रतु धरमु अमाया॥
लषन-राम-सिय-पंथ-कहानी। पूछत सखहि कहत मृदुबानी॥३॥

भरतजी के पाँवों में न तो जूता हैं और न मस्तक पर छाया (छतरी) ही है। निष्कपट प्रेम, नियम, व्रत और धर्म से भरतजी सखा (गुह) से लक्ष्मण, रामचन्द्रजी और सीताजी के रास्ते की कथा पूछते हैं और वह कोमल वाणी से कहता जाता है॥ ३॥

राम-बास-थल-बिटप बिलोके। उर अनुराग रहत नहिँ रोके॥
देखि दसा सुर बरिषहिँ फूला। भइ मृदु महि मग मंगलमूला॥४॥

रामचन्द्रजी के निवास की जगहों के वृक्षों को देखकर हृदय में प्रेम रोका हुआ नहीं रुकता था। इस (प्रेम-मुग्ध) दशा को देखकर देवता उन पर फूल बरसाने लगे। पृथ्वी कोमल हो गई और रास्ता मंगल का मूल हो गया॥ ४॥

दो०—किये जाहिँ छाया जलद सुखद बहइ बरबात।
तस मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहिँ जात॥२१७॥

चलते समय ऊपर बादल छाया करते जाते हैं और सुखदायी अच्छी हवा चलती है। भरतजी के जाने के समय रास्ता जैसा सुखदायक हुआ वैसा सुखदायक रामचन्द्रजी के लिए भी नहीं हुआ था[1]॥ २१७॥

चौ०—जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥
ते सब भये परम-पद-जोगू। भरतदरस मेटा भवरोगू॥१॥

रास्ते में जड़ और चेतन अनेक जीव थे। उनमें से जिन्होंने रामचन्द्रजी की ओर देखा था जिनकी ओर रामचन्द्रजी ने देखा, वे सब परमपद पाने के योग्य (अधिकारी) हो ही गये थे। अब भरतजी के दर्शन से उनका संसार-रोग भी मिट गया॥ १॥

१—इस जगह शङ्का यह होती है कि पीछे तो "झलका झलकत पाँवन कैसे" इत्यादि से भरतजी को बड़ा कष्टदायी मार्ग बताया और यहाँ रामचन्द्रजी से भी अधिक सुखदायी कहा—यह कैसे? समाधान—जब भरतजी वशिष्ठादिकों से रामचन्द्रजी के लौट आने का आशीर्वाद माँगकर चले थे, तब देवतों ने अपने कार्य्य में विघ्न जानकर भरतजी को दुःख दिया कि ये किसी तरह रामचन्द्रजी को लौटाने न जावें, किन्तु प्रयागराज में इनकी दृढ़ भक्ति से प्रसन्न होकर सब अनुकूल हो गये और उन्हें यह भी निश्चय हो गया कि रामचन्द्रजी जो करेंगे वही होगा। हमारा यत्न निष्फल है। अथवा—भरद्वाजजी ने जो आशीर्वाद दिया उसके प्रभाव से आगे का मार्ग सुखदायक हो गया। अथवा—प्रयाग से चित्रकूट पर्यन्त का रास्ता रामचन्द्रजी की विशेष कृपा का पात्र था। उसने भरतजी को दुःख देना न चाहा।

यह बड़ि बात भरत कइ नाहीं। सुमिरत जिनहिं रामु मन माहीं॥
बारेक राम कहत जग जेऊ। होत तरन-तारन नर तेऊ॥२॥

भरतजी के लिए यह कोई बड़ी बात नहीं, क्योंकि उनको रामचन्द्रजी अपने मन में स्मरण करते हैं! संसार में जो मनुष्य एक बार भी राम नाम कहता है वह भी तरणतारण (आप भी तर जाय, दूसरे को भी तार दे) हो जाता है॥ २॥

भरतु राम प्रिय पुनि लघुभ्राता। कस न होइ मगु मंगलदाता॥
सिद्ध साधु मुनिबर अस कहहीं। भरतहिं निरखि हरषु हिय लहहीं॥३॥

'भरतजी एक तो रामचन्द्रजी को प्यारे फिर उनके छोटे भाई हैं, तो फिर उनके लिए रास्ता सुखदायक क्यों न हो'! सिद्ध, साधु और अच्छे अच्छे ऋषि यही बड़ाई करके भरतजी को देख देख मन में प्रसन्न होते हैं॥ ३॥

देखि प्रभाउ सुरेसहि सोचू। जगु भल भलेहि पोच कहँ पोचू॥
गुरु सन कहेउ करिय प्रभु सोई। रामहिं भरतहिं भेंट न होई॥४॥

इस प्रभाव को देखकर सुरराज इन्द्र को सोच उत्पन्न हुआ, क्योंकि संसार भले को भला और बुरे को बुरा है। इन्द्र ने बृहस्पतिजी से कहा—गुरु महाराज! अब वही उपाय करना चाहिए जिसमें रामचन्द्र और भरतजी की भेंट न हो॥ ४॥

दो०—रामु सँकोची प्रेमबस भरतु सुप्रेम पयोधि।
बनी बात बिगरन चहति करिय जतन छल सोधि॥२१८॥

रामचन्द्र संकोची और प्रेम के वश हो जानेवाले हैं और भरतजी प्रेम के अगाध समुद्र हैं। इन दोनों का समागम होते ही बनी बनाई बात बिगड़ना चाहती है, इसलिए कुछ छल ढूँढ़कर यत्न करना चाहिए। अर्थात्—भरतजी रामचन्द्रजी को लौटा ले जायँगे तो राक्षस-वध कैसे हो सकेगा?॥ २१८॥

चौ०—बचन सुनत सुरगुरु मुसुकाने। सहसनयन बिनु लोचन जाने॥
कह गुरु बादि छोभु छलु छाँड़ू। इहाँ कपट कर होइहि भाँड़ू॥१॥

इन्द्र के वचन सुनकर देवगुरु (बृहस्पति) मुस्कुराये और उन्होंने हज़ार नेत्रोंवाले इन्द्र को बिना नेत्र का (अन्धा) समझा, (क्योंकि उन्हें विचाररूपी नेत्र नहीं है)। गुरु ने उत्तर दिया कि तुम्हारा क्षोभ (घबराहट) व्यर्थ है, तुम छल (करने का विचार) छोड़ दो; क्योंकि यहाँ रामचन्द्रजी के सामने छल का भंडा फूट जायगा अर्थात् सब भेद खुल जायगा॥ १॥

माया-पति-सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥
तब किछु कीन्ह रामरुख जानी। अब कुचालि करि होइहि हानी॥२॥

हे देवराज इन्द्र ! माया के स्वामी (रामचन्द्रजी) के सेवक (भरतजी) से जो माया रची जायगी तो वह उलटकर अपने ही ऊपर पड़ेगी। उस समय (राजतिलक के अवसर पर) जो कुछ किया था वह रामचन्द्रजी का रुख (अनुमोदन) जानकर किया था; पर अब जो कुचाल चलोगे तो हानि होगी ॥ २ ॥

सुनु सुरेस रघु-नाथ-सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिँ न काऊ ॥
जो अपराधु भगत कर करई। राम-रोष-पावक सो जरई ॥३॥

हे सुरेश्वर ! सुनो। रामचन्द्रजी का यह स्वभाव है कि वे अपना (रामचन्द्रजी का) अपराध करने पर किसी पर क्रोध नहीं करते। पर जो कोई उनके भक्त का अपराध करता है वह रामचन्द्रजी की क्रोधाग्नि में जलकर भस्म होता है ॥ ३ ॥

लोकहु बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिँ दुरबासा ॥
भरतसरिस को रामसनेही। जगु जप राम रामु जप जेही ॥४॥

वेद और पुराणों में कई इतिहास हैं और दुर्वासा मुनि इस महिमा को जानते हैं[1]। भरत के समान रामचन्द्र का प्रेमी और कौन हो सकता है ? क्योंकि जिन रामचन्द्र को सारा संसार जपता है वे ही उन भरतजी को जपते हैं ॥ ४॥

दो०—मनहुँ न आनिय अमरपति रघु-बर-भगत-अकाजु ।
अजसु लोक परलोक दुख दिन दिन सोकसमाजु ॥२१९॥

इसलिए हे देवराज ! रामचन्द्रजी के भक्त का काम बिगाड़ना कभी मन में भी न लाना। क्योंकि इससे लोक में अपयश और परलोक में दुःख होगा और दिन दिन दुःख बढ़ेगा ॥ २१९ ॥

१—राजा अम्बरीष अनन्य भगवद्भक्त थे। उन्होंने एक बार एकादशी का व्रत कर द्वादशी के दिन पारण की तैयारी की थी, इतने में उनके यहाँ दुर्वासा ऋषि अतिथि हुए। राजा ने बड़े प्रेम से उनका निमन्त्रण किया। वे नदी पर स्नान सन्ध्या करने गये, पर लौटने में देरी हुई। इधर पारण में द्वादशी न मिलने से एकादशी व्रत नष्ट होता देखकर राजा ने, ब्राह्मणों की आज्ञा से, भगवान् का तीर्थ लेकर नियम निबाहा। इतने ही में दुर्वासा ऋषि आ पहुँचे। उन्होने राजा का पारण किया समझकर क्रुद्ध होकर अपनी जटा फटकारी। उसमें से एक कृत्या (राक्षसी) उत्पन्न हुई और वह अम्बरीष के खाने को दौड़ी। वे तो अटल बैठे रहे, पर भगवान् के सुदर्शन चक्र ने कृत्या को भस्मकर दुर्वासाजी पर धावा किया। दुर्वासाजी भागते भागते इंद्रादि देवतों, ब्रह्मा और रुद्र के पास हो अन्त में विष्णु की ही शरण गये। भक्तवत्सल भगवान् ने उनकी रक्षा न कर उन्हें भक्त ही की शरण में जाने की सलाह दी। तब दुर्वासा ऋषि लौटकर राजा अम्बरीष की शरण आये। फिर राजा ने स्तुतिकर सुदर्शन चक्र को शान्त किया और दुर्वासाजी को सादर भोजन कराया। इस घूमने-फिरने में दुर्वासाजी को १ वर्ष लगा। राजा अम्बरीष भी १ वर्ष भूखे ही रहे। भगवद्भक्तों का अपराध ऐसा होता है। भक्त का अपराध भगवान् से सहा नहीं जाता, इसी से वे ऐसे अपराधी की रक्षा नहीं करते।

चौ०—सुनु सुरेस उपदेसु हमारा। रामहिँ सेवकु परमपियारा॥
मानत सुखु सेवकसेवकाई। सेवकबैर बैरु अधिकाई॥१॥

हे इन्द्र! तुम हमारा उपदेश सुनो। रामचन्द्रजी को भक्त अत्यन्त प्यारा है। अपने भक्त की सेवा होने पर वे अपनी सेवा मानते हैं और भक्त से वैर करने से बड़ा भारी वैर मानते हैं॥ १॥

जद्यपि सम नहिँ राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्न गुन दोषू॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥२॥

यद्यपि रामचन्द्रजी समदर्शी हैं, न उन्हें किसी से प्रेम है, न क्रोध। वे किसी के पाप-पुण्य या गुण-दोषों को ग्रहण नहीं करते। उन्होंने सारे संसार को कर्म-प्रधान कर रक्खा है। जो जैसा काम करे, वह वैसा फल पाता है॥ २॥

तदपि करहिँ सम-विषम-बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥
अगुन अलेख अमान एकरस। रामु सगुन भये भगत-प्रेम-बस॥३॥

तथापि क्रीड़ारूप में भक्त और अभक्त के हृदय के अनुसार वे सम-विषम बर्ताव करते हैं। जो परमात्मा अगुण (प्राकृत गुण-रहित), अलेख, अमान (अभिमान-रहित या असीम) और एकरस (सदा एकसा रहनेवाला) है, वही भक्तों के प्रेम के वश होकर सगुण रूप रामचन्द्र हुआ॥ ३॥

राम सदा सेवकरुचि राखी। बेद - पुरान - साधु - सुर - साखी॥
अस जिय जानि तजहु कुटिलाई। करहु भरत-पद-प्रीति सुहाई॥४॥

रामचन्द्रजी सदा से अपने भक्तों की रुचि रखते आये हैं। इस बात के साक्षी वेद, पुराण, महात्मा लोग और देवता हैं। हे इन्द्र, अपने जी में ऐसा समझकर तुम कुटिलता को छोड़ दो और भरतजी के चरणों में सुन्दर प्रीति करो॥ ४॥

दो०—रामभगत परहितनिरत परदुख-दुखी दयाल।
भगतसिरोमनि भरत तेँ जनि डरपहु सुरपाल॥२२०॥

हे इन्द्र! रामचन्द्रजी के भक्त दूसरों के हित में तत्पर रहते हैं, दूसरों का दुःख देखकर वे (भक्त) दुखी होते और दयाल होते हैं। (यह साधारण भक्तों का स्वभाव है।) भरतजी तो भक्तों के शिरोमणि हैं इसलिए उनसे तुम मत डरो॥ २२०॥

चौ०—सत्यसंध प्रभु सुर-हित-कारी। भरत राम-आयसु-अनुसारी॥
स्वारथबिबस बिकल तुम्ह होहू। भरतदोसु नहि राउर मोहू॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी सत्यसंध (प्रतिज्ञापालक) और देवतों के हितकर्ता हैं और भरतजी रामचन्द्रजी की आज्ञा का अनुसरण करनेवाले हैं। तुम अपने स्वार्थ के वश होकर घबराते हो; इसमें भरतजी का कुछ दोष नहीं, तुम्हारा ही मोह है॥ १॥

सुनि सुरबर सुर-गुरु-बर-बानी। भा प्रमोदु मन मिटी गलानी॥
बरषि प्रसून हरषि सुरराऊ। लगे सराहन भरतसुभाऊ॥२॥

इस तरह बृहस्पतिजी की वाणी सुनकर इन्द्र के मन में हर्ष हुआ और ग्लानि मिट गई। तब सुरराज ने प्रसन्न होकर भरतजी पर फूल बरसाये और वे भरत जी के स्वभाव की प्रशंसा करने लगे॥ २॥

एहि बिधि भरतु चले मग जाहीँ। दसा देखि मुनि सिद्ध सिहाहीँ॥
जबहिं रामु कहि लेहिं उसासा। उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा॥३॥

भरतजी इस तरह से रास्ते में चले जाते थे। उनकी प्रेम-मुग्ध दशा को देखकर मुनि और सिद्ध लोग ईर्ष्या करते हैं (कि हमें ऐसी प्रेमदशा न प्राप्त हुई)। भरतजी जब राम-नाम बोलते हुए ऊँची साँस लेते थे, तब मानों चारों ओर से प्रेम उमड़ने लगता था॥ ३॥

द्रवहिँ बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना॥
बीच बास करि जमुनहिं आये। निरखि नीरु लोचन जल छाये॥४॥

उनके प्रेम-भरे वचनों को सुनकर वज्र और पत्थर भी पिघल जाते थे और पुरवासियों का प्रेम तो कहते ही नहीं बनता। बीच में डेरा कर भरतजी जब यमुनाजी पर पहुँचे तब यमुनाजी के जल को देखते ही उनकी आँखों में पानी भर आया॥ ४॥

दो०—रघु-बर-बरन बिलोकि बर बारि समेत समाज।
होत मगन बारिधि बिरह चढे बिबेक जहाज॥२२१॥

यमुनाजी का नीला जल रामचन्द्रजी के रंग के समान देखकर भरतजी मण्डली-समेत रामचन्द्रजी के विरहरूपी समुद्र में डूबने लगे, पर तुरन्त ही वे विचाररूपी जहाज़ पर चढ़ गये॥ २२१॥

चौ०—जमुनतीर तेहि दिन करि बासू। भयउ समयसम सबहिँ सुपासू॥
रातिहिँ घाट घाट की तरनी। आईं अगनित जाहिँ न बरनी॥१॥

उस दिन उन्होंने वहीं, यमुना-किनारे, निवास किया और समयानुसार सबको आराम मिला। रात ही रात में घाट घाट की इतनी नावें वहाँ आ गईं जिनकी गिनती नहीं हो सकती॥ १॥

प्रात पार भये एकहि खेवा। तोषे रामसखा की सेवा॥
चले नहाइ नदिहि सिरु नाई। साथ निषादनाथु दोउ भाई॥२॥

सबेरे सब लोग एक ही खेवे में यमुना के पार हो गये। रामचन्द्रजी के मित्र गुह की सेवा से सब सन्तुष्ट हुए। सब लोग निषादनाथ गुह और दोनों भाई (भरत, शत्रुघ्न) के साथ नदी (यमुना) में स्नानकर और उसे नमस्कार करके चले ॥ २ ॥

आगे मुनि-बर-बाहन आछे। राजसमाजु जाइ सबु पाछे ॥
तेहि पाछे दोउ बंधु पयादे। भूषन बसन बेष सुठि सादे ॥३॥

आगे आगे वसिष्ठादि मुनियों की सवारियाँ जा रही थीं, उनके पीछे सब राज-परिवार जा रहा था, उनके पीछे दोनों भाई (भरत, शत्रुघ्न) सादे भूषण-वस्त्र पहने, मामूली वेष से, पैदल जा रहे थे ॥ ३ ॥

सेवक सुहृद सचिवसुत साथा। सुमिरत लषनु सीय रघुनाथा ॥
जहँ जहँ राम-बास-बिस्रामा। तहँ तहँ करहिँ सप्रेम प्रनामा ॥४॥

सेवक, मित्र और मन्त्री के पुत्र उनके साथ थे। वे श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी को याद करते जाते थे। जहाँ जहाँ रामचन्द्रजी के निवास के स्थान आते वहाँ वहाँ वे प्रेम-सहित प्रणाम करते ॥ ४ ॥

दो०—मगबासी नरनारि सुनि धामकाम तजि धाइ।
देखि सरूप सनेह सब मुदित जनमफलु पाइ ॥२२२॥

रास्ते में रहनेवाले स्त्री-पुरुष इनका आना सुनकर घर के काम-काज छोड़कर दौड़ पड़ते थे और सब लोग इनके रूप और स्नेह को देखकर अपने जन्म लेने का फल पाकर प्रसन्न हो जाते थे ॥ २२२ ॥

चौ०—कहहिँ सप्रेम एक एक पाहीँ। रामु लषनु सखि होहिँ कि नाहीँ ॥
बय बपु बरन रूपु सोइ आली। सीलु सनेहु सरिस सम चाली ॥१॥

स्त्रियाँ भरत-शत्रुघ्न की मनोहर जोड़ी को देखकर एक दूसरे से कहने लगीं कि क्यों सखी! ये राम, लक्ष्मण हैं कि नहीं? हे सखी! इनकी अवस्था, शरीर, रंग और रूप तो वही है और शील, स्नेह तथा चाल भी समान है ॥ १ ॥

बेषु न सो सखि सीय न संगा। आगे अनी चली चतुरंगा ॥
नहिँ प्रसन्नमुख मानस खेदा। सखि संदेहु होइ यहि भेदा ॥२॥

पर हे सखी! इनका वेष वैसा नहीं है और इनके साथ सीता भी नहीं हैं। इनके आगे चतुरङ्गिनी सेना चली जा रही है। ये प्रसन्न-मुख नहीं हैं, इनके चित्त में खेद है। हे सखी! इस भेद को देखकर सन्देह होता है ॥ २ ॥

तासु तरक तियगन मन मानी। कहहिँ सकल तोहि सम न सयानी ॥
तेहि सराहि बानी फुरि पूजी। बोली मधुरबचन तिय दूजी ॥३॥

उस स्त्री के तर्क (अनुमान) को स्त्रियों ने मन में मान लिया। सब कहने लगीं कि तेरे बराबर चतुर और कोई नहीं है। यों उसको बड़ाई करके और उसके वचन को ठीक बताकर दूसरी स्त्री मीठे वचन से बोली ॥ ३ ॥

कहि सप्रेम सब कथाप्रसंगू। जेहि बिधि राम-राज-रस-भंगू ॥
भरतहि बहुरि सराहन लागी। सील सनेह सुभाय सुभागी ॥४॥

जिस तरह रामचन्द्रजी के राजतिलक में रस-भङ्ग (विघ्न) हुआ था वह सब कथा का प्रसंग कहकर फिर वह सौभाग्यवती, भरतजी को और उनके शील, स्नेह तथा स्वभाव की प्रशंसा करने लगी ॥ ४ ॥

दो०—चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु।
जात मनावन रघुबरहिँ भरतसरिस को आजु ॥२२३॥

वह कहने लगी—देखो, भरतजी को पिता ने राज्य दिया पर उसको इन्होंने छोड़ दिया। ये पैदल ही चलते हैं, फलाहार करते हैं और रामचन्द्रजी को मनाने के लिए जाते हैं। आहा! आज भरत के समान कौन है? ॥ २२३ ॥

चौ०—भायप भगति भरत-आचरनू। कहत सुनत दुख-दूषन-हरनू ॥
जो किछु कहब थोर सखि सोई। रामबंधु अस काहे न होई ॥१॥

भरतजी का भाईपन, इनकी भक्ति, और इनका आचरण कहने-सुननेवालों के दुःख और दोषों को नाश करनेवाला है। हे सखि! जो कुछ कहा जाय वही इनके लिए थोड़ा है। भला! रामचन्द्रजी के भाई ऐसे क्यों न हों! ॥ १ ॥

हम सब सानुज भरतहिँ देखे। भइन्ह धन्य जुवतीजन लेखे ॥
सुनि गुन देखि दसा पछिताहीं। कैकेइ-जननि-जोगु सुतु नाहीं ॥२॥

हम लोग आज शत्रुघ्न-सहित भरतजी को देखकर स्त्रियों की गिनती में धन्य हो गईं। वे उनके गुण सुनकर और उनकी दशा देखकर पछताने लगीं और कहने लगीं कि यह पुत्र केकयी माता के योग्य नहीं है ॥ २ ॥

कोउ कह दूषनु रानिहि नाहिँन। बिधि सबु कीन्ह हमहिँ जो दाहिन ॥
कहँ हम लोक-बेद-बिधि-हीनी। लघुतिय कुल-करतूति-मलीनी ॥३॥

कोई कहने लगी कि इसमें रानी (केकयी) का कुछ दोष नहीं, विधाता ने ही सब कुछ किया, जो हमारे लिए अनुकूल है। कहाँ तो हम शास्त्र और वेद-विधि से रहित छोटी स्त्रियाँ, जिनके कुल के आचरण मलिन हैं ॥ ३ ॥

बसहिँ कुदेस कुगाँव कुबामा। कहँ यह दरसु पुन्यपरिनामा ॥
अस अनंदु अचरजु प्रति ग्रामा। जनु मरुभूमि कलपतरु जामा ॥४॥

हम खोटे देश, खोटे गाँव में बसती हैं और खोटी स्त्रियाँ हैं; और कहाँ यह दर्शन जो पुण्यों का परिणाम (फल) है अर्थात् बड़े पुण्य से मिलता है ! हर गाँव में ऐसा आनन्द और आश्चर्य छा गया, मानों (निर्जल) मरुदेश में कल्पवृक्ष जमा हो ॥ ४ ॥

दो०—भरतदरसु देखत खुलेउ मग लोगन्ह कर भागु ।
जनु सिंघलबासिन्ह भयउ बिधिबस सुलभ प्रयागु ॥२२४॥

भरतजी का दर्शन करते ही रास्ते के लोगों का भाग्य खुल गया, मानों सिंहलद्वीप के बसनेवालों को भाग्य-वश प्रयागराज सुलभ हो गया ॥ २२४ ॥

चौ०—निज-गुन-सहित राम-गुन-गाथा । सुनत जाहिँ सुमिरत रघुनाथा ॥
तीरथ मुनिआस्त्रम सुरधामा । निरखि निमज्जहिँ करहिँ प्रनामा ॥१॥

भरतजी अपने गुणों-सहित रामचन्द्रजी के गुणों की कथा सुनते हुए और रघुनाथजी को स्मरण करते हुए चले जा रहे थे । जहाँ कहीं तीर्थ, ऋषियों के आश्रम, देवतों के मन्दिर आते थे वहाँ वे स्नान, दर्शन और प्रणाम करते थे ॥ १ ॥

मनहीं मन माँगहिँ बरु एहू । सीय - राम - पद - पदुम सनेहू ॥
मिलहिँ किरात कोल बनबासी । बैखानस बटु जती उदासी ॥२॥

भरतजी मन ही मन सब जगह यह वरदान माँगते थे कि सीतारामजी के चरण-कमलों में स्नेह हो । रास्ते में भील, कोल, वनवासी, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी, संन्यासी और उदासी मिलते थे ॥ २ ॥

करि प्रनाम पूछहिँ जेहि तेही । केहि बन लषनु रामु बैदेही ॥
ते प्रभुसमाचार सब कहहीं । भरतहिँ देखि जनमफलु लहहीं ॥३॥

उन सबको प्रणाम करके वे जिस-तिस से पूछते थे कि राम-लक्ष्मण-जानकी किस वन में हैं । वे सब रामचन्द्रजी के समाचार कह देते थे और भरतजी को देखकर जन्म का फल पा जाते थे ॥ ३ ॥

जे जन कहहिँ कुसल हम देखे । ते प्रिय राम-लषन-सम लेखे ॥
एहि बिधि बूझत सबहिँ सुबानी । सुनत राम बन-बास-कहानी ॥४॥

जो लोग कहते थे कि हमने रामचन्द्रजी को कुशल-पूर्वक देखा है, उनको भरतजी राम-लक्ष्मण के समान प्यारे गिनते थे । इस तरह सबसे सुन्दर वाणी से पूछते हुए और रामचन्द्रजी के वनवास की कहानी सुनते हुए वे चले जाते थे ॥ ४ ॥

दो०—तेहि बासर बसि प्रातही चले सुमिरि रघुनाथ ।
रामदरस की लालसा भरत सरिस सब साथ ॥२२५॥

भरतजी उस दिन वहीं रहकर दूसरे दिन सबेरे रघुनाथजी को स्मरण करके चले। भरतजी के समान उनके सब साथियों को भी रामचन्द्रजी के दर्शन की लालसा थी॥ २२५॥

चौ०—मंगल सगुन होहिँ सब काहू। फरकहिँ सुखद बिलोचन बाहू॥
भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिँ रामु मिटिहि दुखदाहू॥१॥

सभी को मङ्गल-सूचक शकुन होने लगे, सुखदायी नेत्र और भुजायें फड़कने लगीं। परिवार-सहित भरतजी को उत्साह हो रहा है कि रामचन्द्रजी मिलेंगे और दुःख-दाह मिट जायगा॥ १॥

करत मनोरथ जस जिय जाके। जाहिँ सनेहसुधा सब छाके॥
सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिँ। बिहबल बचन प्रेमबस बोलहिँ॥२॥

जिसके मन में जैसा आता था वह वैसा ही मनोरथ करता था। सभी लोग स्नेहरूपी अमृत से छके जाते थे। उनके अंग शिथिल पड़ गये थे, रास्ते में चलते हुए पाँव डगमगाते थे और वे प्रेम के मारे विह्वल वचन (ऊटपटाँग) बोलने लगते थे॥ २॥

रामसखा तेहि समय देखावा। सैलसिरोमनि सहज सुहावा॥
जासु समीप सरित-पय-तीरा। सीयसमेत बसहिँ दोउ बीरा॥३॥

उस समय राम-सखा गुह ने स्वाभाविक सुन्दर पर्वत-शिरोमणि (चित्रकूट) दिखाया, जिसके पास (मन्दाकिनी) नदी के तीर पर सीता-समेत दोनों वीर (राम-लक्ष्मण) निवास करते थे॥ ३॥

देखि करहिँ सब दंडप्रनामा। कहि जय जानकिजीवन रामा॥
प्रेममगन अस राजसमाजू। जनु फिरि अवध चले रघुराजू॥४॥

सब लोग उस पर्वत को देखकर जानकी-जीवन रामचन्द्रजी की जय, ऐसा कहकर दंडवत् प्रणाम करने लगे। राज-परिवार ऐसे प्रेम में निमग्न हुआ, मानों रघुराज रामचन्द्रजी अयोध्या को लौट चले हों॥ ४॥

दो०—भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुखु अह-मम-मलिन-जनेषु॥२२६॥

उस समय भरतजी को जैसा प्रेम हुआ वैसा शेषजी भी नहीं कह सकते और कवि को तो उसका कहना ऐसा अगम (दुर्लभ) है जैसे अहङ्कार-ममता से मलिन लोगों को ब्रह्म-सुख मिलना दुर्लभ है॥ २२६॥

चौ०—सकल सनेह सिथिल रघुबर के। गये कोस दुइ दिनकर ढरके॥
जल थल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवनु रघु-नाथ-पिरीते॥१॥

सब लोग श्रीरघुवर के प्रेम में विह्वल हो गये थे। सूर्य का अस्त होने पर भी वे दो कोस चले गये। फिर जल का ठिकाना देखकर रात भर सबने निवास किया और सबेरा होते ही वे रामचन्द्रजी के प्रेम में चल पड़े ॥ १ ॥

उहाँ रामु रजनी-अवसेखा । जागे सीय सपन अस देखा ॥
सहित समाज भरत जनु आये । नाथबियोग ताप तन ताये ॥२॥

उधर जहाँ रामचन्द्रजी थे वहाँ रात रहते ही (उषःकाल में) वे जागे तो सीताजी ने यह स्वप्न देखा मानों स्वामी के वियोग की अग्नि से शरीर संतप्त किये हुए भरतजी समाज-सहित वहाँ आये हैं ॥ २ ॥

सकल मलिनमन दीन दुखारी । देखी सासु आन अनुहारी ॥
सुनि सियसपन भरे जल लोचन । भये सोचबस सोचबिमोचन ॥३॥

सभी लोगों के मन मलिन हैं और वे दुखी हो रहे हैं। सीताजी ने देखा कि सासुओं की और ही सूरत (विधवा) बनी है। सोच के छुड़ा देनेवाले रामचन्द्रजी भी सीताजी का स्वप्न सुनकर सोच में पड़ गये और उनकी आँखों में जल भर आया ॥ ३ ॥

लषन सपन यह नीक न होई । कठिन कुचाह सुनाइहि कोई ॥
अस कहि बंधुसमेत नहाने । पूजि पुरारि साधु सनमाने ॥४॥

उन्होंने लक्ष्मणजी से कहा, लक्ष्मण! यह स्वप्न अच्छा नहीं है, कोई बड़ी बुरी खबर सुनावेगा। ऐसा कहकर भाई-सहित रामचन्द्रजी ने स्नान किया और महादेवजी का पूजन करके साधुओं (महात्माओं) का सम्मान किया ॥ ४ ॥

छंद—सनमानि सुर मुनि बंदि बैठे उतर दिसि देखत भये ।
नभ धूरि खग मृग भूरि भागे बिकल प्रभु आस्रम गये ॥
तुलसी उठे अवलोकि कारनु काह चित सचकित रहे ।
सब समाचार किरात कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे ॥

वे देवतों तथा ऋषियों का सम्मान और उन्हें नमस्कार करके बैठ गये। उन्होंने उत्तर दिशा की ओर देखा तो यह पाया कि आकाश में धूल छा गई है, बहुत-से पक्षी और मृग घबराहट से रामचन्द्रजी के आश्रम में भागे आ रहे हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि रामचन्द्रजी यह देखकर उठ खड़े हुए और चकित हुए कि इसका कारण क्या है। उसी समय कोल-किरातों ने आकर उनको सब समाचार कह सुनाये ॥

सो०—सुनत सुमंगल बैन मन प्रमोद तन पुलक भर ।
सरदसरोरुह नैन तुलसी भरे सनेह जल ॥२२७॥

मंगल-वचन सुनते ही उनके मन में आनंद भर गया। तुलसीदासजी कहते हैं कि उनका शरीर पुलकायमान हो गया, शरत्काल के कमल के समान (जिन पर ओस पड़ी रहती है) उनके नेत्र स्नेह के जल से भर गये॥ २२७॥

चौ०—बहुरि सोच-बस भे सिय-रवनू। कारन कवन भरतआगमनू॥
एक आइ अस कहा बहोरी। सेन संग चतुरंग न थोरी॥१॥

फिर सीता-रमण रामचन्द्रजी इस सोच में पड़ गये कि भरत के आने का क्या कारण है। फिर एक ने आकर कहा कि उनके साथ बड़ी भारी चतुरङ्गिनी सेना है॥ १॥

सो सुनि रामहिँ भा अति सोचू। उत पितुबच इत बंधुसँकोचू॥
भरतसुभाउ समुझि मन माहीँ। प्रभुचित हितथिति पावत नाहीँ॥२॥

यह सुनकर रामचन्द्रजी को बहुत सोच हुआ, क्योंकि उधर तो पिता का वचन और इधर भाई का संकोच! मन में भरतजी के स्वभाव को समझकर रामचन्द्रजी के चित्त में कोई बात स्थिर न हुई॥ २॥

समाधान तब भा यह जाने। भरतु कहे महुँ साधु सयाने॥
लषन लखेउ प्रभु-हृदय-खभारू। कहत समयसम नीतिबिचारू॥३॥

फिर यह समझकर रामचन्द्रजी को समाधान हो गया कि भरत साधु और सयाने हैं तथा (मेरे) कहने में हैं। उधर लक्ष्मणजी ने स्वामी के मन में चिंता देखकर उस समय के अनुसार नीति के विचार कहे—॥ ३॥

बिनु पूछे कछु कहउँ गोसाईँ। सेवकु समय न ढीठु ढिठाई॥
तुम्ह सर्बग्य सिरोमनि स्वामी। आपनि समुझि कहउँ अनुगामी॥४॥

हे नाथ! मैं बिना पूछे कुछ कहता हूँ इसके लिए क्षमा करना, क्योंकि समय आ पड़ने पर ढिठाई करनेवाला सेवक ढीठ नहीं समझा जाता। आप सर्वज्ञ हैं, श्रेष्ठ हैं, स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ, अपनी समझ के अनुसार बात कहता हूँ॥ ४॥

दो०—नाथ सुहृद सुठि सरलचित सील-सनेह-निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिय आपु समान॥२२८॥

हे नाथ! आप तो अत्यन्त शुद्ध-हृदय, सीधे स्वभाववाले और शील तथा प्रेम की खान हैं। सबके ऊपर आपको प्रीति है, जी में सब पर विश्वास है और सबको अपने ही समान जानते हैं॥ २२८॥

चौ०—बिषयी जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोहबस होहिँ जनाई॥
भरतु नीतिरत साधु सुजाना। प्रभु-पद-प्रेमु सकल जगु जाना॥१॥

पर मूढ़ विषयी जीव प्रभुता को पाकर अज्ञान के वश में हो अपने को प्रकट करने लगते हैं। भरत नीति में तत्पर, सज्जन और चतुर हैं तथा स्वामी के चरणों में उनके प्रेम को सारा संसार जानता है ॥ १ ॥

तेऊ आजु राजपदु पाई। चले धरममरजाद मेटाई ॥
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी। जानि रामु बनबास एकाकी ॥२॥

वे भी आज राजपद पाकर धर्म की मर्यादा को भङ्गकर चले। कुटिल, दुष्ट बंधु भरत खोटा समय देखकर और रामचन्द्रजी को वनवास में अकेला जानकर ॥ २ ॥

करि कुमंत्र मन साजि समाजू। आये करइ अकंटक राजू ॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आये दल बटोरि दोउ भाई ॥३॥

अपने मन में खोटी सलाह ठानकर, समाज जोड़कर, यहाँ निष्कंटक राज्य करने के लिए आये हैं। ये दोनों भाई करोड़ों तरह की कुटिलताओं की कल्पना करके, दल बटोर कर, आये हैं ॥ ३ ॥

जौं जिय होति न कपट कुचाली। केहि सोहाति रथ-बाजि-गजाली ॥
भरतहि दोष देइ को जाये। जग बौराइ राजपद पाये ॥४॥

जो इनके जी में कपट और कुचाल न होती तो रथों, घोड़ों, हाथियों की पाँति किसे सुहाती? इसमें भरत ही को क्यों व्यर्थ दोष दिया जाय? बात यह है कि राजपद पा जाने पर सारा संसार उन्मत्त हो जाता है ॥ ४ ॥

दो०—ससि गुरु-तिय-गामी नहुषु चढेउ भूमि-सुर-जान।
लोकबेद तें बिमुख भा अधम न बेनसमान ॥२२९॥

चन्द्रमा[1] ने गुरु की स्त्री से भोग किया, राजा नहुष[2] ब्राह्मणों की पालकी पर चढ़ा, अर्थात् उसने अपनी पालकी ब्राह्मणों से उठवाई और राजा बेन[3] के समान लोक और वेद-विमुख तथा नीच दूसरा कोई नहीं हुआ ॥ २२९ ॥

१—चन्द्रमा के गुरु बृहस्पति थे। उनकी स्त्री का नाम तारा था। चन्द्रमा ने जब त्रिलोक को जीतकर राजसूय यज्ञ किया तब उसने तारा का भी हरणकर उसके साथ संभोग किया। इस पर देवतों में घोर युद्ध हुआ। उसमें राक्षसों ने चन्द्रमा का साथ दिया। अन्त में ब्रह्मा ने बीच में पड़कर बृहस्पति को तारा दिलवा दी और उससे जो पुत्र उत्पन्न हुआ था वह चन्द्रमा ने लिया। इसका नाम बुध हुआ।

२—अयोध्याकांड का ६२ वाँ दोहा देखो।

३—राजा बेन जन्म ही से बड़ा उपद्रवी, दुष्ट-प्रकृति और वाचाल था। पिता के दुखी होकर वन में चले जाने पर इसे राजगद्दी मिली। बस, राज्य मिलते ही उसने बड़ा उत्पात मचाया। उसने

चौ०—सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥
भरत कीन्ह यह उचित उपाऊ। रिपु रिन रंच न राखब काऊ॥१॥

सहसबाहु,[१] इन्द्र[२] और त्रिशंकु,[३] इनमें से राजमद ने किसको कलंक नहीं दिया? भरत ने यह उचित ही उपाय सोचा है। कभी किसी को शत्रु और ऋण थोड़ा भी बाक़ी नहीं रखना चाहिए॥१॥

एक कीन्हि नहिँ भरत भलाई। निदरे रामु जानि असहाई॥
समुझि परिहि सोउ आजु बिसेखी। समर सरोष राममुखु पेखी॥२॥

किन्तु भरत ने एक बात अच्छी नहीं की, जो रामचन्द्रजी को असहाय जानकर उनका अनादर किया। इसका फल आज युद्ध में क्रोधपूर्ण रामचन्द्रजी का मुख देखकर उसे अच्छी तरह मालूम हो जायगा॥२॥

एतना कहत नीतिरस भूला। रन-रस-बिटपु पुलक मिस फूला॥
प्रभुपद बंदि सीसरज राखी। बोले सत्य सहज बल भाखी॥३॥

सब धर्म, कर्म रोक दिये और ब्राह्मणों से कहा कि विष्णु की जगह मेरी पूजा किया करो। अंत में सब ब्रह्मर्षियों ने इकट्ठे हो उसके पास जाकर उसे बहुत समझाया, पर उसने जब न माना तब उन्होंने क्रुद्ध होकर उसे हुंकार से भस्म कर दिया।

१—राजा सहस्रबाहु एक बेर शिकार खेलता हुआ जमदग्नि मुनि के आश्रम में जा निकला। मुनि ने राजा का बड़ा आदर-सत्कार किया। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ कि मुनि के पास इतना सामान कहाँ से आया। मुनि से पूछने पर ज्ञात हुआ कि उनके पास कामधेनु है, उसी के प्रभाव से सब कार्य सिद्ध हुआ। राजा के माँगने पर मुनि ने कामधेनु नहीं दी, इस पर विवाद बढ़ा और अंत में राजा मुनि को मारकर गो को ले चला तो वह गौ छूटकर इन्द्रलोक में भाग गई। फिर जमदग्नि के पुत्र परशुरामजी ने युद्ध में सहस्रबाहु को मारकर २१ बार पृथ्वी निःक्षत्रिय की और यज्ञ कर जमदग्नि मुनि को जीवित कर लिया।

२—एक बार इन्द्र अपने सिंहासन पर बैठकर राज्य कर रहे थे कि वहाँ सुरगुरु बृहस्पतिजी आये तो इन्द्र ने मदान्ध हो उनका यथोचित आदर नहीं किया। इस पर बृहस्पतिजी अप्रसन्न होकर स्वर्ग से चल दिये। अब क्या था, गुरुद्रोह के कारण इन्द्र पर घोर विपत्ति आई। दैत्यों ने चढ़ाई कर सबको स्वर्ग से मार भगाया, फिर अंत में ब्रह्मा की सलाह से तपस्वी विश्वरूप को अपना पुरोहित बनाकर इन्द्र ने अनेक प्रयत्न किये तब उसकी रक्षा हुई।

३—त्रिशङ्कु राजा मदोन्मत्त होकर शरीर-सहित स्वर्ग जाने का उद्योग करने लगा। वसिष्ठ ऋषि और उनके पुत्रों से इस कार्य के न होने का उत्तर पाकर वह विश्वामित्रजी के पास गया। उन्होंने अपनी तपस्या के बल पर त्रिशङ्कु को स्वर्ग भेज दिया पर स्वर्ग-वासियों ने उसे धक्का देकर नीचे को गिराया। अन्त में वह बीच में ही टँगा रह गया। उसे लोग अब भी त्रिशङ्कु का तारा बताते हैं।

इतना कहते कहते लक्ष्मणजी को नीति-रस तो भूल गया और युद्ध-रस का वृक्ष पुलकावलि के मिस से फूल उठा (अर्थात् युद्ध के उत्साह से उनका अंग फड़कने लगा और उन पर वीर-रस चढ़ गया)। उन्होंने प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों को नमस्कार कर उनकी धूल अपने सिर पर रखकर अपना सच्चा, स्वाभाविक बल कह सुनाया ॥ ३ ॥

अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहिँ उपचरा न थोरा ॥
कहँ लगि सहिय रहिय मनु मारे। नाथ साथ धनु हाथ हमारे ॥४॥

वे बोले—हे नाथ! मेरा कहना अनुचित न मानिएगा, भरत ने हमारे साथ कम दुर्व्यवहार नहीं किया है। हम कहाँ तक सहें और मन मारे रहें, जब कि स्वामी हमारे साथ है और धनुष हमारे हाथ में है ॥ ४ ॥

दो०—छत्रिजाति रघु-कुल-जनमु रामअनुज जग जान।
लातहुँ मारे चढति सिर नीच को धूरिसमान ॥२३०॥

हम जाति के क्षत्रिय हैं, रघुकुल में हमारा जन्म है और रामचन्द्रजी के हम छोटे भाई हैं, यह संसार जानता है। महाराज! धूल के बराबर तुच्छ और कौन है। वह भी लात मारने से (पैरों की ठोकर से) सिर पर चढ़ती है, (तो फिर हम तो मनुष्य हैं) ॥ २३० ॥

चौ०—उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहुँ बीररस सोवत जागा ॥
बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासनु सायकु हाथा ॥१॥

अब लक्ष्मणजी उठकर हाथ जोड़कर आज्ञा माँगने लगे, मानों सोता हुआ वीर-रस जाग उठा हो। उन्होंने मस्तक में जटाओं को कसकर बाँध लिया, कमर में तरकस कस लिया और हाथ में धनुष-बाण ले लिया ॥ १ ॥

आजु रामसेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ ॥
रामनिरादर कर फलु पाई। सोवहु समरसेज दोउ भाई ॥२॥

वे कहने लगे—मैं आज राम-सेवक होने का यश लूँगा और भरत को युद्ध में शिक्षा दूँगा। दोनों भाई (भरत, शत्रुघ्न) रामचन्द्रजी के निरादर का फल पाकर युद्ध की शय्या में सोयें ॥ २ ॥

आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू ॥
जिमि करिनिकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू ॥३॥

सब सामान अच्छा इकट्ठा हुआ है। आज मैं सारे पिछले क्रोध को (जो अयोध्या से चलते वक्त हुआ था) प्रकट करूँगा। जिस तरह सिंह हाथियों के झुण्ड का मर्दन करता है और जैसे बाज़ लवा को एक झपाटे में लेता है ॥ ३ ॥

तैसेहि भरतहि सेनसमेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥
जौं सहाय कर शंकर आई। तौ मारउँ रन रामदोहाई॥ ४॥

उसी तरह भरत को सेना और छोटे भाई-सहित तिरस्कार कर रण-क्षेत्र में गिरा दूँगा। जो शंकर भी युद्ध में आकर सहायता करेंगे तो भी मैं मार डालूँगा, मुझे रामचन्द्रजी की सौगन्द है॥ ४॥

दो०—अतिसरोष माषे लषनु लखि सुनि सपथप्रवान।
सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान॥२३१॥

लक्ष्मणजी को अत्यन्त क्रोध में भरे हुए देखकर और उनकी सौगन्द पर विश्वास करके सब लोग और लोकपति (इन्द्रादि) डर गये और घबराकर भागने की तैयारी करने लगे। २३१॥

चौ०—जगु भयमगन गगन भइ बानी। लषन-बाहु-बलु बिपुल बखानी॥
तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा। को कहि सकइ को जाननिहारा॥१॥

जब संसार में भय छा गया तब लक्ष्मणजी की भुजाओं के विशाल बल का वर्णन करते हुए यह आकाश-वाणी हुई—हे तात! तुम्हारे प्रताप और प्रभाव को कौन कह सकता है और कौन जानता है?॥ १॥

अनुचित उचित काजु कछु होऊ। समुझि करिय भल कह सब कोऊ॥
सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं वेद बुध ते बुध नाहीं॥२॥

कोई भी काम हो, उसके उचित या अनुचित का विचारकर, तब उसे करना चाहिए जिसमें सभी कोई अच्छा कहें। जो किसी काम को एकदम (बिना सोचे विचारे) कर बैठते और पीछे पछताते हैं, वेद और विद्वानों का कथन है कि, वे लोग समझदार नहीं॥ २॥

सुनि सुरबचन लषन सकुचाने। राम सीय सादर सनमाने॥
कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सब तें कठिन राजमदु भाई॥३॥

देवताओं के वचन (आकाश-वाणी) को सुनकर लक्ष्मणजी सकुचा गये, फिर श्रीरामचन्द्र और सीताजी ने आदर के साथ उनका सम्मान किया। उन्होंने कहा—हे तात! तुमने बड़ी अच्छी नीति कही। भाई! राजमद सबसे कठिन है॥ ३॥

जो अँचवत माँतहिं नृप तेई। नाहिन साधु सभा जेहि सेई॥
सुनहु लषन भल भरतसरीसा। बिधिप्रपंच महँ सुना न दीसा॥४॥

जिन राजाओं ने साधु-सभा का सेवन नहीं किया वे राजमद का आचमन लेते ही (राज्य पाते ही) मतवाले हो जाते हैं। हे लक्ष्मण! सुनो, ब्रह्मा की सृष्टि भर में भरत के समान और किसी को न तो सुना न देखा ॥ ४ ॥

दो०—भरतहि होइ न राजमदु बिधि-हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि काँजीसीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ ॥२३२॥

भरत को यदि ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर के पद भी मिल जायँ, तो भी राजमद नहीं हो सकता। क्या कभी काँजी की बूँदों से क्षीरसमुद्र फट सकता है? अर्थात् दूध में काँजी की बूँद पड़ते ही वह फट जाता है, पर दूध का समुद्र नहीं फटता। इसी तरह भरत को राज्य मिलने से अभिमान नहीं हो सकता ॥ २३२ ॥

चौ०—तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहि मिलई ॥
गोपद जल बूडहि घटजोनी। सहज छमा बरु छाडइ छोनी ॥१॥

चाहे अन्धकार तरुण (ज्येष्ठ-मध्याह्न के) सूर्य को निगल जाय और आकाश कदाचित् बादलों में समा जाय, (समुद्र को पी जानेवाले) अगस्त्यजी गौ के खुर बराबर जल में डूब जायँ तथा पृथ्वी अपनी स्वाभाविक क्षमा को छोड़ दे ॥ १ ॥

मसकफूँक मकु मेरु उडाई। होइ न नृपमद भरतहि भाई ॥
लषन तुम्हार सपथ पितुआना। सुचि सुबंधु नहिँ भरतसमाना ॥२॥

चाहे मच्छड़ की फूँक से सुमेरु पर्वत उड़ जाय, (इतने न होनेवाले काम हो जायँ) पर हे भाई! भरत को राजमद कभी नहीं हो सकता। हे लक्ष्मण! तुम्हारी सौगन्द और पिताजी की सौगन्द! भरत के समान पवित्र और अच्छा भाई कहीं नहीं ॥ २ ॥

सगुनुषीर अवगुनजलु ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता ॥
भरतु हंस रबि-बंस-तडागा। जनमि कीन्ह गुन-दोष-बिभागा ॥३॥

सद्गुण-रूपी दूध और अवगुण-रूपी जल को मिलाकर ब्रह्मा सृष्टि को रचना करता है। यहाँ सूर्य-वंशरूपी तालाब में भरतरूपी हंस ने जन्म लेकर गुण और दोषों का विभाग कर दिया। अर्थात् जैसे हंस दूध और पानी को अलग कर देता है वैसे ही भरतजी केवल गुणों को ग्रहण कर अवगुणों से अलग रहे ॥ ३ ॥

गहि गुन पय तजि अवगुन वारी। निज जस जगत कीन्हि उँजियारी ॥
कहत भरत-गुन-सील-सुभाऊ। प्रेमपयोधि मगन रघुराऊ ॥४॥

भरत ने अवगुणरूपी जल को छोड़कर गुणरूपी दूध को लेकर अपने यश से संसार में प्रकाश कर दिया। भरतजी के गुण, शील और स्वभाव का वर्णन करते करते रामचन्द्रजी प्रेमसागर में मग्न हो गये ॥ ४ ॥

दो०—सुनि रघु-बर-बानी बिबुध देखि भरत पर हेतु ।
सकल सराहत राम सोँ प्रभु को कृपानिकेतु ॥२३३॥

रामचन्द्रजी की श्रेष्ठ वाणी सुनकर और भरत पर उनका प्रेम देखकर देवता-गण बड़ाई करने लगे कि रामचन्द्र जी के समान दयामय स्वामी और कौन होगा ? ॥ २३३ ॥

चौ०—जौँ न होत जग जनम भरत को। सकल-धरम-धुर धरनि धरत को॥
कवि-कुल-अगम भरत-गुन-गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥१॥

जो जगत् में भरत का जन्म न होता तो पृथ्वी के संपूर्ण धर्म के भार को कौन धारण करता ? हे रघुनाथ ! कविजनों के लिए भी अगम्य (पूर्णरूप से न वर्णन करने योग्य) भरतजी के गुणों की कथा को तुम्हारे बिना और कौन जाने ? ॥ १ ॥

लषनु रामु सिय सुनि सुरबानी। अतिसुखु लहेउ न जाइ बखानी॥
इहाँ भरतु सबसहित सहाये। मंदाकिनी पुनीत नहाये॥२॥

देवतों की ऐसी वाणी को सुनकर लक्ष्मण, रामचन्द्र और सीता ऐसे सुखी हुए, कि कहते नहीं बनता। इधर भरतजी ने सब सहायकों सहित पवित्र मन्दाकिनी में स्नान किया॥२॥

सरितसमीप राखि सब लोगा। माँगि मातु-गुरु-सचिव-नियोगा॥
चले भरत जहँ सियरघुराई। साथ निषादनाथु लघुभाई॥३॥

भरतजी सब लोगों को मन्दाकिनी नदी के पास ठहराकर तथा माता, गुरु और मन्त्री से आज्ञा लेकर निषादराज और शत्रुघ्न को साथ लेकर जहाँ सीता रामचन्द्र हैं वहीं चले॥३॥

समुझि मातुकरतब सकुचाहीँ। करत कुतरक कोटि मन माहीँ॥
रामु-लषनु-सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिँ तजि ठाऊँ॥४॥

भरतजी माता (केकयी) की करतूत को समझकर सकुचाने लगे, मन में करोड़ों तरह के कुतर्क करने लगे। वे सोचने लगे कि श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी मेरा नाम सुनकर, स्थान छोड़, उठकर कहीं दूसरी जगह न चले जायँ ! ॥ ४ ॥

दो०—मातु मते महँ मानि मोहि जो किछु कहहिँ सो थोर।
अघअवगुन छमि आदरहिँ समुझि आपनी ओर॥२३४॥

मुझे माता (केकयी) के मत में मानकर वे जो कुछ कहें वही थोड़ा है। यदि वे मेरे पाप और अवगुणों को क्षमाकर मेरा आदर करेंगे तो अपनी ओर देखकर (अपनी बड़ाई का ध्यान करके, मुझे अच्छा समझ कर नहीं) ॥ २३४ ॥

चौ०—जौँ परिहरहिँ मलिन मन जानी। जौँ सनमानहिँ सेवक मानी॥
मोरे सरन राम की पनहीँ। राम सुस्वामि दोष सब जनहीँ॥१॥

यदि वे मेरा त्याग करें तो यह समझना चाहिए कि मुझे कलुषित चित्त का समझ कर उन्होंने ऐसा किया है और यदि आदर करें तो यह समझना चाहिए कि उन्होंने केवल अपना दास समझ कर ऐसा किया है। प्रत्येक दशा में मुझे तो रामचन्द्रजी के पदत्राण (जूतियाँ) ही की शरण है। रामचन्द्र जी तो अच्छे स्वामी हैं, दोष सब सेवक का ही है॥ १॥

जग जसभाजन चातक मीना। नेम प्रेम निज निपुन नबीना॥

अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेह सिथिल सब गाता॥२॥

जगत् में पपीहा और मछली दोनों यश के पात्र हैं। पपीहा (स्वाति-बिन्दु के सिवा और पानी न पीने के) अपने नियम को और मछली अपने प्रेम को नित नया बना रखने में चतुर हैं। भरतजी मन में ऐसा ही सोचते हुए रास्ते में चले जाते हैं। उनके सब अंग संकोच और प्रेम से शिथिल पड़ गये हैं॥ २॥

फेरति मनहुँ मातुकृत खोरी। चलत भगतिबल धीरजधोरी॥

जब समुझत रघुनाथसुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥३॥

माता की की हुई दुष्टता मानो भरतजी को पीछे को हटाती है, पर अपने भक्तिबल से धीर होकर वे आगे चलते हैं। जब रघुनाथजी के स्वभाव को भरतजी समझते हैं तब उनका पैर जल्दी जल्दी पड़ने लगता है॥ ३॥

भरतदसा तेहि अवसर कैसी। जलप्रवाह जल-अलि-गति जैसी॥

देखि भरत कर सोचु सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥४॥

उस अवसर पर भरतजी की दशा कैसी हुई? जैसी पानी के प्रवाह में पानी के काले कीड़े की होती है। उस समय भरतजी का सोच और स्नेह देखकर निषाद गुह विदेह हो गया, अर्थात् अपनी देह की सुध-बुध भूल गया॥ ४॥

दो०—लगे होन मंगल सगुन सुनि गुनि कहत निषादु।

मिटिहि सोच होइहि हरषु पुनि परिनाम बिषादु॥२३५॥

इतने में मङ्गल शकुन होने लगे। उन्हें सुनकर और समझकर निषाद ने कहा कि आपका सोच मिटेगा और आनन्द हो जायगा पर अन्त में फिर दुःख ही होगा॥ २३५॥

चौ०—सेवकबचन सत्य सब जाने। आस्रमनिकट जाइ नियराने॥

भरत दीख बन-सैल-समाजू। मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू॥१॥

भरतजी ने सेवक (भील) के सब वचनों को सत्य जाना और वे आश्रम के निकट जा पहुँचे। वहाँ के वन, पर्वत और समाज को देखकर भरतजी ऐसे प्रसन्न हुए मानों कोई भूखा अच्छा अन्न पा गया हो॥ १॥

ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिविध ताप पीडित ग्रहभारी॥
जाइ सुराज सुदेस सुखारी। होहिँ भरतगति तेहि अनुहारी॥२॥

जैसे कहीं की प्रजा ईति[1], भय और खोटे ग्रह इन तीनों प्रकार के दुःखों से पीड़ित होकर किसी अच्छे देश और अच्छे राज्य में जाकर सुखी हो जाय ठीक उसी के अनुसार इस समय भरतजी की गति हो रही है[2]। अर्थात् केकयी, मन्थरा दोनों की कुबुद्धि और दशरथ की मृत्यु से पीड़ित अयोध्या की प्रजा चित्रकूट-रूपी सुदेश में जा प्रसन्न हुई॥ २॥

रामबास बनसंपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥३॥

रामचन्द्रजी के निवास से वन की सम्पत्तियाँ ऐसी शोभित हुईं मानों अच्छे राजा को पाकर प्रजा सुखी हो। सुहावना वन ही पवित्र देश है और विवेक उसका राजा तथा वैराग्य मंत्री है॥ ३॥

भट जमनियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ। रामचरनआस्रित चित चाऊ॥४॥

यम-नियमादि वहाँ के योद्धा हैं, पर्वत राजधानी है और शान्ति तथा सुबुद्धि सुन्दर पवित्र रानियाँ हैं। वहाँ का श्रेष्ठ राजा सब अङ्गों से सम्पन्न है और रामचन्द्रजी के चरणों के आश्रित रहने से उसका चित्त प्रसन्न रहता है॥ ४॥

दो०—जीति मोह-महि-पालु-दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राज्य पुर सुख संपदा सुकालु॥२३६॥

विवेकरूपी राजा, मोहरूपी राजा को फ़ौज समेत जीत कर निष्कंटक राज्य कर रहा है। उसके पुर (राजधानी) में सुख, सम्पत्ति और सुकाल रहता है॥ २३६॥

चौ०—बनप्रदेस मुनिबास घनेरे। जनु पुर नगर गाउँगन खेरे॥
बिपुल बिचित्र बिहँग मृग नाना। प्रजासमाज न जाइ बखाना॥१॥

१—ईति सात हैं—बहुत पानी बरसना, बिलकुल न बरसना, चूहे (जङ्गली चूहे, जो खेत खा जाते हैं), टीडी, तोता, अपने ही मित्र शत्रु हो जायँ, दूसरा शत्रु चढ़ आवे।

२—अयोध्या की राज्यरूपी खेती में, जो रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक के समय पक चुकी थी, दुर्मति-रूप ईतियाँ लग गईं, जिससे वह खेती नष्ट हो गई। राम-लक्ष्मण-सीता का वियोग तीन तरह का ताप हुआ, अथवा ईति और भीति मन्थरा और सरस्वती (जो मन्थरा की बुद्धि भ्रष्ट कर गई थीं) हुईं और भारी ग्रह साढ़े साती शनैश्चर का फल दशरथ की मृत्यु हुई। इन दुःखों से भागी हुई प्रजा चित्रकूट-रूपी अच्छा देश पा गई।

वन के छोटे छोटे भाग और उनमें बहुत-से मुनियों के निवास हैं, वे ही मानों पुर (शहर), नगर (क़स्बे), गाँव (देहात) और खेड़े (मौजे) हैं। वहाँ तरह तरह के विचित्र पत्ती और मृग जो हैं वे ही मानों प्रजाओं का समाज है, जिनका वर्णन करते नहीं बनता ॥ १ ॥

खँगहा करि हरि बाघ बराहा। देखि महिष बृष साजु सराहा ॥
बयरु बिहाय चरहिँ एक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा ॥२॥

गैंडा, हाथी, सिंह, बाघ, सूअर, (जङ्गली) भैंसे, बैल इनका समाज (टोली) सराहने योग्य है। ये सब पशु आपस के वैरभाव को छोड़कर जहाँ तहाँ एक साथ चरते हैं। ये ही मानों चतुरङ्गिनी सेना है ॥ २ ॥

झरना झरहिँ मत्तगज गाजहिँ। मनहुँ निसान बिबिध बिधि बाजहिँ ॥
चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदितमन ॥३॥

वहाँ पानी के झरने झरते हैं और मतवाले हाथी चिंघाड़ते हैं। वे ही मानों वहाँ अनेकों प्रकार के निशान (डंके) बज रहे हैं। चकवा, चकोर, पपीहा, तोता, कोयलों के झुंड और हंस प्रसन्नचित्त होकर सुन्दर बोल रहे हैं ॥ ३ ॥

अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा ॥
बेलि बिटप तृन सफल सफूला। सब समाजु मुद-मंगल-मूला ॥४॥

भौंरों के झुण्ड गाते और मोर नाचते हैं, मानों अच्छे राज्य में चारों ओर मङ्गल हो रहा है। ताल, वृक्ष, घास सब फल-फूल रहे हैं। सब समाज (ठाठबाट) आनन्द और मङ्गल का मूल हो रहा है ॥ ४ ॥

दो०—रामसैल सोभा निरखि भरतहृदय अति प्रेमु।
तापस तपफलु पाइ जिमि सुखी सिराने नेमु ॥२३७॥

जैसे तपस्वी अपना नियम समाप्त होने पर तपस्या का फल पाकर सुखी होता है, वैसे ही राम-शैल (चित्रकूट, जहाँ रामचन्द्रजी बसते थे) की शोभा को देखकर भरतजी के हृदय में अत्यन्त प्रेम हुआ ॥ २३७ ॥

चौ०—तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई ॥
नाथ देखिअहि बिटप बिसाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला ॥१॥

तब केवट (गुह) दौड़कर ऊँचे पर चढ़ गया और भुजा उठाकर भरत से कहने लगा—हे नाथ! पाकरों (पिलखन), जामुनों, आमों और तमालों के विशाल वृक्ष देखिए ॥ १ ॥

तिन्ह तरुबरन्ह मध्य बटु सोहा। मंजु बिसाल देखि मनु मोहा ॥
नील सघन पल्लव फल लाला। अबिचल छाँह सुखद सब काला ॥२॥

उन श्रेष्ठ वृक्षों के बीच में एक सुन्दर विशाल बड़ का पेड़ शोभित हो रहा है, जिसको देखकर मन मोहित हो जाता है। उसमें पत्ते घने और नीले रंग के तथा लाल लाल फल लगे हैं। उसकी अखण्ड छाया सब मौसिमों में सुख देनेवाली है ॥ २ ॥

मानहुँ तिमिर-अरुन-मय रासी। बिरची बिधि सकेलि सुखमासी ॥
ए तरु सरितसमीप गोसाईं। रघुबर परनकुटी जहँ छाईं ॥३॥

उस वृक्ष को देख ऐसा जान पड़ता है मानों ब्रह्मा ने अन्धकार और ललाई दोनों की राशि (ढेरी) बटोर कर शोभा का ढेर सा लगा दिया हो। हे गुसाईं भरत! यह वृक्ष नदी के पास है, जहाँ रामचन्द्रजी की पर्णकुटी छाई हुई है ॥ ३ ॥

तुलसी तरुबर बिबिध सुहाये। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लषन लगाये ॥
बटछाया बेदिका बनाई। सिय निज पानि-सरोज सुहाई ॥४॥

कहीं कहीं लक्ष्मणजी के लगाये हुए और कहीं कहीं सीताजी के लगाये हुए तुलसी के तरह तरह के पेड़ शोभित हो रहे हैं। इसी बड़ की छाया में सीताजी ने अपने हस्तकमलों से एक सुन्दर वेदी बनाई है ॥ ४ ॥

दो०—जहाँ बैठि मुनि-गन-सहित नित सिय राम सुजान।
सुनहिँ कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान ॥२३८॥

जिस पर ऋषि-मण्डली समेत सुज्ञ सीता-रामजी बैठकर नित्य शास्त्र, वेद, पुराण और इतिहासों की कथाओं को सुनते हैं ॥ २३८ ॥

चौ०—सखाबचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी ॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई ॥१॥

मित्र (गुह) के वचनों को सुनकर और उन वृक्षों को देखकर भरतजी के हृदय में प्रेम उमड़ने लगा और आँखों में जल भर आया। दूर से ही दोनों भाई प्रणाम करते हुए चले। उनकी प्रीति का वर्णन करने में सरस्वती भी सकुचाती है ॥ १ ॥

हरषहिँ निरखि राम-पद-अंका। मानहुँ पारसु पायेउ रंका ॥
रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिँ। रघु-बर-मिलन-सरिस सुख पावहिँ ॥२॥

रामचन्द्रजी के चरणों के चिह्न देखकर वे दोनों भाई ऐसे प्रसन्न होते थे, मानों किसी निर्धन को पारस पत्थर मिल गया हो। उन चरण-चिह्नों की धूल को वे अपने मस्तक पर चढ़ाते, हृदय से और नेत्रों से लगाते तथा उससे रामचन्द्रजी के मिल जाने के बराबर सुख पाते थे ॥ २ ॥

देखि भरतगति अकथ अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जडजीवा॥
सखहिँ सनेहबिबस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरषहिँ फूला॥३॥

इस तरह अत्यन्त अकथनीय (जिसका वर्णन न हो सके) भरतजी की दशा देखकर वन के पशु, पक्षी और जड़ (पत्थर पेड़ आदि) चेतन सभी प्रेम में मग्न हो गये। मित्र गुह भी ऐसा प्रेम के वश हो गया कि वह रास्ता भूल गया, तब देवतों ने उन्हें रास्ता बतलाकर उन पर फूल बरसाये॥ ३॥

निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहज सनेह सराहन लागे॥
होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥४॥

इस प्रेम को सिद्ध और साधक लोग भी देखकर उस स्वाभाविक स्नेह की प्रशंसा करने लगे। वे कहने लगे कि जो इस पृथ्वी तल पर भरतजी का भाव (प्रेम या जन्म) न होता तो जड़ को चेतन और चेतन को जड़ कौन कर देता? (पीछे कहा गया है कि भरत के प्रेम से पत्थर भी पिघल जाते थे। यह पिघलना चेतन का काम है, और ऋषि-मुनि आदि शिथिल (जड़ से) हो जाते थे)॥ ४॥

दो०—प्रेमु अमिय मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटे सुर-साधु-हित कृपासिंधु-रघुबीर॥२३९॥

उस अवसर पर वियोग-रूपी मन्दराचल को भरत-रूपी गहरे समुद्र में डालकर, देवतों और सज्जनों के कल्याण के लिए, उस समुद्र को मथनकर दयासागर रामचन्द्रजी ने प्रेमरूपी अमृत प्रकट किया। अर्थात् जिस तरह क्षीरसागर मथने पर अमृत प्रकट हुआ था, उसी तरह यहाँ प्रेमामृत प्रकट हुआ॥ २३९॥

चौ०—सखासमेत मनोहर जोटा। लखेउ न लषन सघन बन ओटा॥
भरत दीख प्रभु आस्रमु पावन। सकल-सु-मंगल-सदन सुहावन॥१॥

मित्र सहित इस मनोहर जोड़ी (भरत-शत्रुघ्न) को लक्ष्मणजी ने सघन वन की ओट में नहीं देखा। भरतजी ने पवित्र करनेवाले प्रभु रामचन्द्रजी के आश्रम को देखा, जो सम्पूर्ण शुभ-मङ्गलों का स्थान और सुहावना था॥ १॥

करत प्रबेस मिटे दुखदावा। जनु जोगी परमारथ पावा॥
देखे भरत लषन प्रभु आगे। पूछे बचन कहत अनुरागे॥२॥

उस आश्रम में प्रवेश करते ही भरतजी का दुःख-दाह मिट गया, मानों कोई योगी परमार्थ-सिद्धि पा गया हो। भरतजी ने देखा कि रामचन्द्रजी के आगे लक्ष्मणजी खड़े, पूछने पर, प्रेम-युक्त वचनों से उत्तर दे रहे हैं॥ २॥

सीस जटा कटि मुनिपट बाँधे। तून कसे कर सर धनु काँधे॥
बेदी पर मुनि-साधु-समाजू। सीयसहित राजत रघुराजू॥३॥

उनके सिर पर जटा है और कमर में मुनियों का वस्त्र बँधा हुआ है, तरकस कसा हुआ है, हाथ में बाण और कंधे पर धनुष है। वेदी पर मुनियां तथा महात्माओं की मण्डली बैठी है। उन्हीं में सीताजी समेत रामचन्द्रजी भी शोभित हैं॥ ३॥

बलकल बसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनिबेषु कीन्ह रतिकामा॥
करकमलनि धनु सायकु फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥४॥

श्याम शरीर में बक्कलों के वस्त्र पहने और जटाओं को धारण किये हुए, सीताजी के साथ, वे ऐसे मालूम होते थे मानों रति और कामदेव ने मुनि का वेष धारण किया हो। वे हाथों में धनुष-बाण लिये हुए घुमा रहे हैं,। जिनकी ओर हँसकर देख लेते हैं उनके जी की जलन मिट जाती है॥ ४॥

दो०—लसत मंजु मुनि-मंडली-मध्य सीय रघुचंदु।
ग्यानसभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु॥२४०॥

उस मनोहर मुनि-मण्डली के बीच में सीताजी और रघुकुल-चन्द्र रामचन्द्रजी ऐसे प्रकाशमान हो रहे हैं, मानों ज्ञान-सभा के बीच में भक्ति और सच्चिदानंद (परब्रह्म) शरीर धारण कर विराजमान हों॥ २४०॥

चौ०—सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष-सोक-सुख-दुख-गन॥
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥१॥

भरतजी, छोटे भाई शत्रुघ्न और सखा गुह समेत प्रसन्न-चित्त होकर हर्ष, शोक, सुख और दुःख आदि को भूल गये। 'हे नाथ! रक्षा करो। हे गुसाईं! रक्षा करो।' ऐसा कहते हुए वे पृथ्वी पर दण्ड के समान गिर पड़े (उन्होंने साष्टाङ्ग प्रणाम किया)॥ १॥

बचन सप्रेम लषन पहिचाने। करत प्रनामु भरत जिय जाने॥
बंधुसनेह सरस एहि ओरा। इत साहिबसेवा बरुजोरा॥२॥

वे प्रेम समेत कहे हुए वचन लक्ष्मणजी ने पहिचाने और जी में यह बात जान ली कि भरतजी प्रणाम कर रहे हैं। अब एक ओर तो रसीला भरतजी के प्रति भ्रातृ-प्रेम और दूसरी ओर स्वामी रामचन्द्रजी की सेवा का महत्त्व॥ २॥

मिलि न जाइ नहिँ गुदरत बनई। सुकबि लषनमन की गति भनई॥
रहे राखि सेवा पर भारू। चढी चंग जनु खैंच खेलारू॥३॥

कहत सप्रेम नाइ महि माथा ।
भरत प्रनाम करत रघुनाथा ॥—पृष्ठ ५६५

उस अवसर पर लक्ष्मणजी से न मिलते हो बनता है, न छोड़ते ही। अन्त में लक्ष्मणजी ने सेवा-धर्म को ही गुरुत्व दिया (सेवा में ही लगे रहे)। अच्छे कवि लक्ष्मणजी के चित्त की उस समय की गति का यों वर्णन करते हैं कि जैसे कोई खिलाड़ी (पतङ्ग उड़ानेवाला) चढ़ी हुई पतङ्ग को खींचने लगे वैसी ही गति लक्ष्मणजी के मन की है। (पतङ्गवाले को बढ़ी हुई पतङ्ग को खींचने में जिस प्रकार ज़ोर पड़ता है उसी प्रकार लक्ष्मणजी को अपने बढ़े हुए भ्रातृप्रेम को दबाने में श्रम पड़ा)॥ ३॥

कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥
उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥४॥

फिर लक्ष्मणजो पृथ्वो पर माथा झुकाकर प्रेम सहित निवेदन करने लगे कि हे रघुनाथ! भरतजो प्रणाम कर रहे हैं। इस बात को सुनते ही रामचन्द्रजी प्रेम के मारे अधीर (उतावले) होकर उठे। उस समय कहीं तो डुपट्टा गिरा, कहीं तरकस और कहीं धनुष-बाण॥ ४॥

दो०—बरबस लिये उठाइ उर लाये कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहिँ अपान॥२४१॥

कृपानिधान रामचन्द्रजी ने भरतजी को ज़ोर से उठाकर छाती से लगा लिया। उस समय भरत और रामचन्द्रजी के मिलाप को देखकर सभी अपने को भूल गये, अर्थात् मुग्ध होकर मिलाप ही देखते रह गये॥ २४१॥

चौ०—मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कवि-कुल-अगम करम-मन-बानी॥
परम-प्रेम-पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥१॥

जिस मिलाप की प्रीति कर्म, मन और वाणी से जानने लायक़ नहीं है, वह कविगणों से कैसे वर्णन करते बने! दोनों भाई भरत और रामचन्द्रजी मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार को भूलकर परम-प्रेम में भर गये॥ १॥

कहहु सुप्रेमु प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई॥
कबिहिँ अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा॥२॥

कहिए, उस श्रेष्ठ प्रेम को कौन प्रकट करे? कवि को बुद्धि किसकी छाया का अनुसरण करे अर्थात् किसकी उपमा दे? कवि को तो अक्षरों के अर्थ का ही सच्चा बल होता है, जैसे नट को ताल की गति के अनुसार ही नाचना पड़ता है। अर्थात् जहाँ तक शब्दों की अर्थशक्ति होती है वहीं तक कवि चल सकता है। जो बात शब्दों में आ ही नहीं सकती उसका वर्णन वह कैसे कर सकता है)॥ २॥

अगम सनेहु भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि-हरि-हर को॥
सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती। बाजु सुराग कि गाँडरताँती॥३॥

भरत और रामचन्द्रजी का स्नेह ऐसा अथाह है कि वहाँ ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का भी मन न जा सके! उस प्रेम का वर्णन कुबुद्धिवाला मैं किस तरह करूं? कहीं गाँडर घास

(कुश की तरह की एक घास) की ताँत से भी अच्छा राग बज सकता है ? (कदापि नहीं, वह चमड़े ही की चाहिए)॥ ३ ॥

मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की। सुरगन सभय धकधकी धरकी ॥
समुझाये सुरगुरु जड जागे। बरषि प्रसून प्रसंसन लागे ॥४॥

भरत और रामचन्द्रजी का मिलाप देखकर डर के मारे देवताओं की छाती धड़कने लग गई[1]। जब देवगुरु बृहस्पतिजी ने उन्हें समझाया तब उन मूर्खों[2] को ज्ञान हुआ, फिर वे फूल बरसाकर प्रशंसा करने लगे ॥ ४ ॥

दो०—मिलि सप्रेम रिपुसूदनहिँ केवटु भेँटेउ राम।
भूरि भाय भेँटे भरत लछिमन करत प्रनाम ॥२४२॥

फिर रामचन्द्रजी प्रेम के साथ शत्रुघ्नजी से मिलकर केवट (गुह) से मिले। इसके बाद बड़े भाव के साथ लक्ष्मणजी प्रणामकर भरतजी से मिले ॥ २४२ ॥

चौ०—भेँटेउ लषन ललकि लघु भाई। बहुरि निषादु लीन उर लाई ॥
पुनि मुनिगन दुहुँ भाइन्ह बंदे। अभिमत आसिष पाइ अनंदे ॥१॥

फिर लक्ष्मणजी लपककर छोटे भाई शत्रुघ्नजी से मिले। फिर उन्होंने गुह को छाती से लगा लिया। फिर दोनों भाइयों ने ऋषियों को नमस्कार किया। उनसे इच्छित आशीर्वाद पाकर वे प्रसन्न हुए ॥१॥

सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय-पद-पदुम-परागा ॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाये। सिर कर कमल परसि बैठाये ॥२॥

फिर छोटे भाई शत्रुघ्न सहित भरतजी प्रेम में उमँगकर सीताजी के चरण-कमलों की धूल माथे पर चढ़ाकर बारबार प्रणाम करने लगे, तब सीताजी ने उन्हें उठा लिया और उनके मस्तक को अपने हस्तकमल से स्पर्शकर उन दोनों को बिठाया ॥ २ ॥

सीय असीस दीन्हि मन माहीँ। मगन सनेह देहसुधि नाहीँ ॥
सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता ॥३॥

सीताजी ने मन ही मन आशीर्वाद दिया, क्योंकि वे स्नेह में मग्न हो गईं इसलिए उन्हें शरीर की सुध-बुध नहीं रही। इस तरह सीताजी को सब प्रकार सानुकूल (प्रसन्न) देखकर

१—भरतजी और रामचन्द्रजी दोनों का निस्सीम प्रेम देखकर देव-गणों को यह डर हुआ कि कहीं इस प्रेम ही प्रेम में रामचन्द्रजी अयोध्या न लौट जायँ और राक्षस-वध धरा ही रह जाय। देवगुरु ने उन्हें ठीक समझाया, सत्य प्रतिज्ञा आदि का निश्चय कराया, तब सबको सन्तोष हुआ। २—देवतों को मूर्ख इसलिए कहा कि अब भी उन्होंने रामचन्द्रजी के स्वरूप को नहीं पहचाना।

भरतजी निश्चिन्त हो गये और उनके हृदय का खोटा डर (कि मुझ पर दया-दृष्टि न करेंगे) मिट गया ॥ ३ ॥

कोउ कछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मनु निज गति छूछा॥
तेहि अवसर केवटु धीरजु धरि। जोरि पानि बिनवत प्रनामु करि॥४॥

उस समय न तो कोई कुछ कहता है, न कोई कुछ पूछता है। सबका मन प्रेम से भरा हुआ है, इसी लिए वह अपनी गति (चंचलता) से खाली है अर्थात् प्रेम-भरे मन की गति रुक गई। उस अवसर पर केवट (गुह) धीरज धर कर और हाथ जोड़ प्रणाम कर प्रार्थना करने लगा—॥ ४ ॥

दो०—नाथ साथ मुनिनाथ के मातु सकल पुरलोग।
सेवक सेनप सचिव सब आये बिकल बियोग॥२४३॥

हे नाथ! मुनिनाथ (वसिष्ठजी) के साथ आपकी सब मातायें, नगर-निवासी सब लोग, सेवक, सेनापति, मन्त्री सभी वियोग से व्याकुल आये हैं॥ २४३ ॥

चौ०—सीलसिंधु सुनि गुरुआगवनू। सियसमीप राखे रिपुदवनू॥
चले सबेग राम तेहि काला। धीर-धरम-धुर दीनदयाला॥१॥

शील के समुद्र, धीरज के धुरंधर, दीनदयाल रामचन्द्रजी गुरु का आगमन सुनकर सीताजी के पास शत्रुघ्न को रखकर उसी समय वेग के साथ चल पड़े॥ १ ॥

गुरुहि देखि सानुज अनुरागे। दंडप्रनाम करन प्रभु लागे॥
मुनिबर धाइ लिये उर लाई। प्रेम उमँगि भेंटे दोउ भाई॥२॥

लक्ष्मणजी सहित प्रभु रामचन्द्रजी गुरु को देखकर प्रेम में भर गये और दंड-प्रणाम करने लगे। मुनिवर वसिष्ठजी ने दौड़कर उन्हें छाती से लगा लिया और वे दोनों भाइयों से प्रेम में भर कर मिले॥ २ ॥

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंडप्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥३॥

फिर केवट ने प्रेम से पुलकित हो, अपना नाम उच्चारण कर, दूर ही से वसिष्ठजी को दंडवत् प्रणाम किया। ऋषि वसिष्ठजी रामसखा गुह को भूमि पर से उठाकर उससे जबरदस्ती मिले, मानों जमीन पर गिरे हुए स्नेह को उन्होंने समेट लिया हो। (प्रेम की असीमता से गुह को यह भान नहीं कि मैं तो वसिष्ठजी के साथ ही आया हूँ)॥ ३ ॥

रघुपति - भगति सुमंगल - मूला। नभ सराहिँ सुर बरिषहिँ फूला॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड बसिष्ठसम को जग माहीं॥४॥

उस समय आकाश में स्थित देवता शुभ मङ्गल की मूल, रामचन्द्रजी की भक्ति को बड़ाई कर फूल बरसाने लगे। वे कहने लगे कि इस (केवट) के बराबर बिलकुल नीच कोई नहीं और संसार में वसिष्ठजी से बड़ा कौन है ? ॥ ४ ॥

दो०—जेहि लखि लषनहुँ तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ ।
सो सीता-पति-भजन को प्रगट प्रतापप्रभाउ ॥२४४॥

जिस केवट को देखकर मुनिराज (वसिष्ठजी) लक्ष्मणजी से भी अधिक प्रेम से मिले। यह सब सीता-पति रामचन्द्रजी के भजन के प्रताप का साक्षात् प्रभाव है ॥ २४४ ॥

चौ०—आरत लोगु राम सब जाना । करुनाकर सुजान भगवाना ॥
जो जेहि भाय रहा अभिलाखी । तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी ॥ १ ॥

दया की खान, चतुर भगवान् रामचन्द्र ने सब लोगों को आर्त्त (दुखी) जान लिया और फिर जो जिस भाव से चाहता था, उसकी वैसी ही इच्छा उन्होंने पूर्ण की ॥ १ ॥

सानुज मिलि पल महुँ सब काहू । कीन्ह दूरि दुखु-दारुन-दाहू ॥
यह बडि बात राम कै नाहीं । जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं ॥२॥

पल भर में लक्ष्मण सहित रामचन्द्रजी सबसे मिले और उन्होंने उनको कठोर दुःख की जलन दूर कर दी। यह (पल भर में हज़ारों से मिलना) रामचन्द्रजी के लिए कोई बड़ी बात नहीं है, जैसे एक करोड़ घड़े रक्खे जायँ तो उन सबमें एक ही क्षण में सूर्य की छाया पड़ जाती है (वैसे ही रामचन्द्रजी पल भर में सबसे मिल लिये) ॥ २ ॥

मिलि केवटहि उमगि अनुरागा । पुरजन सकल सराहहिं भागा ॥
देखीं राम दुखित महतारीं । जनु सुबेलि अवलीं हिम मारीं ॥३॥

अयोध्यावासी लोग प्रेम में उमँगकर केवट से मिले और उसके भाग्य की बड़ाई करने लगे। फिर रामचन्द्रजी ने माताओं को ऐसी दुःख-भरी देखा, मानों किसी अच्छी बेलि की श्रेणी को पाला मार गया हो ॥ ३ ॥

प्रथम राम भेंटी कैकेई । सरल सुभाय भगति मति भेई ॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी । काल करम बिधि सिर धरि खोरी ॥४॥

रामचन्द्रजी पहले सरलस्वभाव तथा भक्तिपूर्ण बुद्धि से केकयी से मिले। उनके पाँवों में गिरकर फिर काल, कर्म और विधाता के माथे दोष मढ़ कर उन्होंने उन्हें खूब समझाया ॥ ४ ॥

दो०—भेंटी रघुबर मातु सब करि प्रबोधु परितोषु ।
अंब ईस आधीन जगु काहु न देइय दोषु ॥२४५॥

फिर रामचन्द्रजी सब माताओं से मिले और उन्होंने उन्हें इस प्रकार समझा कर सन्तुष्ट कर दिया कि हे माता! सम्पूर्ण जगत् ईश्वर के अधीन है, वह चाहे सो करे, किसी को कुछ दोष नहीं देना चाहिए ॥ २४५ ॥

चौ०—गुरु-तिय-पद बंदे दुहुँ भाई। सहित बिप्रतिय जे सँग आईं ॥
गंग-गौरि-सम सब सनमानी। देहिँ असीस मुदित मृदुबानी ॥१॥

फिर जो ब्राह्मणों की स्त्रियाँ संग में आई थीं उन समेत गुरुजी की स्त्री (अरुंधती) के चरणों में दोनों भाइयों ने प्रणाम किया और उन सबका गंगा तथा गौरी के समान सम्मान किया। वे सब प्रसन्न होकर कोमल वाणी से आशीर्वाद देने लगीं ॥ १ ॥

गहि पद लगे सुमित्राअंका। जनु भैंटी संपति अति रंका ॥
पुनि जननीचरननि दोउ भ्राता। परे प्रेम ब्याकुल सब गाता ॥२॥

फिर वे दोनों सुमित्राजी के पाँव पकड़कर उनकी गोद में ऐसे लिपटे, मानों किसी अति दरिद्री को सम्पत्ति मिल गई हो। फिर दोनों भाई माता कौसल्याजी के चरणों में गिर पड़े। प्रेम के मारे उनके सब अंग शिथिल हो गये ॥ २ ॥

अति अनुराग अंब उर लाये। नयन सनेह सलिल अन्हवाये ॥
तेहि अवसर कर हरष बिषादू। किमि कबि कहइ मूक जिमि स्वादू ॥३॥

माता कौसल्या ने बड़े प्रेम के साथ उन्हें छाती से लगा लिया और नेत्रों में से बहे हुए प्रेम के आँसुओं से उन दोनों को नहला दिया। उस समय के आनन्द और दुःख को कवि किस तरह कह सकता है? जैसे गूँगा किसी चीज़ के स्वाद को जानता तो है, पर कह नहीं सकता, यही दशा इस जगह कवि की है ॥ ३ ॥

मिलि जननिहिँ सानुज रघुराऊ। गुरुसन कहेउ कि धारिय पाऊ ॥
पुरजन पाइ मुनीस नियोगू। जल थल तकि तकि उतरे लोगू ॥ ४ ॥

लक्ष्मण समेत रामचन्द्रजी ने माताओं से मिलकर गुरुजी से प्रार्थना की कि महाराज! चरण धरिए (चलिए)। फिर सब पुरवासी लोग, मुनिराज वसिष्ठजी की आज्ञा पाकर, जल और थल देख देखकर उतरे ॥ ४ ॥

दो०—महिसुर मंत्री मातु गुरु गने लोग लिये साथ।
पावन आस्रमु गवनु किय भरत लषन रघुनाथ ॥२४६॥

ब्राह्मण, मन्त्री, मातायें और गुरु तथा भरत, लक्ष्मण और रामचन्द्रजी पवित्र गिने हुए (मुखिया) लोगों को साथ लिये हुए आश्रम को गये ॥ २४६ ॥

चौ०—सीय आइ मुनि-बर-पग लागी। उचित असीस लही मनमाँगी ॥
गुरुपतिनिहिँ मुनितियन्ह समेता। मिली प्रेमु कहि जाइ न जेता ॥१॥

सीताजी आकर मुनिवर (वशिष्ठजी) के पाँवों पड़ीं और उन्होंने मन-माँगी उचित असोसें पाईं। फिर ऋषियों की स्त्रियों के साथ साथ गुरु की स्त्री से भी वे मिलीं। उनका प्रेम जितना था, उतना कहा नहीं जाता ॥ १ ॥

बंदि बंदि पग सिय सबही के। आसिरबचन लहे प्रिय जी के ॥
सासु सकल जब सीय निहारी। मूँदे नैन सहमि सुकुमारी ॥ २ ॥

सीताजी ने सभी के चरणों को प्रणाम कर अपने जी के प्यारे आशीर्वाद पाये। जब सुकुमारी सीताजी ने सब सासुओं को देखा, तब सहम कर (उनको दीन हीन दशा देखकर) नेत्र बन्द कर लिये ॥ २ ॥

परीं बधिकबस मनहुँ मराली। काह कीन्ह करतार कुचाली ॥
तिन्ह सिय निरखि निपट दुखु पावा। सो सब सहिय जो दैव सहावा ॥ ३ ॥

कौसल्या आदि रानियाँ ऐसी दिखाई पड़ीं मानों हंसिनी वधिक (व्याध) के वश में पड़ी हों। सीताजी मन में सोचने लगीं कि कर्तार (ईश्वर) ने यह क्या कुचाल (बुराई) कर दी। रानियों ने भी सीताजी को देखकर बहुत ही दुख पाया। क्या करें, जो कुछ दैव सहावे वह सहना ही पड़ता है! ॥ ३ ॥

जनकसुता तब उर धरि धीरा। नील-नलिन-लोयन भरि नीरा ॥
मिली सकल सासुन्ह सिय जाई। तेहि अवसर करुना महि छाई ॥४॥

तब जानकीजी हृदय में धीर धरकर, नीले कमल के समान नेत्रों में आँसू भरे हुए, सब सासुओं के पास जाकर मिलीं। उस समय पृथ्वी पर करुणा छा गई ॥ ४ ॥

दो०—लागि लागि पग सबनि सिय भेंटति अति अनुराग।
हृदय असीसहिं प्रेमबस रहिअहु भरी सोहाग ॥ २४७ ॥

सीताजी सबके पाँव पड़ पड़कर बड़े प्रेम से मिलने लगीं। सब सासुएँ प्रेम के बस होकर हृदय से सीताजी को आशीर्वाद देने लगीं कि तुम अखण्ड-सौभाग्यवती रहोगी ॥ २४७ ॥

चौ०—बिकल सनेह सीय सब रानी। बैठन सबहि कहेउ गुरु ग्यानी ॥
कहि जगगति मायिक मुनिनाथा। कहे कछुक परमारथ गाथा ॥१॥

सीताजी और सब रानियाँ स्नेह से व्याकुल हो रही थीं। तब ज्ञानवान् गुरु (वसिष्ठजी) ने उनको बैठ जाने के लिए कहा। फिर मुनिनाथ वसिष्ठजी ने माया से रची हुई संसार-गति का वर्णन कर कुछ परमार्थ की बातें कहीं और ॥ १ ॥

नृप कर सुर-पुर-गवनु सुनावा। सुनि रघुनाथ दुसह दुखु पावा ॥
मरनहेतु निज नेहु बिचारी। भे अति बिकल धीर-धुर-धारी ॥ २ ॥

राजा दशरथ की स्वर्ग-यात्रा सुनाई। यह सुनकर रामचन्द्रजी ने बड़ा ही दुःख पाया। धीरों के धुरंधर रामचन्द्रजी राजा के मरने का कारण अपना स्नेह सोचकर बहुत ही व्याकुल हो गये ॥ २ ॥

कुलिसकठोर सुनत कटुबानी। बिलपत लषन सीय सब रानी ॥
सोक बिकल अति सकल समाजू। मानहुँ राजु अकाजेउ आजू ॥३॥

वज्र के समान कठोर कड़वो वाणी (राजा की स्वर्ग-यात्रा) सुनकर लक्ष्मण, सीता और सब रानियाँ विलाप करने लगीं। सारा समाज अत्यंत शोक में व्याकुल हो गया, मानों आज ही राजा का देहान्त हुआ है ॥ ३ ॥

मुनिबर बहुरि राम समुझाये। सहित समाज सुरसरित न्हाये ॥
ब्रत निरंबु तेहि दिन प्रभु कीन्हा। मुनिहु कहे जल काहु न लीन्हा ॥४॥

मुनिवर वसिष्ठजी ने फिर रामचन्द्रजी को समझाया, तब उन्होंने समाज सहित गंगाजी में स्नान किया। उस दिन प्रभु रामचन्द्रजी ने और सबने भी निर्जल व्रत किया। वसिष्ठजी ने कहा तो भी किसी ने जल नहीं पिया ॥ ४ ॥

दो०—भोर भये रघुनंदनहिं जो मुनि आयसु दीन्ह।
स्रद्धा-भगति-समेत प्रभु सो सबु सादर कीन्ह ॥ २४८ ॥

दूसरे दिन सबेरा होने पर मुनि वसिष्ठजी ने प्रभु रामचन्द्रजी को जो आज्ञा दी, वह उन्होंने श्रद्धा-भक्ति के साथ बड़े आदर से की ॥ २४८ ॥

चौ०—करि पितुक्रिया बेद जसि बरनी। भे पुनीत पातक-तम-तरनी ॥
जासु नाम पावक अघतूला। सुमिरत सकल-सु-मंगल-मूला ॥१॥

जैसो वेद में विधि है, तदनुसार उन्होंने पिता को क्रिया (अन्त्येष्टि) की और पातकरूपी अन्धकार के दूर करने के लिए सूर्य-रूप रामचन्द्रजी शुद्ध हुए (सूतक से निवृत्त हुए)। जिनका नाम पापरूपी रुई के लिए अग्निरूप है, जिनका स्मरण शुभ मंगल का मूल है ॥ १ ॥

सुद्ध सो भयउ साधु संमत अस। तीरथआवाहन सुरसरि जस ॥
सुद्ध भये दुइ बासर बीते। बोले गुरु सन राम पिरीते ॥ २ ॥

वे भगवान् रामचन्द्र शुद्ध हुए। इस (विषय) में साधुओं (सज्जनों) की सम्मति ऐसो है कि जिस तरह गंगाजी में तीर्थों का आवाहन किया जाय और वे शुद्ध हों, वैसे ही जानो। दो दिन बीत जाने पर रामचन्द्रजी शुद्ध हो गये। फिर वे प्रीति के साथ गुरुजी से कहने लगे—॥२॥

नाथ लोग सब निपट दुखारी। कंद-मूल-फल-अंबु-अहारी ॥
सानुज भरत सचिव सब माता। देखि मोहि पल जिमि जुग जाता ॥३॥

हे नाथ! ये सब लोग यहाँ बहुत ही दुखी हैं। ये कन्द, मूल. फल और जल ही का आहार करते हैं। अनुज शत्रुघ्न सहित भरत, मंत्री और सब माताओं को देख देख मुझे एक एक पल युग के बराबर हो जाता है॥ ३॥

सब समेत पुर धारिय पाऊ। आपु इहाँ अमरावति राऊ॥
बहुत कहेउँ सब कियउँ ढिठाईं। उचित होइ तस करिय गोसाईं॥४॥

इसलिए आप सबको साथ लेकर अयोध्या को पधारिए, क्योंकि आप यहाँ हैं और राजा स्वर्ग में चले गये (अयोध्या सूनी है)। मैंने जो कुछ कहा, बहुत कहा; यह आपके साथ ढिठाई की है। हे गुसाइं! जैसा कुछ उचित हो सो कीजिए॥ ४॥

दो०—धर्मसेतु करुनायतन कस न कहहु अस राम।
लोग दुखित दिन दुइ दरसु देखि लहहु बिस्राम॥२४६॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे रामचन्द्र! आप ऐसा क्यों न कहें? क्योंकि आप धर्म की मर्यादा और दया के स्थान हो। ये सब लोग दुखी थे। दो दिन से आपके दर्शन पाकर विश्राम पा रहे हैं॥ २४९॥

चौ०—रामबचन सुनि सभय समाजू। जनु जलनिधि महँ बिकल जहाजू॥
सुनि गुरुगिरा सु-मंगल-मूला। भयउ मनहुँ मारुत अनुकूला॥१॥

रामचन्द्रजी के वचन सुनकर सारा समाज भयभीत हो गया, मानों बीच समुद्र में कोइ जहाज़ डगमगाने लगा हो। पीछे गुरु वसिष्ठजी की कल्याण-मूलक वाणी सुनकर मानों डूबते जहाज़ की रक्षा के लिए अनुकूल वायु चलने लगी हो॥ १॥

पावन पय तिहुँ काल नहाहीं। जो बिलोकि अघओघ नसाहीं॥
मंगलमूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं हरषि दंडवत करि करि॥२॥

सब लोग पावन पयस्विनी में त्रिकाल-स्नान करते हैं, जिसके दर्शन से पापों के समूह नष्ट हो जाते हैं। मङ्गल-मूर्ति रामचन्द्रजी को दण्डवत् प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक आँखें भर भर देखते हैं॥ २॥

राम-सैल-बन देखन जाहीं। जहँ सुख सकल सकल दुख नाहीं॥
झरना झरहिं सुधासम बारी। त्रि-बिध-ताप-हर त्रिबिध बयारी॥३॥

सब लोग रामचन्द्रजी के पर्वत और वन देखने जाते थे, जहाँ सभी सुख तो हैं पर कोई दु:ख नहीं हैं, जहाँ झरनों से अमृत के समान जल झरता है और त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) तापों को हरनेवाली शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चलती है॥ ३॥

बिटप बेलि तृन अगनित जाती। फल प्रसून पल्लव बहु भाँती॥
सुंदर सिला सुखद तरु छाहीं। जाइ बरनि बन छबि केहि पाहीं॥४॥

वहाँ असंख्य जाति के वृक्ष, लता और घास थी, तथा तरह तरह के फल, फूल और पत्ते थे; सुन्दर शिलायें थीं और वृक्षों की सुखदायी (घनी) छाया थी। उस वन की शोभा किससे वर्णन की जा सकती है ॥ ४ ॥

दो०—सरनि सरोरुह जल बिहँग कूजत गुंजत भृंग।
बैरबिगत बिहरत बिपिन मृग बिहंग बहुरंग ॥२५०॥

तालाबों में कमल खिल रहे हैं, जल के पक्षी अपनी अपनी बोली बोल रहे हैं, भौंरे गूँज रहे हैं और वन में रंग-बिरंगे पक्षी तथा पशु वैररहित होकर विहार कर रहे हैं ॥ २५० ॥

चौ०—कोल किरात भिल्ल बनबासी। मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा सी॥
भरि भरि परनपुटी रचि रूरी। कंद मूल फल अंकुर जूरी ॥१॥

वन के रहनेवाले कोल, किरात और भील मीठे, पवित्र, सुन्दर, स्वादिष्ठ, अमृत के समान कन्द, मूल, फल, अंकुर और गुच्छे इकट्ठे कर सुन्दर सुहावने दोने भर भरकर ॥ १ ॥

सबहि देहिं करि बिनय प्रनामा कहि कहि स्वादुभेद गुन नामा ॥
देहिँ लोग बहु मोल न लेहीँ। फेरत रामदोहाई देहीँ ॥ २ ॥

सबको विनय और प्रणामकर—उन चीज़ों के स्वाद, भेद, गुण और नाम बता बता-कर—देने लगे। वे लोग चीज़ें लेकर उनका बहुत-सा दाम देने लगे तो उन्होंने रामदुहाई कहकर दाम लौटा दिया, अर्थात् लिया नहीं ॥ २ ॥

कहहिं सनेहमगन मृदुबानी। मानत साधु प्रेम पहिचानी ॥
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा। पावा दरसनु रामप्रसादा ॥ ३ ॥

वे वनवासी स्नेह में मग्न होकर कोमल वाणी बोलते हैं, और उनके प्रेम को पहचानकर अवधवासी उन्हें अच्छा मानते हैं। वनवासी कहते हैं कि आप तो पुण्यवान् हैं और हम नीच निषाद हैं; हमने रामचन्द्रजी की कृपा से आप लोगों का दर्शन पाया है ॥ ३ ॥

हमहि अगम अति दरसु तुम्हारा। जस मरुधरनि देव-धुनि-धारा ॥
राम कृपाल निषाद नेवाजा। परिजन प्रजउ चहिय जस राजा ॥४॥

जैसे मरु देश के लिए गंगाजी की धारा दुर्लभ है वैसे ही हम लोगों को आपका दर्शन दुर्लभ है। रामचन्द्रजी दयालु हैं, उन्होंने निषादों पर अनुग्रह किया है। सेवक और प्रजा को भी वैसा ही होना चाहिए, जैसा राजा हो। अर्थात् आप भी हम पर दया रक्खें ॥ ४ ॥

दो०—यह जिय जानि सँकोच तजि करिय छोहु लखि नेहु।
हमहि कृतारथ करन लगि फल तृन अंकुर लेहु ॥२५१॥

आप लोग अपने जी में इस बात को जानकर, संकोच छोड़कर, हमारा स्नेह देखकर दया कीजिए और हमको कृतार्थ करने के लिए फल, तृण तथा अंकुर लीजिए ॥ २५१ ॥

चौ०—तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे। सेवाजोगु न भाग हमारे ॥
देब काह हम तुम्हहि गोसाईं। ईंधनु पात किरात-मिताई ॥१॥

आप प्यारे पाहुने वन में आये हैं। आपको सेवा करने के योग्य हमारे भाग्य नहीं हैं। हे स्वामी! हम आपको क्या दे सकते हैं? भीलों की मित्रता ईंधन (लकड़ी) और पत्तों की होती है ॥ १ ॥

यह हमारि अति बडि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई ॥
हम जड जीव जीव-गन-घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ॥२॥

हमारी यही बड़ी भारी सेवकाई है जो हम कपड़े और बर्तन न चुरा लें! हम मूर्ख लोग हजारों जीवों की हत्या करनेवाले हैं और कुटिल, कुचाली, कुबुद्धि तथा नीच जाति के हैं ॥ २ ॥

पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं ॥
सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ। यह रघु-नंदन-दरस - प्रभाऊ ॥ ३ ॥

हमको पाप करते रात-दिन जाता है, पर न तो कमर में धोती और न पेट भर खाना ही मिलता है। हम लोग स्वप्न में भी कभी नहीं जानते कि धर्मबुद्धि कैसी होती है। जो कुछ हुई है, यह रामचन्द्रजी के दर्शन का प्रभाव है ॥ ३ ॥

जब तें प्रभु-पद-पदुम निहारे। मिटे दुसह-दुख-दोष हमारे ॥
बचन सुनत पुरजन अनुरागे। तिन्ह के भाग सराहन लागे ॥४॥

हमने जब से इन प्रभु के चरण-कमलों का दर्शन पाया, तब से हमारे कठिन दुःख-दोष मिट गये। वनवासियों के इन वचनों को सुनते ही अयोध्या-वासी लोग प्रेम में भर गये और उनके भाग्य को सराहने लगे ॥ ४ ॥

छंद—लागे सराहन भाग सब अनुराग बचन सुनावहीं।
बोलनि मिलनि सिय-राम-चरन-सनेहु लखि सुखु पावहीं ॥
नरनारि निदरहिं नेह निज सुनि कोल भिल्लनि की गिरा।
तुलसी कृपा रघु-बंस-मनि की लोह लेइ नौका तिरा ॥

सब लोग उनके भाग्य की प्रशंसा करने लगे और अनुराग के वचन सुनाने लगे। उन लोगों का बोलना, मिलना, और सीतारामजी के चरणों में उनका स्नेह देखकर वे बड़े सुखी होने लगे। उन कोल-भीलों की वाणी को सुनकर सब नर-नारी अपने स्नेह का निरादर करने लगे

अर्थात् यह कहने लगे कि इनके स्नेह के सामने हमारा स्नेह कुछ भी नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं कि रघुवंश-मणि रामचन्द्रजी की कृपा है कि लोहा नाव को लेकर तिर गया (नाव पर लोहा तो तिरता है, पर लोहे पर नाव का तिरना अचंभे की बात है, जो रामकृपा से ही होती है)॥

सो०—बिहरहिं बन चहुँ ओर प्रतिदिन प्रमुदित लोग सब।
जल ज्यों दादुर मोर भये पीन पावस प्रथम॥२५२॥

सब लोग प्रसन्न चित्त वन में चारों ओर विहार करते (हवा खाते) हैं और ऐसे प्रफुल्ल हो गये जैसे बरसात के आरम्भ में मेंढक और मोर पुष्ट हो जाते हैं॥ २५२॥

चौ०—पुर-नर-नारि मगन अति प्रीती। बासर जाहिँ पलकसम बीती॥
सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥१॥

इस तरह अयोध्यावासी नर-नारी प्रेम में खूब मग्न हो रहे हैं। उनके दिन पल के समान (आनंद में) बीत जाते हैं। सीताजी प्रतिवेष बनाकर (कई सीता होकर) सब सासुओं की एकसी सेवा करने लगीं॥ १॥

लखा न मरम राम बिनु काहू। माया सब सियमाया माहूँ॥
सीय सासु सेवा बस कीन्ही। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्ही॥२॥

इस मर्म को रामचन्द्रजी के सिवा और किसी ने नहीं जाना, क्योंकि सब मायायें सीताजी की माया में निवास करती हैं। सीताजी ने अपनी सेवा से सासुओं को वश में कर लिया। उन्होंने सुख पाकर उन्हें सीख और आशीर्वाद दिये॥ २॥

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥
अवनि जमहि जाँचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई॥३॥

इस तरह सीता समेत दोनों भाइयों (राम-लक्ष्मण) के सीधे स्वभाव को देखकर कुटिल रानी केकयी बहुत ही पछताने लगी और पृथ्वी तथा यमराज से माँगने लगी कि मुझे धरती बीच क्यों नहीं देती, अर्थात् फट क्यों नहीं जाती कि समा जाऊँ और विधाता मौत क्यों नहीं देता॥ ३॥

लोकहु बेद-बिदित कबि कहहीँ। राम-बिमुख थलु नरक न लहहीँ॥
यह संसउ सब के मन माहीँ। रामगवनु बिधि अवध कि नाहीँ॥४॥

यह बात शास्त्र और वेदों में प्रसिद्ध है और सब लोग भी कहते हैं कि रामचन्द्रजी से विमुख मनुष्य को नरक में भी जगह नहीं मिलती। सबके मन में यह सन्देह हो रहा था कि हे विधाता! रामचन्द्रजी अयोध्या को लौटेंगे कि नहीं॥ ४॥

दो०—निसि न नींद नहि भूख दिन भरत बिकल सुठि सोच।
नीच कीच बिच मगन जस मीनहिँ सलिल सँकोच ॥२५३॥

भरतजी चिन्ता से व्याकुल हैं। उन्हें न तो रात में नींद आती है और न दिन में भूख लगती है। वे ऐसे व्याकुल हो रहे हैं जैसे नीचे (गड्ढे) के कीचड़ में डूबी हुई मछली पानी के कम होने से घबराती है (किं पानी कहीं सूख न जाय)॥ २५३॥

चौ०—कीन्हि मातुमिस काल कुचाली। ईति भीति जस पाकत साली॥
केहि बिधि होइ रामअभिषेकू। मोहि अवकलत उपाउ न एकू॥१॥

भरतजी सोचने लगे कि ईति और भीति से पकते हुए धान की जैसी दशा होती है, वैसी ही माता के मिस से काल ने कुचाल की है। अर्थात् रामचन्द्रजी के राज्यतिलक के समय उनको वनवासी कर दिया। अब रामचन्द्रजी का राज्याभिषेक किस तरह हो, मुझे एक भी उपाय नहीं सूझ पड़ता॥ १॥

अवसि फिरहिं गुरुआयसु मानी। मुनि पुनि कहब रामरुचि जानी॥
मातु कहेउ बहुरहि रघुराऊ। रामजननि हठ करबि कि काऊ॥२॥

रामचन्द्रजी गुरु की आज्ञा मानकर अवश्य ही अयोध्या को लौट चलेंगे, पर वसिष्ठ मुनि तो रामचन्द्रजी की रुचि समझ कर ही कहेंगे (लौटने को बाध्य नहीं करेंगे)। माता के कहने से भी रामचन्द्रजी लौट सकते हैं, पर भला रामचन्द्रजी की माता कौसल्याजी ने क्या कभी हठ किया है? (जो आज हठ करेंगी)॥ २॥

मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमउ बाम बिधाता॥
जौं हठ करउँ त निपट कुकरमू। हरगिरि तें गुरु सेवक-धरमू॥३॥

मुझ सेवक की तो बात ही कितनी है? उसमें भी खोटा समय है और विधाता प्रतिकूल है। जो मैं हठ करूँ तो यह बिलकुल ही कुकर्म (अन्याय) होगा, क्योंकि सेवक का धर्म कैलास पर्वत से भी भारी या कठिन है॥ ३॥

एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहिं रैनि बिहानी॥
प्रात नहाइ प्रभुहि सिरु नाई। बैठत पठये रिषय बोलाई॥ ४॥

भरतजी को सोचते सोचते रात बीत गई, पर एक भी युक्ति उनके मन में ठीक न जमी। प्रातःकाल भरतजी के स्नान कर और प्रभु रामचन्द्रजी को सिर नवाकर बैठते ही ऋषि (वसिष्ठजी) ने उनको बुला भेजा॥ ४॥

दो०—गुरु-पद-कमल प्रनाम करि बैठे आयसु पाइ।
बिप्र महाजन सचिव सब जुरे सभासद आइ॥ २५४॥

भरतजी जाकर, गुरुजी के चरण-कमलों में प्रणामकर, आज्ञा पाकर बैठ गये। उसी समय ब्राह्मण, महाजन, मंत्री और सब सभासद आकर इकट्ठे हुए ॥ २५४ ॥

चौ०—बोले मुनिबरु समयसमाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना ॥
धरमधुरीन भानु-कुल-भानू। राजा रामु स्वबस भगवानू ॥१॥

मुनिवर वसिष्ठजी समय के अनुसार बोले—हे चतुर सभासदो! हे भरत! सुनो। राजा रामचन्द्रजी स्वतन्त्र, भगवान्[1] (षड्गुण ऐश्वर्यपूर्ण), धर्म के धुरंधर और सूर्य कुल में सूर्य-रूप हैं ॥ १ ॥

सत्यसंध पालक स्रुतिसेतू। रामजनमु जग मंगलहेतू ॥
गुरु-पितु-मातु-बचन-अनुसारी। खल-दल-दलन देव-हित-कारी ॥ २ ॥

सत्य-संध (प्रतिज्ञा के सत्य करनेवाले) और वेदों की मर्यादा के रक्षक हैं। रामचन्द्रजी का जन्म जगत् के कल्याण के लिए है। ये गुरु, पिता और माता के वचन के अनुसारी (आज्ञाधारी) हैं; दुष्ट-गणों के नाशक और देवताओं के हितकारी हैं ॥ २ ॥

नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न रामसम जान जथारथु ॥
बिधि हरि हरु ससि रबि दिसि पाला। माया जीव करम कुलि काला ॥३॥

नीति, प्रेम, परमार्थ और स्वार्थ को रामचन्द्रजी के समान यथार्थ कोई नहीं जानता। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, चन्द्र, सूर्य, दिक्पाल, माया, जीव, कर्म और काल (समय) ॥ ३ ॥

अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोगसिद्धि निगमागम गाई ॥
करि बिचार जिय देखहु नीके। रामरजाइ सीस सबही के ॥४॥

शेष, राजा आदि जहाँ तक प्रभुता (मालिकी) और योग की सिद्धि वेद तथा शास्त्रों में गाई गई है, अच्छी तरह जी में विचार कर देखो, उन सबके माथे पर रामचन्द्रजी की आज्ञा विराज रही है ॥ ४ ॥

दो०—राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।
समुझि सयाने करहु अब सब मिलि संमत सोइ ॥२५५॥

इसलिए रामचन्द्रजी की आज्ञा और रुख रखने से हम सबका हित होगा। ऐसा समझकर अब सब चतुर मिलकर यही निश्चय करो ॥ २५५ ॥

१—जो प्राणियों की उत्पत्ति, मृत्यु, सद्गति दुर्गति, विद्या और अविद्या को जाने उसको भगवान् कहते हैं। "उत्पत्तिं निधनं चैव भूतानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च भगवानिति कथ्यते ॥"

चौ०—सब कहँ सुखद रामअभिषेकू। मंगल-मोद-मूल मग एकू॥
केहि बिधि अवध चलहि रघुराऊ। कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ॥१

रामचन्द्रजी का अभिषेक सब को सुखदायी है; मङ्गल और आनन्द का मूल-मार्ग एक ही है। वह यही कि—रामचन्द्रजी अयोध्या किस तरह चलेंगे। सब लोग सोचकर उपाय कहो, वही किया जाय॥ १॥

सब सादर सुनि मुनि-बर-बानी। नय-परमारथ-स्वारथ-सानी॥
उतर न आव लोग भये भोरे। तब सिरनाइ भरत कर जोरे॥२॥

नीति, परमार्थ और स्वार्थ मिली हुई मुनिवर की वाणी सबने आदर-पूर्वक सुनी। किन्तु उत्तर किसी से न बन पड़ा, सब लोग भोरे (हकबके से) हो गये। तब भरतजी सिर नवाकर और हाथ जोड़कर॥ २॥

भानुबंस भये भूप घनेरे। अधिक एक तेँ एक बड़ेरे॥
जनम हेतु सब कहँ पितु माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता॥३॥

कहने लगे—सूर्यवंश में बहुत-से राजा हुए हैं, उनमें एक से एक बढ़-कर हुए। सभी के जन्म देने के कारण पिता-माता हैं, पर उनका शुभ अशुभ कर्म विधाता ही देते हैं॥ ३॥

दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जग जाना॥
सोइ गोसाइँ बिधि गति जेहि छेकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥४॥

आपका आशीर्वाद ऐसा है कि सब दुःखों का नाशकर सभी कल्याण उत्पन्न कर दे। इसको जगत् जानता है। अब वही आप मालिक हैं जिन्होंने विधाता की गति को भी पलट दिया। आपने जो टेक (निश्चय) टेकी (निश्चित कर रक्खा है) उसे कौन टाल सकता है[१]॥ ४॥

दो०—बूझिय मोहि उपाउ अब सो सब मोर अभागु।
सुनि सनेह-मय-बचन गुरु उर उमगा अनुरागु॥२५६॥

ऐसे आप मुझसे उपाय पूछते हैं, यह सब मेरे अभाग्य की बात है। ऐसे स्नेह भरे वचनों को सुनकर गुरुजी के हृदय में प्रेम उमड़ पड़ा॥ २५६॥

१—विश्वामित्रजी तपस्या के प्रभाव से ब्रह्माजी से ब्रह्मर्षिपद पा गये, पर वसिष्ठजी से मिलने पर उन्होंने उन्हें राजर्षि कहकर ब्रह्माजी की मति को मात कर दिया। मनु की इला नाम की कन्या को आपने सुद्युम्न नाम का पुरुष बना दिया। सूर्यवंशी राजाओं के प्रारब्ध के खोटे अंक मिटाकर उन्हें शुभ कर दिये, इसलिए आपकी टेक "राखे राम रजाय रुख हम सबकर हित होय" है, इसे झूठी कौन कर सकता है?

चौ०—तात बात फुरि राम कृपाहीं। रामबिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं॥
सकुचउँ तात कहत एक बाता। अरध तजहिं बुध सरबसु जाता॥१॥

गुरुजी ने कहा—हे तात! यह बात सच है, पर यह सब राम-कृपा से ही समझिए। रामचन्द्रजी से विमुख को तो स्वप्न में भी सिद्धि नहीं हो सकती। हे पुत्र! मैं एक बात कहने में सकुचाता हूँ। वह यह कि बुद्धिमान् लोग जो सर्वस्व जाता देखते हैं तो, उसे बचाने के लिए, आधा छोड़ देते हैं (अर्थात् बड़ी भारी हानि बचाने के लिए उससे थोड़ी हानि सह लेते हैं)॥ १॥

तुम्ह कानन गवँनहु दोउ भाई। फेरियहि लषन सीय रघुराई॥
सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद-परि-पूरन गाता॥२॥

इसलिए तुम दोनों भाई (भरत शत्रुघ्न) वन में जाओ, और लक्ष्मण, सीता और रामचन्द्रजी को लौटा दो। ऐसे श्रेष्ठ वचन सुनकर दोनों भाई प्रसन्न हो गये। उनके सब अंग हर्ष से भर गये॥ २॥

मन प्रसन्न तनु तेजु बिराजा। जनु जिय राउ रामु भये राजा॥
बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी। सम दुखसुख सब रोवहिं रानी॥३॥

उनके मन प्रसन्न और शरीर तेजस्वी हो गये। जी में ऐसा आनन्द हुआ, मानों राजा दशरथ जी उठे हों और रामचन्द्रजी राजा हो गये हों। सब लोगों के लिए लाभ अधिक और हानि थोड़ी थी। रानियों को दुःख और सुख समान ही थे (क्योंकि राम-लक्ष्मण भी दो पुत्र और भरत-शत्रुघ्न भी दो पुत्र, उनके बदले इनका वियोग) इसलिए वे रोने लगीं॥ ३॥

कहहिं भरत मुनि कहा सो कीन्हे। फलु जग जीवन्ह अभिमत दीन्हे॥
कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥४॥

भरतजी कहने लगे—मुनिजी ने जो कहा उसको करने से जगत् में जीवन मिलने का फल और अभीष्ट-सिद्धि है। मैं जन्म भर वन में निवास करूँगा, मेरे लिए इससे बढ़कर और कोई सुख नहीं है॥ ४॥

दो०—अंतरजामी रामसिय तुम्ह सरबग्य सुजान।
जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिय बचन प्रवान॥२५७॥

रामचन्द्र और सीताजी अन्तर्यामी हैं और आप सर्वज्ञ तथा ज्ञानी हैं। जो आप यह सच कह रहे हैं तो हे नाथ! आप अपने वचन को सत्य कीजिए (मैं वनवास के लिए प्रस्तुत हूँ)॥ २५७॥

चौ०—भरत बचन सुनि देखि सनेहू। सभासहित मुनि भयउ बिदेहू॥
भरत-महा-महिमा जलरासी। मुनिमति ठाढि तीर अबला सी॥१॥

भरतजी के वचन सुनकर और उनका स्नेह देखकर मुनि वसिष्ठजी सभा-सहित विदेह हो गये (किसी को अपने देह को सुध नहीं रही)। भरतजी के महामहिमारूपी समुद्र के सामने मुनिजी की बुद्धि स्त्री के समान किनारे खड़ी रह गई। अर्थात् मुनिजी की बुद्धि भरतजी की महिमा का पारावार न पा सकी॥ १॥

गा चह पार जतनु हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा॥
अउर करहि को भरत बड़ाई। सर सीपी की सिंधु समाई॥२॥

वह (बुद्धि) पार जाना चाहती है, हृदय में उपाय ढूँढ़े, पर न तो नाव मिलती है, न बेड़ा और न जहाज ही। जब वसिष्ठजी की यह दशा है तब और कौन भरतजी की बड़ाई कर सकता है? क्या तालाब की सीप में कभी समुद्र समा सकता है? (कभी नहीं।) अर्थात् और लोगों की बुद्धि तालाब की सीप है और भरतजी की महिमा समुद्र है। और लोगों की बुद्धि भरतजी की महिमा का अनुमान कभी नहीं कर सकती॥ २॥

भरतु मुनिहिँ मनभीतर भाये। सहितसमाज राम पहिँ आये॥
प्रभु प्रनाम करि दीन्ह सुआसनु। बैठे सब सुनि मुनि अनुसासनु॥३॥

भरतजी वसिष्ठजी को मन में बहुत अच्छे लगे और वे समाज सहित रामचन्द्रजी के पास आये। प्रभु रामचन्द्रजी ने उन्हें प्रणाम कर सुन्दर आसन दिये। मुनिजी की आज्ञा पाकर सब लोग बैठ गये॥ ३॥

बोले मुनिवर बचन बिचारी। देस काल अवसर अनुहारी॥
सुनहु राम सरबग्य सुजाना। धरम-नीति-गुन-ग्यान-निधाना॥४॥

फिर मुनिवर देश, काल और मौक़े के अनुसार विचारपूर्वक वचन बोले—हे सर्वज्ञ, बुद्धिमान् रामचन्द्र! सुनिए। आप धर्म, नीति, गुण और ज्ञान के भाण्डार हैं॥ ४॥

दो०—सब के उरअंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन-जननी-भरत-हित होइ सो कहिय उपाउ॥२५८॥

आप सबके हृदयों के भीतर बसते हैं और भले-बुरे भावों को जानते हैं। इसलिए अब वह उपाय आप बतलाइए, जिससे पुरवासी लोगों, माता और भरत सबका हित हो॥ २५८॥

चौ०—आरत कहहिं बिचारि न काऊ। सूझ जुआरिहि आपुन दाऊ॥
सुनि मुनिबचन कहत रघुराऊ। नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥१॥

दुखी लोग कभी विचार कर नहीं कहते, क्योंकि जुआरी को तो अपना ही दाँव दिखता है। मुनिवर के वचन सुनकर रामचन्द्रजी कहने लगे—हे नाथ! इसका उपाय आप ही के हाथ है॥ १॥

सब कर हित रुख राउरि राखे । आयसु किये मुदित फुर भाखे ॥
प्रथम जो आयसु मो कहँ होई । माथे मानि करउँ सिख सोई ॥२॥

आपका रुख रखने से सबका हित है। सच कहने और आज्ञा करने से सब प्रसन्न होंगे। पहले मुझे जो कुछ आज्ञा हो उस सीख (उपदेश) को मैं माथे पर चढ़ा कर करूँ ॥ २ ॥

पुनि जेहि कहँ जस कहब गोसाईं । सो सब भाँति घटिहि सेवकाई ॥
कह मुनि राम सत्य तुम्ह भाखा । भरत-सनेह बिचारु न राखा ॥३॥

फिर स्वामी जिसको जो कहेंगे, वह हर तरह से उसका पालन करेगा। यह सुनकर मुनिजी ने कहा—हे राम ! तुमने सच कहा, पर भरत के स्नेह के कारण मेरा विचार ठिकाने नहीं है ॥ ३ ॥

तेहि तें कहउँ बहोरि बहोरी । भरत-भगति-बस भइ मति मोरी ॥
मोरे जान भरतरुचि राखी । जो कीजिय सो सुभ सिव साखी ॥४॥

इसलिए मैं बार बार कहता हूँ, कि मेरी बुद्धि भरत की भक्ति के वश हो गई है। मेरी समझ में भरत की रुचि रखकर जो कुछ किया जायगा वह शुभ होगा, मैं शिवजी की सौगन्द खाता हूँ ॥ ४ ॥

दो०—भरतबिनय सादर सुनिय करिय बिचारु बहोरि ।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि ॥२५६॥

भरत की प्रार्थना आदरपूर्वक सुनिए, फिर अच्छी तरह विचार कीजिए और लोगों का तथा सज्जनों का मत देखकर, राजनीति और शास्त्रों का सार समझकर, जो करना है सो कीजिए ॥ २५९ ॥

चौ०—गुरुअनुरागु भरत पर देखी । रामहृदय आनंदु बिसेखी ॥
भरतहिँ धरम-धुरं-धर जानी । निज सेवक तन-मानस-बानी ॥१॥

भरत पर गुरुजी का प्रेम देखकर रामचन्द्र जी के हृदय में विशेष आनन्द हुआ। वे भरत को धर्म का धुरंधर और शरीर, मन तथा वचन से अपना सेवक जानकर ॥ १ ॥

बोले गुरु - आयसु - अनुकूला । बचन मंजु मृदु मंगलमूला ॥
नाथ सपथ पितु चरन दोहाई । भयउ न भुवन भरतसम भाई ॥२॥

गुरु की आज्ञा के अनुकूल मनोहर, कोमल और मंगल-मूलक वचन बोले—हे नाथ ! आपकी सौगंद और पिता के चरणों की सौगंद खाकर कहता हूँ कि भरत के समान भाई संसार में नहीं हुआ ॥ २ ॥

जे गुरु-पद-अंबुज-अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बडभागी॥
राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥३॥

जो लोग गुरु के चरण-कमलों के प्रेमी हैं, वे लोक और वेद में बड़भागी होते हैं। जिस पर आपका ऐसा अनुराग है, उस भरत का भाग्य कौन कह सकता है?॥ ३॥

लखि लघुबंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरतबडाई॥
भरतु कहहिँ सोइ किये भलाई। अस कहि रामु रहे अरगाई॥४॥

भरत मेरा छोटा भाई है, यह सोचकर उसके मुँह पर उसकी बड़ाई करने में मेरी बुद्धि संकुचित होती है। अच्छा! भरत जो कुछ कहें वही करने में भलाई है, ऐसा कहकर रामचन्द्र-जी तटस्थ या चुप हो गये॥ ४॥

दो०—तब मुनि बोले भरत सन सब सँकोचु तजि तात।
कृपासिंधु प्रियबंधु सन कहहु हृदय कइ बात॥२६०॥

तब मुनि वसिष्ठजी भरत से कहने लगे—हे तात! तुम सब संकोच छोड़कर दयासागर, प्यारे भाई से अपने हृदय की बात कह डालो॥ २६०॥

चौ०—सुनि मुनिबचन रामरुख पाई। गुरु साहिब अनुकूल अघाई॥
लखि अपने सिर सबु छरुभारू। कहि न सकहिँ कछु करहिँ बिचारू॥१॥

मुनिजी का वचन सुनकर और रामचन्द्रजी का रुख पाकर तथा गुरु और स्वामी की अनुकूलता से प्रसन्न होकर भरतजी सब तरह का भार अपने ही ऊपर जानकर कुछ कह न सके, विचार करने लगे॥ १॥

पुलकि सरीर सभा भये ठाढे। नीरजनयन नेहजलु बाढे॥
कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। एहि तेँ अधिक कहउँ मैं काहा॥२॥

उनका शरीर पुलकित हो गया। वे सभा में उठकर खड़े हुए। नेत्रों में स्नेह के आँसू भर आये। भरतजी ने कहा—मुनिनाथ वसिष्ठजी ने मेरा कहना निबाहा, इससे अधिक मैं क्या कहूँ॥ २॥

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मो पर कृपा सनेहु बिसेखी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥३॥

मैं अपने स्वामी के स्वभाव को जानता हूँ। वे कभी किसी अपराधी पर भी कोप नहीं करते। मुझ पर तो उनकी विशेष कृपा और स्नेह है। मैंने कभी खेल में भी उनका क्रोध नहीं देखा॥ ३॥

सिसुपन तें परिहरेउ न संगू । कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू ॥
मैं प्रभु कृपारीति जिय जोही । हारेहु खेल जितावहिं मोही ॥४॥

उन्होंने लड़कपन से कभी मेरा संग नहीं छोड़ा और कभी मेरे जी को नहीं तोड़ा (जिसमें मैं प्रसन्न रहा वही करते रहे)। मैंने प्रभु की कृपा को जी से पहचाना है। मैं खेल में हार जाता तो भी वे मुझे जिता देते थे ॥ ४ ॥

दो०—महूँ सनेह-सकोच-बस सनमुख कहे न बैन ।
दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पियासे नैन ॥२६१॥

मैंने भी स्नेह और संकोच के वश कभी सम्मुख वचन नहीं कहे (बराबरी नहीं की)। प्रेम के प्यासे मेरे नेत्र आज तक स्वामी के दर्शनों से तृप्त नहीं हुए ॥ २६१ ॥

चौ०—बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीचु जननी मिस पारा ॥
यहउ कहत मोहि आजु न सोभा । अपनी समुझि साधु सुचि को भा ॥१॥

पर हाय! विधाता मेरे इस दुलार (प्यार) को न सह सका। उस नीच ने माता के बहाने से बीच (भेद) डाल दिया। आज मुझे यह सब कहना भी शोभा नहीं देता, क्योंकि अपनी समझ से पवित्र और श्रेष्ठ कौन हुआ है? (कोई भी नहीं, दूसरे जब समझें तभी ठीक है) ॥ १ ॥

मातु मंद मैं साधु सुचाली । उर अस आनत कोटि कुचाली ॥
फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक ताली ॥२॥

माता दुष्ट है, मैं भला और अच्छे चलन का हूँ, ऐसा भाव मन में लाना करोड़ों बुरे कर्मों के बराबर है। भला कोदों की बाल में उत्तम चावल लग सकते हैं? क्या तालाब के घोंघे में कभी मोती पैदा हो सकते हैं? ॥ २ ॥

सपनेहु दोसु कलेसु न काहू । मोर अभाग उदधि अवगाहू ॥
बिनु समुझे निज अघ-परिपाकू । जारिउँ जाय जननि कहि काकू ॥३॥

इसलिए स्वप्न में भी किसी का दोष और क्लेश नहीं। मेरा दुर्भाग्यरूपी समुद्र तो अथाह है। मैंने अपने पापों का परिणाम समझे बिना ही माता को कुटिल व्यंग्य की उक्तियाँ कहकर व्यर्थ उसका जी जलाया ॥ ३ ॥

हृदय हेरि हारेउँ सब ओरा । एकहि भाँति भलेहि भल मोरा ॥
गुरु गोसाइँ साहिब सियरामू । लागत मोहि नीक परिनामू ॥४॥

मैं अपने हृदय में चारों ओर ढूँढ़कर थक गया। (कोई उपाय नहीं सूझा।) मुझे तो केवल एक ही तरह से अपना भला जान पड़ता है कि मेरे गुरु भी समर्थ हैं और स्वामी सीताराम हैं, इसलिए परिणाम अच्छा मालूम देता है ॥ ४ ॥

दो०—साधु-सभा गुरु-प्रभु-निकट कहउँ सुथल सतिभाउ।
प्रेम प्रपंचु कि झूठ फुर जानहिँ मुनि रघुराउ ॥२६२॥

इस सज्जनों की सभा में गुरु और स्वामी के समीप, और इस पवित्र स्थान में मैं सच्चे भाव से कहता हूँ। यह कहना प्रेम है या प्रपंच, झूठ है या सच, यह मुनि वसिष्ठजी और रामचन्द्रजी जानते हैं॥ २६२॥

चौ०—भूपतिमरनु प्रेमपनु राखी। जननी कुमति जगतु सब साखी॥
देखि न जाहिँ बिकल महतारी। जरहिँ दुसह जर पुर-नर-नारी॥१॥

प्रेम और प्रतिज्ञा को रखने के लिए राजा की मृत्यु हुई। माता की कुबुद्धि का तो संसार साक्षी है। अब व्याकुल माताओं की ओर देखा नहीं जाता। अयोध्या के नर-नारी कठिन ज्वर (वियोग के ताप) से जले जाते हैं॥ १॥

महीँ सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहेउँ सब सूला॥
सुनि बनगवनु कीन्ह रघुनाथा। करि मुनिबेष लषनु-सिय-साथा॥२॥

इन सब अनर्थों का मूल मैं ही हूँ, यह सुन और समझकर सब दुःख मैंने सह लिये। फिर सुना कि रामचन्द्रजी, लक्ष्मण और सीता के साथ, मुनि-वेष धारणकर वन को गये॥ २॥

बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाये। शंकर साखि रहेउँ एहि घाये॥
बहुरि निहारि निषादसनेहू। कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू॥३॥

वे नंगे पैर (बिना जूते) और पैदल हो गये। साक्षी हैं शङ्करजी कि मैं इस चोट को सह गया। फिर निषाद का स्नेह देखकर भी वज्र से कठिन इस हृदय में छेद न हो गया॥ ३॥

अब सबु आँखिन्ह देखेउँ आई। जिअत जीव जड सबइ सहाई॥
जिन्हहिँ निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिँ बिषमबिषु तामसतीछी॥४॥

अब यहाँ आकर मैंने सब आँखों से देख लिया। इस मूर्ख को जीते जी सभी सहना पड़ा। जिन को रास्ते में देखकर तमोगुणी साँपिनी और बिच्छू भी अपने तीक्ष्ण विष को छोड़ देते हैं॥ ४॥

दो०—तेइ रघुनंदन लषन सिय अनहित लागे जाहि।
तासु तनय तजि दुसह दुख दैव सहावहि काहि॥२६३॥

वही रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता जिसको शत्रु मालूम हुए, उस केकयी के पुत्र को छोड़कर दैव कठिन दुःख और किसको सहन करावेगा?॥ २६३॥

चौ०—सुनि अतिबिकल भरत-बर-बानी। आरति-प्रीति-बिनय-नय-सानी॥
सोकमगन सब सभा खभारू। मनहुँ कमलबन परेउ तुषारू॥१॥

अति-विकल भरतजी की इस तरह की दुःख, प्रीति, विनय और नीति-भरी हुई[1] श्रेष्ठ वाणी सुनकर सारी सभा शोक में डूब गई और बड़ी घबराहट हुई, मानों कमल के वन में पाला पड़ गया हो॥ १॥

कहि अनेक बिधि कथा पुरानी। भरतप्रबोध कीन्ह मुनि ग्यानी॥
बोले उचित बचन रघुनंदू। दिन-कर-कुल-कैरव-बन-चंदू॥२॥

ज्ञानवान् मुनि वसिष्ठजी ने अनेक प्रकार की पुरानी कथाओं को कहकर भरतजी को समझाया, फिर सूर्य-वंशरूपी कुमुद के वन के लिए चन्द्र-स्वरूप रामचन्द्रजी योग्य वचन बोले—॥ २॥

तात जाय जिन करहु गलानी। ईसअधीन जीवगति जानी॥
तीनि काल तिभुवन मत मोरे। पुन्यसिलोक तात तर तोरे॥३॥

हे तात! हे लाल! जीवों की गति को ईश्वर के अधीन जानकर तुम अपने जी में व्यर्थ ग्लानि मत करो। मेरी सम्मति में तीनों काल और तीनों लोकों में जो पुण्यश्लोक (यशस्वी) हैं, वे सब तुमसे नीचे हैं॥ ३॥

उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोकु-परलोकु नसाई॥
दोस देहिँ जननिहि जड तेई। जिन्ह गुरु-साधु-सभा नहिँ सेई॥४॥

तुम्हारे ऊपर किसी तरह की कुटिलता हृदय में लाते ही लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। जिन्होंने गुरु और महात्माओं की सभा का सेवन नहीं किया है, वे ही मूर्ख माता को दोष देते हैं॥ ४॥

दो०—मिटिहहिँ पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार॥२६४॥

हे भरत! तुम्हारा नाम-स्मरण करने से सब पाप, प्रपंच और संपूर्ण अमङ्गल के भार मिट जायँगे तथा इस लोक में यश और परलोक में सुख प्राप्त होगा॥ २६४॥

चौ०—कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥
तात कुतरक करहु जनि जाये। बैर प्रेम नहिँ दुरइ दुराये॥१॥

१—दुःख-भरी वाणी "सो सुनि समुझि सहेउँ सब मूला," प्रीति की "महूँ सनेह सँकोच बस" विनय की, "गुरु गुसाइँ साहिब सिय रामू" नीति तो सम्पूर्ण भाषण में भरी है।

हे भरत ! मैं शिवजी को साक्षी रखकर सच्चे भाव से सत्य सत्य कहता हूँ कि पृथ्वी तुम्हारे ही रखने से ठहरी है। हे तात ! तुम मन में व्यर्थ किसी तरह के कुतर्क न उत्पन्न करो, वैर और प्रेम छिपाने से नहीं छिपते ॥ १ ॥

मुनिगन निकट बिहँग मृग जाहीं। बालक बधिक बिलोकि पराहीं ॥
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुष तनु गुन-ग्यान-निधाना ॥२॥

देखो, पक्षी और मृग मुनियों के पास तो चले जाते हैं पर बालकों और बधिकों को दुखदायी समझकर देखते ही दूर भाग जाते हैं। जब पशु और पक्षी भी हित और अनहित (भली बुरी बात) जानते हैं, तब मनुष्य-शरीर तो गुण और ज्ञान का भाण्डार है ॥ २ ॥

तात तुम्हहिं मैं जानउँ नीके। करउँ काह असमंजसु जी के ॥
राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेमपन लागी ॥३॥

हे तात ! मैं तुम्हें अच्छी तरह से जानता हूँ, पर क्या करूँ ? मेरे जी में बड़ा असमंजस (आगा पीछा) हो रहा है। राजा ने मुझे त्यागकर अपना सत्य रक्खा और प्रेम के निर्वाह के लिए अपना शरीर त्याग दिया ॥ ३ ॥

तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू ॥
ता पर गुर मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा ॥४॥

इधर उनके वचन को मिटाने में अर्थात् चौदह वर्ष बनवास की आज्ञा-भङ्ग करने में बड़ा सोच हो रहा है उधर उससे भी ज्यादा तुम्हारा संकोच हो रहा है। उस पर भी मुझे गुरुजी ने आज्ञा दे दी है; इसलिए तुम जो कुछ कहो, वही मैं जरूर करना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

दो०—मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आजु।
सत्य-संध रघुबर-बचन सुनि भा सुखी समाजु ॥२६५॥

तुम मन प्रसन्न कर और संकोच को त्यागकर कहो। जो कहोगे, वही मैं आज करूँगा। सत्य प्रतिज्ञावाले रामचन्द्रजी का यह वचन सुनकर सब समाज प्रसन्न हो गया ॥ २६५ ॥

चौ०—सुर-गन-सहित सभय सुरराजू। सोचहिं चाहत होन अकाजू ॥
बनत उपाउ करत कछु नाहीं। रामसरन सब गे मन माहीं ॥१॥

उधर देव-गणों सहित देवराज (इन्द्र) भयभीत हो गये। वे सोचने लगे कि अब काम बिगड़ना चाहता है। क्या करें ? कुछ उपाय तो करते नहीं बनता। इसलिए वे मन ही मन रामचन्द्रजी की शरण गये ॥ १ ॥

बहुरि बिचारि परसपर कहहीं। रघुपति भगत-भगति-बस अहहीं ॥
सुधि करि अंबरीष दुरबासा। भे सुर सुरपति निपट निरासा ॥२॥

वे आपस में विचार करने लगे कि रामचन्द्रजी तो भक्तों की भक्ति के वश में हैं। फिर राजा अम्बरीष और दुर्वासा ऋषि के चरित्र को स्मरण कर[1] देवता और देवराज बिलकुल निराश हो गये ॥ २ ॥

सहे सुरन्ह बहुकाल बिषादा। नरहरि किये प्रगट प्रहलादा ॥
लगि लगि कान कहहिँ धुनि माथा। अब सुरकाज भरत के हाथा ॥३॥

पहले देवतों ने बहुत काल पर्यन्त दुःख सहे, तब प्रह्लादजी ने नृसिंहजी को प्रकट किया था। सब देव एक दूसरे के कानों लगकर और सिर धुन धुनकर कहने लगे कि अब देवतों की कार्य-सिद्धि भरत के हाथ है ॥ ३ ॥

आन उपाउ न देखिय देवा। मानत राम सु-सेवक-सेवा ॥
हिय सप्रेम सुमिरहु सब भरतहिँ। निजगुन-सील रामबस करतहिँ ॥४॥

वे आपस में कहते हैं—हे देवतो! और कोई उपाय तो दीखता नहीं। हाँ, रामचन्द्रजो अच्छे सेवक की सेवा को मानते हैं। इसलिए सब प्रेम-सहित भरत ही का स्मरण करो जिन्होंने अपने गुण-शील से रामचन्द्रजी को वश में कर रक्खा है ॥ ४ ॥

दो०—सुनि सुरमत सुरगुरु कहेउ भल तुम्हार बडभागु।
सकल सु-मंगल-मूल जग भरत-चरन-अनुरागु ॥२६६॥

देवतों को इस सलाह को सुनकर देवगुरु (बृहस्पति) ने कहा—भाई! यह बहुत अच्छा है, तुम्हारा भाग्य बड़ा है, क्योंकि जगत् में भरत के चरणों में अनुराग करना ही सब शुभ मंगल का मूल है ॥ २६६ ॥

चौ०—सीता-पति सेवक-सेवकाई। काम-धेनु-सय-सरिस सुहाई ॥
भरतभगति तुम्हरे मन आई। तजहु सोचु बिधि बात बनाई ॥१॥

सीतापति रामचन्द्रजी के दास की सेवा सौ कामधेनुओं के सामन श्रेष्ठ है। यदि तुम्हारे मन में भरत की भक्ति उत्पन्न हुई है तो अब तुम सब सोच छोड़ दो, विधाता ने बात बना दी ॥ १ ॥

देखु देवपति भरतप्रभाऊ। सहज-सुभाय-बिबस रघुराऊ ॥
मन थिर करहु देव डरु नाहीँ। भरतहिँ जानि रामपरिछाहीँ ॥२॥

हे देवराज! देखो भरत का प्रभाव, जिनके सच्चे सरल भाव के बस रघुनाथजी हो रहे हैं। हे देवतो! भरतजी को रामचन्द्रजी की छाया समझकर अपने मन स्थिर करो, अब कुछ डर नहीं है ॥ २ ॥

---

[1]—देखिए अयोध्याकाण्ड के २१९ वें दोहे की चौथी चौपाई।

सुनि सुरगुरु-सुर-संमत सोचू। अंतरजामी प्रभुहि सँकोचू ॥
निज सिर भारु भरत जिय जाना। करत कोटि बिधि उर अनुमाना ॥३॥

देवताओं और बृहस्पति की सलाह तथा विचार सुनकर अन्तर्यामी रामचन्द्रजी को संकोच हुआ। भरतजी अपने जी में सब बोझा अपने ही सिर समझकर हृदय में करोड़ों तरह के अनुमान बाँधने लगे ॥ ३ ॥

करि बिचारु मन दीन्ही टीका। रामरजायसु आपन नीका ॥
निजपन तजि राखेउ पन मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिँ थोरा ॥४॥

अन्त में विचारकर उन्होंने मन में यही ठीक (निश्चित) कर लिया कि अपने लिए रामचन्द्रजी को ही आज्ञा में रहना अच्छा है। रामचन्द्रजी ने जो अपना पण छोड़कर मेरा पण रक्खा (पीछे २६५ दोहे में—"कहहु करउँ सोइ आजु") यह कृपा तथा स्नेह मुझ पर थोड़ा नहीं किया (अर्थात् बहुत किया) ॥ ४ ॥

दो०—कीन्ह अनुग्रह अमित अति सब बिधि सीतानाथ।
करि प्रनामु बोले भरतु जोरि जलज-जुग-हाथ ॥२६७॥

मुझ पर सीतानाथ ने सब तरह अपार (बहुत) अनुग्रह किया। (यह निश्चय कर) भरतजी प्रणामकर, कमल समान दोनों हाथ जोड़कर, बोले— ॥२६७॥

चौ०—कहउँ कहावउँ का अब स्वामी। कृपा-अंबु-निधि अंतरजामी ॥
गुरु प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मनकलपित सूला ॥१॥

हे स्वामी! अब मैं क्या कहूँ और क्या कहाऊँ? आप कृपा के समुद्र और अन्तर्यामी हैं। गुरु महाराज प्रसन्न और स्वामी अनुकूल हैं, यह जानकर जो मेरे मैले मन की कल्पित पीड़ा थी वह मिट गई ॥ १ ॥

अपडर डरेउँ न सोच समूले। रबिहि न दोष देव दिसि भूले ॥
मोर अभागु मातकुटिलाई। बिधिगति बिषम कालकठिनाई ॥२॥

मैं योंही व्यर्थ थोड़े से डर से डर गया था, मेरे डर या सोच की कोई जड़ नहीं थी। हे देव! कोई जाते हुए दिशा भूल जाय तो सूर्य का दोष नहीं, "क्योंकि ग़लती तो उस भूलनेवाले की है"। मेरा दुर्भाग्य, माता की कुटिलता, विधाता की उलटी गति और काल की कठिनता ॥ २ ॥

पाउँ रोपि सब मिलि मोहि घाला। प्रनतपाल पन आपन पाला ॥
यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहु बेद बिदित नहिँ गोई ॥३॥

सबने मिलकर, पाँव रोपकर (मज़बूती के साथ) मेरा सर्वनाश किया; परन्तु सेवकों के रक्षक आपने अपना पन (स्वत्वाभिमान) पाला अर्थात् आपने अपना पण (प्रतिज्ञा) पालकर मुझे बचा लिया। यह कुछ आपकी नई रीति नहीं है, यह लोक में और वेदों में प्रकट है, छिपी नहीं है ॥ ३ ॥

जगु अनभल भल एकु गोसाईं। कहिय होइ भल कासु भलाई ॥
देव देव-तरु-सरिस सुभाऊ । सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ ॥४॥

सब संसार तो बुरा है, एक आप ही अच्छे हैं। कहिए, फिर आपके सिवा किसको भलाई से भला हो सकता है ? हे देव ! आपका स्वभाव देवतरु (कल्पवृक्ष) के समान है। न उसके लिए कोई प्रतिकूल है न अनुकूल (अर्थात् वह सबकी इच्छा पूर्ण करता है) ॥ ४ ॥

दो०—जाइ निकट पहिचानि तरु छाहँ समनि सब सोच।
माँगत अभिमत पाव जगु राउ रंकु भल पोच ॥२६८॥

उस कल्पवृक्ष को पहचानकर उसके पास जाकर उसकी छाया में अपना सोच सभी मिटा लेते हैं। राजा हों या रंक, भले हों या बुरे, सभी संसार में उससे मनइच्छित फल पा जाते हैं ॥ २६८ ॥

चौ०—लखि सब बिधि गुरु-स्वामि-सनेहू। मिटेउ छोभु नहिं मन संदेहू ॥
अब करुनाकर कीजिय सोई । जनहित प्रभुचित छोभ न होई ॥१॥

सब प्रकार से गुरु और स्वामी का स्नेह देखकर मन का क्षोभ (घबराहट) मिट गया। अब कुछ सन्देह नहीं रहा। हे दया की खान ! आप वही कीजिए जिसमें दास का हित हो और स्वामी के चित्त में दुःख न हो ॥ १ ॥

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची ॥
सेवकहित साहिबसेवकाई । करइ सकल सुख लोभ बिहाई ॥२॥

जो सेवक स्वामी को संकोच में डालकर अपना हित चाहता है, उसकी बुद्धि नीच समझनी चाहिए। सेवक का हित इसी में है कि वह सम्पूर्ण सुखों का लोभ छोड़कर स्वामी की सेवा करे ॥ २ ॥

स्वारथु नाथ फिरे सबही का। किये रजाइ कोटि बिधि नीका ॥
यह स्वारथ-परमारथ-सारू । सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू ॥३॥

हे नाथ ! आपके लौटने में सभी का स्वार्थ है, पर आपकी आज्ञा पालन करना उससे करोड़ों तरह से अच्छा है। यही स्वार्थ और परमार्थ का सार है, समस्त पुण्यों का फल है और सद्गति का भूषण है ॥ ३ ॥

देव एक बिनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी ॥
तिलकसमाजु साजि सबु आना। करिय सुफल प्रभु जौं मनु माना ॥४॥

हे देव! आप मेरी एक प्रार्थना सुनकर फिर जैसा उचित हो वैसा कीजिएगा। (वह प्रार्थना यह है कि) मैं राजतिलक का सब सामान तैयार करके लाया हूँ; जो स्वामी का मन माने तो उसे सफल कर दीजिए अर्थात् राजतिलक करा लीजिए ॥ ४ ॥

दो०—सानुज पठइय मोहि बन कीजिय सबहि सनाथ।
न तरु फेरियहि बंधु दोउ नाथ चलउँ मैं साथ ॥२६६॥

हे स्वामी! मुझे छोटे भाई (शत्रुघ्न) समेत वन में भेजकर आप सबको सनाथ कीजिए। अथवा दोनों भाई (लक्ष्मण और शत्रुघ्न) को अयोध्या लौटा दीजिए और वन में मैं आपके साथ रहूँ ॥ २६९ ॥

चौ०—न तरु जाहिँ बन तीनिउँ भाई। बहुरिय सीयसहित रघुराई ॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुनासागर कीजिय सोई ॥१॥

अथवा, हम तीनों भाई वनवास के लिए जावें और आप सीता-सहित अयोध्या को लौट जाइए। हे दयासागर प्रभु! आप वही कीजिए जिस तरह आपका मन प्रसन्न हो ॥ १ ॥

देव दीन्ह सबु मोहि अभारू। मोरे नीति न धरम बिचारू ॥
कहउँ बचन सब स्वारथहेतू। रहत न आरत के चित चेतू ॥२॥

यद्यपि स्वामी ने सब भार मेरे सिर रक्खा है, तथापि मुझे नीति और धर्म का विचार नहीं है। मैं सब वचन अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए कहता हूँ, क्योंकि आर्त्त (दुखी) के मन में ज्ञान नहीं रहता ॥ २ ॥

उतर देइ सुनि स्वामिरजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई ॥
अस मैं अवगुन-उदधि-अगाधू। स्वामि सनेह सराहत साधू ॥३॥

जो कोई स्वामी की आज्ञा सुनकर उस पर उत्तर दे, ऐसे (उत्तरदाता) सेवक को देखकर शरम भी शर्मा जाती है। मैं अवगुणों का अथाह सागर ऐसा ही हूँ। फिर भी अच्छा कह कर जो स्वामी सराहते हैं वह स्नेह के कारण ॥ ३ ॥

अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा ॥
प्रभु-पद-सपथ कहउँ सतिभाउ। जग-मंगल-हित एक उपाउ ॥४॥

हे दयाल! अब मुझे वही बात अच्छी लगती है जिससे स्वामी का मन संकोच न पावे। मैं स्वामी के चरणों की शपथ खाकर सत्य भाव से कहता हूँ कि जगत् के मङ्गल के लिए बस एक ही उपाय है ॥ ४ ॥

दो०—प्रभु प्रसन्नमन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब ।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब ॥२७०॥

हे प्रभु ! आप प्रसन्न-चित्त होकर, संकोच छोड़कर जिसको जो आज्ञा देंगे वह उस आज्ञा को सिर पर रख रखकर वैसा ही करेगा और यह न दूर होनेवाली (कठिन) अड़चन निकल जायगी (उलझन सुलझ जायगी) ॥ २७० ॥

चौ०—भरतबचन सुचि सुनि सुर हरषे । साधु सराहि सुमन सुर बरषे ॥
असमंजसबस अवधनिवासी । प्रमुदित मन तापस-बन-बासी ॥१॥

भरतजी के पवित्र वचनों को सुनकर देवता प्रसन्न हुए, और उन्होंने अच्छी तरह धन्य-वाद देकर उन पर पुष्प-वर्षा की। उस समय सब अयोध्या-निवासी असमंजस के वश हो गये (रामचन्द्रजी लौटेंगे कि नहीं ?) और तपस्वी तथा वनवासी लोग प्रसन्न-चित्त हो गये ॥ १ ॥

चुपहि रहे रघुनाथ सँकोची । प्रभुगति देखि सभा सब सोची ॥
जनकदूत तेहि अवसर आये । मुनि बसिष्ठ सुनि बेगि बोलाये ॥२॥

इस अवसर पर श्रीरघुनाथजी संकोच में पड़कर चुप हो रहे। प्रभु की इस गति (चुप्पी) को देख सब सभा सोच में भर गई (कि क्या होगा ?)। इसी समय राजा जनक के दूत आये। मुनि वसिष्ठजी ने उनका आना सुनकर उन्हें जल्दी बुलाया ॥ २ ॥

करि प्रनामु तिन्ह राम निहारे । बेषु देखि भये निपट दुखारे ॥
दूतन्ह मुनिबर बूझी बाता । कहहु बिदेह भूप कुसलाता ॥३॥

उन दूतों ने आकर रामचन्द्रजी की ओर देखा, तो उनका वेष देखकर वे अत्यन्त दुःखी हुए। मुनिवर वसिष्ठजी ने दूतों से पूछा कि राजा जनक का कुशल-समाचार कहो ॥ ३ ॥

सुनि सकुचाइ नाइ महि माथा । बोले चरबर जोरे हाथा ॥
बूझब राउर सादर साईँ । कुसलहेतु सो भयउ गोसाईँ ॥४॥

मुनिजी का प्रश्न सुनकर संकोचपूर्वक सिर झुकाकर वे श्रेष्ठ दूत हाथ जोड़कर बोले—हे स्वामी ! आपका आदर के साथ कुशल का पूछना ही कुशल का कारण हुआ ॥ ४ ॥

दो०—नाहिँ त कोसलनाथ के साथ कुसल गइ नाथ ।
मिथिला अवध बिसेष तेँ जगु सब भयउ अनाथ ॥२७१॥

नहीं तो हे नाथ ! सब कुशलता कोशल-नाथ (दशरथजी) के साथ ही चली गई। वैसे तो सारा जगत् पर मिथिला और अयोध्या विशेषकर उनके बिना अनाथ हो गई ॥ २७१ ॥

चौ०—कोसलपति-गति सुनि जनकौरा । भे सब लोक सोकबस बौरा ॥
जेहि देखे तेहि समय बिदेहू । नामु सत्य अस लाग न केहू ॥१॥

जनकपुर में कोशल-पति (दशरथजी) की गति (निर्याण) सुनकर सब लोग शोक के मारे पागल हो गये। उस समय जिसने विदेह (जनकजी) को देखा, किसी को भी उनका विदेह (बिना शरीर का) नाम सच्चा नहीं मालूम हुआ अर्थात् सभी ने प्रत्यक्ष देखा कि वे दुःख और शोक के वशीभूत हुए ॥ १ ॥

रानि-कु-चालि सुनत नरपालहि । सूझ न कछु जस मनि बिनु ब्यालहि ।
भरतराजु रघु-बर-बन-बासू । भा मिथिलेसहि हृदय हरासू ॥२॥

रानी (केकयी) की कुचाल सुनकर राजा को इस तरह कुछ न सूझ पड़ा, जिस तरह मणि चली जाने पर साँप को नहीं सूझता। फिर भरत को राज्य और रामचन्द्रजी को वनवास सुनकर मिथिलेश्वर महाराज को बड़ा ही खेद हुआ ॥ २ ॥

नृप बूझे बुध-सचिव-समाजू । कहहु बिचारि उचित का आजू ॥
समुझि अवध असमंजस दोऊ । चलिय कि रहिय न कह कछु कोऊ ॥३॥

महाराज जनक ने विद्वानों और मन्त्रियों से पूछा कि आज, इस अवस्था में क्या करना उचित है, बतलाइए। अयोध्या की ये दोनों कठिन बातें (भरत का राजा होना और रामचन्द्रजी का वन जाना) सोच कर कोई कुछ न कहता था कि रहना चाहिए या चलना चाहिए ॥ ३ ॥

नृपहिँ धीर धरि हृदय बिचारी । पठये अवध चतुर चर चारी ॥
बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ । आयहु बेगि न होइ लखाऊ ॥४॥

फिर राजा ही ने धीर धर हृदय में विचारकर अयोध्या में चार चतुर दूत भेजे। उनको आज्ञा दी कि तुम अयोध्या जाओ और भरत के सद्भाव या दुर्भाव (साफ़-दिल या मैले-मन) का पता लेकर जल्दी लौट आना और अपना जाना किसी को प्रकट न होने देना ॥ ४ ॥

दो०—गये अवध चर भरतगति बूझि देखि करतूति ।
चले चित्रकूटहि भरतु चार चले तिरहूति ॥२७२॥

वे चारों दूत अयोध्या में जाकर भरतजी की गति पूछ और उनकी करतूत को देखकर तिरहुत (मिथिला) को चले और भरतजी चित्रकूट को ॥ २७२ ॥

चौ०—दूतन्ह आइ भरत कइ करनी । जनकसमाज जथामति बरनी ॥
सुनि गुरु पुरजन सचिव महीपति । भे सब सोच सनेह बिकल अति ॥१॥

दूतों ने जनकपुर में आकर भरत की करनी जनक राजा की सभा में अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन की। उसे सुनकर गुरु, पुर के लोग, मन्त्री और राजा सब स्नेह और सोच से बहुत व्याकुल हो गये ॥ १ ॥

धरि धीरज करि भरत बड़ाई। लिये सुभट साहनी बोलाई॥
घर पुर देस राखि रखवारे। हय गय रथ बहु जान सँवारे॥२॥

फिर जनक महाराज ने धीरज धरकर भरत की बड़ाई करके अच्छे योद्धाओं और सिपाहियों को बुलाया। मकान, शहर और देश की रक्षा के लिए रक्षकों का प्रबंध करके घोड़े, हाथी, रथ आदि बहुत-सी सवारियाँ तैयार कराईं॥ २॥

दुघरी साधि चले ततकाला। किय बिस्राम न मग महिपाला॥
भोरहिं आजु नहाइ प्रयागा। चले जमुन उतरन सबु लागा॥३॥

वे दुघड़ी (शिवा-लिखित—मुहूर्त्त-वेला) साधकर उसी समय (इधर के लिए) चल दिये। राजा ने रास्ते में कहीं विश्राम नहीं किया। आज सबेरे ही सब लोग प्रयागराज स्नान करके यमुनाजी को पार करने के लिए चले हैं॥ ३॥

खबरि लेन हम पठये नाथा। तिन्ह कहि अस महि नायउ माथा॥
साथ किरात छसातक दीन्हे। मुनिबर तुरत बिदा चर कीन्हे॥४॥

हे नाथ! हमको ख़बर लेने के लिए भेजा है। उन दूतों ने ऐसा कहकर जमीन पर सिर रखकर प्रणाम किया। मुनिराज वसिष्ठजी ने यह सुनकर छः सात किरातों को साथ देकर उन दूतों को तुरन्त बिदा कर दिया॥ ४॥

दो०—सुनत जनकआगवनु सबु हरषेउ अवधसमाजु।
रघुनंदनहिं सकोच बड सोचबिबस सुरराजु॥२७३॥

महाराज जनक का आगमन सुनकर अयोध्या का सब समाज प्रसन्न हो गया। किन्तु रामचन्द्रजी बड़े असमंजस में पड़ गये और देवराज (इन्द्र) तो सोच में डूब गये॥ २७३॥

चौ०—गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषनु देई॥
अस मन आनि मुदित नरनारी। भयउ बहोरि रहब दिन चारी॥१॥

कुटिल केकयी मारे सोच के गली जाती थी। वह किससे कोई बात कहे और किसको दोष दे? इधर सब स्त्री-पुरुष मन में ऐसा सोचकर प्रसन्न हुए कि चलो, फिर चार दिन ठहरना होगा॥ १॥

एहि प्रकार गत बासर सोऊ। प्रात नहान लाग सबु कोऊ॥
करि मज्जनु पूजहिं नरनारी। गनपति गौरि पुरारि तमारी॥२॥

इसी तरह वह दिन भी बीत गया। दूसरे दिन सबेरे सब स्नान करने लगे। सब नर-नारी स्नान करके गणपति, पार्वती, शङ्कर और सूर्य की पूजा करने लगे॥ २॥

रमा-रमन-पद बंदि बहोरी । बिनवहिँ अंजलि अंचल जोरी ॥
राजा रामु जानकी रानी । आनँदअवधि अवधरजधानी ॥३॥

फिर वे लक्ष्मीपति भगवान् के चरणों को वन्दना कर अंजलि जोड़ और अंचल पसार कर प्रार्थना करने लगे कि राजा रामचन्द्र और रानी सीताजी हों तथा आनन्द की सीमा अयोध्या राजधानी हो और ॥ ३ ॥

सुबस बसउ फिरि सहित समाजा । भरतहिँ रामु करहु जुबराजा ॥
एहि सुखसुधा सींचि सब काहू । देव देहु जग-जीवन-लाहू ॥४॥

सब समाज सहित अच्छी तरह बस जाय और रामचन्द्रजी भरतजी को युवराज बनावें । हे देव ! कृपाकर आप सबको इसी सुख-रूपी अमृत से सींचकर उन्हें जगत् में जन्म लेने का लाभ दीजिए ॥ ४ ॥

दो०—गुरुसमाज भाइन्ह सहित रामराजु पुर होउ ।
अछत रामराजा अवध मरिय माँग सब कोउ ॥२७४॥

सब लोग यही माँगते थे कि अयोध्या नगरी में गुरु, समाज और भाइयों के बीच रामचन्द्रजी का राज्य हो और हम लोग इन्हीं के राम-राज्य में मरें ॥ २७४ ॥

चौ०—सुनि सनेहमय पुर-जन-बानी । निंदहिँ जोग बिरति मुनि ग्यानी ॥
एहि बिधि नित्य करम करि पुरजन । रामहिँ करहिँ प्रनाम पुलकि तन ॥१॥

नगर-निवासियों की प्रेमयुक्त बातें सुनकर ज्ञानी मुनीश्वर अपने अपने योग-वैराग्य की निन्दा करने लगे (यह कि हमने इतना परिश्रम कर क्या किया, जो भगवान् रामचन्द्र का जैसा साक्षात्कार इन्हें हुआ; हमें नहीं हुआ) । वे पुर के लोग इस तरह नित्यकर्म कर पुलकित शरीर से रामचन्द्रजी को प्रणाम करने लगे ॥ १ ॥

ऊँच नीच मध्यम नर नारी । लहहिँ दरसु निज निज अनुहारी ॥
सावधान सबही सनमानहिँ । सकल सराहत कृपानिधानहिँ ॥२॥

ऊँचे, मध्यम और नीचे दर्जे के स्त्री-पुरुष अपने अपने भावानुसार रामचन्द्रजी का दर्शन पाते थे । दया के भाण्डार रामचन्द्रजी सबका ध्यान से सम्मान करते थे और सब लोग उनकी बड़ाई करते थे ॥ २ ॥

लरिकाइहि तेँ रघु-बर-बानी । पालत नीति प्रीति पहिचानी ॥
सील-सँकोच-सिंधु रघुराऊ । सुमुख सुलोचन सरल सुभाऊ ॥३॥

रामचन्द्रजी की लड़कपन से ही यह आदत थी कि वे नीति और प्रीति को पहचानकर पालते थे (निवाहते थे) । रामचन्द्रजी शील और सङ्कोच के समुद्र हैं । उनका सुन्दर श्रीमुख, सुहावने नेत्र और सरल स्वभाव था ॥ ३ ॥

कहत राम-गुन-गन अनुरागे। सब निज भाग सराहन लागे॥
हम सम पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहिँ राम जानत करि मोरे॥४॥

सब लोग प्रेम में भरकर रामचन्द्रजी के गुण-गणों का वर्णन करने लगे और अपने अपने भाग्य की बड़ाई करने लगे। वे कहने लगे कि जगत् में हमारे समान पुण्यवान् थोड़े हैं जिनको रामचन्द्रजी अपना करके जानते हों॥ ४॥

दो०—प्रेममगन तेहि समय सब सुनि आवत मिथिलेसु।
सहित सभा संभ्रम उठेउ रबि-कुल-कमल-दिनेसु॥२७५॥

उसी समय मिथिला-नरेश (जनक) को आते हुए सुनकर सब लोग प्रेम में भर गये। सूर्य-कुल-कमल-दिवाकर रामचन्द्रजी सभा-सहित (उनका स्वागत करने के लिए) सम्मान के साथ उठ खड़े हुए॥ २७५॥

चौ०—भाइ-सचिव-गुरु-पुरजन-साथा। आगे गवनु कीन्ह रघुनाथा॥
गिरिवरु दीख जनकपति जबहीँ। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीँ॥१॥

भाइयों, मन्त्री, गुरु और नगर-निवासियों (प्रजा) को साथ में लिये हुए रघुनाथजी आगे गये। उधर जनकजी ने ज्यों हीं गिरिराज चित्रकूट देखा त्यों हीं उन्होंने उसे प्रणाम कर रथ छोड़ दिया (वे पैदल चलने लगे)॥ १॥

राम-दरसु-लालसा-उछाहू। पथस्रम लेसु कलेसु न काहू॥
मन तहँ जहँ रघु-बर-बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥२॥

रामचन्द्रजी के दर्शन करने की लालसा और उत्साह से रास्ते में किसी को परिश्रम और क्लेश नहीं मालूम हुआ। इसका यह कारण था कि उनका मन तो वहाँ था जहाँ रामचन्द्र और जानकी थे, फिर बिना मन के शरीर के सुख-दुःख की सुध किसको हो सकती है?॥ २॥

आवत जनक चले यहि भाँती। सहित समाज प्रेम मति माँती॥
आये निकट देखि अनुरागे। सादर मिलन परसपर लागे॥३॥

इस तरह जनकजी समाज-सहित प्रेम में बावले चले आते थे। रामचन्द्रजी उनको पास में आये देखकर प्रफुल्लित हो गये और सब लोग बड़े आदर के साथ आपस में मिलने लगे॥ ३॥

लगे जनक मुनि-जन-पद बंदन। रिषिन्ह प्रनामु कीन्ह रघुनन्दन॥
भाइन्ह सहित रामु मिलि राजहिँ। चले लेवाइ समेत समाजहिँ॥४॥

जनकजी ऋषियों के चरणों की वन्दना करने लगे और रामचन्द्रजी ने भी ऋषियों को प्रणाम किया। भाइयों समेत रामचन्द्रजी जनकराज से मिलकर उन्हें समाज सहित लिवा ले चले॥ ४॥

दो०—आस्रम सागर साँतरस पूरन पावन पाथु ।
सेन मनहुँ करनासरित लिये जाहिँ रघुनाथु ॥२७६॥

(उस अवसर की शोभा ऐसी हुई) मानों रामचन्द्रजी का आश्रम समुद्र है, उसमें शान्ति-रस-रूपी जल भरा हुआ है, राजा जनक की सेना मानों करुणा की नदी है, जिसे रामचन्द्रजी अपने आश्रमरूपी समुद्र से मिलाने के लिये जाते हैं ॥ २७६ ॥

चौ०—बोरति ग्यान बिराग करारे । बचन ससोक मिलत नद नारे ॥
सोच उसास समीरतरंगा । धीरज तट-तरु-बर कर भंगा ॥१॥

यह करुणा-नदी ज्ञान-वैराग्यरूपी किनारों को डुबाती हुई, शोक-भरे वचनरूपी नद और नालों से मिलकर बढ़ती हुई, सोच की ऊँची ऊँची श्वासरूपी लहरें उठाती हुई, धीरजरूपी किनारे के बड़े वृक्षों को तोड़ती हुई जाती है ॥ १ ॥

बिषम बिषाद तोरावति धारा । भय भ्रम भवँर अवर्त अपारा ॥
केवट बुध बिद्या बड़ि नावा । सकहिँ न खेइ एक नहिँ आवा ॥२॥

(रामचन्द्रजी का वनवास, राजा दशरथ का मरण, भरतजी का राज्य न लेना इत्यादि का) विषम दुःख इस नदी की तेज धारा है, (अब आगे ईश्वर क्या करेगा, यह) डर और संदेह उस नदी का भँवर और चक्र हैं । वसिष्ठ मुनि आदि विद्वान् नाव के मल्लाह हैं। उन विद्वानों की विद्या ही बड़ी नाव है, परन्तु उस नाव को कोई भी नहीं खे सकता था । किसी को एक उपाय भी न सूझता था ॥ २ ॥

बनचर कोल किरात बेचारे । थके बिलोकि पथिक हिय हारे ॥
आस्रम उदधि मिली जब जाई । मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई ॥३॥

वन में फिरनेवाले बेचारे कोल और भील ही मानों बटोही हैं । वे उस नदी को देखकर थक गये, उनका धीरज जाता रहा और वे अपने मन में हार मान गये । जब वह करुणारूपी नदी आश्रमरूपी समुद्र में जाकर मिली, तो मानों समुद्र भी व्याकुल हो उठा । सारांश यह कि जो समुद्र शान्त रस से परिपूर्ण था वह इस करुणानद के मिलने से खलबला उठा और चारों ओर करुणा रस ही छा गया ॥ ३ ॥

सोक-बिकल दोउ राज समाजा । रहा न ग्यानु न धीरजु लाजा ॥
भूप-रूप-गुन-सील सराही । रोवहिँ सोकसिंधु अवगाही ॥४॥

दोनों राज-समाज शोक से घबरा गये । उनमें ज्ञान, धीरज और लज्जा कुछ भी नहीं रह गई । राजा दशरथ के रूप, गुण और शील की सराहना करते हुए वे शोकरूपी समुद्र में डूब कर रोने लगे ॥ ४ ॥

छंद——अवगाहि सोकसमुद्र सोचहिँ नारि नर व्याकुल महा।
देइ दोष सकल सरोष बोलहिँ बाम बिधि कीन्हो कहा॥
सुर सिद्ध तापस जोगिजन मुनि देखि दसा बिदेह की।
तुलसी न समरथु कोउ जो तरि सकइ सरित सनेह की॥

शोक-समुद्र में ग़ोते लगाते हुए स्त्री-पुरुष महाव्याकुल होकर सोच करने लगे। वे सब विधाता को दोष देते हुए क्रोध में भरकर कहने लगे कि प्रतिकूल विधाता ने यह क्या किया! तुलसीदासजी कहते हैं कि देवता, सिद्ध, तपस्वी, योगी लोग और मुनि किसी को सामर्थ्य नहीं थी कि वे उस समय राजा जनक की दशा को देख उस स्नेह की नदी को तैरकर पार कर सकें॥

सो०——किये अमित उपदेस जहँ तहँ लोगन्ह मुनिबरन्ह।
धीरजु धरिय नरेस कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन॥२७७॥

जहाँ तहाँ मुनिवरों ने लोगों को अपार उपदेश दिये और वसिष्ठजी ने राजा जनक से कहा कि आप धीरज धरिए॥ २७७॥

चौ०—जासु ग्यानरबि भवनिसि नासा। बचनकिरन मुनि-कमल-बिकासा॥
तेहि कि मोह ममता नियराई। यह सिय-राम-सनेह बडाई॥१॥

जिस जनक के ज्ञानरूपी सूर्य से संसाररूपी रात का नाश हो जाता है और जिसके वचनरूपी किरणों से मुनिरूपी कमल खिल जाते हैं, उसके पास क्या मोह और ममता आ सकते हैं? पर नहीं, यह सीता-रामजी के स्नेह की महिमा है (कि ऐसा हो गया)॥ १॥

बिषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥
राम-सनेह-सरस मन जासू। साधुसभा बड आदर तासू॥२॥

वेदों में कहा है कि संसार में तीन प्रकार के जीव हैं—विषयी, चतुर साधक (मुमुक्षु, जिन्हें मोक्ष मिलने की इच्छा हो) और सिद्ध (मुक्त)। इन तीनों में जिसका चित्त रामचन्द्रजी के स्नेह का रसिक है, सज्जनों की सभा में उसी का बड़ा आदर है॥ २॥

सोह न रामप्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥
मुनि बहुबिधि बिदेहु समुझाये। रामघाट सब लोग नहाये॥३॥

जैसे बिना कर्णधार (मल्लाह) के नाव किसी काम की नहीं, वैसे ही रामचन्द्रजी के प्रेम बिना ज्ञान किसी काम का नहीं। वसिष्ठजी ने राजा जनक को बहुत तरह से समझाया। फिर सब लोगों ने रामघाट पर स्नान किया॥ ३॥

सकल सोक-संकुल नरनारी । सो बासर बीतेउ बिनु बारी ॥
पसु खग मृगन्ह न कीन्ह अहारू । प्रिय परिजन कर कवन बिचारू ॥४॥

वह दिन सभी स्त्री-पुरुषों को सोच और व्याकुलता में बिना अन्न जल के ही बीत गया। पशुओं, पक्षियों और मृगों ने भी कुछ नहीं खाया, तब प्यारे कुटुम्बियों का तो कहना ही क्या है ? ॥ ४ ॥

दो०—दोउ समाज निमिराजु रघुराजु नहाने प्रात ।
बैठे सब बट-बिटप-तर मन मलीन कृसगात ॥२७८॥

निमिराज (जनक) और रघुराज (रामचन्द्र) इन दोनों ओर के समाज दूसरे दिन प्रातःकाल स्नान कर बड़ के वृक्ष के नीचे आकर बैठे। सबके मन उदास और अंग दुबले हैं ॥ २७८ ॥

चौ०—जे महिसुर दसरथ-पुर-बासी। जे मिथिला-पति-नगर-निवासी ॥
हंस-बंस-गुरु जनकपुरोधा । जिन्ह जग मगु परमारथ सोधा ॥१॥

जो अयोध्या नगरी के और जो मिथिलापति (जनक) के नगर के निवासी ब्राह्मण थे, और सूर्यवंश के गुरु (वसिष्ठ) तथा जनक के पुरोहित (शतानन्द), जिन्होंने संसार में परमार्थ का मार्ग ढूँढ़ रक्खा है ॥ १ ॥

लगे कहन उपदेस अनेका । सहित धरम नय बिरति बिबेका ॥
कौसिक कहि कहि कथा पुरानी । समुझाई सब सभा सुबानी ॥२॥

वे सब धर्म, नीति, वैराग्य और ज्ञान के भरे हुए अनेक उपदेश कहने लगे। विश्वामित्रजी ने अनेक पुरानी कथायें सुना सुनाकर सब सभा को अच्छी वाणी से समझाया ॥ २ ॥

तब रघुनाथ कौसिकहिँ कहेऊ। नाथ कालि जल बिनु सब रहेऊ ॥
मुनि कह उचित कहत रघुराई। गयउ बीति दिन पहर अढाई ॥३॥

तब रघुनाथजी ने विश्वामित्रजी से कहा कि महाराज ! कल समाज ने पानी भी नहीं पिया है। यह सुनकर विश्वामित्रजी ने कहा कि रामचन्द्रजी ठीक कहते हैं, ढाई पहर दिन आज भी बीत गया ॥ ३ ॥

रिषि-रुख लखि कह तिरहुतिराजू। इहाँ उचित नहिँ असन अनाजू ॥
कहा भूप भल सबहिँ सोहाना। पाइ रजायसु चले नहाना ॥४॥

विश्वामित्रजी का रुख देखकर मिथिला-नरेश (जनक) कहने लगे कि यहाँ अन्न का भोजन करना उचित नहीं है (कन्द, मूलादि से ही निर्वाह करना चाहिए)। राजा का यह कहना सबको बहुत अच्छा लगा। वे सब आज्ञा पाकर स्नान करने चले ॥ ४ ॥

दो०—तेहि अवसर फल फूल दल मूल अनेक प्रकार।
लेइ आये बनचर बिपुल भरि भरि काँवरि भार ॥२७६॥

इतने ही में वनचर (कोल-भील) लोग अनेक प्रकार के फल, फूल, पत्ते, मूल आदि—बड़ी बड़ी काँवरों में भर भरकर—ले आये ॥ २७९ ॥

चौ०—कामद भे गिरि रामप्रसादा। अवलोकत अपहरत बिषादा ॥
सर सरिता बन भूमि बिभागा। जनु उमगत आनँद अनुरागा ॥१॥

चित्रकूट पर्वत रामचन्द्रजी की कृपा से सबकी इच्छा पूर्ण करनेवाला हो गया। वह दर्शन-मात्र ही से सब दुःखों को दूर कर देता था। वहाँ के तालाब, नदियाँ, जङ्गल और ज़मीन के हिस्से सब मानों आनन्द में उमँग रहे थे ॥ १ ॥

बेलि बिटप सब सफल सफूला। बोलत खग मृग अलि अनुकूला ॥
तेहि अवसर बन अधिक उछाहू। त्रिबिध समीर सुखद सब काहू ॥२॥

सभी बेलें और वृक्ष सदा फूले फले रहते थे; पक्षी, मृग और भौंरे सुहावने बोलते थे। उस अवसर पर वन में अधिक उत्साह था। सबको सुख देनेवाली तीन प्रकार की (शीतल, मन्द और सुगन्ध) वायु चलती थी ॥ २ ॥

जाइ न बरनि मनोहरताई। जनु महि करति जनक-पहुनाई ॥
तब सब लोग नहाइ नहाई। राम जनक मुनि आयसु पाई ॥३॥

वहाँ की मनोहरता वर्णन नहीं की जा सकती, मानों पृथ्वी जनकराज की पहुनाई करने लगी। फिर सब लोग स्नान करके श्रीरामचन्द्र और जनक की आज्ञा पाकर ॥ ३ ॥

देखि देखि तरुबर अनुरागे। जहँ तहँ पुरजन उतरन लागे ॥
दल फल मूल कंद बिधि नाना। पावन सुंदर सुधासमाना ॥४॥

अच्छे (छायादार) वृक्ष देख देखकर पुरवासी उनके नीचे प्रेम से उतरने लगे। फिर पवित्र, सुन्दर और अमृत समान स्वादिष्ठ अनेक प्रकार के पत्ते, फल, फूल और कन्द ॥ ४ ॥

दो०—सादर सब कहँ रामगुरु पठये भरि भरि भार।
पूजि पितर सुर अतिथि गुरु लगे करन फलहार ॥२८०॥

राम-गुरु वसिष्ठजी ने सबके पास डाली भर भरकर आदर के साथ भेज दिये। सब लोग पितर, देवता, अतिथि और गुरु का पूजन कर फलाहार करने लगे ॥ २८० ॥

चौ०—एहि बिधि बासर बीते चारी। रामु निरखि नरनारि सुखारी ॥
दुहुँ समाज असि रुचि मन माहीं। बिनु सियराम फिरब भल नाहीं ॥१॥

इसी तरह चार दिन बीत गये। रामचन्द्रजी का दर्शन पाकर सब नर-नारी प्रसन्न थे। अयोध्या और जनकपुरी दोनों ओर की मण्डली के मन में यही इच्छा थी कि सीताराम के बिना घर लौटना अच्छा नहीं ॥ १ ॥

सीताराम संग बनबासू। कोटि अमर-पुर-सरिस सुपासू॥
परिहरि लषन-रामु-बैदेही। जेहि घरु भाव बाम बिधि तेहि॥२॥

सीतारामजी के साथ वनवास में रहना करोड़ों स्वर्ग के समान सुखदायक है। जिसको रामचन्द्र, लक्ष्मण और जानकी को छोड़कर घर प्यारा लगे उसको विधाता प्रतिकूल जानना चाहिए ॥ २ ॥

दाहिन दैव होइ जब सबहीं। रामसमीप बसिय बन तबहीं॥
मंदाकिनिमज्जन तिहुँ काला। रामदरसु मुद-मंगल-माला॥३॥

जब सब प्रकार से दैव अनुकूल हो तभी वन में रामचन्द्रजी के पास निवास मिले। मन्दाकिनी का त्रिकाल-स्नान और रामचन्द्रजी का दर्शन आनन्द-मङ्गल का समूह है ॥ ३ ॥

अटनु राम-गिरि बन तापस थल। असनु अमियसम कंद मूल फल॥
सुखसमेत संबत दुइ साता। पलसम होहिं न जनियहिं जाता॥४॥

रामगिरि (चित्रकूट) के वनों और तपस्वियों के स्थानों में पर्यटन होगा तथा अमृत समान कन्द-मूल, फल का भोजन मिलेगा। यों आनन्द के साथ चौदह वर्ष पल के समान हो जायँगे, जाते हुए मालूम हो न होंगे ॥ ४ ॥

दो०—एहि सुख जोग न लोग सब कहहिं कहाँ अस भागु।
सहज सुभाय समाज दुहुँ राम-चरन-अनुरागु॥२८१॥

दोनों समाज सहज स्वभाव से रामचन्द्रजी के चरणों में प्रीति करते हुए आपस में कहने लगे कि हमारे ऐसे भाग्य कहाँ हैं जो हमको ऐसा सुख मिले ॥ २८१ ॥

चौ०—एहि बिधि सकल मनोरथ करहीं। बचन सप्रेम सुनत मन हरहीं॥
सीयमातु तेहि समय पठाई। दासी देखि सुअवसरु आई॥१॥

सब लोग इसी तरह मनोरथ करते थे और प्रेम-समेत ऐसे वचन कहते थे, जो सुननेवाले के मन को हर लें। उसी समय सीताजी की माता ने एक दासी भेजी, जो अच्छा मौक़ा देखकर आई ॥ १ ॥

सावकास सुनि सब सिय सासू। आयउ जनक-राज रनिवासू॥
कौसल्या सादर सनमानी। आसन दिये समयसम आनी॥२॥

सीताजी की सब सासें सावकाश (मिलने के लिए फ़ुरसत में) हैं, ऐसा समाचार सुनकर जनक राजा का रनिवास उनसे मिलने को आया। कौसल्याजी ने आदर के साथ उनका सम्मान कर समयानुसार (जैसे उस समय वहाँ प्राप्त थे) उन्हें आसन दिये ॥ २ ॥

सीलु सनेहु सकल दुहुँ ओरा। द्रवहिं देखि सुनि कुलिस कठोरा ॥
पुलक सिथिल तनु बारि बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन ॥३॥

दोनों ओर सबके शील और प्रेम इतने सरस थे कि जिनको देख-सुनकर कठोर वज्र भी पिघल जाय। सभी के शरीर पुलकित हो गये, गात्र ढीले पड़ गये और नेत्रों से आँसू बहने लगे। वे सभी पैरों के नखों से ज़मीन पर लिखने और सोचने लगीं (स्त्रियों का स्वभाव होता है कि वे चिन्ता में नख से ज़मीन खोदती हैं) ॥ ३ ॥

सब सिय-राम-प्रीति किसि मूरति। जनु करुना बहुबेष बिसूरति ॥
सीयमातु कह बिधिबुधि बाँकी। जो पयफेनु फोर पबिटाँकी ॥४॥

सभी स्त्रियाँ सीतारामजी के प्रेम की मूर्त्तियाँ-सी थीं, मानों करुणा बहुत-से वेष धारण किये स्वयं बिलखती हो। सीताजी की माता (सुनयना) ने कहा—विधाता की बुद्धि बाँकी (टेढ़ी, निर्दय) है, जो दूध के फेन को वज्र की टाँकी से फोड़ रहा है, अर्थात् दूध-फेन से सुकुमार युगल किशोरों को ऐसा दुःख दे रहा है ॥ ४ ॥

दो०—सुनिय सुधा देखिय गरल सब करतूति कराल।
जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल ॥२८२॥

विधाता की सभी करतूत भयङ्कर है। जहाँ सुना जाय अमृत, वहाँ देखने में आवे विष! (राजतिलक सुनकर वनवास देख रही हैं) कौए (धूर्त) उल्लू (बुद्धिहीन) और बगले (पाखंडी) तो जहाँ तहाँ (सर्वत्र ही) होते हैं, पर हंस (विवेकी) केवल एक मानसरोवर पर मिलते हैं ॥ २८२ ॥

चौ०—सुनि ससोच कह देबि सुमित्रा। बिधिगति बडि बिपरीत बिचित्रा ॥
जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल-केलि-सम बिधिमति भोरी ॥१॥

यह सुनकर सुमित्राजी (लक्ष्मण की माता) सोच में भरकर कहने लगीं—विधाता की गति बहुत ही विपरीत और विचित्र है, जो संसार को पैदा करता, पालता और फिर संहार कर देता है। विधाता की बुद्धि बालक के खेल की-सी भोली है। (बालक खेल ही खेल में घर आदि कई चीज़ें बनाकर बिगाड़ डालता है। उसे हर्ष-शोक कुछ नहीं होता) ॥ १ ॥

कौसल्या कह दोसु न काहू। करमबिबस दुख सुख छति लाहू ॥
कठिन करमगति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता ॥२॥

कौसल्याजी ने कहा—इसमें किसी का दोष नहीं। दुःख, सुख, हानि, लाभ कर्म के वश हैं। जो विधाता अच्छे और बुरे फलों का देनेवाला है, वही कठिन कर्म की गति को जानता है ॥ २ ॥

ईस रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय बिषहु अमी के॥
देबि मोहबस सोचिय बादी। बिधिप्रपंचु अस अचल अनादी॥३॥

उस ईश्वर की इच्छा सभी के सिर पर है (सबको उसी के अनुसार चलना पड़ता है), जो विष और अमृत दोनों को देता और जगत् को पैदा करता, पालता और हरता है। हे देवि! मोह के वश व्यर्थ हो सोच करना है। विधाता का प्रपंच तो ऐसा ही अनादि काल से अटल चला आता है॥ ३॥

भूपति जियब मरब उर आनी। सोचिय सखि लखि निज हित-हानी॥
सीयमातु कह सत्य सुबानी। सुकृती अवधि अवध-पति-रानी॥४॥

हे सखी, महाराज (दशरथ) का जीना और मरना, जो में यादकर जो सोच होता है, वह अपने ही लाभ और हानि के विचार से (स्वार्थ के लिए)। सीताजी की माता ने कहा—यह सत्य और अच्छी वाणी है, तुम पुण्यवानों के सीमा-रूप अयोध्यानाथ (दशरथ) की रानी हो (इसी से ऐसा कहती हो)॥ ४॥

दो०—लषनु रामु सिय जाहु बन भल परिनाम न पोचु।
गहबरि हिय कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु॥२८३॥

सुनयना के वचन सुनकर कौसल्याजी ने गद्गद-हृदय होकर कहा—राम, लक्ष्मण और सीता वन में जायँ, इसका परिणाम अच्छा ही होगा, बुरा नहीं; पर मुझे तो भरत का सोच है॥ २८३॥

चौ०—ईसप्रसाद असीस तुम्हारी। सुत-सुतबधू देव-सरि-बारी॥
रामसपथ मैं कीन्ह न काऊ। सो करि कहउँ सखी सतिभाऊ॥१॥

ईश्वर की कृपा और तुम्हारे आशीर्वाद से मेरे चारों पुत्र और उनकी स्त्रियाँ (पतोहुएँ) गङ्गाजी का जल (विशुद्ध) है। हे सखी! मैंने कभी रामचन्द्र की सौगंद नहीं खाई, किन्तु वह खाकर सच्चे भाव से कहती हूँ कि॥ १॥

भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिँ उलीचे॥२॥

भरत का शील, गुण, नम्रता, बड़ाई, भाइपन, भक्ति, विश्वास और सज्जनता कहते सरस्वती की भी बुद्धि हिचक जाय! क्या सीपों से समुद्र उलीचे जा सकते हैं? (अर्थात् जैसे सीप से समुद्र नहीं खाली हो सकता, वैसे ही भरत के गुण वर्णन करने से समाप्त नहीं हो सकते)॥२॥

जानउँ सदा भरत कुलदीपा। बार बार मोहि कहेउ महीपा॥
कसे कनकु मनि पारिखि पाये। पुरुष परिखियहि समय सुभाये॥३॥

मैं भरत को सदा ही से कुल का दीपक जानती हूँ और यही मुझे बार बार राजा ने भी कहा था। जैसे, सोने की कसे जाने पर (कसौटी में) और मणि की, पारखी के हाथ में जाने पर, परख होती है—उनका दाम मालूम होता है वैसे ही पुरुष का स्वभाव अवसर पड़ने पर परखा जाता है॥ ३॥

अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक सनेह सयानप थोरा॥
सुनि सुर-सरि-सम पावनि बानी। भईं सनेह बिकल सब रानी॥४॥

आज मेरा ऐसा कहना अनुचित है, क्योंकि शोक और स्नेह में सयानापन बहुत कम रह जाता है। कौसल्याजी की, गङ्गाजी के समान, निर्मल वाणी को सुनकर सब रानियाँ स्नेह से विह्वल हो गईं॥ ४॥

दो०—कौसल्या कह धीर धरि सुनहु देवि मिथिलेसि।
को बिबेक-निधि-बल्लभहि तुम्हहिं सकइ उपदेसि॥२८४॥

कौसल्याजी ने फिर धीर धरकर कहा—हे देवि मिथिलेश्वरी! सुनो, तुम ज्ञान के समुद्र राजा जनक की पत्नी हो। तुमको कौन उपदेश दे सकता है?॥ २८४॥

चौ०—रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई॥
रखियहिं लषन भरत गवनहिं बन। जौं यह मत मानइ महीपमन॥१॥

रानी! मौक़ा पाकर राजा (जनक) से अपनी ओर से समझाकर कहना कि वे लक्ष्मण को तो रख लें (घर के लिए) और भरत वन को जायँ (रामचन्द्र के साथ)। यदि राजा का मन यह बात माने॥ १॥

तौ भल जतनु करब सुबिचारी। मोरे सोचु भरत कर भारी॥
गूढ़सनेह भरत मन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं॥२॥

तो अच्छी तरह विचारकर ऐसा यत्न करना। मुझे भरत का भारी सोच है। भरत के मन में गूढ़ प्रेम है। इनके रहने से (वन में साथ न जाने से) मुझे भलाई नहीं जान पड़ती (अर्थात् परिणाम बुरा मालूम होता है)॥ २॥

लखि सुभाउ सुनि सरल सुबानी। सब भईं मगन करुनरस रानी॥
नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि। सिथिल सनेह सिद्ध जोगी मुनि॥३॥

कौसल्या का स्वभाव देखकर और उनकी सीधी तथा अच्छी वाणी को सुनकर सब रानियाँ करुण रस में निमग्न हो गईं। आकाश से फूलों की झड़ी लग गई और धन्य! धन्य! ध्वनि छा गई। सिद्ध, योगी और मुनि भी स्नेह से ढीले हो गये॥ ३॥

सबु रनिवासु बिथकि लखि रहेऊ। तब धरि धीर सुमित्रा कहेऊ॥
देबि दंडजुग जामिनि बीती। राममातु सुनि उठी सप्रीती॥४॥

सब रनिवास थकित होकर देखता ही रह गया, तब सुमित्रा ने धीरज धरकर कहा कि हे देवि ! दो घड़ी रात बीत गई। यह सुनकर कौसल्याजी बड़ी प्रीति के साथ उठीं ॥ ४ ॥

दो०—बेगि पाय धारिय थलहिँ कह सनेह सतिभाय ।

हमरे तौ अब ईसगति कै मिथिलेसु सहाय ॥२८५॥

कौसल्याजी ने रानियों से कहा—मैं स्नेह और सत्य भाव से कहती हूँ कि आप लोग अब जल्दी अपने डेरे को पदार्पण करें। अब तो हमारी शरण ईश्वर है, या मिथिलाधीश (जनकजी) हमारे सहायक हैं ॥ २८५ ॥

चौ०—लखि सनेह सुनि बचन बिनीता। जनकप्रिया गहि पाय पुनीता ॥

देबि उचित असि बिनय तुम्हारी। दसरथ-घरनि राम-महतारी ॥१॥

कौसल्याजी का स्नेह देखकर और उनके विनीत वचन सुनकर राजा जनक की स्त्री ने उनके पवित्र पाँवों को पकड़कर (पाँव पड़ते हुए) कहा—हे देवि ! तुम्हारी ऐसी नम्रता उचित ही है, क्योंकि तुम महाराज दशरथ की रानी और रामचन्द्रजी की माता हो ! ॥ १ ॥

प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तृन धरहीं ॥

सेवकु राउ करम-मन-बानी। सदा सहाय महेस भवानी ॥२॥

जो मालिक होते हैं वे अपने नीच जन का भी आदर करते हैं। देखो, आग धुएँ को और पहाड़ घासों को अपने सिर पर रखते हैं ! राजा (जनक) कर्म, मन और वाणी से आपके सेवक हैं और सहायक तो सदा शङ्कर पार्वतीजी हैं ॥ २ ॥

रउरे अंग जोगु जग को है। दीप सहाय कि दिनकर सोहै ॥

रामु जाइ बन करि सुरकाजू। अचल अवधपुर करिहहिँ राजू ॥३॥

हे रानी ! जगत् में आपका सहायक होने के योग्य कौन है ? कहीं सूर्य का सहायक दीपक बनाया जाय तो सुहाता है ? रामचन्द्रजी वन में जाकर देवताओं का कार्य करेंगे, फिर लौटकर अयोध्यापुरी में अचल राज्य करेंगे ॥ ३ ॥

अमर नाग नर राम-बाहु-बल। सुख बसिहहिँ अपने अपने थल ॥

यह सब जागबलिक कहि राखा। देबि न होइ मुधा मुनि भाखा ॥४॥

देवता, नाग और मनुष्य सब रामचन्द्रजी की भुजाओं के बल से सुखपूर्वक अपने अपने ठिकानों पर निवास करेंगे। यह सब याज्ञवल्क्य मुनि ने कह रक्खा है। हे देवि ! मुनि का वचन झूठा नहीं होता ॥ ४ ॥

दो०—अस कहि पग परि प्रेम अति सियहित बिनय सुनाइ ।

सियसमेत सियमातु तब चली सुआयसु पाइ ॥२८६॥

सीताजी की माता ऐसा कहकर, बड़े प्रेम से पाँव पड़कर, सीताजी के लिए नम्रता सुनाकर (अर्थात् उनको साथ ले जाने की अनुमति माँगकर) और आज्ञा पाकर, सीता-समेत (डेरे को) चलीं ॥ २८६ ॥

चौ०—प्रिय परिजनहिँ मिली बैदेही। जो जेहि जोग भाँति तेहि तेही ॥
तापसबेष जानकी देखी। भा सबु बिकल बिषाद बिसेखी ॥१॥

जानकीजी (डेरे में जाकर) प्यारे कुटुम्बियों से, जो जिस लायक़ थे उनसे उसी तरह, मिलीं। जानकीजी को तपस्वी के वेष में देखकर सब परिवार विशेष दुःख से व्याकुल हुआ ॥१॥

जनक रामगुरु आयसु पाई। चले थलहिँ सिय देखी आई ॥
लीन्हि लाइ उर जनक जानकी। पाहुनि पावन प्रेम प्रान की ॥२॥

उधर राजा जनक रामचन्द्रजी के गुरु वसिष्ठजी की आज्ञा पाकर डेरे को चले। वहाँ आकर उन्होंने सीताजी को देखा। जनकजी ने प्रेम की प्राण, पवित्र पाहुनी जानकी को हृदय से लगा लिया ॥ २ ॥

उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भयउ भूपमनु मनहु प्रयागू ॥
सियसनेह बटु बाढ़त जोहा। तापर राम-प्रेम-सिसु सोहा ॥३॥

जनकजी के हृदय में प्रेमरूपी समुद्र उमड़ पड़ा, मानों उस समय राजा जनक का चित्त प्रयागराज हो गया। उसमें सीता के प्रति स्नेहरूपी वट-वृक्ष बढ़ता हुआ दिखाई पड़ने लगा। उस वट-वृक्ष पर रामचन्द्रजी का प्रेमरूपी बालक शोभायमान हुआ ॥ ३ ॥

चिरजीवी मुनि ग्यानु बिकल जनु। बूड़त लहेउ बालअवलंबनु ॥
मोह-मगन मति नहिँ बिदेह की। महिमा सिय-रघु-बर-सनेह की ॥४॥

मानों राजा जनक के ज्ञानरूपी चिरजीवी (मार्कण्डेय) मुनि व्याकुल होकर उस समुद्र में डूबने लगे। इतने में वह बालक अवलम्बन (सहारा) मिल गया। राजा जनक की बुद्धि कभी मोह में फँसनेवाली नहीं, पर यहाँ जो मोह हुआ वह सीता-रामचन्द्रजी के स्नेह की महिमा है[१] ॥ ४ ॥

१—इन तीसरी और चौथी चौपाइयों में प्रयागराज की उपमा इसलिए दी है कि प्रयागराज के विषय में यह प्रसिद्धि है कि प्रलयकाल में भी यह तीर्थ ज्यों का त्यों बना रहता है। ज्यों ज्यों प्रलय का पानी बढ़ता है, त्यों त्यों अक्षयवट भी बढ़ता जाता है। वह रहता पानी के ऊपर ही है। मार्कण्डेय मुनि की कथा प्रसिद्ध है कि उन्होंने तपस्या की, उससे प्रसन्न होकर नारायण ने उन्हें दर्शन दिया। उनसे मुनि ने माया देखने की प्रार्थना की। तब 'तथास्तु' कहकर भगवान् के चले जाने पर वे देखते क्या हैं कि चारों ओर से समुद्र उमड़ा चला आता है। देखते ही देखते मुनि का आश्रम आदि सभी भूमि समुद्र में डूब गई। अकेले मार्कण्डेय को छोड़ और कोई नहीं बचा। वे उस जल में तूँबी जैसे वर्षों घूमते फिरे। फिर हरा भरा एक विशाल वट-वृक्ष देखकर मुनि बड़े प्रसन्न हुए। उस वृक्ष

दो०—सिय पितु-मातु-सनेह-बस बिकल न सकी सँभारि।
धरनिसुता धीरजु धरेउ समउ सुधरमु बिचारि ॥२८७॥

सीताजी पिता-माता के स्नेह में ऐसी विवश हुईं कि वे अपने को सँभाल नहीं सकीं। पर, फिर पृथ्वी (पृथ्वी जैसा क्षमा गुण और किसी में नहीं है) की कन्या जानकी ने समय और सद्धर्म का विचारकर धैर्य धारण किया॥ २८७॥

चौ०—तापसबेष जनक सिय देखी। भयउ प्रेमु परितोषु बिसेषी॥
पुत्रि पबित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सब कोऊ॥१॥

सीताजी को तपस्विनी के वेष में देखकर राजा जनक को अधिक प्रेम और सन्तोष हुआ। उन्होंने कहा—हे पुत्रि! तुमने दोनों वंश (पितृ-कुल, पति-कुल) पवित्र किये। तुम्हारा शुद्ध यश संसार में सब कोई गावेंगे॥ १॥

जिति सुरसरि कीरतिसरि तोरी। गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी॥
गंग अवनिथल तीनि बडेरे। एहि किय साधुसमाज घनेरे॥२॥

तुम्हारी कीर्तिरूपी नदी ने देव-नदी (गंगाजी) को भी जीत लिया, क्योंकि गंगाजी तो एक ही ब्रह्माण्ड में हैं, तुम्हारी कीर्ति करोड़ों ब्रह्माण्डों में छा जायगी। पृथ्वी पर गंगाजी के बड़े स्थल तीन ही हैं (हरिद्वार, प्रयागराज, काशी) पर इस कीर्ति ने तो कितने ही साधुओं के समूह उत्पन्न किये हैं॥ २॥

पितु कह सत्य सनेह सुबानी। सीय सकुचि महि मनहुँ समानी॥
पुनि पितु मातु लीन्हि उर लाई। सिख आसिष हित दीन्हि सुहाई॥३॥

पिताजी तो स्नेह से सच्ची शुभ वाणी कहते थे, पर सीताजी संकोच के मारे मानों ज़मीन में धँस गईं (अर्थात् उन्होंने नीचा सिर कर दीनमुद्रा कर ली)। फिर पिता-माता ने उन्हें हृदय से लगाकर उनके हित के लिए शिक्षा और आशीर्वाद दिये॥ ३॥

कहति न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भलु नाहीं॥
लखि रुख रानि जनायेउ राऊ। हृदय सराहत सीलु सुभाऊ॥४॥

के ऊपर देखा तो एक सुन्दर बालक पत्तों के सम्पुट में सो रहा है। ज्यों ही उसे उठाने की इच्छा कर मुनि उस बालक की ओर बढ़े त्यों ही उसके श्वास के साथ पेट के भीतर जा पैठे। वहाँ सारी पृथ्वी, समुद्र, अपना आश्रम आदि देख उन्होंने कुछ दिन वहीं विश्राम किया, फिर उसी बालक के उच्छ्वास द्वारा बाहर निकलकर उसी जल में आ गिरे। अन्त में देखा तो यह सब खेल दो घड़ी का था। माया नष्ट हो गई और मार्कण्डेय ज्यों के त्यों बने रहे। वह बालक शिशुवेष-धारी भगवान् थे।

सीताजी मन में संकोच करती हुई यह नहीं कह सकीं कि यहाँ रात को रहना अच्छा नहीं। पर रानी ने कन्या का रुख पहचानकर राजा जनक को सूचित किया और दोनों ने सीताजो के शील और स्वभाव की हृदय में प्रशंसा की ॥ ४ ॥

दो०—बारबार मिलि भेंटि सिय बिदा कीन्हि सनमानि ।
कही समय सिर भरतगति रानि सुबानि सयानि ॥२८८॥

फिर सोताजी से बार बार मिलकर उनका सम्मान कर उन्हें बिदा किया। चतुर रानो (सुनयना) ने अवसर पाकर भरतजी की गति (कौसल्याजो ने जैसी पहले कही थी) भली भाँति कह सुनाई ॥ २८८ ॥

चौ०—सुनि भूपाल भरत ब्यवहारू । सोन सुगंध सुधा ससिसारू ॥
मूँदे सजल नयन पुलके तन । सुजस सराहन लगे मुदित मन ॥१॥

भरतजो का व्यवहार (बर्ताव) सुनकर राजा जनक को ऐसा लगा जैसे सोने में सुगन्ध हो और अमृत में चन्द्रमा का सार (शीतलता का गुण)। नेत्रों में जल भर आया। उन्होंने आँखें बंद कर लीं। शरीर रोमाञ्चित हो गया और मन में प्रसन्न होकर वे शुद्ध यश की प्रशंसा करने लगे ॥ १ ॥

सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि । भरतकथा - भव-बंध-बिमोचनि ॥
धरम राजनय ब्रह्मबिचारू । इहाँ जथामति मोर प्रचारू ॥२॥

उन्होंने रानी से कहा—हे सुमुखि ! हे सुनयने ! सावधान होकर सुनो। भरत की कथा संसार-बंधन से छुड़ानेवाली है। धर्म, राजनीति और ब्रह्म-विचार इन विषयों में अपनी बुद्धि के अनुसार मेरा प्रवेश है ॥ २ ॥

सो मति मोरि भरत महिमाहीं । कहइ काह छलि छुअति न छाहीं ॥
बिधि गनपति अहिपति सिव सारद । कबि कोबिद बुध बुद्धिबिसारद ॥३॥

वह मेरी बुद्धि भरत को महिमा का वर्णन तो क्या करे, किसी बहाने से उसकी छाया को भी नहीं छूती ! (तात्पर्य यह कि इतनी अधिक महिमा है कि वह वर्णनातीत है) ब्रह्मा, गणपति, शेष, महादेव, सरस्वती, कवि, चतुर, पण्डित और बुद्धिमान् ॥ ३ ॥

भरत चरित कीरति करतूती । धरम सील गुन बिमल बिभूती ॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू । सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू ॥४॥

सभी को भरत के चरित्र, कीर्ति, करतूतें, धर्म, शील, शुद्ध गुण और ऐश्वर्य समझने में और सुनने में सुख देनेवाले हैं और गंगाजो के समान शुद्ध और स्वाद में तो अमृत का भी तिरस्कार करनेवाले हैं ॥ ४ ॥

दो०—निरवधि गुन निरुपम पुरुषु भरतु भरतसम जानि।
कहिय सुमेरु कि सेरसम कबि-कुल-मति सकुचानि ॥२८६॥

भरत के गुणों की अवधि (सीमा) नहीं। वे निरुपम (जिनको उपमा न दी जा सके) पुरुष हैं। भरत भरत ही के समान हैं ऐसा जानना चाहिए। कविगणों की बुद्धि इसलिए सकुचित हुई कि क्या सुमेरु पर्वत को सेर (तोलने का बाट) के बराबर बतला दें! अर्थात् भरत के लिए दूसरी उपमा देना ऐसा ही होगा॥ २८९॥

चौ०—अगम सबहिँ बरनत बरबरनी। जिमि जलहीन मीन गमु धरनी॥
भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिँ रामु न सकहिँ बखानी॥१॥

हे प्रिये! जिस तरह पानी-रहित (सूखी) ज़मीन मछली के चलने के लायक़ नहीं होती, उसी तरह भरत की महिमा कविगणों को वर्णन करने में अगम है (उनकी अक़्ल नहीं चलती)। रानी! सुनो, भरत की महिमा अपार है। उसे रामचन्द्रजी जानते हैं, किन्तु वे भी कह नहीं सकते! (सर्वज्ञ होने से जानते तो हैं, पर अपार होने से कह नहीं सकते)॥ १॥

बरनि सप्रेम भरत अनुभाऊ। तियजिय की रुचि लखि कह राऊ॥
बहुरहिँ लषनु भरत बन जाहीँ। सब कर भल सब के मन माहीँ॥२॥

इस तरह प्रेम के साथ भरत का प्रभाव वर्णन कर, फिर स्त्री के मन की रुचि देखकर, राजा जनक कहने लगे कि लक्ष्मण घर लौट जायँ और भरत बन को जायँ, यही सबके मन में है और इसी में सबका भला है॥ २॥

देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिँ तरकी॥
भरतु अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीँव समता की॥३॥

परंतु हे देवि! भरत और रामचन्द्रजी की प्रीति और प्रतीति (विश्वास) तर्क (अनुमान) में नहीं आ सकती। रामचन्द्रजी समता की सीमा हैं और भरतजी स्नेह तथा ममता की सीमा हैं अर्थात् भरतजी को ममता के वश हो जाना असंभव नहीं है॥ ३॥

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥
साधन-सिद्धि रामपग नेहू। मोहि लखि परत भरतमत एहू॥४॥

परमार्थ, स्वार्थ और संपूर्ण सुख भरत ने स्वप्न में भी मन में नहीं सोचे हैं। मुझे तो भरत का यही सिद्धान्त मालूम होता है कि सभी साधनों की सिद्धि रामचन्द्रजी के चरणों का प्रेम है॥ ४॥

दो०—भोरेहुँ भरत न पेलिहहिँ मनसहुँ रामरजाइ।
करिय न सोचु सनेहबस कहेउ भूप बिलखाइ॥२६०॥

अन्त में राजा ने बिलख कर कहा—भरत रामचन्द्रजी की आज्ञा को टालने का विचार तक भूल कर भी मन में न लावेंगे, इसलिए स्नेह के वश होकर हमें भी सोच नहीं करना चाहिए ॥ २९० ॥

चौ०—राम-भरत-गुन गनत सप्रोती । निसि दंपतिहिँ पलकसम बीती ॥
राजसमाज प्रात जुग जागे । न्हाइ न्हाइ सुर पूजन लागे ॥१॥

इस तरह रामचन्द्र और भरत के गुणों को प्रेम के साथ वर्णन करते करते उन दोनों (राजा-रानी) को सारी रात पल के समान बीत गई । सबेरे दोनों राज-समाज जागे और नहा नहाकर देवतों की पूजा करने लगे ॥ १ ॥

गे नहाइ गुरु पहिँ रघुराई । बंदि चरन बोले रुख पाई ॥
नाथ भरतु पुरजन महतारी । सोकबिकल बनबास दुखारी ॥२॥

रामचन्द्रजी स्नान कर गुरु के पास गये और चरणों में प्रणामकर, उनका रुख पाकर, बोले—हे नाथ ! भरत, नगर-निवासी जन और मातायें सभी सोच से व्याकुल और वनवास से दुखी हैं ॥ २ ॥

सहितसमाज राउ मिथिलेसू । बहुत दिवस भये सहत कलेसू ॥
उचित होइ सोइ कीजिय नाथा । हित सबही कर रउरे हाथा ॥३॥

राजा जनक को समाज-सहित क्लेश सहन करते बहुत दिन हो गये । इसलिए हे नाथ ! जो कुछ उचित हो सो कीजिए । सबका हित आपके हाथ है ॥ ३ ॥

अस कहि अति सकुचे रघुराऊ । मुनि पुलके लखि सील सुभाऊ ॥
तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा । नरकसरिस दुहुँ राजसमाजा ॥४॥

ऐसा कहकर रामचन्द्रजी बहुत सकुचा गये । इस शील-स्वभाव को देखकर मुनि वसिष्ठजी पुलकित हुए । उन्होंने कहा—हे राम ! तुम्हारे बिना सम्पूर्ण सुख के साज दोनों समाजों के लिए नरक के समान हैं ॥ ४ ॥

दो०—प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम ।
तुम्ह तजि तात सुहात गृह जिन्हहिँ तिन्हहिँ बिधि बाम ॥२९१॥

हे राम ! तुम प्राणों के प्राण, जीवों के जीव और सुखों के सुख हो । तुम्हें छोड़कर जिनको घर सुहाता हो उनको विधाता विपरीत है (वे हतभाग्य हैं) ॥ २९१ ॥

चौ०—सो सुखु धरमु करमु जरि जाऊ । जहँ न राम-पद-पंकज भाऊ ॥
जोग कुजोग ग्यांन अग्यानू । जहँ नहिँ रामप्रेम परधानू ॥१॥

जिसमें रामचन्द्र के चरण-कमलों में भाव न हो, वह सुख, धर्म और कर्म जल जाय; जिसमें रामचन्द्र का प्रेम प्रधान न हो वह योग कुयोग और वह ज्ञान, अज्ञान है ॥ १ ॥

तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेही । तुम्ह जानहु जिय जो जेहि केही ॥
राउर आयसु सिर सबही के । बिदित कृपालहिँ गति सब नीके ॥२॥

लोग तुम्हारे बिना दुखी और तुम्हीं से सुखी हैं। जिसके मन में जो है उसे तो तुम जानते ही हो (क्योंकि अन्तर्यामी हो)। आपकी आज्ञा सभी के सिर पर है, आप दयालु हैं, इसलिए सभी की गति आपको अच्छी तरह मालूम है॥ २॥

आपु आस्रमहिँ धारिय पाऊ । भयउ सनेहसिथिल मुनिराऊ ॥
करि प्रनामु तब रामु सिधाये । रिषि धरि धीर जनक पहिँ आये ॥३॥

अब आप आश्रम में पदार्पण कीजिए। इतना कह मुनिराज स्नेह से शिथिल हो गये। तब रामचन्द्रजी प्रणाम कर वहाँ से चल दिये और ऋषि वसिष्ठजी धैर्य धरकर जनक राजा के पास आये॥ ३॥

रामबचन गुरु नृपहिँ सुनाये । सील सनेह सुभाय सुहाये ॥
महाराज अब कीजिय सोई । सब कर धरमसहित हित होई ॥४॥

गुरुजी ने रामचन्द्रजी के शील, स्नेह और सद्भाव के सुन्दर वचन राजा को सुनाये और कहा—महाराज! अब वही कीजिए जिसमें सबका हित हो और धर्म भी बना रहे॥ ४॥

दो०—ग्यान निधान सुजान सुचि धरमधीर नरपाल ।
तुम्ह बिनु असमंजस समन को समरथ एहि काल ॥२९२॥

हे राजन्! तुम ज्ञान के स्थान, चतुर, पवित्र और धर्म में धीर हो। इस समय तुम्हारे बिना असमञ्जस (कठिनता) को शमन करने में और कौन समर्थ है?॥ २९२॥

चौ०—सुनि मुनिबचन जनक अनुरागे । लखि गति ग्यानु बिरागु बिरागे ॥
सिथिल सनेह गुनत मन माहीँ । आये इहाँ कीन्ह भल नाहीँ ॥१॥

मुनिजी के वचन सुनकर जनक राजा प्रेम में भर गये। उनको उस गति को देखकर ज्ञान और वैराग्य भी अलग हो गये। वे स्नेह के मारे शिथिल हो गये और मन में सोचने लगे कि हम यहाँ आये, यह अच्छा नहीं किया॥ १॥

रामहिँ राय कहेउ बन जाना । कीन्ह आपु प्रिय प्रेमप्रवाना ॥
हम अब बन तेँ बनहिँ पठाई । प्रमुदित फिरब बिबेक बढाई ॥२॥

राजा दशरथ ने रामचन्द्रजी को वन जाने को कहा और अपने प्यारे प्रेम को सच्चा कर दिखाया (प्राण त्यागकर)। पर अब हम विचार की बातें बढ़ाकर (ज्ञान की लम्बी चौड़ी बातें हाँक कर) रामचन्द्रजी को एक वन से दूसरे वन को भेजकर प्रसन्न हो लौटेंगे (दशरथ के समान प्राण न त्याग देंगे)॥ २॥

तापस मुनि महिसुर सुनि देखी। भये प्रेमबस बिकल बिसेखी॥
समउ समुझि धरि धीरजु राजा। चले भरत पहिँ सहित समाजा॥३॥

तपस्वी, मुनि और ब्राह्मण यह सब देख सुनकर प्रेमवश हो विशेष व्याकुल हुए। फिर राजा जनक समय विचारकर और धीरज धर समाजसहित भरतजी के पास चले॥ ३॥

भरत आइ आगे भइ लीन्हे। अवसरसरिस सुआसन दीन्हे॥
तात भरत कह तिरहुतिराऊ। तुम्हहिँ बिदित रघुबीरसुभाऊ॥४॥

भरतजी ने आकर आगे से लिया और उन्हें समयानुकूल अच्छे आसन दिये। फिर तिरहुत देश के राजा जनक भरतजी से कहने लगे—हे तात! तुमको रामचन्द्रजी का स्वभाव मालूम है॥ ४॥

दो०—राम सत्यब्रत धरमरत सब कर सीलु सनेहु।
संकट सहत सँकोचबस कहिय जो आयसु देहु॥२९३॥

रामचन्द्र सत्य प्रतिज्ञावाले, धर्मनिष्ठ हैं, पर उधर सबका शील और स्नेह भी उनके मन में है। इससे वे संकोच में पड़कर संकट सह रहे हैं। इसलिए अब जो आज्ञा हो, वह उनसे कहा जाय॥ २९३॥

चौ०—सुनि तन पुलकि नयन भरि बारी। बोले भरतु धीर धरि भारी॥
प्रभु प्रिय पूज्य पितासम आपू। कुल-गुरु-सम हित माय न बापू॥१॥

यह सुनकर भरतजी शरीर से पुलकित हो गये, उनके नेत्रों में जल भर आया। वे बहुत धैर्य धारणकर बोले—मुझे स्वामी रामचन्द्रजी प्रिय हैं और आप पिता के समान पूज्य हैं, कुलगुरु वसिष्ठजी के समान हितकारी तो मा-बाप भी नहीं हैं; अर्थात् वे माता-पिता से भी अधिक हैं॥ १॥

कौसिकादि मुनि सचिवसमाजू। ग्यान-अंबु-निधि आपुनु आजू॥
सिसु सेवक आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइय स्वामी॥२॥

विश्वामित्र आदि मुनि और मन्त्रि-मण्डल है तथा ज्ञान के सागर आप विराजमान हैं। हे स्वामी! (आप लोग) मुझे (अपना) बालक, सेवक और आज्ञाकारी समझकर शिक्षा दीजिए॥ २॥

एहि समाज थल बूझब राउर। मौन मलिन मैं बोलब बाउर॥
छोटे बदन कहउँ बडि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता॥३॥

ऐसा समाज, ऐसा जगह, फिर आपका पूछना! भला मैं गूँगा, मैला, बावला क्या बोलूँगा? (पर क्या करूँ, बिना बोले काम ही न चलेगा इसलिए) मैं छोटे मुँह बड़ी बात कहता हूँ। आप विधाता को प्रतिकूल समझकर क्षमा कीजिएगा॥ ३॥

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवाधरम कठिन जगु जाना॥
स्वामि-धरम स्वारथहिँ बिरोधू। बैरअंध प्रेमहिँ न प्रबोधू॥४॥

यह बात वेद, शास्त्र और पुराणों में प्रसिद्ध है और संसार जानता है कि सेवा-धर्म कठिन है। जिस तरह वैर से अन्धे हुए मनुष्यों को प्रेम का ज्ञान नहीं रहता (कैसे ही प्रेमी हों, वैर होने पर एक दूसरे का नाश हो सोचते हैं) इसी तरह स्वामि-धर्म और स्वार्थ का विरोध है, स्वार्थ सधे तो स्वामि-धर्म नहीं और जो स्वामि-धर्म सधे तो स्वार्थ नहीं॥ ४॥

दो०—राखि राम रुख धरमु ब्रतु पराधीन मोहि जानि।
सब के संमत सर्बहित करिय प्रेमु पहिचानि॥२९४॥

आप रामचन्द्रजी के रुख, धर्म और नियम को रखकर, मुझे पराधीन जानकर और प्रेम को पहिचानकर जो सबको सम्मत और सबके लिए हितकारी हो वही कीजिए॥ २९४॥

चौ०—भरतबचन सुनि देखि सुभाऊ। सहित समाज सराहत राऊ॥
सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे॥१॥

भरतजी के वचनों को सुनकर और उनके स्वभाव को देखकर समाज-सहित राजा जनक सराहने लगे। वे वचन सुगम, (सरल) किन्तु अगम, (गहरे मतलब के); कोमल, (सुनने में सुन्दर) पर (कर्तव्य में) कठोर, थे। अक्षर तो थोड़े थे परन्तु उनमें अर्थ अपार भरा था[1]॥ १॥

ज्यों मुख मुकुर मुकुरु निज पानी। गहि न जाइ अस अदभुत बानी॥
भूप भरतु मुनि साधु समाजू। गे जहँ बिबुध-कुमुद-द्विज-राजू॥२॥

जिस तरह अपने हाथ में दर्पण रहने पर भी दर्पण में दीखता हुआ मुख पकड़ा नहीं जाता, इसी तरह भरतजी की वाणी अद्भुत है जिसका अर्थ पकड़ा नहीं जाता। फिर राजा जनक, भरत, मुनि और सज्जनों का समाज—ये वहाँ गये, जहाँ देवतारूपी कुमुदों के खिलाने-वाले चन्द्र-स्वरूप रामचन्द्रजी थे॥ २॥

सुनि सुधि सोच बिकल सब लोगा। मनहु मीनगन नवजल जोगा॥
देव प्रथम कुल-गुरु-गति देखी। निरखि बिदेह सनेह बिसेखी॥३॥

इस बात को सुनकर सब लोग सोच में ऐसे व्याकुल हुए, जैसे नये जल का योग पाकर मछलियों का समूह होता है। देवता ने पहले कुलगुरु वसिष्ठजी की गति देखी फिर जनक राजा के विशेष स्नेह को देखा॥ ३॥

१—श्रीरामचन्द्र का रुख रखना, अपने को पराधीन कहना सुगम है, रामचन्द्रजी के धर्म और व्रत को रखने के लिए कहना, और उनकी धार्मिक प्रतिज्ञा, पितृ-आज्ञा-पालन अगम है, अयोध्या की प्रजा, माता, मंत्री, भरत आदि जो जो शरण आये हैं उनके मनोरथ सिद्ध करना, कठोर, सर्व-सम्मत मृदु और सर्वहितकारी मंजु है।

राम-भगति-मय भरत निहारे। सुर स्वारथी हहरि हिय हारे॥
सब कोउ राम प्रेममय पेखा। भये अलेख सोचबस लेखा॥४॥

और रामचन्द्रजी की भक्ति से पूर्ण भरतजी को देखा, यह सब देखकर स्वार्थी देवता लोग जी में हड़बड़ाकर हार गये। (क्योंकि यहाँ उनकी माया का प्रवेश नहीं) सभी ने रामचन्द्रजी को प्रेममय देखा। सब देवता लोग सोच के वश चित्र-लिखे से हो गये। अथवा—लेखा[1] अर्थात् सब देवता सोचवश अलेख (कर्तव्यविमूढ़) हो गये॥ ४॥

दो०—राम सनेह-सकोच-बस कह ससोच सुरराज।
रचहु प्रपंचहि पंच मिलि नाहिँ त भयउ अकाज॥२९५॥

देवराज इन्द्र सोच के मारे कहने लगे कि रामचन्द्रजी तो स्नेह और संकोच के वश हैं। इस समय सब पंच मिलकर कुछ प्रपंच (माया) रचो, नहीं तो बना बनाया काम बिगड़ा जाता है॥ २९५॥

चौ०—सुरन्ह सुमिरि सारदा सराही। देबि देव सरनागत पाही॥
फेरि भरतमति करि निज माया। पालु बिबुधकुल करि छलछाया॥१॥

उस समय देवतों ने सरस्वतीजी का स्मरणकर उनकी स्तुति की, और कहा—हे देवि! हम शरणागत हैं, रक्षा करो। तुम अपनी माया कर भरतजी की बुद्धि को फेर दो और छल की छाया कर देव-समूह की रक्षा करो॥ १॥

बिबुधबिनय सुनि देबि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड जानी॥
मो सन कहहु भरत-मति फेरू। लोचन सहस न सूझ सुमेरू॥२॥

चतुर सरस्वती देवतों की प्रार्थना सुनकर, देवतों को स्वार्थी और मूर्ख जानकर, बोली—आप मुझसे भरत की मति पलटा देने को कह रहे हैं! किन्तु हजार नेत्र होने पर भी आपको सुमेरु पर्वत नहीं दीखता!॥ २॥

बिधि-हरि-हर माया बडि भारी। सोउ न भरतमति सकइ निहारी॥
सो मति मोहि कहत करु भोरी। चाँदिनि कर कि चंद कर चोरी॥३॥

ब्रह्मा-विष्णु-महेश की माया बड़ी भारी है, वह भी भरत की बुद्धि की ओर देख नहीं सकती। उस बुद्धि को पलटा देने के लिए आप मुझे कह रहे हैं। भला कभी चाँदनी चन्द्रमा को चुरा सकती है?॥ ३॥

१—लेखा अदितिनन्दनाः। अमरकोश में लेखा नाम देवतों का है।

भरतहृदय सिय-राम-निवासू । तहँ कि तिमिर जहँ तरनिप्रकासू ॥
अस कहि सारद गइ बिधिलोका । बिबुध बिकल निसि मानहुँ कोका ॥४॥

भरतजी के हृदय में सीतारामजी का निवास है। भला जहाँ सूर्य का प्रकाश है वहाँ कभी अँधेरा रह सकता है? ऐसा कहकर सरस्वती ब्रह्मलोक को चली गई। देवता ऐसे व्याकुल हुए जैसे रात में चकवा हो ॥ ४ ॥

दो०—सुर स्वारथी मलीन मन कीन्ह कुमंत्र कुठाटु ।
रचि प्रपंचु माया प्रबल भय भ्रम अरति उचाटु ॥२९६॥

स्वार्थी और मैले मनवाले देवतों ने खोटी सलाह कर कुठाठ (बुरा षड्यन्त्र) रचा। अपनी प्रबल माया से उन्होंने ऐसा प्रपंच फैलाया जिससे भय, भ्रम, विरक्ति और उच्चाटन हो ॥ २९६ ॥

चौ०—करि कुचालि सोचत सुरराजू । भरतहाथ सबु काजु अकाजू ॥
गये जनक रघुनाथसमीपा । सनमाने सब रबि-कुल-दीपा ॥१॥

यह कुचाल कर इन्द्र सोचने लगे कि सब काम सुधारना या बिगाड़ना भरत के हाथ है। उधर राजा जनक रघुनाथजी के पास पहुँचे। सूर्य-कुल के प्रकाशक रामचन्द्रजी ने सबका सम्मान किया ॥ १ ॥

समय समाज धरम अबिरोधा । बोले तब रघु-बंस-पुरोधा ॥
जनक भरत संबादु सुनाई । भरत कहाउति कही सुहाई ॥२॥

तब रघुकुल के पुरोहित वसिष्ठजी समय, समाज और धर्म के अनुकूल बोले। जनक और भरत का संवाद (जो पीछे हो चुका है) सुनाकर उन्होंने फिर भरतजी की सुहावनी उक्ति कही ॥ २ ॥

तात राम जस आयसु देहू । सो सब करइ मोर मत एहू ॥
सुनि रघुनाथु जोरि जुगपानी । बोले सत्य सरल मृदु बानी ॥३॥

फिर वे बोले कि हे तात, राम! मेरी भी यही सम्मति है कि आप जैसी आज्ञा दें, वैसा ही सब करें। यह सुनकर रामचन्द्रजी दोनों हाथ जोड़कर सच्ची, सीधी और कोमल वाणी बोले—॥ ३ ॥

बिद्यमान आपुनु मिथिलेसू । मोर कहब सब भाँति भदेसू ॥
राउर राय रजायसु होई । राउरिसपथ सही सिर सोई ॥४॥

आप और मिथिलेश्वर (जनक) के विद्यमान होते हुए मेरा कहना सब तरह से भद्दा (अयोग्य) होगा। आपकी और राजा जनक की जो कुछ आज्ञा होगी, वही मैं आपकी शपथ खाकर कहता हूँ, हमारे लिए शिरोधार्य होगी ॥ ४ ॥

दो०—रामसपथ सुनि मुनि जनकु सकुचे सभासमेत।
सकल बिलोकत भरतमुखु बनइ न ऊतरु देत ॥२९७॥

इस तरह रामचन्द्रजी की शपथ को सुनकर सभा-समेत जनक राजा सकुचा गये। सब लोग भरतजी के मुँह की ओर ताकने लगे, किसी से जवाब देते नहीं बनता ॥ २९७ ॥

चौ०—सभा सकुचबस भरत निहारी। रामबंधु धरि धीरज भारी ॥
सुसमउ देखि सनेहु सँभारा। बढत बिंधि जिमि घटज निवारा ॥१॥

सारी सभा को संकोच के वश में देखकर, रामचन्द्रजी के बन्धु (इससे भरतजी को अत्यन्त क्षमा-शक्ति सूचित होती है) भरतजी ने भारी धीरज धरा। जिस तरह बढ़ते हुए विन्ध्याचल पहाड़ को अगस्त्यजी ने रोका था[1] उसी तरह भरतजी ने कुसमय देखकर अपने बढ़ते स्नेह को रोक लिया ॥ १ ॥

सोक कनकलोचन मति छोनी। हरी बिमल-गुन-गन जग जोनी ॥
भरतबिबेक बराह बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला ॥२॥

उस समय शोकरूपी हिरण्याक्ष ने शुद्ध गुण-गणोंवाली बुद्धि-रूपी पृथ्वी को हर लिया। तब भरतजी के विचार-रूपी विशाल वराह[2] ने बिना ही परिश्रम उसका तत्काल उद्धार कर दिया। अर्थात् भरतजी को इतना सोच था कि बुद्धि काम न देती थी, पर थोड़ी ही देर में विचार करने पर सोच हट गया और बुद्धि काम देने लगी ॥ २ ॥

१—एक बार विन्ध्याचल पहाड़ सूर्य के तेज को रोकने का निश्चय कर ऊँचा बढ़ने लगा। उसके गर्व को मिटानेवाला कोई उपाय न सूझने पर देवतों ने अगस्त्य मुनि से प्रार्थना की। तब अगस्त्यजी विन्ध्याचल के सम्मुख गये। उसने साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए कहा कि मुझे कुछ आज्ञा हो। अगस्त्यजी ने कहा जब तक हम न लौटें तब तक इसी तरह पड़े रहो। ऐसा कहकर वे दक्षिण दिशा को चले गये। वहाँ से आज तक लौटे ही नहीं।

२—यह वराह अवतार की कथा का रूपक है। कथा श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण में है। एक समय सृष्टि के आरम्भ काल में स्वायंभुव मनु और शतरूपा रानी के प्रकट होते ही हिरण्याक्ष दैत्य ने अपने बल के घमण्ड में लड़नेवाले को ढूँढ़ते ढूँढ़ते पृथ्वी को ले जाकर रसातल में रख दिया। इधर ब्रह्मा को आधार बिना अपनी सृष्टि बढ़ाने में दिक्कत होने लगी, तब उन्होंने विष्णु भगवान् की प्रार्थना की। विष्णु ने वराह अवतार लेकर रसातल में जाकर हिरण्याक्ष से लड़कर उसको मार डाला और पृथ्वी को लाकर जहाँ का तहाँ रख दिया।

करि प्रनामु सब कहँ कर जोरे। रामु राउ गुरु साधु निहोरे॥
छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहउँ बदन मृदु बचन कठोरा॥३॥

भरतजी श्री रामचन्द्र, राजा जनक, गुरु और महात्मा सबको प्रणाम कर उनके अनुग्रह की विनती करते हुए हाथ जोड़ कर बोले कि आज मेरे अत्यन्त अनौचित्य के लिए क्षमा कीजिए। मैं कोमल मुँह से कड़ी बात कहता हूँ॥ ३॥

हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुखपंकज आई॥
बिमल बिबेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली॥४॥

अन्तःकरण में स्मरण करते ही सुन्दर सरस्वती (वाणी) मानस-कमल से मुख-कमल में आई। भरतजी की वाणी विशुद्ध तथा विचार, धर्म और नीति से भरी हुई सुन्दर हंसिनी-रूप थी॥ ४॥

दो०—निरखि बिबेक बिलोचनन्हि सिथिल सनेह समाजु।
करि प्रनामु बोले भरतु सुमिरि सीय रघुराजु॥२९८॥

भरतजी ज्ञानरूपी नेत्रों से सारे समाज को स्नेह से शिथिल देखकर उन्हें प्रणाम कर सीता-रामचन्द्रजी को स्मरणकर बोले—॥ २९८॥

चौ०—प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी। पूज्य परमहित अंतरजामी॥
सरल सुसाहिबु सीलनिधानू। प्रनतपाल सर्बग्य सुजानू॥१॥

हे प्रभु! आप पिता, माता, मित्र, गुरु और स्वामी हैं, पूज्य हैं, परम हितकारी हैं, अन्तर्यामी हैं, सरल स्वभाव के हैं, अच्छे मालिक और शील के स्थान हैं, प्रणत (शरणागत) जनों के पालक, सर्वज्ञ और चतुर हैं॥ १॥

समरथु सरनागत हितकारी। गुनगाहकु अव-गुन-अघ-हारी॥
स्वामि गोसाइँहि सरिस गोसाईं। मोहि समान मैं साइँ दोहाई॥२॥

समर्थ हैं, शरणागत के हितकर्ता हैं, गुणों के ग्रहण करनेवाले और अवगुण (दोष) तथा पापों के नाश करनेवाले हैं। हे स्वामी! आप तो आप ही से हैं, और मैं मेरे ही जैसा[१] हूँ। (अर्थात् आप जैसा क्षमाशील स्वामी नहीं, मेरे जैसा नीच दूसरा सेवक नहीं) मैं स्वामी की सौगंद खाकर कहता हूँ॥ २॥

प्रभु पितु-बचन मोहबस पेली। आयेउँ इहाँ समाजु सकेली॥
जग भल पोच ऊँच अरु नीचू। अमिय अमरपद माहुरु मीचू॥३॥

१—इस प्रार्थना के आधार पर भरतजी ने कहा था—"मत्समो नास्ति पापात्मा त्वत्समो नास्ति पापहा। इति संचिन्त्य मनसा यथायोग्यं तथा कुरु॥"

हे प्रभु ! मैं मोह के वश हो पिता के वचन का तिरस्कार कर सारे समाज को इकट्ठा कर यहाँ आया हूँ। जगत् में भला, बुरा, ऊँचा, नीचा, अमृत, अमरपद, विष, मृत्यु सभी हैं ॥ ३ ॥

रामरजाइ मेट मन माहीँ । देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीँ ॥
सो मैँ सब बिधि कीन्हि ढिठाई । प्रभु मानी सनेह सेवकाई ॥४॥

परंतु ऐसा कोई कहीं न देखा न सुना कि जिसने रामचन्द्रजी की आज्ञा मन से भी मेट दी हो, किन्तु मैंने वही ढिठाई (आज्ञा-भङ्ग-रूपी) सब तरह से की, पर स्वामी ने उसको स्नेह की सेवा मान लिया ! ॥ ४ ॥

दो०—कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर ।
दूषन भे भूषनसरिस सुजसु चारु चहुँ ओर ॥२९९॥

हे नाथ ! आपने अपनी कृपा और भलाई से मेरा भला किया। मेरे दोष भूषण के समान हो गये और मेरा यश चारों ओर फैल गया ॥ २९९ ॥

चौ०—राउरिरीति सुबानि बडाई । जगत बिदित निगमागम गाई ॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी ॥१॥

हे नाथ ! आपकी रीति, सुन्दर स्वभाव और बड़ाई जगत् में विख्यात है और वेद-शास्त्रों ने गाई है। जो क्रूर (निर्दयी), कुटिल, दुष्ट, खोटी बुद्धिवाले, जिन्हें कलङ्क लगा है, नीच, बिना शील के, अपने ऊपर किसी (मालिक) को न माननेवाले और निःशंक (निडर) हैं ॥ १ ॥

तेउ सुनि सरन सामुहे आये । सुकृत प्रनाम किये अपनाये ॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने । सुनि गुन साधु समाज बखाने ॥२॥

उनको भी सामने शरण में आया हुआ सुनकर और एक बार प्रणाम करते ही तुरन्त आप अपना लेते हैं। उन लोगों के किये हुए दोषों को आप कभी हृदय में नहीं लाते पर उनके गुणों को सुनकर साधुओं की मंडली में उनका वर्णन करते हैं ॥ २ ॥

को साहिब सेवकहि नेवाजी । आपु समान साज सब साजी ॥
निज करतूति न समुझिय सपने । सेवक सकुच सोच उर अपने ॥३॥

ऐसा कौन स्वामी है जो सेवक पर कृपाकर उसके सब साज अपने जैसे साज दे (अपना-सा कर दे) और अपनी करतूत (हज़ारों अपराधों को क्षमा करना) को स्वप्न में भी कुछ न समझकर सेवक के सकोच का अपने हृदय में सोच करे ! ॥ ३ ॥

सो गोसाइँ नहिँ दूसर कोपी । भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी ॥
पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना । गुनगति नट पाठक आधीना ॥४॥

मैं भुजा उठाकर और पण रोप (प्रतिज्ञा) कर कहता हूँ कि ऐसा (जैसा पहले कहे के अनुसार करता हो) मालिक आपके सिवा दूसरा कोई भी नहीं है। पशु, (बन्दर, रीछ आदि) नाचते और तोते पढ़ने में निपुण हो जाते हैं। उनके गुणों की गति नट (नचानेवाले) और पढ़ानेवाले के अधीन है ॥ ४ ॥

दो०—यों सुधारि सनमानि जन किये साधु सिरमोर।
को कृपाल बिनु पालिहइ बिरदावलि बरजोर ॥३००॥

इसी तरह आपने दासों को सुधार कर, उनका सम्मान कर, उन्हें साधुओं का मुकुटमणि बना दिया। ऐसे दयालु के बिना इस महा कठिन विरदावली (बिगड़े को सुधारने की कीर्त्ति) को कौन पालेगा ? ॥ ३०० ॥

चौ०—सोक सनेह कि बाल सुभाये। आयउँ लाइ रजायसु बायें ॥
तबहुँ कृपाल हेरि निज ओरा। सबहि भाँति भल मानेउ मोरा ॥१॥

मैं शोक से, या स्नेह से, या बालक-स्वभाव से आपकी आज्ञा को टालकर आया। तो भी कृपालु स्वामी ने अपनी ओर देखकर सब तरह से भला ही माना ॥ १ ॥

देखेउँ पाय सु-मंगल-मूला। जानेउ स्वामि सहज अनुकूला ॥
बडे समाज बिलोकेउँ भागू। बडी चूक साहिब अनुरागू ॥२॥

मैंने शुभ मङ्गल के मूल चरणों का दर्शन पाया, और स्वामी भी स्वभावतः अनुकूल हैं, यह जान लिया। इस बड़े समाज में अपने भाग्य को देखा कि इतनी बड़ी चूक होने पर भी स्वामी मुझ पर प्रेम करते हैं ! ॥ २ ॥

कृपा अनुग्रह अंगु अघाई। कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई ॥
राखा मोर दुलार गोसाईं। अपने सील सुभाय भलाई ॥३॥

हे गुसाईं ! आपने भरपूर जहाँ तक अधिक हो सकता था कृपा और अनुग्रह किया। आपने अपने शील, स्वभाव और भलाई से मेरा दुलार रक्खा ॥ ३ ॥

नाथ निपट मैं कीन्हि ढिठाई। स्वामि समाज संकोचु बिहाई ॥
अबिनय बिनय जथारुचि बानी। छमहिं देव अति आरति जानी ॥४॥

हे नाथ ! मैंने स्वामी और समाज के बीच संकोच छोड़कर बहुत ही ढिठाई की। मेरी नरम, कड़ी, जैसी मन में आई वैसी वाणी को देव (स्वामी), मुझे अत्यन्त आर्त्त (दुखी) जानकर, क्षमा करेंगे ॥ ४ ॥

दो०—सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बडि खोरि।
आयसु देइय देव अब सबइ सुधारिय मोरि ॥३०१॥

सुहृद्, चतुर और अच्छे मालिक से अधिक कहना बड़ा अपराध है। इसलिए हे देव, अब आज्ञा दीजिए (कि क्या किया जाय) और मेरी सभी बातें सुधारिए॥ ३०१॥

चौ०—प्रभु-पद-पदुम-पराग दोहाई। सत्य सुकृत सुख सीवँ सुहाई॥
सो करि कहउँ हिये अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की॥१॥

जो सत्य, पुण्य और सुख की सुन्दर सीमा है, उन्हीं स्वामी के चरण-कमलों के रज-कण की दुहाई देकर मैं अपने जी की वह बात कहता हूँ जिसकी चाह मुझे जागते, सोते और स्वप्न में भी बनी रहती है॥ १॥

सहज सनेह स्वामिसेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥
आग्यासम न सुसाहिबसेवा। सो प्रसादु जनु पावइ देवा॥२॥

स्वामी की सेवा स्वाभाविक स्नेह से होती है। उस सेवा करनेवाले को स्वार्थ, छल और चारों फल (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) छोड़ देने चाहिएँ। स्वामी की आज्ञा के पालन के समान दूसरी सेवा नहीं है। हे देव! वही महाप्रसाद (आपकी आज्ञा) यह आपका दास पा जाय॥ २॥

अस कहि प्रेमबिबस भये भारी। पुलक सरीर बिलोचन बारी॥
प्रभु-पद-कमल गहे अकुलाई। समउ सनेह न सो कहि जाई॥३॥

ऐसा कहकर भरतजी बिलकुल प्रेम के वश हो गये, शरीर में रोमाञ्च हो गया और आँखों से आँसू बहने लगे। उन्होंने घबड़ाकर स्वामी रामचन्द्रजी के चरण-कमल पकड़ लिये। उस समय का स्नेह कहा नहीं जाता॥ ३॥

कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाये समीप गहि पानी॥
भरतबिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ॥४॥

कृपासिंधु रामचन्द्रजी ने अच्छी वाणी से उनका सम्मान कर हाथ पकड़कर उन्हें पास बैठा लिया। भरतजी की विनती सुनकर और उनका स्वभाव देखकर सारी सभा और रघुनाथजी स्नेह से शिथिल हो गये॥ ४॥

छं०—रघुराउ सिथिल सनेह साधु समाजु मुनि मिथिलाधनी।
मनमहँ सराहत भरत-भायप-भगति की महिमा घनी॥
भरतहिँ प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस-मलिन से।
तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से॥

रघुराई रामचन्द्रजी, सत्पुरुषों का समाज, ऋषि और मिथिलापुरी के स्वामी जनक स्नेह से शिथिल हो गये। वे अपने अपने मन में भरत के भाइपन और उनकी दृढ़ भक्ति की महिमा को सराहने लगे। देवता भी भरतजी की प्रशंसा करते हुए उन पर मलिन-चित्त से (क्योंकि उनका अपने स्वार्थ पर लक्ष्य है) फूल बरसाने लगे। तुलसीदासजी कहते हैं कि सब लोग यह प्रसंग सुनकर व्याकुल हो गये और जैसे रात आने पर कमल सकुचा जाता है वैसे सकुचा गये (यह समझ कर कि भरत अब रामचन्द्रजी को लौटाने का हठ न करेंगे)॥

सो०—देखि दुखारी दीन दुहुँ समाज नरनारि सब।

मघवा महामलीन मुये मारि मंगल चहत ॥३०२॥

दोनों समाज के सब स्त्री-पुरुषों को दीन और दुखी देखकर महा मैले मनवाला इन्द्र मरे को मार कर अपना भला चाहता है!॥ ३०२॥

चौ०—कपट-कु-चालि-सीवँ सुरराजू। पर-अकाज-प्रिय आपन काजू॥

काकसमान पाक-रिपु-रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥१॥

सुरराज (इन्द्र) कपटी और कुचालियों की सीमा है, दूसरे का काम बिगाड़ कर अपना काम सुधारना उसको प्रिय है। पाक नामक दैत्य के शत्रु इन्द्र की रीति कौए के समान है। वह छली है, मैला है, उसको किसी पर विश्वास नहीं है॥ १॥

प्रथम कुमत करि कपटु सँकेला। सो उचाट सब के सिर मेला॥

सुरमाया सब लोग बिमोहे। रामप्रेम अतिसय न बिछोहे॥२॥

इन्द्र ने पहले तो कुबुद्धि कर कपट इकट्ठा किया, उस कपट ने सबके सिर पर (मन में) उचाट डाल दिया। फिर देवमाया से सब लोग मोहित हो गये, पर वे रामचन्द्रजी के प्रेम से बहुत नहीं बिछुड़े, अर्थात् उचाट लगने पर भी उन्होंने रामचन्द्रजी को छोड़ देना एकाएक नहीं चाहा॥ २॥

भये उचाटबस मन थिर नाहीं। छन बन रुचि छन सदन सुहाहीं॥

दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी। सरित सिंधु संगम जनु बारी॥३॥

सबके मन उचाट के वश हो गये, स्थिरता न रही, क्षण भर में तो वन में रहने की उनकी रुचि होती और क्षण भर में घर जाना उन्हें सुहाने लगता। इस तरह मन की गति की दुविधा से प्रजा ऐसी दुखी हुई जैसे नदी और समुद्र के संगम में पानी दुखी हो (कभी नदी का पानी समुद्र में जाता है और कभी लहर के साथ फिर पलटता है)॥ ३॥

दुचित कतहुँ परितोषु न लहहीं। एक एक सन मरमु न कहहीं॥

लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुबानू॥४॥

लोगों के चित्त दुविधा में पड़ जाने से उन्हें सन्तोष नहीं मिलता। वे एक दूसरे से यह मर्म को बात कहते भी नहीं। कृपानिधान रामचन्द्रजी यह देखकर मन ही मन हँसकर कहने लगे कि इन्द्र, जवान और श्वान (कुत्ता) बराबर[1] हैं॥ ४॥

दो०—भरतु जनक मुनिजन सचिव साधु सचेत बिहाइ।
लागि देवमाया सबहिँ जथाजोग जन पाइ॥३०३॥

भरतजी, जनक राजा, मुनिजन, मन्त्री और सावधान महात्माओं को छोड़कर और सबको देवमाया लगी—जो जैसा मनुष्य था उसे वैसी ही लगी॥ ३०३॥

चौ०—कृपासिंधु लखि लोग दुखारे। निज सनेह सुर-पति-छल भारे॥
सभा राउ गुरु महिसुर मंत्री। भरतभगति सब कै मति जंत्री॥१॥

कृपासागर रामचन्द्रजी ने देखा कि लोग हमारे स्नेह और इन्द्र के छल के भार से दुखी हैं। सभा, राजा जनक, गुरु, ब्राह्मण और मन्त्री आदि सबकी बुद्धि में भरतजी की भक्ति ने ताला-सा जड़ दिया अर्थात् स्तब्ध कर दी॥ १॥

रामहिँ चितवत चित्र लिखे से। सकुचत बोलत बचन सिखे से॥
भरत - प्रीति - नति-विनय-बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥२॥

सब रामचन्द्रजी की ओर ऐसे देखते हैं मानों चित्र लिखे (तसवीरें) हों, बोलने में सकुचाते हैं, यदि कुछ बोलते हैं तो ऐसे मानों कहीं से सीख आये हों! भरतजी की प्रीति, नम्रता, विनय और बड़ाई सुनने में तो सुख देनेवाली है, पर वर्णन करने में कठिन है, अर्थात् वर्णन नहीं की जा सकती॥ २॥

जासु बिलोकि भगति लवलेसू। प्रेममगन मुनिगन मिथिलेसू॥
महिमा तासु कहइ किमि तुलसी। भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी॥३॥

जिनकी भक्ति का लवलेश देखकर ऋषि-गण और जनक राजा प्रेम में मग्न हो गये उन भरतजी की महिमा को तुलसीदास कैसे कहे? भक्ति की सुन्दर भावना से (वर्णन करने के लिए) बुद्धि में उमंग अवश्य हुई, पर॥ ३॥

आपु छोटि महिमा बड़ि जानी। कबिकुल कानि मानि सकुचानी॥
कहि न सकति गुन रुचि अधिकाई। मतिगति बालबचन की नाईँ॥४॥

मेरी बुद्धि अपने को छोटी और भरतजी की महिमा को बड़ी जानकर और कवि-वंश की मर्यादा का विचार करके (यह समझ कर कि मेरे तुच्छ वर्णन से कविता का नाम बदनाम

१—अष्टाध्यायी में सूत्र है 'श्वयुवमघोनामतद्धिते'। इस सूत्र में श्वन्, युवन्, मघवन् तीनों शब्दों के रूप एक-से बतलाये हैं। श्वन्—कुत्ता, युवन्—जवान, मघवन्—इन्द्र।

होगा) सकुचा गई। गुणों में रुचि तो अधिक है, (वे मन में अच्छे तो बहुत लगते हैं) पर उन्हें कह नहीं सकती। इस जगह बुद्धि की गति बालक के वचनों जैसी हो गई है। अर्थात् जब छोटे बच्चे बोलना सीखने लगते हैं, तो कोई बात बोलने की उनकी इच्छा होने पर भी वे बोल नहीं सकते। इसी तरह मेरी बुद्धि, उत्कण्ठा होते भी, भरतजी के गुण वर्णन नहीं कर सकती॥ ४॥

दो०—भरत-बिमल-जसु बिमल बिधु सुमति चकोर कुमारि।
उदित बिमल जनहृदय नभ एकटक रही निहारि॥३०४॥

भरतजी का शुद्ध यश निर्मल चन्द्रमा है, वह शुद्ध जनों के हृदय-रूपी आकाश में उदय हुआ है, मेरी सुबुद्धिरूपी चकोर की कन्या उसकी ओर टकटकी लगाकर देख रही है॥ ३०४॥

चौ०—भरतसुभाउ न सुगम निगमहूँ। लघुमति चापलता कबि छमहूँ॥
कहत सुनत सतिभाउ भरत को। सीय-राम-पद होइ न रत को॥१॥

भरतजी का स्वभाव वेद शास्त्र के लिए भी सुगम नहीं है, फिर मेरी तो छोटी सी बुद्धि है। हे कवि लोगो! आप इसकी चंचलता को क्षमा कीजिए। भरतजी का सच्चा भाव कहनेवाला और सुननेवाला कौन मनुष्य सीतारामजी के चरणों में अनुरक्त न हो जायगा॥ १॥

सुमिरत भरतहिँ प्रेमु राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को॥
देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥२॥

भरतजी का स्मरण करते ही रामचन्द्रजी का प्रेम जिसको सुलभ न हो जाय, उसके बराबर बुरा और कौन होगा? दयालु और सुजान रामचन्द्रजी सभी की दशा देखकर और अपने जन भरत के जी की बात को जानकर,॥ २॥

धरमधुरीन धीर नयनागर। सत्य सनेह सील सुख सागर॥
देसु कालु लखि समउ समाजू। नीति-प्रीति-पालक रघुराजू॥३॥

धर्म के धुरन्धर, धीर, नीति में चतुर; सत्य, स्नेह, शील और सुख के समुद्र; नीति और प्रीति के संरक्षक रघुनाथजी देश, काल, समाज का अवसर देखकर॥ ३॥

बोले बचन बानि सरबसु से। हित परिनाम सुनत ससिरस से॥
तात भरत तुम्ह धरमधुरीना। लोक-बेद-बिद प्रेमप्रबीना॥४॥

वाणी के सर्वस्व ऐसे वचन बोले, जिनका परिणाम हितकारी था और जो सुनने में अमृत जैसे लगें। उन्होंने कहा—हे तात, भरत! तुम धर्म के धुरीण (अग्रनेता) हो तथा शास्त्र और वेद के जाननेवाले और प्रेम में प्रवीण हो॥ ४॥

दो०—करम बचन मानस बिमल तुम्ह समान तुम्ह तात ।
गुरुसमाज लघु-बंधु-गुन कुसमय किमि कहि जात ॥३०५॥

हे तात ! कर्म से, वचन से और मन से निर्मल तुम तुम्हीं जैसे हो। (अर्थात् तुम्हारे समान दूसरा नहीं।) एक तो यह गुरुजनों (बड़ों) का समाज फिर तुम छोटे भाई हो, तिस पर खोटा समय है, ऐसे में किस तरह तुम्हारी बड़ाई की जा सकती है ?॥ ३०५ ॥

चौ०—जानहु तात तरनि-कुल-रीती । सत्यसंध पितु कीरति प्रीती ॥
समउ समाजु लाज गुरुजन की। उदासीन हित अनहित मन की॥१॥

हे तात ! तुम सूर्यवंश की रीति "प्राण जाहि पर वचन न जाहीँ" को जानते हो और तुम सत्य प्रतिज्ञावाले पिता की कीर्ति और प्रीति को भी जानते हो। और इस समय, समाज, बड़े लोगों की लज्जा तथा उदासीन, मित्र और शत्रु के मन की भी जानते हो ॥ १ ॥

तुम्हहिँ बिदित सबही कर करमू । आपन मोर परमहित धरमू ॥
मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा । तदपि कहउँ अवसर अनुसारा ॥२॥

तुमको सबके कर्म भी मालूम हैं और अपना तथा मेरा परमहित धर्म भी मालूम है। यद्यपि मुझे सब तरह तुम्हारा भरोसा है, तथापि मैं समय के अनुसार कुछ कहता हूँ ॥ २ ॥

तात तात बिनु बात हमारी । केवल गुरु-कुल कृपा सँभारी ॥
नतरु प्रजा पुरजन परिवारू । हमहिँ सहित सबु होत खुआरू॥३॥

हे तात ! पिताजी के बिना हमारी बात को केवल गुरु-कुल की कृपा ने सम्हाल रक्खा है, नहीं तो प्रजा, नगर-वासी, कुटुम्बी सभी हम-समेत दुर्गति में पड़ जाते ॥ ३ ॥

जौं बिनु अवसर अथव दिनेसू । जग केहि कहहु न होइ कलेसू ॥
तस उतपात तात बिधि कीन्हा । मुनि मिथिलेस राखि सबु लीन्हा ॥४॥

जो अस्त होने का समय हुए बिना ही सूर्य्य अस्त हो जाय तो भला संसार में किसको क्लेश न होगा ? वैसा ही उत्पात (बिना समय मृत्यु) पिता के विषय में विधाता ने कर दिया, पर जनक महाराज और वसिष्ठ मुनि ने सब रख लिया, अर्थात् कोई उपद्रव नहीं होने दिया ॥ ४ ॥

दो०—राजकाज सब लाज पति धरम धरनि धन धाम ।
गुरुप्रभाउ पालिहि सबहिँ भल होइहि परिनाम ॥३०६॥

राज-काज, सब तरह की लज्जा, प्रतिष्ठा, धर्म, पृथ्वी, धन, स्थान सबकी रक्षा गुरु महाराज का प्रताप करेगा और परिणाम बहुत अच्छा होगा ॥ ३०६ ॥

चौ०—सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुरुप्रसाद रखवारा ॥
मातु-पिता-गुरु-स्वामि-निदेसू । सकलधरम धरनीधरु सेसू ॥१॥

समाज-सहित तुम्हारा और हमारा, घर में तथा वन में, रक्षक गुरु महाराज की कृपा है। माता, पिता, गुरु और स्वामी की आज्ञा का पालन करना धर्मरूपी पृथ्वी को धारण करनेवाला शेष है ॥ १ ॥

सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनि-कुल-पालक होहू ॥
साधक एक सकलसिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी ॥२॥

हे तात ! वही सत्य धर्म (आज्ञा-पालन) तुम करो और मुझसे कराओ तथा सूर्यवंश के रक्षक बनो। साधकों (आज्ञापालकों) के लिए यही एक साधना सब सिद्धियों की देनेवाली है। यह कीर्ति, सद्‌गति और ऐश्वर्यरूपी त्रिवेणी है ॥ २ ॥

सो बिचारि सहि संकटु भारी। करहु प्रजा परिवार सुखारी ॥
बाँटी बिपति सबहि मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बडि कठिनाई ॥३॥

यह विचारकर, भारी संकट को सहकर, तुम प्रजा और परिवार को सुखी करो। भाई ! (मेरी) विपत्ति तो सभी ने बाँट ली है पर तुम्हें अवधि के १४ वर्ष पूरे होने तक बड़ी कठिनाई है ॥ ३ ॥

जानि तुम्हहि मृदु कहहुँ कठोरा। कुसमय तात न अनुचित मोरा ॥
होहि कुठाँय सुबंधु सहाये। ओडियहि हाथ असनि के घाये ॥४॥

हे तात ! मैं तुमको कोमल जानकर भी कठोर वचन कहता हूँ। यह कुसमय का प्रताप है, इसमें मेरा अनौचित्य (अपराध) नहीं है। अच्छे भाई खोटे समय में ही सहायक होते हैं, जैसे बरछे के घाव को रोकने के लिए हाथ ही आगे बढ़ते हैं। अर्थात् जैसे शरीर पर कहीं भी वार हो तो हाथ वहाँ बढ़ कर बचाते हैं, वैसे इस समय तुम सहायक हो ॥ ४ ॥

दो०—सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिब होइ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ ॥३०७॥

सेवक तो हाथ, पैर और आँखों जैसा हो, और स्वामी मुख जैसा (आँखों ने कोई फल देखा, पैरों ने सारा शरीर फल के पास पहुँचाया, हाथों ने फल तोड़ दिया, तब मुख ने खाया, फिर उसने उस फल का रस उन सभी सेवकों को बाँट दिया। इसी तरह सब मिलकर मेरी रक्षा करें, मैं सभी की रक्षा का सहायक होऊँगा)। तुलसीदासजी कहते हैं कि इसी तरह की प्रीति की रीति सुनकर विद्वान् लोग उसकी बड़ाई करते हैं ॥ ३०७ ॥

चौ०—सभा सकल सुनि रघुबर-बानी। प्रेम-पयोधि अमिय जनु सानी॥
सिथिल समाजु सनेह समाधी। देखि दसा चुप सारद साधी॥१॥

सारी सभा ने रघुनाथजी की वाणी सुनी, मानों वह प्रेम-समुद्र के अमृत में सराबोर हो। उस समय सारा समाज शिथिल हो गया; मानों स्नेहरूपी समाधि लग गई हो। ऐसी दशा देखकर मानों सरस्वती ने चुप साध ली, अर्थात् सब चुप रह गये॥१॥

भरतहिँ भयउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुखु दोषू॥
मुखु प्रसन्न मन मिटा बिषादू। भा जनु गूँगेहि गिराप्रसादू॥२॥

भरतजी को यह देख बड़ा सन्तोष हुआ कि स्वामी अनुकूल हैं और सारे दुःख तथा दोष जाते रहे। उनका मुख प्रसन्न हो गया, मन का दुःख ऐसे मिट गया, मानों किसी गूँगे पर सरस्वती का प्रसाद हो गया हो, अर्थात् गूँगा स्पष्ट बोलने लगा हो॥२॥

कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी। बोले पानिपंकरुह जोरी॥
नाथ भयउ सुख साथ गये को। लहेउँ लाहु जग जनमु भये को॥३॥

भरतजी ने फिर प्रेमपूर्वक प्रणाम किया और वे कमल समान हाथ जोड़कर बोले—हे नाथ! मुझे साथ जाने का सुख मिल चुका और मैंने जगत् में जन्म लेने का लाभ भर पाया॥३॥

अब कृपाल जस आयसु होई। करउँ सीस धरि सादर सोई॥
सो अवलंब देव मोहिँ देई। अवधि पारु पावउँ जेहि सेई॥४॥

हे दयाल! अब आपकी जैसी आज्ञा हो, वही सिर पर चढ़ा कर आदर के साथ मैं करूँ! हे देव! आप मुझे वह अवलम्ब (आधार) दीजिए जिसकी सेवा कर मैं अवधि (१४ वर्ष) का पार पा जाऊँ॥४॥

दो०—देव देवअभिषेक हित गुरुअनुसासन पाइ।
आनेउँ सब तीरथसलिलु तेहि कहँ काह रजाइ॥३०८॥

हे देव! गुरुजी की आज्ञा पाकर स्वामी (आप) के अभिषेक के लिए मैं सब तीर्थों का जल लाया हूँ। इसके लिए आपकी क्या आज्ञा होती है?॥३०८॥

चौ०—एक मनोरथ बड मन माहीँ। सभय सकोच जात कहि नाहीँ॥
कहहु तात प्रभु आयसु पाई। बोले बानि सनेह सुहाई॥१॥

हे स्वामी एक बड़ा भारी मनोरथ मेरे मन में उठ रहा है, पर भय और सङ्कोच के कारण वह मुझसे कहा नहीं जाता। तब रामचन्द्रजी ने कहा—हे भाई! कहो। इस तरह प्रभु की आज्ञा पाकर भरतजी स्नेह-भरी सुन्दर वाणी बोले—॥१॥

चित्रकूट मुनि-थल तीरथ बन । खग मृग सरि सर निर्भर गिरिगन ॥

प्रभु-पद-अंकित अवनि बिसेखी । आयसु होइ त आवउँ देखी ॥२॥

जो स्वामी की आज्ञा हो तो चित्रकूट पर्वत, ऋषियों के आश्रम, तीर्थ, वन, पक्षी, मृग, नदी, तालाब, झरने, पहाड़ों के समूह और विशेष कर स्वामी के चरणों के चिह्न जिस पर पड़े हैं वह भूमि देख आऊँ ॥ २ ॥

अवसि अत्रिआयसु सिर धरहू । तात बिगत-भय कानन चरहू ॥

मुनिप्रसादु बन मंगलदाता । पावन परम सुहावन भ्राता ॥३॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे तात ! अवश्य ही तुम अत्रि ऋषि की आज्ञा सिर धरकर (उसके अनुसार चलकर) निर्भय वन में भ्रमण करो । हे भ्राता ! ऋषि के प्रसाद (प्रसन्नता) से वन मंगल का देनेवाला, पवित्र और अत्यन्त सुहावना हो गया है ॥ ३ ॥

रिषिनायक जहँ आयसु देहीं । राखेहु तीरथजल थल तेहीं ॥

सुनि प्रभुबचन भरत सुख पावा । मुनि-पद-कमल मुदित सिर नावा ॥४॥

जहाँ ऋषिराज आज्ञा दें, उसी जगह तीर्थों का जल रख देना । प्रभु रामचन्द्रजी के वचन सुनकर भरतजी ने सुख पाया और मुनि (अत्रि) के चरण-कमलों में प्रसन्नतापूर्वक सिर नवाया ॥ ४ ॥

दो०—भरत-राम-संबादु सुनि सकल-सु-मंगल-मूल ।

सुर स्वारथी सराहि कुल बरषत सुर-तरु-फूल ॥३०६॥

इस तरह भरत और रामचन्द्रजी का समस्त मंगलों का मूल संवाद सुनकर स्वार्थी देवगण दोनों की बड़ाई कर कल्पवृक्ष के फूल बरसाने लगे ॥ ३०९ ॥

चौ०—धन्य भरत जय राम गोसाईं । कहत देव हरषत बरिआईं ॥

मुनि मिथिलेस सभा सब काहू । भरत-बचन सुनि भयउ उछाहू ॥१॥

भरत को धन्य है, समर्थ रामचन्द्रजी की जय हो, ऐसा कह कहकर देवगण, हठात् (अपने स्वभाव के प्रतिकूल) प्रसन्न होने लगे । भरतजी के वचनों को सुनकर वसिष्ठ ऋषि, राजा जनक और सभा में उपस्थित सभी को बड़ा उत्साह हुआ ॥ १ ॥

भरत-राम-गुन-ग्राम-सनेहू । पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू ॥

सेवक स्वामि सुभाउ सुहावन । नेमु प्रेमु अति पावन पावन ॥२॥

राजा जनक पुलकित शरीर होकर भरत और रामचन्द्रजी के गुण-गण तथा स्नेह की प्रशंसा करने लगे । उन्होंने कहा—सेवक और स्वामी दोनों का स्वभाव सुहावना है । इनका नियम और प्रेम अत्यन्त पवित्र को भी पवित्र करनेवाला है ॥ २ ॥

मतिअनुसार सराहन लागे। सचिव सभासद सब अनुरागे॥
सुनि सुनि राम-भरत-संवादू। दुहुँ समाज हिय हरषु बिषादू॥३॥

फिर मन्त्री और सब सभासद् प्रेम में भरकर अपनी बुद्धि के अनुसार बड़ाई करने लगे। दोनों (अयोध्या और जनकपुर के) समाजों में श्रीरामचन्द्र और भरत का संवाद सुन सुनकर हृदयों में आनन्द और दुःख दोनों हुए। (उनके भाषण पर आनन्द और रामचन्द्रजी के न लौटने का दुःख)॥ ३॥

राममातु दुखु-सुखु-सम जानी। कहि गुन राम प्रबोधी रानी॥
एक कहहिँ रघुबीरबडाई। एक सराहत भरतभलाई॥४॥

रामचन्द्रजी की माता कौसल्याजी ने दुःख और सुख को समान जानकर रामचन्द्रजी के गुण वर्णनकर रानियों को समझाये। समझकर कोई तो रघुनाथजी की बड़ाई करने लगीं और कोई भरत को भलाइ की प्रशंसा करने लगीं॥ ४॥

दो०—अत्रि कहेउ तब भरत सन सैलसमीप सुकूप।
राखिय तीरथतोय तहँ पावन अमिय अनूप॥३१०॥

तब फिर भरतजी से अत्रि मुनि ने कहा कि पर्वत के पास ही एक अच्छा कुआँ है। यह पवित्र करनेवाला, अमृत जैसा अनुपम तीर्थों का जल वहीं रख दीजिए॥ ३१०॥

चौ०—भरत अत्रिअनुसासन पाई। जलभाजन सब दिये चलाई॥
सानुज आपु अत्रि मुनि साधू। सहित गये जहँ कूप अगाधू॥१॥

भरतजी ने अत्रि मुनि की आज्ञा पाकर सब जल के पात्र उठवाये और शत्रुघ्न-सहित आप, अत्रि मुनि, तथा महात्मा लोगों-सहित वहाँ गये, जहाँ वह अगाध (अथाह) कुआँ था॥ १॥

पावन पाथु पुन्य थल राखा। प्रमुदित प्रेम अत्रि अस भाखा॥
तात अनादि सिद्ध थल एहू। लोपेउ काल बिदित नहिँ केहू॥२॥

उस पावन जल को पवित्र स्थान में रख दिया। अत्रि ऋषि प्रमपूर्वक प्रसन्न होकर ऐसा कहने लगे कि हे पुत्र! यह स्थान अनादि काल से सिद्ध है, समय पाकर लोप हो गया; किसी को इसका उत्पत्ति-समय मालूम नहीं है॥ २॥

तब सेवकन्ह सरस थलु देखा। कीन्ह सुजल हित कूप बिसेखा॥
बिधिबस भयउ बिस्व उपकारू। सुगम अगम अति धरम बिचारू॥३॥

तब सेवकों ने सुन्दर जलमय स्थान देखकर उस श्रेष्ठ तीर्थ-जल के लिए कुआँ ठीक कर दिया। इस प्रकार दैवयोग से सारे संसार को उपकार हो गया। धर्म का विचार जो अत्यन्त अगम (कठिन) था, वह यहाँ सुगम (सहज) हो गया ॥ ३ ॥

भरतकूप अब कहिहहिँ लोगा। अति पावन तीरथ जलजोगा ॥
प्रेम सनेम निमज्जत प्रानी। होइहहिँ बिमल करम मन बानी ॥४॥

अब लोग इसको भरत-कूप कहेंगे। तीर्थों के जल-योग से यह अत्यन्त पावन (शुद्ध करनेवाला) हो गया। जो प्राणी इसमें प्रेम और नियम से स्नान करेंगे वे कर्म, मन, वाणी से पवित्र हो जायँगे ॥ ४ ॥

दो०—कहत कूपमहिमा सकल गये जहाँ रघुराउ।
अत्रि सुनायउ रघुबरहिँ तीरथ-पुन्य-प्रभाउ ॥३११॥

फिर सब उस कूप की महिमा कहते कहते जहाँ रघुनाथजी थे वहाँ गये। रघुवर (रामचन्द्रजी) को अत्रि ऋषि ने उस तीर्थ का पवित्र प्रभाव सुनाया ॥ ३११ ॥

चौ०—कहत धरम इतिहास सप्रीती। भयउ भोर निसि सो सुख बीती ॥
नित्य निबाहि भरतु दोउ भाई। राम-अत्रि-गुर-आयसु पाई ॥१॥

प्रेम के साथ धार्मिक इतिहासों को कहते कहते वह रात सुख से बीत गई, सबेरा हो गया। भरत, शत्रुघ्न दोनों भाई नित्य-नियम निबाह (समाप्त) कर रामचन्द्र, अत्रि और गुरु की आज्ञा पाकर ॥ १ ॥

सहित समाज साज सब सादे। चले राम-बन-अटन पयादे ॥
कोमल चरन चलत बिनु पनहीँ। भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीँ ॥२॥

समाज तथा सब मामूली सामग्री-सहित राम-वन में पर्यटन (भ्रमण) करने के लिए पैदल ही चले। कोमल चरणों से बिना जूते भरतजी के चलते ही पृथ्वी मन ही मन सकुचा कर कोमल हो गई ॥ २ ॥

कुस कंटक काँकरी कुराईं। कटुक कठोर कुबस्तु दुराईं ॥
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हे। बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हे ॥३॥

और कुश, काँटे, कंकड़ी, छोटे गड्ढे आदि दुःख देनेवाली कठोर और बुरी चीज़ों को छिपाकर पृथ्वी ने सुन्दर कोमल सुखदायी मार्ग कर दिये। त्रिविध (शीतल, मन्द, सुगन्ध) पवन सुख देती हुई चलने लगी ॥ ३ ॥

सुमन बरषि सुर घन करि छाहीँ। बिटप फूलि फल तृन मृदुताहीँ ॥
मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिँ सकल रामप्रिय जानी ॥४॥

देवता फूल बरसाकर, बादल छाया करके, वृक्ष फूल-फल देकर, तृण नरम होकर, मृग देखकर और पक्षी सुन्दर वाणी बोल बोलकर भरतजी को रामचन्द्रजी के प्यारे जानकर उनकी सेवा करने लगे ॥ ४ ॥

दो०—सुलभ सिद्धि सब प्राकृतहु राम कहत जमुहात।
राम-प्रान-प्रिय भरत कहुँ यह न होइ बडि बात ॥३१२॥

जो कोई यों ही स्वभावतः जमुहाई लेते हुए भी राम कह दे तो उसके लिए सब सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं, फिर रामचन्द्रजी के प्राण-प्यारे भरतजी के लिए ये बातें हो जाना कौन सी बड़ी बात है ! ॥ ३१२ ॥

चौ०—एहि बिधि भरत फिरत बन माहीं। नेमु प्रेमु लखि मुनि सकुचाहीं॥
पुन्य जलास्त्रय भूमि बिभागा। खग मृग तरु तृन गिरि बन बागा ॥१॥

इस तरह भरतजी वन में फिरने लगे। उनके नियम और प्रेम को देखकर ऋषि लोग सकुचा जाते थे (कि हममें भी ऐसा नियम और प्रेम नहीं)। पवित्र जलाशय (तालाब, बावली, कुएँ आदि), भूखंड, पक्षी, मृग, वृक्ष, घास, पहाड़, जङ्गल, बगीचे ॥ १ ॥

चारु बिचित्र पबित्र बिसेखी। बूझत भरतु दिब्य सबु देखी ॥
सुनि मनमुदित कहत रिषिराऊ। हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ ॥२॥

सब विशेष सुन्दर, रंग बिरंग के, पवित्र और दिव्य देखकर भरतजी पूछते हैं और उनका प्रश्न सुनकर ऋषिराज अत्रि मन में आनन्दित होकर उन सबके कारण, नाम, गुण, पुण्य और प्रभाव का वर्णन कर देते हैं ॥ २ ॥

कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा। कतहुँ बिलोकत मन अभिरामा ॥
कतहुँ बैठि मुनि आयसु पाई। सुमिरत सीयसहित दोउ भाई ॥३॥

भरतजी कहीं तो स्नान करते हैं, कहीं प्रणाम करते हैं, कहीं मनोहर तीर्थों का दर्शन करते हैं, कहीं अत्रि ऋषि की आज्ञा पाकर बैठ जाते हैं और सीता-सहित राम-लक्ष्मण को स्मरण करते हैं ॥ ३ ॥

देखि सुभाउ सनेहु सुसेवा। देहिँ असीस मुदित बनदेवा ॥
फिरहिँ गये दिन पहर अढाई। प्रभु-पद-कमल बिलोकहिँ आई ॥४॥

भरतजी का स्वभाव, स्नेह और अच्छी सेवा देखकर वन-देवता प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद देते हैं। वे ढाई पहर दिन चढ़ने तक इसी प्रकार फिरते, फिर लौट कर प्रभु रामचन्द्रजी के चरणकमल के दर्शन करते ॥ ४ ॥

दो०—देखे थलतीरथ सकल भरत पाँच दिन माँझ।

कहत सुनत हरिहर सुजसु गयउ दिवस भइ साँझ ॥३१३॥

इस प्रकार भरतजी ने पाँच दिन में सब तीर्थ-स्थल देख लिये। पाँचवाँ दिन हरि-हर (विष्णु-महादेव) का सुन्दर यश कहते सुनते बीत गया, साँझ हो गई ॥ ३१३ ॥

चौ०—भोर न्हाइ सबु जुरा समाजू। भरत भूमिसुर तिरहुतिराजू ॥

भल दिन आजु जानि मन माहीं। रामु कृपालु कहत सकुचाहीं ॥१॥

दूसरे दिन सबेरे स्नान कर समाज जुड़ा, जिसमें भरतजी, ब्राह्मण लोग और जनक राजा थे। दयालु रामचन्द्रजी (आज इनके बिदा करने के लिए) अच्छा दिन है, यह मन में जान कर भी कहते हुए सकुचाते हैं ॥ १ ॥

गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिर अवनि बिलोकी ॥

सीलु सराहि सभा सब सोची। कहुँ न रामसम स्वामि सँकोची ॥२॥

गुरुजी, भरत, जनक और सभा की ओर देखकर रामचन्द्रजी संकोच कर फिर जमीन की ओर (नीचे) देखने लगे। सभा ने रामचन्द्रजी के शील की बड़ाई कर सोचा कि रामचन्द्रजी के समान संकोची स्वामी कहीं न होगा ॥ २ ॥

भरत सुजान रामरुख देखी। उठि सप्रेम धरि धीर बिसेखी ॥

करि दंडवत कहत कर जोरी। राखी नाथ सकल रुचि मोरी ॥३॥

अत्यन्त चतुर भरतजी रामचन्द्रजी का रुख देखकर प्रेम-सहित उठकर विशेष धीर धारण कर दण्डवत्-पूर्वक हाथ जोड़कर कहने लगे—हे नाथ! आपने मेरी सब इच्छायें रक्खीं, (जैसा मैंने चाहा वैसा ही किया) ॥ ३ ॥

मोहि लगि सबहिँ सहेउ संतापू। बहुत भाँति दुख पावा आपू ॥

अब गोसाँइँ मोहि देउ रजाई। सेवउँ अवध अवधि भरि जाई ॥४॥

मेरे लिए सबने सन्ताप सहा और आपने बहुत तरह दुःख पाया। हे गुसाइं! अब मुझे आज्ञा दीजिए तो मैं अवधि (१४ वर्ष) पूर्ण होने तक अयोध्या की सेवा (पालन, रक्षा) करूँ ॥ ४ ॥

दो०—जेहि उपाय पुनि पाय जन देखइ दीनदयाल।

सो सिख देइय अवधि लगि कोसलपाल कृपाल ॥३१४॥

हे दीनदयाल, कोसलदेश के पालक, कृपाल! अवधि समाप्त होने तक के लिए वही शिक्षा मुझे दीजिए कि जिस उपाय से यह दास फिर चरणों के दर्शन करे ॥ ३१४ ॥

चौ०—पुरजन परिजन प्रजा गोसाईँ। सब सुचि सरस सनेह सगाईं॥
राउर बदि भल भव-दुख-दाहू। प्रभु बिनु बादि परम-पद-लाहू॥१॥

हे स्वामी! आपका स्नेहसम्बन्ध रहने से पुरवासी, कुटुम्ब और प्रजा सब रुचिकर और पवित्र हैं। आपके लिए, आपको खातिर, संसार के दुःख और संताप भी अच्छे हैं; परन्तु स्वामी के बिना परमपद (मोक्ष) का लाभ भी व्यर्थ है॥ १॥

स्वामि सुजान जानि सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥
प्रनतपालु पालहिँ सब काहू। देव दुहूँ दिसि ओर निबाहू॥२॥

हे स्वामी! आप तो चतुर हैं, हे भक्तरक्षक! सभी लोगों के और भक्तों के जी की रुचि, लालसा, और रहनि (स्थिति) जानकर आप सबकी रक्षा करते हैं। इसलिए हे देव! दोनों दिशाओं (वन और घर) की रक्षा आप ही से होगी॥ २॥

अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो। किये बिचारु न सोच खरो सो॥
आरति मोर नाथ कर छोहू। दुहुँ मिलि कीन्ह ढीठ हठि मोहू॥३॥

मुझे सब तरह से ऐसा पूरा भरोसा है। विचार करने पर थोड़ी सी भी चिन्ता नहीं रह जाती। मेरा दुःख और स्वामी की कृपा दोनों ने मिलकर मुझे हठपूर्वक ढीठ बना दिया॥३॥

यह बड दोष दूरि करि स्वामी। तजि सकोचु सिखइय अनुगामी॥
भरतबिनय सुनि सबहि प्रसंसी। खीर-नीर-बिबरन-गति हंसी॥४॥

हे स्वामी! इस बड़े दोष (ढिठाई) को दूर करके, संकोच छोड़कर मुझ अनुचर को शिक्षा दीजिए। भरतजी की प्रार्थना सुनकर सबने उनकी प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि जिस तरह दूध और पानी को अलग अलग करने की गति हंस में होती है वैसी ही गति इस विनती में है॥ ४॥

दो०—दीनबंधु सुनि बंधु के बचन दीन छलहीन।
देस-काल-अवसर-सरिस बोले रामु प्रबीन॥३१५॥

दीनबन्धु, दक्ष रामचन्द्रजी अपने भाई के दीन और निष्कपट वचनों को सुनकर देश, काल और समय (प्रसङ्ग) के अनुसार वचन बोले—॥ ३१५॥

चौ०—तात तुम्हारि मोरि परिजन की। चिंता गुरुहिँ नृपहिँ घर बन की॥
माथे पर गुरु मुनि मिथिलेसू। हमहिँ तुम्हहिँ सपनेहुँ न कलेसू॥१॥

हे तात! तुम्हारी, मेरी, कुटुम्बियों की, घर की और वन की सब चिन्ता गुरुजी और जनक महाराज को है। जब माथे पर गुरुजी और मिथिला-नरेश हैं तब हमें और तुम्हें स्वप्न में भी क्लेश नहीं है॥ १॥

मोर तुम्हार परमपुरुषारथु। स्वारथु सुजसु धरमु परमारथु॥
पितुआयसु पालिय दुहुँ भाई। लोक बेद भल भूपभलाई॥२॥

मेरा और तुम्हारा यही परम पुरुषार्थ है; यही स्वार्थ, परमार्थ, सुयश और धर्म है कि दोनों भाई पिता की आज्ञा का पालन करें, जिससे वेद और शास्त्रों की मर्यादा रहे और राजा (दशरथ) की भलाई हो॥ २॥

गुरु-पितु-मातु-स्वामि-सिख पाले। चलेहु कु-मग पग परहिँ न खाले॥
अस बिचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भरि जाई॥३॥

हे भरत! गुरु, पिता, माता और स्वामी की शिक्षा या आज्ञा का पालन करने के लिए जो कुमार्ग भी चलना पड़े, तो भी पाँव नीचे (गड्ढे में) नहीं पड़ता। तुम ऐसा विचार कर और सब सोच त्याग कर अवधि भर जाकर अयोध्या का पालन करो॥ ३॥

देसु कोसु पुरजन परिवारू। गुरुपद-रजहिँ लाग छरु भारू॥
तुम्ह मुनि-मातु-सचिव-सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी॥४॥

देश, खज़ाना, पुर-वासी, कुटुम्बी आदि सबका भार तो गुरुजी के चरणों की धूल पर है। तुम गुरुजी, माताओं और मन्त्रियों की शिक्षा मान कर पृथ्वी, प्रजा और राजधानी की रक्षा करना॥ ४॥

दो०—मुखिया मुख सो चाहिये खान पान कहँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥३१६॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि फिर रामचन्द्रजी ने कहा—जैसे खाने-पीने के लिए एक मुख ही है, वैसे ही मुखिया (प्रधान पुरुष) मुख जैसा होना चाहिए। (जैसे मुँह अकेला खाकर सब अंगों को पुष्ट करता है वैसे) मुखिया या राजा को भी चाहिए कि (प्रजा से कर-रूपी भोजन लेकर) विचारपूर्वक सब अङ्गों[1] का पालन-पोषण करे॥ ३१६॥

चौ०—राज-धरम-सरबसु एतनोई। जिमि मन माँह मनोरथ गोई॥
बंधुप्रबोधु कीन्ह बहु भाँती। बिनु अधार मन तोष न साँती॥१॥

राज-धर्म का सर्वस्व (निचोड़) इतना ही है, जैसे मन में इच्छा गुप्त रहती है, वैसे ही इसे छिपाकर रक्खो। भाई रामचन्द्रजी ने बहुत तरह भरतजी को समझाया, पर भरतजी को बिना आधार न मन में सन्तोष ही हुआ न शान्ति ही मिली॥ १॥

१—राज्य के सात अङ्ग होते हैं—"स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्। परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते"॥ कामन्दक में कहा है, राजा, मन्त्री, राष्ट्र (राजा भूमि आदि), क़िला, ख़ज़ाना, फ़ौज, मित्र इन सातों का धर्म समय पड़ने पर एक दूसरे की मदद करना है।

भरत सीलु गुरु सचिव समाजू। सकुच सनेह बिबस रघुराजू॥
प्रभु करि कृपा पावँरी दीन्ही। सादर भरत सीस धरि लीन्ही॥२॥

भरतजी के शील और गुरु, मन्त्री तथा समाज के सङ्कोच और स्नेह से विवश होकर प्रभु रघुराज (रामचन्द्रजी) ने कृपाकर पावड़ी (खड़ाऊँ) दीं। उनको भरतजी ने आदर के साथ मस्तक पर रख लिया॥२॥

चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिन प्रजाप्रान के॥
संपुट भरतसनेह रतन के। आखर जुग जनु जीवजतन के॥३॥

करुणा-निधान रामचन्द्रजी के दोनों चरण-सिंहासन (खड़ाऊँ) मानों प्रजा के प्राणों के दो रक्षक (जामिन, जमानतदार) हैं। भरतजी के स्नेहरूपी रत्न के लिए मानों वे दोनों सम्पुट या डिब्बे हैं। अथवा जीवों के उद्धार-साधक दोनों अक्षर (राम) हैं॥३॥

कुलकपाट कर कुसल करम के। बिमलनयन सेवा-सु-धरम के॥
भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय राम रहे तें॥४॥

अथवा दोनों वंश की रक्षा के लिए मानों किवाड़ हैं, शुभ कर्मों के लिए मानों वे दो हाथ हैं; सेवा और सद्धर्म के निर्मल नेत्र हैं। आधार (पादुका) मिल जाने से भरतजी प्रसन्न हो गये। उन्हें जैसा सुख सीतारामजी के रहने से होता, वैसा ही पादुकाओं से हुआ॥४॥

दो०—माँगेउ बिदा प्रनामु करि राम लिये उर लाइ।
लोग उचाटे अमरपति कुटिल कुअवसरु पाइ॥३१७॥

भरतजी ने रामचन्द्रजी को प्रणाम कर बिदा माँगी तो उन्होंने भरतजी को छाती से लगा लिया। उधर कुटिल इन्द्र ने मौक़ा पाकर लोगों के चित्त उचाट कर दिये॥३१७॥

चौ०—सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी। अवधि आस सम जीवनि जी की॥
नतरु लषन-सिय-राम-बियोगा। हहरि मरत सबु लोग कुरोगा॥१॥

वह कुचाल (लोगों का चित्त उचाट कर देना) भी सबके लिए अच्छी हो गई। वह कुचाल अवधि की आशा के समान ही जीवन की रक्षा करनेवाली हो गई (अर्थात् यदि उनका मन न उचटता, वियोग के दुःख में ही डूबा रहता तो वे मर जाते)। यदि ऐसा न होता तो लक्ष्मण, सीता और रामचन्द्रजी के वियोग-रूपी दुष्ट रोग से सब लोग तड़प तड़प कर मर जाते॥१॥

रामकृपा अवरेब सुधारी। बिबुधधारि भइ गुनद गोहारी॥
भेंटत भुज भरि भाइ भरत सो। राम-प्रेम-रसु कहि न परत सो॥२॥

रामचन्द्रजी को कृपा ने टेढ़ो बात सुधार दो (कठिनाई दूर कर दी)। देवतों का लाया हुआ संकट (मन का उच्चाट) भो रक्षा को पुकार के समान उपकारी हो गया। जिस समय (विदा करने के लिए) भुजाओं में भर कर भाई भरत से रामचन्द्रजी भेंट करने लगे, उस समय का रामचन्द्रजो का वह प्रेम-रस कहते नहीं बनता॥ २॥

तन मन बचन उमग अनुरागा। धीर-धुरंधर धीरजु त्यागा॥
बारि-ज-लोचन मोचत बारी। देखि दसा सुरसभा दुखारी॥३॥

श्रोरामजो के शरोर, मन और वचन में अनुराग उमग पड़ा। धैर्य-धारियों में धुरंधर रामचन्द्रजी ने उस समय धैर्य को त्याग दिया। वे कमल-समान नेत्रों से जल बहाने लगे। रामचन्द्रजो को दशा को देखकर देवतों को सभा दुखो हुई। (देवता घबराने लगे कि कहीं पासा फिर उलटा न पड़ जाय)॥ ३॥

मुनिगन गुरु धुर धीर जनक से। ग्यानअनल मन कसे कनक से॥
जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जलजाये॥४॥

ऋषिगण, गुरु और जनक राजा जैसे धोर-धुरन्धर जिनके मन ज्ञानरूपो अग्नि में सोने के समान कसे हुए हैं, जिन्हें ब्रह्माजो ने (संसार को माया से) निर्लिप्त उत्पन्न किया है, जिन्होंने संसाररूपो जल के बोच कमल के पत्ते के समान होकर जन्म लिया है (कमल का पत्ता सदा पानो के ऊपर रहता है, उसके ऊपर कभो पानो की बूँद नहीं ठहरतो)॥ ४॥

दो०—तेउ बिलोकि रघुबर-भरत-प्रीति अनूप अपार।
भये मगन मन तन बचन सहित बिराग बिचार॥३१८॥

वे लोग भी श्री रामचन्द्र और भरतजा की अनुपम अपार प्रीति को देखकर शरीर, मन और वचन तथा ज्ञान वैराग्य सहित मग्न हो गये॥ ३१८॥

चौ०—जहाँ जनक गुरु गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बडि खोरी॥
बरनत रघुबर-भरत-बियोगू। सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू॥१॥

जहाँ राजा जनक और गुरु वसिष्ठ को भो गति बुद्धि कुंठित हो गई है, वहाँ की प्रोति को प्राकृत (लौकिक) प्रोति कहने में बड़ा दोष है। तुलसोदासजो कहते हैं—श्री रामचन्द्र और भरतजो के वियोग का वर्णन करने में लोग उसे सुनकर मुझे कठोर (निर्दय) कवि कहेंगे, अथवा—जो कोई कवि इसको वर्णन करेगा, लोग उसको कठोर कवि कहेंगे॥ १॥

सो सकोचु रसु अकथ सुबानी। समउ सनेहु सुमिरि सकुचानी॥
भेंटि भरत रघुबर समुझाये। पुनि रिपुदवनु हरषि हिय लाये॥२॥

वह संकोच-रस वाणी से अकथ है अर्थात् वर्णन नहीं किया जा सकता, इसलिए वाणी समय और स्नेह को विचार कर (वियोग वर्णन करने में) सकुचा गई। रामचन्द्रजी ने भरतजी से मिलकर उन्हें समझाया। फिर प्रसन्न होकर शत्रुघ्नजी को हृदय से लगाया॥ २॥

सेवक सचिव भरत-रुख पाई। निज निज काज लगे सब जाई॥
सुनि दारुनदुखु दुहूँ समाजा। लगे चलन के साजन साजा॥३॥

सेवक और मन्त्री भरतजी का रुख पाकर, सब जाकर, अपने अपने काम में लग गये। वे चलने की तैयारी करने लगे जिसे सुनकर दोनों समाजों में घोर दुःख हुआ॥ ३॥

प्रभु-पद-पदुम बंदि दोउ भाई। चले सीस धरि रामरजाई॥
मुनि तापस बन देव निहोरी। सब सनमानि बहोरि बहोरी॥४॥

दोनों भाई (भरत, शत्रुघ्न) प्रभु रामचन्द्रजी के चरण-कमल को वन्दना करके तथा रामचन्द्रजी की आज्ञा शिरोधार्य कर और मुनि, तपस्वी तथा वन-देवतों को विनती कर और बार बार सबका सम्मान कर चले॥ ४॥

दो०—लषनहिँ भेँटि प्रनामु करि सिर धरि सिय-पद-धूरि।
चले सप्रेम असीस सुनि सकल-सुमंगल-मूरि॥३१९॥

वे लक्ष्मणजी से मिलकर और उन्हें प्रणाम करके, सीताजी के चरणों की धूल माथे चढ़ाकर, समस्त मङ्गलों के मूल उन दोनों के आशीर्वाद सुनकर चले॥ ३१९॥

चौ०—सानुज राम नृपहि सिर नाई। कीन्हि बहुत बिधि बिनय बडाई॥
देव दयाबस बड दुखु पायेउ। सहित समाज काननहिँ आयेउ॥१॥

लक्ष्मणजी-समेत रामचन्द्रजी ने राजा जनक को सिर नवाकर उनकी बहुत तरह से विनय तथा बड़ाई की। उन्होंने कहा—हे देव! आपने दया के वश बहुत ही दुःख उठाया, जो समाज सहित आप वन में आये॥ १॥

पुर पगु धारिय देइ असीसा। कीन्ह धीर धरि गवनु महीसा॥
मुनि महिदेव साधु सनमाने। बिदा किये हरि-हर-सम जाने॥२॥

अब आशीर्वाद देकर आप अपने नगर को पधारिए। यह सुनकर राजा जनक धीर धरकर चल पड़े। फिर रामचन्द्रजी ने ऋषियों, ब्राह्मणों और साधुओं का सम्मान कर उनको हरिहर के समान समझ कर बिदा किया॥ २॥

सासु समीप गये दोउ भाई। फिरे बंदि पग आसिष पाई॥
कौसिक बामदेव जावाली। परिजन पुरजन सचिव सुचाली॥३॥

फिर दोनों भाई राम-लक्ष्मण सास के पास गये और उनके पाँवों को वन्दना कर आशीर्वाद पा लौट आये। फिर विश्वामित्र, वामदेव, जाबालि, कुटुम्बी लोग, नगर-निवासी, मन्त्री, सज्जन लोग ॥ ३ ॥

जथाजोगु करि बिनय प्रनामा। बिदा किये सब सानुज रामा ॥
नारि पुरुष लघु मध्य बडेरे। सब सनमानि कृपानिधि फेरे ॥४॥

सबको यथायोग्य विनय प्रणाम करके लक्ष्मण और रामचन्द्रजी ने बिदा किया। कृपानिधान रामचन्द्रजी ने सब छोटे, मध्यम और बड़े स्त्री और पुरुषों को उनका सम्मान करके लौटाया ॥ ४ ॥

दो०—भरत-मातु-पद-बंदि प्रभु सुचि सनेह मिलि भेंटि।
बिदा कीन्हि सजि पालकी सकुच सोच सब मेंटि ॥३२०॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने भरतजी की माता (केकयी) के चरणों की वन्दना कर और पवित्र स्नेह के साथ उनसे मिलकर तथा सब तरह से उनका संकोच और सोच मिटा कर पालकी सजा-कर उन्हें बिदा किया ॥ ३२० ॥

चौ०—परिजन मातु पितहिँ मिलि सीता। फिरी प्रान-प्रिय-प्रेम-पुनीता ॥
करि प्रनामु भेंटी सब सासू। प्रीति कहत कबि हिय न हुलासू ॥१॥

प्राण-प्रिय रामचन्द्रजी के प्रेम में पवित्र सीताजी परिवार के लोगों और माता-पिता से मिलकर लौट आईं। फिर सब सासुओं को प्रणाम कर उनसे मिलीं। उस समय की प्रीति वर्णन करते कवि के हृदय में उत्साह नहीं होता (अर्थात् वह प्रीति वर्णनातीत थी) ॥ १ ॥

सुनि सिख अभिमत आसिष पाई। रही सीय दुहुँ प्रीति समाई ॥
रघुपति पटु पालकी मँगाई। करि प्रबोधु सब मातु चढाई ॥२॥

सीताजी ने शिक्षा सुनकर मन-इच्छित आशीर्वाद पाये, और दोनों (नैहर, ससुराल) और की प्रीति में समाई (फँसी) रहीं। रामचन्द्रजी ने सुन्दर पालकियाँ मँगवाईं और सब माताओं को समझा बुझाकर उन पर चढ़ा दिया ॥ २ ॥

बार बार हिलि मिलि दुहुँ भाई। सम सनेह जननी पहुँचाई ॥
साजि बाजि गज बाहन नाना। भूप भरतदल कीन्ह पयाना ॥३॥

दोनों भाइयों (राम, लक्ष्मण) ने बार बार हिल-मिलकर बराबर स्नेह के साथ माताओं को कुछ दूर पहुँचा दिया। राजा जनक और भरतजी के दल ने हाथी-घोड़े आदि तरह तरह के वाहन साजबाज कर प्रयाण किया ॥ ३ ॥

हृदय रामु सिय लखन समेता। चले जाहिँ सब लोग अचेता॥
बसह बाजि गज पसु हिय हारे। चले जाहिँ परबस मन मारे॥४॥

सब लोग हृदय में रामचन्द्रजी को सीता और लक्ष्मण-सहित धारण किये हुए (उनका ध्यान करते हुए) चले तो जाते थे, पर अचेत थे (उन्हें अपनी कुछ सुध न थी)। इसी तरह बैल, हाथी घोड़े, आदि पशु हृदय में हारे हुए मन मारे हुए पराधीन चले जाते थे, अर्थात् किसी का जाने को जी नहीं चाहता था॥ ४॥

दो०—गुरु-गुरु-तिय-पद बंदि प्रभु सीता लषन समेत।
फिरे हरष-बिसमय-सहित आये परननिकेत॥३२१॥

फिर प्रभु रामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मणजी-समेत गुरु और गुरु की स्त्री के चरणों को वन्दना कर आनन्द और विषाद-सहित पर्णकुटी पर लौट आये॥ ३२१॥

चौ०—बिदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदय बड बिरह बिषादू॥
कोल किरात भिल्ल बनचारी। फेरे फिरे जोहारि जोहारी॥१॥

फिर निषाद (गुह) का सम्मान कर उसको बिदा किया। वह चला पर उसके हृदय में विरह का बड़ा भारी दुःख था। फिर कोल, किरात, भील आदि वन के फिरनेवाले (जङ्गली) लोगों को रामचन्द्रजी ने लौटाया। वे सब प्रणाम करके बहुत लौटाने से लौटे॥ १॥

प्रभु सिय लषन बैठि बट छाहीँ। प्रिय-परिजन-बियोग बिलखाहीँ॥
भरत सनेहु सुभाउ सुबानी। प्रिया अनुज सन कहत बखानी॥२॥

फिर प्रभु रामचन्द्रजी, सीता और लक्ष्मण-सहित, बड़ की छाया में बैठ कर प्रिय परिवार के लोगों के वियोग से बिलखने लगे और भरतजी के स्नेह, स्वभाव तथा मीठी बोली को—प्यारी सीताजी और अनुज लक्ष्मणजी से—बड़ाई करने लगे॥ २॥

प्रीति प्रतीति बचन मन करनी। श्रीमुख राम प्रेमबस बरनी॥
तेहि अवसर खग मृग जल मीना। चित्रकूट चर अचर मलीना॥३॥

रामचन्द्रजी ने प्रेम के वश होकर श्रीमुख से भरतजी के वचन, मन, करतूत, प्रीति तथा विश्वास का वर्णन किया। उस समय चित्रकूट के पक्षी, मृग, जल और मछलियाँ सब चर (चेतन जीव) और अचर (पत्थर, वृक्ष आदि) मलिन या उदास हो गये॥ ३॥

बिबुध बिलोकि दसा रघुबर की। बरषि सुमन कहि गति घर घर की॥
प्रभु प्रनामु करि दीन्ह भरोसो। चले मुदित मन डर न खरो सो॥४॥

देवतों ने रामचन्द्रजी की (प्रेममुग्ध) दशा को देखकर उन पर फूल बरसा कर अपने घर घर की गति निवेदन की (अर्थात् राक्षसों का कष्ट और अपना मारे मारे फिरना सुनाया)।

प्रभु रामचन्द्रजी ने उन्हें प्रणाम कर भरोसा दिया, तब सब प्रसन्न-चित्त चले। उन्हें कुछ भी डर न रह गया ॥ ४ ॥

दो०—सानुज सीयसमेत प्रभु राजत परनकुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरे सरीर ॥३२२॥

प्रभु रामचन्द्रजी छोटे भाई लक्ष्मण और सीताजी-समेत उस पर्णकुटीर में ऐसे शोभायमान थे मानों भक्ति, ज्ञान और वैराग्य शरीर धारण कर शोभित हो रहे हों ॥ ३२२ ॥

चौ०—मुनि महिसुर गुरु भरत भुआलू। रामबिरह सबु साजु बिहालू ॥
प्रभु-गुन-ग्राम गुनत मन माहीं। सब चुपचाप चले मग जाहीं ॥१॥

मुनि, ब्राह्मण, गुरु, भरतजी और राजा जनक सारा समाज रामचन्द्रजी के विरह में बेहाल था। सब मन में प्रभु रामचन्द्रजी के गुण-गणों को याद करते हुए रास्ते में चुपचाप चले जाते थे ॥ १ ॥

जमुना उतरि पार सब भयऊ। सो बासर बिनु भोजन गयऊ ॥
उतरि देवसरि दूसर बासू। रामसखा सब कीन्ह सुपासू ॥२॥

पहले दिन सब यमुनाजी उतर कर पार हुए, वह दिन उन्हें बिना भोजन बीता। दूसरे दिन गंगाजी उतर कर डेरा हुआ। वहाँ रामसखा (गुह) ने सब बातों का सुबीता कर दिया ॥२॥

सई उतरि गोमती नहाये। चौथे दिवस अवधपुर आये ॥
जनकु रहे पुर बासर चारी। राज काज सब साज सँभारी ॥३॥

वे तीसरे दिन सई नदी उतरकर गोमती नदी का स्नान कर चौथे दिन अयोध्या पहुँचे। जनक महाराज चार दिन अयोध्या में रहे और सब राज-काज, चीज़ वस्तु सम्हाल कर ॥ ३ ॥

सौंपि सचिव गुरु भरतहि राजू। तिरहुति चले साजि सब साजू ॥
नगर-नारि-नर गुरु-सिख मानी। बसे सुखेन राम-रज-धानी ॥४॥

अयोध्या का राज्य मन्त्री, गुरु (वसिष्ठजी) और भरतजी को सौंपकर सब साज सजा कर (तैयारी कर) वे तिरहुत देश को चले। नगर के सब स्त्री-पुरुष गुरुजी की शिक्षा मानकर रामचन्द्रजी की राजधानी अयोध्या में सुखपूर्वक रहने लगे ॥ ४ ॥

दो०—रामदरस लगि लोग सब करत नेम उपबास।
तजि तजि भूषन भोग सुख जियत अवधि की आस ॥३२३॥
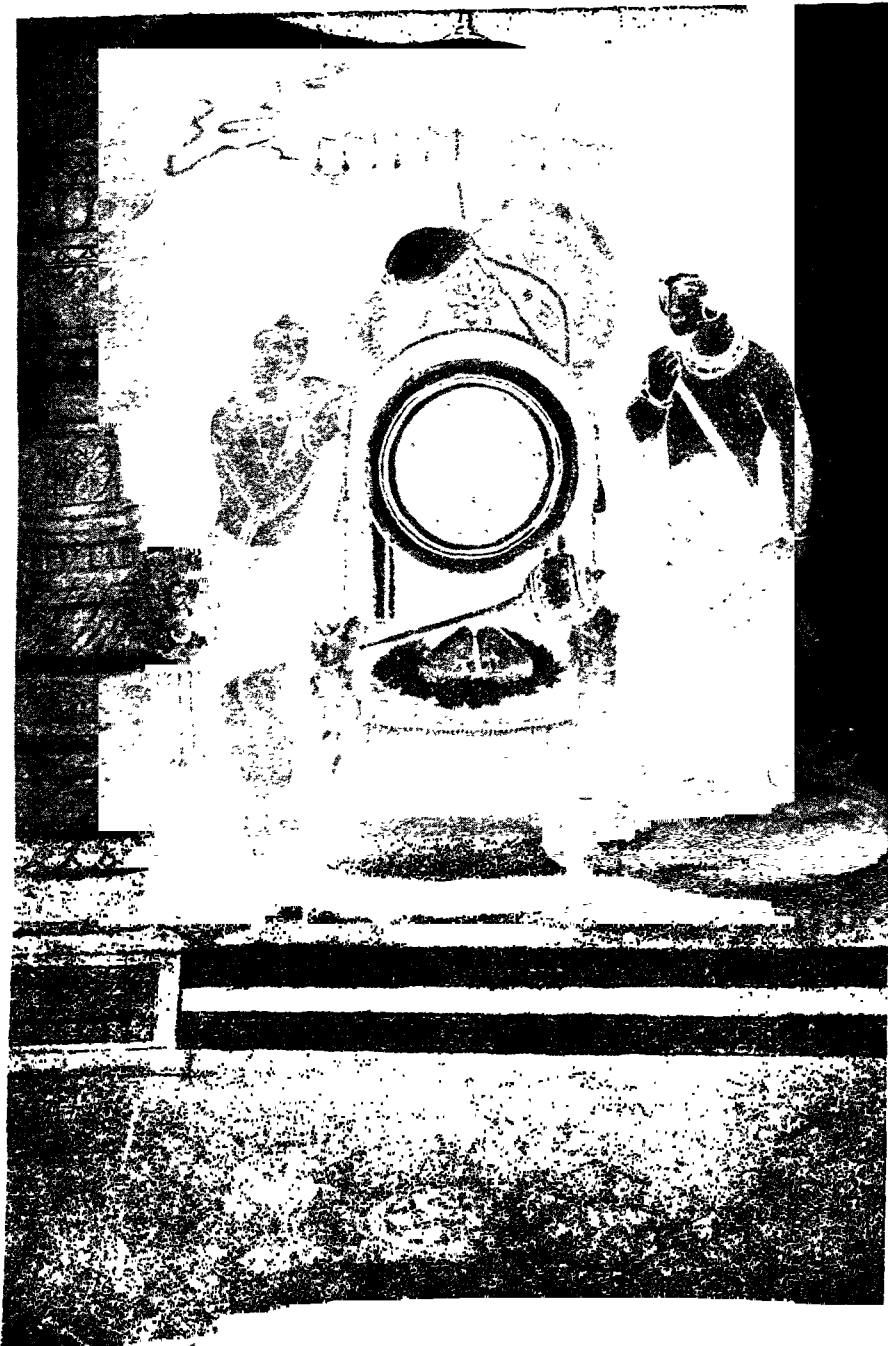
सुनि सिख पाइ असीस बड़ि गनक बोलि दिनु साधि।
सिंहासन प्रभुपादुका बैठारे निरुपाधि ॥ पृ० ६६९

सब लोग रामचन्द्रजी का दर्शन होने के लिए नियम और व्रत करने लगे। वे भूषण और भोग-विलासों को छोड़कर अवधि (१४ वर्ष) की आशा से जीते हैं कि जब अवधि समाप्त हो जायगी, हमें राम-दर्शन होगा॥ ३२३॥

चौ०—सचिव सुसेवक भरत प्रबोधे। निज निज काज पाइ सिख ओधे॥
पुनि सिख दीन्हि बोलि लघु भाई। सौंपी सकल मातुसेवकाई॥१॥

भरतजी ने मन्त्री और विश्वासी सेवकों को समझा दिया। वे सीख पाकर अपने अपने काम में लग गये। फिर भरतजी ने छोटे भाई शत्रुघ्नजी को बुलाया और उनको समझाकर सब माताओं की सेवा सौंपी॥ १॥

भूसुर बोलि भरत कर जोरे। करि प्रनाम बरबिनय निहोरे॥
ऊँच नीच कारजु भल पोचू। आयसु देब न करब सँकोचू॥२॥

फिर भरतजी ने ब्राह्मणों को बुलाकर उन्हें हाथ जोड़ प्रणाम किया और बड़ी नम्रता से अनुग्रह की प्रार्थना कर कहा—आप लोग ऊँचा, नीचा, अच्छा, बुरा जो कुछ कार्य हो, उसके लिए मुझे आज्ञा दीजिएगा। संकोच न कीजिएगा॥ २॥

परिजन पुरजन प्रजा बोलाये। समाधानु करि सुबस बसाये॥
सानुज गे गुरुगेह बहोरी। करि दंडवत कहत कर जोरी॥३॥

फिर परिवार के लोगों, नगर के प्रतिष्ठित लोगों और प्रजाओं को बुलाकर उनका समाधान कर उनके अच्छी तरह रहने का बन्दोबस्त कर दिया। फिर छोटे भाई शत्रुघ्न के साथ भरतजी गुरुजी के घर गये और उन्हें दण्डवत् कर हाथ जोड़ कहने लगे कि॥ ३॥

आयसु होइ त रहउँ सनेमा। बोले मुनि तन पुलकि सप्रेमा॥
समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरमसारु जग होइहि सोई॥४॥

हे गुरु महाराज! आपकी आज्ञा हो तो मैं नियमपूर्वक रहूँ। यह सुनकर मुनि वसिष्ठजी पुलकित होकर प्रेमपूर्वक बोले—हे भरत! तुम जो कुछ समझोगे, कहोगे और करोगे, वही जगत् में धर्म का सार होगा॥ ४॥

दो०—सुनि सिख पाइ असीस बडि गनक बोलि दिनु साधि।
सिंहासन प्रभुपादुका बैठारे निरुपाधि॥३२४॥

भरतजी ने यह सुनकर शिक्षा और बड़े आशीर्वाद पाकर, ज्योतिषियों को बुलवा, और दिन साध (शुभ-मुहूर्त देख) कर रामचन्द्रजी की पादुकाएँ सिंहासन में निर्विघ्न बैठा दीं (प्रतिष्ठित कर दीं)॥ ३२४॥

चौ०—राममातु गुरुपद सिरु नाई। प्रभु-पद-पीठ-रजायसु पाई॥
नंदिगावँ करि परनकुटीरा। कीन्ह निवास धरम-धुर-धीरा॥१॥

फिर धर्म का भार उठाने में धीर भरतजी रामचन्द्रजी की माता कौसल्याजी के और गुरुजी के चरणों में मस्तक नवाकर और प्रभु रामचन्द्रजी की पादुकाओं से आज्ञा लेकर नन्दिगाँव में पत्तों की कुटी बनाकर उसी में निवास करने लगे ॥ १ ॥

जटाजूट सिर मुनिपट धारी । महि खनि कुससाथरी सवाँरी ॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा । करत कठिन रिषिधरम सप्रेमा ॥२॥

उन्होंने सिर में जटाजूट बढ़ा लिये, मुनियों के वस्त्र (बल्कल आदि) धारण किये, पृथ्वी खोदकर गुफा में कुश की आसनी बिछाई। फिर वे भोजन, वस्त्र, पात्र, व्रत, नियम आदि में ऋषियों के कठिन धर्म को प्रेम-सहित करने लगे ॥ २ ॥

भूषन बसन भोग सुख भूरी । मन तन बचन तजे तृन तूरी ॥
अवधराजु सुरराजु सिहाई । दसरथधनु सुनि धनद लजाई ॥३॥

भरतजी ने भूषण, वस्त्र और समस्त सुख-भोगों को मन, वचन और काया से तिनके के समान त्याग दिया। जिस अयोध्या के राज्य की प्रशंसा देवराज (इंद्र) भी करते हैं, और जहाँ के राजा दशरथ की सम्पत्ति सुनकर कुबेर भी शर्मा जाते हैं ॥ ३ ॥

तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥
रमाबिलास रामअनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥४॥

उस अयोध्यापुरी में भरतजी बिना राग अर्थात् बिना किसी सुखभोग की प्रवृत्ति के इस तरह निवास करने लगे जिस तरह भँवरा चंपे के बाग़ में रहे। (भँवरा कमल में तो चपक बैठता है पर चंपे की सुगन्ध को ग्रहण नहीं करता।) जो रामचन्द्रजी के प्रेमी होते हैं वे बड़भागी लक्ष्मीसम्बन्धी भोगों को ऐसे त्याग देते हैं जैसे कोई मनुष्य वमन (क़ै, रद) को त्याग दे ॥ ४ ॥

दो०—राम-प्रेम-भाजन भरत बड़े न यहि करतूति ।
चातक हंस सराहियत टेक बिबेक बिभूति ॥३२५॥

जब पपीहे और हंस की प्रशंसा टेक (स्वाति-बूँद और नीरक्षीर-विवेचन) के कारण होती है तब विचारवान् और ऐश्वर्यवान् भरतजी के लिए, जो श्रीरामचन्द्रजी के प्रेम के पात्र हैं, यह करतूत (व्रतनिष्ठ रहना, वैराग्यवान रहना) कोई बड़ी बात नहीं है ॥ ३२५ ॥

चौ०—देह दिनहुँ दिन दूबरि होई । घटइ न तेजु बल मुखछबि सोई ॥
नित नव राम-प्रेम-पनु पीना । बढ़त धरमदलु मनु न मलीना ॥१॥

व्रत आदि परिश्रम से भरतजी का शरीर दिन दिन दुबला होता जाता था, पर उनका तेज नहीं घटता था। उनका बल और उनके मुख की कान्ति वैसी ही रही। रामचन्द्रजी के प्रेम

का नित नया पण (प्रतिज्ञा) बढ़ता ही जाता था, धर्म का दल बढ़ता जाता था, उनका मन मलिन (उदास) नहीं होता था ॥ १ ॥

जिमि जल निघटत सरद प्रकासे। बिलसत बेतस बनज बिकासे॥
सम दम संजम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा॥२॥

जैसे शरद्-ऋतु के प्रकाशित होते हो जल तो घटता है, पर बेत वृक्ष सुशोभित होते हैं और कमल खिलते हैं। भरतजी के शुद्ध हृदय-आकाश में शम, दम, संयम, नियम और व्रत आदि नक्षत्र दमकने लगे ॥ २ ॥

ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी। स्वामिसुरति सुरबीथि बिकासी॥
राम-प्रेम-बिधु अचल अदोखा। सहित समाज सोह नित चोखा॥३॥

उस आकाश में विश्वास ही ध्रुव का तारा है, वनवास की अवधि (१४ वर्ष) पूर्णिमा तिथि-सी है और स्वामी श्रीसीतारामजी की स्मृति सुरवीथि[1] या आकाशगंगा प्रकाशित हो रही है। श्रीरामचन्द्रजी का प्रेम ही निश्चल (पूर्ण, कभी न घटनेवाला) और निष्कलंक चन्द्रमा है, वह समाजरूपी नक्षत्रों-सहित नित्य निर्मल प्रकाशित होता है ॥ ३ ॥

भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस-गनेस-गिरा-गमु नाहीं॥४॥

भरतजी की रहनि (स्थिति), समझ और करतूत तथा उनकी भक्ति, वैराग्य आदि गुणों की अधिकता का वर्णन करने में सभी सत्कवि सकुचाते हैं; क्योंकि वहाँ तो शेषजी, गणेशजी और सरस्वतीजी की भी गम नहीं, अर्थात् वे भी पूरा वर्णन नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

दो०—नित पूजत प्रभुपावँरी प्रीति न हृदय समाति।
माँगि माँगि आयसु करत राजकाज बहु भाँति॥३२६॥

भरतजी प्रतिदिन रामचन्द्रजी की पादुकाओं की पूजा करते हैं, उनके हृदय में प्रेम नहीं समाता। वे उन पादुकाओं से आज्ञा माँग माँग कर सब तरह के राज्य-सम्बन्धी कार्य करते हैं ॥ ३२६ ॥

चौ०—पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जपु लोचन नीरू॥
लषनु राम सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥१॥

१—आकाश में तारों का एक पुंज बहुत लम्बा रास्ता जैसा शरद्-ऋतु में दीखने लगता है। इसको आधी रात में देखना चाहिए। उस रास्ते का नाम सुरवीथी है। लोग कहते हैं कि यह देवताओं के आने जाने का रास्ता है।

भरतजी के हृदय में सीतारामजी हैं, शरीर पुलकित हो रहा है, जीभ से राम-नाम का जप चल रहा है और नेत्रों में आँसू भरे हैं। लक्ष्मण, रामचन्द्र और सीता तो वन में वास कर रहे हैं पर भरतजी घर में निवास कर तपस्या से शरीर को कस रहे हैं॥ १॥

दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू॥
सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं॥२॥

सब लोग दोनों को ओर देखकर (दोनों पक्षों का विचार करके) कहते हैं कि भरतजी सब तरह बड़ाई के लायक़ हैं। भरतजी के व्रत और नियमों को सुनकर साधुगण भी सकुचा जाते हैं और उनकी दशा को देखकर बड़े बड़े मुनिराज लजा जाते हैं॥ २॥

परमपुनीत भरतआचरनू। मधुर-मंजु-मुद-मंगल-करनू॥
हरन कठिन कलि-कलुष-कलेसू। महा-मोह-निसि दलन दिनेसू॥३॥

भरतजी का आचरण परम पवित्र, मधुर, सुन्दर और आनन्द-मङ्गल का करनेवाला है। वह कठिन कलियुग-सम्बन्धी पाप और क्लेशों का हरनेवाला है और महा मोहरूपी रात को नष्ट करने के लिए वह सूर्य है॥ ३॥

पाप-पुंज-कुंजर-मृग-राजू। समन सकल-संताप-समाजू॥
जनरंजन भंजन भवभारू। रामसनेह सुधा-कर-सारू॥४॥

वह पापों के पुंजरूपी हाथियों को मर्दन करनेवाला सिंहरूप है, सभी सन्तापों के झुंड को शान्त करनेवाला है; लोगों के चित्त को रंजन (प्रसन्न) करनेवाला, संसार के भार (कष्ट) को भंजन (नाश) करनेवाला और रामचन्द्रजी के स्नेहरूपी चन्द्रमा का सार (अर्थात् अमृत) है॥४॥

छंद—सिय-राम-प्रेम-पियूष-पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि-मन-अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुखदाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि रामसनमुख करत को॥

जो सीतारामजी के प्रेमरूपी अमृत से भरे हुए भरतजी का जन्म न होता, तो बड़े बड़े मुनियों के मन को भी दुर्लभ यम, नियम, शम, दम आदि विषम (कठिन) व्रतों को कौन करता? और शुद्ध यश (गाने) के द्वारा दुःख, दरिद्रता, दंभ, पापों को कौन हरण करता? (तुलसीदासजी कहते हैं कि) कलियुग में तुलसीदास जैसे शठों (दुष्टों) को हठपूर्वक श्रीरामजी के सम्मुख कौन कर देता?॥

सो०—भरतचरित करि नेम तुलसी जो सादर सुनहिँ ।
सीय-राम-पद-प्रेम अवसि होइ भव-रस-बिरति ॥३२७॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि जो मनुष्य, नियम करके भरतजी के चरित्र को आदर-पूर्वक सुनेंगे, उनको सीतारामजी के चरणों में प्रेम अवश्य होगा और संसारी विषयों से विरक्ति भी हो जायगी ॥ ३२७ ॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने
विमलविज्ञानवैराग्यसम्पादनो नाम
द्वितीयः सोपानः समाप्तः ॥

यह समस्त कलियुग के पातकों का विनाशक श्रीरामचरितमानस में शुद्ध विज्ञान, और वैराग्य का सम्पादन (करानेवाला) नामवाला दूसरा सोपान समाप्त हुआ ।
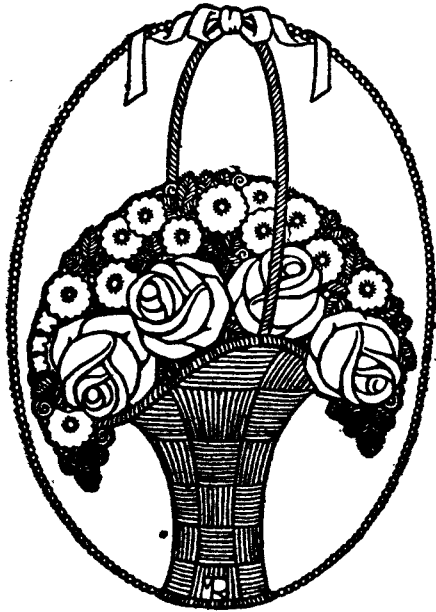
श्रीगणेशाय नमः

तृतीय सोपान

(अरण्यकाण्ड)

श्लोक

मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं
वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम्।
मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ श्वासं भवं शङ्करं
वन्दे ब्रह्मकुलं कलङ्कशमनं श्रीरामभूपप्रियम् ॥१॥

धर्म्मरूपी वृक्ष के मूल, विवेकरूपी समुद्र के आनन्द देनेवाले पूर्णचन्द्र, वैराग्यरूपी कमल के लिए सूर्य, पापरूपी घोर अन्धकार के दूर करनेवाले, तापों के नाश करनेवाले, मोहरूपी घनपटल के विच्छिन्न करने के लिए (दक्षिणीय) पवनस्वरूप, कल्याणकारी, ब्रह्मसम्भूत, कलङ्क के दूर करनेवाले, और श्रीराजा रामचन्द्र के प्यारे भव अर्थात् श्रीमहादेवजी को मैं प्रणाम करता हूँ॥ १॥

सान्द्रानन्दपयोदसौभगतनुं पीताम्बरं सुन्दरं
पाणौ बाणशरासनं कटिलसत्तूणीरभारं वरम्।
राजीवायतलोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितं
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे ॥२॥

सघन और सुन्दर मेघ के समान शरीरवाले, पीताम्बर को धारण किये हुए, हाथ में धनुष-बाण लिये, कमर में सुन्दर तरकस बाँधे, कमल के समान विशाल नेत्रोंवाले, धारण किये हुए जटा-जूट से भली भाँति शोभायमान, सीता और लक्ष्मण-सहित मार्ग में विचरते हुए, अभिराम अर्थात् हृदयाह्लादकारी श्रीरामचन्द्रजी को मैं भजता हूँ॥ २॥

सो०—उमा रामगुन गूढ पंडित मुनि पावहिँ बिरति।
पावहिँ मोह बिमूढ जे हरिबिमुख न धरमरति ॥१॥

श्रीशङ्करजी कहते हैं—हे पार्वती! रामचन्द्रजी के गुण गूढ़ (गुप्त, गहरे) हैं, उनको जानकर या सुनकर पण्डित और मुनिजन विश्राम (या वैराग्य) पा जाते हैं। जो निरे मूर्ख हैं, भगवान् से विमुख हैं, जिनको धर्म में प्रीति नहीं है, वे उस राम-गुण को पाकर मोह पा जाते हैं अर्थात् मोहित हो जाते हैं—जो लाभ होना चाहिए उसे वे नहीं पा सकते॥ १॥

चौ०—पुर-नर-भरत-प्रीति मैं गाई। मतिअनुरूप अनूप सुहाई॥
अब प्रभुचरित सुनहु अति पावन। करत जे बन सुर-नर-मुनि-भावन॥१॥

तुलसीदासजी कहते हैं—मैंने अयोध्या-नगर-निवासियों की और भरतजी की अनुपम, सुन्दर प्रीति अपनी बुद्धि के अनुसार (अयोध्या-काण्ड में) वर्णन की। अब रामचन्द्रजी ने वन में जो अत्यन्त पावन (पवित्र करनेवाले) चरित्र किये उन्हें सुनो। वे चरित्र देवतों, मनुष्यों और मुनियों के लिए कल्याणकारी हैं॥ १॥

एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूषन राम बनाये॥
सीतहि पहिराये प्रभु सादर। बैठे फटिकसिला पर सुंदर॥२॥

एक बार रामचन्द्रजी ने सुन्दर फूल चुनकर अपने हाथ से उनके गहने बनाये और सुन्दर स्फटिक शिला पर बैठे हुए प्रभु ने वे गहने आदर के साथ सीताजी को पहना दिये॥ २॥

सुर-पति-सुत धरि बायस बेखा। सठ चाहत रघु-पति-बल देखा॥
जिमि पिपीलिका सागर थाहा। महा-मंद-मति पावन चाहा॥३॥

इतने में इन्द्र के पुत्र शठ (दुष्ट) जयन्त ने कौए का वेष धारण कर रामचन्द्रजी का बल देखना चाहा। जैसे चींटी समुद्र की थाह लेना चाहती है, वैसे ही महामन्द-बुद्धिवाले जयन्त ने रामचन्द्रजी की थाह लेनी चाही॥ ३॥

सीताचरन चोँच हति भागा। मूढ मंदमति कारन कागा॥
चला रुधिर रघुनायक जाना। सींक-धनुष-सायक संधाना॥४॥

वह मूर्ख, मन्दबुद्धि जयन्त—कौआ बना होने के कारण—सीताजी के चरण में[1] चोंच

१—यहाँ पर लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि सीताजी को चरण और चोंच हत भागा। अर्थात् कौआरूप जयन्त पाँव और चोंच दोनों मारकर भागा। इसमें कहाँ पर मार गया, यह सन्देह रहता है। इसलिए सीता—अचरन अर्थात् सीताजी के स्तनों में ऐसा अर्थ करते हैं। वाल्मीकीय में स्तनों में चोंच मारना कहा है "केन ते नागनासोरु विक्षतं वै स्तनान्तरम्। कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना॥" सुन्दर० स० ३८। अर्थात् रामचन्द्रजी ने जागकर पूछा कि हे सीते! स्तनों के

मार कर भागा। उसमें से रुधिर[1] बह चला तब रघुनाथजी ने जाना और धनुष में सींक का बाण अनुसंधान किया ॥ ४ ॥

दो०—अतिकृपाल रघुनायक सदा दीन पर नेह।
ता सनु आइ कीन्ह छल मूरख अवगुनगेह ॥२॥

रघुनायक रामचन्द्रजी अत्यन्त दयालु हैं, वे दीन-जनों पर सदा स्नेह करते हैं। इस मूर्ख अवगुण के घर जयन्त ने आकर उनसे छल किया ! ॥ २ ॥

चौ०—प्रेरितमंत्र ब्रह्मसर धावा। चला भाजि बायस भय पावा ॥
धरि निजरूप गयउ पितु पाहीँ। रामबिमुख राखा तेहि नाहीँ ॥१॥

ब्रह्मास्त्र के मन्त्र से अभिमन्त्रित वह सींक का बाण उस कौए के पीछे दौड़ा तब वह कौआ डर कर भाग चला। वह कौआ अपना असली रूप धरकर (जयन्त बनकर) अपने पिता इन्द्र के यहाँ गया, किन्तु रामचन्द्रजी से विमुख पुत्र को इन्द्र ने नहीं रक्खा अर्थात् वह उसकी रक्षा न कर सका ॥ १ ॥

भा निरास उपजी मन त्रासा। जथा चक्रभय रिषि दुर्वासा ॥
ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका। फिरा स्रमित ब्याकुल भय सोका ॥२॥

जब पिता ने रक्षा न की तो वह निराश हो गया और उसके मन में बड़ा भय उत्पन्न हुआ। जिस तरह सुदर्शन चक्र के भय से दुर्वासा ऋषि[2] भागे फिरे थे उसी तरह भय और सोच से व्याकुल जयन्त ब्रह्मलोक, शिवपुर (कैलास) आदि सभी लोकों में भागता फिरा और भय तथा शोक से व्याकुल होकर भागते भागते थक गया ॥ २ ॥

काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही ॥
मातु मृत्यु पितु समनसमाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना ॥३॥

किसी ने उसको बैठने के लिए भी नहीं कहा। रामचन्द्रजी से द्रोह करनेवाले को कौन रख सकता है? कागभुशुण्डजी कहते हैं हे हरियान! (विष्णु के वाहन गरुड़) ऐसे राम-द्रोहियों को माता तो मृत्यु-स्वरूप हो जाती है, पिता यमराज के समान और अमृत विष हो जाता है ॥ ३ ॥

मध्य भाग में तेरा हृदय किसने फाड़ दिया ? कौन क्रोध-भरे पाँच मुँहवाले साँप के साथ खेल करने लगा ? अध्यात्म-रामायण में सीताजी के चरणों में चोंच मारना लिखा है। इसलिए यही अर्थ उचित है कि वह हतभाग्य (फूटी तक़दीरवाला) कौआ सीताजी के चरणों में चोंच मारकर भाग गया।

१—रामचन्द्रजी जानकीजी की गोद में मस्तक रखकर सो गये थे। कौए के चोंच मारने पर पति की निद्रा भङ्ग होने के भय से पतिव्रता सीता ने न कुछ कहा न सुना, न उसे भगाने आदि की चेष्टा की। घाव से लोहू बहकर शरीर में लगने पर निद्रा खुलने से रामचन्द्रजी को वह हाल मालूम हुआ।

२—अयोध्या-काण्ड दोहा २१९ की ४ चौपाई देखिए।

मित्र करइ सतरिपु कै करनी। ता कहँ बिबुधनदी बैतरनी॥
सब जगु तेहि अनलहु तें ताता। जो रघु-बीर-बिमुख सुनु भ्राता॥४॥

उस राम-द्रोही से मित्र सैकड़ों शत्रुओं के समान करनी करता है, उसके लिए गंगा नदी वैतरणी नदी (कष्टप्रद) हो जाती है। हे भाई! सुनो, जो रघुवीर से विमुख है उसके लिए सारा जगत अग्नि से भी अधिक गरम है!॥४॥

नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥
पठवा तुरत राम पहिँ ताही। कहेसि पुकारि प्रनतहित पाही॥५॥

नारदजी ने जयन्त को व्याकुल देखा तो उन्हें उस पर दया लगी, क्योंकि सन्तों का चित्त कोमल होता है। उन्होंने उसे तुरन्त ही रामचन्द्रजी के पास भेजा। वह रामचन्द्रजी के पास जा पुकार कर कहने लगा कि हे प्रणतहित! (भक्तवत्सल) आप मेरी रक्षा कीजिए॥५॥

आतुर सभय गहेसि पद जाई। त्राहि त्राहि दयाल रघुराई॥
अ-तुलित-बल अ-तुलित-प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिँ पाई॥६॥

उस दुखी भयभीत जयन्त ने रामचन्द्रजी के चरण पकड़ लिये और वह पुकारने लगा—हे दयाल, रघुराई! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो। हे स्वामी! आपके अतुल बल और आपकी अतुल प्रभुता को मन्द-बुद्धिवाला मैं नहीं जान पाया॥६॥

निज कृत करम जनित फल पायउँ। अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ॥
सुनि कृपाल अति-आरत-बानी। एक नयन करि तजा भवानी॥७॥

हे नाथ! अपने किये कर्म से उत्पन्न हुए फल को मैंने पा लिया, अब आपकी शरण आया हूँ; इसलिए रक्षा कीजिए। महादेवजी कहते हैं कि हे पार्वती! कृपालु रामचन्द्रजी ने जयन्त को अत्यन्त आर्त्त (दु:ख-भरी) वाणी सुनकर, उसे एकनेत्र करके छोड़ दिया अर्थात् राम-बाण अमोघ होता है, एक नेत्र फोड़ने से उसका प्रभाव बना रहा॥७॥

सो०—कीन्ह मोह-बस द्रोह जद्यपि तेहि कर बध उचित।
प्रभु छाडेउ करि छोह को कृपाल रघु-बीर-सम॥२॥

जिसने मोह (अज्ञान) के वश द्रोह किया, यद्यपि उसका वध करना ही उचित है तो भी प्रभु रामचन्द्रजी ने कृपा कर उसको छोड़ दिया। रामचन्द्रजी के समान दयालु कौन है?॥२॥

चौ०—रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये स्रुति सुधासमाना॥
बहुरि राम अस मन अनुमाना। होइहि भीर सबहिँ मोहि जाना॥१॥

रामचन्द्रजी ने चित्रकूट में निवास कर कानों को सुनने में अमृत के समान सुखदायी अनेक चरित्र किये। फिर उन्होंने ऐसा अनुमान किया कि मुझे सभी जान गये हैं, इससे यहाँ पर भीड़भाड़ होगी॥१॥

सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीतासहित चले दोउ भाई॥
अत्रि के आस्रम जब प्रभु गयऊ। सुनत महामुनि हरषित भयऊ॥२॥

इसलिए सीता-समेत दोनों भाई राम-लक्ष्मण सब मुनियों से बिदा लेकर चित्रकूट से चले। आगे जब प्रभु रामचन्द्रजी अत्रि मुनि के आश्रम में गये तब महामुनि अत्रि (उनका आना) सुनते ही प्रसन्न हुए॥ २॥

पुलकितगात अत्रि उठि धाये। देखि रामु आतुर चलि आये॥
करत दंडवत मुनि उर लाये। प्रेमबारि दोउ जन अन्हवाये॥३॥

अत्रि मुनि पुलकित-शरीर हो उठकर दौड़ पड़े। उन्हें आते देख रामचन्द्रजी भी जल्दी आगे बढ़ आये और दण्डवत् करने लगे। अत्रि ऋषि ने दण्डवत् करते हुए रामचन्द्रजी को हृदय से लगा लिया और दोनों भाइयों को प्रेम के आँसुओं से स्नान करा दिया॥ ३॥

देखि रामछबि नयन जुडाने। सादर निज आस्रम तब आने॥
करि पूजा कहि बचन सुहाये। दिये मूल फल प्रभु मन भाये॥४॥

रामचन्द्रजी की छवि को देखकर मुनि के नेत्रों में ठंढक पड़ गई, अर्थात् नेत्र तृप्त हो गये। तब मुनिजी उन्हें आदर के साथ अपने आश्रम में ले आये। उनका पूजन कर और सुन्दर वचन कह कर उन्होंने उन्हें मूल फल दिये, जो प्रभु रामचन्द्रजी के मन को प्रिय लगे॥ ४॥

सो०—प्रभु आसन आसीन भरि लोचन सोभा निरखि।
मुनिबर परम प्रबीन जोरि पानि अस्तुति करत॥४॥

आसन पर विराजमान प्रभु रामचन्द्रजी की शोभा को नेत्र भर देखकर परम चतुर ऋषि-श्रेष्ठ अत्रिजी हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे—॥ ४॥

छंद—नमामि भक्तवत्सलं कृपालु-शील-कोमलम्।
भजामि ते पदाम्बुजं अकामिनां स्वधामदम्॥
निकाम-श्याम-सुन्दरं भवाम्बु-नाथ-मन्दरम्।
प्रफुल्ल-कञ्ज-लोचनं मदादि-दोष-मोचनम्॥

हे भक्तवत्सल! हे कृपालु! हे कोमल शीलवाले! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। मैं आपके उन चरणारविन्दों की सेवा करता हूँ जो निष्काम (किसी बात की इच्छा न रखनेवाले) पुरुषों को स्वधाम (वैकुण्ठ) के देनेवाले हैं। आपका शरीर अत्यन्त श्याम सुन्दर है, आप संसार-रूपी समुद्र के लिए मन्दराचल हैं। आपके नेत्र खिले हुए कमल के सदृश हैं। आप मद (घमंड) आदि दोषों के छुड़ानेवाले हैं॥

प्रलम्ब - बाहु - विक्रमं प्रभोऽप्रमेयवैभवम् ।
निषंग - चाप - सायकं धरं त्रि-लोक-नायकम् ॥
दिनेश - वंश - मण्डनं महेश - चाप - खण्डनम् ।
मुनीन्द्र -सन्त - रञ्जनं सुरारि - वृन्द - भञ्जनम् ॥

हे प्रभु ! आपकी लम्बी भुजाओं का बल-विक्रम अपार है, और आपका ऐश्वर्य अप्रमेय (जिसका प्रमाण न हो सके) है। धनुष-बाण और तरकस धारण किये हुए आप त्रिलोकी के स्वामी हैं। आप सूर्य-कुल के भूषण और महादेवजी के धनुष के खण्डन करनेवाले हैं। आप मुनिवरों और सन्तों को प्रसन्न करनेवाले तथा दैत्यों के समूहों का नाश करनेवाले हैं ॥

मनोज - वैरि - वन्दितं अजादि - देव - सेवितम् ।
विशुद्ध - बोध - विग्रहं समस्तदूषणापहम् ॥
नमामि इन्दिरापतिं सुखाकरं सतां गतिम् ।
भजे सशक्ति सानुजं शची-पति-प्रियानुजम् ॥

कामदेव के वैरी श्रीमहादेवजी आपकी वन्दना करते हैं और ब्रह्मादिक देवता आपकी सेवा करते हैं। आप विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं और समस्त दोषों के नाश करनेवाले हैं। आप लक्ष्मी के पति, सुख की खान और सत्पुरुषों की गति हैं। आपको मैं नमस्कार करता हूँ। मैं शक्ति सीताजी एवं अनुज लक्ष्मण-समेत आपका भजन करता हूँ। आप इन्द्राणी के पति इन्द्र के प्यारे छोटे भाई हैं[१] ॥

त्वदङ्घ्रिमूल ये नरा भजन्ति हीनमत्सराः ।
पतन्ति नो भवार्णवे वितर्क-वीचि-सङ्कुले ॥
विविक्तवासिनस्सदा भजन्ति मुक्तये मुदा ।
निरस्य इन्द्रियादिकं प्रयान्ति ते गतिं स्वकाम् ॥

जो लोग मत्सर दोष (दूसरे का भला होते देखकर जलना) से रहित होकर आपके चरण-कमलों को भजते हैं, वे कुतर्करूपी लहरों से बढ़नेवाले संसार-सागर में नहीं गिरते। एकान्त-

---

१—राजा बलि के यज्ञ करते समय उनसे पृथ्वी लेकर इन्द्र को देने के लिए, अदिति के व्रत से सन्तुष्ट हो, उसी की कुक्षि से भगवान् ने वामन अवतार लिया। अदिति ही का पुत्र इन्द्र भी है, इसलिए उसके छोटे भाई हुए। उपेन्द्र नाम से वामनजी का नामकरण भी हुआ था। वही वामन भगवान् रामावतार में रामचन्द्रजी हैं इसलिए उनको इन्द्र का छोटा भाई कहा।

वासी महात्मा लोग मुक्ति पाने के लिए सदा आनन्द से आपका भजन करते हैं। वे इन्द्रियों के सुखों को दूर रखकर अपनी गति (नित्य मुक्तता) को प्राप्त होते हैं॥

त्वमेकमद्भुतं प्रभु निरीहमीश्वरं विभुम् ।
जगद्गुरुं च शाश्वतं तुरीयमेव केवलम् ॥
भजामि भाववल्लभं कुयोगिनां सुदुर्लभम् ।
स्व-भक्त-कल्प-पादपं समं सुसेव्यमन्वहम् ॥

हे स्वामिन्! आप एक हैं (आपके समान भी दूसरा कोई नहीं), आप अद्भुत (सबसे विलक्षण), प्रभु (मालिक), निरीह (किसी बात की इच्छा नहीं करनेवाले), ईश (ऐश्वर्य्यवान्), विभु (समर्थ), जगद्गुरु, नित्य, तुरीय (त्रिगुणात्मक विषयों से पर—चौथे) और केवल (पूर्ण) हैं। भाववल्लभ (प्रेम के प्यारे), कुयोगियों के लिए अत्यन्त दुर्लभ, अपने भक्तों के लिए कल्पवृक्ष समान, रोज़ रोज़ अत्यन्त सेवा के योग्य आपका मैं भजन करता हूँ॥

अनूप-रूप-भूपतिं नतोऽहमुर्विजापतिम् ।
प्रसीद मे नमामि ते पदाब्जभक्ति देहि मे ॥
पठन्ति ये स्तवं इदं नरादरेण ते पदम् ।
व्रजन्ति नात्र संशयः त्वदीयभक्ति संयुताः ॥

आप अनूप (अनोखे) होते हुए भी इस समय राजा का रूप धारण किये हुए हैं। मैं सीतापति राजा रामचन्द्रजी को नमस्कार करता हूँ। आप मुझ पर प्रसन्न हूजिए। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। मुझे अपने चरण-कमलों की भक्ति दीजिए। जो मनुष्य इस स्तोत्र का आदरपूर्वक पाठ करते हैं, वे आपकी भक्ति से युक्त होकर आपके पद (स्थान, वैकुण्ठ) को चले जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं॥

दो०—बिनती करि मुनि नाइ सिरु कह कर जोरि बहोरि ।
चरनसरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजइ मति मोरि ॥५॥

अत्रि मुनि इस प्रकार प्रार्थना करके, सिर नवा और हाथ जोड़कर बोले कि हे नाथ! मेरी बुद्धि कभी आपके चरण-कमलों को न छोड़े॥ ५॥

चौ०—अनसूया के पद गहि सीता। मिली बहोरि सुसील बिनीता॥
रिषि-पतिनी-मन सुख अधिकाई। आसिष देइ निकट बैठाई ॥१॥

फिर सुशीला, नम्रा सीताजी ऋषि-पत्नी अनसूयाजी के पाँव पड़कर उनसे मिलीं। अनसूयाजी ने मन में अधिक प्रसन्न होकर सीताजी को आशीर्वाद दे उन्हें पास बैठा लिया॥ १॥

दिव्य बसन भूषन पहिराये। जे नित नूतन अमल सुहाये॥
कह रिषिबधू सरस मृदु बानी। नारिधरम कछु ब्याज बखानी॥२॥

फिर उन्होंने सीताजी को ऐसे दिव्य वस्त्र और भूषण पहनाये, जो नित नये, निर्मल और सुन्दर बने रहें, कभी ख़राब न हों। फिर किसी बहाने से स्त्री-धर्म-निरूपण करने के लिए ऋषि-पत्नी अनसूयाजी रसीली कोमल वाणी से बोलीं—॥ २ ॥

मातु-पिता-भ्राता-हित-कारी। मितप्रद सबु सुनु राजकुमारी॥
अमितदानि भर्त्ता बैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥३॥

हे राजकिशोरी, सीता! सुनो। माता, पिता, भाई, हितैषी, सब मितदाता (अन्दाज़ से चीज़ों के देनेवाले) हैं। किन्तु हे वैदेही! पति अमित (बे प्रमाण, ख़ूब) देनेवाला है। वह स्त्री अधम है जो पति की सेवा न करे॥ ३॥

धीरजु धरम मित्र अरु नारी। आपदकाल परखियहि चारी॥
बृद्ध रोगबस जड धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥४॥

हे सीते! धैर्य, धर्म, मित्र और स्त्री इन चारों की परीक्षा आपत्काल में लेनी चाहिए। बूढ़ा, रोगी, मूर्ख, धनहीन (कङ्गाल), अंधा, बहिरा, क्रोधी, अत्यन्त दीन (ग़रीब)॥ ४॥

ऐसेहु पति कर किये अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
एकइ धरम एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद-प्रेमा॥५॥

ऐसे पति का भी अपमान करने से स्त्री यमपुरी में अनेक प्रकार के दुःख पाती है। स्त्री के लिए एक ही धर्म और एक ही व्रत नियम है कि शरीर से, मन से वचन से और पति के चरणों में प्रेम करे॥ ५॥

जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीँ। बेद पुरान संत सब कहहीँ॥
उत्तम के अस बस मन माहीँ। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीँ॥६॥

वेद, पुराण और सब सत्पुरुष कहते हैं कि जगत् में पतिव्रता चार प्रकार की हैं। उत्तम स्त्री के मन में ऐसा निश्चय हो जाता है कि उसके लिए जगत् में अपने पति के सिवा स्वप्न में भी और कोई पुरुष ही नहीं है॥ ६॥

मध्यम परपति देखइ कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धरम बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकिष्ट तिय स्रुति अस कहई॥७॥

मध्यम स्त्री दूसरी स्त्री के पति को कैसे देखती है जैसे अपना भाई, पिता या पुत्र हो। जो स्त्री धर्म को विचार कर और कुल की रीति को समझकर रह जाय (अर्थात् चित्त तो

पर-पुरुष को देखकर चलायमान हो जाय, पर यह सोचकर चित्त को रोक ले कि) मेरा धर्म बिगड़ जायगा, मेरे कुल में कलङ्क लग जायगा वह स्त्री निकृष्ट (नीच) है। ऐसा वेद में कहा है ॥ ७ ॥

बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानहु अधम नारि जग सोई ॥
पतिबंचक पर-पति-रति करई। रौरव नरक कलपसत परई ॥८॥

जो स्त्री अवसर न मिलने के कारण, या डर से बच जाय (व्यभिचारिणी न हो सके) वह स्त्री संसार में अधम है। जो स्त्री अपने पति से छल कर दूसरे के पति से प्रेम करती है वह सौ कल्प पर्यन्त रौरव नरक में गिरती है ॥ ८ ॥

छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ॥
बिनु स्रम नारि परम गति लहई। पति-ब्रत-धरम छाडि छल गहई ॥९॥

क्षण भर के सुख के लिए सैकड़ों करोड़ों जन्म के होनेवाले दुःखों को जो न समझे, भला उसके बराबर खोटी और कौन हो सकती है ?। जो स्त्री छल को छोड़कर पातिव्रत-धर्म का पालन करती है, वह बिना ही परिश्रम परमगति (स्वर्ग) पा जाती है ॥ ९ ॥

पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई ॥१०॥

जो स्त्री पति से प्रतिकूल रहती है वह कहीं भी जन्म ले पर तरुण अवस्था आते ही विधवा हो जाती है ॥ १० ॥

सो०—सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत स्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय ॥६॥

स्त्री स्वभाव ही से अपवित्र है। पति की सेवा करते ही उसको शुभगति प्राप्त हो जाती है। देखो, आज तक इस बात के यश को चारों वेद गाते हैं कि तुलसी विष्णुजी को प्यारी है[१] ॥ ६ ॥

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रानप्रिय राम कहेउँ कथा संसारहित ॥७॥

हे सीता ! सुनो, स्त्रियाँ तुम्हारा स्मरण कर पातिव्रत-धर्म का आचरण करेंगी। तुम्हें तो रामचन्द्र प्राण-समान प्रिय हैं, अर्थात् तुम तो पतिव्रताओं की शिरोमणि हो; मैंने यह कथा संसार के हित के लिए कही है ॥ ७ ॥

१—वृन्दा ने अपने पति के मरने और पातिव्रत नष्ट होने पर विष्णु भगवान् को शाप दिया कि तुम शिला हो जाओ। पतिव्रता के शाप से विष्णु शिला (शालिग्राम) हो गये और उन्होंने वृन्दा से कहा, तू तुलसी (वृक्ष) होगी और मैं तुझे धारण करूँगा। इससे वह तुलसी हो गई। वह आज तक विष्णु को प्रिय है। सारांश यह कि पतिव्रता ने विष्णु को भी शाप दे दिया और दूसरा जन्म ले लिया पर पातिव्रत को रख लिया।

चौ०—सुनि जानकी परम सुख पावा। सादर तासु चरन सिरु नावा॥
तब मुनि सन कह कृपानिधाना। आयसु होइ जाउँ बन आना॥१॥

जानकीजी ने उपदेश सुनकर अत्यन्त सुख पाया और बड़े आदर के साथ अनसूयाजी के चरणों में सिर नवाया। तब कृपानिधान रामचन्द्रजी अत्रि मुनि से कहने लगे—मुझे आज्ञा हो तो अब मैं दूसरे वन को जाऊँ॥१॥

संतत मोपर कृपा करेहू। सेवक जानि तजेहु जनि नेहू॥
धरम-धुरं-धर प्रभु के बानी। सुनि सप्रेम बोले मुनि ग्यानी॥२॥

आप मुझ पर सदा कृपा रक्खेंगे। मुझे सेवक जानकर स्नेह न छोड़ना। धर्म के धुरन्धर प्रभु रामचन्द्रजी की ऐसी वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि अत्रि प्रेम-सहित बोले—॥२॥

जासु कृपा अज सिव सनकादी। चहत सकल परमारथबादी॥
ते तुम्ह राम अ-काम-पियारे। दीनबंधु मृदु बचन उचारे॥३॥

जिसकी कृपा ब्रह्मा, शिव, सनकादिक ऋषि और परमार्थवादी लोग चाहते हैं, उन्हीं तुम निष्कामजनों के प्यारे दीनबन्धु राम ने ये कोमल वचन उच्चारण किये!॥३॥

अब जानी मैं श्रीचतुराई। भजिय तुम्हहिँ सब देव बिहाई॥
जेहि समान अतिसय नहिँ कोई। ता कर सील कस न अस होई॥४॥

मैंने श्रीजी (आप) की चतुराई को अब समझा। सब देवतों को छोड़कर तुम्हारा ही भजन करना चाहिए। न जिनके बराबर दूसरा कोई है और न जिनसे कोई अधिक है, भला उन सर्वेश्वर का शील ऐसा क्यों न हो?॥४॥

केहि बिधि कहउँ जाहु अब स्वामी। कहहु नाथ तुम अंतरजामी॥
अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा। लोचन जल बह पुलक सरीरा॥५॥

हे स्वामी! मैं कैसे कहूँ कि अब आप जाइए? हे नाथ! आप ही कहिए, आप तो अन्तर्यामी हैं। धीर मुनि अत्रि ने ऐसा कहकर रामचन्द्रजी को देखा। मुनि के नेत्रों से जल बह निकला, उनका शरीर पुलकित हो गया॥५॥

छंद—तन पुलकनिर्भर प्रेमपूरन नयन मुख-पंकज दिये।
मन-ग्यान-गुन-गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किये॥
जप जोग धरम समूह ते नर भगति अनुपम पावई।
रघु-बीर-चरित पुनीत निसि दिनु दास तुलसी गावई॥

उस समय अत्रि मुनि का शरीर पुलकित हो गया, वे प्रेम में भर गये। उन्होंने अपने नेत्र श्रीमुख-कमल के देखने में दे दिये (वे एकटक देखते ही रह गये)। वे सोचने लगे कि जो परमात्मा मन, ज्ञान और इन्द्रियों की शक्ति से बाहर है, उसका दर्शन मैंने किया, तो मैंने कौन सा जप वा तपस्या की कि जिसके फल से यह लाभ हुआ! तुलसीदासजी कहते हैं कि जिन मनुष्यों ने जप, योग और धर्म-समूह किये हैं, वे जिनकी अनुपम भक्ति को पाते हैं, उन्हीं रघुवीर रामचन्द्रजी के पवित्र चरित्र को हम लोग गाते हैं॥

दो०—कलि-मल-समन दमन दुख रामसुजस सुखमूल।
सादर सुनहिँ जे तिन्हहिँ पर रामु रहहिँ अनुकूल॥ ८॥

रामचन्द्रजी का सुयश कलियुग-सम्बन्धी पापों को शमन करनेवाला, दुःख को रोकनेवाला और सुखों का मूल है। जो आदर के साथ उस सुयश को सुनते हैं उन्हीं पर रामचन्द्रजी अनुकूल रहते हैं॥ ८॥

सो०—कठिन काल मलकोस धरम न ग्यान न जाग जप।
परिहरि सकल भरोस रामहिँ भजहिँ ते चतुर नर॥९॥

यह कलिकाल बड़ा ही कठिन है, पापों की खान है; इसमें न तो कहीं धर्म, न ज्ञान, न यज्ञ और न जप है। इसमें तो जो लोग सबके भरोसे को छोड़कर रामचन्द्रजी का भजन करेंगे वे ही मनुष्य चतुर हैं॥ ९॥

चौ०—मुनि-पद-कमल नाइ करि सीसा। चले बनहिँ सुर-नर-मुनि-ईसा।
आगे राम अनुज पुनि पाछे। मुनि-बर-बेष बने अति आछे॥१॥

सुरों, नरों और मुनियों के स्वामी रामचन्द्रजी मुनिजी के चरण-कमलों में सिर नवाकर वन को चले। आगे रामचन्द्रजी और पीछे लक्ष्मणजी चलते थे। दोनों ही श्रेष्ठ ऋषियों के बहुत अच्छे वेश बनाये हुए थे॥ १॥

उभय बीच सिय सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥
सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिँ बर बाटा॥२॥

रामचन्द्र और लक्ष्मण दोनों के बीच में सीताजी चलती थीं। वे कैसी शोभायमान होती थीं जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया हो। नदियाँ, वन, पर्वत और कठिन घाट अपने स्वामी रामचन्द्रजी को पहचान कर रास्ता देते थे (अर्थात् वे जहाँ चाहें चले जायँ, कहीं कोई रुकावट नहीं होती थी)॥ २॥

जहँ जहँ जाहिँ देव रघुराया। करहिँ मेघ तहँ तहँ नभछाया॥
मिला असुर बिराध मग जाता। आवतही रघुबीर निपाता॥३॥

रघुराई रामचन्द्र जहाँ जहाँ जाते थे, वहाँ वहाँ आकाश में मेघ उन पर छाया करते थे। रास्ते से जाते जाते विराध नाम का दैत्य मिला। उसे आते ही रामचन्द्रजी ने पछाड़ दिया ॥ ३ ॥

तुरतहिँ रुचिर रूप तेहि पावा। देखि दुखी निज धाम पठावा ॥
पुनि आये जहँ मुनि सरभंगा। सुंदर अनुज जानकी संगा ॥४॥

उसने तुरन्त ही सुन्दर रूप पाया। उसे दुखी[1] देखकर रामचन्द्रजी ने निज धाम (वैकुण्ठ) को भेज दिया। फिर जहाँ शरभङ्ग ऋषि थे, वहाँ वे सुन्दर लक्ष्मण और जानकीजी के साथ पहुँचे ॥ ४ ॥

दो०—देखि राम-मुख-पंकज मुनि-बर-लोचन भृंग।
सादर पान करत अति धन्य जनम सरभंग ॥१०॥

शरभंग मुनि के जन्म को धन्य है, जिनके नेत्ररूपी भँवर श्रीरामचन्द्रजी के मुख-कमल को देखकर बड़े आदर के साथ रस-पान करने लगे ॥ १० ॥

चौ०—कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला। शंकर-मानस-राज-मराला ॥
जात रहेउँ बिरंचि के धामा। सुनेउ स्रवन बन अइहहिँ रामा ॥१॥

मुनि ने कहा—हे कृपालु, रामचन्द्रजी शङ्करजी के मन-रूपी मान-सरोवर के राजहंस! मैं ब्रह्माजी के स्थान को जा रहा था, इतने में सुना कि रामजी वन में आवेंगे ॥ १ ॥

चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती ॥
नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना ॥२॥

उसी दिन से मैं रात-दिन रास्ता देखता था। अब प्रभु का दर्शन पाकर छाती ठंढी हुई। हे नाथ! मैं सम्पूर्ण साधनों से रहित हूँ, आपने मुझे दीन-जन जानकर कृपा की ॥ २ ॥

सो कछु देव न मोहि निहोरा। निजपन राखेहु जन-मन-चोरा ॥
तब लगि रहहु दीनहित लागी। जब लगि मिलउँ तुम्हहिँ तनु त्यागी ॥३॥

हे देव! उस कृपा का मुझ पर कुछ एहसान नहीं है। हे भक्तों के मन को चुरानेवाले! आपने अपना पन 'अहं स्मरामि मद्भक्तम्" रक्खा। हे स्वामी! इस दीन जन के हित के लिए आप तब तक ठहर जाइए जब तक मैं शरीर को त्यागकर आपमें न मिल जाऊँ (मुक्त न हो जाऊँ) ॥ ३ ॥

---

[1]—यह विराध पूर्व जन्म में गंधर्व था। कुबेर की सेवा में यथासमय उपस्थित न होने से उन्होंने क्रोधित होकर उसे दैत्य होने का शाप दिया। फिर बहुत प्रार्थना करने पर उन्होंने वर दिया कि रामचन्द्रजी के साथ युद्ध होने पर अपने स्थान को प्राप्त होगा। तभी से वह दैत्य बनकर दुखी हो रहा था। अब रामचन्द्रजी ने उसको सद्गति दे दी।

जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगतिबर लीन्हा ॥
एहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाडि सब संगा ॥४॥

इतना कहकर शरभंग मुनि ने योग, यज्ञ, जप, तप और व्रत जो कुछ किये थे, वे सब प्रभु रामजी के अर्पण कर भगवद्भक्ति का वर माँग लिया। इस तरह शरभंग मुनि सर (चिता) रचकर मन से सब संग त्यागकर उस चिता में बैठ गये ॥ ४ ॥

दो०—सीता-अनुज-समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हिय बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम ॥११॥

और बोले—सीता और लक्ष्मण-सहित, नील मेघ के समान श्याम-सुन्दर, सगुण रूप श्रीरामचन्द्रजी मेरे हृदय में निरन्तर निवास करो ॥ ११ ॥

चौ०—अस कहि जोगअगिनि तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा ॥
ता तें मुनि हरिलीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगतिबर लयऊ ॥१॥

ऐसा कहकर मुनि ने योग-अग्नि में अपना शरीर जला दिया और रामचन्द्रजी की कृपा से वे वैकुण्ठ चले गये। यह मुनि रामचन्द्रजी में लीन इसलिए न हुए कि इन्होंने पहले ही भेद-जनक भक्ति का वरदान माँग लिया था ॥ १ ॥

रिषिनिकाय मुनि-बर-गति देखी। सुखी भये निज हृदय बिसेखी ॥
अस्तुति करहिं सकल मुनिबृंदा। जयति प्रनतहित करुनाकंदा ॥२॥

ऋषि-मण्डली मुनिवर शरभंगजी की गति देखकर अपने हृदयों में विशेष प्रसन्न हुई। सम्पूर्ण मुनिगण रामचन्द्रजी की स्तुति करने लगे। हे भक्तों के हितकारी, करुणाकन्द! आपकी जय हो ॥ २ ॥

पुनि रघुनाथ चले बन आगे। मुनि-बर-बृंद बिपुल सँग लागे ॥
अस्थिसमूह देखि रघुराया। पूछा मुनिन्ह लागि अति दाया ॥३॥

फिर रघुनाथजी आगे के वन में चले, तो बहुत-से मुनिगण उनके साथ हो लिये। रामचन्द्रजी ने हड्डियों को ढेरी देखकर मुनियों से उसका भेद पूछा, क्योंकि उन्हें बड़ी दया लगी ॥ ३ ॥

जानतहू पूछिय कस स्वामी। सबदरसी तुम्ह अंतरजामी ॥
निसि-चर-निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुनाथ नयन जल छाये ॥४॥

हे स्वामी! आप जानते हुए भी क्या पूछते हैं? आप सर्वदर्शी (सबके देखनेवाले) और अन्तर्यामी हैं। राक्षसों के समूह ऋषियों को खा गये, उन्हीं की ये हड्डियाँ हैं। यह सुनकर रघुनाथजी के नेत्रों में आँसू भर आये ॥ ४ ॥

दो०—निसि-चर-हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आस्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥१२॥

उसी समय रामचन्द्रजी ने भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की कि मैं पृथ्वी को राक्षस-हीन करूँगा। फिर आपने सब मुनियों के आश्रमों में जा जाकर उन्हें सुख दिया ॥ १२ ॥

चौ०—मुनि अगस्त्य कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीच्छन रति भगवाना ॥
मन-क्रम-बचन राम-पद-सेवक। सपनेहु आन भरोस न देव क ॥१॥

अगस्त्य मुनि के एक चतुर शिष्य थे। उनका नाम सुतीक्ष्ण था। भगवान् में उनकी प्रीति थी। वे मन, वचन और काया से रामचन्द्रजी के चरण-सेवक थे। उन्हें और किसी देवता का स्वप्न में भी भरोसा न था ॥ १ ॥

प्रभुआगवनु स्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा ॥
हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिँ दाया ॥२॥

उन्होंने कानों से प्रभु रामचन्द्रजी का आगमन सुन पाया तो, उसी समय दर्शन का मनोरथ करते हुए आतुर होकर वे दौड़े। वे कहने लगे कि हे विधाता! क्या दीनबन्धु रामचन्द्रजी मुझ-से दुष्ट पर दया करेंगे? ॥ २ ॥

सहित अनुज मोहि राम गोसाईँ। मिलिहहिँ निज सेवक की नाईँ ॥
मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीँ। भगति बिरति न ग्यान मन माहीँ ॥३॥

जैसे मालिक अपने सेवकों को मिलते हैं वैसे मुझे स्वामी रामचन्द्र लक्ष्मण-सहित मिलेंगे या नहीं? मेरे जी में पक्का भरोसा नहीं है; क्योंकि मेरे मन में न भक्ति है, न वैराग्य और न ज्ञान ॥ ३ ॥

नहिँ सतसंग जोग जप जागा। नहिँ दृढ़ चरनकमल अनुरागा ॥
एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जा के गति न आन की ॥४॥

न मैंने सत्संग ही किया, न योग, न जप, न यज्ञ, और न उनके चरण-कमलों में दृढ़ प्रेम ही है। करुणानिधान रामचन्द्रजी की एक आदत है कि उन्हें वह प्यारा होता है, जिसे और किसी की गति (सहारा) न हो। अर्थात् जिसका कोई रक्षक न हो, उसके राम रक्षक हैं ॥ ४ ॥

होइहहिँ सुफल आजु मम लोचन। देखि बदनपंकज भवमोचन ॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी ॥५॥

भव-बन्धन से मुक्त करनेवाले रामचन्द्रजी के मुख-कमल को देखकर आज मेरे नेत्र सफल होंगे। श्रीमहादेवजी कहते हैं कि हे पार्वती! ज्ञानवान् मुनि सुतीक्ष्ण निर्भर होकर (अपना

समस्त भार रघुनाथजी को सौंप कर) प्रेम में मग्न हो गये, उनकी वह दशा कही नहीं जाती ॥ ५ ॥

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिँ सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिँ बूझा ॥
कबहुँक फिर पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई ॥६॥

उन्हें दिशा (पूर्व पश्चिम आदि), विदिशा (अग्निकोण आदि) का ज्ञान न रहा, रास्ता न देख पड़ा; यह भी ज्ञान न रहा कि मैं कौन हूँ और कहाँ को चला हूँ। कभी वो जाते जाते वे पीछे को लौट जाने लगते और कभी रामगुण गाकर नाचने लगते ॥ ६ ॥

अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखहिँ तरुओट लुकाई ॥
अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव भीरा ॥७॥

मुनि ने अविरल प्रेम और भक्ति पाई। रामचन्द्रजी वृक्ष की ओट में छिप कर तमाशा देखने लगे। मुनि की अत्यन्त प्रीति देखकर रघुवीर संसार की व्यथा मिटाने के लिए उनके हृदय में प्रकट हुए ॥ ७ ॥

मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलकसरीर पनसफल जैसा ॥
तब रघुनाथ निकट चलि आये। देखि दसा निज जन मन भाये ॥८॥

अब मुनि बीच रास्ते में निश्चल होकर बैठ गये, शरीर से ऐसे पुलकित हो गये जैसा कटहर का फल! तब रघुनाथजी चल कर उनके पास आये और अपने भक्त की यह दशा देख कर मन में प्रसन्न हुए ॥ ८ ॥

मुनिहिँ राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यानजनित सुख पावा ॥
भूपरूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुजरूप दिखावा ॥९॥

रामचन्द्रजी ने मुनि को बहुत तरह से जगाया, पर वे ध्यान से उत्पन्न (समाधि) सुख को पा गये थे इसलिए नहीं जागे। तब रामचन्द्रजी ने अपना राजा का रूप तो गुप्त कर लिया और हृदय (समाधि) में चतुर्भुज रूप दिखाया ॥ ९ ॥

मुनि अकुलाइ उठा पुनि कैसे। बिकल हीनमनि फनिबर जैसे ॥
आगे देखि रामतनु स्यामा। सीता-अनुज-सहित सुखधामा ॥१०॥

यह देखते ही सुतीक्ष्ण मुनि कैसे व्याकुल होकर उठे जैसे किसी साँप की मणि गुम हो जाने पर वह व्याकुल हो। आगे घनश्याम-शरीर, सुख के स्थान रामचन्द्र को सीता और लक्ष्मणजी समेत देखकर ॥ १० ॥

परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेममगन मुनिवर बड़भागी ॥
भुजबिसाल गहि लिये उठाई। परमप्रीति राखे उर लाई ॥११॥

बड़भागी मुनिवर प्रेम में निमग्न होकर उनके चरणों में लग कर दंडे जैसे पृथ्वी पर गिर पड़े। रामचन्द्रजी ने विशाल भुजा से मुनि को पकड़ कर उठा लिया और बड़ी प्रीति से उन्हें छाती से लगा रक्खा ॥ ११ ॥

मुनिहिँ मिलत अस सोह कृपाला। कनकतरहि जनु भेँट तमाला ॥

रामबदनु बिलोकि मुनि ठाढा। मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढा ॥१२॥

मुनि सुतीक्ष्ण से मिलते हुए कृपालु रामचन्द्र ऐसे शोभित हुए, मानों धतूरे के वृक्ष के साथ तमाल का वृक्ष मिल रहा हो! रामचन्द्रजी का मुख देखकर मुनि ऐसे खड़े हुए, मानों किसी ने उनको चित्र (तसवीर) में खींच कर खड़ा कर दिया हो!॥ १२॥

दो०—तब मुनि हृदय धीर धरि गहि पद बारहिँ बार।

निज आस्रम प्रभु आनि करि पूजा बिबिधि प्रकार ॥१३॥

तब मुनि सुतीक्ष्ण ने हृदय में धीरज धारण कर बार बार प्रभु रामचन्द्रजी के चरण पकड़ कर उनको अपने आश्रम में ला नाना प्रकार से उनकी पूजा की ॥ १३ ॥

चौ०—कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी। अस्तुति करउँ कवनि बिधि तोरी ॥

महिमा अमित मोरि मति थोरी। रबिसनमुख खद्योत अँजोरी ॥१॥

फिर मुनि ने कहा—हे प्रभु! मेरी प्रार्थना सुनिए। मैं आपकी स्तुति किस तरह करूँ? क्योंकि आपकी महिमा तो अपार है और मेरी बुद्धि थोड़ी है। सूर्य के सामने खद्योत (जुगनू) का क्या प्रकाश पड़ सकता है!॥ १ ॥

स्याम - तामरस - दाम - सरीरं। जटा - मुकुट - परिधन-मुनि-चीरं ॥

पानि - चाप - सर - कटि - तूनीरं। नौमि निरंतर श्री-रघुबीरं ॥२॥

श्याम-कमल के समान दमकते हुए शरीरवाले, जटा-मुकुट-धारी, मुनियों के समान वस्त्र परिधान किये हुए, हाथों में धनुष-बाण लिये और कमर में तरकस बाँधे हुए श्रीरघुवंश में शूरवीर रामचन्द्रजी को मैं निरन्तर नमस्कार करता हूँ॥ २॥

मोह-बिपिन-घन-दहन - कृसानुः। संत - सरोरुह - कानन - भानुः।

निसि-चर-करि-बरूथ - मृगराजः। त्रातु सदा नो भव-खग-बाजः ॥३॥

मोहरूपी सघन वन के जलाने के लिए अग्निरूप, सन्तरूपी कमलों के वन को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्यरूप, राक्षसरूपी हाथियों के झुण्ड के नाश करने के लिए सिंहरूप, संसाररूपी पक्षी के नाश करने के लिए बाजरूप भगवान् रामचन्द्र हमारी सदा रक्षा करो॥ ३॥

अरुन-नयन - राजीव - सुबेसं। सीता - नयन - चकोर - निसेसं ॥

हर-हृदि-मानस-राज - मरालं। नौमि राम - उर - बाहु बिसालं ॥४॥

लाल कमल के समान नेत्रोंवाले, सुन्दर वेषधारी, सीताजी के नेत्ररूपी चकोर के लिए चन्द्रमास्वरूप, शङ्करजी के हृदयरूपी मानसरोवर के राजहंस, बिशाल वक्षःस्थल और विशाल भुजाओंवाले रामचन्द्रजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

संसय - सर्प्प - ग्रसन - उरगादः । समन - सु - कर्कस - तर्क - विषादः ॥
भव-भंजन रंजन - सुर - जूथः । त्रातु सदा नो कृपावरूथः ॥५॥

संशयरूपी साँपों को ग्रसने के लिए गरुड़रूप, अत्यन्त कठोर तर्कों के दुःख को शमन करनेवाले, संसार के अर्थात् संसार-सम्बन्धी दुःखों के नाश करनेवाले, देव-समूहों के प्रसन्न करने-वाले, कृपासागर रामचन्द्रजी हमारी सदा रक्षा करो ॥ ५ ॥

निर्गुन-सगुन-बिषम-सम - रूपं । ज्ञान - गिरा - गो - तीतमरूपं ॥
अमलमखिलमनवद्यमपारं । नौमि राम भंजन - महि-भारं ॥६॥

निर्गुण और सगुण रूपवाले, विषम (मच्छकच्छादि) और सम रूपवाले, एवं ज्ञान, वाणी और इन्द्रियों की पहुँच से परे, रूप-रहित, निर्मल, सम्पूर्ण, अनिन्द्य, अपार तथा पृथ्वी के भार को नष्ट करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥

भक्त - कल्प - पादप - आरामः । तर्जन - क्रोध - लोभ - मद - कामः ॥
अति-नागर-भव-सागर - सेतुः । त्रातु सदा दिन-कर-कुल - केतुः ॥७॥

भक्तरूपी कल्पवृक्षों के लिए बग़ीचा-रूप (जैसे बग़ीचे में वृक्ष बड़े सुख से रहते हैं, वैसे ही आपमें आपके भक्त प्रसन्न रहते हैं), क्रोध, लोभ, मद और काम को तर्जना करनेवाले, (जिनके डर के मारे ये फटक न सकें), अत्यन्त चतुर, संसार-समुद्र के सेतुरूप, सूर्यवंश के ध्वजा-रूप रामचन्द्रजी सदा हमारी रक्षा करो ॥ ७ ॥

अतुलित-भुज-प्रताप-बल - धामा । कलि-मल-बिपुल-बिभंजन-नामा ॥
धर्मवर्म नर्मद गुनग्रामः । संतत संतनोतु मम रामः ॥८॥

जिनकी भुजाओं का प्रताप अतुल है, जो बल के स्थान हैं, जिनका नाम कलियुग के पापों को ध्वंस करनेवाला है, धर्म की रक्षा के लिए जो कवचरूप हैं, जिनके गुण-गण विनोद के दाता हैं, ऐसे रामचन्द्रजी मेरा सदा कल्याण करो ॥ ८ ॥

जदपि बिरज व्यापक अबिनासी । सब के हृदय निरंतर बासी ॥
तदपि अनुज-श्री-सहित खरारी । बसतु मनसि मम काननचारी ॥९॥

यद्यपि आप विशुद्ध हैं, व्यापक हैं, अविनाशी (तीनों काल में बने रहनेवाले) हैं और निरन्तर सबके हृदय में बसते हैं, तथापि हे खरारि (दुष्टों के शत्रु) रामचन्द्रजी ! आप छोटे भाई लक्ष्मणजी और श्री सीताजी-समेत; इसी वनचारी रूप से मेरे मन में सदा निवास कीजिए ॥ ९ ॥

जे जानहिँ ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर-अंतर-जामी॥
जो कोसलपति राजिवनैना। करउ सो राम हृदय मम ऐना॥१०॥

हे स्वामी! सगुण, निर्गुण, हृदय के अन्तर्यामी रूप को जो जानते हैं वे जानें; मेरे हृदय में तो कोसलाधीश कमल-नयन रामचन्द्रजी स्थान करो॥ १०॥

अस अभिमान जाय जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥
सुनि मुनिबचन राममन भाये। बहुरि हरषि मुनिबर उर लाये॥११॥

मैं सेवक हूँ और रघुनाथजी मेरे स्वामी हैं, ऐसा अभिमान भूल कर भी दूर न हो। मुनिजी के वचन रामचन्द्रजी के मन को अच्छे लगे। उन्होंने प्रसन्न होकर मुनिवर को फिर हृदय से लगा लिया॥ ११॥

परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर माँगहु देउँ सो तोही॥
मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाँचा। समुझि न परइ झूठ का साँचा॥१२॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनि! तुम मुझे अत्यन्त प्रसन्न हुआ जानो, जो वरदान माँगना हो माँगो, मैं तुम्हें वही दूँगा। मुनि ने कहा—महाराज! मैंने तो कभी वरदान माँगा नहीं। मुझे यह नहीं समझ पड़ता कि क्या झूठ और क्या सत्य है। तो फिर वर कैसे माँगूँ॥ १२॥

तुम्हहिँ नीक लागइ रघुराई। सो मोहि देहु दास-सुख-दाई॥
अबिरल भगति बिरति बिग्याना। होहु सकल-गुन-ग्यान-निधाना॥१३॥

हे रघुराई! हे भक्तों को सुख देनेवाले! जो कुछ आपको अच्छा लगे, वह मुझे दीजिए। रामचन्द्रजी ने कहा—तुम्हें अटल भक्ति, वैराग्य और ज्ञान प्राप्त हो और तुम संपूर्ण गुणों और ज्ञान के भाण्डार हो॥ १३॥

प्रभु जो दीन्ह सो बर मैं पावा। अब सो देहु मोहिँ जो भावा॥१४॥

मुनि ने कहा—प्रभु ने जो वर दिया वह मैंने पाया। अब वह दीजिए जो मुझे अच्छा लगे॥ १४॥

दो०—अनुज-जानकी-सहित प्रभु चाप-बान-धर राम।
मम हियगगन इंदु इव बसहु सदा निःकाम॥१४॥

जैसे आकाश में चन्द्रमा निवास करता है, वैसे ही लक्ष्मणजी और जानकीजी-समेत धनुषबाण-धारी प्रभु रामचन्द्रजी मेरे निष्काम हृदयरूपी आकाश में सदा निवास करो॥ १४॥

चौ०—एवमस्तु कहि रमानिवासा। हरषि चले कुंभज रिषि पासा॥
बहुत दिवस गुरुदरसनु पाये। भये मोहिँ एहि आस्रम आये॥१॥

लक्ष्मीनिवास रामचन्द्रजी मुनि को एवमस्तु अर्थात् ऐसा हो हो इस तरह कहकर, हर्षित हो, अगस्त्य मुनि के पास चले। तब मुनि ने कहा—महाराज! मुझे गुरुजी के दर्शन किये और इस आश्रम में आये बहुत दिन हो गये॥ १॥

अब प्रभु संग जाउँ गुरु पाहीँ। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीँ॥
देखि कृपानिधि मुनिचतुराई। लिये संग बिहँसे दोउ भाई॥२॥

अब मैं प्रभु के साथ गुरु के पास जाऊँगा। हे नाथ! इसमें कुछ आप पर एहसान नहीं है। कृपासागर रामचन्द्रजी ने मुनि को चतुराई देखकर उन्हें साथ ले लिया और दोनों भाई हँस पड़े॥ २॥

पंथ कहत निज भगति अनूपा। मुनिआस्रम पहुँचे सुरभूपा॥
तुरत सुतीच्छन गुरु पहिँ गयऊ। करि दंडवत कहत अस भयऊ॥३॥

देवतों के राजा रामचन्द्रजी रास्ते में अपनी अनुपम भक्ति का वर्णन करते हुए मुनि अगस्त्यजी के आश्रम में पहुँचे। सुतीक्ष्ण तुरन्त ही गुरु अगस्त्यजी के पास गये और दंडवत् कर ऐसा कहने लगे—॥ ३॥

नाथ कोसलाधीसकुमारा। आये मिलन जगतआधारा॥
राम अनुज समेत बैदेही। निसि दिनु देव जपत हहु जेही॥४॥

हे नाथ! कोसलेश्वर महाराजा दशरथ के पुत्र, जगत् के आधार, रामचन्द्रजी आपसे मिलने के लिए आये हैं। हे देव! आप रात दिन जिनको जपते हैं, वे ही रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और जानकीजी समेत, आये हैं॥ ४॥

सुनत अगस्त तुरत उठि धाये। हरि बिलोकि लोचन जल छाये॥
मुनि-पद-कमल परे दोउ भाई। रिषि अति प्रीति लिये उर लाई॥५॥

यह सुनते ही अगस्त्यजी उठकर दौड़े। रामचन्द्रजी का दर्शन कर उनके नेत्रों में जल छा गया। दोनों भाई मुनि अगस्त्यजी के चरण-कमलों में गिरे। मुनि ने बड़ी प्रीति के साथ उन्हें उठाकर छाती से लगा लिया॥ ५॥

सादर कुसल पूछि मुनि ग्यानी। आसन पर बैठारे आनी॥
पुनि करि बहु प्रकार प्रभुपूजा। मोहि सम भागवंत नहिँ दूजा॥६॥

ज्ञानी मुनि ने बड़े आदर से कुशल-प्रश्न पूछ कर उन्हें लाकर आसनों पर बैठाया। फिर बहुत प्रकार से प्रभु की पूजा करके वे बोले—मेरे समान दूसरा कोई भाग्यवान नहीं है॥ ६॥

जहँ लगि रहे अपर मुनिबृंदा । हरषे सब बिलोकि सुखकंदा ॥७॥

वहाँ पर जो और भी दूसरे ऋषियों के समूह थे, वे सब सुखकन्द रामचन्द्रजी को देखकर प्रसन्न हुए ॥ ७ ॥

दो०—मुनिसमूह महँ बैठे सनमुख सब की ओर ।
सरदइंदु तन चितवत मानहुँ निकर चकोर ॥१५॥

रामचन्द्रजी मुनियों के समूह में सबकी ओर मुँह करके बैठे । वे लोग रामचन्द्रजी के मुख-कमल को ऐसे देखने लगे जैसे चकोरों का झुंड शरद्-पूर्णिमा के चन्द्रमा को देख रहा हो ॥ १५ ॥

चौ०—तब रघुबीर कहा मुनि पाहीँ । तुम्ह सन प्रभु दुराउ कछु नाहीँ ॥
तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ । ताते तात न कहि समुझायउँ ॥ १ ॥

तब रामचन्द्रजी ने अगस्त्य मुनि से कहा—हे स्वामी ! आपसे कोई बात छिपी नहीं है । मैं जिस कारण से वन में आया हूँ उसको आप जानते हैं इसलिए हे तात ! मैंने उसे कहकर नहीं समझाया ॥ १ ॥

अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही । जेहि प्रकार मारउँ मुनिद्रोही ॥
मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु-बानी । पूछेहु नाथ मोहि का जानी ॥२॥

हे प्रभु ! अब आप मुझे वह सलाह दीजिए जिससे मैं मुनियों के द्रोही राक्षसों को मार डालूँ । प्रभु रामचन्द्रजी की ऐसी वाणी सुनकर मुनि अगस्त्यजी मुसकुराये और बोले—हे नाथ ! आपने मुझसे क्या समझ कर सलाह पूछी ? (मैं आपके सम्मुख क्या चीज़ हूँ) ॥ २ ॥

तुम्हरेइ भजनप्रभाव अघारी । जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी ॥
ऊमरितरु बिसाल तव माया । फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ॥३॥

हे पापध्वंसक ! मैं आप ही के भजन के प्रभाव से कुछ आपकी महिमा जानता हूँ । महाराज ! आपकी माया ही विशाल गूलर का वृक्ष है और अनेक ब्रह्मांडों के समूह उसके फल हैं ॥ ३ ॥

जीव चराचर जंतुसमाना । भीतर बसहिँ न जानहिँ आना ॥
ते फलभच्छक कठिन कराला । तव भय डरत सदा सोउ काला ॥४॥

स्थावर, जङ्गम जीव-मात्र उन गूलरों के भीतर बसनेवाले कीड़े हैं, जो गूलरों के सिवाय और किसी को नहीं जानते । उन फलों का खानेवाला कठिन कराल काल है । वह काल भी आपके डर से सदा डरता है ॥ ४ ॥

ते तुम्ह सकल लोकपति साईं । पूछेहु मोहि मनुज की नाईं ॥
यह बर माँगउँ कृपानिकेता । बसहु हृदय श्री-अनुज-समेता ॥५॥

हे स्वामी ! वे आप सब लोकों के मालिक, मनुष्य (अजान) की नाईं मुझसे पूछते हैं। हे कृपा के स्थान ! मैं यह वर माँगता हूँ कि आप श्रीसीताजी और लक्ष्मणजी-समेत मेरे हृदय में निवास कीजिए ॥ ५ ॥

अबिरल भगति बिरति सतसंगा । चरनसरोरुह प्रीति अभंगा ॥
जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता । अनुभवगम्य भजहिँ जेहि संता ॥६॥

और अविरल (नित्य, गहरी) भक्ति, वैराग्य, सत्सङ्ग तथा आपके चरण-कमलों में अखंड प्रीति दीजिए। यद्यपि ब्रह्म अखंड है, अनन्त है, जिसको सन्त भजते हैं, जो अनुभव से जानने या प्राप्त होने के योग्य है ॥ ६ ॥

अस तव रूप बखानउँ जानउँ । फिरि फिरि सगुन ब्रह्मरति मानउँ ॥
संतत दासन्ह देहु बडाई । ता तेँ मोहि पूछेहु रघुराई ॥७॥

इस तरह का आपका (निर्गुण) रूप मैं वर्णन करता हूँ और जानता हूँ, तथापि घूम फिर कर मैं सगुण ब्रह्म में प्रीति मानता हूँ। हे रघुनाथ ! आप सदा दासों को बड़ाई दिया करते हैं, इसी से आपने मुझसे पूछा है कि—"अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारउँ मुनिद्रोही" ॥ ७ ॥

है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ । पावन पंचवटी तेहि नाऊँ ॥
दंडक बन पुनीत प्रभु करहू । उग्र साप मुनिबर कै हरहू ॥८॥

हे प्रभु ! एक अत्यन्त मनोहर पवित्र करनेवाला स्थान है। उसका नाम पंचवटी है। हे स्वामिन् ! आप दंडक वन को पवित्र कीजिए और मुनिवर के उग्र (तेज) शाप[1] को दूर कीजिए ॥ ८ ॥

१—इक्ष्वाकु के छोटे पुत्र राजा दंडक ने अपनी गुरुकन्या (शुक्राचार्य की बड़ी कन्या अरजा) से बलात्कार किया। उसने अपने पिता से कह दिया। पिता ने क्रुद्ध होकर शाप दे राजा का सारा देश नष्ट कर दिया। धूल बरसने लगी, तब ऋषि लोग वहाँ से चलकर जहाँ जा बसे उसका नाम जन-स्थान हुआ। वह देश नष्ट होकर जंगल हो गया। इस वन की दशा रामचन्द्रजी के पहुँचने पर सुधर गई, सब वृक्ष आदि फलने-फूलने लग गये। दंडक राजा का राज्य मिटकर वन हुआ इसलिए वह वन दंडकारण्य कहाया। इस शाप से छुड़ाने के लिए अगस्त्यजी ने कहा। अथवा—एक बार पञ्चवटी में दुर्भिक्ष पड़ा, तब सब मुनि इकट्ठे होकर गौतम मुनि के पास आहार माँगने के लिए गये। उन्होंने तपोबल से सबको अन्न देकर बहुत कालपर्यन्त उनका पालन किया। फिर मुनियों का विचार जनस्थान चले जाने का हुआ किन्तु गौतम के भय से वे न जा सके। तब सबने सलाह कर एक माया की गौ बनाकर गौतमजी के धान्यागार में छोड़ी। उसको गौतमजी वहाँ से हटाने गये तो हाथ से छूते ही वह माया की गौ मर गई। बस, मुनि-जन गोहत्या का दोष लगाकर वहाँ से जनस्थान को चल दिये।

बास करहु तहँ रघु-कुल-राया। कीजिय सकल मुनिन्ह पर दाया॥
चले राम मुनिआयसु पाई। तुरतहिँ पंचबटी नियराई॥९॥

हे रघुकुल में श्रेष्ठ! वहाँ (पंचवटी में) निवास कीजिए और सम्पूर्ण मुनियों पर दया कीजिए। इस तरह मुनि अगस्त्यजी की आज्ञा पाकर रामचन्द्रजी चले और तुरन्त ही पंचवटी के पास पहुँच गये॥ ९॥

दो०—गीधराज सोँ भेंट भइ बहु बिधि प्रीति दृढाइ।
गोदावरी निकट प्रभु रहे परनगृह छाइ॥१६॥

वहाँ पर गीधों के राजा (जटायु) से रामचन्द्रजी की भेंट हुई। उसके साथ बहुत प्रकार से प्रीति (मित्रता) दृढ़ कर प्रभु रामचन्द्रजी गोदावरी नदी के पास पत्तों की कुटी छाकर रहने लगे॥ १६॥

चौ०—जब तेँ राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥
गिरि बन नदी ताल छबि छाये। दिन दिन प्रति अति होहिँ सुहाये॥१॥

जब से रामचन्द्रजी ने वहाँ निवास किया, तब से मुनि-[illegible] सुखी हुए। उनका डर जाता रहा। वहाँ के पर्वत, वन, नदियाँ, तालाब सबमें छवि (रौनक) छा गई। वे दिन दिन बहुत ही सुहावने होने लगे॥ १॥

खग-मृग-बृंद अनंदित रहहीँ। मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीँ॥
सो बन बरनि न सक अहिराजा। जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा॥२॥

पक्षी और मृगों के झुंड आनन्द से रहने लगे तथा भौंरे मीठी आवाज़ से गुंजार करते हुए शोभित होते थे। जहाँ प्रत्यक्ष रघुराज रामचन्द्रजी विराजमान हैं उस वन का वर्णन शेषजी भी नहीं कर सकते॥ २॥

एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥
सुर नर मुनि सचराचर साईँ। मैँ पूछउँ निज प्रभु की नाईँ॥३॥

एक बार प्रभु रामचन्द्रजी सुखपूर्वक विराजमान थे, उनसे लक्ष्मणजी ने छल-रहित वचन कहे—हे देवों, चराचर-समेत मनुष्यों और मुनियों के स्वामी! मैं अपने मालिक के समान आपसे पूछता हूँ अर्थात् जैसे सेवक स्वामी से कुछ पूछता है वैसे ही मैं आपसे पूछता हूँ॥३॥

गौतमजी को जब यह कपट निश्चित हुआ तब उन्होंने शाप दिया कि जहाँ यह छल हुआ है वह देश नष्ट होकर उसमें राक्षस निवास करें। इस शाप से मुक्त करने के लिए अगस्त्यजी ने रामचन्द्रजी को सूचित किया।

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करउँ चरन-रज-सेवा ॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया ॥४॥

हे देव! मुझे वही समझाकर कहिए जिससे मैं सब छोड़कर आपके चरणों की धूल की सेवा करूँ। ज्ञान, वैराग्य और माया का निरूपण कीजिए और वह भक्ति बतलाइए जिससे आप दया करते हैं ॥ ४ ॥

दो०—ईस्वर जीवहि भेद प्रभु कहहु सकल समुझाइ।
जा तें होइ चरन-रति सोक मोह भ्रम जाइ ॥१७॥

हे प्रभु! ईश्वर और जीव इन दोनों का भेद सब समझा कर मुझसे कहिए जिससे आपके चरणों में प्रीति बढ़े और शोक, मोह और भ्रम नष्ट हो जायँ ॥ १७ ॥

चौ०—थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई ॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीवनिकाया ॥१॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे तात! मैं थोड़े ही में सब समझा कर कहता हूँ, तुम सावधानी से बुद्धि और मन लगाकर सुनो। मैं और मेरा, तू और तेरा (यह अहङ्कार, ममता) माया है, जिसने जीव-समूह को अपने वश में कर रक्खा है ॥ १ ॥

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई ॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ ॥२॥

हे भाई! जो कुछ गोचर है अर्थात् जिसका ज्ञान इंद्रियों से होता है और जहाँ तक मन पहुँचता है, वह सब माया है, ऐसा समझो। अब उस माया का जो कुछ भेद है, वह भी तुम सुनो। उसके दो भेद हैं, एक विद्या और दूसरी अविद्या ॥ २ ॥

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा।
एक रचइ जग गुनबस जाके। प्रभु प्रेरित नहिँ निजबल ताके ॥३॥

इन दोनों में एक (अविद्या) दुष्ट और दुःख-रूपिणी है, जिसके वश में होकर जीव संसार-रूपी कुएँ में गिरता है। दूसरी (विद्या) वह है जो परमात्मा के गुणों (सत्त्व, रज, तम) के अधीन रह कर जगत् की रचना करती है। उस माया को निज का बल कुछ नहीं है, वह ईश्वर की प्रेरणा से सब कुछ करती है ॥ ३ ॥

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥
कहिय तात सो परम बिरागी। तृनसम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥४॥

जहाँ एक भी (कुछ भी) मान (अभिमान) न रह जाय, जो सबको ब्रह्म के समान देखे वह ज्ञान है। हे तात! जो सब सिद्धियों (अणिमादिकों) को और तीनों (सत्त्व, रज, तम) गुणों को तिनके के समान छोड़ दे उसको परम वैराग्यवान् कहना चाहिए ॥ ४ ॥

दो०—माया ईस न आपु कहँ जान कहिय सो जीव ।
बंध मोच्छप्रद सर्ब पर माया प्रेरक सीव ॥१८॥

जो माया, ईश्वर और अपने को (स्व-स्वरूप, पर-स्वरूप, माया-स्वरूप को) नहीं जानता वह जीव कहा जाता है। जो जीवों को बन्ध और मोक्ष का देनेवाला, सबसे परे और माया का प्रेरक है वह ईश्वर है, अर्थात् जीव वह है जो अज्ञानी हो जाता है, ईश्वर वह है जो सदा ज्ञानी बना रहता है ॥ १८ ॥

चौ०—धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छ-प्रद बेद बखाना ॥
जा तें बेगि द्रवउँ मैं भाई । सो मम भगति भगत-सुख-दाई ॥ १ ॥

धर्म से वैराग्य होता है, योग से ज्ञान होता है और ज्ञान मोक्ष का देनेवाला है ऐसा वेदों ने कहा है। हे भाई! जिससे मैं जल्दी प्रसन्न होऊँ वह मेरी भक्ति भक्तों को सुख देनेवाली है ॥ १ ॥

सो सुतंत्र अवलंब न आना । तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ॥
भगति तात अनुपम सुखमूला । मिलइ जो संत होहिँ अनुकूला ॥ २ ॥

वह भक्ति स्वतन्त्र है, उसको दूसरे का अवलम्बन नहीं है। ज्ञान और विज्ञान उस भक्ति के अधीन है। हे तात! भक्ति अनुपम सुख की मूल है। सन्तों के अनुकूल होने से (उनकी कृपा होने से) वह भक्ति मिलती है ॥ २ ॥

भगति के साधन कहउँ बखानी । सुगम पंथ मोहि पावहिँ प्रानी ॥
प्रथमहिँ बिप्रचरन अति प्रीती । निज निज धरम निरत स्रुतिरीती ॥ ३ ॥

अब मैं भक्ति के साधन वर्णन करता हूँ। यह सुगम मार्ग है, इससे प्राणी मुझे पा जाते हैं। पहले तो ब्राह्मणों के चरणों में अत्यन्त प्रीति हो और वेदोक्त विधि से अपने अपने धर्म में तत्परता हो ॥ ३ ॥

एहि कर फल पुनि बिषयबिरागा । तब मम धरम उपज अनुरागा ॥
स्रवनादिक नव भगति दृढाहीं । मम लीला रति अति मन माहीं ॥ ४ ॥

फिर इसका यह फल होगा कि विषयों से वैराग्य हो, जब वैराग्य उत्पन्न होता है, तब मेरे धर्म (भगवद्धर्म) में अनुराग उत्पन्न होता है, श्रवणादिक[1] नव प्रकार की भक्ति दृढ़ हो जाती है और चित्त में मेरी लीलाओं पर अतिशय प्रीति हो जाती है ॥ ४ ॥

१—श्रवणादि नवधा भक्ति यह है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवा, पूजा (सर्वाङ्ग-सेवा), वन्दन, दास्य, मित्रता और आत्म-समर्पण। "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ भा० स्क० ७ अ० ६ ॥

संत-चरन-पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहिँ कहँ जानइ दृढ़ सेवा॥५॥

सन्तों के चरण-कमलों में अत्यन्त प्रेम हो; मन, कर्म और वचन से भजन करने का दृढ़ नियम हो। मुझे गुरु, पिता, माता, बन्धु, पति और देवता आदि सब कुछ जाने और दृढ़ता से मेरी सेवा करे॥ ५॥

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ता के॥६॥

मेरे गुण गाते हुए शरीर पुलकित हो जाय, वाणी गद्‌गद हो जाय, नेत्रों से जल बहने लगे। हे तात! जिसके काम आदि (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) मद नहीं हैं और जिसके दम्भ (दिखावटी भक्ति) नहीं हैं, मैं उस मनुष्य के वश में निरन्तर हूँ॥ ६॥

दो०—बचन करम मन मोरि गति भजन करहिँ निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महँ करउँ सदा बिस्राम॥१६॥

जिनको मन, वचन और कर्म से मेरी ही गति (शरणागति) है, जो निष्काम मेरा भजन करते हैं, मैं उन लोगों के हृदय-कमल में सदा विश्राम करता हूँ॥ १९॥

चौ०—भगतिजोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभुचरनन्हि सिरु नावा॥
एहि बिधि गये कछुक दिन बीती। कहत बिराग ग्यान गुन नीती॥१॥

लक्ष्मणजी ने भक्तियोग सुनकर बड़ा सुख पाया और प्रभुजी के चरणों में मस्तक नवाया। इस तरह वैराग्य, ज्ञान, गुण और नीति का वर्णन करते कुछ दिन बीत गये॥ १॥

सूपनखा रावन कै बहिनी। दुष्टहृदय दारुन जसि अहिनी॥
पंचबटी सो गइ एक बारा। देखि बिकल भइ जुगल कुमारा॥२॥

रावण की एक बहिन थी, जिसका नाम था शूर्पणखा (सूप के-से जिसके नख हों)। वह दुष्ट अन्तःकरणवाली और नागिन जैसी कठोर थी। वह एक बार पञ्चवटी में गई और दोनों राज-पुत्रों को देखकर व्याकुल हो गई॥ २॥

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ बिकल सक मनहिँ न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहिँ बिलोकी॥३॥

कागभुशुंडजी कहते हैं कि हे गरुड़! स्त्री मनोहर पुरुष को देखते ही, चाहे वह भाई हो, पिता हो, या पुत्र ही क्यों न हो, विकल हो जाती है और अपने मन को नहीं रोक

सकती[१]। जैसे सूर्य को देखकर सूर्यकान्तमणि पिघल जाती है वैसे ही सुन्दर पुरुष को देखकर स्त्री पिघल जाती है ॥ ३ ॥

रुचिर रूप धरि प्रभु पहिँ जाई। बोली बचन मधुर मुसुकाई ॥
तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँजोग बिधि रचा बिचारी ॥४॥

शूर्पणखा सुन्दर स्वरूप धारण कर प्रभु रामचन्द्रजी के पास आई और मुस्कुराहट के साथ मीठे वचन बोली—तुम्हारे समान तो कोई पुरुष नहीं और मेरे समान कोई स्त्री नहीं। विधाता ने यह हमारा-तुम्हारा संयोग सोचकर रचा है ॥ ४ ॥

मम अनुरूप पुरुष जग माहीँ। देखिउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीँ ॥
ता तेँ अब लगि रहिउँ कुमारी। मन माना कछु तुम्हहिँ निहारी ॥५॥

मैंने अपने योग्य पुरुष सारे जगत् में, तीनों लोकों में, ढूँढ़ डाला; पर कहीं न पाया। इसी लिए मैं अभी तक कुँआरी ही बनी रही। हाँ, तुमको देखकर कुछ मेरा मन मान गया है ॥ ५ ॥

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता। अहइ कुमार मोर लघु भ्राता ॥
गइ लछिमन रिपुभगिनी जानी। प्रभु बिलोकि बोले मृदुबानी ॥६॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने सीताजी को देखकर[२] उससे यह बात कही कि (मेरे तो यह स्त्री है, पर) मेरे छोटे भाई कुँआरे हैं (यहाँ स्त्री की अप्रत्यक्षता ही कुँआरा कहने का

१—खास पिता, भाई और पुत्र के लिए भी आश्चर्य नहीं। इसी लिए मनुस्मृति में मा, बहिन और कन्या से जुदा रहना कहा है। "मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।" कोई कोई पिता के तुल्य (अधिक अवस्थावाला), भ्राता के तुल्य (बराबरी का), पुत्र (छोटी अवस्थावाला) ऐसा अर्थ भी करते हैं।

२—सीताजी की ओर देखते रहे, शूर्पणखा की ओर नहीं। सारांश यह कि रामचन्द्रजी ने सूचित किया कि तेरा मन कुछ माना है, पर हमारा तिल-मात्र भी नहीं। अथवा—शूर्पणखा ने जो कहा कि मेरे जैसी स्त्री त्रिलोकी में नहीं तो वे सीताजी को दिखाते हैं कि देख, इनकी सुन्दरता। अथवा—प्रत्यक्ष सीता को दिखा कर कहते हैं कि हमारे तो स्त्री है, पर, छोटे भाई के नहीं। अथवा—रामचन्द्रजी ने जान लिया कि यह राक्षसी है, जैसे से तैसा वचन कहने के उद्देश से लक्ष्मणजी को कुमार कहा। कुमार नाम बालक का होने से कुमार का अर्थ कुँवारे न कर 'बाल-ब्रह्मचारी' है ऐसा अर्थ होता है, (एक-नारी ब्रह्मचारी) अथवा—राक्षसी ने जो अपना त्रैलोक्य-सुन्दरी होना कहा, इस पर लक्ष्मण को कहा कि यह कु अर्थात् पृथ्वी पर मार अर्थात् कामदेव है, इसलिए तेरे योग्य होगा। अथवा—बाहर से कुमार कहते हुए भीतर से रामचन्द्रजी कहते हैं कि लक्ष्मण कु अर्थात् दुष्ट पुरुषों को मार डालनेवाला है, तू भी दुष्टा है इसलिए जा, मर! सीताजी की ओर देखने का यह भी अभिप्राय है कि वे रावण को इष्ट हैं और रावण को तो मारना है! अथवा—हँसी से देखा कि देखो स्त्रियों का कैसा स्वभाव होता है।

सीतहि चिन्हइ कही प्रभु बाता।
अहइ कुमार मोर लघु भ्राता॥—पृ० ६७०
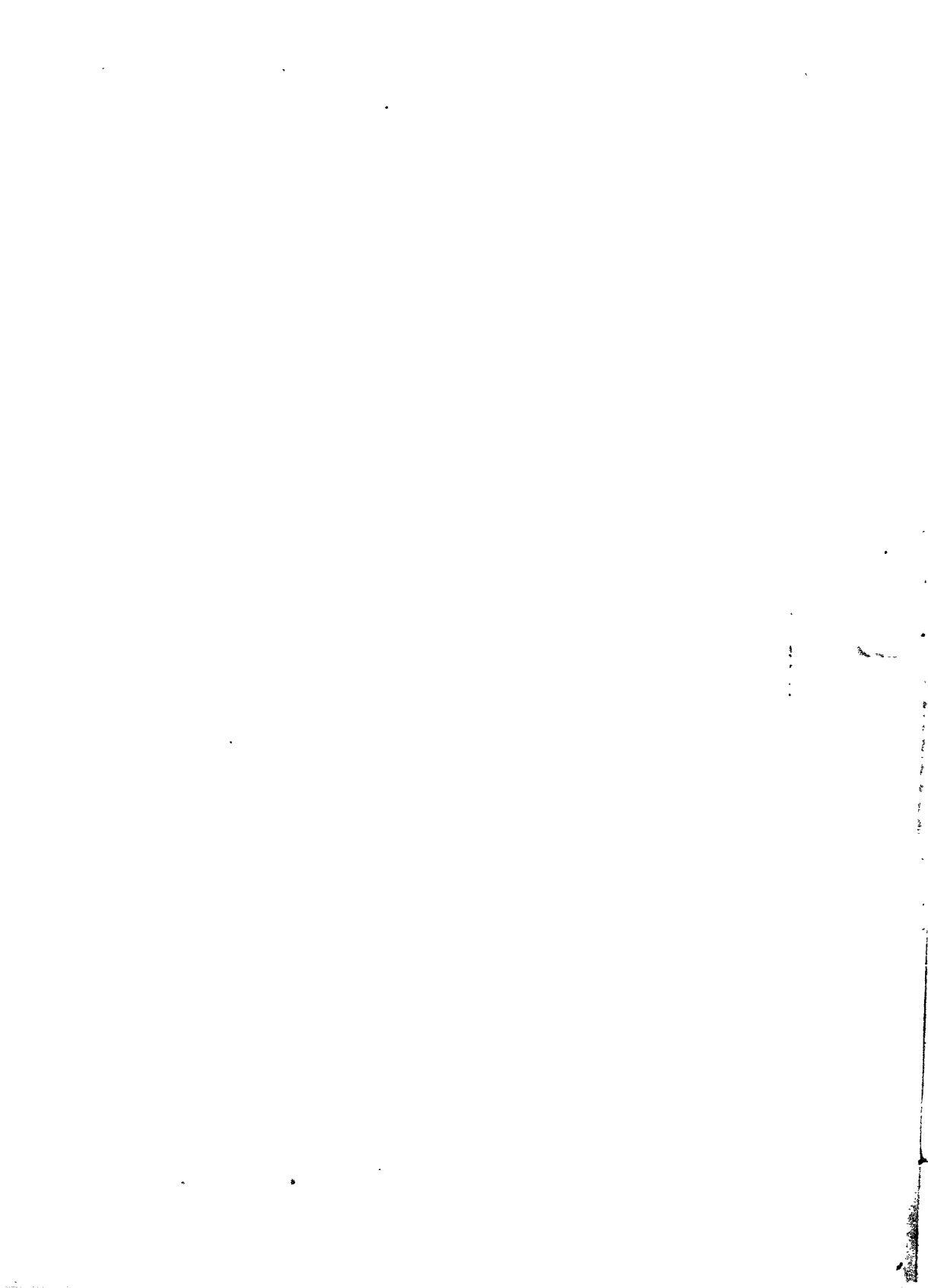
उद्देश है)। यह सुनकर वह रामचन्द्रजी को छोड़ लक्ष्मणजी के पास गई। लक्ष्मणजी ने जान लिया कि यह रावण की बहिन है। वे प्रभु रामचन्द्रजी की ओर देखकर कोमल वाणी से बोले—(रामचन्द्रजी का हँसने का अभिप्राय जानकर कोमल वचन कहे)॥ ६॥

सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा। पराधीन नहिँ तोर सुपासा॥
प्रभु समर्थ कोसल-पुर-राजा। जो कछु करहिँ उन्हहिँ सब छाजा॥७॥

हे सुन्दरि! सुन, मैं तो उनका दास हूँ, पराधीन हूँ। मेरे पास तेरे लिए सुभीता नहीं हो सकता। स्वामी समर्थ[1] हैं, कोशलपुर के राजा[2] हैं। वे जो कुछ करें वह सब उन्हें छज जायगा अर्थात् अच्छा ही लगेगा॥ ७॥

सेवक सुख चह मान भिखारी। ब्यसनी धन सुभगति बिभिचारी॥
लोभी जसु चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी॥८॥

जो सेवक होकर सुख पाने की आशा रक्खे, भिखारी होकर मान रखना चाहे, व्यसनी (जुआरी, नशेबाज, आदि) होकर धन चाहता हो और व्यभिचारी शुभगति (स्वर्ग आदि) चाहता हो, लोभी मनुष्य यश को चाहता हो और चार (दूत) होकर अभिमानी हो तो ये प्राणी आकाश को दुह कर दूध लेना चाहते हैं। अर्थात् जैसे आकाश का दुहना नहीं हो सकता वैसे ही ये बातें नहीं हो सकतीं। सारांश यह कि मैं सेवक हूँ, मेरी स्त्री होने से तुझे भी दुःखी होना पड़ेगा॥ ८॥

पुनि फिरि राम निकट सो आई। प्रभु लछिमन पहिँ बहुरि पठाई॥
लछिमन कहा तोहि सो बरई। जो तृन तोरि लाज परिहरई॥६॥

लक्ष्मणजी का उत्तर सुनकर शूर्पणखा फिर लौटकर रामचन्द्रजी के पास आई। प्रभु ने उसे फिर लक्ष्मण ही के पास भेजा तो उन्होंने कहा कि तुझे वह वरेगा, जो तिनका तोड़कर शरम छोड़ देगा अर्थात् बिलकुल निर्लज्ज होगा॥ ९॥

तब खिसिआनि राम पहिँ गई। रूप भयंकर प्रगटत भई॥
सीतहि सभय देखि रघुराई। कहा अनुज सन सैन बुझाई॥१०॥

१—समर्थ होने से यह तात्पर्य है कि वे सभी कुल, जाति आदि की स्त्री स्वीकार कर सकेंगे। दूसरा कोई ऐसा करे तो दण्डनीय होगा।

२—कोशल के राजा दशरथ के ३६० रानियाँ थीं। उन्हीं की गद्दी पर ये हैं। ये दो विवाह कर लें तो क्या आश्चर्य!

तब वह राक्षसी खिसियाकर फिर रामचन्द्रजी के पास गई। अब उसने अपना भयङ्कर रूप प्रकट किया। रघुराज रामचन्द्रजी ने सीताजी को डरी हुई देखकर छोटे भाई लक्ष्मणजी से सैन[1] (सूचना, इशारे) से समझा कर कहा ॥ १० ॥

दो०—लछिमन अतिलाघव सों नाक कान बिनु कीन्हि ।
ता के कर रावन कहँ मनहुँ चुनौती दीन्हि ॥२०॥

लक्ष्मणजी ने (रामचन्द्रजी की सैन को समझकर) बड़ी कुशलता से शूर्पणखा को नाक और कान के बिना कर दिया अर्थात् उसके नाक-कान काट लिये, मानो उस शूर्पणखा के हाथ रावण को चुनौती दी (कि यही दशा शीघ्र तुम्हारी भी होगी) ॥ २० ॥

चौ०—नाक कान बिनु भइ बिकरारा । जनु स्रव सैल गेरु कै धारा ॥
खर दूषन पहिँ गइ बिलपाता । धिग धिग तव बल पौरुष भ्राता ॥१॥

शूर्पणखा एक तो पहले ही बड़ी सुन्दरी थी, फिर अब तो नाक-कान भी न रहे, इसलिए ऐसी विकराल हो गई मानों किसी पर्वत से गेरु की धारा बहती हो। वह विलपती हुई खर और दूषण के पास गई और कहने लगी कि हे भैया ! तेरे बल और पुरुषार्थ को धिक्कार है, धिक्कार है ॥ १ ॥

तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई । जातुधान सुनि सेन बनाई ॥
धाए निसिचर बरन बरूथा । जनु सपच्छ कज्जल-गिरि-जूथा ॥२॥

उन दोनों ने पूछा तो उसने सब समाचार समझा कर कहा। उन्होंने सुनकर राक्षसों की फ़ौज तैयार की। राक्षसों के झुंड के झुंड दौड़े, मानों पंखवाले काजल के पहाड़ जा रहे हों ॥ २ ॥

नानाबाहन नानाकारा । नानायुधधर घोर अपारा ॥
सूपनखा आगे करि लीन्ही । असुभरूप स्रुति-नासा-हीनी ॥३॥

उन भयावने और अपार राक्षसों के वाहन अनेक प्रकार के हैं और वे अनेक शस्त्रों को लिये हुए हैं। उन राक्षसों ने अशुभरूपवाली नकटी और बूची शूर्पणखा को आगे कर लिया ॥ ३ ॥

१—यहाँ सैन से लक्ष्मणजी को समझाना कहा है—वह सैन बरवा रामायण में बतलाई है, जैसे—"वेद नाम गनि अँगुरिन खण्ड प्रकाश। शूर्पणखा प्रभु पठई लक्ष्मण पास" अर्थात् वेदों के नाम से—वेद नाम चार का है, खण्ड-प्रकाश से—चार टुकड़े करना सूचित हुआ। श्रुति नाम वेदों का और कान का भी है अर्थात् चारों अँगुलियों से वेद का नाम ले कान काटना और आकाश की ओर देख नाक ("स्वरव्ययं स्वर्गनाक" स्वर्ग का नाम नाक है) काट लेना, यों सूचित किया।

लछिमन अतिलाघव सों नाक कान बिनु कीन्हि।
ता के कर रावन कहँ मनहुँ चुनौती दीन्हि ॥—पृ० ६७२
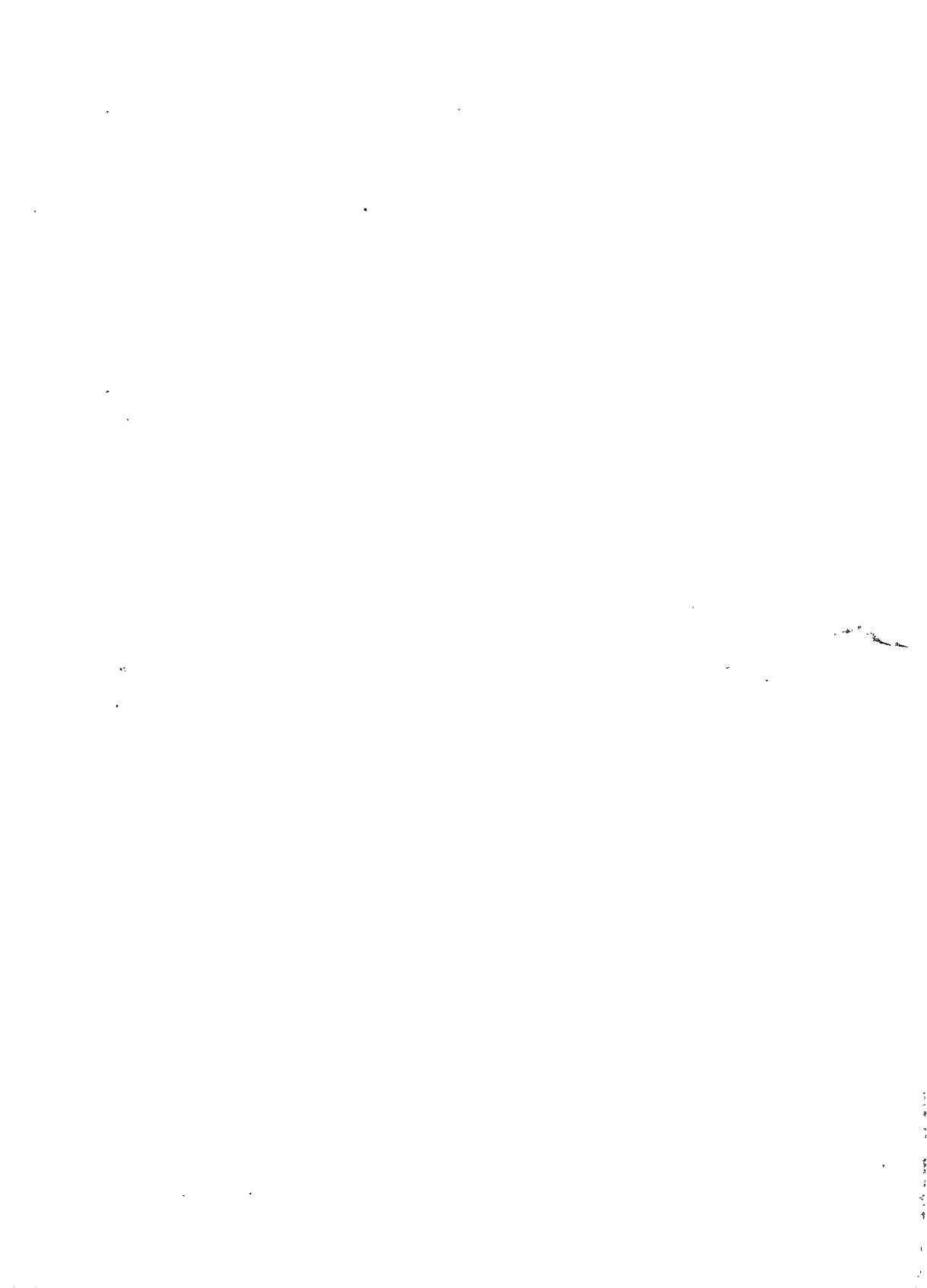
असगुन अमित होहिँ भयकारी। गनहिँ न मृत्युबिबस सब भारी॥
गर्जहिँ तर्जहिँ गगन उडाहीँ। देखि बिकट भट अति हरषाहीँ॥४॥

उस समय उनको भय दिखानेवाले सैकड़ों अशकुन होने लगे, पर वे सभी काल के वश हो रहे थे इसलिए उन्होंने उनको नहीं गिना। वे राक्षस गर्जना करते, तर्जना करते आकाश में उड़ जाते थे, और विकट योद्धाओं को देखकर बड़े प्रसन्न होते थे॥ ४॥

कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई। धरि मारहु तिय लेहु छुडाई॥
धूरि पूरि नभमंडल रहा। राम बोलाइ अनुज सन कहा॥५॥

कोइ राक्षस कहता था, दोनों भाइ राम-लक्ष्मण को जीते पकड़ लो। कोई कहता, पकड़ कर मार डालो और उनकी स्त्री को छीन लो। इस राक्षस-दल की चढ़ाई से आकाशमण्डल धूल से भर गया, तब रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी को बुलाकर उनसे कहा—॥ ५॥

लेइ जानकिहि जाहु गिरिकंदर। आवा निसि-चर-कटकु भयंकर॥
रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी। चले सहित श्री सर-धनु-पानी॥६॥
देखि राम रिपुदल चलि आवा। बिहँसि कठिन कोदंड चढावा॥७॥

हे लक्ष्मण! भयंकर राक्षसों का दल आया है, इसलिए तुम जानकी को लेकर पर्वत की गुफा में चले जाओ। सावधान रहना। ऐसी प्रभु रामचन्द्रजी की वाणी सुनकर लक्ष्मणजी, हाथ में धनुष-बाण लिये, श्रीसीताजी समेत चले॥ ६॥ शत्रुओं का दल चढ़ आया देखकर रामचन्द्रजी ने हँस कर अपने भयानक धनुष को चढ़ाया॥ ७॥

छंद—कोदंड कठिन चढाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों।
मरकत सैल पर लरत दामिनि कोटि सोँ जुग भुजग ज्यौँ॥
कटि कसि निषंग बिसाल भुज गहि चाप बिसिख सुधारि कै।
चितवत मनहुँ मृगराज प्रभु गज-राज-घटा निहारि कै॥

कठोर धनुष चढ़ाये हुए, मस्तक में जटाजूट बाँधते हुए रामचन्द्रजी कैसे शोभित हुए, जैसे मरकत (नील) मणि के पहाड़ पर करोड़ों बिजलियों से दो साँप लड़ रहे हों! रामचन्द्रजी तरकस बाँध कर विशाल भुजाओं में धनुष-बाणों को सुधार कर ऐसे देखने लगे, जैसे गजराजों की श्रेणी को देखकर उनकी ओर मृगराज (सिंह) ताक रहा हो॥

सो०—आइ गये बगमेल धरहु धरहु धावत सुभट।
जथा बिलोकि अकेल बालरबिहिँ घेरत दनुज॥२१॥

अच्छे योद्धा राक्षस चारों ओर से, पकड़ो पकड़ो कहते हुए, दौड़ते आ पहुँचे। जैसे बाल-सूर्य (प्रातःकाल उदय होते हुए सूर्य) को अकेला देखकर राक्षस[1] घेर लेते हैं, वैसे ही अकेले रामचन्द्रजी को इन्होंने घेर लिया ॥ २१ ॥

चौ०—प्रभु बिलोकि सर सकहि न डारी। चकित भई रजनी-चर-धारी॥
सचिव बोलि बोले खरदूषन। यह कोउ नृपबालक नरभूषन॥१॥

रामचन्द्रजी को देखते ही उन निशाचरों की सेना थकित हुई। कोई बाण चला ही न सकता था। तब तो खर और दूषण ने अपने मन्त्री को बुलाकर कहा—यह कोई राजपुत्र मनुष्यों में भूषण रूप है ॥ १ ॥

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहिँ असि सुंदरताई॥२॥

जितने नाग, दैत्य, देवता, मनुष्य और मुनि हैं, उनमें से कितनों ही को हमने देखा है, जीता है और मार भी डाला है, पर भाई! सुनो, हमने जन्म भर ऐसी सुन्दरता नहीं देखी ॥ २ ॥

जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिँ पुरुष अनूपा॥
देहु तुरत निज नारि दुराई। जीवत भवन जाहु दोउ भाई॥३॥

यद्यपि इन्होंने हमारी बहिन को कुरूप कर दिया है, तथापि ये अनुपम पुरुष मारने के लायक़ नहीं हैं। (इसलिए जाकर इनसे कहो कि) तुमने जो अपनी स्त्री छिपा रक्खी है, वह हमें तुरन्त दे दो और दोनों भाई जीते-जागते (कुशलपूर्वक) अपने घर चले जाओ ॥ ३ ॥

मोर कहा तुम्ह ताहि सुनावहु। तासु बचन सुनि आतुर आवहु॥
दूतन्ह कहा राम सन जाई। सुनत राम बोले मुसुकाई॥४॥

तुम मेरा कहा समाचार उस (राम) को सुनाओ और उसका उत्तर सुनकर जल्दी लौट आओ। दूतों ने जाकर रामचन्द्रजी से वह सँदेसा कहा। सुनते ही रामचन्द्रजी मुस्कुरा कर बोले—॥ ४ ॥

हम छत्री मृगया बन करहीँ। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीँ॥
रिपु बलवंत देखि नहिँ डरहीँ। एक बार कालहु सन लरहीँ॥५॥

१—हेमाद्रि आदि कई ग्रन्थों में लिखा है—सबेरे सूर्य उदय होने पर बीस हज़ार राक्षस सूर्य के साथ युद्ध करते हैं। सन्ध्या करनेवालों के अर्घ्य के जल के बूँद बाणरूप होकर सहायक होते हैं और उन राक्षसों का नाश हो जाता है। इसी लिए नियमित समय पर सन्ध्या करना आवश्यक है।

हम क्षत्रिय हैं, जङ्गलों में शिकार खेलते हैं, तुम जैसे दुष्ट मृगों को ढूँढ़ते फिरते हैं। हम शत्रु को बलवान् देखकर डरते नहीं। एक बेर काल से भी लड़ जाते हैं! ॥ ५ ॥

जद्यपि मनुज दनुज-कुल-घालक। मुनिपालक खलसालक बालक॥
जौं न होइ बल घर फिरि जाहू। समरबिमुख मैं हतउँ न काहू॥६॥

मैं यद्यपि मनुष्य हूँ, तथापि राक्षस-कुल का नाश करनेवाला, मुनियों का रक्षक और दुष्टों का संहार करनेवाला बालक हूँ। जो तुम लोगों में लड़ने को शक्ति न हो तो घर लौट जाओ। मैं युद्ध से मुँह फेरनेवालों में से किसी को भी न मारूँगा ॥ ६ ॥

रन चढि करिय कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई॥
दूतन्ह जाइ तुरत सब कहेउ। सुनि खर दूषन उर अति दहेउ॥७॥

रण के लिए चढ़ कर कपट और चतुराई करना चाहिए, शत्रु पर दया दिखलाना बड़ा कायरपन है। दूतों ने जाकर तुरन्त सब उत्तर कहा। वह सुनते ही खर-दूषण के हृदय में बड़ा दाह हुआ ॥ ७ ॥

छंद—उर दहेउ कहेउ कि धरहु धाये बिकट भट रजनीचरा।
सर-चाप-तोमर-सक्ति-सूल-कृपान-परिघ-परसु-धरा॥
प्रभु कीन्ह धनुषटँकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा।
भये बधिर ब्याकुल जातुधान न ग्यान तेहि अवसर रहा॥

उनको छाती में दाह हुआ। उन्होंने कहा कि पकड़ो। सुनते ही विकट योद्धा राक्षस धनुष, बाण, तोमर, शक्ति (बरछा), त्रिशूल, तलवार, परिघ और फरसे हाथों में लिये हुए दौड़े। प्रभु रामचन्द्रजी ने पहले धनुष का कठोर, घोर और भयङ्कर टङ्कार किया, जिसके सुनते ही वे सब राक्षस बहिरे और व्याकुल हो गये। उन्हें उस समय कुछ ज्ञान (होश) नहीं रहा ॥

दो०—सावधान होइ धाये जानि सबल आराति।
लागे बरषन राम पर अस्त्र सस्त्र बहु भाँति॥२२॥

कुछ देर में सावधान (होशियार) हो तथा शत्रु को बलवान् जानकर राक्षस दौड़े और रामचन्द्रजी पर बहुत तरह के अस्त्र-शस्त्र बरसाने लगे ॥ २२ ॥

तिन्ह के आयुध तिल सम करि काटे रघुबीर।
तानि सरासन स्रवन लगि पुनि छाडे निज तीर॥२३॥

रघु-कुल के वीर रामचन्द्रजी ने उनके हथियारों को छोटे छोटे टुकड़े कर काट डाला। फिर कान तक अपने धनुष को तान कर बाण छोड़े ॥ २३ ॥

तोमर छंद—तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु ब्याल॥
कोपेउ समर श्रीराम। चले बिसिख निसित निकाम॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजी के ऐसे तीक्ष्ण बाण चले, मानों साँप फुंकार रहे हों। युद्ध में श्रीरामचन्द्रजी कोपित हुए और उन्होंने बहुत-से तेज़ बाण छोड़े[१]॥

अवलोकि खरतर तीर। मुरि चले निसिचर बीर॥
भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ। जो भागि रन तें जाइ॥

रामचन्द्रजी के बहुत ही तेज़ तीरों को देखकर वीर राक्षस मुँह फेर कर भाग चले। यह दशा देखकर तीनों भाई खर, दूषन और त्रिशिरा क्रोध में भर गये। उन्होंने कहा कि ख़बरदार! जो कोई रण छोड़ कर भागेगा॥

तेहि बधब हम निज पानि। फिरे मरन मन महुँ ठानि॥
आयुध अनेक प्रकार। सनमुख तें करहिँ प्रहार॥

उसको हम अपने हाथों से मार डालेंगे। तब राक्षस युद्ध में ही अपना मरना निश्चित कर फिर लौट आये और सम्मुख खड़े होकर विविध प्रकार के शस्त्र-प्रहार करने लगे॥

रिपु परम कोपे जानि। प्रभु धनुष सर संधानि॥
छाडे बिपुल नाराच। लगे कटन बिकट पिसाच॥

रामचन्द्रजी ने शत्रुओं को बड़े क्रोध में भरे समझ कर धनुष में चढ़ा चढ़ा कर हज़ारों बाण छोड़े जिनसे विकट पिशाच कटने लगे॥

उर सीस भुज कर चरन। जहँ तहँ लगे महि परन॥
चिक्करत लागत बान। धर परत कु-धर-समान॥

राक्षसों के छाती, मस्तक, भुजा, हाथ और पैर कट कट कर जहाँ-तहाँ ज़मीन में गिरने लगे। रामबाण लगते ही राक्षस-गण चिक्कार मार मार कर पहाड़ों के से धड़ाधड़ गिरने लगे॥

भट कटत तन सतखंड। पुनि उठत करि पाखंड॥
नभ उडत बहु भुज मुंड। बिनु मौलि धावत रुंड॥
खग कंक काक सृगाल। कटकटहिँ कठिन कराल॥

१—कुछ लोग यह अर्थ भी करते हैं कि रामचन्द्रजी के क्रोध करते ही राक्षसों के तेज़ बाण निकम्मे हो गये। पर यह ठीक नहीं जान पड़ता। क्रोध करने का परिणाम अपना पराक्रम दिखाना होना चाहिए। निकाम का अर्थ है—कामना-रहित—लक्ष्य-शून्य अर्थात् किसी पर लक्ष्य करके बाण नहीं छोड़े बरन बहुत-से एक साथ ही चला दिये।

योद्धाओं के शरीरों के कट कट कर सौ सौ टुकड़े हो जाने पर भी वे फिर उठकर पाखंड (माया) रचने लगते। बहुत-से भुजदण्ड और मुण्ड आकाश में उड़ने लगते, बिना मस्तक के रुंड दौड़ते-फिरते। युद्ध में कंक पक्षी, कौए और सियार कटकटा कर बुरी तरह बोलते थे॥

छंद—कटकटहिँ जंबुक भूत प्रेत पिसाच खप्पर संचहीँ।
बेताल बीर कपाल ताल बजाइ जोगिनि नंचहीँ॥
रघु-बीर-बान प्रचंड खंडहिँ भटन्ह के उर भुज सिरा।
जहँ तहँ परहिँ उठि लरहिँ धरु धरु धरु करहिँ भयकर गिरा॥

गीदड़ कटकटाते थे; भूत, प्रेत, पिशाच अपने खप्पर संचते (खून भर कर पीने के लिए पोंछ पाँछ कर दुरुस्त करते) थे। वेताल, वीर और योगिनियाँ कपाल और तालियाँ बजा बजा कर नाचती थीं। रामचन्द्रजी के प्रचण्ड बाण योद्धाओं की छाती, भुजाएँ और मस्तक काटते थे। कोई कहीं गिरता था, कोई उठ कर फिर लड़ता था और कोई पकड़ लो, पकड़ लो, पकड़ लो, इस तरह भयंकर वाणी बोलता था॥

अंतावरी गहि उडत गीध पिसाच कर गहि धावहीँ।
संग्राम-पुर-बासी मनहुँ बहुबाल गुडी उडावहीँ॥
मारे पछारे उर बिदारे बिपुल भट कहरत परे।
अवलोकि निज दल बिकट भट तिसिरादि खर दूषन फिरे॥

मरे हुए राक्षसों की आँतों को पकड़ कर गीध उड़ते थे और पिशाच उन्हीं आँतों के सिरे को हाथ से पकड़कर दौड़ते थे। ऐसा मालूम होता था, मानों संग्राम-पुर-वासी बहुत से बालक पतंग उड़ा रहे हों। कोई मार डाले गये, कोई पछाड़ दिये गये, किसी की छाती फाड़ डाली गई, इस तरह बहुत से योद्धा (घायल) पड़े हुए कराहते थे (हाय हाय करते थे)। अपने दल की यह दशा देखकर त्रिशिरा आदिक विकट वीर राक्षस और खर दूषण रामचन्द्रजी के सम्मुख हुए॥

सर सक्ति तोमर परसु सूल कृपान एकहिँ बारहीँ।
करि कोप श्री-रघु-बीर पर अगनित निसाचर डारहीँ॥
प्रभु निमिष महुँ रिपुसर निवारि प्रचारि डारे सायका।
दस दस बिसिख उर माँझ मारे सकल निसि-चर-नायका॥

अनगिनत राक्षस क्रोध कर बाण, शक्ति, तोमर, फरसे, त्रिशूल और तलवार एक ही बार श्रीरघुवीर के शरीर पर डाल रहे हैं। प्रभु रामचन्द्रजी ने निमेष काल (पलक भर) में शत्रु के बाणों को निवारण कर (हटाकर) अपने बाण चला दिये और संपूर्ण प्रधान राक्षसों की छातियों में दस दस बाण मार दिये॥

महि परत पुनि उठि भिरत मरत न करत माया अति घनी।
सुर डरत चौदहसहस प्रेत बिलोकि एक अवधधनी ॥
सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक कर्‌यो।
देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मर्‌यो ॥

कोई राक्षस पृथ्वी पर गिरता है, कोई गिरकर फिर उठता और लड़ता है, मरता नहीं है, कोई बहुत गहरी माया रचता है। उधर देवता अकेले अयोध्यानाथ रामचन्द्रजी के साथ चौदह हजार प्रेतों को देखकर डरने लगे कि अब क्या होगा। माया के स्वामी प्रभु रामचन्द्रजी ने देवतों और मुनियों को भयभीत देखकर एक बड़ा भारी खेल किया जिससे उन राक्षसों की बुद्धि मोहित हो गई। वे राक्षस आपस में राम-रूप दीखने लगे। इससे आपस ही में लड़ कर सब समाप्त हो गये ! ॥

दो०—राम राम कहि तनु तजहिँ पावहिँ पद निर्बान।
करि उपाय रिपु मारे छन महुँ कृपानिधान ॥२४॥

वे राक्षस राम राम कह कर शरीर छोड़ते थे, इसलिए निर्वाण पद (मोक्ष) पाते थे। कृपा-सागर रामचन्द्रजी ने यों उपाय रचकर क्षण भर में शत्रु मार डाले॥ २४ ॥

हरषित बरषहिँ सुमन सुर बाजहिँ गगन निसान।
अस्तुति करि करि सब चले सोभित बिबिध बिमान ॥२५॥

देवता प्रसन्न होकर फूल बरसाने और आकाश में नगारे बजने लगे। सब देवता रामचन्द्रजी की स्तुति कर, तरह तरह के विमानों में शोभायमान होकर अर्थात् बैठकर चले गये॥ २५ ॥

चौ०—जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सब के भय बीते ॥
तब लछिमनु सीतहिँ लेइ आये। प्रभु पद परत हरषि उर लाये ॥१॥

जब रघुनाथजी ने युद्ध में शत्रुओं को जीत लिया तब देवता, मनुष्य और मुनि सभी का डर मिट गया। फिर लक्ष्मणजी सीताजी को लिवा लाये। वे प्रभु के पाँवों पड़े तो रामचन्द्रजी ने प्रसन्न हो उनको हृदय से लगा लिया॥ १ ॥

सीता चितव स्याम मृदु गाता। परम प्रेम लोचन न अघाता ॥
पंचबटी बसि श्री-रघु-नायक। करत चरित सुर-मुनि-सुख-दायक ॥२॥

रामचन्द्रजी के श्यामल और कोमल अङ्गों को सीताजी बड़े प्रेम के साथ देखने लगीं। देखने से उनका जी नहीं भरता था। इसी तरह श्रीरघुकुलनायक पञ्चवटी में निवास कर देवों और मुनियों के सुख देनेवाले चरित्र करने लगे॥ २ ॥

धुआँ देखि खरदूषन केरा। जाइ सुपनखा रावनु प्रेरा ॥
बोली बचन क्रोध करि भारी। देस कोस कै सुरति बिसारी ॥३॥

इधर खर-दूषण का धुआँ देखकर शूर्पणखा रावण के पास जा पहुँची और उसने रावण को युद्ध के लिए उभाड़ा। अत्यन्त क्रोध में भर कर शूर्पणखा रावण से बोली—तूने तो देश और ख़ज़ाने की सुध ही भुला दी ! ॥ ३ ॥

करसि पान सोवसि दिनु राती। सुधि नहिँ तव सिर पर आराती ॥
राजु नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा ॥४॥

तू मदिरा पीता और रात-दिन पड़ा सोता है; तेरे सिर पर शत्रु नाच रहा है, पर तुझे सुध नहीं ! बिना नीति के राज्य करना, बिना धर्म के धन मिलना, और विष्णु को समर्पण किये बिना सत्कर्म, ॥ ४ ॥

बिद्या बिनु बिबेक उपजाये। स्रम फल पढे किये अरु पाये ॥
संग तेँ जती कुमंत्र तेँ राजा। मान तेँ ग्यान पान तेँ लाजा ॥५॥
प्रीति प्रनय बिनु मद तेँ गुनी। नासहिँ बेगि नीति असि सुनी ॥६॥

बिना विवेक उत्पन्न किये विद्या पढ़ना, इतने का फल केवल परिश्रम ही है, अर्थात् इनसे और कुछ मतलब नहीं सिद्ध होता। संग से संन्यासी, बुरी सलाह से राजा, अभिमान करने से ज्ञान, नशा करने से लज्जा ॥ ५ ॥ नम्रता बिना प्रेम तथा मद से गुणी तुरन्त ही नष्ट हो जाते हैं—हमने ऐसी नीति सुनी है ॥ ६ ॥

सो०—रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिय न छोट करि ॥
अस कहि बिबिध बिलाप करि लागी रोदन करन ॥२६॥

शत्रु, रोग, अग्नि, पाप, मालिक और सर्प इनको छोटा न गिनना चाहिए। रावण से ऐसा कहकर शूर्पणखा विविध प्रकार का विलाप कर रोने लगी ॥ २६ ॥

दो०—सभा माँझ परि ब्याकुल बहु प्रकार कह रोइ।
तोहि जिअत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ ॥२७॥

वह बीच सभा में व्याकुल हो गिर पड़ी, और बहुत प्रकार से रोकर कहने लगी कि हे दसकंधर (रावण)! क्या तेरे जीते ही जी मेरी ऐसी (नकटी, बुच्ची होना) गति होनी चाहिए ? ॥ २७ ॥

चौ०—सुनत सभासद उठे अकुलाई। समुझाई गहि बाहँ उठाई ॥
कह लंकेस कहसि किन बाता। केइ तव नासा कान निपाता ॥१॥

उसके क्रन्दन को सुनते ही सभासद् घबराकर उठे और उन्होंने हाथ पकड़कर शूर्पणखा को उठा लिया और उसको समझाया। लङ्काधीश रावण कहने लगा—अरी! असल बात क्यों नहीं कहती? किसने तेरे नाक और कान काट लिये?॥ १॥

अवधनृपति दसरथ के जाये। पुरुषसिंह बन खेलन आये॥
समुझि परी मोहि उन्ह कै करनी। रहित निसाचर करिहहिँ धरनी॥२॥

शूर्पणखा ने कहा—अवध के राजा दशरथ के पुत्र, पुरुषों में सिंह के समान, वन में शिकार खेलने आये हैं। मुझे उनकी करतूत समझ पड़ी। वे सारी पृथ्वी बिना राक्षसों की कर देंगे!॥ २॥

जिन्ह कर भुजबल पाइ दसानन। अभय भये बिचरत मुनि कानन॥
देखत बालक कालसमाना। परमधीर धन्वी गुन नाना॥३॥

हे दशानन! उनकी भुजाओं का बल पाकर मुनि निर्भय होकर वनों में फिरने लगे। वे देखने में तो बालक हैं; परन्तु काल के समान हैं; बड़े धीर, धनुर्धारी और अनेक गुणों से भरे पूरे हैं॥ ३॥

अतुलित-बल-प्रताप दोउ भ्राता। खल-बध-रत सुर-मुनि-सुख-दाता॥
सोभाधाम राम अस नामा। तिन्ह के संग नारि एक स्यामा॥४॥

दोनों भाइयों का अतुल बल-प्रताप है। वे दुष्टों का वध करने में लगे हैं और देवतों तथा ऋषियों के सुख देनेवाले हैं। उनमें से एक का नाम, जो शोभा के स्थान हैं, राम है। उनके साथ एक स्यामा (सोलह बरस की) स्त्री है॥ ४॥

रूपरासि बिधि नारि सँवारी। रति सतकोटि तासु बलिहारी॥
तासु अनुज काटे स्रुतिनासा। सुनि तव भगिनि करहिँ परिहासा॥५॥

रूप की राशि उस स्त्री को विधाता ने अपने हाथों सँवारा है। सौ करोड़ रति (कामदेव की स्त्री) उस पर वार देनी चाहिए अर्थात् वह उनसे भी अधिक सुन्दरी है। उस राम के छोटे भाई ने मेरे नाक-कान काट लिये। मैं तेरी बहिन हूँ, यह सुनते ही वे हँसी करने लगे॥ ५॥

खरदूषन सुनि लगे पुकारा। छन महँ सकल कटक उन्ह मारा॥
खर-दूषन-तिसिरा कर घाता। सुनि दससीस जरे सब गाता॥६॥

मेरी पुकार सुनकर खर, दूषण लड़ने लगे तो उन दोनों राजकुमारों ने क्षण भर में सारे कटक का संहार कर दिया। खर, दूषण और त्रिशिरा की मृत्यु सुनकर रावण के सब अङ्ग जल उठे॥ ६॥

दो०—सूपनखहि समुझाइ करि बल बोलेसि बहु भाँति।
गयेउ भवन अति-सोच-बस नीँद परइ नहि राति॥२८॥

तब सक्रोध निसिचर खिसियाना।
काढ़ेसि परम कराल कृपाना॥—पृ० ६८१

रावण शूर्पणखा को समझाकर, बहुत तरह से अपने बल का वर्णन कर, अपने घर गया। उसे बड़े सोच के मारे रात भर नींद नहीं आई ॥ २८ ॥

चौ०—सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं ॥
खरदूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहिँ को मारइ बिनु भगवंता ॥ १ ॥

वह सोचने लगा कि देवता, मनुष्य, दैत्य, नाग और आकाश-चारियों में मेरे नौकरों की बराबरी का भी कोई नहीं है। खर और दूषण तो मेरे समान बलवान् थे, उन्हें भगवान् के सिवा और कौन मार सकता है ? ॥ १ ॥

सुररंजन भंजन महिभारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा ॥
तौ मैं जाइ बयरु हठि करऊँ। प्रभुसर प्रान तजे भव तरऊँ ॥ २ ॥

जो देवतों को प्रसन्न करनेवाले भगवान् ने पृथ्वी का भार दूर करने के लिए अवतार लिया है, तो मैं जाकर उनसे हठपूर्वक वैर करूँगा, और उनके बाण से प्राण त्याग कर संसार से तर जाऊँगा ॥ २ ॥

होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ एहा ॥
जौं नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ ॥ ३ ॥

इस तमोगुणी शरीर से भजन तो होगा नहीं, इसलिए मन, वचन और काया से यही सलाह पक्की है कि मैं वैर ठानूँगा। जो वे दोनों कोई मनुष्य-रूप राजपुत्र होंगे, तो दोनों को रण में जीतकर उनकी स्त्री को हर लूँगा ॥ ३ ॥

चला अकेल जान चढि तहवाँ। बस मारीच सिंधुतट जहवाँ ॥
इहाँ राम जसि जुगुति बनाई। सुनहु उमा सो कथा सुहाई ॥ ४ ॥

रावण इस तरह सोचकर विमान में बैठकर अकेला चला, और जहाँ समुद्र के किनारे मारीच रहता था वहाँ पहुँचा। महादेवजी कहते हैं कि हे पार्वती ! यहाँ रामचन्द्रजी ने जैसी युक्ति बनाई वह सुन्दर कथा सुनो ॥ ४ ॥

दो०—लछिमनु गये बनहिँ जब लेन मूल फल कंद।
जनकसुता सन बोले बिहँसि कृपा-सुख-बृंद ॥ २९ ॥

जब लक्ष्मणजी मूल, फल, कन्द लेने के लिए वन में गये तब दया और आनन्द के समूह रामचन्द्रजी जानकीजी से बोले— ॥ २९ ॥

चौ०—सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नरलीला ॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौं लगि करउँ निसा-चर-नासा ॥ १ ॥

हे सुशीले, प्रिये ! मेरा एक सुन्दर व्रत (नियम) सुनो। मैं कुछ मनोहर मनुष्यलीला करूँगा, इसलिए मैं जब तक राक्षसों का नाश करूँ तब तक तुम अग्नि में निवास करो ॥ १ ॥

जबहिं राम सबु कहा बखानी। प्रभुपद धरि हिय अनल समानी॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥२॥

ज्यों ही रामचन्द्रजी ने सब बखान कर कहा त्यों ही स्वामी के चरणों का हृदय में ध्यान कर सीताजी अग्नि में समा गईं। वे अपने प्रतिबिम्ब (छायारूपिणी सीताजी) को वहाँ रख गईं, जिनका शील और रूप वैसा ही था और जो वैसी ही विनीत भी थीं॥ २॥

लछिमनहूँ यह मरमु न जाना। जो कछु चरित रचेउ भगवाना॥
दसमुख गयउ जहाँ मारीचा। नाइ माथ स्वारथरत नीचा॥३॥

भगवान् रामचन्द्रजी ने जो कुछ चरित्र रचा, इसका मर्म लक्ष्मणजी ने भी नहीं जाना। उधर रावण वहाँ गया जहाँ मारीच था। वह नीच स्वार्थ में रत था, इसलिए उसने मारीच को सिर नवाया॥ ३॥

नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई॥
भयदायक खल कै प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी॥४॥

नीच की नम्रता या नमन अत्यन्त दुःखदायी है, जैसे अङ्कुश, धनुष, साँप और बिल्ली (ज्यों ही ये नमते हैं त्यों ही दूसरों का कुछ न कुछ नुक़सान ही करते हैं)। हे पार्वती! दुष्ट की प्रियवाणी भी भय देनेवाली होती है, जैसे बिना मौसिम के फूल (बिना मौसिम फूल फूलने से कुछ उत्पात होता है)॥ ४॥

दो०—करि पूजा मारीच तब सादर पूछी बात।
कवन हेतु मन ब्यग्र अति अकसर आयहु तात॥३०॥

तब मारीच ने बड़े आदर से रावण की पूजा की, फिर उससे बात पूछी कि हे तात! तुम्हारा मन किस कारण बहुत व्यग्र (घबराया) है और अकेले क्यों आये हो?॥ ३०॥

चौ०—दसमुख सकल कथा तेहि आगे। कही सहित अभिमान अभागे॥
होहु कपटमृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनउँ नृपनारी॥१॥

अभागे दशमुख रावण ने उस मारीच के सामने सब कथा अभिमान के साथ कह सुनाई और कहा कि तुम ऐसे छल करनेवाले कपट-मृग बन जाओ जिसमें मैं राजपत्नी को हर लाऊँ॥ १॥

तेहिं पुनि कहा सुनहु दससीसा। ते नररूप चराचर-ईसा॥
ता सों तात बयरु नहिं कीजे। मारे मरिय जिआये जीजे॥२॥

फिर उस मारीच ने कहा— रावण सुनो! तुम जिनकी बात कह रहे हो वे मनुष्य रूप लिये चराचर के स्वामी हैं। हे तात! उनसे वैर नहीं करना चाहिए। उनके मारने से मरना और जिलाने से जीना होता है॥ २॥

मुनिमख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥
सत जोजन आयउँ छन माहीँ। तिन्ह सन बयरु किये भल नाहीँ॥३॥

ये कुमार विश्वामित्र मुनि के यहाँ यज्ञ-रक्षण करने के लिए गये थे। वहाँ रघुपति ने मुझे बिना फर का बाण मारा था। बस, उस बाण से मैं क्षण भर में सौ योजन पर आ गिरा। उनसे वैर करने में भलाई नहीं है॥ ३॥

भइ मम कीट भृंग की नाईँ। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥
जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा॥४॥

जैसे भँवरा किसी कोड़े को पकड़ लाकर अपने छेद में क़ैद कर गुनगुनाता है, तो वह कोड़ा भँवरी बन जाता है। उसे भँवरामय जगत् दीखता है, वैसे ही मैं भी जिधर देखूँ उधर मुझे दोनों भाई राम, लक्ष्मण दीखते हैं। हे तात! जो वे मनुष्य हैं तो भी बड़े शूर वीर हैं, उनसे विरोध कर पूरा नहीं पड़ेगा॥ ४॥

दो०—जेहि ताडका सुबाहु हति खंडेउ हरकोदंड।
खर दूषन तिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिवंड॥३१॥

जिन्होंने ताड़का और सुबाहु को मार डाला, शिवजी के धनुष को तोड़ दिया और खर, दूषण, त्रिशिरा का वध कर डाला, क्या मनुष्य भी ऐसे वीर बली होते हैं?॥ ३१॥

चौ०—जाहु भवन कुलकुसल बिचारी। सुनत जरा दीन्हेसि बहु गारी॥
गुरु जिमि मूढ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा॥१॥

तुम अपने वंश की भलाई सोचकर घर लौट जाओ। यह सुनते ही रावण जल उठा। उसने मारीच को बहुत गालियाँ दीं। वह कहने लगा—अरे मूर्ख! तू मुझे गुरु की तरह ज्ञान दे रहा है! बतला, जगत् में मेरे समान योद्धा कौन है॥ १॥

तब मारीच हृदय अनुमाना। नवहि बिरोधे नहिं कल्याना॥
सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी। बैद्य बंदि कबि भानस-गुनी॥२॥

तब रावण की बातें सुन कर मारीच ने हृदय में अनुमान किया कि शस्त्रधारी, मर्म की बात जाननेवाला, स्वामी, दुष्ट, धनवान्, वैद्य, बन्दीजन, कवि और रसोइया, इन नौ के साथ विरोध करने में कल्याण नहीं होता॥ २॥

उभय भाँति देखा निज मरना। तब ताकेसि रघु-नायक-सरना॥
उतरु देत मोहि बधब अभागे। कस न मरउँ रघु-पति-सर लागे॥३॥

जब मारीच ने दोनों तरह (रावण का कहा मानने और न मानने में भी) अपना मरना देखा, तब उसने रघुनाथजी की शरण में जाने का निश्चय किया। उसने सोचा कि उत्तर देने पर यह अभागा रावण मुझे मार डालेगा, तो फिर मैं रामचन्द्रजी के बाण से क्यों न मरूँ॥ ३॥

अस जिय जानि दसानन संगा। चला राम-पद-प्रेम अभंगा॥
मन अति हरष जनाव न तेही। आजु देखिहउँ परमसनेही॥४॥

मारीच अपने जी में ऐसा जानकर, रामचन्द्रजी के चरणों में अखण्ड प्रेम कर, रावण के साथ चल दिया। मारीच के मन में अत्यन्त हर्ष हुआ, वह हर्ष उसने रावण का नहीं मालूम होने दिया। वह मन में इस बात पर प्रसन्न होता था कि आज मैं अपने परम स्नेही रामचन्द्रजी के दर्शन करूँगा॥ ४॥

छंद—निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहउँ।
श्रीसहित अनुजसमेत कृपा-निकेत-पद मनु लाइहउँ॥
निर्बानदायक क्रोध जा कर भगति अबसहि बस करी।
निज पानि सर संधानि सो मोहि बधिहि सुखसागर हरी॥

मैं अपने परम प्यारे रामचन्द्रजी को देखकर नेत्रों को सफल करूँगा और सुख पाऊँगा। सीताजी और लक्ष्मणजी-सहित कृपा के स्थान रामचन्द्रजी के चरणों में मन लगाऊँगा। जिनका क्रोध भी मोक्ष देनेवाला है, जो किसी के वश में नहीं, उन्हें भक्ति वश में कर लेती है। वही सुख के समुद्र श्रीहरि अपने हाथ से बाण चढ़ाकर मेरा वध करेंगे॥

दो०—मम पाछे धर धावत धरे सरासन बान।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ धन्य न मो सम आन॥३२॥

जिस समय स्वामी रामचन्द्रजी हाथ में धनुष-बाण लिये हुए मेरे पीछे दौड़ेंगे, उस समय मैं बार बार लौट लौट कर प्रभु को देखूँगा! मेरे बराबर कोई धन्य नहीं है॥ ३२॥

चौ०—तेहि बन निकट दसानन गयऊ। तब मारीच कपटमृग भयऊ॥
अतिबिचित्र कछु बरनि न जाई। कनकदेह मनिरचित बनाई॥१॥

जब रावण उस पञ्चवटी के वन के पास गया तब मारीच माया का हरिण बन गया। उसने अपनी देह मणियों से जड़ी हुई, सोने की, अत्यन्त विचित्र बना ली, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता॥ १॥

सीता परमरुचिर मृग देखा। अंग अंग सुमनोहर बेखा॥
सुनहु देव रघुबीर कृपाला। एहि मृग कर अतिसुंदर छाला॥२॥

सीताजी ने परम सुन्दर मृग को देखा। उसका एक एक अंग अत्यन्त मनोहर वेष का था। उन्होंने रामचन्द्रजी से कहा—हे देव! दयाल रघुवीर! सुनिए। इस मृग की मृगछाला बहुत ही सुन्दर होगी॥ २॥

सीता परम रुचिर मृग देखा ।
अंग अंग सुमनोहर बेखा ॥ - पृ० ६८४

सत्यसंध प्रभु बध करि एही। आनहु चर्म कहति बैदेही॥
तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुरकाज सँवारन॥३॥

हे सत्यसंध! प्रभो! आप इस मृग का वध कर इसका मृगचर्म लाइए। जब जानकीजी ऐसा कहने लगीं तब रामचन्द्रजी, जो सब कारणों को जानते थे, देवतों के कार्य सुधारने के लिए प्रसन्न होकर उठे॥ ३॥

मृग बिलोकि कटि परिकर बाँधा। करतल चाप रुचिर सर साधा॥
प्रभु लछिमनहिँ कहा समुझाई। फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई॥४॥

उन्होंने मृग को देखकर कमर कसी और हाथ में धनुष लेकर उस पर अच्छा बाण साधा। प्रभु रामजी ने लक्ष्मणजी को समझा कर कहा—भाई! वन में बहुत-से राक्षस फिरते हैं॥ ४॥

सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी॥
प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी। धाये राम सरासन साजी॥५॥

तुम बुद्धि, विचार, बल और समय को सोचकर सीता की रक्षा करना। उधर मृग प्रभु को देखकर भाग चला। उसके पीछे रामचन्द्रजी धनुष सजा कर दौड़े॥ ५॥

निगम नेति सिव ध्यान न पावा। मायामृग पाछे सोइ धावा॥
कबहुँ निकट पुनि दूरि पराई। कबहुँक प्रगटइ कबहुँ छपाई॥६॥

जिस परमात्मा की महिमा वर्णन करते हुए वेद पार न पाकर नेति कहकर थक गये, जिनको शिवजी ने ध्यान में न पकड़ पाया, आज वही परमात्मा माया के (बनावटी) मृग के पीछे दौड़ रहे हैं! वह मृग कभी तो पास आ जाता है, कभी दूर भाग जाता है, कभी प्रकट हो जाता है और कभी छिप जाता है॥ ६॥

प्रगटत दुरत करत छल भूरी। एहि बिधि प्रभुहि गयउ लेइ दूरी॥
तब तकि राम कठिन सर मारा। धरनि परेउ करि घोर पुकारा॥७॥

इस तरह बार बार प्रकट होता, गुप्त होता, और महा छल करता हुआ वह प्रभु को बड़ी दूर ले गया। तब रामचन्द्रजी ने उसको ताक कर कठिन बाण मारा। इस पर वह तुरन्त ही जोर से चिल्लाकर जमीन पर गिर पड़ा॥ ७॥

लछिमन कै प्रथमहिँ लै नामा। पाछे सुमिरेसि मन महुँ रामा॥
प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा॥८॥
अंतरप्रेमु तासु पहिचाना। मुनि-दुर्लभ-गति दीन्हि सुजाना॥९॥

उसने (चिल्लाते समय) पहले लक्ष्मणजी का नाम लेकर फिर मन में रामचन्द्रजी का स्मरण किया। प्राण त्यागते समय उसने अपना (राक्षस का) शरीर प्रकट किया और स्नेह के

साथ राम-स्मरण किया ॥ ८ ॥ चतुर रामचन्द्रजी ने उसके भीतरी प्रेम को पहचाना और जो गति मुनियों को दुर्लभ है, वह गति (मोक्ष) उसे दी ॥ ९ ॥

दो०—बिपुल सुमन सुर बरषहिं गावहिं प्रभु-गुन-गाथ ।
निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीनबंधु रघुनाथ ॥२३॥

जब दीनबन्धु रघुनाथजी ने उस असुर को निज पद दे दिया, तब देवता खूब पुष्प-वर्षा करने लगे और स्वामी रामचन्द्रजी के गुणों की गाथा गाने लगे ॥ २३ ॥

चौ०—खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा । सोह चाप कर कटि तूनीरा ॥
आरतगिरा सुनी जब सीता । कह लछिमन सन परम सभीता ॥१॥

रघुवीर उस दुष्ट का वध कर तुरन्त लौटे । उनके हाथ में धनुष और कमर में तरकस शोभायमान था । इधर जब सीताजी ने आर्त्त (दुखभरी) वाणी (मारीच की पुकार) सुनी तब वे बहुत भयभीत होकर लक्ष्मणजी से कहने लगीं कि ॥ १ ॥

जाहु बेगि संकट अति भ्राता । लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता ॥
भृकुटिबिलास सृष्टिलय होई । सपनेहु संकट परइ कि सोई ॥२॥

हे लक्ष्मण ! तुम जल्दी जाओ, तुम्हारे भाई को बड़ा सङ्कट पड़ा है ! यह सुनकर लक्ष्मणजी ने हँसकर कहा कि हे माताजी ! सुनो, जिनके भृकुटि के नचाने से संसार की सृष्टि और प्रलय हो जाते हैं, क्या वे स्वप्न में भी किसी सङ्कट में पड़ सकते हैं ? ॥ २ ॥

मरमबचन जब सीता बोला । हरिप्रेरित लछिमनमन डोला ॥
बन-दिसि-देव सौंपि सब काहू । चले जहाँ रावन-ससि-राहू ॥३॥

फिर जब सीताजी ने मर्म के (कठोर) वचन कहे तब, भगवान् की प्रेरणा से, लक्ष्मणजी का भी चित्त चलायमान हो गया । वे सीताजी को वन तथा दिशाओं के देवतों को सौंप कर वहाँ चले जहाँ रावण-रूपी चन्द्रमा के लिए राहु-स्वरूप श्रीरामजी थे ॥ ३ ॥

सून बीच दसकंधर देखा । आवा निकट जती के बेखा ॥
जा के डर सुर असुर डेराहीं । निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं ॥४॥

इधर दशकंधर रावण इस बीच में सूना देखकर, संन्यासी का वेष धरकर, सीताजी के पास आया । जिसके डर से देव और दैत्य डरते हैं, न उन्हें रात में नींद आती है और न वे दिन में अन्न ही खाते हैं ॥ ४ ॥

सो दससीस स्वान की नाईं । इत उत चितइ चला भड़िहाईं ॥
इमि कुपंथ पग देत खगेसा । रह न तेज तन बुधिलवलेसा ॥५॥

सून बीच दसकंधर देखा।
आवा निकट जती के बेखा ॥ पृ० ६८६

वही रावण कुत्ते की नाईं इधर-उधर देखकर भरभराता हुआ (चोरी करने को) चला ! कागभुशुण्डजी कहते हैं कि हे गरुड़ ! इस तरह कुमार्ग में पैर रखते ही न तो शरीर में तेज रहता है, न नाम-मात्र को बुद्धि ही रहती है ! ॥ ५ ॥

नाना बिधि कहि कथा सुहाई। राजनीति भय प्रीति देखाई॥
कह सीता सुनु जती गोसाईं। बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं॥६॥

रावण ने सीताजी के पास आकर तरह तरह की सुहावनी कथायें कहीं। उनमें उसने राजनीति, डर और प्रेम दिखाया। तब सीताजी कहने लगीं कि हे यति ! गुसाईं ! सुनो, तुमने दुष्ट के समान वचन बोले हैं ! ॥ ६ ॥

तब रावन निज रूप देखावा। भई सभय जब नाम सुनावा॥
कह सीता धरि धीरजु गाढा। आइ गयउ प्रभु खल रहु ठाढा॥७॥

अब रावण ने अपना (असली) रूप दिखाया, और जब नाम सुनाया तब तो सीताजी डर गईं। सीताजी ने खूब ढाढ़स बाँधकर कहा—अरे दुष्ट ! खड़ा रह, स्वामी आ गये ! ॥ ७ ॥

जिमि हरिबधुहि छुद्र सस चाहा। भयसि कालबस निसिचरनाहा॥
सुनत बचन दससीस लजाना। मन महुँ चरन बंदि सुख माना॥८॥

जैसे सिंह की स्त्री को तुच्छ खरगोश चाहता है वैसे तू मुझे चाहता है ! अरे राक्षस-राज ! तू काल के वश हो रहा है ! सीताजी के वचन सुनते ही रावण शरमा गया, और मन ही मन उनके चरणों को नमस्कार कर उसने सुख माना ॥ ८ ॥

दो०—क्रोधवंत तब रावन लीन्हेसि रथ बैठाइ।
चला गगनपथ आतुर भय रथ हाँकि न जाइ॥२४॥

तब रावण ने क्रोध में भरकर सीताजी को रथ में बैठा लिया ! वह आतुर होकर आकाश-मार्ग से चला। मारे डर के उससे रथ नहीं हाँका जाता था ॥ २४ ॥

चौ०—हा जगदेकबीर रघुराया। केहि अपराध बिसारेहु दाया॥
आरतिहरन सरन-सुख-दायक। हा रघु-कुल-सरोज-दिन-नायक॥१॥

उस समय सीताजी विलाप करने लगीं—हाय ! जगत् के एक ही वीर, रघुराई ! हाय ! दुःख के मिटानेवाले ! शरण आनेवाले को सुख देनेवाले ! रघुकुलरूपी कमल के सूर्य ! आपने मेरे किस अपराध के लिए दया भुला दी ! (छोड़ दी) ॥ १ ॥

हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा। सो फल पायेउँ कीन्हेउँ रोसा॥
बिबिध बिलाप करति बैदेही। भूरिकृपा प्रभु दूरि सनेही॥२॥

हाय लक्ष्मण ! तुम्हारा कुछ दोष नहीं। जैसा मैंने क्रोध किया, वैसा ही फल पाया। जनकदुलारीजी विविध प्रकार से विलाप कर रही हैं। वे कहती हैं कि मुझ पर स्वामी की कृपा तो बहुत है, पर वे स्नेही इस समय दूर चले गये हैं ! ॥ २ ॥

बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा। पुरोडास चह रासभ खावा॥
सीता कै बिलाप सुनि भारी। भये चराचर जीव दुखारी॥३॥

हाय ! मेरी विपत्ति स्वामी को कौन सुनावेगा ? यज्ञ के भाग को गदहा खाना चाहता है ! इस तरह सीताजी का भारी विलाप सुनकर चराचर (स्थावर-जङ्गम) जीव सब दुखी हुए ॥ ३ ॥

गीधराज सुनि आरत बानी। रघु-कुल-तिलक-नारि पहिचानी॥
अधम निसाचर लीन्हे जाई। जिमि मलेछबस कपिला गाई॥४॥

गीधों के राजा जटायु ने सीताजी की दुखभरी वाणी सुनकर पहचान लिया कि ये रघुकुल-भूषण रामचन्द्रजी की स्त्री हैं। इन्हें नीच राक्षस इस तरह लिये जा रहा है जैसे कपिला गाय म्लेच्छ (क़साई) के वश में पड़ जाय ! ॥ ४ ॥

सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहउँ जातुधान कै नासा॥
धावा क्रोधवंत खग कैसे। छूटइ पबि पर्बत कहुँ जैसे॥५॥

जटायु ने कहा—हे सीते ! हे पुत्रि ! तू डर मत। मैं इस राक्षस का नाश कर दूँगा। इतना कहकर वह पक्षी क्रोधित हो ऐसा दौड़ा, जैसे पर्वत को तोड़ने के लिए वज्र गिरे ॥ ५ ॥

रे रे दुष्ट ठाढ किन होही। निर्भय चलेसि न जानेसि मोही॥
आवत देखि कृतांतसमाना। फिरि दसकंधर कर अनुमाना॥६॥

उसने रावण को ललकारा—अरे दुष्ट ! अरे दुष्ट ! तू खड़ा क्यों नहीं होता ? निडर होकर चला जा रहा है। तू मुझे नहीं जानता ? जटायु को यमराज के समान आते देखकर रावण लौटा और अनुमान करने लगा ॥ ६ ॥

की मैनाक कि खगपति होई। मम बल जान सहित पति सोई॥
जाना जरठ जटायू एहा। मम कर तीरथ छाडिहि देहा॥७॥

कि या तो यह मैनाक पर्वत है या गरुड़ है ? मेरे बल को तो वह भी अपने स्वामी (सहन्द्र, विष्णु) समेत जानता है ! ठीक है, जान लिया; यह तो बूढ़ा जटायु है। यह मेरे हाथ-रूपी तीर्थ में अपना शरीर छोड़ेगा अर्थात् मैं इसे अपने हाथों से मार डालूँगा ॥ ७ ॥

सुनत गीध क्रोधातुर धावा। कह सुनु रावन मोर सिखावा॥
तजि जानकिहि कुसल गृह जाहू। नाहि तअस होइहि बहुबाहू॥८॥

यह सुनते ही गीध जटायु क्रोध से व्याकुल होकर दौड़ा। वह कहने लगा—रावण! तुम मेरी सीख सुनो। तुम जानकी को छोड़कर कुशलपूर्वक घर चले जाओ, नहीं तो हे बहुत (बीस) भुजावाले! ऐसा होगा कि ॥ ८ ॥

राम-रोष-पावक अति घोरा। होइहि सलभ सकल कुल तोरा॥
उतरु न देत दसानन जोधा। तबहिं गीध धावा करि क्रोधा॥९॥

रामचन्द्रजी की अत्यन्त घोर क्रोधाग्नि में तेरा सारा कुल पतंग हो जायगा अर्थात् जलकर भस्म हो जायगा। पर वीर रावण ने इस बात का कुछ उत्तर न दिया, तब जटायु ने क्रोध में भरकर उस पर धावा किया॥ ९॥

धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा। सीतहिँ राखि गीध पुनि फिरा॥
चोचन मारि बिदारेसि देही। दंड एक भइ मुरुछा तेही॥१०॥

उसने बाल पकड़कर रावण को जो खींचा, तो वह रथ से जमीन पर गिर पड़ा। फिर गीध सीताजी को एक ओर रखकर लौटा। उसने चोंच मार मारकर रावण का शरीर फाड़ डाला, जिससे उसे एक घड़ी भर मूर्छा हो गई॥ १०॥

तब सक्रोध निसिचर खिसियाना। काढेसि परमकराल कृपाना॥
काटेसि पंख परा खग धरनी। सुमिरि राम करि अदभुत करनी॥११॥

तब तो राक्षस रावण खिसिया गया और क्रोध में भरकर उसने बहुत तेज तलवार निकाली। उससे उसने जटायु के पंख काट डाले। तब वह जटायु अद्भुत करनी करके रामचन्द्रजी का स्मरण कर, धरती पर गिर पड़ा!॥ ११॥

सीतहि जान चढाइ बहोरी। चला उताइल त्रास न थोरी॥
करति बिलाप जाति नभ सीता। ब्याधबिबस जनु मृगी सभीता॥१२॥

फिर रावण सीताजी को रथ में चढ़ाकर बड़ी जल्दी से चला। उसके जी में रामचन्द्रजी के लौटकर आ जाने का बड़ा डर था। सीताजी विलाप करती हुई आकाश में इस तरह चली जाती थीं, मानों कोई डरी हुई हरनी व्याधे के वश में पड़ गई हो॥ १२॥

गिरि पर बैठे कपिन्ह निहारी। कहि हरिनामु दीन्ह पट डारी॥
एहि बिधि सीतहि सो लेइ गयऊ। बन असोक महँ राखत भयऊ॥ १३॥

सीताजी ने जाते जाते एक पर्वत पर बन्दरों को बैठे देखकर, परमात्मा का हरि[1]

१—हरिनाम पर लोग कई बातें कहा करते हैं—(१) हरि नाम बन्दरों का है, उन्हें पुकार कर वस्त्र डाल दिया। (२) हरि नाम परमात्मा रामचन्द्रजी का है, रामनाम पति का नाम न लेकर सीताजी ने हरिनाम से कहा कि मैं उनकी स्त्री हूँ; तुम छुड़ा नहीं सकते, इसलिए ख़बर दे देना। (३) हरि का अर्थ है हरनेवाला, पृथ्वी के भार हरनेवाले मेरी पीड़ा को भी हरेंगे। पर बालि को मारकर

नाम कहकर, अपना वस्त्र डाल दिया। इस तरह रावण सीताजी को ले गया और उनको 'अशोक-वन'[1] में जाकर उसने रख दिया॥ १३॥

दो०—हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति देखाइ।
नव असोक पादप तर राखेसि जतनु कराइ॥३५॥

वह दुष्ट रावण सीताजी को बहुत तरह से भय और प्रेम दिखाते दिखाते थक गया। फिर उसने नये अशोक के पेड़ के नीचे उन्हें जतन (रहने की सुविधा) कराकर रख दिया॥ ३५॥

जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम।
सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम॥३६॥

श्रीरामचन्द्रजी जिस तरह उस कपट-मृग के पीछे दौड़े गये थे, उसी छवि को अपने हृदय में रखकर सीताजी हरि-नाम रटती हुई अशोक वन में रहने लगीं॥ ३६॥

चौ०—रघुपति अनुजहि आवत देखी। बाहिज चिंता कीन्हि बिसेखी॥
जनकसुता परिहरेहु अकेली। आयहु तात बचन मम पेली॥१॥

लक्ष्मण को आते देखकर रामचन्द्रजी बाहर से बड़ी भारी चिन्ता करने लगे। [illegible] कहा—हे तात! तुम मेरे वचन को टाल कर जानकी को अकेली छोड़कर आ गये?॥ १॥

निसि-चर-निकर फिरहिँ बन माहीँ। मम मन सीता आस्रम नाहीँ॥
गहि पदकमल अनुज कर जोरी। कहेउ नाथ कछु मोहि न खोरी॥२॥

वन में राक्षसों के झुंड फिरते हैं। मेरे मन में निश्चय होता है कि सीता आश्रम में नहीं है। लक्ष्मणजी ने रामचन्द्रजी के चरण-कमलों को पकड़, हाथ जोड़कर, कहा कि हे नाथ! इसमें मेरा कुछ दोष नहीं है॥ २॥

अनुजसमेत गये प्रभु तहवाँ। गोदावरितट आस्रम जहवाँ॥
आस्रम देखि जानकीहीना। भये बिकल जस प्राकृत दीना॥३॥

तुम्हारा भी दुख हरेंगे। (४) बन्दरों ने सीता-रावण को आकाश से जाते देख कर हरि-नाम उच्चारण किया, सीताजी ने उन्हें भक्त जानकर वस्त्र डाल दिया। इत्यादि।

१—इस अशोक वृक्ष के निवास पर भी कई बातें कही जाती हैं—अशोक के वृक्ष का प्रभाव है कि वह शोक मिटावे, इसलिए सीताजी को अशोक के नीचे रख दिया। या—सीताजी की तपश्चर्या में कोई विघ्न न हो, यह सोचकर एक पेड़ के नीचे उन्हें रख दिया। या—अशोक के नीचे रखकर सूचित किया कि आप सोच न करें, जल्दी ही रामचन्द्र आ जायँगे। या—महलों में रहने से अपना सब भेद खुल जायगा इसलिए एकान्त में रख दिया। इत्यादि।

फिर लक्ष्मण समेत प्रभु रामचन्द्रजी वहाँ गये, जहाँ गोदावरी नदी के तीर पर आश्रम था। वहाँ जाकर आश्रम को जानकीजी के बिना शून्य देखकर वे उसी तरह विकल हो गये जिस तरह प्राकृत मनुष्य दीन हो जाय ॥ ३ ॥

हा गुनखानि जानकी सीता। रूप-सील-ब्रत-नेम-पुनीता ॥
लछिमन समुझाये बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाती ॥४॥

रामचन्द्रजी विलाप कर कहने लगे कि हा! जानकी, सीता! तू गुणों की खान और रूप, शील, व्रत और नियमों से पवित्र है! लक्ष्मणजी ने प्रभु को तरह तरह से समझाया। फिर वे दोनों बेल, वृक्ष और पत्तियों से पूछते हुए चले—॥ ४ ॥

हे खग मृग हे मधुकरस्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुपनिकर कोकिला प्रबीना ॥५॥

हे पक्षियो, हे मृगो, हे भौंरों की श्रेणियो! क्या तुमने मृगनयनी सीता देखी[1] है? खंजन, तोता, कबूतर, मृग, मीन, भौंरों के समूह! हे चतुर कोयल! ॥ ५ ॥

कुंद कली दाडिम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी ॥
बरुनपास मनोजधनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥६॥

कुन्द की कली, अनार के दाने, बिजली, कमल, शरद् ऋतु के चन्द्रमा, नागिन, वरुण का पाश, कामदेव का धनुष, हंस, हाथी और सिंह ये सब उस समय, अपनी प्रशंसा सुनने लगे ॥ ६ ॥

श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥७॥

नारियल, सुवर्ण, केला सब प्रसन्न होते थे। उनके मन में तनिक भी शङ्का या सङ्कोच नहीं होता था। रामचन्द्रजी ने कहा—हे जानकी! सुन, आज तेरे बिना ये सब ऐसे प्रसन्न हैं मानों उन्हें राज्य मिल गया हो ॥ ७ ॥

१—यहाँ ५, ६ और ७ वीं चौपाइयों में जिन चीज़ों के नाम गिनाये हैं उनके नाम ले लेकर, उपमा देकर, सीताजी की बड़ाई होती थी जैसे—खंजननयनी, शुकनासिका, कपोतग्रीवा, मृगनयनी, मत्स्यसम चञ्चल-नेत्रा, भ्रमर समान केशोंवाली, कोयल के से कण्ठवाली, कुन्द-कली और अनार के समान दाँतोंवाली, बिजली के समान कान्तिवाली, कमलमुखी, शरच्चन्द्रवदनी, नागिन की सी चोटीवाली, वरुणपाश के समान गहरी नाभिवाली, कामदेव के धनुष के समान भौंहवाली, हंस-गामिनी, गज-गामिनी, सुवर्णवर्णा, नारियल के समान स्तनोंवाली इत्यादि। पर वे सभी अपनी तेज़ी नहीं दिखाते थे, क्योंकि सीताजी के अंगों ने उन सबको परास्त कर रक्खा था। आज दिन सीताजी के न होने से वे ही सब बड़ाई पानेवाले हो गये।

किमि सहि जात अनख तोहि पाहीँ । प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीँ ॥
एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी । मनहुँ महाबिरही अति कामी ॥८॥

हे सीते! तुमसे यह क्रोध कैसे सहा जाता है? हे प्रिये! तुम जल्दी प्रकट क्यों नहीं हो जातीं? स्वामी श्रीरामजी इस तरह सीताजी को खोजते और विलाप करते फिरते हैं, मानों कोई बड़ा कामी पुरुष महा-विरह से व्याकुल हो! ॥ ८ ॥

पूरनकाम राम सुखरासी । मनुजचरित कर अज अबिनासी ॥
आगे परा गीधपति देखा । सुमिरत रामचरन जिन्ह रेखा ॥९॥

रामचन्द्रजी तो पूर्णकाम (न कुछ किसी से लेना, न कुछ कमी हो) आनन्द के पुंज अजन्मा और अविनाशी हैं; किन्तु मनुष्य-चरित कर रहे हैं। चलते चलते उन्होंने आगे गीधों के राजा जटायु को पड़ा हुआ देखा, जो रामचन्द्रजी के रेखांकित चरणों को स्मरण कर रहा था ॥ ९ ॥

दो०—करसरोज सिरु परसेउ कृपासिन्धु रघुबीर ।
निरखि राम-छबि-धाम-मुख बिगति भई सब पीर ॥३७॥

कृपासागर रघुवीर ने अपने हस्त-कमल से जटायु के मस्तक का स्पर्श किया। छवि के धाम श्रीरामचन्द्रजी के मुख को देखते ही जटायु की सब पीड़ा दूर हो गई ॥ ३७ ॥

चौ०—तब कह गीध बचन धरि धीरा । सुनहु राम भंजन भवभीरा ॥
नाथ दसानन यह गति कीन्ही । तेहि खल जनकसुता हरि लीन्ही ॥१॥

तब वह गीध धीरज धरकर वचन बोला—हे संसार-भय के भंजन करनेवाले राम! सुनिए। हे नाथ! दशमुखवाले रावण ने मेरी यह गति (दुर्दशा) कर दी। वही दुष्ट जानकीजी को हर ले गया ॥ १ ॥

लेइ दच्छिन दिसि गयउ गोसाईँ । बिलपति अति कुररी की नाईँ ॥
दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना । चलन चहत अब कृपानिधाना ॥२॥

हे गुसाइं! वह उन्हें लेकर दक्षिण दिशा की ओर गया है। वे कुररी (टिटिहरी) के समान बहुत विलाप करती गई हैं। हे कृपानिधान! आपका दर्शन करने के लिए मैंने अब तक अपने प्राण रक्खे। अब वे चलना चाहते हैं ॥ २ ॥

राम कहा तनु राखहु ताता । मुख मुसुकाइ कही तेहि बाता ॥
जा कर नाम मरत मुख आवा । अधमउँ मुकुत होइ स्रुति गावा ॥३॥

रामचन्द्रजी ने कहा कि हे तात! आप शरीर रखिए (न छोड़िए)। तब जटायु ने मुस्करा कर यह बात कही—मरते समय जिसका नाम मुख से निकल आने से अधम मनुष्य भी मुक्त हो जाता है ऐसा श्रुतियों ने गाया है ॥ ३ ॥

सो मम लोचन गोचर आगे। राखउँ देह नाथ केहि लागे॥
जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई॥४॥

वे परमात्मा आप मेरे नेत्रों के सामने प्रत्यक्ष हैं, फिर हे नाथ! अब मैं किसके लिए शरीर रक्खूँ? तब तो रामचन्द्रजी आँखों में जल भर कर कहने लगे—हे तात! आपने अपने कर्म से सद्गति पाई है ॥ ४ ॥

परहित बस जिन्हके मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरनकामा॥५॥

जिनके मन में दूसरे का हित करना बसता है (जो परोपकारी हैं), उनको जगत् में कुछ भी दुर्लभ नहीं है। हे तात! तुम शरीर त्यागकर मेरे धाम (वैकुंठ) को जाओ। और मैं तुमको क्या दूँ? क्योंकि तुम पूर्णकाम (सब इच्छाओं से भरे हुए) हो ॥ ५ ॥

दो०—सीताहरन तात जनि कहेहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥३८॥

हे तात! आप सीता-हरण होने का समाचार पिताजी से जाकर मत कहना। जो मैं राम हूँ तो रावण ही कुल समेत वहाँ आकर कह देगा[1] (क्योंकि अभी खबर सुनकर उन्हें सोच होगा और रावण मरकर कहेगा तो उन्हें हर्ष होगा) ॥ ३८ ॥

चौ०—गीध देह तजि धरि हरिरूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा॥
स्याम गात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी॥१॥

गीध ने शरीर त्याग कर श्रीहरि का रूप धारण कर लिया। बहुत-से अनुपम भूषण और पीताम्बर पहने। श्याम शरीर, विशाल चार भुजायें, इस तरह की दिव्य देह को पाकर जटायु नेत्रों में जल भरे हुए रामचन्द्रजी की स्तुति करने लगा— ॥ १ ॥

छंद—जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुनप्रेरक सही।
दस-सीस-बाहु-प्रचंड-खंडन चंडसर मंडन मही॥
पाथोदगात सरोजमुख राजीव-आयत-लोचनं।
नित नौमि राम कृपाल बाहुबिसाल भव-भय-मोचनं॥

---

[1]—जटायु ने रावण से कहा था—राम-क्रोधाग्नि में तेरा कुल भस्म होगा—इसी प्रतिज्ञा को पूरा करना रामचन्द्रजी अपने ऊपर लेते हैं।

हे राम! आपकी जय हो। आपका रूप अनुपम है, आप निर्गुण, सगुण और गुणों के प्रेरक (शुद्ध सत्त्व-गुणी) हैं। आपके प्रचंड बाण रावण का प्रचण्ड भुजाओं के खण्डन करनेवाले पृथ्वी के भूषणरूप हैं। आपका मेघ-श्याम शरीर, कमल समान मुख और कमल जैसे विशाल नेत्र हैं। हे राम, कृपाल! मैं आपको नित्य नमस्कार करता हूँ। आप अपनी विशाल भुजाओं से संसार-सम्बन्धी भय को छुड़ानेवाले हैं॥

बलमप्रमेयमनादिमजमव्यक्तमेकमगोचरं ।
गोबिंद गोपद द्वंदहर बिज्ञानघन धरनीधरं ॥
जे राममंत्र जपंत संत अनंत जन-मन-रंजनं ।
नित नौमि राम अकामप्रिय कामादि-खल-दल-गंजनं॥

आपका अपरिमित बल है; आप अनादि, अजन्मा, अव्यक्त (उसको जिसको आपकी महिमा प्रकट न हो), एक और अगोचर (किसी को साक्षात् न होनेवाले) हो। आप गोविन्द (गोविन्द नामवाले, वा वेदों से जानने में आनेवाले), सुख-दुःख आदि द्वन्दों को गौ के पद के समान दूर करनेवाले, विज्ञानघन, पृथ्वी के पालक हैं। हे अनन्त! जो राम-मंत्र जपते हैं आप उन सज्जनों के मन को रञ्जन (प्रसन्न) करनेवाले हैं। हे राम! अकाम-प्रिय! (जो निष्काम भक्ति करते हैं उनके प्यारे) मैं आपको नित्य नमस्कार करता हूँ। आप कामक्रोधादि खलों के दल को नाश करनेवाले हैं॥

जेहि स्रुति निरंजन ब्रह्म ब्यापक बिरज अज कहि गावहीं ।
करि ध्यान ग्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं॥
सो प्रगट करुनाकंद सोभाबृंद अग जग मोहई ।
मम हृदय-पंकज-भृंग अंग अनंग बहु छबि सोहई ॥

जिसको श्रुतियाँ (वेद) निरञ्जन, ब्रह्म, व्यापक, शुद्ध और अज प्रतिपादन करती हैं; अनेक मुनि जिसका ध्यान धरकर और ज्ञान, वैराग्य, योग आदि करके जिसको पाते हैं, वे ही परमात्मा करुणाकन्द, शोभा के धाम प्रत्यक्ष प्रकट होकर चराचर को मोहित कर रहे हैं। जिनके शरीर की छवि हजारों कामदेव से बढ़ कर शोभित है, वे रामचन्द्रजी मेरे हृदय-कमल के भँवर हों अर्थात् जैसे भँवर कमल में जा बैठता है और उसमें स्थिर हो जाता है, वैसे ही मेरे चित्त-रूपी कमल में राम-रूपी भँवरा स्थिर हो जाय॥

जो अगम सुगम सुभावनिर्मल असम सम-सीतल सदा ।
पस्यंति जं जोगी जतनु करि करत मन गो बस जदा ॥
सो राम रमानिवास संतत दासबस त्रि-भुवन-धनी ।
मम उर बसउ सो समन संसृति जासु कीरति पावनी ॥

जो अगम भी हैं, और सुगम भी; जिनका स्वभाव निर्मल है, जो विषम भी हैं और सम भी; जो सदा शीतल रहते हैं; जो योगी यत्न कर मन और इन्द्रियों को वश में करते हैं वे जिन्हें देखते हैं; वे राम, लक्ष्मीनिवास, त्रिभुवन के स्वामी सदा दास-जनों के वश में बने रहते हैं। वे ही संसार के ताप के शमन करनेवाले परमात्मा रामचन्द्र, जिनकी कीर्ति जगत् को पवित्र करनेवाली है, मेरे हृदय में बसो॥

दो०—अबिरल भगति माँगि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥३६॥

निश्चल भक्ति का वरदान माँगकर वह गीध (जटायु) हरि-धाम को चला गया। रामचन्द्रजी ने उसके शरीर की क्रिया (दश-गात्र विधि) यथायोग्य अपने हाथों से की॥ ३९॥

चौ०—कोमल चित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥
गीध अधम खग आमिषभोगी। गति दीन्ही जो जाँचत जोगी॥१॥

श्रीरघुनाथजी कोमल चित्तवाले और दीन जनों पर दया करनेवाले हैं और बिना कारण ही कृपालु हैं। देखिए, गीध नीच मांस-भक्षक पक्षी है, उसको उन्होंने वह गति दी जिसे योगी जन माँगते हैं॥ १॥

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिँ बिषयअनुरागी॥
पुनि सीतहिँ खोजत दोउ भाई। चले बिलोकत बन बहुताई॥२॥

शङ्करजी कहते हैं कि हे पार्वती! वे लोग अभागी हैं, जो श्रीहरि रामचन्द्रजी को छोड़ कर विषयों के प्रेमी होते हैं। फिर दोनों भाई सीताजी को खोजते हुए बहुत-से जङ्गलों को देखते हुए चले॥ २॥

संकुल लता बिटप घन कानन। बहु खग मृग तहँ गज पंचानन॥
आवत पंथ कबंध निपाता। तेहि सब कही साप कै बाता॥३॥

जहाँ अनेक बेलों और वृक्षों से भरे हुए घने वन थे, वहाँ बहुत पक्षी, मृग, हाथी और सिंह रहते थे। रामचन्द्रजी ने रास्ते से आते हुए कबन्ध नामक राक्षस को मार डाला। फिर उसने अपने शाप की सब बात रामचन्द्रजी से कही कि॥ ३॥

दुर्बासा मोहि दीन्ही सापा। प्रभुपद देखि मिटा सो पापा॥
सुनु गन्धर्ब कहउँ मैं तोही। मोहि न सुहाइ ब्रह्म-कुल-द्रोही॥४॥

मुझे दुर्वासा मुनि ने शाप[१] दिया था। वह पाप प्रभु के चरणों का दर्शन कर मिट

१—कबन्ध पूर्व जन्म में एक गन्धर्व था। एक बेर इन्द्र की सभा में इस गन्धर्व ने गान किया, उस पर दुर्वासा मुनि प्रसन्न नहीं हुए, तो उसने उन्हें अनभिज्ञ कहकर उनकी हँसी की; मुनि को क्रोध आया तो उन्होंने उसे शाप दिया कि जा, तू राक्षस हो जा। वह शाप से राक्षस होकर बहुत

गया। रामचन्द्रजी ने कहा—हे गन्धर्व ! सुन, मैं तुझसे कहता हूँ कि मुझे ब्रह्म-कुल का द्रोह करनेवाला नहीं अच्छा लगता ॥ ४ ॥

दो०—मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भू-सुर-सेव ।
मोहि समेत बिरंचि सिव बस ता के सब देव ॥४०॥

जो कोइ कपट को त्यागकर मन, वचन और कर्म से ब्राह्मणों की सेवा करता है, उसके वश में मुझ सहित ब्रह्मा, शिव और सब देवता हो जाते हैं ॥ ४० ॥

चौ०—सापत ताडत परुष कहंता । बिप्र पूज्य अस गावहिं संता ॥
पूजिय बिप्र सील-गुन-हीना । सूद्र न गुन-गन-ग्यान-प्रबीना ॥१॥

सन्त लोग ऐसा कहते हैं कि ब्राह्मण शाप दे, मारे, या कटु वचन कहे, तो भी वह पूज्य होता है। ब्राह्मण शील और गुणों से हीन हो, तो भी उसको पूजना चाहिए और शूद्र गुण-गण और ज्ञान में निपुण हो तो भी उसको नहीं पूजना चाहिए ॥ १ ॥

कहि निज धर्म ताहि समुझावा । निज-पद-प्रीति देखि मन भावा ॥
रघु-पति-चरन-कमल सिरु नाई । गयउ गगन आपनि गति पाई ॥२॥

रामचन्द्रजी ने अपना धर्म निरूपण करके उसे समझाया। अपने चरणों में उसकी प्रीति देखकर वह उनके मन में प्रिय लगा। वह रघुनाथजी के चरण-कमलों में सिर नवाकर अपनी गति पाकर (गन्धर्व होकर) आकाश में चला गया ॥ २ ॥

ताहि देइ गति रामु उदारा । सबरी के आस्रम पगु धारा ॥
सबरी देखि रामु गृह आये । मुनि के बचन समुझि जिय भाये ॥३॥

उदार रामचन्द्रजी उस कबन्ध को गति देकर चले तो उन्होंने शबरी[१] के आश्रम में पदार्पण किया। रामचन्द्रजी को घर आये देखकर उसने अपने जी में मुनि (मतङ्ग) के सुहावने वचनों (तुझे राम-दर्शन होगा) को समझ लिया अर्थात् स्मरण कर लिया ॥ ३ ॥

उपद्रव करने लगा, तो इन्द्र ने क्रोध से वज्र फेंक कर उसे मारा। उस वज्र से इसका मस्तक पेट के भीतर घुस गया, पर वह मरा नहीं; इसी से उसका नाम कबन्ध हो गया। फिर इन्द्र से भोजन-विषयक प्रार्थना करने पर इसको एक एक योजन की भुजायें कर दी गइ। उन्हीं भुजाओं के बीच जो कुछ मिल जाय, उसी को वह मार कर खाता था। राम-लक्ष्मण भी इसकी भुजाओं के बीच में फँस गये थे। अन्त में रामचन्द्रजी ने मारकर उसे सद्गति दे दी।

१—यह भीलनी थी और मतङ्ग ऋषि की सेवा किया करती थी। जब वे परमधाम जाने लगे तब इसने भी साथ जाने की इच्छा प्रकट की। मुनि उसे श्रीरामजी के दर्शन होने का आशीर्वाद देकर बिदा हो गये। शबरी वहीं रही। फिर दस हज़ार वर्ष के बाद उसे रामचन्द्रजी का दर्शन हुआ।

सरसिज-लोचन बाहुबिसाला। जटामुकुट सिर उर बनमाला॥
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥४॥

कमल के समान नेत्र, विशाल भुजायें, मस्तक पर जटाओं का मुकुट, वक्षःस्थल में वनमाला धारण किये, एक गौर, दूसरे श्याम, दोनों भाइयों को देखकर शबरी दौड़कर उनके चरणों में लिपट गई॥ ४॥

प्रेममगन मुख बचनु न आवा। पुनि पुनि पदसरोज सिरु नावा॥
सादर जल लेइ चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे॥५॥

वह प्रेम में मग्न हो गई। उसके मुँह से कुछ वचन न निकला। उसने बार बार दोनों के चरण-कमलों में सिर झुकाया। उसने जल लेकर आदर के साथ दोनों के चरण धोये, फिर सुन्दर आसन देकर उनको बैठाया॥ ५॥

दो०—कंद मूल फल सुरस अति दिये राम कहुँ आनि।
प्रेमसहित प्रभु खाये बारंबार बखानि॥४१॥

शबरी ने रामचन्द्रजी को बहुत ही स्वादिष्ट कन्द, मूल और फल लाकर दिये। प्रभु रामचन्द्रजी ने बार बार बड़ाई कर उन फलों को खाया[1]॥ ४१॥

चौ०—पानि जोरि आगे भइ ठाढो। प्रभुहिँ बिलोकि प्रीति उर बाढो॥
केहि बिधि अस्तुति करउँ तुम्हारो। अधम जाति मैं जडमति भारी॥१॥

शबरी हाथ जोड़कर रामचन्द्रजी के सन्मुख खड़ी हो गई। प्रभु को देखकर उसके हृदय में बड़ी प्रीति बढ़ो। वह बोली—हे नाथ! मैं आपकी स्तुति किस तरह करूँ? मैं अधम (नीच) जाति हूँ और मेरी भारी जड़ बुद्धि है॥ १॥

१—लोकोक्ति है कि शबरी ने रामचन्द्रजी को अपने जूठे बेर दिये। इस विषय की कविताएँ भी कई कवियों ने की हैं; किन्तु न तो रामचरितमानस में और न वाल्मीकीय रामायण में ही इसका उल्लेख पाया जाता है। वाल्मीकीय रामायण में तो इतना ही कहा है—"एवमुक्ता महाभागैस्तदाऽहं पुरुषर्षभ! मया तु सञ्चितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ!" ॥ १७॥ तवार्थे पुरुषव्याघ्र पंपायास्तीरसम्भवम्। एवमुक्तः स धर्मात्मा शबर्या शबरीमिदम्॥ १८॥ "अरण्य सर्ग ७४"। अध्यात्म-रामायण में भी "फलान्यमृतकल्पानि ददौ रामाय भक्तितः" इत्यादि कई स्थानों में यही वर्णन है कि शबरी ने आतिथ्य के लिए कन्द-मूल फल दिये। हाँ, पद्मपुराण में यह उल्लेख है—"फलानि च सुपक्वानि मूलानि मधुराणि च। स्वयमासाद्य माधुर्य परीक्ष्य परिभक्ष्य च॥ पश्चान्निवेदयामास राघवाभ्यां दृढ़व्रता। फलान्यासाद्य काकुत्स्थस्तस्यै मुक्तिं परां ददौ॥" इसका यह अर्थ नहीं जान पड़ता कि शबरी प्रत्येक फल को चख कर तब रामचन्द्रजी को देती थी। इसका तो यह अर्थ प्रतीत होता है कि वह जिस पेड़ के फल तोड़ती थी उनमें से दो-एक को चखकर देख लेती थी कि ये प्रभु को देने योग्य हैं या नहीं। भक्तमाल आदि के वर्णन की सङ्गति भी इस अर्थ से बैठ जाती है।

अधम तें अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥
कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥२॥

हे अघारि (पापों के नाश करनेवाले)! जो नीचों से नीच हैं, स्त्रियाँ उनसे भी नीच हैं; मैं उनमें भी मन्द-बुद्धि और गँवारी हूँ। रघुनाथजी ने कहा—हे भामिनि! तू मेरी बात सुन। मैं एक भक्ति का नाता मानता हूँ॥ २॥

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥३॥

जाति, पाँति, कुल और धर्म की बड़ाई, धन, फ़ौज, परिवार के लोग, गुण और चतुराई, ये सब होने पर भी भक्ति से रहित पुरुष कैसा मालूम होता है जैसे बिना पानी का बादल (घटाटोप-मात्र न किसी काम का, न किसी काज का)॥ ३॥

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथाप्रसंगा॥४॥

अब मैं तुझे नव प्रकार की भक्ति कहता हूँ, तू सावधान होकर उसे सुन और मन में रख। पहली भक्ति है सन्तों की संगति, दूसरी मेरी कथा के प्रसङ्गों में प्रीति होना॥ ४॥

दो०—गुरु-पद-पंकज-सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन करइ कपट तजि गान॥४२॥

तीसरी भक्ति है अभिमान को त्यागकर गुरु के चरण-कमलों की सेवा करना। चौथी है, कपट छोड़कर मेरे गुण-गणों का गान करना॥ ४२॥

चौ०—मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन धर्मा॥१॥

पाँचवीं भक्ति है भजन, जो वेदों में प्रकाशित है, मन्त्र का जप और मुझ पर दृढ़ विश्वास होना। छठी है, दम (इन्द्रियों का निग्रह), शील, बहुत कामों से वैराग्य और सदा सज्जनों के धर्म में तत्पर रहना॥ १॥

सातव सम मोहिमय जग देखा। मो तें संत अधिक करि लेखा॥
आठव जथालाभ-संतोषा। सपनेहु नहिं देखइ परदोषा॥२॥

सातवीं भक्ति है, समान-दृष्टि होकर जगत् को मुझसे व्याप्त (राममय) देखना, और सन्तों को मुझसे बढ़ कर गिनना। आठवीं भक्ति है, यथा-लाभ (बिना यत्न किये जो कुछ मिल जाय उस) से सन्तुष्ट रहना; स्वप्न में भी दूसरे के दोषों को न देखना॥ २॥

नवम सरल सब सन छलहीना । मम भरोस हिय हरष न दीना ॥
नव महुँ एकउ जिन्ह के होई । नारि पुरुष सचराचर कोई ॥३॥

नवीं भक्ति है, सरल स्वभाव से रहना, सबसे छल-रहित (शुद्ध-हृदय) होना, हृदय में मेरा भरोसा रखना, न किसी बात का हर्ष, न दीनता। इन नौ में से जिनके कोई एक भी हो, वह चराचर में चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष हो ॥ ३ ॥

सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे । सकल प्रकार भगति दृढ तोरे ॥
जोगि-बृंद-दुर्लभ-गति जोई । तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई ॥४॥

हे भामिनी ! मुझे वही अत्यन्त प्यारा है। तुझमें तो सब प्रकार से दृढ़ भक्ति है, इसलिए जो गति बड़े बड़े योगि-जनों को दुर्लभ है, वही आज तुझे सुलभ है ॥ ४ ॥

मम दरसनफल परम अनूपा । जीव पाव निज सहज सरूपा ॥
जनकसुता कै सुधि कहु भामिनि । जानहि कहु जो करि-बर-गामिनि ॥५॥

मेरे दर्शन का फल श्रेष्ठ और अनुपम है, उससे जीव अपने स्वाभाविक रूप (मोक्ष) को पा जाता है। हे गजगामिनि (हाथी की सी चालवाली), हे भामिनि ! जो जानती हो तो जनककुमारी की खबर बतलाओ ॥ ५ ॥

पंपासरहि जाहु रघुराई । तहँ होइहि सुग्रीवमिताई ॥
सो सब कहिहि देव रघुबीरा । जानतहू पूछहु मतिधीरा ॥६॥
बार बार प्रभुपद सिरु नाई । प्रेमसहित सब कथा सुनाई ॥७॥

शबरी ने कहा—हे रघुराई ! आप पंपा-सरोवर पर जाइए, वहाँ सुग्रीव से आपको मित्रता हो जायगी। हे देव ! हे रघुवीर ! सुग्रीव आपको सब कुछ कह देगा। हे धीरमति ! आप तो सब जानते हुए भी पूछते हैं ! ॥ ६ ॥ फिर शबरी ने बार बार प्रभुजी के चरणों में मस्तक नवाकर प्रेम सहित सब कथा (मतङ्ग मुनि से सुनी हुई भविष्य-कथा—रावण का वध, अयोध्या लौट कर राजतिलक पर्यन्त) सुनाई ॥ ७ ॥

छंद—कहि कथा सकल बिलोकि हरिमुख हृदय पदपंकज धरे ।
तजि जोगपावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिँ फिरे ॥
नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू ।
बिस्वास करि कह दास तुलसी रामपद अनुरागहू ॥

संपूर्ण कथा कहकर श्रीहरि के मुख को देख उनके चरणकमलों को उसने अपने हृदय में रख लिया। फिर योगाग्नि में शरीर को छोड़कर वह हरिचरणों में लीन हो गई,

वहाँ पहुँच गइ, जहाँ जाने पर कोइ लौटता नहीं[१]। तुलसीदासजी कहते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम नाना प्रकार के कर्म, अधर्म, शोकदायी बहुत-से मत सब छोड़ दो और विश्वास कर रामचन्द्रजी के चरणों में प्रेम करो ॥

दो०—जातिहीन अघ जनम महि मुकुत कीन्हि असि नारि ।
महा-मंद-मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि ॥४३॥

गुसाईंजी कहते हैं कि जिन रामचन्द्रजी ने नीच जाति को, पृथ्वी पर पापी[२] (भोल) वंश में उत्पन्न ऐसी स्त्री को भी मुक्त कर दिया, अरे महा-मूर्ख, मन ! तू ऐसे स्वामी को भुलाकर सुख चाहता है ? ॥ ४३ ॥

चौ०—चले राम त्यागा बन सोऊ । अ-तुलित-बल नरकेहरि दोऊ ॥
बिरही इव प्रभु करत बिषादा । कहत कथा अनेक संबादा ॥१॥

रामचन्द्रजी उस (मतङ्ग) वन को त्यागकर आगे चले। दोनों (श्रीराम और लक्ष्मण) अतुल बलशाली पुरुषों में सिंह समान हैं। प्रभु रामचन्द्रजी विरही मनुष्य के समान दुःख करते और अनेक कथाओं के संवाद कहते जाते हैं ॥ १ ॥

लछिमन देखु बिपिन कइ सोभा । देखत केहि कर मन नहिँ छोभा ॥
नारि सहित सब खग-मृग-बृंदा । मानहुँ मोरि करत हहिँ निंदा ॥२॥

रामचन्द्रजी ने कहा—लक्ष्मण ! वन की शोभा देखो। इसको देखते ही किसका चित्त क्षुभित नहीं होगा ? ये सारे पक्षी और मृगों के समूह अपनी अपनी स्त्रियों के साथ हैं। इससे ये मानों मेरी निन्दा कर रहे हैं ॥ २ ॥

हमहिँ देखि मृगनिकर पराहीँ । मृगी कहहिँ तुम्ह कहँ भय नाहीँ ॥
तुम्ह आनन्द करहु मृगजाये । कंचनमृग खोजन ए आये ॥३॥

हम दोनों को देखकर मृगों के झुंड भागते हैं, परन्तु मृगियाँ कहती हैं कि तुम्हें कुछ डर नहीं है। अरे ! तुम तो मृगों के जाये सच्चे मृग हो, तुम आनन्द करो। ये तो सोने का मृग ढूँढ़ने आये हैं ॥ ३ ॥

संग लाइ करिनी करि लेहीँ । मानहुँ मोहि सिखावन देहीँ ॥
सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय । भूप सुसेबित बस नहिँ लेखिय ॥४॥

१—गीता में कहा है—यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। अर्थात् जिस स्थान में पहुँच कर फिर नहीं लौटते वह मेरा श्रेष्ठ स्थान है।

२—वेन राजा महा-पापी था। ब्राह्मणों के कोध से वह मर गया। फिर सब मुनियों ने इकट्ठे होकर उसके शरीर को मथा तो काला डरावना एक मनुष्य निकला। उसको उन मुनियों ने जङ्गल में भेज दिया। यह निषाद (भील) हुआ। उसी वंश के सब भील हैं, ऐसी पुराणों में कथा है।

हाथी हथिनियों को साथ लगा लेते हैं, मानों वे मुझे शिक्षा देते हैं कि तुमने हमारी तरह सीता को साथ क्यों नहीं रक्खा ? अच्छी तरह चिंतन किये हुए भी शास्त्र को बार बार देखना चाहिए और भली भाँति सेवन किया हुआ (प्रसन्न) राजा अपने वश में है ऐसा नहीं समझना चाहिए ॥ ४ ॥

राखिय नारि जदपि उर माहीँ। जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीँ॥
देखउ तात बसंत सुहावा। प्रियाहीन मोहि भय उपजावा॥५॥

स्त्री को यद्यपि हृदय से लगा रक्खो, तो भी स्त्री, शास्त्र और राजा ये किसी के वश में नहीं होते। हे तात! देखो, यह वसन्त कैसा सुहावना लगता है, पर प्यारी के बिना मुझको भयङ्कर ही प्रतीत होता है ॥ ५ ॥

दो०—बिरहबिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्हि बगमेल॥४४॥

कामदेव ने मुझे विरह से व्याकुल, निर्बल और बिलकुल अकेला जान लिया है, इसलिए वन में भौंरे, पक्षी आदि सहायकों समेत उसने मुझ पर धावा कर दिया है ॥ ४४ ॥

देखि गयउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात।
डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब कटकु हटकि मनजात॥४५॥

उस कामदेव का दूत देख गया कि मैं भ्राता सहित हूँ (अकेला नहीं हूँ), मानों दूत की बात को सुनकर उसने रास्ता रोक कर अपनी सेना का पड़ाव डाल दिया है! ॥ ४५ ॥

चौ०—बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी॥
कदलि तालबर ध्वजा पताका। देखि न मोह धीर मन जाका॥१॥

विशाल वृक्षों में लतायें उलझ क्या रही हैं, मानों तरह तरह के तम्बू तान दिये गये हैं। केले और ताल के वृक्ष ही मानों ध्वजा-पताकायें हैं। इन्हें देखकर जिसका मन मोहित न हो, वह धीर है ॥ १ ॥

बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना॥
कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहाये। जनु भट बिलग बिलग होइ छाये॥२॥

अनेक वृक्ष नाना प्रकार से फूले हुए हैं, वे मानों बहुत तरह के वेष बनाये हुए बाण चलानेवाले हैं। कहीं कहीं सुन्दर वृक्ष सुशोभित हैं, वे मानों योद्धा लोग अलग अलग होकर छाये हैं ॥ २ ॥

कूजत पिक मानहुँ गज माते। ढेक महोख ऊँट बिसराते॥
मोर चकोर कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी॥३॥

वहाँ कोयल कूक रही हैं, वे ही मानों मदमाते हाथी बोल रहे हैं, ढेक (कुलंग पक्षी) और महोख (कौए के समान एक पक्षी) जो बोल रहे हैं वे मानों ऊँट और खच्चर बोल रहे हैं। मोर, चकोर और तोते ही मानों श्रेष्ठ घोड़े हैं, कबूतर और हंस ही मानों ताजी घोड़े हैं ॥ ३ ॥

तीतर लावक पद-चर-जूथा। बरनि न जाइ मनोजबरूथा ॥
रथ गिरिसिला दुंदुभी झरना। चातक बंदी गुनगन बरना ॥४॥

तीतर और लवा पक्षी ही मानों पैदलों के यूथ (झुंड) हैं। इस तरह कामदेव की सेना का वर्णन करते नहीं बनता। पहाड़ों की शिलायें मानों रथ हैं, झरने नगारे हैं और पपीहा बन्दी-जन हैं जो गुण-गण वर्णन कर रहे हैं ॥ ४ ॥

मधु-कर-मुखर भेरि सहनाई। त्रिबिध बयारि बसीठी आई ॥
चतुरंगिनि सेना सँग लीन्हे। बिचरत सबहिं चुनौती दीन्हे ॥५॥

भौंरों का गूँजना ही मानों इस सेना के नगारे और सहनाई बज रहे हैं। शीतल, मन्द, सुगन्ध तीनों प्रकार की हवा ही मानों दूत बनकर आई है। इस तरह कामदेव चतुरङ्गिनी सेना साथ लिये हुए सभी को चुनौती (ललकार) दिये हुए विचर रहा है ॥ ५ ॥

लछिमन देखत कामअनीका। रहहिं धीर तिन्ह के जग लीका ॥
एहि के एक परमबल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी ॥६॥

हे लक्ष्मण ! जो लोग कामदेव की सेना को देखकर धीर रक्खें, वे ही संसार में मान्य (गण्य) होंगे। इस कामदेव के एक परम बल स्त्री है। जो कोई उससे उबर जाय (बच जाय) वही भारी (उत्तम) योद्धा है ॥ ६ ॥

दो०—तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ ॥४६॥

हे तात ! तीन बड़े प्रबल दुष्ट हैं। एक काम, दूसरा क्रोध और तीसरा लोभ। विज्ञान के स्थान मुनियों के मन में ये तीनों निमेष (आँख बन्द कर खोलने) भर में क्षोभ (विकार) उत्पन्न कर देते हैं ॥ ४६ ॥

लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि ॥४७॥

मुनिवरों ने विचार कर कहा है कि लोभ का बल तो इच्छायें और दंभ (पाखण्ड) है, कामदेव का बल केवल स्त्री ही है, और क्रोध का बल कठोर वचन है ॥ ४७ ॥

चौ०—गुनातीत स-चराचर-स्वामी। रामु उमा सब अंतरजामी ॥
कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढाई ॥१॥

शिवजी कहते हैं कि हे उमा ! रामचन्द्रजी तो गुणातीत (सत्त्व, रज, तम गुणों से परे, शुद्ध सत्त्ववाले) और चराचर जगत् के स्वामी तथा सबके अन्तर्यामी हैं। उन्होंने इन उक्तियों से कामी पुरुषों को दीनता दिखलाई और धीरों के लिए वैराग्य को दृढ़ कर दिया ॥ १ ॥

क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिँ सकल राम की दाया ॥
सो नर इन्द्रजाल नहिँ भूला। जा पर होइ सो नट अनुकूला ॥२॥

क्रोध, कामदेव, लोभ, मद और माया ये सब रामचन्द्रजी की कृपा से छूट जाते हैं। वह मनुष्य इन्द्रजाल में अपने को नहीं भूलता, जिस पर वह नट (इन्द्रजाल करनेवाला) अनुकूल हो, अर्थात् जैसे इन्द्रजाल करनेवाला जिसे भुलाना चाहता है उसे भुला देता है, नहीं चाहे तो बचा देता है; इसी तरह जिन पर रामकृपा नहीं वे भूल में पड़ जाते हैं किन्तु जिन पर रामकृपा है वे काम-क्रोधादिकों के चक्र में नहीं फँसते ॥ २ ॥

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगतु सब सपना ॥
पुनि प्रभु गये सरोबर तीरा। पंपा नाम सुभग गम्भीरा ॥३॥

हे उमा ! मैं अपना अनुभव कहता हूँ कि हरि का भजन तो सच्चा और जगत् सब स्वप्न है। अर्थात् जैसे स्वप्न में कोई अपने ऊपर शत्रु का धावा, या अपना मस्तक कटा देखता है; फिर जागने पर वह भय मिट जाता है, वैसे ही हरि-भजन में चित्त लगाने से कामादि सब विकार स्वप्न जैसे विलीन हो जाते हैं। फिर रामचन्द्रजी पंपा नाम के श्रेष्ठ और गहरे सरोवर के किनारे गये ॥ ३ ॥

संतहृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी ॥
जहँ तहँ पियहिं बिबिध मृग नीरा। जनु उदारगृह जाचकभीरा ॥४॥

उस सरोवर में सन्तों के हृदय जैसा निर्मल जल भरा था। उसके चारों ओर मनोहर घाट बँधे हुए थे। जहाँ तहाँ तरह तरह के मृग (पशु) जल पी रहे थे। वे ऐसे मालूम होते थे, मानों किसी उदार (दाता) पुरुष के घर माँगनेवालों की भीड़ लगी हो ॥ ४ ॥

दो०—पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइय मर्म।
मायाछन्न न देखिये जैसे निर्गुन ब्रह्म ॥४८॥

उसमें कुमुदिनी सघन छाई हुई थी। उसकी ओट में जल छिपा रहने के कारण जल्दी उसका मर्म नहीं मिलता था। अर्थात् दूर से कुमुदिनी ही दीखती थी, जल नहीं। यह जल कैसे छिपा था जैसे माया से ढका हुआ मनुष्य निर्गुण ब्रह्म को नहीं देख सकता, अथवा माया से ढके हुए निर्गुण ब्रह्म को कोई नहीं देख सकता ॥ ४८ ॥

सुखी मीन सब एकरस अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्मसीलन्ह के दिन सुखसंजुत जाहिं ॥४९॥

उस सरोवर के बड़े गहरे जल में मछलियाँ एक रस ऐसी सुखी रहती थीं, जैसे धर्म-शील पुरुषों के दिन सुख-पूर्वक जाते हैं, अर्थात् धर्मात्मा मनुष्यों के समान मछलियाँ सदा सुखी रहती थीं ॥ ४९ ॥

चौ०—बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा॥
बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥१॥

उसमें रंग-बिरंगे कमल खिल रहे थे, भौंरे बहुत मीठी आवाज़ से गूँज रहे थे, जल-मुर्ग़ और हंस बोलते हुए ऐसे मालूम होते थे मानों वे प्रभु रामचन्द्रजी को देखकर उनकी प्रशंसा कर रहे हों ॥ १ ॥

चक्रवाक-बक-खग-समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिं जाई॥
सुंदर खग-गन-गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥२॥

चकवा-चकवी, बगुले आदि पक्षियों के समूह की शोभा देखते ही बनती थी। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उन पक्षियों की बोली ऐसी सुन्दर सुहावनी लगती थी, मानों वे रास्ते से जाते हुए मुसाफ़िरों को विश्राम के लिए बुला लेते हों ॥ २ ॥

तालसमीप मुनिन्ह गृह छाये। चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाये॥
चंपक बकुल कदंब तमाला। पाटल पनस परास रसाला॥३॥

उस तालाब (पंपा-सरोवर) के पास मुनियों के घर (कुटियाँ) थे। चारों दिशाओं में जङ्गल और वृक्ष सुशोभित थे। चम्पा, मौलसिरी, कदम्ब, तमाल, पाढ़ल, कटहल, पलास और आम ॥ ३ ॥

नवपल्लव कुसुमित तरु नाना। चंचरीकपटली कर गाना॥
सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ मनोहर बाऊ॥४॥
कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥५॥

और भी अनेक प्रकार के वृक्ष नये पत्तों और फूलों से युक्त हो रहे थे। भौंरों के झुंड गान कर रहे थे। वहाँ सदा स्वाभाविक शीतल मन्द, सुगन्ध और मनोहर वायु चलती थी ॥ ४ ॥ कोयल कुहू कुहू की ध्वनि कर रही थीं। उस रसीली आवाज़ को सुनकर मुनिजनों के ध्यान छूट जाते थे ॥ ५ ॥

दो०—फल भर नम्र बिटप सब रहे भूमि नियराइ।
परउपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ॥५०॥

जैसे परोपकारी पुरुष सुन्दर सम्पत्ति पाकर नमते हैं, वैसे ही वहाँ के सब वृक्ष फलों के भार से नमे हुए ज़मीन तक झुक गये थे ॥ ५० ॥

चौ०—देखि राम अति रुचिर तलावा। मज्जनु कीन्ह परमसुख पावा॥
देखी सुंदर तरु बर छाया। बैठे अनुजसहित रघुराया॥१॥

रामचन्द्रजी ने अति सुन्दर तालाब देखकर उसमें स्नान किया और बड़ा आनन्द पाया। फिर सुन्दर श्रेष्ठ वृक्ष की छाया देखकर वहाँ लक्ष्मणजी समेत वे बैठ गये॥ १॥

तहँ पुनि सकल देव मुनि आये। अस्तुति करि निजधाम सिधाये॥
बैठे परमप्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला॥२॥

फिर वहाँ सब देवता और मुनि आये। वे रामचन्द्रजी की स्तुति कर अपने अपने स्थानों को चले गये। कृपालु रामचन्द्रजी परम प्रसन्न होकर बैठे हुए लक्ष्मणजी से सुन्दर कथायें कहने लगे॥ २॥

बिरहवंत भगवंतहिँ देखी। नारदमन भा सोच बिसेखी॥
मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुखभारा॥३॥

भगवान् रामचन्द्रजी को विरही देखकर नारदजी के मन में विशेष सोच हुआ। उन्होंने सोचा कि रामचन्द्रजी मेरे शाप[1] को अङ्गीकार कर अनेक प्रकार के दुःखों के भार को सहते हैं॥ ३॥

ऐसे प्रभुहि बिलोकउँ जाई। पुनि न बनिहि अस अवसरु आई॥
यह बिचारि नारद कर बीना। गये जहाँ प्रभु सुखआसीना॥४॥

मैं ऐसे प्रभु को जाकर देखूँ, फिर ऐसा अवसर कभी न मिलेगा। नारदजी यह विचार कर हाथ में वीणा लिये हुए वहाँ गये, जहाँ प्रभु रामचन्द्रजी सुखपूर्वक बैठे थे॥ ४॥

गावत रामचरित मृदुबानी। प्रेमसहित बहु भाँति बखानी॥
करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥५॥
स्वागत पूछि निकट बैठारे। लछिमन सादर चरन पखारे॥६॥

नारदजी कोमल वाणी से बड़े प्रेम के साथ बड़ी प्रशंसा करते हुए रामचरित्र गाते जाते थे। नारदजी रामचन्द्रजी को दण्डवत् करने लगे तो प्रभु रामचन्द्रजी ने उन्हें उठा लिया और उनको बड़ी देर छाती से लगा रक्खा॥ ५॥ रामचन्द्रजी ने स्वागत समाचार पूछकर उन्हें समीप बैठा लिया और लक्ष्मणजी ने आदरपूर्वक नारदजी के चरण धोये॥ ६॥

१—देखिए बालकाण्ड १६४ से १६५ वें दोहे की चारों चौपाइयाँ और दोहा।

दो०—नाना बिधि बिनती करि प्रभु प्रसन्न जिय जानि ।
नारद बोले बचन तब जोरि सरोरुहपानि ॥५१॥

तब नारदजी अपने जी में प्रभु रामचन्द्रजी को प्रसन्न जानकर, हस्त-कमल जोड़ कर, अनेक प्रकार की स्तुति कर वचन बोले— ॥ ५१ ॥

चौ०—सुनहु परम उदार रघुनायक । सुंदर अगम सुगम बरदायक ॥
देहु एक बरु माँगउँ स्वामी । जद्यपि जानत अंतरजामी ॥१॥

हे परम उदार रघुनायक ! आप सुन्दर, अगम (प्राप्त होने में दुर्लभ), सुगम (भक्तों को सुलभ) वरदायक हैं, सुनिए । हे स्वामी ! यद्यपि आप अन्तर्यामी हैं, सब जानते हैं, तथापि मैं एक वर माँगता हूँ वह दीजिए ॥ १ ॥

जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ । जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ ॥
कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी । जो मुनिबर न सकहु तुम्ह माँगी ॥२॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनि ! तुम मेरा स्वभाव जानते हो, क्या मैं कभी भक्तों से कोई छिपाव करता हूँ ? हे मुनिवर ! मुझे ऐसी कौन सी प्यारी लगनेवाली चीज है जिसे तुम नहीं माँग सकते ॥ २ ॥

जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरे । अस बिस्वास तजहु जनि भोरे ॥
तब नारद बोले हरषाई । अस बर माँगउँ करउँ ढिठाई ॥३॥

मुझे भक्तों के लिए कुछ भी अदेय (न देने योग्य) नहीं है । ऐसा विश्वास भूल कर भी मत छोड़ो । तब नारदजी प्रसन्न होकर बोले—मैं ढिठाई कर ऐसा वरदान माँगता हूँ कि ॥ ३ ॥

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका । स्तुति कह अधिक एक तें एका ॥
राम सकल नामन्ह तें अधिका । होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका ॥४॥

यद्यपि प्रभु के अनेक नाम हैं, वेद उनको एक दूसरे से बढ़ कर बताता है; तथापि हे नाथ ! पाप-रूपी पक्षिगण के वधिक ! राम नाम सब नामों से बढ़कर होवे ॥ ४ ॥

दो०—राकारजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम ।
अपर नाम उडुगन बिमल बसहु भगत-उर-ब्योम ॥५२॥

आपकी भक्तिरूपीपूर्णिमा की रात्रि में राम-नाम-रूपी चन्द्रमा, दूसरे नाम-रूपी नक्षत्र-गण-समेत, भक्तों के हृदय-रूपी आकाश में निवास करे ॥ ५२ ॥

एवमस्तु मुनि सन कहेउ कृपासिंधु रघुनाथ ।
तब नारद मन हरष अति प्रभुपद नायेउ माथ ॥५३॥

कृपासागर रघुनाथजी ने मुनि से एवमस्तु (ऐसा हो हो) कहा। तब नारदजी ने मन में अत्यन्त हर्षित होकर प्रभु के चरणों में माथा नवाया॥ ५३॥

चौ०—अति प्रसन्न रघुनाथहि जानी। पुनि नारद बोले मृदुबानी॥
राम जबहि प्रेरेहु निज माया। मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया॥१॥

फिर नारदजी रघुनाथजी को अत्यन्त प्रसन्न जानकर कोमल वाणी से बोले—हे रघुराई! राम! सुनिए। जब आपने अपनी माया को प्रेरणा की और मुझे मोहित किया॥ १॥

तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा॥
सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥२॥

तब मैं अपना विवाह करना चाहता था सो प्रभु ने किस कारण न करने दिया? रामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनि! सुनो। मैं तुमसे प्रसन्नता के साथ कहता हूँ कि जो सबका विश्वास छोड़कर मुझे भजते हैं॥ २॥

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहिं राख महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरु गाई॥३॥

उनकी रक्षा मैं सदा इस तरह करता हूँ, जिस तरह माता बालक की रक्षा करे। जहाँ बालक या गौ का बच्छ आग या साँप को पकड़ लेता है, वहाँ माता और गाय दौड़कर उन्हें बचा लेती है॥ ३॥ ('अरगाई' पाठ मानने से यह अर्थ होगा कि माता छोटे से बच्चे को आग और साँप को पकड़ते देखते ही दौड़कर बालक को पकड़ लेती है—रोक लेती है।)

प्रौढ़ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहि पाछिल बाता॥
मोरे प्रौढ़-तनय-सम ग्यानी। बालक सुतसम दास अमानी॥४॥

उसी बालक के प्रौढ़ हो जाने पर माता या गाय प्रीति करती अवश्य है; किन्तु पिछली बात नहीं रह जाती, (क्योंकि फिर वे स्वयं बच सकते हैं)। ज्ञानवान् भक्त मेरे प्रौढ़ पुत्र के समान हैं, मानरहित भक्त छोटे बालक के समान हैं। (ज्ञानवान् ज्ञानबल से बच जाते हैं, पर अज्ञानियों की रक्षा मुझे करनी होती है)॥ ४॥

जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायेहु ग्यान भगति नहिं तजहीं॥५॥

भक्त को मेरा बल है और ज्ञानी को निज-बल है किन्तु काम और क्रोध दोनों के शत्रु हैं। यही विचार कर पण्डित (भले-बुरे को विचारने की बुद्धिवाले) मुझे भजते हैं। वे ज्ञान पाकर भी भक्ति को नहीं छोड़ते॥ ५॥

दो०—काम-क्रोध-लोभादि-मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥५४॥

काम, क्रोध, लोभ, मद आदि प्रबल मोह की धारायें हैं। उनमें अत्यन्त कठिन दुःख देनेवाली माया-रूपिणी स्त्री है॥ ५४॥

चौ०—सुनु मुनि कह पुरान स्रुति संता। मोहबिपिन कहुँ नारि-बसंता॥
जप तप नेम जलास्रय झारी। होइ ग्रीषम सोखइ सब नारी॥१॥

हे मुनि! सुनो। पुराण, वेद और संत कहते हैं कि मोहरूपी वन में स्त्री वसन्त ऋतु है। वही ग्रीष्म ऋतु होकर जप, तप, नियम आदि सब जलाशयों (पानी के आधार कुएँ तालाब आदि) को सोख लेती है॥ १॥

काम क्रोध मद मत्सर भेका। इनहि हरषप्रद बरषा एका॥
दुर्बासना कुमुदसमुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥२॥

वही स्त्री वर्षा-ऋतु-रूपिणी होकर काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि मेढकों के लिए सुख देनेवाली हो जाती है और दुष्ट वासना-रूपी कुमुदिनियों के समूह को सदा सुख देनेवाली शरद्-ऋतु-रूपिणी हो जाती है॥ २॥

धर्म सकल सरसी-रुह-बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मंदा॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिररितु पाई॥३॥

मन्द (थोड़ा) सुख देनेवाली स्त्री हेमन्त ऋतु-रूपिणी होकर समस्त धर्मरूपी कमलों के समूहों को पाला होकर मार डालती है। फिर शिशिर ऋतु होकर वह ममता-रूपी जवासे को खूब हरा-भरा कर देती है॥ ३॥

पाप उलूकनिकर सुखकारी। नारि निबिड रजनी अँधियारी॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बंसी सम त्रिय कहहिँ प्रबीना॥४॥

स्त्री-रूपिणी घोर अँधेरी रात पापरूपी उल्लुओं के समूह को सुख देनेवाली होती है और बुद्धि, बल, शील तथा सत्य इन मछलियों के लिए स्त्री बंसी (पानी में डाला जानेवाला काँटा जिसमें मछलियाँ फँस कर मर जाती हैं) रूपिणी हो जाती है। ऐसा चतुर लोग कहते हैं॥ ४॥

दो०—अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि।
ता तें कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि॥५५॥

इस तरह युवती अवगुणों (दोषों) की जड़, शूल (पीड़ा) देनेवाली और सब दुःखों की खान है। हे मुनि नारद! यह सब जी में समझ कर मैंने तुमको उससे निवृत्त किया अर्थात् विवाह नहीं करने दिया॥ ५५॥

चौ०—सुनि रघुपति के बचन सुहाये। मुनितन पुलक नयन भरि आये॥
कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती॥१॥

श्रीरामचन्द्रजी के सुहावने वचन सुनकर नारद मुनि का शरीर पुलकित हो गया, नेत्रों में आँसू भर आये। कहिए, ऐसी रीति कौन से स्वामी की होती है? सेवक पर ऐसी ममता और प्रीति किस की होती है? ॥ १ ॥

जे न भजहि अस प्रभु भ्रम त्यागी। ग्यानरंक नर मंद अभागी॥
पुनि सादर बोले मुनि नारद। सुनहु राम बिग्यान बिसारद॥२॥

जो लोग भ्रम को छोड़कर ऐसे प्रभु का भजन न करें, वे मनुष्य ज्ञान के दरिद्री, मूर्ख और अभागे हैं। फिर नारदजी बड़े आदर के साथ बोले—हे विज्ञान-विशारद राम! सुनिए॥ २॥

संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भंजन भवभीरा॥
सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह तें मैं उन्ह के बस रहऊँ॥३॥

हे रघुवीर! संसार-भय के निवृत्त करनेवाले नाथ! आप सन्तों के लक्षण कहिए। रामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनि! सुनो, अब मैं सन्तों के वे लक्षण कहता हूँ, जिनसे मैं उन (सन्तों) के वश में रहता हूँ॥ ३॥

षटु बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित बोध अनीह मितभोगी। सत्यसंध कबि कोविद जोगी॥४॥
सावधान मानद मदहीना। धीर भगतिपथ परम प्रबीना॥५॥

उन्होंने छः विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) को जीत लिया है; वे पापरहित हैं; जो अकाम (किसी बात की इच्छा न करनेवाले, निःस्पृह), अचल (भगवद्भक्ति में निश्चल), अकिंचन (जिनके पास फूटी कौड़ी का भी संग्रह न हो), पवित्र और सुख के स्थान (जिनके पास आनेवाला उपदेश-द्वारा सुखी हो जाय) हैं; उनका अपार ज्ञान है; वे तृष्णारहित और मितभोगी (आहार-विहारादि सभी चेष्टा थोड़ी करनेवाले), सत्य-प्रतिज्ञावाले, विद्वान्, चतुर और योगी हैं॥ ४॥ वे सावधान (अपने कर्तव्य में तत्पर), सबको मान देनेवाले, निरभिमानी, धीर, और भक्ति-मार्ग में अत्यन्त ही निपुण हैं॥ ५॥

दो०—गुनागार संसार - दुख - रहित बिगतसंदेह।
तजि मम चरनसरोज प्रिय जिन्ह कहुँ देह न गेह॥५६॥

वे गुणों के स्थान संसार-सम्बन्धी दुःखों से रहित और सन्देह-रहित हैं, उनको मेरे चरण-कमलों को छोड़कर अपना शरीर या घर प्यारा नहीं है॥ ५६॥

चौ०—निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहि त्यागहिँ नीती। सरल सुभाव सबहिँ सन प्रीती॥१॥

वे अपने गुणों को कानों से सुनने में सकुचाते हैं, दूसरे के गुणों को सुनकर बहुत प्रसन्न होते हैं; वे समदृष्टि और शीतल रहते हैं, नीति का त्याग नहीं करते एवं उनका सीधा स्वभाव है, सभी से उनका प्रेम है ॥ १ ॥

जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु-गोबिंद-बिप्र-पद-प्रेमा॥
स्रद्धा छमा मइत्री दाया। मुदिता मम पदप्रीति अमाया॥२॥

जप, तपस्या, व्रत, जितेन्द्रियता, संयम और नियम उनमें हैं और उनका प्रेम गुरु, गोविन्द भगवान् तथा ब्राह्मणों के चरणों में है; उनमें श्रद्धा (गुरु, वेद, शास्त्र के वचनों में आस्तिक-बुद्धि से विश्वास), क्षमा, मित्रता, दया, प्रसन्नता तथा मेरे चरणों में प्रेम है और वे माया-रहित (बनावटी बातों के बनाने की आदत न होना) हैं ॥ २ ॥

बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेदपुराना॥
दंभ मान मद करहिँ न काऊ। भूलि न देहिँ कुमारग पाऊ॥३॥

उनको वैराग्य, विवेक, नम्रता, विज्ञान (संशय मिटाने की शक्ति) और वेद पुराणों का यथार्थ ज्ञान है; वे कभी दंभ (पाखण्ड), अभिमान और मद नहीं करते; वे भूल कर भी कुमार्ग में पाँव नहीं रखते ॥ ३ ॥

गावहिं सुनहिँ सदा मम लीला। हेतुरहित पर-हित-रत-सीला॥
सुनु मुनि साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिँ सारद स्रुति तेते॥४॥

वे सदा मेरी लीलाओं को गाते और सुनाते हैं; वे बिना कारण ही दूसरे का हित करने के स्वभाववाले होते हैं। हे मुनि! सुनो। साधुओं के जितने गुण हैं उन गुणों को सरस्वती और वेद भी पूरा नहीं कह सकते ॥ ४ ॥

छंद—कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पदपंकज गहे।
अस दीनबंधु कृपाल पालक भगतगुन निज मुख कहे॥
सिरु नाइ बारहिँ बार चरनन्हि ब्रह्मपुर नारद गये।
ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरिरँग रये॥

साधुओं के गुणों को सरस्वती और शेषजी भी नहीं कह सकते। नारदजी ने ऐसा सुनकर रामचन्द्रजी के चरण पकड़ लिये दीनबंधु, कृपासिंधु, पालन करनेवाले रघुनाथजी ने इस तरह भक्तों के गुण अपने श्रीमुख से वर्णन किये नारदजी बार बार चरणों में मस्तक नवाकर ब्रह्मलोक को चले गये। तुलसीदासजी कहते हैं कि वे धन्य हैं, जो इस तरह सब कुछ छोड़कर हरि (रामचन्द्रजी) के रंग में रंग गये ॥

दो०—रावनारिजस पावन गावहिँ सुनहिँ जे लोग।
रामभगति दृढ़ पावहिँ बिनु बिराग जप जोग॥५७॥

रावण के शत्रु श्रीरामचन्द्रजी के पावन (शुद्ध करनेवाले) यश को जो लोग गाते और सुनते हैं, वे बिना ही वैराग्य, जप और योगाभ्यास किये श्रीरामचन्द्रजी में दृढ़ भक्ति पा जाते हैं ॥ ५७ ॥

दीप-सिखा-सम जुवतिजन मन जनि होसि पतंग ।
भजहि राम तजि कामु मदु करहि सदा सतसंग ॥५८॥

स्त्री-समूह दीपक की लौ के समान है, हे मन ! तू उस लौ का पतङ्ग (पतिङ्गा) मत हो। तू काम और मद को छोड़कर रामचन्द्रजी का भजन कर और सदा सत्सङ्ग कर ॥ ५८ ॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विमलवैराग्यसम्पादनो नाम तृतीयः सोपानः समाप्तः ॥

कलियुग के सम्पूर्ण दोषों के विनाशक श्रीरामचरितमानस में विमल-वैराग्य-सम्पादन नामवाला यह तीसरा सोपान समाप्त हुआ।

—:o:—
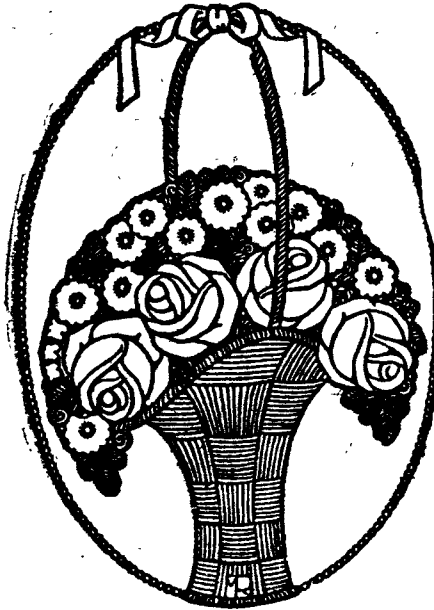
श्रीगणेशाय नमः

चतुर्थ सोपान

(किष्किन्धाकाण्ड)

श्लोकौ

कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिबलौ विज्ञानधामावुभौ
शोभाढ्यौ वरधन्विनौ श्रुतिनुतौ गोविप्रवृन्दप्रियौ ।
मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्म्मवर्म्मौ हितौ
सीतान्वेषणतत्परौ पथि गतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः ॥१॥

कुन्द और इन्दीवर (नीलकमल) के समान सुन्दर, अतिबलयुक्त, विज्ञान से पूर्ण, शोभा-सम्पन्न, धनुर्विद्या के उत्तम ज्ञाता, वेदों से स्तूयमान, गौओं और ब्राह्मणों के समूह को प्रिय, माया से मनुष्यतनु-धारी, सद्धर्म के रक्षक, हितकारी, सीता के अनुसंधान में तत्पर, मार्ग में विचरते हुए, वे दोनों रघुवर अर्थात राम और लक्ष्मण हमारे लिए निश्चय से अधिक भक्ति के देनेवाले हों ॥ १ ॥

ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरं संशोभितं सर्वदा ।
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ॥२॥

वे कृती (पुण्यवान् या कुशल) धन्य हैं, जो वेदरूपी समुद्र से निकले हुए, कलिमल को सर्वथा दूर करनेवाले, अविनाशी, श्रीमहादेवजी के मुखचन्द्र से अतिशोभायुक्त, सब काल में सब प्रकार से शोभासम्पन्न, संसाररूपी रोग के औषध, सुख देनेवाले, श्रीजानकीजी के प्राणाधार श्रीरामचन्द्रजी के नामामृत को निरन्तर पान करते हैं ॥ २ ॥

सो०—मुक्तिजनम महि जानि ग्यानखानि अघहानिकर।
जहँ बस संभुभवानि सो कासी सेइय कस न ॥१॥

तुलसीदासजी कहते हैं—जहाँ की भूमि मुक्तिजन्म है (अर्थात् जो मुक्ति की देनेवाली है, जहाँ मरने से मुक्ति हो जाती है, और जहाँ बसने से मुक्ति होती है, जिसका नाम लेने से भी मुक्ति हो जाती है), इस बात को सभी जानते हैं, जो ज्ञान की खान और पापों को नाश करनेवाली है, तथा जहाँ महादेवजी और पार्वतीजी निवास करते हैं, उस काशी (पुरी) का सेवन कैसे न करना चाहिए? अर्थात् अवश्य ही काशीवासी होना चाहिए ॥ १ ॥

जरत सकल सुरबृन्द विषमगरल जेहि पान किय।
तेहि न भजसि मतिमंद को कृपाल संकरसरिस ॥२॥

जिन्होंने सम्पूर्ण देव-गणों को जलते देख विषम (घोर) हालाहल विष का पान कर लिया[1] हे मन्द-बुद्धि! तू उन्हें क्यों नहीं भजता? उन शङ्करजी के समान दयालु दूसरा कौन है[2]? ॥२॥

चौ०—आगे चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक पर्बत नियराया ॥
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवाँ। आवत देखि अ-तुल-बल-सीवाँ ॥१॥

रघुराई रामचन्द्रजी उस पम्पा-सरोवर से फिर आगे[3] चले और ऋष्यमूक पर्वत के

१—पुराणों में कथा है—सृष्टि के आरम्भ में देवता और दैत्य आपस में लड़े। दैत्यों से घबरा कर देवता विष्णु की शरण गये। उनकी सलाह से अमृत पैदा करना निश्चित कर दैत्यों से सन्धि कर सबने मिलकर मन्दराचल पर्वत की मथानी और शेषजी को रस्सी बना कर क्षीर-समुद्र मथा। उसमें से पहले हालाहल विष निकला। उससे सबका संहार होने लगा। तब सब देवताओं ने शङ्करजी की शरण में जा पुकारा। शिवजी ने समुद्र-तट पर जा कर उस विष को पी लिया।

२—इन दोनों सोरठों का दूसरा अर्थ भी बहुत लोग करते हैं—'मुक्ति जन्म' अर्थात् मोक्ष का देनेवाला 'महि' मकार को जान ले; ज्ञान का खान 'अघहानिक' पापों का मिटानेवाला 'र' रकार को जान ले; 'जहँ' जिस राम-नाम में शङ्कर-पार्वती निवास करते हैं; जो राम-नाम 'सोकाशी' शोकासी अर्थात् सोच को मिटा देनेवाला तलवार रूप है उस राम-नाम का क्यों न सेवन करना चाहिए? ॥१॥ सम्पूर्ण देवगणों को जलते देखकर घोर हालाहल विष को 'जेहि' जिस राम-नाम के प्रभाव से पान किया। अर्थात् शिवजी ने राम-नाम के सम्पुट में नीचे रकार ऊपर मकार के बीच में विष को पी लिया (इसी से वह विष कण्ठ में राम-नाम में के बीच में धरा रहा, पेट में नहीं गया और गले में उसने नित्य चिह्न कर दिया, जिससे महादेवजी का नाम नीलकण्ठ हुआ—"यच्चकार गले नील तच्च साधोर्विभूषणम्। भा० स्क० ८"।) हे मन्दबुद्धि! तू उन रामचन्द्रजी को क्यों नहीं भजता? और शङ्करजी के समान और किसके ऊपर वे दयालु हैं अर्थात् रामचन्द्रजी की पूर्ण दया शङ्करजी ही पर है ॥ २ ॥

३—यहाँ 'आगे चले' पर लोग कई तर्क करते हैं—आगे चले जैसे क्रमशः अयोध्या से चित्रकूट, वहाँ से पञ्चवटी आदि को चले थे वैसे ही आगे चले। या जब सीताजी भी थीं तब जैसे आप आगे चलते थे वैसे ही अब भी। या—आपका राज्य, माता-पिता, देश और सब भोग छूट जाने पर भी अब सीता भी गईं ऐसी अवस्था में भी आगे चले, पीछे नहीं हटे इत्यादि।

पास पहुँचे। वहाँ मन्त्रियों समेत सुग्रीव रहता था। उसने अतुल बल की सीमा रामचन्द्रजी को आते हुए देखकर ॥ १ ॥

अति सभीत कह सुनु हनुमाना। पुरुष-जुगल बल-रूप-निधाना ॥
धरि बटुरूप देखु तैं जाई। कहेसु जानि जिय सैन बुझाई ॥२॥

बहुत ही भयभीत होकर हनुमान्‌जी से कहा—हे हनुमान्, सुनो। ये दोनों पुरुष बल और रूप के स्थान[1] हैं। तुम बटु[2] (ब्रह्मचारी) का वेष धारण कर जाकर देखो। अपने जी में ठीक समझकर मुझे सैन से समझा कर कह देना ॥ २ ॥

पठये बालि होहिँ मन मैला। भागउँ तुरत तजउँ यह सैला ॥
बिप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ ॥३॥

जो इनको बाली ने भेजा है तो ज़रूर इनका मन मैला होगा, अर्थात् ये छली होंगे[3]। जो ऐसा हो तो मैं तुरन्त ही यह पर्वत छोड़कर भाग जाऊँ। कपि हनुमान्‌जी ब्राह्मण का रूप धारण कर वहाँ (रामचन्द्रजी के पास) गये और उन्हें माथा नवा कर[4] इस तरह पूछने लगे—॥ ३ ॥

को तुम्ह स्यामल-गौर-सरीरा। छत्रीरूप फिरहु बन बीरा ॥
कठिनभूमि कोमल-पद-गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी ॥४॥

हे श्यामसुन्दर और गौर शरीरवाले वीरो! तुम कौन हो जो क्षत्रिय के रूप में वन में फिर रहे हो? इन कोमल चरणों से कठोर भूमि (जङ्गली ज़मीन) पर चलनेवाले बने हो; हे स्वामी! किस कारण या उद्देश से आप वन में फिर रहे हैं? ॥ ४ ॥

१—सुग्रीव स्वयं डरा हुआ था इसलिए उन्हें वन में निडर आते देखकर चौंक पड़ा।
२—ब्रह्मचारी अवध्य और मङ्गलकारी माना जाता था, इसलिए हनुमान् को ब्रह्मचारी बनने को कहा।
३—इसका दूसरा अर्थ ऐसा करते हैं जो इन दोनों को बाली ने भेजा हो तो तू मनमैला (उदास) हो जाना, तो मैं समझ जाऊँगा। अथवा मन के मैले पापी बाली ने इन्हें भेजा होगा। अथवा—इन्हें बाली ने भेजा होगा, क्योंकि इन्हें देखते ही मेरा मन मैला—उदास—हो रहा है।
४—माथा नवा कर अर्थात् मस्तक नीचे को झुका कर जिसमें कोई पहचान न ले। या—लक्षणों से दूर से उन दोनों को ब्रह्मर्षि जानकर सिर नवाया, प्रणाम किया। या—बनावटी ब्रह्मचारी थे, असल में अपने को—वानर जानते हैं इसलिए वे क्षत्रिय हैं तो भी प्रणाम कर लिया। या—धर्मशास्त्र में मर्यादा है कि कोई वन वनान्तर वा तीर्थों में दीखे तो उसमें देवबुद्धि कर उसको नमना, तदनुसार उन दोनों को वन में देख देवता समझकर प्रणाम किया। या—इन्हें नरनारायण समझकर या कोई तेजस्वी समझकर प्रणाम किया। या—बड़े आदमी से बड़े आदमी वार्तालाप करते समय सिर नीचा कर लेते हैं, तदनुसार हनुमान्‌जी ने भी कर लिया। या—रघुनाथजी के तेज के आगे सिर नीचा कर लिया, इत्यादि।

मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह बन आतपबाता॥
की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नरनारायन की तुम्ह दोऊ॥५॥

आपके कोमल, मनोहर, सुन्दर अङ्ग वन को इस दुसह (न सहने के योग्य) कठिन घाम और वायु को सह रहे हैं! क्या आप तीन देवों (ब्रह्मा, विष्णु और महादेव) में से कोई हैं? अथवा क्या आप दोनों नर-नारायण हैं?॥ ५॥

दो०—जगकारन तारन भव भंजन धरनीभार।
की तुम्ह अखिल-भुवन-पति लीन्ह मनुजअवतार॥३॥

अथवा आप जगत् के कारण, संसार के तारण (उद्धार) करनेवाले, पृथ्वी के भार को उतारनेवाले, सम्पूर्ण लोकों के स्वामी परमात्मा हैं जिन्होंने मनुष्य का अवतार लिया है॥ ३॥

चौ०—कोसलेस दसरथ के जाये। हम पितुबचन मानि बन आये॥
नाम राम लछिमन दोउ भाई। संग नारि सुकुमारि सुहाई॥१॥

रामचन्द्रजी ने उत्तर दिया—हम कोशल देश के राजा दशरथ के पुत्र हैं, पिता के वचन को मानकर वन में आये हैं। मेरा नाम राम और इनका लक्ष्मण है; हम दोनों भाई हैं। हमारे साथ सुकुमारी और सुन्दरी स्त्री थी॥ १॥

इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिँ हम खोजत तेही॥
आपन चरित कहा हम गाई। कहहु बिप्र निज कथा बुझाई॥२॥

यहाँ (वन में) किसी राक्षस ने वैदेही (जनक की कन्या, या[1] मुझे विदेह कर देनेवाली या मेरे लिए विदेह हो जानेवाली स्त्री) को हर लिया। हे विप्र! हम उसी को ढूँढ़ते फिरते[1] हैं। इस तरह हमने अपना चरित कह सुनाया, अब हे ब्राह्मण! तुम अपना वृत्तान्त समझा कर कहो॥ २॥

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिँ बरना॥
पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिरबेष कै रचना॥३॥

हनुमान्जी प्रभु रामचन्द्रजी को पहचान[2] कर, उनके चरणों को पकड़कर, उन चरणों

१—रामचन्द्रजी ने बाक़ी के प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया, क्योंकि वे अपने को प्रकट करना नहीं चाहते थे। अथवा—इतने ही उत्तर में सभी प्रश्नों का उत्तर हो गया इसी लिए हनुमानजी ने उन्हें पहचान लिया। २—हनुमानजी ने रामचन्द्रजी के वचनों का यह अर्थ समझकर उन्हें पहचान लिया कि—"कुशलानां समूहः कौशलं तस्य ईशः कौशलेशः, स चासौ दशरथश्च" अर्थात् जो सकल-कल्याण-भाजन गरुड़वाहन विष्णु के अवतार और सकल जगत् के पिता हैं, वे वन में आये हैं, इस वचन को मान लो। या—जब रामचन्द्रजी विश्वामित्र के साथ चले थे तब हनुमान्जी से वन में मिलने का वचन हुआ था। ब्रह्मा ने वानर रूप होने का निर्देश करते समय देवताओं को रामजी का वन आना कह रक्खा था। तदनुसार ही यहाँ उन्होंने पहचान लिया।

पर गिर पड़े। श्रीमहादेवजी कहते हैं कि हे पार्वती! वह सुख, जो इस सम्मिलन में हुआ, वर्णन नहीं करते बनता। हनुमान्‌जी का शरीर पुलकित हो गया। मुँह से कुछ वचन नहीं निकलता था। उनके सुन्दर वेश की रचना देखकर वे (मुग्ध) रह गये॥ ३॥

पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्ही। हरष हृदय निज नाथहिँ चीन्ही॥
मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं॥४॥
तव मायाबस फिरउँ भुलाना। ता तें मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥५॥

फिर हनुमान्‌जी ने धैर्य धारण कर, अपने स्वामी को पहचान कर, हृदय में प्रसन्न हो रामचन्द्रजी की स्तुति की और कहा—हे साईं! मैंने जो आपसे पूछा, वह तो अपनी ही तरह था अर्थात् जैसा मैं हूँ उसी के अनुसार मैंने पूछा, पर आप मनुष्य के समान कैसे पूछते हैं?॥ ४॥ क्योंकि, मैं तो आपकी माया के वश होकर भूला फिरता हूँ, इसी से मैंने स्वामी को नहीं पहचाना॥ ५॥

दो०—एक मंद मैं मोहबस कुटिलहृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥४॥

एक तो मैं मूर्ख, मोह के वश, कुटिल-हृदय और अज्ञानी हूँ; इतने पर भी दीनबन्धु भगवान् स्वामी! आपने मुझे भुला दिया!॥ ४॥

चौ०—जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे। सेवक प्रभुहिँ परइ जनि भोरे॥
नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा॥१॥

हे नाथ! यद्यपि मेरे बहुत अवगुण हैं, तथापि स्वामी को सेवक को भूल न जाना चाहिए। हे नाथ! जीव आपकी माया से मोहित हो जाता है। वह आप ही की कृपा से निस्तार पाता है॥ १॥

ता पर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन उपाई॥
सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥२॥

उस पर भी मैं, रघुवीर की सौगन्द खाकर कहता हूँ कि, कुछ भजन या अन्य उपाय भी नहीं जानता। सेवक अपने स्वामी के और पुत्र माता के भरोसे निश्चिन्त रहता है और उन्हें उनका पालन करना पड़ता है, (उसी तरह मैं सेवक आपके भरोसे निश्चिन्त हूँ, आपको मेरी रक्षा करनी ही चाहिए)॥ २॥

अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई॥
तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन-जल सींचि जुडावा॥३॥

हनुमान्‌जी ऐसा कहकर व्याकुल हो चरणों में गिर पड़े। उन्होंने अपना शरीर (बन्दर का) प्रकट कर दिया। उनके हृदय में प्रेम छा गया। तब रघुनाथजी ने उन्हें उठाकर

हृदय से लगाया और अपने नेत्रों के जल से सींच कर उन्हें ठंढा किया अर्थात् रघुनाथजो भा आनन्द से आँसू बहाते हुए मिले ॥ ३ ॥

सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना । तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना ॥
समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवकप्रिय अनन्यगति सोऊ ॥४॥

रामचन्द्रजो ने कहा—हे कपि ! सुन, तू अपने जो में कुछ कम न समझना, अर्थात् संकोच न करना । तू मुझे लक्ष्मण से दूना[1] प्यारा है । मुझे सब कोई समदर्शी कहते हैं, फिर भो मैं अनन्यगतिवाले सेवकों का प्यारा हूँ अथवा सेवक मुझे प्यारे लगते हैं, क्योंकि वे भो अनन्यगति होते हैं । जो मैं उनको खबर न रक्खूँ तो वे कहाँ जायँ ॥ ४ ॥

दो०—सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥५॥

हे हनुमन्त ! अनन्य वह है—जिसकी ऐसो बुद्धि टलतो नहीं कि, यह सम्पूर्ण चराचर समेत रूप (दृश्यमान पदार्थ-मात्र) मेरे स्वामो भगवान् हैं (व्यापक हैं) और मैं सेवक हूँ ॥ ५ ॥

चौ०—देखि पवनसुत पति अनुकूला । हृदय हरष बीती सब सूला ॥
नाथ सैल पर कपिपति रहई । सो सुग्रोव दास तव अहई ॥१॥

स्वामो को अनुकूल देखकर हनुमान्जा के हृदय में हर्ष हुआ और उनकी सब शूल अर्थात् चिन्ता मिट गई । उन्होंने कहा—हे नाथ ! इस पहाड़ पर वानरों का राजा सुग्रोव रहता है, वह आपका दास है ॥ १ ॥

तेहि सन नाथ मइत्रो कीजे । दीन जानि तेहि अभय करीजै ॥
सो सीता कर खोज कराइहि । जहँ तहँ मरकट कोटि पठाइहि ॥२॥

हे नाथ ! आप उससे मित्रता कोजिए और उसे दोन (ग़रोब) जानकर अभय कर दीजिए । वह सोताजो का पता लगवावेगा, उनके ढूँढ़ने के लिए जहाँ-तहाँ करोड़ों बन्दरों को भेज देगा ॥ २ ॥

एहि बिधि सकल कथा समुझाई । लिये दुअउ जन पीठि चढाई ॥
जब सुग्रोव राम कहुँ देखा । अतिसय जनम धन्य करि लेखा ॥३॥

हनुमान्जो ने इस तरह सब कथा समझाकर दोनों जनों—राम, लक्ष्मण—को अपनो पीठ पर चढ़ा लिया । जब सुग्रीव ने रामचन्द्रजो को देखा, तब अपने जन्म को अत्यन्त धन्य माना ॥ ३ ॥

१—दूना प्यारा इसलिए कि लक्ष्मणजी अकेले मेरे ही सेवक हैं, तू मेरा और लक्ष्मण का दोनों का है । या—लक्ष्मण के संग रहते भी सीता बिछुड़ गई, अब हनुमान् से वह फिर मिल जायगी इससे दूना हुआ । या—लक्ष्मण को शक्ति लगने पर वे संजीवनी ला उन्हें जिलावेंगे इसलिए ।

सादर मिलेउ नाइ पदमाथा। भेंटेउ अनुजसहित रघुनाथा॥
कपि कर मन बिचार एहि रीती। करिहहिं बिधि मो सन ये प्रीती॥४॥

सुग्रीव दोनों के चरणों में मस्तक नवाकर बड़े आदर के साथ उनसे मिला और लक्ष्मणजी सहित रामचन्द्रजी भी सुग्रीव से मिले। फिर सुग्रीव के मन में इस तरह का विचार उठने लगा कि हे विधाता! क्या ये मुझसे मित्रता करेंगे॥४॥

दो०—तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढाइ॥६॥

तब हनुमान्‌जी ने दोनों ओर का सब समाचार (रामचन्द्रजी का सुग्रीव को और सुग्रीव का रामचन्द्रजी को) सुनाकर[1] और अग्नि को साक्षी[2] देकर दोनों को मित्रता दृढ़तापूर्वक जोड़ दी॥६॥

चौ०—कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन रामचरित सब भाखा॥
कह सुग्रीव नयन भरि बारी। मिलिहि नाथ मिथिलेसकुमारी॥१॥

दोनों ने आपस में प्रीति कर ली, इसलिए कुछ बीच (भेद भाव) नहीं रक्खा। लक्ष्मणजी ने रामचन्द्रजी का सब चरित्र कह दिया। उसे सुनकर सुग्रीव, आँखों में पानी भरे हुए[3], कहने लगा—हे नाथ! मिथिलेशकुमारी (सीताजी) मिल जायँगी॥१॥

मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा॥
गगनपंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥२॥

मैं एक बार मन्त्रियों के साथ यहाँ बैठा हुआ विचार कर रहा था, इतने में आकाश-मार्ग से मैंने उनको जाते देखा था। वे परवश पड़ी हुई बहुत विलाप करती थीं॥२॥

१—सुग्रीव की ओर से कहा—हे राम! आपको अभय करें, यह आपकी सहायता करेगा। रामजी की ओर से कहा—यह तुमको अभय करेंगे तो तुमको इनका कार्य सिद्ध करना पड़ेगा।

२—अग्नि को साक्षी देने का यह कारण है कि उसमें दाहक शक्ति है और सबके पेट में अग्नि का वास है, जो दोनों में से किसी के मन में विकार होगा तो अग्नि उसे भस्म कर देगी। अथवा—इस रामचरित में अग्नि ही प्रधान है। राम-नाम में रकार अग्नि का वाचक है। अग्नि ही से चरु मिल कर राम-जन्म, अग्नि ही में सीता का अन्तर्धान, इसी से लङ्का-दाह, इसी से सीता की शुद्धि, इसी से मित्रता हुई; अग्नि परमात्मा का रूप है। "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्"। गीता अ० १५॥

३—आँखों में पानी भर कर सूचित किया कि सीताजी रो रोकर मिलेंगी।

राम राम हा राम पुकारी। हमहि देखि दीन्हेउ पट डारी॥
माँगा राम तुरत तेहि दीन्हा। पट उर लाइ सोच अति कीन्हा॥३॥

वे राम! राम! हा राम! पुकारती जाती थीं। उन्होंने हम लोगों को देखकर कपड़ा फेंक दिया था। यह सुनकर रामचन्द्रजी ने वह कपड़ा माँगा। सुग्रीव ने तुरन्त ही दे दिया। उस वस्त्र को हृदय से लगाकर रामचन्द्रजी ने बड़ा सोच किया॥ ३॥

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। तजहु सोच मन आनहु धीरा॥
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥४॥

सुग्रीव कहने लगा—हे रघुवीर! सुनिए; आप सोच न करें, मन में धैर्य रक्खें। जिस तरह जानकी जी आ मिलेंगी मैं वैसी ही सब प्रकार से आपकी सेवा करूँगा॥ ४॥

दो०—सखाबचन सुनि हरषे कृपासिंधु बलसीवँ।
कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीवँ॥७॥

कृपासागर और बल को सीमा श्रीरामचन्द्रजी सखा सुग्रीव के वचन सुनकर प्रसन्न हुए। उन्होंने पूछा—हे सुग्रीव! तुम वन में किस कारण बस रहे हो, वह मुझसे कहो॥ ७॥

चौ०—नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई। प्रीति रही कछु बरनि न जाई॥
मयसुत मायावी तेहि नाऊँ। आवा सो प्रभु हमरे गाऊँ॥१॥

सुग्रीव ने कहा—हे नाथ! बाली और मैं दोनों भाइयों में ऐसी प्रीति थी जो कहते नहीं बनती। हे प्रभु! मयासुर का पुत्र, जिसका नाम मायावी था, एक बार हमारे गाँव (किष्किन्धा) में आया॥ १॥

अर्धराति पुरद्वार पुकारा। बाली रिपुबल सहइ न पारा॥
धावा बालि देखि सो भागा। मैं पुनि गयउँ बंधु सँग लागा॥२॥

उसने आधी रात के समय नगर के दरवाजे पर ललकार दी। शत्रु के बल को बाली नहीं सह सका। बाली को अपने पीछे दौड़ते देखकर वह असुर भागा। फिर मैं भी भाई के साथ लगा हुआ चला गया॥ २॥

गिरि-बर-गुहा पैठ सो जाई। तब बाली मोहि कहा बुझाई॥
परिखेसु मोहि एक पखवारा। नहिं आवउँ तब जानेसु मारा॥३॥

वह मायावी जाकर एक पर्वत की गुफा में घुस गया, तब बाली ने मुझे समझाकर कहा कि तुम एक पखवारा (पन्द्रह दिन) मेरी राह देखना। जो मैं इतने में न आ जाऊँ तो निश्चय समझना कि मैं मार डाला गया॥ ३॥

मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी। निसरी रुधिरधार तहँ भारी॥
बालि हतेसि मोहि मारिहि आई। सिला देइ तहँ चलेउँ पराई॥४॥

हे दुष्ट-दलन रामचन्द्रजी! मैं वहाँ एक महीना ठहरा रहा। फिर वहाँ से रक्त की भारी धारा निकली तब मैंने समझा कि उस राक्षस ने बाली को मार डाला, अब आकर मुझे भी मारेगा। यह सोच कर मैं दरवाज़े पर एक शिला लगा कर भाग आया॥ ४॥

मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं। दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं॥
बाली ताहि मारि गृह आवा। देखि मोहि जिय भेद बढावा॥५॥

मन्त्रियों ने बिना स्वामी का पुर देखकर मुझे हठपूर्वक राज्य दे दिया। फिर बाली उस मायावी को मारकर घर आया। मुझे देखकर उसने जी में भेद बढ़ाया अर्थात् मेरी ओर से उसका मन मैला हो गया॥ ५॥

रिपुसम मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी॥
ता के भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला॥६॥

फिर उसने मुझे शत्रु के समान बहुत मारा और स्त्री समेत मेरा सर्वस्व छीन लिया। हे रघुवीर, दयाल! मैं उसके भय से बेहाल होकर सब लोकों में घूमता फिरा॥ ६॥

इहाँ सापबस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं॥
सुनि सेवकदुख दीनदयाला। फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला॥७॥

बाली यहाँ शापवश[1] नहीं आता, तो भी मैं उससे मन में डरता ही रहता हूँ। सेवक सुग्रीव के दुःख को सुनकर दीनदयालु रामचन्द्रजी की दोनों विशाल भुजायें फड़क उठीं॥ ७॥

दो०—सुनु सुग्रीवँ मारिहउँ बालिहि एकहि बान।
ब्रह्म-रुद्र-सरनागत गये न उबरिहि प्रान॥८॥

रामचन्द्रजी ने कहा—सुग्रीव! सुनो, मैं बाली को एक ही बाण से मारूँगा। जो वह ब्रह्मा और रुद्र की भी शरण जाय तो भी उसके प्राण न बचेंगे॥ ८॥

चौ०—जे न मित्र दुख होहिँ दुखारी। तिन्हहिँ बिलोकत पातक भारी॥
निज-दुख-गिरि-सम रज करि जाना। मित्र क दुखरज मेरुसमाना॥१॥

१—एक समय बाली ने दुन्दुभि नामक राक्षस को, जो भैंसे का रूप धारण करके आया था, मार गिराया। उसने राक्षस को उठाकर फेंका तो उसका सिर मतङ्ग ऋषि के आश्रम में, जो ऋष्यमूक पर्वत पर था, जा गिरा। उससे वहाँ बहुत रक्त बहा। इस पर क्रोधित हो मतङ्ग ऋषि ने बाली को शाप दिया कि जो तू कभी यहाँ आवेगा तो तेरा सिर फट जायगा।

जो मित्र के दुःख से दुःखी नहीं होते, उनका मुँह देखने में भी महापाप होता है। मित्र वही हैं जो अपने पहाड़ जैसे बड़े भारी दुःख को धूल के कण के समान जाने और मित्र के (रजकण) नाम-मात्र दुःख को सुमेरु पर्वत के समान समझे ॥ १ ॥

जिन्ह के असि मति सहज न आई। ते सठ हठि कत करत मिताई ॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा ॥२॥

जिनकी ऐसी स्वाभाविक बुद्धि नहीं हो गई वे दुष्ट क्यों हठ कर मित्रता करते हैं? मित्र को कुमार्ग में जाने से रोक कर सुमार्ग पर चलावें; मित्र के गुण प्रकट कर अवगुणों को छिपा ले ॥ २ ॥

देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई ॥
बिपतिकाल कर सतगुन नेहा। स्रुति कह संत मित्र गुन एहा ॥३॥

मित्र को कुछ भी देने-लेने में शङ्का न रक्खे; अपने बल के अनुसार (जहाँ तक हो सके) सदा हित करे। मित्र पर विपत्ति का समय आ जाने पर सौ गुना स्नेह करे। वेदों में कहा है कि श्रेष्ठ मित्रों के ये गुण हैं ॥ ३ ॥

आगे कह मृदुबचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई ॥
जा कर चित अहि-गति-सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहि भलाई ॥४॥

जो सामने तो बनावटी कोमल वचन कहे, पीठ पीछे अनहित (बुराई) करे और मन में कुटिलता रक्खे और हे भाई! जिसका चित्त साँप का सा (चञ्चल) है, ऐसे दुष्ट मित्र को तो छोड़ देने में ही भलाई है ॥ ४ ॥

सेवक सठ नृप कृपिन कुनारी। कपटी मित्र सूलसम चारी ॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब बिधि घटब काज मैं तोरे ॥५॥

दुष्ट सेवक, कृपण राजा, दुष्टा स्त्री और कपटी मित्र ये चारों शूल के समान होते हैं। हे सखा! तुम मेरे बल के भरोसे पर सोच को छोड़ दो। मैं तुम्हारे काम को सब तरह सिद्ध करूँगा ॥ ५ ॥

कह सुग्रीवँ सुनहु रघुबीरा। बालि महाबल अति रनधीरा ॥
दुंदुभिअस्थि ताल देखराये। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाये ॥६॥

सुग्रीव ने कहा—हे रघुवीर! सुनो। बाली महाबली और अत्यन्त ही रण-धीर है। इतना कह कर सुग्रीव ने दुन्दुभि दैत्य की हड्डियाँ और ताल के पेड़ दिखाये। उन्हें रघुनाथजी ने बिना ही परिश्रम (आसानी से) ढहा दिया। (उन्होंने दुन्दुभि की हड्डियों को पैर की ठोकर से १० योजन फेंक दिया और ताल के पेड़ों को काट कर गिरा दिया) ॥ ६ ॥

देखि अमितबल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन्ह भइ परतीती॥
बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥७॥

इस तरह रामचन्द्रजी का अपरिमित (जिसकी नाप न हो सके) बल देखकर सुग्रीव को प्रीति बढ़ी और उसको यह विश्वास हो गया कि ये बाली को मार डालेंगे। वह बार बार रामचन्द्रजी के चरणों पर मस्तक रखता था। कपिराज सुग्रीव प्रभु रामचन्द्रजी को जानकर (ईश्वर हैं ऐसा समझ कर) मन में प्रसन्न हुआ॥ ७॥

उपजा ग्यान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला॥
सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥८॥

सुग्रीव को तब ज्ञान उत्पन्न हुआ और वह यह वचन बोला—स्वामी की कृपा से मेरा मन स्थिर हो गया। अब मैं सुख, सम्पत्ति, कुटुम्ब और बड़प्पन सब छोड़कर आप की सेवा करूँगा॥ ८॥

ए सब रामभगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥
सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥९॥

ये सब (सुख आदि) राम-भक्ति में विघ्न डालनेवाले हैं, ऐसा आपके चरणों का आराधन करनेवाले महात्मा लोग कहते हैं। जगत् में शत्रु-मित्र और सुख-दुःख माया के किये हुए हैं, परमार्थ में ये कुछ चीज़ नहीं॥ ९॥

बालि परमहित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥
सपने जेहि सन होइ लराई। जागे समुझत मन सकुचाई॥१०॥

हे रामजी! बाली तो मेरा परम मित्र है, क्योंकि उसकी कृपा से दुःख के शमन करनेवाले आप मिले। स्वप्न में जो किसी के साथ लड़ाई हुई हो तो जागने पर उस बात के समझ लेने पर मन में सङ्कोच होता है॥ १०॥

अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिनुराती॥
सुनि बिरागसंजुत कपिबानी। बोले बिहँसि रामु धनुपानी॥११॥

हे प्रभु! अब आप इस तरह कृपा कीजिए जिससे मैं सब जंजाल छोड़कर दिन-रात आपका भजन किया करूँ। सुग्रीव की ऐसी वैराग्य से संयुक्त वाणी सुनकर रामचन्द्रजी, हाथ में धनुष लिये हुए, हँसकर बोले—॥ ११॥

जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥
नट मरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥१२॥

हे सखा! तुमने जो कुछ कहा, वह सब सत्य है; पर मेरा वचन झूठा नहीं होता। कागभुशुंडिजी कहते हैं कि हे गरुड़! वेद ऐसा गाते हैं कि जिस तरह मदारी बन्दर को जैसा चाहे वैसा नचाता है, उसी तरह रामचन्द्रजी भी स्वेच्छानुसार सबको नचाते हैं[१] ॥ १२ ॥

लेइ सुग्रीवँ संग रघुनाथा। चले चापसायक गहि हाथा॥
तब रघुपति सुग्रीवँ पठावा। गर्जेसि जाइ निकट बल पावा॥१३॥

फिर हाथ में धनुष-बाण लिये हुए रघुनाथजी सुग्रीव को साथ लेकर चले। तब (किष्किन्धा पुरी के पास पहुँचकर) रघुनाथजी ने सुग्रीव को भेजा। वह समीप जाकर गर्जा, क्योंकि उसे बल मिल गया था ॥ १३ ॥

सुनत बालि क्रोधातुर धावा। गहि कर चरन नारि समुझावा॥
सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवाँ। ते दोउ बंधु तेजबलसींवाँ॥१४॥
कोसलेससुत लछिमनरामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥१५॥

सुग्रीव का गर्जना सुनते ही बाली क्रोध से भरा हुआ दौड़ा। उस समय बाली की स्त्री तारा ने हाथों से उसके चरण पकड़ कर उसको समझाया। उसने कहा—हे पति! सुनो। सुग्रीव जिनसे मिला है, वे दोनों भाई तेज और बल की सीमा हैं ॥ १४ ॥ वे कोसलाधीश दशरथ के पुत्र लक्ष्मण और राम हैं। वे संग्राम में काल को भी जीत सकते हैं ॥ १५ ॥

दो०—कहा बालि सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।
जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ॥९॥

बाली ने कहा—हे भीरु (डरनेवाली) प्यारी! सुन। रघुनाथजी समदर्शी हैं। जो कदाचित् वे मुझे मारेंगे तो मैं सनाथ (कृतकृत्य) हो जाऊँगा ॥ ९ ॥

चौ०—अस कहि चला महा अभिमानी। तृनसमान सुग्रीवहि जानी॥
भिरे उभौ बाली अति तरजा। मुठिका मारि महाधुनि गरजा॥१॥

ऐसा कहकर वह महा अभिमानी बाली, सुग्रीव को तिनके के समान तुच्छ समझ कर, चला। निकलते ही दोनों (सुग्रीव और बाली) भिड़ पड़े। बाली खूब तर्जा (किचकिचा कर ऊपर जा गिरा) और सुग्रीव को मुट्ठी (घूँसा) मारकर बड़े जोर से उसने गर्जना की ॥ १ ॥

तब सुग्रीवँ बिकल होइ भागा। मुष्टिप्रहार बज्रसम लागा॥
मैं जो कहा रघुबीर कृपाला। बंधु न होइ मोर यह काला॥२॥

१—गीता में कहा है—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥" हे अर्जुन, ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय-प्रदेश में स्थित है। वह शरीररूप यन्त्र पर चढ़े हुए प्राणियों को, अपनी माया से घुमाता है। (इसी का नाम नचाना है)।

बहु छलबल सुग्रीवँ करि हियँ हारा भय मानि।
मारा बाली राम तब हृदय माँझ सर तानि ॥—पृष्ठ ७२५

तब सुग्रीव विकल होकर भागा। उसे बाली का मुष्टिप्रहार वज्र के समान लगा। वह लौट कर रामचन्द्रजी से गिड़गिड़ा कर कहने लगा—हे कृपालु रघुवीर! मैंने कहा ही था कि यह मेरा भाई नहीं किन्तु मूर्त्तिमान् काल है ॥ २ ॥

एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ॥
कर परसा सुग्रीवँ-सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा॥३॥

रामचन्द्रजी ने कहा—तुम दोनों भाई रूप में एक ही से हो, इसी कारण मैंने भ्रमवश उसको नहीं मारा[1]। (अमोघ राम-बाण धोखे से बाली के बदले तुम पर पड़ जाता तो अनर्थ हो जाता) ऐसा कहकर रामचन्द्रजी ने सुग्रीव के शरीर को हाथ से छू दिया। छूते ही उसका शरीर वज्र के समान (दृढ़) हो गया और सब पीड़ा चली गई ॥ ३ ॥

मेली कंठ सुमन कै माला। पठवा पुनि बल देइ बिसाला॥
पुनि नाना बिधि भई लराई। बिटपओट देखहिं रघुराई॥४॥

फिर रामचन्द्रजी ने सुग्रीव के कण्ठ में एक फूलों की माला[2] डाल दी और उसको विशाल बल देकर (बाली से लड़ने को) भेजा। फिर दोनों भाइयों की कई तरह की लड़ाई हुई। उसको रामचन्द्रजी वृक्ष की आड़ में छिपे हुए देख रहे थे ॥ ४ ॥

दो०—बहु छलबल सुग्रीवँ करि हिय हारा भय मानि।
मारा बाली राम तब हृदय माँझ सर तानि॥१०॥

जब सुग्रीव सारे छल बल कर थक गया और डरकर मन में हार गया, तब रामचन्द्रजी ने एक बाण तान कर बाली के हृदय में मारा ॥ १० ॥

चौ०—परा बिकल महि सर के लागे। पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे॥
स्यामगात सिर जटा बनाये। अरुननयन सर चाप चढ़ाये॥१॥

बाण लगते ही बाली विकल होकर धरती पर गिर पड़ा। फिर वह उठकर बैठा तो उसने सम्मुख प्रभु रामचन्द्रजी को देखा। उनका श्यामसुन्दर शरीर था, वे मस्तक पर जटाजूट बनाये हुए थे, लाल नेत्र थे और धनुष पर बाण चढ़ाये हुए थे ॥ १ ॥

१—पीछे सुग्रीव कह चुका है "बालि परम हित जासु प्रसादा" इसलिए रामचन्द्रजी ने नहीं मारा कि तूने अपने परम मित्रों में बाली को गिना था, अब यदि तू उसे काल गिनने लगा तो अब मैं अवश्य मारूँगा। अथवा—"प्रणत कुटुम्बपाल रघुराई" इसलिए सुग्रीव के कुटुम्बियों की रक्षा करनी चाहिए, यह जानकर बाली को नहीं मारा था, किन्तु अब सुग्रीव के काल रूप कहने पर उसको मारना उचित समझा।

२—माला डालने का उद्देश यह था कि बाली ने कहा था "समदर्शी रघुनाथ"। रामचन्द्रजी ने माला से बाली को सूचित किया कि यह मेरा भक्त है। जो वह इस सूचना को समझ लेता तो न मारा जाता; क्योंकि समदर्शिता से दोनों बराबर थे। अथवा दोनों एक-रूप थे। तीर चलाने में भ्रम न हो, इसलिए माला पहनाकर उसमें और बाली में भेद कर दिया।

पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा । सुफल जनम माना प्रभु चीन्हा ॥
हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा । बोला चितइ राम की ओरा ॥२॥

बाली ने बार बार देख[1], प्रभु को पहचान कर उनके चरणों में चित्त लगा दिया और अपना जन्म सफल माना। फिर वह रामचन्द्रजी की ओर देखकर, अन्तःकरण में प्रेम रखते हुए, ऊपर से मुख से कठोर वचन बोला—॥ २ ॥

धर्महेतु अवतरेहु गोसाईं । मारेहु मोहि ब्याध की नाईं ॥
मैं बैरी सुग्रीवँ पियारा । अवगुन कवन नाथ मोहि मारा ॥३॥

हे गुसाईं ! आपने अवतार तो धर्म के निमित्त लिया है, पर मारा मुझे व्याधे के समान। हे नाथ ! आपका मैं तो वैरी हो गया और सुग्रीव प्यारा ! आपने मुझे कौन से अवगुण (अपराध) के लिए मारा ? ॥ ३ ॥

अनुजबधू भगिनी सुतनारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई । ताहि बधे कछु पाप न होई ॥४॥

रामचन्द्रजी ने कहा—अरे दुष्ट ! सुन। छोटे भाई की स्त्री, बहिन, पुत्र की स्त्री और कन्या, ये चारों बराबर हैं, अर्थात् चारों कन्यायें हैं। इन को जो कोई खोटी दृष्टि से देखे, उसका वध करने में पाप नहीं होता (तूने अपने भाई की स्त्री छीन ली है इसलिए तेरा वध उचित है) ॥ ४ ॥

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना । नारिसिखावन करेसि न काना ॥
मम भुज-बल-आस्रित तेहि जानी । मारा चहसि अधम अभिमानी ॥५॥

अरे मूर्ख ! तुझे बहुत अभिमान था। तूने अपनी स्त्री की सीख (जो हित-बुद्धि से उसने दी थी) को कानों में ही न रक्खा अर्थात् न सुना। अरे नीच अभिमानी ! तूने सुग्रीव को मेरी भुजाओं के आश्रित जानकर भी मारना चाहा ! ॥ ५ ॥

दो०—सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि ।
प्रभु अजहूँ मैं पातकी अंतकाल गति तोरि ॥११॥

१—बाली बार बार इसलिए देखता था कि एक तो राम-लक्ष्मण अति-सुन्दर थे, दूसरे उसने मन में सोचा कि यह तो समदर्शी हैं फिर ऐसी विषमता क्यों की ? तीसरे मुझसे कुछ पूछ-ताछ कर मारते। सुग्रीव ने ऐसा क्या भारी कार्य सिद्ध कर दिया कि जिससे इतना प्रेम हुआ ! यों सोच-विचार कर अन्त में उसने चरणों में ध्यान लगाया। तारा के उपदेश को स्मरण कर रघुनाथजी के सर्वाङ्ग को अनेक बार देखकर अन्त में उसने चरणों में चित्त लगाया।

बाली ने कहा—रामचन्द्रजी! सुनिए। प्रभु से मेरी चतुरता नहीं चल सकती। हे प्रभु! जब मुझे अन्त काल में आप ही की गति (शरण) प्राप्त हुई है सो क्या मैं अब भी पापी हूँ।॥ ११॥

चौ०—सुनत राम अति कोमल बानी। बालिसीस परसेउ निज पानी॥
अचल करउँ तनु राखहु प्राना। बालि कहा सुनु कृपानिधाना॥१॥

रामचन्द्रजी ने बाली की अत्यन्त कोमल (शरणवाली) वाणी सुनते ही उसके मस्तक पर अपना हाथ छुआया और उससे कहा—मैं तुम्हारे शरीर को अचल (अजर अमर,) कर दूँगा। तुम प्राण रख लो। यह सुनकर बाली ने कहा—हे कृपानिधान! सुनिए॥ १॥

जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥
जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं समगति अविनासी॥२॥
मम लोचनगोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥३॥

मुनि लोग अनेक जन्मों से प्रयत्न करते हैं, परन्तु अन्त काल में राम कहते भी नहीं बनता (अर्थात् मरते समय और दुनिया भर की बातें तो कहते हैं, पर मुँह से राम नहीं निकलता) अथवा अन्त में राम कहते तो हैं, पर 'आवत नाहीं' जैसे आप समक्ष खड़े हैं ऐसे राम आकर खड़े नहीं होते। जिनके नाम के बल से काशी में शङ्करजी सभी को एक समान अविनाशी-गति (मोक्ष) देते हैं[1]॥ २॥ वही परमात्मा आज मेरे नेत्रों के सम्मुख आ गये। हे प्रभु! यह अवसर चूक जाने पर क्या फिर ऐसा बनाव बनाया जा सकता है? कदापि नहीं॥ ३॥

छंद—सो नयनगोचर जासु गुन नित नेति कहि स्रुति गावहीं।
जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं॥
मोहि जानि अति-अभिमान-बस प्रभु कहेहु राखि सरीरही।
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरही॥

वेद जिन्हें 'नेति, नेति' कहकर गाते हैं; मुनिजन वायु को जीतकर (प्राणायाम, समाधि द्वारा) इन्द्रियों को निरस कर (जितेन्द्रिय होकर) कभी कभी ध्यान में जिनको पाते हैं; जिन प्रभु ने मुझे अत्यन्त अभिमान के वश में जानकर कहा कि तू शरीर रख ले; वही परमात्मा मेरे नेत्रों के प्रत्यक्ष हो रहे हैं। भला ऐसा कौन दुष्ट होगा, जो हठ से कल्पवृक्ष को काटकर बबूल के पेड़ में पानी देगा!॥

१—काशी में शिवजी (विश्वनाथ) रूप से रामतारक मन्त्र का उपदेश देते हैं। इसी से काशी की सीमा में मरने से भी मोक्ष हो जाता है और काशी मुक्ति-पुरी कहाती है।

अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर माँगऊँ ।
जेहि जोनि जनमउँ कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ ॥
यह तनय मम सम बिनयबल कल्यानपद प्रभु लीजिये ।
गहि बाहँ सुर-नर-नाह आपन दास अंगद कीजिये ॥

हे नाथ ! अब आप कृपा-कटाक्ष से मेरी ओर देखिए और मैं जो वर माँगूँ, वह मुझे दीजिए । वह वर यही कि मैं कर्मवश जिस योनि में जन्म लूँ वहाँ रामचन्द्रजी (आप) के चरणों में मेरा प्रेम हो[1] । हे कल्याण के स्थान ! अथवा कल्याण-प्रद चरणवाले ! यह मेरा पुत्र (अङ्गद) विनय और बल में मेरे बराबर है, इसको आप लीजिए । हे देवों और मनुष्यों के नाथ ! आप इसको बाँह (हाथ) पकड़ कर इसको अपना दास कीजिए ॥

दो०—रामचरन दृढ़प्रीति करि बालि कीन्ह तनुत्याग ।
सुमनमाल जिमि कंठ तें गिरत न जानइ नाग ॥१२॥

इतना कहकर बाली ने, रामजी के चरणों में दृढ़ प्रेम करके, इस तरह शरीर का त्याग किया, जिस तरह कोई हाथी अपने कण्ठ से फूलों की माला का गिरना न जाने । अर्थात् बिना किसी कष्ट के शरीर छोड़ दिया ॥ १२ ॥

चौ०—राम बालि निज धाम पठावा । नगरलोक सब ब्याकुल धावा ॥
नाना बिधि बिलाप कर तारा । छूटे केस न देह सँभारा ॥१॥

रामचन्द्रजी ने बाली को अपने धाम (वैकुण्ठ) को भेज दिया । नगर (किष्किन्धा) के लोग व्याकुल होकर दौड़ पड़े । तारा (बाली की स्त्री) अनेक प्रकार से विलाप करने लगी । उसके सिर के बाल खुलकर उलझ गये । उसे अपने शरीर की सुध नहीं रही ॥ १ ॥

तारा बिकल देखि रघुराया । दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया ॥
छिति जल पावक गगन समीरा । पंच रचित अति अधम सरीरा ॥२॥

रघुनाथजी ने तारा को विह्वल देखकर उसे ज्ञान दिया और अपनी माया हर ली । रामचन्द्रजी ने कहा—पृथ्वी, जल, अग्नि (तेज), आकाश और वायु इन पाँच तत्त्वों का बना हुआ यह अति नीच शरीर है ॥ २ ॥

१—देखिए, यद्यपि बाली समझदार है, तथापि इस जगह जन्म-मरण के छुड़ानेवाले रामचन्द्रजी से कर्मवश फिर जन्म लेने की प्रार्थना करता है ! इसी कारण जो बाली ने "मारेहु मोहि ब्याध की नाईं" कहा, उसका फल भोगने के लिए और इस वरदान की यथार्थता के लिए श्रीकृष्णावतार में उसको व्याध होना पड़ा और अन्त में श्रीकृष्ण को छिप कर बाण मार वह मुक्त हो गया ।

प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर माँगी॥३॥

वह पंच-भूतात्मक शरीर तेरे सम्मुख सोया हुआ है। इस शरीर में जो जीव था, वह नित्य है, कभी मरता ही नहीं, फिर तुम किसके लिए रोती हो? इतना सुनते ही जब तारा को ज्ञान उत्पन्न हुआ तब वह रामचन्द्रजी के पाँवों में पड़ी और उसने उनसे परमभक्ति का वरदान माँग लिया॥ ३॥

उमा दारुजोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं॥
तब सुग्रीवँहि आयसु दीन्हा। मृतककर्म विधिवत सब कीन्हा॥४॥

शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती! स्वामी श्रीरामचन्द्र सभी को कठपुतली की नाईं नचाते हैं। फिर रामचन्द्रजी ने सुग्रीव को आज्ञा दी। उसने बाली का सब मृत्यु-संस्कार विधिपूर्वक किया॥ ४॥

राम कहा अनुजहि समुझाई। राजु देहु सुग्रीवहिँ जाई॥
रघु-पति-चरन नाइ करि माथा। चले सकल प्रेरित रघुनाथा॥५॥

तब रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण को समझाकर कहा कि तुम जाकर सुग्रीव को किष्किन्धा का राज्य दो। रघुनाथजी की प्रेरणा से सभी उनके चरणों में सिर नवाकर चले॥ ५॥

दो०—लछिमन तुरत बोलाये पुरजन बिप्रसमाज।
राज दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ जुबराज॥१३॥

लक्ष्मणजी ने तुरन्त ही पुरवासी लोगों और ब्राह्मण-समाज को बुलवाया तथा सुग्रीव को राजतिलक और अङ्गद को युवराज-पद दिया॥ १३॥

चौ०—उमा रामसम हित जग माहीँ। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीँ॥
सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिँ सब प्रीती॥१॥

शिवजी कहते हैं कि हे उमा! जगत् में गुरु, पिता, माता, भाई और मालिक कोई रामचन्द्रजी के समान हितैषी नहीं हैं। क्योंकि देव, मनुष्य और मुनि सबकी यह रीति है कि वे सब स्वार्थ के लिए ही प्रीति करते हैं॥ १॥

बालि-त्रास-व्याकुल दिन राती। तनु बहु ब्रन चिंता जर छाती॥
सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। अति कृपाल रघुबीरसुभाऊ॥२॥

रघुवीर का स्वभाव अत्यन्त ही दयालु है, जो सुग्रीव दिन-रात बाली के त्रास से व्याकुल रहता था, जिसके शरीर में बहुत-से घाव थे और चिन्ता के मारे जिसकी छाती जलती थी, उसको उन्होंने वानरों का राजा कर दिया॥ २॥

जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपतिजाल नर परहीं॥
पुनि सुग्रीवहि लीन्ह बोलाई। बहु प्रकार नृपनीति सिखाई॥३॥

जो जानते हुए भी ऐसे स्वामी रामचन्द्रजी को त्याग देते हैं, भला वे मनुष्य विपत्ति के जाल में क्यों न गिरें? फिर रामचन्द्रजी ने सुग्रीव को बुलवा लिया और उसको बहुत प्रकार की राजनीति सिखाई॥ ३॥

कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा। पुर न जाउँ दस चारि बरीसा॥
गत ग्रीषम बरषारितु आई। रहिहउँ निकट सैल पर छाई॥४॥

प्रभु ने कहा—वानरों के राजा सुग्रीव! सुनो। मैं चौदह वर्ष पर्यन्त किसी पुर में नहीं जाऊँगा। अब ग्रीष्म ऋतु गई और वर्षा ऋतु आई है, इसलिए पास ही पर्वत पर कुटी छाकर मैं रहूँगा॥ ४॥

अंगदसहित करहु तुम्ह राजू। संतत हृदय धरेहु मम काजू॥
जब सुग्रीव भवन फिरि आये। रामु प्रबरषन गिरि पर छाये॥५॥

तुम अङ्गद समेत राज्य करो, पर मेरे काम का सदा हृदय में स्मरण रखना। फिर जब सुग्रीव लौटकर घर आ गये, तब भगवान् ने जाकर प्रवर्षण पर्वत पर डेरा किया॥ ५॥

दो०—प्रथमहिं देवन्ह गिरि गुहा राखी रुचिर बनाइ।
रामु कृपानिधि कछुक दिन बास करहिंगे आइ॥१४॥

वहाँ (प्रवर्षण पर्वत पर) कृपानिधान रामचन्द्रजी कुछ दिन आकर निवास करेंगे, यह सोचकर देवतों ने पर्वत में सुन्दर गुफा पहले ही से बना रक्खी थी॥ १४॥

चौ०—सुंदर बन कुसुमित अति सोभा। गुंजत मधुपनिकर मधुलोभा॥
कंद मूल फल पत्र सुहाये। भये बहुत जब तें प्रभु आये॥१॥

वहाँ सुन्दर वन फूलकर अत्यन्त शोभा दे रहा था, भौंरों के झुंड शहद के लोभ से गूँज रहे थे। जब से रामचन्द्रजी आये तब से कन्द, मूल, फल और सुहावने पत्ते आदि सभी चीजें बहुत होने लगीं॥ १॥

देखि मनोहर सैल अनूपा। रहे तहँ अनुजसहित सुरभूपा॥
मधुकर-खग-मृग-तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध मुनि प्रभु कै सेवा॥२॥

देवराज रामचन्द्रजी उस मनोहर और अनुपम पर्वत को देखकर वहाँ लक्ष्मण सहित रहने लगे। देवगण, सिद्ध और मुनि भँवर, पक्षी और मृगों के रूप धारण करके प्रभुजी की सेवा करने लगे॥ २॥

मंगलरूप भयउ बन तब तें। कीन्ह निवास रमापति जब तें॥
फटिकसिला अतिसुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ दोउ भाई॥३॥

जब से लक्ष्मीपति भगवान् रामचन्द्र ने निवास किया तब से वह पर्वत और वन मङ्गल-रूप हो गया। एक बहुत ही सफेद स्फटिक (एक जाति के पत्थर की) शिला थी, उस पर दोनों भाई सुखपूर्वक बैठ गये॥ ३॥

कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृपनीति बिबेका॥
बरषाकाल मेघ नभ छाये। गर्जत लागत परम सुहाये॥४॥

रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी से भक्ति, वैराग्य, राजनीति और विवेक की अनेक कथायें कहने लगे। वर्षा-काल में आकाश में मेघ (बादल) छा गये। वे गर्जना करते हुए बहुत ही सुहावने लगते थे॥ ४॥

दो०—लछिमन देखहु मोरगन नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरतिरत हरष जस बिष्णुभगत कहुँ देखि॥१५॥

रामचन्द्रजी ने कहा—लक्ष्मण! देखो, ये मोर बादलों को देखकर कैसे नाचते हैं; जैसे वैराग्य में निरत कोई गृहस्थाश्रमी विष्णु के भक्त को देखकर प्रसन्न हो॥ १५॥

चौ०—घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा॥
दामिनि दमकि रह न घन माहीं। खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं॥१॥

आकाश में बादल घुमड़ घुमड़ कर घोर गर्जना करते हैं, प्रिया के बिना मेरा मन डरता है। बिजली बार बार चमकती है, पर वह बादलों में ठहरती नहीं; जिस तरह दुष्ट मनुष्य की प्रीति स्थिर नहीं होती अर्थात् बार बार होती है फिर छूट जाती है॥ १॥

बरषहिं जलद भूमि नियराये। जथा नवहिं बुध बिद्या पाये॥
बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे॥२॥

बादल पृथ्वी की ओर झुककर इस तरह बरसते हैं, जिस तरह पण्डित लोग विद्या पा जाने पर नमते हैं। पहाड़ वर्षा की बूँदों के आघात (मार) को कैसे सहते हैं, जैसे सन्त (सज्जन) दुष्टों के वचन (फटकार) सह लें॥ २॥

छुद्र नदी भरि चलीं तोराई। जस थोरेहु धन खल इतराई॥
भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥३॥

छोटी छोटी नदियाँ उमड़कर इस तरह चलीं, जिस तरह दुष्ट मनुष्य थोड़ा सा भी धन मिल जाने पर उन्मत्त हो जाता है। जमीन पर गिरते ही पानी ऐसा मैला हो गया, मानों जीव से माया लिपट गई हो॥ ३॥

सिमिटि सिमिटि जल भरहि तलावा। जिमि सदगुन सज्जन पहिँ आवा ॥
सरिताजल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिउ हरि पाई ॥४॥

पानी चारों ओर से इकट्ठा हो होकर तालाब को इस तरह भर रहा है, जिस तरह सद्गुण इकट्ठे हो होकर सज्जन के पास आये हों। नदियों का पानी समुद्रों में जाकर ऐसे निश्चल हो जाता है जैसे जीव परमात्मा को पाकर स्थिर हो॥ ४॥

दो०—हरित भूमि तृनसंकुल समुझि परहि नहि पंथ।
जिमि पाखंड बिबाद तेँ गुप्त होहिँ सदग्रंथ ॥१६॥

घास के जमने से पृथ्वी हरी हो गई है, रास्ते देख नहीं पड़ते, जैसे पाखण्ड के वाद से अच्छे ग्रन्थ गुप्त हो जाते हैं॥ १६॥

चौ०—दादुरधुनि चहुँ दिसा सुहाई। बेद पढहिँ जनु बटुसमुदाई ॥
नवपल्लव भये बिटप अनेका। साधक मन जस मिले बिबेका ॥१॥

चारों दिशाओं में मेंढकों की धुन ऐसी शोभित हो रही है, मानों ब्रह्मचारियों का समूह वेद पढ़ रहा हो। अनेक वृक्ष नये पत्तों से ऐसे सुशोभित हो गये, जैसा किसी साधना करनेवाले का मन विवेक मिल जाने पर होता है॥ १॥

अर्क जवास पात बिनु भयऊ। जस सुराज खल उद्यम गयऊ ॥
खोजत कतहुँ मिलइ नहिँ धूरी। करइ क्रोध जिमि धर्महिँ दूरी ॥२॥

मदार और जवासा (एक तरह की घास) बिन पत्तों का ऐसा हो गया है, जैसे अच्छे राजा के राज्य में दुष्ट का उद्योग व्यर्थ हो जाय। ढूँढ़ने पर भी कहीं धूल इस तरह नहीं मिलती, जिस तरह क्रोध धर्म को दूर कर देता है तब वह नहीं मिलता॥ २॥

ससिसंपन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै संपति जैसी ॥
निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन कर मिला समाजा ॥३॥

अनेक धान्यों से सम्पन्न (भरी हुई) पृथ्वी कैसी शोभित होती है, जैसे उपकारी मनुष्य की सम्पत्ति शोभित हो। रात के घोर अँधेरे में खद्योत (जुगुनू) ऐसे चमकते हैं, मानों दम्भियों (पाखण्डियों) का समाज जुटा हो॥ ३॥

महावृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि सुतंत्र भये बिगरहिँ नारी ॥
कृषी निरावहिँ चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिँ मोह मद माना ॥४॥

भारी वर्षा होने पर कियारियाँ (खेतों और तालाबों की पालें, या बाँध) इस तरह फूट चलीं, जिस तरह स्वतन्त्र हो जाने पर स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं। चतुर किसान लोग खेती को इस

तरह निराते (सुधारते, नाज के भीतर के घास-कूड़े को अलग फेंकते) हैं, जिस तरह बुद्धिमान् लोग नाना प्रकार के मोह-मद और मान को त्याग देते हैं ॥ ४ ॥

देखियत चक्रबाक खग नाहीं। कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं ॥
ऊषर बरषइ तृन नहिं जामा। जिमि हरि-जन-हिय उपज न कामा ॥५॥

आजकल चकवा पक्षी वैसे ही नहीं दिखाई देते, जैसे कलियुग को पाकर धर्म भाग जायँ (न देख पड़ें)। ऊसर भूमि में वर्षा होने पर भी तृण नहीं उपजता, जैसे भगवद्भक्त के हृदय में काम (वासनायें) नहीं उत्पन्न होते ॥ ५ ॥

बिबिध जंतुसंकुल महि भ्राजा। प्रजा बाढ जिमि पाइ सुराजा ॥
जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इंद्रियगन उपजे ग्याना ॥६॥

बहुत-से जीव-जन्तुओं से भरी हुई पृथ्वी ऐसी शोभित हो रही है, जैसे अच्छा राज्य पाकर प्रजा बढ़े। अनेक राह चलनेवाले (बटोही) थककर जहाँ-तहाँ इस तरह विश्राम कर रहे हैं जिस तरह ज्ञान उत्पन्न होने पर इन्द्रिय-गण स्थिर हो जायँ ॥ ६ ॥

दो०—कबहुँ प्रबल चल मारुत जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।
जिमि कपूत के उपजे कुल सद्धर्म नसाहिं ॥१७॥

कभी प्रबल हवा के चलने से बादल जहाँ तहाँ इस तरह बिला जाते (लुप्त हो जाते) हैं, जिस तरह कुपूत के उत्पन्न होने पर वंश के श्रेष्ठ धर्म नष्ट हो जायँ ॥ १७ ॥

कबहुँ दिवस महुँ निबिडतम कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग ॥१८॥

कभी दिन में भी घोर अँधेरा छा जाता है और कभी सूर्य्य प्रकट हो जाता है, जैसे सत्संग पाकर ज्ञान बढ़ता और कुसंगत पाकर नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

चौ०—बरषा बिगत सरदरितु आई। लछिमन देखहु परम सुहाई ॥
फूले कास सकल महि छाई। जनु बरषाकृत प्रगट बुढाई ॥१॥

(इस प्रकार वर्षा ऋतु के बीत जाने पर शरद् ऋतु आई। तब रामचन्द्रजी कहने लगे)— हे लक्ष्मण! देखो, वर्षा बीत गई और शरद् ऋतु आ गई। यह बहुत ही सुहावनी लगती है। सारी पृथ्वी पर काँस फूलकर छा गये। वे ऐसे मालूम होते हैं, मानों, वर्षा ऋतु का बुढ़ापा आ गया हो ॥ १ ॥

उदित अगस्त पंथजल सोखा। जिमि लोभहि सोखइ संतोषा ॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा। संतहृदय जस गत-मद-मोहा ॥२॥

अगस्त्य[1] का उदय हो गया और रास्ते का जल ऐसा सूख गया जैसे सन्तोष लोभ को सुखा दे। नदियों और तालाबों में ऐसा स्वच्छ जल शोभित हो रहा है, जैसे मद और मोह से शून्य सज्जनों का हृदय शोभित हो ॥ २ ॥

रस रस सूख सरित-सर-पानी। ममतात्याग करहिं जिमि ग्यानी ॥
जानि सरदरितु खंजन आये। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाये ॥३॥

नदियों और तालाबों का पानी धीरे धीरे ऐसा सूख चला, जैसे ज्ञानवान् मनुष्य धीरे धीरे ममता को त्यागते हैं। शरद् ऋतु समझकर खञ्जन पक्षी ऐसे आये हैं, जैसे अवसर पाकर पुण्य अच्छे लगते (काम देते) हैं ॥ ३ ॥

पंक न रेनु सोह असि धरनी। नीति-निपुन-नृप कै जसि करनी ॥
जलसंकोच बिकल भइ मीना। अबुध कुटुंबी जिमि धनहीना ॥४॥

पृथ्वी पर न कीचड़ रहा, न धूल ही रही, इसलिए वह ऐसी सुहावनी लगती है, जैसे नीतिकुशल राजा के कार्य सुहावें। जल के संकोच (कमी) से मछलियाँ ऐसी व्याकुल होने लगीं, जैसे मूर्ख कुटुम्बी धन-हीन होने से घबरावें ॥ ४ ॥

बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा ॥
कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी ॥५॥

बिना बादलों का निर्मल आकाश ऐसा शोभित हो रहा है, जैसे सब आशाओं को छोड़कर भगवद्भक्त शोभित हो। कहीं कहीं शरद् ऋतु की थोड़ी सी वर्षा हो जाती है, जैसे मेरी भक्ति कोई कोई ही पाता है (सभी नहीं) ॥ ५ ॥

दो०—चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरिभगति पाइ स्रम तजहिं आस्रमी चारि ॥१६॥

राजा[2], तपस्वी, बनिये और भिखारी (भिक्षार्थी और संन्यासी) लोग प्रसन्न हो होकर नगर छोड़कर ऐसे चले, (चतुर्मास्य में सब काम-काज बन्द रहने से ये लोग अपने स्थानों में रुके रहते हैं) जैसे भगवद्भक्ति पाकर चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) वाले श्रम (चिन्ता) करना छोड़ दें ॥ १६ ॥

१—ज्योतिष में अगस्त्य नाम का एक तारा है, उसका उदय प्रायः भाद्रपद में होता है। अगस्त्य उदय होने पर यदि पानी बरसा तो बहुत बरसता है, पर प्रायः फिर पानी बरसने की बहुत कम आशा रह जाती है।

२—राजा अपना देश देखने, तपस्वी जङ्गल में तपस्या करने, बनिये व्यापार करने, भिक्षुक अर्थात् संन्यासी तीर्थाटन करने और मँगते लोग भीख माँगने को चलते हैं।

चौ०—सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरिसरन न एकउ बाधा॥
फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥१॥

जो मीन (यहाँ मीन शब्द से जल के सभी जीव लिये जाते हैं) गहरे पानी में हैं वे ऐसे सुखी हैं, जैसे भगवान् के शरणागत मनुष्यों को एक भी बाधा (पीड़ा) नहीं होती। तालाबों में कमल खिल जाने से वे ऐसे शोभित हो रहे हैं, जैसे निर्गुण ब्रह्म सगुण हो जाने पर शोभित हो॥ १॥

गुंजत मधुकर मुखर अनूपा। सुंदर खगरव नानारूपा॥
चक्रवाकमन दुख निसि पेखी। जिमि दुरजन परसंपति देखी॥२॥

मुखर (खूब बोलनेवाले) अनुपम भौंरे गूँज रहे हैं, अनेक तरह के सुन्दर पक्षियों के शब्द हो रहे हैं। चकवे के मन में रात देखकर ऐसा दुःख होता है, जैसे दुष्ट मनुष्य को दूसरे की सम्पत्ति देखकर हो॥ २॥

चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहइ न संकरद्रोही॥
सरदातप निसि ससि अपहरई। संतदरस जिमि पातक टरई॥३॥

जैसे शङ्कर जी से द्रोह करनेवाला सुख नहीं पाता वैसे पपीहा रट रहा है, उसे बड़ी प्यास है, पर शान्ति का उपाय नहीं। रात के समय, शरद् ऋतु के ताप को, चन्द्रमा ऐसे मिटाता है, जैसे सन्तों का दर्शन पापों को॥ ३॥

देखि इंदु चकोरसमुदाई। चितवहि जिमि हरिजन हरि पाई॥
मसकदंस बीते हिमत्रासा। जिमि द्विज द्रोह किये कुलनासा॥४॥

चकोर पक्षियों का समूह चन्द्रमा को इस तरह देख रहा है, जिस तरह भगवद्भक्त भगवान् को पाकर देखते हैं। मच्छड़ और डाँस ठंड के दुःख से ऐसे नष्ट हो गये, जैसे ब्राह्मण से द्रोह करने पर कुल नष्ट हो॥ ४॥

दो०—भूमि जीव संकुल रहे गये सरदरितु पाइ।
सदगुरु मिले जाहिं जिमि संसय-भ्रम-समुदाइ॥२०॥

पृथ्वी पर जो बहुत-से जीव-जन्तु इकट्ठे हो रहे थे वे सब ऐसे चले गये, जैसे अच्छा गुरु मिल जाने पर शिष्य का सन्देह और भ्रमों का समूह मिट जाय॥ २०॥

चौ०—बरषा गत निर्मल रितु आई। सुधि न तात सीता कै पाई॥
एक बार कैसेहुँ सुधि जानउँ। कालहु जीति निमिष महुँ आनउँ॥१॥

हे तात! वर्षा ऋतु बीत गई और शरद् ऋतु आ गई, पर सीता की ख़बर नहीं पाई। एक बार किसी तरह ख़बर पा जाऊँ तो पल भर में काल को भी जीतकर मैं सीता को ले आऊँ॥ १॥

कतहुँ रहउ जौं जीवति होई। तात जतनु करि आनउँ सोई॥
सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी॥२॥

हे तात! वह कहीं भी रहे, जो जीती होगी तो मैं प्रयत्नपूर्वक उसको लाऊँगा। देखो, सुग्रीव भी राज्य, ख़ज़ाना, पुर और स्त्री को पा गया इसलिए उसने भी मेरी सुध भुला दी॥ २॥

जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहि सर हतउँ मूढ कहुँ काली॥
जासु कृपा छूटहिं मद मोहा। ता कहुँ उमा कि सपनेहुँ कोहा॥३॥

मैंने जिस बाण से बाली को मारा था, उसी बाण से कल मूर्ख सुग्रीव को भी मार डालूँगा। शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती! जिनकी कृपा से मद और मोह नष्ट हो जाते हैं, भला क्या उन रामचन्द्रजी को स्वप्न में भी क्रोध हो सकता है!॥ ३॥

जानहिं यह चरित्र मुनि ग्यानी। जिन्ह रघु-बीर-चरन-रति मानी॥
लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना। धनुष चढाइ गहे कर बाना॥४॥

इस चरित्र को वे ज्ञानवान् मुनि लोग जानते हैं, जिन्होंने रघुवीर के चरणों में ही सुख मान लिया है (और कोई क्या जाने)। लक्ष्मणजी ने प्रभु रामचन्द्रजी को क्रोधयुक्त जानकर धनुष चढ़ाकर हाथ में बाण ले लिये॥ ४॥

दो०—तब अनुजहिं समुझावा रघुपति करुनासींवँ।
भय देखाइ लेइ आवहु तात सखासुग्रीवँ॥२१॥

तब करुणा की सीमा श्रीरघुनाथजी ने लक्ष्मणजी को समझाया और कहा कि हे तात! मित्र सुग्रीव को भय दिखाकर बुला लाओ (मारना नहीं)॥ २१॥

चौ०—इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा। रामकाजु सुग्रीव बिसारा॥
निकट जाइ चरनन्हि सिरु नावा। चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा॥

(यह तो रामचन्द्रजी की ओर का वृत्तान्त हुआ,) यहाँ (किष्किन्धा में) वायु-पुत्र हनुमान् ने हृदय में सोचा कि सुग्रीव ने रामचन्द्रजी के काम को भुला दिया। तब उन्होंने सुग्रीव के पास जाकर, उनके चरणों में मस्तक नवाकर, चारों तरह (साम, दाम, भेद और दण्ड) से कहकर सुग्रीव को समझाया॥ १॥

सुनि सुग्रीव परमभय माना। बिषय मोर हरि लीन्हेउ ग्याना॥
अब मारुतसुत दूतसमूहा। पठवहु जहँ तहँ बानर-जूहा॥२॥

जेहि सायक मारा मैं बाली
तेहि सर हतउ मूढ़ कहुँ काली ॥ पृ० ७३६

राजनीति सुनकर सुग्रीव ने बड़ा ही डर माना। वह कहने लगा—विषयों ने मेरे ज्ञान को हर लिया (इसलिए मैं कुछ न कर सका)। हे हनुमान्! अब तुम जहाँ वानरों के झुंड रहते हैं वहाँ दूतों को भेजो॥ २॥

कहेहु पाख महुँ आव न जोई। मोरे कर ता कर बध होई॥
तब हनुमंत बोलाये दूता। सब कर करि सनमान बहूता॥३॥

जानेवालों (दूतों) से कह देना कि जो एक पखवारे (१५ दिन में) यहाँ न आवेगा, उस वानर का वध मेरे हाथ से किया जायगा। तब हनुमान्‌जी ने दूतों को बुलाया और उनका बहुत सम्मान कर॥ ३॥

भय अरु प्रीति नीति देखराई। चले सकल चरनन्हि सिरु नाई॥
एहि अवसर लछिमन पुर आये। क्रोध देखि जहँ तहँ कपि धाये॥४॥

और उनको भय, प्रीति और नीति कहकर बताई (अर्थात् कर्तव्य कार्य, सीताजी को ढूँढ़ने के लिए वानरों से कह दिया)। वे सब चरणों में सिर झुकाकर चले गये। इसी अवसर पर लक्ष्मणजी पुर (किष्किन्धा) में आये। उस समय उनका क्रोध देखकर बन्दर जहाँ तहाँ भाग खड़े हुए॥ ४॥

दो०—धनुष चढाइ कहा तब जारि करउँ पुर छार।
ब्याकुल नगर देखि तब आयउ बालिकुमार॥२२॥

तब लक्ष्मणजी ने धनुष चढ़ाकर कहा कि मैं इस नगर को जलाकर भस्म किये देता हूँ। तब सारे नगर को व्याकुल देखकर बालि-पुत्र अङ्गद आये॥ २२॥

चौ०—चरन नाइ सिरु बिनती कीन्ही। लछिमनु अभयबाँह तेहि दीन्ही॥
क्रोधवंत लछिमन सुनि काना। कह कपीस अतिभय अकुलाना॥१॥

उन्होंने लक्ष्मणजी के चरणों में मस्तक नवाकर प्रार्थना की। तब लक्ष्मणजी ने अङ्गद के मस्तक पर अपना अभय-हस्त रक्खा। उधर कपीश्वर सुग्रीव भी कानों से लक्ष्मणजी को क्रोध-युक्त सुनकर बहुत ही भयभीत हुआ॥ १॥

सुनु हनुमंत संग लेइ तारा। करि बिनती समुझाउ कुमारा॥
तारासहित जाइ हनुमाना। चरन बंदि प्रभु सुजसु बखाना॥२॥

उसने कहा—हे हनुमन्! सुनो, तुम तारा को साथ लेकर जाओ और प्रार्थना कर कुमार (ब्रह्मचारी) लक्ष्मणजी को समझाओ। तब हनुमान्‌जी ने, तारा को साथ ले, लक्ष्मणजी के पास जाकर उनके चरणों में प्रणाम कर प्रभु रामचन्द्रजी का सुन्दर यश वर्णन किया॥ २॥

करि बिनती मंदिर लेइ आये। चरन पखारि पलँग बैठाये॥
तब कपीस चरनन्हि सिरु नावा। गहि भुज लछिमन कंठ लगावा॥३॥

हनुमान्‌जी प्रार्थना कर उनको घर ले आये और उनके चरणों को धोकर उन्हें पलँग पर बैठाया। तब कपीश्वर सुग्रीव ने चरणों में सिर नवाया। लक्ष्मणजी ने सुग्रीव को, भुजा पकड़, उठाकर गले से लगाया ॥ ३ ॥

नाथ बिषयसम मद कछु नाहीं। मुनिमन मोह करइ छन माहीं ॥
सुनत बिनीतबचन सुख पावा। लछिमन तेहि बहुबिधि समुझावा ॥४॥
पवनतनय सब कथा सुनाई। जेहि बिधि गये दूतसमुदाई ॥५॥

सुग्रीव ने कहा—हे नाथ! विषय के बराबर और कोई मद नहीं है। वह एक क्षण भर में अच्छे अच्छे मुनियों के मन में मोह उत्पन्न कर देता है। लक्ष्मणजी ने सुग्रीव के विनय-युक्त वचन सुनकर सुख पाया और उसको बहुत तरह से समझाया ॥ ४ ॥ फिर हनुमान्‌जी ने जिस तरह दूतों के समूह भेजे थे वह सब खबर कह सुनाई ॥ ५ ॥

दो०—हरषि चले सुग्रीव तब अंगदादि कपि साथ ।
रामानुज आगे करि आये जहँ रघुनाथ ॥२३॥

तब फिर अङ्गद आदि बन्दरों को साथ लेकर और रामजी के छोटे भाई लक्ष्मणजी को आगे कर सुग्रीव चले और वहाँ आये जहाँ श्रीरघुनाथजी थे ॥ २३ ॥

चौ०—नाइ चरन सिरु कह कर जोरी। नाथ मोहि कछु नाहिंन खोरी ॥
अतिसयप्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया ॥१॥

सुग्रीव ने श्रीरामजी के चरणों में मस्तक नवाकर हाथ जोड़कर कहा—हे नाथ! मेरा कुछ दोष नहीं है। देव! आपकी माया अत्यन्त प्रबल है। हे रामचन्द्रजी! जो आप दया करें तो वह माया छूटे (अन्यथा किसी तरह नहीं छूट सकती) ॥ १ ॥

बिषयबस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पामर पसु कपि अति कामी ॥
नारि-नयन-सर जाहि न लागा। घोर क्रोध-तम-निसि जो जागा ॥२॥

हे स्वामी! देवता, मनुष्य और मुनि विषय के वशीभूत हैं; फिर मैं तो नीच पशु (बन्दर) और अत्यन्त कामी हूँ। जिसको स्त्री का नेत्र (कटाक्ष)-रूपी बाण नहीं लगा, जो घोर क्रोधरूपी अँधेरी रात में जागता रहा अर्थात् क्रोध के वश न हुआ और ॥ २ ॥

लोभपास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया ॥
यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई ॥३॥

हे रघुराई! जिसने लोभरूपी पाश में अपना गला नहीं फँसाया, वह मनुष्य आपके समान हो सकता है। हे नाथ! ये गुण साधन से नहीं होते, किन्तु आपकी कृपा से कोई कोई ही इन गुणों को पाता है ॥ ३ ॥

तब रघुपति बोले मुसुकाई । तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई ॥
अब सोइ जतन करहु मन लाई । जेहि बिधि सीता कै सुधि पाई ॥४॥

तब श्रीरघुनाथजी मुसकुरा कर बोले—हे सुग्रीव ! तुम मुझे ऐसे प्यारे हो जैसे भाई भरत । अब तुम मन लगाकर वही प्रयत्न करो जिससे सीता की खबर मिले ॥ ४ ॥

दो०—एहि बिधि होत बतकही आये बानरजूथ ।
नानाबरन सकल दिसि देखिय कीसबरूथ ॥२४॥

इस तरह बातचीत हो ही रही थी कि इतने में वानरों के झुंड आये । जिधर देखो उधर ही को दिशाओं में अनेक रंगों के बन्दरों के झुंड दीखने लगे ॥ २४ ॥

चौ०—बानरकटक उमा मैं देखा । सो मूरख जो कर चह लेखा ॥
आइ रामपद नावहिं माथा । निरखि बदनु सब होहिं सनाथा ॥१॥

शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती ! मैंने वानरों की सेना देखी थी । जो उस सेना की गिनती करना चाहता हो वह मूर्ख है ! सब बन्दर आकर रामचन्द्रजी के चरणों में मस्तक नवा-कर प्रणाम करते हैं और श्रीमुख देखकर कृतकृत्य होते हैं ॥ १ ॥

अस कपि एक न सेना माहीं । राम कुसल जेहि पूछा नाहीं ॥
यह कछु नहि प्रभु कै अधिकाई । बिस्वरूप ब्यापक रघुराई ॥२॥

इतनी बड़ी सेना में ऐसा कोई बन्दर नहीं बचा जिससे रामचन्द्रजी ने कुशल-प्रश्न न किया हो । रामचन्द्रजी के लिए यह कोई बड़ी बात नहीं, क्योंकि वे रघुराई विश्वरूप और (सर्व) व्यापक हैं ॥ २ ॥

ठाढ़े जहँ तहँ आयसु पाई । कह सुग्रीव सबहि समुझाई ॥
रामकाजु अरु मोर निहोरा । बानरजूथ जाहु चहुँ ओरा ॥३॥

वे सब आज्ञा पाकर जहाँ तहाँ खड़े हो गये । फिर सबको समझा कर सुग्रीव कहने लगा—हे वानर-गण ! रामचन्द्रजी का कार्य और मुझ पर एहसान करने के लिए तुम चारों ओर जाओ ॥ ३ ॥

जनकसुता कहुँ खोजहु जाई । मासदिवस महुँ आयहु भाई ॥
अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये । आवइ बनिहि सो मोहि मराये ॥४॥

भाइयो ! तुम जाकर जानकीजी की खोज करो और एक महीने में लौट आना । जो बिना खबर पाये अवधि बीत जाने पर आवेगा उसको मुझे मरवा डालते ही बनेगा अर्थात् मैं खुद उसे मरवा डालूँगा ॥ ४ ॥

दो०—बचन सुनत सब बानर जहँ तहँ चले तुरंत।
तब सुग्रीव बोलाये अंगद नल हनुमंत ॥२५॥

इस तरह सुग्रीव के वचनों को सुनते ही सब वानर जहाँ तहाँ (चारों ओर) चल दिये। तब फिर सुग्रीव ने अङ्गद, नल और हनुमान्‌जी को बुलाया ॥ २५ ॥

चौ०—सुनहु नील अंगद हनुमाना। जामवंत मतिधीर सुजाना ॥
सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू। सीतासुधि पूछेहु सब काहू ॥१॥

उनसे कहा—हे नील, अङ्गद, हनुमान् और जाम्बवान्! हे बुद्धि के धीरो, हे चतुरो! सुनो। तुम सब अच्छे योद्धा मिलकर दक्षिण दिशा की ओर जाओ और जो कोई मिले, उससे सीता की खबर पूछना ॥ १ ॥

मन क्रम बचन सो जतनु बिचारेहु। रामचंद्र कर काजु सँवारेहु ॥
भानु पीठि सेइय उर आगी। स्वामिहि सर्बभाव छल त्यागी ॥२॥

तुम लोग मन, वचन और शरीर से वही उपाय सोचना जिससे रामचन्द्रजी का काम सुधरे। सूर्य को पीठ से, अग्नि को हृदय से (अर्थात् घाम खाना हो तब पीठ पर खावे और आग तापना हो तब छाती सेकनी चाहिए) सेकना चाहिए किन्तु स्वामी की सेवा सर्वभाव से छल छोड़कर करनी चाहिए। अर्थात् सदा हर तरह की सेवा करे ॥ २ ॥

तजि माया सेइय परलोका। मिटहि सकल भवसंभव सोका ॥
देह धरे कर यह फलु भाई। भजिय राम सब काम बिहाई ॥३॥

माया (स्त्री, पुत्र आदि की ममता) को त्यागकर परलोक को सेवना चाहिए, जिसमें संसार (जन्म-मरण) से उत्पन्न होनेवाले सोच मिट जायँ। भाई! शरीर पाने का यही फल है कि सब काम छोड़कर रामचन्द्रजी का भजन करे ॥ ३ ॥

सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघु-बीर-चरन-अनुरागी ॥
आयसु माँगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई ॥४॥

जो रघुवीर के चरणों का प्रेमी है वही गुणज्ञ (गुणों का जाननेवाला) है और वही बड़भागी है। यह सुनकर और आज्ञा माँगकर सब वानर-गण चरणों में मस्तक से प्रणाम कर, प्रसन्न हो, रामचन्द्रजी को स्मरण करते हुए चले ॥ ४ ॥

पाछे पवनतनय सिरु नावा। जानि काजु प्रभु निकट बोलावा ॥
परसा सीस सरोरुहपानी। करमुद्रिका दीन्हि जन जानी ॥५॥

सबके पीछे वायु-पुत्र हनुमान्‌जी ने प्रणाम किया। तब प्रभु रामचन्द्रजी ने यह जानकर कि इनसे काम होगा, उन्हें अपने पास बुला लिया। अपने हस्त-कमल से उनके मस्तक को स्पर्श किया और उन्हें भक्त जानकर अपने हाथ की मुद्रिका (अँगूठी) दी॥ ५॥

बहु प्रकार सीतहिँ समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु॥
हनुमत जनम सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना॥६॥
जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता॥७॥

और कहा कि तुम सीता को बहुत तरह से समझाना; उसको हमारे बल और वियोग की बात कहकर तुम जल्दी लौट आना। हनुमान्‌जी ने यह सुनकर अपना जन्म सफल समझा और दयानिधान रामचन्द्रजी को हृदय में रखकर वे चल दिये॥ ६॥ देवतों के रक्षक रामचन्द्रजी यद्यपि जानते सब बातें हैं, तथापि राजनीति की रक्षा करते हैं अर्थात् अजान बनकर राजनीति के अनुसार कार्य करते हैं॥ ७॥

दो०—चले सकल बन खोजत सरिता सर गिरि खोह।
राम-काज-लय-लीन मन बिसरा तन कर छोह॥२६॥

वे सब वानर वनों, नदियों, सरोवरों, पहाड़ों, खोहों आदि में खोजने लगे। उन्होंने अपना मन रामचन्द्रजी के कार्य में लवलीन कर दिया और अपने शरीर की दशा भुला दी अर्थात् वे जी-तोड़ परिश्रम करने लगे॥ २६॥

चौ०—कतहुँ होइ निसिचर सन भेंटा। प्रान लेहिं एक एक चपेटा॥
बहु प्रकार गिरि कानन हेरहिँ। कोउ मुनि मिलइ ताहि सब घेरहिं॥१॥

जो कहीं राक्षस से उनकी भेंट हो जाती थी, तो एक एक चपेटा लगाकर उसके प्राण ले लेते थे। हर एक पहाड़ और जङ्गल को कई तरह देखते तथा जो कोई मुनि मिल जाता तो उसे सब मिलकर घेर लेते थे॥ १॥

लागि तृषा अतिसय अकुलाने। मिलइ न जल घन गहन भुलाने॥
मन हनुमान कीन्ह अनुमाना। मरन चहत सब बिनु जलपाना॥२॥

इस तरह जाते जाते एक जगह बहुत प्यास लगी, इससे वे बहुत घबराये; घोर जङ्गल में भूले फिरते थे, कहीं पानी नहीं मिलता था। हनुमान्‌जी ने मन में अनुमान किया कि अब बिना पानी पिये ये सब वानर मरना चाहते हैं॥ २॥

चढ़ि गिरिसिखर चहूँ दिसि देखा। भूमिबिबर एक कौतुक पेखा॥
चक्रबाक बक हंस उडाहीँ। बहुतक खग प्रबिसहिँ तेहि माहीँ॥३॥

तब उन्होंने एक पर्वत की चोटी पर चढ़कर चारों ओर देखा, तो पृथ्वी के एक छेद में उन्हें एक आश्चर्य देख पड़ा। उन्होंने देखा कि चकवे, बगुले और हंस उड़ रहे हैं और उस पृथ्वी के बिल में बहुत-से पक्षी घुस रहे हैं॥ ३॥

गिरि तें उतरि पवनसुत आवा। सब कहुँ लेइ सोइ बिबर देखावा॥
आगे करि हनुमंतहि लीन्हा। पैठे बिबर बिलंबु न कीन्हा॥४॥

यह देखकर वायु-पुत्र पर्वत से उतर आये। उन्होंने सब बन्दरों को साथ ले जाकर वह बिल दिखाया। उन सभी बन्दरों ने हनुमान्‌जी को आगे कर लिया और बहुत जल्दी उस बिल में प्रवेश किया॥ ४॥

दो०—दीख जाइ उपवन बर सर बिकसित बहु कंज।
मंदिर एक रुचिर तहँ बैठि नारि तपपुंज॥२७॥

भीतर जाकर देखा तो वहाँ एक सुन्दर बगीचा लगा है, एक सरोवर है जिसमें बहुत से कमल खिले हुए हैं। एक मनोहर मन्दिर है, उसमें तपस्या की पुञ्ज एक स्त्री बैठी है॥ २७॥

चौ०—दूरि तें ताहि सबन्हि सिरु नावा। पूछे निज बृत्तांत सुनावा॥
तेहि तब कहा करहु जलपाना। खाहु सु-रस सुंदर फल नाना॥१॥

उसे सबने दूर से प्रणाम किया और उसके पूछने पर अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया। उस तपस्विनी ने कहा कि तुम लोग रसीले, सुन्दर विविध फल खाओ और जल-पान करो॥ १॥

मज्जनु कीन्ह मधुर फल खाये। तासु निकट पुनि सब चलि आये॥
तेहि सब आपनि कथा सुनाई। मैं अब जाब जहाँ रघुराई॥२॥

यह सुनकर उन लोगों ने स्नान किया और मीठे मीठे फल खाये। फिर चलकर वे उस तपस्विनी के पास आये। उसने अपनी सब कथा[१] सुनाई और कहा कि मैं वहाँ जाऊँगी जहाँ रामचन्द्रजी हैं॥ २॥

मूँदहु नयन बिबर तजि जाहू। पैहहु सीतहिं जनि पछिताहू॥
नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढे सकल सिंधु के तीरा॥३॥

तुम अपनी आँखें बन्द कर लो, तो इस बिल से बाहर निकल जाओगे घबराओ

१—उस तपस्विनी ने कहा, मेरा नाम स्वयंप्रभा है। मैं दिव्य नामक गन्धर्व की कन्या हूँ। विश्वकर्मा की रूपवती कन्या हेमा ने, महादेवजी को सन्तुष्ट कर, यह प्रदेश पाया था। मेरी उससे मित्रता है। उस हेमा ने ब्रह्मलोक जाते समय मुझे यहाँ रहकर तपस्या करने को कहा। तब से मैं, मोक्ष के लिए, यहीं तप करती हूँ। उसने मुझसे कह रक्खा था कि त्रेता में रामावतार होगा। रामचन्द्रजी की स्त्री को ढूँढ़ते हुए वानर आवेंगे, उन्हें आदर-सत्कार-पूर्वक बिदा कर रामदर्शन करके तू मुक्त होगी।

मत, पछताओ मत, तुम सीताजी को पा जाओगे। यह सुनकर बन्दरों ने ज्यों ही आँखें बन्द कीं और खोलीं त्यों ही क्या देखते हैं कि वे समुद्र के किनारे खड़े हैं॥ ३॥

सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा। जाइ कमलपद नायेसि माथा॥
नाना भाँति बिनय तेहि कीन्ही। अनपायनी भगति प्रभु दीन्ही॥४॥

जहाँ रामचन्द्रजी थे वहाँ पर वह तपस्विनी गई। उसने जाकर रामजी के चरण-कमलों में मस्तक रखकर प्रणाम किया। उसने अनेक प्रकार से प्रार्थना की। रामजी ने उसको अनपायिनी (जो सहज में न मिल सके) भक्ति दी॥ ४॥

दो०—बदरीबन कहुँ सो गई प्रभुअग्या धरि सीस।
उर धरि राम-चरन-जुग जे बंदत अज ईस॥२८॥

फिर प्रभु रामचन्द्रजी की आज्ञा को मस्तक पर धारण कर और उनके जिन चरणों को ब्रह्मा और शिवजी वन्दन करते हैं उन दोनों चरणों को हृदय में रखकर वह तपस्विनी बदरी-वन (बदरिकाश्रम) चली गई॥ २८॥

चौ०—इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं। बीती अवधि काजु कछु नाहीं॥
सब मिलि कहहिं परसपर बाता। बिनु सुधि लये करब का भ्राता॥१॥

यहाँ, समुद्र के किनारे, बन्दर मन में विचार करने लगे कि अवधि (जो सुग्रीव ने एक महीने के भीतर लौटने की दी थी) तो बीत गई और काम कुछ न हुआ। फिर सब मिलकर आपस में बातचीत करने लगे कि हे भाइयो! सीता की खबर लिये बिना हम क्या करेंगे॥ १॥

कह अंगद लोचन भरि बारी। दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी॥
इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गये मारिहि कपिराई॥२॥

अङ्गद आँखों में आँसू भरकर कहने लगे—हमारी तो दोनों तरह मृत्यु हुई, क्योंकि यहाँ हमने सीता की खबर नहीं पाई और वहाँ जाने पर सुग्रीव अवश्य ही हमें मार डालेगा॥ २॥

पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही॥
पुनि पुनि अंगद कह सब पाहीं। मरन भयेउ कछु संसय नाहीं॥३॥

वह तो मेरे पिता के मरने पर ही मुझे मार डालता, पर मुझे रामचन्द्रजी ने बचा रक्खा, इसमें सुग्रीव का कुछ एहसान नहीं है। अङ्गद बार बार सबसे कहने लगा कि अब मरे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है॥ ३॥

अंगदबचन सुनत कपिबीरा। बोलि न सकहिं नयन बह नीरा॥
छन एक सोचमगन होइ गयऊ। पुनि अस बचन कहत सब भयऊ॥४॥

अङ्गद के वचन सुनकर वोर बन्दर कुछ बोल नहीं सकते थे। उनकी आँखों से पानी बहता था। एक क्षण भर सब वानर सोच में पड़ गये, फिर सब ऐसा वचन कहने लगे कि ॥ ४ ॥

हम सीता कै सोध-बिहीना। नहिं जैहहिँ जुबराज प्रबीना॥
अस कहि लवन-सिंधु-तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई॥५॥

हे दक्ष युवराज! हम लोग सीता की खबर लिये बिना लौटकर न जावेंगे। ऐसा कहकर वे सब बन्दर खारे समुद्र के किनारे जाकर (मरने के लिए) कुश बिछाकर बैठ गये॥ ५॥

जामवंत अंगददुख देखी। कही कथा उपदेस बिसेखी॥
तात राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥६॥
हम सब सेवक अति-बड-भागी। संतत स-गुन-ब्रह्म-अनुरागी॥७॥

जाम्बवान् ने अङ्गद को दुखो देखकर उसको विशेष उपदेश की बातें कहीं। उसने कहा—हे तात! तुम रामचन्द्रजी को मनुष्य मत समझो; किन्तु उन्हें निर्गुण ब्रह्म, अजित (जिन्हें कभी किसी ने नहीं जीता) और अजन्मा जानो॥ ६॥ हम सब सेवक बड़े ही भाग्यशाली हैं कि जो सदा सगुण ब्रह्म रामचन्द्रजी के प्रेमी हैं॥ ७॥

दो०—निजइच्छा अवतरइ प्रभु सुर-महि-गो-द्विजलागि।
सगुनउपासक संग तहँ रहहिं मोच्छसुख त्यागि॥२९॥

वे स्वामी रामचन्द्रजी देवता, गौओं और ब्राह्मणों की भलाई के लिए अपनी इच्छा से जहाँ अवतार लेते हैं वहाँ सगुण के उपासक भक्त लोग, मोक्ष सुख को त्यागकर, उनके साथ रहते हैं॥ २९॥

चौ०—एहि बिधि कथा कहहिं बहु भाँती। गिरिकंदरा सुनी संपाती॥
बाहेर होइ देखे बहु कीसा। मोहि अहारु दीन्ह जगदीसा॥१॥

इसी तरह की कई कथायें जाम्बवान् कह रहा था जिन्हें संपाती गीध ने पहाड़ की गुफा में पड़े पड़े सुना। वह बाहर निकलकर बहुत-से बन्दरों को देखकर कहने लगा—मुझे जगत्पति भगवान् ने आहार दिया॥ १॥

आजु सबहि कहँ भच्छन करऊँ। दिन बहु चल अहार बिनु मरऊँ॥
कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्ह बिधि एकहि बारा॥२॥

मुझे भूखे मरते बहुत दिन बीते हैं, आज मैं इन सबको भक्षण कर जाऊँगा। मुझे कभी पेट भर खाने को नहीं मिला, आज विधाता ने वह इकट्ठा एक ही बार दे दिया॥ २॥

डरपे गीधबचन सुनि काना। अब भा मरन सत्य हम जाना॥
कपि सब उठे गीध कहँ देखी। जामवंत मन सोच बिसेखी॥३॥
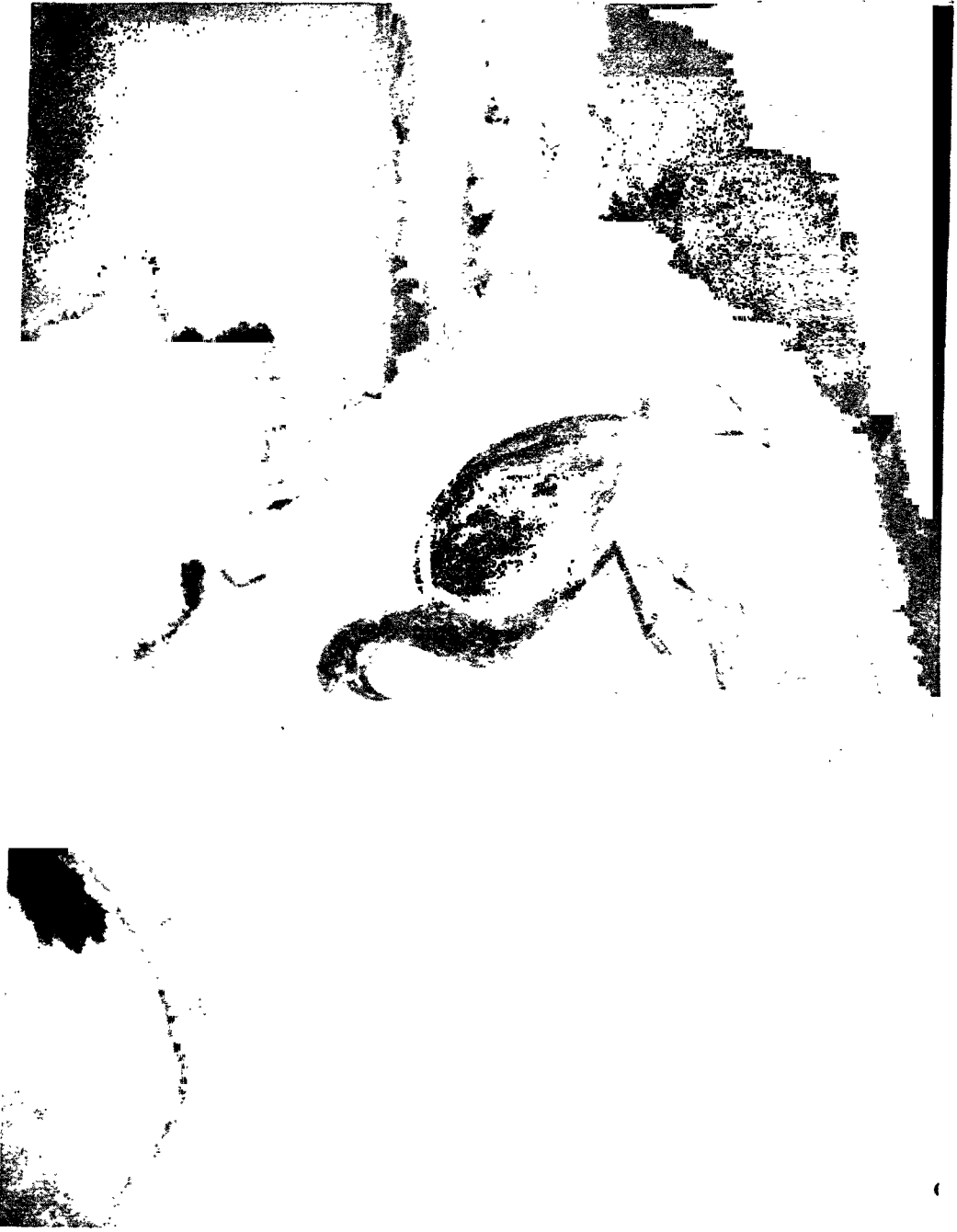
कपि सब उठे गीध कहँ देखी।
जामवंत मन सोच बिसेखी ॥ पृ० ७४४
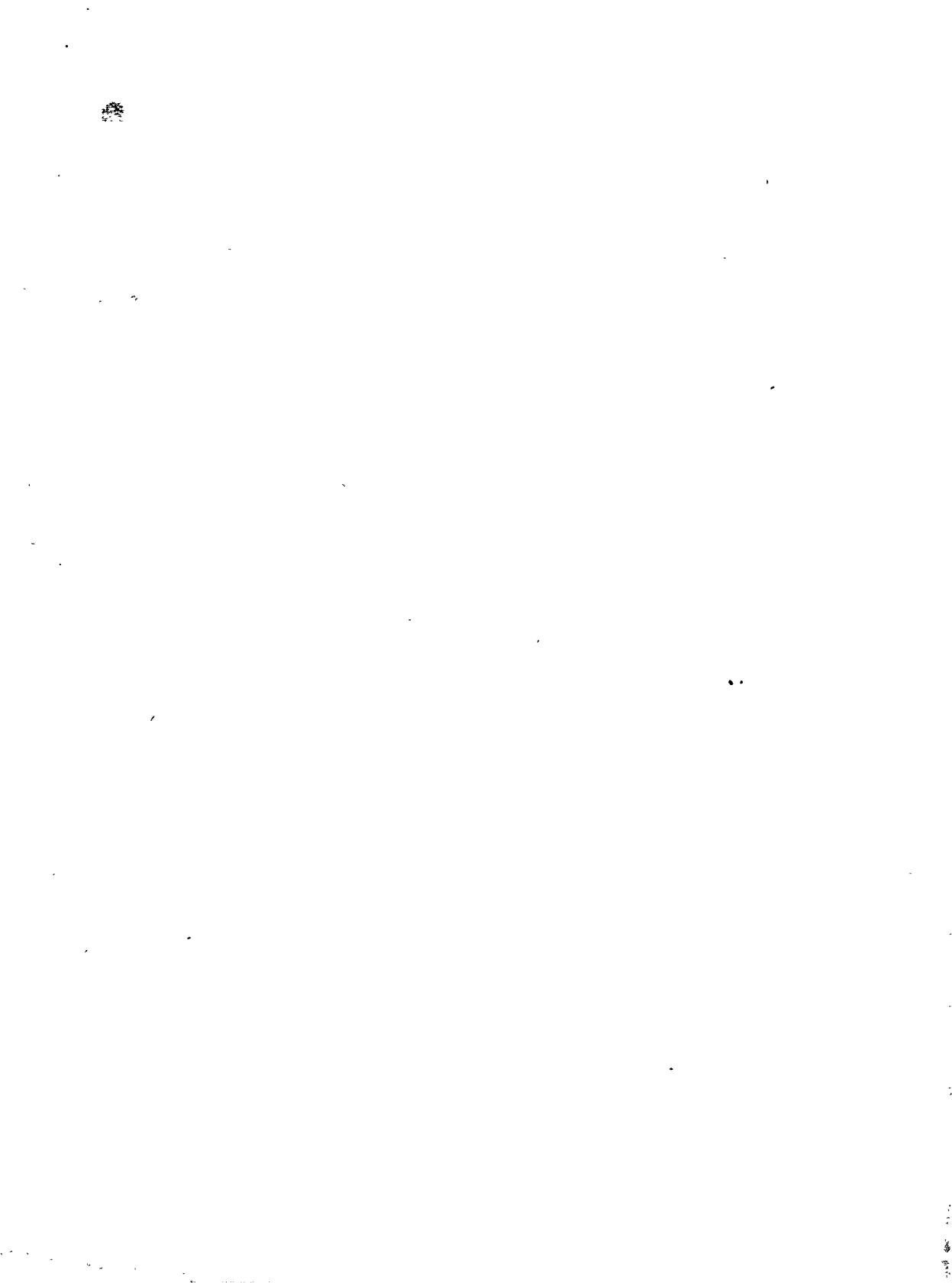
गीध का वचन कानों से सुनकर सब बन्दर डर गये। वे बोले कि अब सचमुच हमारा मरण हुआ, यह हमने जान लिया। उस गीध को देखकर सब बन्दर उठ खड़े हुए। जाम्बवान् के चित्त में अधिक सोच हुआ ॥ ३ ॥

कह अंगद बिचारि मन माहीं। धन्य जटायू सम कोउ नाहीं ॥
राम-काज-कारन तनु त्यागी। हरिपुर गयउ परम-बड-भागी ॥४॥

अङ्गद मन में सोच विचार कर कहने लगा कि जटायु को धन्य है। उसके समान कोई नहीं। रामचन्द्रजी ही के कार्य के लिए अपना शरीर छोड़कर वह वैकुण्ठ चला गया। वह बड़ा भाग्यशाली था ॥ ४ ॥

सुनि खग हरष-सोक-जुत बानी। आवा निकट कपिन्ह भय मानी ॥
तिन्हहिँ अभय करि पूछेसि जाई। कथा सकल तिन्ह ताहि सुनाई ॥५॥
सुनि संपाति बंधु कै करनी। रघु-पति-महिमा बहुबिधि बरनी ॥६॥

वह संपाती गीध आनन्द और सोच से भरी हुई वाणी को सुनकर बन्दरों के पास आया। इससे वे डरे। उसने बन्दरों से कहा कि डरो मत। फिर उसने जटायु की सब कथा पूछी और बन्दरों ने वह उसे सुना दी ॥ ५ ॥ संपाती ने अपने भाई जटायु की करनी सुनकर रामचन्द्रजी की महिमा बहुत तरह से वर्णन की ॥ ६ ॥

दो०—मोहि लेइ जाहु सिंधुतट देउँ तिलांजलि ताहि।
बचनसहाय करबि मैं पैहहु खोजहु जाहि ॥३०॥

उसने बन्दरों से कहा—तुम मुझे समुद्र के तीर ले चलो, तो मैं अपने भाई को तिलाञ्जलि दे दूँ। फिर मैं वचनों से तुम्हारी सहायता करूँगा। तुम जिसकी खोज कर रहे हो उसे पा जाओगे ॥ ३० ॥

चौ०—अनुजक्रिया करि सागरतीरा। कह निज कथा सुनहु कपिबीरा ॥
हम दोउ बंधु प्रथम तरुनाई। गगन गये रबिनिकट उडाई ॥१॥

फिर सम्पाती, समुद्र के तीर पर अपने छोटे भाइ को (मरण-सम्बन्धिनी) क्रिया करके, अपनी कथा कहने लगा— हे कपीश्वरो! सुनो। हम दोनों भाई (मैं और जटायु) पहले जवानी में उड़कर आकाश में सूर्य के पास पहुँचे ॥ १ ॥

तेज न सहि सक सो फिरि आवा। मैं अभिमानी रबि नियरावा ॥
जरे पंख अति तेज अपारा। परेउँ भूमि करि घोर चिकारा ॥२॥

जटायु तेज को नहीं सह सका इसलिए लौट आया, पर मैं अभिमानी उड़ते उड़ते सूर्य के निकट जा पहुँचा। वहाँ अत्यन्त अपार तेज के लगने से मेरे पङ्ख जल गये, इससे मैं घोर चिक्कार कर ज़मीन पर गिर पड़ा ॥ २ ॥

मुनि एक नाम चंद्रमा ओही। लागी दया देखि करि मोही॥
बहुप्रकार तेंहि ग्यान सुनावा। देह-जनित अभिमान छुड़ावा॥३॥

वहाँ एक चन्द्रमा नाम के ऋषि थे। मुझे गिरा हुआ देखकर उन्हें दया आई। उन्होंने बहुत तरह से मुझे ज्ञानोपदेश किया और शरीर से उत्पन्न अभिमान (देहाभिमान) को दूर कर दिया॥ ३॥

त्रेता ब्रह्म मनुजतनु धरिही। तासु नारि निसि-चर-पति हरिही॥
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता। तिन्हहि मिले तैं होब पुनीता॥४॥

उन्होंने कहा—त्रेता में ब्रह्म (ईश्वर) मनुष्य-शरीर धारण करेंगे। उनकी स्त्री को राक्षस-राज (रावण) हरण करेगा। उनका पता लगाने के लिए परमात्मा दूत भेजेंगे। तू उनसे मिलकर पवित्र हो जायगा॥ ४॥

जमिहहिं पंख करसि जनि चिन्ता। तिन्हहि देखाइ दिहेसु तैं सीता॥
मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू। सुनि मम बचन करहु प्रभुकाजू॥५॥

तू चिन्ता मत कर, तेरे पङ्ख फिर जम आवेंगे, तू उन्हें सीता का पता बतला देना। आज मुनि की वह वाणी सत्य हुई। तुम लोग मेरा वचन सुनकर अपने स्वामी का कार्य करो॥ ५॥

गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका। तहँ रह रावन सहज असंका॥
तहँ असोकउपवन जहँ रहई। सीता बैठि सोच-रत अहई॥६॥

समुद्र-पार त्रिकूट पर्वत है। उसके ऊपर लङ्कापुरी बसी हुई है। वहाँ स्वभाव ही से निशङ्क (निडर) रावण रहता है। वहाँ एक अशोक-वन है। उसी में सीताजी बैठी हुई सोच में पड़ी हैं॥ ६॥

दो०—मैं देखउँ तुम्ह नाहीं गीधहि दृष्टि अपार।
बूढ भयउ न त करतेउँ कछुक सहाय तुम्हार॥३१॥

मैं उसे देख रहा हूँ, तुम नहीं देख सकते; क्योंकि गीधों की नज़र बहुत दूर तक जा सकती है। मैं बुड्ढा हो गया हूँ इसलिए लाचार हूँ, नहीं तो तुम्हारी कुछ सहायता अवश्य करता॥ ३१॥

चौ०—जो नाँघइ सतजोजन सागर। करइ सो रामकाज मतिआगर॥
मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा। रामकृपा कस भयउ सरीरा॥१॥

जो बुद्धिमान् सौ योजन समुद्र को उल्लङ्घन कर जायगा, वही रामचन्द्रजी का काम सिद्ध करेगा। हे वानरो! तुम मुझे देखकर मन में धीरज रखो। देखो, रामचन्द्रजी की कृपा से मेरा शरीर कैसा (नया, पुष्ट) हो गया!॥ १॥

पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं॥
तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदय धरि करहु उपाई॥२॥

पापी भी जिनका नाम स्मरण करते ही महान् अपार संसार-सागर को तर जाते हैं उन्हीं रामचन्द्र के तुम तो दूत हो। (तुम्हारे लिए यह मामूली समुद्र तैर जाना कौन सो बड़ी बात है?) तुम कादरता (डरपोकपन) को छोड़कर रामचन्द्रजी को हृदय में रखकर उपाय करो॥ २॥

अस कहि उमा गीध जब गयऊ। तिन्ह के मन अति बिसमय भयऊ॥
निज निज बल सब काहू भाखा। पार जाइ कर संसय राखा॥३॥

श्रीशिवजी कहते हैं कि हे पार्वती! ऐसा कहकर जब वह सम्पाती गीध (नये पङ्खों से युक्त और हृष्ट-पुष्ट होकर) चला गया, तब बन्दरों के मन में बड़ा ही आश्चर्य हुआ। फिर सब बन्दरों ने अपना अपना बल कह डाला, किन्तु पार पहुँचने में सन्देह ही बना रक्खा॥ ३॥

जरठ भयउँ अब कहइ रिछेसा। नहिं तनु रहा प्रथम-बल-लेसा॥
जबहिं त्रिबिक्रम भयउ खरारी। तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी॥४॥

रीछों के अधिपति जाम्बवान् ने कहा—अब मैं बुड्ढा हो गया हूँ। मेरे शरीर में पहले की शक्ति का लेश-मात्र भी नहीं रह गया। जिस समय दुष्टों के दमन करनेवाले परमात्मा वामन से त्रिविक्रम बने थे, उस समय मेरी जवानी थी और मेरे शरीर में भारी बल था॥ ४॥

दो०—बलि बाँधत प्रभु बाढेउ सो तनु बरनि न जाइ।
उभय घरी महँ दीन्ही सात प्रदच्छिन धाइ॥३२॥

प्रभु वामन भगवान् बलि राजा को बाँधते हुए ऐसे बढ़े कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उस अवसर पर मैंने दो घड़ी में उस (उतने बड़े विशाल त्रिविक्रम) रूप की दौड़ कर सात बार प्रदक्षिणा की थी (अब बुढ़ापे में कुछ नहीं हो सकता)॥ ३२॥

चौ०—अंगद कहइ जाउँ मैं पारा। जिय संसय कछु फिरती बारा॥
जामवंत कह तुम्ह सब लायक। पठइय किमि सबही कर नायक॥१॥

अङ्गद कहने लगा कि मैं पार तो चला जाऊँगा, पर जी में कुछ सन्देह लौटती बार के लिए है[1]। यह सुनकर जाम्बवान् ने कहा कि आप सब तरह योग्य हैं, पर आप सभी के प्रधान हैं, इसलिए आपको हम किस तरह भेज सकते हैं?॥ १॥

१—इस चौपाई का अर्थ बहुत लोग अनेक तरह से लगाते हैं। (१) अङ्गद का हेतु था कि—मैं जाती बार शक्तिरूपा सीताजी के सम्मुख जाता हूँ इसलिए जा सकूँगा, पर लौटती बार शक्ति

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना॥
पवन-तनय बल पवनसमाना। बुधि-बिबेक-बिग्यान-निधाना॥२॥

फिर जाम्बवान् ने कहा—हे हनुमान्! आप बलवान् होकर क्यों चुप साधे हुए हैं? आप वायु के पुत्र हैं, आपमें वायु के समान बल है। बुद्धि, विचार और विज्ञान को आप खान हैं॥ २॥

कवन सो काजु कठिन जग माहीँ। जो नहिँ होइ तात तुम्ह पाहीँ॥
रामकाज लगि तव अवतारा। सुनतहिँ भयउ पर्बताकारा॥३॥

हे तात! जगत् में वह कौन सा कठिन काम है, जो तुमसे न हो सके? तुम्हारा अवतार ही रामचन्द्रजी का कार्य करने के लिए है। इतना[1] सुनते ही हनुमान्जी पर्वत के आकार के (फूलकर बड़े भारी) हो गये॥ ३॥

कनक-बरन-तन तेज बिराजा। मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा॥
सिंहनाद करि बारहिँ बारा। लीलहि नाँघउँ जलधि अपारा॥४॥

हनुमान्जी का सुवर्ण के समान लाल रङ्ग और तेजस्वी शरीर दमकने लगा। वे ऐसे लगते थे, मानों दूसरे पर्वतों के राजा सुमेरु हैं। वे बार बार सिंह की सी गर्जना करने लगे और बोले कि मैं अपार समुद्र को बात की बात में लाँघ जाऊँगा॥ ४॥

से विमुख हो जाऊँगा तो ऐसी शक्ति मेरी न रहेगी। "अशक्ताः शक्तिसम्पन्ना ये च शक्ति-पराङ्मुखाः। असमर्थाः समर्थाः स्युः शक्तिसम्मुखगामिनः॥" (२) अङ्गद को शाप था कि तुम जिस पानी को उल्लङ्घन करोगे उसी से फिर न लौट सकोगे। परन्तु जो शाप होता तो सन्देह का क्या काम था? निश्चय-पूर्वक अङ्गद कह देते कि मुझे शाप है। (३) बाली और रावण की प्रीति थी, इसलिए शायद मुझे भी रावण के प्रेम में फँसकर कर्तव्य कार्य करने में बाधा आवे। यदि ऐसा होता तो अवश्य ही अङ्गद को जाना था, क्योंकि प्रीति से समझा कर वे बिना परिश्रम कार्य सिद्ध कर लाते। (४) रावण का पुत्र अक्षयकुमार और अङ्गद दोनों एक ही गुरु के पास पढ़ते थे। एक दिन अङ्गद ने अक्षयकुमार को खूब पीटा। उसने गुरु से कहा। गुरु ने शाप दिया कि अब अक्षयकुमार का एक ही घूसा लगने पर अङ्गद मर जायगा। इसी लिए अङ्गद ने जाना निश्चय कर लौटने में कुछ सन्देह बताया, क्योंकि जो अक्षयकुमार मिल गया तो वहीं मार डालेगा। इत्यादि।

१—वाल्मीकीय रामायण में तथा पुराणों में भी कथा है कि एक बार वायु ने अञ्जनी को देख मोहित हो अपने अदृश्य रूप से वीर्य-स्थापन किया। पुत्र होने पर वह उसे एक गुफा में डाल कर उसके लिए फलादि ढूँढ़ने गई। जाते जाते कह गई कि कोई लाल लाल फल खा लेना। प्रातः-काल होते ही लाल लाल सूर्य उदय हुआ। उसको देख फल समझकर वह पुत्र लेने को उड़ा। उसी दिन अमावास्या (कार्तिक कृष्ण पक्ष) का पर्व-दिन होने के कारण राहु सूर्य को ग्रसने जाता था। रास्ते में दोनों की मुठभेड़ होने पर राहु ने इन्द्र को यह खबर दी। इन्द्र ने क्रोधित होकर वज्र फेंक कर मारा। वह वज्र उस पुत्र की 'हनु' (दाढ़ी के नीचे की ठुड्डी) में लगा, तो वह मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़ा।

सहित सहाय रावनहिँ मारी। आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी॥
जामवंत मैं पूछउँ तोही। उचित सिखावन दीजेहु मोही॥५॥

मैं रावण को उसके सहायकों समेत मारकर त्रिकूट पर्वत को उखाड़ कर यहाँ ले आऊँगा। हे जाम्बवान्! मैं तुमसे पूछता हूँ, तुम मुझे उचित सीख दो॥ ५॥

एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥
तब निज-भुज-बल राजिवनैना। कौतुक लागि संग कपिसेना॥६॥

जाम्बवान् ने कहा—हे तात! तुम जाकर इतना ही करो कि सीताजी को देखकर आ जाओ और उनकी खबर ला दो। तब फिर कमल-नयन रामचन्द्रजी अपनी भुजाओं के बल से, कौतुक (युद्ध की शोभा) के लिए साथ में बन्दरों की फ़ौज लेकर॥ ६॥

छंद—कपि-सेन-संग सँघारि निसिचर रामु सीतहिं आनिहैं।
त्रै-लोक-पावन-सु-जस सुर मुनि नारदादि बखानिहैं॥
जो सुनत गावत कहत समुझत परमपद नर पावई।
रघु-बीर-पद-पाथोज-मधुकर दास तुलसी गावई॥

रामचन्द्रजी वानरों की सेना के साथ जा, राक्षसों का संहार कर सीताजी को लावेंगे। त्रिलोकी को पवित्र करनेवाले उनके शुद्ध यश का वर्णन देवता और नारदादि ऋषि करेंगे। जो मनुष्य उस यश को सुनेंगे, गावेंगे, कहेंगे, और समझेंगे वे परम पद (मोक्ष) पावेंगे। इस चरित्र को श्रीरघुवीर के चरण-कमलों का भौंरा तुलसीदास गाता है॥

दो०—भवभेषज रघुनाथजसु सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहि त्रिसिरारि॥२३॥

फिर वायु अपने पुत्र-प्रेम से मुग्ध हो रिसाकर एक पर्वत-कन्दरा में जा बैठा। तब बिना वायु श्वासोच्छ्वास बन्द होने से सब देवता व्याकुल हो ब्रह्माजी की शरण गये। फिर सबने मिलकर वायु से प्रार्थना की। वायु-सञ्चार होने पर सबने सन्तुष्ट हो, पुत्र की दाढ़ी में वज्र लगने से, उसका नाम हनुमान् रक्खा और अपने अपने अस्त्रों से उसे भय न होने का वरदान दिया। इसी से इनका नाम वज्रदेह और महावीर पड़ा। फिर ये बड़ा उपद्रव करने लगे। ऋषि-मुनियों को स्नान कर लौटती बार उठा उठाकर नदी में छोड़ आते थे। तब सब ने सलाहकर यह शाप दिया कि इनको अपना पराक्रम भूल जायगा। किन्तु किसी के याद कराने पर फिर वैसा ही पराक्रम हो जायगा। इसी कारण जाम्बवान् के याद कराते ही शरीर भारी होकर कार्यक्षमता हो आई। अञ्जनी के पति का नाम केशरी था। वह सूर्य के वरदान से सुमेरु पर्वत का राज्य करता था। इस महा पराक्रमी पुत्र को पाकर वह प्रसन्न हुआ। वाल्मी० उ० स० ३५–३६।

संसार के औषध-रूप श्रीरघुनाथजी के यश को जो मनुष्य और स्त्रियाँ सुनेंगे, उनके सम्पूर्ण मनोरथों को त्रिशिरा के शत्रु श्रीरामचन्द्रजी सिद्ध करेंगे ॥ ३३ ॥

सो०—नीलोत्पल-तन-स्याम कामकोटि सोभा अधिक।
सुनिय तासु गुनग्राम जासु नाम अघ-खग-बधिक ॥३४॥

जो भगवान् रामचन्द्र शरीर से नील-कमल जैसे श्याम हैं, जिनकी शोभा करोड़ों कामदेवों से बढ़कर है और जिनका नाम पापरूपी पक्षियों के लिए वध करनेवाला (व्याध रूप) है, उनके गुण-गण अवश्य सुनने चाहिए ॥ ३४ ॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विशुद्धसन्तोष-सम्पादनो नाम चतुर्थः सोपानः समाप्तः

इस प्रकार समस्त कलि-पातक को ध्वस्त करनेवाले श्रीराम-चरितमानस में विशुद्ध-सन्तोष-सम्पादन नामवाला चतुर्थ सोपान समाप्त हुआ।

—:०:—

श्रीगणेशाय नमः

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

रामचरितमानस

पञ्चम सोपान

(सुन्दरकाण्ड)

श्लोकाः

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदं
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम् ।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं
वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम् ॥१॥

निरन्तर शान्तियुक्त, अपारमहिमासम्पन्न, निष्पाप, मोक्षद्वारा शान्ति के देनेवाले और ब्रह्मा, महादेव तथा शेष के सेव्य (स्वामी), निरन्तर वेदान्तों से जानने योग्य, व्यापक, जगदीश्वर, देवतों में प्रधान, माया से मनुष्यरूपधारी, करुणा के करनेवाले, राजाओं के चूड़ामणि, रघुकुल में प्रधान, रामनामधारी हरि (ईश्वर) को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च ॥२॥

हे रघुपति ! मेरे हृदय में दूसरी अभिलाषा नहीं है, मैं यह सत्य कहता हूँ, और आप सबके अन्तर्यामी हैं, इसलिए हे रघुपुङ्गव ! मुझे पूर्ण भक्ति दीजिए, और मेरे चित्त को काम आदि दोषों से रहित कीजिए ॥२॥

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि ॥३॥

अनुपम बल-सम्पन्न, सुमेरु पर्वत के सदृश शरीरवाले, राक्षसरूपी वन के (दग्ध करने के लिए) अग्नि, ज्ञानियों में आगे गिने जानेवाले, समस्त गुणों की खान, वानरों के अधीश्वर, श्रीरामचन्द्र के श्रेष्ठ दूत, पवनसुत को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

चौ०—जामवंत के बचन सुहाये। सुनि हनुमंत हृदय अति भाये॥
तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥१॥

(किष्किन्धाकाण्ड की समाप्ति में कहे हुए) जाम्बवान् के सुहावने वचन सुने तो वे हनुमान्‌जी को हृदय में बहुत प्रिय लगे। उन्होंने कहा कि भाइयो! तुम लोग दुःख सहकर कन्द, मूल और फल खाकर तब तक मेरी राह देखना ॥ १ ॥

जब लगि आवउँ सीतहि देखी। होइ काज मोहि हरष बिसेखी॥
अस कहि नाइ सबन्हि कहुँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा॥२॥

जब तक मैं सीताजी को देखकर आ जाऊँ। मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है, इससे जान पड़ता है कि कार्य सिद्ध होगा। हनुमान्‌जी ऐसा कहकर और सभी को सिर से प्रणाम करके, प्रसन्न हो, हृदय में रघुनाथजी का ध्यान धर कर चल पड़े ॥ २ ॥

सिंधुतीर एक भूधर सुंदर। कौतुक कूदि चढेउ ता ऊपर॥
बार बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवनतनय बलभारी॥३॥

समुद्र के किनारे एक सुन्दर[१] (इसका नाम भी सुन्दर पर्वत था) पर्वत था। हनुमान् जी कौतुक (खेल) के साथ कूदकर उसके ऊपर जा चढ़े। फिर महाबली, पवन के पुत्र, हनुमान्‌जी बारम्बार श्रीरामचन्द्रजी को स्मरणकर उछले ॥ ३ ॥

जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥
जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। तेही भाँति चला हनुमाना॥४॥
जलनिधि रघु-पति-दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि स्रमहारी॥५॥

हनुमान्‌जी जिस पर्वत पर पाँव रख कर कूदे थे, वह तुरन्त ही (पाँवों का बल लगने से) पाताल में चला गया। जिस तरह रामचन्द्रजी के बाण (अमोघ[२]) होते हैं, उसी तरह हनुमान्‌जी (बेखटके) चले ॥ ४ ॥ समुद्र ने हनुमान्‌जी को रामचन्द्रजी का दूत समझकर मैनाक पर्वत से कहा—हे पर्वत! तू इनका श्रम मिटानेवाला (सहायक) हो[३] ॥ ५ ॥

१—हनुमान्‌जी सुन्दर नामक पर्वत से कूदकर लङ्का चले। यहीं से कथा प्रारम्भ होने के कारण इस कांड का नाम सुन्दर-कांड हुआ। वाल्मीकीय में महेन्द्राचल लिखा है। २—रामबाण की अमोघता तीन तरह की है। (१) जिस काम के करने के लिए चलाया जाय उसे सिद्ध करके लौटे। (२) मन के समान अति वेगवान् है। (३) उसकी गति को कोई रोक नहीं सकता। ३—जिस समय इन्द्र ने पर्वतों के पंख काटे उस समय मैनाक पर्वत को वायु ने उड़ा ले जाकर समुद्र में छिपा दिया। तब से यह वहीं था। वायु का पुत्र इस समय जा रहा है तो अपने पूर्व उपकार के बदले प्रत्युपकार करना उचित समझ समुद्र ने समझाया। यह मैनाक नाम की छोटी सी पहाड़ी भारतवर्ष और लङ्का के बीच में है।

दो०—हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम ।
रामकाजु कीन्हे बिनु मोहि कहाँ बिस्राम ॥१॥

(तदनुसार मैनाक पर्वत के ऊँचे उठकर सहायक होने पर) हनुमान्‌जी ने उसको हाथ से छू दिया, फिर उसे प्रणाम किया और कहा कि रामजी का कार्य किये बिना मुझे विश्राम कहाँ है ? ॥ १ ॥

चौ०—जात पवनसुत देवन्ह देखा । जानइ कहुँ बल-बुद्धि बिसेखा ॥
सुरसा नाम अहिन्ह कै माता । पठइन्हि आइ कही तेहि बाता ॥१॥

देवतों ने वायु-पुत्र को जाते देखा, तब उनके बल और बुद्धि का महत्त्व जानने के लिए उन्होंने सर्पों की माता सुरसा को भेजा । उसने आकर यह बात कही कि ॥ १ ॥

आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा । सुनत बचन कह पवनकुमारा ॥
रामकाजु करि फिरि मैं आवउँ । सीता कै सुधि प्रभुहि सुनावउँ ॥२॥

आज देवतों ने मुझे आहार (भोजन) दिया है । यह वचन सुनते ही पवन-पुत्र ने कहा—मैं रामजी का कार्य सिद्ध कर लौट आऊँ और प्रभु रामचन्द्रजी को सीताजी की ख़बर सुना दूँ ॥ २ ॥

तब तव बदन पैठिहउँ आई । सत्य कहउँ मोहि जान दे माई ॥
कवनेहु जतन देइ नहि जाना । ग्रससि न मोहि कहेउ हनुमाना ॥३॥

तब फिर लौटकर मैं तेरे मुख में आ प्रवेश करूँगा । हे माइ ! मैं यह बात सत्य कहता हूँ, तू अभी मुझे चला जाने दे । किन्तु जब उसने किसी यत्न (उपाय) से नहीं जाने दिया तब हनुमानजी ने कहा कि ले तो तू मुझे खा क्यों नहीं जाती ! ॥ ३ ॥

जोजन भरि तेहि बदनु पसारा । कपि तनु कीन्ह दु-गुन-बिस्तारा ॥
सोरह जोजन मुख तेहि ठयेऊ । तुरत पवनसुत बत्तिस भयेऊ ॥४॥

सुरसा ने हनुमान् को ग्रसने के लिए अपना मुंह जब एक योजन (४ कोस) तक लंबा फैला दिया तब हनुमान् ने अपना शरीर इससे दूना (दो योजन का) कर लिया । सुरसा ने अपना मुँह सोलह योजन का किया तो हनुमान्‌जी तुरन्त ही बत्तीस योजन के हो गये ॥ ४ ॥

जस जस सुरसा बदनु बढावा । तासु दून कपि रूप देखावा ॥
सत जोजन तेहि आनन कीन्हा । अति-लघु-रूप पवनसुत लीन्हा ॥५॥

सुरसा जैसे जैसे अपना मुँह बढ़ाती गई, वैसे ही वैसे हनुमान्‌जी दूने बनते गये। अन्त में सुरसा ने अपना मुँह सौ योजन का कर लिया, तब हनुमान्‌जी ने बहुत छोटा (अँगूठा भर मात्र[1]) रूप कर लिया ॥ ५ ॥

बदन पइठि पुनि बाहेर आवा। माँगा बिदा ताहि सिरु नावा ॥
मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि-बल-मरमु तोर मैं पावा ॥६॥

और उसी छोटे से रूप से उसके मुँह में घुसकर फिर बाहर आ गये और सुरसा को प्रणाम कर उससे बिदा माँगी। तब सुरसा ने कहा—मैंने तुम्हारा बल, बुद्धि और पराक्रम जान लिया, जिसके लिए मुझे देवतों ने भेजा था ॥ ६ ॥

दो०—रामकाजु सब करिहहु तुम्ह बल-बुद्धि-निधान।
आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान ॥२॥

तुम बल और बुद्धि के स्थान हो, तुम रामकार्य सिद्ध करोगे। इतना कह और आशीर्वाद देकर सुरसा चली गई। हनुमान्‌जी भी प्रसन्न होकर आगे चले ॥ २ ॥

चौ०—निसिचरि एक सिंधु महँ रहई। करि माया नभ के खग गहई ॥
जीव जंतु जे गगन उडाहीं। जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं ॥१॥

समुद्र के भीतर एक राक्षसी रहती थी। वह आकाश से उड़ते हुए पक्षियों को माया करके पकड़ लेती थी। जो जीव-जन्तु आकाश में उड़ने लगें उनकी परछाईं पानी में देखकर ॥१॥

गहइ छाँह सक सो न उडाई। एहि बिधि सदा गगनचर खाई ॥
सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा। तासु कपट कपि तुरतहिं चीन्हा ॥२॥

उनकी छाया को पकड़ लेती थी। बस, वे आगे उड़ न सकते थे; फिर वह उन्हें खा जाती थी। वह इसी तरह सदा आकाशचारियों को खा जाया करती थी। उस राक्षसी ने वही छल हनुमान्‌जी से भी किया। हनुमान्‌जी ने उसके छल को तुरन्त ही पहचान लिया ॥ २ ॥

ताहि मारि मारुत-सुत बीरा। बारिधिपार गयउ मतिधीरा ॥
तहाँ जाइ देखी बन-सोभा। गुंजत चंचरीक मधुलोभा ॥३॥

धीर-बुद्धि, वीर, वायु-पुत्र उस राक्षसी को मार कर[2] समुद्र के पार गये। वहाँ जाकर वन की शोभा देखी, जहाँ शहद के लोभ से भौंरे गूँज रहे थे ॥ ३ ॥

१—वाल्मीकीय में है ‘बभूवाङ्गुष्ठमात्रकः’।

२—वाल्मीकि आदि रामायणों में भी ऐसी कथा है कि सिंहिका नाम की एक राक्षसी थी। वह आकाशचारी जीवों की छाया पकड़कर उन्हें मार डालती थी।

नाना तरु फल फूल सुहाये। खग-मृग-बृंद देखि मन भाये॥
सैल बिसाल देखि एक आगे। ता पर धाइ चढेउ भय त्यागे॥४॥

अनेक प्रकार के वृक्ष फल-फूलों से सुहावने हो रहे थे। पक्षियों और मृगों के झुंड मन में प्रिय लगते थे। सामने एक विशाल पर्वत देखकर हनुमान्‌जी उसके ऊपर निर्भय[1] दौड़कर चढ़ गये॥४॥

उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभुप्रताप जो कालहि खाई॥
गिरि पर चढि लंका तेहि देखी। कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेखी॥५॥
अतिउतंग जलनिधि चहुँ पासा। कनककोट कर परमप्रकासा॥६॥

शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती! इसमें बन्दर हनुमान् की कुछ बड़ी बात नहीं। यह सब तो उन प्रभु रामचन्द्रजी का प्रताप है जो काल को भी खा जाता है। उस पर्वत पर चढ़कर हनुमान्‌जी ने लङ्का देखी। उसके बहुत ही भारी क़िले का वर्णन नहीं किया जा सकता॥५॥ वह क़िला बहुत ऊँचा था, उसके चारों ओर समुद्र भरा हुआ था; आस-पास सोने के परकोटे बहुत ही चमक रहे थे॥६॥

छंद—कनककोट बिचित्र-मनि-कृत सुंदरायतना घना।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथी चारु पुर बहु बिधि बना॥
गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि को गनइ।
बहुरूप निसि-चर-जूथ अतिबल सेन बरनत नहिं बनइ॥

सोने के कोट विचित्र मणियों से जड़े हुए, सुन्दर, लम्बे चौड़े मजबूत थे। भीतर नगर चौराहों, बाजारों, सड़कों और गलियों से बहुत ही अच्छा बना था। वहाँ के हाथियों, घोड़ों, खच्चरों के समूह, पैदलों, रथों और फ़ौजों को कौन गिन सकता है। अनेक प्रकार के रूप-धारी महाबली राक्षसों के झुंडों की सेना वर्णन करते नहीं बनता।

बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं।
नर-नाग-सुर-गंधर्ब-कन्या-रूप मुनिमन मोहहीं॥
कहुँ माल देहबिसाल सैलसमान अति बल गर्जहीं।
नाना अखारेन्ह भिरहिं बहुबिधि एक एकन्ह तर्जहीं॥

१—समुद्र में दो विघ्न उपस्थित हुए इसलिए पार होने तक और भी विघ्न होने का भय था। वह भय, पार हो जाने पर, नष्ट हो गया।

जङ्गल, बग़ीचे, नज़रबाग, बग़ोचियाँ, तालाब, कुएँ और बावलियाँ शोभित थीं और मनुष्यों, नागों, देवतों और गन्धर्वों की कन्यायें अपने रूप से मुनियों के चित्तों को भी मोहित करती थीं। कहीं पर्वतों के समान विशाल देहवाले, महाबली मल्ल लोग गर्जना कर रहे थे। अनेक अखाड़े बने थे, उनमें वे आपस में कई तरह से भिड़ जाते थे और एक दूसरे को ललकारते थे॥

करि जतन भट कोटिन्ह बिकटतन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं॥
एहि लागि तुलसीदास इन्ह की कथा कछुयक है कही।
रघु-बीर-सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पइहहिं सही॥

करोड़ों विकराल शरीरवाले योद्धा बड़े यत्न के साथ उस नगर को चारों ओर से रक्षा करते थे। कहीं दुष्ट राक्षस भैंसा, मनुष्य, गाय, गधा, बकरा आदि जीवों को भक्षण कर रहे थे। तुलसीदासजी कहते हैं कि इसी लिए हमने उनकी कथा कुछ थोड़ी सी कही है। ये पापी राक्षस श्रीरघुवीर के बाणरूपी तीर्थ में स्नान कर शरीर त्यागेंगे और उससे उत्तम गति पा ही जायँगे॥

दो०—पुररखवारे देखि बहु कपि मन कीन्ह बिचार।
अति लघु रूप धरउँ निसि नगर करउँ पइसार॥३॥

कपि हनुमान्‌जी ने बहुत-से पुर-रक्षकों (पहरेदारों) को देखकर मन में विचार किया कि मैं बहुत ही छोटा रूप धारण कर रात को इस नगर में प्रवेश करूँगा॥ ३॥

चौ०—मसकसमान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी॥
नाम लंकिनी एक निसिचरी। सो कह चलेसि मोहि निंदरी॥१॥

नर-हरि मनुष्य-अवतारी परमात्मा रामचन्द्र, या नृसिंहावतारी, या मनुष्यों में हरि (सिंह)-रूप रामचन्द्रजी को स्मरणकर हनुमान्‌जी मच्छड़ के[1] समान (छोटा) रूप धारण कर

१—यहाँ पर लोग प्रायः सन्देह करते हैं कि हनुमान्‌जी मच्छड़ का रूप लेकर लङ्का में गये, तब वह अँगूठी, जो रामचन्द्रजी ने दी थी, उन्होंने कहाँ रक्खी? उत्तर—चौपाई में मशक समान रूप लिखा है, मशक रूप नहीं; तात्पर्य यह कि जैसा पिछली चौपाइयों में बिलकुल छोटा बनने का निश्चय हनुमान्‌जी ने किया था, वैसे ही इतने छोटे बन्दर बन गये जैसे मच्छड़। वाल्मीकीय में भी हनुमान्‌जी ने विचार किया तब उन्होंने कहा था कि "तदहं स्वेन रूपेण रजन्यां ह्रस्वतां गतः। लङ्कामभिपतिष्यामि राघवस्यार्थसिद्धये॥" अर्थात्—मैं रात को अपने ही रूप से बिलकुल छोटा होकर राघवजी की कार्य-सिद्धि के लिए लङ्का में जाऊँगा। फिर जब प्रवेश किया तब भी "सूर्ये चास्तगते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः। वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः॥" अर्थात्—सूर्य अस्त हो जाने पर रात में हनुमान्‌जी शरीर को सङ्कुचित कर इतने छोटे हो गये कि "वृष-दशक-मात्र" बिल्ली के बराबर और देखने में बड़े अद्भुत थे। इससे बिल्ली के बराबर बड़े मशक के समान अर्थात् मच्छड़ से मिलती आकृति का रूप लिया। जिसमें इतना रूप-परिवर्तन करने की सामर्थ्य है उसके लिए अँगूठी के सुरक्षित रखने का सन्देह ही व्यर्थ है।

लङ्का में चले। उस समय लङ्किनी नामवाली एक राक्षसी दरवाजे पर थी। वह हनुमान्‌जी से बोली कि तू मेरा निरादर कर चला जा रहा है ॥ १ ॥

जानेहि नहीं मरम सठ मोरा। मोर अहार जहाँ लगि चोरा ॥
मुठिका एक महा कपि हनी। रुधिर बमत धरनी ढनमनी ॥२॥

अरे शठ ! तू मेरे मर्म (हृदय के अभिप्राय) को नहीं जानता। मेरा आहार तो समस्त चोर ही हैं, अर्थात् मैं चोरों को खाती हूँ। यह सुनते ही महावीर ने उस लङ्किनी को एक मुट्ठी (घूँसा) मारी। इतने ही में वह रक्त का वमन (क़ै) करती लड़खड़ाती हुई धरती पर गिर पड़ी ॥ २ ॥

पुनि संभारि उठी सो लंका। जोरि पानि कर बिनय ससंका ॥
जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा। चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा ॥३॥

फिर वह लङ्किनी सम्हल कर उठी और हाथ जोड़कर शङ्का-सहित (कहीं फिर न घूँसा मार दें जो मैं मर ही जाऊँ) प्रार्थना करने लगी—जब ब्रह्मदेव ने रावण को वरदान दिया और वे चलने लगे थे तब मुझे यह चिह्न बतलाया था कि ॥ ३ ॥

बिकल होसि तैं कपि के मारे। तब जानेसु निसिचर संघारे ॥
तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता ॥४॥

जब एक बन्दर के मारने से तू बिकल हो जाय, तभी समझ लेना कि राक्षसों का संहार-काल आ गया। हे तात ! मेरा बहुत ही प्रबल पुण्य है जिससे मैंने रामदूत का दर्शन पाया ॥ ४ ॥

दो०—तात स्वर्ग-अपवर्ग-सुख धरिय तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥४॥

हे तात ! स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को एक साथ एक पलड़े में और दूसरे पलड़े में एक लव-मात्र (पलक भर) सत्संग का सुख रखकर दोनों तोले जायँ तो वे सत्संग के बराबर नहीं हो सकते[1] ॥ ४ ॥

चौ०—प्रबिसि नगर कीजे सब काजा। हृदय राखि कोसल-पुर-राजा ॥
गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई ॥१॥

जो मच्छड़ भी बने तो इतने बड़े बने कि अँगूठी अपने पेट में रख सके। यहाँ मच्छड़ और बिल्ली-दोनों उपमाओं का तात्पर्य बहुत छोटे रूप से है।

१—पुराणों में एक कथा है कि—एक समय वशिष्ठ और विश्वामित्र में विवाद हुआ। वशिष्ठजी सत्सङ्ग को और विश्वामित्रजी तप को बड़ा कहते थे। इसका फ़ैसला कराने दोनों शेषजी के पास गये। शेषजी ने कहा कि यदि कोई मेरी पृथ्वी को कुछ देर के लिए थाम ले तो मैं उत्तर दूँ। विश्वामित्रजी को अपनी तपस्या का बड़ा अभिमान था। सब तपस्या का फल लगा देने पर भी शेष

हे तात! तुम कोसलपुर के राजा रामचन्द्रजी को हृदय में रखकर नगर (लङ्का) में प्रवेश कर सब काम[1] करो। उसके लिए विष अमृत हो जाता है, शत्रु मित्रता कर लेता है, समुद्र गौ के पाँव (खुर) के समान थोड़ा हो जाता है, आग ठण्डी हो जाती है ॥ १ ॥

गरुअ सुमेरु रेनुसम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही ॥
अति-लघु-रूप धरेउ हनुमाना। पैठा नगर सुमिरि भगवाना ॥२॥

उसका इतना भारी सुमेरु पर्वत धूल के समान हलका हो जाता है[2], जिसको कि रामचन्द्रजी कृपा की दृष्टि से देख लेते हैं। हनुमान्‌जी ने बहुत ही छोटा रूप धारण किया और भगवान् रामचन्द्रजी का स्मरण कर नगर में प्रवेश किया ॥ २ ॥

मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा ॥
गयउ दसाननमंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं ॥३॥

वहाँ हनुमान्‌जी ने एक एक महल में शोधन किया (ढूँढ़ा) तो जहाँ तहाँ अनगिनत योद्धा देखे। फिर वे रावण के घर पहुँचे, जो बहुत ही विचित्र था, जिसका वर्णन करते नहीं बनता ॥ ३ ॥

सयन किये देखा कपि तेही। मंदिर महुँ न दीख बैदेही ॥
भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरिमंदिर तहँ भिन्न बनावा ॥४॥

हनुमान्‌जी ने रावण को घर में सोया हुआ देखा, पर जानकीजी नहीं देख पड़ीं। फिर एक सुन्दर घर देख पड़ा, जिसमें भगवान् का एक मन्दिर जुदा बना हुआ था ॥ ४ ॥

दो०—रामायुधअंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ ॥५॥

वह घर रामचन्द्रजी के आयुधों (हथियारों शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, अंकुश, वज्र आदि) से अङ्कित था (जगह जगह चिह्न बने थे)। उस घर की शोभा वर्णन नहीं हो सकती। वहाँ कपिराय हनुमान्‌जी नई तुलसी के समूहों को देखकर बड़े प्रसन्न हुए ॥ ५ ॥

जी के मस्तक को हटाते ही पृथ्वी गिरने लगी। ज्योंही वशिष्ठजी ने दो घड़ी के सत्सङ्ग का फल लगाया त्योंही पृथ्वी ठहर गई। विश्वामित्रजी लज्जित हो, सत्सङ्ग को बड़ा समझकर लौट आये।

[1] १—करने के काम ये हैं—(१) सीताजी ढूँढ़ देने की सुग्रीव की प्रतिज्ञा-सिद्धि। (२) राम-कार्य। (३) वानरों का श्रम-साफल्य। (४) सीताजी का वियोग-भङ्ग। (५) विभीषण की अभीष्ट-सिद्धि। (६) लङ्का-दहन। लङ्का को माता कहने के कारण उसने उपदेश दिया कि तुम रामचन्द्रजी को हृदय में रखकर काम करो।

[2] २—हनुमान्‌जी में ये सब घटनायें चरितार्थ हुई। विष अमृत यों हुआ कि इन्द्र ने वज्र मारा मरने को पर वह उनको भूषण रूप हुआ जिसके कारण हनुमान् नाम मिला, अजरामरत्व का वर पाकर वज्र-देह हो गये। शत्रु सुरसा, लङ्किनी आदि मित्र हो गये; सब वर दे देकर चले गये। समुद्र गोखुर हो हो गया जिसको तैर गये। लङ्का-दहन के समय आग ठंडी हो गई। रावण सुमेरु सा था, वह धूल में मिल गया।

चौ०—लंका निसि-चर-निकर-निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥
मन महुँ तरक करइ कपि लागा। तेही समय बिभीषनु जागा॥१॥

वे मन में सोचने लगे कि लङ्का तो राक्षसों के समुदाय का निवास-स्थान है। भला यहाँ सज्जन का निवास कहाँ? हनुमान्जी मन में तर्क (विचार) करने लगे। इतने में विभीषण जागे॥ १॥

राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा॥
एहि सनु हठि करिहउँ पहिचानी। साधु तें होइ न कारजहानी॥२॥

उन्होंने जब राम, राम स्मरण किया तब तो उनको सज्जन जान कर हनुमान्जी प्रसन्न हुए। हनुमान्जी ने सोचा कि मैं इन सज्जन से हठ-पूर्वक पहचान करूँगा, क्योंकि साधु-पुरुष से कार्य की हानि नहीं होती॥ २॥

बिप्ररूप धरि बचन सुनाये। सुनत बिभीषन उठि तहँ आये॥
करि प्रनामु पूछी कुसलाई। बिप्र कहहु निजकथा बुझाई॥३॥

यह विचार कर हनमान्जी ने ब्राह्मण का रूप धरकर कुछ वचन सुनाये। उन वचनों को सुनते ही विभीषण उठकर वहाँ आ गये। उन्होंने ब्राह्मण को प्रणाम कर उनकी कुशलता पूछी और कहा कि हे ब्राह्मण! तुम अपना वृत्तान्त मुझे समझा कर कहो॥ ३॥

की तुम्ह हरिदासन्ह महुँ कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई॥
की तुम्ह राम दीन-अनुरागी। आयहु मोहि करन बडभागी॥४॥

क्या आप भगवद्भक्तों में से कोई हैं? क्योंकि मेरे हृदय में बहुत प्रीति हो रही है। अथवा, आप दीन-जनों के प्रेमी रामचन्द्र हैं जो मुझे बड़भागी करने के लिए आये हैं॥ ४॥

दो०—तब हनुमंत कही सब रामकथा निज नाम।
सुनत जुगलतन पुलक मन मगन सुमिरि गुनग्राम॥६॥

तब तो हनुमान्जी ने रामचन्द्रजी का सब वृत्तान्त कह सुनाया और अपना नाम बतला दिया। उसको सुनते ही दोनों के शरीर पुलकित हो गये और रामचन्द्रजी के गुण-गण को याद कर दोनों मग्न हो गये॥ ६॥

चौ०—सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी॥
तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानु-कुल-नाथा॥१॥

विभीषण ने कहा—हे पवनसुत! आप हमारी रहन सुनिए। जिस तरह (३२) दाँतों के भीतर एक जीभ बेचारी है, उसी तरह सारी लङ्का में राक्षसों के बीच अकेला मैं हूँ। हे तात! सूर्यकुल के नाथ रामचन्द्रजी क्या मुझे अनाथ जानकर कभी सनाथ करेंगे?॥ १॥

तामसतनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पदसरोज मन माहीं॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहि नहि संता॥२॥

इस तमोगुणी शरीर से कुछ साधन-भजन नहीं बनता। मन से उनके चरण-कमलों में प्रीति भी नहीं है। पर हे हनुमान्! अब मुझे विश्वास हो गया (कि मुझ पर प्रभु की कृपा है), क्योंकि बिना परमात्मा की कृपा के सन्त नहीं मिलते॥२॥

जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहि दरसु हठि दीन्हा॥
सुनहु बिभीषन प्रभु कइ रीती। करहि सदा सेवक पर प्रीती॥३॥

देखिए, जो रघुनाथजी ने अनुग्रह किया, तो आपने मुझे हठ से (बिना बुलाये, रात में सोते से जगाकर) दर्शन दिया। हनुमान्‌जी ने कहा—हे विभीषण! सुनो। हमारे स्वामी की यह रीति ही है कि वे सेवक पर सदा प्रीति करते हैं॥३॥

कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबही बिधि हीना॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलइ अहारा॥४॥

कहिए, मैं कौन सा बड़ा कुलीन (ऊँचे वंश का) हूँ? मैं जाति का बन्दर, चञ्चल, सब विधियों से रहित हूँ। जो कोई प्रातःकाल हमारा नाम ले ले तो उस दिन उसको खाने को न मिले!॥४॥

दो०—अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥७॥

हे सखा! सुनो। मैं ऐसा अधम हूँ, फिर भी मुझ पर श्रीरघुवीर ने कृपा की। ऐसा कह और रामचन्द्रजी के गुणों को याद कर उन्होंने आँखों में आँसू भर लिये॥७॥

चौ०—जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहि ते काहे न होहि दुखारी॥
एहि बिधि कहत राम-गुन-ग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिस्रामा॥१॥

जो जानते हुए भी ऐसे स्वामी को भुलाकर इधर-उधर भटकते हैं वे दुखी क्यों न हों? इस तरह रामचन्द्रजी के गुण-गणों को कहते कहते उन्होंने अकथनीय (जो कहते न बने, हद से बाहर) विश्राम (शांति) पाया॥१॥

पुनि सब कथा बिभीषन कही। जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही॥
तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता। देखा चहउँ जानकी माता॥२॥

फिर जिस तरह जानकीजी वहाँ रहती थीं वह सब कथा विभीषण ने कही। तब हनुमान्‌जी ने कहा कि भाई! सुनो, मैं माता जानकीजी को देखना चाहता हूँ॥२॥

जुगुति बिभीषनु सकल सुनाई। चलेउ पवनसुत बिदा कराई॥
करि सोइ रूप गयउ पुनि तहवाँ। बन असोक सीता रह जहवाँ॥३॥

विभीषण ने उन्हें सब युक्तियाँ सुना दीं तब हनुमान्‌जी विभीषण से बिदा माँगकर चल दिये। फिर हनुमान्‌जी वही (पहले का, छोटा सा) रूप करके वहाँ गये जहाँ अशोक-वाटिका थी और सीताजी रहती थीं॥ ३॥

देखि मनहिं महुँ कीन्ह प्रनामा। बैठेहि बीति जात निसि जामा॥
कृसतन सीस जटा एक बेनी। जपति हृदय रघु-पति-गुन-स्रेनी॥४॥

हनुमान्‌जी ने उन्हें देखकर मन ही मन प्रणाम किया। जानकीजी को रात के पहर बैठे ही बीत जाते हैं (वे कभी सोती नहीं)। उनका शरीर दुबला है और मस्तक पर जटाओं की एक वेणी (चोटी) है। वे हृदय में श्री रघुनाथजी के गुण-गणों को जप रही हैं॥ ४॥

दो०—निज पद नयन दिये मन रामचरन महँ लीन।
परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन॥ ८॥

जानकीजी ने अपनी आँखें अपने पाँवों की ओर लगा रखी थीं (नीचे को मुँह किये बैठी थीं) और उनका मन श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में लीन था। इस तरह जानकीजी को दीन अवस्था में देखकर वायु-पुत्र बहुत ही दुःखी हुए॥ ८॥

चौ०—तरुपल्लव महुँ रहा लुकाई। करइ बिचार करउँ का भाई॥
तेहि अवसर रावनु तहँ आवा। संग नारि बहु किये बनावा॥१॥

हनुमान्‌जी वृक्षों के पत्तों में छिप रहे और विचार करने लगे कि भाई! अब मैं क्या करूँ। उसी अवसर में अशोक-वाटिका में रावण आया। साथ में सजी हुई बहुत सी स्त्रियाँ थीं॥ १॥

बहु बिधि खल सीतहिं समुझावा। साम दाम भय भेद देखावा॥
कह रावनु सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी॥२॥

उस दुष्ट ने सीताजी को बहुत तरह समझाया, उनको साम (क्षमा), दाम (द्रव्य), भय और भेद बतलाया। रावण कहने लगा—हे सुन्दर मुखवाली, हे सयानी! सुनो। मन्दोदरी आदि सब रानियों को॥ २॥

तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा॥
तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परमसनेही॥३॥

तुम्हारी दासी बनाऊँगा। यह मेरा पण (प्रतिज्ञा) है, तू एक बार मेरी ओर देख[1]। तब जानकीजी तिनके[2] की ओट रखकर और परम स्नेही अवधपति रामचन्द्रजी को स्मरणकर कहने लगीं—॥ ३ ॥

सुनु दसमुख खद्योतप्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा ॥
अस मन समुझु कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघु-बीर-बान की ॥४॥
सठ सूने हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही ॥५॥

हे दशमुख, रावण! सुन। क्या कभी खद्योत (जुगनू) के प्रकाश से कमलिनी खिलती है? अर्थात्—श्रीरघुनाथजी सूर्य हैं, उन्हीं के श्रीमुख के प्रकाश में यह रामैक-जीवनी कमलिनी खिलेगी, तुझ खद्योत के सामने नहीं। जानकीजी कहती हैं कि हे रावण! तू मन में ऐसा समझ ले। अरे दुष्ट! तुझे रघुवीर के बाणों[3] की सुध नहीं है? ॥ ४ ॥ अरे दुष्ट! तू मुझे रामचन्द्रजी की अनुपस्थिति में, मैं अकेली थी उस समय, हर (चुरा) लाया है। अरे नीच, निर्लज्ज! तुझे लाज नहीं है? ॥ ५ ॥

दो०—आपुहि सुनि खद्योत सम रामहि भानुसमान।
परुषबचन सुनि काढि असि बोला अति खिसियान ॥९॥

रावण अपने को खद्योत के समान और रामचन्द्रजी को सूर्य के समान, ऐसे कठोर (अपमान-सूचक) वचनों को सुनकर अत्यन्त क्रोधित हो तलवार खींचकर बोला—॥ ९ ॥

चौ०—सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिनकृपाना ॥
नाहिं त सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होत न त जीवनहानी ॥१॥

हे सीता! तूने मेरा अपमान किया है, इससे मैं तेज तलवार से तेरा सिर काट डालूँगा। नहीं तो अभी मेरी वाणी मान ले। हे सुमुखी[4]! जो ऐसा न करेगी तो तेरा जीवन-नाश होगा (जान खोनी पड़ेगी) ॥ १ ॥

१—यहाँ 'मेरी ओर देख' कहने में दो तरह का भाव है। एक भाव तो स्पष्ट ही है कि काम-वासना से देखने को कहा। दूसरे भाव में सीताजी को अपनी इष्ट-देवी जानकर कहता है कि अब मेरी ओर देखो "कृपा-कटाक्ष करो, बहुत दिन बीते, मुक्त करो," क्योंकि जब सीताजी को हरण किया था, तब "मन महँ चरण बन्दि सुख माना।" कहा है।

२—पतिव्रता स्त्री दूसरे पुरुष से बिना परदे के नहीं बोलतीं। यहाँ परदा कहाँ था? इस-लिए सीताजी ने परदे की जगह तिनका ही रख लिया।

३—रघु के वीर पुत्र अज जिनके बाण से तू लङ्का में छिपा रहा था, ये उन्हीं के वंशज हैं, क्या तुझे उस बाण की सुध नहीं।

४—सुमुखी में दोनों भाव हैं, एक तो मुझसे हँसो, बोलो, सीधा मुँह करो। दूसरा—आप बहुत दिनों से इस दास पर विमुख 'नाराज़' हैं अब सुमुखी प्रसन्न हो जाओ "शीघ्र मुक्त करो"।
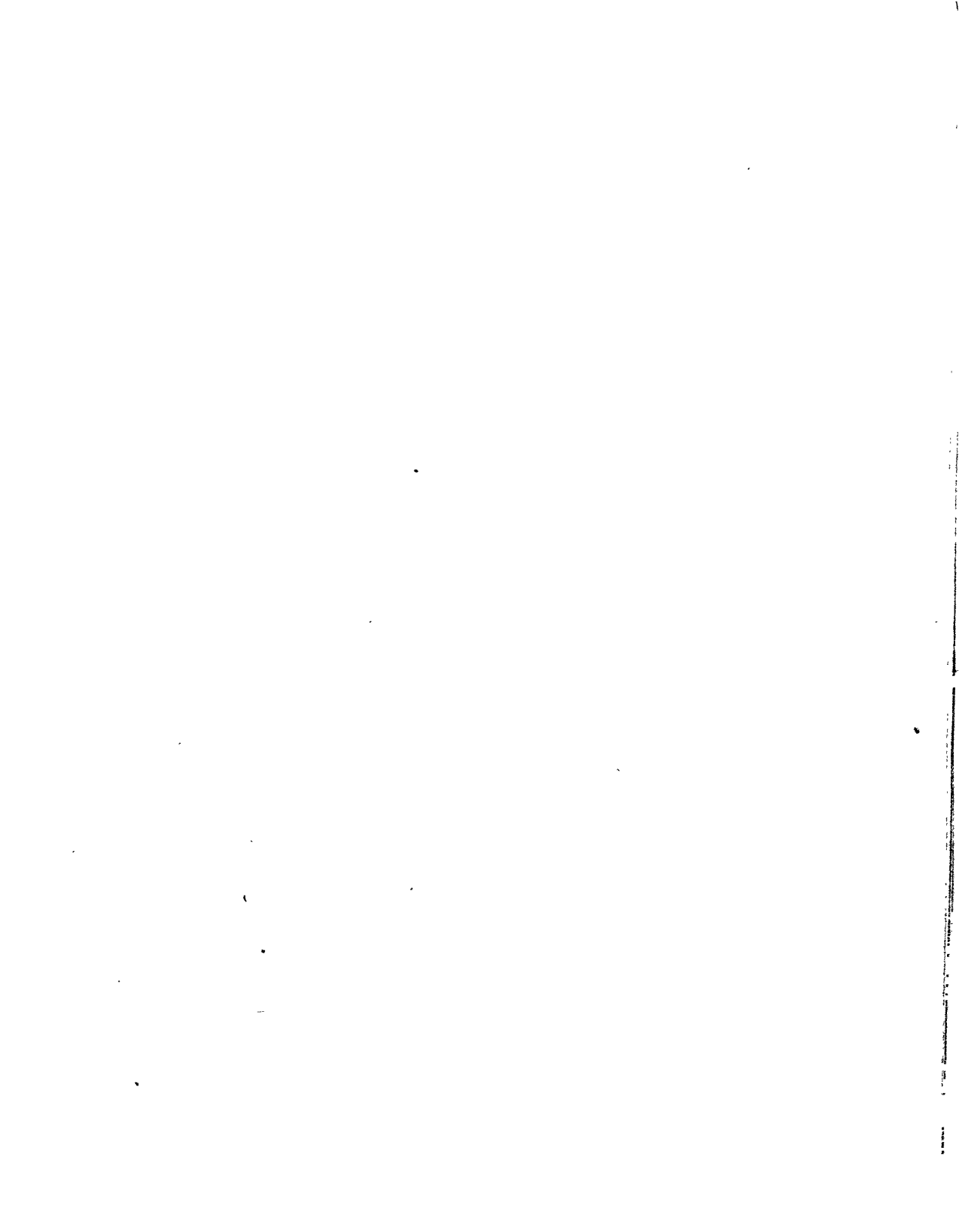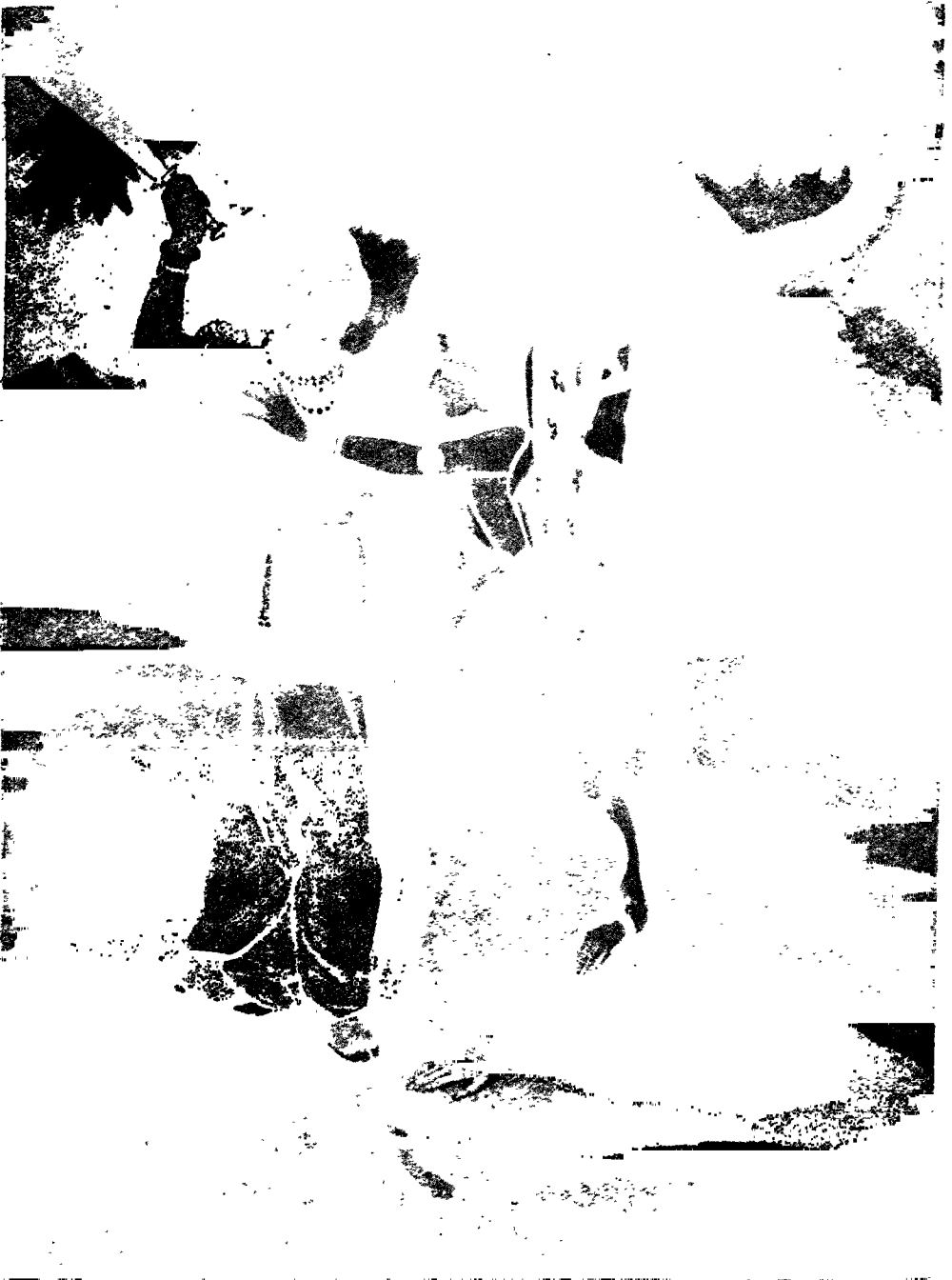
सुनत बचन पुनि मारन धावा ।
मयतनया कहि नीति बुझावा ॥ पृ० ८६३

स्याम-सरोज-दाम-सम सुंदर । प्रभुभुज करि-कर-सम दसकंधर ॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा । सुनु सठ अस प्रमान पन मोरा ॥२॥

सीताजी ने कहा—मेरे स्वामी की जो भुजायें श्याम-कमल की माला के समान सुन्दर और हाथी की सूँड़ के समान बलिष्ठ हैं, या तो वे इस कण्ठ को स्पर्श कर सकती हैं, या फिर तेरी कराल तलवार ही ! अर्थात् जीते जी मिलना तो रामचन्द्रजी ही से होगा, अन्यथा मर जाना ही ठीक है । हे शठ ! सुन, यह मेरी अटल प्रतिज्ञा है ॥ २ ॥

चंद्रहास हर मम परितापं । रघु-पति-बिरह-अनल-संजातं ॥
सीतल निसित बहसि बर-धारा । कह सीता हरु मम दुखभारा ॥३॥

हे चन्द्रहास खड्ग ! तू रघुनाथजी के वियोग से उत्पन्न हुए मेरे सन्ताप को हरण कर । हे खड्ग तू शीतल और तीक्ष्ण श्रेष्ठ धारा बहाता है । तू मेरे दुःख के भार को दूर कर दे । अर्थात्—मुझे मार डाल तो सभी दुःख मिट जायँ ॥ ३ ॥

सुनत बचन पुनि मारन धावा । मयतनया कहि नीति बुझावा ॥
कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई । सीतहि बहु बिधि त्रासहु जाई ॥४॥
मास दिवस महुँ कहा न माना । तौ मैं मारब काढि कृपाना ॥५॥

रावण सीताजी के वचन सुनकर फिर उनको मारने दौड़ा, तब मयासुर की कन्या (मन्दोदरी) ने नीति की बात कहकर उसको समझाया । फिर रावण ने सब राक्षसियों को बुलाकर कहा कि तुम जाकर सीता को बहुत तरह से दुःख दो (डराओ, धमकाओ) ॥ ४ ॥ जो यह सीता महीने भर में मेरा कहना न मान लेगी तो मैं तलवार निकाल कर इसको मार डालूँगा ॥ ५ ॥

दो०—भवन गयउ दसकंधर इहाँ पिसाचिनिबृंद ।
सीतहिँ त्रास देखावहिँ धरहि रूप बहु मंद ॥१०॥

इतना कहकर दशकन्धर रावण घर को लौट गया । यहाँ (अशोक-वाटिका में) राक्षसियों का समूह बहुत बुरे रूप धर धरकर सीताजी को त्रास दिखाने (डराने) लगा ॥१०॥

चौ०—त्रिजटा नाम राच्छसी एका । राम-चरन-रति निपुन-बिबेका ॥
सबन्हौं बोलि सुनायेसि सपना । सीतहिँ सेइ करहु हित अपना ॥१॥

उनमें एक त्रिजटा नाम की राक्षसी थी । वह रामचन्द्रजी के चरणों में प्रीति रखती थी और विवेक में चतुर थी । उसने सब राक्षसियों को बुलाकर अपना स्वप्न सुनाया और कहा—तुम सीताजी की सेवा कर अपना हित कर लो ॥ १ ॥

सपने बानर लंका जारी। जातुधानसेना सब मारी॥
खरआरूढ नगन दससीसा। मुंडितसिर खंडित-भुज-बीसा॥२॥

मैंने स्वप्न में देखा है कि एक बन्दर ने लङ्का जला दी और राक्षसों की सारी सेना मार डाली। नङ्गा रावण गधे पर बैठा हुआ, सिर के बाल मुँड़े हुए, बीसों हाथ कटे हुए॥२॥

एहि बिधि सो दच्छिनदिसि जाई। लंका मनहुँ बिभीषन पाई॥
नगर फिरी रघु-बीर-दोहाई। तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥३॥

इस तरह दक्षिण दिशा की ओर जा रहा है। मानों लङ्का का राज्य विभीषण पा गया है। नगर में रामचन्द्रजी की दुहाई फिर गई, तब फिर प्रभु रामचन्द्रजी ने सीता को बुलवा भेजा॥ ३॥

यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गये दिन चारी॥
तासु बचन सुन ते सब डरीं। जनकसुता के चरनन्हि परीं॥४॥

मैं पुकार कर (ज़ोर देकर) कहती हूँ कि यह स्वप्न (दो) चार दिन बीतते ही (अर्थात् थोड़े दिनों में ही) सच्चा होगा। त्रिजटा के वचन सुनकर सब राक्षसियाँ डर गईं। वे जानकीजी के पाँवों पड़ीं॥ ४॥

दो०—जहँ तहँ गईं सकल तब सीता कर मन सोच।
मास दिवस बीते मोहि मारिहि निसिचर पोच॥११॥

तब सब राक्षसियाँ जहाँ तहाँ चली गईं। सीताजी मन में सोच करने लगीं कि महीने के दिन बीत जाने पर यह नीच राक्षस मुझे मार डालेगा!॥ ११॥

चौ०—त्रिजटा सन बोली कर जोरी। मातु बिपतिसंगिनि तैं मोरी॥
तजउँ देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिँ सहि जाई॥१॥

सीताजी हाथ जोड़कर त्रिजटा से बोलीं—हे माता! तू मेरी विपत्ति की साथिनी हुई है। ऐसा उपाय कर दे कि मैं जल्दी अपना शरीर छोड़ दूँ। अब यह दुस्सह (कठोर) रामवियोग नहीं सहा जाता॥ १॥

आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥
सत्य करहि मम प्रीति सयानी। सुनइ को स्रवन सूलसम बानी॥२॥

हे माता! तू लकड़ियाँ लाकर एक चिता रच दे और फिर उसमें आग लगा दे। हे सयानी! तुम मेरी प्रीति सच्ची कर दो। शूल के समान दुःखद (रावण की) वाणी को कानों से कौन सुने?॥ २॥

सुनत बचन पद गहि समुझायेसि। प्रभु-प्रताप-बल-सुजसु सुनायेसि॥
निसि न अनल मिल सुनु सुकुमारी। अस कहि सो निज भवन सिधारी॥३॥

तब देखी मुद्रिका मनोहर ।
राम-नाम-अंकित अति सुन्दर ॥ पृ० ७६५

सीताजी के वचनों को सुनकर त्रिजटा ने उनके पाँव पड़कर उन्हें समझाया और स्वामी रामचन्द्रजी का प्रताप[1], बल[2] और शुद्ध यश[3] सुनाया। फिर कहा कि हे सुकुमारी! रात में आग नहीं मिलेगी। ऐसा कहकर वह अपने घर चली गई ॥ ३ ॥

कह सीता बिधि भा प्रतिकूला। मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला ॥
देखियत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकउ तारा ॥४॥

सीताजी कहने लगीं—विधाता प्रतिकूल हो गया है। न आग मिलेगी, न दुःख मिटेगा। आकाश में अङ्गारे प्रकट होते (उल्कापात होते) दीखते हैं, पर उनमें से जमीन पर एक भी तारा नहीं आता! (जिससे मैं आग लगा लूँ) ॥ ४ ॥

पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी ॥
सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका ॥५॥

अरे यह चन्द्रमा आगरूपी ही है, पर यह भी मानों मुझे हतभाग्य (अभागिनी) समझकर किरणों से आग नहीं बहा देता! हे अ-शोकवृक्ष! तू मेरी प्रार्थना सुन और अपना नाम सच्चा कर, मेरा शोक मिटा दे ॥ ५ ॥

नूतनकिसलय अनलसमाना। देहि अगिनि तन करहि निदाना ॥
देखि परमबिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलपसम बीता ॥६॥

तेरे नये किसलय (अंकुर) आग के समान लाल हैं। तू ही मुझे आग दे दे, जिसमें मेरे शरीर का अन्त हो जाय। इस तरह सीताजी को अत्यन्त विरह में व्याकुल देखकर हनुमान्‌जी को वह क्षण कल्प के बराबर बीता ॥ ६ ॥

सो०—कपि करि हृदय बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ ॥१२॥

तब हनुमान्‌जी ने हृदय में विचार कर वह मुद्रिका (जो रामचन्द्रजी ने दी थी) नीचे डाल दी। सीताजी ने समझा कि अशोक-वृक्ष ने अङ्गार (चिनगारी) दिया है। उन्होंने प्रसन्न हो उठकर झट उसको हाथ में ले लिया ॥ १२ ॥

चौ०—तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम-नाम-अंकित अति सुंदर ॥
चकित चितव मुँदरी पहिचानी। हरष बिषाद हृदय अकुलानी ॥१॥

तब तो, राम-नाम से अङ्कित, अत्यन्त सुन्दर मनोहर मुद्रिका सीताजी ने देखी। उस मुद्रिका को पहचानकर सीताजी चकित होकर देखने लगीं। उनके हृदय में हर्ष और दुःख दोनों हुए, जिनसे वे व्याकुल हो गईं ॥ १ ॥

१—रघुनाथजी ने तुम्हारे लिए जयन्त पर सींक का बाण छोड़ा। २—शिव-धनुष को तोड़ा, खरदूषण-त्रिशिरादि को ससैन्य मारा। ३—एक-नारी-व्रत, पिता की आज्ञा पर दृढ़ता।

जीति को सकइ अजय रघुराई। माया तें असि रचि नहिं जाई॥
सीता मन बिचार कर नाना। मधुरबचन बोलेउ हनुमाना॥२॥

वे सोचने लगीं कि रघुनाथजी तो अजय हैं, उनको भला कौन जीत सकता है? यदि यह माया से बनी समझ लूँ तो माया से ऐसी मुद्रिका बनाई नहीं जा सकती। यों सीताजी मन में तरह तरह के विचार करने लगीं, तब हनुमान्‌जी मधुर वचनों में बोले॥ २॥

राम-चंद्र-गुन बरनइ लागा। सुनतहि सीता कर दुख भागा॥
लागी सुनइ स्रवन मन लाई। आदिहुँ तें सब कथा सुनाई॥३॥

वे रामचन्द्रजी के गुण वर्णन करने लगे, जिनके सुनते ही सीताजी का दुःख भाग गया। सीताजी मन लगा कर कानों से वे बातें सुनने लगीं। हनुमान्‌जी ने आदि ही से (अब तक की) सब कथा सुनाई॥ ३॥

स्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कहि सो प्रगट होत किन भाई॥
तब हनुमंत निकट चलि गयऊ। फिर बैठी मन बिसमय भयऊ॥४॥

सीताजी ने कहा—भाई! जिसने कानों को अमृत के समान लगनेवाली यह कथा सुनाई, वह प्रकट क्यों नहीं होता! तब हनुमान्‌जी सीताजी के पास चले गये, तो उनको देखकर सीताजी उनकी ओर पीठ फेरकर बैठ गईं। उनके मन में विस्मय (आश्चर्य) हुआ॥ ४॥

रामदूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी॥५॥
नर बानरहि संग कहु कैसे। कही कथा भइ संगति जैसे॥६॥

हनुमान्‌जी ने कहा—हे माता जानकी! मैं करुणानिधान रामचन्द्र की सच्ची सौगन्द खाकर कहता हूँ कि, मैं उनका दूत हूँ। मैं यह मुद्रिका लाया हूँ। रामचन्द्रजी ने आपके लिए यह सहिदानी (विश्वास होने के लिए पहचान की चीज़) दी है॥ ५॥ सीताजी ने पूछा—नर और बानर का संग किस तरह हुआ? (क्योंकि बन्दर तो मनुष्य से डरते भागते हैं) तब हनुमान्‌जी ने वह वृत्तान्त सुनाया जिस तरह सीता-वियोगी रामचन्द्रजी और सुग्रीव की मित्रता हुई थी॥ ६॥

दो०—कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥१३॥

हनुमान्‌जी के वचनों को प्रेम सहित सुनकर सीताजी के मन में विश्वास उत्पन्न हो गया। उन्होंने जान लिया कि सचमुच यह मन, वचन और कर्म से कृपासागर रघुनाथजी का दास है॥ १३॥

चौ०—हरिजन जानि प्रीति अति बाढी। सजल नयन पुलकावलि ठाढी॥
बूडत बिरहजलधि हनुमाना। भयउ तात मो कहुँ जलजाना॥१॥

हनुमान्‌जी को भगवद्भक्त जानकर सीताजी की प्रीति बहुत बढ़ी, उनके नेत्र जल से भर आये, शरीर के रोम खड़े हो गये। उन्होंने कहा—हे हनुमान्! विरह-समुद्र में डूबती हुई मुझको आज तुम जहाज़ मिल गये हो॥ १॥

अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुजसहित सुखभवन खरारी॥
कोमलचित कृपालु रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥२॥

मैं बलिहारी जाती हूँ। अब तुम सुख के स्थान, खरघाती रामचन्द्रजी का भाई समेत कुशल-समाचार कहो। हे कपि! रघुनाथजी तो कोमल-चित्त और दयालु हैं फिर उन्होंने निठुराई (कड़ापन) क्यों धारण कर रक्खी है?॥ २॥

सहजबानि सेवक-सुख-दायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक॥
कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम-मृदु-गाता॥३

सेवकों को सुख देने की जिनकी स्वभाव ही से बान (चाल) है, वे रघुनायक क्या कभी मेरी सुरति (याद) करते हैं? हे तात! क्या कभी श्यामसुन्दर कोमल शरीर को देखकर मेरे नेत्र ठंढे होंगे?॥ ३॥

वचन न आव नयन भरि बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥
देखि परम बिरहाकुल सीता। बोला कपि मृदुबचन बिनीता॥४॥

ऐसा कहते कहते सीताजी की आँखें जल से भर गई, बोल रुक गया, कुछ भी वचन न कहते बना; फिर वे बोलीं—हाय नाथ! आपने मुझे बिलकुल ही भुला दिया! सीताजी को विरह से व्याकुल देखकर हनुमान्‌जी नम्रता के साथ कोमल वचनों में बोले—॥ ४॥

मातु कुसल प्रभु अनुजसमेता। तव दुख दुखी सु-कृपा-निकेता॥
जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्ह तें प्रेम राम के दूना॥५॥

हे माता! स्वामी रामचन्द्रजी लक्ष्मण समेत सकुशल हैं। कृपानिधान रामचन्द्रजी आपके दुख से दुखी हैं। हे माता! आप अपना जी छोटा न करो, रामचन्द्रजी को आपसे दूना प्रेम है॥ ५॥

दो०—रघुपति कर संदेस अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥१४॥

हे माताजी! अब धीर धरकर रघुनाथजी का संदेसा सुनो। ऐसा कहकर हनुमान्‌जी गद्‌गदकण्ठ हो गये; उनके नेत्रों में आँसू भर आये॥ १४॥

चौ०—कहेउ राम बियोग तव सीता। मो कहँ सकल भये बिपरीता ॥
नव-तरु-किसलय मनहुँ कृसानू। काल-निसा-सम निसि ससि भानू ॥१॥

रामचन्द्रजी ने कहा है कि हे सीता! मुझे तुम्हारे वियोग में सब बात उलटी हो गई हैं। नये वृक्षों के अङ्कुर तो मानों मेरे लिए अग्नि हैं, रात कालरात्रि के समान और चन्द्रमा सूर्य के समान हो गया है ॥ १ ॥

कुबलयबिपिन कुंत-बन-सरिसा। बारिद तपततेल जनु बरिसा ॥
जे हितु रहे करत तेइ पीरा। उरग-स्वास-सम त्रिबिध समीरा ॥२॥

कमलों का वन भालों के वन के समान हो गया है, बादल जो पानी बरसाते हैं वे मानो तपा हुआ तेल बरसाते हैं। जो भलाई करते थे वे ही दुःख देते हैं। शीतल मन्द, सुगन्ध तीनों प्रकार की हवा ऐसी लगती है मानों साँपों की फुफकार हो ॥ २ ॥

कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहउँ यह जान न कोई ॥
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा ॥३॥

दूसरे से कह देने से दुःख कुछ घट जाता है, पर मैं किससे कहूँ, कोई इस दुःख का जाननेवाला नहीं है। हे प्रिये! तुम्हारे और हमारे प्रेम के तत्त्व को एक मेरा ही मन जानता है ॥ ३ ॥

सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरसु एतनहिं माहीं ॥
प्रभुसंदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही ॥४॥

वह मेरा मन सदा तुम्हारे पास बना रहता है। बस, इतने ही में प्रीति का रस समझ लो। जानकीजी स्वामी का सँदेसा सुनते ही प्रेम में मग्न हो गई; उनको शरीर की सुध नहीं रही ॥ ४ ॥

कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक-सुख-दाता ॥
उर आनहु रघु-पति-प्रभुताई। सुनि मम बचन तजहु कदराई ॥५॥

हनुमानजी ने कहा—माता! सबको के सुखदाता रामचन्द्रजी का स्मरण करो और हृदय में धीरज धरो। अपने हृदय में रघुनाथजी की प्रभुता (सामर्थ्य) का ध्यान करो और मेरे वचन सुनकर डर को दूर करो (घबड़ाओ नहीं) ॥ ५ ॥

दो०—निसि-चर-निकर पतङ्गसम रघु-पति-बान-कृसानु।
जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु ॥१५॥

माताजो! अब धीर धरो और ऐसा समझो कि रघुनाथजो को बाणरूपी अग्नि में राक्षससमूह-रूपी पतंग (पतिङ्ग) जल मरे॥ १५॥

चौ०—जो रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहिँ बिलम्बु रघुराई॥
रामबान-रबि उये जानकी। तमबरूथ कहँ जातुधान की॥१॥

जो रामचन्द्रजो ने आपकी ख़बर पाई होती तो वे कभी देरी न करते। हे जानकीजी! रामबाणरूपी सूर्य के उदय होने पर राक्षससमूह-रूपी अंधकार का समूह कैसे ठहर सकता है?॥ १॥

अबहिँ मातु मैं जाउँ लेवाई। प्रभुआयसु नहिँ राम दोहाई॥
कछुक दिवस जननी धरु धीरा। कपिन सहित अइहहिँ रघुबीरा॥२॥

माता! मैं तो आपको अभी लिवा ले चलूं। रामचन्द्रजी की शपथ खाकर कहता हूँ, पर क्या करूं स्वामी की आज्ञा नहीं है। माताजी! आप कुछ दिनों धीरज रक्खें, रघुवीर वानरों-सहित आवेंगे॥ २॥

निसिचर मारि तोहि लेइ जैहहिँ। तिहुँ पुर नारदादि जसु गैहहिँ॥
हैं सुत कपि सब तुम्हहिँ समाना। जातुधानभट अति बलवाना॥३॥

वे राक्षसों को मारकर तुमको ले जायँगे इस यश को तीनों लोकों में नारदादि महर्षि गावेंगे। यह सुनकर सीताजी ने कहा—हे पुत्र! बन्दर तो सब तुम्हारे ही बराबर (छोटे छोटे) होंगे और राक्षस योद्धा तो बड़े बलवान् हैं॥ ३॥

मोरे हृदय परम संदेहा। सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा॥
कनक-भूधरा-कार-सरीरा। समरभयङ्कर अति-बल-बीरा॥४॥
सीता-मन भरोस तब भयऊ। पुनि लघु रूप पवन-सुत लयऊ॥५॥

इसलिए मेरे मन में बड़ा सन्देह होता है। इस बात को सुनकर हनुमान्जी ने अपना शरीर प्रकट किया। उनका शरीर सुवर्ण के पर्वत (सुमेरु) के आकार का था। वह युद्ध में महाबली वीरों को भी भय देनेवाला था॥ ४॥ जब सीताजी ने उनके रूप को देखा तब उनके मन में हनुमान्जी के कहने पर विश्वास हो गया। हनुमान्जी ने फिर वही छोटा रूप कर लिया॥ ५॥

दो०—सुनु माता साखामृग नहिँ बल-बुद्धि-बिसाल।
प्रभुप्रताप तेँ गरुडहिँ खाइ परमलघु ब्याल॥१६॥

उन्होंने कहा—हे माता ! न तो बन्दर बलवान् हैं और न उनकी बुद्धि ही विशाल है। पर स्वामी रामचन्द्रजी का प्रताप ऐसा है कि उससे बिलकुल छोटा सा साँप भी गरुड़ को खा जा सकता है[1] ॥ १६ ॥

चौ०—मन संतोष सुनत कपिबानी । भगति-प्रताप-तेज-बल-सानी ॥
आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना । होहु तात बल-सील-निधाना ॥ १ ॥

हनुमान्जी की—भक्ति,[2] प्रताप,[3] तेज,[4] और बल[5] को भरी हुई—बात सुनकर सीताजी को सन्तोष हुआ। उन्होंने हनुमान् जी को रामचन्द्रजी का प्यारा जान लिया और आशीर्वाद दिया कि तुम बल और शील के भांडार हो ॥ १ ॥

अजर अमर गुननिधि सुत होहू । करहिँ बहुत रघुनायक छोहू ॥
करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना । निर्भर प्रेममगन हनुमाना ॥ २ ॥

हे पुत्र ! तुम अजर (कभी बुढ़ापा न आवे), और अमर तथा गुणों के निधि (भाण्डार) होओ। रघुनाथजी तुम पर भरपूर कृपा करें। 'तुम पर रघुनाथजी कृपा करें' इन शब्दों को कानों से सुनकर हनुमान्जी प्रेम में बहुत ही निमग्न हो गये[3] ॥ २ ॥

बार बार नायेसि पद सीसा । बोला बचन जोरि कर कीसा ॥
अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता । आसिष तव अमोघ बिख्याता ॥ ३ ॥

हनुमान्जी ने सीताजी के चरणों में बार बार मस्तक रक्खा और वे दोनों हाथ जोड़कर बोले—माताजी ! अब मैं कृतकृत्य हो गया; क्योंकि आपका आशीर्वाद अमोघ (जो कभी व्यर्थ न हो) प्रसिद्ध है (वह मुझे मिल गया) ॥ ३ ॥

१—पुराणों में कथा है—एक बेर गरुड़जी कैलास से निकल कर कहीं जाने लगे कि शिवजी के लँगोटे में बैठे हुए और इधर-उधर लिपटे हुए साँपों ने ज़ोर शोर से फुफकारना आरम्भ किया। गरुड़जी ने कहा—जो शङ्कर का आश्रय छोड़कर मैदान में आकर फुफकारो तो समझूँ। अथवा—एक बेर भगवान् की शरण गये हुए सर्प को गरुड़जी ने खाने की इच्छा की, तब विष्णु ने सर्प को समर्थ बना दिया जिससे वह गरुड़जी को ही खाने दौड़ा, फिर प्रार्थना करने पर भगवान् ने उनको छुड़ाया।

२—भक्ति जैसे—"सुमिरि राम सेवक-सुखदाता"। ३—प्रताप—"प्रभुप्रताप तें गरुड़हिँ खाय परम लघु ब्याल"। ४—तेज—"रामबाण रवि उदय जानकी"। ५—बल—"उर आनहु रघुपति प्रभुताई"। अथवा—"अबहि मातु मैं जाउँ लिवाई"।

३—यहाँ सीताजी का वरदान इसलिए हो गया है कि हनुमान्जी मुनियों के शाप से अपना पराक्रम भूल न जायँ, क्योंकि इनको आगे बहुत काम करना है।

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुन्दर फल रूखा॥
सुनु सुत करहिँ बिपिनरखवारी। परमसुभट रजनीचर भारी॥४॥
तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं। जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीँ॥५॥

फिर हनुमान्‌जी ने कहा कि माता! वृक्षों में सुन्दर फल लगे हुए देखकर मुझे बहुत भूख लगी है। सीताजी ने कहा—हे पुत्र! सुनो, बड़े ही वीर भारी राक्षस इस बगीचे की रक्षा करते हैं (ऐसी स्थिति में तुम कैसे फल खा सकोगे?)॥४॥ हनुमान्‌जी ने कहा—जो आप मन में सुख मानें तो मुझे उन राक्षसों का कुछ भी डर नहीं है॥५॥

दो०—देखि बुद्धि-बल-निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु॥
रघु-पति-चरन हृदय धरि तात मधुरफल खाहु॥१७॥

जानकीजी ने हनुमान्‌जी को बुद्धि और बल में चतुर देखकर कहा—हे तात! तुम रघुवंशनाथ रामचन्द्रजी के चरणों को हृदय में रखकर जाओ और मीठे फल खाओ॥१७॥

चौ०—चलेउ नाइ सिरु पैठेउ बागा। फल खायेसि तरु तोरइ लागा॥
रहे तहाँ बहु भट रखवारे। कछु मारेसि कछु जाइ पुकारे॥१॥

हनुमान्‌जी सीताजी को प्रणाम कर चले और बगीचे के भीतर घुसे। उन्होंने फल खाये और फिर वे पेड़ों को तोड़ने लगे। वहाँ बहुत से वीर रक्षक थे। उनमें से कुछ को तो वहीं हनुमान्‌जी ने मार डाला, कुछ ने भागकर रावण से पुकार की॥१॥

नाथ एक आवा कपि भारी। तेहि अशोकबाटिका उजारी॥
खायेसि फल अरु बिटप उपारे। रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे॥२॥

उन्होंने कहा—हे नाथ! एक बड़ा भारी बन्दर आया है। उसने अशोकवाटिका उजाड़ डाली। उसने बहुत से फल खा लिये और वृक्ष उखाड़ फेंके तथा रखवालों को रगड़ रगड़ कर धरती में डाल दिया (मार डाला)॥२॥

सुनि रावन पठये भट नाना। तिन्हहिँ देखि गर्जेउ हनुमाना॥
सब रजनीचर कपि संहारे। गये पुकारत कछु अधमारे॥३॥

यह समाचार सुनकर रावण ने अनेक वीर भेजे। उन्हें देखकर हनुमान्‌जी ने गर्जना की और उन सब राक्षसों का संहार कर दिया। कुछ अधमरे राक्षसों ने भागकर रावण के पास जाकर पुकार की॥३॥

पुनि पठयेउ तेहि अछयकुमारा। चला संग लेइ सुभट अपारा॥
आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥४॥

तब फिर रावण ने अपने पुत्र अक्षयकुमार को भेजा। वह अपार अच्छे योद्धाओं को साथ लेकर चला। उसको आते देखकर हनुमान् ने हाथ में एक वृक्ष लेकर बड़ी किलकारी मारी और उस (अक्षयकुमार) को मारकर बड़े जोर से गर्जना की॥ ४॥

दो०—कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलयेसि धरि धूरि।
कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बलभूरि॥१८॥

हनुमान्‌जी ने अक्षयकुमार के साथ आये हुए राक्षसों में से कुछ को तो मार डाला, कुछ को रगड़ डाला और कुछ को पीसकर धूल में मिला दिया! कुछ राक्षसों ने जाकर रावण से कहा कि महाराज! वह बन्दर बड़ा बली है॥ १८॥

चौ०—सुनि सुतबध लंकेस रिसाना। पठयेसि मेघनाद बलवाना॥
मारेसि जनि सुत बाँधेसु ताही। देखिय कपिहि कहाँ कर आही॥१॥

लङ्केश्वर रावण अपने पुत्र अक्षयकुमार का मरण सुनकर बड़ा क्रोधित हुआ। अब उसने बलवान् मेघनाद को भेजा। उससे उसने कहा—हे पुत्र! तुम उसको मारना नहीं, बाँध लेना। देखें तो सही वह बन्दर कहाँ का है॥ १॥

चला इंद्रजित अ-तुलित-जोधा। बंधुनिधन सुनि उपजा क्रोधा॥
कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥२॥

भाई की मृत्यु सुनकर अतुल योद्धा इन्द्रजित् को बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ। हनुमान्‌जी ने देखा कि बड़ा भयानक वीर आया है। उन्होंने तुरन्त ही कटकटा कर गर्जना की और उस पर आक्रमण कर दिया॥ २॥

अति बिसाल तरु एक उपारा। बिरथ कीन्ह लंकेसकुमारा॥
रहे महाभट ताके संगा। गहि गहि कपि मर्दइ निज अंगा॥३॥

उन्होंने एक बड़ा भारी पेड़ उखाड़ लिया, उससे लङ्केश्वर के पुत्र मेघनाद को बिना रथ का कर दिया अर्थात् उसके रथ को तोड़ डाला। मेघनाद के साथ जो बड़े योद्धा थे, उन्हें पकड़कर हनुमान्‌जी अपने शरीर से मर्दन करने लगे॥ ३॥

तिन्हहिं निपाति ताहि सन बाजा। भिरे जुगल मानहुँ गजराजा ॥
मुठिका मारि चढा तरु जाई। ताहि एक छन मुरुछा आई ॥४॥
उठि बहोरि कीन्हिसि बहु माया। जीति न जाय प्रभंजनजाया ॥५॥

इस तरह सब राक्षसों को उन्होंने मार गिराया और फिर वे मेघनाद से जा भिड़े। उस समय यह मालूम होता था, मानों दो गजराज आपस में भिड़ गये हों। हनुमान्‌जी मेघनाद को एक घूँसा मारकर वृक्ष पर जा चढ़े। उसको घूँसे की चोट से मूर्च्छा आ गई। वह क्षण भर बेहोश रहा ॥ ४ ॥ फिर (चेत होने पर) उठकर उसने बहुत तरह से माया रची। पर वायु-पुत्र किसी तरह जीता न गया ॥ ५ ॥

दो०—ब्रह्म-अस्त्र तेहि साधा कपि मन कीन्ह बिचार।
जौं न ब्रह्मसर मानउँ महिमा मिटइ अपार ॥१९॥

अब मेघनाद ने हनुमान्‌जी को पकड़ने के लिए उन पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग (सन्धान) किया। यह देखकर हनुमान्‌जी ने मन में विचार किया कि जो मैं ब्रह्मास्त्र को न मानूँगा तो इस अस्त्र की अपार महिमा मिट जायगी ॥ १९ ॥

चौ०—ब्रह्मबान कपि कहुँ तेहि मारा। परतिहुँ बार कटकु संघारा ॥
तेहि देखा कपि मुरुछित भयऊ। नागपास बाँधेसि लेइ गयऊ ॥१॥

मेघनाद ने हनुमान्‌जी को ब्रह्मास्त्र मार दिया। उन्होंने उस प्रहार से गिरते गिरते भी राक्षसी सेना का संहार कर दिया। जब मेघनाद ने देखा कि बन्दर मूर्च्छित हो गया है, तब वह उनको नागपाश से बाँधकर ले गया ॥ १ ॥

जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भवबंधन काटहिं नर ग्यानी ॥
तासु दूत कि बंध तर आवा। प्रभुकारज लगि कपिहि बँधावा ॥२॥

शिवजी कहते हैं—हे पार्वती! जिनके नाम को जपकर ज्ञानी पुरुष संसार-बंधन को काट डालते हैं, उन श्रीरामचन्द्रजी का दूत क्या कभी किसी बन्धन के नीचे आ सकता है? (कदापि नहीं) किन्तु स्वामी के कार्य के लिए हनुमान्‌जी जान बूझकर बँध गये ॥ २ ॥

कपिबंधन सुनि निसिचर धाये। कौतुक लागि सभा सब आये ॥
दस-मुख-सभा दीखि कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई ॥३॥

बन्दर के पकड़े जाने की खबर पाकर राक्षस दौड़े। वे लोग कौतुक (खेल) देखने के लिए रावण की सभा में आये। हनुमान्‌जी ने जाकर रावण की सभा देखी तो उसकी ऐसी बड़ी प्रभुता थी कि जिसका कुछ वर्णन नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता ॥
देखि प्रताप न कपिमन संका। जिमि अहिगन महुँ गरुड असंका ॥४॥

सब देवता और दिक्पाल हाथ जोड़े हुए नम्रतापूर्वक खड़े हैं। सभी भय-सहित उसकी भृकुटि को देख रहे हैं अर्थात् रावण की ज़रा भी टेढ़ी भृकुटि देखते ही डर जाते हैं। इस प्रताप को देखकर हनुमान्जी के चित्त में कुछ भी शङ्का न हुई। जैसे साँपों के मुंड में गरुड़ निश्चिन्त रहता है वैसे हनुमान्जी भी निःशङ्क थे ॥ ४ ॥

दो०—कपिहि बिलोकि दसानन बिहँसा कहि दुर्बाद।
सुत-बध-सुरति कीन्ह पुनि उपजा हृदय बिषाद ॥२०॥

हनुमान्जी को देखकर रावण खोटे वचन बोलकर हँसा। फिर अपने पुत्र (अक्षयकुमार) के वध स्मरणकर उसके हृदय में खेद उत्पन्न हुआ ॥ २० ॥

चौ०—कह लंकेस कवन तैं कीसा। केहि के बल घालेहि बन खीसा ॥
कीधौं स्रवन सुने नहिं मोही। देखउँ अति असंक सठ तोही ॥१॥

लङ्कापति ने पूछा—अरे बन्दर! तू कौन है? तूने किसके बल से बग़ीचे को उजाड़ा? क्या तूने मुझे (मेरे नाम को) कानों से नहीं सुना? अरे दुष्ट! मैं तुझे बहुत ही निःशङ्क (निडर) देख रहा हूँ ॥ १ ॥

मारे निसिचर केहि अपराधा। कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा ॥
सुनु रावन ब्रह्मांडनिकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया ॥२॥

तूने राक्षसों को किस अपराध से मार डाला? अरे दुष्ट! बता, तुझे अपने प्राणों की भी चिन्ता नहीं है[१]? यह सुनकर हनुमान्जी ने कहा[२]—रावण! सुन। जिनका बल पाकर माया अनेक ब्रह्माण्डों की रचना करती है[३] ॥ २ ॥

जा के बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा ॥
जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन ॥३॥

१—इस पद में एक भाव यह भी है कि हनुमान्जी को रावण ने विश्वास दिया कि 'कहु शठ'—तू दुष्ट है पर कह दे अर्थात् सच्चा हाल बता दे। ऐसा करने से 'तोहि न प्रान कै बाधा' तुझे प्राणदण्ड न दिया जायगा, जो झूठ बोलेगा तो मार डाला जायगा। २—रावण के संक्षिप्त प्रश्न चातुर्य से भरे हुए हैं। उन पर हनुमान्जी का उत्तर उसके खण्डन में ठीक सम्पुट सा है। पहले उसने बल पूछा तो वे बल बताकर अन्त में रावण का बल-नाश दिखाते हैं। ३—इससे लङ्का की विचित्र रचना का गर्वभंजन किया।

हे दससीस! जिनके बल से ब्रह्मा, विष्णु और महादेव जगत् को उत्पन्न करते, पालते और उसका संहार करते हैं[1]; जिनके बल से हजार मुखवाले शेषजी पर्वतों और वनों समेत ब्रह्मांडों के समूह को मस्तक पर धारण करते हैं[2] ॥ ३ ॥

धरे जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावनदाता ॥
हरकोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृप-दल-मद गंजा ॥४॥
खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अ-तुलित-बल-साली ॥५॥

जिन देवतों के रक्षक ने तरह तरह के शरीर धारण किये[3], जो तुम जैसे दुष्टों को सीख देनेवाले हैं, जिन्होंने कठिन शिव-धनुष तोड़ा और तुम समेत राजाओं का अभिमान चूर्ण किया ॥ ४ ॥ जिन्होंने अतुल बलवान् खर, दूषण, त्रिशिरा और बाली जैसे सभी अतुल बलवानों को मारा[4] ॥ ५ ॥

दो०—जा के बललवलेस तेँ जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैँ जा करि हरि आनेहु प्रियनारि ॥२१॥

जिसके बल के लेशमात्र से तूने चराचर समेत सभी को जीता है और जिनकी प्यारी स्त्री को तू हर लाया है उन्हीं (रामचन्द्रजी) का दूत मैं हूँ ॥ २१ ॥

चौ०—जानउँ मैँ तुम्हारि प्रभुताई। सहसबाहु सन परी लराई ॥
समर बालि सन करि जस पावा। सुनिकपिबचन बिहँसि बहरावा ॥१॥

हे रावण! मैं तुम्हारी प्रभुता जानता हूँ[5], जो सहस्रार्जुन से तुमसे लड़ाई का थी[6]। बाली से युद्ध कर तुमने यश पाया था[7]। ये हनुमान्‌जी के वचन सुनकर रावण ने उनको यों ही हँसी में टाल दिया ॥ १ ॥

१—तुझे इस कृपा से लङ्का के राज्य चलाने में ही इतना मद है। २—तुझे तो क्षुद्र सा कैलास उठा लेने का ही बड़ा घमण्ड है। ३—तू कहेगा कि जिनका वर्णन ऐसा है वे कभी देह नहीं धरते, तो वे इसलिए देह धरते हैं। ४—ऐसे वैसे मामूली शत्रुओं को नहीं मारा। ५—मैंने कानों से भी नहीं सुना ऐसा न समझ। ६—सहस्रार्जुन महेश्वर का राजा था। रावण वहाँ जा नर्मदा-स्नानकर पार्थिव-पूजा कर रहा था। उधर सहस्रार्जुन ने अपने १००० हाथों से नर्मदा का प्रवाह रोका, इससे नर्मदा में बाढ़ आकर रावण की पूजा-सामग्री बह गई। उसे क्रोध आया। वह बाढ़ का कारण ढूंढ़ने लगा। अन्त में पता लगाकर वह सहस्रार्जुन से जा भिड़ा। उसने रावण को क़ैद कर लिया। तब ब्रह्मा ने आकर उसे छुड़ाया। ७—बाली चारों समुद्रों में संध्या करता था। एक बार रावण चुपचाप पीछे से जा बाली को पकड़ने लगा तो बाली ने तुरन्त ही रावण को बगल में दबा लिया और ६ महीने तक उसे लिये हुए वह घूमता रहा, फिर उससे मित्रता कर रावण ने छुटकारा पाया।

खायेउँ फल प्रभु लागी भूखा। कपिसुभाव तेँ तोरेउँ रूखा॥
सब के देह परमप्रिय स्वामी। मारहिँ मोहि कु-मारग-गामी॥२॥

हे प्रभु! (राक्षसराज) मुझे भूख लगी थी, इसलिए मैंने फल खाये और बन्दरों का स्वभाव ही वृक्ष तोड़ फेंकने का होता है; उसी स्वभाव-वश मैंने भी वृक्ष तोड़ फेंके। हे स्वामी! अपना शरीर सभी को परम प्रिय होता है। कुमार्ग में चलनेवाले (कुचाली) राक्षस मुझे मारने लगे तो॥ २॥

जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे। तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे॥
मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा॥३॥

जिन्होंने मुझे मारा या मारना चाहा उन्हें मैंने भी मारा। इस पर भी, अर्थात् मेरा कुछ अपराध न होने पर भी तुम्हारे पुत्र ने मुझे बाँध लिया। मुझे पकड़े जाने की कुछ भी लज्जा नहीं है, क्योंकि मैं तो अपने स्वामी का कार्य करना चाहता हूँ॥ ३॥

बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥
देखहु तुम्ह निज कुलहिँ बिचारी। भ्रम तजि भजहु भगत-भय-हारी॥४॥

हे रावण! मैं हाथ जोड़कर तुमसे प्रार्थना करता हूँ[1]। तुम अभिमान छोड़कर मेरी सीख को सुनो। तुम अपने कुल को विचारकर देखो[2] और भ्रम को त्यागकर भक्तों के भय का नाश करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी का भजन करो॥ ४॥

जा के डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥
ता सोँ बैरु कबहुँ नहिँ कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै॥५॥

जो देवों, दैत्यों और चराचर को खा जाता है, वह महाकाल भी जिनके डर से डरता है, उनसे कभी वैर न करना चाहिए। मेरे कहने से उनको जानकी को दे दो॥ ५॥

दो०—प्रनतपाल रघुनायक करुनासिंधु खरारि।
गये सरन प्रभु राखिहहिँ तव अपराध बिसारि॥२२॥

वे रघुनाथजी शरणागत लोगों के रक्षक, दया के सागर और दुष्टों के शत्रु हैं। शरण जाने पर वे प्रभु तुम्हारे अपराधों को भुलाकर तुम्हारी रक्षा करेंगे॥ २२॥

१—यहाँ लोग शङ्का करते हैं कि रावण को हनुमान्‌जी ने हाथ क्यों जोड़े और प्रार्थना क्यों की? उत्तर—सभ्यता की मर्यादा है कि विनयपूर्वक निवेदन की हुई बात अवश्य स्वीकृत होती है। उससे यह अर्थ नहीं होता कि वह विनय करनेवाला डरता है। २—तुम पुलस्त्य मुनि के नाती और विश्रवा के पुत्र विशुद्ध ब्राह्मण के वंशज हो।

चौ०—राम-चरन-पंकज उर धरहू। लंका अ-चल-राजु तुम्ह करहू ॥
रिषि-पुलस्ति-जसु बिमलमयंका। तेहि ससि महुँ जनि होहु कलंका ॥१॥

तुम रामचन्द्रजी के चरण-कमल हृदय में रखो और लङ्का में अचल राज्य करो। पुलस्त्य ऋषि का यश विशुद्ध चन्द्रमा है। उस यशचन्द्र में तुम कलङ्करूप मत हो॥ १॥

रामनाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा ॥
बसनहीन नहिँ सोह सुरारी। सब-भूषन-भूषित बरनारी ॥२॥

हे देवशत्रु! तुम मद और मोह को त्यागकर विचार देखो, राम-नाम के बिना वाणी वैसे ही शोभित नहीं होती, जैसे सब तरह के गहनों से सजाई हुई सुन्दर स्त्री वस्त्रों बिना नहीं शोभित होती॥ २॥

रामबिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई ॥
सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गये पुनि तबहिं सुखाहीँ ॥३॥

जो रामचन्द्रजी से विमुख है उसकी सम्पत्ति और प्रभुता रहते हुए भी नहीं के बराबर है, क्योंकि जिन नदियों का मूल (उद्गम) सजल नहीं है वे पानी बरस जाने पर भी फिर तुरन्त ही सूख जाती हैं॥ ३॥

सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुखराम त्राता नहिँ कोपी ॥
संकर सहस बिष्णु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही ॥४॥

हे दशकण्ठ! सुनो। मैं प्रण रोपकर (प्रतिज्ञा करके) कहता हूँ कि राम-विमुख का कोई रक्षक नहीं है। रामचन्द्रजी से द्रोह करनेवाले तुमको हजार शङ्कर, विष्णु और ब्रह्मा भी नहीं बचा सकते। (तब औरों को क्या चली है) ॥ ४॥

दो०—मोहमूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान ॥२३॥

तुम मोह-मूलक (जिसकी जड़ मोह है) और शूल (दुःख) देनेवाले तमोगुण-रूपी अभिमान को त्याग दो और दयासागर भगवान् रघुनायक रामचन्द्रजी का भजन करो॥ २३॥

चौ०—जदपि कही कपि अतिहित बानी। भगति-बिबेक-बिरति-नय-सानी ॥
बोला बिहँसि महाअभिमानी। मिला हमहिं कपि गुरु बड ग्यानी ॥१॥

यद्यपि हनुमान्‌जी ने बहुत हित करनेवाला और भक्ति[1], विचार[2], वैराग्य[3] तथा नीति[4] से भरी हुई वाणी कही, तथापि महा अभिमानी रावण खूब हँसकर बोला—ओहो! हमें यह बन्दर बड़ा ज्ञानवान् गुरु मिला है! ॥ १ ॥

मृत्यु निकट आई खल तोही । लागेसि अधम सिखावन मोही ॥
उलटा होइहि कह हनुमाना । मतिभ्रम तोहि प्रगट मैं जाना ॥२॥

अरे खल! तेरी मृत्यु समीप आ गई है, इसी लिए नीच! तू मुझे सीख देने लगा है! हनुमान्‌जी ने कहा—ठीक इसी का उलटा होगा। मुझे स्पष्ट मालूम होता है कि तेरी बुद्धि में भ्रम हो गया है। क्योंकि काल आया है तेरा, पर तू मेरा काल आया कहता है[5]। ॥ २ ॥

सुनि कपिबचन बहुत खिसियाना । बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना ॥
सुनत निसाचर मारन धाये । सचिवन्ह सहित बिभीषनु आये ॥३॥

हनुमान्‌जी के वचन सुनकर रावण बहुत क्रोधित हुआ। वह बोला कि अरे! इस मूर्ख को जल्दी क्यों नहीं मार डालते! यह सुनते ही राक्षस मारने को दौड़े। इतने में मन्त्रियों-समेत विभीषण वहाँ आये ॥ ३ ॥

नाइ सीस करि बिनय बहूता । नीतिबिरोध न मारिय दूता ॥
आन दंड कछु करिय गोसाईं । सबहीं कहा मंत्र भल भाई ॥४॥
सुनत बिहँसि बोला दसकंधर । अंगभंग करि पठइय बंदर ॥५॥

उन्होंने रावण को सिर नवाकर बहुत प्रार्थना की कि दूत को नहीं मारना चाहिए, क्योंकि यह काम नीति-विरुद्ध है। हे गुसाईं! इसके लिए और कुछ दण्ड दीजिए। यह सुनकर सभी राक्षस बोल उठे कि हाँ, यह सलाह अच्छी है ॥ ४ ॥ यह बात सुनकर रावण हँसकर बोला कि इस बन्दर का कोई अङ्ग-भङ्ग करके इसे भेज देना चाहिए ॥ ५ ॥

दो०—कपि कैं ममता पूँछ पर सबहिं कहउँ समुझाइ ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ ॥२४॥

१—भक्ति—'भजहु राम'। २—विचार—'जाके डर अतिकाल डेराई'। ३—वैराग्य—'त्यागहु तुम अभिमान'। ४—नीति—सभी वचनों में है।

५—'मुमूर्षूणां हि मन्दात्मन् ननु स्युर्विभ्रवा गिरः।' अर्थात् हे दुष्ट! जो मरनेवाले होते हैं उनकी वाणी ज़रूर ही उलटी हो जाती है।

रावण ने कहा कि सबको समझाकर कहता हूँ—बन्दरों की पूँछ पर बड़ी ममता होती है, इसलिए तेल में कपड़ा डुबोकर उसे इसकी पूँछ में बाँध दो और उसमें आग लगा दो ॥ २४ ॥

चौ०—पूँछहीन बानर तहँ जाइहि । तब सठ निज नाथहिँ लेइ आइहि ॥
जिन्ह कै कीन्हेसि बहुत बड़ाई । देखउँ मैं तिन्ह कै प्रभुताई ॥१॥

जब बिना पूँछ का यह दुष्ट बन्दर वहाँ जायगा, तब अपने मालिक को ले आवेगा। फिर इसने जिनकी बहुत बड़ाई की है उनकी भी प्रभुता (सामर्थ्य) मैं देखूँगा ॥ १ ॥

बचन सुनत कपि मन मुसुकाना । भइ सहाय सारद मैं जाना ॥
जातुधान सुनि रावनबचना । लागे रचइ मूढ़ सोइ रचना ॥२॥

रावण के इन वचनों को सुनते ही हनुमान्जी मन ही मन मुस्कुराये और कहने लगे कि मैं समझता हूँ कि सरस्वती सहायक हो गई है। उधर वे मूर्ख राक्षस, रावण के वचन सुनकर, वही रचना रचने लगे (जो उसने कही) ॥ २ ॥

रहा न नगर बसन घृत तेला । बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला ॥
कौतुक कहँ आये पुरबासी । मारहि चरन करहिँ बहु हाँसी ॥३॥

इधर हनुमान्जी ने भी खेल किया। उनकी पूँछ इतनी बढ़ गई कि उसको भिगोने के लिए लङ्का नगरी भर में तेल और लपेटने के लिए कपड़ा न रहने पाया। उसका कौतुक (खेल) देखने को सभी नगर-वासी दौड़े आये। वे लात मारते और खूब हँसी करते थे ॥ ३ ॥

बाजहिँ ढोल देहिँ सब तारी । नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी ॥
पावक जरत देखि हनुमंता । भयउ परम लघुरूप तुरंता ॥४॥
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी । भईं सभीत निसाचर-नारी ॥५॥

फिर ढोल बजने लगे और सब राक्षस तालियाँ बजाने लगे। हनुमान्जी को सारे लङ्का नगर में घुमाकर उनकी पूँछ में आग लगा दी गई। हनुमान्जी ने आग को जलते देखकर तुरन्त अपना रूप छोटा कर लिया (जो बन्धन बड़े शरीर में बँधे थे वे आप ही ढीले हो गये) ॥ ४ ॥ हनुमान्जी बन्धन से निकल, उछलकर, एक सोने की अटारी पर जा चढ़े। उन्हें देखकर राक्षसों की स्त्रियाँ बहुत डर गईं ॥ ५ ॥

दो०—हरिप्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास ।
अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास ॥२५॥

उस समय भगवान् की प्रेरणा से उनचासों पवन चले और हनुमान्जी अट्टहास कर गरजे। लपट इतनी बढ़ी कि वह आकाश में जा लगी ॥ २५ ॥

चौ०—देह बिसाल परम हरुआई। मंदिर तें मंदिर चढ धाई ॥
जरइ नगर भा लोग बिहाला। झपट लपट बहु कोटि कराला ॥१॥

हनुमान्जी का शरीर इतना विशाल (लम्बा चौड़ा) होने पर भी उसमें बिलकुल हलकापन आ गया। वे झट पट इस घर से उस घर पर दौड़कर चढ़ जाने लगे। नगर जलने लगा, लोग बेहाल हो गये, अनगिनत भयानक लपटों की झपटें निकलने लगीं ॥ १ ॥

तात मातु हा सुनिय पुकारा। एहि अवसर को हमहिँ उबारा ॥
हम जो कहा यह कपि नहिँ होई। बानररूप धरे सुर कोई ॥२॥

नगर में हाय बाप! हाय मा! की चिल्लाहट सुन पड़ने लगी। लोग कहने लगे कि भाइ! इस समय हमारी रक्षा कौन करेगा? हमने तो कह दिया था कि यह बन्दर नहीं है, किन्तु कोई देवता बन्दर बनकर आया है (वही हुआ) ॥ २ ॥

साधुअवग्या कर फल ऐसा। जरइ नगर अनाथ कर जैसा ॥
जारा नगरु निमिष एक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीँ ॥३॥

सज्जन की अवज्ञा (अपमान, तिरस्कार) का फल ऐसा ही होता है। नगर ऐसा जल रहा है जैसे किसी अनाथ का हो। एक निमिषमात्र (पलक भर) में सारा नगर हनुमान्जी ने जला दिया। एक विभीषण का घर नहीं जलाया ॥ ३ ॥

ता कर दूत अनल जेहि सिरिजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा ॥
उलटि पलटि लंका सब जारी। कूदि परा पुनि सिंधु मँझारी ॥४॥

महादेवजी कहते हैं—हे पार्वती! जिन्होंने अग्नि को उत्पन्न किया है, उनके दूत हनुमान्जी थे इसी कारण हनुमान्जी आग से नहीं जले। उन्होंने उलट पुलट कर[1] सारी लङ्का जला दी, फिर वे समुद्र में कूद पड़े ॥ ४ ॥

दो०—पूँछ बुझाइ खोइ स्रम धरि लघुरूप बहोरि।
जनकसुता के आगे ठाढ भयउ कर जोरि ॥२६॥

१—यहाँ उलट पुलट शब्दों पर लोग कहा करते हैं कि—किसी समय शनि की दृष्टि पड़ने से लङ्का की दीवार काली हो गई, यह देख रावण ने उसी दीवार के नीचे शनि को दबा दिया। लङ्का में आग लगाने के समय वहाँ का सोना और भी चमकने लगा, तब देवतों के कहने से हनुमान्जी ने दीवार के नीचे से शनि को निकाल दिया। उनकी दृष्टि से पुरी काली हुई तथा जली; फिर उन्होंने शनि को ज्यों का त्यों दबा दिया, उलट कर पुलट दिया।
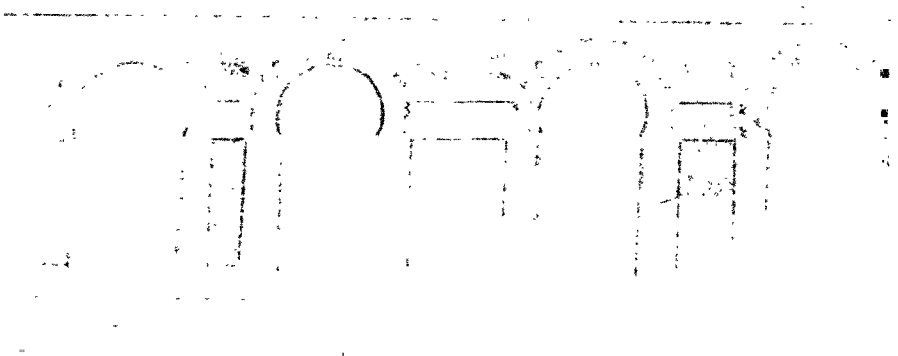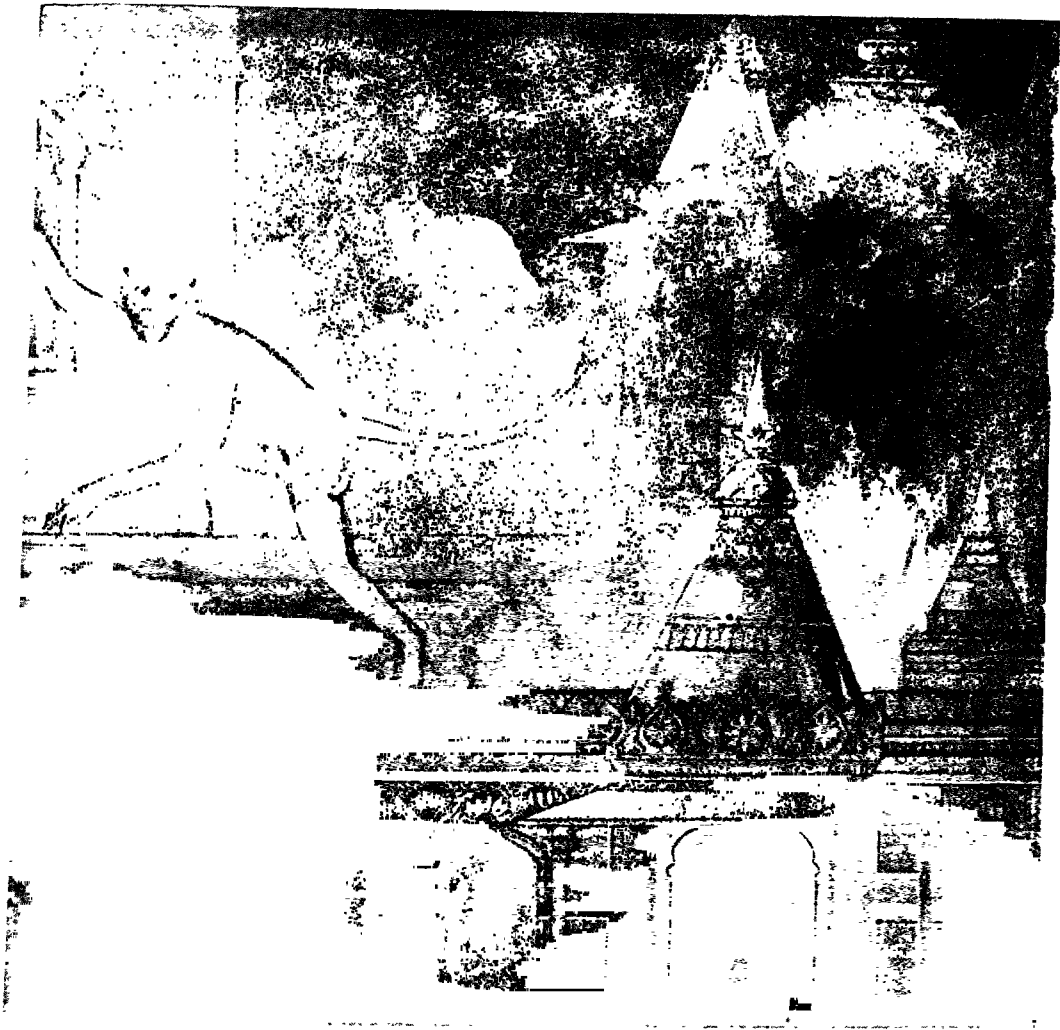
देह बिसाल परम हरुआई
मंदिर तें मंदिर चढ़ धाई ॥ पृ० ७८०

वहाँ पूँछ को बुझा और थकावट को दूर कर फिर वे अपना छोटा सा रूप धारणकर जानकोजी के सम्मुख हाथ जोड़ जा खड़े हुए ॥ २६ ॥

चौ०—मातु मोहि दीजै कछु चीन्हा । जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा ॥
चूडामनि उतारि तब दयऊ । हरषसमेत पवनसुत लयऊ ॥१॥

उन्होंने सीताजी से प्रार्थना की कि हे माता! जिस तरह रामचन्द्रजी ने मुझे चिह्न दिया था, वैसे ही कोई चिह्न आप भी दीजिए। तब सीताजी ने मस्तक का चूड़ामणि उतार कर दिया, उसे हनुमानजी ने प्रसन्नता-पूर्वक ले लिया ॥ १ ॥

कहेउ तात अस मोर प्रनामा । सब प्रकार प्रभु पूरनकामा ॥
दीन - दयालु - बिरुद संभारी । हरहु नाथ मम संकट भारी ॥२॥

जानकीजी ने कहा कि हे तात! स्वामी को मेरा प्रणाम निवेदन करना, फिर ऐसा कहना—हे प्रभु! आप तो सब प्रकार से परिपूर्ण-काम हैं (अर्थात् आपको किसी बात की कुछ इच्छा नहीं है) परन्तु आप दीनदयाल हैं, इसलिए हे नाथ! आप अपनी प्रतिज्ञा का सम्हाल कर, मेरा भारी संकट दूर कीजिए ॥ २ ॥

तात सक्र-सुत-कथा सुनायहु । बानप्रताप प्रभुहिँ समुझायहु ॥
मास दिवस महुँ नाथ न आवा । तो पुनि मोहि जियत नहिँ पावा ॥३॥

हे तात! तुम इन्द्र के पुत्र जयन्त की कथा सुनाना और स्वामी को उनके बाण का प्रताप समझाना। जो महीने भर के भीतर स्वामी न आ पहुँचेंगे, तो फिर मुझे जीती हुई न पावेंगे (रावण मुझे मार डालेगा) ॥ ३ ॥

कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना । तुम्हहू तात कहत अब जाना ॥
तोहि देखि सीतल भइ छाती । पुनि मो कहुँ सोइ दिनु सोइ राती ॥४॥

हे वानर! कहो, मैं अब किस तरह अपने प्राण रक्खूँ। हे तात! (तुम्हारा आसरा था) तुम भी अब जाने के लिए कह रहे हो! तुम्हें देखकर मेरी छाती ठंढी हुई थी अब फिर मुझे वही दिन और वही रात हो जायगी ॥ ४ ॥

दो०—जनकसुतहिँ समुझाइ करि बहुबिधि धीरजु दीन्ह ।
चरनकमल सिरु नाइ कपि गवनु राम पहिँ कीन्ह ॥२७॥

हनुमानजी ने जनक-दुलारीजी को समझाकर उन्हें बहुत तरह धीरज (दिलासा) दिया। फिर उनके चरण-कमलों में मस्तक नवाकर वे रामचन्द्रजी के पास चले ॥ २७ ॥

चौ०—चलत महाधुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिँ सुनि निसि-चर-नारी ॥
नाँघि सिंधु एहि पारहिँ आवा। सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा ॥ १ ॥

हनुमान्‌जी ने चलते चलते बड़ी भारी गर्जना की, जिसे सुनकर राक्षसियों के गर्भ गिरने लगे। फिर समुद्र उल्लङ्घन कर वे इस पार आये और दूर ही से उन्होंने अपनी किलकारी का शब्द बन्दरों को सुनाया ॥ १ ॥

हरषे सब बिलोकि हनुमाना। नूतन जनम कपिन्ह तब जाना ॥
मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा। कीन्हेसि रामचंद्र कर काजा ॥ २ ॥

तब हनुमान्‌जी को देखकर सब बन्दर प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना नया जन्म हुआ माना। हनुमान्‌जी का मुख तो प्रसन्न और शरीर तेजोमय हो रहा था। यह देखकर वानरों ने निश्चय किया कि इन्होंने रामचन्द्रजी का कार्य अवश्य सिद्ध कर लिया है ॥ २ ॥

मिले सकल अति भये सुखारी। तलफत मीन पाव जनु बारी ॥
चले हरषि रघुनायक पासा। पूछत कहत नवल इतिहासा ॥ ३ ॥

सब बन्दर हनुमान्‌जी से मिले और अत्यन्त सुखी हुए, मानों बिना पानी तड़पती हुई मछली को पानी मिल गया हो। वे सब प्रसन्न होकर रघुनाथजी के पास चले। रास्ते में अद्भुत इतिहास (समाचार बन्दर) पूछते और (हनुमान्‌जी) कहते जाते थे। अर्थात् लङ्का जाने और वहाँ के किये कामों का संक्षिप्त वर्णन उन्होंने कर दिया ॥ ३ ॥

तब मधुबन भीतर सब आये। अंगदसंमत मधुफल खाये ॥
रखवारे जब बरजन लागे। मुष्टिप्रहार हनत सब भागे ॥ ४ ॥

तब सब बन्दर मधुवन (एक बग़ीचे) के भीतर आये और अङ्गद की सम्मति से सबने मीठे मीठे फल खाये। जब बग़ीचे के रक्षक उनको मना करने लगे, तो वे उन्हें मुष्टि (घूँसे) प्रहार करने लगे, जिस पर वे सब भाग खड़े हुए ॥ ४ ॥

दो०—जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज।
सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आये प्रभुकाज ॥ २८ ॥

उन रखवालों ने वहाँ से सुग्रीव के पास जा पुकारा कि युवराज अङ्गद ने मधुवन उजाड़ दिया। सुग्रीव यह समाचार सुन कर प्रसन्न हुए। वे समझ गये कि बन्दर स्वामी का कार्य कर आये हैं ॥ २८ ॥

चौ०—जौं न होति सीतासुधि पाई। मधुबन के फल सकहिँ कि खाई॥
एहि बिधि मन बिचार कर राजा। आइ गये कपि सहित समाजा॥१॥

जो उन्होंने सीताजी को ख़बर न पाई होती, तो क्या वे मधुवन के फल खा सकते थे? (कभी नहीं)। राजा सुग्रीव इस तरह विचार कर ही रहे थे कि इतने में बन्दर अपने समाज सहित वहाँ आ गये॥ १॥

आइ सबन्हि नावा पद सीसा। मिले सबन्हि अति प्रेम कपीसा॥
पूछी कुसल कुसल पद देखी। रामकृपा भा काजु बिसेखी॥२॥

सबने आकर चरणों में मस्तक नवाया। कपिराज सुग्रीव सबसे बड़े प्रेम के साथ मिले। फिर उन्होंने कुशल-समाचार पूछा। बन्दरों ने कहा—आपके चरणों को देखने से सब कुशल मंगल है। श्रीरामचन्द्रजी की कृपा से विशेष कार्य सम्पन्न हो गया॥ २॥

नाथ काजु कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना॥
सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ। कपिन्ह सहित रघुपति पहँ चलेऊ॥३॥

फिर सबने कहा कि हे नाथ! कार्य हनुमान्‌जी ने किया। इन्होंने सब बन्दरों के प्राण बचाये। यह सुनकर सुग्रीव हनुमान्‌जी से दुबारा मिले और बन्दरों-समेत रामचन्द्रजी के पास चले॥ ३॥

राम कपिन्ह जब आवत देखा। किये काजु मन हरष बिसेखा॥
फटिकसिला बैठे दोउ भाई। परे सकल कपि चरनन्हि जाई॥४॥

जब रामचन्द्रजी ने बन्दरों को आते देखा, तो समझ गये कि इन्होंने कार्य सिद्ध कर लिया है; क्योंकि इनके मन में विशेष प्रसन्नता है। दोनों भाई राम-लक्ष्मण स्फटिक-शिला पर बैठे हुए थे। वहाँ जाकर सब बन्दर चरणों में गिरे॥ ४॥

दो०—प्रीतिसहित सब भेंटे रघुपति करुनापुंज।
पूछी कुसल नाथ अब कुसल देखि पदकंज॥२९॥

उन सबसे करुणा-सागर रामचन्द्रजी प्रेम के साथ मिले। रामचन्द्रजी ने उनसे क्षेम कुशल पूछी तो उन्होंने उत्तर में कहा—हे नाथ! श्रीचरण-कमलों का दर्शन कर अब सब कुशल है॥ २९॥

चौ०—जामवंत कह सुनु रघुराया। जापर नाथ करहु तुम दाया॥
ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर। सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर॥१॥

जाम्बवान् ने कहा—हे रघुराई! सुनिए, हे नाथ! जिसके ऊपर आप दया करें, उसको सदा शुभ है, और निरन्तर (एक-सी) कुशल है और उस पर देवता, मनुष्य तथा मुनि सब प्रसन्न हैं॥ १॥

सोइ बिजई बिनई गुनसागर। तासु सुजसु त्रयलोक उजागर॥
प्रभु की कृपा भयेउ सबु काजू। जनम हमार सुफल भा आजू॥२॥

और वही विजयी है, वही विनयी और गुणों का समुद्र है। उसका शुभ यश त्रिलोकी में प्रसिद्ध हो जाता है। स्वामी की कृपा से सब कार्य सिद्ध हो गया। आज हमारा जन्म सफल हुआ॥ २॥

नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥
पवनतनय के चरित सुहाये। जामवंत रघुपतिहि सुनाये॥३॥

हे नाथ! वायु-पुत्र हनुमान् ने जो कार्य कर दिखाया है, उसका वर्णन हजार मुँह से भी नहीं करते बनता। इस प्रकार जाम्बवान् ने हनुमान्‌जी के सुन्दर चरित्र रामचन्द्रजी को सुनाये॥ ३॥

सुनत कृपानिधि मन अति भाये। पुनि हनुमान हरषि हिय लाये॥
कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की॥४॥

कृपानिधान रामचन्द्रजी को वे सुनने में बहुत ही प्रिय लगे। फिर प्रसन्न होकर उन्होंने ने हनुमान्‌जी को हृदय से लगाया। इसके बाद उनसे पूछा—हे तात! कहो, जानकी किस तरह रहती हैं और किस तरह अपने प्राणों की रक्षा करती हैं॥ ४॥

दो०—नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज-पद-जंत्रित जाहिँ प्रान केहि बाट॥३०॥

यह सुनकर हनुमानजी ने कहा—हे स्वामिन्! उनके लिए आपका नाम दिन-रात पहरेदार का काम किया करता है, वे आपका जो ध्यान करती हैं वही किवाड़ हैं और अपने पाँवों की ओर लगे हुए नेत्र ही मानों ताले बन्द हैं। अर्थात् आपके वियोग से ध्यानावस्थित हो सदा सीताजी अपने पैरों की ओर दृष्टि जमाये आपका नाम जपती रहती हैं। ऐसी स्थिति में प्राण निकल कर किस मार्ग से जा सकते हैं?॥ ३०॥

चौ०—चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही। रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही॥
नाथ जुगललोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनक-कुमारी॥१॥

प्रभो! चलते समय मुझे यह चूड़ामणि दिया था। ऐसा कहकर उन्होंने वह रामचन्द्रजी को दिया। रघुनाथजी ने उसको हृदय से लगा लिया। फिर हनुमान्‌जी ने कहा—हे नाथ! जानकीजी ने अपनी दोनों आँखों में पानी भरकर कुछ वचन कहे हैं॥ १॥

अनुजसमेत गहेहु प्रभु चरना। दीनबन्धु प्रनतारतिहरना।
मन क्रम बचन चरनअनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥२॥

(वे ये हैं कि) लक्ष्मणजी सहित[1] प्रभु के चरणों को पकड़ लेना और प्रार्थना करना कि हे दीनबन्धु, भक्तों के दुःख हरनेवाले! मैं मन, वचन और कर्म से चरणों की अनुचरी हूँ फिर किस अपराध से आपने मुझे त्याग रक्खा है॥ २॥

अवगुन एक मोर मैं जाना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिँ हठि बाधा॥३॥

हाँ, मैं अपना एक अपराध जानती हूँ। वह यह कि प्रभु का वियोग होते ही मेरे प्राण न निकल गये! हे नाथ! परन्तु वह अपराध मेरे नेत्रों का है; वे प्राण निकलने में हठपूर्वक विघ्न कर देते हैं। (क्योंकि उनको आपके दर्शनों की लालसा है)॥ ३॥

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहँ सरीरा॥
नयन स्रवहिँ जल निज हित लागी। जरइ न पाव देह बिरहागी॥४॥
सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिँ कहे भलि दीनदयाला॥५॥

आपका विरह अग्नि-रूप है, मेरा शरीर रुई-रूप है और उस अग्नि का सहायक वायु श्वास है। यों एक क्षण भर में शरीर जलकर भस्म हो जाय! परन्तु नेत्र अपने हित[2] (दर्शन-लाभ) के लिए जल बहाते हैं, इसलिए विरहाग्नि में शरीर जलने नहीं पाता (पानी पड़ने से आग बुझ जाती है)॥ ४॥ हे दीनदयाल[3]! सीताजी की बड़ी गहरी विपत्ति है। वह बिना ही कहे अच्छी अर्थात् जब तक न कही जाय तभी तक ठीक है॥ ५॥

१—लक्ष्मणजी-सहित चरण-स्पर्श करने का तात्पर्य यह है कि 'मारीच के चिल्लाने पर' सीताजी ने जो कटुवाक्य कहे थे उनकी क्षमाप्रार्थना हो। अन्यथा लक्ष्मणजी को आशीर्वाद देना था, चरण-स्पर्श नहीं करना था। अथवा—'रहत न आरत के चित चेतू' सीताजी परम आर्त्त हैं अतएव इस दशा में जो कह दें वह अनुचित नहीं। अथवा—'अनुज समेत' अर्थात् लक्ष्मण-समेत हनुमान् तुम स्वामी के चरणों को पकड़ना अर्थात् लक्ष्मणजी पर इतना दृढ़ विश्वास है कि अपनी ओर से क्षमा कराने के लिए उन्हें कह रही हैं। अथवा—मेरा और लक्ष्मण का चरण-स्पर्श स्वीकार करना अर्थात् दोनों के पाँव पड़ने से अधिक प्रभाव होगा।

२—नेत्र सोचते हैं कि जो शरीर ही भस्म हो जायगा तो हम कैसे बच सकेंगे! ३—आप दीनदयाल हैं, सीताजी इस समय दीन हैं, इसलिए उनकी विपत्ति सुनकर आप न सह सकेंगे।

दो०—निमिष निमिष करुनानिधि जाहिँ कलपसम बीति ।
बेगि चलिय प्रभु आनिय भुजबल खलदल जीति ॥३१॥

हे करुणानिधे ! सीताजी को एक एक निमेष (आँख बन्द कर खोलने) का समय भी कल्प के बराबर बीतता है। इसलिए हे प्रभु ! शीघ्र चलिए और भुजाओं के बल से दुष्ट-दल को जीतकर सीताजी को ले आइए ॥ ३१ ॥

चौ०—सुनि सीतादुख प्रभु सुख-अयना। भरि आये जल राजिवनयना॥
बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही ॥१॥

सुख के स्थान स्वामी श्रीरामचन्द्रजी के कमल-समान नेत्र सीताजी का दुःख सुनकर जल (आँसुओं) से भर आये। वे कहने लगे—जिसको मन, वचन और कर्म से मेरी ही गति (शरणागति) है क्या उसे स्वप्न में भी विपत्ति पूछ सकती है ॥ १ ॥

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजनु न होई ॥
केतिक बात प्रभु जातुधान की। रिपुहि जीति आनिबी जानकी ॥२॥

हनुमान्‌जी ने कहा—हे प्रभो ! विपत्ति तो वही है, जब आपका स्मरण और भजन न हो। हे स्वामिन् ! राक्षसों की कितनी सी बात है, उन्हें जीत कर सीताजी को ले आइए ॥ २ ॥

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहि कोउ सुर नर मुनि तनुधारी ॥
प्रतिउपकार करउँ का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥३॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे वानर ! सुनो। तुम्हारे बराबर उपकार करनेवाला देवता, मनुष्यों और ऋषियों में दूसरा कोई शरीर-धारी नहीं है। मैं तुम्हारा क्या प्रत्युपकार करूँ ? मेरा मन तुम्हारे सम्मुख नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं ॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता ॥४॥

हे पुत्र ! सुनो। मैंने अपने मन में विचार करके देख लिया कि मैं तुमसे उऋण नहीं। ऐसा कहकर देवतों के त्राता श्रीरघुनाथजी हनुमान्‌जी की ओर बार बार देखने लगे। उनके नेत्रों में जल भर आया और शरीर में अत्यन्त रोमावलि खड़ी हो गई ॥ ४ ॥

दो०—सुनि प्रभुबचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत ।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत ॥३२॥

हनुमान्‌जी प्रभु रामचन्द्रजी के वचन सुनकर और उनका श्रीमुख देखकर प्रसन्न हो, तथा प्रेम से अधीर हो, श्री चरणों में गिर पड़े और बोले कि हे भगवन्, त्राहि ! त्राहि !! (रक्षा करो, रक्षा करो) ॥ ३२ ॥

चौ०—बार बार प्रभु चहहिँ उठावा । प्रेममगन तेहि उठब न भावा ॥
प्रभु-कर-पंकज कपि कें सीसा । सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा ॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी हनुमान्‌जी को बार बार चरणों से उठाना चाहते हैं, किन्तु हनुमान्‌जी को उठना नहीं रुचता। श्रीस्वामी का हस्त-कमल हनुमान्‌जी के मस्तक पर है (अर्थात् उन्होंने हस्त-कमलों से मस्तक थाम रखा है)। तुलसीदासजी और याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि उस प्रेम-मुग्ध दशा को स्मरण कर श्रीशिवजी भी मग्न हो गये। अर्थात् गौरी और ईश दोनों प्रेम में डूब गये ॥ १ ॥

सावधान मन करि पुनि संकर । लागे कहन कथा अति सुंदर ॥
कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा । कर गहि परमनिकट बैठावा ॥२॥

फिर कुछ देर में शङ्करजी अपने चित्त को सावधान कर अत्यन्त सुन्दर कथा कहने लगे। प्रभु रामचन्द्रजी ने हनुमान्‌जी को उठाकर छाती से लगाया और हाथ पकड़कर उनको बिलकुल पास बैठा लिया ॥ २ ॥

कहु कपि रावनपालित लंका । केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ॥
प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना । बोला बचन बि-गत-अभिमाना ॥३॥

फिर वे पूछने लगे कि हे कपि ! कहो, रावण द्वारा पालन की हुई लङ्का को और उसके बहुत ही बाँके क़िले को तुमने किस तरह जलाया। स्वामी को प्रसन्न जानकर हनुमान्‌जी अभिमान-रहित वचन बोले—॥ ३ ॥

साखामृग कै बड़ि मनुसाई । साखा तें साखा पर जाई ॥
नाँघि सिन्धु हाटकपुर जारा । निसि-चर-गन बधि बिपिन उजारा ॥४॥
सो सब तव प्रताप रघुराई । नाथ न कछू मोरि प्रभुताई ॥५॥

हे स्वामिन, शाखामृग अर्थात् बन्दर का बड़ा भारी पुरुषार्थ यही है कि वह इस डाल से कूदकर उस डाल पर चला जाता है। मैंने यही किया है; समुद्र को उल्लङ्घन कर सोने का नगर जलाया और वन को उजाड़ कर राक्षसों का वध किया ॥ ४ ॥ हे रघुराई ! यह सब आपही के प्रताप से हुआ है। इसमें कुछ मेरी प्रभुता (सामर्थ्य) नहीं है ॥ ५ ॥

दो०—ता कहुँ प्रभु कछु अगम नहिँ जा पर तुम्ह अनुकूल।
तव प्रभाव बडवानलहि जारि सकइ खलु तूल ॥३३॥

हे प्रभो ! जिस पर आप अनुकूल हैं, उसके लिए कुछ भी अगम (मिलने को कठिन) नहीं है। क्योंकि आपके प्रताप से तुच्छ रुई भी वड़वानल को जला सकती है ॥ ३३ ॥

चौ०—नाथ भगति अति सुख-दायनी। देहु कृपा करि अनपायनी ॥
सुनि प्रभु परम सरल कपिबानी। एवमस्तु तब कहेउ भवानी ॥१॥

हे नाथ ! आप कृपाकर मुझे अपनी अत्यन्त सुख देनेवाली अनपायिनी (खंडित न होनेवाली) भक्ति दीजिए। शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती ! प्रभु रामचन्द्रजी ने अत्यन्त सरल (सीधी) हनुमान्‌जी की वाणी सुनकर उनको एवमस्तु (ऐसा ही हो) कहा ॥ १ ॥

उमा रामसुभाव जेहि जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना ॥
यह संबाद जासु उर आवा। रघु-पति-चरन-भगति सोइ पावा ॥२॥

हे उमा ! जिन्होंने रामचन्द्रजी का स्वभाव जाना है, उन्हें उनका भजन छोड़कर और कोई बात अच्छी नहीं लगती। यह (हनुमान्-रामचन्द्रजी का) संवाद जिनके हृदय में आवेगा वे ही रघुनाथजी के चरणों की भक्ति पावेंगे ॥ २ ॥

सुनि प्रभुबचन कहहिँ कपिबृंदा। जय जय जय कृपाल सुखकंदा ॥
तब रघुपति कपिपतिहि बोलावा। कहा चलइ कर करहु बनावा ॥३॥

स्वामी रामचन्द्रजी के (वरप्रदान के) वचन सुनकर सब वानर-समूह बोले कि हे कृपाल ! हे सुखधाम ! आपकी जय हो, जय हो, जय हो ! तब फिर रामचन्द्रजी ने वानरराज सुग्रीव को बुलाया और कहा कि चलने की तैयारी करो ॥ ३ ॥

अब बिलंबु केहि कारन कीजे। तुरत कपिन्ह कहुँ आयसु दीजे ॥
कौतुक देखि सुमन बहु बरषी। नभ तेँ भवन चले सुर हरषी ॥४॥

अब किस लिए देर करनी चाहिए ? तुरन्त ही बन्दरों को आज्ञा दे देनी चाहिए। यह कौतुक (खेल) देखकर देवता आकाश से पुष्प-वर्षा कर प्रसन्न हो अपने अपने स्थान को चले गये ॥ ४ ॥

दो०—कपिपति बेगि बोलाये आये जूथप जूथ।
नानाबरन अ-तुल-बल बानर-भालु-बरूथ ॥३४॥

सुग्रीव ने शीघ्र ही यूथों के यूथ-पतियों (टोलियों के नायकों) को बुलाया। उसी समय अनेक रंगोंवाले, अपार बलशाली, बन्दर और रीछों के झुंड आये ॥ ३४ ॥

चौ०—प्रभु-पद-पंकज नावहिँ सीसा । गर्जहिँ भालु महाबल कीसा ॥
देखी राम सकल कपिसैना । चितइ कृपा करि राजिवनैना ॥१॥

वे महाबली रीछ और बन्दर प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों में मस्तक रख प्रणाम कर गर्जना करने लगे। रामचन्द्रजी ने सब बन्दरों की सेना देखी। वे कमल-समान नेत्रों से उनकी ओर कृपा-दृष्टि से देखने लगे ॥ १ ॥

राम-कृपा-बल पाइ कपिंदा । भये पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा ॥
हरषि राम तब कीन्ह पयाना । सगुन भये सुंदर सुभ नाना ॥२॥

रामचन्द्रजी की कृपा का बल पाकर वे वानर ऐसे हो गये मानों पङ्ख लगे हुए पहाड़ हों। तब रामचन्द्रजी ने प्रसन्न होकर यात्रा की। उस समय अनेक प्रकार के सुन्दर और शुभ शकुन हुए ॥ २ ॥

जासु सकल मंगलमय कीती । तासु पयान सगुन यह नीती ॥
प्रभुपयान जाना बैदेही । फरकि बामअँग जनु कहि देही ॥३॥

जिनकी कीर्ति समस्त मङ्गलमयी है, अर्थात् जिनका नाम लेने से ही सब मङ्गलमय हो जाता है उनके प्रयाण करते समय शकुन हुए यह नीति की बात है। रामचन्द्रजी की यात्रा जानकीजी ने जान ली, उनके बाँयें अङ्गों ने फड़ककर मानों वह यात्रा-समाचार उन्हें कह दिया ॥ ३ ॥

जोइ जोइ सगुन जानकिहि होई । असगुन भयउ रावनहि सोई ॥
चला कटकु को बरनइ पारा । गर्जहिँ बानर भालु अपारा ॥४॥

इधर जानकीजी को जो जो शकुन हुए, वे ही रावण के लिए अपशकुन हुए, अर्थात् रावण के भी बायें अङ्ग फड़के जो पुरुष के लिए अनिष्टकारक हैं। बन्दरों की सेना चली, उसका अन्त कौन वर्णन कर सकता है? उसमें अपार बन्दर और रीछ गर्जना कर रहे थे ॥ ४ ॥

नखआयुध गिरि-पादप-धारी । चले गगन महि इच्छाचारी ॥
केहरिनाद भालु कपि करहीं । डगमगाहिँ दिग्गज चिक्करहीं ॥५॥

जिन बन्दरों के नख ही शस्त्र हैं वे पहाड़ों और वृक्षों को धारण किये (हाथों में लिये) कोइ पृथ्वी पर और कोई आकाश में अपनी अपनी इच्छा के अनुसार चलने लगे। वे रीछ और बन्दर सिंहों की-सी गर्जनायें करते थे, जिन्हें सुनकर पृथ्वी डगमगाने लगी और दिग्गज चिंघाड़ने लगे ॥ ५ ॥

छंद—चिक्करहिँ दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे।
मन हरष दिनकर सोम सुर मुनि नाग किन्नर दुख टरे॥
कटकटहिँ मर्कट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीँ।
जय राम प्रबलप्रताप कोसलनाथ गुनगन गावहीँ॥

उस वानरी सेना के चलते ही दिग्गज चिंघाड़ने लगे, पृथ्वी हिलने लगी, पहाड़ हिल गये और समुद्र खलबला उठे। सूर्य, चन्द्र, देवता, मुनि, नाग और किन्नरों के मन प्रसन्न हुए कि अब सबके दुःख मिटे। बड़े विकट शूरवीर वानर कटकटाने लगे और करोड़ों वानर अपनी मण्डली जोड़कर दौड़ने लगे। वे कोसलनाथ रामचन्द्रजी का जय जयकार करते हुए उनके प्रबल प्रताप और गुणों को गाने लगे॥

सहि सक न भार उदार अहिपति बार बारहिँ मोहई।
गहि दसन पुनि पुनि कमठपृष्ठ कठोर सो किमि सोहई॥
रघु-बीर-रुचिर-प्रयान-प्रस्थिति जानि परम सुहावनी।
जनु कमठखर्पर सर्पराज सो लिखत अबिचल पावनी॥

उदार सर्पाधिपति शेषजी उस भार को न सह सके। वे बार बार मूर्च्छित हो जाते थे। इसी लिए वे दाँतों से बार बार कछुए (जो शेषजी के नीचे आधार है) की कठोर पीठ को पकड़ लेते थे। वह पकड़ना उस समय ऐसा मालूम होने लगा मानो अत्यन्त सुहावनी रामचन्द्रजी की यात्रा के समाचार जानकर शेषजी महाराज उस कछुए की निश्चल और पवित्र पीठ पर वह युद्ध-यात्रा लिख रहे हों!

दो०—एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागरतीर।
जहँ तहँ लागे खान फल भालु बिपुल कपिबीर॥३५॥

दयासागर रामचन्द्रजी इस तरह जाकर समुद्र के किनारे उतर गये। (मुक़ाम होते ही) असंख्य रीछ और शूरवीर बन्दर जहाँ तहाँ फल खाने लगे॥ ३५॥

चौ०—उहाँ निसाचर रहहिँ ससंका। जब तेँ जारि गयउ कपि लंका॥
निज निज गृह सब करहिँ बिचारा। नहिं निसि-चर-कुल केर उबारा॥१॥

(इस तरह इधर का वृत्तान्त हुआ, अब) वहाँ (लङ्का में) जब से हनुमान्जी लङ्का जला गये तब से राक्षस-गण संशय-युक्त रहने लगे (कि न जाने क्या होनहार है)। सब अपने अपने घरों में विचार करते थे कि अब राक्षस-कुल का बचाव नहीं है॥ १॥

जासु दूतबल बरनि न जाई। तेहि आये पुर कवनि भलाई॥
दूतिन्ह सन सुनि पुर-जन-बानी। मंदोदरी अधिक अकुलानी॥२॥

जिसके दूत का पराक्रम वर्णन नहीं करते बनता, स्वयं उसके पुर में आने पर कौन सी भलाई होगी! दूतियों के मुँह से नगर-निवासियों की ऐसी वाणी सुनकर मन्दोदरी (रावण की स्त्री) अधिक घबराई॥ २॥

रहसि जोरि कर पतिपद लागी। बोली बचन नीति-रस-पागी॥
कंत करष हरि सन परिहरहू। मोर कहा अति हित हिय धरहू॥३॥

वह एकान्त में पति के पाँव पड़ हाथ जोड़कर नीति-रस-मिश्रित वचन बोली—हे कन्त! आप भगवान् से द्वेष दूर करो। मेरा कहना बड़ा हितकर है, इसे हृदय में धारण करो॥ ३॥

समुझत जासु दूत कइ करनी। स्रवहिं गर्भ रजनी-चर-घरनी॥
तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जौं चहहु भलाई॥४॥

हे स्वामिन्, जिसके दूत की करनी (किये हुए काम) मालूम होते ही मारे डर के राक्षसों की स्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं, उसकी स्त्री को—जो भलाई चाहो तो अपने—मन्त्री को बुलवाकर उसके साथ भेज दो॥ ४॥

तव कुल-कमल-बिपिन-दुखदाई। सीता सीत-निसा-सम आई॥
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हे। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे॥५॥

सीता तुम्हारे वंशरूपी कमल-वन के लिए दुःख देनेवाली शीत (शिशिर ऋतु) की रात्रि के समान आई है। हे नाथ! सुनो। सीता के दिये बिना ब्रह्मा और महादेव भी तुम्हारा हित न कर सकेंगे॥ ५॥

दो०—रामबान अहि-गन-सरिस निकर निसाचर भेक।
जब लगि ग्रसत न तब लगि जतनु करहु तजि टेक॥३६॥

जब तक राक्षसों के समूहरूपी मेंढकों को रामचन्द्र के बाणरूपी सर्प ग्रसने न लगें, तब तक अर्थात् जल्दी ही हठ छोड़कर (सीता को लौटा देने का) यत्न करो॥ ३६॥

चौ०—स्रवन सुनी सठ ता करि बानी। बिहँसा जगतबिदित अभिमानी॥
सभय सुभाव नारि कर साँचा। मंगल महुँ भय मन अति काँचा॥१॥

जगत्-प्रसिद्ध अभिमानी दुष्ट रावण मन्दोदरी की वाणी को कानों से सुनकर खूब हँसा और कहने लगा—सचमुच स्त्रियों का स्वभाव डरपोक होता है। इन्हें मङ्गल में भी भय होता है ! इनका मन बहुत ही कच्चा है ! ॥ १ ॥

जौं आवइ मर्कट कटकाई। जियहिं बिचारे निसिचर खाई ॥
कंपहिं लोकप जा की त्रासा। तासु नारि सभीत बडि हाँसा ॥२॥

अरी ! जो बन्दरों की फ़ौज आ जाय तो बेचारे राक्षस उन्हें खाकर जीएँ ! ओह ! ! ! जिसके डर से (इन्द्रादिक) लोक-पाल काँपते हैं उसकी स्त्री ऐसी डरपोक। यह बड़ी हँसी की बात है ॥ २ ॥

अस कहि बिहँसि ताहि उर लाई। चलेउ सभा ममता अधिकाई ॥
मंदोदरी हृदय कर चिंता। भयउ कंत पर बिधि बिपरीता ॥३॥

ऐसा कह, खूब हँसकर और मन्दोदरी को छाती से लगाकर अधिक ममता (अभिमान) बढ़ाये हुए रावण सभा की ओर चला। मन्दोदरी हृदय में चिन्ता करने लगी कि इस समय मेरे पति पर विधाता उलटा हुआ है ॥ ३ ॥

बैठेउ सभा खबरि असि पाई। सिंधुपार सेना सब आई ॥
बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू ॥४॥
जितेहु सुरासुर तव स्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं ॥५॥

रावण सभा में जाकर बैठा। उसे ऐसी खबर मिली कि समुद्र के उस पार सब फ़ौज आ गई है। तब रावण ने मन्त्रियों से पूछा कि उचित सलाह बताओ। वे सुनकर हँसे और बोले कि आप चुप रहिए ॥ ४ ॥ आपने देव-दैत्यों को जीत लिया, जिसमें कुछ परिश्रम भी नहीं पड़ा; तब बेचारे मनुष्य और बन्दर किस गिनती में हैं ? ॥ ५ ॥

दो०—सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिही नास ॥३७॥

यदि मन्त्री, वैद्य और गुरु ये तीनों किसी भय अथवा आशा (लालच) से प्रिय बोलने लगें तो राज्य, शरीर और धर्म का बहुत ही शीघ्र नाश हो जाता है। अर्थात् मन्त्री वास्तविक बात न कहकर राजा की मन-भावती बात करे तो राज्य नष्ट हो, वैद्य जो रोगी के हित को न सोच कर लालच में पड़ रोगी को कुपथ्य आदि करने दे, तो शरीर नष्ट हो और गुरु यथार्थ उपदेश न देकर भय अथवा लालच से शिष्य की हाँ में हाँ मिलाने लगे तो धर्म नष्ट हो जाय ॥ ३७ ॥

चौ०—सोइ रावन कहुँ बनी सहाई। अस्तुति करहिँ सुनाइ सुनाई॥
अवसर जानि बिभीषनु आवा। भ्राताचरन सीसु तेहि नावा॥१॥

यहाँ रावण को वही सहायक बन गई, (क्योंकि) मन्त्री आदि उसके भय से उसको सुना सुनाकर उसकी स्तुति करते थे (वास्तविक बात कोई न कहता था)। उस समय अवसर जानकर विभीषण आया। उसने भाई (रावण) के चरणों में सिर नवाया॥ १॥

पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन। बोला बचन पाइ अनुसासन॥
जौं कृपाल पूछेहु मोहि बाता। मति-अनु-रूप कहउँ हित ताता॥२॥

फिर विभीषण अपने आसन पर बैठकर, रावण की आज्ञा पा, प्रणाम कर बोला—हे कृपालु! तुमने मुझसे जो बात पूछी है उसका हितकारी उत्तर हे तात! मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूँ॥ २॥

जो आपन चाहइ कल्याना। सुजसु सुमति सुभगति सुख नाना॥
सो पर-नारि-लिलार गोसाईं। तजइ चौथि के चंद कि नाईं॥३॥

जो व्यक्ति अपना कल्याण, सुयश, सुबुद्धि और शुभगति (सद्गति) तथा नाना प्रकार के सुख चाहता हो वह हे गुसाईं! पराई स्त्री के मस्तक को, चौथ के चन्द्र के समान, त्याग दे[१] अर्थात् परस्त्री का मुँह न देखे॥ ३॥

चौदह भुवन एक पति होई। भूतद्रोह तिष्ठइ नहिँ सोई॥
गुनसागर नागर नर जोऊ। अलपलोभ भल कहइ न कोऊ॥४॥

जो अकेला चौदह लोकों का स्वामी हो वह भी प्राणियों से द्रोह कर नहीं ठहर सकता। जो मनुष्य गुणों का समुद्र और चतुर हो, उसको यदि थोड़ा-सा भी लोभ हो जाय तो कोई उसे अच्छा नहीं कहता॥ ४॥

दो०—काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरही भजहु भजहिँ जेहि संत॥३८॥

हे नाथ! काम, क्रोध, मद और लोभ ये सब नरक के मार्ग हैं, इसलिए तुम इन सबको त्यागकर उन श्रीरघुवीर का भजन करो, जिन्हें सन्त लोग भजते हैं॥ ३८॥

१—भादों सुदी चौथ के दिन चन्द्र देखने से कलङ्क लगता है। इसलिए उस दिन कोई चन्द्रमा को नहीं देखता। इसी चन्द्र के देखने से श्रीकृष्ण को स्यमन्तक मणि की चोरी लगी थी, जिसकी सविस्तर कथा भागवत और अन्यान्य पुराणों में है।

चौ०—तात रामु नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहुँ कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता॥१॥

हे तात! राम न तो मनुष्य हैं, न राजा; वे लोकों के स्वामी और काल के भी काल हैं। वे ब्रह्म, अनामय (सब रोग-बाधाओं आदि से रहित), अज (जिनका जन्म न हो), भगवान् (षड्गुण-ऐश्वर्य-सम्पन्न), व्यापक, अजित (जिनको कोई न जीत सके), अनादि (जिनका, ये कब से हुए यह पता न हो), और अनन्त (जिनका पार न हो) हैं॥ १॥

गो-द्विज-धेनु-देव-हित-कारी। कृपासिंधु मानुष-तनु-धारी॥
जनरंजन भंजन खलब्राता। बेद-धर्म-रच्छक सुनु भ्राता॥२॥

भैया! सुनो। वे कृपा के समुद्र हैं; वे पृथ्वी, गौओं, ब्राह्मणों और देवताओं के हित करनेवाले हैं, इसी लिए वे मनुष्य-शरीर धारण करते हैं। वे भक्तों के प्रसन्न करनेवाले, दुष्ट-समूह का नाश करनेवाले और वेद तथा धर्म के रक्षक हैं॥ २॥

ताहि बयरु तजि नाइय माथा। प्रनतारति-भंजन रघुनाथा॥
देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही। भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥३॥

उनसे वैर त्यागकर उनको मस्तक नवाना चाहिए। रघुनाथजी प्रणत (शरणागत) की पीड़ा को निवृत्त करनेवाले हैं। हे नाथ! उन स्वामी को जानकी दे दो और उन रामचन्द्रजी का भजन करो जो बिना कारण (स्वाभाविक) सबके स्नेही हैं॥ ३॥

सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व-द्रोह-कृत अघ जेहि लागा॥
जासु नाम त्रय-ताप-नसावन। सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन॥४॥

जिसे सारे संसार के द्रोह करने का पातक लगा हो उसको भी, शरण में जाने पर, प्रभु रामचन्द्रजी नहीं त्यागते; और जिसका नाम तीनों तापों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) को नष्ट कर देता है वही परमात्मा रामचन्द्र प्रकट हुए हैं। हे रावण! तुम अपने जी में ऐसा जान लो॥ ४॥

दो०—बार बार पद लागउँ बिनय करउँ दससीस।
परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस॥३९॥

हे दस-सीस! मैं बार बार पाँव पड़ता और विनती करता हूँ कि तुम मान, मोह और अभिमान छोड़कर कोसलनाथ रामचन्द्रजी का भजन करो॥ ३९॥

मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन कहि पठई यह बात ।
तुरत सो मैं प्रभु सन कही पाइ सुअवसरु तात ॥४०॥

हे तात ! यह बात पुलस्त्य (पितामह) मुनि ने अपने शिष्य के हाथ कहला भेजी थी, वही मैंने अच्छा अवसर पाकर तुरन्त ही स्वामी (आप) से कह दी ॥ ४० ॥

चौ०—माल्यवंत अति सचिव सयाना । तासु बचन सुनि अति सुख माना ॥
तात अनुज तव नीतिबिभूषन । सो उर धरहु जो कहत बिभीषन ॥१॥

माल्यवान् नाम का एक बहुत चतुर मन्त्री था । उसने विभीषण के वचन सुनकर बहुत सुख माना । वह (रावण से) बोला—हे तात ! तुम्हारा छोटा भाई विभीषण नीति का अलङ्कार रूप है, यह जो बात कहता है उसको हृदय में रखो ॥ १ ॥

रिपु-उतकरष कहत सठ दोऊ । दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ ॥
माल्यवंत गृह गयेउ बहोरी । कहइ बिभीषनु पुनि कर जोरी ॥२॥

यह सुनकर रावण बोला—अरे ! यहाँ कोई है ? ये दोनों दुष्ट शत्रु के उत्कर्ष (बड़ाई) की बात कर रहे हैं, इन्हें यहाँ से दूर क्यों नहीं कर देते ? यह सुनकर माल्यवान् तो घर चला गया[1], पर विभीषण फिर भी हाथ जोड़कर कहने लगा—॥ २ ॥

सुमति कुमति सब के उर रहहीं । नाथ पुरान निगम अस कहहीं ॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना । जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥३॥

हे नाथ ! पुराण और वेद ऐसा कहते हैं कि सुबुद्धि और कुबुद्धि सभी के हृदयों में रहती है । इनमें से जहाँ सुबुद्धि होती है, वहाँ अनेक प्रकार की सम्पत्तियाँ आती हैं और जहाँ कुबुद्धि होती है वहाँ अन्त में विपत्ति आती है ॥ ३ ॥

तव उर कुमति बसी बिपरीता । हित अनहित मानहु रिपु प्रीता ॥
कालराति निसि-चर-कुल केरी । तेहि सीता पर प्रीति घनेरी ॥४॥

१—माल्यवान् ने सोचा कि रावण का काल आ गया है, इसी से यह हित-चिन्तकों का कहा नहीं मानता । "दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम् । न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ॥" जिनकी आयुष्य पूरी हो गई हो, वे दीपक बुझाने पर उसकी गन्ध नहीं सूँघते (उन्हें गन्ध नहीं आती), मित्रों का वचन नहीं सुनते और अरुन्धती (जो सप्तर्षियों के तारों के साथ आठवाँ छोटा सा तारा होता है) को नहीं देखते । काल-ज्ञान में अरुन्धती नाम जीभ का भी है । जिनका काल आ गया हो उनको अपनी जीभ, बाहर निकालने पर, नहीं दीखती ।

तुम्हार हृदय में कुबुद्धि जम गई है, इससे तुम सभी उलटा मानने लगे हो। हित को अनहित और शत्रु को मित्र मानते हो। जो राक्षस-कुल की कालरात्रि है, उस सीता पर तुम्हारी बड़ी प्रीति है!॥ ४॥

दो०—तात चरन गहि माँगउँ राखहु मोर दुलार।
सीता देहु राम कहुँ अहित न होइ तुम्हार ॥४१॥

हे तात! मैं तुम्हारे चरण पकड़कर माँगता हूँ, मेरे दुलार को रख लो, अर्थात् मेरा कहा मान लो। सीता रामचन्द्र को दे दो, जिसमें तुम्हारा अहित (बुरा) न हो॥ ४१॥

चौ०—बुध-पुरान-स्रुति-संमत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी॥
सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥१॥

विभीषण ने पण्डितों, पुराणों और वेदों की सम्मत वाणी से व्याख्या करके नीति कही। उसे सुनते ही रावण क्रोधित हो उठा और बोला—दुष्ट! अब तेरी मृत्यु पास आ गई॥१॥

जियसि सदा सठ मोर जियावा। रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा॥
कहसि न खल अस को जग माहीँ। भुजबल जेहि जीता मैं नाहीँ॥२॥

अरे दुष्ट! तू सदा मेरा जिआया हुआ जीता है। अरे मूर्ख! तुझे शत्रु का पक्ष प्यारा लगा! अरे दुष्ट! तू बतलाता क्यों नहीं कि जगत् में ऐसा कौन है जिसे मैंने अपनी भुजाओं के बल से न जीत लिया हो॥ २॥

मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहिँ कहु नीती॥
अस कहि कीन्हेसि चरनप्रहारा। अनुज गहे पद बारहिँ बारा॥३॥

मेरे पुर (लङ्का) में बसकर तपस्वियों (राम-लक्ष्मण) से तुझे प्रीति है, तो दुष्ट तू जाकर उनसे मिलकर उन्हीं को नीति बतला। ऐसा कहकर रावण ने उसे लात मारी। (इतने पर भी) विभीषण बार बार पाँव पड़ता गया॥ ३॥

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥
तुम्ह पितुसरिस भलेहि मोहि मारा। रामु भजे हित नाथ तुम्हारा॥४॥
सचिव संग लेइ नभपथ गयऊ। सबहिँ सुनाइ कहत अस भयऊ॥५॥

महादेवजी कहते हैं कि हे उमा! सन्तों (सत्पुरुषों) की यही बड़ाई है कि वे अपने साथ बुराई करनेवाले की भी भलाई करें। विभीषण ने कहा—तुम मेरे पिता के समान हो, तुमने मुझे मारा, यह अच्छा ही किया, पर हे नाथ! राम-भजन करने से तुम्हारा कल्याण होगा॥४॥ फिर विभीषण मन्त्रियों को साथ लेकर आकाशमार्ग में गया और सबको सुनाकर ऐसा कहने लगा—॥ ५॥

दो०—रामु सत्यसंकल्प प्रभु सभा कालबस तोरि ।
मैं रघु-बीर-सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि ॥४२॥

प्रभु रामचन्द्र सत्य-सङ्कल्प हैं, तुम्हारी सभा काल के वश हो रही है। अब मैं रघुवीर की शरण जाता हूँ, मुझे दोष न देना ॥ ४२ ॥

चौ०—अस कहि चला बिभीषनु जबहीं । आयूहीन भये सब तबहीं ॥
साधुअवग्या तुरत भवानी । कर कल्यान अखिल कै हानी ॥१॥

ऐसा कहकर जभी विभीषण वहाँ से चला, तभी सब (राक्षस) आयुष्य-हीन हो गये। शंकरजी कहते हैं कि हे पार्वती ! साधु (सज्जन) पुरुषों की अवज्ञा (तिरस्कार) तुरन्त ही सभी कल्याणों का नाश कर देती है ॥ १ ॥

रावन जबहि बिभीषनु त्यागा । भयउ बिभव बिनु तबहिं अभागा ॥
चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं । करत मनोरथ बहु मन माहीं ॥२॥

जभी विभीषण ने रावण को त्याग दिया, तभी वह बिना ऐश्वर्य का और अभागा हो गया। विभीषण प्रसन्न होकर मन में बहुत मनोरथ करता हुआ रघुनाथजी के पास चला ॥ २ ॥

देखिहउँ जाइ चरन-जल-जाता । अरुन मृदुल सेवक-सुख-दाता ॥
जे पद परसि तरी रिषिनारी । दंडक-कानन-पावन-कारी ॥३॥

वह यह मनोरथ करता जाता था कि मैं जाकर श्रीरामचन्द्रजी के उन चरण-कमलों का दर्शन करूँगा, जो कि लाल, कोमल और सेवकों को सुख देनेवाले हैं, जिन चरणों का स्पर्श कर ऋषि की स्त्री (अहल्या) तर गई, जिन चरणों ने दंडकारण्य को पावन किया तथा ॥ ३ ॥

जे पद जनकसुता उर लाये । कपट-कुरंग-संग धर धाये ॥
हर-उर-सर-सरोज पद जेई । अहो भाग्य मैं देखिहउँ तेई ॥४॥

जिन चरणों को जनक-दुलारीजी ने हृदय में धारण किया, जो चरण कपट-मृगवेषधारी मारीच के साथ उसको पकड़ने को दौड़े और जो चरण शिवजी के हृदय-रूपी सरोवर में कमल-रूप होकर रहते हैं, उन्हीं चरणों का दर्शन मैं करूँगा। मेरा अहोभाग्य है ॥ ४ ॥

दो०—जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरत रहे मन लाइ ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ ॥४३॥

जिन चरणों की पादुकाओं में भरतजी अपना मन लगाये हुए हैं, मैं आज जाकर उन्हीं चरणों को इन आँखों से देखूँगा ! ॥ ४३ ॥

चौ०—एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा। आयउ सपदि सिंधु एहि पारा॥
कपिन्ह बिभीषनु आवत देखा। जाना कोउ रिपुदूत बिसेखा॥१॥

इस तरह प्रेम-पूर्वक विचार करता हुआ विभीषण तत्काल समुद्र के इस पार आया। बन्दरों ने विभीषण को आते देखा तो उन्होंने जाना कि यह शत्रु की ओर का कोई ख़ास दूत है॥ १॥

ताहि राखि कपीस पहिँ आये। समाचार सब ताहि सुनाये॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। आवा मिलन दसाननभाई॥२॥

बन्दर उसको वहीं रोककर सुग्रीव के पास आये और उन्होंने उसके आने के सब समाचार सुनाये। तब सुग्रीव रामचन्द्रजी से कहने लगा कि हे रघुराई! सुनिए, रावण का भाई मिलने के लिए आया है॥ २॥

कह प्रभु सखा बूझिये काहा। कहइ कपीस सुनहु नरनाहा॥
जानि न जाइ निसा-चर-माया। कामरूप केहि कारन आया॥३॥

यह सुनकर प्रभु रामचन्द्रजी ने कहा कि सखा, (इसके आने का) क्या मतलब है? इस पर वानरराज सुग्रीव ने कहा—हे नरेश्वर! सुनिए। राक्षसों की माया नहीं जानी जा सकती। न जाने यह काम-रूप (अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण करनेवाला) किस कारण यहाँ आया है॥ ३॥

भेद हमार लेन सठ आवा। राखिय बाँधि मोहि अस भावा॥
सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत-भय-हारी॥४॥
सुनि प्रभुबचन हरष हनुमाना। सरनागतबच्छल भगवाना॥५॥

यह दुष्ट हमारा भेद लेने के लिए आया है। मुझे तो यह अच्छा मालूम होता है कि इसको बाँध रखना चाहिए। रामचन्द्रजी ने कहा—हे सखा! तुमने यह नीति तो अच्छी सोची है, पर मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं शरणागत के भय को हरण करता हूँ॥ ४॥ स्वामी के ऐसे वचन सुनकर हनुमान्‌जी प्रसन्न हुए कि भगवान् रामचन्द्र शरणागत के ऐसे वत्सल (प्रेमी) हैं॥ ५॥

दो०—सरनागत कहुँ जे तजहिँ निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहिँ बिलोकत हानि॥४४॥

(रामचन्द्रजी ने कहा—) जो शरणागत को अपना अनहित (शत्रु) अनुमान (विचार) कर त्याग देते हैं वे मनुष्यों में नीच और पापरूप हैं। उनका मुँह देखने से हानि होती है॥ ४४॥

चौ०—कोटि बिप्रबध लागहि जाहू। आये सरन तजउँ नहिँ ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीँ। जनम कोटि अघ नासहिँ तबहीँ॥१॥

जिसको करोड़ ब्रह्महत्या लगी हो उसे भी, शरण आ जाने पर, मैं कभी नहीं छोड़ता। जीव जब मेरे सम्मुख (शरण) हो जाता है, उसी समय उसके कोटि जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं॥१॥

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥
जौँ पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई॥२॥

पापी का तो साधारण स्वभाव ही हो जाता है कि उसको मेरा भजन कभी अच्छा नहीं लगता। जो वह (विभीषण) दुष्ट-हृदयवाला ही होता, तो क्या कभी मेरे सम्मुख आता?॥२॥

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥३॥

जो भक्त निर्मल चित्तवाला है वही मुझे पाता है; मुझे छल, छिद्र और कपट नहीं सुहाते। हे कपिराज! जो रावण ने भेद लेने के लिए भेजा हो, तो भी हमें कुछ भय और हानि नहीं है॥३॥

जग महुँ सखा निसाचर जेते। लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते॥
जौँ सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईँ॥४॥

हे सखा! संसार में जितने राक्षस हैं उन सबको लक्ष्मण एक निमेष (पलक) भर में मार डालने को समर्थ हैं। जो वह डर से शरण में आया है तो मैं उसको प्राण के समान रक्खूँगा॥४॥

दो०—उभय भाँति तेहि आनहु हँसि कह कृपानिकेत॥
जय कृपालु कहि कपि चले अंगद-हनू-समेत॥४५॥

कृपानिधान श्रीरामचन्द्रजी ने हँसकर कहा—उसको दोनों तरह से (यदि शरण आया हो, अथवा भेद लेने भी आया हो) ले आओ। तब दयालु भगवान् की जय हो, ऐसा कहकर अङ्गद और हनुमान् समेत बंदर चले॥४५॥

चौ०—सादर तेहि आगे करि बानर। चले जहाँ रघुपति करुनाकर॥
दूरिहि तेँ देखे दोउ भ्राता। नयनानंददान के दाता॥१॥

जहाँ विभीषण खड़ा था वहाँ से उसको बड़े आदर के साथ आगे करके वानर वहाँ चले जहाँ दया की खान भगवान् रामचन्द्र थे। विभीषण ने दूर ही से नेत्रों को आनन्ददान देनेवाले दोनों भाइयों को देखा ॥ १ ॥

बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठठुकि एकटक पल रोकी ॥
भुज प्रलंब कंजारुनलोचन। स्यामल गात प्रनत-भय-मोचन ॥२॥

फिर विभीषण शोभा के धाम श्रीराम को देखकर पलकों को रोक ठिठक कर रह गया। श्रीरामचन्द्रजी की लम्बी भुजायें थीं, कमल जैसे लाल नेत्र और श्याम-सुन्दर अङ्ग थे। वे शरणागत का भय छुड़ानेवाले थे ॥ २ ॥

सिंहकंध आयतउर सोहा। आनन अमित-मदनु-मन मोहा ॥
नयन नीर पुलकित अति गाता। मन धरि धीर कही मृदु बाता ॥३॥

उनके सिंह जैसे कन्धे थे, विशाल वक्षःस्थल सुहाता था और श्रीमुख तो असंख्य कामदेवों के मन को मोहित करनेवाला था। ऐसे दर्शन पाते ही विभीषण के नेत्रों से जल बह निकला और शरीर अत्यन्त पुलकित हो गया। वह मन में धीरज धरकर कोमल बातें कहने लगा—॥ ३ ॥

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसि-चर-बंस-जनम सुरत्राता ॥
सहज पापप्रिय तामसदेहा। जथा उलूकहिँ तम पर नेहा ॥४॥

हे नाथ! मैं दशमुखवाले रावण का भाई हूँ। हे देवरक्षक! राक्षस-कुल में मेरा जन्म हुआ है[1]। तामस देह होने के कारण मुझे सहज ही पाप उसी तरह अच्छे लगते हैं जिस तरह घूघू (उल्लू) का अँधेरे पर स्नेह होता है, ॥ ४ ॥

दो०—स्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन-भवभीर।
त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर ॥४६॥

मैं कानों से आपका शुद्ध यश सुनकर आया हूँ। हे प्रभो! आप संसार-भय के भंजन करनेवाले, दुःख के हरनेवाले और शरणागत को सुखदायक हैं। हे रघुवीर, आप मेरी रक्षा करो! रक्षा करो!! ॥ ४६ ॥

चौ०—अस कहि करत दंडवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष बिसेखा ॥
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा ॥१॥

१—कुछ लोग ऐसा सन्देह करते हैं कि रावण के पिता और पितामह ऋषि थे और उसका सगा भाई कुबेर था। इसलिए विभीषण का यह कहना कि मैं राक्षसकुल में जन्मा हूँ ठीक नहीं है। पर यहाँ विभीषण अपनी लघुता दिखाता है और विह्वल होने के कारण अप्रासंगिक बातों का कह देना स्वाभाविक है।

विभीषण को ऐसा कहकर जब दण्डवत् (साष्टाङ्ग) करते देखा, तब प्रभु रामचन्द्रजी विशेष प्रसन्नता के साथ तुरन्त उठे। दीन वचन सुनकर वे स्वामी के चित्त में प्रिय लगे। अपनी विशाल भुजाओं से पकड़कर रामचन्द्रजी ने उसे हृदय से लगा लिया ॥ १ ॥

अनुजसहित मिलि ढिग बैठारी। बोले बचन भगत-भय-हारी ॥
कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ॥२॥

लक्ष्मण-समेत भक्त-भयहारी रामचन्द्रजी विभीषण से मिलकर और उसको अपने पास बैठाकर वचन बोले—हे विभीषण ! कहो, लङ्का-पति रावण परिवार-सहित कुशल तो है। तुम्हारा निवास कुठौर (ख़राब जगह) में है ॥ २ ॥

खलमंडली बसहु दिनु राती। सखा धरम निबहइ केहि भाँती ॥
मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती। अति नयनिपुन न भाव अनीती ॥३॥

हे सखा ! तुम दिन-रात दुष्टों की मण्डली में निवास करते हो, ऐसे में धर्म किस तरह निभता है ? मैं तुम्हारी सब रीति जानता हूँ। तुम नीति में बहुत ही निपुण हो। तुमको अनीति नहीं सुहाती ॥ ३ ॥

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता ॥
अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया ॥४॥

हे तात ! नरक का बसना तो अच्छा, परन्तु विधाता दुष्ट की संगति न दे। यह सुन कर विभीषण ने कहा—हे रघुराई ! अब इन चरणों का दर्शन पाकर कुशल है, जो आपने मुझे अपना भक्त जानकर दया की ॥ ४ ॥

दो०—तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिस्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम ॥४७॥

जीव की भलाई तब तक नहीं होती और न स्वप्न में भी उसके मन को विश्राम मिलता है, जब तक वह शोक के स्थान विविध कामों (मनोरथों) को छोड़कर रामचन्द्रजी का भजन नहीं करता ॥ ४७ ॥

चौ०—तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना ॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चापसायक कटि भाथा ॥१॥

(हाथ में) धनुष-बाण लिये और कमर में तरकस बाँधे हुए श्रीरामचन्द्रजी जब तक अन्तःकरण में निवास नहीं करते तब तक हृदय में लोभ, मोह, मद, मत्सर, अभिमान आदि अनेक दुष्ट बसते हैं ॥ १ ॥

ममता तरुनतमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी॥
तब लगि बसत जीव मन माहीँ। जब लगि प्रभु-प्रताप-रवि नाहीँ॥२॥

ममता (घमण्ड) रूपी घोर अँधेरी रात राग-द्वेष रूपी उल्लुओं को आनन्द देती है। वह तभी तक जीव के मन में बसती है जब तक स्वामी के प्रतापरूपी सूर्य का उदय नहीं होता॥ २॥

अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि राम पदकमल तुम्हारे॥
तुम्ह कृपाल जा पर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला॥३॥

हे रामचन्द्रजी! अब आपके चरण-कमल देखकर मैं कुशल हूँ। मेरे सब भयों के समूह मिट गये। आप दयालु जिस पर अनुकूल हों, उसको तीनों प्रकार का (अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव) संसार-सम्बन्धी शूल नहीं व्यापता॥ ३॥

मैं निसिचर अति-अधम-सुभाऊ। सुभ आचरनु कीन्ह नहिँ काऊ॥
जासु रूप मुनि-ध्यान न आवा। तेहि प्रभु हरषि हृदय मोहि लावा॥४॥

मैं राक्षस महा नीच स्वभाववाला हूँ। मैंने कोई पुण्य का आचरण भी नहीं किया। फिर भी जिसके रूप का ध्यान तक मुनि-जनों ने नहीं पाया, उन्हीं ने प्रसन्न होकर मुझे हृदय से लगाया!॥ ४।

दो०—अहोभाग्य मम अमित अति राम कृपा-सुख-पुंज।
देखेउँ नयन बिरंचि-सिव-सेव्य जुगल-पद-कंज॥४८॥

हे दया और सुख के पुञ्ज श्रीराम! आज मेरा अपार अहोभाग्य है जो मैंने ब्रह्मा और शिवजी के सेव्य (सेवा करने योग्य) चरण-कमल की जोड़ी नेत्रों से देखी!॥ ४८॥

चौ०—सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥
जौँ नर होइ चराचरद्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥१॥

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे सखा! सुनो, मैं अपना स्वभाव कहता हूँ। इसको काकभुशुण्ड और शिव-पार्वतीजी भी जानते हैं। यद्यपि चराचर (प्राणिमात्र) से द्रोह करनेवाला मनुष्य हो और वह भयभीत होकर मुझे ताककर शरण आ जाय[1]॥ १॥

---

[1]—इसी अर्थवाला भगवान् का प्रतिज्ञा-वचन यह है—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥ १॥" वा० पु० १८। ३३ अर्थात्—जो एक ही बार 'हे स्वामी! मैं आपका हूँ' इस तरह मुझसे माँगता है, उसको मैं सब प्राणियों से अभयदान दे देता हूँ (सब तरह से निडर कर देता हूँ)। यह मेरी प्रतिज्ञा है।

तजि मद मोह कपट छल नाना। करहुँ सद्य तेहि साधु समाना॥
जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥२॥

और मद, मोह कपट और तरह तरह के छल छोड़ दे तो उसको मैं तुरन्त सज्जन पुरुष के समान (उच्च कक्षा का अधिकारी) कर देता हूँ। जो माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, घर, मित्र और कुटुम्बी॥ २॥

सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिँ बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीँ। हरष सोक भय नहिँ मन माहीँ॥३॥

सभी के ममता (ये मेरे है ऐसा अभिमान) रूपी सूत के तागों को इकट्ठा करके, उनकी बढ़िया डोरी बटकर, उससे मेरे चरणों में मन को बाँध देते हैं; अर्थात् ये सभी चीजें उन स्वामी की हैं, मेरे तो केवल एक प्रभु ही हैं, और मेरा कोई नहीं है—ऐसा निश्चय कर लेते हैं; जो समदर्शी (शत्रु-मित्र पर समान दृष्टिवाले) हो जाते हैं; जिनको कुछ इच्छा नहीं रहती; हर्ष, शोक, और डर जिनके मन में नहीं हैं॥ ३॥

अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥
तुम्ह सारिखे सन्त प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिँ आन निहोरे॥४॥

ऐसे सज्जन मेरे हृदय में किस तरह बसते हैं, जिस तरह लोभी मनुष्य के हृदय में धन बसता है। तुम्हारे सरीखे सन्त मेरे प्यारे हैं। उन्हीं के लिए मैं शरीर धारण करता हूँ और किसी पर एहसान नहीं है या मेरे शरीर धारण का और कुछ कारण नहीं है॥ ४॥

दो०—सगुनउपासक पर-हित-निरत नीति-दृढ़-नेम।
ते नर प्रानसमान मम जिन्ह के द्विज-पद-प्रेम॥४९॥

जो सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, परोपकार करने में तत्पर हैं, नीतिमान् और दृढ़ नियम-वाले हैं और जिनका ब्राह्मणों के चरणों में प्रेम है, वे मनुष्य मुझे प्राण के समान प्यारे हैं॥४९॥

चौ०—सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। ता ते तुम अतिसयप्रिय मोरे॥
रामबचन सुनि बानरजूथा। सकल कहहिँ जय कृपाबरूथा॥१॥

हे लङ्केश[1]! (विभीषण) सुनो। तुममें ये सब गुण हैं, इसी से तुम मुझे बहुत ही प्यारे हो। रामचन्द्रजी के वचन सुनकर सब बन्दरों के यूथ कहने लगे कि हे कृपासागर! आपकी जय हो॥ १॥

१—यहाँ विभीषण का राजतिलक करना निश्चय कर लिया इसलिए उसी पदवी से उसको 'लङ्केश' सम्बोधन किया।

सुनत बिभीषनु प्रभु के बानी। नहिँ अघात स्त्रवनामृत जानी॥
पदअंबुज गहि बारहिँ बारा। हृदय समात न प्रेमु अपारा॥२॥

विभीषण स्वामी रामचन्द्रजी की वाणी सुनते हुए उसको कानों का अमृत जानकर उससे तृप्त नहीं होते और बारंबार रामचन्द्रजी के चरण-कमल पकड़ते हैं। अपार प्रेम उमड़ा है जो हृदय में नहीं समाता॥ २॥

सुनहु देव सचराचर-स्वामी। प्रनतपाल उर-अन्तर-जामी॥
उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति-सरित सो बही॥३॥

विभीषण ने कहा—हे चर-अचर-जगत् के स्वामी! देव! शरणागत-रक्षक! आप हृदयों के अन्तर्यामी हैं, सुनिए। मेरे हृदय में पहले जो कुछ वासना थी, वह प्रभु के चरणों की प्रीति-रूपी नदी में बह गई॥ ३॥

अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव-मन-भावनी॥
एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा। माँगा तुरत सिंधु कर नीरा॥४॥

हे दयालु! अब सदाशिवजी के मन में रुची हुई पावन करनेवाली अपनी भक्ति मुझे दीजिए। रण-धीर रामचन्द्रजी ने "एवमस्तु" (ऐसा ही हो) कहकर तुरन्त समुद्र का जल मँगवाया॥ ४॥

जदपि सखा तव इच्छा नाहीँ। मोर दरसु अमोघ जग माहीँ॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमनवृष्टि नभ भई अपारा॥५॥

फिर विभीषण से कहा—हे सखा! यद्यपि तुम्हारी इच्छा नहीं है, तथापि मेरा दर्शन जगत् में अमोघ (सफल, कभी खाली न जानेवाला) है। ऐसा कहकर रामचन्द्रजी ने विभीषण को राज-तिलक कर दिया। उस समय आकाश से अपार पुष्प-वर्षा हुई[1]॥ ५॥

दो०—रावनक्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड।
जरत बिभीषनु राखेउ दीन्हेउ राजु अखंड॥५०॥

१—रावण के मारे जाने के पहले ही विभीषण को राजतिलक कैसे दिया? इस शङ्का का समाधान अगले दोहों में है, तो भी भगवान् रामचन्द्रजी को अपने कर्तव्यों पर दृढ़ता और भविष्य का यथार्थ ज्ञान है। यदि ऐसा न होता तो जब चारों दिशाओं में हज़ारों बन्दर भेजे गये थे तब उनमें से हनुमान्जी को ही वे मुद्रिका क्यों देते! और यहाँ विभीषण को पहले ही लंकेश क्यों बना देते? इसी लिए भगवान् रामचन्द्रजी दृढ़व्रत कहाते हैं।

रावण की क्रोधरूपी अग्नि अपने (विभीषण के) श्वासरूपी प्रचण्ड वायु से प्रज्वलित हो रही थी। उसमें जलते हुए विभीषण की रक्षा भगवान् रामचन्द्रजी ने की और उसको अखण्ड राज्य[1] दिया ॥ ५० ॥

जो संपति सिव रावनहिँ दीन्हि दिये दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहिँ सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥५१॥

शिवजी ने जो सम्पत्ति (लङ्का का अखण्ड राज्य आदि ऐश्वर्य) रावण को दस मस्तक चढ़ा देने पर दी, वही सम्पत्ति विभीषण को रामचन्द्रजी ने (केवल शरण आ जाने पर) संकोच के साथ दी ॥ ५१ ॥

चौ०—अस प्रभु छाडि भजहिँ जे आना। ते नर पसु बिनु पूछ बिषाना॥
निज जन जानि ताहि अपनावा। प्रभुसुभाव कपि-कुल-मन भावा॥१॥

ऐसे (परम उदार) प्रभु रामचन्द्रजी को छोड़कर जो और किसी का भजन करते हैं, वे मनुष्य बिना पूँछ और सींगों के पशु हैं (अर्थात् सींग पूँछ न होने पर भी वे पशु ही हैं)। विभीषण को अपना दास जानकर उसे अपना लिया, यह प्रभु का स्वभाव वानर-समूह के मन में प्रिय लगा ॥ १ ॥

पुनि सर्बग्य सर्ब-उर-बासी। सर्बरूप सबरहित उदासी॥
बोले बचन नीति-प्रति-पालक। कारनमनुज दनुज-कुल-घालक॥२॥

फिर सर्वज्ञ, सबके हृदय में निवास करनेवाले, सर्वरूप (सभी में व्यापक हैं इसलिए), सभी से रहित (साक्षीमात्र रहकर करते कुछ नहीं), उदासीन (हर्ष-सोच-रहित), नीति के पालन करनेवाले, कारण से मनुष्यरूप धरे हुए, दानव-वंश का नाश करनेवाले रामचन्द्रजी ये वचन बोले—॥ २ ॥

सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा॥
संकुल मकर उरग झष जाती। अति अगाध दुस्तर सब भाँती॥३॥

हे वीर कपिराज (सुग्रीव)! लङ्कापति (विभीषण)! इस गहरे समुद्र को किस तरह तरना चाहिए, जो मगर, मच्छ और साँप आदि अनेक जाति के जीवों से भरा हुआ, बड़ा गहरा और तरने में सब तरह कठिन है ॥ ३ ॥

कह लंकेस सुनहु रघुनायक। कोटि-सिंधु-सोषक तव सायक॥
जद्यपि तदपि नीति अस गाई। बिनय करिय सागर सन जाई॥४॥

१—ऊपर की चौपाई में भी राजतिलक और यहाँ भी अखण्ड राज्य देना कहा। अर्थात् केवल लङ्का का राज्य ही नहीं वरन् अखण्ड राज्य (पारलौकिक मोक्ष) दिया, ऐसा समझना चाहिए।

तब लङ्केश विभीषण ने कहा—हे रघुनायक! सुनिए। यद्यपि आपका एक बाण करोड़ों समुद्रों को सुखा देनेवाला है तथापि नीति-धर्म में ऐसा कहा है कि समुद्र के निकट जाकर उसकी प्रार्थना करनी चाहिए॥ ४॥

दो०—प्रभु तुम्हार कुलगुरु जलधि कहहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि सकल-भालु-कपि-धारि॥५२॥

हे प्रभु! समुद्र आपका कुल-गुरु (वंश का पूर्वज, सगर राजा के पुत्रों के खोदन से सागर हुआ) है, यह विचार कर वह ऐसा उपाय बतावेगा जिससे बिना परिश्रम सभी रीछ और बन्दर समुद्र के पार हो जायँगे॥ ५२॥

चौ०—सखा कही तुम्ह नीकि उपाई। करिय दैव जौं होइ सहाई॥
मंत्र न यह लछिमन मन भावा। रामबचन सुनि अति दुख पावा॥१॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे सखा! तुमने अच्छा उपाय बताया। यही करना चाहिए, जो दैव सहायक हो। यह मन्त्र (विचार) लक्ष्मणजी के मन में नहीं रुचा। उन्होंने रामचन्द्रजी का वचन सुनकर अत्यन्त दुःख पाया॥ १॥

नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोखिय सिंधु करिय मन रोसा॥
कादरमन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥२॥

उन्होंने कहा—हे नाथ! दैव का क्या भरोसा! मन में क्रोध लाइए और समुद्र को सुखा डालिए। दैव तो कादर-चित्त (जिनमें हिम्मत न हो) वालों के लिए एक आधार है। आलसी लोग दैव, दैव चिल्लाया करते हैं॥ २॥

सुनत बिहँसि बोले रघुबीरा। ऐसेइ करब धरहु मन धीरा॥
अस कहि प्रभु अनुजहि समुझाई। सिंधुसमीप गये रघुराई॥३॥

यह सुनते ही रघुवीर रामचन्द्रजी हँसकर बोले कि तुम मन में धीरज रक्खो, ऐसा ही करेंगे। प्रभु रामचन्द्रजी ऐसा कह लक्ष्मणजी को समझा कर समुद्र के पास गये॥ ३॥

प्रथम प्रनाम कीन्ह सिरु नाई। बैठे पुनि तट दर्भ डसाई॥
जबहिँ बिभीषनु प्रभु पहिँ आये। पाछे रावन दूत पठाये॥४॥

उन्होंने पहले समुद्र को मस्तक नवाकर प्रणाम किया, फिर वे कुश बिछाकर उसके किनारे बैठ गये। उधर जब विभीषण रामचन्द्रजी के पास आया, तब पीछे से रावण ने दूत भेजे॥ ४॥

दो०—सकल चरित तिन्ह देखे धरे कपट कपिदेह ।
प्रभुगुन हृदय सराहहिँ सरनागत पर नेह ॥५३॥

उन दूतों ने कपट से बन्दर का वेष धारण कर पूर्वोक्त सब चरित्र देखे और वे रामचन्द्रजी के गुणों और शरणागत पर उनके स्नेह की प्रशंसा मन ही मन करने लगे ॥ ५३ ॥

चौ०—प्रगट बखानहिँ रामसुभाऊ । अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ ॥
रिपु के दूत कपिन्ह तब जाने । सकल बाँधि कपोस पहिँ आने ॥१॥

अब वे खुलकर रामचन्द्रजी के स्वभाव की बड़ाई करने लगे । मारे प्रेम की अधिकता के उनको अपना छिपाव भूल गया । तब बन्दरों ने उनको शत्रु के दूत जाना । सबको बाँधकर वे सुग्रीव के पास लाये ॥ १ ॥

कह सुग्रोव सुनहु सब बानर । अंगभंग करि पठवहु निसिचर ॥
सुनि सुग्रीवबचन कपि धाये । बाँधि कटक चहुँ पास फिराये ॥२॥

सुग्रीव ने कहा—बन्दरो ! सुनो, इन राक्षसों को अङ्ग-भङ्ग करके भेज दो । सुग्रीव की आज्ञा सुनते ही बन्दर दौड़े और उन्होंने उन दूतों को बाँधकर सेना के चारों ओर घुमाया ॥ २ ॥

बहु प्रकार मारन कपि लागे । दीन पुकारत तदपि न त्यागे ॥
जो हमार हर नासा काना । तेहि कोसलाधीस कै आना ॥३॥

और सब बन्दर उन्हें बहुत तरह से मारने लगे । वे दीनता से चिल्लाने लगे तो भी उन लोगों ने उन्हें नहीं छोड़ा । फिर राक्षसों ने (अपना नाक-कान काट जाने का विचार जान कर) कहा—जो हमारे नाक कान काटे उसको कोसलाधीश रामचन्द्रजी की आन (दुहाई) है ॥ ३ ॥

सुनि लछिमन सब निकट बोलाये । दया लागि हँसि तुरत छोड़ाये ॥
रावन कर दीजेहु यह पाती । लछिमनबचन बाँचु कुलघाती ॥४॥

लक्ष्मणजी ने सुनकर सबको अपने पास बुलाया । राक्षसों पर उन्हें दया लगी । उन्होंने हँसकर तुरन्त उनको छुड़ा दिया और कहा—यह चिट्ठी रावण के हाथ में देना और कहना कि हे कुलघाती ! तू लक्ष्मण के वचनों को बाँच ॥ ४ ॥

दो०—कहेहु मुखागर मूढ सन मम संदेस उदार ।
सीता देइ मिलहु न त आवा काल तुम्हार ॥५४॥

उस मूर्ख से मेरा उदारता-पूर्ण संदेशा मुखाग्र (मुँह से, जबानी) कह देना कि तुम सीताजी को देकर हमसे मिलो, नहीं तो अब तुम्हारा काल आ गया ॥ ५४ ॥

चौ०—तुरत नाइ लछिमन-पद माथा। चले दूत बरनत गुनगाथा॥

कहत रामजसु लंका आये। रावनचरन सीस तिन्ह नाये॥१॥

वे दूत तुरन्त लक्ष्मणजी के चरणों में मस्तक नवाकर उनके गुणों की कीर्ति वर्णन करते हुए चले। श्रीरामचन्द्रजी का यश वर्णन करते करते वे लङ्का में आये और उन्होंने रावण के चरणों में अपने सिर झुकाये॥ १॥

बिहँसि दसानन पूछी बाता। कहसि न सुक आपनि कुसलाता॥

पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी। जाहि मृत्यु आई अति नेरी॥२॥

रावण ने हँसकर बात पूछी कि हे शुक! तू अपनी कुशलता क्यों नहीं कहता? फिर उस विभीषण की खबर कह, जिसको मृत्यु बहुत पास आ गई है॥ २॥

करत राजु लंका सठ त्यागी। होइहि जव कर कीट अभागी॥

पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन कालप्रेरित चलि आई॥३॥

वह दुष्ट लङ्का का राज्य करना छोड़कर चला गया, इसलिए अब वह जव के कीड़े (घुन) का-सा अभागा होगा (अर्थात् जव के साथ घुन भी जैसे चक्की में पिसता है, वैसे ही विभीषण भी सबके साथ मरेगा) फिर रीछों और बन्दरों की फ़ौज का, जो कठोर काल की प्रेरणा से इस ओर चली आ रही है, समाचार कह॥ ३॥

जिन्ह के जीवन्ह कर रखवारा। भयउ मृदुलचित सिंधु बेचारा॥

कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी। जिन्ह के हृदय त्रास अति मोरी॥४॥

जिनके जीवों का रक्षक कोमल-चित्त, बेचारा समुद्र हो गया है। (समुद्र न होता तो अब तक वे यहाँ पहुँचकर मर जाते) फिर उन तपस्वियों की पूरी बात कह, जिनके हृदय में मेरा बड़ा डर है॥ ४॥

दो०—की भइ भेँट कि फिरि गये स्रवन सुजसु सुनि मोर।

कहसि न रिपु-दल-तेज-बल बहुत चकित चित तोर॥५५॥

क्या उनसे तेरी भेंट हुई या वे कानों से मेरा सुयश सुनकर लौट गये? अरे तू शत्रु के दल का तेज और बल क्यों नहीं कहता? तेरा चित्त बहुत ही चकित हो रहा है!॥ ५५॥

चौ०—नाथ कृपा करि पूछेउ जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे॥

मिला जाइ जब अनुज तुम्हारा। जातहिँ राम तिलक तेहि सारा॥१॥

यह सुनकर शुक ने कहा—हे नाथ! आपने जिस तरह कृपाकर मुझसे पूछा है, वैसे ही क्रोध छोड़कर मेरा कहा भी मान लीजिए। जब तुम्हारा छोटा भाई (विभीषण) जाकर रामचन्द्रजी से मिला तब जाते ही रामचन्द्रजी ने उसको राजतिलक कर दिया॥ १॥

रावनदूत हमहिँ सुनि काना। कपिन्ह बाँधि दीन्हे दुख नाना॥
स्रवन नासिका काटन लागे। रामसपथ दीन्हे हम त्यागे॥२॥

हम रावण के दूत हैं, इतना कान से सुनते ही बन्दरों ने हमें बाँध लिया और अनेक तरह के दुःख दिये। जब वे हमारे नाक-कान काटने लगे, तब हमने रामचन्द्र की सौगन्द दी। इस पर उन्होंने हमें छोड़ दिया॥ २॥

पूछेहु नाथ रामकटकाई। बदन कोटिसत बरनि न जाई॥
नाना बरन भालु-कपि धारी। बिकटानन बिसाल भयकारी॥३॥

हे नाथ! आपने रामचन्द्र की सेना का समाचार पूछा है, सो उसका तो सौ करोड़ मुँह होने पर भी पूरा वर्णन करते नहीं बनता। रीछ और बन्दर अनेक रँगोंवाले, विकट मुँह के, बहुत बड़े और डरावने हैं॥ ३॥

जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बलु थोरा॥
अमित नाम भट कठिन कराला। अमित नाग-बल बिपुल बिसाला॥४॥

जिस बन्दर ने आपके पुर (लङ्का) को जलाया था और आपके पुत्र को मार डाला था, उसका बल सब बन्दरों में बहुत थोड़ा है। वहाँ अनेक नामवाले कठिन कराल शूरवीर योद्धा बन्दर हैं जिनमें असंख्य हाथियों का बल है और जो बड़े ही विशाल हैं॥ ४॥

दो०—द्विविद मयंद नील नल अंगदादि बिकटासि।
दधिमुख, केहरि कुमुद गव जामवंत बलरासि॥५६॥

द्विविद, मयंद, नील, नल, अङ्गद आदि भयङ्कर मुखवाले; दधिमुख, केहरि, कुमुद, गव, और जाम्बवान् बल के राशि (ढेरो) हैं॥ ५६॥

चौ०—ए कपि सब सुग्रीवसमाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना॥
रामकृपा अ-तुलित-बल तिन्हहीँ। तृनसमान त्रैलोकहिँ गनहीँ॥१॥

ये सब बन्दर सुग्रीव के समान बलवान् हैं। इनके समान करोड़ों बन्दर हैं। उन अनेकों को कौन गिन सकता है? रामचन्द्रजी की कृपा से उनमें अतुल बल है। वे त्रिलोकी को तिनके के समान गिनते हैं॥ १॥

अस मैं स्रवन सुना दसकंधर। पदुम अठारह जूथप बंदर॥
नाथ कटक महँ सो कपि नाहीँ। जो न तुम्हहि जीतइ रन माहीँ॥२॥

हे दशकंधर! मैंने कान से ऐसा सुना है कि बन्दरों की फ़ौज के सेनापति अठारह पद्म हैं! हे नाथ! उस फ़ौज में ऐसा कोई बन्दर नहीं जो अकेला ही तुम्हें रण में न जीत ले॥ २॥

परमक्रोध मीजहिँ सब हाथा। आयसु पै न देहिँ रघुनाथा॥
सोषहिँ सिंधु सहित झषब्याला। पूरहिँ न त भरि कुधर बिसाला॥३॥

सब अत्यन्त क्रोध में भरे हुए हाथ मल रहे हैं, किन्तु रामचन्द्रजी आज्ञा नहीं देते। "हम मच्छ और सर्प आदि जल-जन्तुओं समेत समुद्र को सुखा देंगे, नहीं तो बड़े बड़े पहाड़ों से उसको पाट देंगे और॥ ३।

मर्दि गर्द मिलवहिँ दससीसा। ऐसेइ बचन कहहिँ सब कीसा॥
गर्जहिँ तर्जहिँ सहज असंका। मानहुँ ग्रसन चहत हहिँ लंका॥४॥

रावण का मर्दन कर उसको गर्द (धूल) में मिला देंगे।" सब बन्दर ऐसे ही वचन कहते हैं। वे सहज स्वभाव से निडर गर्जना करते और तर्जते (फटकार बताते) हैं, तो मालूम होता है मानों वे लङ्का को खा जाना चाहते हैं॥ ४॥

दो०—सहज सूर कपि भालु सब पुनि सिर पर प्रभु राम।
रावन काल कोटि कहुँ जीति सकहिँ संग्राम॥५७॥

सब बन्दर और रीछ एक तो स्वभाव ही से शूर वीर हैं, फिर उनके माथे पर रामचन्द्र स्वामी हैं। हे रावण! वे करोड़ों कालों को भी संग्राम में जीत सकते हैं। (तुम्हारी एक की क्या चलेगी?)॥ ५७॥

चौ०—राम-तेज-बल-बुधि बिपुलाई। सेष सहस्सत सकहिँ न गाई॥
सक सर एक सोखि सत सागर। तव भ्रातहिँ पूछेउ नय-नागर॥१॥

रामचन्द्र के तेज, बल और बुद्धि के उत्कर्ष को सौ हजार शेष भी नहीं गा सकते। उनका एक ही बाण सैकड़ों समुद्रों को सुखा सकता है। पर वे नीति में कुशल हैं। उन्होंने तुम्हारे भाई (विभीषण) से (समुद्र-तरण का उपाय) पूछा॥ १॥

तासु बचन सुनि सागर पाहीँ। माँगत पंथ कृपा मन माहीँ॥
सुनत बचन बिहँसा दससीसा। जौं असि मति सहायकृत कीसा॥२॥

विभीषण का वचन सुनकर वे समुद्र के पास आकर उससे मार्ग माँग रहे हैं, क्योंकि उनके मन में कृपा है (वे उसको सुखाना या पाटना नहीं चाहते)। ये वचन सुनते ही रावण हँसा और बोला—जब उनकी ऐसी बुद्धि है, तभी तो उन्होंने बन्दरों को अपना सहायक बनाया है॥ २॥

सहज भीरु कर बचनदृढाई। सागर सन ठानी मचलाई॥
मूढ मृषा का करसि बडाई। रिपु-बल-बुद्धि-थाह मैं पाई॥३॥

स्वाभाविक डरपोक विभीषण के वचनों पर विश्वास कर समुद्र से झगड़ा ठाना है! अरे मूर्ख! तू क्यों झूठी बड़ाई करता है? शत्रु के बल और बुद्धि की थाह मैंने पा ली॥ ३॥

सचिव सभीत बिभीषनु जा के। बिजय बिभूति कहाँ लगि ता के॥
सुनि खलबचन दूत रिस बाढी। समय बिचारि पत्रिका काढी॥४॥

विभीषण जैसे डरपोक जिसके मन्त्री हैं, उसके लिए विजय और समृद्धि कहाँ तक हो सकती है? दुष्ट रावण के ऐसे वचनों को सुनकर दूत को क्रोध बढ़ा और उसने अवसर सोच कर पत्रिका निकाली॥ ४॥

रामानुज दीन्ही यह पाती। नाथ बँचाइ जुडावहु छाती॥
बिहँसि बाम कर लीन्ही रावन। सचिव बोलि सठ लाग बचावन॥५॥

(वह चिट्ठी देकर दूत ने कहा—) रामचन्द्र के छोटे भाई ने यह चिट्ठी दी है। हे नाथ! इसे बँचवाकर छाती ठंढी कीजिए। रावण ने हँसकर वह चिट्ठी बायें हाथ से (निरादरपूर्वक) ली और मन्त्री को बुलवाकर वह उस चिट्ठी को बचवाने लगा॥ ५॥

दो०—बातन्ह मनहिँ रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस॥
रामबिरोध न उबरसि सरन बिस्नु अज ईस॥५८॥

(उसमें लिखा था) अरे शठ, तू बातों से ही मन को रिझाकर कुल का नाश मत कर। रामचन्द्रजी से विरोध कर तू विष्णु, ब्रह्मा और महादेव की शरण जाकर भी नहीं बचेगा॥ ५८॥

की तजि मान अनुज इव प्रभु-पद-पंक-ज-भृंग।
होहि कि रामसरानल खल कुलसहित पतंग॥५९॥

या तो अपने छोटे भाई के समान तू भी मान को त्यागकर स्वामी रामचन्द्रजी के चरण-कमलों का भँवर हो जा; नहीं तो हे खल! रामचन्द्रजी की बाणरूपी अग्नि में कुल-सहित पतङ्ग (फतिङ्गा) हो जायगा॥ ५९॥

चौ०—सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहिँ सुनाई॥
भूमि परा कर गहत अकासा। लघु तापस कर बागबिलासा॥१॥

पत्रिका सुनते ही रावण मन में तो डरा, पर ऊपर से मुँह से मुस्कुराकर सबको सुनाकर कहने लगा—देखो, जैसे कोई जमीन पर पड़ा पड़ा आकाश को हाथ से पकड़ना चाहे, वैसे ही उन छोटे से तपस्वियों का यह वाग्विलास (बातों की बनावट) है॥ १॥

कह सुक नाथ सत्य सब बानी । समुझहु छाँडि प्रकृति अभिमानी ॥
सुनहु बचन मम परिहरि क्रोधा । नाथ राम सन तजहु बिरोधा ॥२॥

यह सुनकर शुक कहने लगा—हे नाथ! (चिट्ठी की) सब वाणी सत्य है। आप अभिमानो स्वभाव को छाड़कर समझिए। हे नाथ! आप क्रोध को त्यागकर मेरे वचन सुनिए। आप रामचन्द्र से विरोध करना छोड़ दीजिए॥ २॥

अति कोमल रघु-बीर-सुभाऊ । जद्यपि अखिललोक कर राऊ ॥
मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिहीँ । उर अपराध न एकउ धरिहीँ ॥३॥

रघुवीर यद्यपि सम्पूर्ण लोकों के राजा हैं, तथापि उनका स्वभाव बहुत हो कोमल है। आपके मिलते ही वे आप पर दया करेंगे। आपका एक भी अपराध मन में न रखेंगे॥ ३॥

जनकसुता रघुनाथहि दीजै । एतना कहा मोर प्रभु कीजै ॥
जब तेहि कहा देन बैदेही । चरनप्रहार कीन्ह सठ तेही ॥४॥

हे प्रभु! आप मेरा इतना कहना करें कि रघुनाथजी को जानकी दे दें। जब शुक ने जानकी देने के लिए कहा, तब दुष्ट रावण ने उसको लात मारी॥ ४॥

नाइ चरन सिरु चला सो तहाँ । कृपासिंधु रघुनायक जहाँ ॥
करि प्रनामु निज कथा सुनाई । रामकृपा आपनि गति पाई ॥५॥

तब वह शुक, रावण के चरणों में सिर नवाकर, वहाँ चला जहाँ दयासागर रामचन्द्रजी थे। उसने रामचन्द्रजी को प्रणाम कर अपनी कथा सुनाई और उनकी कृपा से वह अपनी गति पा गया॥ ५॥

रिषि अगस्ति के साप भवानी । राच्छस भयेउ रहा मुनि ग्यानी ॥
बंदि रामपद बारहिँ बारा । मुनि निज आस्रम कहुँ पगु धारा ॥६॥

शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती! यह शुक ज्ञानवान् मुनि था जो अगस्त्य ऋषि के शाप से राक्षस हो गया था। फिर मुनि का रूप पाकर वह वारंवार रामचन्द्रजी के चरणों में प्रणाम कर अपने आश्रम को चला गया[1]॥ ६॥

१—इन शुक मुनि ने एक बेर अपने आश्रम में अगस्त्यजी के आने पर उनका स्वागत नहीं किया। इसी पर उन्होंने क्रुद्ध हो राक्षस होने का शाप दे दिया, फिर प्रार्थना करने पर रामावतार में राम-दर्शन से उद्धार का वर दिया। अध्यात्मरामायण में यह कथा है—शुक ब्रह्मनिष्ठ मुनि थे। इन्होंने यज्ञ किया। उसमें एक दिन अगस्त्य मुनि का भी निमन्त्रण किया। तब इन पर वैर बाँधे हुए वज्रदंष्ट्र राक्षस ने अगस्त्य मुनि का रूप धारण कर शुक मुनि से सामिष भोजन माँगा। शुक ने स्वीकार किया। फिर राक्षस ने शुक मुनि की स्त्री को अपनी माया से मोहित कर, आप उसका रूप बनकर, मनुष्य का मांस बनाकर परोसा। यह देख अगस्त्य ने क्रुद्ध हो उसे राक्षस होने का शाप दिया। फिर विचार करने पर, वह कर्तव्य राक्षस का समझकर, उन्होंने शुक को रामदर्शन पाने पर शाप से मुक्त होने का वर दिया।

दो०—बिनय न मानत जलधि जड गये तीनि दिन बीति ॥
बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति ॥६०॥

रामचन्द्रजी को समुद्र के तीर पर बैठे तीन दिन बीत गये, पर जड़ (मूर्ख) समुद्र ने उनकी विनय को नहीं माना। तब रामचन्द्रजी क्रोध-युक्त होकर बोले—भाई! भय बिना प्रीति नहीं होती ॥ ६० ॥

चौ०—लछिमन बानसरासन आनू। सोखउँ बारिधि बिसिखकृसानू ॥
सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपिन सन सुंदर नीती ॥१॥

हे लक्ष्मण! धनुष-बाण लाओ। मैं अग्नि-बाणों से समुद्र को सुखा दूँ। दुष्ट से विनय, कुटिल से प्रीति और स्वाभाविक कृपण से सुन्दर नीति, ॥ १ ॥

ममतारत सन ग्यान-कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी ॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा ॥२॥

ममता में अनुरक्त मनुष्य से ज्ञान की कथा कहना, अत्यन्त लोभी से वैराग्य की बड़ाई करना, क्रोधी से शम (जितेन्द्रियता) की बात और कामी पुरुष से हरिकथा की चर्चा ये सब बातें उसी तरह व्यर्थ होती हैं जिस तरह ऊसर भूमि में बोया बीज व्यर्थ जाता है ॥ २ ॥

अस कहि रघुपति चाप चढावा। यह मत लछिमन के मन भावा ॥
संधानेउ प्रभु बिसिख कराला। उठी उदधि उर अंतर ज्वाला ॥३॥

रघुनाथजी ने ऐसा कहकर धनुष चढ़ाया। यह बात लक्ष्मणजी के मन में प्रिय लगी। प्रभु रामचन्द्रजी ने कराल बाण का सन्धान किया, उससे समुद्र के भीतर ज्वाला उठी ॥ ३ ॥

मकर-उरग-झष-गन अकुलाने। जरत जंतु जलनिधि जब जाने ॥
कनकथार भरि मनिगन नाना। बिप्ररूप आयउ तजि माना ॥४॥

समुद्र में रहनेवाले मगर-मच्छ, साँप, आदि जीव-गण घबरा गये। समुद्र ने जब जीव-जन्तुओं को जलते हुए जाना, तब वह सोने के थाल में तरह तरह की मणियाँ भरकर, ब्राह्मण का रूप धारण कर अभिमान छोड़ वहाँ आया ॥ ४ ॥

दो०—काटेहि पइ कदली फरइ कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु डाँटेहि पै नव नीच ॥६१॥

काकभुशुण्डजी कहते हैं कि हे गरुड़ ! सुनो। चाहे कोई करोड़ों उपायों से क्यों न सींचे, पर केले का पेड़ काटने ही पर फलता है। इसी तरह नीच नम्रता को नहीं मानता, वह डाँटने से ही नमता है ॥ ६१ ॥

चौ०—सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे। छमहु नाथ सब अवगुन मेरे ॥
गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड करनी ॥१॥

समुद्र डरकर प्रभु रामचन्द्रजी के चरण पकड़कर बोला—हे नाथ ! मेरे सब अवगुणों को क्षमा करो। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इनकी करनी स्वभाव ही से जड़ होती है ॥ १ ॥

तव प्रेरित माया उपजाये। सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाये ॥
प्रभुआयसु जेहि कहँ जस अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई ॥२॥

सब ग्रन्थों ने गाया है कि आपकी प्रेरणा से माया ने सृष्टि के लिए इन पाँचों तत्त्वों को उत्पन्न किया। जिसके लिए स्वामी की जैसी आज्ञा है वह उसी तरह रहने से सुख पाता है ॥ २ ॥

प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही। मरजादा पुनि तुम्हरिय कीन्ही ॥
ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। सकल ताडना के अधिकारी ॥३॥

स्वामी ने अच्छा किया, जो मुझे सीख दी; पर मर्यादा भी तो आप ही की बनाई हुई है ! ढोल, गवाँर, शूद्र, पशु और स्त्री ये सब ताड़ना ही के अधिकारी हैं ॥ ३ ॥

प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरिहि कटकु न मोर बडाई ॥
प्रभु आग्या अपेल स्रुति गाई। करौ सो बेगि जो तुम्हहिँ सुहाई ॥४॥

स्वामी के प्रताप से मैं सूख जाऊँगा, सेना यों ही पार उतर जायगी; किन्तु इसमें मेरी बड़ाई नहीं है। स्वामी की आज्ञा अटल है, ऐसा वेदों ने गाया है; इसलिए जो आपको प्रिय लगे वही जल्दी कीजिए ॥ ४ ॥

दो०—सुनत बिनीत बचन अति कह कृपाल मुसुकाइ।
जेहि बिधि उतरइ कपिकटकु तात सो कहहु उपाइ ॥६२॥

इस तरह अत्यन्त विनीत वचन सुनकर दयालु रामचन्द्रजी ने मुस्कुराकर कहा—हे तात ! जिस तरह बन्दरों का दल उतर जाय, वह उपाय कहो ॥ ६२ ॥

चौ०—नाथ नील नल कपि दोउ भाई। लरिकाईं ऋषिआसिष पाई ॥
तिन्ह के परसि किये गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥१॥

समुद्र ने कहा—हे नाथ! नल और नील दोनों भाइयों ने लड़कपन में ऋषि का आशीर्वाद पाया था। उनके स्पर्श किये हुए भारी पहाड़ भी समुद्र में, आपके प्रताप से, तर जायँगे ॥ १ ॥

मैं पुनि उर धरि प्रभुप्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई ॥
एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइय। जेहि यह सुजसु लोक तिहुँ गाइय ॥२॥

फिर मैं भी स्वामी की प्रभुता को हृदय में धारणकर अपनी शक्ति के अनुसार सहायता करूँगा। हे नाथ! इस तरह समुद्र में पुल बँधवा दीजिए जिसमें यह यश त्रिलोकी में गाया जाय ॥ २ ॥

एहि सर मम उत्तर-तट-बासी। हतहु नाथ खल नर अघरासी ॥
सुनि कृपाल सागर-मन-पीरा। तुरतहि हरी राम रनधीरा ॥३॥

हे नाथ! आपने जो बाण अनुसन्धान किया है, इस बाण से मेरे उत्तर किनारे के निवासी दुष्ट पापी मनुष्यों को मार डालिए। रणधीर कृपालु रामचन्द्रजी ने यह सुनते ही समुद्र के मन का दुःख हरण किया ॥ ३ ॥

देखि राम-बल-पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयो सुखारी ॥
सकल चरित कहि प्रभुहिं सुनावा। चरन बंदि पाथोधि सिधावा ॥४॥

रामचन्द्रजी के भारी बल और पुरुषार्थ को देखकर समुद्र प्रसन्न होकर सुखी हो गया। फिर उसने प्रभु रामचन्द्रजी को (दुष्टों का) सब चरित्र कह सुनाया और उनके चरणों में प्रणाम कर वह (समुद्र) बिदा हो गया ॥ ४ ॥

छंद—निज भवन गवनेउ सिंधु श्री-रघु-पतिहि यह मत भायऊ।
यह चरित कलि-मल-हर जथामति दास तुलसी गायऊ ॥
सुखभवन संसयसमन दमनबिषाद रघु-पति-गुन-गना।
तजि सकल आसभरोस गावहि सुनहि संतत सठ मना ॥

समुद्र अपने स्थान को चला गया। श्रीरघुनाथजी को यह मत (सेतु बाँधना) प्रिय लगा। यह कलियुग-सम्बन्धी पापों का हरनेवाला चरित्र तुलसीदास ने अपनी बुद्धि के अनु-

सार गाया। रघुनाथजी के गुण-गण सुख के स्थान, संशयों के मिटानेवाले और दुःख को नाश करनेवाले हैं। अरे दुष्ट मन! तू सब आशा-भरोसा छोड़कर नित्य उन्हीं गुणगणों को गा और सुन॥

दो०—सकल-सु-मंगल-दायक रघु-नायक-गुन-गान।
सादर सुनहिँ ते तरहिँ भव-सिंधु बिना जलजान॥६३॥

रघुनायक श्री रामचन्द्रजी के गुणों का गाना सम्पूर्ण शुभ मङ्गलों का देनेवाला है। जो इन गुणगणों को आदर के साथ सुनेंगे वे, बिना ही नाव के, संसार-समुद्र को तर जायँगे॥ ६३॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विमलज्ञानसम्पादनो नाम पञ्चमः सोपानः समाप्तः॥

इस प्रकार समस्त कलि-मल-संहारक श्रीरामचरितमानस में विमल ज्ञानसम्पादन नामवाला यह पाँचवाँ सोपान (सीढ़ी) समाप्त हुआ।

श्रीगणेशाय नमः

षष्ठ सोपान

(लङ्काकाण्ड)

श्लोकाः

रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं
योगीन्द्रज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम् ।
मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवं
वन्दे कन्दावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम् ॥१॥

जो शिवजो से सेव्यमान, संसार के भय के हरनेवाले, कालरूपी मत्त हाथो के लिए सिंह, योगान्द्रों को ज्ञानद्वारा प्राप्त होनेवाले, गुणों के निधि, अजित, निर्गुण, निर्विकार, माया से अतोत (रहित), देवतों के ईश, खलों के मारने में निरत, ब्राह्मणवृन्द के पूज्य देवता, मेघ के समान सुन्दर, कमलनेत्र और पृथ्वीपति हैं, उन श्रीरामचन्द्र भगवान् की मैं वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

शङ्खेन्द्वाभमतीवसुन्दरतनुं शार्दूलचर्म्माम्बरं
कालव्यालकरालभूषणधरं गङ्गाशशाङ्कप्रियम् ।
काशीशं कलिकल्मषौघशमनं कल्याणकल्पद्रुमं
नौमीड्यं गिरिजापतिं गुणनिधिं कन्दर्पहं शङ्करम् ॥२॥

फा० १०३—१०४

शङ्ख और चन्द्रमा के समान द्युतिवाले, अतिसुन्दर शरीरधारी, शार्दूल (सिंह) का चर्म ओढ़े, भयानक काले सर्पों का भूषण पहिरे, गङ्गा और चन्द्रमा से प्रीति रखनेवाले, काशी-पति, कलियुग के पापों को हरनेवाले, कल्याण के कल्पवृक्ष, गुणनिधि, कामदेव को भस्म करनेवाले और गिरिजापति, महादेव को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

यो ददाति सतां शम्भुः कैवल्यमपि दुर्लभम् ।

खलानां दण्डकृद्योऽसौ शङ्करः शं तनोतु माम् ॥३॥

जो शिव सत्पुरुषों को सदा दुर्लभ मोक्ष भी दे देते हैं और जो खलों का दण्ड देनेवाले हैं, वे शङ्कर मेरा कल्याण करें ॥ ३ ॥

दो०—लव निमेष परमानु जुग बरष कल्प सर चंड ।

भजसि न मन तेहि राम कहँ काल जासु कोदंड ॥१॥

तुलसीदासजी कहते हैं—हे मन ! तू उन रामचन्द्रजी को क्यों नहीं भजता, जिनका धनुष काल है और जिनके तीक्ष्ण बाण लव, निमेष, परमाणु, युग, वर्ष और कल्प हैं[१] ॥ १ ॥

सो०—सिंधुबचन सुनि राम सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ ।

अब बिलंबु केहि काम करहु सेतु उतरइ कटकु ॥२॥

रामचन्द्रजी ने समुद्र के वचन (नल नील के हाथ के छुए पहाड़ तिरेंगे) सुनकर मन्त्रियों को बुलाकर कहा—अब किस काम के लिए देरी कर रहे हो, सेतु बाँध दो तो सेना उतर जाय ॥ २ ॥

सुनहु भानु-कुल-केतु जामवंत कर जोरि कह ।

नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं ॥३॥

तब जाम्बवान् हाथ जोड़कर कहने लगा—हे सूर्यकुल के ध्वजारूप रामचन्द्रजी ! सुनिए । हे नाथ ! मनुष्य आपके नामरूपी सेतु पर चढ़कर अर्थात् राम-नाम रटकर संसार-सागर तर जाते हैं ॥ ३ ॥

चौ०—यह लघु जलधि तरत कति बारा । अस सुनि पुनि कह पवनकुमारा ।

प्रभुप्रताप बडवानल भारी । सोखेउ प्रथम पयो-निधि-बारी ॥१॥

१—आँख की पलक लगने का नाम है लव, ६० लव का १ निमेष, ६० निमेष का परमाणु, ६० परमाणुओं का पल, ६० पलों की घड़ी, ६० घड़ियों का दिन-रात, ३० दिन-रात का महीना, १२ महीने का वर्ष, १०० वर्ष की मनुष्य की आयुष्य है । यह उस धनुष की डंडी और लव-निमेषादि पङ्ख हैं । सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग चारों युग एक हज़ार बार बीत जाने का नाम कल्प है । वह ब्रह्मा का एक दिन होता है । ब्रह्मा के १०० वर्ष होने पर महाप्रलय या महाकल्प होता है ।

तब इस छोटे से समुद्र को तरने में कितनी देर लगेगी? यह सुनकर हनुमान्‌जी कहने लगे—प्रभु रामचन्द्रजी के प्रतापरूपी भारी बड़वानल ने पहले समुद्र का पानी सुखा दिया ॥ १ ॥

तव रिपु-नारि-रुदन-जल-धारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहि खारा ॥
सुनि अतिउक्ति पवनसुत केरी। हरषे कपि रघु-पति-तन हेरी ॥२॥

फिर आपके शत्रुओं की स्त्रियों के रोने से जो जल-धारा बही, उसी से यह समुद्र भर गया। इसी से यह खारा है। वायुपुत्र हनुमान् की यह अत्युक्ति सुनकर बन्दर रघुनाथजी की ओर देखकर प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

जामवंत बोले दोउ भाई। नल नीलहिँ सब कथा सुनाई ॥
रामप्रताप सुमिरि मन माहीँ। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीँ ॥३॥

अब जाम्बवान् ने नल और नील दोनों भाइयों को बुलाकर सब कथा[1] सुनाई और उनसे कहा कि रामचन्द्रजी के प्रताप को मन में स्मरण करके तुम सेतु बनाओ, कुछ परिश्रम न होगा ॥ ३ ॥

बोलि लिये कपिनिकर बहोरी। सकल सुनहु बिनती कछु मोरी ॥
राम-चरन-पंकज उर धरहू। कौतुक एक भालु कपि करहू ॥४॥

फिर वानर-गणों को बुला लिया और उनसे कहा—आप लोग मेरी कुछ प्रार्थना सुनिए। आप लोग हृदय में रामचन्द्रजी के चरण-कमल रखिए तथा रीछ और बन्दर मिल कर एक खेल कीजिए ॥ ४ ॥

धावहु मरकट बिकटबरूथा। आनहु बिटप गिरिन्ह के जूथा ॥
सुनि कपि भालु चले करि हूहा। जय रघुबीर प्रतापसमूहा ॥५॥

विकट बन्दरों के झुंड दौड़ो और वृक्षों तथा पहाड़ों को उखाड़ उखाड़ लाओ। यह सुनते ही बन्दर और रीछ हू हा कर, श्रीरामचन्द्रजी के प्रताप-समूह का जय जयकार कर, चल पड़े ॥ ५ ॥

दो०—अतिउतंग तरुसैलगन लीलहिँ लेहिँ उठाइ।
आनि देहिँ नल नीलहिँ रचहिँ ते सेतु बनाइ ॥४॥

१—नल नील बचपन में बड़ा उपद्रव मचाते थे। वे नदी-तीर पर रहनेवाले मुनियों की पूजा-सामग्री और शालिग्राम उठा ले जाते और नदी में फेंक देते थे। अन्त में मुनियों ने दिक होकर शाप दिया कि तुम्हारा फेंका पत्थर न तो पानी में डूबेगा और न इधर-उधर बहेगा, वह जहाँ का तहाँ निश्चल रह जायगा।

वे बहुत ऊँचे वृक्षों और पहाड़ों के समूह को लीलापूर्वक उठा लेते, उन्हें ला लाकर नल-नील को देते और वे उन्हें अच्छी तरह सुधार कर सेतु बाँधते थे ॥ ४ ॥

चौ०—सैल बिसाल आनि कपि देहीं । कंदुक इव नल नील ते लेहीं ॥
देखि सेतु अति-सुंदर-रचना । बिहँसि कृपानिधि बोले बचना ॥ १ ॥

बन्दर विशाल पर्वत लाकर देते थे और नल-नील उन्हें गेंद के समान लेते थे। कृपानिधि रामचन्द्रजी सेतु की अत्यन्त सुन्दर रचना देखकर यह वचन बोले—॥ १ ॥

परम रम्य उत्तम यह धरनी । महिमा अमित जाइ नहिँ बरनी ॥
करिहउँ इहाँ संभु थापना । मोरे हृदय परम कलपना ॥ २ ॥

यह भूमि परम रमणीय और श्रेष्ठ है, इसकी अपार महिमा है, जो वर्णन करते नहीं बनती। मेरे हृदय में श्रेष्ठ कल्पना (विचार) हो रही है कि मैं यहाँ शंभुजी की स्थापना करूँ ॥ २ ॥

सुनि कपीस बहु दूत पठाये । मुनिबर सकल बोलि लेइ आये ॥
लिंग थापि बिधिवत करि पूजा । सिवसमान प्रिय मोहि न दूजा ॥ ३ ॥

यह सुनकर सुग्रीव ने बहुत से दूत भेजे। वे जाकर सब मुनिवरों को बुला लाये। रामचन्द्रजी ने शिव-लिङ्ग का स्थापन कर विधिपूर्वक उनकी पूजा की और कहा कि मुझे शिव जी के समान दूसरा कोई प्यारा नहीं है ॥ ३ ॥

सिवद्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहु मोहि न पावा ॥
संकरबिमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढ मति थोरी ॥ ४ ॥

जो व्यक्ति शिवजी का द्रोही होकर मेरा भक्त कहाता है, वह मुझे स्वप्न में भी नहीं पाता। शङ्करजी से विमुख होकर जो मेरी भक्ति चाहे वह मूर्ख, अल्प-बुद्धि और नरक का अधिकारी है ॥ ४ ॥

दो०—संकरप्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास ।
ते नर करहिँ कलप भरि घोर नरक महँ बास ॥ ५ ॥

मेरा द्रोह करनेवाला शङ्करजी का प्यारा और शिवजी का द्रोही होकर मेरा भक्त हो, ऐसे दोनों पुरुष कल्प भर घोर नरक में वास करेंगे ॥ ५ ॥

चौ०—जे रामेस्वर दरसन करिहहिँ । ते तनु तजि हरिलोक सिधरिहहिँ ॥
जो गंगाजल आनि चढाइहि । सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि ॥ १ ॥

लिंग थापि बिधिवत करि पूजा ।
सिवसमान प्रिय मोहि न दूजा ॥ पृ० ८२०

जो लोग रामेश्वर[१] के दर्शन करेंगे वे, शरीर त्यागने पर, वैकुण्ठ-लोक को जायँगे। जो गङ्गा-जल लाकर इन पर चढ़ावेंगे, वे मनुष्य सायुज्य मोक्ष पावेंगे ॥ १ ॥

होइ अकाम जो छलु तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि ॥
मम कृत सेतु जो दरसन करिही। सो बिनु स्रम भवसागर तरिही ॥२॥

जो निष्काम और छल-रहित होकर रामेश्वर की सेवा करेंगे उनको शङ्करजी मेरी भक्ति देंगे। मेरे बनाये हुए सेतु का जो दर्शन करेंगे, वे बिना परिश्रम संसार-समुद्र को तर जायँगे ॥ २ ॥

रामबचन सब के जिय भाये। मुनिबर निज निज आस्रम आये ॥
गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिँ प्रनत पर प्रीती ॥३॥

रामचन्द्रजी के वचन सबके जी में प्यारे लगे। मुनिवर अपने अपने आश्रमों को गये। महादेवजी कहते हैं—हे पार्वती! रघुनाथजी की यह रीति है कि वे शरणागत भक्त पर सदा ही प्रीति करते हैं ॥ ३ ॥

बाँधेउ सेतु नील नल नागर। रामकृपा जस भयउ उजागर ॥
बूड़हिँ आनहिँ बोरहिँ जेई। भये उपल बोहित सम तेई ॥४॥
महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी ॥५॥

चतुर नल और नील ने सेतु बाँधा, रामचन्द्रजी की कृपा से उनका यश प्रसिद्ध हो गया। जो पत्थर आप डूबें और दूसरों को भी डुबा दें, वे ही नाव के समान हो गये ॥ ४ ॥ न तो यह समुद्र की महिमा है, न पत्थरों का गुण है, और न बन्दरों की ही करतूत है ॥ ५ ॥

दो०—श्री-रघु-बीर-प्रताप तें सिंधु तरे पाषान।
ते मतिमंद जे रामु तजि भजहिँ जाइ प्रभु आन ॥६॥

किन्तु, श्रीरघुवीर के प्रताप से समुद्र में पत्थर तैर गये। वे मन्दबुद्धि (मूर्ख) हैं जो रामचन्द्रजी को छोड़कर दूसरे को ईश्वर मानकर भजने लगते हैं ॥ ६ ॥

चौ०—बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा। देखि कृपानिधि के मन भावा ॥
चली सेन कछु बरनि न जाई। गरजहिँ मरकट-भट-समुदाई ॥१॥

१—रामेश्वर शब्द ऐसा है जिसमें "सेवक सखा स्वामि सियपिय के" इस चौपाई के अनुसार तीनों भाव प्रकट होते हैं। द्वन्द्व समास करने से रामचन्द्र और महादेव दोनों जहाँ निवास करें वह स्थान यह हुआ 'सखाभाव'। षष्ठीतत्पुरुष करने से राम का ईश्वर, यह 'स्वामिभाव' हुआ। बहुव्रीहि करने से राम है ईश्वर जिसका, यह 'सेवकभाव' हुआ।

सेतु बाँधकर खूब मजबूत कर दिया गया। वह देखने से कृपानिधि रामचन्द्रजी के मन को प्रिय लगा। बन्दरों की फ़ौज चली जिसका कुछ वर्णन नहीं करते बनता। वानरवीरों के समूह गर्जना करने लगे॥ १॥

सेतुबंध ढिग चढि रघुराई। चितव कृपाल सिंधुबहुताई॥
देखन कहुँ प्रभु करुनाकंदा। प्रगट भये सब जल-चर-बृंदा॥२॥

जब दयालु रामचन्द्रजी सेतु-बन्ध के पास चढ़कर समुद्र का विस्तार देखने लगे, तब करुणासागर भगवान् का दर्शन करने के लिए सब जलचरों के झुंड प्रकट हुए॥ २॥

नाना मकर नक्र झख ब्याला। सत-जोजन-तन परम बिसाला॥
ऐसेउ एक तिन्हहिँ जे खाहीँ। एकन्ह के डर तेपि डेराहीँ॥३॥

अनेक जातियों के घड़ियाल, मगर, मच्छ, सर्प,—जिनके सौ सौ योजन के बड़े विशाल शरीर थे;—कई एक ऐसे भी थे जो उन (सौ योजन के शरीरवालों) को भी खा जायँ; फिर उनसे भी बड़े और थे कि जिनसे वे भी डरते थे॥ ३॥

प्रभुहिँ बिलोकहिँ टरहिँ न टारे। मन हरषित सब भये सुखारे॥
तिन्ह की ओट न देखिय बारी। मगन भये हरिरूप निहारी॥४॥
चला कटकु कछु बरनि न जाई। को कहि सक कपि-दल-बिपुलाई॥५॥

वे सभी प्रभु रामचन्द्रजी को देखने लगे। वे टालने से भी नहीं टलते थे। सबके चित्त प्रसन्न हो गये, सब सुखी हुए। उस समय उन जल-जन्तुओं की ओट से समुद्र का पानी नहीं दीखता था। वे सब रामचन्द्रजी का रूप देखकर मग्न हो गये॥ ४॥ फिर वह कटक (फ़ौज) चला जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उस वानरी दल की विपुलता (विस्तार) को कौन कह सकता है॥ ५॥

दो०—सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उडाहिँ।
अपर जलचरन्हि ऊपर चढि चढि पारहिँ जाहिँ॥७॥

सेतुबंध पर बड़ी भारी भीड़ हुई। रास्ता मिलने में देरी देखी तो बहुत से बन्दर आकाश-मार्ग से उड़कर चले। दूसरे बन्दर जल-जीवों पर चढ़ चढ़कर समुद्र के पार जाने लगे॥ ७॥

चौ०—अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपाल रघुराई॥
सेनसहित उतरे रघुबीरा। कहि न जाइ कपि-जूथप-भीरा॥१॥

दोनों भाई (राम-लक्ष्मण) ऐसा खेल देखकर हँसे और फिर कृपालु रघुनाथजी चले। वे सेना-सहित समुद्र के पार जा उतरे। वानरों के यूथपतियों को इतनी भीड़ थी जो कहते नहीं बनती ॥ १ ॥

सिंधुपार प्रभु डेरा कीन्हा। सकल कपिन्ह कहुँ आयसु दीन्हा ॥
खाहु जाइ फल मूल सुहाये। सुनत भालु कपि जहँ तहँ धाये॥२॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने समुद्र के पार डेरा किया और सब बन्दरों को आज्ञा दी कि तुम जाकर अच्छे अच्छे फल मूल खाओ। यह आज्ञा सुनते ही रीछ और बन्दर जहाँ तहाँ दौड़ पड़े ॥ २ ॥

सब तरु फरे रामहित लागी। रितु अनरितु अकाल गति त्यागी ॥
खाहिँ मधुरफल बिटप हलावहिँ। लंका सनमुख सिखर चलावहिँ ॥३॥

रामचन्द्रजी के हित के लिए सभी वृक्ष फल-युक्त हो गये, जिनका मौसिम था वे भी और बिना मौसिम के भी। अपने फलने के समय के न होने का विचार उन्होंने छोड़ दिया। बन्दर फलों को खाते और पेड़ों को हिलाते थे और पहाड़ों के शिखर उखाड़ उखाड़ लङ्का की ओर फेंकते थे ॥ ३ ॥

जहँ कहुँ फिरत निसाचर पावहिँ। घेरि सकल बहु नाच नचावहिँ ॥
दसनन्हि काटि नासिका काना। कहि प्रभुसुजस देहिँ तब जाना॥४॥

जहाँ कहीं फिरते हुए कोई राक्षस मिल जाते थे, तो उन्हें वे सब घेरकर बहुत नाच नचाते थे। अपने दाँतों से उन राक्षसों के नाक-कान काटकर रामचन्द्रजी का सुयश सुनाकर अथवा उनके मुँह से रामगुण बुलवा कर तब उनको जाने देते थे ॥ ४ ॥

जिन्ह कर नासा कान निपाता। तिन्ह रावनहिँ कही सब बाता ॥
सुनत स्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना ॥५॥

जिन राक्षसों के नाक-कान काट लिये गये उन्होंने जाकर रावण से सब बातें कहीं। वह समुद्र का बाँधा जाना सुनकर व्याकुल हो दसों मुखों से एक साथ बोल उठा—॥ ५ ॥

दो०—बाँधेउ बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस।
सत्य तोयनिधि कंपती उदधि पयोधि नदीस ॥८॥

क्या सचमुच वननिधि, नीरनिधि, जलधि, सिन्धु, वारीश, तोयनिधि, कम्पति, उदधि, पयोधि, नदीश (सब समुद्र के नाम हैं) को बाँध डाला ! ॥ ८ ॥

चौ०—ब्याकुलता निज समुझि बहोरी। बिहँसि चला गृह करि भय भोरी॥
मंदोदरी सुनेउ प्रभु आयो। कौतुकही पाथोधि बँधायो॥१॥

फिर रावण अपनी व्याकुलता को समझकर और डर को तुच्छ समझकर हँसता-हँसता घर को चल दिया। उधर मन्दोदरी ने सुना कि रामचन्द्रजी खेल ही खेल में समुद्र पर सेतु बँधाकर लङ्का में आ गये॥ १॥

कर गहि पतिहि भवन निज आनी। बोली परम मनोहर बानी॥
चरन नाइ सिर अंचल रोपा। सुनहु बचन पिय परिहरि कोपा॥२॥

तब वह अपने पति रावण का हाथ पकड़कर, उसे अपने भवन में लाकर, अत्यन्त मनोहर वाणी बोली। वह रावण के चरणों में सिर लगा अंचल फैलाकर बोली—हे प्यारे! तुम क्रोध को त्यागकर मेरा वचन सुनो॥ २॥

नाथ बैरु कीजे ताही सों। बुधि बल सकिय जीति जाही सों॥
तुम्हहिं रघुपतिहिं अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहिं जैसा॥३॥

हे नाथ! वैर उसी के साथ करना चाहिए जिसको अपने बल-बुद्धि से जीत सकें। तुममें और रामचन्द्रजी में कैसा अन्तर है, जैसा खद्योत (जुगनू) और सूर्य में॥ ३॥

अतिबल मधु कैटभ जेहि मारे। महाबीर दितिसुत संहारे॥
जेहि बलि बाँधि सहसभुज मारा। सोइ अवतरेउ हरन महिभारा॥४॥
तासु बिरोध न कीजिय नाथा। काल करम जिव जा के हाथा॥५॥

जिन परमात्मा ने मधु और कैटभ नामवाले अत्यन्त बलवान् दैत्यों को मार डाला और बड़े शूरवीर हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष नाम के दैत्यों का संहार किया, जिन्होंने बलि को बाँध लिया और सहस्र भुजाओंवाले अर्जुन (कार्तवीर्य) को मार डाला उन्हीं ने, पृथ्वी का भार हरण करने के लिए, अवतार लिया है॥ ४॥ हे नाथ! जिनके हाथ में काल, कर्म और जीव हैं उनसे विरोध न कीजिए॥ ५॥

दो०—रामहिं सौंपिय जानकी नाइ कमलपद माथ।
सुत कहँ राजु समर्पि बन जाइ भजिय रघुनाथ॥६॥

हे नाथ! रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में मस्तक नवाकर उनको जानकी सौंप दीजिए और पुत्र को राज्य सौंप कर वन में जाकर रघुनाथजी का भजन कीजिए॥ ६॥

चौ०—नाथ दीनदयाल रघुराई। बाघउ सनमुख गये न खाई॥
चाहिय करन सो सब करि बीते। तुम्ह सुर असुर चराचर जीते॥१॥

हे नाथ! सम्मुख जाने पर तो बाघ भी नहीं खाता[1], फिर रामचन्द्र तो दीनदयालु हैं (वे शरण जाने पर अवश्य कृपा करेंगे)। जो कुछ करना चाहिए था वह सभी तुमने कर लिया। तुमने देवों, दैत्यों और चराचर को जीत लिया ॥ १ ॥

संत कहहिँ असि नीति दसानन। चौथे पन जाइहि नृप कानन ॥
तासु भजन कीजिय तहँ भरता। जो करता पालक संहरता ॥२॥

हे दशमुख! नीति में सत्पुरुषों का कथन ऐसा है कि राजा चौथेपन (बुढ़ापे) में राज्य छोड़कर वन में चला जाय, वहाँ जाकर उस परमात्मा का भजन करे, जो जगत् का उत्पन्न, पालन और संहार करनेवाला है ॥ २ ॥

सोइ रघुबीर प्रनतअनुरागी। भजहु नाथ ममता सब त्यागी ॥
मुनिबर जतनु करहिँ जेहि लागी। भूप राजु तजि होहिँ बिरागी ॥३॥

शरणागत पर अनुराग करनेवाले वही परमात्मा रामचन्द्र हैं। हे नाथ! तुम सब ममता (घमण्ड) छोड़कर उनका भजन करो, जिनके लिए अच्छे अच्छे महर्षि लोग यत्न करते हैं और राजा लोग राज्य छोड़ कर वैरागी हो जाते हैं ॥ ३ ॥

सोइ कोसलाधीस रघुराया। आयउ करन तोहि पर दाया ॥
जो पिय मानहु मोर सिखावन। होइ सुजसु तिहुँपुर अति पावन ॥४॥

वे ही कोसलाधीश रामचन्द्र जी तुम पर दया करने के लिए आये हैं। हे प्यारे, जो मेरी शिक्षा मानोगे तो त्रिलोकी में तुम्हारा अत्यन्त पावन यश हो जायगा ॥ ४ ॥

दो०—अस कहि लोचन बारि भरि गहि पद कंपित गात।
नाथ भजहु रघु-बीर-पद अचल होइ अहिवात ॥१०॥

मन्दोदरी ने ऐसा कहकर आँखों में पानी भर लिया और उसके अंग काँपने लगे। वह रावण के पाँव पकड़कर बोली—हे नाथ, आप रघुवीर के चरणों का भजन करो तो मेरा सौभाग्य अखण्ड बना रहे ॥ १० ॥

चौ०—तब रावन मयसुता उठाई। कहइ लाग खल निज प्रभुताई ॥
सुनु तैं प्रिया बृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना ॥१॥

१—बाघ की चाल होती है कि वह टेढ़ा और पीछे फिर कर खाता है। सामनेवाले को नहीं खाता। सामनेवाले को भी तिरछा होने पर या स्वयं तिरछा होकर खाता है।

तब दुष्ट रावण, मयासुर की कन्या, मन्दोदरी को उठाकर उससे अपनी बड़ाई यों करने लगा—हे प्यारी! सुन, तू व्यर्थ हो डर रहा है। अरी! जगत् में मेरे बराबर योद्धा कौन है॥ १॥

बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला॥
देव दनुज नर सब बस मोरे। कवन हेतु उपजा भय तोरे॥२॥

मैंने अपनी भुजाओं के बल से वरुण, कुबेर, वायु, यमराज और काल तथा सब दिक्पालों को जीत लिया है। देवता, दैत्य और मनुष्य सभी मेरे अधीन हैं, फिर किस कारण तुझे भय उत्पन्न हुआ है!॥ २॥

नाना बिधि तेहि कहेसि बुझाई। सभा बहोरि बैठ सो जाई॥
मंदोदरी हृदय अस जाना। काल बिबस उपजा अभिमाना॥३॥

कई तरह से मन्दोदरी को समझा-बुझा कर रावण फिर सभा में जाकर बैठा। इधर मन्दोदरी ने मन में ऐसा समझ लिया कि स्वामी काल के वश हो गये हैं, इसी लिए इनको ऐसा अभिमान उत्पन्न हुआ है॥ ३॥

सभा आइ मंत्रिन्ह तेहि बूझा। करब कवनि बिधि रिपु सैं जूझा॥
कहहिँ सचिव सुनु निसि-चर-नाहा। बार बार प्रभु पूछहु काहा॥४॥
कहहु कवन भय करिय बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा॥५॥

उधर रावण ने सभा में आकर मन्त्रियों से पूछा कि शत्रु के साथ युद्ध किस तरह किया जाय, तब मन्त्री कहने लगे—हे राक्षसराज! सुनिए; आप बार बार क्या पूछते हैं॥ ४॥ कहिए तो, हमें ऐसा कौन सा बड़ा डर है जिसके लिए इतना विचार किया जाय। आदमी, बन्दर और रीछ तो हमारे आहार ही हैं॥ ५॥

दो०—बचन सबहिँ के स्रवन सुनि कह प्रहस्त कर जोरि।
नीतिबिरोध न करिय प्रभु मंत्रिन्ह मति अति थोरि॥११॥

सबके वचन कानों से सुनकर प्रहस्त (रावण का पुत्र) हाथ जोड़कर कहने लगा—हे प्रभु! इन मन्त्रियों की बुद्धि बहुत तुच्छ है, आप नीति-विरुद्ध काम न कीजिए॥ ११॥

चौ०—कहहिँ सचिव सठ ठकुरसोहाती। नाथ न पूर आव एहि भाँती॥
बारिधि नाँघि एकु कपि आवा। तासु चरित मन महुँ सब गावा॥१॥

ये सब मन्त्री लोग ठकुर-सोहाती (आपको मुंह-देखी) बातें कहते हैं। हे नाथ! इस तरह पूरा नहीं पड़ेगा। एक बन्दर समुद्र लाँघ कर आया था, उसके चरित्रों को सब मन में रटते हैं॥ १॥

छुधा न रही तुम्हहिँ तब काहू। जारत नगर कस न धरि खाहू॥
सुनत नीक आगे दुख पावा। सचिवन्ह अस मत प्रभुहिँ सुनावा॥२॥

क्या उस समय तुम सभी को भूख नहीं थी? जब उसने लङ्का नगर को जलाया था, उसी समय उसको पकड़ कर क्यों न खा गये? मन्त्रियों ने स्वामी को ऐसी सलाह सुनाई है जो सुनते समय तो अच्छी लगे पर आगे चल कर जिससे दुःख ही हो॥ २॥

जेहि बारीस बँधायउ हेला। उतरेउ सेन समेत सुबेला॥
सो भनु मनुज खाब हम भाई। बचन कहहिँ सब गाल फुलाई॥३॥

जिसने खेल ही खेल में समुद्र पर सेतु बंधा दिया और जो सेना-सहित सुवेलाचल पर्वत पर आ उतरा, उसके लिए कहते हो कि वह मनुष्य है, उसको हम खा जायँगे। भाई! सब गाल फुला फुला कर ऐसे वचन कह रहे हैं!॥ ३॥

सुनु मम बचन तात अति आदर। जनि मन गुनहु मोहि करि कादर॥
प्रियबानी जे सुनहिँ जे कहहीँ। ऐसे नर निकाय जग अहहीँ॥४॥

हे तात! तुम मेरे वचनों को बड़े आदर से सुनो। मैं कायर (डरपोक) हूँ, ऐसा मन में न समझना। संसार में ऐसे मनुष्य बहुत हैं जो प्रिय वचन ही कहते और सुनते हैं॥ ४॥

बचन परमहित सुनत कठोरे। सुनहिँ जे कहहिँ ते नर प्रभु थोरे॥
प्रथम बसीठ पठव सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीती॥५॥

पर ऐसे मनुष्य थोड़े हैं, जो सुनने में कठोर, परन्तु परिणाम में अत्यन्त हितकारी वचन सुनते और कहते हैं। सुनिए, नीति की बात यह है कि पहले बसीठ (दूत) भेजिए, फिर सीता देकर रामचन्द्रजी से प्रीति कर लीजिए॥ ५॥

दो०—नारि पाइ फिरि जाहिँ जौं तौ न बढाइय रारि।
नाहिँ त सनमुख समर महि तात करिय हठि मारि॥१२॥

जो वे स्त्री को पाकर लौट जायँ तो लड़ाई नहीं बढ़ानी चाहिए। हे तात! यदि वे न मानें तो फिर रण-भूमि में सामना करके हठपूर्वक लड़ाई करनी चाहिए॥ १२॥

चौ०—यह मत जौं मानहु प्रभु मोरा। उभय ऽकार सुजसु जग तोरा॥
सुत सन कह दसकंठ रिसाई। असि मति सठ केहि ताहि सिखाई॥१॥

हे प्रभु! जो आप मेरी इस सलाह को मान लें तो दोनों तरह (मेल हो जाने से अथवा लड़ाई हो जाने से भी) संसार में आपका सुयश छा जायगा। यह सुनकर रावण क्रोधित होकर पुत्र से कहने लगा—अरे दुष्ट! तुझे ऐसी बुद्धि किसने सिखाई है?॥ १॥

अबहीं तें उर संसय होई। बेनुमूल सुत भयउ घमोई॥
सुनि पितुगिरा परुष अति घोरा। चला भवन कहि बचन कठोरा॥२॥

हे पुत्र! अभी से मन में सन्देह हो रहा है। अरे! बाँस की जड़ में तू घमोय (मकोय) का पेड़ (या एक रोग) पैदा हुआ! पिता की कठोर और बहुत ही भयङ्कर वाणी सुनकर प्रहस्त कठोर वचन कहकर अपने घर चला गया॥ २॥

हितमत तोहि न लागत कैसे। कालबिबस कहुँ भेषज जैसे॥
संध्यासमय जानि दससीसा। भवन चलेउ निरखत भुजबीसा॥३॥

चलते समय उसने कहा—तुमको हित की सलाह कैसे अच्छी नहीं लगती, जैसे काल के वश हुए रोगी को दवाई न अच्छी लगे। संध्या का समय जानकर रावण भी अपनी बीसों भुजाओं को देखते देखते घर (राजमहल) को चला॥ ३॥

लंका सिखर उपर आगारा। अति बिचित्र तहँ होइ अखारा॥
बैठ जाइ तेहि मंदिर रावन। लागे किन्नर गुनगन गावन॥४॥
बाजहिँ ताल पखाउज बीना। नृत्य करहिँ अपछरा ऽबीना॥५॥

लङ्का के शिखर (कंगूरे) पर एक स्थान था। वहाँ बहुत ही विचित्र अखाड़ा होता था। रावण उस स्थान में जाकर बैठा। किन्नर उसके गुणों का गान करने लगे॥ ४॥ ताल, पखावज और वीणा आदि बजते थे और चतुर अप्सरायें नृत्य करती थीं॥ ५॥

दो०—सुनासीर-सत-सरिस सोइ संतत करइ बिलास।
परम-प्रबल-रिपु सीस पर तदपि न कछु मन त्रास॥१३॥

रावण सौ इन्द्रों के समान सदा विलास करता था। यद्यपि माथे पर अत्यन्त प्रबल शत्रु चढ़ आया था, तो भी उसके मन में कुछ भी डर नहीं था॥ १३॥

चौ०—इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा। उतरे सेनसहित अति भीरा॥
सैलसृंग एक सुंदर देखी। अति उतंग सम सुभ्र बिसेखी॥१॥

यहाँ रामचन्द्रजी सुवेल पर्वत पर सेना-समेत बड़ी भीड़-भाड़ से उतरे। एक बहुत ही सुन्दर पर्वत का शृङ्ग (चोटी) देखकर, जो बहुत ऊँचा, बराबर और अधिक सफ़ेद था॥ १॥

तहँ तरु-किसलय-सुमन सुहाये। लछिमन रचि निज हाथ डसाये॥
तापर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥२॥

(उस जगह) लक्ष्मणजी ने अपने हाथों से वृक्षों के अङ्कुर (टिसुना) और सुहावने फूल रचना करके बिछाये। उनके ऊपर सुन्दर मृगछाला बिछा दी। कृपालु रामचन्द्रजी उस आसन पर बैठ गये॥ २॥

प्रभु कृतसीस कपीसउछंगा। बाम दहिन दिसि चाप निषंगा॥
दुहुँ करकमल सुधारत बाना। कह लंकेस मंत्र लगि काना॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने सुग्रीव की गोद में मस्तक रखा, और बाँईं तथा दाहिनी ओर धनुष और तरकस रखे थे। रामचन्द्रजी दोनों हस्त-कमलों से बाण सुधारते थे और लङ्कापति विभीषण कान के पास मुँह लगाकर सलाह देते थे [1]॥ ३॥

बडभागी अंगद हनुमाना। चरनकमल चाँपत बिधि नाना॥
प्रभुपाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन॥४॥

बड़भागी अङ्गद और हनुमान् अनेक प्रकार से रामचन्द्रजी के चरणारविन्द चाँपते थे। स्वामी के पीछे लक्ष्मणजी वीरासन लगाये, कमर में तरकस और हाथों में धनुष-बाण लिये, बैठे थे॥ ४॥

१—बड़े लोगों के काम कारण बिना नहीं होते। यहाँ सुग्रीव की गोद में मस्तक रखना, बाण सुधारना, विभीषण की सलाह सुनना, अङ्गद हनुमान् को चरण देना—ये इन कारणों से हैं (१) मस्तक सुग्रीव को सौंपते हैं कि यह आपकी गोद में है। (२) बाणों को सुधार उन पर प्रेम कर सूचित करते हैं कि जन्म से तुम्हारा सेवन किया, अब तुम्हारा काम पड़ा है। (३) चरण अङ्गद हनुमान् को दे सूचित किया कि तुम जहाँ ले चलोगे वहीं जायँगे। (४) लक्ष्मणजी के वीरासन का यह कारण कि यदि ये सब आज्ञा के प्रतिकूल होंगे, तो मैं सबको दंड दूँगा। अथवा—सुग्रीव की गोद में मस्तक रखकर मस्तक की रक्षा सुग्रीव को सौंपी। धनुष और तरकस से शरीर-रक्षा, बाण सुधार कर पुरुषार्थ का समय बताया, विभीषण से कान में शत्रु का भेद जानना चाहा, चरण अङ्गद हनुमान् को देकर चलना या न चलना उनके अधीन कर दिया। इन सबकी असावधानी पर योग्य निगरानी के लिए लक्ष्मणजी पीछे बैठे।

दो०—एहि बिधि करुनासील गुन-धाम राम आसीन ।
ते नर धन्य जे ध्यान एहि रहत सदा लयलीन ॥१४॥

इस तरह दयाशील, गुण-धाम, रामचन्द्रजी विराजमान थे। जो मनुष्य इस तरह की मूर्ति के ध्यान में सदा लवलीन रहते हैं वे धन्य हैं ॥ १४ ॥

पूरब दिसा बिलोकि प्रभु देखा उदित मयंक ।
कहत सबहिँ देखहु ससिहि मृग-पति-सरिस असंक ॥१५॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने पूर्व दिशा की ओर देखा, तो चन्द्रमा को उदय हुआ देखकर वे सबसे कहने लगे कि चन्द्रमा को देखो, यह सिंह के समान निडर है ॥ १५ ॥

चौ०—पूरबदिसि गिरि-गुहा-निवासी । परमप्रताप तेज बलरासी ॥
मत्त-नाग-तम-कुंभ-बिदारी । ससि केसरी गगन-बन-चारी ॥१॥

यह चन्द्रमारूपी सिंह पूर्वदिशारूपी पर्वत की गुफा में रहनेवाला है, यह अत्यन्त प्रतापी, तेजस्वी और बलवान् है। यह अन्धकार रूपी मतवाले हाथी के मस्तक को फोड़ता है और आकाशरूपी वन में विचरता है अर्थात् स्वच्छ प्रकाशयुक्त चन्द्र आकाश में शोभित है[1] ॥ १ ॥

बिथुरे नभ मुकुताहल तारा । निसि सुंदरी केर सिंगारा ॥
कह प्रभु ससि महँ मेचकताई । कहहु काह निजनिज मति भाई ॥२॥

आकाश में जो तारागण बिखरे हुए हैं, ये मानो उस हाथी के मस्तक से निकले हुए गजमोती हैं जो रात्रिरूपी सुन्दरी के शृङ्गार हैं। फिर रामचन्द्रजी ने कहा—भाई! चन्द्रमा में जो कालापन है यह क्या है? इसको अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार कहो ॥ २ ॥

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई । ससि महँ प्रगट भूमि कै झाँई ॥
मारेउ राहु ससिहि कह कोई । उर महँ परी स्यामता सोई ॥३॥

१—पूर्व दिशा का निवासी चन्द्रमा-सिंह गिरि-निवासी (उधर ऋष्यमूक और प्रवर्षण पर्वतों पर, अभी त्रिकूटाचल पर) आप सिंह, और गुफा में रहनेवाला सिंह, (प्राकृत सिंह) ये तीनों प्रताप, तेज और बल के राशि हैं। चन्द्र-सिंह अन्धकाररूपी हस्ती को विदारण करता है, आप रावणरूपी मत्त गजेन्द्र को विदारण करेंगे और प्राकृत सिंह प्राकृत गज को विदारण करता है। तीनों सिंह केशरी हैं अर्थात् चन्द्रमा की किरणें केश हैं, सिंह की गर्दन के केश हैं, रामचन्द्रजी के मस्तक के केश हैं। यह एक रूपक है।

सुग्रीव ने कहा—हे रघुराई ! सुनिए। चन्द्रमा में पृथ्वी की छाया पड़ी हुई है, वह प्रकट दीखती है। किसी ने कहा–राहु ने चन्द्रमा को मारा था, उसी का कालापन (दाग़) इसकी छाती में पड़ गया है ॥ ३ ॥

कोउ कह जब बिधि रतिमुख कीन्हा । सार भाग ससि कर हरि लीन्हा ॥
छिद्र सो प्रगट इंदुउर माहीँ । तेहि मग देखिय नभ परिछाहीँ ॥४॥

किसी ने कहा—जब ब्रह्मा ने रति (कामदेव की स्त्री) का मुख बनाया था तब चन्द्रमा का सारभूत हिस्सा उसने खींच लिया था, वही निस्सत्व छिद्र चन्द्रमा के हृदय में दीखता है। इस छिद्र के रास्ते से आकाश की काली छाया दीखती है ॥ ४ ॥

प्रभु कह गरलबंधु ससि केरा । अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा ॥
बिषसंयुत करनिकर पसारी । जारत बिरहवंत नरनारी ॥५॥

रामचन्द्रजी ने कहा—विष (हलाहल) चन्द्रमा का भाई है; क्योंकि चन्द्रमा और विष दोनों समुद्र से उत्पन्न हुए हैं। बहुत प्यारा होने के कारण चन्द्रमा ने उसे अपने हृदय में निवास दिया है। इसी लिए यह चन्द्रमा विषमिश्रित किरणें फैला कर विरही स्त्री-पुरुषों को जलाता है ॥ ५ ॥

दो०—कह मारुतसुत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार निज दास ।
तव मूरति बिधुउर बसति सोइ स्यामताअभास ॥१६॥

फिर वायु-पुत्र हनुमान्‌जी ने कहा—हे प्रभु ! सुनिए। चन्द्रमा आपका निज दास है। आपकी मूर्ति उसके हृदय में निवास करती है, यह उसी श्यामता की छाया दीख रही है ॥ १६ ॥

पवनतनय के बचन सुनि बिहँसे रामु सुजान ।
दच्छिन दिसि अवलोकि प्रभु बोले कृपानिधान ॥१७॥

बुद्धिमान् रामचन्द्रजी हनुमान्‌जी के वचन सुनकर हँसे। फिर कृपानिधान दक्षिण दिशा की ओर देखकर बोले—॥ १७ ॥

चौ०—देखु बिभीषन दच्छिन आसा । घन घमंड दामिनी बिलासा ॥
मधुर मधुर गरजइ घन घोरा । होइ बृष्टि जनु उपल कठोरा ॥१॥

विभीषण ! दक्षिण दिशा की ओर तो देखो। घनघोर घटा छाई है, बिजली चमक रही है, बादल घुमड़े हैं, वे धीरे धीरे गर्जना करते हैं। मालूम होता है कि कठोर पत्थरों की वर्षा होगी (ओले गिरेंगे) ॥ १ ॥

कहइ बिभीषनु सुनहु कृपाला। होइ न तड़ित न बारिदमाला॥
लंकासिखर रुचिर आगारा। तहँ दसकंधर देख अखारा॥२॥

विभीषण ने कहा—कृपालु! सुनिए। यह न बिजली है, न बादल ही घुमड़े हैं! किन्तु लङ्का के शिखर पर एक सुन्दर स्थान है। वहाँ रावण अखाड़ा देख रहा है॥ २॥

छत्र मेघडंबर सिर धारी। सोइ जनु जलदघटा अति कारी॥
मंदोदरी-स्रवन-ताटंका। सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका॥३॥

प्रभो! मेघ के आडम्बर का काला छत्र वह धारण किये हुए है, वही भारी काली घटा सा दीखता है। मन्दोदरी के कानों में कुण्डल और झुमके ही मानों बिजली की तरह चमक रहे हैं॥ ३॥

बाजहिँ ताल मृदंग अनूपा। सोइ रव मधुर सुनहु सुरभूपा॥
प्रभु मुसुकान समुझि अभिमाना। चाप चढ़ाइ बान संधाना॥४॥

हे देवराज! वहाँ अनुपम ताल और मृदङ्ग बज रहे हैं, वही मीठी मीठी आवाज़ (गर्जना) सुनाई दे रही है। प्रभु रामचन्द्रजी रावण के अभिमान को समझकर मुस्कुराये और उन्होंने धनुष चढ़ाकर उसमें एक बाण का सन्धान किया॥ ४॥

दो०—छत्र मुकुट ताटंक तब हते एकही बान।
देखत सब के महि परे मरमु न कोऊ जान॥१८॥

तब एक ही बाण से रावण का छत्र, दसों मुकुट और कुण्डल नष्ट कर दिये। सबके देखते ही देखते वे वस्तुएँ पृथ्वी पर गिर पड़ीं और गिरने का कारण किसी ने नहीं जाना॥१८॥

अस कौतुक करि रामसर प्रबिसेउ आइ निषंग।
रावनसभा ससंक सब देखि महा-रस-भंग॥१९॥

रामबाण इस तरह खिलवाड़ कर लौटकर फिर तरकस में आ समाया। उधर रावण की सभा में बड़ा भारी रस-भङ्ग देखकर सब शंकित हो गये॥ १९॥

चौ०—कंप न भूमि न मरुत बिसेखा। अस्त्र सस्त्र कछु नयन न देखा॥
सोचहिँ सब निज हृदय मँझारी। असगुन भयउ भयंकर भारी॥१॥

न तो पृथ्वी डोली, न कोई आँधी चली और न कोई अस्त्र-शस्त्र ही आँखों से देखा। इसलिए सब राक्षस अपने हृदयों में सोचने लगे कि यह कोई बड़ा भयङ्कर अपशकुन हो गया है॥ १॥

दसमुख देखि सभा भय पाई । बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई ॥
सिरउ गिरे संतत सुभ जाही । मुकुट खसे कस असगुन ताही ॥२॥

रावण ने जब सारी सभा डरी हुई देखी, तब वह हँसकर युक्ति बनाकर वचन बोला—अरे भाई ! मस्तकों के गिरने[1] पर भी जिसको सदा कल्याण की ही प्राप्ति हो उसके मुकुटों के खिसक पड़ने से क्या अशकुन हो सकता है ? ॥ २ ॥

सयन करहु निज निज गृह जाई । गवने भवन सकल सिर नाई ॥
मंदोदरी सोच उर बसेऊ । जब तें स्रवनपूर महि खसेऊ ॥३॥

तुम लोग अपने अपने घर जाकर सोओ । यह सुन सब राक्षस सिर नवाकर घर को गये । जब से कानों के भूषण ज़मीन में खिसककर गिरे, तब से मन्दोदरी के मन में बड़ा सोच हो गया ॥ ३ ॥

सजल नयन कह जुग कर जोरी । सुनहु प्रानपति बिनती मोरी ॥
कंत रामबिरोध परिहरहू । जानि मनुज जनि मन हठ धरहू ॥४॥

वह आँखों में आँसू भरे हुए, हाथ जोड़कर, रावण से कहने लगी—हे प्राणपति ! आप मेरी प्रार्थना सुनिए । हे कन्त ! रामचन्द्र जी से विरोध करना छोड़ दीजिए, उन्हें मनुष्य जानकर मन में हठ न कीजिए ॥ ४ ॥

दो०—बिस्वरूप रघु-बंस-मनि करहु बचनबिस्वासु ।
लोककल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु ॥२०॥

आप मेरे वचन पर विश्वास करें । रघु-कुल के मणि रामचन्द्रजी विश्वरूप भगवान् हैं, जिनके अङ्ग अङ्ग में समस्त लोकों को कल्पना वेद करते हैं ॥ २० ॥

चौ०—पद पाताल सीस अजधामा । अपर लोक अँग अँग बिस्रामा ॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला । नयन दिवाकर कच घनमाला ॥१॥

जिनका चरण तो पाताल, मस्तक ब्रह्मलोक और अन्य समस्त लोकों का विश्राम जिनके अङ्गों में है; जिनकी भृकुटि का घुमाना ही भयङ्कर काल है । सूर्य जिनका नेत्र और मेघमाला जिनके बाल हैं ॥ १ ॥

१—रावण ने तपस्या में अपने मस्तक काट काट शिवजी को चढ़ा दिये थे और उन्हीं की बदौलत उसने वरदान में सब ऐश्वर्य पाया था ।

जासु घ्रान अस्विनी-कुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा॥
स्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी॥२॥

अश्विनीकुमार जिनकी नाक, आँखों को पलक मारना ही दिन-रात और दसों दिशायें जिनके कान वेदों ने कहे हैं; वायु जिनका श्वास है, वेद जिनकी निज की वाणी है॥ २॥

अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥
आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥३॥

लोभ जिनका होठ, यमराज जिनके कराल दाँत, जिनका हँसना माया और दिक्पाल जिनकी भुजायें हैं; अग्नि जिनका मुख, वरुण जीभ, और जगत् की उत्पत्ति, पालन तथा संहार जिनकी चेष्टा है॥ ३॥

रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस-जारा॥
उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु की बहु कलपना॥४॥

अठारह भार (अगणित) वनस्पतियाँ जिनकी रोमावलि हैं, पहाड़ जिनकी हड्डियाँ, नदियाँ जिनकी नसों के समूह हैं, जिनका पेट समुद्र है और नीचे की इन्द्रियाँ नरक हैं। बहुत क्या कहा या कल्पना की जाय—भगवान् जगन्मय हैं[1]॥ ४॥

दो०—अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास चर-अचर-मय रूप राम भगवान॥२१॥

जिनका अहङ्कार महादेव, बुद्धि ब्रह्मा, मन चन्द्रमा और चित्त महत्तत्त्व हैं, वे भगवान् रामचन्द्रजी मनुष्य आदि चर (चेतन) और अचर (जड़) में निवास करते हुए जगमय और विश्वरूप हैं। अर्थात् सर्वव्यापी होने से राम सब कुछ हैं॥ २१॥

अस बिचारि सुनु प्रानपति प्रभु सन बैर बिहाइ।
प्रीति करहु रघु-बीर-पद मम अहिवात न जाइ॥२२॥

हे प्राणपति! सुनो। तुम ऐसा विचारकर प्रभु रामचन्द्रजी से वैर छोड़कर प्रीति करो, जिसमें मेरा सौभाग्य न जाय॥ २२॥

१—यजुर्वेद के ३१वें अध्याय में और ऋग्यजुर्वेदों में कई जगह इस विराट् रूप का सविस्तर निरूपण है।

चौ०—बिहँसा नारिबचन सुनि काना। अहो मोहमहिमा बलवाना॥
नारिसुभाउ सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥१॥

अपनी स्त्री मन्दोदरी के वचन कानों से सुनकर रावण हँसा और बोला—अहो! मोह का महत्त्व बड़ा बलवान् है। पण्डित लोग स्त्रियों का स्वभाव सच्चा कहते हैं कि उनके हृदय में आठ अवगुण सदा बने रहते हैं॥ १॥

साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥
रिपु कर रूप सकल तैं गावा। अति बिसाल भय मोहि सुनावा॥२॥

साहस (बिना आगा-पीछा सोचे काम कर बैठना), झूठ, चञ्चलता, माया (झूठी बातें बनाना), भय, अविचार, अपवित्रता और निर्दयता। इसी से तूने शत्रु का सब रूप गाया और बड़ा भारी लम्बा चौड़ा डर मुझे सुनाया॥ २॥

सो सबु प्रिया सहज बस मोरे। समुझि परा प्रसाद अब तोरे॥
जानेउँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि मिस कहिहि मोरि प्रभुताई॥३॥

हे प्रिये! वह (चराचर विश्व) तो स्वाभाविक ही मेरे वश में है। अब तेरी कृपा से भी वह मुझे मालूम हो गया। हे प्रिये! मैं तेरी चतुराई समझ गया। तूने इस बहाने से मेरी प्रभुता (सामर्थ्य) का वर्णन किया है॥ ३॥

तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयमोचनि॥
मंदोदरि मन महुँ अस ठयऊ। प्रियहि कालबस मतिभ्रम भयऊ॥४॥

हे मृगनयनी! तेरी बात-चीत गूढ़[1] है, सुनने में वह डर छुड़ानेवाली और समझने पर सुख देनेवाली है। (रावण की ऐसी बातें सुनकर) मन्दोदरी ने मन में ऐसा निश्चय कर लिया कि काल के वश हो जाने के कारण मेरे पति को बुद्धि-भ्रम हो गया है॥ ४॥

दो०—बहु बिधि जल्पेसि सकल निसि प्रात भये दसकंध।
सहज असंक सु-लंक-पति सभा गयउ मदअंध॥२३॥

वह सारी रात बहुत तरह बकता रहा। सवेरा होने पर, स्वाभाविक निडर, लङ्का का स्वामी रावण मदान्ध हो अपनी सभा में गया॥ २३॥

१—गूढ़ का भाव यह है कि जिन भगवान् का विराट्रूप वर्णन किया गया, उनके बाण लगने से मेरा मोक्ष होगा। समझने पर सुखदायी इसी से है। सुनने में भय छुड़ाना भी दोनों तरह से है। जो मैं बलवान् हूँ तो किसी का डर ही नहीं और जो वे परमात्मा हैं तो मुझे उनसे लड़कर निडर होना ही है।

सो०—फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिँ जलद ।
मूरखहृदय न चेत जौं गुरु मिलहिँ बिरंचि सिव ॥२४॥

मेघ अमृत की वर्षा करे तो भी बेत न तो फूलता है और न फलता ही है। इसी तरह जो ब्रह्मा और शिव भी गुरु मिल जायँ तो भी मूर्ख के हृदय में चेत (समझ) नहीं होती ॥ २४ ॥

चौ०—इहाँ प्रात जागे रघुराई । पूछा मत सब सचिव बोलाई ॥
कहहु बेगि का करिय उपाई । जामवंत कह पद सिरु नाई ॥१॥

यहाँ प्रातःकाल रामचन्द्रजी जागे और सब मंत्रियों को बुलाकर उनसे सलाह पूछी—कहो जल्दी, क्या उपाय करना चाहिए ? तब जाम्बवान् सिर से प्रणाम कर बोला—॥ १ ॥

सुनु सर्वग्य सकल-उर-बासी । बुधि बल तेज धर्म गुनरासी ॥
मंत्र कहउँ निज मति अनुसारा । दूत पठाइय बालिकुमारा ॥२॥

हे सर्वज्ञ, सबके हृदयों के निवासी, बुद्धि बल तेज धर्म और गुणों के राशि, भगवन् ! सुनिए। मैं अपनी बुद्धि के अनुसार सलाह देता हूँ, कि बालिपुत्र अंगद को दूत बनाकर भेजिए ॥ २ ॥

नीक मंत्र सब के मन माना । अंगद सन कह कृपानिधाना ॥
बालितनय बुधि-बल-गुन-धामा । लंका जाहु तात मम कामा ॥३॥

यह अच्छी सलाह सभी को पसन्द आई। कृपानिधान रामचन्द्रजी ने अङ्गद से कहा—बुद्धि, बल और गुणों के स्थान बालिपुत्र (अङ्गद), हे तात ! तुम मेरे काम के लिए लङ्का जाओ ॥ ३ ॥

बहुत बुझाइ तुम्हहिँ का कहऊँ । परम चतुर मैं जानत अहऊँ ॥
काजु हमार तासु हित होई । रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥४॥

मैं तुमको बहुत क्या समझा कर कहूँ। तुम अत्यन्त चतुर हो, यह मैं जानता हूँ। शत्रु के साथ वही बातचीत करना जिसमें हमारा काम हो और उसका हित हो ॥ ४ ॥

सो०—प्रभुअग्या धरि सीस चरन बंदि अंगद उठेउ ।
सोइ गुनसागर ईस राम कृपा जा पर करहु ॥२५॥

स्वामी की आज्ञा माथे चढ़ाकर, उनके चरणों में प्रणाम कर अङ्गद उठा और बोला—स्वामी रामचन्द्रजी ! आप जिस पर कृपा करें वह गुणों का समुद्र हो जाता है ॥२५॥

स्वयंसिद्ध सब काजु नाथ मोहि आदरु दियेउ।
अस बिचारि जुबराज तनु पुलकित हरषित हिये ॥२६॥

रामचन्द्रजी के सभी काम आप ही सिद्ध हैं, मुझे तो स्वामी ने आदरमात्र दिया है। ऐसा विचार कर युवराज अङ्गद शरीर से पुलकित और मन में आनन्दित हुए ॥ २६ ॥

चौ०—बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चलेउ सबहिँ सिरु नाई ॥
प्रभुप्रताप उर सहज असंका। रनबाँकुरा बालिसुत बंका ॥१॥

प्रभु के प्रताप से हृदय में स्वाभाविक ही निडर, रण में बाँका वीर, बालिपुत्र अङ्गद, रघुनाथजी के चरणों में प्रणाम कर और उनकी सामर्थ्य हृदय में रखकर, सबको सिर नवाकर चला ॥ १ ॥

पुर पैठत रावन कर बेटा। खेलत रहा सो होइ गइ भेँटा ॥
बातहिँ बात करष बढ़ि आई। जुगल अतुल बल पुनि तरुनाई ॥२॥

लङ्कापुरी में प्रवेश करते ही रावण के पुत्र से, जो खेल रहा था, भेंट हो गई। बात ही बात में[1] क्रोध बढ़ आया; दोनों में अतुल बल था, फिर जवानी थी ॥ २ ॥

तेहि अंगद कहँ लात उठाई। गहि पद पटकेउ भूमि भवाँई ॥
निसि-चर-निकर देखि भट भारी। जहँ तहँ चले न सकहिँ पुकारी ॥३॥

रावण के पुत्र ने अङ्गद को मारने के लिए लात उठाई तो अङ्गद ने वही लात पकड़ उसको घुमाकर जमीन पर पछाड़ दिया। बस, बड़े वीर को देखकर राक्षस-दल जहाँ तहाँ चल दिये। कोई मारे डर के पुकार भी न कर सका ॥ ३ ॥

एक एक सन मरमु न कहहीँ। समुझि तासु बध चुप करि रहहीँ ॥
भयउ कोलाहलु नगर मँझारी। आवा कपि लंका जेहि जारी ॥४॥

वे राक्षस आपस में एक दूसरे से मर्म की बात नहीं कहते थे; रावण के पुत्र का वध समझकर चुप हो रहते थे। सारे नगर में हल्ला हो गया कि जिसने लंका जलाई थी वही बन्दर फिर आया है ॥ ४ ॥

१—राक्षस ने पूछा, तू कौन है? अङ्गद ने कहा, मैं रामचन्द्रजी का दूत हूँ। उसने कहा, वही रामचन्द्र जिनकी स्त्री हमारे पिता पकड़ लाये हैं? अङ्गद ने कहा, हाँ, जिन्होंने तुम्हारी बुआ की नकटी और बूची किया है। इत्यादि।

अब धौं काह करिहि करतारा । अति सभीत सब करहिँ बिचारा ॥
बिनु पूछे मग देहिं देखाई । जेहि बिलोक सोइ जाइ सुखाई ॥५॥

सब राक्षस बहुत डरे हुए विचार करने लगे कि अब कर्तार (ईश्वर) न जाने क्या करेंगे। वे अङ्गद को बिना पूछे ही रास्ता बतला देते थे और अङ्गद जिसकी ओर आँख उठाकर देख लेता, वही राक्षस मारे डर के सूख जाता था ॥ ५ ॥

दो०—गयउ सभादरबार तब सुमिरि राम-पद-कंज ।
सिंहठवनि इत उत चितव धीर-बीर बल-पुंज ॥२७॥

तब धीर, वीर, बलराशि अङ्गद रामचन्द्रजी के चरण-कमलों को स्मरणकर रावण की सभा के दरबार में गया और सिंह की चाल से (निडर होकर) इधर उधर देखने लगा ॥२७॥

चौ०—तुरित निसाचर एक पठावा । समाचार रावनहिँ जनावा ॥
सुनत बिहँसि बोला दससीसा । आनहु बोलि कहाँ कर कीसा ॥१॥

अङ्गद ने जल्दी एक राक्षस को भेज दिया और अपने आने का समाचार रावण को कहलाया। उसको सुनते ही रावण हँसकर बोला, अरे! बुला लाओ, कहाँ का बन्दर आया है ॥ १ ॥

आयसु पाइ दूत बहु धाये । कपिकुंजरहि बोलि लेइ आये ॥
अंगद दीख दसानन बैसा । सहित प्रान कज्जलगिरि जैसा ॥२॥

रावण की आज्ञा पाकर बहुत से दूत दौड़ पड़े और वे वानर-श्रेष्ठ (अङ्गद) को बुला ले गये। अङ्गद ने रावण को ऐसा बैठा हुआ देखा जैसे सजीव कज्जल का पर्वत हो ॥२॥

भुजा बिटप सिर स्रृंग समाना । रोमावली लता जनु नाना ॥
मुख नासिका नयन अरु काना । गिरिकंदरा खोह अनुमाना ॥३॥

उसकी भुजाएँ वृक्षों के समान, मस्तक पर्वतों के शिखरों के समान और रोमावलि मानों तरह तरह की बेलें थीं। उसके मुँह, नाक, आँखें और कान तो मानों पर्वतों की गुफाएँ और खोहें (गहरे गड्ढे) थीं ॥ ३ ॥

गयउ सभा मन नेकु न मुरा । बालितनय अति बल बाँकुरा ॥
उठे सभासद कपि कहँ देखी । रावनउर भा क्रोध बिसेखी ॥४॥

अति बली, बाँका अङ्गद सभा में चला गया। उसका चित्त ज़रा भी न हिचका। उसको देखकर सब सभासद् उठ खड़े हुए। यह देखकर रावण को बड़ा क्रोध हो आया। (वे बेचारे तो डर के मारे भरभरा कर खड़े हो गये, पर रावण न समझा कि सबन बन्दर का आदर किया)॥ ४॥

दो०—जथा मत्तगज जूथ महँ पंचानन चलि जाइ।
रामप्रताप सँभारि उर बैठ सभा सिरु नाइ॥२८॥

जैसे मतवाले हाथियों के झुण्ड में सिंह चला जाय, वैसे ही अङ्गद बेधड़क जा, हृदय में रामचन्द्रजी के प्रताप को स्मरणकर सिर नवाकर सभा में बैठ गया॥ २८॥

चौ०—कह दसकंठ कवन तैं बंदर। मैं रघु-बीर-दूत दसकंधर॥
मम जनकहि तोहि रही मिताई। तव हितकारन आयउँ भाई॥१॥

रावण ने पूछा—बन्दर, तू कौन है? अङ्गद ने कहा—हे दशग्रीव! मैं रघुवीर का दूत हूँ। मेरे पिता के साथ तेरी मित्रता थी, इसलिए भाई! मैं तेरे हित के लिए आया हूँ॥ १॥

उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती। सिव बिरंचि पूजेहु बहु भाँती॥
बर पायहु कीन्हेहु सब काजा। जीतेहु लोकपाल सब राजा॥२॥

तुम्हारा उत्तम वंश है, तुम पुलस्त्य ऋषि के नाती हो; तुमने सब तरह से महादेव जी और ब्रह्मा जी का पूजन किया है, वरदान पाया, सब काम किये तथा सब लोकपालों और राजों को तुमने जीत लिया॥ २॥

नृपअभिमान मोहबस किंबा। हरि आनेहु सीता जगदंबा॥
अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा। सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा॥३॥

राज्य के अभिमान से अथवा मोह के वश होकर तुम जगत्-माता सीताजी का हरण कर लाये हो! अब तुम मेरा अच्छा कहना सुनो, प्रभु रामचन्द्रजी तुम्हारा सब अपराध क्षमा करेंगे॥ ३॥

दसन गहहु तृन कंठ कुठारी। परिजनसहित संग निज नारी॥
सादर जनकसुता करि आगे। एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे॥४॥

तुम दाँतों में घास दाब लो, कंठ में कुल्हाड़ा रक्खो और कुटुम्बियों तथा अपनी स्त्री समेत आदर के साथ जानकीजी को आगे करके, इस तरह सब भय छोड़कर, चलो॥ ४॥

दो०—प्रनतपाल रघु-बंस-मनि त्राहि त्राहि अब मोहि।
आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करहिँगे तोहि ॥२९॥

रामचन्द्रजी से प्रार्थना करो कि हे शरणागत के पालक, रघु-कुल-भूषण! अब मेरी रक्षा करो, रक्षा करो। प्रभु रामचन्द्रजी तुम्हारी आर्त (दुःखभरी) वाणी सुनते ही तुमको अभय कर देंगे ॥ २९ ॥

चौ०—रे कपिपोत न बोल सँभारी। मूढ़ न जानेहि मोहि सुरारी ॥
कहु निज नाम जनक कर भाई। केहि नाते मानिये मिताई ॥१॥

रावण ने कहा—अरे बन्दर के बच्चे! जबान सम्हाल कर नहीं बोलता! अरे मूर्ख! मुझे ऐसा वैसा दैत्य न समझ लेना। अथवा—मुझे नहीं जानता कि मैं देवताओं का शत्रु हूँ। अरे भाई! जरा अपना और अपने बाप का नाम तो बता। किस नाते से मित्रता मानी जाय! ॥ १ ॥

अंगद नाम बालि कर बेटा। ता सोँ कबहुँ भई होइ भेँटा ॥
अंगदबचन सुनत सकुचाना। रहा बालि बानर मैँ जाना ॥२॥

अङ्गद ने कहा—मेरा नाम अङ्गद है, मैं बाली का पुत्र हूँ, उससे कभी तुम्हारी भेंट हुई होगी! अङ्गद के ये वचन सुनकर रावण सकुचा गया, और बोला—हाँ, बाली एक बन्दर था, मैं जानता हूँ ॥ २ ॥

अंगद तहीँ बालि कर बालक। उपजेहु बंस-अनल कुलघालक ॥
गर्भ न गयउ ब्यर्थ तुम्ह जायेहु। निज मुख तापसदूत कहायेहु ॥३॥

अरे अङ्गद! तू ही बाली का लड़का है? तू कुल का नाश करनेवाला, वंश में अग्नि-रूप पैदा हुआ! अरे! वह गर्भ क्यों न गिर गया, जिसमें तुम व्यर्थ पैदा हुए, जो अपने मुँह से तपस्वी के दूत कहलाये! ॥ ३ ॥

अब कहु कुसल बालि कहँ अहई। बिहँसि बचन तब अंगद कहई ॥
दिन दस गये बालि पहँ जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई ॥४॥

अब यह कहो, बाली सकुशल तो है, वह कहाँ है? तब अङ्गद हँसकर वचन कहने लगा—दस दिन बाद तुम्हीं बाली के पास जाकर उस सखा को हृदय से लगाकर कुशल पूछ लेना ॥ ४ ॥

रामबिरोध कुसल जसि होई। सो सब तोहि सुनाइहि सोई ॥
सुनु सठ भेद होइ मन ता के। श्री-रघु-बीर हृदय नहिँ जा के ॥५॥

रामचन्द्रजी के साथ विरोध करने से जैसी कुशलता होती है, वह सब तुझे वहा (वाला) सुनावेगा। अरे दुष्ट! सुन, भेद उसी के मन में होता है जिसके हृदय में श्रीरघुवीर नहीं हैं ॥ ५ ॥

दो०—हम कुलघालक सत्य तुम्ह कुलपालक दससीस।
अंधउ बहिर न अस कहहिँ नयन कान तव बीस ॥३०॥

हे दशशीश! हम तो कुल के नाशक हैं, पर तुम सत्य ही वंश के रक्षक हो! अरे भाई! ऐसी बात तो अंधे और बहिरे भी नहीं कहते, फिर तुम्हारे तो बीस नेत्र और बीस ही कान हैं! (तुम ऐसी बात क्यों कहते हो?) ॥ ३० ॥

चौ०—सिव-बिरंचि-सुर-मुनि-समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई ॥
तासु दूत होइ हम कुल बोरा। ऐसिहु मति उर बिहर न तोरा ॥१॥

महादेव, ब्रह्मा, देव-ऋषि-गण जिनके चरणों की सेवकाई चाहते हैं, उनके दूत होकर हमने वंश डुबाया! ऐसी बुद्धि होने पर भी तेरी छाती नहीं फट जाती ॥ १ ॥

सुनि कठोर बानी कपि केरी। कहत दसानन नयन तरेरी ॥
खल तव कठिन बचन सब सहऊँ। नीति धर्म मैं जानत अहऊँ ॥२॥

अङ्गद की कठोर वाणी सुनकर रावण आँखें निकालकर कहने लगा—अरे दुष्ट! मैं तेरे सब कठिन वचन सहता हूँ; क्योंकि मैं नीति एवं धर्म को जानता हूँ ॥ २ ॥

कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहु सुनी कृत पर-त्रिय-चोरी ॥
देखी नयन दूत रखवारी। बूडि न मरहु धर्म-ब्रत-धारी ॥३॥

अङ्गद ने कहा—हाँ! परस्त्री के चुराने की तुम्हारी धर्मशीलता तो हमने भी सुन रखी है और दूत की रक्षा करने की[1] आँखों देख ली। अरे धर्म-व्रत-धारी! तुम डूब नहीं मरते? अर्थात् तुम्हें शरम नहीं आती? ॥ ३ ॥

१—कुबेर (रावण के भाई) का भेजा हुआ दूत रावण को यह समझाने आया था कि युद्ध न करके सन्धि कर लो। उसको मारकर रावण खा गया था। इसलिए अङ्गद ने कहा कि तू दूत की रक्षा कैसी करता है, यह मैंने आँखों देख लिया। अथवा—"देखेउ नयन दूत" यह दूत है ऐसा तूने आँखों से देखा था तो भी "रखवारी" उसकी पूँछ में आग लगा दी थी।

कान नाक बिनु भगिनि निहारी । छमा कीन्ह तुम्ह धर्म बिचारी ॥
धर्मसीलता तव जग जागी । पावा दरस हमहुँ बडभागी ॥४॥

अपनी बहिन को नकटो और बूचो देखकर तुमने भी धर्म विचार कर क्षमा कर दिया, अर्थात् नाक कान काटनेवाले को दंड न दिया। तुम्हारी धर्मशीलता को सारा जगत् जानता है। हम बड़े भाग्यवान् हैं कि हमने भी तुम्हारा दर्शन पाया ॥ ४ ॥

दो०—जनि जल्पसि जड जंतु कपि सठ बिलोकि मम बाहु ।
लोक-पाल-बल-बिपुल-ससि-ग्रसन हेतु सब राहु ॥३१॥

रावण बोला—अरे मूर्ख जीव, बन्दर! मत बड़बड़ा। अरे दुष्ट! ज़रा मेरी भुजायें तो देख, जो लोक-पालों के विपुल बलरूपी पूर्ण चन्द्रमा को ग्रसने के लिए राहु-रूपिणी हैं ॥ ३१ ॥

पुनि नभसर मम कर-निकर-कमलन्हि पर करि बास ।
सोभत भयउ मराल इव संभुसहित कैलास ॥३२॥

फिर आकाशरूपी तालाब में मेरे हाथों के समूहरूपी कमलों में निवास कर शङ्करजी समेत कैलास पर्वत ऐसा शोभित हुआ था, जैसे हंस। अर्थात् जिन भुजाओं ने शङ्कर-समेत कैलास को हंस के समान उठा लिया उनके सामने तू चीज़ ही क्या है? ॥ ३२ ।

चौ०—तुम्हरे कटक माँझ सुनु अंगद । मो सन भिरिहि कवन जोधा बद ॥
तव प्रभु नारिबिरह बलहीना । अनुज तासु दुखदुखी मलीना ॥१॥

अङ्गद! सुनो, तुम्हारी सेना में मुझसे कौन योद्धा लड़ेगा? बता। तेरा मालिक तो स्त्री के वियोग से बलहीन हो रहा है और उसका छोटा भाई बड़े भाई के दुःख से दुःखी, मलिन (निर्बल) हो रहा है ॥ १ ॥

तुम्ह सुग्रीव कूलद्रुम दोऊ । अनुज हमार भीरु अति सोऊ ॥
जामवंत मंत्री अति बूढा । सो कि होइ अब समर अरूढा ॥२॥

तुम और सुग्रीव दोनों उस सेनारूपी नदी के किनारे के वृक्ष (रक्षक) हो। रहा हमारा छोटा भाई (विभीषण) सो वह तो बड़ा ही डरपोक है। मन्त्री जाम्बवान् बहुत बुड्ढा हो गया है, क्या वह बेचारा अब युद्ध के लिए उद्यत हो सकता है? ॥ २ ॥

सिलपकर्म जानहिँ नल नीला । है कपि एक महा-बल-सीला ।
आवा प्रथम नगर जेहि जारा । सुनि हँसि बोलेउ बालिकुमारा ॥३॥

बेचारे नल, नील तो शिल्प का काम (पत्थर जोड़ना, मकान बनाना) जानते हैं। हाँ! एक बन्दर बड़ा बलशाली है, जो पहले यहाँ आया और जिसने लङ्का जलाई थी! ये बातें सुनकर अङ्गद ने हँसकर कहा—॥ ३ ॥

सत्य बचन कहु निसि-चर-नाहा। साँचेहु कीस कीन्ह पुरदाहा॥
रावननगर अलप कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई॥४॥

हे राक्षसराज! सच कहा, क्या सचमुच उस बन्दर ने लङ्का जलाई थी! एक जरा से बन्दर ने रावण का नगर जला दिया, ऐसी बात सुनकर कौन सच मानेगा?॥ ४ ॥

जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन॥
चलइ बहुत सो बीर न होई। पठवा खबरि लेन हम सोई॥५॥

हे रावण! तुमने जिसको बड़ा योद्धा कहकर बड़ाई की, वह (हनुमान्) तो सुग्रीव का छोटा सा (इधर उधर दौड़नेवाला) दूत है। जो बहुत चलता है वह शूर वीर नहीं होता। हमने उसको यहाँ खबर लेने के लिए भेजा था॥ ५॥

दो०—सत्य नगर कपि जारेउ बिनु प्रभुआयसु पाइ।
गयउ न फिरि सुग्रीव पहिँ तेहि भय रहा लुकाइ॥३३॥

क्या सचमुच उस बन्दर ने स्वामी की आज्ञा पाये बिना ही नगर जला दिया? इसी डर के मारे वह छिप रहा, फिर लौटकर सुग्रीव के पास नहीं गया॥ ३३॥

सत्य कहेहु दसकंठ सब मोहि न सुनि कछु कोह।
कोउ न हमारे कटक अस तो सन लरत जो सोह॥३४॥

हे रावण! तुमने सब सच कहा, मुझे सुनकर कुछ क्रोध नहीं हुआ। सचमुच, हमारी सेना में ऐसा कोई नहीं है जो तुमसे लड़ता हुआ अच्छा लगे॥ ३४॥

प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति असि आहि।
जौं मृगपति बध मेड़ुकन्हि भल कि कहइ कोउ ताहि॥३५॥

नीति ऐसी है कि प्रीति और विरोध बराबरवाले से करना चाहिए। जो कहीं सिंह मेंढकों को मार डाले, तो क्या कोई उसको अच्छा कहेगा?॥ ३५॥

जद्यपि लघुता राम कहुँ तोहि बधे बड दोष।
तदपि कठिन दसकंठ सुनु छत्रिजाति कर रोष॥३६॥

यद्यपि तुम्हारे मारने में रामचन्द्रजी का हलकापन है और बड़ा दोष है तो भी हे रावण! सुनो। क्षत्रिय जाति का क्रोध कठिन है (इसलिए वे तुम्हें अवश्य मारेंगे)॥ ३६॥

वक्र उक्ति धनु बचन सर हृदय दहेउ रिपु कीस ।

प्रतिउत्तर सडसिन्ह मनहुँ काढत भट दससीस ॥३७॥

अङ्गद ने (वक्रोक्ति) टेढ़ाइ-रूपी धनुष में वचनरूपी बाण सन्धान कर शत्रु रावण के हृदय को जला दिया, अर्थात् बींध दिया। उन बाणों को वीर रावण मानों प्रत्युत्तररूपी सँडसी से निकालने लगा। मतलब यह कि अङ्गद ने टेढ़ा बोलकर रावण को लज्जित किया, पर रावण जवाब देकर उन बातों को काटने लगा ॥ ३७ ॥

हँसि बोलेउ दसमौलि तब कपि कर बड गुन एक ।

जो प्रतिपालइ तासु हित करइ उपाइ अनेक ॥३८॥

तब रावण हँसकर बोला—बन्दरों का एक बड़ा भारी गुण होता है कि जो उनको पालता है उसके हित के लिए वे अनेक उपाय करते हैं। (कृतघ्न नहीं होते) ॥ ३८ ॥

चौ०—धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचइ परिहरि लाजा॥

नाचि कूदि करि लोग रिझाई। पतिहित करइ धरम निपुनाई ॥१॥

बन्दरों को धन्य है, जो अपने स्वामी के कार्य के लिए लाज छोड़कर जहाँ तहाँ नाचते फिरते हैं। वे नाच-कूद कर लोगों को रिझाकर अपने मालिक का हित करते हैं—सेवक-धर्म और चतुराई दिखाते हैं ॥ १ ॥

अंगद स्वामिभक्त तव जाती। प्रभुगुन कस न कहसि एहि भाँती ॥

मैं गुनगाहक परम-सुजाना। तव कटु रटनि करउँ नहि काना ॥२॥

हे अङ्गद ! तुम्हारी (बन्दरों की) जाति स्वामि-भक्त होती है। तो फिर तुम अपने स्वामी के गुण इस तरह क्यों न कहो ? मैं गुण-ग्राहक और बड़ा चतुर हूँ, इसलिए तेरी कड़वी बक-वाद को कानों से नहीं सुनता अर्थात् उनकी ओर ध्यान नहीं देता ॥ २ ॥

कह कपि तव गुनगाहकताई। सत्य पवनसुत मोहि सुनाई ॥

बन बिधंसि सुत बधि पुर जारा। तदपि न तेहि कछु कृत अपकारा ॥३॥

अङ्गद ने कहा—हाँ, तुम्हारी गुण-ग्राहकता सच्ची है, मुझे हनुमान् ने भी सुनाई थी। उसने तुम्हारे बगीचे का विध्वंस कर दिया, पुत्र को मार डाला और नगर जला दिया, तो भी तुमने उसका कुछ अपकार (बिगाड़) नहीं किया ॥ ३ ॥

सोइ बिचारि तव प्रकृति सुहाई। दसकंधर मैं कीन्हि ढिठाई ॥

देखेउँ आइ जो कछु कपि भाषा। तुम्हरे लाज न रोष न माषा ॥४॥

हे रावण! उसी तुम्हारी अच्छी प्रकृति (स्वभाव) को सोचकर मैंने ढिठाई की। जो कुछ हनुमान् ने कहा था, वह मैंने आकर प्रत्यक्ष देख लिया कि तुम्हारे न शर्म है, न क्रोध और न खिसियानापन ही॥ ४॥

जौं असि मति पितु खायहु कीसा। कहि अस बचन हँसा दससीसा॥
पितहि खाइ खातेउँ पुनि तोही। अबहीं समुझि परा कछु मोहीं॥५॥

ऐसा वचन कहकर रावण हँसा कि हाँ, बन्दर! जब तेरी ऐसी ही बुद्धि है, तभी तो तू अपने पिता को खा गया! अङ्गद ने कहा—पिता को खा गया, अभी तुमको भी खा जाता! पर मुझे अभी कुछ समझ पड़ा है॥ ५॥

बालि-बिमल-जस-भाजनु जानी। हतउँ न तोहि अधम अभिमानी॥
कहु रावन रावन जग केते। मैं निज स्रवन सुने सुनु जेते॥६॥

हे नीच, अभिमानी! मैं तुमको बाली के यश का पात्र[1] समझकर नहीं मारता! रावण! कहो तो, जगत् में रावण कितने हैं? मैंने जिन जिन को कान से सुन रखा है उन्हें तुम सुनो॥ ६॥

बलिहि जितन एकु गयउ पताला। राखा बाँधि सिसुन्ह हयसाला॥
खेलहिँ बालक मारहिँ जाई। दया लागि बलि दीन्ह छोडाई॥७॥

एक रावण राजा बलि को जीतने के लिए पाताल में गया था। उसे वहाँ लड़कों ने घुड़साल में बाँध रखा था! लड़के खेल खिलवाड़ में जाकर उसको मारते थे। जब बलि को दया लगी, तब उन्होंने उसको छुड़ा दिया॥ ७॥

एकु बहोरि सहसभुज देखा। धाइ धरा जिमि जंतुबिसेखा॥
कौतुक लागि भवन लेइ आवा। सो पुलस्ति मुनि जाइ छोडावा॥८॥

फिर एक रावण को सहस्रार्जुन ने देखा था, तो जिस तरह कोई जन्तु-विशेष को पकड़े, उस तरह दौड़कर उसने उसे पकड़ लिया। फिर खिलवाड़ करने के लिए उसको वह अपने घर ले आया, तब पुलस्त्य ऋषि (रावण के पितामह) ने जाकर उसको छुड़ाया॥ ८॥

दो०—एक कहत मोहि सकुच अति रहा बालि की काँख।
तिन्ह महुँ रावन तैं कवन सत्य बदहि तजि माख॥२६॥

१—जब तक तुम जीते हो तब तक संसार में यह बात बनी है कि मेरे पिता बाली ने तुमको छः महीने पर्यन्त अपनी बग़ल में दबा रक्खा था।

कहने में मुझे बड़ा ही सङ्कोच होता है कि एक रावण बाली की बग़ल में दबा रहा था! इनमें से तुम कौन से रावण हो? क्रोध दूरकर सच सच कहो। अर्थात् इतनी सभी घटनायें स्वयं तुम्हीं पर तो नहीं हुईं?॥ ३९॥

चौ०—सुनु सठ सोइ रावन बलसीला। हरगिरि जान जासु भुजलीला॥
जान उमापति जासु सुराई। पूजेउँ जेहि सिर सुमन चढाई॥१॥

रावण ने कहा—हे मूर्ख! सुन। मैं वही बलवान् रावण हूँ, जिसकी भुजाओं की लीला को महादेवजी का पर्वत (कैलास) जानता है, और जिसकी शूरता को वे पार्वती-पति जानते हैं, जिनकी पूजा मैंने मस्तकरूपी फूल चढ़ाकर की थी॥ १॥

सिरसरोज निज करन्हि उतारी। अमित बार पूजेउँ त्रिपुरारी॥
भुजबिक्रम जानहिँ दिगपाला। सठ अजहूँ जिन्ह के उर साला॥२॥

मैंने अपने हाथों से अपने मस्तकों को कमलों की तरह उतारकर अनेक बार शिवजी की पूजा की है। अरे दुष्ट! मेरी भुजाओं का पराक्रम दिक्पाल जानते हैं, जिनके हृदय में अभी तक शूल हो रहा है॥ २॥

जानहिँ दिग्गज उर कठिनाई। जब जब भिरेउँ जाइ बरिआई॥
जिन्ह के दसन कराल न फूटे। उर लागत मूलक इव टूटे॥३॥

मेरे हृदय की कठोरता को दिग्गज जानते हैं, क्योंकि मैं जब जब जबरदस्ती उनसे जा भिड़ा तब तब उनके विकराल कठिन दाँत मेरी छाती से लगते ही मूलों की तरह टूट गये—वे मेरी छाती में धँसे नहीं॥ ३॥

जासु चलत डोलत इमि धरनी। चढत मत्तगज जिमि लघु तरनी॥
सोइ रावन जगबिदित प्रतापी। सुनेहि न स्रवन अलीकप्रलापी॥४॥

जिसके चलते समय पृथ्वी ऐसे काँपती है, जैसे मतवाले हाथी के चढ़ने पर छोटी नाव। मैं वही जगत्प्रसिद्ध प्रतापी रावण हूँ। अरे अलीक-प्रलापी (झूठी डींग मारनेवाले)! उस रावण को तूने कान से भी नहीं सुना!॥ ४॥

दो०—तेहि रावन कहुँ लघु कहसि नर कर करसि बखान।
रे कपि बर्बर खर्ब खल अब जाना तव ग्यान॥४०॥

अरे बन्दर! तू उस रावण को तो छोटा कहता है और मनुष्य (राम) की बड़ाई करता है! अरे बर्बर (बकवादी), खर्व (छोटे, तुच्छ) दुष्ट! मैंने अब तेरा ज्ञान जान लिया॥ ४०॥

चौ०—सुनि अंगदु सकोप कह बानी। बोलु सँभारि अधम अभिमानी॥
सहस-बाहु-भुज-गहन अपारा। दहन अनलसम जासु कुठारा॥१॥

अङ्गद यह सुन क्रोधित होकर कहने लगा—नीच, अभिमानी! तू मुँह सम्हाल कर बोल। जिनका कुठार (फरसा) सहस्रबाहु के भुजारूपी अपार घोर वन को जलाने के लिए दावानल अग्नि के समान है और॥१॥

जासु परसु सागर-खर-धारा। बूडे नृप अगनित बहु बारा॥
तासु गर्ब जेहि देखत भागा। सो नर क्यों दससीस अभागा॥२॥

जिनके परशुरूपी समुद्र की तीक्ष्ण धाराओं में असंख्य राजा अनकों बार डूब गये उन परशुरामजी का अभिमान जिन रामचन्द्रजी को देखते ही नष्ट हो गया, क्यों रे अभागे दशशीश! क्या वे रामचन्द्रजी मनुष्य हैं॥२॥

रामु मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी कामु नदी पुनि गंगा॥
पसु सुरधेनु कलपतरु रूखा। अन्न दान अरु रस पीयूखा॥३॥

अरे दुष्ट! बंगा (व्यंग्योक्ति कहनेवाले)! रामचन्द्रजी मनुष्य किस तरह हैं? कामदेव साधारण धनुषधारी और गंगाजी मामूली नदी क्योंकर हैं! कामधेनु—पशु, कल्पवृक्ष—वृक्ष, अन्नदान—मामूली दान, और अमृत—साधारण रस कैसे हो सकते हैं?॥३॥

बैनतेय खग अहि सहसानन। चिंतामनि पुनि उपल दसानन॥
सुनु मतिमंद लोक बैकुंठा। लाभु कि रघु-पति-भगति-अकुंठा॥४॥

हे रावण! गरुड़जी—साधारण पक्षी, शेषजी—साँप, और चिन्तामणि रत्न—पत्थर कैसे हो सकते हैं? अरे मन्दबुद्धि! सुन। वैकुंठ लोक क्या साधारण लोकों में और रघुनाथजी की अखण्ड भक्ति का लाभ क्या साधारण लाभों में हो सकता है?॥४॥

दो०—सेनसहित तव मान मथि बन उजारि पुर जारि।
कस रे सठ हनुमान कपि गयउ जो तव सुत मारि॥४१॥

अरे दुष्ट! जो सेना-सहित तेरे अभिमान को मथकर, वन को उजाड़कर, नगर को जलाकर और तेरे पुत्र को मारकर चला गया, क्या वह हनुमान् बन्दर है?॥४१॥

चौ०—सुनु रावन परिहरि चतुराई। भजसि न कृपासिंधु रघुराई॥
जौं खल भयेसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही॥१॥

अरे रावण! सुन। तू चतुराई (चालाकी) छोड़कर दयासागर रामचन्द्रजी का भजन क्यों नहीं करता? अरे दुष्ट! जो तू रामचन्द्रजी का द्रोही हुआ है, तो तुझे ब्रह्मा और महादेवजी भी नहीं बचा सकते॥१॥

मूढ़ वृथा जनि मारसि गाला। रामबैर होइहि अस हाला॥
तव सिरनिकर कपिन्ह के आगे। परिहहिं धरनि रामसर लागे॥२॥

अरे मूर्ख! तू व्यर्थ गाल मत बजा। रामचन्द्रजी से वैर करने का यह हाल होगा कि उन के बाण लगकर तेरे मस्तकों के समूह बन्दरों के सामने जमीन पर गिरेंगे॥ २॥

ते तव सिर कंदुक इव नाना। खेलिहहिं भालु कीस चौगाना॥
जबहिं समर कोपिहिं रघुनायक। छुटिहहिं अति कराल बहु सायक॥३॥

तुम्हारे उन मस्तकों से रीछ और बन्दर मैदान में गेंदों के समान खेलेंगे। जब युद्ध में रामचन्द्रजी कोप करेंगे और अत्यन्त कराल बहुत से बाण छूटेंगे॥ ३॥

तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा। अस बिचारि भजु राम उदारा॥
सुनत बचन रावनु परजरा। जरत महानल जनु घृत परा॥४॥

क्या तब भी तू इसी तरह शेखी मारेगा? इसलिए ऐसा सोचकर उदार रामचन्द्रजी का भजन कर। अङ्गद के इन वचनों को सुनते ही रावण इस तरह जल उठा, मानों महाअग्नि की ज्वाला में घी गिर गया हो॥ ४॥

दो०—कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि।
मोर पराक्रम नहिं सुनेहि जितेउँ चराचर झारि॥४२॥

रावण ने कहा—मेरा कुम्भकर्ण ऐसा भाई और पुत्र प्रसिद्ध इन्द्र का शत्रु मेघनाद है। अभी तूने मेरा पराक्रम तो सुना ही नहीं, जिसने एक तरफ़ से सारा संसार जीत लिया॥ ४२॥

चौ०—सठ साखामृग जोरि सहाई। बाँधा सिंधु इहइ प्रभुताई॥
नाघहिं खग अनेक बारीसा। सूर न होहिं ते सुनु जड कीसा॥१॥

अरे दुष्ट! रामचन्द्र ने बन्दरों को सहायता के लिए इकट्ठा करके समुद्र पर पुल बाँध लिया। बस, यही उनकी प्रभुता है न? अरे मूर्ख, बन्दर! बहुत से पक्षी योंही समुद्र को लाँघ जाते हैं, इससे वे शूरवीर नहीं हो जाते॥ १॥

मम भुज-सागर बल-जल-पूरा। जहँ बूडे बहु सुर नर सूरा॥
बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा॥२॥

मेरे भुजारूपी समुद्र में बलरूपी जल का पूर (बाढ़) है। उसमें बहुत से देव, मनुष्य और शूरवीर डूब गये। ऐसे अथाह और अपार बीस समुद्र हैं। कौन ऐसा वीर है जो इनका पार पा जाय!॥ २॥

दिगपालन्ह मैं नीर भरावा। भूप सुजसु खल मोहि सुनावा॥
जौं पै समरसुभट तव नाथा। पुनि पुनि कहसि जासु गुनगाथा॥३॥

अरे दुष्ट! मैं दिक्पालों से तो अपना पानी भराता हूँ। एक राजा का सुयश तू मुझे सुनाने बैठा है! तू जिसके गुणों का बार बार वर्णन करता है, वह तेरा मालिक जो बड़ा रणवीर होता॥ ३॥

तौ बसीठ पठवत केहि काजा। रिपु सन प्रीति करत नहिँ लाजा॥
हर-गिरि-मथन निरखु मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू॥४॥

तो बसीठे (दूत) किसलिए भेजता? शत्रु से प्रीति करने में उसे लाज नहीं आती? अरे दुष्ट, बन्दर! तू पहले शिवजी के पर्वत (कैलास) को मथनेवाली मेरी भुजाओं को देख, फिर अपने स्वामी की बड़ाई कर॥ ४॥

दो०—सूर कवन रावन सरिस स्वकर काटि जेहि सीस।
हुने अनल महँ बार बहु हरषि साषि गौरीस॥४३॥

अरे! रावण के समान शूरवीर कौन हो सकता है, जिसने अपने हाथों से मस्तक काटकर अग्नि में अनेक बार प्रसन्नतापूर्वक हवन कर दिये, जिसके साक्षी महादेवजी हैं॥ ४३॥

चौ०—जरत बिलोकेउँ जबहिँ कपाला। बिधि के लिखे अंक निज भाला॥
नर के कर आपन बध बाँची। हँसेउँ जानि बिधिगिरा असाँची॥१॥

जब मैंने मस्तक जलते समय कपालों में अपने ललाट पर ब्रह्मा के लिखे हुए अङ्क देखे तब मैं मनुष्य के हाथ से अपना वध बाँचकर विधाता की वाणी झूठी जानकर हँसा था॥ १॥

सोउ मन समुझि त्रास नहिँ मोरे। लिखा बिरंचि जरठमति भोरे॥
आन बीरबल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे॥२॥

उस बात को भी समझकर मेरे मन में कुछ डर नहीं हुआ। मैंने सोचा कि ब्रह्मा ने बुढ़ापे का (सठियाई) बुद्धि से भूलकर ऐसा लिख दिया। अरे मूर्ख! तू मेरे सामने दूसरे वीर के बल का वर्णन बार बार, लाज और विश्वास को छोड़कर, कर रहा है॥ २॥

कह अंगद सलज्ज जग माहीँ। रावन तोहि समान कोउ नाहीँ॥
लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ॥३॥

अङ्गद ने कहा—अरे रावण! तेरे बराबर शर्मदार तो संसार में कोई नहीं है। शर्मिन्दा होना तो तेरा स्वभाव है, इसी से तू अपने मुँह से अपने गुण कभी नहीं कहता॥ ३॥

सिर अरु सैल कथा चित रही। ता तें बार बीस तैं कही॥
सो भुजबल राखेहु उर घाली। जीतेहु सहसबाहु बलि बाली॥४॥

मस्तक काटने को और कैलास उठाने की कथा तेरे चित्त में चढ़ी हुई थी, इसलिए वही तूने अनेक बार कही। और भुजाओं के उस बल को तो तूने हृदय में ही छिपा रक्खा, जिससे सहस्रबाहु, बलि राजा और बाली को तूने जीता था। अर्थात् वह समाचार क्यों नहीं कहता जिसमें तेरी दुर्दशा हुई थी!॥४॥

सुनु मतिमंद देहि अब पूरा। काटे सीस कि होइय सूरा॥
बाजीगर कहुँ कहिय न बीरा। काटइ निज कर सकल सरीरा॥५॥

अरे मन्दबुद्धि! सुन, अब तू उत्तर दे। क्या मस्तकों के काटने से कोई शूरवीर हो जाता है? जो होता हो तो इन्द्रजाल करनेवालों (बाज़ीगरों) को शूर वीर क्यों न कहा जाय? वे तो अपने हाथ से अपना सारा शरीर काट डालते हैं॥५॥

दो०—जरहिँ पतंग बिमोहबस भार बहहिँ खरबृंद।
ते नहिँ सूर कहावहिँ समुझि देखु मतिमंद॥४४॥

अरे मतिमन्द (गवाँर)! तू समझकर देख। पतङ्ग (पतिङ्गे) मोह के वश होकर जल जाते हैं और गदहों के झुंड खूब बोझा ढोते हैं पर वे शूर नहीं कहलाते॥४४॥

चौ०—अब जनि बतबढाव खल करही। सुनु मम बचन मान परिहरही॥
दसमुख मैं न बसीठी आयउँ। अस बिचारि रघुबीर पठायेउँ॥१॥

अरे दुष्ट! अब तू लम्बी चौड़ी बातें मत बढ़ा, तू अभिमान छोड़कर मेरा वचन सुन। अरे रावण! मैं बसीठी (दौत्यकर्म) करने नहीं आया हूँ। रघुवीरजी ने ऐसा विचारकर मुझे भेजा है॥१॥

बार बार असि कहइ कृपाला। नहिँ गजारि जस बधे सृगाला॥
मन महुँ समुझि बचन प्रभु केरे। सहेउँ कठोरबचन सठ तेरे॥२॥

कृपालु रामचन्द्रजी बार बार यही कहते हैं कि सिंह को सियार के मारने में यश नहीं मिलता। बस, स्वामी के इन्हीं वचनों को मन में समझकर हे दुष्ट! मैंने तेरे कठोर वचन सहन किये॥२॥

नाहिँ त करि मुखभंजन तोरा। लेइ जातेउँ सीतहिँ बरजोरा॥
जानेउँ तव बलु अधम सुरारी। सूने हरि आनेसि परनारी॥३॥

नहीं तो मैं तेरा मुँह तोड़कर ज़बरदस्ती सीताजी को ले जाता। अरे नीच, राक्षस! तेरा बल मैंने इसी से जान लिया कि तू सूने में (रामचन्द्रादिकों के न रहने पर) पर-स्त्री को चुरा लाया!॥ ३॥

तैं निसि-चर-पति गर्व बहूता। मैं रघु-पति-सेवक कर दूता॥
जौं न रामअपमानहिँ डरऊँ। तोहि देखत अस कौतुक करऊँ॥४॥

तू राक्षसों का राजा है, फिर तुझे घमण्ड भी बहुत है और मैं रामचन्द्रजी के सेवक (सुग्रीव) का दूत हूँ। जो मैं रामचन्द्रजी के अपमान से न डरूँ तो तेरे देखते देखते ऐसा खेल करूँ कि॥ ४॥

दो०—तोहि पटकि महि सेन हति चौपट करि तव गाउँ।
तव जुवतीन्ह समेत सठ जनकसुतहि लेइ जाउँ॥४५॥

अरे दुष्ट! तुझे ज़मीन पर पटककर, तेरी सेना को मारकर और तेरा गाँव चौपट (उजाड़) कर के तेरी युवतियों समेत जानकीजी को यहाँ से ले जाऊँ॥ ४५॥

चौ०—जौं अस करउँ तदपि न बड़ाई। मुयेहि बधे कछु नहिँ मनुसाई॥
कौल कामबस कृपिन बिमूढा। अति दरिद्र अजसी अति बूढा॥१॥

जो ऐसा करूँ तो भी कुछ बड़ाई नहीं है, क्योंकि मरे हुए को मारने में कोई पुरुषार्थ (बहादुरी) नहीं है। कौल (वाममार्गी, शराबी), कामी, कृपण (कंजूस), मूर्ख, महादरिद्री, अपयशी और बहुत बुड्ढा॥ १॥

सदा रोगबस संततक्रोधी। बिस्नुबिमुख स्रुति-संत-बिरोधी॥
तनुपोषक निंदक अघखानी। जीवत सवसम चौदह प्रानी॥२॥

सदा रोगी, सदा क्रोधी, विष्णु भगवान् से विमुख, वेद और सज्जनों का विरोधी, अपने ही शरीर को पुष्ट करनेवाला, दूसरे की निन्दा करनेवाला, पाप की खान—ये चौदह प्राणी जीते ही मुर्दे के बराबर हैं॥ २॥

अस बिचारि खल बधउँ न तोही। अब जनि रिस उपजावसि मोही॥
सुनि सकोप कह निसि-चर-नाथा। अधर दसन दसि मीँजत हाथा॥३॥

अरे दुष्ट! ऐसा सोचकर मैं तुझे नहीं मारता। अब तू मुझे क्रोध मत उत्पन्न करा। यह सुनकर रावण क्रोध में भरकर, दाँतों से ओठ काटता और हाथ मलता हुआ, कहने लगा—॥ ३॥

रे कपि अधम मरन अब चहसी। छोटे बदन बात बडि कहसी॥
कटु जल्पसि जड कपि बल जाके। बल प्रताप बुधि तेज न ताके॥४॥

अरे नीच बन्दर ! तू अब मरना चाहता है, क्योंकि छोटे मुँह बड़ी बात कहता है। अरे मूर्ख ! तू जिसके बल पर इतना कड़ुवा बोलता है उसके न तो बल है, न तेज और न बुद्धि हो ॥ ४ ॥

दो०—अगुन अमान बिचारि तेहि दीन्ह पिता बनबास ।
सो दुख अरु जुबतीबिरहु पुनि अनुदिन मम त्रास ॥४६॥

देख, उस (राम) को अगुण (जिसमें कुछ गुण न हो) और अमान (जिसका कोई प्रतिष्ठा न करे) समझकर उसके पिता ने वनवास दे दिया । उसे वह दुःख और स्त्री का वियोग, फिर मेरा डर प्रतिदिन है ॥ ४६ ॥

जिन्ह के बल कर गर्ब तोहि ऐसे मनुज अनेक ।
खाहिँ निसाचर दिवसनिसि मूढ समुझु तजि टेक ॥४७॥

अरे मूर्ख ! तू हठ छोड़कर समझ ले कि, तुझे जिनके बल का अभिमान है, ऐसे अनेक मनुष्यों को राक्षस रात दिन खाते रहते हैं ॥ ४७ ॥

चौ०—जब तेहि कीन्ह राम कइ निंदा। क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा ॥
हरि-हर-निंदा सुनइ जो काना। होइ पाप गो-घात-समाना ॥१॥

जब रावण ने रामचन्द्रजी की निन्दा की, तब अङ्गद बड़े क्रोध में भर गया । क्योंकि जो कोई विष्णु और महादेव की निन्दा कान से सुने उसे गौहत्या के बराबर पाप होता है ॥ १ ॥

कटकटान कपिकुंजर भारी। दुहुँ भुजदंड तमकि महि मारी ॥
डोलत धरनि सभासद खसे। चले भागि भय मारुत ग्रसे ॥२॥

वानर-श्रेष्ठ अङ्गद ज़ोर से कटकटाया और उसने तमक कर अपने दोनों भुजदंड ज़मीन पर ऐसे ज़ोर से मारे कि पृथ्वी डगमगाने लगी, सभासद् औंधे मुँह गिर पड़े। उनको भयरूपी वायु ने घेर लिया इसलिए वे वहाँ से भाग चले ॥ २ ॥

गिरत सँभारि उठा दसकंधर। भूतल परे मुकुट अतिसुंदर ॥
कछु तेहि लेइ निज सिरन्हि सँवारे। कछु अंगद प्रभुपास पबारे ॥३॥

रावण (सिंहासन से) गिरते गिरते सम्हलकर उठा, पर उसके अत्यन्त सुन्दर मुकुट पृथ्वी पर गिर पड़े। उनमें से कुछ मुकुट तो लेकर रावण ने अपने मस्तकों पर रख लिये और कुछ अङ्गद ने रामचन्द्रजी के पास फेंक दिये ॥ ३ ॥

आवत मुकुट देखि कपि भागे। दिनहीँ लूक परन बिधि लागे ॥
की रावन करि कोपु चलाये। कुलिस चारि आवत अतिधाये ॥४॥

उन मुकुटों को आते देखकर बन्दर भागे। वे कहने लगे कि हा विधाता! क्या दिन ही में उल्कापात (रात में तारे टूटते हैं) होने लगा! या रावण ने क्रोध करके चार वज्र चलाये हैं वे बड़े वेग से दौड़े चले आ रहे हैं॥ ४॥

प्रभु कह हँसि जनि हृदय डेराहू। लूक न असनि केतु नहिं राहू॥
ए किरीट दसकंधर केरे। आवत बालितनय के प्रेरे॥५॥

तब रामचन्द्रजी ने हँसकर कहा—डरो मत, ये न उल्का हैं, न वज्र हैं और न केतु या राहु ही हैं। ये तो रावण के किरीट हैं जो अङ्गद के फेंके हुए चले आ रहे हैं॥ ५॥

दो०—तरकि पवनसुत कर गहेउ आनि धरे प्रभुपास।
कौतुक देखहिं भालु कपि दिन-कर-सरिस प्रकास॥४८॥

हनुमान् ने कूदकर उनको हाथ से पकड़ लिया और प्रभु रामचन्द्रजी के पास लाकर रख दिया। सब रीछ और बन्दर उनका तमाशा देखने लगे। उनका प्रकाश सूर्य के समान था॥ ४८॥

उहाँ सकोप दसानन सब सन कहत रिसाइ।
धरहु कपिहि धरि मारहु सुनि अंगद मुसुकाइ॥४९॥

वहाँ (सभा में) रावण महा-क्रोधित हो, पर गुस्सा करके सबसे कहने लगा—अरे! इस बन्दर को पकड़ लो और पकड़कर मार डालो। यह सुनकर अङ्गद मुस्कुराने लगा॥ ४९॥

चौ०—एहि बिधि बेगि सुभट सब धावहु। खाहु भालु कपि जहँ तहँ पावहु॥
मरकटहीन करहु महि जाई। जिअत धरहु तापस दोउ भाई॥१॥

(रावण ने और भी कहा—) इसी तरह सब योद्धा जल्दी दौड़ो और जहाँ जहाँ रीछ और बन्दर मिलें वहाँ उन्हें मार कर खा जाओ। तुम लोग जाकर पृथ्वी को बिना बन्दरों की कर दो और दोनों तपस्वी भाइयों (राम-लक्ष्मण) को जीते ही पकड़ लो॥ १॥

पुनि सकोप बोलेउ जुबराजा। गाल बजावत तोहि न लाजा॥
मरु गर काटि निलज कुलघाती। बल बिलोकि बिहरति नहिं छाती॥२॥

अङ्गद फिर गुस्से में भरकर बोला—तुझे गाल बजाने में शरम नहीं आती? अरे निर्लज्ज, कुल-घाती! तू अपना ही गला काटकर मर जा। अरे! (मेरा) बल देखकर तेरी छाती नहीं फट जाती॥ २॥

रे त्रियचोर कु-मारग-गामी। खल मलरासि मंदमति कामी॥
सन्निपाति जल्पसि दुर्बादा। भयेसि कालबस खल मनुजादा॥३॥

अरे स्त्री को चुरानेवाले, कुमार्गगामी, दुष्ट, पापों की राशि, मन्दबुद्धि, कामी! तुझे सन्निपात (त्रिदोष) हो गया है, इसी से तू दुष्ट वाक्य बकता है। अरे दुष्ट मनुष्यभक्षी! तू काल के वश हो गया है॥ ३॥

या को फलु पावहुगे आगे। बानर-भालु-चपेटन्हि लागे॥
रामु मनुज बोलत असि बानी। गिरहिँ न तव रसना अभिमानी॥४॥
गिरिहहिँ रसना संसय नाहीं। सिरन्हि समेत समरमहि माहीं॥५॥

इस दुर्वाद (निन्दा) का फल आगे पाओगे, जब बन्दरों और रीछों के चपेटे लगेंगे। अरे अभिमानी! रामचन्द्र मनुष्य हैं ऐसी वाणी बोलते हो तेरी जीभें नहीं कटकर गिरतीं!॥ ४॥ ये जीभें मस्तकों-समेत युद्ध-भूमि के बीच में गिरेंगी, इसमें सन्देह नहीं है॥५॥

सो०—सो नर क्यों दसकंध बालि बधेउ जेहि एक सर।
बीसहु लोचन अंध धिग तव जनम कुजाति जड॥५०॥

रावण! जिन्होंने बाली को एक ही बाण से मार डाला वे मनुष्य क्योंकर हैं? अरे बीसों आँखों के अन्धे, नीच जाति, मूर्ख! तेरे जन्म को धिक्कार है॥ ५०॥

तव सोनित की प्यास तृषित राम-सायक-निकर।
तजउँ तोहि तेहि त्रास कटुजल्पक निसिचर अधम॥५१॥

रामचन्द्रजी के बाण-समूह तेरे रक्त के प्यासे हैं। अरे राक्षस, नीच! तू जो कड़ुवा बोलता है, इस पर मैं उसी त्रास से (राम-बाणों की प्यास मिटाने के लिए) तुझे छोड़ता हूँ॥ ५१॥

चौ०—मैं तव दसन तोरिबे लायक। आयसु मोहि न दीन्ह रघुनायक॥
अस रिसि होति दसउ मुख तोरउँ। लंका गहि समुद्र महँ बोरउँ॥१॥

मैं तेरे दाँत तोड़ने के लायक तो हूँ; पर क्या करूँ, मुझे रघुनाथजी ने आज्ञा नहीं दी है। मुझे ऐसा क्रोध आता है कि तेरे दशों मुँह तोड़ दूँ और लङ्का को ले कर समुद्र में डुबा दूँ॥ १॥

गूलर-फल-समान तव लंका । बसहु मध्य तुम्ह जन्तु असंका ॥
मैं बानर फल खात न बारा । आयसु दीन्ह न राम उदारा ॥२॥

तेरी लङ्का गूलर के फल के समान है और तुम राक्षस उसके भीतर गूलर के जीवों के समान निडर हुए बसते हो। मैं हूँ बन्दर, मुझे फल खाते देर ही नहीं लगती, पर क्या करूँ, उदार रामचन्द्रजी ने आज्ञा नहीं दी है ॥ २ ॥

जुगुति सुनत रावन मुसुकाई । मूढ़ सीखि कहँ बहुत झुठाई ॥
बालि न कबहुँ गाल अस मारा । मिलि तपसिन्ह तैं भयसि लबारा ॥३॥

ऐसी युक्ति सुनकर रावण मुस्कराकर बोला—अरे मूर्ख ! इतनी झूठी बातें बनाना तूने कहाँ सीखा ? बाली ने तो कभी ऐसा गाल नहीं मारा था। तू तपस्वियों से मिलकर लफङ्गा हो गया ॥ ३ ॥

साँचेहु मैं लबार भुजबीहा । जौं न उपारउँ तव दस जीहा ॥
समुझि रामप्रताप कपि कोपा । सभा माँझ पन करि पद रोपा ॥४॥

अङ्गद ने कहा—हे बीस भुजाओंवाले ! यदि तेरी दसों जीभें न उखाड़ डालूँ तो सचमुच लफङ्गा हूँ। अब अङ्गद ने क्रोधित होकर, रामचन्द्रजी के प्रताप[1] को समझकर, बीच सभा में प्रतिज्ञा कर अपना पाँव रोप दिया ॥ ४ ॥

जौं मम चरन सकसि सठ टारी । फिरहिं राम सीता मैं हारी ॥
सुनहु सुभट सब कह दससीसा । पद गहि धरनि पछारहु कीसा ॥५॥

उसने कहा—अरे दुष्ट ! जो तू मेरा पाँव हटा दे तो रामचन्द्रजी लौट जायँगे और मैं सीताजी को हार जाऊँगा[2]। यह सुनकर रावण ने कहा—हे शूर योद्धाओ ! सुनो, पाँव पकड़कर इस बन्दर को पछाड़ दो ॥ ५ ॥

१—राम-प्रताप जिसको सोचकर अङ्गद ने पाँव रोपा, वह था—"तृन तें कुलिस कुलिस तृन करई", "श्री रघुबीर-प्रताप तें, सिन्धु तरे पाषाण", "गरुअ सुमेरु रेनु सम ताही" इत्यादि।

२—इस चौपाई पर बहुत शङ्का-समाधान लोग करते हैं—(१) अङ्गद को क्या अधिकार था जो सीता को हार जाते ? सीता तो स्वामी की स्त्री थी और रावण की जीभ उखाड़ने और लङ्का उजाड़ने में तो 'रामचन्द्रजी की आज्ञा नहीं' ऐसा कहा और सीताजी हारने की आज्ञा अङ्गद को थी क्या ? उत्तर—पीछे की चौपाई में राम-प्रताप की दृढ़ता इसी लिए बतलाई है। अङ्गद को दृढ़ निश्चय था कि मेरा पाँव नहीं हटेगा। (२) अङ्गद रामचन्द्रजी का प्रतिनिधि होकर गया था, प्रतिनिधि को अधिकार होता है कि वह मालिक के सभी कार्य कर सके, इसलिए सीताजी हार जाने को कहा। (३) अपनी चीज़ पर स्वत्व होता है, अङ्गद ने सीताराम को अपनी चीज़ समझकर उनकी हार-जीत लगा दी। (४) अङ्गद ने कहा—(फिरहिं राम

इंद्र-जीत-आदिक बलवाना। हरषि उठे जहँ तहँ भट नाना॥
झपटहिँ करि बल बिपुल उपाई। पद न टरइ बैठहिँ सिरु नाई॥६॥

जहाँ तहाँ इन्द्रजित् आदि बलवान् अनेक योद्धा प्रसन्न हो होकर उठे। वे अङ्गद पर झपटते थे, खूब ताक़त लगाते थे और कई उपाय करते थे, पर जब वह पाँव नहीं हटता, तब सिर झुकाकर अलग जा बैठते॥ ६॥

पुनि उठि झपटहिँ सुरआराती। टरइ न कीसचरन एहि भाँती॥
पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोहबिटप नहिँ सकहिँ उपारी॥७॥

काकभुशुण्डजी कहते हैं—हे गरुड़जी! वे राक्षस फिर झपटकर उठते और बल करते थे पर अङ्गद का पाँव इस तरह नहीं उठता था जिस तरह कुयोगी मनुष्य मोहरूपी वृक्ष को नहीं उखाड़ सकता॥ ७॥

दो०—भूमि न छाडत कपिचरन देखत रिपुमद भाग।
कोटिबिघ्न तेँ संत कर मन जिमि नीति न त्याग॥५२॥

जिस तरह करोड़ों विघ्न होने पर भी सज्जन (सन्त) पुरुषों का मन नीति को नहीं छोड़ता, इसी तरह अङ्गद का पाँव पृथ्वी को नहीं छोड़ता था। यह देखकर शत्रु का घमण्ड जाता रहा॥ ५२॥

चौ०—कपिबलु देखि सकल हिय हारे। उठा आपु जुवराजु प्रचारे॥
गहत चरन कह बालिकुमारा। मम पद गहे न तोर उबारा॥१॥

इस तरह अङ्गद का बल देखकर सब राक्षस हृदय से हार गये, फिर अङ्गद के ललकारने पर रावण स्वयं उठा। पाँव पकड़ते ही उससे अङ्गद ने कहा—अरे भाइ! मेरा पाँव पकड़ने से तेरा उद्धार नहीं होगा[1]॥ १॥

सीता) रामचन्द्र और सीता तो फिरेंगे, मैं हार जाऊँगा अर्थात् मैं तुझसे न लड़ूँगा। (५) 'जो फिरहिँ राम सीता' अर्थात् मुझ पर जो रामचन्द्र और सीता फिर जायँ उनकी कृपा न रहे, तो मैं हारूँगा; अन्यथा तुम्हें चपेटूँगा। (६) अङ्गद अपनी प्रतिज्ञा की दृढ़ता कहता है कि—जो रामचन्द्रजी से सीताजी फिर जायँ अर्थात् सीताजी 'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा' अर्थात् जैसे सूर्य के साथ कान्ति नित्या है, वैसे मैं रामचन्द्रजी के साथ नित्या हूँ, इस वचन से डिग जायँ तो मैं हारूँगा। जो उनका वह नियम पक्का है, तो मेरा यह पदारोपण भी पक्का है। (७) ऋषियों से रावण-वध सुन रक्खा था; इसलिए अङ्गद ने कहा 'फिरहिँ राम, सीता, मैं,' इस लङ्का में मेरा पाँव जम गया; इसलिए इसमें मैं और राम-सीता फिरेंगे, तुम लोग हार जाओगे। इत्यादि।

१—यहाँ 'गहत चरण' के अर्थ कई प्रकार के हैं। एक तो पाँव पकड़ने पर अङ्गद ने उत्तर दिया। दूसरे कोई अर्थ करते हैं कि 'गहत' पाँव पकड़ने लगा, तभी अङ्गद ने कहा; अपना पाँव उसको छूने नहीं दिया।

गहसि न रामचरन सठ जाई। सुनत फिरा मन अति सकुचाई॥
भयउ तेजहत श्री सब गई। मध्यदिवस जिमि ससि सोहई॥२॥

अरे शठ! तू जाकर रामचन्द्रजी के चरण क्यों नहीं पकड़ता? यह सुनते ही मन में बहुत सकुचकर रावण लौट पड़ा। उसका तेज फीका पड़ गया, सब श्री (शोभा) चली गई। जिस तरह मध्याह्न में चन्द्रमा फीका होता है इस तरह रावण फीका पड़ गया॥ २॥

सिंहासन बैठेउ सिर नाई। मानहुँ संपति सकल गवाँई॥
जगदातमा प्रानपति रामा। तासु बिमुख किमि लह बिस्रामा॥३॥

वह माथा नीचा कर सिंहासन पर जा बैठा, मानो उसने अपनी सारी सम्पत्ति खो दी हो। रामचन्द्रजी जगत् के आत्मा, प्राणनाथ हैं, उनसे विमुख होने पर किसी को विश्राम कैसे मिल सकता है?॥ ३॥

उमा राम की भृकुटि बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा॥
तृन तेँ कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूतपन कहु किमि टरई॥४॥

महादेवजी कहते हैं कि हे पार्वती! रामचन्द्रजी के भृकुटी के घुमाने (भ्रूविलास) से संसार उत्पन्न हो जाता और फिर नष्ट हो जाता है तथा उसी से घास तो वज्र और वज्र घास बन जाता है,[१] भला उन रामचन्द्रजी के दूत का पण (प्रतिज्ञा) कैसे टल सकता है?॥ ४॥

पुनि कपि कही नीति बिधि नाना। मान न तासु काल नियराना॥
रिपुमद मथि प्रभु-सु-जस सुनायो। यह कहि चलेउ बालि-नृप-जायो॥

क्योंकि (१) रावण को एक राजा समझ रामचन्द्रजी के योग्य ही समझा, अपने योग्य नहीं। (२) यह सोचा कि जो रावण से भी पाँव न टला, तो संसार में लोग कहेंगे कि रावण से अङ्गद ही का पाँव नहीं टला था, उसको मारने में रामचन्द्रजी ने क्या बहादुरी की! (३) बाली का मित्र रावण पिता के समान है, यह जानकर उसे अपना पाँव छूने को मना किया। (४) भविष्य का विचार बाँधा कि शायद रावण पाँव न हटाने से शर्मिन्दा पड़कर सीताजी को लौटा दे तो रामचन्द्रजी विभीषण को राज्य कैसे देंगे; इत्यादि। पर यह सब वाग्विलास है।

१—घास का वज्र बनाया—जयन्त कौआ बनकर आया तब एक सींक वज्र हो गई। वज्र का घास बनाया—लङ्का में हनुमान् पर हज़ारों शस्त्रास्त्र बरसाये गये, आग लगाई गई, उनको तो 'हुताशनश्चन्दनबिन्दुशीतलः' था। वाल्मीकीय रामायण में—हनुमान्जी अग्नि की ज्वाला उठती देखकर पूँछ में शीतलता रहने पर सोचने लगे कि ऐसी प्रबल ज्वाला मुझे दाह क्यों नहीं पहुँचाती। अन्त में उन्होंने सीताजी के पातिव्रत और रामचन्द्रजी की कृपा ही को इसका कारण निश्चित किया।

अङ्गद ने फिर अनेक प्रकार की नीति रावण से कही, पर उसका तो काल निकट आ गया था, इसलिए उसने एक न मानी। राजा बाली के पुत्र[1] अङ्गद ने शत्रु के बल का उपमर्दन कर स्वामी का शुद्ध यश सुना दिया। फिर यह कहकर वह चला कि ॥ ५ ॥

हतउँ न खेत खेलाइ खेलाई। तोहि अबहिँ का करउँ बड़ाई ॥
प्रथमहिँ तासु तनय कपि मारा। सो सुनि रावन भयउ दुखारा ॥६॥
जातुधान अंगदपन देखी। भय-व्याकुल सब भये बिसेखी ॥७॥

रावण! तुझे रणक्षेत्र में खेला खेलाकर न मारूँ तो (समझना)—अभी अपनी क्या बड़ाई करूँ। (अर्थात् तभी मजा चखाऊँगा)। अङ्गद ने पहले ही रावण के पुत्र को मार डाला था, वह समाचार पाकर रावण बड़ा दुखी हुआ ॥ ६ ॥ सब राक्षस अङ्गद की प्रतिज्ञा को देखकर डर के मारे बहुत ही व्याकुल हुए ॥ ७ ॥

दो०—रिपुबल धरषि हरषि कपि बालितनय बलपुंज।
पुलकसरीर नयनजल गहे राम-पद-कंज ॥५३॥

बल के पुञ्ज बालिपुत्र अङ्गद ने शत्रु के बल का उपमर्दन कर प्रसन्न हो पुलकित शरीर, आँखों में आनन्दाश्रु भरे, आ रामचन्द्रजी के चरण पकड़े (वन्दन किया) ॥ ५३ ॥

साँझ जानि दसमौलि तब भवन गयउ बिलखाइ।
मंदोदरी निसाचरहि बहुरि कहा समुझाइ ॥५४॥

सायङ्काल का समय हुआ जानकर रावण विलाप करते करते घर गया। तब मन्दोदरी उस राक्षस को फिर समझाकर कहने लगी—॥ ५४ ॥

चौ०—कंत समुझि मन तजहु कुमतिही। सोह न समर तुम्हहिँ रघुपतिही ॥
रामानुज लघुरेख खँचाई। सोउ नहिँ नाँघेहु असि मनुसाई ॥१॥

हे कन्त (स्वामी)! तुम मन में समझकर दुष्ट बुद्धि का त्याग दो। तुममें और रामचन्द्रजी में लड़ाई अच्छी नहीं लगती। रामचन्द्रजी के छोटे भाई लक्ष्मण ने एक छोटी सी रेखा खींच दी थी, उसको भी तुम नहीं उल्लङ्घन कर सके, ऐसी तो तुम्हारी वीरता है[2] ॥ १ ॥

१—यहाँ राजा बाली कहने का तात्पर्य यह है कि अंगद में स्वाभाविक निपुणता थी, क्योंकि वह राजपुत्र था। इसी लिए रामचन्द्रजी ने सब भार इसी को सौंपा था।

२—पञ्चवटी में जब रामचन्द्रजी मारीच को मारने गये और उसने हा लक्ष्मण! पुकारा, तब सीताजी ने हठकर लक्ष्मणजी को रामचन्द्रजी की ख़बर लाने के लिए भेजा। जाते समय लक्ष्मणजी धनुष से एक रेखा खींच गये। जो सीताजी उसके बाहर न निकलतीं तो रावन हरण न कर सकता। भिक्षा देने के लिए रावण ने उस रेखा के बाहर उन्हें निकाला तब वह उनको हरण कर सका था। तभी से यह चाल चली आती है कि दरवाज़े पर भिक्षा देते समय देहली के बाहर निकलकर या याचक को भीतर बुलाकर भिक्षा न देनी चाहिए।

पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जा के दूत केर अस कामा॥
कौतुक सिंधु नाँघि तव लंका। आयउ कपिकेहरी असंका॥२॥

हे प्यारे! उसको तुम लड़ाई में जीतोगे, जिसके दूत के काम ऐसे हैं कि—खेल खेल में समुद्र को उल्लङ्घन कर वह वानर-सिंह (हनुमान) तुम्हारी लङ्का में निडर घुस आया॥२॥

रखवारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहि अच्छ तेहि मारा॥
जारि नगर सबु कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल गर्ब तुम्हारा॥३॥

उसने रक्षकों को मार, बगीचा उजाड़ दिया, तुम्हारे देखते देखते उसी ने अक्षयकुमार को मार डाला। सारा नगर जलाकर राख कर दिया। उस समय तुम्हारा बल और अभिमान कहाँ था?॥३॥

अब पति मृषा गाल जनि मारहु। मोर कहा कछु हृदय बिचारहु॥
पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अग जगनाथ अ-तुल-बल जानहु॥४॥

हे पति! अब तुम झूठमूठ का गाल न बजाओ, मेरा कहा हुआ कुछ हृदय में सोचो। हे पति! रघुनाथजी को (साधारण) राजा मत मानो, किन्तु उन्हें चराचर के स्वामी और अतुल-बलशाली जानो॥४॥

बानप्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिँ मानेहु नीचा॥
जनकसभा अगनित महिपाला। रहे तुम्हहुँ बल बिपुल बिसाला॥५॥

रामचन्द्रजी के बाण का प्रताप मारीच जानता था, पर तुम ऐसे नीच हो कि तुमने उसका कहा न माना। राजा जनक की सभा में असंख्य राजा इकट्ठे हुए थे, वहाँ विशाल बलवाले तुम भी तो थे॥५॥

भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥
सुर-पति-सुत जानइ बल थोरा। राखा जियत आँखि गहि फोरा॥६॥
सूपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहिँ लाज बिसेखी॥७॥

रामचन्द्रजी ने धनुष तोड़कर जानकीजी से ब्याह किया। उस समय तुमने संग्राम कर उनको क्यों नहीं जीता? उनका थोड़ा सा बल इन्द्र का पुत्र जयन्त जानता है जिसको उन्होंने काना करके जीता छोड़ दिया॥६॥ तुमने शूर्पणखा की दशा देख ली, तो भी तुम्हारे मन में विशेष लज्जा नहीं आई॥७॥

दो०—बधि बिराध खरदूखनहिँ लीला हतेउ कबंध ।
बालि एक सर मारेउ तेहि जानहु दसकंध ॥५५॥

जिसने विराध को मारा, खर-दूषण को मार डाला और लीलापूर्वक कबन्ध को मारा तथा बाली को एक ही बाण से मार डाला, हे रावण ! तुम उसको भली भाँति जानो ॥ ५५ ॥

चौ०—जेहि जलनाथ बँधायेउ हेला । उतरे सेन समेत सुबेला ॥
कारुनीक दिन-कर-कुल-केतू । दूत पठायउ तव हित हेतू ॥१॥

जिन्होंने खेल ही खेल में समुद्र को बंधवा दिया और जो सेना सहित सुवेलाचल पर आ उतरे, उन दयाशील, सूर्य-वंश के ध्वजरूप रामचन्द्रजी ने तुम्हारे हित के लिए दूत भेजा ॥ १ ॥

सभा माँझ जेहि तव बल मथा । करिबरूथ महँ मृगपति जथा ॥
अंगद हनुमत अनुचर जाके । रनबाँकुरे बीर अति बाँके ॥२॥

उस दूत ने बीच सभा में तुम्हारा बल इस तरह मथा, जैसे हाथियों के झुंड में सिंह घुसकर सबको डपट दे । हनुमान् और अङ्गद जैसे रण-शूर बड़े बाँके वीर जिनके दूत हैं ॥ २ ॥

तेहि कहुँ पिय पुनि पुनि नर कहहू । मुधा मान ममता मद बहहू ॥
अहह कंत कृत राम बिरोधा । कालबिबस मन उपज न बोधा ॥३॥

हे प्रिय ! उनको तुम बार बार मनुष्य कहते हो ? व्यर्थ अभिमान, ममता और मद रखते हो । हाय ! हाय !! हे कन्त ! तुम रामचन्द्रजी से विरोध कर रहे हो ! अतएव काल के अधीन हो जाने से तुम्हारे मन में कुछ ज्ञान उत्पन्न नहीं होता ॥ ३ ॥

कालु दंड गहि काहु न मारा । हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा ॥
निकट काल जेहि आवइ साईं । तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं ॥४॥

काल डंडा (लाठी) लेकर किसी को नहीं मारता । जब जिसका काल आता है तब वह उसके धर्म, बल, बुद्धि और विचार को हर लेता है । हे साईं ! जिसका काल निकट आ जाता है, उसको तुम्हारे ही जैसा भ्रम हो जाता है ॥ ४ ॥

दो०—दुइ सुत मारेउ दहेउ पुर अजहुँ पूर पिय देहु ।
कृपासिंधु रघुनाथ भजि नाथ बिमल जसु लेहु ॥५६॥

हे प्रिय ! तुम्हारे दो पुत्र मारे गये, नगर जलाया गया, अब भी पूर अर्थात् उत्तर दो अथवा 'पूर देहु' बस करो (इतना ही बस है) हे नाथ ! तुम दयासागर रघुनाथजी का भजन कर निर्मल यश लो ॥ ५६ ॥

चौ०—नारिबचन सुनि बिसिखसमाना। सभा गयउ उठि होत बिहाना ॥
बैठ जाइ सिंहासन फूली। अति अभिमान त्रास सब भूली॥१॥

रावण अपनी स्त्री के बाण समान वचनों को सुनकर, सवेरा होते ही उठकर, सभा में गया और सब डर की बातों को भूलकर बड़े अभिमान से फूलकर सिंहासन पर जा बैठा ॥ १ ॥

इहाँ राम अंगदहिँ बोलावा। आइ चरन-पंक-ज सिर नावा ॥
अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपाल खरारी ॥२॥

इधर रामचन्द्रजी ने अङ्गद को बुलाया। उसने आकर चरण-कमलों में प्रणाम किया। तब खर राक्षस के अरि, दयालु रामचन्द्रजी बड़े आदर से उसको पास बैठाकर हँसकर बोले—॥ २ ॥

बालितनय अतिकौतुक मोही। तात सत्य कहु पूछउँ तोही ॥
रावनु जातु-धान-कुल-टीका। भुजबल अतुल जासु जग लीका ॥३॥

हे बालिपुत्र! मुझे बड़ा कौतुक (विस्मय) है, इसलिए तुमसे पूछता हूँ; तुम सत्य कहो। रावण राक्षस-वंश का टीका (शिरोमणि) है। जिसकी भुजाओं का अतुल बल जगत् में विख्यात है ॥ ३ ॥

तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाये। कहहु तात कवनी बिधि पाये ॥
सुनु सर्वग्य प्र-नत-सुख-कारी। मुकुट न होहिँ भूपगुन चारी ॥४॥

उस रावण के चार मुकुट तुमने फेंके। हे तात! बतलाओ तो, वे मुकुट तुमको किस तरह मिले। अङ्गद ने कहा—हे सर्वज्ञ, भक्त-जन-सुखकारी! सुनिए। वे मुकुट नहीं, वे तो राजाओं के चार गुण हैं ॥ ४ ॥

साम दान अरु दंड बिभेदा। नृपउर बसहिँ नाथ कह बेदा ॥
नीतिधर्म के चरन सुहाये। अस जिय जानि नाथ पहिँ आये ॥५॥

हे नाथ! वेदों ने कहा है कि राजा के हृदय में साम, दान, दंड और भेद निवास करते हैं। ये चारों नीति-धर्म के चरण शोभित हैं। वे अपने जी में ऐसा जानकर स्वामी के पास आये हैं ॥ ५ ॥

दो०—धर्महीन प्रभु-पद-बिमुख कालबिबस दससीस।
तेहि परिहरि गुन आये सुनहु कोसलाधीस ॥५७॥

रावण धर्म से भ्रष्ट, स्वामी के चरणों से विमुख और काल के बस हो रहा है। इसलिए हे कोशलनाथ! वे गुण उसको छोड़कर चले आये हैं ॥ ५७ ॥

परमचतुरता श्रवन सुनि बिहँसे रामु उदार ।
समाचार पुनि सब कहे गढ के बालिकुमार ॥५८॥

उदार रामचन्द्रजी अङ्गद की अत्यन्त चतुराई कानों से सुनकर हँसे। फिर बालिपुत्र ने लङ्का गढ़ के सब समाचार कह सुनाये ॥ ५८ ॥

चौ०—रिपु के समाचार जब पाये। राम सचिव सब निकट बोलाये ॥
लंका बाँके चारि दुआरा। केहि बिधि लागिय करहु बिचारा॥१॥

जब रामचन्द्रजी ने शत्रु का समाचार पाया, तब सब मन्त्रियों को अपने पास बुलाया, और उनसे पूछा कि लङ्का के चारों दरवाज़े बाँके (टेढ़े, मज़बूत, जिनमें किसी की दाल न गले) हैं। उनमें किस तरह लगना अर्थात् उन पर किस तरह आक्रमण करना चाहिए, इस बात का विचार करो ॥ १ ॥

तब कपीस रिच्छेस बिभीषन। सुमिरि हृदय दिन-कर-कुल-भूषन ॥
करि बिचार तिन्ह मंत्र दृढावा। चारि अनी कपिकटकु बनावा ॥२॥

तब सुग्रीव, जाम्बवान् और विभीषण ने अपने हृदय में सूर्य-वंश-भूषण रामचन्द्रजी का स्मरण कर विचारकर सलाह पक्की की और वानरी दल की चार अनी (टोलियाँ) बनाईं ॥ २ ॥

जथाजोग सेनापति कीन्हे। जूथप सकल बोलि तब लीन्हे ॥
प्रभुप्रताप कहि सब समुझाये। पुनि कपि सिंहनाद करि धाये ॥३॥

और उनमें यथायोग्य सेनापति चुन लिये, फिर सब यूथपों (टोलियों के नायकों) को बुलवाया। उन सबको प्रभु रामचन्द्रजी का प्रताप वर्णन कर समझा दिया। वे वानर वह प्रभाव सुनकर सिंहनाद (गर्जना) करके दौड़े ॥ ३ ॥

हरषित रामचरन सिर नावहिँ। गहि गिरिसिखर बीर सब धावहिँ ॥
गर्जहिँ तर्जहिँ भालु कपीसा। जय रघुबीर कोसलाधीसा ॥४॥

सब वीर प्रसन्न हो होकर रामचन्द्रजी के सिर नवाते थे और पहाड़ों के शिखर हाथों में ले लेकर दौड़ते थे। वानर और रीछ ज़ोर से कोसलाधीश रघुवीर की जय बोलते हुए गर्जना करते और किलकारी मारते थे ॥ ४ ॥

जानत परमदुर्ग अति लंका। प्रभुप्रताप कपि चले असंका ॥
घटाटोप करि चहुँदिसि घेरी। मुखहिँ निसान बजावहिँ भेरी ॥५॥
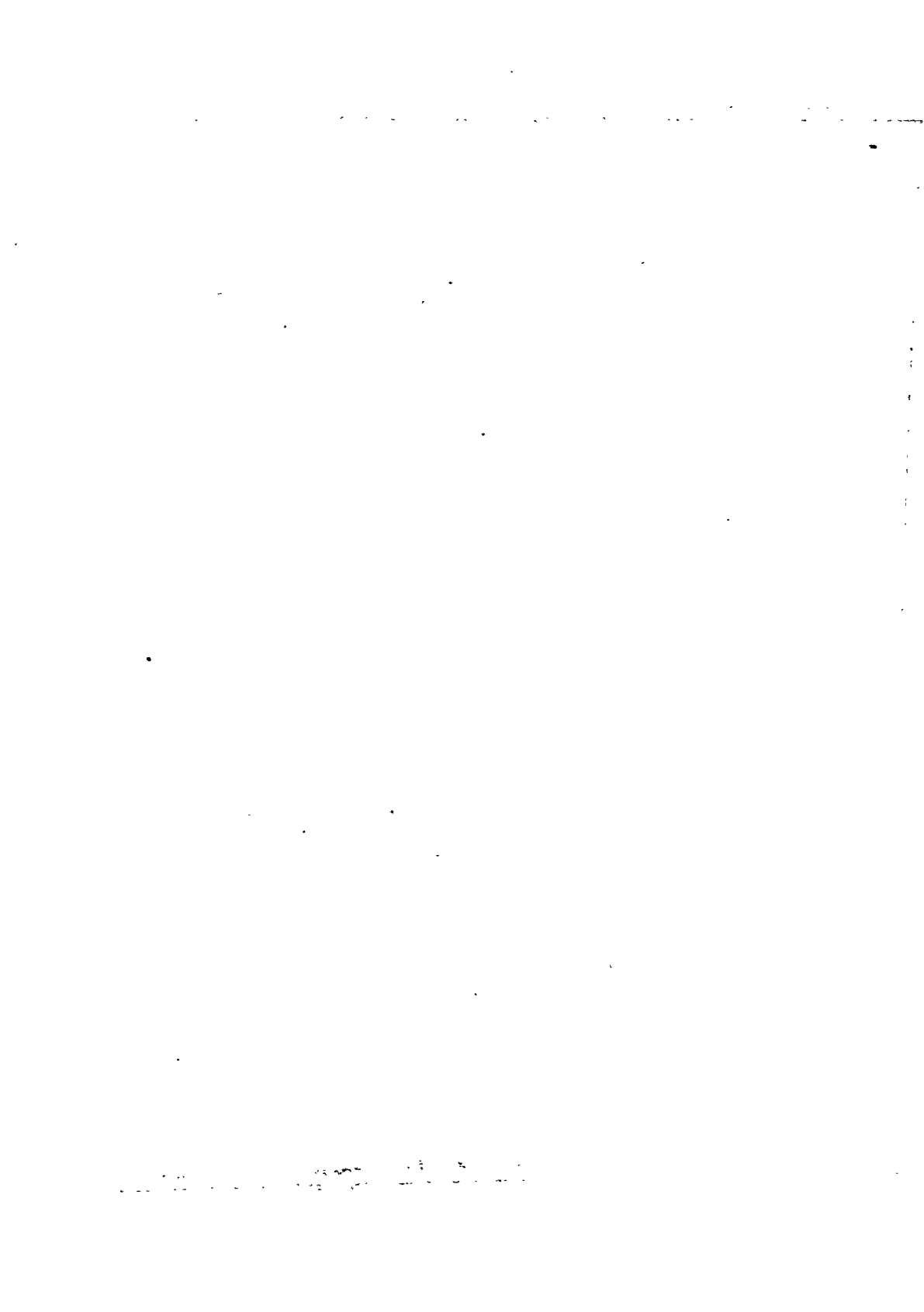
चले निसाचर आयसु माँगी । गहि कर भिंडिपाल बर साँगी ॥
तोमर मुद्गर परिघ प्रचंडा । सूल कृपान परसु गिरिखंडा ॥—पृ० ८६३

लङ्का को बड़ा मजबूत क़िला जानकर भी वे बन्दर, प्रभु के प्रताप से निडर होकर, उधर चल पड़े। उन्होंने घटाटोप कर लङ्का के चारों दिशाओं से घेर लिया और वे मुख ही से डंके और बाजे बजाने लगे अर्थात् मुँह से ही बाजों का काम लेने लगे ॥ ५ ॥

दो०—जयति राम जय लछिमन जय कपीस सुग्रीव ।
गर्जहिं केहरिनाद कपि भालु महा-बल-सींव ॥५९॥

श्रीरामचन्द्रजी की जय! लक्ष्मणजी की जय! वानरराज सुग्रीव की जय! इस तरह जय बोलते हुए, सिंह के समान शब्द कर, महान् बल की सीमा रीछ और बन्दर गर्जना करने लगे ॥ ५९ ॥

चौ०—लंका भयउ कोलाहल भारी। सुना दसानन अति अहँकारी ॥
देखहु बनरन्ह केरि ढिठाई। बिहँसि निसा-चर-सेन बोलाई ॥१॥

लङ्का में भारी कोलाहल मच गया। अत्यन्त अहङ्कारी रावण ने उसको सुना तो 'देखो तो बन्दरों की ढिठाई!' ऐसा कह हँसकर रावण ने अपनी सेना को बुलाया ॥ १ ॥

आये कीस काल के प्रेरे। छुधावंत सब निसिचर मेरे ॥
अस कहि अट्टहास सठ कीन्हा। गृह बैठे अहार बिधि दीन्हा ॥२॥

ये बन्दर काल की प्रेरणा से आये हैं, मेरे सब राक्षस भूखे हैं। इनको विधाता ने घर बैठे आहार दिया; ऐसा कहकर दुष्ट रावण ने अट्ट (खूब जोर से)-हास किया ॥ २ ॥

सुभट सकल चारिहु दिसि जाहू। धरि धरि भालु कीस सब खाहू ॥
उमा रावनहिं अस अभिमाना। जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना ॥३॥

हे शूर योद्धाओ! चारों दिशाओं में जाओ और सब रीछों और बन्दरों को पकड़ पकड़कर खा डालो। महादेवजी कहते हैं कि हे पार्वती! रावण को इस तरह का अभिमान था, जैसे उतान (चित्त) सोये हुए टिट्टिभ (टिटिहरी) पक्षी को होता है[1]! ॥ ३ ॥

चले निसाचर आयसु माँगी। गहि कर भिंडिपाल बर साँगी ॥
तोमर मुद्गर परिघ प्रचंडा। सूल कृपान परसु गिरिखंडा ॥४॥

वे राक्षस रावण से आज्ञा माँगकर और हाथों में भिंदिपाल, अच्छी साँग, तोमर, मुद्गर, परिघ, तीक्ष्ण त्रिशूल, तलवार, फरसा और पर्वतों के टुकड़े लेकर चल पड़े ॥ ४ ॥

१—यह पक्षी चित्त सोकर अभिमान करता है कि आकाश गिरेगा तो मैं अपने पैरों से उसे रोक लूँगा।

जिमि अरुनोपलनिकर निहारी । धावहिँ सठ खग मांसअहारी ॥
चोंच-भंग-दुख तिन्हहिँ न सूझा । तिमि धाये मनुजाद अबूझा ॥५॥

जैसे लाल पत्थरों के ढेर को देखकर दुष्ट मांसाहारी पक्षी (उनको मांस समझ कर) दौड़ पड़ें, और यह न समझें कि हमारी चोंचें टूट जायँगी, इसी तरह बिना समझे-बूझे वे राक्षस दौड़ पड़े ॥ ५ ॥

दो०—नानायुध सर-चाप-धर जातुधान बलबीर ।
कोटकँगूरनि चढ़ि गये कोटि कोटि रनधीर ॥६०॥

अनेक शस्त्रास्त्र, धनुष-बाण धारण किये हुए बलवान् वीर, रणधीर, करोड़ करोड़ राक्षस लङ्का के कोट के कँगूरों पर चढ़ गये ॥ ६० ॥

चौ०—कोटकँगूरन्हि सोहहिँ कैसे । मेरु के सृंगनि जनु घन बैसे ॥
बाजहिँ ढोल निसान जुझाऊ । सुनि धुनि होइ भटन्ह मन चाऊ ॥१

वे कोट के कंगूरों पर कैसे शोभित होते थ, मानो सुमेरु पर्वत के शिखरों पर बादल बैठे हों। (सुमेरु सोने का, लङ्का भी सोने की; बादल काले होते हैं वैसे ही राक्षस भी काले थे) युद्ध के बाजे ढोल निशान बजने लगे, जिनको सुनकर योद्धाओं के मन में शूरत्व फड़क उठता था ॥ १ ॥

बाजहिँ भेरि नफीरि अपारा । सुनि कादरउर जाहिँ दरारा ॥
देखिन्ह जाइ कपिन्ह के ठट्टा । अति बिसाल तनु भालु सुभट्टा ॥२॥

बहुत से नगारे, नफीरी बजने लगीं जिन्हें सुनकर कायरों की छातियाँ फट जायँ। राक्षसों ने बन्दरों के ठट्ट (झुण्ड) देखे जिनमें विशालकाय वीर रीछ थे ॥ २ ॥

धावहिँ गनहिँ न अवघट घाटा । पर्वत फोरि करहिँ गहि बाटा ॥
कटकटाहिँ कोटिन्ह भट गर्जहिँ । दसन ओठ काटहिँ अति तर्जहिँ ॥३॥

वे धावा करते थे, कठिन जगहों को कुछ नहीं गिनते थे, जहाँ रास्ता न होता, वहाँ वे पहाड़ों को फोड़कर रास्ता कर लेते थे, करोड़ों योद्धा कटकटाते और कूदते थे। वे दाँतों से ओठों को चबाते हुए गर्जते थे ॥ ३ ॥

उत रावन इत राम दोहाई । जयति जयति जय परी लराई ॥
निसिचर सिखरसमूह ढहावहिँ । कूदि धरहिँ कपि फेरि चलावहिँ ॥४॥

उधर रावण की और इधर रामचन्द्रजी की दुहाई फिरती थी। दोनों ओर से अपने अपने स्वामी की जय, जय, जय कहकर लड़ाई छिड़ गई। राक्षसगण पहाड़ों के शिखर ढहा देते थे, बन्दर कूदकर उन्हें पकड़ लेते थे और उन्हीं को फिर से फेंक कर मारते थे ॥ ४ ॥

छंद—धरि कु-धर-खंड प्रचंड मर्कट भालु गढ पर डारहीं।
झपटहिँ चरन गहि पटकि महि भजि चलत बहुरि प्रचारहीं॥
अति तरल तरुनप्रताप तर्जहिँ तमकि गढ चढि चढि गये।
कपि भालु चढि मंदिरन्हि जहँ तहँ रामजसु गावत भये॥

प्रबल रीछ और बन्दर पहाड़ों के टुकड़े पकड़कर गढ़ पर डालते थे, और झपट कर राक्षसों को पाँव पकड़कर पृथ्वी पर गिरा देते तथा भागने पर उनको फिर ललकारते थे। बड़े फुर्तीले जवान प्रतापी बन्दर और रीछ कूदकर लङ्का के गढ़ पर चढ़ गये और जहाँ तहाँ महलों में जाकर रामचन्द्रजी का यश गाने लगे॥

दो०—एक एक गहि निसिचर पुनि कपि चले पराइ।
ऊपर आपुनु हेठ भट गिरहिँ धरनि पर आइ॥६१॥

एक एक राक्षस को पकड़कर एक एक बन्दर भाग जाता और युक्ति से ऊपर तो आप हो जाता तथा नीचे राक्षस को करके पृथ्वी पर ऐसे गिर पड़ता जिसमें राक्षस चकनाचूर हो जाता॥ ६१॥

चौ०—राम-प्रताप-प्रबल कपिजूथा। मर्दहिँ निसि-चर-निकर-बरूथा॥
चढे दुर्ग पुनि जहँ तहँ बानर। जय रघु-बीर प्रताप-दिवाकर॥१॥

रामचन्द्रजी के प्रताप से प्रबल बन्दरों के झुण्ड राक्षस-समूहों की फ़ौज का मर्दन करते थे, और फिर क़िले पर जहाँ तहाँ चढ़ते तथा प्रताप के सूर्य रघुवीरजी की जय बोलते थे॥ १॥

चले तमी-चर-निकर पराई। प्रबल पवन जिमि घनसमुदाई॥
हाहाकार भयउ पुर भारी। रोवहिँ आरत बालक नारी॥२॥

जिस तरह तेज़ हवा चलने पर बादलों के दल बिखर जाते हैं, उस तरह उन बन्दरों और रीछों के मारे राक्षस-गण भाग चले। लङ्का नगरी में भारी हाहाकार मच गया। बालक और स्त्रियाँ दुखी होकर रोने लगीं (कि हम कहाँ जायँ और कैसे भागें?)॥ २॥

सब मिलि देहिँ रावनहिँ गारी। राजु करत एहि मृत्यु हँकारी॥
निजदल बिचल सुना जब काना। फेरि सुभट लंकेस रिसाना॥३॥

सब मिलकर रावण को गालियाँ देने लगे। वे कहने लगे कि देखो तो इसने राज्य करते हुए मृत्यु को बुलाया! जब रावण ने अपनी सेना का विचलित होना कान से सुना, तब उसने वीरों को लौटाकर क्रोध किया॥ ३॥

जो रन बिमुख फिरा मैं जाना। सो मैं हतब करालकृपाना॥
सरबसु खाइ भोग करि नाना। समर भूमि भय दुर्लभ प्राना॥४॥

उसने कहा कि रण से जिसके मुँह फेरकर लौटने की खबर पाऊँगा, उसको मैं कराल तलवार से मार डालूँगा। मेरा सर्वस्व खाकर, तरह तरह के सुख भोगकर, आज दिन रणभूमि में प्राण देना दुर्लभ हो गया है॥ ४॥

उग्र बचन सुनि सकल डेराने। फिरे क्रोध करि बीर लजाने॥
सनमुख मरन बीर कै सोभा। तब तिन्ह तजा प्रान कर लोभा॥५॥

ऐसे उग्र वचन सुनकर सब डरे। वे वीर शरमाकर क्रोधकर फिर युद्ध-भूमि को लौट पड़े। रण में सम्मुख मरने ही में वीरों की शोभा है, ऐसा जानकर राक्षसों ने प्राणों का लोभ छोड़ दिया अर्थात् मर जाने का निश्चय कर लिया॥ ५॥

दो०—बहु-आयुध-धर सुभट सब भिरहिं प्रचारि प्रचारि।
कीन्हे ब्याकुल भालु कपि परिघ त्रिसूलन्ह मारि॥६२॥

बहुत से शस्त्रों से सज्जित अच्छे वीर ललकार ललकारकर भिड़ने लगे। उन्होंने परिघों और त्रिशूलों से मार मारकर रीछों और बन्दरों को व्याकुल कर दिया॥ ६२॥

चौ०—भयआतुर कपि भागन लागे। जद्यपि उमा जीतिहहिं आगे॥
कोउ कह कहँ अंगद हनुमंता। कहँ नल नील दुबिद बलवंता॥१॥

शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती! यद्यपि आगे चलकर जीतेंगे तो भी इस समय तो बन्दर डर से घबराकर भागने लगे। कोई कहते थे, अङ्गद कहाँ हैं, हनुमान् कहाँ हैं, नल-नील कहाँ हैं, बलवान् द्विविद कहाँ हैं [इस तरह वे सब पुकारने लगे]॥ १॥

निज दल बिचल सुना हनुमाना। पच्छिमद्वार रहा बलवाना॥
मेघनाद तहँ करइ लराई। टूट न द्वार परम कठिनाई॥२॥

बलवान् हनुमान्‌जी ने सुना कि अपना दल विचलित हो गया। वे पश्चिम दरवाज़े पर थे। वहाँ मेघनाद लड़ाई कर रहा था। दरवाजा टूटता नहीं था, बड़ी कठिनता हो रही थी॥ २॥

पवन-तनय-मन भा अति क्रोधा। गर्जेउ प्रबल-काल-सम जोधा॥
कूदि लंकगढ ऊपर आवा। गहि गिरि मेघनाद कहुँ धावा॥३॥

वायु-पुत्र के मन में बड़ा क्रोध हुआ। योधा हनुमान् प्रबल काल के समान गर्जे और कूदकर लङ्का गढ़ के ऊपर पहुँचे। और उन्होंने हाथ में एक पहाड़ लेकर मेघनाद पर धावा किया॥ ३॥

भंजेउ रथ सारथी निपाता । ताहि हृदय महुँ मारेसि लाता ॥
दुसरे सूत बिकल तेहि जाना । स्यंदन घालि तुरत गृह आना ॥४॥

उन्होंने उसका रथ तोड़ दिया, सारथि को मार डाला, और मेघनाद की छाती में लात मारी। तब उसको बेहोश जानकर दूसरा सारथि तुरन्त दूसरे रथ में डालकर उसे घर ले गया ॥ ४ ॥

दो०—अंगद सुनेउ कि पवनसुत गढ पर गयउ अकेल ।
समरबाँकुरा बालिसुत तरकि चढेउ कपिखेल ॥६३॥

अङ्गद ने सुना कि वायु-पुत्र अकेले ही गढ़ पर गये हैं, तब रणवीर बाँका अङ्गद खेल के साथ कूदकर गढ़ पर चढ़ गया ॥ ६३ ॥

चौ०—जुद्धबिरुद्ध क्रुद्ध दोउ बानर । रामप्रताप सुमिरि उर अंतर ॥
रावनभवन चढे दोउ धाई । करहिँ कोसलाधीस दोहाई ॥१॥

युद्ध में चतुर वे दोनों बन्दर हृदय में रामचन्द्रजी के प्रताप को याद करके दौड़कर रावण के महल पर चढ़ गये और कोशलाधीश रामचन्द्रजी की दुहाई देने लगे ॥ १ ॥

कलससहित गहि भवन ढहावा । देखि निसा-चर-पति भय पावा ॥
नारिबृंद कर पीटहिँ छाती । अब दुइ कपि आये उतपाती ॥२॥

उन्होंने कलश-सहित महल को पकड़ पकड़कर गिरा दिया। यह देखकर रावण डर गया। स्त्रियाँ हाथों से छाती पीटने लगीं कि—हाय! अब उत्पात करनेवाले दो बन्दर फिर आ पहुँचे! ॥ २ ॥

कपिलीला करि तिन्हहिँ डेरावहिँ । रामचंद्र कर सुजस सुनावहिँ ॥
पुनि कर गहि कंचन के खंभा । कहेन्हि करिय उतपात अरंभा ॥३॥

वे दोनों, वानरी चेष्टा (खेल) कर, उन स्त्रियों को डराने लगे और उन्हें रामचन्द्रजी का शुभ यश सुनाने लगे। फिर सोने के खम्भे हाथों में पकड़ कर (आपस में) बोले कि अब उत्पात आरम्भ करना चाहिए ॥ ३ ॥

कूदि परे रिपुकटक मँझारी । लागे मर्दइ भुजबल भारी ॥
काहुहि लात चपेटन्हि केहू । भजहु न रामहिँ सो फल लेहू ॥४॥

वे शत्रु-दल के बीच कूद पड़े और भुजाओं के भारी बल से शत्रुओं को पछाड़ने लगे। किसी को लातों से और किसी को चपेटों (थप्पड़ों) से मर्दन करने लगे। उन्होंने राक्षसों से कहा कि तुम राम-भजन नहीं करते उसका फल चखो ॥ ४ ॥

दो०—एक एक सों मर्दि करि तोरि चलावहिँ मुंड।
रावन आगे परहिँ ते जनु फूटहिँ दधिकुंड ॥६४॥

एक राक्षस को दूसरे से भिड़ाकर और मस्तक तोड़कर फेंक देते हैं। वे मस्तक रावण के सम्मुख जाकर ऐसे गिरते मानों दही के कूँड़े फूटे हैं ॥ ६४ ॥

चौ०—महा-महा-मुखिया जे पावहिँ। ते पद गहि प्रभु पास चलावहिँ ॥
कहहिँ बिभीषन तिन्ह के नामा। देहिँ रामु तिन्हहूँ निज धामा ॥१॥

जो बड़े बड़े मुख्य राक्षस मिल जाते, उनको टाँग पकड़ कर रामचन्द्रजी के पास फेंक देते हैं। विभीषण उनका नाम बताते, और रामचन्द्रजी उनको भी निज-धाम (वैकुण्ठ) देते हैं ॥१॥

खल मनुजाद द्विजामिषभोगी। पावहिँ गति जो जाँचत जोगी ॥
उमा रामु मृदुचित करुनाकर। बैरभाव सुमिरत मोहि निसिचर ॥२॥

जिस गति को बड़े बड़े योगी माँगते हैं उसको वे दुष्ट, मनुष्य-भोजी, ब्राह्मणों के मांस खानेवाले भी पा गये। महादेवजी कहते हैं कि हे पार्वती! रामचन्द्रजी कोमल-स्वभाव, दया की खान हैं। 'ये राक्षस मुझे वैर-भाव से स्मरण करते हैं' ॥ २ ॥

देहिँ परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी ॥
सुनि अस प्रभु न भजहिँ भ्रमत्यागी। नर मतिमन्द ते परम अभागी ॥३॥

यह बात जी में जानकर प्रभु उनको सद्गति देते थे। हे पार्वती! तुम्हीं कहो, ऐसा दयालु दूसरा कौन है? ऐसे प्रभु को सुनकर भी भ्रम छोड़कर जो उनका भजन नहीं करते, वे बुद्धि के मन्द और बड़े अभागी हैं ॥ ३ ॥

अंगद अरु हनुमंत प्रबेसा। कीन्ह दुर्ग अस कह अवधेसा ॥
लंका दोउ कपि सोहहिँ कैसे। मथहिँ सिंधु दुइ मंदर जैसे ॥४॥

अवधपति रामचन्द्रजी ने कहा कि अङ्गद और हनुमान् दोनों ने क़िले के भीतर प्रवेश किया। वे दोनों वानर लङ्का में कैसे शोभित होते थे? मानों दो मन्दराचल पर्वत समुद्र मथन कर रहे हों ॥ ४ ॥

दो०—भुजबल रिपुदल दलमलेउ देखि दिवस कर अंत।
कूदे जुगल प्रयास बिनु आये जहँ भगवंत ॥६५॥

वे दोनों वीर अपनी भुजाओं के बल से शत्रु के दल का मर्दन कर दिन का अंत (सायङ्काल) देख बिना परिश्रम कूद पड़े और जहाँ भगवान् रामचन्द्र थे वहाँ आ गये ॥६५॥

चौ०—प्रभु-पद-कमल सीस तिन्ह नाये। देखि सुभट रघु -पति-मन भाये॥
रामकृपा करि जुगल निहारे। भये बिगतस्रम परम सुखारे॥१॥

उन्होंने आकर प्रभु के चरणों में मस्तक नवाये। दोनों उत्तम योद्धाओं को देखकर रामचन्द्रजी प्रसन्न हुए। उन्होंने दोनों को कृपा-दृष्टि से देखा। इससे परिश्रम दूर होकर वे अत्यन्त सुखी हो गये॥ १॥

गये जानि अंगद हनुमाना। फिरे भालु मर्कट भट नाना॥
जातुधान प्रदोषबल पाई। धाये करि दस-सीस-दुहाई॥२॥

अङ्गद और हनुमान् का जाना समझकर रीछ और बन्दर भी लौट पड़े। उधर राक्षस प्रदोष काल[1] का बल पाकर रावण की दोहाई देते हुए दौड़ पड़े॥ २॥

निसि-चर-अनी देखि कपि फिरे। जहँ तहँ कटकटाइ भट भिरे॥
दोउ दल प्रबल प्रचारि प्रचारी। लरहिँ सुभट नहिँ मानत हारी॥३॥

राक्षसों की फ़ौज देखकर बन्दर वीर फिर लौट पड़े और जहाँ तहाँ कटकटाकर भिड़ गये। दोनों दलों के बलवान् योद्धा आपस में ललकार ललकार कर लड़ते थे, हार नहीं मानते थे॥ ३॥

महाबीर निसिचर सब कारे। नाना बरन बलीमुख भारे॥
सबल जुगलदल समबल जोधा। कौतुक करत लरत करि क्रोधा॥४॥

राक्षस बड़े वीर और काले थे और बन्दर विशाल तथा अनेक रंगों के थे। दोनों दल सबल थे और उनमें अपनी अपनी बराबरी के ताक़तवाले योद्धा खिलवाड़ करते हुए क्रोध में भरकर लड़ते थे॥ ४॥

प्राबिट - सरद - पयोद घनेरे। लरत मनहुँ मारुत के प्रेरे॥
अनिप अकंपन अरु अतिकाया। बिचलत सेन कीन्हि इन्ह माया॥५॥
भयउ निमिष महँ अति अँधियारा। बृष्टि होइ रुधिरोपलछारा॥६॥

वे ऐसे मालूम देते थे, मानों वायु की प्रेरणा पाकर वर्षा और शरद् ऋतु के बहुत से बादल लड़ रहे हों। अकंपन और अतिकाय दोनों राक्षसों के सेनापति थे। उन्होंने अपनी फ़ौज बिखरती देखकर राक्षसी माया रची॥ ५॥ एक पल भर में घोर अंधकार हो गया और रक्त, पत्थर और राख की वर्षा होने लगी॥ ६॥

१—संध्या के दो घड़ी दिन से दो घड़ी रात तक का समय प्रदोषकाल होता है। वह राक्षसी समय है। इसमें राक्षसों का बल बढ़ जाता है। हिरण्याक्ष आदि के युद्धों के संबंध में श्रीमद्भागवत आदि में इसका विवरण है।

दो०—देखि निबिड तम दसहुँ दिसि कपिदल भयउ खभार ।
एकहिँ एक न देखहिँ जहँ तहँ करहिँ पुकार ॥६६॥

दसों दिशाओं में घोर अँधेरा देखकर वानर-दल में खलबलो मच गई। वे एक दूसरे को नहीं देखते थे, इसलिए जहाँ तहाँ पुकारते थे ॥ ६६ ॥

चौ०—सकल मरम रघुनायक जाना। लिये बोलि अंगद हनुमाना ॥
समाचार सब कहि समुझाये। सुनत कोपि कपिकुंजर धाये ॥१॥

रामचन्द्रजी ने यह सब भेद जान लिया। उन्होंने अङ्गद और हनुमान् को बुला लिया और उनको सब समाचार कहकर समझा दिया। सुनते ही वे दोनों बलवान् कपि क्रोध-कर दौड़े ॥ १ ॥

पुनि कृपाल हँसि चाप चढावा। पावकसायक सपदि चलावा ॥
भयउ प्रकास कतहुँ तम नाहीँ। ग्यानउदय जिमि संसय जाहीँ ॥२॥

फिर दयालु रामचन्द्रजो ने हँसकर धनुष चढ़ाया और तत्काल अग्निबाण चलाया। उसी समय प्रकाश हो गया; कहीं अँधेरा नहीं रहा, जैसे ज्ञान का उदय होने पर संशय नहीं रहते ॥ २ ॥

भालु बलीमुख पाइ प्रकासा। धाये हरषि बि-गत-स्रम-त्रासा ॥
हनूमान अंगदु रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे ॥३॥

रीछ और बन्दर उजेला पाकर प्रसन्न हो, बिना थकावट और डर के दौड़े। हनुमान् और अङ्गद ने युद्ध में गर्जना की। उनकी हाँक सुनते ही राक्षस भाग खड़े हुए ॥ ३ ॥

भागत भट पटकहिँ धरि धरनी। करहिँ भालु कपि अदभुत करनी ॥
गहि पद डारहिँ सागर माहीँ। मकर उरग झष धरि धरि खाहीँ ॥४॥

रीछ और बन्दर आश्चर्यकारी करतब करते थे। वे भागते हुए योद्धाओं को पकड़ कर पृथ्वी पर गिरा देते थे और बहुतेरों को टाँगें पकड़ पकड़ समुद्र में फेंक देते थे। उनका मगर, साँप, मच्छ पकड़ पकड़ खा जाते थे ॥ ४ ॥

दो०—कछु मारे कछु घायल कछु गढ चले पराइ ।
गर्जहिँ मर्कट भालु भट रिपु-दल-बल बिचलाइ ॥६७॥

कुछ मारे गये, कुछ घायल हुए और कुछ दौड़कर लङ्का गढ़ को भाग चले। यों शत्रु-दल की सेना को विचलित कर बन्दर और रीछ योद्धा गर्जना करने लगे ॥ ६७ ॥

चौ०—निसा जानि कपि-चारिउ-अनी। आये जहाँ कोसलाधनी॥
राम कृपा करि चितवा जबहीं। भये बिगतस्रम बानर तबहीं॥१॥

चारों फ़ौजों के बन्दर रात समझ कर वहाँ आ गये जहाँ कोशलनाथ रामचन्द्रजी थे। ज्योंही रामचन्द्रजी ने कृपापूर्वक उनकी ओर देखा, त्योंही उनकी सारी थकावट दूर हो गई॥ १॥

उहाँ दसानन सचिव हँकारे। सब सन कहेसि सुभट जे मारे॥
आधा कटकु कपिन्ह संहारा। कहहु बेगि का करिय बिचारा॥२॥

वहाँ रावण ने मन्त्रियों को बुलाया और जो अच्छे अच्छे योद्धा मारे गये थे उनको उन्हें बतला दिया। फिर कहा कि बन्दरों ने आधी सेना तो मार डाली, अब जल्दी बतलाओ क्या विचार किया जाय॥ २॥

माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन-मातु-पिता मंत्री-बर॥
बोला बचन नीति अति पावन। सुनहु तात कछु मोर सिखावन॥३॥

माल्यवान् राक्षस बहुत ही बुड्ढा था। वह रावण की माता के पिता (नाना) का श्रेष्ठ मन्त्री था। वह अति पवित्र नीति के वचन बोला—हे तात! तुम कुछ मेरी सीख सुनो॥ ३॥

जब तें तुम्ह सीता हरि आनी। असगुन होहिं न जाहिं बखानी॥
बेद पुरान जासु जसु गावा। रामबिमुख सुख काहु न पावा॥४॥

तुम जब से सीता को हर लाये हो तब से असगुन होते हैं, जो कहते नहीं बनते। जिनका यश वेद और पुराणों ने गाया है उन रामचन्द्रजी से विमुख होनेवाले किसी ने भी सुख नहीं पाया॥ ४॥

दो०—हिरन्याच्छ भ्रातासहित मधुकैटभ बलवान।
जेहि मारे सोइ अवतरेउ कृपासिंधु भगवान॥६८॥

हिरण्याक्ष को भाई (हिरण्यकशिपु) समेत और बलवान् मधु तथा कैटभ दैत्यों को जिसने मारा था, उन्हीं दयासागर भगवान् (राम) ने अवतार लिया है॥ ६८॥

कालरूप खल-बन-दहन गुनागार घनबोध।
सिव बिरंचि जेहि सेवहिं तासों कवन बिरोध॥६९॥

जो काल-स्वरूप हैं, दुष्टरूपी वन के लिए भस्म करनेवाले अग्नि, गुणों के स्थान, पूर्ण ज्ञानवान् हैं और ब्रह्मा और शिवजी जिनकी सेवा करते हैं, उनसे विरोध कैसा?॥ ६९॥

चौ०—परिहरि बैरु देहु बैदेही। भजहु कृपानिधि परम सनेही॥
ता के बचन बान सम लागे। करियामुख करि जाहि अभागे॥१॥

इसलिए तुम वैर छोड़कर जानकी दे दो और परम स्नेही दयासागर रामचन्द्रजी को भजो। उस (नीतिनिपुण) के वचन रावण को बाण के समान लगे। वह बोला—अरे अभागे! तू यहाँ से काला मुँह कर जा॥ १॥

बूढ भयसि न त मरतेउँ तोही। अब जनि नयन देखावसि मोही॥
तेहि अपने मन अस अनुमाना। बध्यो चहत यहि कृपानिधाना॥२॥

तू बुड्ढा हो गया है, नहीं तो मैं तुझे मार डालता। अब तू मेरी आँखों के सामने न आना। माल्यवान् ने अपने मन में ऐसा अनुमान किया कि इसको कृपानिधान रामचन्द्रजी मार डालना चाहते हैं॥ २॥

सो उठि गयेउ कहत दुर्बादा। तब सकोप बोलेउ घननादा॥
कौतुक प्रात देखियहु मोरा। करिहउँ बहुत कहउँ का थोरा॥३॥

माल्यवान् दुर्वाद (कटु वचन) कहता हुआ उठकर चला गया, तब मेघनाद क्रोध में भर कर बोला—सबेरे मेरा तमाशा देख लेना, मैं थोड़ा कहकर क्या बतलाऊँ? ज्यादा करके ही बतलाऊँगा॥ ३॥

सुनि सुतबचन भरोसा आवा। प्रीति समेत अंक बैठावा॥
करत बिचार भयउ भिनुसारा। लागे कपि पुनि चहूँ दुआरा॥४॥

पुत्र के वचन सुनकर रावण को विश्वास हुआ, और उसने बेटे को प्रेम के साथ गोद में बैठा लिया। विचार करते करते सबेरा हो गया और चारों दरवाजों पर फिर बन्दर जा डटे॥ ४॥

कोपि कपिन्ह दुरघट गढ घेरा। नगर कोलाहल भयउ घनेरा॥
बिबिधायुधधर निसिचर धाये। गढ तें पर्बतसिखर ढहाये॥५॥

बन्दरों ने क्रोधित होकर दुर्घट (कठिन) गढ़ को घेर लिया। नगर में बड़ा कोलाहल (हल्ला-गुल्ला) मच गया। अनेक शस्त्रास्त्र धारण कर राक्षस दौड़े। उन्होंने गढ़ के ऊपर से पर्वतों के शिखर ढहाये॥ ५॥

छंद—ढाहे महीधर-सिखर कोटिन्ह बिबिध बिधि गोला चले।
घहरात जिमि पबिपात गर्जत जनु प्रलय के बादले॥
मर्कट बिकट भट जुटत कटत न लटत तन जर्जर भये।
गहि सैल तेइ गढ पर चलावहिं जहँ सो तहँ निसिचर हये॥

राक्षसों ने करोड़ों पर्वतों के शिखर ढहा दिये। तरह तरह से गोले चले। वे गोले वज्रपात के समान घहराते थे और प्रलयकाल के बादल से गरजते थे। विकट योद्धा बन्दर जुट जाते थे, कटते थे और शरीर के जर्जर (छार छार) हो जाने पर भी पीछे न हटते थे। वे उन्हीं राक्षसों के ढहाये हुए पहाड़ों को पकड़कर गढ़ पर फेंक देते थे जिनसे राक्षस जहाँ के तहाँ मर जाते थे॥

दो०—मेघनाद सुनि स्रवन अस गढ़ पुनि छेँका आइ।
उतरि दुर्ग तें बीरबर सनमुख चलेउ बजाइ॥७०॥

बन्दरों ने फिर आकर क़िला घेर लिया है, यह समाचार जब मेघनाद ने कानों से सुना तब वह वीर-श्रेष्ठ क़िले से उतर कर धौंसा (डङ्का) बजाकर उनके सम्मुख चला॥ ७०॥

चौ०—कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल-लोक-बिख्याता॥
कहँ नल नील द्विबिद सुग्रीवा। अंगद हनूमंत बलसींवा॥१॥

उसने कहा—सारे लोक में प्रसिद्ध धनुर्धर कोसलनाथ दोनों भाई कहाँ हैं? नल कहाँ है, नील कहाँ है, द्विविद और सुग्रीव कहाँ हैं? बल की सीमा अङ्गद और हनुमान् कहाँ हैं?॥ १॥

कहाँ बिभीषनु भ्राताद्रोही। आजु सठहि हठि मारउँ ओही॥
अस कहि कठिन बान संधाने। अतिसय कोपि स्रवन लगि ताने॥२॥

भाई से शत्रुता करनेवाला विभीषण कहाँ है? आज उस दुष्ट को तो मैं हठ-पूर्वक मारूँगा। ऐसा कहकर उसने कठोर बाणों का सन्धान किया और अत्यन्त क्रोध करके उनको कानों तक ताना॥ २॥

सरसमूह सो छाँड़इ लागा। जनु सपच्छ धावहिँ बहु नागा॥
जहँ तहँ परत देखियहि बानर। सनमुख होइ न सके तेहि अवसर॥३॥

वह बाणों के समूह छोड़ने लगा। वे ऐसे चले मानों पङ्ख-समेत बहुत से साँप दौड़ते हों। जिधर तिधर बन्दर गिरते हुए दीखते थे। उस समय कोई सम्मुख नहीं हो सकता था॥ ३॥

जहँ तहँ भागि चले कपि रिच्छा। बिसरी सबहिँ युद्ध कै इच्छा॥
सो कपि भालु न रन महुँ देखा। कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेखा॥४॥

भय से व्याकुल होकर बन्दर और रीछ इधर-उधर भाग चले। सब युद्ध की इच्छा को भूल गये। उस रण भर में कोई बन्दर या रीछ ऐसा नहीं देखने में आता था, जिसे मेघनाद ने प्राणावशेष (जिसके प्राणमात्र बाक़ी रह गये हों) न कर दिया हो॥ ४॥

दो०—मारेसि दस दस बिसिख सब परे भूमि कपि बीर ।
सिंहनाद करि गर्जा मेघनाद बलधीर ॥७१॥

उसने सबको दस दस बाण मारे, जिससे वे वीर बन्दर ज़मीन पर गिर गये ; फिर बलवान् धीर मेघनाद सिंहनाद कर गरजा ॥ ७१ ॥

चौ०—देखि पवनसुत कटकु बिहाला । क्रोधवंत जनु धायउ काला ॥
महामहीधर तमकि उपारा । अति रिसि मेघनाद पर डारा ॥१॥

सेना को बेहाल हुई देखकर वायुपुत्र क्रोधित हो ऐसा दौड़ा, मानों (उन राक्षसों का) काल ही दौड़ा हो । उसने एक बड़ा भारी पहाड़ ज़ोर से उखाड़ लिया और बड़े क्रोध से उसे मेघनाद पर फेंक दिया ॥ १ ॥

आवत देखि गयउ नभ सोई । रथ सारथी तुरग सब खोई ॥
बार बार प्रचार हनुमाना । निकट न आव मरमु सो जाना ॥२॥

उस पहाड़ को आते देखकर मेघनाद रथ, सारथि, घोड़े सब खोकर आकाश में चला गया । हनुमान ने उसको बार बार ललकारा, पर वह पास नहीं आया, क्योंकि वह मर्म को जानता था (कि मैं इससे न जीतूँगा) ॥ २ ॥

रघु-पति-निकट गयउ घननादा । नाना भाँति कहेसि दुर्बादा ॥
अस्त्र सस्त्र आयुध सब डारे । कौतुकहीं प्रभु काटि निवारे ॥३॥

अब मेघनाद रामचन्द्रजी के पास गया, और उसने उन्हें अनेक तरह के खोटे वचन कहे । उसने अनेक अस्त्र और शस्त्र चलाये, पर प्रभु रामचन्द्रजी ने वे सब खिलवाड़ ही में काटकर निवारण किये ॥ ३ ॥

देखि प्रताप मूढ़ खिसियाना । करै लाग माया बिधि नाना ॥
जिमि कोउ करै गरुड सन खेला । डरपावइ गहि स्वल्प सपेला ॥४॥

रघुनाथजी का ऐसा प्रताप देखकर वह मूर्ख खिसिया गया और अनेक तरह की माया रचने लगा; जैसे कोई गरुड़ के साथ खेल करे और छोटा सा साँप का बच्चा लेकर उससे उसे डरावे ॥ ४ ॥

दो०—जासु प्रबल-माया-बिबस सिव बिरंचि बड छोट ।
ताहि देखावइ निसिचर निज माया मतिखोट ॥७२॥

महादेव और ब्रह्मा तक छोटे बड़े सभी जिनको प्रबल माया के बस हो रहे हैं, उन भगवान् रामचन्द्रजी को वह दुष्टबुद्धि राक्षस अपनी माया दिखाने लगा ॥ ७२ ॥

चौ०—नभ चढि बरषइ बिपुल अँगारा। महि तेँ प्रकट होहिँ जलधारा॥
नाना भाँति पिसाच पिसाची। मारु काटु धुनि बोलहिँ नाची॥१॥

वह आकाश में चढ़कर वहाँ से बहुत से अङ्गारे बरसाने लगा, पृथ्वी से पानी की धारायें प्रकट होने लगीं;[1] तरह-तरह के पिशाच और पिशाचिनी मारो, काटो, की धुन लगा कर नाचने लगे॥ १॥

बिष्ठा पूय रुधिर कच हाडा। बरषइ कबहुँ उपल बहु छाडा॥
बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा। सूझ न आपन हाथु पसारा॥२॥

फिर वह विष्ठा, पीब, रक्त, बाल और हड्डियाँ बरसाने लगा; कभी बड़े बड़े पत्थर बरसाने लगा। फिर धूल बरसाकर उसने ऐसा अँधेरा कर दिया कि किसी को अपना हाथ फैलाया हुआ भी नहीं दीखता था॥ २॥

अकुलाने कपि माया देखें। सब कर मरनु बना एहि लेखें॥
कौतुक देखि राम मुसुकाने। भये सभीत सकल कपि जाने॥

इस राक्षसी माया को देखकर बन्दर घबरा गये और वे समझने लगे कि अब इस तरह सभी बन्दर मरे। यह कौतुक (खेल) देखकर रामचन्द्रजी मुसकुराये और उन्होंने सब बन्दरों को डरा हुआ जाना॥ ३॥

एक बान काटी सब माया। जिमि दिनकर हर तिमिर-निकाया॥
कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके। भये प्रबल रन रहहिँ न रोके॥४॥

जैसे सूर्य घोर अंधकार को नष्ट कर देता है, वैसे रामचन्द्रजी ने एक ही बाण से सब माया काट दी और बन्दरों तथा रीछों को कृपा-दृष्टि से देखा, जिससे वे ऐसे प्रबल हो गये कि रण में रोके नहीं रुकते थे॥ ४॥

दो०—आयसु माँगेउ राम पहिँ अंगदादि कपि साथ।
लछिमन चले सकोप अति बान सरासन हाथ॥७३॥

फिर लक्ष्मणजी ने हाथ में धनुष-बाण लेकर, क्रोध-युक्त हो, रामचन्द्रजी से आज्ञा माँगी और वे अङ्गदादि बन्दरों को साथ लेकर चले॥ ७३॥

चौ०—छत-ज-नयन उर बाहु बिसाला। हिम-गिरि-निभ तनु कछु एक लाला।
इहाँ दसानन सुभट पठाये। नाना सस्त्र अस्त्र गहि धाये॥१॥

१—जिसमें बन्दर आकाश में जायँ तो आग में जलें, पृथ्वी पर ठहरें तो पानी में डूबें। अथवा मेघनाद तो आकाश से आग बरसाता था और पृथ्वी पर रामचन्द्रजी जल की धारा प्रकट करते थे जिसमें वह बुझ जाय।

उनके नेत्र रक्त वर्ण हो रहे थे, वक्षःस्थल और भुजायें विशाल थीं। उनका शरीर हिमालय पर्वत का-सा गौर कुछ लाली लिये हुए था। इधर रावण ने वीर योद्धा भेजे। वे तरह तरह के शस्त्रास्त्र ले लेकर दौड़े ॥ १ ॥

भू-धर-नख-बिटपायुध-धारी। धाये कपि जय राम पुकारी ॥
भिरे सकल जोरिहि सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहि थोरी ॥२॥

उन्हें देखकर पहाड़, नख और वृक्षरूपी हथियारों के धारण करनेवाले बन्दर रामचन्द्रजी की जय बोलकर दौड़े। वे सब अपनी अपनी जोड़ी देखकर भिड़ गये। दोनों ओर जीतने की प्रबल इच्छा हो रही थी ॥ २ ॥

मुठिकन्ह लातन्ह दाँतन्ह काटहिँ। कपि जयसील मारि पुनि डाटहिँ ॥
मारु मारु धरु धरु धरु मारू। सीस तोरि गहि भुजा उपारू ॥३॥

जयशाली बन्दर मुक्कों से, लातों से, राक्षसों को मारते और दाँतों से काटते थे। वे मारकर ऊपर से डाँटते भी थे। "मारो, मारो, पकड़ो, पकड़ो, पकड़ो, मारो, सिर तोड़ दो, भुजा पकड़ कर उखाड़ लो" ॥ ३ ॥

असि रव पूरि रही नव खंडा। धावहिँ जहँ तहँ रुंड प्रचंडा ॥
देखहिँ कौतुक नभ सुरबृंदा। कबहुँक बिसमय कबहुँ अनंदा ॥४॥

इस तरह का शब्द नव खण्डों में छा रहा था। जहाँ तहाँ प्रचण्ड (डरावने) रुण्ड दौड़ते थे। देव-गण आकाश से तमाशा देखते थे। उन्हें कभी तो विस्मय और कभी आनन्द होता था, अर्थात् बन्दरों को घबराहट देखकर विस्मय और जीत देखकर प्रसन्नता होती थी ॥ ४ ॥

दो०—रुधिर गाड भरि भरि जमेउ ऊपर धूरि उड़ाइ।
जिमि अँगाररासिन्ह पर मृतकधूम रह छाइ ॥७४॥

रणभूमि में गड्ढों में खून भर भर कर जम गया था, फिर उस पर धूल उड़ उड़ कर जम गई। वह ऐसी दीखती थी मानों अङ्गारों की ढेरी पर राख छा रही हो ॥ ७४ ॥

चौ०-घायल बीर बिराजहिँ कैसे। कुसुमित किंसुक के तरु जैसे ॥
लछिमन मेघनाद दोउ जोधा। भिरहिँ परसपर करि अति क्रोधा ॥१॥

घायल योद्धा ऐसे शोभित होते थे, मानों फूले हुए पलाश (ढाँक) के वृक्ष हों। लक्ष्मण और मेघनाद दोनों योद्धा अत्यन्त क्रोध कर आपस में भिड़ते थे ॥ १॥

एकहिँ एक सकहिँ नहिँ जीती। निसिचर छल बल करइ अनीती ॥
क्रोधवंत तब भयउ अनंता। भंजेउ रथ सारथी तुरंता ॥२॥

वे एक दूसरे को जीत नहीं सकते थे। राक्षस मेघनाद छल-बल और अनीति करता था। तब लक्ष्मणजी क्रोधित हुए। उन्होंने तुरन्त मेघनाद का रथ तोड़ डाला और सारथि को भी मार डाला॥ २॥

नाना बिधि प्रहार कर सेषा। राच्छस भयउ प्रानअवसेषा॥
रावनसुत निज मन अनुमाना। संकट भयउ हरिहि मम प्राना॥३॥

शेष (लक्ष्मणजी) ने अनेक प्रकार के प्रहार किये जिनसे इन्द्रजित् राक्षस प्राणावशेष (मरे के बराबर निस्सत्त्व) हो गया। रावण के पुत्र इन्द्रजित् ने अपने मन में अनुमान किया कि अब मैं संकट में हूँ, ये मेरे प्राण ले लेंगे॥ ३॥

बीरघातिनी छाँडेसि साँगी। तेजपुंज लछिमनउर लागी॥
मुरुछा भई सक्ति के लागे। तब चलि गयउ निकट भय त्यागे॥४॥

यह सोचकर उसने वीरघातिनी (शूर वीर को मार डालनेवाली) शक्ति छोड़ी। वह तेजोराशि लक्ष्मणजी की छाती में जा लगी। शक्ति लगते ही लक्ष्मणजी को मूर्च्छा हो गई। तब इन्द्रजित् निर्भय होकर उनके पास चला गया॥ ४॥

दो०—मेघ-नाद-सम कोटि सत जोधा रहे उठाइ।
जगदाधार अनंत किमि उठइ चले खिसिआइ॥७५॥

एक मेघनाद ही क्या, उसके समान सौ करोड़ योद्धा लक्ष्मणजी को उठाने लगे, परन्तु जगत् के आधार शेषजी भला कैसे उठ सकते थे? तब सब खिसियाकर लौट पड़े॥ ७५॥

चौ०—सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारइ भुवन चारि दस आसू॥
सक संग्राम जीति को ताही। सेवहिँ सुर नर अग जग जाही॥१॥

शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती! जिनकी क्रोधरूप अग्नि चौदहों लोकों को (प्रलय-काल में) भस्म कर देती है और जिनकी सेवा देव, मनुष्य और स्थावर-जङ्गम करते हैं, उन शेषावतार को रण में कौन जीत सकता है?॥ १॥

यह कौतूहल जानइ सोई। जा पर कृपा राम कै होई॥
संध्या भई फिरी दोउ बाहिनीं। लगे सँभारन निज निज अनी॥२॥

इस खिलवाड़ को वही जानता है जिस पर रामचन्द्रजी की कृपा हो। संध्या हो जाने पर दोनों ओर की फौजें लौटीं, तब दोनों पक्ष अपनी अपनी फौज सम्हालने लगे॥ २॥

ब्यापक ब्रह्म अजित भुवनेस्वर। लछिमनु कहाँ बूझ करुनाकर॥
तब लगि लेइ आयउ हनुमाना। अनुज देखि प्रभु अति दुख माना॥३॥

जो परमात्मा रामचन्द्र व्यापक, ब्रह्म, अजित और लोकों के स्वामी हैं, वे दयासागर पूछने लगे कि लक्ष्मण कहाँ हैं। तब तक हनुमान्‌जी लक्ष्मणजी को लेकर आये। भाई को देख-कर प्रभु रामचन्द्रजी ने बड़ा दुःख माना॥ ३॥

जामवंत कह बैद सुषेना। लंका रह कोउ पठइय लेना॥
धरि लघुरूप गयउ हनुमंता। आनेउ भवनसमेत तुरंता॥४॥

जाम्बवान ने कहा—लङ्का में एक सुषेण वैद्य[1] रहते हैं, उनको लेने के लिए किसी को भेजना चाहिए। तब हनुमान्‌जी छोटा रूप[2] धरकर लङ्का में गये और बात की बात में वैद्य को घरसमेत उठा लाये॥ ४॥

दो०—रघु-पति-चरन-सरो-ज सिरु नायउ आइ सुषेन।
कहा नाम गिरि औषधी जाहु पवनसुत लेन॥७६॥

सुषेण ने आकर रघुनाथजी के चरण-कमलों में प्रणाम किया, और पर्वत तथा ओषधि का नाम बतला कर कहा कि हे वायु-पुत्र! तुम ओषधि लेने जाओ॥ ७६॥

चौ०—राम-चरन-सरसि-ज उर राखी। चलेउ प्रभंजनसुत बल भाखी॥
उहाँ दूत एक मरमु जनावा। रावनु काल-नेमि-गृह आवा॥१॥

तब हनुमान्‌जी अपना (यह कौन बड़ी बात है, मैं अभी लिये आता हूँ इत्यादि) बल[3] कह कर और रामचन्द्रजी के चरण-कमल हृदय में रखकर चले। उधर लङ्का में एक दूत ने जाकर यह भेद बतला दिया। उसी समय रावण कालनेमि के घर आया॥ १॥

१—वाल्मीकीय के अनुसार जाम्बवान् ने हनुमान् को ओषधि और पर्वत बतलाये थे। यहाँ सुषेण वैद्य के लङ्का-निवासी होने के कारण हनुमान्‌जी ने सोचा कि शायद जगाने पर यह चले या न चले, इसलिए अथवा चला भी तो वहाँ जाकर रोगी लक्ष्मण को देखकर कह दे कि ओषधि घर भूल आया हूँ, इससे वे उसको घर-समेत उठा लाये। वैद्य को शत्रु-मित्र पर समान दृष्टि रखनी चाहिए। वैद्यों का यह शास्त्रप्रसिद्ध लक्षण सभी जानते थे। तभी तो हनुमान्‌जी उनको बुला लाये और उन्होंने भी आकर यथार्थ निष्पक्षपात होकर ओषधि की व्यवस्था की। यह सुषेण वैद्य बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। सुषेण-संहिता इन्हीं की बनाई हुई है। अध्यात्मरामायण में रामचन्द्रजी ने ही पर्वत, ओषधि बतलाये हैं। कहीं कहीं सुषेण बन्दर ही को वैद्य कहा है।

२—छोटा रूप इसलिए कि पहचान लिये जाने पर लङ्का के राक्षसों से लड़ने-भिड़ने में, आवश्यक काम में, देरी न हो जाय। दूसरे एक वैद्य ही को लाना था, उसमें बड़े रूप की आवश्यकता नहीं थी।

३—बल-भाषी का बल गीतावलि में बतलाया है जैसे कि—"जो हौं तव अनुशासन पाऊँ। तौ चन्द्रमहि निचोड़ चेल जिमि आनि सुधा सिर नाऊँ। कै पाताल दलौं पादावलि अमृत कुंड महि ल्याऊँ। भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै ताऊँ। पटकौं मीच नीच मूषक जिमि सबको

दसमुख कहा मरमु तेहि सुना । पुनि पुनि कालनेमि सिरु धुना ॥
देखत तुम्हहिं नगरु जेहि जारा । तासु पंथ को रोकनिहारा ॥२॥

रावण ने कालनेमि से सब मर्म की बात कही। उसने सुनी और बारंबार अपना सिर पीटा। उसने कहा—अरे! जिसने तुम्हारे देखते देखते लङ्का नगर जला दिया (तुम कुछ न कर सके) उसका रास्ता रोकनेवाला कौन है ? ॥ २ ॥

भजि रघुपति करु हित आपना । छाडहु नाथ बृथा जलपना ॥
नील-कंज-तनु सुन्दर स्यामा । हृदय राखु लोचन अभिरामा ॥३॥

हे नाथ! आप रामचन्द्रजी का भजन कर अपना हित करो, व्यर्थ की कल्पना छोड़ दो। नेत्रों को आनन्द देनेवाली उनकी, नील कमल के समान, श्यामसुन्दर मूर्ति को अन्तःकरण में रखो॥ ३ ॥

अहंकार ममता मद त्यागू । महा-मोहनिसि सोवत जागू ॥
कालब्याल कर भच्छक जोई । सपनेहु समर कि जीतिय सोई ॥४॥

तुम अहङ्कार, ममता और मद को छोड़ दो; महामोह (अज्ञान) रूपी निद्रा में सोते से जागो। जो परमात्मा कालरूपी सर्प का भक्षण करनेवाला है, क्या उसे स्वप्न में भी लड़ाई में कोई जीत सकता है ? ॥ ४ ॥

दो०—सुनि दसकंध रिसान अति तेहि मन कीन्ह बिचार ।
राम-दूत-कर मरउँ बरु यह खल रत मलभार ॥७७॥

यह सुनकर रावण ने बड़ा क्रोध किया (अर्थात् कालनेमि को भय दिखाया कि जो यह कार्य न करेगा तो मैं तुझे मार डालूँगा), तब कालनेमि ने मन में विचार किया कि रामदूत के हाथ से मरना अच्छा है, यह दुष्ट तो पाप कर्म में अनुरक्त है (इसके हाथ से क्यों मरूँ ?) ॥७७॥

चौ०—अस कहि चला रचेसि मग माया । सर मंदिर बर बाग बनाया ॥
मारुतसुत देखा सुभ आस्रम । मुनिहि बूझि जलु पियउँ जाइ स्रम ॥१॥

ऐसा (मन में) कहकर कालनेमि चला और उसने रास्ते में माया की रचना से एक तालाब बनाया, उस पर एक सुन्दर मन्दिर और बगीचा बनाया। हनुमान्‌जी ने शुभ आश्रम देखकर सोचा कि कोई मुनि का आश्रम है, उनसे पूछकर जलपान कर लूँ तो थकावट दूर हो जाय॥ १ ॥

पाप बहाऊँ। तुम्हरी कृपा प्रताप तुम्हारे नेक विलम्ब न लाऊँ। दीजै सोई आयसु तुलसी प्रभु जो तुम्हरे मन भाऊँ ॥ इत्यादि।

राच्छस-कपट-बेष तहँ सोहा। माया-पति-दूतहि चह मोहा॥
जाइ पवनसुत नायेउ माथा। लाग सो कहइ रामु-गुन-गाथा॥२॥

वहाँ कपट वेष धारण किये कालनेमि राक्षस शोभित था। उसने माया के स्वामी रामचन्द्रजी के दूत को मोहित करना चाहा! हनुमानजी ने जाकर मुनि को मस्तक झुकाया। वह कपटी मुनि रामचन्द्रजी के गुण-गण वर्णन करने लगा—॥ २॥

होत महारन रावनरामहिं। जितिहहिँ राम न संसय या महिँ॥
इहाँ भये मैं देखउँ भाई। ग्यान-दृष्टि-बलु मोहि अधिकाई॥३॥

रावण और रामचन्द्रजी का घोर युद्ध हो रहा है। उसमें रामचन्द्रजी जीतेंगे, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। भाई! मुझे ज्ञानदृष्टि का अधिक बल है, इसलिए मैं यहीं से सब देख रहा हूँ॥ ३॥

माँगा जल तेहि दीन्ह कमंडल। कह कपि नहिँ अघाउँ थोरे जल॥
सर मज्जनु करि आतुर आवहु। दीछा देउँ ग्यान जेहि पावहु॥४॥

फिर हनुमानजी ने पीने को जल माँगा, तो उसने अपना कमण्डलु दिया। उन्होंने कहा, मैं थोड़े जल से तृप्त नहीं होऊँगा। उसने कहा कि तो तालाब पर तुम स्नान (जलपान) कर जल्दी आओ तो मैं दीक्षा दूँगा जिससे तुम्हें (वनस्पतियों का) ज्ञान हो जायगा॥ ४॥

दो०—सर पैठत कपि-पद गहा मकरी तब अकुलान।
मारी सो धरि दिब्यतनु चली गगन चढ़ि जान॥७८॥

तालाब में घुसते ही एक मकरी (मगर का स्त्री) ने अकुलाकर हनुमानजी का पाँव पकड़ लिया। तब हनुमानजी ने उसको मार डाला। वह दिव्य देह धारण कर विमान में चढ़ कर आकाश की ओर चली॥ ७८॥

चौ०—कपि तव दरस भइउँ निःपापा। मिटा तात मुनिवर कर सापा॥
मुनि न होइ यह निसिचर घोरा। मानहुँ सत्य बचन प्रभु मोरा॥१॥

"हे वानर! मैं आपके दर्शन से पापरहित हो गई, मुझे मुनीश्वर का जो शाप[1] था वह मिट गया। प्रभो! आप मेरा वचन सत्य मानें। यह मुनि नहीं, किन्तु घोर राक्षस है"॥ १॥

१—यह मकरी और कालनेमि दोनों पूर्वजन्म में अप्सरा और गन्धर्व थे। दोनों इन्द्र की सभा में गाया करते थे। एक बेर वहाँ दुर्वासा मुनि आये। उन्हें देखकर दोनों हँसे। इससे मुनि ने क्रुद्ध होकर दोनों को राक्षस होने का शाप दे दिया। फिर प्रार्थना करने पर दोनों के लङ्का में निवास करने और त्रेता में रामावतार के समय हनुमानजी के हाथ से उद्धार होने का वर दिया।

सर पैठत कपि-पद गहा मकरी तब अकुलान।
मारी सो धरि दिव्यतनु चली गगन चढि जान॥ पृ० ८८०
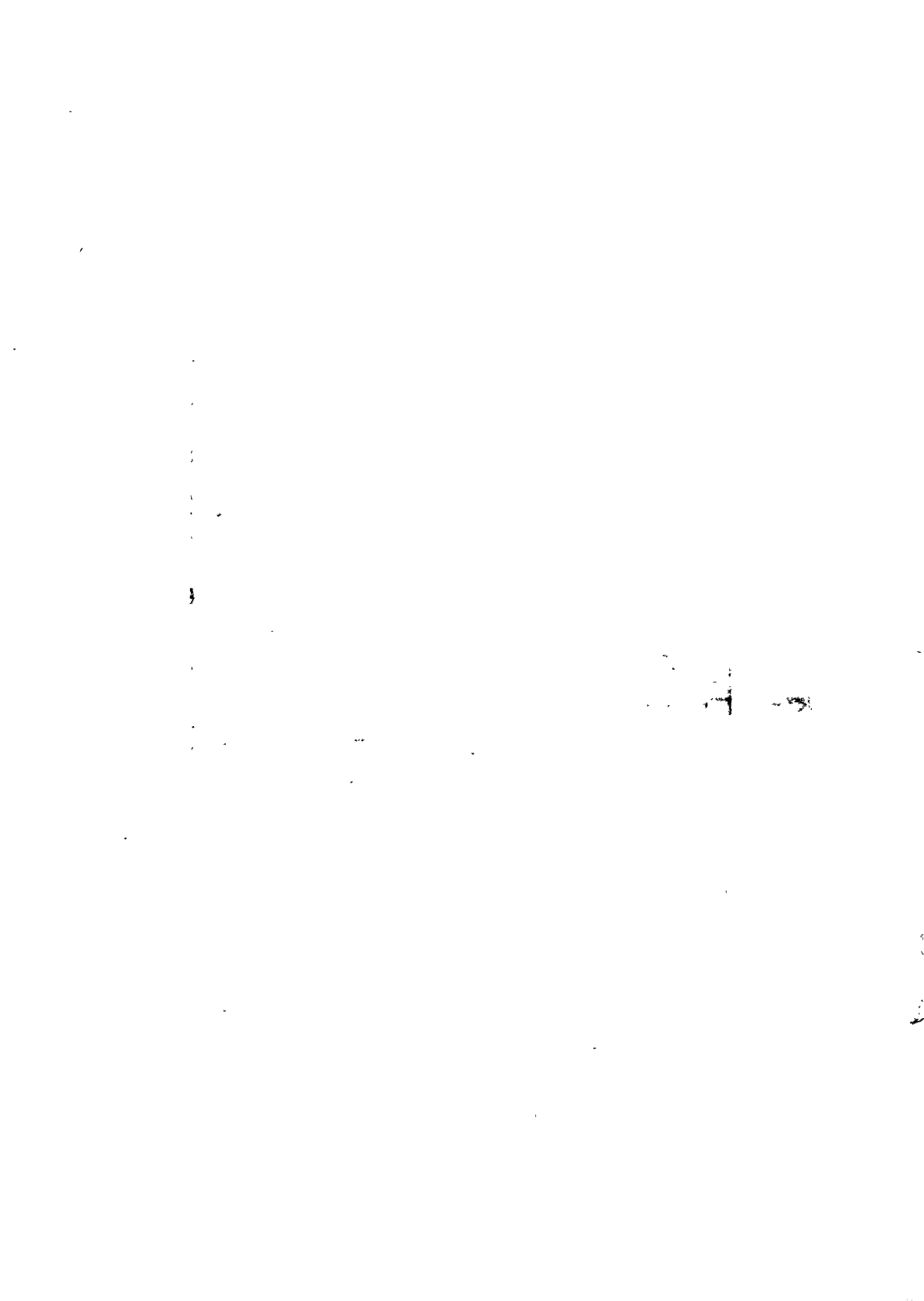
अस कहि गई अपछरा जबहीं। निसि-चर-निकट गयउ सो तबहीं॥
कह कपि मुनि गुरुदछिना लेहू। पाछे हमहि मंत्र तुम्ह देहू॥२॥

ऐसा कहकर वह अप्सरा ज्योंही वहाँ से चली गई, त्योंही हनुमान्‌जी उस कालनेमि राक्षस के पास पहुँचे। उससे उन्होंने कहा कि आप दीक्षा की गुरुदक्षिणा पहले ले लीजिए, फिर हमें मंत्र दीजिएगा॥ २॥

सिर लंगूर लपेटि पछारा। निज तनु प्रगटेसि मरती बारा॥
राम राम कहि छाडेसि प्राना। सुनि मन हरषि चलेउ हनुमाना॥३॥

बस, उस कालनेमि का मस्तक अपनी पूँछ में लपेट कर हनुमान्‌जी ने उसको पछाड़ दिया। राक्षस ने मरते समय अपना असली शरीर प्रकट किया। राम, राम, कहकर उसने प्राण छोड़े। यह सुनकर हनुमान्‌जी मन में प्रसन्न होकर आगे चले॥ ३॥

देखा सैल न औषध चीन्हा। सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा॥
गहि गिरि निसि नभ धावत भयऊ। अवध-पुरी ऊपर कपि गयऊ॥४॥

वहाँ जाकर उन्होंने पर्वत देखा, तो ओषधि नहीं पहचान पाये, तब हनुमान्‌जी ने एकदम उस पर्वत को उखाड़ लिया। पर्वत को लिये रात ही रात वे आकाशमार्ग से दौड़े, और अयोध्यापुरी के ऊपर पहुँचे॥ ४॥

दो०—देखा भरत बिसाल अति निसिचर मन अनुमानि।
बिनु फर सर तकि मारेउ चाप स्रवन लगि तानि॥७९॥

भरतजी ने उन्हें बड़ा विशाल देखकर अपने मन में अनुमान किया कि यह कोई राक्षस है। इससे उन्होंने कान तक धनुष को तानकर और निशाना ठीक लगाकर बिना फर का बाण मार दिया॥ ७९॥

चौ०—परेउ मुरछि महि लागत सायक। सुमिरत राम राम रघुनायक॥
सुनि प्रियबचन भरत उठि धाये। कपि समीप अति आतुर आये॥१॥

उस बाण के लगते ही मूर्च्छा खाकर हनुमान्‌जी राम, राम, रघुनायक का स्मरण करते हुए पृथ्वी पर गिर पड़े[1]। प्रिय वचन (रामनाम) सुनकर भरतजी उठ दौड़े और बड़ी फुर्ती से हनुमान्‌जी के पास आये॥ १॥

१—लोग शङ्का करते हैं कि हनुमान्‌जी गिरे तो पर्वत कहाँ चला गया। इस पर तुलसीदासजी के अन्यत्र के लेख से मिलता है कि पर्वत को वायु ने धारण किया था। पर हनुमन्नाटक से पाया जाता है कि भरतजी ने शान्तिमण्डप में दुःस्वप्न की शान्ति के लिए हवन करते समय हनुमान्‌जी को जाते देख धोखे से बाण मारा। वे यज्ञ की पूर्णाहुति दे रहे थे। ऐसी दशा में किसी को मारना उचित न

बिकल बिलोकि कीस उर लावा। जागत नहिँ बहु भाँति जगावा॥
मुख मलीन मन भये दुखारी। कहत बचन लोचन भरि बारी॥२॥

उन्होंने वानर को विकल देखकर छाती से लगा लिया। भरतजी बहुत तरह से उनको जगाने लगे, पर वे नहीं जागे। तब भरतजी का मुख मलिन हो गया। वे मन में बड़े दुखी हुए। वे आँखों में आँसू भरकर बोले—॥ २॥

जेहि बिधि रामबिमुख मोहि कीन्हा। तेहि पुनि यह दारुन दुख दीन्हा॥
जौं मोरे मन बच अरु काया। प्रीति राम-पद-कमल अमाया॥३॥

हाय! जिस विधाता ने मुझे रामचन्द्रजी से विमुख किया, उसी ने फिर यह कठिन दुःख दिया। अस्तु, जो मन, वचन और कर्म से रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में मेरी निष्कपट प्रीति हो॥ ३॥

तौ कपि होउ बिगत-स्रम-सूला। जौं मो पर रघु-पति-अनुकूला॥
सुनत बचन उठि बैठ कपीसा। कहि जय जयति कोसलाधीसा॥४॥

और जो मुझ पर रघुनाथजी अनुकूल हों तो हे वानर, तुम बिलकुल परिश्रम और शूल से रहित हो जाओ। इन वचनों के सुनते ही श्रीकोसलाधीश रामचन्द्रजी की जय हो, जय हो, कहते हुए हनुमान्‌जी उठ बैठे॥ ४॥

सो०—लीन्ह कपिहि उर लाइ पुलकित तन लोचन सजल।
प्रीति न हृदय समाइ सुमिरि राम रघु-कुल-तिलक॥८०॥

भरतजी ने हनुमान्‌जी को हृदय से लगा लिया। उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्र जल से भर गये। रघुकुल के अग्रगण्य रामचन्द्रजी का स्मरण कर उनके हृदय में प्रीति नहीं समाई॥ ८०॥

था; इसी लिए बिना फर का बाण मारा था। बाण लगते ही हनुमान्‌जी पर्वत को अपनी पूँछ से लपेट केसरां (कन्धे के बालों) पर लिये हुए गिरे थे। "हुत्वा श्रीखण्डकाण्डं सनगरकुसुमं पुण्डरीकं मृणालं, कर्पूरोशीरगर्भं प्रचुरघृतयुतं नारिकेलं जुहाव। तूर्णं पूर्णाहुतिं सज्वलदनलनिभं शैलमादाय वीरः, प्राप्तस्तत्राञ्जनेयः स किमिति भरतस्तं शरेणाजघान॥ २४॥ पुङ्खावशेषभरतेषुललाटपट्टो हा राम लक्ष्मण कुतोऽहमिति ब्रुवाणः। संमूर्च्छितो भुवि पपात गिरिं दधानो लाङ्गूलशेखररुहेण स केसरेण॥ २५॥ हनु० अङ्क १३। इनमें २४ वें श्लोक की टीका में 'इति किम्', शङ्का करके लिखा है कि यह वही है जिसने सुमित्राजी का वा माताजी का समूल मुजग्रास किया। अथवा, प्रलयकाल के अग्निसमान यज्ञ-विनाश करनेवाला जो घण्टासुर वसिष्ठजी ने बताया था, वही यह है। (अर्थात् ये स्वप्न की बातें थीं) उन्हें प्रत्यक्ष देख उन्होंने बाण चला दिया। वाल्मीकीय आदि में यह कथा बिलकुल नहीं है।

चौ०—तात कुसल कहु सुखनिधान की। सहित अनुज अरु मातु जानकी॥
कपि सब चरित सँछेप बखाने। भये दुखी मन महँ पछिताने॥१॥

भरतजी ने पूछा कि हे तात! तुम छोटे भाई लक्ष्मण और माता जानकीजी समेत सुखनिधान रामचन्द्रजी का कुशल-समाचार कहो। हनुमान्‌जी ने संक्षेप में सब समाचार सुनाया। वह सुनकर भरतजी दुःखी हुए और मन में पछताने लगे॥ १॥

अहह दैव मैं कत जग जायउँ। प्रभु के एकहु काज न आयउँ॥
जानि कुअवसर मन धरि धीरा। पुनि कपि सन बोले बलबीरा॥२॥

वे बोले कि आह! मैं संसार में क्यों पैदा हुआ? मैं स्वामी के एक भी काम न आया! फिर वह बुरा समय (लङ्का में विपद्ग्रस्त दोनों भाई दुःखी हैं) जान और मन में धीरज धरकर बलवीर भरतजी हनुमान्‌जी से बोले—॥ २॥

तात गहरु होइहि तोहि जाता। काज नसाइहि होत प्रभाता॥
चढ़ु मम सायक सैलसमेता। पठवउँ तोहि जहँ कृपानिकेता॥३॥

हे तात! तुमको जाने में देरी होगी और तुम्हारे पहुँचने के पहले सबेरा हो जाने से काम बिगड़ जायगा (लक्ष्मण मर जायँगे)। इसलिए मेरे बाण पर तुम पर्वत-समेत चढ़ लो, तो मैं तुम्हें वहाँ भेज दूँ, जहाँ दया के स्थान रामचन्द्रजी हैं॥ ३॥

सुनि कपिमन उपजा अभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना॥
रामप्रभाव बिचारि बहोरी। बंदि चरन कपि कह कर जोरी॥४॥

भरतजी के वचन सुनकर हनुमान्‌जी को अभिमान उत्पन्न हुआ कि मेरे बोझ से बाण कैसे चल सकेगा। फिर मन में रामचन्द्रजी का प्रभाव विचार कर हनुमान्‌जी भरतजी के चरणों को प्रणाम कर हाथ जोड़कर बोले कि॥ ४॥

दो०—तव प्रताप उर राखि प्रभु जैहउँ नाथ तुरंत।
अस कहि आयसु पाइ पद बंदि चलेउ हनुमंत॥८१॥

हे नाथ! आपके प्रताप को हृदय में रखकर मैं तुरन्त ही जा पहुँचूँगा। ऐसा कह कर, भरतजी की आज्ञा पा और उनके चरणों की वन्दना कर, हनुमान्‌जी चल दिये॥ ८१॥

भरत-बाहु-बल-सील-गुन प्रभु-पद-प्रीति अपार।
जात सराहत मनहि मन पुनि पुनि पवनकुमार॥८२॥

पवनकुमार हनुमान्‌जी मन में भरतजी की भुजाओं के बल, शील, गुण और प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों में उनकी अपार प्रीति को बार बार सराहते जाते थे॥ ८२॥

चौ०—उहाँ राम लछिमनहिं निहारी। बोले बचन मनुज अनुसारी॥
अर्धराति गइ कपि नहिं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ॥१॥

वहाँ लङ्का में रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी को देखकर, मनुष्य के भाव का अनुसरण करते हुए, वचन बोले कि आधी रात बीत गई, हनुमान् नहीं आया। फिर रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी को उठाकर छाती से लगा लिया॥ १॥

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता। सहेउ बिपिन हिम आतप बाता॥२॥

वे कहने लगे—हे भाई! तुम्हारा सदा कोमल स्वभाव रहा; तुम मुझे कभी दुखी नहीं देख सकते थे। तुमने मेरा हित करने के लिए माता-पिता का त्याग कर दिया; वन में आकर ठंढ, घाम, वायु सब सहन किये॥ २॥

सो अनुरागु कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बचबिकलाई॥
जौ जनतेउँ बन बंधुबिछोहू। पिताबचन मनतेउँ नहिं ओहू॥३॥

अरे भाई! वह अनुराग अब कहाँ है! मेरे वचनों की व्याकुलता सुनकर तुम उठते क्यों नहीं? जो मैं जानता कि वन में मुझे भाई का वियोग होगा, तो मैं पिताजी के उन वचनों को न मानता। अथवा पिताजी के वचनों को मानता, पर वे वचन भी (जो लक्ष्मणजी ने, साथ चलने के लिए, कहे थे) न मानता'॥ ३॥

सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥४॥

१—इस चौपाई पर तो लोग बड़े बड़े शास्त्रार्थ करते हैं। पिता के वे वचन भी न मानता, कौन से? "रथ चढ़ाय दिखराय वन, फिरहु गये दिन चारि" तो रामचन्द्रजी ने एक दम पिता के वचनों का न मानना कैसे कह दिया? एक तो यह कि पीछे चौपाई में कह गये हैं कि "बोले बचन मनुज अनुहारी" जैसे जब मनुष्य घबरा जाता है तब "रहत न आरत के चित चेतू" इसलिए आर्त्त-दशा का दृश्य दिखाने में ये वचन कह दिये। अथवा—'पिता बचन मनतेउँ' पिताजी की आज्ञा मानता, 'नहिं ओहू' उसके (सीता के भी वचन "राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानिए प्रान") न मानता। अयोध्या में रहकर वह मरती या जीती कुछ भी होता। न साथ लाता, न रावण हरता और न आज भ्रातृवियोग होता। अथवा—'नहिं ओहू' लक्ष्मण के भी वे वचन न मान लेता "नाथ दास मैं स्वामि तुम, तजिए तो कहा बिसाउ।" न भाई को साथ लाता, न यह दिन देखता। अथवा—पिताजी के ऊपर बताये हुए चार दिनवाले वचन मानता और १४ वर्षवाले नहीं। अथवा—पितावचन मनतेउँ नहिँ, पिताजी के वचन न मानता 'ओहू' माता के वचन मानता "जो केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता" इत्यादि। लोग अपनी अपनी बुद्धि दौड़ाते हैं। वास्तव में मनुष्यानुसार व्याकुलता दिखाने में शङ्का करना ही व्यर्थ है।

पुत्र, धन, स्त्री, घर, कुटुम्ब संसार में बार बार होते भी हैं, मिटते भी हैं, पर हे तात! जी में ऐसा विचार कर कि जगत् में सहोदर भाई[1] नहीं मिलते, जाग उठो ॥ ४ ॥

जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर करहीना॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही। जौं जड दैव जियावइ मोही॥५॥

जैसे बिना पङ्ख के पक्षी और बिना मणि के साँप तथा बिना सूँड़ के हाथी अत्यन्त दीन हो जाता है, इसी तरह हे भाई! जो अब मूर्ख दैव मुझे जिलावे तो तुम बिना मेरा जीना व्यर्थ है ॥ ५ ॥

जैहउँ अवध कवन मुँह लाई। नारिहेतु प्रिय भाइ गँवाई॥
बरु अपजसु सहतेउँ जग माहीं। नारि हानि बिसेष छति नाहीं॥६॥

स्त्री के कारण प्यारे भाई को खोकर मैं अयोध्या कौन सा मुँह लेकर जाऊँगा? वरन् जगत् में मैं इस अपयश को सह लेता कि रावण ने स्त्री हर ली। स्त्री की हानि होना कोई विशेष हानि नहीं है ॥ ६ ॥

अब अपलोकु सोकु सुत तोरा। सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥
निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रानअधारा॥७॥

हे पुत्र! अब तो मेरा निष्ठुर हृदय अपलोक (लोकनिन्दा) और तुम्हारे शोक को सहेगा! तुम अपनी माता के एक[2] ही पुत्र हो; हे तात! तुम उसके प्राण के आधार हो ॥ ७ ॥

सौंपेसि मोहि तुम्हहिँ गहि पानी। सब बिधि सुखद परम हित जानी॥
उतरु काह दैहउँ तेहि जाई। उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥८॥

१—लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी के विमातृज (दूसरी माता के) भाई थे, सहोदर क्यों कहा? यहाँ यज्ञ से उत्पत्ति होने के कारण ऐसा कहा। वाल्मीकीय में भी कहा है "देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बांधवाः। तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः" यहाँ सहोदर शब्द की व्युत्पत्ति करने से (सह उदरं यस्य) निष्कपटभाव सिद्ध होता है। माता ही का कारण लेकर शङ्का करना अनुचित है।

२—यहाँ एक शब्द प्रधान अर्थ में है, क्योंकि लक्ष्मणजी और शत्रुघ्न दोनों भाई थे। 'एकोऽन्ये प्रधाने' इत्यमरः। प्रधान कहने का कारण "पुत्रवती युवती जग सोई। रघुबर भगत जासु सुत होई"। अथवा—तुम जैसे पुत्र हो, वैसे पुत्र अपनी माता के एक ही होते हैं, अर्थात् ऐसे सुपुत्र सभी नहीं होते। अथवा—रामचन्द्रजी अपने को कहते हैं कि मैं अपनी माता कौसल्या का एक ही पुत्र हूँ और उसके (मेरे) तुम प्राण-आधार हो। तुम बिना मैं न जीऊँगा, मेरे बिना कौसल्या न जियेंगी। इत्यादि।

उसने मुझे सब प्रकार सुख देनेवाला और परम हितू जानकर तुम्हारा हाथ पकड़ कर सौंपा[1] था। मैं अब तुम्हारे बिना जाकर उसको क्या उत्तर दूँगा ? अरे भाई ! तुम उठ कर मुझे सिखाते क्यों नहीं ? ॥ ८ ॥

बहु बिधि सोचत सोचबिमोचन। स्रवत सलिल राजिव-दल-लोचन ॥
उमा एक अखंड रघुराई। नरगति भगतकृपालु देखाई ॥९॥

सोच को छुड़ा देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी बहुत तरह सोच करने लगे। उनके कमल-दल के समान नेत्रों से आँसू बह रहे थे। श्रीशिवजी कहते हैं—हे उमा ! रामचन्द्रजी तो अद्वितीय और अखण्ड हैं। उन्हीं भक्तवत्सल ने यहाँ मनुष्यों को गति दिखाई है ॥ ९ ॥

सो०—प्रभुबिलाप सुनि कान बिकल भये बानरनिकर।
आइ गयउ हनुमान जिमि करुना महुँ बीर रस ॥८३॥

प्रभु रामचन्द्रजी का विलाप कानों से सुनकर बन्दरों के समूह व्याकुल हुए। इतने में वहाँ हनुमान्‌जी ऐसे आ गये जैसे करुणा में वीर रस आ गया हो[2] ॥ ८३ ॥

चौ०—हरषि राम भेंटेउ हनुमाना। अति कृतग्य प्रभु परम सुजाना ॥
तुरत बैद तब कीन्हि उपाई। उठि बैठे लछिमन हरषाई ॥१॥

परम चतुर और अत्यन्त कृतज्ञ[3] प्रभु रामचन्द्रजी प्रसन्न होकर हनुमान्‌जी से मिले। वैद्य (सुषेण) ने तुरन्त ही उपाय (यत्न) किया और लक्ष्मणजी प्रसन्न हो उठ बैठे ॥ १ ॥

१—सुमित्राजी ने कहा था—"तुम कहँ वन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु रामसिय जासू", "जेहि न राम वन लहैं कलेसू"। इत्यादि।

२—सम्पूर्ण सेना विलाप में करुण-रस-पूर्ण थी, हनुमान्‌जी ओषधि-युक्त पर्वत-समेत वीर रस हुए। पीछे कहा है—"यह कौतुक जानहिं नर कोई। जा पर कृपा राम की होई।" इसी अनुसार यह कौतुक हुआ। जो लक्ष्मणजी को शक्ति न लगती, तो संजीवनी के लिए द्रोणाचल का लाना, कालनेमि का वध, मकरी का उद्धार, ब्रह्मा की शक्ति का बहुमान, (अन्यथा सब शक्तियों के शक्ति-दाता राम-लक्ष्मण को शक्ति क्या कर सकती है ?) हनुमान्‌जी की सुकीर्ति कैसे हो सकती ? फिर यहाँ यह भी दिखाया कि हर्ष-शोक आदि शारीरिक धर्म राजा रङ्क सभी को होते हैं, यह समझ कर हमारे भक्त धीर रक्खें। लक्ष्मणजी ने भी अपना मूर्च्छित होना इस अभिप्राय से स्वीकृत किया कि मुझे दुखी देख रामचन्द्रजी क्रोधित हो जल्दी शत्रुध्वंस करेंगे।

३—यहाँ रघुनाथजी को अति कृतज्ञ कहा है। यह बात वाल्मीकीय रामायण अयोध्या-काण्ड प्रथम सर्ग में बतलाई है—"कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया ॥" अर्थात् रामचन्द्रजी पर कभी कोई किसी तरह एक भी उपकार करे तो वे उस पर प्रसन्न हो जाते हैं, परन्तु सैकड़ों अपकार (अपराध) करने पर भी उन्हें वे स्मरण नहीं करते क्योंकि वे आत्मवान् हैं।

हृदय लाइ भेँटेउ प्रभु भ्राता। हरषे सकल भालु-कपि ब्राता॥
पुनि कपि बैद तहाँ पहुँचावा। जेहि बिधि तबहिँ ताहि लेइ आवा॥२॥

प्रभु रामचन्द्रजी भाई लक्ष्मण को हृदय से लगाकर मिले और सब रीछ-बन्दरों के समुदाय प्रसन्न हो गये। फिर हनुमान्‌जी वैद्य को जिस तरह पहले ले आये थे, उसी तरह उन्हें (घर समेत) उन्होंने वहाँ (लङ्का में) पहुँचा दिया॥ २॥

यह बृत्तांत दसानन सुनेऊ। अति बिषाद पुनि पुनि सिर धुनेऊ॥
ब्याकुल कुंभकरन पहिँ आवा। बिबिध जतन करि ताहि जगावा॥३॥

रावण ने यह समाचार (लक्ष्मणजी का शक्ति से संरक्षण) सुनकर बड़ा खेद किया। वह बार बार सिर पीटने लगा। वह व्याकुल होकर कुम्भकर्ण के पास आया और अनेक प्रकार के यत्न कर उसने उसको जगाया॥ ३॥

जागा निसिचर देखिय कैसा। मानहुँ काल देह धरि बैसा॥
कुंभकरन बूझा सुनु भाई। काहे तव मुख रहे सुखाई॥४॥

राक्षस कुम्भकर्ण जागा। उस समय वह कैसा दीखने लगा, मानों देह धारण किये (मूर्तिमान्) काल हो। कुम्भकर्ण ने देखकर पूछा कि भैया! तुम्हारे मुख क्यों सूख रहे हैं?॥ ४॥

कथा कही सब तेहि अभिमानी। जेहि प्रकार सीता हरि आनी॥
तात कपिन्ह सब निसिचर मारे। महा-महा-जोधा संहारे॥५॥

तब अभिमानी रावण ने वह सब कथा कह दी जिस तरह वह सीताजी को हरकर लाया था, और कहा—हे तात! बन्दरों ने सब राक्षस मार डाले, उन्होंने बड़े बड़े योद्धाओं का संहार कर दिया॥ ५॥

दुर्मुख सुररिपु मनुजअहारी। भट अतिकायं अकंपन भारी॥
अपर महोदर आदिक बीरा। परे समरमहि सब रनधीरा॥६॥

दुर्मुख, देवशत्रु, मनुष्यभक्षक योद्धा, अतिकाय और प्रबल अकंपन तथा दूसरे महोदर आदि बड़े बड़े रणधीर वीर सब रण में काम आ गये॥ ६॥

दो०—सुनि दस-कंधर-बचन तब कुंभकरन बिलखान।
जगदंबा हरि आनि अब सठु चाहत कल्यान॥८४॥

तब रावण के वचन सुनकर कुम्भकर्ण क्रोधित हुआ। वह बिलख कर बोला—अरे दुष्ट! तू जगन्माता को हरकर ले आया, अब अपना कल्याण चाहता है!॥ ८४॥

चौ०—भल न कीन्ह तैँ निसि-चर-नाहा। अब मोहि आइ जगायेहि काहा ॥
अजहूँ तात त्यागि अभिमाना। भजहु राम होइहि कल्याना ॥१॥

हे राक्षसराज! तूने अच्छा नहीं किया। अब मुझे जगाने से क्या लाभ है? हे तात! तुम अब भी अभिमान त्यागकर रामचन्द्र का भजन करो तो तुम्हारा कल्याण हो जायगा ॥१॥

हैं दससीस मनुज रघुनायक। जा के हनूमान से पायक ॥
अहह बंधु तैँ कीन्हि खोटाई। प्रथमहिँ मोहि न सुनायेहि आई ॥२॥

अरे दशग्रीव! क्या रघुनाथजी भी मनुष्य हैं जिनके हनुमान् जैसे दूत हैं? हाय! हाय! भैया! तूने खोटापन किया जो मुझे पहले ही आकर यह हाल न सुनाया ॥ २ ॥

कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देव क। सिव बिरंचि सुर जा के सेवक ॥
नारद मुनि मोहि ग्यान जो कहा। कहतेउँ तोहि समय निरबहा ॥३॥

तुमने उस देव रामचन्द्र से विरोध किया जिसके सेवक महादेव और ब्रह्मा प्रभृति देवता हैं! मुझे नारद मुनि ने जो ज्ञानोपदेश किया था वह मैं तुझे सुनाता पर अब तो समय निकल गया ॥ ३ ॥

अब भरि अंक भेँटु मोहि भाई। लोचन सुफल करउँ मैं जाई ॥
स्यामगात सरसी-रुह-लोचन। देखउँ जाइ ताप-त्रय-मोचन ॥४॥

भाई! अब तो मुझसे गोद भर (गले लगकर) मिल ले, फिर मैं जाकर अपने नेत्र सफल करूँ। श्याम अङ्गवाले, कमल-नयन, त्रिविध ताप के मिटानेवाले रामचन्द्रजी का जाकर दर्शन करूँ ॥ ४ ॥

दो०—राम-रूप-गुन सुमिरि मन मगन भयउ छन एक।
रावन माँगेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक ॥८५॥

इतना कहकर कुम्भकर्ण रामचन्द्रजी के रूप और गुणों को मन में स्मरण करके एक क्षण भर मग्न रहा। फिर रावण ने मदिरा के करोड़ घड़े और अनेक भैंसे मँगवाये (या रावण से कुम्भकर्ण ने माँगे) ॥ ८५ ॥

चौ०—महिष खाइ करि मदिरापाना। गर्जा बज्राघातसमाना ॥
कुंभकरन दुर्मद रनरंगा। चला दुर्ग तजि सेन न संगा ॥१॥

कुम्भकर्ण भैंसों का मांस खा और मदिरा पीकर बिजली गिरने की ध्वनि की तरह गरजा। वह मदमाता लङ्का के क़िले को छोड़कर, साथ में सेना न लेकर, रण-भूमि को चला ॥१॥

देखि बिभीखनु आगे आयउ। परेउ चरन निज नाम सुनायउ ॥
अनुज उठाइ हृदय तेहि लावा। रघु-पति-भगत जानि मन भावा ॥२॥

कुम्भकर्ण को आता देखकर विभीषण उसके सम्मुख आया और उसने भाई के चरणों में गिरकर अपना नाम सुनाया। कुम्भकर्ण ने विभीषण को पहचान कर हृदय से लगाया और रामभक्त जानकर वह उसके मन को प्रिय लगा ॥ २ ॥

तात लात रावन मोहि मारा। कहत परमहित मंत्रबिचारा ॥
तेहि गलानि रघुपति पहिँ आयउँ। देखि दीन प्रभु के मन भायउँ ॥३॥

विभीषण ने कहा—हे तात! अत्यन्त हितकारी सलाह कहते हुए मुझे रावण ने लातों से मारा। उसी ग्लानि के मारे मैं रघुनाथजी के पास चला आया। प्रभु रामचन्द्रजी ने मुझे दीन (ग़रीब) देखकर मुझ पर चित्त से प्रेम प्रकट किया ॥ ३ ॥

सुनु सुत भयउ कालबस रावनु। सो कि मान अब परम सिखावनु ॥
धन्य धन्य तैँ धन्य बिभीखन। भयउ तात निसि-चर-कुल-भूषन ॥४॥
बंधु बंस तैँ कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा-सुख-सागर ॥५॥

कुम्भकर्ण ने कहा—हे पुत्र! सुन। रावण काल के वश हो गया है। क्या अब वह अच्छी सीख मान सकता है? हे विभीषण! तू धन्य है, धन्य है, फिर भी धन्य है। हे तात! तू राक्षस-कुल का भूषण हुआ है ॥ ४ ॥ भाई! तूने जो शोभा और सुख के समुद्र रामचन्द्र को भजा इससे तूने वंश को प्रकाशित कर दिया ॥ ५ ॥

दो०—बचन कर्म मन कपटु तजि भजहु राम रनधीर।
जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ कालबस बीर ॥८६॥

तुम वचन, कर्म और मन से कपट छोड़कर रणधीर रामचन्द्र का भजन करना। हे वीर! अब तुम चले जाओ। मैं काल के वश हो रहा हूँ, अतएव अब मुझे अपना या पराया कुछ सूझ नहीं पड़ता ॥ ८६ ॥

चौ०—बंधु बचन सुनि फिरा बिभीषन। आयउ जहँ त्रै-लोक-बिभूषन ॥
नाथ भूधरा-कार-सरीरा। कुंभकरन आवत रनधीरा ॥ १॥

भाई कुम्भकर्ण के वचन सुनकर विभीषण लौटा और जहाँ त्रैलोक्य-विभूषण श्रीरामचन्द्रजी थे वहाँ आया। उसने कहा—हे नाथ! पर्वत के आकार की देहवाला रणधीर कुम्भकर्ण आ रहा है ॥ १ ॥

एतना कपिन्ह सुना जब काना। किलकिलाइ धाये बलवाना ॥
लिये उपारि बिटप अरु भूधर। कटकटाइ डारहिँ ता ऊपर ॥२॥

जब बन्दरों ने इतना कान से सुना, तब वे बलवान् किलकारी मारकर दौड़ पड़े। उन्होंने वृक्ष और पर्वत उखाड़ लिये और वे किटकिटाकर उन्हें कुम्भकर्ण पर डालने लगे ॥ २ ॥

कोटि कोटि गिरि-सिखर-प्रहारा। करहिँ भालु कपि एक एक बारा॥
मुरै न मन तन टरै न टारा। जिमि गज अर्कफलन्हि कर मारा॥३॥

रीछ और बन्दर करोड़ करोड़ पर्वतों के शिखर उसके ऊपर एक साथ ही फेंककर मारते थे, पर न तो कुम्भकर्ण का मन ही फिरा, न शरीर ही हटाये हटा। जैसे मदार के फलों के मारने से हाथी का कुछ न बिगड़े, तैसे हुआ॥ ३॥

तब मारुतसुत मुठिका हनेऊ। परेउ धरनि ब्याकुल सिर धुनेऊ॥
पुनि उठि तेहि मारेउ हनुमंता। घुमित भूतल परेउ तुरंता॥४॥

तब वायुपुत्र ने एक घूँसा मारा। उसी समय वह व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिरा और सिर धुनने लगा। फिर उसने उठकर हनुमान् को ऐसा मारा कि वे तुरन्त चक्कर खाकर पृथ्वी पर गिर पड़े॥ ४॥

पुनि नल नीलहि अवनि पछारेसि। जहँ तहँ पटकि भटकि भट डारेसि॥
चली बली-मुख-सेन पराई। अति-भय-त्रसित न कोउ समुहाई॥५॥

फिर कुम्भकर्ण ने नल-नील को ज़मीन पर पछाड़ दिया, जहाँ तहाँ घूमकर कितने ही योद्धाओं को गिरा दिया। उसके महाभय से व्याकुल होकर वानरी सेना भाग चली। उसको कोई न सम्हाल सका॥ ५॥

दो०—अंगदादि कपि मुरुछित करि समेत सु　।
काँख दाबि कपिराज कहँ चला अमित-बल-सीवँ॥८७॥

अपार बल की सीमा कुम्भकर्ण, सुग्रीव समेत अङ्गद आदि बन्दरों को मूच्छित कर और वानरों के राजा सुग्रीव को अपनी बग़ल में दाबकर लङ्का को चल पड़ा॥ ८७॥

चौ०—उमा करत रघुपति नरलीला। खेल गरुड जिमि अहिगन मीला॥
भृकुटि-भंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लराई॥१॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा! रघुनाथजी ऐसी मनुष्यलीला कर रहे हैं, जैसे साँपों के गण में मिल कर गरुड़ खेलने लगे। जो भृकुटि को टेढ़ा करते ही काल को भी खा जाता है, क्या उसको ऐसी लड़ाई शोभती है? (कदापि नहीं)॥ १॥

जगपावनि कीरति बिस्तरिहहिँ। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिँ॥
मुरछा गइ मारुतसुत जागा। सुग्रीवहिँ तब खोजन लागा॥२॥

वे जगत् को पवित्र करनेवाली कीर्ति फैला देंगे जिसको गा गाकर मनुष्य संसार-समुद्र को तर जायँगे। इधर हनुमान्‌जी की मूर्च्छा गई और वे जागकर सुग्रीव को ढूँढ़ने लगे॥ २॥

सुग्रीवहु के मुरुछा बीती। निबुकि गयउ तेहि मृतक प्रतीती ॥
काटेसि दसन नासिका काना। गरजि अकास चलेउ तेहि जाना ॥३॥

उधर सुग्रीव की भी रास्ते में चेत हुआ। कुम्भकर्ण ने तो उसको मृतक (मुर्दा) समझा था, वह चट से बग़ल से खसक पड़ा। वह अपने दाँतों से कुम्भकर्ण के कान और नाक काटकर, गर्जना कर, आकाश को चला। तब कुम्भकर्ण ने जाना ॥ ३ ॥

गहेउ चरन धरि धरनि पछारा। अति लाघव उठि पुनि तेहि मारा ॥
पुनि आयउ प्रभु पहिँ बलवाना। जयति जयति जय कृपानिधाना ॥४॥

और उसने पाँव पकड़कर सुग्रीव को ज़मीन पर पछाड़ मारा किन्तु सुग्रीव ने बड़ी फुर्ती से उठकर कुम्भकर्ण को पछाड़ दिया और फिर बलवान् सुग्रीव प्रभु रामचन्द्रजी के पास आ गया और उसने कहा—कृपानिधान की जय हो! जय हो! ॥ ४ ॥

नाक कान काटे जिय जानी। फिरा क्रोध करि भइ मन ग्लानी ॥
सहज भीम पुनि बिनु स्रुति-नासा। देखत कपिदल उपजी त्रासा ॥५॥

मेरे नाक-कान काटे गये, इस बात को जी में समझकर कुम्भकर्ण मन में ग्लानि करता हुआ क्रोध में भरकर रास्ते ही से लौट पड़ा। एक तो वह स्वाभाविक ही डरावना था, फिर अब बिना नाक-कान का (बुच्चा और नकटा) था। इसको देखते ही बन्दरों के दल में बड़ी घबराहट पैदा हो गई ॥ ५ ॥

दो०—जय जय जय रघु-बंस-मनि धाये कपि देइ हूह।
एकहि बार तासु पर छाँडेन्हि गिरि-तरु-जूह ॥८८॥

वे बन्दर श्रीरघुवंशमणि की जय, जय, जय का हुल्लड़ मचाते हुए दौड़ पड़े और उन्होंने पहाड़ों और वृक्षों के समूह को एक ही साथ कुम्भकर्ण पर छोड़ दिया ॥ ८८ ॥

चौ०—कुंभकरन रनरंग बिरुद्धा। सनमुख चला कालु जनु क्रुद्धा ॥
कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई। जनु टीडी गिरिगुहा समाई ॥१॥

विरोधी कुम्भकर्ण रणभूमि के सम्मुख इस तरह चला, मानो क्रोधित हुआ काल हो। वह करोड़ करोड़ बन्दरों को पकड़ पकड़कर खाने लगा। वे उसके पेट में ऐसे समाने लगे जैसे किसी पहाड़ की गुफा में टिड्डियाँ समाती हों ॥ १ ॥

कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा। कोटिन्ह मीँजि मिलव महि गर्दा ॥
मुख नासा स्रवनन्हि की बाटा। निसरि पराहिँ भालु-कपि-ठाटा ॥२॥

उसने करोड़ों बन्दरों को पकड़ कर अपने शरीर से रगड़ दिया, करोड़ों को हाथों से मसलकर ज़मीन की धूल के साथ मिला दिया। खाये हुए रीछों और बन्दरों के ठट्ठ के ठट्ठ मुंह, नाक और कानों के रास्ते से निकल निकलकर भागने लगे ॥ २ ॥

रन-मद-मत्त निसाचर दर्पा। बिस्व ग्रसिहि जनु एहि बिधि अर्पा।
मुरे सुभट सब फिरहिँ न फेरे। सूझ न नयन सुनहिँ नहिँ टेरे ॥३॥

रण-मदमाता, अभिमानी राक्षस कुम्भकर्ण अभिमान कर रण में ऐसा लड़ा, मानों वह सारे जगत् को खा जायगा। अच्छे अच्छे योद्धा रण से मुँह फेरकर भागे, वे लौटाने से नहीं लौटते थे। उन्हें आँखों से नहीं दीखता था, पुकारने पर भी वे नहीं सुनते थे ॥ ३ ॥

कुंभकरन कपि फौज बिडारी। सुनि धाई रजनी-चर-धारी ॥
देखी राम बिकल कटकाई। रिपुअनीक नाना बिधि आई ॥४॥

कुम्भकर्ण ने बन्दरों की फ़ौज तितर-बितर कर दी है, यह सुनकर राक्षसों की मण्डली दौड़ पड़ी। जब रामचन्द्रजी ने अपनी सेना विकल और अनेक तरह से शत्रु-सेना आई हुई देखी ॥ ४ ॥

दो०—सुनु सुग्रीव बिभीषन अनुज सँभारेहु सैन।
मैँ देखउँ खल-बल-दलहि बोले राजिवनैन ॥८६॥

तब कमलनयन रामचन्द्रजी ने कहा—हे सुग्रीव, विभीषण और लक्ष्मण! तुम वानरी सेना को सम्हालो। मैं इस दुष्ट के बल और सेना को देखता हूँ ॥ ८९ ॥

चौ०—कर सारंग साजि कटि भाथा। अरि-दल-दलनि चले रघुनाथा ॥
प्रथम कीन्हि प्रभु धनुषटकोरा। रिपुदल बधिर भयउ सुनि सोरा ॥१॥

रघुनाथजी हाथ में शार्ङ्ग[1] धनुष ले, कमर में तरकस बाँधकर, शत्रु-दल का मर्दन करने चले। प्रभु रामचन्द्रजी ने पहले धनुष का टङ्कार-शब्द किया। उसको सुनते ही शत्रु-दल बहरा हो गया ॥ १ ॥

१—शार्ङ्ग नाम का धनुष विष्णु भगवान् ही के हाथ में रहता है। रामावतार के समय जो शार्ङ्ग बतलाया है, यह विश्वकर्मा का बनाया हुआ साढ़े तीन हाथ लम्बा था। मनुष्यों के लिए शार्ङ्ग धनुष छः बीता का होता है और उसको घुड़सवार तथा हाथी के सवार लेते हैं, रथी और पदाति बाँस का धनुष लेते हैं। मानुषीय शार्ङ्ग भैंसे के सींग आदि से बनता है और वह "शार्ङ्गिकं त्रिणतं प्रोक्तं" तीन जगह से टेढ़ा होता है। पूर्व सतयुग में ब्रह्मादि देवगणों के युद्ध करने पर २५ पेरवे का एरंड वृक्ष उत्पन्न हुआ। उसके ९ पेरवे का विष्णु का धनुष शार्ङ्ग, ७ का शिवजी का पिनाक, ५ का कोदण्ड (जो रामचन्द्रजी का धनुष है), ३ का गांडीव जो अर्जुन का था और १ पेरवे की श्रीकृष्णचन्द्रजी की वंशी बनी थी। (वृद्ध० सा०)

सत्यसंध छाडे सर लच्छा । कालसर्प जनु चले सपच्छा ॥
जहँ तहँ चले बिपुल नाराचा । लगे कटन भट बिकट पिसाचा ॥२॥

सत्यप्रतिज्ञ रामचन्द्रजी ने एक लाख बाण छोड़े। वे ऐसे चले मानो पङ्खोंवाले साँप हों। जहाँ तहाँ घोर बाण चले। उनसे प्रबल वीर पिशाच और राक्षस कटने लगे ॥ २ ॥

कटहिँ चरन उर सिर भुजदंडा । बहुतक बीर होहिँ सत खंडा ॥
घुमि घुमि घायल महि परहीँ । उठि संभारि सुभट पुनि लरहीँ ॥३॥

किसी के हाथ, किसी के पैर, किसी की छाती और किसी के भुजदंड कटते तथा कई एक वीरों के सौ सौ टुकड़े हो जाते थे। वे घायल हो, चक्कर खा खाकर, पृथ्वी पर गिरते थे, फिर सम्हलकर उठते और लड़ने लगते थे ॥ ३ ॥

लागत बान जलद जिमि गाजहिँ । बहुतक देखि कठिन सर भाजहिँ ॥
रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिँ । धरु धरु मारु मारु धुनि गावहिँ ॥४॥

कई एक तो बाणों के लगते ही बादल जैसे गरजते थे और बहुतेरे कठोर बाणों को देख-कर भाग खड़े होते थे। प्रचंड रुंड (कबन्ध) बिना मस्तक के ही दौड़ते थे। वे पकड़ो, पकड़ो, मारो, मारो की ध्वनि से गाते (हुल्लड़ मचाते) थे ॥ ४ ॥

दो०—छन महँ प्रभु के सायकन्हि काटे बिकट पिसाच ।
पुनि रघुबीर निषंग महँ प्रबिसे सब नाराच ॥ ९० ॥

प्रभु रामचन्द्रजी के बाणों ने क्षण भर में उन विकट पिशाचों को काट गिराया और फिर सब बाण आकर रघुनाथजी के तरकस में घुस गये ॥ ९० ॥

चौ०—कुंभकरन मन दीख बिचारी । हती निमिष महँ निसि-चर-धारी ॥
भयउ क्रुद्ध दारुन बल बीरा । करि मृग-नायक-नाद गँभीरा ॥१॥

कुम्भकर्ण ने मन में विचारकर देखा कि रामचन्द्रजी ने क्षण भर में राक्षसी सेना मार डाली। फिर कठोर बलवान् वीर कुम्भकर्ण क्रोधित हुआ और सिंह के समान गंभीर नाद कर ॥ १ ॥

कोपि महीधर लेइ उपारी । डारइ जहँ मर्कटभट भारी ॥
आवत देखि सैल प्रभु भारे । सरन्हि काटि रजसम करि डारे ॥२॥

क्रोधित हो करोड़ों पहाड़ों को उखाड़ लेता था, और जहाँ भारी बन्दर योद्धा होते वहाँ डाल देता था। प्रभु रामचन्द्रजी ने पर्वतों के समूह आते देखकर उनको बाणों से काट काटकर धूल के बराबर कर दिया ॥ २ ॥

पुनि धनु तानि कोपि रघुनायक। छाडे अति कराल बहु सायक॥
तन महुँ प्रबिसि निसरि सर जाहीँ। जनु दामिनि घन माँझ समाहीँ॥३॥

फिर रघुनाथजी ने क्रोधित हो धनुष तानकर बहुत से अत्यन्त कराल बाण छोड़े। वे बाण राक्षस के शरीर में घुस घुसकर निकल जाते थे। वे ऐसे मालूम होते थे मानों बादलों के भीतर बिजली समाती हो॥ ३॥

सोनित स्रवत सोह तन कारे। जनु कज्जलगिरि गेरुपनारे॥
बिकल बिलोकि भालु कपि धाये। बिहँसा जबहिँ निकट कपि आये॥४॥

राक्षस के काले काले शरीर में से रक्त बहता था, वह ऐसा शोभित होता था मानों काजल के पहाड़ पर गेरू के पनारे बह रहे हों। कुम्भकर्ण को विकल देखकर रीछ और बन्दर दौड़े। ज्यों ही वे बन्दर निकट पहुँचे त्यों ही वह हँसा॥ ४॥

दो०—महानाद करि गर्जा कोटि कोटि गहि कीस।
महि पटकइ गजराज इव सपथ करइ दससीस॥९१॥

वह सिंह के समान बड़ी गर्जना कर करोड़ करोड़ बन्दरों को पकड़कर मस्त हाथी के समान उन्हें ज़मीन पर पटकता और रावण की दुहाई देता था॥ ९१॥

चौ०—भागे भालु-बलीमुख-जूथा। बृक बिलोकि जिमि मेषबरूथा॥
चले भागि कपि भालु भवानी। बिकल पुकारत आरतबानी॥१॥

फिर जिस तरह भेड़िये को देखकर भेड़ों का झुण्ड भागता है, उस तरह कुम्भकर्ण को देख रीछ और बन्दरों के समूह भागने लगे। शिवजी कहते हैं—हे भवानी! वे बन्दर बेहाल हो आर्त वाणी से पुकारते हुए भाग खड़े हुए॥ १॥

यह निसिचर दु-काल-सम अहई। कपिकुल देस परन अब चहई॥
कृपा - बारि - धर राम खरारी। पाहि पाहि प्रनतारतिहारी॥२॥

वे कहने लगे—यह राक्षस अकाल के समान है और अब वानर-समूह-रूपी देश पर पड़ना चाहता है। दुष्टों के दमन करनेवाले, जनों की पीड़ा हरनेवाले, कृपारूपी जलधर हे रामचन्द्रजी! आप रक्षा करो, रक्षा करो॥ २॥

स-करुन-बचन सुनत भगवाना। चले सुधारि सरासनबाना॥
राम सेन निज पाछे घाली। चले सकोप महा-बल-साली॥३॥

बन्दरों के करुणा-भरे वचनों को सुनकर भगवान् रामचन्द्रजी धनुष-बाण सुधार कर चले। महाबलशाली रामचन्द्रजी अपनी सेना को पीछे करके आप आगे बढ़े॥ ३॥

गगन समीर अनल जल धरनी ।
इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी ॥ पृ० ८९४

खैंचि धनुष सत सर संधाने। छूटे तीर सरीर समाने ॥
लागत सर धावा रिसभरा। कुधर डगमगत डोलति धरा ॥४॥

उन्होंने धनुष खींचकर सौ बाण सन्धान किये। वे तीर छूटकर राक्षस के शरीर में धँस गये। उन बाणों के लगते ही कुम्भकर्ण क्रोध में भरकर दौड़ा। उस समय पहाड़ डगमगाने और धरती डोलने लगी ॥ ४ ॥

लीन्ह एक तेहि सैल उपाटी। रघु-कुल-तिलक भुजा सोइ काटी ॥
धावा बामबाहु गिरि धारी। प्रभु सोउ भुजा काटि महि पारी ॥५॥

उस (कुम्भकर्ण) ने दौड़कर ज्योंही एक पहाड़ उखाड़ कर हाथ में लिया त्योंही रामचन्द्रजी ने वह भुजा काट डाली। तब वह राक्षस बायें हाथ में पहाड़ लेकर दौड़ा, फिर प्रभु ने वह भुजा भी काटकर धरती पर गिरा दी ॥ ५ ॥

काटे भुजा सोह खल कैसा। पच्छहीन मंदरगिरि जैसा ॥
उग्र बिलोकनि प्रभुहि बिलोका। ग्रसन चहत मानहुँ त्रयलोका ॥६॥

भुजाओं के कट जाने पर वह दुष्ट कुंभकर्ण कैसा शोभित हुआ ? मानों बिना पङ्ख का मन्दराचल पर्वत खड़ा हो। उसने प्रभु रामचन्द्रजी की ओर उग्र दृष्टि से (आँखें निकालकर) ऐसा देखा, मानों वह त्रिलोकी को खा जाना चाहता है ॥ ६ ॥

दो०—करि चिकार अति घोरतर धावा बदन पसारि।
गगन सिद्ध सुर त्रसित सब हा हा होति पुकारि ॥९२॥

वह बड़ी भयङ्कर चिक्कार कर मुँह फाड़कर दौड़ा। आकाश में स्थित सिद्ध और देवता सब डर गये; हाय ! हाय ! ! की चिल्लाहट होने लगी ॥ ९२ ॥

चौ०—सभय देव करुनानिधि जानेउ। स्रवन प्रजंत सरासन तानेउ ॥
बिसिखनिकर निसि-चर-मुख भरेऊ। तदपि महाबल भूमि न परेऊ ॥

करुणानिधान रामचन्द्रजी ने देवताओं को डरा हुआ जानकर धनुष को कानों तक ताना और बाण-समूहों से कुंभकर्ण का सारा मुँह भर दिया, तो भी वह महाबली राक्षस पृथ्वी पर न गिरा ॥ १ ॥

सरन्हि भरा सो सनमुख धावा। कालत्रोन सजीव जनु आवा ॥
तब प्रभु कोपि तीव्र सर लीन्हा। धर तें भिन्न तासु सिर कीन्हा ॥२॥

बाणों से मुख भरा हुआ वह राक्षस ऐसा दौड़ा मानों कालरूपी तरकस सजीव होकर आया हो। तब प्रभु रामचन्द्रजी ने क्रोधित होकर एक तीक्ष्ण बाण लिया और उससे कुम्भकर्ण का मस्तक काट धड़ से अलग कर दिया ॥ २ ॥

सो सिरु परेउ दसानन आगे। बिकल भयेउ जिमि फनि मनि त्यागे॥
धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा। तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा॥३॥

वह मस्तक रावण के सम्मुख जाकर गिरा। उसको देखकर रावण ऐसा विकल हुआ जैसे मणि छूट जाने पर सर्प होता है। कुंभकर्ण का प्रचंड धड़ धरती को धँसाता हुआ दौड़ा, तब प्रभु रामचन्द्रजी ने काटकर उसके दो टुकड़े कर दिये॥ ३॥

परे भूमि जिमि नभ तें भूधर। हेठ दाबि कपि भालु निसाचर॥
तासु तेज प्रभुबदन समाना। सुर मुनि सबहि अचंभौ माना॥४॥

धड़ के वे दोनों टुकड़े धरती पर ऐसे गिरे मानों आकाश से पहाड़ गिरे हों। उनके नीचे रीछ और बन्दर दब गये। कुम्भकर्ण का तेज प्रभु रामचन्द्रजी के श्रीमुख में समा गया। यह देखकर देवता और मुनि सबने आश्चर्य माना॥ ४॥

सुर दुंदुभी बजावहिं हरषहिं। अस्तुति करहिं सुमन बहु बरषहिं॥
करि बिनती सुर सकल सिधाये। तेही समय देवरिषि आये॥५॥

देवता प्रसन्न होकर नगारे बजाने लगे और बहुत-सी पुष्प-वर्षा कर रामचन्द्रजी की स्तुति करने लगे। जब सब देवता प्रार्थना कर चले गये उसी समय नारदजी आये॥ ५॥

गगनोपरि हरि-गुन-गन गाये। रुचिर बीररस प्रभुमन भाये॥
बेगि हतहु खल कहि मुनि गये। रामु समर महि सोहत भये॥६॥

वे आकाश में ठहरकर सुन्दर वीर-रस भरे भगवान् के गुण गाने लगे। वे प्रभु के मन में प्रिय लगे। फिर 'दुष्टों को जल्दी मारो' ऐसा कहकर नारदजी चले गये और रामचन्द्रजी रणभूमि में शोभित हुए॥ ६॥

छंद—संग्रामभूमि बिराज रघुपति अतुलबल कोसलधनी।
स्रमबिंदु मुख राजीवलोचन अरुन तन सोनितकनी॥
भुजजुगल फेरत सरसरासन भालु कपि चहुँ दिसि बने।
कह दास तुलसी कहि न सक छबि सेष जेहि आनन घने॥

श्रीरघुनाथजी रणभूमि में विराजमान हैं, उनका अतोल बल है, वे कोसल देश के स्वामी हैं, उनके श्रीमुख पर पसीने की बूँदें हैं, उनके कमल के समान विशाल नेत्र हैं और शरीर पर रक्त के लाल छींटे हैं। वे अपनी दोनों भुजाओं से धनुष-बाण फिराते हैं। उनके चारों ओर रीछ और बन्दर शोभित हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि उस समय की उनकी छवि, जिनके बहुत (हज़ार) मुख हैं वे, शेषजी भी नहीं कह सकते॥

दो०—निसिचर अधम मलाकर ताहि दीन्ह निज धाम ।
गिरिजा ते नर मंदमति जे न भजहिँ श्रीराम ॥९३॥

शंकरजी कहते हैं—हे पार्वति ! जो राक्षस, नीच, अवगुणों की खानि था, उसको भी जिन्होंने परम धाम दिया उन श्रीरामचन्द्रजी का भजन जो नहीं करते वे मनुष्य मन्दबुद्धि हैं ॥ ९३ ॥

चौ०—दिन के अंत फिरी दोउ अनी । समर भई सुभटन्ह स्रम घनी ॥
रामकृपा कपिदल बलु बाढा । जिमि तृन पाइ लाग अति डाढा ॥१॥

दिन के अन्त होने पर दोनों सेनायें लौटीं । आज युद्ध में उत्तम योद्धाओं को बहुत परिश्रम पड़ा । रामचन्द्रजो की कृपा से बन्दरों की फौज का बल ऐसा बढ़ा, जैसे फूस पाकर आग की ज्वाला खूब बढ़े ॥ १ ॥

छीजहिँ निसिचर दिन अरु राती । निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती ॥
बहु बिलाप दसकंधर करई । बंधुसीस पुनि पुनि उर धरई ॥२॥

राक्षस दिन-रात ऐसे घटने लगे, जैसे अपने मुँह से वर्णन करने पर पुण्य क्षीण हो जाते हैं । रावण अपने भाई कुंभकर्ण के मस्तक को बार बार छाती पर रख रख कर बहुत बिलाप करने लगा ॥ २ ॥

रोवहिँ नारि हृदय हति पानी । तासु तेज बल बिपुल बखानी ॥
मेघनाद तेहि अवसर आवा । कहि बहु कथा पिता समुझावा ॥३॥

कुम्भकर्ण के तेज और विशाल बल का वर्णन करती हुई स्त्रियाँ हाथों से छाती पोट पीट कर रोने लगीं । उस अवसर पर वहाँ मेघनाद आया । उसने तरह तरह की बातें कह कर पिता रावण को समझाया ॥ ३ ॥

देखेहु कालि मोरि मनुसाई । अबहिँ बहुत का करउँ बड़ाई ॥
इष्टदेव सोँ बल रथ पायउँ । सो बल तात न तोहि देखायउँ ॥४॥

उसने कहा—आप कल मेरी बहादुरी देखना, अभी बहुत क्या बड़ाई करूँ । पिता जी ! मैंने इष्टदेव से जो बल और रथ पाया है, वह तुमको नहीं दिखाया है ॥ ४ ॥

एहि बिधि जलपत भयउ बिहाना । चहुँ दुआर लागे कपि नाना ॥
इत कपि भालु कालसम बीरा । उत रजनीचर अति-रन-धीरा ॥५॥
लरहिँ सुभट निज निज जय हेतू । बरनि न जाइ समर खगकेतू ॥६॥

उसे इसी तरह बड़बड़ाते बड़बड़ाते सबेरा हो गया। लङ्का के चारों दरवाजों में अनेक बन्दर जा लगे। इस ओर काल के समान वीर रीछ और बन्दर थे, उस ओर अत्यन्त रणधीर राक्षस थे॥ ५॥ वे अच्छे वीर अपनी अपनी जीत होने के लिए लड़ रहे हैं। काकभुशुण्डजी कहते हैं—हे गरुड़! वह युद्ध वर्णन नहीं करते बनता॥ ६॥

दो०—मेघनाद मायामय रथ चढ़ि गयउ अकास।

गर्जेउ अट्टहास करि भइ कपिकटकहि त्रास॥९४॥

मेघनाद माया के रथ पर सवार होकर आकाश में गया और अट्टहास हँसकर गर्जा, जिससे वानरों के कटक में भय समा गया॥ ९४॥

चौ०—सक्ति सूल तरवारि कृपाना। अस्त्र सस्त्र कुलिसायुध नाना॥

डारइ परसु परिघ पाषाना। लागेउ वृष्टि करइ बहु बाना॥१॥

वह आकाश से शक्ति, साँग, तलवारें, कृपाण, वज्र आदि अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र और फरसे, परिघ और पत्थर फेंकने लगा, तथा बहुत से बाणों की वर्षा करने लगा॥ १॥

दस दिसि रहे बान नभ छाई। मानहुँ मघा मेघ झरि लाई॥

धरु धरु मारु सुनिअ धुनि काना। जो मारइ तेहि कोउ न जाना॥२॥

आकाश में दसों दिशाओं में बाण छा रहे थे, मानों मघा नक्षत्र में मेघों ने पानी की झड़ी लगा दी हो। 'पकड़ो, पकड़ो, मारो, मारो' यही शब्द कानों से सुन पड़ता था। किन्तु शस्त्र चलानेवाले को कोई भी नहीं जान सकता था!॥ २॥

गहि गिरि तरु अकास कपि धावहिँ। देखहिँ तेहि न दुखित फिरि आवहिँ॥

अवघट घाट बाट गिरि कंदर। मायाबल कीन्हेसि सरपंजर॥३॥

बन्दर पहाड़ और वृक्ष हाथों में ले लेकर आकाश में जाते थे, पर मेघनाद को न देख दुखी होकर लौट आते थे। मेघनाद ने दुर्गम घाटियों, मार्गों और पर्वतों की गुफाओं को राक्षसी माया के बल से बाणों के पींजरे बना दिये॥ ३॥

जाहिँ कहाँ भये ब्याकुल बंदर। सुरपति बंदि परे जनु मंदर॥

मारुतसुत अंगद नल नीला। कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला॥४॥

बन्दर अब कहाँ जायँ? वे ऐसे व्याकुल हुए, मानों मन्दराचल पर्वत देवराज इन्द्र की क़ैद में पड़ गया। उसने हनुमान्, अङ्गद, नल और नील आदि बलशाली सभी बन्दरों को व्याकुल कर दिया॥ ४॥

पुनि लछिमन सुग्रीवँ बिभीषन। सरन्हि मारि कीन्हेसि जर्जरतन॥

पुनि रघुपति सन जूझइ लागा। सर छाडइ होइ लागहिँ नागा॥५॥

खगपति जाकर नाम जपि मुनि काटहिँ भवपास।
सो प्रभु आत्र कि बंध तर ब्यापक विश्वनिवास ॥ पृ० ८९९

फिर उसने लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषण को बाण मार मारकर उनके शरीर जर्जर (ढीले) कर दिये। फिर वह रघुनाथजी से लड़ने लगा। वह जिन बाणों को छोड़ता था, वे नाग बन बनकर जा लगते थे ॥ ५ ॥

ब्याल-पास-बस भयउ खरारी। स्वबस अनंत एक अबिकारी ॥
नट इव कपटचरित कर नाना। सदा स्वतंत्र एक भगवाना ॥६॥
रनसोभा लगि प्रभुहिँ बँधावा। देखि दसा देवन्ह भय पावा ॥७॥

जो परमात्मा स्वतंत्र, अंत-रहित और विकार-रहित हैं वे आज नाग-पाश के अधीन हो गये! वे नट के समान ये सब अनेक प्रकार के बनावटी चरित्र कर रहे हैं, यद्यपि वे सदा स्वतंत्र अद्वितीय भगवान् हैं ॥ ६ ॥ युद्ध की शोभा के लिए प्रभु रामचन्द्रजी ने आप ही अपने को बँधा लिया। उनकी बंधन-दशा देखकर देवता डरने लगे ॥ ७ ॥

दो०—खगपति जाकर नामु जपि मुनि काटहिँ भवपास।
सो प्रभु आव कि बंध तर ब्यापक बिस्वनिवास ॥९५॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे गरुड़! जिसके नाम का जप कर मुनि लोग संसार का बंधन काट देते हैं वह व्यापक, जगन्निवास परमात्मा भी क्या कभी किसी के बन्धन के नीचे आ सकता है? ॥ ९५ ॥

चौ०—चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाहिँ बुद्धि बल बानी ॥
अस बिचारि जे तग्य बिरागी। रामहिँ भजहिँ तर्क सब त्यागी ॥१॥

हे भवानी! रामचन्द्रजी के सगुण स्वरूप के चरित्रों का अनुमान या निरूपण बुद्धि-बल और वाणी से नहीं हो सकता। ऐसा सोचकर जो तज्ञ अर्थात् उनके जाननेवाले और वैराग्यवान् हैं वे सब तर्कों को छोड़ श्रीरामचन्द्रजी का भजन करते हैं ॥ १ ॥

ब्याकुल कटक कीन्ह घननादा। पुनि भा प्रगट कहइ दुर्बादा ॥
जामवंत कह खल रहु ठाढा। सुनि करि ताहि क्रोध अति बाढा ॥२॥

मेघनाद ने बन्दरों के सारे दल को व्याकुल कर दिया, फिर आप भी प्रकट होकर दुष्ट वचन कहने लगा। तब जाम्बवान् ने कहा कि अरे दुष्ट! खड़ा रह। यह सुनकर मेघनाद को बड़ा क्रोध बढ़ा ॥ २ ॥

बूढ जानि सठ छाँडेउँ तोही। लागेसि अधम पचारइ मोही ॥
अस कहि तीब्र त्रिसूल चलावा। जामवंत कर गहि सोइ धावा ॥३॥

"अरे नीच! तुझे बुड्ढा समझकर मैंने छोड़ दिया, सो तू मुझे ललकारता है!" ऐसा कहकर उसने एक तीक्ष्ण त्रिशूल चलाया। जाम्बवान् उसी त्रिशूल को पकड़कर झपटा ॥ ३ ॥

मारेसि मेघनाद के छाती। परा धरनि घुर्मित सुरघाती ॥
पुनि रिसान गहि चरन फिरावा। महि पछारि निज बल देखरावा ॥४॥

और मेघनाद को छाती में उसको मार दिया। वह राक्षस चक्कर खाकर धरती पर गिर गया। फिर जाम्बवान् ने क्रोधित हो उसके पाँव पकड़कर घुमाकर उसे धरती पर पछाड़ दिया। यों उसने अपनी शक्ति दिखा दी ॥ ४ ॥

बरप्रसाद सो मरइ न मारा। तब गहि पद लंका पर डारा ॥
इहाँ देवरिषि गरुड पठावा। रामसमीप सपदि सो आवा ॥५॥

वरदान के प्रभाव से जब मेघनाद मारे न मरा, तब फिर जाम्बवान् ने टाँग पकड़कर उसको लङ्का में फेंक दिया। तब तक यहाँ नारदजी ने गरुड़जी को भेज दिया। वे तुरन्त ही रामचन्द्रजी के समीप आये ॥ ५ ॥

दो०—खगपति सब धरि खाये माया-नाग-बरूथ।
माया-बिगत भये सब हरषे बानरजूथ ॥९६॥

उन माया-रचित साँपों के झुण्डों को गरुड़जी पकड़ पकड़कर खा गये। उसी समय सबकी माया दूर हो गई और वानर-गण प्रसन्न हो गये ॥ ९६ ॥

गहि गिरि पादप उपल नख धाये कीस रिसाइ।
चले तमीचर बिकलतर गढ पर चढे पराइ ॥९७॥

फिर बन्दर क्रोधित हो पहाड़, वृक्ष और पत्थर चंगुल में ले लेकर दौड़े। तब राक्षस व्याकुल होकर भागकर लङ्का के क़िले पर चढ़ गये ॥ ९७ ॥

चौ०—मेघनाद कै मुरछा जागी। पितहि बिलोकि लाज अति लागी ॥
तुरत गयेउ गिरि-बर-कंदरा। करउँ अजय मख अस मन धरा ॥१॥

इधर जब मेघनाद की मूर्छा गई और चेत हुआ तब पिता रावण को वहाँ देखकर उसे बड़ी शरम लगी। और वह अजय-यज्ञ (जिसके करने पर उसे कोई जीत न सके) करने का मन में निश्चय कर तुरन्त पर्वत की गुफा में गया ॥ १ ॥

सो सुधि पाइ बिभीषन कहई। सुनु प्रभु समाचार अस अहई ॥
मेघनाद मख करइ अपावन। खल मायाबी देवसतावन ॥२॥

यह खबर पाकर विभीषण रामचन्द्रजी से कहने लगा कि प्रभु, समाचार यह है कि मेघनाद—जो अपावन, दुष्ट, मायावी और देवतों को सतानेवाला है—यज्ञ कर रहा है ॥२॥

जौं प्रभु सिद्ध होइ सो पाइहि। नाथ बेगि रिपु जीति न जाइहि॥
सुनि रघुपति अतिसय सुख माना। बोले अंगदादि कपि नाना॥३॥

हे नाथ! जो वह यज्ञ सिद्ध हो जाने पावेगा, तो यह शत्रु जल्दी नहीं जीता जायगा। यह विचार सुनकर रामचन्द्रजी ने अत्यन्त सुख माना और अङ्गद आदि अनेक बन्दरों को बुलवाया॥ ३॥

लछिमन संग जाहु सब भाई। करहु बिधंस जग्य कर जाई॥
तुम्ह लछिमन मारेहु रन ओही। देखि सभय सुर दुख अति मोही॥४॥

उनसे कहा—भाइयो! तुम सब लक्ष्मण के साथ जाओ और जाकर यज्ञ का विध्वंस करो। और लक्ष्मण! तुम युद्ध में उसको मार डालना। देवतों को भयभीत देखकर मुझे अत्यन्त दुःख होता है॥ ४॥

मारेहु तेहि बल बुद्धि उपाई। जेहि छीजइ निसिचर सुनु भाई॥
जामवंत सुग्रीवँ बिभीषन। सेन समेत रहेहु तीनिउँ जन॥५॥

हे भाई लक्ष्मण! तुम उसको ऐसे बल और बुद्धि के उपायों से मारना, जिसमें वह राक्षस नष्ट हो जाय। हे जाम्बवान्, सुग्रीव और विभीषण! तुम तीनों सेना-समेत इनके साथ रहना॥ ५॥

जब रघुबीर दीन्हि अनुसासन। कटि निषंग कसि साजि सरासन॥
प्रभुप्रताप उर धरि रनधीरा। बोले घन इव गिरा गँभीरा॥६॥

जब रघुवीर ने आज्ञा दी तब रणधीर लक्ष्मणजी कमर में तरकस कसकर, धनुष को सजाकर और प्रभु रामचन्द्रजी के प्रताप को हृदय में रखकर मेघ के समान गंभीर वाणी से बोले—॥ ६॥

जौं तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघु-पति-सेवक न कहावउँ॥
जौं सत शंकर करहिँ सहाई। तदपि हतउँ रघु-बीर-दोहाई॥७॥

जो मैं आज उसको बिना मारे लौटूँ तो रघुनाथजी का दास नहीं कहाऊँ। जो सौ शङ्कर भी उसकी सहायता करेंगे, तो भी मैं मारूँगा। मुझे रघुवीर की सौगन्ध है॥ ७॥

दो०— बंदि राम-पद-कमल जुग चलेउ तुरंत अनंत।
अंगद नील मयंद नल संग ऋषभ हनुमंत॥६८॥

इतना कह शेषावतार लक्ष्मणजी रघुनाथजी के चरणकमलों में मस्तक नवाकर तुरन्त चल दिये। उनके साथ अङ्गद, नल, नील, मयन्द, ऋषभ और हनुमानजी थे॥ ९८॥

चौ०—जाइ कपिन्ह सो देखा बैसा। आहुति देत रुधिर अरु भैंसा॥
कीन्ह कपिन्ह सब जग्य बिधंसा। जब न उठइ तब करहिं प्रसंसा॥१॥

बन्दरों ने जाकर देखा कि मेघनाद आसन पर बैठा हुआ रुधिर और भैंसे के मांस की आहुति दे रहा है। सब बन्दरों ने मिलकर यज्ञ विध्वंस कर दिया, इतने पर भी जब वह न उठा तो वे उसकी प्रशंसा करने लगे॥ १॥

तदपि न उठइ धरेन्हि कच जाई। लातन्हि हति हति चले पराई॥
लेइ त्रिसूल धावा कपि भागे। आये जहँ रामानुज आगे॥२॥

फिर भी वह न उठा, तो जाकर उन्होंने उसके बाल पकड़े, फिर उसको लातों से मार मारकर वे भाग गये। तब मेघनाद हाथ में त्रिशूल लेकर दौड़ा। बन्दर वहाँ से भाग कर जहाँ लक्ष्मणजी खड़े थे, वहाँ आ गये॥ २॥

आवा परम क्रोध कर मारा। गर्ज घोररव बारहिं बारा॥
कोपि मरुतसुत अंगद धाये। हति त्रिसूल उर धरनि गिराये॥३॥

बड़े भारी क्रोध का मारा मेघनाद आया। वह बारम्बार घोर शब्द से गर्जने लगा। जब वायुपुत्र और अङ्गद क्रोधित होकर दौड़े, तो उसने छाती में त्रिशूल मारकर दोनों को धरती पर गिरा दिया॥ ३॥

प्रभु कहँ छाँडेसि सूल प्रचंडा। सर हति कृत अनंत जुग खंडा॥
उठि बहोरि मारुति जुबराजा। हतहिं कोपि तेहि घाउ न बाजा॥४॥

उसने लक्ष्मणजी पर प्रचंड त्रिशूल छोड़ा, तो लक्ष्मणजी ने बाण से उसके दो टुकड़े कर दिये। फिर हनुमान् और अङ्गद उठे और क्रोध कर उसको मारने लगे, पर उसको चोट न लगी॥ ४॥

फिरे बीर रिपु मरइ न मारा। तब धावा करि घोर चिकारा॥
आवत देखि क्रुद्ध जनु काला। लछिमन छाँडे बिसिख कराला॥५॥

जब शत्रु मारने से भी न मरा, तब योद्धा लौट पड़े और वह घोर चिक्कारकर दौड़ा। उसको क्रोध भरे हुए मूर्तिमान् काल जैसा देखकर लक्ष्मणजी ने उस पर तीक्ष्ण बाण छोड़े॥ ५॥

देखेसि आवत पबिसम बाना। तुरत भयउ खल अंतरधाना॥
बिबिध बेष धरि करइ लराई। कबहुँक प्रगट कबहुँ दुरि जाई॥६॥

उस दुष्ट ने जब वज्र के समान बाण आते देखे तब वह तुरन्त अंतर्द्धान हो गया। वह तरह तरह के वेष धरकर लड़ने लगा। वह कभी तो प्रकट होता था और कभी छिप जाता था॥ ६॥

देखि अजय रिपु डरपे कीसा। परम क्रुद्ध तब भयउ अहीसा॥
एहि पापिहिँ मैं बहुत खेलावा। लछिमन मन अस मंत्र दृढावा॥७॥

यों शत्रु को अजय देखकर बन्दर डरे, तब लक्ष्मणजी अत्यन्त क्रोधित हुए। उन्होंने मन में यह विचार पक्का किया कि मैंने इस पापी को बहुत खिलाया॥ ७॥

सुमिरि कोसलाधीस-प्रतापा। सरसंधान कीन्ह करि दापा॥
छाँडेउ बान माँझ उर लागा। मरती बार कपट सब त्यागा॥८॥

फिर उन्होंने कोशलाधीश रामचन्द्रजी के प्रताप को यादकर गर्व के साथ[१] बाण चढ़ाया और उस बाण को छोड़ा। वह जाकर मेघनाद की बीच छाती में लगा। उसने मरते समय सब कपट त्याग दिया॥ ८॥

दो०—रामानुज कहँ राम कहँ अस कहि छाँडेसि प्रान।
धन्य सक्रजित मातु तव कह अंगद हनुमान॥६६॥

लक्ष्मण कहाँ हैं, रामचन्द्र कहाँ हैं, ऐसा कहकर उसने प्राण छोड़ दिये। तब अङ्गद और हनुमान् ने कहा कि इन्द्रजित्! तुम्हारी माता धन्य है, धन्य है[२]॥ ९९॥

चौ०—बिनु प्रयास हनुमंत उठावा। लंकाद्वार राखि तेहि आवा॥
तासु मरन सुनि सुर गंधर्बा। चढि बिमान आये नभ सर्बा॥१॥

१—श्रीरामचन्द्रजी के प्रताप का स्मारक अभिमान का प्रतिज्ञा-वचन यह है—"धर्मात्मा सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यदि। पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वस्तदैनं जहि रावणिम्।" अर्थात् यदि दशरथपुत्र रामचन्द्रजी धर्मात्मा, सत्यप्रतिज्ञ और पराक्रम में अप्रतिद्वन्द्व (जिनके बराबर दूसरा न हो) हों, तो हे बाण! तू इस रावणपुत्र (इन्द्रजित्) का नाश कर। वा० यु० स० ९१।

२—यहाँ मूल में 'कह' पाठ लिखा है। कई पुस्तकवालों ने यह लिखा है अर्थात् लक्ष्मणजी को स्मरण कर फिर रामचन्द्रजी को स्मरण कर उसने प्राण छोड़े, परंतु ऐसा करने में 'अस कहि' शब्द व्यर्थ होता है, इसलिए 'कहँ' वाला पाठ और अर्थ ठीक है। मेघनाद ने मरते समय पहले लक्ष्मणजी को स्मरण कर शक्ति मारकर जो उन्हें क्लेश दिया था, उसके लिए क्षमा-प्रार्थना की। अङ्गद हनुमान् ने उसकी माता मन्दोदरी को इसलिए धन्यवाद दिया कि वह रामभक्त थी। अपने जन्म के समय मेघ की-सी गर्जना करने के कारण उसका मेघनाद नाम हुआ और इन्द्र से युद्ध कर उसको जीतने के कारण उसका नाम इन्द्रजित् हुआ। इसने इन्द्र को पकड़कर क़ैद कर लिया था, तब ब्रह्मा ने उसे आकर छुड़वाया और उन्होंने एक अमोघ शक्ति देकर वर दिया था कि यह शक्ति जिसको तुम मारोगे वह एक रात्रि उपाय न होने से निश्चय मर जायगा। यही बात हनुमान्जी से जानकर भरतजी ने कहा था 'तात गहरु होइहि तव जाता। काज नसाइहि होत प्रभाता।' इंद्रजित् को देवी ने प्रसन्नता से गुप्त रथ दिया था, जिस पर बैठकर इसने अदृश्य युद्ध कर नागपाश में राम-लक्ष्मण दोनों को बाँधा था।

फिर उसको हनुमान्‌जी बिना परिश्रम[1] उठाकर लङ्का के दरवाज़े पर रख आये। मेघनाद का मरना सुन कर देवता और गंधर्व सब विमानों में बैठ बैठकर आकाश में आये ॥१॥

बरषि सुमन दुंदुभी बजावहिँ। श्री-रघु-बीर-बिमल-जस गावहिँ॥
जय अनंत जय जगदाधारा। तुम्ह प्रभु सब देवन्ह निस्तारा॥२॥

वे पुष्प-वर्षा कर नगारे बजाने और श्रीरघुवीर का शुद्ध यश गाने लगे। उन्होंने कहा—हे अनंत! हे जगदाधार! आपकी जय हो! जय हो!! हे प्रभु! आपने सब देवतों का निस्तार (छुटकारा) कर दिया॥ २॥

अस्तुति करि सुर सिद्ध सिधाये। लछिमनु कृपासिंधु पहिँ आयेँ॥
सुतबध सुना दसानन जबहीँ। मुरछित भयउ परेउ महि तबहीँ॥३॥

देवता और सिद्ध स्तुति करके चले गये और लक्ष्मणजी कृपासागर रामचन्द्रजी के पास आये। रावण ने ज्योंहीं पुत्र का वध सुना, त्योंही वह मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ा॥३॥

मंदोदरी रुदन करि भारी। उर ताडत बहु भाँति पुकारी॥
नगर लोग सब ब्याकुल सोचा। सकल कहहिँ दसकंधर पोचा॥४॥

मन्दोदरी भारी रोदन कर छाती पीटने और बहुत तरह से चिल्लाने लगी। नगर के लोग सब सोच से व्याकुल हुए और कहने लगे कि रावण नीच है॥ ४॥

दो०—तब दसकंठ अनेक बिधि समुझाई सब नारि।
नस्वररूप जगत सब देखहु हृदय बिचारि॥१००॥

तब रावण ने नाना प्रकार की युक्तियों से सब स्त्रियों को समझाया कि यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् नाशवान् है, ऐसा अपने हृदय में विचारकर देखो॥ १००॥

चौ०—तिन्हहिँ ग्यानु उपदेसा रावन। आपुनु मंद कथा सुभ भावन॥
परउपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिँ ते नर न घनेरे॥१॥

रावण ने उनको तो ज्ञानोपदेश किया, पर अपने लिए उसको बुरी बातें अच्छी लगती थीं। सच है—दूसरे को उपदेश देने में चतुर तो बहुत होते हैं, पर उपदेशानुसार आचरण करनेवाले बहुत थोड़े होते हैं॥ १॥

१—यहाँ बिन प्रयास से यह सूचित किया कि लक्ष्मणजी को शक्ति लगने पर मेघनाद जैसे हज़ारों वीर उन्हें उठाने लगे तो भी वे न उठे, और इसको तो अकेले ही हनुमान्‌जी ने उठा लिया, इतना हलकापन दिखाया। लङ्का के दरवाज़े पर इसलिए डाला कि वह तो लक्ष्मणजी को लङ्का ले जाना चाहता था, पर यहाँ हनुमान्‌जी उसको लङ्का ही पहुँचा आये, या, मुर्दे को नगर में नहीं ले जाना चाहिए इसलिए दरवाज़े पर रखा दिया। अथवा—रावण मस्तक देख शर्मिन्दा होकर युद्ध में न आवे तो इस रुण्ड की दुर्दशा हो, इत्यादि अनेक कारण हैं।

निसा सिरानि भयउ भिनुसारा। लगे भालु कपि चारिहुँ द्वारा॥
सुभट बोलाइ दसानन बोला। रनसनमुख जा कर मन डोला॥२॥

वह रात भी बीत गई, सबेरा हो गया। रीछ और बन्दर चारों दरवाजों पर जा लगे। रावण ने अच्छे योद्धाओं को बुलाया और कहा—जिसका मन रण में सामना करने से डावाँडोल हो॥ २॥

सो अबहीं बरु जाउ पराई। संजुगबिमुख भये न भलाई॥
निज भुज-बल मैं बैर बढावा। देइहउँ उतरु जो रिपु चढि आवा॥३॥

उत्तम है कि वह अभी यहाँ से भाग जाय, पर रण से विमुख होने में उसके लिए भलाई नहीं है। मैंने अपनी भुजाओं के बल पर वैर बढ़ाया है और मुझ पर जो शत्रु चढ़कर आया है, उसको मैं उत्तर दे लूँगा॥ ३॥

अस कहि मरुतवेग रथु साजा। बाजे सकल जुझाऊ बाजा॥
चले बीर सब अतुलित बली। जनु कज्जल कै आँधी चली॥४॥
असगुन अमित होहिँ तेहि काला। गनइ न भुजबल गर्ब बिसाला॥५॥

ऐसा कहकर उसने वायु के समान वेगवाला रथ सजाया, और सब युद्ध के बाजे बजने लगे। सब अतुल बलवाले बलवान् वीर चले। वह दृश्य ऐसा मालूम होता था मानों काजल की आँधी चली हो॥ ४॥ उस समय अनगिनती अपशकुन होने लगे, पर अपनी विशाल भुजाओं के बल के अभिमान में रावण उनको कुछ नहीं गिनता था॥ ५॥

छंद—अति गर्ब गनइ न सगुन असगुन स्रवहिँ आयुध हाथ तेँ।
भट गिरत रथ तेँ बाजि गज चिक्करत भाजहिँ साथ तेँ॥
गोमायु गीध कराल खररव स्वान रोवहिँ अति घने।
जनु कालदूत उलूक बोलहिँ बचन परमभयावने॥

रावण महा अभिमान के मारे शकुन-अशकुन कुछ नहीं गिनता था। हाथों से हथियार खिसक जाते थे, योद्धा रथ से गिर पड़ते थे, घोड़े और हाथी चिङ्घाड़ कर साथ छोड़ छोड़कर भाग खड़े होते थे। सियार, गीध और कुत्ते कर्कश शब्दों से बहुत ही अधिक रोते थे, और उल्लू ऐसे भयङ्कर शब्द बोलते थे मानों वे काल के दूत ही हों॥

दो०—ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहुँ मन बिस्राम।
भूत-द्रोह-रत मोहबस रामबिमुख रतकाम॥१०१॥

जो प्राणियों से द्रोह करने में तत्पर हो, मोह के वश में हो, राम से विमुख हो, और कामासक्त हो उसको क्या स्वप्न में भी सम्पत्ति और शुभ शकुन हो सकते हैं, तथा उसके मन में विश्राम हो सकता है ? ॥ १०१ ॥

चौ०—चलेउ निसा-चर-कटकु अपारा। चतुरंगिनी अनी बहु धारा॥
बिबिध भाँति बाहन रथ जाना। बिपुल बरन पताक ध्वज नाना॥१॥

(युद्ध के लिए) अपार राक्षसों का कटक चला। कई श्रेणी चतुरंगिणी[१] सेना थी। उसमें कई तरह के रथ, सवारियाँ और विमान थे। कई तरह के रंगों की ध्वजा-पताकायें थीं ॥ १ ॥

चले मत्त गजजूथ घनेरे। प्राबिट-जलद मरुत जनु प्रेरे॥
बरन बरन बिरदैत निकाया। समरसूर जानहिँ बहु माया॥२॥

बहुत से मतवाले हाथियों के झुंड इस तरह चले, मानो वायु से उड़ाये हुए वर्षा-ऋतु के बादल चले हों। भाँति भाँति के कड़खा गानेवाले भाटों के झुंड थे, जो समर करने में शूर और बहुत तरह की माया जानते थे ॥ २ ॥

अति बिचित्र बाहनी बिराजी। बीर बसंत सेन जनु साजी॥
चलत कटकु दिगसिंधुर डगहीँ। छुभित पयोधि कुधर डगमगहीँ॥३॥

वह अत्यन्त रंग बिरंगी सेना थी, मानों वीर वसन्त-ऋतु की सेना सजी हो। उस दल के चलते समय दिग्गज विचलने लगे, समुद्र खलबलाने और पर्वत डगमगाने लगे ॥ ३ ॥

उठी रेनु रबि गयउ छपाई। पवन थकित बसुधा अकुलाई॥
पनव निसान घोररव बाजहिँ। प्रलयसमय के घन जनु गाजहिँ॥४॥

सेना के चलने से धूल उड़ी, जिसमें सूर्य छिप गया; वायु थकित हो गया, पृथ्वी व्याकुल हो गई। ढोल और निशान भयङ्कर शब्दों से ऐसे बजने लगे, मानों प्रलयकाल के मेघ गरज रहे हों ॥ ४ ॥

भेरि नफीरि बाज सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई॥
केहरिनाद बीर सब करहीँ। निज निज बल पौरुष उच्चरहीँ॥५॥

नगारे, नफीरी और शहनाई बजने लगे, उनमें शूर-वीरों को सुख देनेवाला मारू राग बजता था। सब वीर सिंहनाद करते थे और अपना अपना बल बहादुरी कहते थे ॥ ५ ॥

१—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल ये चारों अङ्ग जिसमें हों उस फौज का नाम चतुरंगिणी है। 'हस्त्यश्वरथपादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टयम्' इत्यमरः।

कहइ दसानन सुनहु सुभट्टा। मर्दहु भालु कपिन्ह के ठट्टा॥
हौं मारिहउँ भूप दोउ भाई। अस कहि सनमुख फौज रँगाई॥६॥
यह सुधि सकल कपिन्ह जब पाई। धाये करि रघु-बीर-दोहाई॥७॥

रावण कहने लगा—हे सुन्दर योद्धाओ! सुनो। तुम रीछों और बन्दरों के ठट्ठ (झुण्ड) को रगड़ डालो। मैं उन दोनों भाइयों को मारूँगा। ऐसा कह कर उसने अपनी फ़ौज सम्मुख चलाई॥ ६॥ जब यह ख़बर सब बन्दरों को मिली, तब वे रघुवीर की दोहाई देकर दौड़े॥ ७॥

छंद—धाये बिसाल कराल मरकट भालु कालसमान ते।
मानहुँ सपच्छ उडाहिँ भूधरबृंद नाना बान ते॥
नख-दसन-सैल-महाद्रुमायुध सबल संक न मानहीँ।
जय राम रावन-मत्त-गज-मृग-राज सुजस बखानहीँ॥

वे विशाल, भयङ्कर कालसमान बन्दर और रीछ इस तरह दौड़े मानों अनेक रंगों से सजे हुए पंख-वाले पहाड़ों के समूह उड़ते हों। उनके नाख़ून, दाँत, पहाड़ और बड़े बड़े वृक्ष ही हथियार थे। वे बड़े बली थे। वे किसी का डर नहीं मानते थे। वे लोग रावण-रूपी उन्मत्त हाथी के लिए सिंहस्वरूप श्रीरामचन्द्रजी की जय बोलते हुए उनके शुभ यश का वर्णन करते थे॥

दो०—दुहुँ दिसि जय जयकार करि निज निज जोरी जानि।
भिरे बीर इत रघुपतिहिँ उत रावनहिँ बखानि॥१०२॥

दोनों ओर से जय जयकार कर, अपनी अपनी जोड़ी ढूँढ़कर, वे वीर इधरवाले रघुनाथजी का और उधरवाले रावण का बखान कर भिड़ गये॥ १०२॥

चौ०—रावन रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा॥
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा॥१॥

उस समय रावण को तो रथ पर सवार और रामचन्द्रजी को बिना रथ (पैदल) देखकर विभीषण अधीर हो गये। रामचन्द्रजी पर विभीषण को बड़ी प्रीति थी इससे उनके मन में सन्देह हुआ। वे स्नेह के साथ रामचन्द्रजी के चरणों में प्रणाम कर कहने लगे—॥ १॥

नाथ न रथु नहिँ तनु पदत्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥
सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहि जय होइ सो स्यंदन आना॥२॥

हे नाथ, आपके न तो रथ है, और न पाँव में जूता है। ऐसे बलवान् वीर को आप किस तरह जीतेंगे? कृपानिधान रामचन्द्रजी ने कहा—हे सखा, सुनो। जिससे जीत होगी, वह रथ दूसरा ही है॥ २॥

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥३॥

उस रथ के शूरता और धैर्य ही पहिये हैं, सत्य और शील ही मज़बूत ध्वजा और पताका हैं। बल, विचार, संयम और परोपकाररूपी उसके घोड़े हैं, और वे क्षमा, कृपा और समतारूपी रस्सों से बँधे हैं॥ ३॥

ईसभजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥४॥

भगवद्भजनरूपी अति चतुर उसका सारथि है; वैराग्यरूपी ढाल और सन्तोषरूपी तलवार है। दानरूपी फरसा और बुद्धिरूपी प्रचंड शक्ति है; श्रेष्ठ विज्ञानरूपी कठिन धनुष है॥४॥

अमल अचल मन त्रोनसमाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र-गुरु-पूजा। एहि सम बिजयउपाय न दूजा॥५॥
सखा धर्ममय अस रथ जा के। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ता के॥६॥

निर्मल और स्थिर चित्त जिसका तरकस है, शम, यम, नियम आदि अनेक बाण हैं, और ब्राह्मण तथा गुरु-जनों का पूजारूपी अभेद्य कवच है। इसके बराबर विजय के लिए दूसरा उपाय नहीं है॥ ५॥ हे सखा! जिसके इस तरह का धर्ममय रथ हो उसके लिए जीतने को कहीं शत्रु नहीं है॥ ६॥

दो०—महा अजय संसाररिपु जीति सकइ सो बीर।
जा के अस रथ होइ दृढ सुनहु सखा मतिधीर॥१०३॥

हे धीरबुद्धि, सखा! सुनो। जिसके ऐसा मज़बूत रथ हो वही वीर संसाररूपी अजय शत्रु को जीत सकता है॥ १०३॥

सुनत बिभीषन प्रभुबचन हरषि गहे पदकंज।
एहि मिस मोहि उपदेस दिय राम कृपा सुखपुंज॥१०४॥

विभीषण ने प्रभु के वचन सुनते ही प्रसन्न होकर उनके चरण-कमल पकड़ लिये और कहा कि दया और सुख के पुंज हे राम परमात्मन्, आपने इस बहाने से मुझे उपदेश दिया है!॥ १०४॥

उत प्रचार दसकंधर इत अंगद हनुमान।
लरत निसाचर भालु कपि करि निज निज प्रभु आन॥१०५॥

उधर से रावण ने ललकारा, इधर से अङ्गद और हनुमान् ने, उधर से राक्षस और इधर से रीछ तथा बन्दर अपने अपने स्वामियों की दुहाई दे दे लड़ने लगे॥ १०५॥

चौ०—सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना। देखत रन नभ चढे बिमाना॥
हमहूँ उमा रहे तेहि संगा। देखत राम-चरित-रन-रंगा॥१॥

ब्रह्मादिक देवता, सिद्ध और अनेक ऋषि विमानों में बैठे हुए आकाश से रण को देख रहे थे। शिवजी कहते हैं—हे पार्वती, हम भी उनके साथ थे और उस रण-भूमि में रामचरित्र देख रहे थे॥१॥

सुभट समर रस दुहुँ दिसि माते। कपि जयसील रामबल ताते॥
एक एक सन भिरहिँ प्रचारहिँ। एकन्ह एक मर्दि महि पारहिँ॥२॥

दोनों ओर के वीर योद्धा लड़ाई के रस में मस्त हो रहे थे। रामचन्द्रजी के बल पर बन्दर विजयशील थे। एक दूसरे को ललकार कर लड़ते थे और एक दूसरे को मसलकर पृथ्वी पर गिरा देते थे॥२॥

मारहिँ काटहिँ धरनि पछारहिँ। सीस तोरि सीसन्ह सन मारहिँ॥
उदर बिदारहिँ भुजा उपारहिँ। गहि पद अवनि पटकि भट डारहिँ॥३॥

वे मारते थे, काटते थे, पृथ्वी पर दे मारते थे; सिर तोड़कर दूसरों को उन्हीं सिरों से मारते थे। पेट फाड़ डालते, भुजा उखाड़ डालते और योद्धाओं के पाँव पकड़ उन्हें पृथ्वी पर पछाड़ देते थे॥३॥

निसिचर भट महि गाड़हिँ भालू। ऊपर डारि देहिँ बहु बालू॥
बीर बलीमुख जुद्ध बिरुद्धे। देखिअत बिपुल काल जनु क्रुद्धे॥४॥

रीछ राक्षस योद्धाओं को धरती के भीतर गाड़ देते और ऊपर से बहुत सी बालू डाल देते। वीर बन्दर युद्ध में लड़ते हुए ऐसे दीखते थे मानों बहुत-से काल क्रोधित होकर आ पहुँचे हों॥४॥

छंद—क्रुद्धे कृतांत समान कपि तनु स्रवत सोनित राजहीं।
मर्दहिँ निसाचर कटक भट बलवंत घन जिमि गाजहीं॥
मारहिँ चपेटन्हि डाँटि दाँतन्ह काटि लातन्ह मीजहीं।
चिक्करहिँ मरकट भालु छल बल करहिँ जेहि खल छीजहीं॥

बन्दर यमराज के समान क्रोधित हो रहे थे। उनके शरीर बहते हुए रक्त से शोभित हो रहे थे। वे बलवान् राक्षसों की सेना के योद्धाओं को रगड़ते और बादल जैसे गरजते थे। वे चपेटों से मारते, डाँटते, दाँतों से काटते और लातों से पीस देते थे। रीछ और बन्दर किलकारी मारते और ऐसा छल बल करते कि जिससे दुष्ट राक्षस घटते जाते थे॥

धरि गाल फारहिँ उर बिदारहिँ गल अँतावरि मेलहीँ।
प्रह्लादपति जनु बिबिध तनु धरि समरअंगन खेलहीँ॥
धरु मारु काटु पछारु घोर गिरा गगन महि भरि रही।
जय राम जो तृन तेँ कुलिस कर कुलिस तेँ तृन कर सही॥

वे उन राक्षसों को पकड़कर उनके गाल फाड़ डालते, छाती विदीर्ण कर डालते और आँत निकाल गले में डालते थे। ऐसा ज्ञात होता था मानों नृसिंहजी अनेक शरीरधारी हो होकर रणभूमि के आँगन में खेल रहे हों। पृथ्वी से आकाश पर्यन्त पकड़ो, मारो, काटो, पछाड़ो, यही घोर शब्द छा रहा था। उन रामचन्द्रजी की जय हो जो निश्चय तिनके से वज्र और वज्र से तिनका कर देते हैं॥

दो०—निज दल बिचलत देखेसि बीस भुजा दस चाप।
रथ चढि चलेउ दसानन फिरहु फिरहु करि दाप॥१०६॥

जब रावण ने अपनी सेना विचलित होते देखी, तब बीसों भुजाओं में दश धनुष लेकर वह रथ पर सवार हो चला और घमंड के साथ सबसे कहने लगा कि लौटो, लौटो!॥ १०६॥

चौ०—धायेउ परम क्रुद्ध दसकंधर। सनमुख चले हूह दै बंदर॥
गहि कर पादप उपल पहारा। डारेन्हि ता पर एकहिँ बारा॥१॥

रावण अत्यन्त क्रोधित होकर दौड़ा, तब बन्दर भी हूहू करके सामने चले। उन्होंने हाथों में वृक्ष, पत्थर और पहाड़ ले लेकर रावण के ऊपर एक साथ डाल दिये॥ १॥

लागहिँ सैल बज्र तनु तासू। खंड खंड होइ फूटहिँ आसू॥
चला न अचल रहा रथ रोपी। रनदुर्मद रावन अति कोपी॥२॥

रावण को वज्र-देह में पहाड़ आदि लगते थे और वे तुरन्त ही टूट फूटकर टुकड़े टुकड़े हो जाते थे। रण के मद में चूर महाक्रोधी रावण अपनी जगह से न हटा; वह रथ रोककर अचल खड़ा रहा॥ २॥

इत उत झपटि दपटि कपिजोधा। मर्दै लाग भयउ अतिक्रोधा॥
चले पराइ भालु कपि नाना। त्राहि त्राहि अंगद हनुमाना॥३॥

वह बहुत ही क्रोधित होकर इधर-उधर झपट दपट कर योद्धा बन्दरों का मर्दन करने लगा, तब अनेक रीछ और बन्दर भाग चले और कहने लगे कि हे अङ्गद, हे हनुमान्, त्राहि त्राहि (बचाओ, बचाओ)॥ ३॥

पाहि पाहि रघुबीर गोसाईँ। यह खल खाइ काल की नाईँ॥
तेहि देखे कपि सकल पराने। दसहुँ चाप सायक संधाने॥४॥

हे स्वामी, रघुवीर! रक्षा करो, रक्षा करो! यह दुष्ट तो हमको काल के समान खाये जाता है। रावण ने जब सब बन्दरों को भागते हुए देखा, तब उसने दसों धनुष चढ़ाये ॥४॥

छंद—संधानि धनु सरनिकर छाडेसि उरग जिमि उडि लागहीं ॥
रहे पूरि सर धरनी गगन दिसि बिदिसि कहँ कपि भागहीं ॥
भयो अति कोलाहलु बिकल कपिदल भालु बोलहिं आतुरे।
रघुबीर करुनासिंधु आरतबंधु जनरच्छक हरे ॥

रावण ने धनुष संधान कर जो बाणों के समूह छोड़े, वे उड़ उड़कर साँप जैसे लगते थे। पृथ्वी, आकाश, सर्वत्र बाण भर गये और सब दिशाओं में बन्दर भागने लगे। बड़ा कोलाहल (हुल्लड़) मच गया। बन्दरों और रीछों के दल आतुर होकर पुकारने लगे—हे रघुवीर, दयासागर, आर्त्तबन्धु, जनरक्षक, हरे ॥

दो०—निज दल बिकल देखि कटि कसि निषंग धनु हाथ।
लछिमनु चले सक्रुद्ध होइ नाइ रामपद माथ ॥१०७॥

लक्ष्मणजी अपना दल व्याकुल हुआ देखकर कमर में भाथा कसकर, हाथ में धनुष लेकर क्रोधयुक्त हो, रामचन्द्रजी के चरणों में प्रणाम कर चले ॥ १०७ ॥

चौ०—रे खल का मारसि कपि भालू। मोहि बिलोकु तोर मैं कालू ॥
खोजत रहेउँ तोहि सुतघाती। आजु निपाति जुडावउँ छाती ॥१॥

उन्होंने रावण से कहा—अरे दुष्ट! तू बन्दरों और रीछों को क्या मारता है? तू मुझे देख, मैं तेरा काल हूँ। रावण ने कहा—अरे मेरे पुत्र के घातक! मैं तुझे ढूँढ़ता ही था; आज तुझे मारकर छाती ठंढी करूंगा ॥ १ ॥

अस कहि छाडेसि बान प्रचंडा। लछिमन किये सकल सतखंडा ॥
कोटिन्ह आयुध रावन डारे। तिल प्रमान करि काटि निवारे॥२॥

ऐसा कह कर रावण ने प्रचण्ड बाण छोड़े। लक्ष्मणजी ने उन सबके सौ सौ टुकड़े कर दिये! रावण ने करोड़ों हथियार चलाये, लक्ष्मणजी ने सबके तिल के समान टुकड़े कर उनको व्यर्थ कर दिया ॥ २ ॥

पुनि निज बानन्ह कीन्ह प्रहारा। स्यंदन भंजि सारथी मारा ॥
सत सत सर मारे दसभाला। गिरि स्रिंगन्ह जनु प्रबिसहिं ब्याला॥३॥

फिर लक्ष्मणजी ने अपने बाणों का प्रहार किया। उन्होंने रावण का रथ तोड़कर सारथि को मार डाला। फिर रावण के दसों मस्तकों में सौ सौ बाण मारे, वे उसके मस्तकों में ऐसे घुसे मानों पर्वतों के शिखरों में सर्प धँसे हों ॥ ३ ॥

सत सर पुनि मारा उर माहीँ। परेउ धरनितल सुधि कछु नाहीँ॥
उठा प्रबल पुनि मुरुछा जागी। छाडेसि ब्रह्म दीन्हि जो साँगी॥४॥

फिर उन्होंने छाती में सौ बाण मारे, तब वह अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। मूर्च्छा दूर होने पर वह प्रबल रावण फिर उठा और ब्रह्मा ने जो शक्ति दी थी वह उसने छोड़ी॥ ४॥

छंद—सो ब्रह्मदत्त प्रचंडसक्ति अनंतउर लागी सही।
परयौ बीर बिकल उठाव दसमुख अतुल बल महिमा रही॥
ब्रह्मांड भुवन बिराज जा के एक सिर जिमि रजकनी।
तेहि चह उठावन मूढ रावन जान नहिँ त्रि-भुवज-धनी॥

ब्रह्मा की दी हुई वह प्रचण्ड (अमोघ) शक्ति लक्ष्मणजी की ठीक छाती में लगी। इससे लक्ष्मणजी व्याकुल होकर गिर गये। रावण दौड़कर उनको उठाने लगा, परन्तु उनका बल और महिमा अतोल रही। जिनके (हजार में से) एक मस्तक पर चौदह लोकों समेत ब्रह्मांड (पृथ्वी) धूल के कण के समान रक्खा है, उन शेषजी को वह मूर्ख रावण उठाना चाहता था। वह न जानता था कि ये त्रिलोकी के नाथ हैं॥

दो०—देखत धायउ पवनसुत बोलत बचन कठोर।
आवत तेहि उर महँ हनेउ मुष्टिप्रहार प्रघोर॥१०८॥

रावण को इस तरह उन्हें उठाते देखकर वायुपुत्र हनुमान्‌जी कठोर वचन बोलते हुए दौड़े। उसने हनुमान्‌जी के आते ही उनकी छाती में बड़े जोर से घूँसा मारा॥ १०८॥

चौ०—जानु टेकि कपि भूमि न गिरा। उठा सँभारि बहुत रिसभरा॥
मुठिका एक ताहि कपि मारा। परेउ सैल जनु बज्रप्रहारा॥१॥

उस प्रहार से हनुमान्‌जी घुटने टेककर सम्हल गये, धरती पर गिरे नहीं और फिर सम्हलकर उठ खड़े हुए। उन्हें बड़ा क्रोध हुआ। अब हनुमान्‌जी ने रावण को एक घूँसा मारा। इससे वह तुरन्त ही इस तरह धरती पर गिरा मानों वज्र (बिजली) गिरने से कोई पहाड़ गिरा हो॥ १॥

गइ मुरुछा बहोरि सो जागा। कपिबल बिपुल सराहन लागा॥
धिग धिग मम पौरुष धिग मोही। जौँ तैँ जियत उठेसि सुरद्रोही॥२॥

जब मूर्च्छा मिटकर रावण को फिर चेत हुआ, तब वह हनुमानजी के महाबल की बड़ाई करने लगा। हनुमान्‌जी ने कहा—अरे, मेरे पराक्रम को और मुझे भी धिक्कार है जो तू देवशत्रु मेरे प्रहार करने पर फिर जीता उठ खड़ा हुआ॥ २॥

अस कहि कपि लछिमन कहँु ल्यायो । देखि दसानन बिसमय पायो ॥
कह रघुबीर समुझु जिय भ्राता । तुम्ह कृतांतभच्छक सुरत्राता ॥३॥

ऐसा कहकर हनुमान्‌जी लक्ष्मणजी को उठा लाये। यह देखकर रावण ने आश्चर्य किया। (क्योंकि उससे तो वे उठे ही न थे) फिर रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण से कहा—हे भाई ! तुम अपने जी में समझो कि तुम यमराज को भक्षण करनेवाले और देवतों के रक्षक हो ॥ ३ ॥

सुनत बचन उठि बैठ कृपाला । गगन गई सो सक्ति कराला ॥
धरि सर चाप चलत पुनि भये । रिपु समीप अति आतुर गये ॥४॥

इन वचनों के सुनते ही कृपालु लक्ष्मणजी उठ बैठे और वह कराल शक्ति आकाश में चली गई। लक्ष्मणजी हाथ में फिर धनुष और बाण लेकर झपटे, और बहुत ही शीघ्र शत्रु के पास आ पहुँचे ॥ ४ ॥

छंद—आतुर बहोरि बिभंजि स्यंदन सूत हति ब्याकुल कियो ।
गिर्‌यो धरनि दसकंधर बिकलतर बान सत बेध्यो हियो ॥
सारथी दूसर घालि रथ तेहि तुरत लंका लेइ गयो ।
रघु-बीर-बंधु प्रतापपुंज बहोरि प्रभुचरनन्हि नयो ॥

फिर उन्होंने बड़ी फुर्ती से रावण के रथ को तोड़कर सारथि को मारकर उसको व्याकुल कर दिया। रावण बहुत ही घबरा कर धरती पर गिर गया। उन्होंने उसका हृदय सौ बाणों से बांध दिया। उस समय दूसरा सारथि उसे रथ पर डालकर तुरन्त लङ्का में ले गया। प्रताप के पुंज रामचन्द्रजी के भाई लक्ष्मणजी ने लौट आकर रामचन्द्रजी के चरणों में प्रणाम किया ॥

दो०—उहाँ दसानन जागि करि करइ लाग कछु जग्य ।
राम-बिरोध बिजय चहत सठ हठबस अति अग्य ॥१०९॥

लङ्का में जब उसकी मूर्च्छा टूटी और उसे चेत हुआ तब वह कुछ यज्ञ करने लगा। वह दुष्ट, महा अज्ञानी रावण रामचन्द्रजी से विरोध कर हठ से विजय पाने की इच्छा रखता है ॥ १०९ ॥

चौ०—इहाँ बिभीषन सब सुधि पाई । सपदि जाइ रघुपतिहि सुनाई ॥
नाथ करइ रावनु एक जागा । सिद्ध भये नहिँ मरिहि अभागा ॥१॥

यहाँ विभीषण ने सब खबर पा ली और तुरन्त जाकर रामचन्द्रजी को सुना दी। उसने कहा—हे नाथ ! रावण एक यज्ञ कर रहा है। उस यज्ञ के सिद्ध हो जाने पर वह अभागा नहीं मरेगा ॥ १ ॥

पठवहु देव बेगि भट बंदर। करहिँ बिधंस आव दसकंधर॥
प्रात होत प्रभु सुभट पठाये। हनुमदादि अंगद सब धाये॥२॥

हे देव! इसलिए शीघ्र ही वीर बन्दरों को भेजिए। वे जाकर यज्ञ विध्वंस कर दें तो रावण युद्ध के लिए चला आवे। प्रातःकाल होते ही प्रभु रामचन्द्रजी ने अच्छे वीरों को भेजा। अङ्गद, हनुमान् आदि वीर सब दौड़ पड़े॥ २॥

कौतुक कूदि चढे कपि लंका। पैठे रावनभवन असंका॥
जबहीँ जग्य करत सो देखा। सकल कपिन्ह भा क्रोध बिसेखा॥३॥

बन्दर खिलवाड़ के साथ कूदकर लङ्का पर चढ़ गये और वे निडर होकर रावण के घर में घुस गये। ज्यों ही बन्दरों ने वहाँ रावण को यज्ञ करते हुए देखा, त्यों ही उनको बड़ा क्रोध हो आया॥ ३॥

रन तेँ निलज भाजि गृह आवा। इहाँ आइ बकध्यानु लगावा॥
अस कहि अंगद मारेउ लाता। चितव न सठ स्वारथ मनु राता॥४॥

"अरे निर्लज्ज! लड़ाई से भागकर घर चला आया और यहाँ आकर बगले के समान तूने ध्यान लगाया है!" ऐसा कहकर अङ्गद ने लात मारी, पर स्वार्थ में मन गड़ानेवाले रावण ने उस ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा॥ ४॥

छंद—नहिँ चितव जब कपि कोपि तब गहि दसन लातन्ह मारहीँ।
धरि केस नारि निकारि बाहेर तेऽतिदीन पुकारहीँ॥
तब उठेउ कोपि कृतांतसम गहि चरन बानर डारई।
एहि बीच कपिन्ह बिधंसकृत मख देखि मन महुँ हारई॥

इतना करने पर भी जब रावण ने नहीं देखा, तब बन्दरों ने क्रोध में भरकर उसे दाँतों से काटना और लातों से मारना आरम्भ किया। फिर वे स्त्रियों के केश पकड़ पकड़कर उन्हें बाहर घसीट लाये तब स्त्रियाँ बड़ी ही दीन वाणी से पुकारने लगीं। तब रावण क्रोध में भरकर यमराज के समान उठा और बन्दरों को पाँव पकड़ पकड़कर पटकने लगा। इतने ही में बन्दरों ने यज्ञ का सत्यानाश कर दिया। यह देखकर रावण मन में हार गया॥

दो०—मख बिधंसि कपि कुसल सब आये रघुपति पास।
चलेउ लंकपति क्रुद्ध होइ त्यागि जिवन कै आस॥११०॥

बन्दर यज्ञ नष्ट कर कुशलपूर्वक रामचन्द्रजी के पास आ गये और लङ्केश्वर रावण भी अपने जीने की आशा छोड़कर रण के लिए चल पड़ा॥ ११०॥

चौ०—चलत होहिँ अति असुभ भयंकर। बैठहिँ गीध उड़ाहिँ सिरन्ह पर॥
भयउ कालबस काहु न माना। कहेसि बजावहु जुद्धनिसाना॥१॥

रावण के चलते ही बहुत भयङ्कर अपशकुन होने लगे, गीध आकर मस्तकों पर बैठ जाते और उड़ते थे। पर रावण तो काल के वश हो रहा था, इसलिए उसने किसी अशकुन को न माना। उसने कहा—रण के डङ्के बजाओ॥१॥

चली तमी-चर-अनी अपारा। बहु गज रथ पदाति असवारा॥
प्रभु सनमुख धाये खल कैसे। सलभसमूह अनल कहुँ जैसे॥२॥

फिर युद्ध करने के लिए राक्षसों की अपार सेना चली। बहुत-से हाथी, रथ, पैदल और सवार चले। वे सब प्रभु रामचन्द्रजी के सम्मुख कैसे दौड़े, जैसे पतिङ्गों का समूह आग में गिरने को चला हो॥२॥

इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्ही। दारुन बिपति हमहिँ एहि दीन्ही॥
अब जनि राम खेलावहु एही। अतिसय दुखित होति बैदेही॥३॥

इधर देवतों ने आकर रामचन्द्रजी की स्तुति की। उन्होंने कहा—हे नाथ! इसने हम लोगों को घोर विपत्ति दी है। हे राम! अब आप इसे न खिलाइए, क्योंकि जानकीजी बहुत दुखी होती हैं॥३॥

देवबचन सुनि प्रभु मुसुकाना। उठि रघुबीर सुधारे बाना॥
जटाजूट दृढ़ बाँधे माथे। सोहहिँ सुमन बीच बिच गाँथे॥४॥

रघुवीर रामचन्द्रजी देवतों के वचन सुनकर मुस्कुराये और उन्होंने उठकर अपने बाण सुधारे, मस्तक में कसकर जटाजूट बाँध लिये और उनमें बीच बीच में फूल गूँथे हुए सुहावने लगते थे॥४॥

अरुननयन बारिद-तनु-स्यामा। अखिल-लोक-लोचन-अभिरामा॥
कटितट परिकर कसेउ निषंगा। कर कोदंड कठिन सारंगा॥५॥

उनके लाल नेत्र थे, घनश्याम देह थी और वे सम्पूर्ण लोगों के नेत्रों को प्रसन्न करनेवाले थे। उन्होंने कमर में फेंटा एवं तरकस कस लिया और हाथ में कठिन कोदंड नामक धनुष लिया॥५॥

छंद—सारंग कर सुंदर निषंग सिलीमुखाकर कटि कस्यौ।
भुजदंड पीन मनोहरायत उर धरा-सुर-पद लस्यौ॥
कह दास तुलसी जबहिँ प्रभु सरचाप कर फेरन लगे।
ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अहि महि सिंधु भूधर डगमगे॥

उनके हाथ में सुन्दर धनुष था, कमर में बाणों से पूर्ण तरकस कसा हुआ था, हृष्ट-पुष्ट भुजदण्ड थे, विशाल और मनोहर वक्षःस्थल था, जिसमें भृगुलता का चिह्न प्रकाशित हो रहा था। तुलसीदासजी कहते हैं कि जब प्रभु रामचन्द्रजी हाथ में धनुष-बाण लेकर घुमाने लगे, तब ब्रह्मांड, दिग्गज, कच्छप, शेष, पृथ्वी, समुद्र और पर्वत डगमगाने लगे ॥

दो०—हरषे देव बिलोकि छबि बरषहिं सुमन अपार।
जय जय प्रभु गुन-ग्यान-बल-धाम हरन महिभार ॥१११॥

देवता उस समय की छवि को देखकर प्रसन्न हुए। उन्होंने अपार पुष्पवर्षा की और कहा कि गुण, ज्ञान और बल के स्थान हे प्रभु, पृथ्वी के भार हरण करनेवाले रामचन्द्रजी! आपकी जय हो, जय हो ॥ १११ ॥

चौ०—एही बीच निसा-चर-अनी। कसमसाति आई अति घनी ॥
देखि चले सनमुख कपि भट्टा। प्रलय काल के जनु घनघट्टा ॥१॥

इतने ही में वह घनी राक्षसी सेना कसमसाती हुई आ पहुँची। उसको देखकर वानर योद्धा उसके सम्मुख ऐसे चले मानों प्रलयकाल के बादलों की घटा घुमड़ी हो ॥ १ ॥

बहु कृपान तरवारि चमंकहिँ। जनु दसदिसि दामिनी दमंकहिँ ॥
गज रथ तुरग चिकार कठोरा। गर्जत मनहुँ बलाहक घोरा ॥२॥

बहुत सी तलवारें और बरछियाँ ऐसी चमकती थीं, मानों दसों दिशाओं में बिजलियाँ दमक रही हों। हाथियों, रथों और घोड़ों के कठोर चीत्कार ऐसे होते थे, मानों बादल भयङ्कर गर्जना कर रहे हों ॥ २ ॥

कपि लंगूर बिपुल नभ छाये। मनहुँ इंद्रधनु उये सुहाये ॥
उठइ धूरि मानहुँ जल धारा। बान बुंद भइ बृष्टि अपारा ॥३॥

बहुत-से बन्दर और लंगूर (छोटी जाति के लाल मुँह के बन्दर) आकाश में ऐसे छा गये, मानों इन्द्रधनुष निकलते हुए शोभित हों। पृथ्वी से धूल ऐसी उड़ी, मानों जल की धारा हो और बाण ऐसे छा गये, मानों पानी के बूँदों की वर्षा हुई हो ॥ ३ ॥

दुहुँ दिसि पर्वत करहिँ प्रहारा। बज्रपात जनु बारहिँ बारा ॥
रघुपति कोपि बानझरि लाई। घायल भे निसि-चर-समुदाई ॥४॥

दोनों ओर से पहाड़ों के प्रहार किये जाते थे, वे मानों बार बार वज्रपात (बिजली गिरना) होते थे। रघुनाथजी ने क्रोधकर बाणों की झड़ी लगा दी जिनसे राक्षस-वृन्द घायल हुए ॥ ४ ॥

लागत बान बीर चिक्करहीं। घुर्मि घुर्मि जहँ तहँ महि परहीं।
स्रवहिँ सैल जनु निर्झरबारी। सोनित सरि कादर भयकारी ॥५॥

बाणों के लगते ही वीर चीत्कार करने लगते और चक्कर खाकर जहाँ तहाँ धरती पर गिरते थे। उनके शरीररूपी पर्वतों से रुधिररूपी पानी के झरने झर रहे थे। इससे कायरों को भय देनेवाली रुधिर की नदी बहने लगी॥ ५॥

छंद—कादर भयंकर रुधिरसरिता चली परम अपावनी।
दोउ कूल दल रथ रेत चक्र अबर्त्त बहति भयावनी॥
जलजंतु गज पदचर तुरग खर बिबिध बाहन को गने।
सर सक्ति तोमर सर्प चाप तरंग चर्म कमठ घने॥

कायरों के लिए भयङ्कर, महा अशुद्ध, रक्त की नदी बह चली। दोनों (राक्षसों और बन्दरों के) दल उसके किनारे थे, रथ ही बालू और पहिये भँवर थे। उनसे वह बहुत ही भयङ्कर बह रही थी। हाथी, पैदल, घोड़े, गधे आदि सवारियाँ उसमें जल के जीव थे, जिनकी गिनती कौन करे। बाण, शक्ति, तोमर, सर्प और धनुष उसकी लहर तथा ढालें मज़बूत कछुए थे॥

दो०—बीर परहिँ जनु तीरतरु मज्जा बहु बह फेन।
कादर देखत डरहिँ तेहि सुभटन के मन चेन॥११२॥

उस नदी में वीर इस तरह गिरते थे, जैसे किनारे के पेड़ गिर रहे हों और मज्जारूपी बहुत सा फेन बह रहा था। उसको देखकर कायर लोग डर जाते थे और अच्छे वीरों के तो मन प्रसन्न होते थे॥ ११२॥

चौ०—मज्जहिँ भूत पिसाच बेताला। प्रमथ महा झोटिंग कराला॥
काक कंक लेइ भुजा उडाहीं। एक ते छीनि एक लेइ खाहीं॥१॥

उस नदी में भूत और बैताल नहाते थे और प्रमथ आदि कराल भूतगण क्रीड़ा करते थे। उसमें से कौए और कंक पक्षी वीरों की भुजाओं को ले लेकर उड़ते और एक से छीनकर दूसरे खा जाते थे॥ १॥

एक कहहिँ ऐसिउ सौंघाई। सठहु तुम्हार दरिद्र न जाई॥
कहँरत भट घायल तट गिरे। जहँ तहँ मनहुँ अर्धजल परे॥२॥

कोई पक्षी दूसरे पक्षियों से कहता कि हे दुष्टो! इतनी सौंघाई (सस्तापन, अधिकता) होने पर भी तुम्हारी दरिद्रता नहीं जाती है! बहुत-से घायल उस नदी के तीर पर गिरे हुए कराह रहे थे, और वे जहाँ तहाँ ऐसे गिरे थे मानों आधे जल में (जैसा कि श्मशान में दाह के पहले मुर्दे का आधा शरीर पानी में डुबो कर रक्खा जाता है) गिरे हों॥ २॥

खैंचहिँ आँत गीध तट भये। जनु बंसी खेलहिँ चित दये॥
बहु भट बहहिँ चढे खग जाहीं। जनु नावरि खेलहिँ सरि माहीं॥३॥

गीध वीरों की आँतें ऐसे खींचते थे, मानों नदी के किनारों पर खड़े हो होकर मछली मारनेवाले चित्त लगाकर बंसी (मछली पकड़ने के यंत्र) से खेल रहे हों। बहुत-से बहते हुए वीरों पर पक्षी ऐसे चढ़े जा रहे थे, मानों नदी के भीतर नाववाले खिलवाड़ कर रहे हों ॥ ३ ॥

जोगिनि भरि भरि खप्पर संचहिँ । भूत-पिसाच-बधू नभ नंचहिँ ॥
भट कपाल करताल बजावहिँ । चामुंडा नाना बिधि गावहिँ ॥४॥

योगिनियाँ खप्पर भर भरकर रक्त संग्रह कर रही थीं; आकाश में भूत-पिशाचों की स्त्रियाँ नाचती थीं। चामुंडायें वीरों के मस्तकों की करतालें बजा बजाकर अनेक तरह से गान करती थीं ॥ ४ ॥

जंबुकनिकर कटक्कट कट्टहिँ । खाहिँ हुआहिँ अघाहिँ दपट्टहिँ ॥
कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु डोल्लहिँ । सीस परे महि जय जय बोल्लहिँ ॥५॥

सियारों के समूह कटकट दाँतों को कटकटाते हुए मुर्दों को खाते थे, अघा जाते थे, हू हू शब्द करते और झपटते थे। करोड़ों रुंड बिना मस्तक के फिरते थे और पृथ्वी पर पड़े हुए मस्तक जय जयकार करते थे ॥ ५ ॥

छंद—बोल्लहिँ जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिर बिनु धावहीँ ।
खप्परिन्ह खग्ग अलुज्झि जुज्झहिँ सुभट भटन्ह ढहावहीँ ॥
निसि-चर-बरूथ बिमर्दि गरजहिँ भालु कपि दर्पित भये ।
संग्रामअंगन सुभट सोवहिँ राम-सर-निकरन्हि हये ॥

इस तरह मुंड तो जय जय करते थे और प्रचंड रुंड, बिना मस्तक के, दौड़ते फिरते थे। बहुत-से पक्षी खप्परों में जा उलझते और लड़ मरते और वे बड़े बड़े वीरों को भी गिरा देते थे। घमण्ड में भरे हुए रीछ और बन्दर राक्षसों के समूहों का मर्दन कर गर्जते थे। उस रण के मैदान में रामचन्द्रजी के बाणों से मारे हुए राक्षस वीर सो रहे थे ॥

दो०—हृदय बिचारेउ दसवदन भा निसि-चर-संहार ।
मैं अकेल कपि भालु बहु माया करउँ अपार ॥११३॥

रावण ने अपने जी में सोचा कि राक्षसों का तो संहार हो गया, मैं अब अकेला रह गया और बन्दर-रीछ बहुत हैं, इसलिए अब मैं अपार माया रचूँ ॥ ११३ ॥

चौ०—देवन्ह प्रभुहिँ पयादे देखा। उपजा उर अति छोभ बिसेखा ॥
सुरपति निजरथ तुरत पठावा। हरषसहित मातलि लेइ आवा ॥१॥

देवतों ने प्रभु रामचन्द्रजी को पैदल देखा तो उनके मन में बहुत ही क्षोभ (ग्लानि) उत्पन्न हुआ। देवराज इन्द्र ने तुरन्त ही अपना रथ भेज दिया। उसको मातलि (इन्द्र का सारथि) प्रसन्नतापूर्वक ले आया ॥ १ ॥

तेजपुंज रथ दिब्य अनूपा । हरषि चढे कोसल-पुर-भूपा ॥
चंचल तुरग मनोहर चारी । अजर अमर मन-सम-गति-कारी ॥२॥

उस तेज:पुंज अनुपम दिव्य रथ पर कोसलपुरेश रामचन्द्रजी प्रसन्न होकर चढ़े। उसमें चंचल और मनोहर चार घोड़े जुते हुए थे। वे अजर (कभी बुड्ढे न हों), अमर (न मरनेवाले) थे और मन के समान वेग से चलते थे ॥ २ ॥

रथारूढ रघुनाथहिँ देखी । धाये कपि बलु पाइ बिसेखी ॥
सही न जाइ कपिन्ह कै मारी । तब रावन माया बिस्तारी ॥३॥

रघुनाथजी को रथ पर सवार हुए देखकर वानरों के दल विशेष बल पाकर दौड़े। जब बन्दरों की मार रावण से नहीं सही गई, तब उसने माया फैलाई ॥ ३ ॥

सो माया रघुबीरहिँ बाँची । सब काहू मानी करि साँची ॥
देखी कपिन्ह निसा-चर-अनी । अनुजसहित बहु कोसलधनी ॥४॥

वह माया रघुनाथजी के सिवा और सभी ने सच्ची मान ली। बन्दरों ने देखा कि राक्षसों की सेना खड़ी है और बहुत से लक्ष्मण सहित रामचन्द्र हैं ॥ ४ ॥

छंद—बहु राम लछिमन देखि मर्कट भालु मन अति अपडरे ।
जनु चित्रलिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिँ खरे ॥
निजसेन चकित बिलोकि हँसि सर चाप सजि कोसलधनी ।
माया हरी हरि निमिष महुँ हरषी सकल मरकटअनी ॥

इस तरह बहुत-से राम-लक्ष्मणों को देखकर रीछ और बन्दर मिथ्या भय से बहुत ही डरे। वे सब बन्दर लक्ष्मणजी-समेत चित्र में लिखे जैसे (स्तब्ध) होकर खड़े खड़े देखते ही रह गये। कोसलेश रामचन्द्रजी अपनी सेना को चकित देखकर हँसे और उन्होंने धनुष-बाण सजाकर, एक पलक भर में उस माया को नष्ट कर दिया तब सारी वानरी सेना प्रसन्न हुई ॥

दो०—बहुरि रामु सब तन चितइ बोले बचन गँभीर ।
द्वंदजुद्ध देखहु सकल स्रमित भये अति बीर ॥११४॥

फिर रामचन्द्रजी सबको ओर देखकर गंभीर वचन बोले—हे वीरो! अब तुम सब हमारा और रावण का द्वन्द्व-युद्ध देखो, क्योंकि तुम लोग युद्ध करते करते बहुत थक गये हो ॥ ११४ ॥

चौ०—अस कहि रथ रघुनाथ चलावा । बिप्र-चरन-पंक-ज सिरु नावा ॥
तब लंकेस क्रोध उर छावा । गर्जत तर्जत सनमुख आवा ॥१॥

ऐसा कहकर रघुनाथजी ने रथ चलाया, और चलते समय ब्राह्मणों के चरण-कमलों में सिर नवाया। तब लङ्कापति रावण के हृदय में बड़ा क्रोध छा गया। वह गर्जना करते और ललकारते हुए सम्मुख आया॥ १॥

जीतेहु जे भट संजुग माहीँ। सुनु तापस मैँ तिन्ह सम नाहीँ॥
रावन नाम जगत जसु जाना। लोकप जाके बंदीखाना॥२॥

उसने कहा—अरे तपस्वी! सुन। तूने अभी तक जिन योद्धाओं को संग्राम में जीता है, मैं उनके ऐसा नहीं हूँ। मेरा नाम है रावण, मेरे यश को जगत् जानता है, मेरे बन्दीख़ाने में लोकपाल[1] (क़ैद) हैं॥ २॥

खर-दूषन-कबंध तुम्ह मारा। बधेहु ब्याध इव बालि बिचारा॥
निसि-चर-निकर सुभट संहारेहु। कुंभकरन घननादहिँ मारेहु॥३॥

तुमने खर, दूषण, त्रिशिरा को मार डाला और बेचारे बाली को व्याध के समान (छिपकर) मार डाला! अच्छे अच्छे वीर राक्षस-दलों का तुमने नाश किया, कुम्भकर्ण और मेघनाद को भी मार डाला॥ ३॥

बैरु आजु सब लेउँ निबाही। जौं रन भूप भाजि नहिँ जाही॥
आजु करउँ खलु काल हवाले। परेहु कठिन रावन के पाले॥४॥

पर जो रणभूमि से भाग न जाओगे तो हे राजा, मैं आज सबके बैर का बदला ले लूँगा। आज तुमको निश्चयपूर्वक काल के हवाले कर दूँगा, क्योंकि तुम अब कठिन रावण के पाले पड़े हो॥ ४॥

सुनि दुर्बचन कालबस जाना। बिहँसि बचन कह कृपानिधाना॥
सत्य सत्य सब तव प्रभुताई। जलपसि जनि देखाउ मनुसाई॥५॥

रावण के दुष्ट वचन सुनकर कृपानिधान रामचन्द्रजी ने उसको काल के वश जाना और हँसकर कहा—हाँ! तुम्हारी प्रभुता सब सच है, अब बर्राओ मत, बहादुरी दिखाओ॥ ५॥

छंद—जनि जलपना करि सुजसु नासहि नीति सुनहि करहि छमा।
संसार महँ पूरुष त्रिबिध पाटल-रसाल-पनस-समा॥
एक सुमनप्रद एक सुमनफल एक फलइ केवल लागहीँ।
एक कहहिँ कहहिँ करहिँ अपर एक करहिँ कहत न बागहीँ॥

---

[1]—लोकपाल आठ हैं—अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, इन्द्र और ईशान।

अरे! तू बकवाद करके शुद्ध यश का नाश मत कर। तू क्षमा करके नीति सुन। संसार में पाटल, आम और कटहर के समान तीन तरह के पुरुष होते हैं। उनमें एक तो खाली फूल देनेवाले होते हैं, जैसे पाटल (गुलाब); दूसरे फूल और फल देनेवाले होते हैं जैसे आम; तीसरे में केवल फल ही लगते हैं, जैसे कटहर। इसी तरह एक तो कहते हैं, करते नहीं; दूसरे कहते भी हैं, करते भी हैं; तीसरे करते ही हैं, कहते नहीं फिरते, अर्थात् कहनेवाले से कर दिखानेवाले को बड़ाई है, इसलिए तू कह मत, कर दिखा॥

दो०—रामबचन सुनि बिहँसि कह मोहिँ सिखावत ग्यान।
बैरु करत नहिँ तब डरेहु अब लागे प्रिय प्रान॥११५॥

रामचन्द्रजी के वचन सुनकर रावण हँस कर बोला—तुम मुझे ज्ञान सिखाते हो! पहले वैर करते समय नहीं डरे और अब तुम्हें प्राण प्यारे लगते हैं!॥ ११५॥

चौ०—कहि दुर्बचन क्रुद्ध दसकंधर। कुलिससमान लाग छाडइ सर॥
नानाकार सिलीमुख धाये। दिसि अरु बिदिसि गगन महि छाये॥१॥

दुष्ट वचन बोलकर रावण क्रोधित हो वज्र के समान बाण छोड़ने लगा। अनेक आकृतियों के बाण दौड़े। वे दिशा, विदिशा और आकाश-पृथ्वी में छागये॥ १॥

अनल बान छाडेउ रघुबीरा। छन महुँ जरे निसा-चर-तीरा॥
छाडेसि तीब्र सक्ति खिसिआई। बानसंग प्रभु फेरि पठाई॥२॥

रघुवीर ने अग्निबाण छोड़ा, जिससे क्षणमात्र में रावण के बाण जल गये। तब रावण ने खिसिया कर तीक्ष्ण शक्ति मारी, उसको रामचन्द्रजी ने बाण के साथ रावण ही की ओर लौटा दिया॥ २॥

कोटिन्ह चक्र त्रिसूल पबारइ। बिनु प्रयास प्रभु काटि निवारइ॥
निफल होहिँ रावनसर कैसे। खल के सकल मनोरथ जैसे॥३॥

रावण करोड़ों त्रिशूल और चक्र फेंकता था, उनको रामचन्द्रजी अनायास ही काट काटकर निवृत्त कर देते थे। रावण के बाण ऐसे निष्फल होने लगे, जैसे दुष्ट के सब मनोरथ व्यर्थ हों॥ ३॥

तब सतबान सारथी मारेसि। परेउ भूमि जय राम पुकारेसि॥
राम कृपा करि सूत उठावा। तब प्रभु परमक्रोध कहुँ पावा॥४॥

फिर उसने सारथि (मातलि) को सौ बाण मारे। वह रामचन्द्रजी की जय पुकारता हुआ गिर पड़ा। तब रामचन्द्रजी ने कृपाकर सारथि को उठाया। उस समय प्रभु रामचन्द्रजी को बहुत ही क्रोध हो आया॥ ४॥

छंद—भये क्रुद्ध जुद्धबिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।
कोदंडधुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे॥
मंदोदरी उर कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे।
चिक्करहिँ दिग्गज दसन गहि महि देखि कौतुक सुर हँसे॥

जब युद्ध में रघुनाथजी शत्रु के प्रति महा क्रोधित हुए (उन्होंने रौद्र रूप धारण किया) तब तरकस में बाण (बाहर निकलने को) खड़खड़ाने लगे। उन्होंने धनुष का महाप्रचण्ड शब्द किया, जिसको सुनकर सब मनुष्यभोजी राक्षस वायु से त्रस्त हो गये अर्थात् भयभीत हो गये; मन्दोदरी का हृदय काँप उठा और कच्छप (पृथ्वी को उठानेवाला), पृथ्वी और पर्वत सब डर के मारे काँपने लगे; दिग्गज पृथ्वी को दाँतों से पकड़कर चिंघारने लगे। यह कौतुक देखकर देवता हँसने लगे (अर्थात् प्रसन्न हो गये कि अब रावण मरेगा)॥

दो०—तानि सरासन स्रवन लगि छाडे बिसिख कराल।
राम-मारगन-गन चले लहलहात जनु ब्याल॥११६॥

रामचन्द्रजी ने धनुष को कान तक तानकर कराल बाण छोड़े। रामबाणों के वे झुंड लहलहाते हुए ऐसे चले, मानों जीभ लपलपाते साँप हों॥११६॥

चौ०—चले बान सपच्छ जनु उरगा। प्रथमहिँ हतेउ सारथी तुरगा॥
रथ बिभंजि हति केतु पताका। गर्जा अति अंतर बल थाका॥१॥

वे बाण पङ्खवाले साँपों की तरह चले। उन्होंने पहले ही रावण के सारथि और घोड़ों को मार डाला फिर रथ तोड़कर ध्वजा-पताका काट गिराई। तब रावण खूब गर्जा, पर भीतर से उसका बल थक गया था॥१॥

तुरत आन रथ चढि खिसिआना। छाडेसि अस्त्र सस्त्र बिधि नाना॥
बिफल होहिँ सब उद्यम ताके। जिमि पर-द्रोह-निरत-मनसा के॥२॥

वह खिसिया कर तुरन्त ही दूसरे रथ पर चढ़कर अनेक प्रकार के अस्त्र, शस्त्र छोड़ने लगा। पर रावण के सब उद्योग ऐसे निष्फल होते थे जैसे दूसरे का द्वेष करने में तत्पर मनुष्य के उद्योग व्यर्थ हों॥२॥

तब रावन दस सूल चलाये। बाजि चारि महि मारि गिराये॥
तुरग उठाइ कोपि रघुनायक। खैंचि सरासन छाडे सायक॥३॥

तब रावण ने दस त्रिशूल चलाये और उनसे रामचन्द्रजी के चारों घोड़े मारकर गिरा दिये। रघुनाथजी क्रोधित हो, तुरन्त ही घोड़ों को उठाकर, फिर धनुष तानकर बाण छोड़ने लगे॥३॥

तानि सरासन स्रवन लगि छाड़े बिसिख कराल ।
राम-मारगन-गन चले लहलहात जनु ब्याल ॥ पृ० ९२२
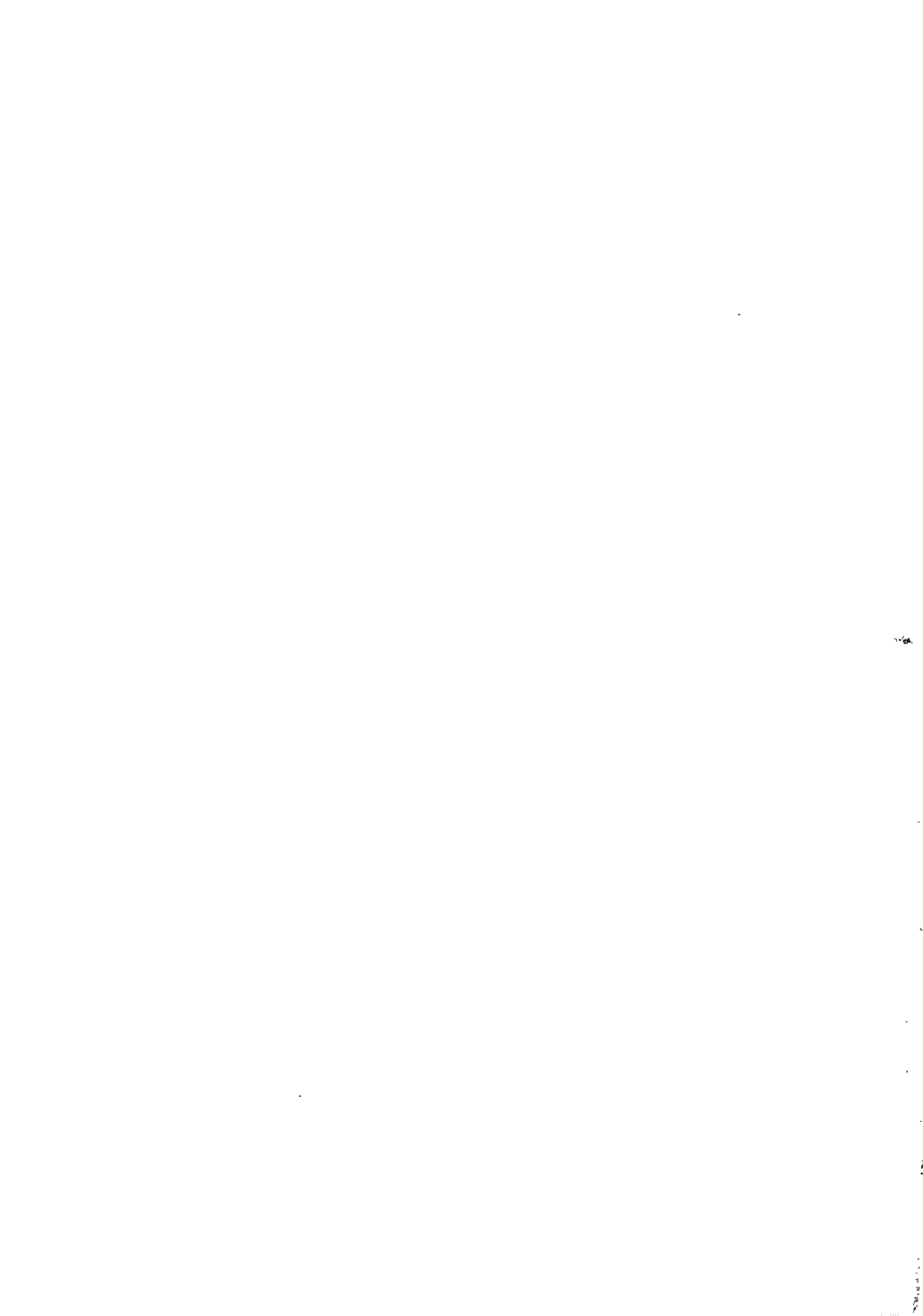
रावन-सिर-सरोज - बन - चारी। चलि रघुबीर सिलीमुख धारी॥
दस दस बान भाल दस मारे। निसरि गये चले रुधिरपनारे॥४॥

रावण के मस्तकरूपी कमल के वनों में संचार करनेवाले रामचन्द्रजी के बाणरूपी भ्रमर चले। रामचन्द्रजी ने रावण के दसों मस्तकों में दस दस बाण मारे। वे बाण लग लगकर निकल गये और मस्तकों से रुधिर के पनाले बह चले॥ ४॥

स्रवत रुधिर धायउ बलवाना। प्रभु पुनि कृत धनु-सर-संधाना॥
तीस तीर रघुबीर पबारे। भुजन्ह समेत सीस महि पारे॥५॥

रुधिर बहता हुआ बलवान् रावण दौड़ा तो प्रभु रामचन्द्रजी ने फिर बाणों का संधान किया। रघुवीर ने तीस तीक्ष्ण बाण छोड़े। उनसे रावण की भुजायें और मस्तक काटकर पृथ्वी पर गिरा दिये॥ ५॥

काटत ही पुनि भये नबीने। राम बहोरि भुजा सिर छीने॥
कटत झटिति पुनि नूतन भये। प्रभु बहु बार बाहु सिर हये॥६॥

काटते ही वे फिर नये हो गये, तब रामचन्द्रजी ने फिर भुजा और मस्तक काटे। कटते ही वे फिर झट से नये हो आये। यों प्रभु ने बहुत बार उसकी भुजाएँ और मस्तक काटे॥ ६॥

पुनि पुनि प्रभु काटत भुज सीसा। अति कौतुकी कोसलाधीसा॥
रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू। मानहुँ अमित केतु अरु राहू॥७॥

कोसलाधीश रामचन्द्रजी बड़े कौतुकी (खेलवाड़ी) थे। वे बार बार उसकी भुजाओं और सिरों को काटने लगे। कटे हुए मस्तक और भुज आकाश में ऐसे छा गये, मानों अनगिनत केतु और राहु हों॥ ७॥

छंद—जनु राहु केतु अनेक नभपथ स्रवत सोनित धावहीं।
रघु-बीर-तीर प्रचंड लागहिं भूमि गिरन न पावहीं॥
एक एक सर सिरनिकर छेदे नभ उडत इमि सोहहीं।
जनु कोपि दिन-कर-कर-निकर जहँ तहँ बिधुंतुद पोहहीं॥

मानों अनेक राहु, केतु आकाशमार्ग में खून बहाते हुए दौड़ रहे हों। रघुवीर के अति तीक्ष्ण बाणों के लगने से वे पृथ्वी पर गिरने नहीं पाते थे। रामचन्द्रजी के एक एक बाण मस्तकों के समूह को छेद कर लिये हुए आकाश में उड़ते हुए ऐसे शोभित हुए, मानों क्रोधित सूर्यां की किरणों के समूह में जहाँ तहाँ राहु पिरोये (गुहे, गुँथे) हों॥

दो०—जिमि जिमि प्रभु हर तासु सिर तिमि तिमि होहिं अपार।
सेवत बिषय बिबर्ध जिमि नित नित नूतन मार॥११७॥

प्रभु रामचन्द्रजी रावण के मस्तक ज्यों ज्यों काटते जाते, त्यों त्यों वे बढ़ते जाते थे— उनका अन्त वैसे ही नहीं होता था, जैसे विषयों का सेवन करने से कामदेव (वासना) नित नया बढ़ता ही जाता है, उसका अन्त नहीं होता ॥ ११७ ॥

चौ०—दसमुख देखि सिरन्ह कै बाढ़ी । बिसरा मरन भई रिस गाढ़ी ॥
गर्जेउ मूढ़ महा अभिमानी । धायउ दसउ सरासन तानी ॥१॥

रावण अपने मस्तकों की बाढ़ देखकर मरना भूल गया और उसको बड़ा क्रोध आ गया । वह महा अभिमानी मूर्ख गर्जा और दसों धनुष तानकर दौड़ा ॥ १ ॥

समर भूमि दसकंधर कोपेउ । बरषि बान रघु-पति-रथ तोपेउ ॥
दंड एक रथ देखि न परा । जनु निहार महँ दिनमनि दुरा ॥२॥

रण-भूमि में दशकन्धर रावण क्रोधित हो गया । उसने बाण बरसा बरसा कर रामचन्द्रजी के रथ को ढक दिया । एक दण्ड (एक घड़ी) तक रथ नहीं देख पड़ा, मानों कुहरे में सूर्य छिप गया हो ॥ २ ॥

हाहाकार सुरन्ह जब कीन्हा । तब प्रभु कोपि कार्मुकहि लीन्हा ॥
सर निवारि रिपु के सिर काटे । ते दिसि बिदिसि गगन महि पाटे ॥३॥

जब देवतों ने यह देखकर हाहाकार किया, तब प्रभु रामचन्द्रजी ने कोपकर धनुष लिया । उन्होंने शत्रु के बाणों को निवृत्त कर उसके मस्तक काटे और उनसे दिशा, विदिशा, आकाश और पृथ्वी पाट दी ॥ ३ ॥

काटे सिर नभमारग धावहिँ । जय जय धुनि करि भय उपजावहिँ ॥
कहँ लछिमन हनुमान कपीसा । कहँ रघुबीर कोसलाधीसा ॥४॥

कटे हुए रावण के मस्तक आकाश-मार्ग में दौड़ते थे और जय जय की ध्वनि करके डर पैदा करते थे । वे कहते थे कि लक्ष्मण कहाँ है, हनुमान कहाँ है, सुग्रीव कहाँ है और कोसलनाथ रघुवीर कहाँ है ॥ ४ ॥

छंद—कहँ राम कहि सिरनिकर धाये देखि मर्कट भजि चले ।
संधानि धनु रघु-बंस-मनि हँसि सरन्ह सिर भेदे भले ॥
सिरमालिका कर कालिका गहि बृंद बृंदन्हि बहु मिलीँ ।
करि रुधिरसरि मज्जन मनहुँ संग्रामबट पूजन चलीँ ॥

राम कहाँ है, ऐसा कहकर मस्तकों के समूह दौड़े । उनको देखकर बन्दर भाग चले । तब रघुकुल-भूषण रामचन्द्रजी ने हँसकर बाण चढ़ाकर उन मस्तकों को खूब बींध दिया । वहाँ बहुत सी कालिका देवियाँ हाथों में मुंडों की मालाएँ लेकर मुंड को मुंड, इस तरह आ मिलीं मानों वे रक्त की नदी में स्नान कर संग्रामरूपी वड़ की पूजा करने जाती हैं ।

दो०—पुनि दसकंठ क्रुद्ध ह्वै छाडेसि सक्ति प्रचंड ।
सनमुख चली बिभीषनहिँ मनहुँ काल कर दंड ॥११८॥

फिर रावण ने क्रोधित होकर एक प्रचण्ड शक्ति छोड़ी। वह विभीषण के सम्मुख ऐसी चली मानों काल (यम) का दण्ड हो ॥ ११८ ॥

चौ०—आवत देखि सक्ति खरधारा । प्रनतारतिहर बिरदु सँभारा ॥
तुरत बिभीषन पाछे मेला । सनमुख राम सहेउ सो सेला ॥१॥

तीक्ष्ण धारवाली शक्ति को आते देखकर प्रणत जनों के दुःखहारी रामचन्द्रजी ने शरणागत का दुःख हरने का अपना बाना[1] सँभाला। उन्होंने तुरन्त विभीषण को अपने पीछे कर दिया और आप आगे होकर शक्ति के प्रहार को सह लिया ॥ १ ॥

लागि सक्ति मुरुछा कछु भई । प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई ॥
देखि बिभीषन प्रभु स्रम पायउ । गहि कर गदा क्रुद्ध होइ धायउ ॥२॥

वह शक्ति रामचन्द्रजी को जा लगी और उन्हें कुछ मूर्च्छा हो आई। प्रभु रामचन्द्रजी का तो यह खेल था, पर देवतों को घबराहट हो गई। उस अवसर पर विभीषण प्रभु रामचन्द्रजी को थका हुआ देखकर क्रोधित हो, हाथ में गदा लेकर, दौड़ा ॥ २ ॥

रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे । तैं सुर नर मुनि नाग बिरुद्धे ॥
सादर सिव कहुँ सीस चढाये । एक एक के कोटिन्ह पाये ॥३॥

विभीषण ने कहा—अभागे! तू दुष्ट, नीच और खोटी बुद्धिवाला है; तूने देवता, मनुष्य, मुनि और नाग सबसे विरोध किया। तूने शिवजी को बड़े आदर से मस्तक चढ़ाये थे, जिससे एक एक के बदले में करोड़ों मस्तक पाये ॥ ३ ॥

तेहि कारन खल अब लगि बाँचा । अब तव काल सीस पर नाँचा ॥
रामबिमुख सठ चह संपदा । अस कहि हनेसि माँझ उर गदा ॥४॥

अरे खल! इसी कारण तू अभी तक बच रहा है, पर अब तेरा काल तेरे सिर पर नाच रहा है। अरे शठ! रामचन्द्रजी से विमुख होकर तू सम्पत्ति चाहता है? ऐसा कहकर विभीषण ने रावण की छाती में गदा मारी ॥ ४ ॥

१—जब विभीषण समुद्र-तट पर रामचन्द्रजी की शरण में आया था तब आपने कहा था—"जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं" ॥ इसको यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिखाया।

छंद—उर माँझ गदाप्रहार घोर कठोर लागत महि पर्‌यो।
दसबदन सोनित स्रवत पुनि संभारि धायउ रिस भर्‌यो॥
दोउ भिरे अतिबल मल्लजुद्ध बिरुद्ध एकु एकहि हने।
रघु-बीर-बल-गर्बित बिभीषनु घालि नहिँ ता कहुँ गने॥

छाती में वह घोर गदा-प्रहार लगते ही रावण पृथ्वी पर गिर पड़ा; उसके दसों मुँहों से रक्त बहने लगा; वह फिर सँभलकर क्रोध में भरकर दौड़ा। वे दोनों अति बली (रावण-विभीषण) मल्ल-युद्ध करने में जुट गये, एक दूसरे को मारने लगे। रघुवीर के बल के अभिमान में भरा हुआ विभीषण रावण को पसंगे बराबर भी नहीं समझता था॥

दो०—उमा बिभीषनु रावनहिँ सनमुख चितव कि काउ।
भिरत सो कालसमान अब श्री-रघु-बीर-प्रभाउ॥११९॥

महादेवजी कहते हैं कि हे पार्वती! विभीषण क्या कभी रावण के सम्मुख भी देख सकता था? (कभी नहीं।) वही विभीषण अब काल के समान जो रावण से भिड़ता है, यह श्रीरघुनाथ जी का प्रताप है॥ ११९॥

चौ०—देखा स्रमित बिभीषनु भारी। धायेउ हनूमान गिरिधारी॥
रथ तुरंग सारथी निपाता। हृदय माँझ तेहि मारेसि लाता॥१॥

जब हनुमान्‌जी ने विभीषण को अधिक थका हुआ देखा, तब वे पर्वत हाथ में लिये हुए दौड़े। उन्होंने तुरन्त रावण का रथ तोड़ डाला, घोड़ों और सारथि को मार गिराया और रावण की छाती में लात मारी॥ १॥

ठाढ रहा अति कंपित गाता। गयउ बिभीषनु जहँ जनत्राता॥
पुनि रावन तेहि हनेउ प्रचारी। चला गगन कपि पूछ पसारी॥२॥

लात लगने से रावण के अङ्ग बहुत ही काँप गये, पर वह खड़ा रहा और विभीषण वहाँ गया जहाँ भक्तरक्षक भगवान् रामचन्द्र थे। फिर रावण ने हनुमान् को ललकार कर मारा तो वे अपनी पूँछ फैलाकर आकाश में उड़ गये॥ २॥

गहेसि पूछ कपिसहित उडाना। पुनि फिरि भिरेउ प्रबल हनुमाना॥
लरत अकास जुगल सम जोधा। हनत एकु एकहिँ करि क्रोधा॥३॥

रावण ने उनकी पूँछ पकड़ ली, तो हनुमान्‌जी रावण-समेत उड़ गये। प्रबल हनुमान्‌जी फिर उससे वहीं भिड़ गये। दोनों समानबली योद्धा आकाश में लड़ने लगे और एक दूसरे को अत्यन्त क्रोध से मारने लगे॥ ३॥

सोहहिँ नभ छलबल बहु करहीँ। कज्जलगिरि सुमेरु जनु लरहीँ॥
बुधिबल निसिचर परइ न पारा। तब मारुतसुत प्रभु संभारा॥४॥

वे दोनों आकाश में बहुत सा छल और बल करते हुए ऐसे शोभित हुए, मानों कज्जल का पर्वत और सुमेरु पर्वत आपस में लड़ रहे हों। जब हनुमान्‌जी ने बुद्धि के बल से राक्षस रावण का पार नहीं पाया अर्थात् जब वे किसी तरह उसे हरा न सके तब अन्त में वायुपुत्र ने प्रभु रामचन्द्रजी का स्मरण किया॥ ४॥

छंद—संभारि श्री-रघु-बीर धीर प्रचारि कपि रावन हन्यौ।
महि परत पुनि उठि लरत देवन जुगल कहुँ जय जय भन्यौ॥
हनुमंत संकट देखि मर्कट भालु क्रोधातुर चले।
रनमत्त रावन सकल सुभट प्रचंड भुजबल दलमले॥

धीर हनुमान् ने श्रीरघुवीर का स्मरण कर रावण को ललकार कर मारा। यों वे दोनों धरती पर गिर जाते हैं और फिर उठ उठकर लड़ते हैं। यह दशा देखकर देवता दोनों को[1] जय जय कहने लगे। इस तरह हनुमान्‌जी को संकट में देखकर बन्दर और रीछ क्रोध में भरकर चले। रण में मतवाले रावण ने उन सभी वीरों को प्रचण्ड भुजाओं के बल से मर्दन कर डाला॥

दो०—राम प्रचारे बीर तब धाये कीस प्रचंड।
कपिदल प्रबल देखि तेहि कीन्ह प्रगट पाखंड॥१२०॥

जब रामचन्द्रजी ने वानरों को ललकारा तब वे प्रचण्ड होकर दौड़ पड़े। रावण ने वानरों का दल प्रबल हुआ देखकर पाखण्ड (माया) प्रकट किया॥ १२०॥

चौ०—अंतरधान भयउ छन एका। पुनि प्रगटे खल रूप अनेका॥
रघु-पति-कटक भालु कपि जेते। जहँ तहँ प्रगट दसानन तेते॥१॥

वह एक क्षण भर को तो अन्तर्द्धान हो गया, फिर वह दुष्ट अनेक रूपों में प्रकट हुआ। रघुनाथजी की सेना में जहाँ जितने रीछ और बन्दर थे वहाँ उतने ही रावण उन्हें दीखने लगे॥ १॥

देखे कपिन्ह अमित दससीसा। भागे भालु बिकल भट कीसा॥
चले बलीमुख धरहिँ न धीरा। त्राहि त्राहि लछिमन रघुबीरा॥२॥

१—स्वर्गवासी देवता यदि यथार्थ न कहें तो स्वर्गच्युत हो जायँ, इसलिए वे जब जिसका पक्ष प्रबल देखते तब उसकी जय बोलते थे।

बन्दरों ने जब असंख्य रावण देखे तब रीछ और बन्दर व्याकुल हो होकर भागे। वे धीर न धर सके और जाकर पुकारने लगे कि हे लक्ष्मणजी ! त्राहि, हे रघुवीरजी ! त्राहि ! (रक्षा करो, रक्षा करो) ॥ २ ॥

दसदिसि कोटिन्ह धावहिँ रावन । गर्जहिँ घोर कठोर भयावन ॥
डरे सकल सुर चले पराई । जय कै आस तजहु अब भाई ॥३॥

दसों दिशाओं में करोड़ों रावण दौड़ने लगे और घोर, कठोर भयङ्कर गर्जना करने लगे। सब देवता डरे और भाग चले। वे बोले कि भाई ! अब विजय होने की आशा छोड़ो॥ ३ ॥

सब सुर जिते एक दसकंधर । अब बहु भये तकहु गिरिकंदर ॥
रहे बिरंचि संभु मुनि ग्यानी । जिन्ह जिन्ह प्रभुमहिमा कछु जानी ॥४॥

एक रावण ने सब देवतों को जीत लिया था, अब तो वे करोड़ों हो गये, इसलिए हमें रहने के लिए पर्वतों की कन्दरायें ढूँढ़नी चाहिए । उस समय ब्रह्मा, महादेव, ऋषि और ज्ञानी जिन जिन लोगों ने कुछ भगवान् की महिमा जानी है, वे वहीं खड़े रहे ॥ ४ ॥

छंद—जाना प्रताप ते रहे निर्भय कपिन्ह रिपु माने फुरे ।
चले बिचलि मर्कट भालु सकल कृपाल पाहि भयातुरे ॥
हनुमंत अंगद नील नल अतिबल लरत रनबाँकुरे ।
मर्दहिँ दसानन कोटि कोटिन्ह कपट भू भट अंकुरे ॥

जो रामप्रताप के जाननेवाले थे, वे निर्भय रहे। किन्तु उन माया के रावणों को सच्चा समझ कर सब रीछ और बन्दर विचलित हो गये! वे पुकारने लगे कि हे कृपालु! हम भय से व्याकुल हैं, हमारी रक्षा करो। हनुमान् , अङ्गद, नल, नील आदि बाँके वीर रण में लड़ने लगे और कपट रूपी पृथ्वी से अंकुर की भाँति उत्पन्न करोड़ों वीर रावणों का मर्दन करने लगे ॥

दो०—सुर बानर देखे बिकल हँसेउ कोसलाधीस ।
सजि सारंग एक सर हते सकल दससीस ॥१२१॥

कोसलाधीश रामचन्द्रजी देवतों और बन्दरों को बेहाल देखकर हँसे। उन्होंने धनुष को सन्नद्ध कर एक ही बाण से उन सब (माया के) रावणों को मार डाला ॥ १२१ ॥

चौ०—प्रभु छन महुँ माया सब काटी । जिमि रबि उये जाहिँ तम फाटी ॥
रावन एकु देखि सुर हरषे । फिरे सुमन बहु प्रभु पर बरषे ॥१॥

जैसे सूर्य के उदय होते ही अँधेरा फट जाता है वैसे ही प्रभु ने क्षण भर में सब माया काट डाली। जब एक रावण रह गया तब उसे देखकर देवता प्रसन्न हुए, वे लौट आये। उन्होंने प्रभु रामचन्द्रजी पर खूब फूल बरसाये ॥ १ ॥

भुज उठाइ रघुपति कपि फेरे। फिरे एक एकन्ह तब टेरे ॥
प्रभुबल पाइ भालु कपि धाये। तरल तमकि संजुग महि आये ॥२॥

रघुपति ने भुजा उठाकर बन्दरों को लौटाया, तब वे सब एक दूसरे को पुकार पुकारकर लौट आये। प्रभु रामचन्द्रजी का बल पाकर रीछ और बन्दर दौड़े और चंचलता के साथ लपक कर लड़ाई की भूमि में आ गये ॥ २ ॥

करत प्रसंसा सुर तेहि देखे। भयउँ एक मैं इन्ह के लेखे ॥
सठहु सदा तुम्ह मोर मरायल। कहि अस कोपि गगनपथ धायल ॥३॥

देवतों को रामचन्द्रजी की प्रशंसा करते देख, रावण सोचने लगा कि इनकी समझ से मैं एक ही हो गया हूँ। फिर, "अरे दुष्टो! तुम सदा ही से मुझसे पिटते आये हो" ऐसा कह, क्रोध कर वह आकाश-मार्ग में दौड़ा ॥ ३ ॥

हाहाकार करत सुर भागे। खलहु जाहु कहँ मोरे आगे ॥
बिकल देखि सुर अंगद धावा। कूदि चरन गहि भूमि गिरावा ॥४॥

तब देवता हाहाकार करते हुए भागे। रावण बोला कि अरे दुष्टो! मेरे सामने से तुम कहाँ जाने पाओगे! इतने में देवतों को व्याकुल देखकर अङ्गद दौड़ा। उसने कूदकर रावण का पाँव पकड़ उसको धरती पर गिरा दिया ॥ ४ ॥

छंद—गहि भूमि पार्‌यौ लात मार्‌यौ बालिसुत प्रभु पहिँ गयो।
संभारि उठि दसकंठ घोर कठोर रव गर्जत भयो ॥
करि दाप चाप चढाइ दस संधान सर बहु बरषई।
किये सकल भट घायल भयाकुल देखि निज बल हरषई ॥

रावण को पकड़ पृथ्वी पर गिरा और लातें मारकर बालिपुत्र अङ्गद प्रभु के पास चला गया। फिर रावण सँभल कर उठा और उसने घोर, कठोर ध्वनि से गर्जना की। वह अभिमान कर दस धनुष ले, उन पर बाण सन्धान कर, बहुत सी शर-वर्षा करने लगा। उसने सब योद्धाओं को घायल कर दिया। इस तरह अपने बल से उन वीरों को डरे देखकर वह बड़ा प्रसन्न होने लगा ॥

दो०—तब रघुपति लंकेस के सीस भुजा सर चाप।
काटे भये बहोरि पुनि जिमि तीरथ कर पाप ॥१२२॥

तब रघुनाथजी ने रावण के मस्तक और धनुष-बाण-समेत भुजायें काट डालीं, परन्तु जैसे तीर्थ[1] में किये हुए पाप बढ़ते हैं वैसे ही वे फिर बढ़ गये ॥ १२२ ॥

चौ०—सिर भुज बाढ़ि देखि रिपु केरी । भालु कपिन्ह रिस भई घनेरी ॥
मरत न मूढ़ कटेहु भुज सीसा । धाये कोपि भालु भट कीसा ॥ १ ॥

शत्रु रावण के मस्तक और भुजाओं की वृद्धि देखकर रीछों और बन्दरों को बड़ा क्रोध आया। वे सोचने लगे कि यह मूर्ख भुजाओं और मस्तकों के कटने पर भी नहीं मरता! फिर वीर वानर और रीछ क्रोध कर दौड़े ॥ १ ॥

बालितनय मारुति नल नीला । दुबिद कपीस पनस बलसीला ॥
बिटप महीधर करहिँ प्रहारा । सोइ गिरि तरु गहि कपिन्ह सो मारा ॥ २ ॥

बालिपुत्र (अङ्गद), हनुमान्, नल, नील, द्विविद, सुग्रीव और पनस इत्यादि बलशाली वानर वृक्षों और पहाड़ों से प्रहार करने लगे। रावण उन आते हुए पर्वतों और वृक्षों को पकड़ कर उन्हीं से बन्दरों को मारने लगा ॥ २ ॥

एक नखन्हि रिपुबपुष बिदारी । भागि चलहिँ एक लातन्ह मारी ॥
तब नल नील सिरन्ह चढ़ि गये । नखन्ह लिलार बिदारत भये ॥ ३ ॥

कोई बन्दर नखों से रावण का शरीर विदीर्ण कर भाग जाने लगे और कोई लातों से मार मारकर। तब नल और नील रावण के मस्तकों पर चढ़ गये। उन्होंने नखों से उसके ललाट (कपाल) को विदार डाला ॥ ३ ॥

रुधिर बिलोकि सकोप सुरारी । तिन्हहिँ धरन कहँ भुजा पसारी ॥
गहे न जाहिँ करन्ह पर फिरहीं । जनु जुग मधुप कमलबन चरहीं ॥ ४ ॥

मस्तक से खून बहता देखकर देवशत्रु रावण क्रोधित हुआ और उसने उन दोनों बन्दरों को पकड़ने के लिए अपनी भुजायें फैलाईं पर वे उसकी बीसों भुजाओं पर फिरते थे, पकड़ में न आते थे। ऐसा मालूम होता था मानो दो भ्रमर कमलों के वन में फिर रहे हों ॥ ४ ॥

कोपि कूदि दोउ धरेसि बहोरी । महि पटकत भजे भुजा मरोरी ॥
पुनि सकोप दस धनु कर लीन्हे । सरन्ह मारि घायल कपि कीन्हे ॥ ५ ॥

१—और जगह किये हुए पाप तो तीर्थों में जाने से, उनके प्रभाव से, नष्ट हो जाते हैं, पर जो पाप तीर्थों में ही रहकर किये जायँ वे वज्रलेप होकर कदापि नहीं छूटते, किन्तु अपार हो जाते हैं। ऐसा धर्मशास्त्र का मत है—"अन्यक्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति। तीर्थक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥"

फिर रावण ने क्रोधित हो, कूदकर, उन दोनों बन्दरों को पकड़ लिया और जब वह उन्हें पृथ्वी पर पटकने लगा तब वे उसकी भुजाओं को मरोड़ कर भाग गये। फिर उसने क्रोध में भरकर हाथों में दस धनुष ले बाणों से मार मार कर बन्दरों को घायल कर दिया॥ ५॥

हनुमदादि मुरुछित करि बंदर। पाइ प्रदोष हरष दसकंधर॥
मुरुछित देखि सकल कपिबीरा। जामवंत धायउ रणधीरा॥६॥

हनुमान् आदि बन्दरों को मूर्च्छित कर और प्रदोषकाल (सूर्य अस्त के दो घड़ी पहले) का समय पाकर रावण प्रसन्न हुआ[1]। इधर सब वीर बन्दरों को मूर्च्छित देखकर रणधीर जाम्बवान् दौड़ा॥ ६॥

संग भालु भूधर तरु धारी। मारन लगे प्रचारि प्रचारी॥
भयउ क्रुद्ध रावनु बलवाना। गहि पद महि पटकइ भट नाना॥७॥
देखि भालुपति निज-दल-घाता। कोपि माँझ उर मारेसि लाता॥८॥

उसके साथ रीछ पहाड़ और वृक्ष हाथों में लिये हुए रावण को ललकार ललकार कर मारने लगे। बलवान् रावण भी क्रोधित होकर कितने ही वीरों के पाँव पकड़ पकड़ कर उन्हें पटकने लगा॥ ७॥ ऋक्षाधिपति जाम्बवान् ने अपने दल को घायल होते देखकर क्रोधित हो रावण को छाती में लात मार दी॥ ८॥

छंद—उर लात घात प्रचंड लागत बिकल रथ तें महि परा।
गहि भालु बीसहु कर मनहुँ कमलन्ह बसे निसि मधुकरा॥
मुरुछित बिलोकि बहोरि पद हति भालुपति प्रभु पहिँ गयो।
निसि जानि स्यंदन घालि तेहि तब सूत जतनु करत भयो॥

छाती में प्रचंड लात के लगते ही रावण व्याकुल होकर रथ से नीचे पृथ्वी पर गिर गया। उस समय बीसों भुजाओं में रीछों को पकड़े हुए वह ऐसा मालूम होता था, मानों रात के समय कमलों में भौंरों ने बसेरा किया हो। फिर ऋक्षपति जाम्बवान् उसको मूर्च्छित देखकर उसको और भी एक लात मारकर प्रभुजी के पास गया। तब रात्रि का समय जानकर सारथि रावण को रथ में डालकर लङ्का में ले गया और उसको (चैतन्य करने का) यत्न करने लगा॥

दो०—मुरुछा बिगत भालु कपि सब आये प्रभु पास।
सकल निसाचर रावनहिँ घेरि रहे अतित्रास॥१२३॥

---

[1]—सूर्यास्त के समय राक्षसों का बल बढ़ जाता है।

इधर रीछों और बन्दरों की मूर्च्छा दूर होने पर वे सब रामचन्द्रजी के पास आये। उधर सब राक्षसों ने अत्यन्त त्रास से रावण को घेर लिया ॥ १२३ ॥

चौ०—तेही निसि सीता पहिँ जाई। त्रिजटा कहि सब कथा सुनाई ॥
सिर भुज बाढि सुनत रिपु केरी। सीता उर भइ त्रास घनेरी ॥१॥

उसी रात को त्रिजटा (राक्षसी) ने सीताजी के पास जाकर उन्हें सब वृत्तान्त कह सुनाया। शत्रु रावण के मस्तकों और भुजाओं को बाढ़ सुनकर सीताजी के हृदय में बहुत ही त्रास हुआ ॥ १ ॥

मुख मलीन उपजी मन चिंता। त्रिजटा सन बोली तब सीता ॥
होइहि काह कहसि किन माता। केहि बिधि मरिहि बिस्व-दुख-दाता ॥२॥

सीताजी का मुख मलिन हो गया, मन में चिन्ता उत्पन्न हुई, तब वे त्रिजटा से बोलीं—हे माता! क्या होगा, तू कहती क्यों नहीं? जगत् को दुःख देनेवाला रावण किस तरह मरेगा? ॥ २ ॥

रघु-पति-सर सिर कटेहु न मरई। बिधि बिपरीत चरित सब करई ॥
मोर अभाग्य जिआवत ओही। जेहि हौँ हरि-पद-कमल-बिछोही ॥३॥

रघुनाथजी के बाणों से मस्तक कट जाने पर भी वह नहीं मरता! तब विधाता प्रतिकूल है, वही ये सब चरित्र कर रहा है। अपने जिस अभाग्य के कारण मैं रामचन्द्रजी के चरण-कमलों से अलग हुई हूँ वही मेरा अभाग्य रावण को जिला रहा है ॥ ३ ॥

जेहि कृत कपट कनक-मृग झूठा। अजहुँ सो दैव मोहि पर रूठा ॥
जेहि बिधि मोहि दुख दुसह सहाये। लछिमन कहुँ कटु बचन कहाये ॥४॥

जिस दैव ने झूठा कपटयुक्त सोने का मृग बनाया था, वही मुझ पर अब भी रूठा है। जिस विधाता ने मुझे न सहने के लायक़ (घोर) दुःख सहन कराये, जिसने लक्ष्मण को (मेरे मुख से) कड़वे वचन कहलाये ॥ ४ ॥

रघु-पति-बिरह सबिष सर भारी। तकि तकि मार बार बहु मारी ॥
ऐसेहु दुख जो राखु मम प्राना। सोइ बिधि ताहिं जिआव न आना ॥५॥

जिस विधाता ने रामचन्द्रजी के विरहरूपी विषैले भारी बाणों से ताक ताक कर बहुत बार मुझे मारा है तथा जो ऐसे दुःख में भी मेरे प्राण रख रहा है, वही विपरीत विधाता रावण को जिला रहा है; दूसरा कोई नहीं ॥ ५ ॥

तेहि निसि सीता पहिं जाई।
त्रिजटा कहि सब कथा सुनाई॥ पृ० ९३२

बहु बिधि करति बिलाप जानकी। करि करि सुरति कृपानिधान की॥
कह त्रिजटा सुनु राजकुमारी। उर सर लागत मरइ सुरारी॥६॥
प्रभु ताते उर हतइ न तेही। एहि के हृदय बसति बैदेही॥७॥

कृपानिधान रामचन्द्रजी को बार बार याद करके जानकीजी तरह तरह से विलाप करने लगीं तब त्रिजटा ने कहा—हे राजकुमारी! सुनो। हृदय में बाण लगते ही रावण मर जायगा॥ ६॥ प्रभु रामचन्द्रजी अभी उसके हृदय में इस कारण बाण नहीं मारते कि उसके हृदय में जानकी का (तुम्हारा) निवास है॥ ७॥

छंद—एहि के हृदय बस जानकी मम जानकी उर बास है।
मम उदर भुवन अनेक लागत बान सब कर नास है॥
सुनि बचन हरष बिषाद मन अति देखि पुनि त्रिजटा कहा।
अब मरिहि रिपु एहि बिधि सुनहि सुंदरि तजहि संसय महा॥

[रामचन्द्रजी सोचते हैं कि, इस रावण के हृदय में जानकी बस रही हैं] जानकी के हृदय में मेरा निवास है और मेरे पेट के भीतर अनेक लोक बसते हैं, अतः हृदय में बाण लगते ही इन सबका नाश हो जायगा (क्योंकि रामबाण अमोघ है)। इन वचनों को सुनकर सीताजी को कुछ हर्ष हुआ, पर फिर दुःख हो गया। यह दशा देखकर त्रिजटा ने कहा—हे सुन्दरि! अब शत्रु रावण इस तरह मरेगा, तुम सुनो और इस महा-संदेह को दूर करो।

दो०—काटत सिर होइहि बिकल छुटि जाइहि तव ध्यान।
तब रावन कहुँ हृदय महुँ मरिहहिँ राम सुजान॥१२४॥

मस्तक कटते कटते जब रावण व्याकुल होगा तब उसे तुम्हारा ध्यान छूट जायगा। उसी अवसर पर अति-चतुर रामचन्द्रजी उसके हृदय में बाण मारेंगे॥ १२४॥

चौ०—अस कहि बहुत भाँति समुझाई। पुनि त्रिजटा निज भवन सिधाई॥
रामसुभाउ सुमिरि बैदेही। उपजी बिरहबिथा अति तेही॥१॥

त्रिजटा ऐसा कहकर और सीताजी को बहुत तरह से समझा कर अपने घर चली गई। रामचन्द्रजी के स्वभाव का स्मरण कर जानकीजी को विरह की बड़ी भारी वेदना उठी॥ १॥

निसिहि ससिहि निदति बहु भाँती। जुग सम भई न राति सिराती॥
करति बिलाप मनहिँ मन भारी। रामबिरह जानकी दुखारी॥२॥

जानकीजी रात्रि की और चन्द्रमा की बहुत तरह से निन्दा करती थीं। उनको वह रात युग के समान हो गई, वह बीतती ही नहीं थी। रामचन्द्रजी के बिरह से दुःखित जानकीजी मन ही मन भारी विलाप करने लगीं॥ २॥

जब अति भयउ बिरह उर दाहू। फरकेउ बाम नयन अरु बाहू॥
सगुन बिचारि धरी मन धीरा। अब मिलिहहिँ कृपाल रघुबीरा॥३॥

जब विरह से सीताजी की छाती में अत्यन्त दाह होने लगा, तब उनकी बाईं आँख और बाईं भुजा फड़की। सीताजी ने उस अङ्ग-स्फुरण के शकुन को विचारकर मन में इसलिए धैर्य धारण किया कि अब दयालु रघुवीर मुझे मिलेंगे॥ ३॥

इहाँ अर्धनिसि रावन जागा। निज सारथि सन खीझन लागा॥
सठ रनभूमि छुडायसि मोही। धिग धिग अधम मंदमति तोही॥४॥

इधर आधी रात होने पर रावण जागा, (मूर्च्छा मिट कर उसे चेत हुआ) तब वह अपने सारथि पर क्रोध करने लगा—अरे दुष्ट! तूने मेरी रणभूमि छुड़ा दी; अरे अधम! मन्दबुद्धि! तुझे धिक्कार है, धिक्कार है॥ ४॥

तेहिँ पद गहि बहु बिधि समुझावा। भोर भये रथ चढि पुनि धावा॥
सुनि आगवनु दसानन केरा। कपिदल खरभर भयउ घनेरा॥५॥
जहँ तहँ भूधर बिटप उपारी। धाये कटकटाइ भट भारी॥६॥

सारथि ने पाँव पकड़ कर रावण को बहुत तरह समझाया। प्रातःकाल होते ही रावण फिर रथ पर सवार हो चढ़ आया। उसका आगमन सुनकर वानर-दल में बड़ी खलबली मची॥ ५॥ भारी योद्धा लोग जहाँ तहाँ से वृक्ष और पर्वत उखाड़ उखाड़ कर किटकिटा कर दौड़े॥ ६॥

छंद—धाये जो मर्कट बिकट भालु कराल कर भूधर धरा।
अति कोपि करहिँ प्रहार मारत भजि चले रजनीचरा॥
बिचलाइ दल बलवंत कीसन्ह घेरि पुनि रावन लियो।
चहुँ दिसि चपेटन्हि मारि नखन्हि बिदारि तनु ब्याकुल कियो॥

जो विकट बन्दर और कराल रीछ थे वे हाथों में पहाड़ ले लेकर दौड़े और अत्यन्त क्रोध कर प्रहार करने लगे। उनके मारते ही राक्षस भाग चले। बलवान् बन्दरों ने राक्षसों की सेना को भगा कर फिर रावण को घेर लिया। उन्होंने उसको चारों ओर से चपेटें लगा लगाकर और नखों से उसका शरीर विदारण कर उसे व्याकुल कर दिया॥

दो०—देखि महा मर्कट प्रबल रावन कीन्ह बिचार।
अंतरहित होइ निमिष महुँ कृत माया बिस्तार॥१२५॥

रावण ने बन्दरों को महा प्रबल देखकर मन में कुछ विचार किया और वहाँ से अन्तर्धान होकर उसने एक पलक भर में राक्षसी माया फैला दी॥ १२५॥

तोमरछंद—जब कीन्ह तेहि पाखंड । भये प्रगट जंतु प्रचंड ॥
बेताल भूत पिसाच । कर धरे धनु नाराच ॥
जोगिनि गहे करबाल । एक हाथ मनुजकपाल ॥
करि सद्य सोनित पान । नाचहिँ करहिँ बहु गान ॥

जब रावण ने पाखंड (माया) किया तब वहाँ प्रचंड जीव प्रकट हुए। बेताल, भूत, पिशाच हाथों में धनुष बाण लिये हुए और योगिनियाँ एक हाथ में तलवार तथा दूसरे में मनुष्य का कपाल लेकर ताज़ा रक्त पान करने और नाचने तथा अनेक गान करने लगीं ॥

धरु मारु बोलहिँ घोर । रहि पूरि धुनि चहुँ ओर ॥
मुख बाइ धावहिँ खान । तब लगे कीस परान ॥
जहँ जाहिँ मर्कट भागि । तहँ बरत देखहिँ आगि ॥
भये बिकल बानर भालु । पुनि लाग बरषइ बालु ॥

वे पकड़ो ! मारो ! आदि घोर शब्द बोलने लगीं। वह ध्वनि चारों ओर फैल रही थी। वे मुँह फैलाकर खाने को दौड़ने लगीं, तब बन्दर भागने लगे। बन्दर जहाँ भागकर जाते वहाँ उन्हें आग जलती हुई दीखती थी। तब तो बन्दर और रीछ व्याकुल हो गये। फिर वहाँ रेत बरसने लगी ॥

जहँ तहँ थकित करि कीस । गर्जेउ बहुरि दससीस ॥
लछिमन कपीससमेत । भये सकल बीर अचेत ॥
हा राम हा रघुनाथ । कहि सुभट मीजहिँ हाथ ॥
एहि बिधि सकल बल तोरि । तेहि कीन्ह कपट बहोरि ॥

इस तरह बन्दरों को जहाँ तहाँ थकित कर रावण खूब गर्जा। लक्ष्मण और सुग्रीव-समेत सब वीर अचेत हो गये। अच्छे अच्छे योद्धा हाय राम ! हाय रघुनाथ !! कहकर हाथ मलने लगे। इस तरह रावण ने सारी सेना का बल तोड़कर फिर और कपट (माया) किया ॥

प्रगटेसि बिपुल हनुमान । धाये गहे पाषान ॥
तिन्ह राम घेरे जाइ । चहुँ दिसि बरूथ बनाइ ॥
मारहु धरहु जनि जाइ । कटकटहिँ पूँछ उठाइ ॥
दस दिसि लँगूर बिराज । तेहि मध्य कोसलराज ॥

उन्होंने बहुत से हनुमान् प्रकट किये, वे पत्थर ले लेकर दौड़े। उन्होंने दल बनाकर रामचन्द्रजी को चारों ओर से जा घेरा। वे मार लो, पकड़ लो, जाने न पावे, ऐसा कह कर पूँछ उठा किलकारी मारने लगे। दसों दिशाओं में तो पूँछ और बीच में रामचन्द्रजी हैं॥

छंद—तेहि मध्य कोसलराज सुंदर स्यामतन सोभा लही।
जनु इंद्रधनुष अनेक की बर बारि तुंग तमालही॥
प्रभु देखि हरष बिषाद उर सुर बदत जय जय जय करी।
रघुबीर एकहि तीर कोपि निमेष महुँ माया हरी॥

उनके बीच में कोसलराज रामचन्द्रजी के श्याम शरीर ने ऐसी शोभा पाई, मानो ऊँचे तमाल वृक्ष के चारों ओर बहुत से इन्द्रधनुषों की बाड़ लगी हो। इस तरह प्रभु रामचन्द्रजी को देखकर देवतों के हृदय में हर्ष और विषाद दोनों हुए, फिर उन्होंने आपको जय हो जय हो, जय हो, इस प्रकार शब्द किया। रामचन्द्रजी ने क्रोधित हो एक ही बाण से पलक भर में वह माया हर ली॥

माया बिगत कपि भालु हरषे बिटप गिरि गहि सब फिरे।
सरनिकर छाड़े राम रावन-बाहु-सिर पुनि महि गिरे॥
श्री-राम-रावन समरचरित अनेक कल्प जो गावहीं।
सत सेष सारद निगम कबि तेउ तदपि पार न पावहीं॥

माया के नष्ट हो जाने पर बन्दर और रीछ प्रसन्न हुए और सब पहाड़ तथा वृक्ष लेकर लौट पड़े। रामचन्द्रजी ने अपने बाण-समूह छोड़े जिनसे रावण के भुज और मस्तक कटकर पृथ्वी पर गिरे। श्रीरामचन्द्रजी और रावण के युद्ध के चरित्र को सौ शेष, सरस्वती, वेद और कवि सैकड़ों कल्प पर्यन्त गावें, तो भी पार नहीं पा सकते[१]॥

दो०—कहे तासु गुनगन कछुक जड़मति तुलसीदास।
निज-पौरुष-अनुसार जिमि मसक उड़ाहिँ अकास॥१२६॥

मूर्ख-बुद्धि तुलसीदास ने उन्हीं प्रभु के कुछ गुण-गण इस तरह कहे हैं जिस तरह आकाश में मच्छर अपनी शक्ति के अनुसार ही उड़ता है। (अधिक नहीं, क्योंकि आकाश तो अपार है)॥ १२६॥

१—वास्तव में राम-रावण युद्ध के लिए वाल्मीकिजी ने भी अनुपमता निरूपण की है। अलङ्कारशास्त्र में अनन्वयालङ्कार में कुवलयानन्द ने इस श्लोक को उद्धृत किया है—"गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव॥" अर्थात् आकाश, समुद्र और राम रावण का युद्ध इन तीनों के लिए दूसरी उपमा नहीं, वे उन्हीं जैसे हैं।

काटे सिर भुज बार बहु मरत न भट लंकेस।

प्रभु क्रीडत मुनि सिद्ध सुर ब्याकुल देखि कलेस ॥१२७॥

बहुत बार मस्तकों और भुजाओं के काट डालने पर भी वीर लङ्केश्वर रावण मरता नहीं। प्रभु रामचन्द्रजी तो यह खेल कर रहे हैं; किन्तु मुनि, सिद्ध और देवता क्लेश देखकर व्याकुल हो रहे हैं ॥ १२७ ॥

चौ०—काटत बढहिँ सीससमुदाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई॥

मरइ न रिपु स्रम भयउ बिसेखा। राम बिभीषन तन तब देखा ॥१॥

जैसे ज्यों ज्यों लाभ होता है त्यों त्यों लोभ अधिक बढ़ता है, वैसे ही रावण के मस्तक काटने पर बढ़ते जाते थे। युद्ध में शत्रु मरता नहीं, और विशेष परिश्रम हुआ, तब रामचन्द्रजी ने विभीषण की ओर देखा[1] ॥ १ ॥

उमा काल मरु जाकी ईछा। सोइ प्रभु जन कर प्रीतिपरीछा॥

सुनु सर्वग्य चराचरनायक। प्रनतपाल सुर-मुनि-सुख-दायक ॥ २ ॥

महादेवजी कहते हैं कि हे पार्वति! जिन परमात्मा की इच्छा से काल भी मर जाता है, वे भगवान् रामचन्द्र इस अवसर पर अपने जन की परीक्षा कर रहे हैं। विभीषण ने कहा—सुनिए। आप तो सर्वज्ञ,[2] चराचर के स्वामी, शरणागत-रक्षक, देवतों, और मुनियों को सुख देनेवाले हैं ॥ २ ॥

नाभीकुंड सुधा बस या के। नाथ जियत रावनु बल ता के॥

सुनत बिभीषनबचन कृपाला। हरषि गहे कर बान कराला ॥ ३ ॥

हे नाथ! इस रावण के नाभि-कुंड में अमृत का निवास है, उसी के बल से यह जी रहा है (इसके कटे मस्तक आदि नये हो जाते हैं)। कृपालु रामचन्द्रजी ने विभीषण के इन वचनों को सुनते ही प्रसन्न होकर हाथ में कराल बाण लिये ॥ ३ ॥

असगुन होन लगे तब नाना। रोवहिँ बहु सृगाल खर स्वाना॥

बोलहिँ खग जग-आरति-हेतू। प्रकट भये नभ जहँ तहँ केतू ॥ ४ ॥

१—विभीषण की ओर इसलिए देखा कि यह दुष्ट रावण तो मारे से भी नहीं मरता और विभीषण को हमने लङ्का का राजा किया, अतः अब कैसे क्या होगा? या—विभीषण की ओर देखकर वे यह सोचने लगे कि इसी का भाई तो रावण है, फिर इसमें इतना बल कहाँ से आ गया! या—उसकी ओर देखकर वे रावण के मारे जाने का उपाय पूछते हैं।

२—विभीषण की ओर देखकर उपाय पूछा तो क्या रामचन्द्रजी अजान थे? इसी शङ्का की निवृत्ति के लिए उनके सर्वज्ञ आदि विशेषण हैं।

तब अनेक प्रकार के अशकुन होने लगे; बहुत से सियार, गधे और कुत्ते रोने लगे। ससार के दु:ख की सूचना देनेवाले दुष्ट पक्षी बोलने लगे, आकाश में जहाँ तहाँ केतु (पूँछवाले तारे) प्रकट हुए ॥ ४ ॥

दस दिसि दाह होन अति लागा। भयउ परब बिनु रबिउपरागा ॥
मंदोदरि उर कंपति भारी। प्रतिमा स्रवहिँ नयनमग बारी ॥ ५ ॥

दसों दिशाओं में अत्यन्त दाह[१] होने लगा। पर्वकाल (अमावस्या और प्रतिपदा की सन्धि) बिना ही सूर्य-ग्रहण हो गया। मन्दोदरी के हृदय में भारी कम्प हुआ। मूर्तियाँ नेत्रों के रास्ते आँसू बहाने लगीं ॥ ५ ॥

छंद—प्रतिमा स्रवहिँ पबि पात नभ अति बात बह डोलति मही।
बरषहिं बलाहक रुधिरु कच रज असुभ अति सक को कही ॥
उतपात अमित बिलोकि नभ सुर बिकल बोलहिँ जय जये।
सुर सभय जानि कृपाल रघुपति चाप सर जोरत भये ॥

मूर्तियों के आँसू बहने लगे, आकाश से वज्रपात (बिजली गिरना) होने लगे, प्रचंड आँधी चली, पृथ्वी हिलने लगी, बादल रुधिर, केश और धूल बरसाने लगे। ऐसे ऐसे अनेक अपशकुनों को कौन कह सकता है! देवता आकाश में अपार उत्पातों को देखकर जय जय बोल रहे थे। दयालु रघुनाथजी देवतों को भयभीत जान कर धनुष में बाण सन्धान करने लगे ॥

दो०—खैँचि सरासन स्रवन लगि छाडे सर एकतीस।
रघु-नायक-सायक चले मानहुँ काल फनीस ॥ १२८ ॥

रामचन्द्रजी ने धनुष को कान पर्यन्त खींचकर इकतीस बाण छोड़े। रघुनाथजी के वे बाण ऐसे चले, मानों काल-सर्प हों ॥ १२८ ॥

चौ०—सायक एक नाभिसर सोखा। अपर लगे सिर भुज करि रोखा ॥
लइ सिर बाहु चले नाराचा। सिर-भुज-हीन रुंड महि नाचा ॥ १ ॥

एक बाण ने तो रावण का (अमृतभरा) नाभिकुंड सुखा दिया, दूसरे बीसों भुजाओं और दसों मस्तकों में तेजी से जा लगे। वे बाण जब रावण के मस्तकों और भुजाओं को लेकर चले तब बिना मस्तकों और बिना भुजाओं का उसका रुंड पृथ्वी पर नाचने लगा ॥ १ ॥

१—सवेरे और संध्या को पूर्व तथा पश्चिम में दीखनेवाली ललाई को, यदि वह बहुत तेज़ हो और बड़ी देर तक रहने लगे, 'दिशाओं का दाह' कहते हैं।

धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा। तब प्रभु सर हति कृत जुग खंडा॥
गर्जेउ मरत घोररव भारी। कहाँ रामु रन हतउँ प्रचारी॥ २॥

उस धड़ की प्रचंड दौड़ से जब धरती धँसने लगी, तब प्रभु रामचन्द्रजी ने बाण मारकर उस धड़ के दो टुकड़े कर दिये। वह मरते मरते भारी भयङ्कर शब्द से गर्जकर बोला—राम कहाँ हैं, मैं उन्हें ललकार कर रण में मारूँगा॥ २॥

डोली भूमि गिरत दसकंधर। छुभित सिंधु सरि दिग्गज भूधर॥
धरनि परेउ दोउ खंड बढाई। चापि भालु-मर्कट-समुदाई॥ ३॥

रावण के गिरते समय पृथ्वी हिल गई; समुद्र, नदियाँ, दिग्गज और पर्वत क्षुभित हो गये। रावण उन धड़ के दोनों टुकड़ों को बढ़ाकर रीछों और बन्दरों को दबाता हुआ धरती पर गिर गया[1]॥ ३॥

मंदोदरि आगे भुज सीसा। धरि सर चले जहाँ जगदीसा॥
प्रबिसे सब निषंग महँ जाई। देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई॥ ४॥

रामचन्द्रजी के बाण रावण की भुजाओं और मस्तकों को मन्दोदरी के सम्मुख रखकर जहाँ जगत् के स्वामी रामचन्द्रजी थे वहाँ को चले। उन सबने जाकर तरकस में प्रवेश किया। यह देखकर देवतों ने नगारे बजाये॥ ४॥

तासु तेज समान प्रभुआनन। हरषे देखि संभु चतुरानन॥
जय जय धुनि पूरी ब्रह्मंडा। जय रघुबीर प्रबल-भुज-दंडा॥ ५॥
बरषहिँ सुमन देव-मुनि-बृंदा। जय कृपाल जय जयति मुकुंदा॥६॥

रावण का तेज श्रीरामचन्द्रजी के मुख-कमल में प्रविष्ट हो गया। यह देखकर महादेव और ब्रह्मा प्रसन्न हुए। प्रबल भुज-दंडवाले रामचन्द्रजी की जय हो जय हो। जय जयकार की ध्वनि ब्रह्मांड में भर गई॥ ५॥ देवता और ऋषि-समूह फूल बरसाने लगे और बोले—हे कृपालु! आपकी जय हो, हे मुकुन्द (मोक्षदाता) आपकी जय हो, आप विजयी हों॥ ६॥

१—कहीं कहीं ऐसा भी कहा है कि रावण का ध्यान चल-विचल कर देने के लिए रामचन्द्रजी की आज्ञा से लक्ष्मणजी ने रावण से नीति-शिक्षा के प्रश्न किये थे और उत्तर में उसने कहा था कि मनुष्य अपने चिन्तित कार्य शीघ्र कर डाले, अन्यथा वे रह जाते हैं। मेरे तीन मनोरथ रह गये—(१) मैंने यमराज से युद्ध करते समय नरकवासियों का दुःख देखकर नरक पाट देना चाहा था। (२) स्वर्ग के लिए लोगों को दीर्घ प्रयत्न करते देख मैंने विश्वकर्मा से एक नसेनी (सीढ़ी) बनवाकर स्वर्ग के लिए लगा देनी चाही थी। (३) पापकर्म को हृदय में एकदम स्थान नहीं देना चाहिए। यदि मैं सीता-हरण के पहले भूत-भविष्य को सोच लेता तो आज का यह कुलक्षय न होता।

छंद—जय कृपाकंद मुकुंद द्वंदहरन सरन सुख-प्रद प्रभो।
खल-दल-बिदारन परमकारन कारुनीक सदा बिभो॥
सुर सुमन बरषहिँ हरष संकुल बाज दुंदुभि गहगही।
संग्रामअंगन रामअंग अनंग बहु सोभा लही॥

कृपा के कन्द (सार) मुकुन्द, द्वन्द्व (भेदबुद्धि या जंजाल) को हरनेवाले, शरणागत को सुख देनेवाले प्रभो ! आपकी जय हो। शत्रुदल को विदारण करनेवाले, परम कारणरूप, सदा करुणा करनेवाले विभो (समर्थ) ! आपकी जय हो। देवता आनन्द में भर कर फूल बरसा रहे हैं, गहगहे (गहरे) नगारे बज रहे हैं। उस समय रण-भूमि में रामचन्द्रजी के अङ्गों ने अनेक कामदेवों की शोभा पाई॥

सिर जटामुकुट प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजहीँ।
जनु नीलगिरि पर तडित पटल समेत उडुगन भ्राजहीँ॥
भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिरकन तन अति बने।
जनु रायमुनी तमाल पर बैठीँ बिपुल सुख आपने॥

श्रीरामचन्द्रजी के मस्तक पर जटाओं के मुकुट के बीच बीच में फूल बहुत ही मनोहर शोभित हो रहे थे, मानों नील पर्वत पर बिजलियों के समूह-समेत नक्षत्र-गण प्रकाशित हो रहे हों। वे भुज-दण्डों (हाथों) से धनुष और बाण फेर रहे हैं, शरीर पर रक्त की बूँदें अत्यन्त शोभा दे रही हैं। वे ऐसी मालूम होती हैं, मानों रायमुनियाँ (एक तरह की चिड़ियाँ) तमाल के वृक्ष पर बड़े सुख से बैठी हों॥

दो०—कृपादृष्टि करि बृष्टि प्रभु अभय किये सुरबृंद।
हरषे बानर भालु सब जय सुखधाम मुकुंद॥१२९॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने कृपा-दृष्टि की वर्षा करके देव-गणों को अभय कर दिया। सब रीछ और बन्दर प्रसन्न हो गये; वे बोले कि हे सुख के धाम, मुकुन्द ! आपकी जय हो॥ १२९॥

चौ०—पतिसिर देखत मंदोदरी। मुरुछित बिकल धरनि खसि परी॥
जुबतिबृंद रोवत उठि धाईँ। तेहि उठाइ रावन पहिँ आईँ॥१॥

पति रावण के मस्तक देखते ही मन्दोदरी मूर्च्छित और व्याकुल होकर धरती पर गिर पड़ी। तब झुंड का झुंड और स्त्रियाँ रोती हुई दौड़ीं और मन्दोदरी को वहाँ से उठाकर रावण के पास आईं॥ १॥

पतिगति देखि ते करहिँ पुकारा। छूटे कच नहिँ बपुष सँभारा॥
उरताडना करहिँ बिधि नाना। रोवत करहिँ प्रताप बखाना॥२॥

वे स्त्रियाँ पति की गति देखकर चिल्लाने लगीं। उनके मस्तक के बाल खुल गये। उन्हें अपने शरीर की सुधि नहीं रही। वे अनेक प्रकार से छाती कूटने लगीं और रोते रोते रावण का प्रताप वर्णन करने लगीं—॥ २ ॥

तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेजहीन पावक ससि तरनी॥
सेष कमठ सहि सकहिँ न भारा। सो तनु भूमि परेउ भरि छारा॥३॥

हे नाथ! तुम्हारे बल से पृथ्वी सदा काँपती थी; अग्नि, सूर्य और चन्द्र तेजहीन हो जाते थे। जिसका भार शेषजी और कच्छप नहीं सह सकते थे, वही तुम्हारा शरीर आज धूल से भरा हुआ पृथ्वी पर पड़ा है!॥ ३ ॥

बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रनसनमुख धर काहु न धीरा॥
भुजबल जितेहु काल जम साईं। आजु परेहु अनाथ की नाईं॥४॥

तुम्हारे सम्मुख रण में वरुण, कुबेर, इन्द्र और वायु कोई भी धैर्य नहीं धारण करता था[1]। हे साईं! तुमने अपनी भुजाओं के बल से यमराज और काल को भी जीत लिया था। वे ही तुम आज अनाथ जैसे रण में पड़े हो॥ ४ ॥

जगतबिदित तुम्हारि प्रभुताई। सुत परिजन बल बरनि न जाई॥
रामबिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा॥५॥

तुम्हारी प्रभुता संसार में प्रसिद्ध है; तुम्हारे पुत्रों और परिवार के बल का वर्णन नहीं करते बनता। ।पर रामचन्द्र से विमुख होने के कारण तुम्हारा यह हाल हुआ कि कोई वंश में रोनेवाला भी नहीं बचा॥ ५ ॥

तव बस बिधिप्रपंच सब नाथा। सभय दिसिप नित नावहिँ माथा॥
अब तव सिर भुज जंबुक खाहीँ। रामबिमुख यह अनुचित नाहीँ॥६॥
कालबिबस पति कहा न माना। अग-जग-नाथु मनुज करि जाना॥७॥

१—राजा मरुत्त के यज्ञ में इन देवतों ने धैर्य छोड़ दिया था। यथानियम यज्ञ हो रहा था, देवता निमन्त्रित होकर उपस्थित थे। अकस्मात् वहाँ रावण जा निकला। बस, सब देवता सिटपिटा गये और उन्होंने अनेक पक्षियों के रूप ले लेकर अपने प्राण बचाये। उनमें प्रधान इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर ने क्रमशः मोर, कौआ, हंस और गिरगट के रूप रख लिये थे। देवशून्य यज्ञ पाकर रावण के लौट जाने पर सब देवतों ने अपने अपने रक्षक शरीरवाले पक्षियों को वरदान दिये। इंद्र ने मोर को सर्प का भय न होना, मेह बरसता और बादल देखकर प्रसन्न होना, पंखों में इन्द्र के हज़ार नेत्रों के चिह्न होना—ये वर दिये। यम ने कौए को पितृकर्म में प्रधानता, रोज़ बलि का मिलना, श्राद्धादि कर्मों में कौए की बलि बिना व्यर्थता, नीरोग रहना, बिना मारे न मरना, इत्यादि वर दिये। वरुण ने पहले कृष्ण पंखवाले हंसों को श्वेतपङ्ख होना, सब पक्षियों में उनकी श्रेष्ठता आदि वर दिये। कुबेर ने गिरगट को गले में सोने का चिह्न और धन का निवास रहने का वर दिया।

हे नाथ ! विधाता की सारी सृष्टि तुम्हारे अधीन थी; दिक्पाल बेचारे डर के मारे नित्य सिर झुका तुम्हें प्रणाम करते थे। हाय ! अब तुम्हारे मस्तकों और भुजाओं को सियार खाते हैं। राम-विमुख होनेवाले के लिए यह अनुचित नहीं है ॥ ६ ॥ हे नाथ ! आप काल के वश हो गये थे, इसी कारण आपने किसी का कहा न माना और चराचर के स्वामी भगवान् रामचन्द्र को मनुष्य समझा ॥ ७ ॥

छंद—जानेउ मनुज करि दनुज-कानन-दहन-पावक हरि स्वयं।
जेहि नमत सिव ब्रह्मादि सुर पिय भजेहु नहिँ करुनामयं॥
आजनम तेँ पर-द्रोह-रत पापौघमय तव तनु अयं।
तुम्हहूँ दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं॥

हे प्यारे ! तुमने दानवरूपी वन को जलाने के लिए अग्निरूप स्वयं विष्णु रामचन्द्रजी को मनुष्य समझा। जिसको शिव ब्रह्मा आदि भी प्रणाम करते हैं, उस करुणारूप का तुमने भजन नहीं किया। यह तुम्हारा शरीर जन्मकाल से ही दूसरे के द्वेष में तत्पर और पाप-समूहों से भरा रहा, ऐसे तुमको भी जिन रामचन्द्रजी ने निजधाम (वैकुंठ) दिया, मैं उन निर्विकार ब्रह्म को नमस्कार करती हूँ ॥

दो०—अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु को आन।
मुनिदुर्लभ जो परमगति तोहि दीन्हि भगवान॥१३०॥

अहह !! हे नाथ ! रघुनाथजी के समान दयासागर और कौन है, क्योंकि जो श्रेष्ठ गति मुनि-जनों को भी दुर्लभ है, वही उन्होंने तुमको दी ॥ १३० ॥

चौ०—मंदोदरी बचन सुनि काना। सुर मुनि सिद्ध सबन्हि सुख माना॥
अज महेस नारद सनकादी। जे मुनिबर परमारथबादी॥१॥

मन्दोदरी के इन वचनों को सुनकर देवता, मुनि, सिद्ध सभी ने सुख माना। फिर ब्रह्मा, महादेव, नारद और सनकादिक जो परमार्थ-ज्ञान के वक्ता मुनिश्रेष्ठ हैं ॥ १ ॥

भरि लोचन रघुपतिहिँ निहारी। प्रेममगन सब भये सुखारी॥
रुदन करत बिलोकि सब नारी। गयेउ बिभीषनु मन दुख भारी॥२॥

वे सब आँखें भर रघुनाथजी को देखकर प्रेम में मग्न और सुखी हुए। घर की सब स्त्रियों को रोदन करते देखकर विभीषण के मन में बड़ा दुःख हुआ। वह वहाँ पर गया ॥ २ ॥

बंधुदसा देखत दुख कीन्हा। राम अनुज कहुँ आयसु दीन्हा॥
लछिमन जाइ ताहि समुझायउ। बहुरि बिभीषनु प्रभु पहिँ आयउ॥३॥

विभीषण ने भाई रावण की वह दशा देखकर दुःख किया, तब रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण को आज्ञा दी और उन्होंने जाकर विभीषण को समझाया। तब विभीषण लौटकर रामचन्द्रजी के पास आ गया ॥ ३ ॥

कृपादृष्टि प्रभु ताहि बिलोका। करहु क्रिया परिहरि सब सोका ॥
कीन्हि क्रिया प्रभुआयसु मानी। बिधिवत देस काल जिय जानी ॥४॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने विभीषण को दया-दृष्टि से देखकर कहा कि तुम सब सोच छोड़कर रावण की क्रिया (अन्त्येष्टि) करो। विभीषण ने स्वामी की आज्ञा मानकर, देशकाल को अपने जी में समझकर, विधि के अनुसार रावण की क्रिया की ॥ ४ ॥

दो०—मंदोदरी आदि सब देइ तिलांजलि ताहि।
भवन गईं रघुबीर-गुन-गन बरनत मन माहिं ॥१३१॥

फिर मन्दोदरी आदि सभी स्त्रियों ने रावण को तिलाञ्जलि दी और मन में रघुनाथजी के गुणगण वर्णन करती हुई वे घर गईं ॥ १३१ ॥

चौ०—आइ बिभीषन पुनि सिर नायउ। कृपासिंधु तब अनुज बोलायउ ॥
तुम्ह कपीस अंगद नल नीला। जामवंत मारुति नयसीला ॥१॥

विभीषण ने (क्रिया से निवृत्त हो) आकर फिर प्रणाम किया, तब दयासागर रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण को बुलाया और उनसे कहा—तुम और सुग्रीव, अङ्गद, नल, नील, जाम्बवान् तथा नीतिशाली हनुमान् ॥ १ ॥

सब मिलि जाहु बिभीषन साथा। सारेहु तिलक कहेउ रघुनाथा ॥
पितावचन मैं नगर न आवउँ। आपु सरिस कपि अनुज पठावउँ ॥२॥

सब मिलकर विभीषण के साथ जाओ और इसको राज-तिलक कर आओ। मैं, पिताजी की आज्ञा के कारण, नगर में प्रवेश नहीं कर सकता। अपने समान भाई और बन्दरों को भेजता हूँ। अर्थात् इनके जाने से मेरा जाना समझ लेना ॥ २ ॥

तुरत चले कपि सुनि प्रभुबचना। कीन्ही जाइ तिलक कै रचना ॥
सादर सिंहासन बैठारी। तिलक कीन्ह अस्तुति अनुसारी ॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी के वचन सुनकर वे वानर तुरन्त चल पड़े और लंका में जाकर उन्होंने तिलक की रचना की। उन्होंने आदर के साथ विभीषण को सिंहासन पर बैठाकर, उसको राजतिलक कर, स्तुति की ॥ ३ ॥

जोरि पानि सबहीं सिर नाये। सहित बिभीषन प्रभु पहिं आये ॥
तब रघुबीर बोलि कपि लीन्हे। कहि प्रिय बचन सुखी सब कीन्हे ॥४॥

सभी ने विभीषण को हाथ जोड़कर सिर से प्रणाम किया। फिर विभीषण सहित वे रामचन्द्रजी के पास आये। तब रघुनाथजी ने सभी बन्दरों को बुला लिया और प्रिय वचन कहकर सबको सुखी किया ॥ ४ ॥

छंद—किये सुखी कहि बानी सुधासम बल तुम्हारे रिपु हयो।
पायो बिभीषन राजु तिहुँ पुर जसु तुम्हारो नित नयो ॥
मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जे गाइहैं।
संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं ॥

रामचन्द्रजी ने अमृत-समान प्रिय वाणी कहकर सबको सुखी किया। उन्होंने कहा—भाइयो! तुम्हारे ही बल से शत्रु मारा गया और विभीषण ने राज्य पाया। यह तुम्हारा यश तीनों लोकों में नित्य नया रहेगा। जो कोई मेरे चरित के साथ तुम्हारी शुभ कीर्ति परम प्रेम से गावेंगे वे मनुष्य अपार संसार-सागर से बिना परिश्रम पार हो जायँगे ॥

दो०—प्रभु के बचन स्रवन सुनि नहिँ अघाहिँ कपिपुंज।
बार बार सिर नावहीँ गहहिँ सकल पदकंज ॥१३२॥

वे वानर प्रभु रामचन्द्रजी के वचनों को कानों से सुनकर तृप्त नहीं होते थे। वे सभी बार बार प्रभु के चरण-कमलों को छूते और सिर झुकाते थे ॥ १३२ ॥

चौ०—पुनि प्रभु बोलि लियेउ हनुमाना। लंका जाहु कहेउ भगवाना।
समाचार जानकिहिँ सुनावहु। तासु कुसल लेइ तुम्ह चलि आवहु ॥१॥

फिर प्रभु रामचन्द्रजी ने हनुमान्‌जी को बुलाया और उनसे कहा कि तुम लङ्का जाओ, वहाँ जानकी को यह समाचार सुनाओ और उसका कुशल-वृत्तान्त लेकर लौट आओ ॥ १ ॥

तब हनुमंत नगर महँ आये। सुनि निसिचरी निसाचर धाये ॥
पूजा बहु प्रकार तिन्ह कीन्ही। जनकसुता दिखाइ पुनि दीन्ही ॥२॥

तब हनुमान्‌जी लङ्का नगर में आये। उनका आना सुनकर राक्षसियाँ और राक्षस दौड़ पड़े। उन्होंने हनुमान्‌जी की पूजा (प्रतिष्ठा) बहुत प्रकार से की और फिर जानकीजी को उन्हें दिखा दिया ॥ २ ॥

दूरिहिँ तेँ प्रनाम कपि कीन्हा। रघु-पति-दूत जानकी चीन्हा ॥
कहहु तात प्रभु कृपानिकेता। कुसल अनुज-कपि-सेन-समेता ॥३॥

हनुमान्‌जी ने दूर ही से जानकीजी को प्रणाम किया। जानकीजी ने उन्हें पहचान लिया कि ये रघुनाथजी के दूत हैं। उन्होंने पूछा—हे तात! कहो, कृपा के स्थान प्रभु रामचन्द्रजी, भाई लक्ष्मण और वानरी सेना-समेत, कुशल तो हैं ॥ ३ ॥

सब बिधि कुसल कोसलाधीसा । मातु समर जीतेउ दससीसा ॥
अबिचल राजु बिभीषन पावा । सुनि कपिबचन हरष उर छावा ॥४॥

हनुमान्‌जी ने कहा—माताजी ! कोसलाधीश रामचन्द्रजी सब प्रकार कुशल हैं। उन्होंने रण में रावण को जीत लिया और बिभीषण निश्चल राज्य पा गया। ऐसे हनुमान् जी के वचन सुनकर सीताजी के हृदय में प्रसन्नता छा गई ॥ ४ ॥

छंद—अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा ।
का देउँ तोहि त्रैलोक महुँ कपि किमपि नहिँ बानी समा ॥
सुनु मातु मैँ पायउँ अखिल-जग-राजु आजु न संसयं ।
रन जीति रिपुदल बंधुयुत पस्यामि राममनामयं ॥

सीताजी के मन में अत्यन्त हर्ष हुआ, शरीर में पुलकावलि हो आई। लक्ष्मीस्वरूपा सीताजी नेत्रों में आँसू लाकर बार बार कहने लगीं—हे कपि हनुमान् ! मैं तुमको इस अमृत-वाणी के बदले में क्या दूँ ? त्रिलोकी में इस वाणी के समान कोई वस्तु नहीं है। यह सुनकर हनुमान्‌जी ने कहा—हे माताजी ! सुनो। आज मैं सारे जगत का राज्य पा गया, इसमें कुछ संदेह नहीं, जो रण में शत्रु-दल को जीतकर बन्धु सहित अक्षत रामचन्द्रजी को देख रहा हूँ ॥

दो०—सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदय बसहु हनुमंत ।
सानुकूल रघुबंसमनि रहहु समेत अनंत ॥१३३॥

तब सीताजी ने वर दिया—हे पुत्र हनुमान ! सुन। तुम्हारे हृदय में सब सद्‌गुण सर्वदा निवास करें और लक्ष्मणजी समेत रघुवंशमणि (रामचन्द्रजी) तुम पर सानुकूल बने रहें ॥ १३३ ॥

चौ०—अब सोइ जतन करहु तुम्ह ताता। देखउँ नयन स्याम मृदुगाता ॥
तब हनुमान राम पहिँ जाई । जनकसुता कै कुसल सुनाई ॥१॥

हे तात ! अब तुम वही यत्न करो जिसमें मैं श्याम-कोमल-शरीर रामचन्द्रजी को आँखों से देखूँ। तब हनुमान्‌जी ने रामचन्द्रजी के पास जाकर जानकीजी की कुशलता सुनाई ॥ १ ॥

सुनि संदेस भानु-कुल-भूषन । बोलि लिये जुबराज बिभीषन ॥
मारुतसुत के संग सिधावहु । सादर जनकसुतहिँ लेइ आवहु ॥२॥

सूर्य-कुल-भूषण रामचन्द्रजी ने सीताजी का संदेशा सुनकर अङ्गद और बिभीषण को बुलाया और उनसे कहा—तुम वायुपुत्र के साथ जाओ और आदरपूर्वक जनकनन्दिनी को ले आओ ॥ २ ॥

तुरतहिँ सकल गये जहँ सीता । सेवहिँ सब निसिचरी बिनीता ॥
बेगि बिभीषन तिन्हहिँ सिखावा । सादर तिन्ह सीतहिँ अन्हवावा ॥३॥

वे तुरन्त ही वहाँ गये जहाँ सीताजी थीं, सब राक्षसियाँ विनय-पूर्वक उनकी सेवा कर रही थीं। विभीषण ने राक्षसियों को तुरन्त सिखाया, तदनुसार उन्होंने सीताजी को आदर-पूर्वक स्नान कराया ॥ ३ ॥

दिव्य बसन भूषन पहिराये । सिबिका रुचिर साजि पुनि लाये ॥
ता पर हरषि चढ़ी बैदेही । सुमिरि राम सुखधाम सनेही ॥४॥

फिर उन्होंने अच्छे कपड़े और भूषण धारण कराये और तब वे सुन्दर पालकी सजाकर लाये। सुख के स्थान स्नेही रामचन्द्रजी को स्मरण कर सीताजी प्रसन्न होकर उस पर चढ़ीं ॥ ४ ॥

बेतपानि रच्छक चहुँ पासा । चले सकल मन परम हुलासा ॥
देखन भालु कीस सब आये । रच्छक कोपि निवारन धाये ॥५॥

हाथ में बेत की छड़ी लिये हुए रक्षक उनके चारों ओर चले। सबके मन में बड़ी प्रसन्नता थी। जब रीछ और बन्दर सीताजी को देखने आये तब रक्षक लोग क्रोध कर उनको हटाने दौड़े ॥ ५ ॥

कह रघुबीर कहा मम मानहु । सीतहिँ सखा पयादे आनहु ॥
देखहिँ कपि जननी की नाईं । बिहँसि कहा रघुनाथ गुसाईं ॥६॥

रामचन्द्रजी ने (यह समाचार ज्ञात होते ही) कहा—हे सखा ! तुम मेरा कहा मानो, सीता को पैदल ही लाओ। फिर प्रभु रघुनाथजी ने हँसकर कहा कि उन्हें सब बन्दर, माता के समान, देखें ॥ ६ ॥

सुनि प्रभुबचन भालु कपि हरषे । नभ तेँ सुरन्ह सुमन बहु बरषे ॥
सीता प्रथम अनल महुँ राखी । प्रगट कीन्हि चह अंतर साखी ॥७॥

प्रभु रामचन्द्रजी के वचन सुनकर रीछ और बन्दर प्रसन्न हुए और आकाश से देवताओं ने खूब पुष्प-वर्षा की। उस समय अन्तरसाक्षी रामचन्द्रजी ने पहले अग्नि में रक्खी हुई सीताजी को प्रकट करना चाहा ॥ ७ ॥

दो०—तेहि कारन करुनायतन कहे कछुक दुर्बाद ।
सुनत जातुधानी सकल लागीं करइ बिषाद ॥१३४॥

बस ! इसी लिए करुणानिधान रामचन्द्रजी ने सीताजी को कुछ कटु वचन कहे जिनको सुनकर सब राक्षसियाँ खेद करने लगीं ॥ १३४ ॥

चौ०—प्रभु के बचन सीस धरि सीता। बोली मन-क्रम-बचन-पुनीता॥
लछिमन होहु धरम कै नेगी। पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी॥१॥

मन, कर्म और वचन से पवित्र सीताजी स्वामी के वचनों को मस्तक पर चढ़ाकर बोलीं—हे लक्ष्मण! तुम धर्म के साक्षी बनो, जल्दी अग्नि प्रकट कर दो॥१॥

सुनि लछिमन सीता कै बानी। बिरह-बिबेक-धरम-नुति-सानी॥
लोचन सजल जोरि कर दोऊ। प्रभु सन कछु कहि सकत न ओऊ॥२॥

वियोग, विचार, धर्म और नीति भरी हुई सीताजी की वाणी सुनकर लक्ष्मणजी के नेत्र आँसुओं से भर गये। वे दोनों हाथ जोड़े खड़े रह गये। स्वामी रामचन्द्रजी से वे भी कुछ न कह सकते थे[1]॥२॥

देखि रामरुख लछिमन धाये। पावक प्रगटि काठ बहु लाये॥
पावक प्रबल देखि बैदेही। हृदय हरष कछु भय नहिँ तेही॥३॥

फिर रामचन्द्रजी का रुख देखकर लक्ष्मणजी दौड़े। वे आग प्रकट (जला) कर बहुत सी लकड़ियाँ ले आये। धधकती हुई अग्नि देखकर जानकीजी के हृदय में प्रसन्नता हुई, कुछ भय नहीं हुआ॥३॥

जौँ मन बच क्रम मम उर माहीँ। तजि रघुबीर आन गति नाहीँ॥
तौ कृसानु सब कै गति जाना। मो कहुँ होहु श्रीखंड समाना॥४॥

उन्होंने अग्नि से प्रार्थना की—जो मेरे हृदय में मन, वचन और कर्म से रघुवीर रामचन्द्रजी को छोड़कर दूसरी कोई गति नहीं है, तो सबकी गति जाननेवाले (पेट में रहने के कारण सबके साक्षी) अग्निदेव! तुम मुझे चन्दन के समान (शीतल) हो जाओ॥४॥

छंद—श्री-खंड-सम पावक प्रबेसु कियो सुमिरि प्रभु मैथिली।
जय कोसलेस महेस-बंदित-चरन रति अति निर्मली॥

---

[1]—पिछली चौपाई में 'लछमन' शब्द वियोग का, 'होहु' विचार का, 'धर्म के नेगी' धर्म का और सम्पूर्ण वाक्य युक्ति-भरा था। यहाँ लक्ष्मणजी का हाथ जोड़ खड़ा रहना इसलिए था कि वे सीताजी की ओर से अथवा उनके निमित्त स्वयं कुछ प्रार्थना करें, पर वे संकोच से कुछ कह नहीं सके। या—लक्ष्मणजी ने दोनों हाथ जोड़ चुपचाप खड़े होकर सूचित किया कि आप पिता हैं, ये माता हैं, मैं कैसा करूँ! मुझे दोनों की आज्ञा शिरोधार्य है। या—हाथ जोड़कर यह सूचित किया कि सीताजी के हरण होने का कलङ्क मेरे सिर था ही; क्योंकि "मैं उन्हें अकेली छोड़कर न आता तो क्यों हरण होता?" और आज दिन मैं ही उनके जल मरने के लिए अग्नि दूँ! वे सीताजी को छोड़ आने के समय भी उनके कोप से काँपते थे, अब भी काँप रहे हैं कि क्या होगा। इत्यादि।

प्रतिबिंब अरु लौकिक कलंक प्रचंड पावक महँ जरे ।
प्रभुचरित काहु न लखे सुर नभ सिद्ध मुनि देखहिँ खरे ॥

अब मैथिलो (जानकीजी) ने स्वामी रामचन्द्रजी का स्मरण कर और उन कोसलेश का जयजयकार कर, चन्दन-समान शीतल अग्नि में प्रवेश किया कि जिनके चरणों को शिवजो नमस्कार करते हैं तथा जिनमें को हुई प्रीति अति शुद्ध कर देती है। अग्नि-प्रवेश करते ही सीताजो का प्रतिबिम्ब (छायारूप) और लौकिक कलङ्क उस प्रचण्ड अग्नि में जल गया। आकाश में देवता, सिद्ध, मुनि खड़े देख रहे थे, पर किसो ने प्रभु रामचन्द्रजी के चरित्र को नहीं जाना ॥

धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य स्रुति जग बिदित जो ।
जिमि छीरसागर इंदिरा रामहिँ समर्पी आनि सो ॥
सोइ राम बामबिभाग राजति रुचिर अतिसोभा भली ।
नव-नील-नीर-ज निकट मानहु कनक-पंक-ज की कली ॥

फिर अग्नि ने अपना रूप धरकर जो वास्तविक लक्ष्मी हैं, तथा जो वेदों और संसार में प्रसिद्ध हैं, उन सीताजी का हाथ पकड़, लाकर, रामचन्द्रजी को इस तरह समर्पण किया, जिस तरह क्षीर-समुद्र ने लक्ष्मीजी को श्रीविष्णु को सौंपा था। वे हो सीताजी रामचन्द्रजी के वाम भाग में प्रकाशमान हैं। उनको अत्यन्त सुन्दर शोभा हो रही है, मानों ताजे नील-कमल के पास सोने के कमल का कलो खिलो हो ॥

दो०—बरषहिँ सुमन हरषि सुर बाजहिँ गगन निसान ।
गावहिँ किन्नर अपछरा नाचहिँ चढी बिमान ॥१३५॥

देवता प्रसन्न होकर पुष्प-वर्षा कर रहे हैं, आकाश में बाजे बज रहे हैं, किन्नर-गण गान कर रहे हैं और अप्सराएं विमानों में चढ़ी हुई नाच कर रही हैं ॥ १३५ ॥

श्री-जानकी-समेत प्रभु सोभा अमित अपार ।
देखत हरषे भालु कपि जय रघुपति सुखसार ॥१३६॥

श्रीजानकी-सहित प्रभु रामचन्द्रजी को असीम और अपार शोभा को देखकर रीछ और बन्दर प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि सुखों के सार रघुनाथजी की जय हो ॥ १३६ ॥

चौ०—तब रघु-पति-अनुसासन पाई। मातलि चलेउ चरन सिरु नाई ॥
आये देव सदा स्वारथी । बचन कहहिँ जनु परमारथी ॥१॥

इतना कार्य हो जाने पर मातलि (इन्द्र का सारथि) रघुनाथजी की आज्ञा पाकर, उनके चरणों में मस्तक नवाकर, चला। फिर सदा के स्वार्थी देवता आये। वे ऐसे वचन कहने लगे मानों वे सच्चे परमार्थी हों ॥ १ ॥
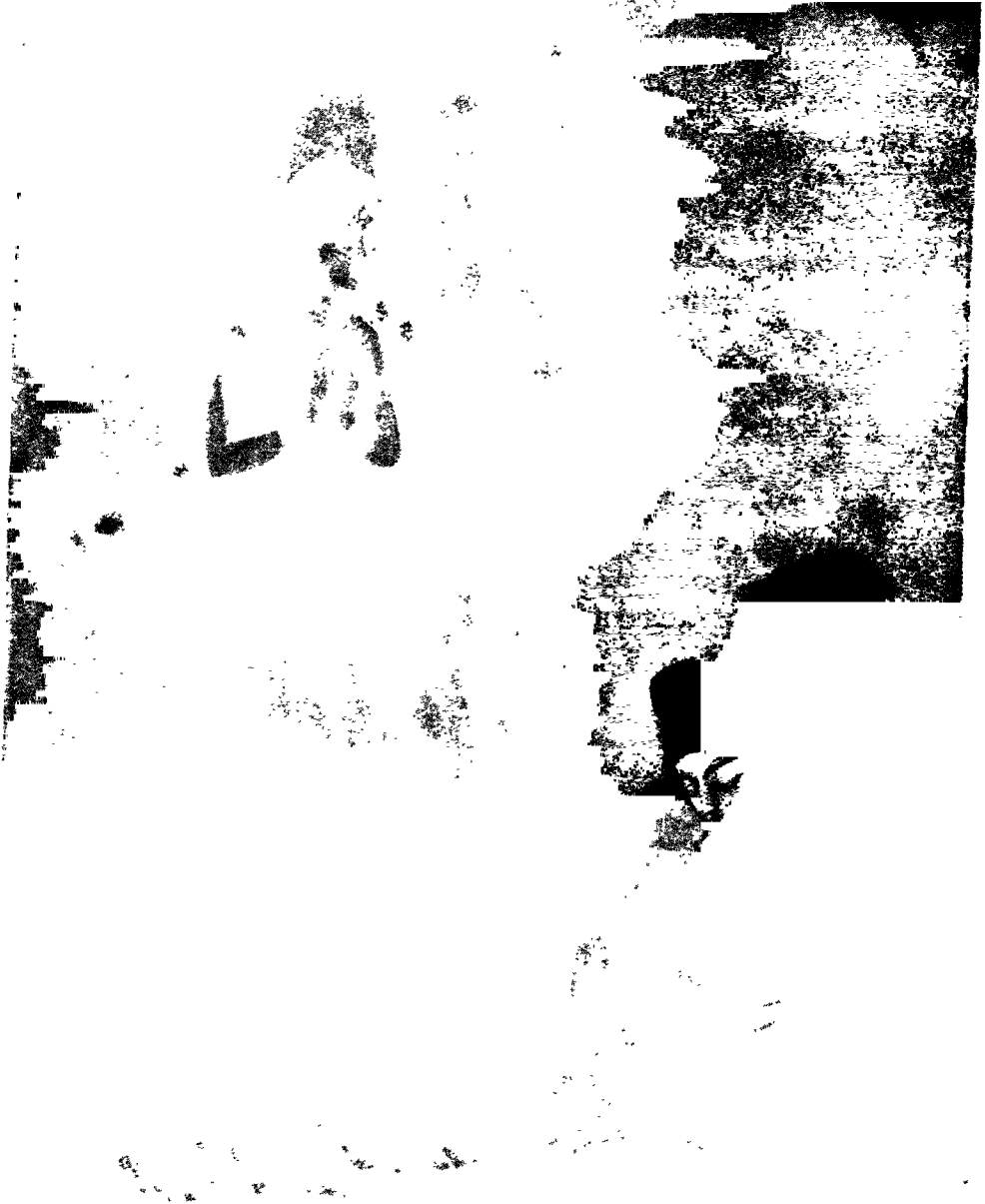
धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य स्रुति जग बिदित जो ।
जिमि छीरसागर इन्दिरा रामहिं समर्पी आनि सो ॥—पृ० ९४८

दीनबंधु दयाल रघुराया । देव कीन्ह देवन्ह पर दाया ॥
बिस्व-द्रोह-रत यह खल कामी । निज अघ गयेउ कु-मारग-गामी ॥२॥

वे बोले—हे दीनबन्धु, दयालु रघुनाथजी, देव (स्वयंप्रकाश)! आपने देवतां पर दया की। यह दुष्ट सारे संसार के द्रोह में तत्पर था, कामी था और कुमार्ग में चलता था। यह अपने पापों से मारा गया ॥ २ ॥

तुम्ह सम-रूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एक-रस सहज उदासी ॥
अकल अगुन अज अनघ अनामय। अजित अमोघसक्ति करुनामय ॥३॥

आप समरूप (एकरूप), ब्रह्म और अविनाशी (जिनका कभी नाश न हो) हैं, इसलिए सदा एक-रस और स्वाभाविक उदासीन (किसी से भी शत्रुता या मित्रता न रखनेवाले) हैं। आप अकल (अखंड), अगुण (प्राकृत सत्त्व, रज, तम गुणों से रहित), अज[1] (जिनका कभी जन्म न हो), अनघ (पापरहित), अनामय (नीरोग), अजित (जो किसी से न जीता जाय), अमोघशक्ति (जिनकी शक्ति कभी व्यर्थ न जाय) और करुणामय हैं ॥ ३ ॥

मीन कमठ सूकर नरहरी । बामन परसुराम बपु धरी ॥
जब जब नाथ सुरन्ह दुख पावा । नाना तनु धरि तुम्हहिँ नसावा ॥४॥

आपने मच्छ, कच्छ, वाराह, नरसिंह, वामन और परशुराम के शरीर (अवतार) धारण किये हैं। हे नाथ रामचन्द्र! देवतों ने जब जब दुःख पाया तब तब आप ही ने अनेक रूप धारण कर उनके दुःख नष्ट किये ॥ ४ ॥

रावन पापमूल सुरद्रोही। काम-लोभ-मद-रत अति कोही ॥
सोउ कृपाल तव धाम सिधावा। यह हमरे मन बिसमय आवा ॥५॥

महाराज! रावण पापी का मूल था; वह देवतों का द्वेषी,[2] काम, लोभ, मद में आसक्त और अत्यन्त क्रोधी था। हे कृपालु! वह भी आपके धाम (वैकुण्ठ) को चला गया। इसका हमारे चित्त में आश्चर्य हुआ ॥ ५ ॥

१—यहाँ तो अजन्मा कह दिया और आगे की चौपाई में मच्छादि शरीर धारण करनेवाला कहा, ये दोनों बातें एक दूसरे से विरुद्ध क्यों? उत्तर—जैसे जीव परतन्त्र होकर जन्म लेते हैं, अनेक दुःख सहते हैं, मरना चाहते हुए भी नहीं मरते; पर ईश्वर इनसे भिन्न हैं, अपनी इच्छा से मनमाना शरीर धारण कर पर-दुःख-निवृत्ति कर आप फिर ज्यों के त्यों बने रहते हैं। ईश्वर की ईश्वरता ही है कि वे अज और बहुजन्मा भी हो सकते हैं।

२—आनन्दरामायण में देव-विद्वेष के विषय में लिखा है कि—जब अङ्गद और रावण की बातचीत हुई तो रावण ने कहा—देख अङ्गद! मैंने ब्रह्मा को पञ्चाङ्ग सुनानेवाला, सूर्य को पहरा देनेवाला सिपाही, चन्द्रमा को छत्र पकड़नेवाला, वरुण को पनभरा, वायु को झाड़ू देनेवाला, अग्नि को रसोइया अथवा धोबी का काम करनेवाला, इन्द्र को माला बनानेवाला, यमराज को छड़ीदार,

हम देवता परम अधिकारी । स्वारथरत तव भगति बिसारी ॥
भवप्रवाह संतत हम परे । अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे ॥६॥

हम देवता हैं, उत्तम अधिकारी हैं, पर हमने स्वार्थ में तत्पर होकर आपकी भक्ति को भुला दिया । हम सदा संसार के प्रवाह में पड़े रहे । हे प्रभो ! अब हम शरणागत हुए हैं इसलिए आप हमारी रक्षा करो ॥ ६ ॥

दो०—करि बिनती सुर सिद्ध सब रहे जहँ तहँ कर जोरि ।
अतिसय प्रेम सरो-ज-भव अस्तुति करत बहोरि ॥१३७॥

इस तरह सब देवता और सिद्ध आदि प्रभु की प्रार्थना कर हाथ जोड़ जहाँ के तहाँ खड़े रहे । फिर सरोज-भव (विष्णु के नाभि-कमल से उत्पन्न) ब्रह्मा अत्यन्त प्रेम के साथ उनकी स्तुति करने लगे—॥ १३७ ॥

छंद तोटक—जय राम सदा सुखधाम हरे । रघुनायक सायक-चाप-धरे ॥
भव-बारन-दारन सिंह प्रभो । गुनसागर नागर नाथ बिभो ॥
तन काम अनेक अनूप छबी । गुन गावत सिद्ध मुनींद्र कबी ॥
जसु पावन रावन नाग महा । खगनाथ जथा करि कोप गहा ॥

हे सदासुख (नित्य सुख) के स्थान, हरे (भक्तों के पापों को नाश करनेवाले), राम ! रघुनायक (रघु के वंश में प्रधान), धनुष-बाण-धारी ! आपकी जय हो । हे प्रभो ! आप भवजालरूपी हाथी के विदारण करनेवाले सिंह हैं । हे नाथ ! आप गुणों (दया, दाक्षिण्य, शौर्य, धैर्य, चातुर्यादि अनन्त गुणों) के समुद्र, नागर (चतुर) और विभु (व्यापक) हैं । आपकी छवि अनेक कामदेवों की-सी अनुपम है । आपके गुणों को सिद्ध, मुनिराज और कवि (पण्डित) गाते हैं । जैसे पक्षिराज गरुड़ क्रोध कर साँप को पकड़ते हैं, वैसे आपने रावणरूपी महानाग को पकड़ा । यह आपका यश पावन (स्मरण-कर्त्ता को पवित्र करनेवाला) है ॥

जनरंजन भंजन सोक भयं । गतक्रोध सदा प्रभु बोधमयं ॥
अवतार उदार अपारगुनं । महि-भार-बिभंजन ज्ञानघनं ॥
अज ब्यापकमेकमनादि सदा । करुनाकर राम नमामि मुदा ॥
रघु-बंस-बिभूषन दूषनहा । कृत भूप बिभीषन दीन रहा ॥

देवतों की स्त्रियों को दासी-कर्म करनेवाली, गणपति को गधों की रखवाली करनेवाला, और मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि तथा राहु सातों ग्रहों की सात सीढ़ियाँ बनाई तथा छठी (षष्ठी) देवी को बच्चों की रक्षा करने में नियुक्त कर रक्खा है ।

आप भक्तों के आनन्ददाता, उनके शोक और भय को मिटानेवाले, क्रोध-रहित, सदा ज्ञानस्वरूप हैं। हे ज्ञानघन! आपके अवतार उदार और अपार गुणों से भरे हैं और वे पृथ्वी का भार उतारने के लिए हुए हैं। आप अजन्मा हैं, व्यापक हैं, एक (अद्वितीय) और अनादि (जिसके प्रारम्भ का निश्चय न हो) हैं, इसी लिए आप सदा (नित्य रहनेवाले) सनातन हैं। करुणा के सागर हे रामचन्द्रजी! मैं हर्ष से आपको प्रणाम करता हूँ। आप रघु-कुल के भूषण, और दूषण नामक राक्षस के मारनेवाले हैं; आपने विभीषण को, जो दीन (ग़रीब) था, राजा बना दिया॥

गुन-ज्ञान-निधान अमान अजं। नित राम नमामि बिभुं बिरजं॥
भुज-दंड - प्रचंड - प्रताप-बलं। खल - बृंद - निकंद-महा-कुसलं॥
बिनु कारन दीनदयाल हितं। छबिधाम नमामि रमासहितं॥
भवतारन कारन काजपरं। मन - संभव - दारुन - दोस - हरं॥

आप गुणों और ज्ञान के भाण्डार हैं तथा मान-रहित हैं; अज, व्यापक, विशुद्ध रामचन्द्रजी को मैं नित्य प्रणाम करता हूँ। आपके भुज-दण्डों का प्रताप और बल प्रचण्ड है, वे दुष्टों के समूह का मर्दन करने में अति कुशल हैं। आप बिना कारण ही दीनों पर दयालु हैं, उनके हितकारी हैं; कान्ति के स्थान हे रामचन्द्रजी! लक्ष्मीजी-समेत आपको मैं प्रणाम करता हूँ। आप (सबके कारणरूप होकर भी) संसार को तारने के लिए कार्यरूप (अवतार-धारी) हुए हैं। आप काम-सम्बन्धी घोर दोषों के मिटानेवाले हैं॥

सर चाप मनोहर त्रोनधरं। जल-जारुन-लोचन भूपबरं॥
सुखमंदिर सुंदर श्रीरमनं। मद मार महा-ममता-समनं॥
अनवद्य अखंड न गोचर गो। सब रूप सदा सब होइ न सो॥
इति बेद बदंति न दंतकथा। रवि आतपभिन्न न भिन्न जथा॥

आप मनोहर धनुष-बाण और तरकस धारण किये हुए हैं; आप कमल-समान लाल नेत्रवाले श्रेष्ठ राजा हैं, आप सुख के स्थान, सुन्दर, लक्ष्मीजी के विहारी एवं मद, काम और ममता के मिटानेवाले हैं। आप अनवद्य (अनिन्द्य) और अखंड हैं। आप इन्द्रियों को अगोचर (अप्रत्यक्ष) हैं, आप सदा सब रूप होकर भी सब रूप नहीं हैं। यह बात वेद कहते हैं। "एको देव: सर्वभूतेषु गूढ: सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" यह कुछ दन्तकथा नहीं है। यह आपका सर्वरूपत्व ऐसा है जैसे सूर्य और घाम—सूर्य से धूप विभिन्न है, क्योंकि वह विभिन्नता प्रत्यक्ष दीखती है और अभिन्न भी है, क्योंकि सूर्य से अलग धूप नहीं दीखती॥

कृतकृत्य बिभो सब बानर ए। निरखंत तवानन सादर जे ॥
धिग जीवन देव-सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे ॥
अब दीनदयाल दया करिये। मति मोरि बिभेदकरी हरिये ॥
जेहि तें बिपरीत क्रिया करिये। दुख सो सुख मानि सुखी चरिये ॥

हे विभो ! ये सब वानर कृतकृत्य हैं, क्योंकि ये आदर-पूर्वक आपका श्रीमुख देख रहे हैं। हे हरे ! देवतों के जीवन को धिक्कार है, क्योंकि वे आपकी भक्ति बिना संसार में भूले पड़े हैं ॥ हे दीनदयालु ! अब आप दया कीजिए और मेरी उस भेद-बुद्धि को हर लीजिए, जिससे मैं विपरीत कर्म करता हूँ और दुःखों को सुख मानकर सुखी हुआ फिरता हूँ ॥

खलखंडन मंडन रम्य छमा। पद-पंक-ज सेबित संभु उमा ॥
नृपनायक दे बरदानमिदं। चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं ॥

आपने दुष्टों का नाश किया, आप पृथ्वी के भूषणरूप तथा सुन्दर हैं। आपके चरण-कमल शङ्कर-पार्वतीजी से सेवित हैं। हे राज-राज ! आप मुझे यह वरदान दीजिए कि सदा कल्याण-प्रद आपके चरण-कमलों में मेरा प्रेम बना रहे ॥

दो०—बिनय कीन्हि बिधि भाँति बहु प्रेम पुलक अति गात।
बदन बिलोकत राम कर लोचन नहीं अघात ॥१३८॥

ब्रह्माजी ने अत्यन्त पुलकित-अङ्ग होकर रामचन्द्रजी की प्रार्थना अनेक प्रकार से की। रामचन्द्रजी के मुख के दर्शन से ब्रह्माजी के नेत्र तृप्त नहीं होते थे ॥ १३८ ॥

चौ०—तेहि अवसर दसरथ तहँ आये। तनय बिलोकि नयन जल छाये ॥
सहित अनुज प्रनाम प्रभु कीन्हा। आसिर्बाद पिता तब दीन्हा ॥१॥

उसी समय वहाँ स्वर्गवासी महाराज दशरथजी आये। पुत्रों को देखते ही उनके नेत्रों में जल भर आया। लक्ष्मण-सहित रामचन्द्रजी ने उन्हें प्रणाम किया, तब पिताजी (दशरथ) ने उन्हें आशीर्वाद दिया ॥ १ ॥

तात सकल तव पुन्यप्रभाऊ। जीतेउँ अजय निसा-चर-राऊ ॥
सुनि सुतबचन प्रीति अति बाढी। नयन सलिल रोमावलि ठाढी ॥२॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे पिताजी ! आपके पुण्य के प्रभाव से अजय (जो किसी से न जीता जाय) राक्षस-राज रावण को मैंने जीता। ये वचन सुनकर दशरथजी की प्रीति अत्यन्त बढ़ी। उनके नेत्रों से जल बहने लगा और रोमाञ्च हो आया ॥ २ ॥

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितइ पितहिँ दीन्हेउ दृढ ग्याना॥
ता तेँ उमा मोच्छ नहिँ पावा। दसरथ भेदभगति मनु लावा॥३॥

रघुनाथजी ने राजा दशरथ के पहले के प्रेम का विचार किया, फिर उनकी ओर देखकर उनको दृढ़ ज्ञान दिया। शिवजी कहते हैं कि हे पार्वति! दशरथजी ने भेद-भक्ति में चित्त लगाया था, इसलिए उन्होंने मोक्ष नहीं पाया॥ ३॥

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीँ। तिन्ह कहुँ रामु भगति निज देहीँ॥
बार बार करि प्रभुहिँ प्रनामा। दसरथु हरषि गये सुरधामा॥४॥

सगुण उपासना करनेवाले मोक्ष नहीं लेते, उन लोगों को रामचन्द्रजी अपनी भक्ति देते हैं। फिर दशरथजी प्रभु रामचन्द्रजी को बार बार प्रणाम कर, प्रसन्न हो, देवलोक को चल गये॥ ४॥

दो०—अनुज-जानकी-सहित प्रभु कुसल कोसलाधीस।
छबि बिलोकि मन हरषि अति अस्तुति कर सुरईस॥१३९॥

फिर छोटे भाई और जानकीजी समेत प्रभु कोशलनाथ को कुशल-पूर्वक विराजे देखकर, उस शोभा से मन में प्रसन्न होकर, सुरेश्वर इन्द्र उनकी स्तुति करने लगे—॥ १३९॥

छंद तोमर—जय राम सोभाधाम। दायक प्रनत बिस्राम॥
धृत त्रोन बर सर चाप। भुज दंड प्रबल प्रताप॥
जय दूषनारि खरारि। मर्दन-निसा-चर-धारि॥
यह दुष्ट मारेउ नाथ। भये देव सकल सनाथ॥

शोभा के धाम हे राम! आपकी जय हो। आप प्रणत (शरणागत) जनों को विश्राम देते हैं। आप सुन्दर तरकस और श्रेष्ठ धनुषबाण धारण किये हुए हैं। आपके भुजदण्डों का प्रबल प्रताप है। हे दूषण और खर के शत्रु, आपकी जय हो। आप राक्षसों की सेना को मर्दन करनेवाले हैं। हे नाथ! आपने इस दुष्ट को मारा, इससे सब देवता सनाथ (कृतार्थ) हो गये।

जय हरन धरनीभार। महिमा उदार अपार॥
जय रावनारि कृपाल। किये जातुधान बिहाल॥
लंकेस अति बल गर्ब। किये बस्य सुर गन्धर्ब॥
मुनि सिद्ध खग नर नाग। हठि पंथ सब के लाग॥

हे पृथ्वी के भार हरनेवाले आपकी जय हो। आपकी महिमा उदार और अपार है। हे रावण के शत्रु, दयालु ! आपकी जय हो। आपने राक्षसों को बेहाल कर दिया। लङ्कापति रावण को अपने बल का बड़ा ही घमण्ड था, क्योंकि उसने देवता और गंधर्वों को अपने वश कर लिया था। वह हठपूर्वक मुनिजन, सिद्ध, पक्षी, मनुष्य और नाग सभी के पीछे पड़ा था; अर्थात् उसने सभी को सताया था॥

पर-द्रोह-रत अति दुष्ट। पायो सो फल पापिष्ट॥
अब सुनहु दीनदयाल। राजीव-नयन-बिसाल॥
मोहि रहा अति अभिमान। नहिँ कोउ मोहि समान॥
अब देखि प्रभु-पद-कंज। गत मानप्रद दुखपुंज॥

वह दूसरे के द्वेष में तत्पर महादुष्ट था, उसी पाप का फल वह पापी पा गया। कमल-समान विशाल नेत्रों वाले, हे दीनदयालु ! अब सुनिए—मुझे बड़ा अभिमान था कि मेरे बराबर दूसरा कोई नहीं है। अब प्रभु के (आपके) चरण-कमलों को देखकर मेरा वह दुःख-समूह नष्ट हो गया॥

कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि स्रुति गाव॥
मोहि भाव कोसलभूप। श्रीराम सगुन सरूप॥
बैदेहि - अनुज - समेत। मम हृदय करहु निकेत॥
मोहि जानिये निज दास। दे भगति रमानिवास॥

कोई ऐसे निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करते हैं, जिसको वेद अव्यक्त-रूप गाते हैं। पर मुझे तो कोशल के राजा सगुण रूप श्रीरामचन्द्रजी प्रिय लगते हैं। इसलिए आप जनकदुलारी और लक्ष्मणजी समेत मेरे हृदय में निवास कीजिए। हे लक्ष्मी-निवास ! आप मुझे अपना दास समझिए और अपनी भक्ति दीजिए॥

छंद—दे भक्ति रमानिवास त्रासहरन सरन-सुख-दायकं।
सुखधाम राम नमामि काम अनेक छबि रघुनायकं॥
सुर-बृंद-रंजन द्वंदभंजन मनुजतनु अतुलितबलं।
ब्रह्मादि-शंकर-सेव्य राम नमामि करुनाकोमलं॥

शरणागत के त्रास का नाश कर सुख देनेवाले हे लक्ष्मीनिवास ! आप मुझे भक्ति दीजिए। अनेक कामदेवों से भी अधिक कान्तिमान्, रघुनायक, सुख के स्थान, रामचन्द्रजी ! आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आप देव-गणों को प्रसन्न करनेवाले, सुख-दुःख के द्वंविध्य को मिटानेवाले (परम आनन्द के देनेवाले), मनुष्य-शरीर में अतुल बलवाले, ब्रह्मा से लेकर सब देवता और शङ्कर की सेवा के पात्र, दयार्द्र, कोमल चित्तवाले हैं। हे रामजी ! आपकी नमस्कार है॥

दो०—अब करि कृपा बिलोकि मोहि आयसु देहु कृपाल ।
काह करउँ सुनि प्रियबचन बोले दीनदयाल ॥१४०॥

हे कृपालु ! अब आप कृपा कर देखकर मुझे आज्ञा दीजिए; मैं क्या करूँ ? इन्द्र के ये प्रिय वचन सुनकर दीनदयालु रामचन्द्रजी बोले—॥ १४० ॥

चौ०—सुनु सुरपति कपि भालु हमारे । परे भूमि निसिचरन्ह जे मारे ॥
मम हित लागि तजे इन्ह प्राना । सकल जियाउ सुरेस सुजाना ॥१॥

हे देवनायक ! सुनो । हमारे जिन रीछों और बन्दरों को राक्षसों ने मार डाला है वे पृथ्वी पर पड़े हुए हैं । इन्होंने मेरे हित के लिए प्राण त्याग किये हैं, इसलिए हे चतुर इन्द्र ! तुम इन सबको जिलाओ ॥ १ ॥

सुनु खगेस प्रभु कै यह बानी । अति अगाध जानहिँ मुनि ग्यानी ॥
प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई । केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई ॥२॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं कि हे गरुड़ ! प्रभु रामचन्द्रजी की यह वाणी बड़ी अगाध है । इसको ज्ञानी मुनि ही जानते हैं । प्रभु तो सारे त्रिलोकी को मार सकते और जिला भी सकते हैं, किन्तु इस जगह उन्होंने इन्द्र को केवल बड़ाई दी ॥ २ ॥

सुधा बरषि कपि भालु जियाये । हरषि उठे सब प्रभु पहिँ आये ॥
सुधाबृष्टि भइ दुहुँ दल ऊपर । जिये भालु कपि नहिँ रजनीचर ॥३॥

इन्द्र ने अमृत की वर्षा कर बन्दरों और रीछों को जिला दिया, वे सब प्रसन्न हो होकर प्रभु रामचन्द्रजी के पास आ गये । अमृत-वर्षा तो दोनों दलों पर हुई, परन्तु रीछ और बन्दर तो जी उठे किन्तु राक्षस नहीं[1] ॥ ३ ॥

रामाकार भये तिन्ह के मन । मुक्त भये छूटे भवबंधन ॥
सुरअंसक सब कपि अरु रीछा । जिये सकल रघुपति की ईछा ॥४॥

क्योंकि राक्षसों के मन तो रामाकार हो गये थे, इसलिए वे संसार-बन्धन से छूट कर मुक्त हो गये । ये बन्दर और रीछ सब देवताओं के अंश थे, अतएव ये सब रघुनाथजी की इच्छा से जी उठे ॥ ४ ॥

रामसरिस को दीन-हित-कारी । कीन्हे मुक्त निसा-चर-भारी ॥
खल मलधाम कामरत रावन । गति पाई जो मुनिबर पाव न ॥५॥

१—यहाँ पर प्रश्न किया जाता है कि जब दोनों दलों पर अमृत की वर्षा हुई तो रीछ और बन्दर ही क्यों जिये, राक्षस क्यों नहीं जिये । इसका उत्तर आगे की चौपाई में दिया है कि राक्षस तो पहले ही मुक्ति पा चुके थे, वे कैसे जीते !

रामचन्द्रजी के समान दोनों का हितकारी और कौन होगा, जिन्होंने राक्षसों के वृन्द को भी मुक्त कर दिया। दुष्ट, पापी और कामी रावण उस गति को पा गया, जिसको मुनिवर भी नहीं पाते ॥ ५ ॥

दो०—सुमन बरषि सब सुर चले चढ़ि चढ़ि रुचिर बिमान।
देखि सुअवसर राम पहिँ आये संभु सुजान ॥१४१॥

फिर सब देवता पुष्प-वर्षा कर विमानों पर चढ़ चढ़कर चले गये। तब अच्छा समय जानकर अति ज्ञानी शंकरजी रामचन्द्रजी के पास आये ॥ १४१ ॥

परमप्रीति कर जोरि जुग नलिननयन भरि बारि।
पुलकिततन गदगदगिरा बिनय करत त्रिपुरारि ॥१४२॥

त्रिपुरासुर के शत्रु शिवजी अत्यन्त प्रीति से दोनों हाथ जोड़कर कमल-नेत्रों में आँसू भरे हुए, पुलकित शरीर हो, गद्गद वाणी से रामचन्द्रजी की स्तुति करने लगे—॥ १४२ ॥

छंद—मामभिरक्षय रघु-कुल-नायक। धृत-बर-चाप रुचिर-कर-सायक ॥
मोह महा घनपटल प्रभंजन। संसय-बिपिन-अनल सुररंजन ॥

हाथों में सुन्दर धनुष-बाण धारण करनेवाले हे रघुकुल-नायक! आप मेरी रक्षा करें। महामोहरूपी जमे हुए बादलों के समूह के लिए आप वायुरूप हैं। (जैसे वायु बादलों को तुरन्त उड़ा ले जाता है, इसी तरह आप मोह को उड़ा देते हैं।) सन्देह-रूपी वन को जलाने के लिए आप अग्नि-रूप हैं और देवताओं को प्रसन्न करनेवाले हैं ॥ १ ॥

सगुन अगुन गुनमंदिर सुंदर। भ्रम-तम-प्रबल-प्रताप-दिवाकर ॥
काम-क्रोध-मद-गज-पंचानन। बसहु निरंतर जन-मन-कानन ॥

आप सगुण भी हैं, निर्गुण भी हैं और सुन्दर गुणों के मन्दिर हैं अर्थात् श्रीरामादि अवतारों में भक्त-वात्सल्यादि गुण प्रत्यक्ष प्रकट होने से सगुण और सर्वव्यापी होकर भी सबसे जुदा रहने के कारण निर्गुण तथा दया, दाक्षिण्यादि अनन्त-कल्याण-गुणों के होने से गुण-मन्दिर हैं। भ्रमरूपी अन्धकार के लिए आप प्रबल तेजस्वी सूर्य हैं; काम-क्रोध-मद रूपी मतवाले हाथियों के लिए सिंह हैं। वही आप भक्तों के (मेरे) चित्तरूपी वन में निवास करें ॥ २ ॥

बिषय-मनोरथ-पुंज-कंज-बन। प्रबलतुषार उदार पार मन ॥
भव-बारिधि-मंदर परमं दर। बारय तारय संसृति दुस्तर ॥

विविध विषयों के मनोरथरूपी कमलों के वन का नाश करने के लिए आप प्रबल पाला हैं, आप उदार और मन से परे हैं अर्थात् आप तक मन की पहुँच नहीं। संसार-रूपी समुद्र के मथने के लिए आप मन्दराचल रूप हैं; नहीं, पर मन्दर अर्थात् मन्दराचल से भी बढ़कर हैं। इसलिए अत्यन्त दुस्तर (कठिन) संसार को निवृत्त कीजिए और मुझे तार दीजिए ॥ ३ ॥

स्यामगात राजीवबिलोचन। दीनबंधु प्रनतारतिमोचन॥
अनुज-जानकी-सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उरअंतर॥
मुनिरंजन महि-मंडल-मंडन। तुलसि-दास-प्रभु त्रासबिखंडन॥

हे श्याम-सुन्दर, आपके नेत्र कमल-समान हैं, आप दीनबन्धु, भक्तों की पीड़ा छुड़ाने-वाले, मुनियों के प्रसन्नकर्ता और पृथ्वी-मण्डल के भूषण हैं; आप सब भयों को निवृत्त करनेवाले और तुलसीदास के स्वामी हैं। रामचन्द्रजी! आप लक्ष्मण और जानकीजी समेत सदा मेरे हृदय में निवास कीजिए॥ ५॥

दो०—नाथ जबहिँ कोसलपुरी होइहि तिलकु तुम्हार।
तब आउब मैं सुनहु प्रभु देखन चरित उदार॥१४३॥

हे नाथ! जिस समय कोसलपुरी अयोध्या में आपका राजतिलक होगा उस समय मैं आपके उदार चरित्र देखने के लिए वहाँ आऊँगा॥ १४३॥

चौ०—करि बिनती जब संभु सिधाये। तब प्रभु निकट बिभीषनु आये॥
नाइ चरन सिर कह मृदु बानी। बिनय सुनहु प्रभु सारँगपानी॥१॥

जब शिवजी प्रार्थना कर चले गये, तब विभीषण रामचन्द्रजी के पास आया। वह उनके चरणों में मस्तक नवाकर कोमल वाणी से बोला—हे शार्ङ्गधनुषधारी प्रभो! आप मेरी प्रार्थना सुनिए॥ १॥

सकुल सदल प्रभु रावन मारा। पावन जसु त्रिभुवन बिस्तारा॥
दीन मलीन हीनमति जाती। मो पर कृपा कीन्हि बहु भाँती॥२॥

हे स्वामी! आपने वंश और सेना-सहित रावण को मारा, पावन यश को त्रिलोकी में फैला दिया, और मुझ ग़रीब, मलिन, नीचबुद्धि और हीनजाति पर स्वामी ने बहुत तरह कृपा की॥ २॥

अब जनगृह पुनीत प्रभु कीजे। मज्जन करिय समरस्रम छीजे॥
देखि कोस मंदिर संपदा। देहु कृपाल कपिन्ह कहँ मुदा॥३॥

हे प्रभु! अब आप दास के घर को पवित्र कीजिए, चलकर स्नान कीजिए, जिसमें रण का परिश्रम मिटे। हे दयालु! ख़ज़ाना, महल और सम्पत्ति सब देखिए, फिर इच्छानुसार बन्दरों को प्रसन्नतापूर्वक दीजिए॥ ३॥

सब बिधि नाथ मोहि अपनाइय। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइय॥
सुनत बचन मृदु दीनदयाला। सजल भये दोउ नयन बिसाला॥४॥

हे नाथ! आप मुझे सब प्रकार से अपनाइए और फिर मुझे भी साथ लेकर अयोध्याजी चलिए। विभीषण के इन कोमल वचनों को सुनते ही दीनदयालु रामचन्द्रजी के दोनों विशाल नेत्र सजल हो गये अर्थात् उनमें आँसू भर आये॥ ४॥

दो०—तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
दसा भरत कै सुमिरि मोहि निमिष कल्पसम जात॥१४४॥

उन्होंने कहा—भाई विभीषण! सुनो, तुम्हारा कोश और घर जो कुछ है, वह सब मेरा ही है; मैं सत्य कहता हूँ, मुझे भरत की दशा स्मरण करते ही एक निमेष-काल एक कल्प के बराबर बीत रहा है॥ १४४॥

तापस बेष सरीर कृस जपत निरंतर मोहि।
देखउँ बेगि सो जतन करु सखा निहोरउँ तोहि॥१४५॥

हे सखा! जो तपस्वी वेष से, दुर्बल-शरीर हो, मुझे निरंतर जप रहा है उसे मैं जिस तरह जल्दी देखूँ, वही यत्न करो। मैं यही विनय करता हूँ॥ १४५॥

जौं जैहौं बीते अवधि जियत न पावउँ बीर।
प्रीति भरत कै समुझि प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥१४६॥

जो मैं अवधि (१४ वर्ष) बीत जाने के पश्चात् अयोध्या पहुँचूँगा तो भाई को जीता नहीं पाऊँगा। इतना कहकर भरतजी की प्रीति का स्मरण करते ही स्वामी रामचन्द्रजी का शरीर बार बार पुलकित होने लगा॥ १४६॥

करेहु कल्प भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिँ।
पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिँ॥१४७॥

[रघुनाथजी ने विभीषण से कहा—] तुम कल्प भर लङ्का का राज्य करो और मन में मेरा स्मरण किया करो। अन्त में फिर तुम मेरे उस धाम को पाओगे, जहाँ सब सत्पुरुष जाते हैं॥ १४७॥

चौ०—सुनत बिभीषन बचन राम के। हरषि गहे पद कृपाधाम के॥
बानर भालु सकल हरषाने। गहि प्रभुपद गुन बिमल बखाने॥१॥

विभीषण ने ये वचन सुनते ही प्रसन्न होकर दया के धाम रामचन्द्रजी के चरण पकड़ लिये। यह देखकर सब बन्दर और रीछ प्रसन्न हो गये। उन्होंने भी प्रभु के चरणों को पकड़कर उनके निर्मल गुण वर्णन किये॥ १॥

बहुरि बिभीषन भवन सिधावा। मनि-गन-बसन बिमान भरावा॥
लेइ पुष्पक प्रभु आगे राखा। हँसि करि कृपासिंधु तब भाषा॥२॥

फिर विभीषण महल में गया। वहाँ उसने पुष्पक विमान में मणियाँ तथा वस्त्र भरवाकर विमान को लाकर प्रभु के सम्मुख रख दिया। तब दयासागर रामचन्द्रजी हँसकर बोले—॥ २ ॥

चढ़ि बिमान सुनु सखा बिभीषन। गगन जाइ बरषहु पट भूषन॥
नभ पर जाइ बिभीषन तबहीं। बरषि दिये मनि अंबर सबहीं॥३॥

हे सखा विभीषण! सुनो। तुम विमान पर चढ़कर आकाश में जाओ, और वहाँ से वस्त्रों और आभूषणों की वर्षा करो। विभीषण ने उसी समय आकाश में जाकर वे सभी मणि-भूषण बरसा दिये॥ ३॥

जोइ जोइ मन भावइ सोइ लेहीं। मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं॥
हँसे राम श्री-अनुज-समेता। परमकौतुकी कृपानिकेता॥४॥

उनमें से जिनको जो जो प्रिय लगता था, उसी को वे लोग ले लेते थे। बन्दर मणियों को मुँह में रख रखकर (कुछ स्वाद न पाकर) नीचे डाल देते थे। यह देखकर परम कौतुकी (हँसमुख) दयानिधान श्रीरामचन्द्र, सीता और लक्ष्मणजी समेत, हँसे॥ ४॥

दो०—मुनि जेहि ध्यान न पावहीं नेति नेति कह बेद।
कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद॥१४८॥

बड़े बड़े मुनि जिनको ध्यान में भी नहीं पाते और वेद जिनके लिए 'नेति नेति' कहते हैं, वे ही कृपानिधान रामचन्द्रजी बन्दरों से अनेक तरह के विनोद कर रहे हैं!॥ १४८॥

उमा जोग जप दान तप नाना ब्रत मख नेम।
रामु कृपा नहिं करहिं तसि जसि निःकेवल प्रेम॥१४९॥

शिवजी कहते हैं कि हे पार्वति! विविध योग, जप, दान, तपस्या, व्रत, यज्ञ और नियमों के करने से रामचन्द्रजी वैसी कृपा नहीं करते, जैसी निष्केवल प्रेम से प्रसन्न होकर करते हैं॥ १४९॥

चौ०—भालु कपिन्ह पट भूषन पाये। पहिरि पहिरि रघुपति पहिं आये॥
नाना जिनिस देखि प्रभु कीसा। पुनि पुनि हँसत कोसलाधीसा॥१॥

इस तरह बन्दरों और रीछों ने वस्त्राभूषण पाये। उन्हें पहन पहनकर वे जब रामचन्द्रजी के पास आये तब कोसलाधीश रामचन्द्रजी बन्दरों को अनेक तरह की चीज़ें पहने हुए देखकर बार बार हँसने लगे (एक तो बन्दर और भालू फिर उन्होंने पहन लिये उलटे-पलटे वस्त्र और आभूषण। हँसने का खासा सामान हो गया।)॥ १॥

चितइ सबन्ह पर कीन्ही दाया। बोले मृदुल बचन रघुराया॥
तुम्हरे बल मैं रावनु मारा। तिलकु बिभीषन कहँ पुनि सारा॥२॥

फिर रघुराई रामचन्द्रजी ने सबको ओर देखकर सब पर दया की और वे कोमल वचनों से बोले—भाइयो ! तुम लोगों के बल से मैंने रावण को मारा और फिर विभीषण को राजतिलक दिया ॥ २ ॥

निज-निज-गृह अब तुम्ह सब जाहू । सुमिरेहु मोहिं डरपेहु जनि काहू ॥
बचन सुनत प्रेमाकुल बानर । पानि जोरि बोले सब सादर ॥३॥

अब तुम लोग अपने अपने घरों को जाओ, तुम मेरा स्मरण करना और किसी से डरना नहीं । रघुनाथजी के वचनों को सुनकर बन्दर प्रेम में व्याकुल हो गये । वे सभी हाथ जोड़कर आदर-पूर्वक कहने लगे—॥ ३ ॥

प्रभु जोइ कहहु तुम्हहिं सब सोहा । हमरे होत बचन सुनि मोहा ॥
दीन जानि कपि किये सनाथा । तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा ॥४॥

हे प्रभु ! आप जो कुछ कहें, वह सभी आपको सुहाता है, पर आपके वचनों को सुनकर हमको मोह होता है । हे रघुनाथजी ! आपने बन्दरों को दीन जानकर सनाथ (कृतकृत्य) कर दिया । आप तो त्रैलोक्य के स्वामी हैं (आपके आगे हम क्या सामर्थ्य रखते हैं ?) ॥ ४ ॥

सुनि प्रभुबचन लाज हम मरहीं । मसक कतहुँ खग-पति-हित करहीं ॥
देखि रामरुख बानर रीछा । प्रेममगन नहिं गृह कै ईछा ॥५॥

स्वामी के वचनों को सुनकर हम शरम के मारे मरते हैं । महाराज ! भला मच्छर कभी पक्षिराज गरुड़ का हित कर सकते हैं ? रामचन्द्रजी का रुख देखकर बन्दर और रीछ प्रेम में डूब गये—उनको घर जाने की इच्छा नहीं हुई ॥ ५ ॥

दो०—प्रभुप्रेरित कपि भालु सब रामरूप उर राखि ।
हरष बिषाद समेत तब चले बिनय बहु भाखि ॥१५०॥

सब बन्दरों और भालुओं को प्रभु ने घर जाने की प्रेरणा की तो वे लोग हृदय में रामचन्द्रजी के रूप को रख कर और अनेक प्रकार से नम्रता प्रकट करके चले । उस समय उन्हें आनन्द (रामदर्शनजन्य) और दुःख (रामवियोगजन्य) दोनों थे ॥ १५० ॥

जामवंत कपिराज नल अंगदादि हनुमान ।
सहित बिभीषन जे अपर जूथप कपि बलवान ॥१५१॥

फिर जामवंत, कपिराज, नल, अङ्गद, हनुमान् आदि तथा और भी विभीषण-समेत जो दूसरे बलवान् यूथपति थे ॥ १५१ ॥

कहि न सकहिं कछु प्रेमबस भरि भरि लोचन बारि ।
सनमुख चितवहिं रामतन नयननिमेष निवारि ॥१५२॥

वे सब प्रेम के वश हो गये। मुँह से कुछ कह न सके। वे आँखों में आँसू भर भरकर सम्मुख रामचन्द्रजी की ओर आँखों की पलकों का गिरना बन्द कर (एक सी टकटकी लगाये) देखने लगे॥ १५२॥

चौ०—अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हे सकल बिमान चढाई॥
मन महुँ बिप्र चरन सिर नावा। उत्तर दिसिहिँ बिमान चलावा॥१॥

रघुनाथजी ने उन सबको अत्यन्त प्रीति देख, उन्हें भी विमान पर चढ़ा लिया। फिर उन्होंने मन में ब्राह्मणों के चरणों को प्रणाम कर पुष्पक विमान को उत्तर दिशा की ओर चलाया॥ १॥

चलत बिमानु कोलाहल होई। जय रघुबीर कहहिँ सब कोई॥
सिंहासनु अति उच्च मनोहर। श्रीसमेत प्रभु बैठे ता पर॥२॥

विमान के चलने में बड़ा कोलाहल (शोर) होने लगा; सब लोग रघुवीर का जय जय-कार करने लगे। विमान में एक बहुत ऊँचा मनोहर सिंहासन था, उस पर सीताजी समेत राम-चन्द्रजी विराजमान हुए॥ २॥

राजत रामसहित भामिनी। मेरुस्रृंग जनु घनु दामिनी॥
रुचिर बिमान चलेउ अति आतुर। कीन्ही सुमनबृष्टि हरषे सुर॥३॥

उस समय श्रीरामचन्द्र-सहित भामिनी (स्त्री) सीताजी ऐसी शोभित हुईं मानों सुमेरु पर्वत के शिखर पर बादल समेत बिजली चमक रही हो। वह सुन्दर विमान बड़ी शीघ्रता से चला, और देवतों ने प्रसन्न होकर उस पर पुष्प-वर्षा की॥ ३॥

परम-सुख-द चलि त्रिबिध बयारी। सागर सर सरि निर्मल बारी॥
सगुन होहिँ सुंदर चहुँ पासा। मन प्रसन्न निर्मल सुभ आसा॥४॥

विमान में रामचन्द्रजी के बैठते ही अत्यन्त सुखदायिनी त्रिविध (शीतल, मन्द, सुगन्ध) हवा चली; समुद्रों तालाबों और नदियों के जल निर्मल हो गये। चारों ओर से सुन्दर शुभ शकुन होने लगे। सबके मन प्रसन्न हो गये, दिशाएँ निर्मल और शुभ हो गईं॥ ४॥

कह रघुबीर देखु रन सीता। लछिमन इहाँ हतेउ इँद्रजीता॥
हनूमान अंगद के मारे। रन महि परे निसाचर भारे॥५॥
कुंभकरन रावन दोउ भाई। इहाँ हते सुर-मुनि-दुख-दाई॥६॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे सीता! यह रणक्षेत्र देखो। इस जगह लक्ष्मण ने इन्द्रजित् को मारा था। हनुमान् और अङ्गद के मारे हुए ये भारी राक्षस रण में पड़े हैं॥ ५॥ देवतों और मुनियों के दुःख-दाता दोनों भाई कुंभकर्ण और रावण (मैंने) इस जगह मारे॥ ६॥

दो०—इहाँ सेतु बाँधेउँ अरु थापेउँ सिव सुखधाम।
सीतासहित कृपायतन संभुहि कीन्ह प्रनाम ॥१५३॥

यह देख, मैंने इस जगह समुद्र पर सुन्दर पुल बाँधा और सुख के स्थान श्रीशिवजी की स्थापना की है। इतना कहकर सीता-सहित कृपानिधि रामचन्द्रजी ने शिवजी को प्रणाम किया ॥ १५३ ॥

जहँ जहँ करुनासिंधु बन कीन्ह बास बिस्राम।
सकल देखाये जानकिहिँ कहे सबन्हि के नाम ॥१५४॥

दया के समुद्र रामचन्द्रजी ने वन में जहाँ जहाँ विश्राम किया था वे सब स्थान, उनके नाम ले लेकर, जानकी जी को दिखाये ॥ १५४ ॥

चौ०—सपदि बिमानु तहाँ चलि आवा। दंडकबन जहँ परम सुहावा ॥
कुंभजादि मुनिनायक नाना। गये रामु सब के अस्थाना ॥१॥

पुष्पक विमान तुरन्त ही वहाँ आ पहुँचा, जहाँ परम सुहावना दंडक वन था, और अगस्त्य आदि अनेक मुनीश्वर थे। रामचन्द्रजी उन सबके स्थानों में गये ॥ १ ॥

सकल रिषिन्ह सन पाइ असीसा। चित्रकूट आयउ जगदीसा ॥
तहँ करि मुनिन्ह केर संतोखा। चला बिमान तहाँ ते चोखा ॥२॥

फिर जगदीश रामचन्द्रजी सब ऋषियों से आशीर्वाद पाकर चित्रकूट में आये। वहाँ उन्होंने ऋषियों को सन्तुष्ट किया। फिर विमान वहाँ से शीघ्र आगे बढ़ा ॥ २ ॥

बहुरि राम जानकिहि देखाई। जमुना कलि-मल-हरनि सुहाई ॥
पुनि देखी सुरसरी पुनीता। राम कहा प्रनाम करु सीता ॥३॥

फिर रामचन्द्रजी ने जानकीजी को कलियुग के पातकों को हरनेवाली यमुनाजी का दर्शन कराया। फिर उन्होंने पुनीत देवनदी (श्रीगङ्गाजी) का दर्शन किया। रामचन्द्रजी ने कहा—सीते! तुम गंगाजी को प्रणाम करो ॥ ३ ॥

तीरथपति पुनि देखु प्रयागा। देखत जनम-कोटि-अघ भागा ॥
देखु परमपावनि पुनि बेनी। हरनि सोक हरि-लोक-निसेनी ॥४॥
पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि। त्रि-बिध-ताप भवरोग नसावनि ॥५॥

फिर तीर्थों के राजा प्रयाग के दर्शन करो। इसको देख लेने मात्र से करोड़ों जन्मों के पाप भाग जाते हैं। तुम परम पावनी बेनीजी का फिर दर्शन करो, जो शोक को मिटानेवाली और वैकुण्ठलोक की सीढ़ी है ॥ ४ ॥ अब इस अत्यन्त पावनी अवधपुरी (अयोध्या) का दर्शन करो, जो त्रिविध ताप और संसार-सम्बन्धी रोगों (जन्म-मरण) को नष्ट करनेवाली है ॥ ५ ॥

दो०—सीतासहित अवध कहँ कीन्ह कृपाल प्रनाम।
सजल नयन तन पुलकित पुनि पुनि हरषत राम ॥१५५॥

सीता-समेत दयालु रामचन्द्रजी ने अयोध्याजी को प्रणाम किया। उस समय उनके नेत्र आँसुओं से भर गये, शरीर पुलकित हो गया. और वे बार बार प्रसन्न होने लगे ॥ १५५ ॥

बहुरि त्रिबेनी आइ प्रभु हरषित मज्जनु कीन्ह।
कपिन्ह समेत महीसुरन्ह दान बिबिध बिधि दीन्ह ॥१५६॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने फिर त्रिवेणी पर आकर प्रसन्न हो वानरों-समेत उसमें स्नान किया और ब्राह्मणों को नाना प्रकार के दान दिये ॥ १५६ ॥

चौ०-प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई। धरि बटुरूप अवधपुर जाई ॥
भरतहिं कुसल हमारि सुनायहु। समाचार लेइ तुम्ह चलि आयहु॥

अब प्रभु रामचन्द्रजी ने हनुमान् को समझाकर कहा—तुम बटु (ब्रह्मचारी) का वेष[1] धारणकर अयोध्या में जाओ और भरत को हमारा कुशल-वृत्तांत सुनाओ। फिर उनका समाचार लेकर लौट आओ ॥ १ ॥

तुरत पवनसुत गवनत भयऊ। तब प्रभु भरद्वाज पहिं गयऊ ॥
नाना बिधि मुनिपूजा कीन्ही। अस्तुति करि पुनि आसिष दीन्ही ॥२॥

यह सुनकर वायु-पुत्र हनुमानजी तुरन्त हो चल दिये। तब फिर रामचन्द्रजी भरद्वाज मुनि के पास गये। मुनि ने उनका अनेक प्रकार से सत्कार किया और फिर स्तुति करके आशीर्वाद दिया ॥ २ ॥

१—यहाँ पर हनुमान्‌जी को ब्राह्मण-वेष धरने को इसलिए कहा कि मङ्गलरूप ही से मङ्गलवृत्त सुनाना शुभ है। या हनुमानजी को भरतजी पहले देख चुके हैं, पहचानते हैं, इस बार अवधि पूरी होने पर अकेले हनुमान् को देख राम-वियोग से विकल हो प्राण त्याग देंगे, इसलिए वेष बदले पूरा वृत्त कह देने से शान्त होगी। कोई कोई यह अर्थ भी करते हैं कि रामचन्द्रजी ने राज-नीति से भरतजी का हृदय जाँच लेना चाहा था कि वे राज्य-लोलुप तो नहीं हो गये पर यह अयुक्त है, क्योंकि रामचन्द्रजी तो उसी वचन पर दृढ़ थे जो अयोध्याकांड में "भरतहि होइ न राजमद" कहा था। लङ्का से चलते समय विभीषण से भी उन्होंने ऐसा ही कहा था। अथवा—यद्यपि राम-चन्द्रजी को दृढ़ निश्चय था, तथापि राजनीति का अनुसरण करते हुए उनको भूत भविष्य सोचना उचित था, इसी लिए वाल्मीकीय में कहा है "सर्वकामसमृद्धं हि हस्त्यश्वरथसङ्कुलम्। पितृपैतामहं राज्यं कस्य नावर्तयेन्मनः। संगत्या भरतः श्रीमान् राज्ये नार्थी स्वयं भवेत्"। अर्थात् भरा-पूरा बाप-दादों का राज्य किसके मन को नहीं बिगाड़ सकता? सङ्गति-वश भरत स्वयं ही राज्यार्थी तो नहीं हो गये? इत्यादि। इस राजधर्म पर विचारपूर्वक चलने के कारण रामचन्द्रजी के निश्चय में भेद होने की शङ्का करना व्यर्थ है।

मुनिपद बंदि जुगल कर जोरी। चढि बिमान प्रभु चले बहोरी॥
इहाँ निषाद सुना हरि आये। नाव नाव कहँ लोग बोलाये॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी मुनि भरद्वाजजी के चरणों की वन्दना कर, दोनों हाथ जोड़, विमान पर चढ़कर फिर आगे चले। यहाँ निषाद (गुह) ने सुना कि भगवान् आ गये हैं, इसलिए उसने नाव कहाँ है, नाव कहाँ है, ऐसा कहते हुए सब लोगों को बुलाया॥ ३॥

सुरसरि नाँघि जान जब आवा। उतरेउ तट प्रभुआयसु पावा॥
तब सीता पूजी सुरसरी। बहु प्रकार पुनि चरनन्हि परी॥४॥

विमान जब गङ्गाजी को पार करके आ गया तब प्रभु की आज्ञा पाकर वह किनारे पर उतरा। तब सीताजी ने गङ्गाजी की बहुत तरह से पूजा की और फिर वे उनके पाँवों पर पड़ीं॥ ४॥

दीन्हि असीस हरषि मन गंगा। सुंदरि तव अहिवात अभंगा॥
सुनत गुहा धायेउ प्रेमाकुल। आयेउ निकट परम-सुख-संकुल॥५॥

गङ्गाजी ने मन में प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया कि हे सुन्दरि! तुम्हारा अखण्ड सौभाग्य हो। उधर गुह (संवाद) सुनते ही प्रेम से व्याकुल होकर दौड़ा और परमानन्द के समूह श्रीरामचन्द्रजी के पास आया॥ ५॥

प्रभुहि बिलोकि सहित बैदेही। परेउ अवनि तन सुधि नहिँ तेही॥
प्रीति परम बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उर लाई॥६॥

वह जानकीजी-समेत स्वामी को देखकर पृथ्वी पर पड़ गया (दण्डवत् किया), उस शरीर की सुध नहीं रहा। रघुनाथजी ने उसकी परम प्रीति को देखकर, प्रसन्न हो, उसको उठाकर हृदय से लगा लिया॥ ६॥

छंद—लियो हृदय लाइ कृपानिधान सुजान राय रमापती।
बैठारि परमसमीप बूझी कुसल सो कर बीनती॥
अब कुसल पदपंकज बिलोकि बिरंचि-शंकर-सेव्य जे।
सुखधाम पूरनकाम राम नमामि राम नमामि ते॥

चतुर-शिरोमणि, लक्ष्मीपति, कृपानिधान रामचन्द्रजी ने गुह को हृदय से लगा लिया और उसको बिलकुल पास बैठाकर कुशल-प्रश्न किया। तब उसने प्रार्थना की कि जो चरण-कमल ब्रह्माजी और शङ्करजी के सेव्य हैं, उनका दर्शन पाकर अब सब कुशल है। सुख के स्थान, पूर्णकाम, हे रामचन्द्रजी! आपको बार बार नमस्कार है, नमस्कार है॥

सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो ।
मतिमंद तुलसीदास सो प्रभु मोहबस बिसराइयो ॥
यह रावनारिचरित्र पावन राम-पद-रति-प्रद सदा ।
कामादिहर बिग्यानकर सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा ॥

जो निषाद सब तरह नीच था उसको भगवान् रामचन्द्रजी ने, भरतजी के समान, हृदय से लगाया । (तुलसीदासजी कहते हैं—) हे मन्द-बुद्धि तुलसी ! तूने उन भगवान् को मोहवश भुला दिया । यह रावणारि रामचन्द्रजी का पावन (पवित्र करनेवाला) चरित्र सदा रामजी के चरणों में प्रीति का देनेवाला, कामादि दोषों का मिटानेवाला और विज्ञान का बढ़ानेवाला है । इसको देवता, सिद्ध और मुनि सभी प्रसन्नता से गाते हैं ॥

दो०—समर बिजय रघुबीर के चरित जे सुनहिँ सुजान ।
बिजय बिबेक बिभूति नित तिन्हहिँ देहिँ भगवान ॥१५७॥

जो चतुर प्राणी रघुवीर के युद्धों के विजय-सम्बन्धी चरित्रों को सुनेंगे उनको भगवान् रामचन्द्रजी विजय, ज्ञान और नित्य ऐश्वर्य देंगे ॥ १५७ ॥

यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार ।
श्री-रघु-नायक नाम तजि नाहिँ न आन अधार ॥१५८॥

हे मन ! तू विचार कर देख, यह कलियुग का समय पापों का घर है । इस समय श्रीरघुनाथजी के नाम को छोड़कर और कोई आधार नहीं है (इसलिए तू राम-भजन कर) ॥ १५८ ॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने
विमलविज्ञानसम्पादनो नाम
षष्ठः सोपानः समाप्तः ।

इस प्रकार, समस्त-कलि-पातक-संहारी श्रीरामचरित-मानस में विमल-विज्ञान-सम्पादन नामक यह छठा सोपान समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

श्रीगणेशाय नमः

सप्तम सोपान ।

(उत्तरकाण्ड)

श्लोकाः

केकीकण्ठाभनीलं सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं
शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिजनयनं सर्वदा सुप्रसन्नम् ।
पाणौ नाराचचापं कपिनिकरयुतं बन्धुना सेव्यमानं
नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम् ॥१॥

मयूर के कण्ठ ऐसे नीलवर्ण, देवों में श्रेष्ठ, ब्राह्मण के चरण-कमल-चिह्न (भृगुलता) से विलसित, शोभा से युक्त, पीताम्बर धारण किये, कमल-नयन, सर्वदा सुप्रसन्न, हाथ में धनुष-बाण लिये, वानरों के झुण्ड से युक्त, भाई (लक्ष्मण) से सेवित, जानकीजी के नाथ, पुष्पक विमान पर चढ़े, रघुकुल में श्रेष्ठ और पूज्य रामचन्द्रजी को मैं सर्वदा नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

कोशलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ ।
जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ ॥२॥

ब्रह्मा और महादेव से वन्दित, जानकीजी के हस्त-कमलों से लालित, ध्यान करनेवाले भक्तजनों के मन-भ्रमर के सङ्गी, कोशल (अयोध्या) पुरी अथवा कोसल देश के स्वामी श्रीरामचन्द्रजी के कोमल, सुन्दर चरण-कमलों को मैं (नमस्कार करता हूँ) ॥ २ ॥

कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदम् ।
कारुणीककलकञ्जलोचनं नौमि शङ्करमनङ्गमोचनम् ॥३॥

कुन्द फूल चन्द्रमा और शङ्ख के गौर वर्ण से भी सुन्दर, अम्बिका (पार्वती) के पति, अभीष्ट (मनोरथों की) सिद्धि के दाता, करुणा से भरे, कामदेव से छुड़ानेहारे, सुन्दर कमल-नयन, शङ्कर (महादेव) को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

दो०—रहा एक दिन अवधि कर अति आरत पुरलोग ।
जहँ तहँ सोचहिँ नारि नर कृसतनु रामबियोग ॥१॥

श्रीरामचन्द्रजी के लौटकर आने की अवधि (१४ वर्ष) का एक दिन बाक़ी रह गया; नगरवासी जन अत्यन्त आर्त्त (महादुःखी) हो रहे हैं। रामचन्द्रजी के वियोग से दुबले हो रहे स्त्री-पुरुष जहाँ तहाँ सोच कर रहे हैं ॥ १ ॥

सगुन होहिँ सुंदर सकल मन प्रसन्न सब केर ।
प्रभुआगमन जनाव जनु नगर रम्य चहुँ फेर ॥२॥

उस समय सभी सुन्दर शकुन होने लगे। सबके मन प्रसन्न हो गये और अयोध्या नगरी चारों ओर रमणीक हो गई। इन लक्षणों से ऐसा मालूम होने लगा मानो ये स्वामी रामचन्द्रजी के आगमन को जतला रहे हैं ॥ २ ॥

कौसल्यादि मातु सब मन अनन्द अस होइ ।
आयउ प्रभु सिय-अनुज-जुत कहन चहत अब कोइ ॥३॥

कौसल्या आदि सब माताओं को ऐसा आनन्द हो रहा है मानों अभी कोई आकर कहना चाहता है कि रामचन्द्रजी, सीता और लक्ष्मण-समेत, आ गये ॥ ३ ॥

भरत-नयन-भुज दच्छिन फरकत बारहिँ बार ।
जानि सगुन मन हरष अति लागे करन बिचार ॥४॥

भरतजी की दाहिनी आँख और भुजा बार बार फड़कने लगी। इन शकुनों को[1] जान कर भरतजी के मन में अतिशय आनन्द हुआ और वे विचार करने लगे ॥ ४ ॥

चौ०—रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा ॥
कारन कवन नाथ नहिँ आयउ। जानि कुटिल किधौँ मोहि बिसरायउ ।१।

जिस अवधि का आधार था उसका एक ही दिन बाक़ी रह गया, इस बात को समझते ही भरतजी के मन में अपार दुःख हुआ। वे सोचने लगे कि स्वामी रामचन्द्रजी किस कारण नहीं आये, क्या मुझे कुटिल समझकर उन्होंने भुला दिया ! ॥ १ ॥

१—शकुन तीन प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, मानसिक और चिह्नज। उनमें से प्रत्यक्ष। जैसे—कौवे का बोलना या कहीं बैठना आदि जो रामचन्द्रजी के विवाह में कहे गये थे; मानसिक जैसे—सुन्दरकाण्ड में हनुमानजी ने कहा था—"होइ काज मन हर्ष बिसेखी;" तीसरे चिह्नज, जैसे यहाँ भरतजी के अङ्ग-स्फुरण हुए। इस तरह तीनों तरह के शकुनों का वर्णन तीनों दोहों में है।

अहह धन्य लछिमनु बडभागी । राम-पदारबिंद-अनुरागी ॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा । ता तेँ नाथ संग नहि लीन्हा ॥२॥

अहा हा ! ! बड़भागो लक्ष्मण धन्य हैं, जो रामचन्द्रजी के चरणारविन्द के अनुरागी बने हुए हैं। प्रभु ने मुझे कपटो और कुटिल जान लिया, इसी से तो मुझे उन्होंने साथ नहीं लिया ॥ २ ॥

जौँ करनी समुझैँ प्रभु मोरी । नहिँ निस्तार कलपसत कोरी ॥
जनअवगुन प्रभु मान न काऊ । दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥३॥

पर यदि प्रभु रामचन्द्रजी मेरो करनी (करतूत) को समझें तब तो सौ करोड़ कल्पपर्यन्त भो मेरा निस्तार न होगा। परन्तु वे तो ऐसे स्वामी हैं कि अपने भक्त के किसी अवगुण को मानते हो नहीं, क्योंकि वे दीन-जनों के बन्धु और बहुत ही कोमल-स्वभाव हैं ॥ ३ ॥

मोरे जिय भरोस दृढ सोई । मिलिहहिँ राम सगुन सुभ होई ॥
बीते अवधि रहहिँ जौँ प्राना । अधम कवन जग मोहि समाना ॥४॥

मुझे तो इसो बात का पक्का भरोसा है कि (वे दासों के अवगुण नहीं देखते) मुझे रामचन्द्रजो मिलेंगे, क्योंकि शुभ शकुन हो रहे हैं। जो अवधि बीत जाने पर प्राण रहें तो जगत् में मेरे समान नोच और कौन होगा[1] ! ॥ ४ ॥

दो०—राम-बिरह-सागर महुँ भरत मगन मन होत ।
बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत ॥५॥

इस तरह रामचन्द्रजी के विरहरूपो समुद्र में भरतजी का मन डूबा जा रहा था कि इतने में ब्राह्मण-रूप धारण किये हुए पवनपुत्र हनुमान्‌जी, उस मन के लिए नावरूप होकर, वहाँ आ गये ॥ ५ ॥

बैठे देखि कुसासन जटामुकुट कृसगात ।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात ॥६॥

हनुमान्‌जो ने देखा कि भरतजी कुशों के आसन पर बैठे हुए हैं; उनके मस्तक में जटाओं का मुकुट है, शरीर दुबला है; वे राम, राम, रघुपति का नाम जप रहे हैं और उनके नेत्र-कमलों से आँसू झर रहे हैं ॥ ६ ॥

१—गीतावलि में भरतजी ने प्रतिज्ञा की थी कि यदि अवधि की समाप्ति होते ही आप न आवेंगे तो मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि आप मुझे जीता भी न पावेंगे। "तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन रघुबीर न ऐहो। तौ प्रभु-चरणन सपथ फिरि जीवित मोहि न पैहो।"

चौ०—देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलकगात लोचनजल बरषेउ॥
मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ स्रवन-सुधा-सम बानी॥१॥

हनुमान्जी देखते ही बड़े प्रसन्न हुए[१]। उनका शरीर पुलकित हो गया। नेत्रों से जल बरसने लगा। वे मन में बहुत तरह सुख मानकर कानों के लिए अमृत-समान वाणी बोले—॥ १॥

जासु बिरह सोचहु दिनु राती। रटहु निरंतर गुन-गन-पाँती॥
रघु-कुल-तिलक सु-जन-सुख-दाता। आयउ कुसल देव-मुनि-त्राता।२।

जिनके वियोग में तुम दिन-रात सोच कर रहे हो और जिनके गुण-गण को निरन्तर रटते हो, वे रघुवंश के तिलक, सज्जनों के सुख-दाता, देवतों और ऋषियों के रक्षक रामचन्द्रजी कुशलपूर्वक आ गये हैं॥ २॥

रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता अनुज सहित पुर आवत॥
सुनत बचन बिसरे सब दूखा। तृषावंत जिमि पाव पियूखा॥३॥

उन्होंने रण में शत्रु को जीत लिया। उनके सुयश को देवता गा रहे हैं। वे सीताजी और लक्ष्मणजी समेत नगर में आ रहे हैं। इन वचनों के सुनते ही भरतजी के सब दुःख ऐसे मिट गये, मानों प्यासे आदमी को अमृत मिल गया हो॥ ३॥

को तुम्ह तात कहाँ तें आये। मोहि परम प्रिय बचन सुनाये॥
मारुतसुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु कृपानिधाना॥४॥

भरतजी ने पूछा—हे तात! तुम कौन हो और कहाँ से आये हो? तुमने मुझे अत्यन्त ही प्रिय वचन सुनाये हैं। हनुमान्जी ने कहा—हे कृपानिधान, भरतजी! आप मेरा नाम सुनिए। मैं वायु का पुत्र बन्दर हनुमान् हूँ॥ ४॥

दीनबंधु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥
मिलत प्रेमु नहिँ हृदय समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥५॥

मैं दीनबन्धु रघुनाथजी का दास हूँ। यह सुनते ही भरतजी उठकर बड़े आदर के साथ उनसे मिले। मिलते समय हृदय में प्रेम नहीं समाता था। उनके नेत्रों से जल बहता था और शरीर पुलकित था॥ ५॥

कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता। तो कहँ देउँ काह सुनु भ्राता॥६॥

---

[१]—पीछे लङ्का-काण्ड में सूचित किये अनुसार भरतजी राज्य पाकर प्रमत्त न हो गये हों, इसी निर्णय के लिए गये हुए हनुमान्जी भरतजी की इस स्थिति को देखकर सन्देह-रहित हो गये।

भरतजी ने कहा—हे कपि हनुमान्! आज तुम्हारे दर्शन मिलने से मेरे सब दुःख[1] समाप्त हो गये, क्योंकि रामचन्द्रजी के प्यारे तुम मुझे मिले। फिर उनसे भरतजी ने बार बार कुशल पूछी, और कहा भाई! मैं तुमको क्या दूँ?॥ ६॥

एहि संदेससरिस जग माहीँ। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीँ॥
नाहिँन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभुचरित सुनावहु मोही॥७॥

मैंने विचार कर देख लिया कि संसार में इस सँदेसे के बराबर कोई चीज़ नहीं है; इसलिए हे तात! मैं तुमसे उऋण नहीं हो सकता! अब तुम मुझे प्रभुजी का चरित सुनाओ॥ ७॥

तब हनुमंत नाइ पद माथा। कहे सकल रघु-पति-गुन-गाथा॥
कहु कपि कबहुँ कृपाल गुसाईँ। सुमिरहिँ मोहि दास की नाईँ॥८॥

तब हनुमान्जी ने भरतजी के चरणों में मस्तक नवाकर रघुनाथजी के सम्पूर्ण चरित्रों की कथा कही। फिर भरतजी ने पूछा—हे कपि! यह कहो कि कभी समर्थ दयालु रामचन्द्रजी मुझे दास के समान स्मरण करते हैं?॥ ८॥

छंद—निज दास ज्योँ रघु-बंस-भूषन कबहुँ मम सुमिरन कर्‌यो।
सुनि भरतबचन बिनीत अति कपि पुलकि तन चरनन्हि पर्‌यो॥
रघुबीर निज मुख जासु गुनगन कहत अग-जग-नाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सद-गुन-सिंधु सो॥

क्या कभी रघुकुल-भूषण रामचन्द्रजी ने अपने दास के समान (जिस तरह अपने भक्तों को सदा स्मरण रखते हैं) मेरा स्मरण किया है? भरतजी के बहुत ही विनीत वचन सुनकर हनुमान्जी का शरीर पुलकित हो गया और वे उनके चरणों में गिरे। भला चराचर के स्वामी रघुवीर जिनके गुण-गण अपने श्रीमुख से सराहें, वे भरतजी ऐसे विनययुक्त, परम पवित्र और सद्‌गुणों के समुद्र क्यों न हों?॥

दो०—राम-प्रान-प्रिय नाथ तुम्ह सत्य बचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सुनि हरष न हृदय समात॥७॥

हनुमान्जी ने कहा—हे नाथ! तुम रामचन्द्रजी के प्राण-प्यारे हो, हे तात! यह मेरा वचन सत्य है। भरतजी यह सुनकर हनुमान्जी से बार बार मिलने लगे और उनके हृदय में आनन्द नहीं समाता था॥ ७॥

---

[1]—भरतजी को मुख्यतया चार प्रकार के दुःख थे—(१) रामचन्द्रजी के लौटकर न आने का, (२) सीताजी के हरण का, (३) रावणादिकों के युद्ध का और (४) लक्ष्मणजी को लगी हुई शक्ति का। हनुमान्जी के उपर्युक्त कुशलवृत्त से ये सभी दुःख मिट गये।

सो०—भरतचरन सिरु नाइ तुरित गयउ कपि राम पहिँ।
कही कुसल सब जाइ हरषि चलेउ प्रभु जान चढ़ि ॥ ८ ॥

फिर हनुमानजी भरतजी के चरणों में सिर नवाकर तुरन्त ही रामचन्द्रजी के पास गये और उन्होंने जाकर सब कुशल-वृत्तान्त कहा। तब प्रभु रामचन्द्रजी प्रसन्न होकर विमान पर चढ़कर चले ॥ ८ ॥

चौ०—हरषि भरत कोसलपुर आये। समाचार सब गुरुहिँ सुनाये ॥
पुनि मंदिर महुँ बात जनाई। आवत नगर कुसल रघुराई ॥१॥

भरतजी प्रसन्न होकर अयोध्या में आये (वे अयोध्या के बाहर नन्दिग्राम में रहते थे)। उन्होंने गुरु वशिष्ठजी को सब समाचार सुनाये। फिर महलों में बात जताई कि रघुनाथजी कुशलपूर्वक नगर को आ रहे हैं ॥ १ ॥

सुनत सकल जननी उठि धाईँ। कहि प्रभुकुसल भरत समुझाईँ ॥
समाचार पुरबासिन्ह पाये। नर अरु नारि हरषि सब धाये ॥२॥

सुनते ही सब मातायें उठकर दौड़ आईं। भरतजी ने रामचन्द्रजी का कुशल-समाचार सुना कर उन्हें समझाया। फिर नगर-निवासियों ने समाचार जाना। वे सभी स्त्री-पुरुष प्रसन्न हो होकर दौड़ पड़े ॥ २ ॥

दधि दुर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसीदल मंगलमूला ॥
भरि भरि हेमथार भामिनी। गावत चलीँ सिंधुरगामिनी ॥३॥

दही, दूब, रोचन (चन्दन और गोरोचन), फल, फूल और सब मङ्गलों के मूल ताजे तुलसीदल सोने के थालों में भर भरकर गज-गामिनी स्त्रियां मङ्गल गाती हुई चलीं ॥ ३ ॥

जो जैसेहिँ तैसेहिँ उठि धावहिँ। बाल बृद्ध कहँ संग न लावहिँ ॥
एक एकन्ह कहँ बूझहिँ भाई। तुम्ह देखे दयाल रघुराई ॥४॥

जो मनुष्य जैसी स्थिति में था वह वैसा ही उठ दौड़ता था। वे बालकों और बुड्ढों को साथ नहीं लेते थे (इनको साथ लेने से देर का डर था)। वे आपस में पूछते थे कि भाई! क्या तुमने दयालु रामचन्द्रजी को देखा है? ॥ ४ ॥

अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा कै खानी ॥
भइ सरजू अति-निर्मल-नीरा। बहइ सुहावन त्रिबिध समीरा ॥५॥

रामचन्द्रजी को आते हुए जानकर अयोध्यापुरी सम्पूर्ण शोभाओं की खान हो गई। सरजूजी का जल बहुत ही निर्मल हो गया; वायु शीतल, मन्द, सुगन्ध, सुहावनी चलने लगी ॥ ५ ॥

दो०—हरषित गुरु परिजन अनुज भू-सुर-बृंद-समेत।
चले भरत अति प्रेम मन सनमुख कृपानिकेत ॥९॥

भरतजी प्रसन्न होकर गुरु, कुटुम्बी जन, शत्रुघ्न और ब्राह्मण-गणों समेत कृपा के स्थान श्री रामचन्द्रजी के सम्मुख चले। उनके मन में बड़ा ही प्रेम था ॥ ९ ॥

बहुतक चढ़ीं अटारिन्ह निरखहिँ गगन बिमान।
देखि मधुर सुर हरषित करहिँ सुमंगल गान ॥१०॥

उस समय बहुत सी स्त्रियाँ अटारियों पर चढ़ गईं और आकाश में विमान को देखने लगीं। फिर उसको आया देखकर वे प्रसन्नतापूर्वक मीठे स्वर से सुन्दर मङ्गल गीत गाने लगीं ॥ १० ॥

राकाससि रघुपति-पुर-सिंधु देखि हरषान।
बढ़ेउ कोलाहल करत जनु नारि-तरंग-समान ॥११॥

अयोध्यापुरी-रूपी समुद्र रामचन्द्र-रूपी पूर्णिमा के चन्द्र को देखकर प्रसन्न हुआ और स्त्रीरूपी-तरंगों से शोर करता हुआ उमड़ चला। अर्थात्, समुद्र जैसे पूर्णिमा के चन्द्र को देखकर प्रसन्न हो बड़ी बड़ी तरंग फेंक उछलने लगता है, उसी तरह अयोध्यानगरी रामचन्द्रजी को देखकर स्त्रियों के गान आदि से उमड़ पड़ी ॥ ११ ॥

चौ०—इहाँ भानु-कुल-कमल-दिवा-कर। कपिन्ह देखावत नगर मनोहर ॥
सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा ॥१॥

इधर सूर्य-कुल-रूपी कमल के सूर्य रामचन्द्रजी बन्दरों को मनोहर नगर दिखाने लगे। उन्होंने कहा—सुग्रीव, अङ्गद, विभीषण! सुनो। यह पुरी पावनी (दर्शकों को पवित्र करनेवाली) है और यह देश सुन्दर है ॥ १ ॥

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद-पुरान-बिदित जग जाना ॥
अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ ॥२॥

यद्यपि सब लोग वैकुंठ की बड़ाई करते हैं; वैकुण्ठ वेद और पुराणों में प्रसिद्ध है और जगत् जानता है, परन्तु मुझे अयोध्या के समान वह भी प्रिय नहीं है। इस प्रसंग को कोई कोई जानते हैं (सब नहीं) ॥ २ ॥

जनमभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि ॥
जा मज्जन तें बिनहिँ प्रयासा। मम समीप पावहिँ नर बासा ॥३॥

यह सुहावनी पुरी मेरी जन्म-भूमि है। इसकी उत्तर दिशा में पवित्र सरयू बहती है, जिसमें स्नान करने से मनुष्य बिना ही परिश्रम मेरे समीप निवास पा जाते हैं ॥ ३ ॥

अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥
हरषे सब कपि सुनि प्रभुबानी। धन्य अवध जो रामबखानी॥४॥

यहाँ के निवासी मुझे बहुत ही प्यारे हैं। यह पुरी मेरे धाम (साकेत पुर) को देनेवाली और सुखों की राशि (समूह) है। प्रभुजी की यह वाणी सुनकर सब वानर प्रसन्न हुए। (तुलसीदासजी कहते हैं—) अयोध्या धन्य है, जिसकी बड़ाई स्वयं रामचन्द्रजी ने की॥ ४॥

दो०—आवत देखि लोग सब कृपासिंधु भगवान॥
नगर निकट प्रभु प्रेरेउ उतरेउ भूमि बिमान॥१२॥

दयासागर भगवान् प्रभु रामचन्द्रजी ने सब लोगों को आते देखकर प्रेरणा की तो वह विमान नगर के निकट पृथ्वी पर उतरा॥ १२॥

उतरि कहेउ प्रभु पुष्पकहिँ तुम्ह कुबेर पहिँ जाहु॥
प्रेरित राम चलेउ सो हरष बिरहु अति ताहु॥१३॥

प्रभुजी ने उतरकर पुष्पक विमान से कहा कि तुम कुबेर के पास जाओ[1]। रघुनाथजी की प्रेरणा से वह विमान चला, पर उसको राम-विरह भी बहुत हुआ। अपने स्वामी कुबेर के पास जाने का उसे हर्ष था॥ १३॥

चौ०—आये भरत संग सब लोगा। कृसतन श्री रघु-बीर-बियोगा॥
बामदेव बसिष्ठ मुनिनायक। देखे प्रभु महि धरि धनु सायक॥१॥

भरतजी के साथ सब लोग आये। श्रीरघुवीर के वियोग से उनका शरीर दुर्बल हो गया था। प्रभुजी ने मुनियों के नायक वामदेव और वसिष्ठजी आदि को देखा और धनुष-बाण धरती पर रख कर[2]॥ १॥

१—पुष्पक विमान उत्तर दिशा के अधिपति कुबेर का था। उनको युद्ध में जीतकर उसे रावण ले आया था। तब से वह लङ्का में था। अब उसको जहाँ का तहाँ भेजना उचित समझकर रामचन्द्रजी ने उसे कुबेर ही के पास जाने की आज्ञा दी। इस विमान का वर्णन अगस्त्यसंहिता में है—यह विमान इच्छाचारी (जहाँ चाहें वहाँ चला जाय), स्फटिकमणि का-सा श्वेत और भीतर चित्र-विचित्र। इसमें कहीं ७ और कहीं ३ खंड थे। बाहरी खंड बत्तीस दल के कमल के आकार का, बीचवाला १६ और भीतरवाला ८ दल का था। उसके कोनों में मणियों के दंड और तीनों खंडों में विचित्र छत्र बने थे। उसकी आकृति हंस की जोड़ी की-सी थी। उसके बाहरी खंड में वानरी सेना, मध्य में यूथपति, भीतरी खंड में उच्च सिंहासन पर सीता-सहित श्रीरामचन्द्रजी विराजमान और लक्ष्मण, हनुमान्, जाम्बवान् आदि से सेवित थे।

२—बड़ों के सम्मुख शस्त्र धारण किये हुए जाना अनुचित था। अथवा—धनुष-बाण उठाकर अयोध्या से निकले थे, अब पृथ्वी का भार उतारने का प्रयोजन सिद्ध हो गया, इसलिए घर लौट आये तब धनुष-बाण भी रख दिये।

धाइ धरे गुरु-चरन-सरोरुह । अनुजसहित अति-पुलक-तनोरुह ॥
भेंटि कुसल बूझी मुनिराया । हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया ॥२॥

लक्ष्मणजी-समेत दौड़कर गुरु के चरण-कमल पकड़ लिये। दोनों के शरीर पुलकित हो गये। मुनिराज वसिष्ठजी ने मिलकर कुशलता पूछी तो रघुनाथजी ने कहा—आपकी कृपा से हमारी सब कुशल है ॥ २ ॥

सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा । धरम - धुरं - धर रघु - कुल - नाथा ॥
गहे भरत पुनि प्रभु-पद-पंक-ज । नमत जिन्हहिं सुर मुनि शंकर अज ॥३॥

फिर धर्म के आधार, रघुवंश के स्वामी रामचन्द्रजी ने सब ब्राह्मणों से मिल भेंट कर उनके चरणों में प्रणाम किया। फिर भरतजी ने प्रभु के उन चरण-कमलों को पकड़ा, जिनको देव, मुनि, शङ्कर और ब्रह्मा नमस्कार करते हैं ॥ ३ ॥

परे भूमि नहिँ उठत उठाये । बर करि कृपासिंधु उर लाये ॥
स्यामलगात रोम भये ठाढे । नव-राजीव-नयन जल बाढे ॥४॥

भरतजी साष्टाङ्ग प्रणाम करने को जो पृथ्वी पर गिरे तो उठाने से भी नहीं उठते थे, तब दयासागर रघुनाथजी ने बलपूर्वक उठाकर उनको हृदय से लगा लिया। उनके श्याम-सुन्दर शरीर के रोम खड़े हो गये, नवीन कमल सदृश नेत्रों में आँसू उमड़ पड़े ॥ ४ ॥

छंद—राजीवलोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी ।
अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहिँ मिले प्रभु त्रिभुवन-धनी ॥
प्रभु मिलत अनुजहिँ सोह मो पहिँ जाति नहिँ उपमा कही ।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुखमा लही ॥

उनके कमल-नेत्रों से जल बहने लगा, शरीर सुन्दर पुलकावली से शोभित हो गया। भरतजी को बड़े ही प्रेम से हृदय में लगाकर त्रैलोक्यनाथ प्रभु रामचन्द्रजी मिले। तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु रामचन्द्रजी के भरतजी से मिलने से जो शोभा हुई उसकी उपमा मुझसे नहीं कही जाती। मानों प्रेम और शृङ्गार दोनों शरीर धरकर मिलने के कारण विशेष शोभायमान हों ॥

बूझत कृपानिधि कुसल भरतहिँ बचन बेगि न आवई ।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन तेँ भिन्न जान जो पावई ॥
अब कुसल कोसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो ।
बूडत बिरहबारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो ॥

कृपानिधान रामचन्द्रजी भरतजी से कुशल पूछ रहे हैं, पर भरतजी के मुँह से उत्तर वचन जल्दी नहीं निकलता। शिवजी कहते हैं कि हे पार्वति! रामचन्द्रजी और भरतजी के मिलाप में जो सुख हुआ वह मन और वचन से भिन्न है। ऐसे सुख को वही जान सकता है, जिसको वह सुख मिले। फिर देर में भरतजी ने कहा— हे कोशलनाथ! अब कुशल है, जो आपने दास को दुखी जानकर दर्शन दिया। विरह-रूपी समुद्र में डूबते हुए मुझको कृपानिधान ने हाथ पकड़कर बचा लिया॥

दो०—पुनि प्रभु हरषित सत्रुहन भेंटे हृदय लगाइ॥
लछिमनु भरत मिले तब परम प्रेम दोउ भाइ॥१४॥

फिर प्रभु रामचन्द्रजी प्रसन्नतापूर्वक शत्रुघ्नजी को हृदय में लगाकर मिले। फिर लक्ष्मणजी और भरतजी दोनों भाई प्रेम के साथ परस्पर मिले॥ १४॥

चौ०—भरतानुज लछिमन पुनि भेंटे। दुसह बिरहसंभव दुख मेटे॥
सीताचरन भरत सिरु नावा। अनुजसमेत परमसुख पावा॥१॥

फिर भरतजी के छोटे भाई शत्रुघ्नजी और लक्ष्मणजी मिले। उन्होंने दुसह (न सहने लायक़) वियोग से उत्पन्न हुए दुःखों को मिटा दिया। शत्रुघ्न-सहित भरतजी ने सीताजी के चरणों में मस्तक नवाया और बड़ा सुख पाया॥ १॥

प्रभु बिलोकि हरषे पुरबासी। जनित बियोग बिपति सब नासी॥
प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥२॥

प्रभुजी को देखकर सब नगर-निवासी प्रसन्न हुए। वियोग से उत्पन्न हुई सब विपत्तियों का नाश हो गया। सब लोगों को प्रेम में व्याकुल देखकर दयालु, दुष्टदलन रामचन्द्रजी ने एक कौतुक (खिलवाड़) किया॥ २॥

अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहिँ कृपाला॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किये सकल नर-नारि बिसोकी॥३॥

वह यह कि उस समय उन्होंने अपने अनगिनत रूप प्रकट किये; यों वे सबसे यथायोग्य मिले। श्रीरघुवीर ने दयाभरी दृष्टि से देखकर सब स्त्री-पुरुषों को सोच-रहित कर दिया॥ ३॥

छन महुँ सबहिँ मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना॥
एहि बिधि सबहिँ सुखी करि रामा। आगे चले सील-गुन-धामा॥४॥
कौसल्यादि मातु सब धाईं। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाईं॥५॥

श्रीभगवान् रामचन्द्रजी एक क्षण भर में सबसे मिले। शिवजी कहते हैं कि हे पार्वति! इस मर्म को किसी ने नहीं जाना। शील और गुण के निधान रामचन्द्रजी इस तरह सबको सुखी कर वहाँ से आगे चले॥ ४॥ इतने में कौशल्याजी आदि सब मातायें ऐसी दौड़ीं, जैसे लवाई (हाल की ब्याई हुई) गौ बच्छे को देखकर दौड़ती है॥ ५॥

छंद—जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं।
दिनअंत पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं॥
अति प्रेम प्रभु सब मातु भेटी बचन मृदु बहु बिधि कहे।
गइ बिषम बिपति बियोगभव तिन्ह हरष सुख अगनित लहे॥

मानों गायें छोटे बच्चों का घर छोड़कर परवश वन में चरने के लिए गई हों और सायङ्काल के समय नगर की ओर चलती हुईं, थनों में से दूध चुआती और हुंकार करती हुईं दौड़ी हों। प्रभु रामचन्द्रजी सब माताओं से बड़े ही प्रेम के साथ मिले और उन्होंने बहुत तरह कोमल वचन कहे। उनकी भी वियोग-सम्बन्धिनी विषम विपत्ति नष्ट हुई, और उन्होंने अनगिनत सुख पाये॥

दो०—भेंटेउ तनय सुमित्रा राम-चरन-रति जानि।
रामहिं मिलत कैकई हृदय बहुत सकुचानि॥१५॥

रामचन्द्रजी के चरणों में प्रीतियुक्त जानकर लक्ष्मणजी से सुमित्राजी मिलीं। केकयी रामचन्द्रजी से मिलती हुई हृदय में बहुत सकुचाईं॥ १५॥

लछिमनु सब मातन्ह मिलि हरषे आसिष पाइ।
कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले मन कर छोभ न जाइ॥१६॥

लक्ष्मणजी सब माताओं से मिले और उनसे आशीर्वाद पाकर प्रसन्न हुए। वे केकयी से फिर फिर (कई बार) मिले, क्योंकि उनके चित्त का क्षोभ (रञ्ज) न मिटा था॥ १६॥

चौ०—सासुन्ह सबन्हि मिली बैदेही। चरनन्हि लागि हरष अति तेही॥
देहिं असीस बूझि कुसलाता। होउ अचल तुम्हार अहिवाता॥१॥

जानकीजी सब सासुओं से मिलीं; वे सबके पाँवों पड़ीं और उन्हें बहुत ही आनन्द हुआ। सासुएँ कुशल पूछ पूछकर आशीर्वाद देती थीं कि तुम्हारा सौभाग्य निश्चल हो॥ १॥

सब रघु-पति-मुख-कमल बिलोकहिं। मंगल जानि नयनजल रोकहिं॥
कनकथार आरती उतारहिं। बार बार प्रभुगात निहारहिं॥२॥

सब मातायें रघुनाथजी के मुख-कमल को देखती और नेत्रों में आते हुए आँसुओं को, माङ्गलिक समय जानकर, रोकती थीं (कि आँसू गिरने से मङ्गल में अमङ्गल न हो)। वे सोने के थाल में रामचन्द्रजी की आरती उतारने और बार बार प्रभुजी के अङ्गों को देखने लगीं ॥ २ ॥

नाना भाँति निछावरि करहीं। परमानंद हरष उर भरहीं ॥
कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहिँ। चितवति कृपासिंधु रनधीरहिँ ॥३॥

वे अनेक प्रकार की निछावरें करतीं और परम आनन्द से हृदय में प्रसन्न होती थीं। कौसल्याजी कृपासागर, रणधीर रघुवीर को बार बार देखती थीं ॥ ३ ॥

हृदय बिचारति बारहिँ बारा। कवन भाँति लंकापति मारा ॥
अति सुकुमार जुगल मेरे बारे। निसिचर सुभट महाबल भारे ॥४॥

वे बार बार अपने हृदय में यह सोचती थीं कि इन्होंने लङ्कापति रावण को किस तरह मारा होगा! ये मेरे प्यारे दोनों बालक बहुत ही सुकुमार हैं और राक्षस तो महाबली वीर योद्धा भारी होंगे ॥ ४ ॥

दो०—लछिमन अरु सीतासहित प्रभुहिँ बिलोकति मातु।
परमानंद-मगन-मन पुनि पुनि पुलकित गातु ॥१७॥

माताजी लक्ष्मण और सीता-सहित प्रभु रामचन्द्रजी को देखती हुई मन में परम आनन्द में निमग्न हो गईं और उनके अङ्ग बार बार पुलकित हो गये ॥ १७ ॥

चौ०—लंकापति कपीस नल नीला। जामवंत अंगद सुभसीला ॥
हनुमदादि सब बानरबीरा। धरे मनोहर मनुजसरीरा ॥१॥

उस समय लङ्कापति विभीषण, कपिराज सुग्रीव, नल, नील, जाम्बवान्, अङ्गद और हनुमान्जी आदि श्रेष्ठ शीलवाले वानर मनोहर मनुष्य-शरीर धारण किये हुए ॥ १ ॥

भरत - सनेह - सील-ब्रत-नेमा। सादर सब बरनहिँ अति प्रेमा ॥
देखि नगरबासिन्ह कै रीती। सकल सराहहिँ प्रभु-पद-प्रीती ॥२॥

भरतजी के प्रेम, शील, व्रत और नियम का वर्णन बड़े आदर और प्रेम के साथ करने लगे। नगर-निवासी जनों की रीति और रामचन्द्रजी के चरणों में उनका प्रेम देख-कर सभी वानर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ २ ॥

पुनि रघुपति सब सखा बोलाये। मुनिपद लागहु सकल सिखाये।
गुरु बसिष्ठ कुलपूज्य हमारे। इन्ह की कृपा दनुज रन मारे ॥३॥

फिर रघुनाथजी ने अपने सब मित्रों को बुलाकर उनको सिखाया कि तुम लोग मुनिजी के चरणों का स्पर्श करो। ये हमारे कुल के पूज्य गुरु वसिष्ठजी हैं, हमने इनकी कृपा से रण में दैत्य मारे हैं ॥ ३ ॥

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समरसागर कहँ बेरे ॥
मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहुँ तें मोहि अधिक पियारे ॥४॥
सुनि प्रभुबचन मगन सब भये। निमिष निमिष उपजत सुख नये ॥५॥

फिर उन्होंने गुरुजी से कहा—हे मुनिवर ! सुनिए। ये सब मेरे मित्र हैं, ये युद्धरूपी समुद्र को पार करने के लिए बेड़े (जहाज़) रूप हुए अर्थात् इन्होंने युद्ध में मेरी बड़ी ही सहायता की है। ये मेरे हित के लिए अपने जन्म हार गये; अर्थात् इन्होंने मुझे अपना जीवन समर्पण कर दिया। ये मुझे भरत से भी अधिक प्यारे हैं ॥ ४ ॥ प्रभुजी के इन वचनों को सुनकर सब प्रेम-मग्न हो गये। क्षण क्षण पर नये नये सुख सबको होने लगे ॥ ५ ॥

दो०—कौसल्या के चरनन्हि पुनि तिन्ह नायेउ माथ।
आसिष दीन्हो हरषि तुम्ह प्रिय मम जिमि रघुनाथ ॥१८॥

फिर उन मित्रों ने कौसल्याजी के चरणों में अपने शिर नवाये। उन्होंने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिये और कहा कि तुम सब मुझे ऐसे प्यारे हो जैसे कि रामचन्द्र ॥ १८ ॥

सुमनवृष्टि नभ संकुल भवन चले सुखकंद।
चढ़ी अटारिन्ह देखहिँ नगर नारि-बर-बृंद ॥१६॥

आकाश पुष्प-वर्षा से भर गया और सुख के मूल श्रीरामचन्द्रजी राज-भवन को चले। सुन्दर स्त्रियों के झुण्ड अटारियों पर चढ़ चढ़कर देखने लगीं ॥ १९ ॥

चौ०—कंचनकलस बिचित्र सँवारे। सबहिँ धरे सजि निज निज द्वारे ॥
बंदनवार पताका केतू। सबन्हि बनाये मंगलहेतू ॥१॥

सभी ने अपने अपने दरवाज़ों पर सुवर्ण के कलश विचित्र रीति से सँवार (सज धज) कर रक्खे। सभी ने मङ्गलाचार के लिए बंदनवार, ध्वजा, पताका आदि लगाये ॥ १ ॥

बीथी सकल सुगंध सिँचाई। गजमनि रचि बहु चौक पुराई ॥
नाना भाँति सुमंगल साजे। हरषि नगर निसान बहु बाजे ॥२॥

नगर की सब गलियां में सुगन्धित जल का छिड़काव किया और गजमोती आदि से रचना कर चौकें पुरवाईं। अनेक प्रकार के मङ्गल साज सजे। प्रसन्नता से नगर में कई जगह निशान बजने लगे ॥ २ ॥

जहँ तहँ नारि निछावरि करहीं। देहिं असीस हरष उर भरहीं॥
कंचनथार आरती नाना। जुवती सजे करहिं सुभ गाना॥३॥

स्त्रियाँ जहाँ तहाँ निछावर करने लगीं और हृदय में प्रसन्न हो होकर आशीर्वाद देने लगीं। स्त्रियों ने आरती के लिए अनेक सुवर्ण के थाल सजाये और वे शुभ गान करने लगीं॥ ३॥

करहिं आरती आरतिहर कै। रघु-कुल-कमल-बिपिन-दिन-कर कै॥
पुरसोभा संपति कल्याना। निगम सेष सारदा बखाना॥४॥
तेउ यह चरित देखि ठगि रहहीं। उमा तासु गुन नर किमि कहहीं॥५॥

वे रघुवंशरूपी कमल-वन के सूर्य, आर्तिहर (दुःख को मिटानेवाले) श्रीरामचन्द्रजी की आरती करने लगीं। उस समय नगर की शोभा, सम्पत्ति और कल्याण को वेद, शेषजी और सरस्वतीजी वर्णन करती थीं॥ ४॥ शिवजी कहते हैं कि हे पार्वति! जब वे भी इन चरित्रों को देखकर थकित हो जायँ, तब उनके गुणों को भला मनुष्य कैसे कह सकते हैं?॥ ५॥

दो०—नारि कुमुदिनी अवध सर रघु-पति-बिरह दिनेस।
अस्त भये बिगसत भईं निरखि राम राकेस॥२०॥

अयोध्यारूपी तालाब में स्त्री-रूपी कुमोदिनी रघुनाथजी के वियोगरूपी सूर्य के अस्त हो जाने (मिट जाने) पर रामचन्द्रजीरूपी चन्द्रमा को देखकर खिल उठीं॥ २०॥

होहिं सगुन सुभ बिबिध बिधि बाजहिं गगन निसान।
पुर-नर-नारि सनाथ करि भवन चले भगवान॥२१॥

नाना प्रकार के शुभ शकुन हो रहे थे और आकाश में बाजे बज रहे थे। ऐसे आनन्द में भगवान् रामचन्द्रजी नगर के स्त्री-पुरुषों को कृतार्थ कर राजभवन को चले॥ २१॥

चौ०—प्रभु जानी कैकई लजानी। प्रथम तासु गृह गये भवानी॥
ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा। पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा॥१॥

शिवजी कहते हैं कि हे भवानी! प्रभु हरि रामचन्द्रजी कैकयी को लजाई हुई जानकर पहले उसी के घर गये। उसको समझाकर बहुत सुख दिया, फिर वे अपने घर गये॥ १॥

कृपासिंधु जब मंदिर गये। पुर-नर-नारि सुखी सब भये॥
गुरु बसिष्ठ द्विज लिये बोलाई। आजु सुघरी सुदिनु सुभदाई॥२॥

दयासागर रामचन्द्रजी ने जब घर में प्रवेश किया, तब नगर के स्त्री-पुरुष सब सुखी हुए। गुरु वशिष्ठजी ने ब्राह्मणों को बुला लिया और उनसे कहा कि आज का दिन अच्छा, शुभ फल देनेवाला है और आज शुभ घड़ी है ॥ २ ॥

सब द्विज देहु हरषि अनुसासन। रामचंद्र बैठहिँ सिंहासन ॥
मुनि बसिष्ठ के बचन सुहाये। सुनत सकल बिप्रन्ह अति भाये ॥३॥

सब ब्राह्मण प्रसन्न होकर आज्ञा दी तो रामचन्द्रजी सिंहासन पर बैठें। मुनि वशिष्ठजी के सुहावने वचन सुनते ही ब्राह्मणों को बहुत ही प्रिय लगे ॥ ३ ॥

कहहिँ बचन मृदु बिप्र अनेका। जगअभिराम रामअभिषेका ॥
अब मुनिबर बिलंबु नहिँ कीजे। महाराज कहुँ तिलक करीजे ॥४॥

अनेक ब्राह्मण कोमल वचनों से कहने लगे कि रामचन्द्रजी का राज्याभिषेक जगत् को प्रिय करनेवाला है, हे मुनिवर! अब आप देरी न कीजिए, महाराज का राज-तिलक कर दीजिए ॥ ४ ॥

दो०—तब मुनि कहेउ सुमंत्र सन सुनत चलेउ हरषाइ।
रथ अनेक बहु बाजि गज तुरत सँवारे जाइ ॥२२॥

तब मुनि वशिष्ठजी ने सुमन्त्र (मन्त्री) से कहा। वह सुनते ही प्रसन्न होकर चला। उसने जाकर तुरन्त ही अनेक रथ, बहुत से घोड़े और हाथी सजाये ॥ २२ ॥

जहँ तहँ धावन पठइ पुनि मंगल द्रब्य मँगाइ।
हरष समेत बसिष्ठपद पुनि सिरु नायेउ आइ ॥२३॥

फिर जहाँ तहाँ दूतों को दौड़ा कर उसने मङ्गल-द्रव्य मँगवाये और लौटकर प्रसन्नता के साथ वशिष्ठजी के चरणों में सिर झुकाया ॥ २३ ॥

चौ०—अवधपुरी अतिरुचिर बनाई। देवन्ह सुमनबृष्टि झरि लाई ॥
राम कहा सेवकन्ह बोलाई। प्रथम सखन्ह अन्हवावहु जाई ॥१॥

अयोध्यापुरी बहुत ही सुन्दर सजाई गई, देवताओं ने पुष्पवृष्टि की झड़ी लगा दी। रामचन्द्रजी ने सेवकों को बुलाकर कहा कि तुम पहले हमारे मित्रों को ले जाकर स्नान कराओ ॥ १ ॥

सुनत बचन जहँ तहँ जन धाये। सुग्रीवादि तुरत अन्हवाये ॥
पुनि करुनानिधि भरत हँकारे। निज कर जटा राम निरुवारे ॥२॥

रघुनाथजी के वचन सुनते ही सेवक जहाँ तहाँ दौड़ पड़े और उन्होंने तुरन्त ही सुग्रीव आदिकों को स्नान कराया। फिर करुणानिधान रामचन्द्रजी ने भरतजी को बुलाया और अपने हाथों से उनके जटाजूट सुलझाये ॥ २ ॥

अन्हवाये प्रभु तीनिउँ भाई । भगतबछल कृपाल रघुराई ॥
भरतभाग्य प्रभु - कोमल - ताई । सेष कोटि सत सकहिँ न गाई ॥३॥

भक्तवत्सल, दयालु, रघुराइ प्रभुजी ने तीनों भाइयों को स्नान कराया। उस समय के भरतजी के भाग्य और प्रभु रामचन्द्रजी की कोमलता को सौ करोड़ शेष भी नहीं गा सकते ! ॥ ३ ॥

पुनि निज जटा राम बिबराये । गुरु अनुसासन माँगि नहाये ॥
करि मज्जनु प्रभु भूषन साजे । अंग अनंग कोटि छबि लाजे ॥४॥

फिर रामचन्द्रजी ने अपनी जटाओं को सुलझाया और गुरुजी की आज्ञा माँग कर उन्होंने स्नान किया। जिस समय प्रभुजी ने स्नान कर भूषण धारण किये उस समय की उनके अङ्गों की सुन्दरता के आगे करोड़ कामदेव भी लजा गये ॥ ४ ॥

दो०—सासुन्ह सादर जानकिहि मज्जन तुरत कराइ ।
दिब्य बसन बर भूषन अँग अँग सजे बनाइ ॥२४॥

उधर सासुओं ने जानकीजी को आदरपूर्वक तुरन्त स्नान कराकर दिव्य (बढ़िया) वस्त्र और भूषण उनके अङ्ग अङ्ग में भली भाँति सजा दिये ॥ २४ ॥

राम-बाम-दिसि सोभित रमारूप गुनखानि ।
देखि मातु सब हरषीँ जनम सुफल निज जानि ॥२५॥

सब माताओं ने रामचन्द्रजी की बाँईं ओर शोभित लक्ष्मीरूपा, गुणों की खान, जानकीजी को देखकर अपना जन्म सफल समझा और वे प्रसन्न हुईं ॥ २५ ॥

सुनु खगेस तेहि अवसर ब्रह्मा सिव मुनिबृंद ।
चढ़ि बिमान आये सब सुर देखन सुखकंद ॥२६॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं कि हे गरुड़ ! सुनो। उस समय ब्रह्मा, शिवजी तथा ऋषि-समूह और सब देवता विमानों में चढ़ चढ़कर सुखधाम श्रीराम को देखने के लिए आये ॥ २६ ॥

चौ०—प्रभु बिलोकि मुनिमनु अनुरागा । तुरत दिब्य सिंहासन माँगा ॥
रबिसम तेज सो बरनि न जाई । बैठे राम द्विजन्ह सिरु नाई ॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी को देखकर मुनि वसिष्ठजी का मन प्रेम से भर गया। उन्होंने तुरन्त ही एक दिव्य सिंहासन माँगा। वह सूर्य के समान तेजस्वी था, उसका वर्णन नहीं करते बनता। रामचन्द्रजी ब्राह्मणों को सिर झुकाकर उस पर बैठ गये ॥ १ ॥

जनक-सुता-समेत रघुराई । पेखि प्रहरषे मुनिसमुदाई ॥
बेदमंत्र तब द्विजन्ह उचारे । नभ सुर मुनि जय जयति पुकारे ॥२॥

जनक-दुलारीजी के साथ रघुराई रामचन्द्रजी को देखकर ऋषि-वृन्द प्रसन्न हो गये। तब ब्राह्मणों ने वेद-मन्त्रों का उच्चारण किया। आकाश में देवता और मुनि जयजयकार करने लगे ॥ २ ॥

प्रथम तिलक बसिष्ठ मुनि कीन्हा । पुनि सब बिप्रन्ह आयसु दीन्हा ॥
सुत बिलोकि हरषीं महतारी । बार बार आरती उतारी ॥३॥

पहले वशिष्ठ मुनि ने रामचन्द्रजी को राजतिलक किया, फिर सब ब्राह्मणों को तिलक करने के लिए कहा। पुत्र को राजतिलकयुक्त देखकर मातायें प्रसन्न हुईं और उन्होंने बार बार रघुनाथजी की आरती उतारी ॥ ३ ॥

बिप्रन्ह दान बिबिध बिधि दीन्हे । जाचक सकल अजाचक कीन्हे ॥
सिंहासन पर त्रि-भुवन-साईं । देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई ॥४॥

फिर उन्होंने ब्राह्मणों को नाना प्रकार के दान दिये और माँगनेवालों को बे-माँगनेवाले कर दिया; अर्थात् उन्हें इतना द्रव्य दिया कि फिर माँगने की जरूरत ही नहीं रही। त्रैलोक्य के स्वामी रामचन्द्रजी को सिंहासन पर विराजे देखकर देवतों ने नगारे बजाये ॥ ४ ॥

छंद—नभ दुंदुभी बाजहिँ बिपुल गंधर्ब किन्नर गावहीँ ।
नाचहिँ अपछराबृंद परमानंद सुर मुनि पावहीँ ॥
भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते ।
गहे छत्र चामर ब्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते ॥

आकाश में खूब नगारे बजने लगे, गन्धर्व और किन्नर गाने लगे। अप्सराओं के गण नाचने लगे, देवता और मुनि परम आनन्द पाने लगे। उस समय वहाँ रामचन्द्रजी के छोटे भाई भरतादिक, विभीषण, अङ्गद और हनुमानजी आदि[1] हाथों में छत्र, चँवर, पंखे, धनुष, तलवार, ढाल और बरछियाँ लिये सुशोभित हो रहे थे ॥

१—आदि शब्द से शेष पार्षदों का संकेत किया है। श्रीरामजी की सेवा में १६ पार्षद थे—भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, विभीषण, अङ्गद, हनुमान्, सुग्रीव, दधिमुख, जाम्बवान्, सुषेण, कुमुद, नील, नल, गवाक्ष, पनस और गन्धमादन। अग० सं०।

श्रीसहित दिन-कर-बंस-भूषन काम बहु छबि सोहई।
नव-अंबु-धर-बर-गात-अंबर पीत मुनिमन मोहई॥
मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन अंग अंगन्हि प्रति सजे।
अंभोजनयन बिसाल उर भुज धन्य नर निरखंति जे॥

सूर्य-कुल के भूषण श्रीरामचन्द्रजी सीताजी समेत अनेक कामदेवों की सी कान्ति से शोभित हो रहे हैं, उनके नये सघन मेघ के समान अङ्ग और पीत वस्त्र मुनियों के मन को मोहित करते हैं। उनके अङ्ग पर मुकुट, अङ्गद (बाजू) आदि विचित्र भूषण सजे हुए हैं। उनके कमल से नेत्रों, विशाल वक्षःस्थल और भुजाओं को जो लोग देखते थे वे धन्य हैं॥

दो०—वह सोभा समाज सुख कहत न बनइ खगेस।
बरनइ सारद सेष स्रुति सो रस जान महेस॥२७॥

हे गरुड़! उस समय की शोभा, समाज और सुख का वर्णन करते नहीं बनता। उसका वर्णन तो सरस्वती, शेष और वेद करते हैं तथा उसका रस शङ्करजी जानते हैं। (क्योंकि वे वहाँ उपस्थित थे)॥२७॥

भिन्न भिन्न अस्तुति करि गये सुर निज निज धाम।
बंदिबेष धरि बेद तब आये जहँ श्रीराम॥२८॥

देवगण श्रीरामचन्द्रजी की अलग अलग स्तुति कर अपने अपने स्थान को गये। फिर जहाँ श्रीराम हैं वहाँ चारों वेद बन्दी (भाट) का वेष लेकर आये॥२८॥

प्रभु सर्बग्य कीन्ह अति आदर कृपानिधान।
लखेउ न काहू मरम कछु लगे करन गुनगान॥२९॥

प्रभु रामचन्द्रजी सर्वज्ञ हैं, इसलिए वेदों को पहचान कर कृपानिधान ने उनका बहुत आदर किया। और किसी ने इस भेद को नहीं जाना। अब वेद उनके गुण गान करने लगे॥२९॥

छंद—जय सगुन निर्गुनरूप रूपअनूप भूपसिरोमने।
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने॥
अवतार नर संसारभार बिभंजि दारुनदुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्तसक्ति नमामहे॥

वेदों ने कहा—हे राजाओं के मुकुटमणि! अनुपम रूपवाले! आपकी जय हो। आप सगुणरूप हैं और निर्गुण भी। (द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्चेति—अर्थात् ब्रह्म के दो रूप हैं, एक सगुण साकार दूसरा निर्गुण निराकार। जब वे माया के गुण सत्त्व,
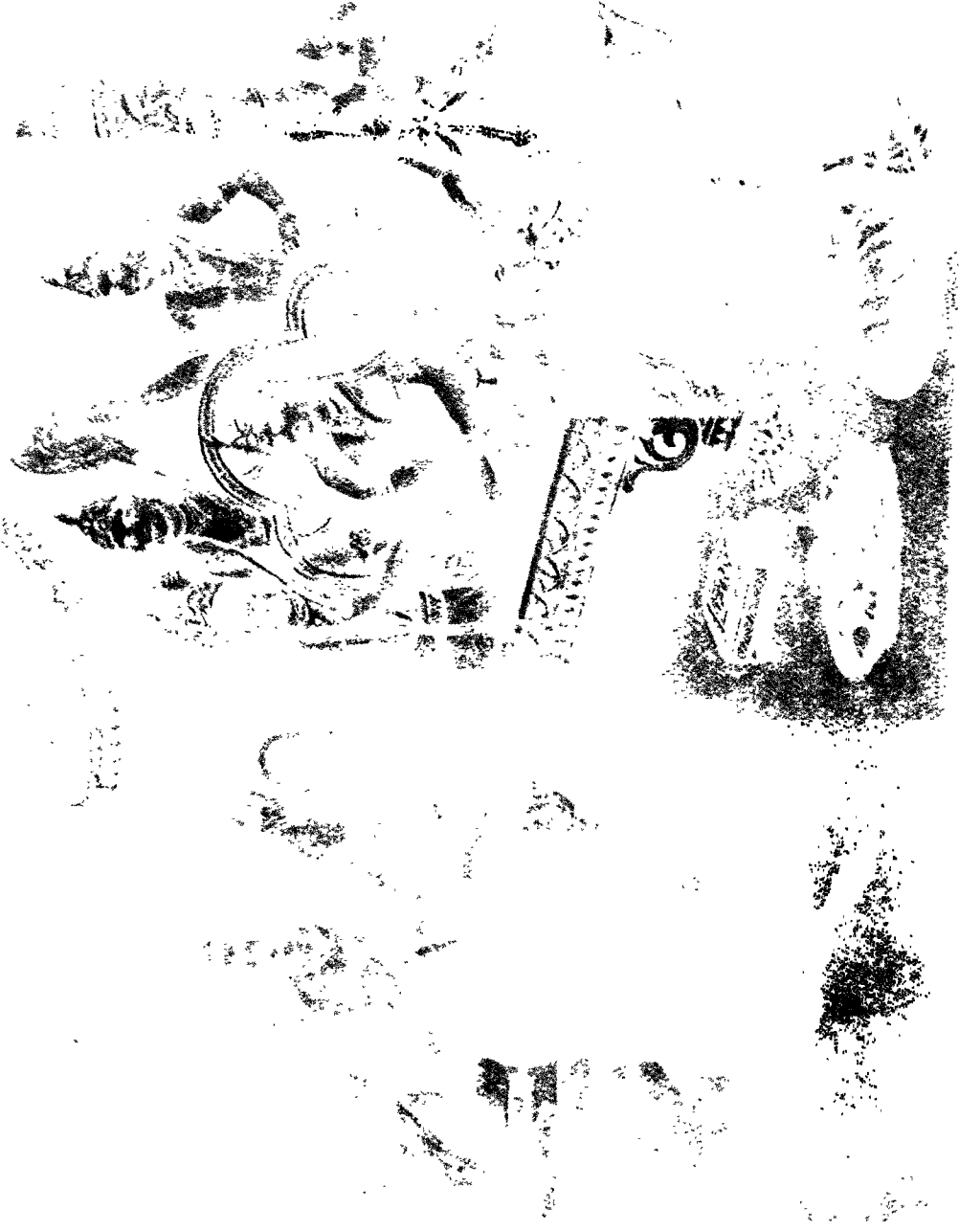
श्री सहित दिन-कर-बंस-भूषन काम बहु छबि सोहई ।
नव- अंबु-घर-बर-गात-अंबर पीत;मुनि-मन मोहई ॥ — पृ० ९८४

रज, तम को स्वाकार कर विराट् स्वरूप और रामकृष्णादि अवतार रूप होते हैं तब सगुण और जब प्राकृत गुणरहित, अनन्त कल्याण गुणसागर, एकरस नित्य रूप रहते हैं तब निर्गुण; इसी लिए वे अनुपम हैं।) आपने दसकन्धर (रावण) आदि प्रचण्ड राक्षसों और प्रबल दुष्टों को अपनी भुजाओं के बल से मारा। आपने मनुष्य-अवतार लेकर संसार का भार मिटाया और इसके घोर दुःख जला (नष्ट कर) दिये। हे प्रणतपाल! शरणागत-रक्षक, दयालु, स्वामी! आपको जय हो। शक्ति (सीताजी) समेत आपको हम नमस्कार करते हैं[1]॥

तव बिषम मायाबस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुनन्हि भरे॥
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे।
भव-खेद-छेदन-दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे॥

हे हरे! देव, दैत्य, नाग, मनुष्य और स्थावर-जङ्गम सभी आपकी विषम माया के अधीन हैं। वे काल, कर्म और गुणों से भरे हुए चिर काल तक दिन रात संसार-चक्र में घूमते फिरते हैं। हे नाथ! जिनको आपने दयादृष्टि कर देख लिया, वे त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) दुखों से छूट गये[2]। हे संसार-सम्बन्धी दुःख के मिटाने में कुशल! आप हमारी रक्षा करें। हम आपको नमस्कार करते हैं।

जे ग्यान-मान-बिमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी।
ते पाइ सुर-दुर्लभ-पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु स्रम तरहिं भव नाथ सोइ स्मरामहे॥

१—कोई कोई इन स्तुतियों के छन्दों को सामवेद, यजुर्वेद आदि की स्तुतियाँ पृथक् पृथक् कहते हैं; किन्तु मूल छन्द में 'नमाम' क्रिया बहुवचन की है, इससे सभी वेदों की स्तुति एक ही में है। यही क्रम श्रीमद्भागवत की वेदस्तुति में भी है। वहाँ "श्रुतय ऊचुः" है "श्रुतिरुवाच" नहीं है।

२—इस सिद्धान्त को श्रीमद्भागवत में स्पष्ट किया है कि जिन पर वे ही अनन्त भगवान् दया करें, और वे दया किये हुए प्राणी निष्कपट रूप से सर्वथा चरणों के शरणागत हुए हों, जिनको कुत्तों और सियारों के भक्ष्य देह में अभिमान नहीं है वेही दुस्तरा भगवान् की माया का पार पाते हैं। "येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्। ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां नैषा ममाहमिति धीः श्वश्रृगालभक्ष्ये॥" भा० स्कं० २ अ० ७। ४२।

हे हरे ! जो लोग ज्ञान के अभिमान में उन्मत्त हो रहे हैं और संसार (जन्म-मरण) को मिटानेवाली आपकी भक्ति का आदर नहीं करते[१], उन्हें, देवतों को दुर्लभ पद (उच्च पद, ब्रह्मादिलोक) पाकर भी, हम फिर उससे नीचे गिरते देखते हैं,[२] और जो विश्वास करके, सब आशाओं को छोड़ कर, आपके दास हो रहे हैं वे आपके नाम का जप कर बिना ही परिश्रम संसार को तर जाते हैं। हे नाथ ! हम उन्हीं आपका स्मरण करते हैं ॥

जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनिपतनी तरी ।
नखनिर्गता मुनिबंदिता त्रै-लोक-पावनि सुरसरी ॥
ध्वज-कुलिस-अंकुस-कंज-जुत बन फिरत कंटक किन लहे ।
पद-कंज-द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे ॥

जो चरण शङ्कर और ब्रह्मा जी के पूज्य हैं, जिनकी शुभ धूल का स्पर्श कर ऋषि-पत्नी अहल्या तर गई; जिन चरणों के नख से ऋषियों से नमस्कार की गई, त्रैलोक्य को पावन करनेवाली देवनदी गङ्गा निकलीं; ध्वज, वज्र, अङ्कुश, एवं कमल-चिह्नों से युक्त जिन चरणों में जङ्गल जङ्गल फिरने से काँटों की नोकें रह गई हैं, (या चलते चलते घट्टे पड़ गये हैं) हे मुकुंद ! (मोक्ष देनेवाले मुकुं मोक्षं, 'मुचमोक्षणे' ददातीति) हे राम ! हे लक्ष्मीपते ! उन चरण-कमलों की जोड़ी को हम नित्य भजते हैं[३] ॥

अव्यक्त-मूल-मनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने ।
षटकंध साखा पंचबीस अनेक पर्न सुमन घने ॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे ।
पल्लवत फूलत नव ललित संसारबिटप नमामहे ॥

१—श्रीमद्भागवत में ब्रह्मस्तुति में कहा है कि जो कल्याणों के स्रोतरूप बहानेवाली आपकी भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान पाने के लिए दुःख उठाते हैं, उनके लिए वह ज्ञान केवल क्लेशदायी रह जाता है और कुछ सार हाथ नहीं लगता; जैसे धान के छिलकों को कूटने से कुछ सार नहीं मिलता। "श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥ भा० स्क० १० अ० १४ । ४ ।

२—गर्भस्तुति में देवतों ने यही बात स्पष्ट कही है—"येऽन्येऽरविन्दाक्षविमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः । आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥" भा० स्कं० १० अ० २ । ३२

३—इस सिद्धान्त को तीनों बातों को एक ही जगह श्रीमद्भागवत में दिखाया है —(१) शिव-ब्रह्मादिकों का चरण पूजना, (२) नख से गङ्गा निकलना, (३) मुकुंदत्व । "अथापि यत्पादनखावसृष्टं जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः । सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात् को नाम लोके भगवत्पदार्थः" ॥ भा० स्क० १ अ० १८ । २१ ।

संसार-वृक्षस्वरूपी हे भगवान्! आपको हम नमस्कार करते हैं। वेद और शास्त्र कहते हैं कि इस आपके अनादि संसार-वृक्ष रूप का अव्यक्त (प्रकृति) जड़ है, इसको चार त्वचायें हैं। इसके छः स्कंध हैं, (जो वृक्षों में मोटे मोटे विभाग होते हैं,) पचीस शाखायें (पतली डालें) हैं, पत्ते और फूल अनेक हैं। इसमें दो तरह के फल हैं, एक तो कड़वे, दूसरे मीठे; इस वृक्ष के आश्रय में रहनेवाली एक ही बेल है। यह वृक्ष सदा नये पत्तों और फूलों से हरा भरा रहता है[१]॥

जे ब्रह्म अजमद्वैत - मनुभव - गम्य मन-पर ध्यावहीं।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर माँगहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥

हे नाथ! जो कोई अज (जन्म न लेनेवाला), अद्वैत (जिसके समान दूसरा कोई न हो—"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन", "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इत्यादि वचनानुसार), अनुभव से प्राप्त होनेवाला, मन से परे ऐसे ब्रह्म का ध्यान करते हैं वे उनका वर्णन करें, वे उनको जानें; हम तो आपके सगुण रूप के (अनन्तकल्याण-गुणसागर के) यश को नित्य गाते हैं। हे दयाधन! सद्गुणों की खान! प्रभो! देव! हम यह वरदान माँगते हैं कि मन, वचन और कर्म के विकारों को छोड़ कर आपके चरणों में हमारा अनुराग हो॥

१—वेदों में कहा है "तदैक्षत बहु स्याम्" अर्थात् परमात्मा ने सोचा कि मैं एक का अनेक हो जाऊँ। बस, यही माया है। इसी से संसार-वृक्ष उत्पन्न हुआ, इसलिए माया ही जड़ है। चार त्वचा (वक्कल)—इन वक्कलों में बहुमत हैं। श्रीमद्भागवत में जिस संसार-वृक्ष का वर्णन है उसके चार रस धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष कहे हैं। यहाँ उन्हीं को त्वचा समझ लें तो हो सकता है पर बहुत लोग मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, इस अन्तःकरण-चतुष्टय को, अथवा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त, तुरीया इन चारों अवस्थाओं को, अथवा चारों युगों को, अथवा अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिद चारों प्रकार के जीवों को, अथवा चारों वेदों को, या ओंकार और सत्त्व, रज, तम, गुणों को बताते हैं; किन्तु ये मानसिक कल्पना-मात्र हैं। वक्कल के समान होने मिटनेवाले और आवश्यक चारों पूर्वोक्त चतुर्वर्ग ही हैं। छः स्कन्ध 'अस्ति, वर्द्धते, क्षीयते, विपरिणमते, जायते, म्रियते; अर्थात् रहना, बढ़ना, घटना, विपरीत होना, जन्म और मरण लेना है। पचीस तत्त्व इसकी शाखायें हैं; अर्थात्—"पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पाँच विषय, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पाँचों तत्त्व, और अन्तःकरण-चतुष्टय, पचीसवाँ जीव।" वासना फूल और मनोरथ पत्ते हैं। मीठा फल पुण्य है, जो स्वर्गादि सुख देता है, कड़वा पाप है, जो नरकादि देता है। इसके आश्रित बेल अविद्या है। नये पत्ते 'इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।' यह चीज़ मैंने पा ली, इसे और पा जाऊँगा इत्यादि फूल है। खाना, पीना, पहनना, भोग-विलास आदि इनका मिलना ही इस वृक्ष के पत्ते-फूलों का आना और न मिलना ही उनका झड़ जाना है।

दो०—सब के देखत बेदन्ह बिनती कीन्हि उदार ।
अंतरधान भये पुनि गये ब्रह्मआगार ॥३०॥

इस तरह सबके देखत वेदों ने उदार (प्रशस्त) प्रार्थना की, फिर वे अन्तर्धान हुए और ब्रह्मलोक को चले गये ॥ ३० ॥

बैनतेय सुनु संभु तब आये जहँ रघुबीर ।
बिनय करत गदगद गिरा पूरित पुलक सरीर ॥३१॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं कि हे गरुड़ ! सुनो। जब वेद स्तुति करके चले गये तब जहाँ श्रीरघुवीर हैं वहाँ शङ्करजी आये और गद्गद वाणी तथा पुलकित शरीर होकर वे स्तुति करने लगे—॥ ३१ ॥

तोटकछंद—जय राम रमारमनं समनं । भव-ताप-भयाकुल पाहि जनं ॥
अवधेस सुरेस रमेस बिभो । सरनागत माँगत पाहि प्रभो ॥

हे राम ! आपकी जय हो। आप लक्ष्मीजी के पति हैं, सांसारिक ताप के शान्त करनेवाले हैं, इसलिए दास की रक्षा कीजिए। हे अयोध्या के नाथ, देवतों के नाथ, लक्ष्मीनाथ, समर्थ ! मैं शरणागत होकर यह माँगता हूँ कि रक्षा करो ॥

दस-सीस-बिनासन बीस भुजा कृत दूरि महा-महि-भूरि-रुजा ॥
रजनी-चर - बृंद - पतंग रहे । सर-पावक-तेज प्रचंड दहे ॥

दस मस्तकों और बीस भुजाओंवाले रावण के विनाश करनेवाले प्रभो ! आपने पृथ्वी के महाभार के कष्ट को दूर कर दिया, और राक्षस-समूह-रूपी जो पतिङ्ग थे उन्हें बाण-रूपी प्रचण्ड अग्नि से जलाकर भस्म कर दिया ॥

महि - मंडल - मंडन चारुतरं । धृत-सायक-चाप-निषंग - बरं ॥
मद मोह महा ममता रजनी । तमपुंज दिवाकर-तेज - अनी ॥

आप पृथ्वी-मण्डल के अति उत्तम भूषण-रूप हैं; आपने सुन्दर धनुष, बाण और तरकस को धारण किया है। मद, मोह और महाममतारूपी रात्रि के अन्धकार-समूह का नाश करने को आप सूर्य्य के प्रकाश-समूह हैं ॥

मनजात-किरात निपात किये । मृग लोग कुभोग सरेन हिये ॥
हति नाथ अनाथन्हि पाहि हरे । बिषयाबन पाँवर भूलि परे ॥

कामदेव-रूपी भील (बहेलिये) ने मनुष्य-रूपी मृगों के हृदयों में कुभोग-रूपी बाण मार कर उनको गिरा दिया है। हे नाथ ! आप उस कामदेव को नष्ट कर उन अनाथ पतितजनों की रक्षा कीजिए जो बेचारे विषय-रूपी जङ्गल में भूले पड़े हैं। (अर्थात्—कामासक्त मनुष्यों के मन विशुद्ध कर भगवद्-भक्ति की ओर लगा दीजिए) ॥

बहु रोग बियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रिनिरादर के फल ये ॥
भवसिंधु अगाध परे नर ते। पद-पंकज-प्रेमु न जे करते ॥

लोग बहुत से रोगों और वियोग के दुःखों से मरते हैं। ये आपके चरणों का निरादर करने के फल हैं। जो श्रीचरण-कमलों में प्रेम नहीं करते, वे अगाध संसार-सागर में गिरते हैं ॥

अतिदीन मलीन दुखी नितहीं। जिन्ह के पदपंकज प्रीति नहीं ॥
अवलंब भवंत कथा जिन्ह के। प्रिय संत अनंत सदा तिन्ह के ॥

आपके चरण-कमलों में जिनकी प्रीति नहीं है वे अत्यन्त दीन, मैले और नित्य ही दुखी रहते हैं। किन्तु जिनको आपकी कथा का अवलम्ब (आश्रय) है उनको सन्त और अनन्त (भगवान्) सदैव प्यारे हैं ॥

नहिं राग न लोभ न मान मदा। तिन्ह के सम बैभव वा बिपदा ॥
यहि तें तव सेवक होत मुदा। मुनि त्यागत जोग भरोस सदा ॥

उनको न तो राग (प्रेममूलक बन्धन) है और न लोभ, न मान है और न मद ही, उनके लिए सम्पत्ति या विपत्ति दोनों बराबर हैं। इसी लिए मुनि-जन योग का भरोसा सदा छोड़े रहते हैं और प्रेम से आपके सेवक हो जाते हैं ॥

करि प्रेम निरंतर नेमु लिये। पदपंकज सेवत सुद्ध हिये ॥
सम मानि निरादर आदरहीं। सब संत सुखी बिचरंति मही ॥

जो नित्य प्रेमपूर्वक, नियम धारण कर शुद्ध अन्तःकरण से आपके चरण-कमलों का सेवन करते हैं वे संत जन आदर और निरादर (मान-अपमान) को समान समझ, सुखी होकर, पृथ्वी पर (स्वेच्छा से) घूमते हैं ॥

मुनि-मानस-पंकज भृंग भजे। रघुबीर महा-रन-धीर अजे ॥
तव नाम जपामि नमामि हरी। भवरोग महा मद मान अरी ॥

हे रघुवीर, महारणधीर, अजेय! आप मुनिजनों के मनरूपी कमलों के भँवर हैं। मैं आपका भजन करता हूँ। हे हरे! मैं आपके नाम का जप करता हूँ और नमस्कार करता हूँ। आप संसार के महा रोग-मद और मान—के शत्रु हैं ॥

गुनसील कृपापरमायतनं। प्रनमामि निरंतर श्रीरमनं ॥
रघुनंद निकंदय द्वंदघनं। महिपाल बिलोकय दीनजनं ॥

हे गुणशील, दया के स्थान, श्रीरमण! मैं आपको निरन्तर प्रणाम करता हूँ। हे रघुनन्दन! आप सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का विनाश कीजिए। हे पृथ्वी के रक्षक! आप मुझ दीन जन की ओर देखिए ॥

दो०—बार बार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग।

पद-सरो-ज अनपायनी भगति सदा सतसंग ॥३२॥

हे श्रीरङ्ग! मैं बारम्बार जो वरदान माँगता हूँ, वह आप प्रसन्न होकर दीजिए। वह यही है कि अपने चरण-कमलों में अनपायनी (खण्डित न होनेवाली) भक्ति और सत्संग सदा हो दीजिए॥ ३२॥

बरनि उमापति रामगुन हरषि गये कैलास।

तब प्रभु कपिन्ह दिवाये सब बिधि सुखप्रद बास ॥३३॥

पार्वतीजी के नाथ शिवजी इस प्रकार रामचन्द्रजी के गुण वर्णन कर, प्रसन्न हो, कैलास को गये। तब फिर प्रभु रामचन्द्रजी ने वानरों को सब प्रकार से सुख देनेवाले निवास-स्थान दिलाये॥ ३३॥

चौ०—सुनु खगपति यह कथा पावनी। त्रिबिध ताप भव-भय-दावनी॥

महाराज कर सुभ अभिषेका। सुनत लहहिँ नर बिरति बिबेका॥१॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं कि हे गरुड़! यह कथा पावनी (पवित्र करनेवाली), त्रिविध ताप और संसार-सम्बन्धी भय को मिटानेवाली है। महाराज रामचन्द्रजी का शुभ राज्याभिषेक सुनते ही मनुष्य वैराग्य और विवेक को प्राप्त हो जायँगे॥ १॥

जे सकाम नर सुनहिँ जे गावहिँ। सुख संपति नाना बिधि पावहिँ॥

सुरदुर्लभ सुख करि जग माहीँ। अंतकाल रघु-पति-पुर जाहीँ॥२॥

जो मनुष्य सकाम हो (अर्थात् मन में कुछ इच्छा रख) कर इस चरित्र को सुनेंगे और गावेंगे, वे नाना प्रकार की सुख-सम्पत्ति पावेंगे और वे देवतों को भी दुष्प्राप्य सुखों को संसार में भोगकर अन्त-काल में रघुपतिपुर (साकेत-लोक) को जावेंगे॥ २॥

सुनहिँ बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिँ भगति गति संपति नई॥

खगपति रामकथा मैं बरनी। स्व-मति-बिलास त्रास-दुख-हरनी॥३॥

इस कथा को यदि विमुक्त (जैसे शुक, वामदेव, सनकादिक) सुनेंगे तो उनको भक्ति का लाभ होगा, वैराग्यवान् (संसार से घबराये हुए मुमुक्षु जन) सुनेंगे तो गति (मोक्ष) पावेंगे और विषयी (विलासप्रिय) जन सुनेंगे तो नित्य नई सम्पत्ति पावेंगे। हे गरुड़! भय और दुःख मिटानेवाली राम-कथा मैंने अपनी बुद्धि के विकास के अनुसार वर्णन की॥ ३॥

बिरति बिबेक भगति दृढकरनी। मोह नदी कहँ सुंदर तरनी॥

नित नव मंगल कोसलपुरी। हरषित रहहिँ लोग सब कुरी॥४॥

यह कथा वैराग्य, विवेक और भक्ति को दृढ़ करनेवाली तथा मोहरूपी नदी के लिए सुन्दर नाव है। कोसलपुरी (अयोध्या) में नित्य नये मंगल होते थे, सब कुलों के लोग प्रसन्न और प्रफुल्लित रहते थे ॥ ४ ॥

नित नइ प्रीति राम-पद-पंकज। सब के जिन्हहिँ नमत सिव मुनि अज॥
मंगन बहु प्रकार पहिराये। द्विजन्ह दान नाना बिधि पाये॥५॥

जिनको शिव, ब्रह्मा और मुनिजन नमते हैं उन रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में नित्य नई प्रीति सबको होती थी। (अभिषेकोत्सव समाप्त होने पर) माँगनेवालों को तरह तरह की पोशाकें पहनाई गईं, ब्राह्मणों ने नाना प्रकार के दान पाये ॥ ५ ॥

दो०—ब्रह्मानंदमगन कपि सबके प्रभुपद प्रीति।
जात न जाने दिवस तिन्ह गये मास षट बीति ॥३४॥

सब बन्दर ब्रह्मानन्द में मग्न हो गये। प्रभुजी के चरणों में उनका परम प्रेम था। उनको वहाँ निवास करते छः महीने बीत गये, पर दिन जाते किसी ने नहीं जाना ॥ ३४ ॥

चौ०—बिसरे गृह सपनेहु सुधि नाहीँ। जिमि परद्रोह संत मन माहीँ॥
तब रघुपति सब सखा बोलाये। आइ सबन्हि सादर सिर नाये॥१॥

जिस तरह सन्तों के मन में परद्रोह स्वप्न में भी नहीं होता, इसी तरह वे सब अपने घरों को भूल गये, स्वप्न में भी उन्हें घर का स्मरण नहीं हुआ। तब रघुनाथजी ने एक बार सब मित्रों को बुलाया। उन्होंने आकर रामचन्द्रजी को आदर-पूर्वक सिर झुकाये ॥ १ ॥

परमप्रीति समीप बैठारे। भगतसुखद मृदु बचन उचारे॥
तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करउँ बड़ाई॥२॥

रामचन्द्रजी ने बड़ी प्रीति से सबको पास बैठाकर भक्तों के लिए सुखदायक कोमल वचनों से कहा—तुम लोगों ने मेरी बड़ी सेवा की है, मैं मुँह पर तुम्हारी बड़ाई किस तरह करूँ ? ॥ २ ॥

तातेँ मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे॥
अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥३॥

तुम लोग मुझे अधिक प्यारे इसलिए लगे हो कि तुम लोगों ने मेरे हित के लिए अपने घर के सुख छोड़ दिये। मेरे छोटे भाई, राज्य, सम्पत्ति, जानकी, शरीर, घर, कुटुम्बी और मित्र ॥ ३ ॥

सब मम प्रिय नहिँ तुम्हहिँ समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥
सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥४॥

ये सभी चीजें मुझे तुम्हारे बराबर प्यारी नहीं हैं। मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं कभी झूठ नहीं बोलता (इसलिए यह बात बिलकुल सत्य है)। यद्यपि यह नीति है कि सेवक सभी को प्यारे होते हैं, तथापि मुझे अपने दासों पर अधिक प्रेम है[१] ॥ ४ ॥

दो०—अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ नेमु ।
सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अतिप्रेमु ॥३५॥

हे सखाओ ! अब तुम लोग अपने अपने घर जाओ, और मुझे दृढ़ नियम-पूर्वक भजना। मुझे सदा सब वस्तुओं में व्यापक, सबका हितकारी जानकर मुझ पर अत्यन्त प्रेम करना ॥३५॥

चौ०—सुनि प्रभुबचन मगन सब भये। को हम कहाँ बिसरि तन गये ॥
एकटक रहे जोरि कर आगे। सकहिं न कछु कहि अति अनुरागे ॥१॥

स्वामी रामचन्द्रजी के इन वचनों को सुनकर सब मग्न हो गये। हम कौन हैं, कहाँ हैं, इत्यादि और देह की सुधबुध वे भूल गये। वे हाथ जोड़कर टकटकी लगाये हुए सम्मुख ताकते रहे, और मारे प्रेम के कुछ कह नहीं सके ॥ १ ॥

परमप्रेमु तिन्ह कर प्रभु देखा। कहा बिबिध बिधि ग्यान बिसेखा ॥
प्रभु सनमुख कछु कहइ न पारहिं। पुनि पुनि चरनसरोज निहारहिं ॥२॥

प्रभुजी ने उन सबका अत्यन्त प्रेम देखा, तब उनको अनेक प्रकार से विशेष ज्ञानोपदेश किया। वे स्वामी के सम्मुख कुछ कहने को समर्थ नहीं हुए, किन्तु बार बार उनके चरण-कमल देखते रहे ॥ २ ॥

तब प्रभु भूषन बसन मँगाये। नाना रंग अनूप सुहाये ॥
सुग्रीवहिं प्रथमहिं पहिराये। बसन भरत निज हाथ बनाये ॥३॥

तब स्वामी रामचन्द्रजी ने अनेक रंग बिरंगे अनुपम सुन्दर भूषण और वस्त्र मँगवाये। पहले भरतजी ने अपने हाथ से बना कर (सुधार कर) सुग्रीव को वस्त्र और भूषण पहनाये ॥ ३ ॥

प्रभु प्रेरित लछिमन पहिराये। लंकापति रघुपति मन भाये ॥
अंगद बैठ रहा नहिं डोला। प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला ॥४॥

१—सेवक वह होता है जो किसी कारण-वश सेवा करे, दास वह होता है जो निष्कारण ही अपना सर्वस्व स्वामी को सौंप कर आप निर्भर हो जाय। जैसा कि प्रह्लाद ने नृसिंहजी से कहा था—'हे स्वामिन् ! मैं आपका निष्काम भक्त हूँ, आप मेरे निराधार स्वामी हैं, इसलिए हम दोनों का यह अर्थ अन्यथा नहीं, किन्तु राजा और उनके सेवकों का-सा है। "अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः। नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥ भा० स्कं० ७ अ० १०।६

फिर रामचन्द्रजी की प्रेरणा से लक्ष्मणजी ने विभीषण को वस्त्र-भूषण पहनाये, जो रामचन्द्रजी के मन में प्रिय लगे। अङ्गद बैठा रहा, अपनी जगह से हिला डुला नहीं; उसकी प्रीति को देखकर रामचन्द्रजी ने उसे नहीं बुलाया ॥ ४ ॥

दो०—जामवंत नीलादि सब पहिराये रघुनाथ।
हिय धरि रामरूप सब चले नाइ पद माथ ॥३६॥

रघुनाथजी ने जाम्बवान् और नील आदि सबको वस्त्र तथा भूषण पहना दिये। वे सब हृदय में रामचन्द्रजी का रूप धारण कर, उनके चरणों में मस्तक नवा (बिदा लेकर), चल दिये ॥ ३६ ॥

तब अंगद उठि नाइ सिरु सजल नयन कर जोरि।
अति बिनीत बोलेउ बचन मनहुँ प्रेमरस बोरि ॥३७॥

तब अङ्गद उठा। वह सिर झुकाकर, आँखों में आँसू भर कर और हाथ जोड़कर बहुत ही कोमल मानों प्रेम-रस में डुबोये हुए वचन बोला—॥ ३७ ॥

चौ०—सुनु सर्बग्य कृपा-सुख-सिंधो। दीन-दया-कर आरतबंधो ॥
मरती बार नाथ मोहि बाली। गयेउ तुम्हारेहिं कोंछे घाली ॥१॥

हे सर्वज्ञ! दया और सुख के सागर, दीनों पर दया करनेवाले, शरणागत-हितकारी! सुनिए। मरते समय बाली (मेरा पिता) मुझे आप ही के कोछ (गोद) में डाल गया था ॥ १ ॥

असरन-सरन बिरदु संभारी। मोहि जनि तजहु भगत-हित-कारी ॥
मोरे तुम्ह प्रभु गुरु पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद-जल-जाता ॥२॥

इसलिए हे भक्त-हितकारी! आप अपना अशरण-शरण (जिसका रक्षक कोई न हो, उसके रक्षक रामजी हैं) के बान को सम्हाल कर अब मुझे न त्यागिए। हे प्रभु! मेरे गुरु (बड़े), माता-पिता आप ही हैं, अब इन चरण-कमलों को छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ? ॥ २ ॥

तुम्हहिं बिचारि कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काजु मम काहा ॥
बालक ग्यान-बुद्धि-बल-हीना। राखहु सरन जानि जन दीना ॥३॥

हे नरनाथ! आप ही सोचकर कहिए, स्वामी को छोड़कर घर में मेरा क्या काम है? मुझे बालक एवं ज्ञान, बुद्धि और बल से हीन तथा दीन जन समझकर अपनी शरण में रखिए ॥३॥

नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ। पद-पंक-ज बिलोकि भव तरिहउँ ॥
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही। अब जनि नाथ कहहु गृह जाही ॥४॥

मैं घर की सभी तरह को नीच सेवा करूँगा, और श्रीचरण-कमलों का दर्शन कर संसार तर जाऊँगा। इतना कह अङ्गद "त्राहि" कहता हुआ चरणों में गिर गया और बोला—हे नाथ! अब मुझे घर जाने के लिए न कहिए॥ ४॥

दो०—अंगदबचन बिनीत सुनि रघुपति करुनासींव।

प्रभु उठाइ उर लायेउ सजल नयनराजीव॥३८॥

करुणा की सीमा प्रभु रामचन्द्रजी ने अङ्गद के विनीत वचन सुनकर उसे उठाकर हृदय से लगाया। उस समय उनके नेत्र-कमल आँसुओं से भर आये॥ ३८॥

निज उरमाल बसन मनि बालितनय पहिराइ।

बिदा कीन्हि भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ॥३९॥

फिर बालिपुत्र अङ्गद को रामचन्द्रजी ने अपने हृदय की माला, वस्त्र और मणि आदि पहना कर तथा बहुत तरह समझाकर उसको बिदा किया॥ ३९॥

चौ०—भरत अनुज-सौमित्रि-समेता। पठवन चले भगत कृतचेता॥

अंगदहृदय प्रेम नहि थोरा। फिरि फिरि चितव राम की ओरा॥१॥

भक्तों के किये हुए उपकारों को चित्त में रक्खे हुए भरतजी, शत्रुघ्न और लक्ष्मण सहित, उन्हें पहुँचाने चले। अङ्गद के हृदय में बहुत ही प्रेम था। वह फिर फिर कर रामचन्द्रजी की ओर देखने लगा॥ १॥

बार बार कर दंडप्रनामा। मन अस रहन कहहिं मोहि रामा॥

राम बिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥२॥

वह बार बार दंडवत् प्रणाम करता था और यह सोचता था कि रामचन्द्रजी मुझे रहने के लिए आज्ञा दे दें। रामचन्द्रजी का बोलना, देखना, चलना और हँसकर मिलना सब बातों को याद करके अङ्गद सोच कर रहा था॥ २॥

प्रभुरुख देखि बिनय बहु भाखी। चलेउ हृदय पद-पंक-ज राखी॥

अति आदर सब कपि पहुँचाये। भाइन्ह सहित भरत पुनि आये॥३॥

फिर वह स्वामी का रुख देखकर, बहुत विनययुक्त भाषण कर, उनके चरण-कमल हृदय में रख कर चला। भाइयों-समेत भरतजी बड़े आदर के साथ सब बन्दरों को पहुँचाकर लौट आये॥ ३॥

तब सुग्रीवँ चरन गहि नाना। भाँति बिनय कीन्ही हनुमाना॥

दिन दस करि रघु-पति-पद-सेवा। पुनि तव चरन देखिहउँ देवा॥४॥

तब हनुमान्‌जी ने सुग्रीव के पाँव पकड़कर कई तरह से विनती की और कहा—हे देव! मैं दस दिन रामचन्द्रजी की चरण-सेवा कर फिर आपके चरणों के दर्शन करूँगा ॥४॥

पुन्यपुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपाआगारा ॥
अस कहि कपि सब चले तुरंता। अंगद कहइ सुनहु हनुमंता ॥५॥

हे वायुपुत्र! तुम बड़े पुण्यवान् हो, तुम जाकर दयाघन रामचन्द्रजी की सेवा करो—ऐसा कहकर सब बन्दर तुरन्त चल दिये। फिर अङ्गद ने कहा—हे हनुमान्! सुनो ॥ ५ ॥

दो०—कहेहु दंडवत प्रभु सन तुम्हहि कहउँ कर जोरि।
बार बार रघुनायकहिँ सुरति करायेहु मोरि ॥४०॥

मैं तुमसे हाथ जोड़कर कहता हूँ कि प्रभु रामचन्द्रजी से मेरी दंडवत् कहना और उनको बार बार मेरी याद दिलाते रहना ॥ ४० ॥

अस कहि चलेउ बालिसुत फिरि आयेउ हनुमंत।
तासु प्रीति प्रभु सन कही मगन भये भगवंत ॥४१॥

ऐसा कहकर अङ्गद तो चल दिया और हनुमान्‌जी लौट आये। उन्होंने अङ्गद का वह प्रेम भगवान् रामचन्द्रजी को सुनाया, जिसे सुनकर वे प्रसन्न हुए ॥ ४१ ॥

कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि।
चित खगेस अस राम कर समुझि परइ कहु काहि ॥४२॥

हे गरुड़! सुनो। रामचन्द्रजी का चित्त जब कठोर होता है (दुष्टों को दण्डादि देने के समय) तब उसकी कठिनता वज्र से भी अधिक होती है और जब कोमल (भक्तवात्सल्यादि में) होता है तब पुष्पों से भी अधिक! कहिए, रामचन्द्रजी का इस तरह का चित्त किसकी समझ में आ सकता है? ॥ ४२ ॥

चौ०—पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा। दीन्हे भूषन बसन प्रसादा ॥
जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम बचन धर्म अनुसरेहू ॥१॥

फिर दयालु रामचन्द्रजी ने निषाद (गुह) को बुलाया, उसको प्रसादस्वरूप वस्त्र-भूषण दिये और कहा—तुम अब अपने घर जाओ, तुम मेरा स्मरण करना और मन, वचन, कर्म से धर्म का आचरण करना ॥ १ ॥

तुम्ह मम सखा भरतसम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता ॥
बचन सुनत उपजा सुख भारी। परेउ चरन भरि लोचन बारी ॥२॥

तुम मेरे सखा और भरत के समान भ्राता हो, इसलिए सदा इस पुर में आते जाते रहना। रामचन्द्रजी के इन वचनों को सुनते ही गुह को भारी सुख उत्पन्न हुआ। वह आँखों में जल भरकर रामचन्द्रजी के चरणों में गिर पड़ा ॥ २ ॥

चरननलिन उर धरि गृह आवा। प्रभुसुभाउ परिजनन्हि सुनावा॥
रघुपतिचरित देखि पुरबासी। पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी॥३॥

फिर गुह प्रभु के चरण-कमल हृदय में रखकर घर लौट आया। उसने अपने कुटुम्बियों को स्वामी का स्वभाव सुनाया। पुर के निवासी लोग रामचन्द्रजी के चरित्रों को देख देखकर बार बार कहते थे कि सुखदाई राजा रामचन्द्र जी धन्य हैं॥ ३॥

राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। रामप्रताप बिषमता खोई॥४॥

रामचन्द्रजी के राज-सिंहासन पर विराजने पर तीनों लोक आनन्दित हुए, सब शोक मिट गये। रामचन्द्रजी के प्रताप से वैषम्य भाव (विषमता, भेदभाव) दूर हो गया, इसलिए कोई किसी से वैर नहीं करता था॥ ४॥

दो०—बरनास्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥४३॥

सब लोग वैदिक मार्ग में तत्पर हो अपने अपने वर्णाश्रम के धर्म से चलते थे, इसलिए वे सदा सुख पाते थे; भय, शोक और रोग किसी को नहीं होते थे॥ ४३॥

चौ०—दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परसपर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत स्रुतिरीती॥१॥

राम-राज्य में किसी को दैहिक (शरीर से उत्पन्न होनेवाले ज्वरादि रोग), दैविक (बिजली गिरना, बूड़ा आना, आग लगना आदि) और भौतिक (साँप, बिच्छू, सिंह आदि) ताप नहीं सताते थे। सब लोग परस्पर प्रेम करते थे। वेद निर्दिष्ट रीति से सब अपने अपने धर्म पर दत्तचित्त रहते थे॥ १॥

चारिहु चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं॥
राम-भगति-रत सब नर नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥२॥

जगत में धर्म चारों चरणों (तपस्या, ज्ञान, दया और दान) से भर गया, पाप तो किसी में स्वप्न में भी नहीं था। सब स्त्री-पुरुष रामचन्द्रजी की भक्ति में तत्पर थे, इसलिए सभी परमगति के अधिकारी हो गये थे॥ २॥

अल्पमृत्यु नहिं कवनिउँ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना॥३॥

न किसी की अल्पमृत्यु (छोटी अवस्था में मर जाना) होती, न किसी को कुछ दुख-दर्द ही होता। सभी लोग सुन्दर और नीरोग रहते थे। न कोई दरिद्री था, न दुखी; न कोई ग़रीब था, न मूर्ख और न लक्षणहीन ही॥ ३॥

सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥४॥

सब पाखंड-रहित, धर्मिष्ठ एवं पुण्यवान् थे। सभी स्त्री-पुरुष चतुर और गुणवान् थे। सभी गुणों के जाननेवाले, पंडित और ज्ञानी थे; सब कृतज्ञ (किये हुए उपकार को स्मरण रखनेवाले) थे, किसी में कपट-चातुर्य न था॥ ४॥

दो०—रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिँ।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिँ॥४४॥

हे गरुड़! सुनो। रामराज्य में स्थावर-जङ्गमात्मक सारे संसार में काल (सदा-गर्मी), कर्म (दरिद्री, दुःखी होना), स्वभाव (सदा क्रोधी रहना आदि) और गुण के किये हुए दुःख किसी को नहीं होते थे॥ ४४॥

चौ०—भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला॥
भुवन अनेक रोम प्रति जासू। यह प्रभुता कछु बहुत न तासू॥१॥

सातों समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी के एक ही राजा अयोध्यानाथ रामचन्द्रजी थे। जिनके प्रत्येक रोम में अनेक ब्रह्माण्डों का नित्य निवास है, उनके लिए यह प्रभुता कुछ बहुत नहीं है॥ १॥

सो महिमा समुझत प्रभु केरी। यह बरनत हीनता घनेरी॥
सो महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिर एहि चरित तिन्हहुँ रति मानी॥२॥

प्रभु रामचन्द्रजी की उस महिमा के विचार से तो इसका वर्णन करना (कि वे सम्राट् थे) बड़ी हीनता (हतक) है। पर हे गरुड़! जिन्होंने उस महिमा को जान लिया है, उन्होंने (परम विज्ञानियों) ने फिर भी इस चरित्र (सगुण वैभव) पर स्नेह किया है॥ २॥

सोउ जाने कर फल यह लीला। कहहिं महा मुनिवर दमसीला॥
रामराज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा॥३॥

बड़े बड़े जितेन्द्रिय मुनिराज कहते हैं कि उस महामहिमा के जानने का फल इस लीला का अनुभव है। रामराज्य की सुख-सम्पत्ति का वर्णन शेष और सरस्वती भी नहीं कर सकते॥ ३॥

सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र - चरन - सेवक नरनारी॥
एक-नारि-ब्रत-रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति-हित-कारी॥४॥

रामराज्य में स्त्री-पुरुष सभी उदार (हर एक वस्तु दूसरे को देकर प्रसन्न होनेवाले), सभी परोपकारी और ब्राह्मणों के चरणों के सेवक थे। सभी पुरुष एक-नारीव्रतवाले और स्त्रियाँ मन, वचन तथा काया से पति का हित करनेवाली थीं। अर्थात् जैसे स्त्रियों के लिए पातिव्रत धर्म है वैसे ही पुरुषों के लिए भी एक-पत्नी-व्रत (अपनी ही स्त्री में सन्तुष्ट रहना) था ॥ ४ ॥

दो०—दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्यसमाज।

जितहु मनहि अस सुनिय जग रामचंद्र के राज ॥४५॥

रामचन्द्रजी के राज्य में दंड शब्द तो सन्यासियों के हाथों में सुना जाता था, अर्थात् अपने आश्रम की मर्यादा के लिए दण्ड सन्यासी हाथ में लिये रहते थे, कोई ऐसा अपराध ही नहीं करता था कि उसको दण्ड दिया जाय। भेद शब्द नचैयों के नाचने के समाज में सुना जाता था, अर्थात् ताल पर नाचने से बार बार उनमें भेद होता था और किसी में भेद था ही नहीं, सब परस्पर स्नेह-भरे रहते थे। और जीतने का शब्द मन के लिए ही संसार में सुना जाता था, अर्थात् कोई शत्रु था ही नहीं जिसे जीतने की चिन्ता हो ॥ ४५ ॥

चौ०—फूलहि फरहि सदा तरु कानन। रहहि एक सँग गज पंचानन ॥

खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परसपर प्रीति बढाई ॥१॥

जङ्गलों में वृक्ष सदा फूलते और फलते थे, हाथी और सिंह एक साथ रहते थे। पक्षियों और हिरन आदि पशुओं ने भी स्वभावजन्य वैर को छोड़कर आपस में प्रेम बढ़ाया था ॥ १ ॥

कूजहि खग मृग नाना बृंदा। अभय चरहिँ बन करहि अनंदा ॥

सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लेइ चलि मकरंदा ॥२॥

पक्षी सुन्दर शब्द करते और मृग (पशु) झुंड के झुंड निर्भय फिरते तथा आनन्द करते थे। वायु शीतल मन्द, सुगन्ध चलती थी और भौंरे गूँजते हुए पुष्प-रस लेकर चले जाते थे ॥ २ ॥

लता बिटप माँगे मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्रवहीं ॥

ससंपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृतजुग कै करनी ॥३॥

बेल और वृक्ष माँगने पर शहद (रस) टपका देते थे, गायें मन-माना दूध देती थीं, पृथ्वी सदा सस्य-सम्पन्न (हर तरह के अन्न, तृण से भरी हुई) रहती थी। त्रेतायुग में सतयुग की-सी करनी (बर्ताव) हो गई ॥ ३ ॥

प्रगटी गिरिन्ह बिबिध मनिखानी। जगदातमा भूप जग जानी ॥

सरिता सकल बहहि बर बारी। सीतल अमल स्वादु सुखकारी ॥४॥

जगत् के आत्मा रामचन्द्रजी को संसार का राजा जानकर पर्वतों ने तरह तरह की मणियों का खान प्रकट कर दीं; सब नदियों में ठंढा, निर्मल, स्वादिष्ठ, सुख करनेवाला श्रेष्ठ जल बहता था ॥ ४ ॥

सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं॥
सरसिज-संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस-दिसा-बिभागा॥५॥

समुद्र अपनी मर्यादा में रहते थे। वे अपने किनारों पर रत्न डाल देते थे, जिन्हें लोग पा जाते थे। सब तालाब कमलों से भरे हुए थे। दसों दिशायें अत्यन्त प्रसन्न थीं॥ ५॥

दो०—बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज।
माँगे बारिद देहिं जल रामचंद्र के राज॥४६॥

रामचन्द्रजी के राज्य में चन्द्रमा अपनी किरणों से पृथ्वी को भर देता था, सूर्य उतना ही तपता था जितना काम हो, मेघ माँगा हुआ (जब जितना और जैसा चाहिए) पानी बरसा देते थे॥ ४६॥

चौ०—कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे। दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हे॥
स्रुति-पथ-पालक धरम-धुरंधर। गुनातीत अरु भोगपुरंदर॥१॥

राजा रामचन्द्र ने करोड़ों अश्वमेध यज्ञ किये, ब्राह्मणों को अनेक दान दिये। वे वेद-मार्ग के संरक्षक, धर्म के धुरन्धर, गुणातीत, (जिनके गुणों का पारावार नहीं) होते हुए भी ऐश्वर्य में इन्द्र जैसे थे॥ १॥

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभाखानि सुसील बिनीता॥
जानति कृपा-सिंधु-प्रभुताई। सेवति चरनकमल मन लाई॥२॥

शोभा की खान, सुस्वभाव, विनय-युक्त सीताजी सदा पति के अनुकूल रहती थीं। वे दया-सागर रामचन्द्रजी की प्रभुता (सामर्थ्य) को जानती थीं और मन लगाकर उनके चरणों की सेवा करती थीं॥ २॥

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सकल सेवाबिधि गुनी॥
निज कर गृहपरिचरजा करई। राम-चंद्र-आयसु अनुसरई॥३॥

यद्यपि घर में बहुत सी दास-दासियाँ थीं जो सब सेवा की विधि को सब प्रकार से जाननेवाली थीं, तथापि सीताजी अपने हाथ से घर का काम-काज करती और श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा पालन करती थीं॥ ३॥

जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवाबिधि जानइ॥
कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं॥४॥
उमा-रमा ब्रह्मानि-बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥५॥

श्रीसीताजी वही काम करती थीं; जिस तरह दयासागर रामचन्द्रजी प्रसन्न रहें, वे सेवा की विधि को जानती थीं। वे घर में कौसल्या आदि सभी सासुओं की सेवा करती थीं। न तो उन्हें अभिमान था और न मद (ला-परवाही) ही ॥ ४ ॥ श्री सीताजी पार्वती, लक्ष्मी और ब्रह्माणी देवियों से नमस्कृत (मान्य) हैं और जगत् की माता एवं सदा प्रशंसनीया हैं ॥ ५ ॥

दो०—जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ ।
राम-पदारबिंद-रति करति सुभावहि खोइ ॥४७॥

जिनके कृपा-कटाक्ष को देवता चाहते हैं पर वे ध्यान नहीं देतीं वे ही (लक्ष्मीरूप) सीताजी अपने स्वभाव (चंचलता) को छोड़कर (निश्चल भाव से) रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में प्रीति करती हैं ॥ ४७ ॥

चौ०—सेवहि सानुकूल सब भाई । राम-चरन-रति अति अधिकाई ॥
प्रभु-मुख-कमल बिलोकत रहहीं । कबहुँ कृपाल हमहि कछु कहहीं ॥१॥

सब भाई (लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न) अनुकूल होकर सेवा करते हैं, रामचन्द्रजी के चरणों में उनका प्रेम अधिकाधिक बढ़ता जाता है। वे सब प्रभुजी के कमल-समान श्रीमुख की ओर देखते रहते हैं कि दयालु रामचन्द्रजी कभी कुछ आज्ञा हमें भी करें ! ॥ १ ॥

राम करहि भ्रातन्ह पर प्रीती । नाना भाँति सिखावहि नीती ॥
हरषित रहहि नगर के लोगा । करहि सकल सुरदुर्लभ भोगा ॥२॥

रामचन्द्रजी भाइयों पर प्रेम करते हैं, उनको नाना प्रकार की नीति सिखाते हैं। नगर के सब लोग प्रसन्न रहते हैं और ऐसे सुखों का भोग करते हैं जो देवतों को भी दुर्लभ हैं ॥ २ ॥

अहनिसि बिधिहि मनावत रहहीं । श्री-रघुबीर-चरन-रति चहहीं ॥
दुइ सुत सुंदर सीता जाये । लव कुस बेद पुरानन्हि गाये ॥३॥

वे लोग दिन रात विधाता को मनाते रहते हैं, उनसे श्रीरघुवीर के चरणों में प्रेम चाहते हैं। सीताजी ने लव और कुश नाम के दो पुत्र उत्पन्न किये, जिनका वर्णन वेद और पुराणों ने किया है ॥ ३ ॥

दोउ बिजई बिनई गुनमंदिर । हरि-प्रति-बिंब मनहुँ अति सुंदर ॥
दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे । भये रूप गुन सील घनेरे ॥४॥

वे दोनों पुत्र विनयी, विजय-सम्पन्न और गुणों के स्थान थे और इतने अत्यन्त सुन्दर थे, मानो विष्णु के प्रतिबिम्ब (मूर्ति या चित्र) हों। सभी भ्राताओं के ऐसे दो दो पुत्र हुए जो रूप, गुण, और शील से भरे पूरे थे ॥ ४ ॥

दो०—ग्यान-गिरा-गोतीत अज माया-मन-गुन-पार ।
सोइ सच्चिदानंदघन कर नरचरित उदार ॥४८॥

जो परमात्मा ज्ञान, वाणी और इन्द्रियों के परे हैं, (अर्थात् ज्ञान जहाँ तक न पहुँच सके, वाणी से जिसका वर्णन न हो सके और इन्द्रियों से जिसके समीप पहुँचा न जाय); जो अजन्मा (पराधीन होकर जन्म न लेनेवाला, स्वतन्त्र प्रकट होनेवाला), माया, मन और गुणों से परे है[1] वही सत्, चित्, आनन्द[2] घन भगवान् सुंदर मनुष्य-चरित्र कर रहे हैं ॥ ४८ ॥

चौ०—प्रातकाल सरजू करि मज्जन । बैठहिँ सभा संग द्विज सज्जन ॥
बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिँ । सुनहिँ राम जद्यपि सब जानहिँ ॥ १ ॥

रामचन्द्रजी प्रातःकाल सरयूजी में स्नान कर सभा में ब्राह्मणों और सज्जनों के साथ बैठते हैं। वसिष्ठजी वेद और पुराणों का वर्णन (कथा) करते हैं, रामचन्द्रजी यद्यपि सब जानते हैं तो भी वे उन्हें सुनते हैं ॥ १ ॥

अनुजन्ह संजुत भोजन करहीँ । देखि सकल जननी सुख भरहीँ ॥
भरत शत्रुहन दूनउ भाई । सहित पवनसुत उपवन जाई ॥२॥

वे तीनों भाइयों को साथ में लेकर भोजन करते हैं; उनको देखकर मातायें सुख से भर जाती हैं। भरत और शत्रुघ्न दोनों भाई हनुमान्जी समेत बगीचे में जाकर ॥ २ ॥

बूझहिँ बैठि राम-गुन गाहा । कह हनुमान सुमति अवगाहा ॥
सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिँ । बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिँ ॥ ३ ॥

एक जगह बैठकर रामचन्द्रजी के गुण-गणों को पूछते हैं, और सुबुद्धि से उनमें अवगाहन कर हनुमान्जी उनका वर्णन करते हैं। रामचन्द्रजी के निर्मल गुण सुनकर वे बड़े प्रसन्न होते हैं और विनती करके बार बार उक्त गुणों का वर्णन कराते हैं ॥ ३ ॥

सब के गृह गृह होहिँ पुराना । रामचरित पावन बिधि नाना ॥
नर अरु नारि राम-गुन-गावहिँ । करहिँ दिवस निसि जात न जानहिँ ॥४॥

नगर में सब लोगों के घर घर पुराणों की कथाएँ होती हैं; परम पवित्रकारी रामचरित्र अनेक प्रकार से गाया जाता है। क्या स्त्री और क्या पुरुष, सभी श्रीरामचन्द्र के गुण गाते हैं और दिन रात का बीतना उनको मालूम नहीं होता ॥ ४ ॥

१—वेद में इसी अर्थ की प्रतिपादिका श्रुति है कि—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"।
२—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" यह श्रुति है।

दो०—अवध-पुरी-बासिन्ह कर सुख संपदा समाज ।
सहस सेष नहिँ कहि सकहिँ जहँ नृप राम बिराज ॥४९॥

जहाँ राजा रामचन्द्रजी विराजमान हैं उस अयोध्यापुरी के निवासियों की सुखसम्पत्ति और समाज का वर्णन हज़ार शेषजी भी नहीं कर सकते ॥ ४९ ॥

चौ०—नारदादि सनकादि मुनीसा । दरसन लागि कोसलाधीसा ॥
दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिँ । देखि नगर बिराग बिसरावहिं ॥१॥

कोसलाधीश रामचन्द्रजी के दर्शन के लिए नारद और सनकादिक सब मुनिराज रोज़ रोज़ अयोध्या में आते हैं और नगर को देखकर वैराग्य को भुला देते हैं। अर्थात् यद्यपि वे सब छोड़ विरक्त हो गये हैं, तो भी वे अयोध्या के दर्शन में अनुरक्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

जातरूप - मनि - रचित अटारी । नाना रंग रुचिर गच ढारी ॥
पुर चहुँ पास कोट अति सुंदर । रचे कँगूरा रंग रंग बर ॥२॥

अयोध्यापुरी में सोने और मणियों से जड़ी हुई अटारियाँ थीं, अनेक रंगों से मनोहर छत बनी थीं। नगर के चारों ओर बड़ा सुन्दर कोट (दीवार, परकोटा) बना था, जिस पर कँगूरे रंग बिरंगे बनाये गये थे ॥ २ ॥

नवग्रह निकर अनीक बनाई । जनु घेरी अमरावति आई ॥
महि बहु रंग रचित गच काँचा । जो बिलोकि मुनिबर मनु नाँचा ॥३॥

वह दृश्य ऐसा मालूम होता था मानो नवग्रहों के समूह ने फ़ौज बनाकर अमरावती (इन्द्र की पुरी) घेर रक्खी हो। फ़र्श पर बहुत तरह के रंगों के शीशों की पच्चीकारी थी, जिसे देखकर मुनीश्वरों के मन मोहित हो जाते थे ॥ ३ ॥

धवल धाम ऊपर नभ चुंबत । कलस मनहुँ रबि-ससि-दुति निंदत ॥
बहु मनिरचित झरोखा भ्राजहिँ । गृह गृह प्रति मनिदीप बिराजहिँ ॥४॥

सफ़ेद मकानों की चोटियाँ मानों आकाश को चूमती थीं और उनके ऊपर लगे हुए कलश मानों अपने प्रकाश से सूर्य-चन्द्र की कान्ति को मात करते थे। अनेक प्रकार की मणियों से झरोखे बने थे और प्रत्येक घर में मणियों के दीपक शोभित होते थे ॥ ४ ॥

छंद—मनिदीप राजहिँ भवन भ्राजहिँ देहरी बिद्रुम रची ।
मनिखंभ भीति बिरंचि बिरची कनकमनि मरकत खची ॥
सुंदर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे ।
प्रतिद्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि खचे ॥

घरों में मणियों के दीपक प्रकाशित हैं, और मूँगों की बनाई हुई देहलियाँ शोभित हो रही हैं। मणियों के खम्भे हैं, पन्ने से खचित सोने की दीवारें इतनी बढ़िया हैं मानो ब्रह्मा की रची हैं। सुन्दर मनोहर और लंबे चौड़े घर हैं जिनमें सुन्दर स्फटिक मणियों के स्वच्छ आँगन बने हैं। हर एक दरवाज़े पर सोने के किवाड़ हैं और उनमें हीरे जड़े गये हैं॥

दो०—चारु चित्रसाला गृह गृह प्रति लिखे बनाइ।
रामचरित जे निरखत मुनि मन लेहिँ चोराइ॥५०॥

घर घर सुन्दर चित्रशालायें सवारकर लिखी हुई हैं जिनमें रामचन्द्रजी के चरित्र (घटनायें) अङ्कित हैं। वे देखनेवाले मुनियों (मननशील, किसी बात को न चाहनेवाले) तक के मन को चुरा लेते हैं। अर्थात् मुनि-जन लुब्ध होकर चित्र देखते ही रह जाते हैं॥ ५०॥

चौ०—सुमनबाटिका सबहि लगाई। बिबिध भाँति करि जतन बनाई॥
लता ललित बहु जाति सुहाई। फूलहिँ सदा बसंत की नाईं॥१॥

सब लोगों ने प्रयत्न कर अनेक प्रकार की फुलवारियाँ लगाई हैं। उनमें कई जाति की सुहावनी बेलें लगाई हैं, जो सदा वसन्त ऋतु के समान फूलती हैं॥ १॥

गुंजत मधुकर मुखर मनोहर। मारुत त्रिबिध सदा बह सुंदर॥
नाना खग बालकन्हि जिआये। बोलत मधुर उडात सुहाये॥२॥

उनमें भौंरे सुरीली मनोहर ध्वनि से गूँजा करते हैं; तीन प्रकार की (शीतल मन्द, सुगन्ध) सुन्दर पवन सदा चलती है। बालकों ने अनेक पक्षियों को पाला है, जो मीठी बोली बोलते और उड़ते हुए शोभित होते हैं॥ २॥

मोर हंस सारस पारावत। भवनन्हि पर सोभा अति पावत॥
जहँ तहँ निरखहिं निज परिछाहीं। बहु बिधि कूजहिं नृत्य कराहीं॥३॥

घरों के ऊपर मोर, हंस, सारस और कबूतर बड़ी ही शोभा पा रहे हैं। वे जहाँ तहाँ (शीशों की दीवारों में, छतों में) अपनी परछाईं देखकर बहुत तरह की बोलियाँ बोलते और नाचते हैं॥ ३॥

सुक सारिका पढावहिँ बालक। कहहु राम रघुपति जनपालक॥
राजदुआर सकल बिधि चारू। बीथी चौहट रुचिर बजारू॥४॥

बालक तोतों और मैनाओं को पढ़ाते और कहते हैं कि राम कहो, रघुपति कहो, जनपालक कहो। राजद्वार सब तरह सुन्दर बना हुआ है। गलियाँ, चौराहे और बाज़ार सभी सुन्दर बने हैं॥ ४॥

छंद—बाजार चारु न बनइ बरनत बस्तु बिनु गथ पाइये।
जहँ भूप रमानिवास तहँ की संपदा किमि गाइये॥
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर से।
सब सुखी सब सच्चरित सुंदर नारि नर सिसु जरठ जे॥

वहाँ के बाज़ारों की सुन्दरता वर्णन नहीं करते बनती। वहाँ बिना दाम दिये सब चीज़ें मिल जाती हैं। जहाँ लक्ष्मी-निवास भगवान राजा हों, वहाँ की सम्पत्ति की बड़ाई किस तरह की जाय? अनेक बजाज़, सराफ़ और व्यापारी बैठे हैं, जो कुबेर से लगते हैं। क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, जो भी हैं वे सभी सुखी, सच्चरित्र (अच्छी चाल-चलनेवाले) और सुन्दर हैं॥

दो०—उत्तर दिसि सरजू बह निर्मल जल गंभीर।
बाँधे घाट मनोहर स्वल्प पंक नहिं तीर॥५१॥

पुर से उत्तर दिशा में निर्मल जलवाली, गहरी सरयू नदी बह रही है, जिसके किनारे मनोहर घाट बँधे हैं, और जिसके किनारों पर ज़रा भी कीचड़ नहीं है॥ ५१॥

चौ०—दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पिअहिं बाजि-गज-ठाटा॥
पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं अस्नाना॥१॥

वहाँ से दूर खुली जगह में वह घाट है, जहाँ घोड़ों और हाथियों के झुंड जल पीने आया करते हैं। अत्यन्त मनोहर अनेक पनघट हैं, जहाँ पुरुष स्नान नहीं करते (क्योंकि उनमें स्त्रियाँ पानी लेने जाती हैं)॥ १॥

राजघाट सब बिधि सुंदर बर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर॥
तीर तीर देवन्ह के मंदिर। चहुँ दिसि जिन्ह के उपबन सुंदर॥२॥

राजघाट सब तरह सुन्दर और श्रेष्ठ है, जहाँ चारों वर्ण के मनुष्य स्नान करते हैं। नदी-किनारे अनेक देव-मन्दिर हैं, जिनके चारों ओर सुन्दर बगीचे हैं॥ २॥

कहुँ कहुँ सरितातीर उदासी। बसहिँ ग्यानरत मुनि संन्यासी॥
तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृंद बृंद बहु मुनिन्ह लगाई॥३॥

सरयू के किनारे कहीं कहीं उदासीन (विरक्त), ज्ञाननिष्ठ, मुनि-जन और संन्यासी निवास करते हैं। किनारे किनारे, बहुत से मुनियों की लगाई हुई, तुलसी के झुण्ड के झुण्ड सुहावने लगते हैं॥ ३॥

पुरसोभा कछु बरनि न जाई। बाहिर नगर परम रुचिराई॥
देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन बापिका तडागा॥४॥

नगर की शोभा कुछ वर्णन नहीं करते बनती। नगर के बाहर भी बड़ी सुन्दरता है। अयोध्यापुरी के दर्शन करने से सब पाप नष्ट हो जाते हैं। उसमें बाग़-बग़ीचे, बावलियाँ और तालाब हैं॥४॥

छंद—बापी तडाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं।
सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं॥
बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिँ मधुप गुंजारहीं।
आराम रम्य पिकादि-खग-रव जनु पथिक हंकारहीं॥

मनोहर और लंबी चौड़ी बावलियाँ, तालाब और अनुपम कुएँ शोभित हो रहे हैं, जिनमें सुन्दर सीढ़ियाँ और निर्मल जल है, जिन्हें देखकर देवता और मुनि भी मोहित हो जाते हैं। उनमें रंग-बिरंगे कमल खिल रहे हैं, अनेक पक्षी चहचहा रहे और भौंरे गूँज रहे हैं, मानों उन मनोहर बग़ीचों में रहनेवाले कोयल आदि पक्षियों के शब्द रास्ते से जानेवालों (राहगीरों, मुसाफ़िरों) को बुला रहे हैं (आइए, विश्राम कर लीजिए)॥

दो०—रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ।
अनिमादिक-सुख-संपदा रही अवध सब छाइ॥५२॥

जहाँ के राजा लक्ष्मीपति भगवान् हैं, क्या उस नगर का वर्णन किया जा सकता है? इतना ही कह देना बहुत है कि अणिमा[1] आदिक आठों सिद्धियाँ और सुख-सम्पत्ति उस अयोध्यापुरी में छा रही हैं॥५२॥

चौ०—जहँ तहँ नर रघु-पति-गुन गावहिँ। बैठि परसपर इहइ सिखावहिँ॥
भजहु प्रनत-प्रति-पालक रामहि। सोभा-सील रूप-गुन-धामहि॥१॥

मनुष्य जहाँ देखो वहाँ रघुनाथजी के गुण गाते हैं। वे बैठकर आपस में यही शिक्षा देते हैं कि प्रणत (नम्र) जनों के रक्षक उन रामचन्द्रजी का भजन करो जो शोभा, शील, रूप और गुणों के स्थान हैं॥१॥

जल-ज-बिलोचन स्यामल गातहिँ। पलक नयन इव सेवकत्रातहिँ॥
धृत-सर-रुचिर-चाँप-तूनीरहि। संत-कंज-बन-रबि रन-धीरहि॥२॥

१—देखो अयोध्या-काण्ड दोहा २१४ की चौथी चौपाई और उसका नोट।

जिनके कमल-समान विशाल नेत्र और घनश्याम शरीर है, और जैसे पलक नेत्रों की रक्षा करते हैं वैसे जो सेवका की रक्षा करते हैं; जो सुन्दर धनुष, बाण और तरकस को धारण करनेवाले, सन्त (महात्मा) रूपी कमल-वन का प्रफुल्लित करनेवाले सूर्य्य और रण में धार हैं ॥ २ ॥

काल कराल ब्याल खग-राजहिँ । नमहु राम अकाम ममता जहिँ ॥
लोभ-मोह-मृग-जूथ-किरातहि । मनसि-ज-करि-हरि जन-सुख-दातहि ॥ ३ ॥

जो काल-रूपी भयङ्कर सर्प के लिए गरुड़रूप हैं। उन रामचन्द्रजी को निष्काम होकर नमस्कार करो, ममता को छोड़ दो। जो रामचन्द्रजी लोभ-मोह-रूपी हरिणों के झुंड के लिए किरात (शिकारी भील)-रूपी हैं, जो कामदेव-रूपी हाथी के लिए सिंह और भक्तों को सुख देनेवाले हैं ॥ ३ ॥

संसय-सोक-निबिड-तम-भानुहि । दनुज-गहन-घन-दहन-कृसानुहिँ ॥
जनक-सुता-समेत रघुबीरहिँ । कस न भजहु भंजन भवभीरहि ॥ ४ ॥

जो सन्देह और सोचरूपी घोर अन्धकार के लिए सूर्य-रूप हैं, जो दैत्यरूपी घने जङ्गल के लिए आग-रूप हैं, और जो संसार-सम्बन्धी भय के मिटानेवाले हैं, ऐसे जनक-नन्दिनीजी-समेत रघुवीर का भजन क्यों नहीं करते ? ॥ ४ ॥

बहु-बासना-मसक-हिम-रासिहि । सदा एकरस अज अबिनासिहिँ ॥
मुनिरंजन भंजन महिभारहि । तुलसिदास के प्रभुहि उदारहि ॥ ५ ॥

जो नाना प्रकार की वासनारूपी मच्छड़ों के लिए बर्फ़ का ढेर हैं, जो सदा एकरस, अजन्मा और अविनाशी (जिनका कभी नाश न हो) हैं, एवं जो मुनियों को प्रसन्न करनेवाले, पृथ्वी का भार उतारनेवाले और उदार तथा तुलसीदास के स्वामी[1] हैं उनको भजो ॥ ५ ॥

दो०—एहि बिधि नगर-नारि-नर करहि राम-गुन-गान ।
सानुकूल सब पर रहहिँ संतत कृपानिधान ॥ ५३ ॥

इस तरह नगर के स्त्री-पुरुष रामचन्द्रजी के गुणगान करते हैं और कृपानिधान रामचन्द्रजी सदा सब पर प्रसन्न रहते हैं ॥ ५३ ॥

१—एक बात लोगों में प्रसिद्ध है कि एक ब्राह्मण गङ्गाजी उतरने की इच्छा से तुलसीदासजी के पास गया। उन्होंने उसकी प्रार्थना पर दया कर रामनाम लिखकर एक डिबिया में रखकर उसको दिया कि इसको लेकर गंगा उतर जा। वह उसको लिये हुए जब बीच धारा में पहुँचा तो सन्देह-वश डिबिया खोल रामनाम देखकर बोला कि यह तो। मैं भी जानता था। यह सोचते ही वह लगा डूबने! तब तुलसीदासजी की दृष्टि उस पर गई। उन्होंने कहा कि अरे मूर्ख! 'तुलसीदास के राम, मेरी रक्षा करो' ऐसा कह। तब वह उसी तरह कहकर पार हो गया।

चौ०—जब तें रामप्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतेन्ह मन सोका॥१॥

हे गरुड़! जब से अत्यन्त प्रबल रामप्रताप-रूपी सूर्य का उदय हुआ, तब से तीनों लोकों में उसका प्रकाश भर गया। इससे बहुतेरों को सुख और बहुतेरों के मन में सोच रहा करता था॥ १॥

जिन्हहिँ सोक ते कहउँ बखानी। प्रथम अबिद्यानिसा नसानी॥
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम-क्रोध-कैरव सकुचाने॥२॥

जिनको सोच रहता था उनका मैं कथन करता हूँ। पहले तो अविद्या (अज्ञान)-रूपी रात नष्ट हो गई। इससे पापरूपी उल्लू जहाँ तहाँ छिप गये, क्योंकि सूर्य के उदय होने पर उल्लू को नहीं दीखता; काम-क्रोध-रूपी कुमुद सकुचा गये॥ २॥

बिबिध-कर्म-गुन-काल-सुभाऊ। ए चकोर सुख लहहिँ न काऊ॥
मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा॥३॥

नाना प्रकार के कर्म, गुण, काल और स्वभाव ये चकोर-रूपी थे, इसलिए जैसे सूर्योदय होने पर चकोर दुखी होता है वैसे वे भी दुखी थे, कोई भी सुख नहीं पाता था। (क्योंकि रामप्रताप के आगे किसी की कुछ चलती नहीं थी।) मत्सर, अभिमान, मोह और मद-रूपी चोरों का कोई हुनर किसी ओर नहीं चलता था॥ ३॥

धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना। ए पंकज बिकसे बिधि नाना॥
सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ए कोक अनेका॥४॥

राम-प्रताप-रूपी सूर्योदय से धर्म-रूपी तालाब में ज्ञान-विज्ञान-रूपी अनेक प्रकार के कमल खिल उठे। सुख, संतोष, वैराग्य और विचार-रूपी अनेक चकवे शोक-रहित हो गये॥ ४॥

दो०—यह प्रतापरबि जा के उर जब करइ प्रकास।
पछिले बाढ़हिँ प्रथम जे कहे ते पावहिँ नास॥५४॥

यह रामप्रताप-रूपी सूर्य जिसके हृदय में जब प्रकाश कर दे तब पहले कहे हुए (अघ आदि) दोष नष्ट हो जाते और पीछे कहे हुए (ज्ञान विज्ञान आदि) गुण बढ़ जाते हैं॥ ५४॥

चौ०—भ्रातन्ह सहित राम एक बारा। संग परमप्रिय पवनकुमारा॥
सुंदर उपबन देखन गये। सब तरु कुसुमित पल्लव नये॥१॥

एक बार रामचन्द्रजी भाइयों-समेत, परम प्यारे हनुमानजी को साथ लिये हुए, सुन्दर बगीचा देखने के लिए गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि सब वृक्ष फूले हुए और उनमें नये नये पत्ते आ गये हैं॥ १॥

जानि समय सनकादिक आये। तेजपुंज गुन सील सुहाये॥
ब्रह्मानंद सदा लयलीना। देखत बालक बहुकालीना॥२॥

वहाँ समय जानकर तेज:पुंज, गुण-शीलवाले, सनकादिक ऋषि आये। ये ऋषि सदा ब्रह्मानन्द में लवलीन रहते हैं और देखने में बालक (५ वर्ष के) हैं, पर वास्तव में बहुत काल के पुराने हैं॥२॥

रूप धरे जनु चारिउ बेदा। समदरसी मुनि बिगतबिभेदा॥
आसा-बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघु-पति-चरित होइ तहँ सुनहीं॥३॥

समदर्शी (शत्रु मित्र आदि को समान देखनेवाले), और भेद-भाव-रहित[1] (व्रत, तप, शील रूप आदि में चारों एक से) वे सनकादि मुनि ऐसे मालूम होते थे, मानों चारों वेद शरीर धारण करके आये हों। दिशा ही तो उनके वस्त्र थे अर्थात् वे दिगम्बर (नग्न) थे; उनको यही व्यसन था कि जहाँ रामचरित्र हो वहाँ वे उसको सुनते थे॥३॥

तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिबर ग्यानी॥
रामकथा मुनि बहु बिधि बरनी। ग्यान-जोनि पावक जिमि अरनी॥४॥

शिवजी कहते हैं कि हे पार्वति! जहाँ ज्ञानवान् ऋषि-श्रेष्ठ अगस्त्यजी हैं वहाँ (उनके आश्रम में) सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार गये थे और वहीं उन्होंने निवास किया था। वहाँ अगस्त्यजी ने अनेक प्रकार से राम-कथा वर्णन की। वह कथा ज्ञान उत्पन्न करने की मूल (कारण) है, जैसे आग उत्पन्न होने के लिए अरणि की लकड़ी है। (यों तो आग सभी काष्ठ में है, पर अरणि में सबसे ज्यादा है, पुराने जमाने में वनवासी मुनि अरणि ही को रगड़कर आग बनाते और उसी में यज्ञ करते थे)॥४॥

दो०—देखि राम मुनि आवत हरषि दंडवत कीन्ह।
स्वागत पूछि पीतपट प्रभु बैठन कहँ दीन्ह॥५५॥

रामचन्द्रजी ने मुनियों को आते देखकर प्रसन्न हो, उनको दंडवत प्रणाम किया और फिर उनसे स्वागत-सम्बन्धी प्रश्न कर, उनके बैठने के लिए, अपना पीताम्बर[2] बिछा दिया॥५५॥

चौ०—कीन्ह दंडवत तीनिउँ भाई। सहित पवनसुत सुख अधिकाई॥
मुनि रघु-पति-छबि अतुल बिलोकी। भये मगन मन सके न रोकी॥१॥

१—श्रीमद्भागवत में समदर्शी, और विगत-भेद दोनों लक्षण सनकादिक के बताये हैं—"तुल्य-व्रततप:शीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमा:।" भा० स्क० १० अ० ८७।

२—उपवन में अन्य आसन दूर होने के कारण और सनकादि पर अति आदर प्रकट करने के लिए पीताम्बर बिछाया।

फिर वायुपुत्र (हनुमान) सहित तीनों भाइयों (लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न) ने बड़े आनन्द से उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। वे मुनि रघुनाथजी की अतुल कान्ति देखकर इतने प्रसन्न हुए कि अपने चित्त को रोक न सके अर्थात्—वे यद्यपि जितेन्द्रिय थे तो भी रामदर्शन में मन को वश में न रख सके, वह रामचन्द्रजी में अनुरक्त हो गया ॥ १ ॥

स्यामलगात सरो-रुह-लोचन। सुंदरता-मंदिर भव-मोचन ॥
एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरे सीस नवावहिं ॥२॥

सुन्दरता के स्थान, संसार-बन्धन से छुड़ानेवाले रामचन्द्रजी के श्याम-शरीर और कमल-दल-समान नेत्रों को वे आँखों को पलक न बन्द कर, टकटकी लगाये, देख रहे हैं और रामचन्द्रजी उन मुनियों को हाथ जोड़कर मस्तक नवा रहे हैं ॥ २ ॥

तिन्ह कै दसा देखि रघुबीरा। स्रवत नयन जल पुलक सरीरा ॥
कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे। परम मनोहर बचन उचारे ॥३॥

प्रभु रघुवीर ने मुनियों की दशा देखी कि उनके नेत्रों से जल बह रहा है और शरीर पुलकित हो रहा है; तब उन्होंने हाथ पकड़कर उन मुनिवरों को बैठाया और अत्यन्त सुन्दर वचन उच्चारण किये—॥ ३ ॥

आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरे दरस जाहिं अघ खीसा ॥
बडे भाग पाइय सतसंगा। बिनहिं प्रयास होइ भवभंगा ॥४॥

हे मुनीश्वरो! सुनिए। मैं आज धन्य हूँ। आपके दर्शन से पापपुञ्ज नष्ट हो जाते हैं। सत्सङ्ग बड़े भाग्य से प्राप्त होता है, जिससे बिना ही परिश्रम संसार (जन्म-मरण का बन्धन) नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

दो०—संत-संग अपवर्ग कर कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कबि कोबिद स्रुति पुरान सदग्रंथ ॥५६॥

सन्त, विद्वान्, चतुर, वेद और पुराण सभी अच्छे ग्रन्थ कहते हैं कि सन्तों की सङ्गति तो मोक्ष का मार्ग है और कामी पुरुषों का सङ्ग नरक का मार्ग है ॥ ५६ ॥

चौ०—सुनि प्रभुबचन हरषि मुनि चारी। पुलकित तनु अस्तुति अनुसारी ॥
जय भगवंत अनंत अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय ॥१॥

प्रभुजी के वचन सुनकर चारों मुनि प्रसन्न होकर, पुलकित-शरीर हो, स्तुति करने लगे—हे भगवन्! आपको जय हो, आप अनन्त (जिनके नाम-गुणादिकों की समाप्ति न हो), निर्दोष, निष्पाप, अनेक रूप[1] धारण करनेवाले, एक और करुणा के रूप हैं ॥ १ ॥

१—"अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे"। भारत० अनु० प०।

जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुखमंदिर सुंदर अति नागर॥
जय इंदिरारमन जय भूधर। अनुपम अज अनादि सोभाकर॥२॥

हे निर्गुण! आपकी जय हो और हे गुणों के समुद्र! आपकी जय हो, जय हो; आप सुख के स्थान, सुन्दर और अत्यन्त चतुर हैं। हे लक्ष्मीरमण! पृथ्वी के संरक्षक! आपकी जय हो। आप अनुपम हैं, अज हैं, अनादि हैं और शोभा की खान हैं॥ २॥

ग्याननिधान अमान मानप्रद। पावन सुजस पुरान बेद बद॥
तग्य कृतग्य अग्यताभंजन। नाम अनेक अनाम निरंजन॥३॥

आप ज्ञान के भाण्डार, अभिमान-रहित और प्रतिष्ठा देनेवाले हैं; आपके पवित्र यश का वर्णन वेद और पुराण करते हैं। आप तज्ञ अर्थात् परम तत्त्व को जाननेवाले सर्वज्ञ, कृतज्ञ, (किसी के थोड़े से भी किये उपकार को सदा स्मरण रखनेवाले) और अज्ञान के नाश करनेवाले हैं। आपके अनेक नाम हैं, तो भी आप बिना नामवाले और निरञ्जन (जिसमें माया का संसर्ग छू भी न गया हो) हैं॥ ३॥

सर्ब सर्बगत सर्बउरालय। बससि सदा हम कहुँ परिपालय॥
द्वंद बिपति भवफंद बिभंजय। हृदि बसि राम काममद गंजय॥४॥

हे राम! आप सब हैं, सर्वव्यापक हैं, सबके हृदय के सदा निवासी (अन्तर्यामी) हैं, आप हमारी रक्षा करें। आप हमारी सुख-दुःखादि द्वन्द्व को विपत्ति और संसार का फन्दा काट दीजिए और हमारे हृदय में विराजमान होकर काम-मद को नष्ट कर दीजिए॥ ४॥

दो०—परमानंद कृपायतन मन-परि-पूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम॥५७॥

हे श्रीराम! हे परमानन्द! हे दया के धाम! हे मन की कामनाओं के पूर्ण करनेवाले! आप हमें खण्डित न होनेवाली अपनी भक्ति दीजिए॥ ५७॥

चौ०—देहु भगति रघुपति अति पावनि। त्रिबिध-ताप भव-दाप-नसावनि॥
प्रनत-काम-सुर-धेनु कलपतरु। होइ प्रसन्न दीजइ प्रभु यह बरु॥१॥

हे रघुपते! आप हमें अत्यन्त पावनी, तीनों प्रकार के तापों और संसार के अभिमान को छुड़ानेवाली भक्ति दीजिए। हे प्रणत (शरणागत) जनों के कामधेनु, कल्पवृक्ष! हे प्रभो! आप प्रसन्न होकर यह वर दीजिए॥ १॥

भव-बारिधि-कुंभ-ज रघुनायक। सेवतसुलभ सकल-सुख-दायक॥
मन-संभव-दारुन-दुख दारय। दीनबंधु समता बिस्तारय॥२॥

हे संसारबन्धनरूपी समुद्र के सुखानेवाले अगस्त्य मुनि, रघुकुल के नायक (प्रधान), सेवकों के लिए सुलभ, सभी को सुख देनेवाले! आप हमारे मानसिक घोर दुःखों को नष्ट कर दीजिए। हे दीनबन्धो! आप समता को फैलाइए। (वैर और भेद मिटा दीजिए)॥ २॥

आस-त्रास-इरिषादि-निवारक। बिनय-बिबेक-बिरति-बिस्तारक॥
भूप-मौलि-मनि मंडन धरनी। देहि भगति संसृति-सरि-तरनी॥३॥

आशा, ईर्ष्या, भय आदि के नाश करनेवाले! विनय, विवेक और वैराग्य के विस्तार करनेवाले! राजाओं के मुकुटमणि, पृथ्वी के भूषण-रूप! आप हमें संसार-रूपी नदी से पार होने के लिए नौका रूपी अपनी भक्ति दीजिए॥ ३॥

मुनि-मन-मानस-हंस निरंतर। चरनकमल बंदित अज शंकर॥
रघु-कुल-केतु सेतु स्रुतिरच्छक। काल-कर्म-सुभाव-गुन-भच्छक॥४॥
तारन तरन हरन सब दूषन। तुलसिदास-प्रभु त्रि-भुवन-भूषन॥५॥

हे मुनि-जनों के मन-रूपी मानसरोवर के हंस! आपके चरण-कमल सदा ब्रह्मा और शिवजी से नमस्कृत हैं। आप रघुवंश की ध्वजा, (श्रेष्ठ) वेद-मर्यादा के रक्षक; काल, कर्म, स्वभाव और तीनों गुणों के भक्षण करनेवाले हैं॥ ४॥ तारन (औरों को तारनेवाले), तरन (स्वयं तरे हुए) अथवा जो तारन (औरों के उद्धार करनेवाले) हैं उनके भी आप तरन (उद्धार-कर्त्ता) हैं। आप सब दोषों के हरनेवाले हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि आप मेरे प्रभु और त्रिलोकी के भूषण हैं॥ ५॥

दो०—बार बार अस्तुति करि प्रेमसहित सिरु नाइ।
ब्रह्मभवन सनकादि गे अति अभीष्ट बर पाइ॥५८॥

सनकादि मुनीश्वर इस प्रकार बार बार रामचन्द्रजी की स्तुति कर, प्रेमसहित उन्हें मस्तक झुकाकर, अत्यन्त मन-इच्छित वर पाकर ब्रह्मलोक को चले गये॥ ५८॥

चौ०—सनकादिक बिधिलोक सिधाये। भ्रातन्ह रामचरन सिर नाये॥
पूछत प्रभुहिँ सकल सकुचाहीँ। चितवहिं सब मारुतसुत पाहीँ॥१॥

सनकादिक ब्रह्मलोक को गये। फिर तीनों भाइयों ने कुछ पूछने की इच्छा से रामचन्द्रजी को मस्तक नवाये। किन्तु वे सभी प्रभुजी से पूछने में सकुचाते हैं और हनुमान्जी की ओर देखते हैं॥ १॥

सुनी चहहिं प्रभुमुख कै बानी। जो सुनि होइ सकल-भ्रम-हानी॥
अंतरजामी प्रभु सब जाना। बूझत कहहु काह हनुमाना॥२॥

जिसके सुनने से सब भ्रम मिट जाते हैं, प्रभुजी की उस वाणी को वे सुना चाहते हैं। अन्तर्यामी प्रभु रामचन्द्रजी सब जान गये अतएव उन्होंने कहा—कहो, हनुमान्! क्या पूछते हो? ॥ २ ॥

जोरि पानि कह तब हनुमंता। सुनहु दीनदयाल भगवंता॥
नाथ भरत कछु पूछन चहहीं। प्रस्न करत मन सकुचत अहहीं॥३॥

तब हनुमानजी हाथ जोड़कर कहने लगे—हे दीनदयालु, भगवन्! सुनिए। हे नाथ! भरतजी कुछ प्रश्न करना चाहते हैं, पर प्रश्न करते मन में सकुचाते हैं॥ ३ ॥

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहिँ मोहि कछु अंतर काऊ॥
सुनि प्रभुबचन भरत गहे चरना। सुनहु नाथ प्रनतारतिहरना॥४॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे कपि (हनुमान)! तुम मेरा स्वभाव जानते हो। क्या मुझे भरत से किसी तरह का अन्तर है? प्रभुजी के ऐसे वचन सुनकर भरतजी ने रामचन्द्रजी के चरण पकड़ लिये और कहा—दासों की व्यथा के हरनेवाले हे नाथ! सुनिए॥ ४ ॥

दो०—नाथ न मोहि सँदेह कछु सपनेहुँ सोक न मोह।
केवल कृपा तुम्हारिही कृपा-नंद-संदोह॥५९॥

दया और आनन्द के समूह, हे नाथ! मुझे न कुछ सन्देह है, न स्वप्न में भी शोक या मोह है। यह केवल आप ही की कृपा है॥ ५९ ॥

चौ०—करउँ कृपानिधि एक ढिठाई। मैं सेवक तुम्ह जन-सुख-दाई॥
संतन के महिमा रघुराई। बहु बिधि बेद पुरानन्हि गाई॥१॥

हे दयानिधि! मैं एक ढिठाई करता हूँ। मैं आपका सेवक हूँ और आप सेवक के सुखदाता हैं। हे रघुराई! वेद और पुराणों ने सन्तों की महिमा बहुत तरह गाई है॥ १ ॥

श्रीमुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई। तिन्ह पर प्रभुहिँ प्रीति अधिकाई॥
सुना चहहुँ प्रभु तिन्ह कर लच्छन। कृपासिंधु गुन ग्यान-बिचच्छन॥२॥

फिर आपने भी श्रीमुख से उनकी बड़ाई की है और उन पर स्वामी (आप) का प्रेम भी अधिक है। इसलिए, गुण और ज्ञान में निपुण हे कृपासिन्धु प्रभो! मैं उनके लक्षण सुनना चाहता हूँ॥ २ ॥

संत असंत भेद बिलगाई। प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई॥
संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगिनित स्रुति पुरान बिख्याता॥३॥

हे प्रणत-पाल! आप मुझे सन्त और असन्त दोनों के भेद जुदे जुदे समझा कर कहिए। रामचन्द्रजी ने कहा—भाई! सुनो। सन्तों के बे-गिनती लक्षण वेद और पुराणों में प्रसिद्ध हैं॥ ३ ॥

संत असंतन्ह कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥४॥

सन्तों और असन्तों की करतूत ऐसी होती है जैसा कुल्हाड़े और चन्दन का बर्ताव। भाई! सुनो। कुल्हाड़ा तो चन्दन को काट डालता है, पर चन्दन अपना गुण देकर उसे सुगंध से सुवासित कर देता है। अर्थात् कुल्हाड़ा अपने स्वभावानुसार काटता है, चन्दन उसके बदले में कुल्हाड़े को सुगन्धित कर देता है। ऐसे ही दुर्जन यद्यपि सर्व-नाश करने का यत्न करते हैं फिर भी सन्त उनकी भलाई ही करते हैं॥ ४॥

दो०—ता तेँ सुरसीसन्ह चढत जगबल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहि परसुबदनु यह दंड॥६०॥

इसी से श्रीखंड (चन्दन) जगत् को प्यारा है और वह देवतों के मस्तकों पर चढ़ता है, पर कुल्हाड़े को यह शिक्षा मिलती है कि उसका मुँह आग में जलाया जाता है और हथौड़े से पीटा जाता है॥ ६०॥

चौ०—बिषय अलंपट सील गुनाकर। परदुख दुख, सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥१॥

सन्त विषयों के लोलुप नहीं होते; शील और गुणों को खान होते हैं, वे दूसरे का दुःख देखकर दुखी और सुख देखकर सुखी होते हैं। सबसे समान बर्ताव करते हैं, इसी से उनका कोई शत्रु नहीं होता। वे मद-रहित और वैराग्यवान् होते हैं तथा लोभ, क्रोध, आनन्द और भय को त्यागनेवाले होते हैं॥ १॥

कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रानसम मम ते प्रानी॥२॥

उनका चित्त कोमल होता है, दीन-जनों पर उन्हें दया होती है; उन्हें मन, वचन और कर्म से माया (कपट)-रहित मेरी भक्ति होती है। वे सबको प्रतिष्ठा करनेवाले और आप अभिमान-रहित होते हैं। हे भरत! वे प्राणी मुझे प्राण-समान प्यारे होते हैं॥ २॥

बिगतकाम मम नामपरायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मइत्री। द्विज-पद-प्रीति धरमजनयित्री॥३॥

वे कामना-रहित, मेरे नाम रटने में लगे हुए तथा शान्ति, वैराग्य, नम्रता और प्रसन्नता के स्थान होते हैं। वे शीतलता, सरलता, मित्रता और धर्म को उत्पन्न करनेवाली (मातारूप) ब्राह्मणों के चरणों की प्रीति से युक्त होते हैं॥ ३॥

ये सब लच्छन बसहिँ जासु उर। जानहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिँ डोलहिँ। परुष बचन कबहूँ नहिँ बोलहिँ॥४॥

हे तात ! जिनके हृदय में ये सब लक्षण सदा निवास करते हैं, उनको निश्चय सच्चे सन्त जानो। जो शम (भीतरी इन्द्रियों का निग्रह), दम (बाहरी विषयों का निग्रह), नियम और नीति से कभी नहीं टलते और कभी कठोर वचन नहीं बोलते ॥ ४ ॥

दो०—निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पदकंज।

ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुनमंदिर सुखपुंज ॥६१॥

जिनको निन्दा और स्तुति दोनों बराबर हैं, और मेरे चरण-कमलों में ममता है, वे सज्जन मुझे प्राण-प्रिय हैं—वे गुणों के स्थान और सुखों के समूह हैं ॥ ६१ ॥

चौ०—सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिय न काऊ ॥

तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई ॥१॥

अब असन्तों (दुष्टों) का भी स्वभाव सुनो। कभी भूल कर भी उनकी सङ्गति न करे। उनका सङ्ग सदा दुःख देनेवाला है, जैसे कपिला[1] गाय का नाश हरहाई गाय करती है। (हरहाई गाय उसे कहते हैं जो बड़ी नटखट होती और खेतों को चर जाती है। इसके साथ अच्छी गाय भी बिगड़ जाती है, क्योंकि उसके साथ वह हरा खेत खाने जाती है, फिर चंचलता से हरहाई तो भाग निकलती पर कपिला पकड़ी जाती है) ॥ १ ॥

खलन्ह हृदय अति ताप बिसेखी। जरहिं सदा परसंपति देखी ॥

जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई ॥२॥

दुष्टों के हृदय में बहुत अधिक ताप रहता है; वे दूसरे की सम्पत्ति देखकर सदा जलते हैं। वे जहाँ कहीं दूसरे की निन्दा सुनते हैं वहाँ बड़े प्रसन्न होते हैं, मानों कहीं गिरी हुई सम्पत्ति उन्हें मिल गई हो ॥ २ ॥

काम - क्रोध-मद-लोभ-परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन ॥

बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों ॥३॥

वे काम, क्रोध, मद और लोभ में तत्पर रहते हैं; वे निर्दयी, कपटी, टेढ़े और पापों के घर होते हैं। वे बिना कारण सभी से वैर ठानते हैं; जो कोई हित करता हो, उसका भी वे अनहित करते हैं ॥ ३ ॥

झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना ॥

बोलहिं मधुरबचन जिमि मोरा। खाहिं महाअहि हृदय कठोरा ॥४॥

१—संस्कृत में कपिल एक रङ्ग का नाम है, उसी रङ्गवाली विचित्र गाय कपिला गाय होती है। शब्दार्णव में कहा है—"सितपीतहरिद्रक्तः कडारस्तृणवह्निवत् । अयं तद्रक्तपीताङ्गः कपिलो गोविभूषणः ॥" अर्थात्—सफ़ेद, पीला, हरा और लाल हो, पर उसमें लाल पीला अधिक हो, उस रङ्ग को कपिल कहते हैं। यह रङ्ग गाय का भूषण है; अर्थात् इस रङ्ग की गाय कपिला कहाती है।

उनका झूठा ही लेना और झूठा ही देना एवं झूठा ही भोजन और झूठ ही चबेना है। वे मीठे वचन तो बोलते हैं, पर उनका हृदय कठोर रहता है; जैसे मोर मीठी आवाज़ बोलता है, पर खा जाता है महासर्प को ॥ ४ ॥

दो०—परद्रोही पर-दार-रत परधन परअपवाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद ॥६२॥

वे दूसरे से द्रोह करते, परस्त्री में अनुरक्त रहते तथा पराये धन और पराई निन्दा में लगे रहते हैं। वे नीच पापमय मनुष्य हैं। हैं तो वे राक्षस, पर उन्होंने मनुष्य-देह धारण कर रक्खा है ॥ ६२ ॥

चौ०—लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर-पर जम-पुर-त्रासन ॥
काहू कै जौं सुनहिँ बड़ाई। स्वास लेहिँ जनु जूड़ी आई ॥१॥

उन मनुष्यों का लोभ ही ओढ़ना है और लोभ ही बिछौना है; वे इन्द्रिय और पेट की तृप्ति में तत्पर रहते हैं (अर्थात् सदा विषय-लम्पट और पेट भरने का उद्योग करनेवाले होते हैं)। वे यहाँ तक दुष्ट होते हैं कि उनसे, यमराज की पुरी में पड़े हुए नरक-वासी भी डर जायँ। जो वे किसी की भलाई सुन लें, तो ऐसी साँसें लेंगे मानो उन्हें शीत-ज्वर चढ़ा हो ॥ १ ॥

जब काहू कै देखहिँ बिपती। सुखी भये मानहुँ जगनृपती ॥
स्वारथरत परिवारबिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी ॥२॥

जब वे किसी पर विपत्ति देखते हैं तो ऐसे सुखी होते हैं कि मानों वे ही जगत् के राजा हो गये हों। वे स्वार्थ में तत्पर, कुटुम्ब के विरोधी, लम्पट (विषयी) होते हैं और उनमें काम, लोभ तथा क्रोध अत्यन्त होता है[1] ॥ २ ॥

मातु पिता गुरु बिप्र न मानहिँ। आपु गये अरु घालहिँ आनहिँ ॥
करहिँ मोहबस द्रोह परावा। संत-संग हरिकथा न भावा ॥३॥

वे माता-पिता, गुरु और ब्राह्मणों को नहीं मानते; आप तो गये बीते हैं ही, पर औरों को भी वे ऐसे ही नष्ट कर देते हैं। वे मोह के वश होकर दूसरे का द्वेष करते हैं, उनको सन्तों का सङ्ग और भगवत्कथा प्रिय नहीं लगती ॥ ३ ॥

अव-गुन-सिंधु मंदमति कामी। बेदबिदूषक पर-धन-स्वामी ॥
बिप्रद्रोह सुरद्रोह बिसेषा। दंभ कपट जिय धरे सुबेषा ॥४॥

१—गीता में कहा है—आत्मा के नाश करनेवाला नरक का दरवाज़ा तीन तरह का है—काम, क्रोध और लोभ—इसलिए इन तीनों को छोड़ दे। "त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥"

वे अवगुणों के समुद्र, मन्द-बुद्धि, कामी, वेदों के द्वेषी और पराये धन के मालिक होते हैं। विशेष कर ब्राह्मणों से और देवतों से द्वेष करते हैं। दम्भ और कपट तो उनके जी में भरा रहता है, किन्तु वे ऊपर से वेष अच्छा धारण किये रहते हैं ॥ ४ ॥

दो०—ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेता नाहिँ ।
द्वापर कछुक बृंद बहु होइहहिँ कलिजुग माहिँ ॥६३॥

ऐसे नीच और दुष्ट मनुष्य सतयुग और त्रेता में नहीं होते। वे द्वापर में कुछ कुछ होते हैं; कलियुग में तो झुंड के झुंड हो जाएँगे ॥ ६३ ॥

चौ०—परहित सरिस धर्म नहिँ भाई । परपीडा सम नहिँ अधमाई ॥
निरनय सकल पुरान बेद कर । कहेउँ तात जानहिँ कोबिद नर ॥१॥

हे भाई! दूसरे का हित करने के बराबर दूसरा धर्म नहीं और दूसरे को दुःख देने के बराबर नीचता नहीं है। हे तात! यह सम्पूर्ण पुराणों और वेदों का निर्णय मैंने कहा। चतुर मनुष्य यह जानते हैं ॥ १ ॥

नर सरीर धरि जे परपीरा । करहिँ ते सहहिँ महा-भव-भीरा ॥
करहिँ मोहबस नर अघ नाना । स्वारथरत परलोक नसाना ॥२॥

जो मनुष्य-शरीर धारण कर दूसरों को दुःख देते हैं (सताते हैं), वे संसार-सम्बन्धी घोर सङ्कट सहते हैं। मनुष्य मोह के अधीन होकर नाना प्रकार के पाप करते हैं, वे स्वार्थ में लगे हुए हैं, अतएव उनका परलोक बिगड़ा है ॥ २ ॥

कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता । सुभ अरु असुभ करम-फल-दाता ॥
अस बिचारि जे परमसयाने । भजहिँ मोहि संसृतिदुख जाने ॥३॥

हे भाई! उन लोगों के लिए मैं कालरूप हूँ, क्योंकि मैं शुभ और अशुभ दोनों तरह के कर्मों का फल देनेवाला हूँ। ऐसा विचार कर जो बहुत चतुर हैं वे मनुष्य संसार-सम्बन्धी दुःखों को जानकर मेरा भजन करते हैं ॥ ३ ॥

त्यागहिँ कर्म सुभा-सुभ-दायक । भजहिँ मोहि सुर-नर-मुनि-नायक ॥
संत असंतन्ह के गुन भाखे । ते न परहिँ भव जिन्ह लखि राखे ॥४॥

शुभ और अशुभ फल देनेवाले कर्म (पाप-पुण्य) को त्यागकर देव, मनुष्य और श्रेष्ठ मुनि मुझको भजते हैं। इस तरह सन्तों और असन्तों (सज्जन-दुर्जनों) के लक्षण मैंने कहे। जो इनको जान रक्खेंगे वे संसार में नहीं गिरेंगे ॥ ४ ॥

दो०—सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक ।
गुन यह उभय न देखियहिँ देखिय सो अबिबेक ॥६४॥

हे तात ! सुनो। अनेक गुण और दोष माया के किये हुए हैं। इन दोनों की ओर ध्यान न देना ही गुण है, और इनको देखना ही अविचार है। अर्थात् आत्मा शुद्ध है, वह न गुणी है, न दोषी ॥ ६४ ॥

चौ०—श्री-मुख-बचन सुनत सब भाई। हरषे प्रेमु न हृदय समाई ॥
करहिं बिनय अति बारहिं बारा। हनूमान हिय हरष अपारा ॥१॥

रघुनाथजी के श्रीमुख से इन वचनों को सुनकर सब भाई प्रसन्न हुए। उनके हृदय में प्रेम समाता नहीं था। वे बारम्बार बहुत ही विनय करने लगे और हनुमान्‌जी के हृदय में अपार आनन्द हुआ ॥ १ ॥

पुनि रघुपति निज मंदिर गये। एहि बिधि चरित करत नित नये ॥
बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं ॥२॥

फिर रामचन्द्रजी वहाँ से अपने भवन में आये। इस तरह वे नित्य नये चरित्र करते थे। वहाँ नारदमुनि बारंबार आते थे और रामचन्द्रजी के पवित्र चरित्र गाते थे ॥ २ ॥

नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं ॥
सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुनगानहिं ॥३॥

मुनि नारदजी अयोध्या में नित्य नये चरित्र देख जाते और ब्रह्मलोक में जाकर सब कथा कहते थे। उसको सुनकर ब्रह्माजी बड़ा सुख मानते और वे कहते कि हे तात ! तुम फिर फिर रामगुण-गान करो ॥ ३ ॥

सनकादिक नारदहिं सराहहिं। जद्यपि ब्रह्मनिरत मुनि आहहिं ॥
सुनि गुनगान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परमअधिकारी ॥४॥

सनकादि मुनीश्वर नारदजी की प्रशंसा करते थे। यद्यपि वे ब्रह्म में निरत और मनन-शील थे, तो भी रामकथा के परम अधिकारी थे। वे रामचन्द्रजी के गुणगान सुनकर समाधि (ब्रह्म-ध्यान) भुलाकर उन चरित्रों को आदर के साथ सुनते थे ॥ ४ ॥

दो०—जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।
जे हरिकथा न करहिं रति तिन्ह के हिय पाषान ॥६५॥

जो जीवन्मुक्त (जीते जी मोक्ष पाये हुए) और ब्रह्मपरायण हैं वे भी ध्यान छोड़ कर जिस हरिकथा को सुनते हैं, उस में जो नर प्रेम नहीं करते उनके हृदय पत्थर से (कड़े) हैं ॥ ६५ ॥

चौ०—एक बार रघुनाथ बोलाये। गुरु द्विज पुरबासी सब आये ॥
बैठे सदसि अनुज मुनि सज्जन। बोले बचन भगत-भय-भंजन ॥१॥

एक बार रघुनाथजी के बुलाये हुए गुरु, ब्राह्मण और सब नगर-निवासी आये। वे सब, भाइ, मुनिजन, और सज्जन सभा में बैठे, उस समय भक्तों के भय-नाशक रामचन्द्रजो वचन बोले—॥ १ ॥

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिँ अनीति नहिँ कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहिँ सुहाई॥२॥

सब पुरवासो जन! तुम मेरी वाणी सुनो। मैं हृदय में कुछ ममता (ममत्व या अभिमान) लाकर नहीं कहता। कोई अनीति या दबाव को भो बात नहीं है। मैं जो कहूँ वह सुन लो, फिर यदि वह तुम्हें सुहावे तो वैसा करो॥ २ ॥

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥
जौं अनीति कछु भाषउँ भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥३॥

वही मेरा सेवक है और वही मुझे सबसे प्यारा है, जो मेरी आज्ञा को माने। भाइयो! जो मैं कुछ अन्याय की बात कहूँ, तो तुम लोग निर्भय होकर मुझे मना कर देना॥ ३ ॥

बडे भाग मानुषतनु पावा। सुरदुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधनधाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥४॥

सब ग्रन्थों में यह बात गाई गई है कि यह जो मनुष्य-शरीर देवताओं को भी दुर्लभ, साधन करने का स्थान और मोक्ष का दरवाजा है। ऐसा शरीर पाकर जिसने परलोक को न सुधारा॥ ४ ॥

दो०—सो परत्र दुख पावइ सिरु धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥६६॥

वह परलोक में दुःख पाता है और माथा पीट पीट कर पछताता है। वह मनुष्य काल, कर्म और ईश्वर को झूठा दोष लगाता है। (क्या करें जी! वक्त खराब है, हमारा करम खोटा है; ईश्वर ने हमारे लिए बुरा कर दिया इत्यादि)॥ ६६ ॥

चौ०—एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वरगउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नरतनु पाइ बिषय मन देहीँ। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीँ॥१॥

अरे भाइयो! इस शरीर का फल विषय भोगना नहीं है। स्वर्ग का सुख भी थोड़े ही दिन रहता है अन्त में वह भी दुःख देनेवाला है। जो लोग मनुष्य-शरीर पाकर विषयों में मन लगाते हैं, वे दुष्ट अमृत के बदले में विष लेते हैं॥ १ ॥

ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई॥
आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥२॥

जो पारस मणि को गँवाकर उसके बदले में घुँघची लेता है उसको कभी कोई अच्छा नहीं कहता। यह अविनाशी (नित्य) जीव चार खानों वाली चौरासी लाख[1] योनियों में घूमता फिरता है ॥ २ ॥

फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा ॥
कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥३॥

यह जीव सदा माया का प्रेरणा किया हुआ और (माया के गुण) काल, कर्म और स्वभाव से घेरा हुआ फिरता रहता है। निर्हेतुक (बिना ही किसी कारण) स्नेह करनेवाले परमात्मा कभी कृपा कर इस जीव को मनुष्य-देह दे देते हैं ॥ ३ ॥

नरतन भवबारिधि कहुँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥
करनधार सदगुरु दृढ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ॥४॥

मनुष्य-शरीर संसार-सागर के लिए बेड़ा (जहाज़) है, उसके लिए मेरी कृपा ही अनुकूल वायु है। इस मज़बूत जहाज के कर्णधार (खेनेवाले) सद्गुरु हैं। इस तरह यह जीव दुर्लभ सामग्री सुलभ करके पा गया है ॥ ४ ॥

दो०—जो न तरइ भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आतम-हन-गति जाइ ॥६७॥

ऐसे समाज (साधनों) को पाकर जो मनुष्य संसार-सागर को न तैर जाय, वह उपकार को न माननेवाला (कृतघ्न) और मन्द-बुद्धि है; वह आत्महत्या करनेवालों की गति पाता है ॥ ६७ ॥

चौ०—जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदय दृढ गहहू ॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान स्रुति गाई ॥१॥

१—यहाँ चौपाई में आकर, चार, लच्छ, चौरासी कहा है, जिसका कोई कोई ऐसा अर्थ करते हैं कि चार खानें "जरायुज (गर्भ की थैली में रहकर पैदा होनेवाले मनुष्य, पशु आदि), स्वेदज (पसीने से होनेवाले जूँ, खटमल आदि), अण्डज (अण्डों से होनेवाले पक्षी, सर्प, मछली आदि), उद्भिज (कटे पर फूट आनेवाले, जङ्गली पेड़ आदि)" जिनके चौरासी लक्ष्य अर्थात् लक्ष, निशाने चिह्न हैं। कोई एक लाख चौरासी योनि कहते और कोई तो केवल "चतुराशीतियोनयः" अर्थात् चौरासी ही योनि कहते हैं। पर शास्त्रों में सर्वत्र चौरासी लाख ही है। एक भक्त का वचन है "आनीता नटवन्मया तव पुरा श्रीराम या भूमिका, व्योमाकाशखखाम्बराब्धिवसवस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधि। प्रीतो यदि निरीक्षणात्त्वमधुना मत्प्रार्थितं देहि मे, नोचेदेव ब्रवीमि माऽऽनय पुनर्मामीदृशीं भूमिकाम्" ॥ इसमें भगवान् से प्रार्थना करते समय भक्त ने "व्योमाकाशखखाम्बराब्धिवसवः" ०।०।०।०।०।४।८ अङ्कों को 'अङ्कानां वामतो गतिः' न्याय से उलट कर ८४००००० चौरासी लाख स्पष्ट कहा है। ये चौरासी लाख योनि इस तरह मानी गई हैं—वृक्ष २० लाख, पक्षी १०, पशु ३०, जलचर ९, कृमि (कीड़े) ११, मनुष्य ४, सब मिला कर चौरासी लाख।

जो तुम यहां और परलोक में, दोनों जगह सुख चाहते हो तो मेरा वचन सुनकर उसको हृदय में दृढ़ता से पकड़ लो। हे भाइयो! मेरी भक्ति करना सुलभ और सुख देनेवाला मार्ग है। वेद और पुराणों में इसकी महिमा वर्णित है ॥ १ ॥

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका ॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भगतिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ ॥२॥

ज्ञान अगम (जानने और प्राप्त होने में कठिन) है, उसमें विघ्न भी अनेक हैं; उसके साधन (योग, तपस्या आदि) कठिन हैं, वे मन को स्थिर करनेवाले अवलम्ब नहीं हैं। बहुत कष्ट करने पर कोई एक आध मनुष्य ही उसको सिद्ध कर पाता है, पर वह भी (ज्ञान भी) यदि मेरी भक्ति से रहित हुआ तो मुझे प्रिय नहीं ॥ २ ॥

भगति सुतंत्र सकल-सुख-खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥
पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता ॥ ३ ॥

भक्ति स्वतन्त्र है, सब गुणों की खान है, उसको सत्सङ्ग बिना प्राणी नहीं पाते। प्रबल पुण्यों के बिना सन्तजन नहीं मिलते, और सन्तों की सङ्गति ही से संसार (जन्म-मरण के फेरे) से छुटकारा होता है ॥ ३ ॥

पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र-पद-पूजा ॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपटु करइ द्विजसेवा ॥ ४ ॥

संसार में पुण्य एक ही है, दूसरा नहीं। वह है मन, कर्म और वचन से ब्राह्मणों के चरणों की पूजा करना। जो कपट छोड़कर ब्राह्मणों की सेवा करता है, उस पर मुनि और देवता अनुकूल रहते हैं ॥ ४ ॥

दो०—अउरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
शंकरभजन बिना नर भगति न पावइ मोरि ॥ ६८ ॥

अब मैं सभा को हाथ जोड़कर एक और भी गुप्त मत कहता हूँ। वह यह कि शङ्कर जी के भजन बिना मनुष्य मेरी भक्ति नहीं पाता ॥ ६८ ॥

चौ०—कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा।
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथालाभ संतोष सदाई ॥१॥

कहिए, भक्तिमार्ग में क्या कष्ट है? इसमें योग, यज्ञ, जप, तपस्या, उपवास आदि नहीं हैं (जिनके करने में शरीर को कष्ट होता है)। सीधा सरल स्वभाव रखे, मन में कुटिलता न रखे, यथालाभ (जितना मिल जाय उसमें) सदा सन्तुष्ट रहे ॥ १ ॥

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा ॥
बहुत कहउँ का कथा बढाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई ॥२॥

जो मेरा दास कहा कर मनुष्यों की आशा करे तो फिर कहिए, उसे विश्वास ही क्या? भाइयो! बहुत बढ़ा चढ़ाकर क्या कहूँ, मैं इस आचरण से वशीभूत हो जाता हूँ॥ २॥

बयरु न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥३॥

जिसका किसी से वैर नहीं, विग्रह (लड़ाई) नहीं, आशा नहीं, भय नहीं, उसके लिए सभी दिशायें सुख से भरी हैं। जो आरंभ-रहित है (छोटे बड़े काम्य कर्म शुरू नहीं करता), जिसके घर नहीं, जिसको अभिमान नहीं, पाप नहीं, क्रोध नहीं, जो चतुर और विज्ञानी है॥ ३॥

प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृनसम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥ ४॥

जिसे सदा सज्जनों के संसर्ग में प्रेम है, जो विषय (संसार के सुख), स्वर्ग और मोक्ष को भी तिनके के समान (तुच्छ) समझता है, जिसको भक्ति के पक्ष का हठ है, दुष्टता नहीं, जो सब प्रकार के खोटे तर्क दूर कर दे॥ ४॥

दो०—मम गुनग्राम नाम रत गत-ममता-मद-मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंदसंदोह॥ ६६॥

जो ममता, मद और मोह से रहित होकर मेरे गुण-समूह और नाम रटने में अनुरक्त हो, उसके सुख को वही मनुष्य जानेगा जो परम आनन्द-समूह को प्राप्त होगा॥ ६९॥

चौ०—सुनत सुधासम बचन राम के। गहे सबन्हि पद कृपाधाम के।
जननि जनक गुरु बंधु हमारे। कृपानिधान प्रान तें प्यारे॥१॥

रामचन्द्रजी के अमृत समान वचन सुनते ही, सबने दयाधाम रामजी के चरण पकड़ लिये। वे बोले—हे कृपानिधान! आप हमारे माता, पिता, गुरु, बन्धु (भाई, इष्ट-मित्र) हैं और हमें प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं॥ १॥

तनु धनु धाम राम हितकारी। सब बिधि तुम्ह प्रनतारतिहारी॥
अस सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ। मातु पिता स्वारथरत ओऊ॥२॥

भक्त जन के दुःख-हारी हे रामचन्द्रजी! आप हमारे शरीर, धन, घरबार और सब तरह हित करनेवाले हैं। आपके बिना और कोई ऐसी सीख नहीं दे सकता। माता-पिता देते हैं पर वे भी स्वार्थ भरे हुए हैं (वे प्रायः मतलबी संसारी सीख देते हैं)॥ २॥

हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथमीत सकल जग माहीँ। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीँ॥३॥

हे दैत्यों के शत्रु! संसार में आप और आपके सेवक दोनों ही बिना कारण उपकारी हैं। हे प्रभो! जगत् में स्वार्थी मित्र सभी हैं, परमार्थ तो स्वप्न में भी नहीं है॥ ३॥

सब के बचन प्रेमरससाने। सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने॥
निज गृह गये सुआयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई॥ ४॥

इस तरह प्रेम-रस में सने हुए सबके वचन सुनकर रघुनाथजी हृदय में प्रसन्न हुए। फिर शुभ आज्ञा पाकर वे सब प्रभुजी की सुहावनी बातचीत का वर्णन करते हुए अपने अपने घर गये॥ ४॥

दो०—उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जहँ भूप॥ ७०॥

श्रीशिवजी कहते हैं कि हे पार्वति! जहाँ सत्, चित्, आनन्दघन, परब्रह्म रघुनाथजी राजा हैं उस अयोध्या के निवासी पुरुष और स्त्री कृतकृत्य रूप हैं (उनके लिए कुछ करने को बाक़ी नहीं है)॥ ७०॥

चौ०—एक बार बसिष्ठ मुनि आये। जहाँ राम सुखधाम सुहाये॥
अति आदर रघुनायक कीन्हा। पद पखारि चरनोदक लीन्हा॥१॥

सुख के स्थान श्रीरामचन्द्रजी जहाँ शोभायमान हैं वहाँ एक बार वसिष्ठ मुनि आये। रघुनाथजी ने उनका बड़ा आदर किया, और मुनिजी के चरण धोकर चरणामृत लिया॥१॥

राम सुनहु मुनि कह कर जोरी। कृपासिंधु बिनती कछु मोरी॥
देखि देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदय अपारा॥२॥

मुनिवर हाथ जोड़कर कहने लगे—हे कृपासिंधु, राम! आप कुछ मेरी विनती सुनिए। महाराज! आपका आचरण देख देखकर मेरे हृदय में अपार मोह होता है॥ २॥

महिमा अमित बेद नहिँ जाना। मैं केहि भाँति कहउँ भगवाना॥
उपरोहिती कर्म अति मंदा। बेद पुरान सुमृति कर निंदा॥३॥

हे भगवन्! आपकी महिमा अपार है, जिसको वेद भी नहीं जानते तो उसको मैं किस तरह कहूँ। पुरोहिती का काम महानीचता का[1] है। वेद, पुराण और स्मृतियों ने इस कर्म की निन्दा की है॥ ३॥

१—पुरोहिती कर्म को नीच इसलिए कहा है कि पौरोहित्य करनेवाले को यजमान के पापों का अंश भी मिलता है और बदले में अपने पुण्यों का फल देना पड़ता है।

जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही। कहा लाभ आगे सुत तोही॥
परमातमा ब्रह्म नररूपा। होइहि रघु-कुल-भूषन भूपा॥४॥

इस कर्म को मैं स्वीकार नहीं करता था, तब मुझे ब्रह्माजी ने कहा—हे पुत्र! आगे जा कर इसमें तुमको लाभ होगा। वह यह कि परब्रह्म परमात्मा, मनुष्यरूप धरकर, रघुकुल में भूषण-रूप राजा होंगे॥ ४॥

दो०—तब मैं हृदय बिचारा जोग जग्य ब्रत दान।
जा कहुँ करिय सो पाइहउँ धर्म न एहि सम आन॥७१॥

तब मैंने अपने हृदय में सोचा कि जिनके लिए योग, यज्ञ, व्रत और दान किये जाते हैं उन्हीं परमात्मा को मैं पा जाऊँगा। इसके बराबर कोई दूसरा धर्म नहीं है॥ ७१॥

चौ०—जप तप नियम जोग निज धर्मा। स्रुतिसंभव नाना सुभ कर्मा॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धरम कहत स्रुति सज्जन॥१॥

जप, तप, नियम, योग, स्वधर्म, वेदविहित नाना प्रकार के शुभ कर्म, ज्ञान, दया, दम (जितेन्द्रियता), तीर्थ-स्नान इत्यादि, जहाँ तक वेद और महात्मा लोग धर्म कहते हैं॥ १॥

आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद-पंक-ज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥२॥

उनका और वेद, शास्त्र तथा अनेक पुराण पढ़ने और सुनने का फल एक यही है, और सभी साधनों का सुन्दर फल भी यही है कि निरन्तर आपके चरण-कमलों में प्रीति उत्पन्न हो॥ २॥

छूटइ मल कि मलहि के धोयें। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोयें॥
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि-अंतर-मल कबहुँ न जाई॥३॥

मैल ही से धोने से क्या मैल छूटता है? क्या कोई पानी को मथ कर घी पा सकता है? हे रघुराई! प्रेम-भक्तिरूपी जल बिना अभ्यन्तर (हृदय के भीतर) का मैल कभी नहीं जाता॥ ३॥

सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पंडित। सोइ गुनगृह बिग्यान अखंडित॥
दच्छ सकल-लच्छन-जुत सोई। जा के पद-सरो-ज-रति होई॥४॥

वही सर्वज्ञ है, वही तत्त्वज्ञ है, वही पण्डित है, वही गुणों का भाण्डार और अखण्ड विज्ञानी है, वही चतुर और सब लक्षणों से युक्त है, जिसको आपके श्रीचरण-कमलों में प्रीति हो॥ ४॥

दो०—नाथ एक बर माँगउँ राम कृपा करि देहु ।
जनम जनम प्रभु-पद-कमल कबहुँ घटइ जनि नेहु ॥७२॥

हे नाथ! रामचन्द्रजी! मैं एक वर माँगता हूँ, वह कृपा कर दीजिए। वह यही कि जन्म-जन्मान्तरों में भी स्वामी के चरणकमलों में मेरा स्नेह कभी कम न हो ॥ ७२ ॥

चौ०—अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आये । कृपासिंधु के मन अति भाये ॥
हनूमान भरतादिक भ्राता । संग लिये सेवक-सुख-दाता ॥ १॥

ऐसा कहकर मुनि वसिष्ठजी घर आये। वे कृपासिन्धु रामचन्द्रजी को मन में अति प्रिय लगे। फिर सेवकों के सुखदायक रामचन्द्रजी भरतादिक भाइयों और हनुमान्जी को साथ लेकर ॥ १ ॥

पुनि कृपाल पुर बाहर गये । गज रथ तुरग मँगावत भये ॥
देखि कृपा करि सकल सराहे । दिये उचित जिन्ह जिन्ह जेइ चाहे ॥२॥

दयालु रामचन्द्रजी नगर के बाहर गये। उन्होंने वहाँ हाथी, रथ और घोड़े मँगवाये। उनको देखकर उन्होंने सब पर दया कर उनकी प्रशंसा की और जिन्होंने जो चाहे, उन्हें वे उचित रीति से दे दिये ॥ २ ॥

हरन सकलस्रम प्रभु स्रम पाई । गये जहाँ सीतल अवँराई ॥
भरत दीन्ह निजबसन डसाई । बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण परिश्रमों के हरनेवाले रामचन्द्रजी थककर जहाँ ठंढी अँवराई थी वहाँ गये। तब भरतजी ने अपना वस्त्र बिछा दिया। उस पर प्रभुजी बैठ गये और सब भाई उनकी सेवा करने लगे ॥ ३ ॥

मारुतसुत तब मारुत करई । पुलक बपुष लोचन जल भरई ॥
हनूमान समान बडभागी । नहिँ कोउ राम-चरन-अनुरागी ॥ ४ ॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई । बार बार प्रभु निज मुख गाई ॥ ५ ॥

उस समय वायुपुत्र (हनुमान्जी) पुलकित-शरीर हो, आँखों में जल भर कर रामचन्द्रजी को हवा करने लगे। हनुमान्जी के समान बड़भागी, रामचन्द्रजी के चरणों का प्रेमी और कोई नहीं है ॥ ४ ॥ शिवजी कहते हैं कि हे पार्वति! हनुमान्जी की प्रीति और दास्यता स्वामी ने बार बार अपने श्रीमुख से सराही है ॥ ५ ॥

दो०—तेहि अवसर मुनि नारद आये करतल बीन ।
गावन लागे राम-कल-कीरति सदा नवीन ॥ ७३ ॥

उसी समय हाथ में वीणा लिये हुए नारद मुनि आये। वे श्रीरामचन्द्रजी की नित्य नई सुन्दर कीर्ति गाने लगे—॥ ७३ ॥

चौ०—मामवलोकय पंकज-लोचन। कृपा बिलोकनि सोकबिमोचन ॥
नील-तामरस-स्याम कामअरि। हृदय-कंज-मकरंद-मधुप हरि ॥ १ ॥

वे बोले हे कमलनयन! शोक छुड़ानेवाले! आप मुझे दया-दृष्टि से देखिए। आप नील कमल जैसे श्यामवर्ण हैं, कामदेव के शत्रु श्रीशङ्करजी के हृदय-कमल के मकरन्द (फूलों के रस) के लिए भँवर और हरि (भक्तों के पाप, ताप, सन्ताप को हरनेवाले) हैं ॥ १ ॥

जातुधान-बरूथ-बल-भंजन। मुनि-सज्जन-रंजन अघगंजन ॥
भूसुर ससि नव बृंद बलाहक। अ-सरन-सरन दीन-जन-गाहक ॥ २ ॥

आप राक्षसों के समूह के बल को नष्ट करनेवाले, मुनियों और सज्जनों को आनन्द देनेवाले तथा पापनाशक हैं। ब्राह्मणरूपी हरी भरी खेती को बढ़ाने के लिए आप नवीन मेघों की घटा हैं, अशरण (जिसका रक्षक कोई न हो) के शरण (रक्षक) और दीन-जनों को खोज-ख़बर रखनेवाले हैं ॥ २ ॥

भुजबल बिपुल भार महि खंडित। खर-दूषन-बिराध-बध पंडित ॥
रावनारि सुखरूप भूपवर। जय दसरथ-कुल-कुमुद-सुधाकर ॥ ३ ॥

आप अपने भुज-बल से भारी भू-भार को नष्ट करनेवाले और खर, दूषण, विराध का बध करने में प्रवीण हैं। हे रावण-शत्रु! सुख रूपवाले, राजश्रेष्ठ, दशरथ-कुल-रूपी कुमुदिनी के लिए चन्द्ररूप रामचन्द्र जी! आपकी जय हो ॥ ३ ॥

सुजसु पुरानबिदित निगमागम। गावत सुर-मुनि-संत-समागम ॥
कारुनीक ब्यलीक-मद-खंडन। सब बिधि कुसल कोसलामंडन ॥ ४ ॥
कलि-मल-मथन-नाम ममताहन। तुलसि-दास-प्रभु पाहि प्रनतजन ॥ ५ ॥

आपका सुयश पुराणों और वेद-शास्त्रों में प्रसिद्ध है, उसको देवता, मुनिजन और सन्त-समाज गाते हैं। हे दयालु! आप वृथा अभिमान के खंडन करनेवाले, सब तरह चतुर और अयोध्या-भूषण हैं ॥ ४ ॥ आपका नाम कलियुग के पापों को मिटानेवाला तथा ममता को नाश करनेवाला है। हे तुलसीदास के स्वामी! आप भक्त-जनों की रक्षा कीजिए ॥ ५ ॥

दो०—प्रेमसहित मुनि नारद बरनि राम-गुन-ग्राम।
सोभासिंधु हृदय धरि गये जहाँ बिधिधाम ॥ ७४ ॥

नारदजी प्रेमसहित रामचन्द्रजी के गुण-गण वर्णन कर, शोभा के समुद्र रामचन्द्रजी को हृदय में रखकर, जहाँ ब्रह्मलोक है वहाँ गये॥ ७४॥

चौ०—गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा॥
रामचरित सत कोटि अपारा। स्रुति सारदा न बरनइ पारा॥१॥

हे पार्वति! सुनो। जैसी मेरी बुद्धि है, उसके अनुसार मैंने यह सब मनोहर कथा कही। रामचन्द्रजी का चरित्र सौ करोड़[1] और अपार है। वेद तथा सरस्वती भी इसका वर्णन करने में समर्थ नहीं॥ १॥

राम अनंत अनंतगुनानी। जनम कर्म अनंत नामानी॥
जलसीकर महिरज गनि जाहीं। रघु-पति-चरित न बरनि सिराहीं॥२॥

रामचन्द्र अनन्त हैं, उनके गुण अनन्त हैं और जन्म, कर्म तथा नाम भी अनन्त हैं। पानी की बूँदें और पृथ्वी की धूल के कण गिने जा सकते हैं, पर रघुनाथजी के चरित्र वर्णन कर समाप्त नहीं हो सकते॥ २॥

बिमल कथा हरि-पद-दायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी॥
उमा कहेउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुण्डि खगपतिहिं सुनाई॥३॥

यह निर्मल कथा विष्णुलोक को देनेवाली है; इसको सुनने से रामचन्द्रजी में अखण्डित भक्ति हो जाती है। हे उमा! कागभुशुण्डिजी ने गरुड़ को जो सुहावनी कथा सुनाई थी, वह सब मैंने तुम्हें कही है॥ ३॥

कछुक रामगुन कहेउँ बखानी। अब का कहउँ सो कहहु भवानी॥
सुनि सुभकथा उमा हरषानी। बोली अति बिनीत मृदु बानी॥४॥
धन्य धन्य मैं धन्य पुरारी। सुनेउँ रामगुन भव-भय-हारी॥५॥

इस तरह मैंने कुछ एक रामगुण वर्णन किये। हे पार्वति! अब क्या कहूँ? यह तुम कहो। शुभ कथा सुनकर पार्वतीजी प्रसन्न हुईं और बहुत नम्रता के साथ कोमल वाणी से बोलीं—॥ ४॥ हे त्रिपुरारि! मैं धन्य हूँ! धन्य हूँ!! धन्य हूँ!!! कि मैंने संसार-भय के हरनेवाले रामगुण सुने॥ ५॥

दो०—तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह।
जानेउँ रामप्रताप प्रभु चिदानंदसंदोह॥७५॥

१—"चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्" इसी प्रमाण पर यह चौपाई है।

हे दया के धाम! आपकी कृपा से अब मैं कृतकृत्य हूँ, अब मुझे मोह नहीं रहा। अब मैंने चैतन्य आनन्दकन्द रामचन्द्रजी का प्रताप जाना॥ ७५॥

नाथ तवानन ससि स्रवत कथा-सुधा रघुबीर।
स्रवनपुटन्हि मन पान करि नहिँ अघात मतिधीर॥७६॥

हे नाथ! आपके मुख-रूपी चन्द्र से श्रीरघुवीर-कथा-रूपी अमृत झरता है। हे स्थिर-बुद्धि! मेरा मन उस कथा को कानरूपी पात्रों से पानकर तृप्त नहीं होता॥ ७६॥

चौ०—रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥
जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिँ निरंतर तेऊ॥१॥

जो रामचरित्र सुनते हुए तृप्त हो जायँ (और सुनने को उत्सुक न रहें) उन्होंने उसका विशेष स्वाद नहीं जाना है; क्योंकि जो जीवन्मुक्त सनकादिक महामुनि हैं, वे भी निरंतर भगवद्गुण सुनते हैं॥ १॥

भवसागर चह पार जो पावा। रामकथा ता कहँ दृढ नावा॥
बिषइन्ह कहँ पुनि हरि-गुन-ग्रामा। स्रवनसुखद अरु मनअभिरामा॥२॥

जो संसार-समुद्र से पार होना चाहता है, उसके लिए राम-कथा मजबूत नाव है। फिर भगवान् के गुण-समूह विषयी पुरुषों के लिए सुनने में कानों को सुख देनेवाले और मन को प्रसन्न करनेवाले हैं॥ २॥

स्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघु-पति-चरित सुहाहीँ॥
ते जड जीव निजातम-घाती। जिन्हहिँ न रघु-पति-कथा सुहाती॥३॥

जगत् में कानवाला ऐसा कौन है जिसको रघुनाथजी के चरित्र न सुहावें? इसलिए जिन मनुष्यों को रघुपति की कथा न सुहाती हो, वे मूर्ख जीव अपना आत्मघात करनेवाले हैं॥ ३॥

हरि-चरित्र-मानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा॥
तुम्ह जो कहा यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड प्रति गाई॥४॥

हे नाथ! आपने हरि-चरित्र-मानस (रामचरितमानस) गाया, इसको सुनकर मैंने अपार सुख पाया। आपने जो यह बात कही कि इस कथा को काकभुशुण्डिजी ने गरुड़जी से कहा था॥ ४॥

दो०—बिरति ग्यान बिग्यान दृढ रामचरित अति नेह।
बायसतन रघु-पति-भगति मोहि परम संदेह॥७७॥

सो मुझे एक बड़ा भारी सन्देह है कि, जिनको वैराग्य और ज्ञान विज्ञान में दृढ़ता तथा रामचरित्र पर अत्यन्त प्रेम है, उन काकभुशुण्डिजी को कौए का शरीर क्यों मिला! फिर उस शरीर में भी रघुनाथजी की भक्ति कैसे हुई? (भगवद्भक्ति के प्रभाव से या तो कौए का देह छूट जाना चाहिए, या फिर नीच शरीर में भगवद्भक्ति न होनी चाहिए) ॥ ७७ ॥

चौ०—नरसहस्र महँु सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म-ब्रत-धारी॥
धर्मसील कोटिक महँु कोई। बिषयबिमुख बिरागरत होई॥१॥

हे त्रिपुरारि! सुनिए। हजारों मनुष्यों में कोई एक आध धर्म-व्रत का धारण करनेवाला होता है। ऐसे करोड़ों धर्मशीलों में कोई एक आध विषयों से विमुख और वैराग्य में तत्पर होता है॥ १॥

कोटि-बिरक्त-मध्य स्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥
ग्यानवंत कोटिक महँु कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥२॥

श्रुति (वेद) कहती है कि करोड़ों विरक्तों में कोई एकाध यथार्थ ज्ञान एक बार पाता है। ऐसे करोड़ों ज्ञानवानों में कोई एकाध जीवन्मुक्त होता है। वह भी जगत् में एक ही। (क्योंकि जो यहाँ जीवन्मुक्त है वह परलोक में मुक्त ही है)॥ २॥

तिन्ह सहस्र महँु सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥३॥

ऐसे हजारों जीवन्मुक्तों में भी सब सुखों की खान, ब्रह्म में लीन और विज्ञानी होना दुर्लभ है[1]। पर धर्मशील, विरक्त और ज्ञानी, जीवन्मुक्त तथा ब्रह्मनिष्ठ जो प्राणी है॥ ३॥

सब तें सो दुर्लभ सुरराया। राम-भगति-रत गत-मद-माया॥
सो हरिभगति काग किमि पाई। बिस्वनाथ मोहि कहहु बुझाई॥४॥

हे सुरश्वर! इन सबसे वह दुर्लभ है, जो मद और माया-रहित होकर राम-भक्ति में निरत हो। ऐसी कठिन भगवद्भक्ति कौए को कैसे मिली? हे विश्वनाथ! आप मुझे यह समझाकर कहिए॥ ४॥

दो०—रामपरायन ग्यानरत गुनागार मतिधीर।
नाथ कहहु केहि कारन पायेउ कागसरीर॥७८॥

१—गीता में भी कहा है—"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥" भा० स्कं० ६ चित्रकेतु के आख्यान में—"यततामपि सिद्धानां नारायण-परायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥" इत्यादि। इनका भाव चौपाई से मिलता है।

हे नाथ ! रामपरायण, ज्ञाननिष्ठ, गुणों के स्थान, धीर-बुद्धि जीव ने कौए का शरीर किस कारण पाया, यह कहिए ॥ ७८ ॥

चौ०—यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा । कहहु कृपाल काग कहँ पावा ॥
तुम्ह केहि भाँति सुना मदनारी । कहहु मोहि अति कौतुक भारी ॥१॥

हे कृपालु ! कहिए । यह पवित्र और सुहावना प्रभु-चरित्र उस कौए ने कहाँ पाया ? हे कामदेव के शत्रु ! आपने यह चरित्र किस तरह सुना ? यह कहिए, मुझे इसके सुनने के लिए बड़ा ही कौतुक (उत्कण्ठा) है ॥ १ ॥

गरुड महाग्यानी गुनरासी । हरिसेवक अतिनिकट निवासी ॥
तेहि केहि हेतु काग सन जाई । सुनी कथा मुनिनिकर बिहाई ॥२॥

गरुड़जी तो महा-ज्ञानी, गुणों के समूह, भगवद्भक्त और भगवान् के बहुत ही पास में रहने वाले हैं । उन्होंने मुनि-समुदाय को छोड़कर कौए के पास जाकर कथा क्यों सुनी ? ॥ २ ॥

कहहु कवन बिधि भा संबादा । दोउ हरिभगत काग उरगादा ॥
गौरिगिरा सुनि सरल सुहाई । बोले सिव सादर सुख पाई ॥३॥

कहिए, काक और सर्पभक्षी (गरुड़) दोनों भक्तों का संवाद किस तरह हुआ ? इस प्रकार पार्वतीजी की सरल और सुहावनी वाणी सुनकर शिवजी सुख पाकर आदरपूर्वक बोले—॥ ३ ॥

धन्य सती पावनि मति तोरी । रघु-पति-चरन प्रीति नहिं थोरी ॥
सुनहु परम पुनीत इतिहासा । जो सुनि सकल सोक भ्रम नासा ॥४॥
उपजइ रामचरन बिस्वासा । भवनिधि तर नर बिनहिं प्रयासा ॥५॥

हे सती ! तुम धन्य हो । तुम्हारी बुद्धि पुनीत है । रघुनाथजी के चरणों में तुम्हारी थोड़ी प्रीति नहीं है । अब तुम उस परम पवित्र इतिहास को सुनो, जिसको सुनने से सब सोच और भ्रम नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥ और रामचन्द्रजी के चरणों में विश्वास उत्पन्न हो जाता है जिससे मनुष्य बिना परिश्रम संसार-सागर तर जाता है ॥ ५ ॥

दो०—ऐसिअ प्रस्न बिहंगपति कीन्हि काग सन जाइ ।
सो सब सादर कहिहउँ सुनहु उमा मन लाइ ॥७९॥

हे पार्वति ! पक्षियों के राजा गरुड़ ने भी जाकर काकभुशुण्डिजी से ऐसे ही प्रश्न किये थे । वह प्रसङ्ग अब मैं प्रेम के साथ कहूँगा, तुम मन लगाकर सुनो ॥ ७९ ॥

चौ०—मैं जिमि कथा सुनी भवमोचनि । सो प्रसंग सुनु सुमुखि सुलोचनि ॥
प्रथम दच्छगृह तव अवतारा । सती नाम तब रहा तुम्हारा ॥१॥

हे सुन्दर मुखवाली, हे सुन्दर नेत्रोंवाली प्रिये! संसार से मुक्त करनेवाली कथा मैंने जिस तरह सुनी, वह प्रसङ्ग तुम सुनो। पहले तुम्हारा अवतार दक्ष प्रजापति के घर हुआ था। उस समय तुम्हारा नाम सती था॥ १॥

दच्छजग्य जब भा अपमाना। तुम्ह अति क्रोध तजे तब प्राना॥
मम अनुचरन्ह कीन्ह मखभंगा। जानहु तुम्ह सो सकल प्रसंगा॥२॥

जब दक्ष के यज्ञ में तुम्हारा अपमान हुआ तब तुमने, अत्यन्त क्रोध कर, प्राण त्याग दिये। फिर मेरे सेवकों ने दक्ष का यज्ञ-विध्वंस किया। यह सब कथा तो तुम जानती ही हो॥ २॥

तब अति सोच भयउ मन मोरे। दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरे॥
सुंदर बन गिरि सरित तडागा। कौतुक देखत फिरेउँ बिरागा॥३॥

हे प्रिये! तब मेरे मन में बड़ा सोच हुआ और तुम्हारे वियोग से मैं दुःखी हुआ। फिर मैं वैराग्यवान् होकर सुन्दर वन, पर्वत, नदियाँ और तालाब कौतुक (विस्मय) से देखता फिरा॥ ३॥

गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल एक सुंदर भूरी॥
तासु कनकमय सिखर सुहाये। चारि चारु मोरे मन भाये॥४॥

सुमेरु पर्वत से उत्तर दिशा में कुछ दूर पर एक बड़ा ही सुन्दर नीलपर्वत है। उसके सोने के सुहावने सुन्दर चार शिखर हैं, जो मुझे प्रिय लगे॥ ४॥

तिन्ह पर एक एक बिटप बिसाला। बट पीपर पाकरी रसाला॥
सैलोपरि सर सुंदर सोहा। मनि सोपान देखि मन मोहा॥५॥

उन चारों शिखरों पर क्रमशः बड़, पीपल, पाकर और आम का एक एक सुन्दर वृक्ष है। पर्वत के ऊपर एक सुहावना तालाब है, जिसमें मणियों की सीढ़ियाँ लगी हैं। उसको देखकर मेरा मन मोहित हो गया॥ ५॥

दो०—सीतल अमल मधुर जल जलज बिपुल बहुरंग।
कूजत कलरव हंसगन गुंजत मंजुल भृंग॥८०॥

उसका ठंढा, स्वच्छ और मीठा जल है उसमें बहुत रंगों के कमल खिले हुए हैं। उसमें हंस मीठे शब्दों से बोलते और मनोहर भँवर गूँजते हैं॥ ८०॥

चौ०—तेहि गिरि रुचिर बसइ खग सोई। तासु नास कलपांत न होई॥
मायाकृत गुन दोष अनेका। मोह मनोज आदि अबिबेका॥१॥

उस मनोहर पर्वत पर वह पक्षी रहता है। कल्पान्त में भी उसका नाश नहीं होता। माया के किये हुए अनेक गुण, दोष, मोह, कामदेव और अविचार आदि ॥ १ ॥

रहे ब्यापि समस्त जग माहीं। तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं ॥
तहँ बसि हरिहि भजइ जिमि कागा। सो सुनु उमा सहित अनुरागा ॥२॥

सारे संसार में व्याप्त हो रहे हैं, पर उस पर्वत के पास वे कभी नहीं जाते। हे उमा! वहाँ निवास कर वह काक पक्षी जिस तरह हरि-भजन करता है, उसको तुम प्रेम-सहित सुनो ॥२॥

पीपर तरु तर ध्यान सो धरई। जाप जग्य पाकरि तर करई ॥
आमछाँह कर मानस पूजा। तजि हरिभजनु काजु नहिं दूजा ॥३॥

वह पीपल के वृक्ष के नीचे तो ध्यान करता है, पाकर के नीचे जप-यज्ञ करता है और आम की छाया में मानसिक पूजा करता है। भगवद्भजन छोड़कर उसको दूसरा कुछ काम ही नहीं है ॥ ३ ॥

बर तर कह हरि-कथा-प्रसंगा। आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा ॥
रामचरित बिचित्र बिधि नाना। प्रेम सहित कर सादर गाना ॥४॥

वह बड़ के नीचे भगवत्कथा-प्रसङ्ग का वर्णन करता है, वहाँ अनेक पक्षी सुनने आते हैं। वह बड़े विचित्र रामचरित्र को अनेक विधि से, प्रेम एवं आदर के साथ गान करता है ॥ ४ ॥

सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरंतर जो तेहि ताला ॥
जब मैं जाइ सो कौतुक देखा। उर उपजा आनंद बिसेखा ॥५॥

उस तालाब में जो निरन्तर बसते हैं वे निर्मल-बुद्धिवाले हंस उस कथा को सुनते हैं। जब मैंने जाकर वह कौतुक (विस्मयजनक प्रसङ्ग) देखा तब मेरे हृदय में विशेष आनन्द हुआ ॥ ५ ॥

दो०—तब कछु काल मरालतनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघु-पति-गुन पुनि आयउँ कैलास ॥८१॥

तब मैंने हंस का शरीर धारण कर वहाँ कुछ समय तक निवास किया और आदर के साथ रघुनाथजी के गुण सुनकर मैं फिर कैलास पर आ गया ॥ ८१ ॥

चौ०—गिरिजा कहेउँ सो सब इतिहासा। मैं जेहि समय गयउँ खग पासा ॥
अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू। गयउ काग पहिं खग-कुल-केतू ॥१॥

हे पार्वती! मैं जिस समय उस पक्षी (काकभुशुण्ड) के पास गया था, वह सब इतिहास मैंने तुमसे कह दिया। अब तुम वह कथा सुनो, जिस कारण पक्षियों के वंश का ध्वज (श्रेष्ठ) गरुड़ उस काक के पास गया था ॥ १ ॥

जब रघुनाथ कीन्ह रनक्रीड़ा । समुझत चरित होत मोहि ब्रीड़ा ॥
इंद्रजीत कर आपु बँधायो । तब नारद मुनि गरुड पठायो ॥२॥

जब रघुनाथजी ने युद्ध का खेल किया, उस चरित्र को समझते हुए मुझे बड़ी लज्जा होती है। वे आप इन्द्रजित् के हाथ से बँध गये। उस समय नारदजी ने गरुड़ को लङ्का में भेजा था ॥ २ ॥

बंधन काटि गयउ उरगादा । उपजा हृदय प्रचंड बिषादा ॥
प्रभुबंधन समुझत बहु भाँती । करत बिचार उरग-आराती ॥३॥

नागपाश के बन्धन काटकर गरुड़ चला गया, किन्तु उसके हृदय में प्रबल दुःख उत्पन्न हुआ। प्रभु रामचन्द्रजी का बँध जाना समझकर सर्प-शत्रु गरुड़ बहुत तरह विचार करने लगा ॥ ३ ॥

ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा । माया - मोह - पार परमीसा ॥
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं । देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं ॥४॥

वह सोचने लगा—मैंने सुना था—जो व्यापक, ब्रह्म, शुद्ध, वाणी का स्वामी, माया और मोह से परे परमेश्वर है, उसने जगत् में अवतार लिया हुआ है, पर मैंने यहाँ तो वह कुछ प्रभाव नहीं देखा ॥ ४ ॥

दो०—भवबंधन तें छूटहिं नर जपि जाकर नाम ।
खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम ॥८२॥

जिसका नाम जपकर मनुष्य संसार-बन्धन से छूट जाते हैं, उसी राम को ज़रा से राक्षस (इन्द्रजित्) ने नागपाश में बाँध लिया ! ॥ ८२ ॥

चौ०—नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगट न ग्यान हृदय भ्रम छावा ॥
खेदखिन्न मन तर्क बढाई । भयउ मोहबस तुम्हरिहि नाईं ॥१॥

गरुड़ ने कई तरह से मन को समझाया, पर उसके हृदय में ज्ञान तो प्रकट हुआ नहीं, वरन भ्रम छा गया। हे पार्वति! तब उस खेद से दुखी हो, मन में तर्क बढ़ाकर, तुम्हारी ही नाईं गरुड़ मोह के अधीन हो गया ॥ १ ॥

ब्याकुल गयउ देवरिषि पाहीं । कहेसि जो संसय निज मन माहीं ॥
सुनि नारदहिं लागि अति दाया । सुनु खग प्रबल राम कै माया ॥२॥

तब गरुड़ व्याकुल होकर देवर्षि नारदजी के पास गये और उन्होंने उनसे अपने मन का सन्देह कहा। वह बात सुनकर नारदजी को बड़ी दया लगी। उन्होंने कहा—हे पक्षी! सुनो। रामचन्द्रजी की माया बड़ी प्रबल है ॥ २ ॥

जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई॥
जेहि बहु बार नचावा मोही। सोइ ब्यापी बिहंगपति तोही॥३॥

जो ज्ञानियों के चित्त को खींच कर हठ-पूर्वक मन में व्यामोह (बड़ी घबराहट) उत्पन्न कर देती है और जिस माया ने मुझे बहुत बार नचाया है, हे पक्षिराज! वही माया इस समय तुमको व्याप गई है॥ ३॥

महामोह उपजा उर तोरे। मिटिहि न बेगि कहे खग मोरे॥
चतुरानन पहिं जाहु खगेसा। सोइ करेहु जो देहिं निदेसा॥४॥

हे पक्षी! तुम्हारे अन्तःकरण में बड़ा मोह उत्पन्न हो गया है, यह मेरे कहने (समझाने) से जल्दी निवृत्त न होगा। इसलिए हे पक्षिराज! तुम चतुर्मुख (ब्रह्माजी) के पास जाओ और वे जो आज्ञा दें वही तुम करना॥ ४॥

दो०—अस कहि चले देवरिषि करत राम-गुन-गान।
हरि-माया-बल बरनत पुनि पुनि परम सुजान॥८३॥

परम चतुर देवर्षि नारदजी ऐसा कहकर रामचन्द्रजी के गुण गाते और भगवान् की माया का बल बार बार वर्णन करते हुए चल दिये॥ ८३॥

चौ०—तब खगपति बिरंचि पहिं गयऊ। निज संदेह सुनावत भयऊ॥
सुनि बिरंचि रामहिं सिरु नावा। समुझि प्रताप प्रेम उर छावा॥१॥

तब पक्षिराज गरुड़ ब्रह्माजी के पास गये और उनको उन्होंने अपना संशय सुनाया। ब्रह्माजी ने वह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी को सिर नवाया, और राम-प्रताप को समझकर उनके हृदय में प्रेम छा गया॥ १॥

मन महुँ करइ बिचार बिधाता। मायाबस कबि कोबिद ग्याता॥
हरिमाया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा॥२॥

ब्रह्माजी मन में विचार करने लगे कि कवि, चतुर, विद्वान् सब माया के वश में हैं। भगवान् की माया का अपार प्रभाव है, जिसने अनेक बार मुझे भी नचाया है[1]॥ २॥

१—प्रलय के अन्त में सृष्टि होने लगी थी, तब पहले ब्रह्माजी ने भगवान् के नाभि-कमल में उत्पन्न हो जगत् को न देख सर्वत्र जल ही जल देखा। यह कमल इस पानी के नीचे ज़मीन में किसी आधार पर होगा, ऐसा समझकर ब्रह्माजी कमलनाल के भीतर उतरे तो हज़ारों वर्ष पर्यन्त उन्हें उसका अंत न मिला। फिर ऊपर आकर आकाशवाणी में "तप, तप" शब्द सुन कर उन्होंने तप किया। तब भगवान् नारायण ने ब्रह्माजी को दर्शन दे उन्हें वेद पढ़ाये और ज्ञान दिया; पश्चात् उन्होंने पूर्वक्रमानुसार सब सृष्टि रची। यह बात वेद में भी मिलती है, श्रीमद्भागवतादि पुराणों में तो सविस्तर दी है। देखिए

अग-जग-मय जग मम उपराजा। नहिँ आचरजु मोह खगराजा॥
तब बोले बिधि गिरा सुहाई। जान महेस राम प्रभुताई॥३॥

स्थावर और जङ्गममयी सब सृष्टि मेरी रचो हुई है, अतः गरुड़ को जो मोह हुआ तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। तब ब्रह्माजी ने गरुड़ को सुहावनी वाणी से कहा—रामचन्द्रजी की प्रभुता (सामर्थ्य) को महादेवजी जानते हैं॥ ३॥

बैनतेय शंकर पहिँ जाहू। तात अनत पूछहु जनि काहू॥
तहँ होइहि तव संसयहानी। चलेउ बिहंग सुनत बिधिबानी॥४॥

हे तात, विनतापुत्र गरुड़! तुम शङ्करजी के पास जाओ, और किसी से मत पूछना। वहाँ तुम्हारा सन्देह मिट जायगा। ऐसी ब्रह्माजी की वाणी सुनकर गरुड़ चल दिये॥ ४॥

दो०—परमातुर बिहंगपति आयउ तब मोहि पास।
जात रहेउँ कुबेरगृह रहिहु उमा कैलास॥८४॥

हे उमा! तब पक्षिराज (गरुड़) बहुत ही आतुर होकर मेरे पास आये। मैं उस समय कुबेर के भवन को जा रहा था और तुम कैलास ही पर थीं॥ ८४॥

चौ०—तेहि मम पद सादर सिरु नावा। पुनि आपन संदेह सुनावा॥
सुनि ताकरि बिनीत मृदुबानी। प्रेम सहित मैं कहेउँ भवानी॥१॥

उन्होंने बड़े आदर के साथ मेरे चरणों में सिर नवाया, फिर अपना सन्देह सुनाया। हे भवानी! उनकी विनय-भरी कोमल वाणी सुनकर मैंने प्रेम-सहित उनसे कहा—॥ १॥

मिलेहु गरुड मारग महँ मोही। कवन भाँति समुझावउँ तोही॥
तबहिँ होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिय सतसंगा॥२॥

भा० स्कं० २। ३ और वेद की श्रुति "यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥" "ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत, ततो रात्र्यजायत, ततः समुद्रो अर्णवः, समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" ॥ १॥ इत्यादि। श्रीकृष्णावतार में अघासुर के मारे जाने पर ब्रह्मा ने फिर मोहित होकर पहले श्रीकृष्ण के बछड़ों को और बछड़ों को ढूँढ़ने जाने पर गोपों के लड़कों को हरकर अपनी माया से सुला दिया। इधर श्रीकृष्णजी ने लकड़ी, सींगी, वंसी, पत्ते, सींके, भूषण, वस्त्रादि समेत गोप-बालक और गौओं के बछड़े बनकर एक वर्ष भर ज्यों का त्यों सब काम चलाया। तब ब्रह्मा ने वहाँ आ यह सब देखकर चकित हो, उन सभी को नारायणरूप और एक एक के नाभि-कमल में एक एक ब्रह्मा देखकर अचम्भा किया। फिर सब रूप अन्तर्धान हो गये, एक ही श्रीकृष्ण रह गये। ब्रह्माजी की माया का पर्दा खुल गया। उन्होंने श्रीकृष्ण का दर्शन किया और उनकी स्तुति की। देखिए भा० स्कं० १० अ० १३। १४।

हे गरुड़ ! तुम मुझे रास्ते में मिले हो, तुमको मैं किस तरह समझाऊँ ? जब बहुत काल तक सत्सङ्ग किया जाय तब संशय मिटे ॥ २ ॥

सुनिय तहाँ हरिकथा सुहाई । नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई ॥
जेहि महँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना ॥३॥

वहाँ सत्सङ्ग में सुहावना हरि-कथा सुनना होगा, जिसे ऋषियों ने अनेक प्रकार से गाया है, जिस कथा के आदि (प्रारम्भ), मध्य और अंत में स्वामी भगवान् रामचन्द्र ही के विषय में सब कुछ है ॥ ३ ॥

नित हरिकथा होति जहँ भाई । पठवउँ तहाँ सुनहु तुम्ह जाई ॥
जाइहि सुनत सकल संदेहा । रामचरन होइहि अतिनेहा ॥४॥

इसलिए भाई ! मैं तुमको वहाँ भेजता हूँ, जहाँ नित्य हरि-कथा होती है । वहाँ जाकर तुम कथा सुनो । उसके सुनते ही तुम्हारा सब सन्देह नष्ट हो जायगा और रामचन्द्रजी के चरणों में अत्यन्त स्नेह हो जायगा ॥ ४ ॥

दो०—बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ अनुराग ॥८५॥

सत्सङ्ग बिना भगवत्कथा नहीं मिलती, कथा बिना मोह नहीं मिटता और मोह का नाश हुए बिना रामचन्द्रजी के चरणों में दृढ़ प्रेम नहीं होता ॥ ८५ ॥

चौ०—मिलहिँ न रघुपति बिनु अनुरागा । किये जोग जप ग्यान बिरागा ॥
उत्तर दिसि सुंदर गिरि नीला । तहँ रह कागभुसुंडि सुसीला ॥१॥

बिना प्रेम के श्रीरामचन्द्रजी—योग, जप, ज्ञान, वैराग्य साधन करने पर भी—नहीं मिलते । उत्तर दिशा में सुन्दर नील पर्वत है । वहाँ सुशील काकभुशुण्डिजी रहते हैं ॥ १ ॥

राम-भगति-पथ परमप्रबीना । ग्यानी गुनगृह बहुकालीना ॥
रामकथा सो कहइ निरंतर । सादर सुनहिँ बिबिध बिहंगबर ॥२॥

वे रामभक्ति के मार्ग में बड़े दक्ष हैं, ज्ञानी हैं, गुणों के भाण्डार हैं और बहुत पुराने हैं । वे सदा रामकथा कहा करते हैं जिसे अनेक श्रेष्ठ पक्षी आदरपूर्वक सुना करते हैं ॥ २ ॥

जाइ सुनहु तहँ हरिगुन भूरी । होइहि मोहजनित दुख दूरी ॥
मैं जब तेहि सब कहा बुझाई । चलेउ हरषि मम पद सिर नाई ॥३॥

वहाँ जाकर तुम खूब हरिगुण सुनो, उससे तुम्हारा मोह-जन्य दुःख दूर हो जायगा। मैंने जब गरुड़ को सब समझाकर कहा तब वह, मेरे चरणों में प्रणाम कर, चल दिया ॥ ३ ॥

तातें उमा न मैं समुझावा। रघुपति-कृपा मरम मैं पावा ॥
होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवइ चह कृपानिधाना ॥४॥

हे पार्वति! मैंने रघुनाथजी की कृपा का मर्म (भीतरी भावार्थ) जान लिया, इसी लिए गरुड़ को यहाँ नहीं समझाया। मैंने समझ लिया कि गरुड़ ने कभी अभिमान किया होगा, उसको कृपा-निधान भगवान् नष्ट करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

कछु तेहि तें पुनि मैं नहिं राखा। समुझइ खग खग ही कै भाखा ॥
प्रभुमाया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ग्यानी ॥५॥

कुछ इसलिए भी मैंने गरुड़ को (पास) नहीं रक्खा कि पक्षी पक्षी ही की भाषा भली भाँति समझ सकता है। हे भवानी! प्रभुजी की माया बलवती है। ऐसा कौन ज्ञानी है जिसको वह मोह न ले ॥ ५ ॥

दो०—ग्यानी भगत-सिरोमनि त्रि-भुवन-पति कर जान ॥
ताहि मोह माया नर पावँर करहिं गुमान ॥८६॥

गरुड़जी तो ज्ञानी, भक्तों के मुकुटमणि और त्रिलोकीनाथ के वाहन हैं, उनको भी माया व्याप गई, फिर तुच्छ मनुष्य अभिमान करते हैं! ॥ ८६ ॥

सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को हइ बपुरा आन।
अस जिय जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान ॥८७॥

जो माया महादेवजी और ब्रह्माजी को भी मोहित कर देती है, भला उसके सामने बेचारा दूसरा कोई क्या चीज है। मुनि-जन अपने जी में ऐसा समझकर माया के स्वामी भगवान् रामचन्द्रजी का भजन करते हैं ॥ ८७ ॥

चौ०—गयउ गरुड जहँ बसइ भुसुंडी। मति अकुंठ हरिभगति अखंडी ॥
देखि सैल प्रसन्न मन भयऊ। माया मोह सोच सब गयऊ ॥१॥

फिर गरुड़ वहाँ गये जहाँ वे काकभुशुण्डिजी निवास करते हैं, जिनकी अकुण्ठित बुद्धि और अखण्ड भगवद्भक्ति है। नील पर्वत को देखते ही गरुड़ का मन प्रसन्न हो गया, उनका माया-मोह और सोच सब चला गया ॥ १ ॥

करि तडाग मज्जनु जलपाना। बट तर गयउ हृदय हरषाना ॥
बृद्ध बृद्ध बिहंग तहँ आये। सुनइ राम के चरित सुहाये ॥२॥
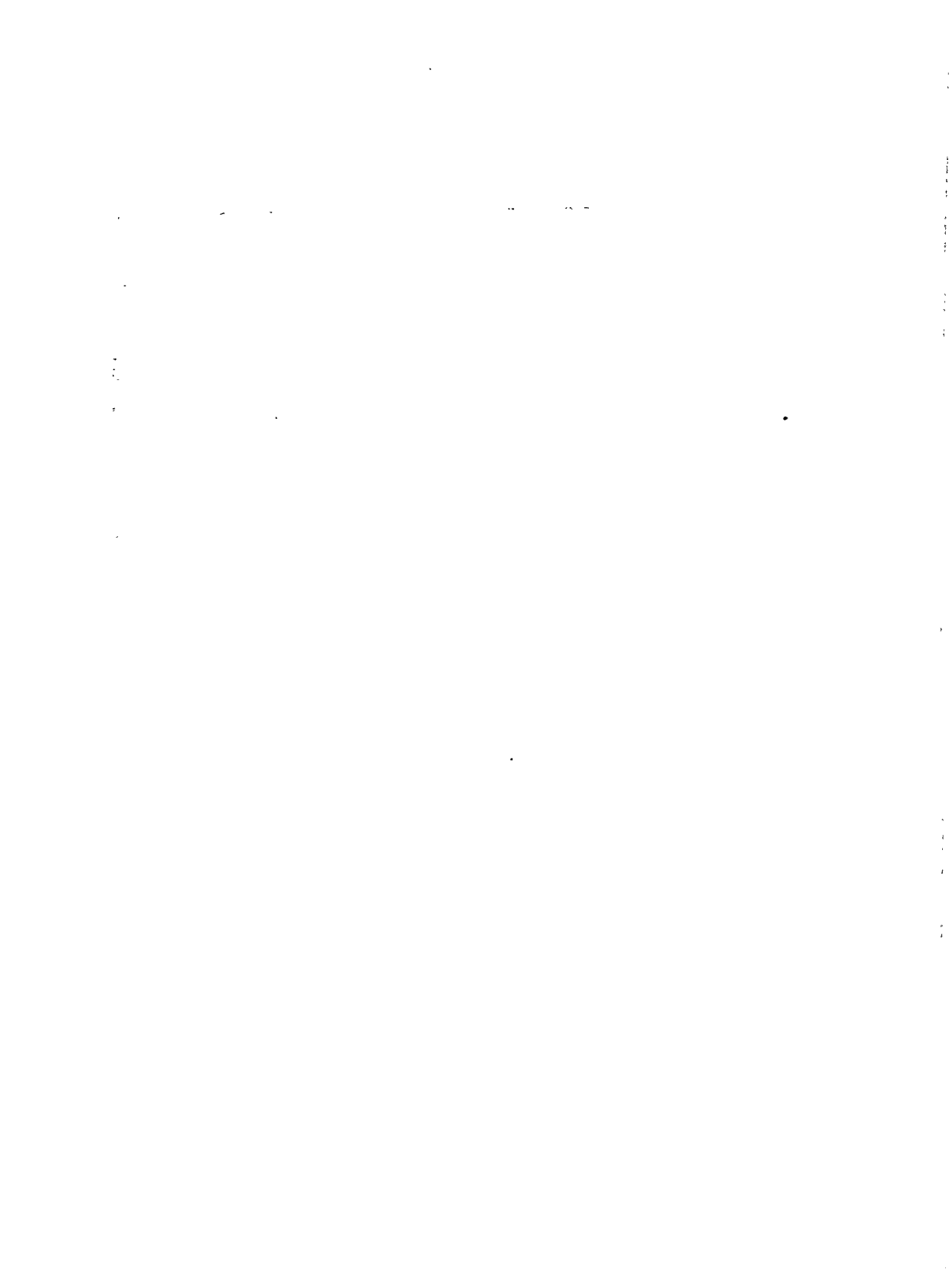
अति आदर खगपति कर कीन्हा।
स्वागत पूछि सुआसन दीन्ह ॥—पृष्ठ १०३७

वे तालाब में स्नान और जलपान कर हृदय में प्रसन्न हो बड़ के वृक्ष के नीचे गये। वहाँ वृद्ध वृद्ध पक्षी आये, जो सुहावने रामचरित्र सुनते थे ॥ २ ॥

कथा अरंभ करइ सोइ चाहा। तेही समय गयउ खगनाहा ॥
आवत देखि सकल खगराजा। हरषेउ बायस सहित समाजा ॥३॥

काकभुशुण्डिजी कथा प्रारम्भ करना ही चाहते थे कि उसी समय वहाँ गरुड़ जा पहुँचे। तब सम्पूर्ण पक्षियों के राजा गरुड़ को आते देखकर वे (काक) समाज-सहित प्रसन्न हुए ॥ ३ ॥

अति आदर खगपति कर कीन्हा। स्वागत पूछि सुआसन दीन्हा ॥
करि पूजा समेत अनुरागा। मधुर बचन तब बोलेउ कागा ॥४॥

उन्होंने पक्षिराज का बड़ा आदर किया और स्वागत (कुशल) पूछकर उन्हें सुन्दर आसन दिया। फिर प्रेम के साथ गरुड़ को पूजाकर काक मीठे वचनों से बोला—॥ ४ ॥

दो०—नाथ कृतारथ भयउँ मैं तव दरसन खगराज।
आयसु देहु सो करउँ अब प्रभु आयहु केहि काज ॥८८॥

हे पक्षिराज! नाथ! आज मैं आपके दर्शन से कृतार्थ हुआ हूँ। अब आप आज्ञा दीजिए, वही मैं करूँ। हे प्रभो! किस कार्य के लिए आपका आना हुआ है ॥ ८८ ॥

सदा कृतारथ-रूप तुम्ह कह मृदुबचन खगेस।
जेहि कै अस्तुति सादर निज मुख कीन्हि महेस ॥८९॥

यह सुनकर पक्षिराज गरुड़ ने कोमल वचनों में कहा—आप सदा ही कृतार्थरूप हैं, श्रीमहादेव जी ने आदर के साथ अपने मुख से आपकी प्रशंसा की है ॥ ८९ ॥

चौ०—सुनहु तात जेहि कारज आयउँ। सो सब भयउ दरस तव पायउँ ॥
देखि परम पावन तव आस्रम। गयउ मोह संसय नाना भ्रम ॥१॥

हे तात! सुनिए। मैं जिस काम के लिए यहाँ आया हूँ, वह सब आपके दर्शन पाते ही सिद्ध हो गया। आपका यह परम पावन आश्रम देखकर मेरा मोह, सन्देह और नाना प्रकार का भ्रम नष्ट हो गया ॥ १ ॥

अब श्री-राम-कथा अति पावनि। सदा सुखद दुख-पुंज-नसावनि ॥
सादर तात सुनावहु मोही। बार बार बिनवउँ प्रभु तोही ॥२॥

हे तात! अब अत्यन्त पावनी, सदा सुख देनेवाली, दुःख-समूहों को नष्ट करनेवाली श्रीराम-कथा मुझे आदर के साथ सुनाइए। हे प्रभु! मैं बार बार आपसे यही प्रार्थना करता हूँ ॥ २ ॥

सुनत गरुड कै गिरा बिनीता । सरल सुप्रेम सुखद सुपुनीता ॥
भयउ तासु मन परमउछाहा । लाग कहइ रघु-पति-गुनगाहा ॥३॥

गरुड़ की सरल, सुन्दर प्रेमयुक्त, सुखदायिनी, अति पवित्र, विनय की वाणी सुनकर काकभुशुण्डिजी के मन में बड़ा उत्साह हो गया और वे रघुनाथजी के गुण-समूह वर्णन करने लगे ॥ ३ ॥

प्रथमहिँ अति अनुराग भवानी । राम-चरित-सर कहेसि बखानी ॥
पुनि नारद कर मोह अपारा । कहेसि बहुरि रावनअवतारा ॥४॥
प्रभु-अवतार-कथा पुनि गाई । तब सिसुचरित कहेसि मन लाई ॥५॥

हे भवानी ! उन्होंने पहले बड़े प्रेम से रामचरित-मानस सरोवर का वर्णन किया, फिर नारदजी के अपार मोह का वर्णन किया, फिर रावण का जन्म कहा ॥ ४ ॥ इसके पश्चात् राम-अवतार की कथा गाई, तब उन्होंने रामचन्द्रजी के बालचरित्र मन लगाकर वर्णन किये ॥ ५ ॥

दो०—बालचरित कहि ब्रिबिध बिधि मन महुँ परम उछाह ।
रिषिआगमनु कहेसि पुनि श्री-रघु-बीर-बिबाह ॥६०॥

नाना प्रकार के बालचरित्र वर्णन कर, मन में अत्यन्त उत्साहित होकर, विश्वामित्र मुनि का आगमन कहकर फिर श्रीरघुवीर के विवाहोत्सव का वर्णन किया ॥ ६० ॥

चौ०—बहुरि राम-अभिषेक-प्रसंगा । पुनि नृपबचन राज-रस-भंगा ॥
पुरबासिन्ह कर बिरह बिषादा । कहेसि राम-लछिमन-संबादा ॥१॥

फिर राम-राज्याभिषेक का प्रसङ्ग, फिर दशरथजी के प्रतिज्ञापालन के लिए राज्यरस का भङ्ग, नगर-वासियों का वियोग तथा दुःख और फिर श्रीराम-लक्ष्मण का संवाद कहा ॥ १ ॥

बिपिनगवन केवट-अनुरागा । सुरसरि उतरि निवास प्रयागा ॥
बालमीकि-प्रभु-मिलन बखाना । चित्रकूट जिमि बस भगवाना ॥२॥

फिर रामचन्द्रजी का वन में जाना, गुह का प्रेम, गङ्गा उतर कर प्रयाग में निवास, वाल्मीकि और रामचन्द्रजी का मिलाप कहा; फिर जिस तरह भगवान् चित्रकूट में रहे वह प्रसङ्ग कहा ॥ २ ॥

सचिवागमनु नगर नृपमरना । भरतागमनु प्रेम बहु बरना ॥
करि नृपक्रिया संग पुरबासी । भरतु गये जहँ प्रभु सुखरासी ॥३॥

फिर मन्त्री का (रामचन्द्रजी को वन में छोड़कर) अयोध्या लौट आना, राजा दशरथ का मरना, भरतजी का (मामा के यहाँ से) आना और उनका अत्यन्त प्रेम वर्णन किया। फिर भरतजी का राजा दशरथ की क्रिया कर सब पुरवासियों को साथ लेकर जहाँ सुख-राशि रामचन्द्रजी थे वहाँ जाना कहा ॥ ३ ॥

पुनि रघुपति बहु बिधि समुझाये। लेइ पादुका अवधपुर आये ॥
भरत-रहनि सुर-पति-सुत-करनी। प्रभु अरु अत्रि भेंट पुनि बरनी ॥४॥

फिर भरतजी को रामचन्द्रजी ने बहुत तरह समझाया तब वे पादुका लेकर अयोध्यापुरी को लौट आये। भरतजी का स्थिति (वे नन्दिग्राम में जिस नियम से रहते थे), उधर इन्द्र के पुत्र (जयन्त) की करतूत (कौआ बनकर चोंच मारना) तथा रामचन्द्रजी और अत्रि मुनि की भेंट कही ॥ ४ ॥

दो०—कहि बिराध-बध जेहि बिधि देह तजी सरभंग।
बरनि सुतीछन-प्रीति पुनि प्रभु अगस्ति सतसंग ॥६१॥

विराध का वध कहकर जिस तरह शरभङ्ग मुनि ने शरीर-त्याग किया वह कहा। फिर सुतीक्ष्ण मुनि की प्रीति वर्णन कर रामचन्द्रजी और अगस्त्य मुनि का सत्सङ्ग वर्णन किया ॥ ६१ ॥

चौ०—कहि दंडक बन पावनताई। गीध मइत्री पुनि तेहि गाई ॥
पुनि प्रभु पंचबटी कृत बासा। भंजी सकल मुनिन्ह कै त्रासा ॥१॥

उन्होंने दण्डकारण्य की पवित्रता और जटायु गीध से मित्रता कही। फिर रामचन्द्रजी का पंचवटी में निवास करना और मुनि-जनों का सब भय मिटाना कहा ॥ १ ॥

पुनि लछिमन उपदेस अनूपा। सूपनखा जिमि कीन्ह कुरूपा ॥
खर-दूषन-बध बहुरि बखाना। जिमि सबु मरमु दसानन जाना ॥२॥

फिर रामचन्द्रजी का लक्ष्मणजी को अनुपम उपदेश देना, शूर्पणखा को कुरूपा करना और खर-दूषण का वध कहा; फिर रावण ने जिस तरह सब मर्म (भेद) जाना वह कहा ॥२॥

दस-कंधर-मारीच-बतकही। जेहि बिधि भई सो सब तेहि कही ॥
पुनि मायासीता कर हरना। श्री-रघु-बीर-बिरह कछु बरना ॥३॥

रावण और मारीच का वार्तालाप जिस तरह हुआ वह सब कहा; फिर माया की सीता का हरण होना तथा श्रीरघुनाथजी का विरह-वृत्तान्त कुछ वर्णन किया ॥ ३ ॥

पुनि प्रभु गीधक्रिया जिमि कीन्ही। बधि कबंध सबरिहि गति दीन्ही ॥
बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा। जेहि बिधि गये सरोबरतीरा ॥४॥

फिर रघुनाथजी ने जिस तरह गीध (जटायु) की क्रिया की, कबन्ध का वध कर शबरी को गति दी, और जिस तरह रामचन्द्रजी विरह वर्णन करते हुए पंपासरोवर के तीर गये वह प्रसङ्ग कहा ॥ ४ ॥

दो०—प्रभु-नारद-संबाद कहि मारुति-मिलन-प्रसंग ।
पुनि सुग्रीवमिताई बालिप्रान कर भंग ॥६२॥

रामचन्द्रजी और नारदजी का संवाद कहकर हनुमान्‌जी के मिलने का प्रसङ्ग कहा। फिर सुग्रीव से मित्रता करना और बाली का मारा जाना कहा ॥ ६२ ॥

कपिहि तिलक करि प्रभुकृत सैल प्रबरषन बास ।
बरनत बरषा सरद अरु रामरोष कपित्रास ॥६३॥

सुग्रीव को राजतिलक कर रामचन्द्रजी का प्रवषण पर्वत पर बसना, फिर वर्षा और शरद्‌ऋतुओं का वर्णन करते हुए रामचन्द्रजी का क्रोध करना और सुग्रीव का उससे डरना कहा ॥ ६३ ॥

चौ०—जेहि बिधि कपिपति कीस पठाये । सीताखोजन सकल सिधाये ॥
बिबरप्रबेस कीन्ह जेहि भाँती । कपिन्ह बहोरि मिला संपाती ॥१॥

फिर जिस तरह वानराधिप सुग्रीव ने बन्दर सर्वत्र भेजे और वे सब सीताजी को ढूँढ़ने गये, जिस तरह बन्दरों ने विवर (गुफा) में प्रवेश किया और जैसे संपाती (जटायु का भाई) मिला था वह कहा ॥ १ ॥

सुनि सब कथा समीरकुमारा । नाँघत भयउ पयोधि अपारा ॥
लंका कपि प्रबेस जिमि कीन्हा । पुनि सीतहि धीरजु जिमि दीन्हा ॥२॥

संपाती से सब कथा (लङ्का जाने पर सीताजी के मिलने की) सुनकर वायु-पुत्र हनुमान् अपार समुद्र को नाँघ गये। फिर वानर हनुमान् ने जिस तरह लङ्का में प्रवेश किया और सीताजी को जिस तरह धैर्य दिया वह भी कहा ॥ २ ॥

बन उजारि रावनहिँ प्रबोधी । पुर दहि नाँघेउ बहुरि पयोधी ॥
आये कपि सब जहँ रघुराई । बैदेही कै कुसल सुनाई ॥३॥

हनुमान् का वन (अशोकवाटिका) उजाड़ कर, रावण को समझा कर और लङ्कापुरी जलाकर फिर समुद्र को नाँघ आना कहा। फिर जहाँ रघुनाथजी थे वहाँ सब बन्दर आये और उन्होंने सीताजी का कुशल-समाचार सुनाया ॥ ३ ॥

सेनसमेत जथा रघुबीरा । उतरे जाइ बारि-निधि-तीरा ॥
मिला बिभीषनु जेहि बिधि आई । सागरनिग्रह कथा सुनाई ॥ ४ ॥

फिर जिस तरह रघुनाथजी सेना-समेत समुद्र के तीर जाकर उतरे, वहाँ जिस तरह विभीषण आकर उनसे मिला, वह प्रसङ्ग भी कहा, और समुद्र के वश कर लेने की कथा भी सुनाई ॥ ४ ॥

दो०—सेतु बाँधि कपिसेन जिमि उतरी सागरपार ।
गयउ बसीठी बीरबर जेहि बिधि बालिकुमार ॥ ६४ ॥

फिर बन्दरों की फ़ौज जिस तरह सेतु बाँधकर समुद्र के पार उतरी और शूरवीरों में उत्तम बालि-पुत्र जैसे दूत बनकर गया वह कहा ॥ ९४ ॥

निसि-चर-कीस-लराई बरनेसि बिबिध प्रकार ।
कुंभकरन घननाद कर बल-पौरुष-संहार ॥ ६५ ॥

फिर राक्षसों और बन्दरों की लड़ाई नाना तरह की वर्णन की और कुम्भकर्ण तथा मेघनाद के बल, पुरुषार्थ का संहार और निरूपण किया ॥ ९५ ॥

चौ०-निसि-चर-निकर-मरन बिधि नाना । रघु-पति-रावन-समर बखाना ।
रावनबध मंदोदरि सोका । राजु बिभीषन देव असोका ॥१॥

राक्षसों के समूहों का मरण और रामचन्द्रजी तथा रावण का युद्ध अनेक प्रकार से कहा । रावण का वध, मन्दोदरी का सोच, विभीषण को निष्कण्टक राज्य देना कहा ॥ १ ॥

सीता-रघु-पति-मिलन बहोरी । सुरन्ह कीन्हि अस्तुति कर जोरी ॥
पुनि पुष्पक चढ़ि कपिन्ह समेता । अवध चले प्रभु कृपानिकेता ॥ २ ॥

फिर सीताजी का रामचन्द्रजी से मिलना और देवता का हाथ जोड़ कर स्तुति करना वर्णन किया । फिर पुष्पक विमान पर वानरों सहित सवार होकर कृपानिधान प्रभु रामचन्द्रजी अयोध्या को चले यह भी कहा ॥ २ ॥

जेहि बिधि राम नगर निज आये । बायस बिसद चरित सब गाये ॥
कहेसि बहोरि रामअभिषेका । पुर बरनन नृपनीति अनेका ॥३॥

जिस तरह रामचन्द्रजी अपने नगर (अयोध्या) को आये, ये सब विशद चरित्र काकभुशुण्डजी ने कहे । फिर उन्होंने रामचन्द्रजी का राज्याभिषेक और अयोध्या पुरी का वर्णन कर अनेक प्रकार की राजनीति का वर्णन किया ॥ ३ ॥

कथा समस्त भुसुंडि बखानी । जो मैं तुम्ह सन कही भवानी ॥
सुनि सब रामकथा खगनाहा । कहत बचन मन परमउछाहा ॥ ४ ॥

हे पार्वति ! मैंने तुमसे जो कथा कही, वह सब कथा काकभुशुण्डजी ने गरुड़ से कही । सब राम-कथा सुनकर गरुड़ मन से परम उत्साहित हो ये वचन कहने लगा—॥ ४ ॥

सो०—गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघु-पति-चरित ।
भयउ राम-पद-नेह तव प्रसाद बायसतिलक ॥ ९६ ॥

हे कौओं (पक्षियों) में भूषण स्वरूप ! (काकभुशुण्डिजी !) मैंने सम्पूर्ण रघुपति-चरित्र सुना, मेरा सन्देह निवृत्त हो गया और आपकी कृपा से रामचन्द्रजी के चरणों में मेरा स्नेह हो गया ॥ ९६ ॥

मोहि भयउ अति मोह प्रभुबंधन रन महुँ निरखि ।
चिदानंद संदोह रामु बिकल कारन कवन ॥ ९७ ॥

रण में प्रभुजी का बन्धन देखकर मुझे बहुत ही मोह हो गया था। मैं सोचता था कि चैतन्य-आनन्दघन रामचद्रजी किस कारण इतने व्याकुल हो रहे हैं ॥ ९७ ॥

चौ०—देखि चरित अति नर अनुसारी । भयउ हृदय मम संसय भारी ॥
सोइ भ्रम अब हितकर मैं जाना । कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना ॥१॥

रामचन्द्रजी के चरित्रों को बिलकुल ही मनुष्यों के अनुसार देखकर मेरे हृदय में भारी संशय हो गया था। उसी भ्रम को मैं अब अपने लिए हितकारी जानता हूँ। वास्तव में कृपानिधान ने मुझ पर यह अनुग्रह किया था ॥ १ ॥

जो अति आतप ब्याकुल होई । तरुछाया सुख जानइ सोई ॥
जौं नहिं होत मोह अति मोही । मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही ॥२॥

वृक्ष की छाया के सुख को वही जानता है जो कड़ी धूप से व्याकुल होता है। जो मुझे अत्यन्त मोह न उपजा होता तो हे तात ! मैं आपसे किस तरह मिलता ? ॥ २ ॥

सुनतेउँ किमि हरिकथा सुहाई । अतिबिचित्र बहु बिधि तुम्ह गाई ॥
निगमागम पुरानमत एहा । कहहिं सिद्ध मुनि नहि संदेहा ॥३॥

जिस अत्यन्त विचित्र, सुहावनी हरि-कथा का वर्णन आपने अनेक विधियों से किया है उसको मैं किस तरह सुनता ? वेद, शास्त्र और पुराणों का भी यही मत है और सिद्ध मुनि भी यही कहते हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं कि ॥ ३ ॥

संत बिसुद्ध मिलहिँ परि तेही । चितवहिँ राम कृपा करि जेही ॥
रामकृपा तव दरसनु भयऊ । तव प्रसाद मम संसय गयऊ ॥ ४ ॥

विशेष शुद्ध सन्त उसी को मिलते हैं, जिसको रामचन्द्रजी दया की दृष्टि से देखते हैं। राम-कृपा ही से मुझे आपका दर्शन हुआ और आपके प्रसाद से मेरा सन्देह जाता रहा ॥ ४ ॥

दो०—सुनि बिहंगपति बानी सहित बिनय अनुराग।
पुलक गात लोचन सजल मन हरषेउ अति काग ॥९८॥

पक्षिराज गरुड़जी की विनय और प्रेम-सहित वाणी सुनकर काकभुशुण्डिजी का शरीर पुलकित हुआ, उनके नेत्रों में आँसू भर आये और वे मन में बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ ९८ ॥

स्रोता सुमति सुसील सुचि कथा-रसिक हरिदास।
पाइ उमा अति गोप्य अपि सज्जन करहिं प्रकास ॥९९॥

हे पार्वति ! श्रेष्ठ बुद्धिमान्, सुशील, पवित्र, कथा का स्वाद जाननेवाला, भगवद्भक्त श्रोता मिलने पर सज्जन लोग अत्यन्त छिपाने के लायक (गुप्त) बात भी प्रकाशित कर देते हैं ॥ ९९ ॥

चौ०—बोलेउ कागभुसुंडि बहोरी। नभगनाथ पर प्रीति न थोरी ॥
सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे। कृपापात्र रघुनायक केरे ॥ १ ॥

काकभुशुण्डिजी फिर बोले, क्योंकि गरुड़ पर उनका बड़ा ही प्रेम था। उन्होंने कहा—हे नाथ ! आप हमारे सब तरह पूज्य हैं, और रघुनाथजी के कृपापात्र हैं ॥ १ ॥

तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मो पर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया ॥
पठइ मोहमिस खगपति तोही। रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही ॥२॥

आपको न कोई सन्देह है, न मोह और न माया ही। हे नाथ ! आपने मुझ पर दया की। (जो दर्शन दिया) गरुड़जी ! श्रीरघुपति ने आपको मोह उत्पन्न होने के बहाने यहाँ भेजकर मुझे बड़ाई दी ॥ २ ॥

तुम्ह निज मोह कहा खगसाईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं ॥
नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमवादी ॥ ३ ॥

हे पक्षियों के स्वामी ! तुमने जो अपना मोह कहा सो हे गुसाईं ! वह कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। नारद, शङ्कर, ब्रह्मा और सनकादिक मुनीश्वर—जो कि आत्मवादी हैं ॥ ३ ॥

मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही ॥
तृस्ना केहि न कीन्ह बौरहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दहा ॥४॥

इनमें किस किसको मोह ने अन्धा नहीं किया ? जगत् में ऐसा कौन है जिसे कामदेव ने नहीं नचाया ? तृष्णा ने किसको पागल नहीं कर दिया ? और क्रोध ने किसका हृदय नहीं जलाया ? ॥ ४ ॥

दो०—ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुनआगार ।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहि संसार ॥ १०० ॥

ज्ञानी, तपस्वी, शूर, कवि, पण्डित और बड़े बड़े गुणवान् हुए पर इस संसार में लोभ ने किसको विडम्बना नहीं कराई ? ॥ १०० ॥

श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि ।
मृग-लोचनि-लोचन-सर को अस लाग न जाहि ॥ १०१ ॥

लक्ष्मी के मद ने किसको टेढ़ा नहीं कर दिया ? प्रभुता (अधिकार) न किसको बहिरा नहीं कर दिया ? ऐसा कौन है जिसको मृगनयनी का नेत्ररूपी बाण न लगा हो ॥ १०१ ॥

चौ०-गुन-कृत सन्यपात नहिँ केही । कोउ न मान मद तजेउ निबेही ॥
जोबनज्वर केहि नहिँ बलकावा । ममता केहि कर जसु न नसावा ॥१॥

गुणों का किया हुआ सन्निपात[1] किसको नहीं हुआ ? अभिमान और मद ने किसी को चुन कर नहीं छोड़ा । यौवन (जवानी) रूपी ज्वर ने किससे प्रलाप[2] नहीं कराया, ममता ने किसका यश नहीं नष्ट कर दिया ? ॥ १ ॥

मच्छर काहि कलंक न लावा । काहि न सोकसमीर डोलावा ॥
चिंतासाँपिनि को नहिँ खाया । को जग जाहि न ब्यापी माया ॥२॥

मत्सर (दूसरे की भलाई देख कर जलना) दोष ने किसको कलङ्क नहीं लगाया ? सोच-रूपी वायु ने किसको नहीं हिला दिया ? चिन्तारूपी साँपिन ने किसको नहीं डसा ? जग में ऐसा कौन है जिसे माया न व्यापी हो ॥ २ ॥

कोट मनोरथ दारु सरीरा । जेहि न लाग घुन को अस धीरा ॥
सुत बित लोक ईषना तीनी । केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ॥ ३ ॥

ऐसा धीर कौन है जिसके शरीर-रूपी काठ में मनोरथ-रूपी घुन का कीड़ा न लगा हो ? पुत्र, धन और प्रतिष्ठा, इन तीन इच्छाओं ने किसकी बुद्धि मैली नहीं की ? ॥ ३ ॥

१—सन्निपात में वात, पित्त और कफ तीनों गिर जाते हैं अर्थात् स्थान-भ्रष्ट हो जाते हैं, इसीलिए उस त्रिदोष-ज्वर का नाम सन्निपात है । यहाँ गुण सत्त्व, रज और तम, अपने स्थानों से भ्रष्ट हो जाते हैं, इसलिए वह भी सन्निपात होता है । जिस तरह रोगों में सन्निपात असाध्य है, इसी तरह जीव के लिए गुणकृत सन्निपात भी असाध्य है । २—प्रलाप करना (बर्राना) सन्निपातादि ज्वरों के लक्षणों में है ।

यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनइ पारा॥
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥ ४॥

यह सब माया का प्रबल कुटुम्ब है। यह अपार है। इसका वर्णन कौन कर सकता है? माया से शिव और ब्रह्माजी भी डरते हैं तो उसके आगे दूसरे जीव किस गिनती में हैं?॥ ४॥

दो०—व्यापि रहेउ संसार महुँ मायाकटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥ १०२॥

माया की प्रचण्ड सेना सारे संसार में फैल रही है। कामादि (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) उसके सेनापति हैं और दम्भ (अभिमान), कपट और पाखण्ड शूरवीर योद्धा हैं॥ १०२॥

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न राम-कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥ १०३॥

वह माया रघुनाथजी की दासी है। ज्ञान हो जाने पर वह झूठी मालूम होती है फिर भी रामकृपा बिना नहीं छूटती। हे नाथ! मैं यह बात पाँव रोप कर (प्रतिज्ञापूर्वक) कहता हूँ॥ १०३॥

चौ०—जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥१॥

जिस माया ने सारे जगत् को नचाया और जिसके चरित्र को किसी ने न देख पाया, हे पक्षिराज! वही माया स्वामी रामचन्द्रजी की भ्रुकुटि के विलास से (इशारे से) अपने समाज-सहित नटी जैसी नाचती है॥ १॥

सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज बिग्यानरूप गुनधामा॥
ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति भगवंता॥२॥

रामचन्द्रजी वही सत (सदा रहनेवाले), चित् (चैतन्य रूप), आनन्दघन (अखण्ड आनन्दवाले), अज (पैदा न होनेवाले), विज्ञान-रूप, गुण के स्थान हैं। भगवान् व्यापक और व्याप्य (कारण और कार्य), अखण्ड, अनन्त, सम्पूर्ण अमोघशक्तिमय हैं॥ २॥

अगुन अदभ्र गिरागोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुखसंदोहा॥ ३॥

वे निर्गुण, पूर्ण, वाणी और इन्द्रियों से अगम्य, सब वस्तुओं के देखनेवाले, अनिंद्य और अजित (जिनको कोई न जीत सके) हैं। वे निर्मल (दोषरहित), निराकार, निर्मोह, नित्य, निरञ्जन और सुख के समूह हैं॥ ३॥

प्रकृतिपार प्रभु सब-उर-बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबिसनमुख तम कबहुँ कि जाहीं॥४॥

वे स्वामी प्रकृति से परे, सबके हृदयों के निवासी, ब्रह्म, निरिच्छ, शुद्ध और अविनाशी हैं। यहाँ (रामचन्द्र जी के समक्ष) मोह का कारण नहीं लग सकता। क्या कभी अँधेरा सूर्य के सम्मुख जा सकता है?॥४॥

दो०—भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम प्राकृत-नर-अनुरूप॥१०४॥

भगवान् प्रभु रामचन्द्रजी ने भक्तों के कारण राजा का शरीर धारण किया और अत्यन्त पावन (सुननेवाले को पवित्र करनेवाले) चरित्र प्राकृत (मामूली) मनुष्यों के अनुसार किये॥१०४॥

जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥१०५॥

जैसे कोई नट अनेक तरह के वेष धारण कर नाचता है, और नाचते समय वे ही वे भाव करके दिखाता है, जिनका वह वेष धारण किये हो, पर आप वह नहीं हो जाता, न वह अपने असली रूप ही को भूलता है। (इसी तरह रामचन्द्रजी अनेक वेष धरकर हर्ष, शोक, मोहादि भाव यथार्थ दिखाते हुए भी आप ज्यों के त्यों शुद्ध रहते हैं)॥१०५॥

चौ०—असि रघु-पति-लीला-उरगारी। दनुज-बिमोहनि जन-सुख-कारी॥
जे मतिमलिन बिषयबस कामी। प्रभु पर मोह धरहिँ इमि स्वामी॥१॥

हे गरुड़जी! रघुनाथजी की लीला ऐसी ही है। वह दैत्यों को मोहित करनेवाली और भक्तों को सुख देनेवाली है। जो मलिन-बुद्धि हैं, विषयों के वश हैं, कामी हैं, वे प्रभु पर ऐसा मोह का दोष लगाते हैं॥१॥

नयनदोष जा कहुँ जब होई। पीतबरन ससि कहुँ कह सोई॥
जब जेहि दिसिभ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा॥२॥

जब किसी की आँखों में रोग (कमल) हो जाता है, तब वह चन्द्रमा को पीला कहने लगता है। जब जिसको दिशा का भ्रम हो जाता है तो वह कहने लगता है कि सूर्य पश्चिम दिशा में उदय हुआ है!॥२॥

नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोहबस आपुहि लेखा॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिँ परसपर मिथ्याबादी॥३॥

नाव पर चढ़कर यात्रा करनेवाला संसार को चलता हुआ देखता है और मोह के वश हो अपने को निश्चल मान बैठता है। लड़के खेलते खेलते घूमने लगते हैं तब उनको दृष्टि में भ्रम उत्पन्न होता है और उनको घर आदि सभी चीजें घूमती हुई दीखती हैं पर वास्तव में वे नहीं घूमतीं, लड़के आपस में झूठ ही कहते हैं कि घर घूम रहा है इत्यादि ॥ ३ ॥

हरि बिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिँ अग्यान-प्रसंगा॥
मायाबस मतिमंद अभागो। हृदय जवनिका बहु बिधि लागो॥४॥
ते सठ हठबस संसय करहीँ। निज अग्यान राम पर धरहीँ॥५॥

हे गरुड़जी! इसी तरह रामचन्द्र परमात्मा के विषय में मोह की बात है। उनके सम्बन्ध में अज्ञान या मोह की बात तो स्वप्न में भी नहीं ठहर सकती। मन्दबुद्धि, अभागे लोग माया के वश हो रहे हैं, उससे उनके हृदय के सामने बहुत तरह का परदा पड़ा है ॥ ४ ॥ वे दुष्ट हठ के वश हो संशय करते हैं और अज्ञान तो अपने को हुआ है, पर उसे रखते रामचन्द्रजी पर हैं कि रामचन्द्रजी मोहित हो गये, शोकग्रस्त, दुःखी हो गये इत्यादि ॥ ५ ॥

दो०—काम-क्रोध-मद-लोभ-रत गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिँ रघुपतिहिँ मूढ़ परे तमकूप॥१०६॥

जो काम, क्रोध, मद, लोभ में फँसे और दुःखरूपी गृहस्थी में आसक्त हैं, वे मूर्ख अन्धे कुएँ में गिरे हुए हैं, अतः वे रघुनाथजी को कैसे जान सकते हैं ॥ १०६ ॥

निर्गुनरूप सुलभ अति सगुन न जानहिँ कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ॥१०७॥

भगवान् का निर्गुण रूप अत्यन्त सुलभ है, पर सगुणरूप को कोई नहीं जानता, क्योंकि सगुण रूप में सुगम और अगम (जिनका भेद न जाना जाय) ऐसे अनेक चरित्र होते हैं, जिनको सुनकर मुनिजनों के मनों में भी भ्रम हो जाता है। (जैसे रामावतार में सेतुबन्धन, सीता-वियोग आदि) ॥ १०७ ॥

चौ०—सुनु खगेस रघु-पति-प्रभुताई। कहउँ जथामति कथा सुहाई॥
जेहि बिधि मोह भयउ प्रभु मोही। सो सब कथा सुनावउँ तोही॥१॥

हे गरुड़जी! रामचन्द्रजी की प्रभुता सुनिए जिसकी सुहावनी कथा मैं यथा-बुद्धि कहता हूँ। प्रभो! जिस तरह मुझे भ्रम हुआ था वह सब कथा आपको सुनाता हूँ ॥ १ ॥

राम-कृपा-भाजन तुम्ह ताता। हरि-गुन-प्रीति मोहि सुखदाता॥
ता तेँ नहिँ कछु तुम्हहिँ दुरावउँ। परम रहस्य मनोहर गावउँ॥२॥

हे तात! आप रामचन्द्रजी के कृपापात्र हैं, भगवान् के गुणों में आपकी प्रीति है, आप मुझे सुख देनेवाले हैं। इसी लिए मैं आपसे कुछ भी न छिपाऊँगा, बहुत सुन्दर रहस्य गाऊँगा ॥ २॥

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृतिमूल सूलप्रद नाना। सकल-सोक-दायक अभिमाना॥३॥

सुनिए, रामचन्द्रजी का यह सहज स्वभाव है कि वे अपने दास में अभिमान कभी नहीं रहने देते। अभिमान संसार का मूल है, वह नाना प्रकार के खेद उत्पन्न करनेवाला है और सभी शोकों का देनेवाला है॥ ३॥

ता तें करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥
जिमि सिसुतन ब्रन होइ गुसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥४॥

इसलिए कृपानिधान रामचन्द्रजी भक्तों के अभिमान का नाश कर देते हैं। उन्हें भक्तों पर बड़ी ममता है। हे गुसाईं! जैसे बालक के शरीर में व्रण (फोड़ा-फुंसी) हो जाय तो माता कड़ी होकर उसको चिरा देती है॥ ४॥

दो०—जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि-नास-हित जननी गनत न सो सिसुपीर॥१०८॥

यद्यपि नश्तर लगने पर पहले बालक दुःख पाकर अधीर होकर रोता है, तो भी उसका रोगनाश होने के लिए माता बालक की उस पीड़ा को नहीं गिनती॥ १०८॥

तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहिं कस न भजसि भ्रम त्यागि॥१०९॥

इसी तरह रघुनाथजी अपने दास का अभिमान, उसके हित के लिए, नष्ट कर देते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि (हे मन!) तू ऐसे स्वामी को भ्रम छोड़कर क्यों नहीं भजता॥ १०९॥

चौ०—रामकृपा आपनि जड़ताई। कहउँ खगेस सुनहु मन लाई॥
जब जब राम मनुजतनु धरहीं। भक्तहेतु लीला बहु करहीं॥१॥

हे गरुड़जी! अब मैं रामचन्द्रजी की कृपा और अपनी मूर्खता कहता हूँ, मन लगाकर सुनिए। जब जब रामचन्द्रजी मनुष्य-देह धारण करते हैं और भक्तों के कारण बहुत सी लीलाएँ करते हैं॥ १॥

तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ॥
जनममहोत्सव देखउँ जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लोभाई॥२॥

तब तब मैं अयोध्यापुरी में जाता हूँ और बालचरित्र देखकर प्रसन्न होता हूँ। मैं जाकर रामजन्म का महोत्सव देखता हूँ और उसमें लुभाकर पाँच वर्ष पर्य्यन्त वहीं रहता हूँ ॥ २ ॥

इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटि-सत-कामा ॥
निज-प्रभु-बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी ॥३॥
लघु बायसबपु धरि हरिसंगा। देखउँ बालचरित बहुरंगा ॥४॥

हे गरुड़जी! मेरे इष्टदेव बालक रामचन्द्रजी हैं, जिनके शरीर की शोभा सौ करोड़ कामदेवों से भी अधिक है। मैं अपने स्वामी के श्रीमुख को देख देखकर नेत्र सफल करता हूँ ॥ ३ ॥ मैं छोटे से कौए का रूप लेकर रामचन्द्रजी के साथ बहुत तरह के बालचरित्र देखता हूँ ॥ ४ ॥

दो०—लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिँ तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
जूठनि परइ अजिर महँ सोइ उठाइ करि खाउँ ॥११०॥

श्रीरामजी लड़कपन में जहाँ जहाँ फिरते वहाँ वहाँ मैं भी उनके साथ उड़ता था, आँगन में उनका जो जूठन पड़ता था, उसी को उठाकर मैं खा लेता था ॥ ११० ॥

एक बार अतिसैसव चरित किये रघुबीर।
सुमिरत प्रभुलीला सोइ पुलकित भयउ सरीर ॥१११॥

एक बार श्रीरघुवीर ने अति बालचरित्र किये। प्रभुजी की उस लीला का स्मरण कर शरीर पुलकित हो गया ॥ १११ ॥

चौ०—कहइ भुसुंडि सुनहु खगनायक। रामचरित सेवक-सुख-दायक ॥
नृपमंदिर सुंदर सब भाँती। खचित कनक मनि नाना जाती ॥१॥

श्रीभुशुण्डिजी कहते हैं कि हे पक्षिराज! सुनिए। रामचन्द्रजी का चरित्र सेवकों को सुख देनेवाला है। राज-महल सब प्रकार सुन्दर था, जिसमें अनेक जातियों की मणियाँ सोने में जड़ी हुई थीं ॥ १ ॥

बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई। जहँ खेलहिँ नित चारिउ भाई ॥
बालबिनोद करत रघुराई। बिचरत अजिर जननि-सुख-दाई ॥२॥

उस महल के सुन्दर आँगन का वर्णन नहीं किया जा सकता, जहाँ चारों भाई नित्य खेलते थे। वहाँ श्रीरघुराई बालक के समान विनोद करते थे; माता के सुखदाता बालरूप वे आँगन में फिरते थे ॥ २ ॥

मरकतमृदुल कलेवर स्यामा। अंग अंग प्रति छवि बहु कामा ॥
नव-राजीव-अरुन मृदु चरना। पदज रुचिर नख ससि-दुति-हरना ॥३॥

उनका शरीर मरकत मणि जैसा मनोहर, कोमल और श्याम था। उनके एक एक अंग में बहुत से कामदेवों की छवि था। उनके चरण नये कमल जैसे लाल और कामल थे। उनको उंगलियाँ सुन्दर थीं और नख चन्द्रमा का कान्ति को हरनेवाले, अर्थात् उससे भी अधिक प्रकाशयुक्त थे॥ ३॥

ललित अंक कुलिसादिक चारी। नूपुर चारु मधुर-रव-कारी॥
चारु पुरट-मनि-रचित बनाई। कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई॥४॥

उनके चरणों में वज्र आदि चारों (वज्र, अङ्कुश, ध्वज, कमल) चिह्न थे और मीठी ध्वनि करनेवाले सुन्दर नूपुर थे। उनकी कमर में मधुर बजनेवाली, सुन्दर मणियों से जड़ी, सोने की किङ्किणी (घुंघुरूदार करधनी) थी॥ ४॥

दो०—रेखा त्रय सुंदर उदर नाभि रुचिर गंभीर।
उर आयत भ्राजत बिबिध बालबिभूषन चीर॥११२॥

उनके पेट में सुन्दर तीन रेखाएं (त्रिवली) था, नाभि सुन्दर और गहरा था। वक्षःस्थल विशाल था और उसमें बालकों के बढ़िया भूषण (सिंहनख, हार आदि) तथा वस्त्र शोभायमान थे॥ ११२॥

चौ०—अरुन पानि नखकरज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर॥
कंध बालकेहरि दर ग्रीवाँ। चारु चिबुक आनन छबिसीवाँ॥१॥

हथेलियाँ लाल लाल थीं, उंगलियाँ और नख सुन्दर थे, विशाल भुजायें थीं तथा उनमें सुन्दर आभूषण थे। उनके कन्धे सिंह के बच्चे के कन्धे के समान और ग्रीवा (गर्दन) शङ्ख के समान थी। सुन्दर ठोढ़ी थी और मुख तो कान्ति की सीमा ही था॥ १॥

कलबल बचन अधर अरुनारे। दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे॥
ललित कपोल मनोहर नासा। सकल सुखद-ससि-कर-सम हासा॥२॥

उनके तोतले वचन, लाल ओठ और सुन्दर चमकीले दो-दो दाँत थे। सुन्दर गाल और सुहावनी नाक थी, और सभी को सुख देनेवाली चन्द्रमा की किरणों जैसी उनकी हँसी थी॥ २॥

नील-कंज-लोचन भवमोचन। भ्राजत भाल तिलक गोरोचन॥
बिकट भृकुटि सम स्रवन सुहाये। कुंचित कच मेचक छबि छाये॥३॥

नीले कमल जैसे नेत्र भवबन्धन से छुड़ा देनेवाले थे, ललाट में गोरोचन का तिलक शोभायमान था। भौंहें टेढ़ी, कान बराबर और सुन्दर थे। काले घूंघरवाले बाल शोभायमान हो रहे थे॥ ३॥

पीत झीनि झिंगुली तन सोही। किलकनि चितवनि भावति मोही ॥
रूपरासि नृप-अजिर-बिहारी। नाचहिँ निज प्रतिबिंब निहारी ॥४॥

पीला और पतला झगा (अँगरखा) शरीर में शोभित हो रहा था, और उनकी किलकारी और चितवन मुझे सुहाती थीं। राजा दशरथ के आँगन में विहार करनेवाले, रूप के निधि, श्रीरामचन्द्रजी अपना प्रतिबिम्ब (छाया) देख देखकर नाचते थे ॥ ४ ॥

मोहि सन करहिँ बिबिध बिधि क्रीडा। बरनत चरित होत मोहि ब्रीडा ॥
किलकत मोहि धरन जब धावहिँ। चलउँ भागि तब पूप देखावहिँ ॥५॥

वे मेरे साथ नाना प्रकार के खेल करते थे, जिनका वर्णन करने में मुझे लज्जा मालूम आती है। वे किलकते हुए जब मुझे पकड़ने को दौड़ते तो मैं भाग जाता; तब वे फिर मुझे पूआ दिखाते थे ॥ ५ ॥

दो०—आवत निकट हँसहिँ प्रभु भाजत रुदन कराहिँ।
जाउँ समीप गहन पद फिरि फिरि चितइ पराहिँ ॥११३॥

मेरे पास आते ही स्वामी हँसने लगते और भागते ही रोने लग जाते थे। ज्योंही मैं पाँव पकड़ने को पास जाता, त्योंही भागते और फिर फिर कर मुझे देखते जाते थे ॥ ११३ ॥

प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह।
कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंदसंदोह ॥११४॥

इस तरह प्राकृत (साधारण) बालक जैसी लीला देखकर मुझे मोह हो गया, कि ये सच्चिदानन्दघन भगवान कौनसा चरित्र कर रहे हैं ॥ ११४ ॥

चौ०—एतना मन आनत खगराया। रघु-पति-प्रेरित ब्यापी माया ॥
सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृति नाहीं ॥१॥

हे पक्षिराज, गरुड़! बस, इतना मन में लाते ही रघुनाथजी की प्रेरणा से माया मुझे व्याप गई। पर वह माया न तो मुझे दुःख देनेवाली हुई, न और जीवों के समान मुझे संसार ही भोगना पड़ा ॥ १ ॥

नाथ इहाँ कछु कारन आना। सुनहु सो सावधान हरिजाना ॥
ग्यान अखंड एक सीतावर। मायाबस्य जीव सचराचर ॥२॥

हे नाथ, विष्णु के वाहन! यहाँ और ही कुछ कारण था, (कि माया मुझे दुःख देनेवाली क्यों नहीं हुई और क्यों मुझे संसार नहीं भोगना पड़ा) आप उसे सावधान होकर सुनिए। बात यह है कि अखंड ज्ञानस्वरूप तो एक सीतापति ही हैं और चर अचर जीव-मात्र सभी माया के वश हैं ॥ २ ॥

जौं सब के रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥
मायाबस्य जीव अभिमानी। ईसबस्य माया गुनखानी॥३॥

यदि सभी जीवों का ज्ञान एक-रस रहे तो फिर बताओ कि जीव और ईश्वर में भेद ही कैसा। अभिमानी जीव माया के अधीन है और गुणों का खान वह माया ईश्वर के वश में है॥ ३॥

परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥४॥

जीव पराधीन है, भगवान् अपने वश (स्वतन्त्र) हैं; जीव अनेक हैं, लक्ष्मीपति भगवान् एक हैं। माया का किया हुआ यह भेद यद्यपि झूठा (असत्) ही है, तथापि करोड़ों उपाय करने पर भी वह परमात्मा की कृपा के बिना नहीं जाता॥ ४॥

दो०—रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूछ बिखान॥११५॥

जो कोई रामचन्द्रजी के भजन बिना निर्वाण (मोक्ष) पद चाहता है, वह मनुष्य ज्ञानवान् होने पर भी बिना सींग-पूँछ का पशु है॥ ११५॥

राकापति षोडस उअहिं तारा-गन-समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइय बिनु रबि राति न जाइ॥११६॥

पूर्णिमा का अधिपति चन्द्रमा सोलहों[1] कलाओं से उगे और सब तारों के समूह उगें तथा सब पहाड़ों में आग लगा दी जाय, तो भी रात तो सूर्य के बिना नहीं जाती॥ ११६॥

चौ०—ऐसेहि बिनु हरिभजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥
हरिसेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभुप्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥१॥

हे गरुड़जी! इसी तरह बिना भगवद्भजन किये जीवों का क्लेश नहीं मिटता। भगवद्भक्तों को अविद्या (अज्ञान) नहीं व्यापती, उनको स्वामी द्वारा प्रेरित विद्या (ज्ञान) प्रकाशित होती है॥ १॥

१—चन्द्रमा की १६ कलाएँ हैं। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से पूर्णिमापयन्त १। १ कला भर कर पूर्णिमा को १५ कलाएँ होती हैं, सोलहवीं कला सदाशिवजी के मस्तक पर रहती है, जिससे उनका नाम चन्द्रमौलि है। यहाँ १६ कला कहने का उद्देश यह है कि शिवजी के मस्तकवाली कला को भी मिलाकर १६ कलाओं से भरा हुआ पूर्ण चन्द्र उगे।

ता तें नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढइ बिहंगबर॥
भ्रम तें चकित राम मोहि देखा। बिहँसे सो सुनु चरित बिसेखा॥२॥

पक्षियों में श्रेष्ठ गरुड़जी! इसी से भगवद्दास का नाश नहीं होता, भेद (जीव को दास तथा ईश्वर को स्वामी समझने) से भक्ति बढ़ जाती है। रामचन्द्रजी ने मुझे भ्रम से चकित हुआ (अचंभे में भर गया) देखा और हँस दिया; अब वह विशेष चरित्र सुनिए॥२॥

तेहि कौतुक कर मरम न काहू। जाना अनुज न मातुपिताहू॥
जानुपानि धाये मोहि धरना। स्यामलगात अरुन-कर-चरना॥३॥

उस कौतुक (खेल) का मर्म किसी ने न जाना; न तो छोटे भाइयों ने, न माता-पिता ही ने। श्यामसुन्दर शरीर और लाल लाल हाथों तथा चरणोंवाले रामचन्द्रजी हाथों और घुटनों के बल मुझे पकड़ने दौड़े॥ ३॥

तब मैं भागि चलेउँ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी॥
जिमि जिमि दूरि उडाउँ अकासा। तहँ हरिभुज देखउँ निज पासा॥४॥

हे गरुड़जी! तब मैं भाग चला और रामचन्द्रजी ने मुझे पकड़ने के लिए भुजा फैलाई। अब मैं ज्यों ज्यों आकाश में दूर उड़ता जाता था, त्यों त्यों रामचन्द्रजी की भुजा को अपने पास ही देखता था॥ ४॥

दो०—ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं चितयउँ पाछ उडात।
जुग अंगुल कर बीच सब रामभुजहिँ मोहि तात॥११७॥

मैं उड़ते उड़ते ब्रह्मलोक तक जा पहुँचा और जो मैंने पीछे को फिरकर देखा तो रामचन्द्रजी की भुजा और अपने दोनों के बीच में दो अङ्गुल का अन्तर था।॥ ११७॥

सप्तावरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि।
गयउँ तहाँ प्रभुभुज निरखि ब्याकुल भयउँ बहोरि॥११८॥

मैं सातों आवरणों (परदों—जल, वायु, अग्नि, तेज, अहङ्कार, महत्तत्त्व और प्रकृति) को भेद कर जहाँ तक मेरी (जीव की) गति है, वहाँ तक गया पर वहाँ भी रामचन्द्रजी की भुजा को देखकर फिर बहुत व्याकुल हुआ॥ ११८॥

चौ०—मूदेउँ नयन त्रसित जब भयऊँ। पुनि चितवत कोसलपुर गयऊँ॥
मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं। बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं॥१॥

जब घबड़ा गया तो मैंने आँखें बन्द कर लीं, फिर आँखें खोल कर क्या देखता हूँ कि मैं अयोध्या पहुँच गया। मुझे देखकर रामचन्द्रजी मुसकुराने लगे। उनके हँसते ही मैं तुरन्त उनके मुख के भीतर चला गया॥ १॥

उदर माँझ सुनु अंडज-राया । देखेउँ बहु ब्रह्मांडनिकाया ॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका । रचना अधिक एक तें एका ॥२॥

गरुड़जी ! सुनिए। उनके पेट के भीतर मैंने बहुत से ब्रह्माण्डों के समूह देखे। वहाँ बहुत ही अद्भुत अनेक लोक थे। उनकी रचना एक से एक बढ़ चढ़ कर थी ॥ २ ॥

कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा । अगनित उडुगन रबि रजनीसा ॥
अगनित लोकपाल जम काला । अगनित भूधर भूमि बिसाला ॥३॥

करोड़ों चतुर्मुख ब्रह्मा, गौरीपति महादेव, अनगिनती नक्षत्रगण, सूर्य, चन्द्र, अनगिनती लोकपाल, यमराज, काल, असंख्य पहाड़ और विशाल पृथ्वियाँ थीं ॥ ३ ॥

सागर सरि सर बिपिन अपारा । नाना भाँति सृष्टिबिस्तारा ॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर । चारि प्रकार जीव सचराचर ॥४॥

समुद्र, नदियाँ, तालाब और अपार जङ्गल थे; अनेक तरह की सृष्टि का विस्तार फैला था। देवता, मुनि, सिद्ध, नाग, मनुष्य और किन्नर स्थावर-जङ्गम-सहित चार प्रकार के (जरायुज, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज) जीव थे ॥ ४ ॥

दो०—जो नहिँ देखा नहिँ सुना जो मनहूँ न समाइ ।
सो सब अदभुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ ॥११९॥

जो देखा नहीं, सुना नहीं और जो मन में भी न समाता था, अर्थात् जिस बात का अनुमान मन में भी न हो सके, वह सब आश्चर्य वहाँ देखा। उसका वर्णन किस तरह किया जाय ॥ ११९ ॥

एक एक ब्रह्मांड महँ रहेउँ बरष सत एक ।
एहि बिधि देखत फिरेउँ मैं अंडकटाह अनेक ॥१२०॥

मैं एक एक ब्रह्माण्ड में सौ सौ वर्ष रहा। इसी तरह मैं अनेक ब्रह्माण्ड देखता फिरा ॥ १२० ॥

चौ०—लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता । भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता ॥
नर गंधर्ब भूत बेताला । किन्नर निसिचर पसु खग ब्याला ॥१॥

हर एक लोक में अलग अलग ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, मनु और दिक्पाल थे। मनुष्य, गन्धर्व, भूत, वेताल, किन्नर, राक्षस, पशु, पक्षी और सर्प सभी थे ॥ १ ॥

देव-दनुज-गन नाना जाती । सकल जीव तहँ आनहिँ भाँती ॥
महि सरि सागर सर गिरि नाना । सब प्रपंच तहँ आनहिँ आना ॥२॥

अनेक जातियों के देवता और दैत्यों के गण तथा सभी जीव वहाँ और ही तरह के थे। अनेक पृथ्वी, नदी, समुद्र, तालाब, पर्वत, सभी प्रपञ्च (संसार) वहाँ और ही और था॥ २॥

अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा। देखेउँ जिनिस अनेक अनूपा॥
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी॥३॥

हर एक ब्रह्माण्ड में मैंने अपना प्रतिरूप (अपने जैसा दूसरा काकभुशुण्ड) देखा और अनेक अनुपम वस्तुएँ देखीं। हर ब्रह्माण्ड में अयोध्यापुरी भिन्न थी और सरयू नदी तथा पुरुष और स्त्रियाँ भी भिन्न भिन्न थे॥ ३॥

दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिधरूप भरतादिक भ्राता॥
प्रति ब्रह्मांड राम-अवतारा। देखेउँ बालबिनोद उदारा॥४॥

हे तात! सुनिए। उन अयोध्याओं में दशरथ और कौसल्यायें थीं और तरह तरह के रूपवाले भरत आदि भाई भी थे। हर एक ब्रह्माण्ड में रामचन्द्रजी का अवतार और उनके उदार बालचरित्र मैंने देखे॥ ४॥

दो०—भिन्न भिन्न सब दीख मैं अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु रामु न देखेउँ आन॥१२१॥

हे विष्णुवाहन, गरुड़जी! मैंने सभी चीज़ जुदी जुदी और अत्यन्त विचित्र देखीं; मैं असंख्य ब्रह्माण्डों में फिरा किन्तु सर्वत्र रामचन्द्रजी वे ही थे, दूसरे मैंने नहीं देखे॥ १२१॥

सोइ सिसुपन सोइ सोभा सोइ कृपाल रघुबीर।
भुवन भुवन देखत फिरेउँ प्रेरित मोह समीर॥१२२॥

मोह से प्रेरित शरीर लिये मैं उसी लड़कपन, उसी शोभा और कृपालु रघुवीर को लोक-लोकान्तरों में देखता फिरा॥ १२२॥

चौ०—भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कलपसत एका॥
फिरत फिरत निज आस्रम आयेउँ। तहँ पुनि रहि कछु काल गवाँयउँ॥१॥

इस तरह अनेक ब्रह्माण्डों में भ्रमण करते करते मानों मुझे एक सौ कल्प बीत गये। तब फिरते फिरते मैं अपने आश्रम में पहुँचा। फिर वहाँ निवास कर मैंने कुछ समय बिताया॥ १॥

निज प्रभु-जनम अवध सुनि पायउँ। निर्भर प्रेम हरषि उठि धायउँ॥
देखेउँ जनममहोत्सव जाई। जेहि बिधि प्रथम कहा मैं गाई॥२॥

वहीं मैंने अयोध्या में अपने स्वामी का जन्म होना सुन पाया और गाढ़े प्रेम में भरा मैं उठ दौड़ा। वहाँ जाकर जन्म का महोत्सव देखा, जैसा कि मैं पहले आपसे वर्णन कर चुका हूँ॥ २॥

रामउदर देखेउँ जग नाना। देखत बनइ न जाइ बखाना॥
तहँ पुनि देखेउँ राम सुजाना। मायापति कृपाल भगवाना॥३॥

मैंने रामचन्द्रजी के पेट में अनेक जगत् देखे। वे देखते ही बनते हैं, कहते नहीं बनते। फिर वहाँ पर अति चतुर, माया के स्वामी, कृपालु, भगवान् रामचन्द्रजी को भी मैंने देखा॥ ३॥

करउँ बिचार बहोरि बहोरी। मोह कलिल ब्यापित मति मोरी।
उभय घरी महँ मैं सब देखा। भयउ भ्रमित मन मोह बिसेखा॥४॥

मैं बार बार विचार करता था। मेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़ से सनी हुई थी। इतना सब कुछ मैंने दो घड़ी में देख लिया! मैं थक गया और मन में अधिक मोह हो गया॥ ४॥

दो०—देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर।
बिहँसतही मुख बाहेर आयउँ सुनु मतिधीर॥१२३॥

हे धीर-बुद्धि, गरुड़जी! सुनिए। तब कृपालु रघुवीर मुझे व्याकुल देखकर हँस पड़े। उनके हँसते ही मैं उनके मुख से बाहर आ गया॥ १२३॥

सोइ लरिकाई मो सन करन लगे पुनि राम।
कोटि भाँति समुझावउँ मन न लहइ बिस्राम॥१२४॥

रामचन्द्रजी फिर मेरे साथ वही लड़कपन करने लगे। तब मैंने अपने मन को करोड़ों तरह से समझाया, पर उसने विश्राम न पाया॥ १२४॥

चौ०—देखि चरित यह सो प्रभुताई। समुझत देहदसा बिसराई॥
धरनि परेउँ मुख आव न बाता। त्राहि त्राहि आरत-जन-त्राता॥१॥

वे (बाल) चरित्र और वह प्रभुता (जो उनके पेट के भीतर देखी) समझते ही मुझे शरीर की सुध भूल गई। "आर्त्तजन के त्राता! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो"; कहकर मैं पृथ्वी पर गिर पड़ा। उस समय मुँह से बात नहीं कहते बनती थी॥ १॥

प्रेमाकुल प्रभु मोहि बिलोकी। निज माया-प्रभुता तब रोकी॥
कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीनदयाल सकल दुख हरेऊ॥२॥

तब फिर प्रभु ने मुझे प्रेम से व्याकुल देखकर अपनी माया की प्रभुता को रोका और अपना हस्तकमल (अभय-हस्त) मेरे मस्तक पर रक्खा और दीनदयालु ने मेरा सब दुःख हरण कर लिया॥ २॥

कीन्ह राम मोहि बि-गत-बिमोहा । सेवकसुखद कृपासंदोहा ॥
प्रभुता प्रथम बिचारि बिचारी । मन महँ होइ हरष अति भारी ॥३॥

सेवकों के सुखदाता, दया के समूह रामचन्द्रजी ने मुझे मोह से रहित कर दिया। तब उनके प्रथम देखे हुए सामर्थ्य को सोच सोचकर मेरे चित्त में बड़ा भारी आनन्द होने लगा ।३।

भगतबछलता प्रभु कै देखी । उपजी मम उर प्रीति बिसेखी ॥
सजल नयन पुलकित कर जोरी । कीन्हेउँ बहु बिधि बिनय बहोरी ॥४॥

स्वामी की भक्तवत्सलता देखकर मेरे हृदय में विशेष प्रीति उत्पन्न हुई। मेरे नेत्रों में जल भर आया और शरीर पुलकायमान हो गया। फिर मैंने हाथ जोड़कर बहुत प्रकार से विनय (प्रार्थना) किया ॥ ४ ॥

दो०——सुनि सप्रेम मम बानी देखि दीन निज दास ।
बचन सुखद गंभीर मृदु बोले रमानिवास ॥ १२५ ॥

मेरी प्रेम-सहित वाणी सुनकर और मुझे अपना दीन दास जानकर लक्ष्मीनिवास, भगवान् रामचन्द्रजी सुखदायी, गंभीर और कोमल वचन बोले—॥ १२५ ॥

कागभुसुंडी माँगु बर अति प्रसन्न मोहि जानि ।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुखखानि ॥ १२६ ॥

हे काकभुशुण्डी ! तू मुझे अत्यन्त प्रसन्न जानकर वरदान माँग ले; चाहे अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ, चाहे दूसरी ऋद्धियाँ, चाहे सुखों की खान मोक्ष, जो इच्छा हो ले ॥ १२६ ॥

चौ०—ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना । मुनिदुर्लभ गुन जे जग जाना ॥
आजु देउँ तव संसय नाहीं । माँगु जो तोहि भाव मन माहीं ॥१॥

ज्ञान, विचार (विवेक), वैराग्य और विज्ञान आदि गुण जो जगत् में मुनियों के लिए भी दुर्लभ समझता हो, वह सब आज तुझे मैं दूँगा इसमें कुछ सन्देह नहीं। इसलिए तेरे मन में जो प्रिय लगे वही माँग ले ॥ १ ॥

सुनि प्रभुबचन अधिक अनुरागेउँ । मन अनुमान करन तब लागेउँ ॥
प्रभु कह देन सकल सुख सही । भगति आपनी देन न कही ॥ २ ॥

मैं प्रभुजी का वचन सुनकर और भी अधिक प्रेम में भर गया। तब मैं मन में अनुमान (तर्क) करने लगा कि स्वामी ने मुझे सब सुख देने को कहा सही, पर अपनी भक्ति देने को नहीं कहा ॥ २ ॥

भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे । लवन बिना बहु बिंजन जैसे ॥
भजनहीन सुख कवने काजा । अस बिचारि बोलेउँ खगराजा ॥ ३ ॥

भक्तिहीन सब गुण और सुख ऐसे हैं, जैसे बिना नमक के भाँति भाँति के व्यञ्जन (शाक, चटनी आदि) । हे गरुड़जी ! भजन बिना सुख किस काम के ? ऐसा विचारकर मैं बोला—॥ ३ ॥

जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू । मोपर करहु कृपा अरु नेहू ॥
मन भावत बर माँगउँ स्वामी । तुम्ह उदार उर-अंतर-जामी ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! जो आप प्रसन्न होकर वर देते हैं और मुझ पर कृपा तथा स्नेह करते हैं, तो हे स्वामी ! मैं अपने मन का प्रिय लगनेवाला वर माँगता हूँ, क्योंकि आप उदार हैं और हृदय के अन्तर्यामी (बिना कहे सब भीतरी बात जाननेवाले) हैं ॥ ४ ॥

दो०—अबिरल भगति बिसुद्ध तव स्रुति पुरान जो गाव ।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभुप्रसाद कोउ पाव ॥१२७॥

हे भगवन् ! आपकी जो भक्ति अविरल (अखण्ड) और विशुद्ध है तथा जिसको वेद और पुराणों ने गाया है एवं जिसको बड़े बड़े योगेश्वर मुनि-जन ढूँढ़ते हैं और उन ढूँढ़नेवालों में कोई (बिरला ही) स्वामी की कृपा से उसे पा जाता है ॥ १२७ ॥

भगत-कलप-तरु प्रनतहित कृपासिंधु सुखधाम ।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम ॥१२८॥

हे भक्तों के कल्पवृक्ष, शरणागतों के हितैषी, दया के समुद्र, सुख के स्थान परमात्मन् ! रामजी ! आप दया कर मुझे वही अपनी भक्ति दीजिए ॥ १२८ ॥

चौ०—एवमस्तु कहि रघु-कुल-नायक । बोले बचन परम-सुख-दायक ॥
सुनु बायस तैं सहज सयाना । काहे न माँगसि अस बरदाना ॥१॥

रघुकुल के स्वामी रामचन्द्रजी "एवमस्तु" (ऐसा ही हो) कहकर अत्यन्त सुखदायक वचन बोले—हे काग ! तू स्वाभाविक ही चतुर है, इसलिए ऐसा वरदान क्यों न माँगेगा ॥ १ ॥

सब सुखखानि भगति तैं माँगी । नहिं जग कोउ तोहि सम बडभागी ॥
जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं । जे जप-जोग-अनल तन दहहीं ॥२॥

तूने सम्पूर्ण सुखों की खानि भक्ति माँगी, तेरे बराबर बड़भागी जगत् में कोई नहीं है । जप तथा योग अग्नि में शरीर को जला देनेवाले मुनि-जन करोड़ों यत्न करने पर भी जिसको नहीं पाते (उसे तूने पा लिया) ॥ २ ॥

रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। माँगेहु भगति मोहि अति भाई॥
सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरे। सब सुभ गुन बसिहहिँ उर तोरे॥३॥

भक्ति तू ने माँगी जो मुझे बहुत ही प्यारी है। मैं तेरी चतुराई देखकर प्रसन्न हुआ हूँ। हे पक्षी! सुन। अब मेरी कृपा से सब शुभ गुण तेरे हृदय में निवास करेंगे॥३॥

भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य-बि-भागा॥
जानब तैँ सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिँ साधन-खेदा॥४॥

भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग और मेरे चरित्रों के रहस्य (छिपे हुए), विभाग आदि सभी का भेद तू जानेगा, मेरे अनुग्रह से तुमको साधन-सम्बन्धी कष्ट न उठाना पड़ेगा॥४॥

दो०—मायासंभव भ्रम सकल अब न ब्यापिहहिँ तोहि।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि॥१२६॥

माया से उत्पन्न होनेवाले जितने भ्रम हैं वे अब तुमको नहीं व्यापेंगे। तुम मुझे अनादि (जिसका आरम्भ न हो), अज, निर्गुण और सब गुणों की खान ब्रह्म जानना॥१२९॥

मोहि भगतप्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग।
काय बचन मन मम पद करेसु अचल अनुराग॥१३०॥

हे काग! मुझे भक्त सदा प्यारे हैं, ऐसा विचारकर तुम शरीर, वचन और मन से मेरे चरणों में निश्चल स्नेह करना॥१३०॥

चौ०-अब सुनु परमबिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी॥
निज सिद्धांत सुनावउँ तोही। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही॥१॥

अब अत्यन्त निर्मल, सत्य और सुगम, शास्त्रादिकों में कही हुई, मेरी वाणी तुम सुनो। मैं तुमको अपना सिद्धान्त सुनाता हूँ। उसको सुनकर मन में रक्खो और सब छोड़ कर मेरा भजन करो॥१॥

मम मायासंभव परिवारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सब तेँ अधिक मनुज मोहि भाये॥२॥

चर और अचर अनेक तरह के जीव सभी मेरी माया से उत्पन्न और उसी के परिवार (कुटुम्बी) हैं। सभी जीव मुझे प्रिय हैं, क्योंकि वे सभी मेरे उत्पन्न किये हुए हैं, तथापि मनुष्य ही मुझे सबसे ज्यादा प्यारे हैं॥२॥

तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ स्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम-धर्म-अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु तेँ अति प्रिय बिग्यानी॥३॥

मनुष्यों में भी ब्राह्मण अधिक प्रिय हैं, उनमें भी वेदज्ञ, वेदज्ञ ब्राह्मणों में भी वेदोक्त धर्म का अनुसरण करनेवाले प्रिय हैं; उनमें भी विरक्त और विरक्तों से भी अधिक प्रिय ज्ञानी हैं; ज्ञानियों से भी विज्ञानी (अनुभवजन्य ज्ञानवान्) बहुत प्रिय हैं॥ ३॥

तिन्ह तेँ पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीँ। मोहि सेवकसम प्रिय कोउ नाहीँ॥४॥

विज्ञानियों से भी अधिक प्रिय मुझे वे निज दास हैं, जिन्हें मेरी ही गति है और दूसरी आशा नहीं है। मैं तुम्हें बार बार और सत्य कहता हूँ कि मुझे अपने सेवक से अधिक प्यारा दूसरा नहीं है॥ ४॥

भगतिहीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥५॥

भक्ति से हीन ब्रह्मा ही क्यों न हो, वह मुझे सब (साधारण) जीवों के समान प्रिय है। किन्तु भक्तिवाला अत्यन्त नीच प्राणी भी मुझे प्राण-समान प्रिय है। ऐसा मेरा वचन है॥ ५॥

दो०—सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग।
स्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग॥ १३१॥

तुम्हीं कहो, भला पवित्र, सुशील, अच्छी बुद्धिवाला सेवक किसको प्यारा नहीं लगता? हे काग! तुम सावधान होकर सुनो; वेद, और पुराण ऐसी नीति कहते हैं॥ १३१॥

चौ०—एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिँ पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥१॥

एक पिता के बहुत से पुत्र होते हैं; वे सभी गुण, स्वभाव और आचरण में जुदे जुदे होते हैं। कोई तो पण्डित होता है, कोई तपस्वी और कोई ज्ञाता होता है; कोई धनवान्, कोई शूरवीर और कोई दाता होता है॥ १॥

कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर प्रीति पितहि सम होई॥
कोउ पितुभगत बचन मन कर्मा। सपनेहु जान न दूसर धर्मा॥ २॥

कोई सर्वज्ञ होता है तो कोई धर्म में तत्पर होता है, पर पिता की प्रीति सबके ऊपर (पुत्रभाव से) समान होती है। उन पुत्रों में कोई मन, वचन, कर्म से पिता का भक्त होता है, वह स्वप्न में भी दूसरा धर्म (पितृभक्ति के सिवा) नहीं जानता ॥ २ ॥

सो सुत प्रिय पितु प्रानसमाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना ॥
एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते ॥ ३ ॥

यद्यपि वह पुत्र सभी तरह अज्ञानी (मूर्ख) हो, तथापि वह पिता को प्राण के समान प्यारा होता है। इसी तरह त्रिलोकी में देवता, मनुष्य और दैत्यों-समेत जितने चराचर जीव हैं (उनसे युक्त) ॥ ३ ॥

अखिल बिस्व यह मम उपजाया। सब पर मोहि बराबरि दाया ॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजइ मोहि मन बच अरु काया ॥ ४ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् मेरा उत्पन्न किया हुआ है, इसलिए मुझे सभी के ऊपर एक बराबर दया है। उन सबमें जो मद और माया को छोड़कर मन, वचन और काया से मुझे भजता है ॥ ४ ॥

दो०—पुरुष नपुंसक नारि नर जीव चराचर कोइ।
भगति भाव भजि कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ॥१३२॥

वह पुरुष, स्त्री, नपुंसक चराचर जीव-मात्र में कोई हो, जो कपट छोड़कर भक्ति-भाव-पूर्वक मुझे भजेगा, वही मुझे अत्यन्त प्यारा है ॥ १३२ ॥

सो०—सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब ॥१३३॥

हे पक्षी ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, मुझे पवित्र सेवक प्राण-समान प्रिय हैं। ऐसा विचारकर, सब आशा-भरोसा छोड़कर, तुम मेरा भजन करो ॥ १३३ ॥

चौ०—कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमिरि स्वरूप निरंतर मोही ॥
प्रभुबचनामृत सुनि न अघाऊँ। तन पुलकित मन अति हरषाऊँ ॥ १ ॥

मेरे स्वरूप का निरन्तर ध्यान करने पर तुमको कभी काल न व्यापेगा (अर्थात् तुम कभी न मरोगे)। मैं प्रभुजी के वचनामृत सुनकर तृप्त नहीं होता था, मेरा शरीर पुलकित हो गया था और मैं मन में बहुत ही आनन्दित होता था ॥ १ ॥

सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिँ रसना पहिँ जाइ बखाना ॥
प्रभु-सोभा-सुख जानहिँ नयना। कहि किमि सकहिँ तिन्हहिँ नहिँ बयना ॥

उस सुख का तो मन और कान ही जानते हैं, जाभ से वह नहीं कहा जा सकता। प्रभुजी की शोभा के सुख को नेत्र जानते हैं, वे भला कह कैसे सकते हैं; क्योंकि वे बोल नहीं सकते ॥ २ ॥

बहु बिधि मोहि प्रबोधि सुख देई। लगे करन सिसुकौतुक तेई ॥
सजल नयन कछु मुख करि रूखा। चितइ मातु लागी अति भूखा ॥३॥

मुझे बहुत प्रकार के ज्ञान दे और समझाकर श्रीरामचन्द्रजी फिर बाल-क्रीड़ा (खिलवाड़) करने लगे। उनकी आँखें डबडबाई हुई थीं; वे अपना मुँह कुछ रूखा करके माता की ओर झाँके, मानों उन्हें बड़ी भूख लग आई हो ॥ ३ ॥

देखि मातु आतुर उठि धाई। कहि मृदु बचन लिये उर लाई ॥
गोद राखि कराव पयपाना। रघु-बर-चरित ललित कर गाना ॥ ४ ॥

उन्हें इस रूप में देख माता आतुर होकर उठ दौड़ी और कोमल वचन कहकर उनको हृदय से लगा लिया। रघुनाथजी को गोदी में रखकर उनके सुन्दर चरित्रों को गाती हुई वह उन्हें दूध पिलाने लगी ॥ ४ ॥

सो०—जेहि सुख लागि पुरारि असुभ-बेष-कृत सिव सुखद।
अवधपुरी नरनारि तेहि सुख महँ संतत मगन ॥ १३४ ॥

सुख देनेवाले त्रिपुरारि शङ्करजी ने जिस सुख के लिए अशुभ वेष (योगिवेष—रुण्ड-माला, खप्पर आदि) धारण किया, उसी सुख में अयोध्या के स्त्री-पुरुष सदा मग्न रहते हैं ॥ १३४ ॥

सोइ सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ।
ते नहिँ गनहिँ खगेस ब्रह्मसुखहिँ सज्जन सुमति ॥ १३५ ॥

जिसने उस सुख का लवलेशमात्र एक बार स्वप्न में भी पा लिया, हे गरुड़जी ! वह श्रेष्ठ-बुद्धिवाला सज्जन उसके आगे ब्रह्मसुख को कोई वस्तु नहीं समझता ॥ १३५ ॥

चौ०—मैं पुनि अवध रहेउँ कछु काला। देखेउँ बालबिनोद रसाला ॥
रामप्रसाद भगति बर पायउँ। प्रभुपद बंदि निजाश्रम आयउँ ॥१॥

फिर मैं कुछ समय पर्यन्त अयोध्या में रहा और मैंने सुन्दर बालविनोद देखा। रामचन्द्रजी के अनुग्रह से मैंने भक्ति का वरदान पाया और फिर स्वामी के चरणों की वन्दना कर मैं अपने आश्रम में आया ॥ १ ॥

तब तेँ मोहि न ब्यापी माया। जब तेँ रघुनायक अपनाया ॥
यह सब गुप्तचरित मैँ गावा। हरिमाया जिमि मोहि नचावा ॥ २ ॥

जब से रघुनाथजी ने मुझे अपना लिया तब से फिर मुझे माया नहीं व्यापी। यह सब गुप्त चरित्र मैंने गाया, जिस तरह मुझे भगवान् की माया ने नचाया था ॥ २ ॥

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरिभजन न जाहिँ कलेसा॥
रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ रामप्रभुताई॥ ३ ॥

हे गरुड़जी! अब अपना अनुभव आपको सुनाता हूँ। वह यह कि भगवद्भजन बिना क्लेश नहीं जाते। हे पक्षिराज! और सुनिए। रामचन्द्रजी की कृपा बिना उनकी प्रभुता (महिमा) जानी नहीं जाती ॥ ३ ॥

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिँ प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥४॥

महिमा जाने बिना प्रतीति (विश्वास) नहीं होती, बिना विश्वास के प्रीति नहीं होती और प्रीति बिना भक्ति दृढ़ नहीं होती हे गरुड़जी! जैसे जल की चिकनाई। (जल चुपड़ने से जो किसी जगह चिकनाई होती है तो वह जल सूखने पर मिट जाती है, अथवा जल में तेल या घी डाला जाय तो वह ऊपर ही ऊपर तैरता है एक-रस नहीं होता; इसी तरह प्रीति बिना भक्ति दृढ़ नहीं होती) ॥ ४ ॥

सो०—बिनु गुरु होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु।
गावहि बेद पुरान सुख कि लहिअ हरिभगति बिनु॥१२६॥

क्या बिना गुरु के भी ज्ञान हो सकता है? या बिना वैराग्य के कभी ज्ञान हो सकता है? वेद और पुराण गाते हैं कि भगवान् की भक्ति बिना क्या कभी कोई सुख पा सकता है? (नहीं) ॥ १२६ ॥

को बिस्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।
चलइ कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिय॥१२७॥

हे तात! स्वाभाविक सन्तोष बिना कौन विश्राम पा सकता है? करोड़ों यत्न कर हैरान होकर मरने पर भी क्या बिना पानी के कभी नाव चलती है? (नहीं) ॥ १२७ ॥

चौ०—बिनु संतोष न काम नसाहीँ। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीँ॥
रामभजन बिनु मिटहि कि कामा। थलबिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥१॥

सन्तोष बिना काम (मनोरथ) नष्ट नहीं होते और जब तक कामनायें बनी हैं तब तक सुख स्वप्न में भी नहीं है। रामचन्द्रजी के भजन बिना क्या कामनायें मिट सकती हैं? बिना पृथ्वी क्या वृक्ष जम सकता है? (नहीं) ॥ १ ॥

बिनु बिग्यान कि समता आवइ। को अवकास कि नभ बिनु पावइ॥
स्रद्धा बिना धरम नहिँ होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई॥२॥

विज्ञान (विशेष ज्ञान, ज्ञान के मर्म को जान लेना) हुए बिना भी क्या समता (सबको एक-सा समझना) आ सकती है ? क्या बिना आकाश के कोई खाली जगह पा सकता है ? श्रद्धा (गुरु, वेद और शास्त्रोक्त वचनों पर आस्तिक बुद्धि से विश्वास) बिना धर्म नहीं हो सकता, बिना पृथ्वी के क्या कभी गन्ध (जो पृथ्वी ही का गुण है) को कोई पा सकता है ? (नहीं) ॥ २ ॥

बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा । जल बिनु रस कि होइ संसारा ॥
सील कि मिल बिनु बुधसेवकाई । जिमि बिनु तेज न रूप गुसाईं ॥ ३ ॥

क्या बिना तपस्या कोई तेज को प्रकाशित कर सकता है ? क्या कभी संसार में बिना पानी के कोई रस बन सकता है (कदापि नहीं) । हे गुसाईं ! क्या विद्वानों की सेवा किये बिना किसी को शील मिल सकता है, जैसे तेज के बिना रूप हो ही नहीं सकता ॥ ३ ॥

निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा । परस कि होइ बिहीन समीरा ॥
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा । बिनु हरिभजन न भव-भय-नासा ॥ ४ ॥

अपने सुख (आत्मसुख) के बिना क्या मन स्थिर हो सकता है ? वायु बिना भी क्या स्पर्श गुण हो सकता है ? क्या बिना विश्वास कोई भी सिद्धि हो सकती है ? (नहीं) । ऐसे ही बिना भगवद्-भजन संसार के भय का नाश नहीं होता ॥ ४ ॥

दो०—बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु ।
रामकृपा बिनु सपनेहुँ मन न लहहि बिस्रामु ॥ १३८ ॥

बिना विश्वास भक्ति नहीं होती, भक्ति बिना रामचन्द्रजी नहीं द्रवते (दयार्द्र नहीं होते) और रामचन्द्रजी की कृपा बिना मन स्वप्न में भी विश्राम नहीं पा सकता ॥ १३८ ॥

सो०—अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल ।
भजहु राम रघुबीर करुणाकर सुंदर सुखद ॥ १३९ ॥

हे धीर-बुद्धि ! तुम ऐसा विचारकर सब कुतर्कों और संशय को त्यागकर दया की खान, सुन्दर, सुखदायी राम रघुवीर का भजन करो ॥ १३९ ॥

चौ०-निज मति-सरिस नाथ मैं गाया । प्रभु-प्रताप-महिमा खगराया ॥
कहेउँ न कछु करि जुगुति बिसेखी । यह सब मैं निज नयनन्हि देखी ॥ १ ॥

हे पक्षिराज ! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार स्वामी के प्रभाव की महिमा गाई । इसमें मैंने कोई विशेष युक्ति नहीं लगाई, यह सब मैंने अपनी आँखों से देखा है ॥ १ ॥

महिमा नाम रूप गुनगाथा । सकल अमित अनंत रघुनाथा ॥
निज निज मति मुनि हरिगुन गावहिं । निगम सेष सिव पार न पावहिं ॥ २ ॥

रघुनाथजी की महिमा, नाम, रूप और गुण-गण सभी अमित (जिनका नाप न हो सके) और अनन्त (जिनका पार न हो) हैं। मुनिजन अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार भगवद्-गुण गाते हैं; उनका पार तो वेद, शेषजी और शिवजी भी नहीं पाते ।।२।।

तुम्हहिँ आदि खग मसकप्रजंता । नभ उड़ाहिँ नहिँ पावहिँ अंता ॥
तिमि रघु-पति-महिमा अवगाहा । तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा ॥ ३ ॥

हे गरुड़जी ! आपसे लगाकर मच्छर तक सभी पक्षी आकाश में (अपनी अपनी शक्ति के अनुसार) उड़ते हैं, पर उसका अन्त कोई नहीं पाता। हे तात ! इसी तरह रघुनाथजी की महिमा अथाह है। क्या कोई कभी उसकी थाह पा सकता है ? (नहीं) ।। ३ ।।

राम काम-सत-कोटि-सुभग-तन । दुर्गा-कोटि-अमित अरिमर्दन ॥
सक्र-कोटि-सत-सरिस बिलासा । नभ-सत-कोटि-अमित अवकासा ॥ ४ ॥

रामचन्द्रजी सौ करोड़ कामदेवों के समान सुन्दर शरीरवाले हैं और करोड़ों दुर्गाजी के समान असंख्य शत्रुओं का नाश करनेवाले हैं। सौ करोड़ इन्द्रों के समान विलासकर्ता (सुख-भोगी) हैं और सौ करोड़ आकाशों के समान अमित अवकाशयुक्त (व्यापक) हैं ।। ४ ।।

दो०—मरुत-कोटि-सत-बिपुल बल रबि-सत-कोटि प्रकास ।
ससि-सत-कोटि सो सीतल समन सकल-भव-त्रास ॥ १४० ॥

सौ करोड़ वायु के समान उनका अपार बल है, सौ करोड़ सूर्यों के समान प्रकाश है। उनका प्रकाश सौ करोड़ चन्द्रों के समान शीतल और संसारसम्बन्धी भयों को शान्त करनेवाला है ।। १४० ।।

काल-कोटि-सत-सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत ।
धूम-केतु-सत-कोटि-सम दुराधरष भगवंत ॥ १४१ ॥

भगवान् रामचन्द्र सौ करोड़ कालों के समान अत्यन्त दुस्तर (कठिन), दुरन्त (जिसकी समाप्ति न हो) और दुर्गम हैं। वे सौ करोड़ धूमकेतु (पूँछवाले तारे, जिनका दीखना प्रजाक्षयकारी होता है) के समान दुराधर्ष (असह्य) हैं ।। १४१ ।।

चौ०—प्रभु अगाध सत-कोटि-पताला । समन-कोटि-सत-सरिस कराला ।
तीरथ-अमित-कोटि-सत पावन । नाम अखिल-अघ-पुंज-नसावन ॥ १ ॥

प्रभु रघुनाथजी सौ करोड़ पातालों के समान गहरे हैं, सौ करोड़ यमराजों के समान विकराल हैं। अपार तीर्थों के समान पवित्र करनेवाले उनके अनंत नाम समस्त पाप-समूहों के नष्ट करनेवाले हैं ।। १ ।।

हिम-गिरि-कोटि अचल रघुबीरा । सिंधु - कोटि-सत-सम गंभीरा ॥
काम-धेनु - सत-कोटि - समाना । सकल-काम-दायक भगवाना ॥ २ ॥

भगवान् रघुवीर सौ करोड़ हिमालय पर्वतों के समान निश्चल हैं, सौ करोड़ समुद्रों के समान गंभीर हैं और सौ करोड़ कामधेनुओं के समान सम्पूर्ण कामनाओं के देनेवाले हैं ॥२॥

सारद-कोटि-अमित चतुराई । बिधि-सत-कोटि सृष्टिनिपुनाई ॥
बिस्नु-कोटि-सत पालन-करता । रुद्र-कोटि-सत-सम संहरता ॥३॥

उनमें अनगिनत करोड़ों सरस्वतियों के समान चतुराई है, सौ करोड़ ब्रह्मा के समान सृष्टि की निपुणता है। वे सौ करोड़ विष्णु के समान पालनकर्ता और सौ करोड़ रुद्रों के समान संहारकर्ता हैं ॥ ३ ॥

धनद-कोटि-सत-सम धनवाना । माया-कोटि प्रपंचनिधाना ॥
भार धरन सत-कोटि-अहीसा । निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा ॥४॥

वे सौ करोड़ कुबेरों के समान धनवान् हैं और करोड़ों मायाओं के समान प्रपञ्च (संसार) के निधान (आधार-स्थान) हैं, सौ करोड़ शेषों के समान भार धारण करनेवाले हैं, इसी लिए वे निरवधि (जिनकी अवधि न हो कि कब से हुए और कब तक रहेंगे) और निरुपम (जिनकी उपमा देने के लिए दूसरा उदाहरण न मिल सके) प्रभु (समर्थ) और जगत् के स्वामी हैं ॥ ४ ॥

छंद—निरुपम न उपमा आन रामसमान निगमागम कहे ।
जिमि कोटि-सत-खद्योत-सम रबि कहत अति लघुता लहे ॥
एहि भाँति निज निज मतिबिलास मुनीस हरिहि बखानहीं ।
प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं ॥

वेद और शास्त्र कहते हैं[1] कि ऐसे उपमा-रहित रामचन्द्रजी की समानता के लिए कोई उपमा नहीं जैसे सौ करोड़ खद्योत (जुगुनुओं) के बराबर कह देने पर भी सूर्य के लिए वह उपमा बहुत ही तुच्छ होती है। इसी तरह अपनी अपनी बुद्धि की गति के अनुसार मुनीश्वर भगवान् का वर्णन करते हैं और प्रभु रामचन्द्रजी भाव[2] के ग्रहणकर्ता, अत्यन्त दयालु हैं, अतएव उनके प्रेम-युक्त वर्णन को सुनकर वे सुख मानते हैं ॥

दो०—राम अमित-गुन-सागर थाह कि पावइ कोइ ।
संतन्ह सन जस कछु सुनेउँ तुम्हहिँ सुनायउँ सोइ ॥१४२॥

रामचन्द्रजी अपार गुणों के समुद्र हैं, क्या कोई उनकी थाह पा सकता है ? (कोई नहीं) इसी लिए मैंने जैसा कुछ महात्माओं से सुना था, वही आपको सुना दिया ॥ १४२ ॥

१—वेद-उपनिषद्—"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते", गीता—"न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः"—अ० ११ ।

२—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।"—गीता—अर्थात् जो जैसे जिस भाव से मेरी शरण आते हैं, मैं भी उन्हें वैसे ही प्राप्त होता हूँ ।

सो०—भावबस्य भगवान सुखनिधान करुनाभवन ।
तजि ममता मद मान भजिय सदा सीतापतिहि ॥१४३॥

भगवान् भाव के वश, सुख के भाण्डार और दया के घर हैं। इसलिए ममता, मद और अभिमान को छोड़कर सदा सीतापति रामचन्द्रजी का भजन करना चाहिए ॥ १४३ ॥

चौ०—सुनि भुसुंडि के बचन सुहाये। हरषित खगपति पंख फुलाये ॥
नयन नीर मन अति हरषाना। श्री-रघु-बर-प्रताप उर आना ॥१॥

काकभुशुण्डिजी के सुहावन वचन सुनकर गरुड़जी प्रसन्न हुए और उन्होंने पङ्ख फुला लिये। उनके नेत्रों में जल भर आया, वे मन में बहुत प्रसन्न हुए और श्रीरघुवर रामचन्द्रजी का प्रताप हृदय में लाये ॥ १ ॥

पाछिल मोह समुझि पछिताना। ब्रह्म अनादि मनुज करि माना ॥
पुनि पुनि कागचरन सिर नावा। जानि रामसम प्रेम बढ़ावा ॥२॥

गरुड़जी पिछले मोह पर पश्चात्ताप करने लगे जो उन्होंने अनादि ब्रह्म को मनुष्य मान लिया था। उन्होंने बार बार काकभुशुण्डिजी के चरणों में मस्तक नवाया और रामचन्द्र जी के समान जानकर उन पर प्रेम बढ़ाया ॥ २ ॥

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि-शंकर-सम होई ॥
संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता ॥३॥

(गरुड़जी ने कहा)—जो ब्रह्मा और शङ्कर के समान (समर्थ) हो तो भी गुरु बिना संसार-सागर से कोई नहीं पार होता। हे तात! मुझे संशयरूपी सर्प ने डसा था और बहुत से कुतर्कों के झुंडरूपी उसकी लहरें मुझे आ रही थीं ॥ ३ ॥

तव सरूप गारुडि रघुनायक। मोहि जिआयेउ जन-सुख-दायक ॥
तव प्रसाद मम मोह नसाना। रामरहस्य अनूपम जाना ॥४॥

भक्तों के सुखदायक, गारुड़ी (साँप का विष उतारनेवाले) रघुनाथजी ने आपका स्वरूप धरकर मुझे जिला लिया। आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने रामचन्द्रजी का अनुपम रहस्य जाना ॥ ४ ॥

दो०—ताहि प्रसंसि बिबिध बिधि सीस नाइ कर जोरि ।
बचन बिनीत सप्रेम मृदु बोलेउ गरुड़ बहोरि ॥१४४॥

गरुड़जी काकभुशुण्डिजी की नाना प्रकार से प्रशंसा कर, उन्हें सिर नवा, हाथ जोड़कर विनय भरे, प्रेमयुक्त, कोमल वचन फिर बोले—॥ १४४ ॥

प्रभु अपने अबिबेक तें बूझउँ स्वामी तोहि ।

कृपासिंधु सादर कहहु जानि दास निज मोहि ॥१४५॥

हे प्रभो ! स्वामी ! मैं अपने अविचार से आपको पूछता हूँ; हे दयासागर ! मुझे अपना दास जानकर उस प्रश्न का उत्तर आदर-पूर्वक कहिए ॥ १४५ ॥

चौ०—तुम्ह सर्बग्य तग्य तमपारा । सुमति सुसील सरलआचारा ॥

ग्यान-बिरत-बिग्यान-निवासा । रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा ॥१॥

आप सर्वज्ञ हैं, तज्ञ (ब्रह्मवेत्ता) हैं, तमोगुण अथवा अज्ञान से पार हैं; सुबुद्धि, सुशील और सरल आचरणकर्ता हैं; ज्ञान, वैराग्य और विज्ञान के निवासस्थान हैं और रघुनाथजी के प्रिय दास हैं ॥ १ ॥

कारन कवन देह यह पाई । तात सकल मोहि कहहु बुझाई ॥

राम-चरित-सर सुंदर स्वामी । पायउ कहाँ कहहु नभगामी ॥२॥

हे तात ! मुझे सब बात समझाकर कहिए कि आपने यह (कौए की) देह किस कारण पाई ? हे आकाशचारी स्वामी ! आप यह सुन्दर रामचरित-रूपी मानस-सरोवर कहाँ पा गये ? कहिए ॥ २ ॥

नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं । महा प्रलयहु नास तव नाहीं ॥

मृषा बचन नहिं ईस्वर कहई । सो मोरे मन संसय अहई ॥३॥

हे नाथ ! मैंने शिवजी से ऐसा सुना है कि महाप्रलय में भी आपका नाश नहीं होता । शिवजी कभी मिथ्या वचन नहीं कहते, इसलिए मेरे मन में वह संशय हो रहा है ॥ ३ ॥

अग जग जीव नाग नर देवा । नाथ सकल जग कालकलेवा ॥

अंडकटाह अमित लयकारी । कालु सदा दुरतिक्रम भारी ॥४॥

हे नाथ ! स्थावर-जङ्गम जीव, नाग, मनुष्य, देवता आदि सभी काल के कलेवा हैं । अपार ब्रह्माण्ड-कटाहों का प्रलय करनेवाला काल सदा बड़ा दुरतिक्रम (जिसको कोई किसी तरह न दबा सके) है ॥ ४ ॥

सो०—तुम्हहि न ब्यापत काल अति कराल कारन कवन ।

मोहि सो कहहु कृपाल ग्यानप्रभाउ कि जोगबल ॥१४६॥

वह अति कराल काल आपको नहीं व्यापता, इसका कौन सा कारण है ? हे दयालु ! आप यह मुझे बतलाइए । क्या ज्ञान के प्रभाव से या योग के बल से वह आपको नहीं सताता ? ॥ १४६ ॥

दो०—प्रभु तव आस्रम आयउँ मोर मोह भ्रम भाग ।
कारन कवन सो नाथ सब कहहु सहित अनुराग ॥१४७॥

हे प्रभो ! आपके आश्रम में आते ही मेरा मोह और भ्रम भाग खड़ा हुआ । हे नाथ ! इसका कौन सा कारण है ? यह सब प्रेम-सहित कहिए ॥ १४७ ॥

चौ०—गरुडगिरा सुनि हरषेउ कागा । बोलेउ उमा सहित अनुरागा ॥
धन्य धन्य तव मति उरगारी । प्रस्न तुम्हार मोहि अति प्यारी ॥१॥

शिवजी कहते हैं कि हे उमा ! गरुड़जी की वाणी सुनकर काकभुशुण्डजी प्रसन्न हुए और अनुराग के साथ बोले—हे गरुड़जी ! आपकी बुद्धि को धन्य है, धन्य है । आपका प्रश्न मुझे बहुत ही प्रिय है ॥ १ ॥

सुनि तव प्रस्न सप्रेम सुहाई । बहुत जनम की सुधि मोहि आई ॥
अब निज कथा कहउँ मैं गाई । तात सुनहु सादर मन लाई ॥२॥

आपके प्रेमयुक्त सुन्दर प्रश्न सुनकर मुझे बहुत जन्मों का स्मरण हो आया । अब मैं अपनी कथा कहता हूँ, हे तात ! मन लगाकर आदरपूर्वक उसे सुनिए ॥ २ ॥

जप तप ब्रत मख सम दम दाना । बिरति बिबेक जोग बिग्याना ॥
सब कर फल रघु-पति-पद प्रेमा । तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा ॥३॥

जप, तप, व्रत, यज्ञ, शम, दम, दान, वैराग्य, विवेक, योग और विज्ञान सबका फल रघुनाथजी के चरणों में प्रेम का होना है; उसके बिना कोई क्षेम (कल्याण) नहीं पाता ॥ ३ ॥

एहि तन राम भगति मैं पाई । ता तें मोहि ममता अधिकाई ॥
जेहि तें कछु निज स्वारथ होई । तेहि पर ममता कर सब कोई ॥४॥

मैंने इसी (काक-) शरीर से रामचन्द्रजी की भक्ति पाई है, इसी लिए मुझे इस पर अधिक ममता है, क्योंकि जिससे कुछ अपना स्वार्थ हो उस पर सभी लोग ममता करते हैं ॥ ४ ॥

सो०—पन्नगारि असि नीति स्रुतिसंमत सज्जन कहहिँ ।
अति नीचहु सन प्रीति करिय जानि निज-परम-हित ॥१४८॥

हे सर्पशत्रु गरुड़जी ! सज्जन लोग वेदों की सम्मत ऐसी नीति कहते हैं कि अपना परम हित (होता) जानकर अत्यन्त नीच से भी प्रीति कर लेनी चाहिए ॥ १४८ ॥

पाट कीट तेँ होइ तेहि तेँ पाटंबर रुचिर ।
कृमि पालइ सब कोइ परम अपावन प्रानसम ॥१४९॥

देखिए, रेशम कीड़े से निकलता है और उस रेशम से सुन्दर रेशमी कपड़े बनते हैं; इसलिए अत्यन्त अपवित्र रेशमी कीड़ों को सभी प्राण-समान पालते हैं ॥ १४९ ॥

चौ०—स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा । मन-क्रम-बचन रामपद नेहा ॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा । जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा ॥१॥

जीव के लिए सच्चा स्वार्थ यही है कि मन, वचन और कर्म से रामचन्द्रजी के चरणों में उसका स्नेह हो। जिस शरीर को पाकर रघुनाथजी का भजन बने, वही शरीर पावन और सुन्दर है ॥ १ ॥

रामबिमुख लहि बिधिसम देही । कबि कोबिद न प्रसंसहिँ तेही ॥
रामभगति एहि तन उर जामी । ता तेँ मोहि परमप्रिय स्वामी ॥२॥

ब्रह्मा के समान देह मिल जाय किन्तु वह रामचन्द्रजी से विमुख हो तो चतुर विद्वान् उसकी प्रशंसा नहीं करते। हे स्वामी! इसी शरीर में रामचन्द्रजी की भक्ति का अङ्कुर मेरे हृदय में हुआ। इससे यह देह मुझे बहुत ही प्यारी है ॥ २ ॥

तजउँ न तनु निज इच्छा मरना । तनु बिनु बेद भजन नहिँ बरना ॥
प्रथम मोह मोहि बहुत बिगोवा । रामबिमुख सुख कबहुँ न सोवा ॥३॥

अपनी इच्छा के अधीन मृत्यु होने पर भी मैं इस देह को नहीं त्यागता; क्योंकि वेदों ने शरीर बिना भजन होना नहीं वर्णन किया। पहले मुझे मोह ने बहुत तङ्ग किया, मैं रामचन्द्रजी से विमुख था, इसलिए कभी सुख से नहीं सोया ॥ ३ ॥

नाना जनम करम पुनि नाना । किये जोग जप मख तप दाना ॥
कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीँ । मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीँ ॥४॥

मैंने अनेक जन्म लिये और योग, जप, यज्ञ, तप, दान आदि अनेक कर्म किये। हे गरुड़जी! संसार में ऐसी कौन सी योनि है जिसमें घूम घूम कर मैंने जन्म नहीं लिया? ॥ ४ ॥

देखेउँ सब करि करम गुसाईँ । सुखी न भयउँ अबहिँ की नाईँ ॥
सुधि मोहि नाथ जनम बहु केरी । सिवप्रसाद मति मोह न घेरी ॥५॥

हे गुसाईं! मैंने सभी कर्म करके देख लिये, परन्तु मैं अब के समान सुखी कभी नहीं हुआ। हे नाथ! मुझे बहुत जन्मों की सुधि बनी है, शिवजी की कृपा से मेरी बुद्धि को मोह ने नहीं घेरा ॥ ५ ॥

दो०—प्रथम जनम के चरित अब कहउँ सुनहु बिहँगेस ।
सुनि प्रभु-पद-रति उपजइ जा तेँ मिटहिँ कलेस ॥१५०॥

हे पक्षिराज ! अब मैं आपसे प्रथम जन्म के चरित्र कहता हूँ, सुनिए। उन्हें सुनकर भगवान के चरणों में प्रीति उत्पन्न होती है, जिससे क्लेश मिट जाते हैं ॥ १५० ॥

पूरब कल्प एक प्रभु जुग कलिजुग मलमूल।

नर अरु नारि अ-धर्म्म-रत सकल निगम प्रतिकूल ॥१५१॥

हे प्रभो ! पहले एक कल्प में कलियुग पापों का मूल था। स्त्री और पुरुष सब वेदों के प्रतिकूल और अधर्म में तत्पर थे ॥ १५१ ॥

चौ०—तेहि कलिजुग कोसलपुर जाई। जनमत भयउँ सूद्रतनु पाई ॥

सिवसेवक मन क्रम अरु बानी। आन देव निंदक अभिमानी ॥१॥

उस कलियुग में मैंने अयोध्या में जाकर जन्म लिया, शूद्र का शरीर पाया। मैं मन, कर्म और वाणी से शिवजी का सेवक और दूसरे देवता का निन्दक, अभिमानी था ॥ १ ॥

धन-मद-मत्त परम बाचाला। उग्रबुद्धि उर दंभ बिसाला ॥

जदपि रहेउँ रघु-पति-रजधानी। तदपि न कछु महिमा तब जानी ॥२॥

धन के मद से उन्मत्त, बड़ा वाचाल (बहुत बोलनेवाला) तथा तीव्रबुद्धि था। मेरे हृदय में बड़ा भारी दम्भ (पाखंड) था। यद्यपि मैं रघुनाथजी की राजधानी में था, तो भी उस समय में उसकी कुछ महिमा नहीं जानता था ॥ २ ॥

अब जाना मैं अवधप्रभावा। निगमागम पुरान अस गावा ॥

कवनेहु जनम अवध बस जोई। रामपरायन सो पइ होई ॥ ३ ॥

अब मैंने अवध का प्रभाव जाना, जो वेद, शास्त्र और पुराणों में इस तरह गाया गया है कि जो कोई किसी जन्म में भी अयोध्या में निवास करे वह अवश्य अत्यन्त राम-परायण हो जायगा ॥ ३ ॥

अवधप्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहिँ राम धनुपानी ॥

सो कलिकाल कठिन उरगारी। पापपरायन सब नरनारी ॥ ४ ॥

अयोध्याजी के प्रभाव को प्राणी तभी जान सकते हैं जब धनुषधारी रामचन्द्रजी उनके हृदय में निवास करते हैं। हे गरुड़जी ! वह कलियुग बहुत ही कठिन था; क्योंकि सभी स्त्री-पुरुष पाप में तत्पर थे ॥ ४ ॥

दो०—कलिमल ग्रसे धर्म सब गुप्त भये सदग्रंथ।

दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किये बहु पंथ ॥१५२॥

कलियुग के पापों ने सब धर्मों का ग्रास कर लिया, श्रेष्ठ ग्रन्थ गुप्त हो गये। दम्भी लोगों ने अपनी बुद्धि से कल्पित कर अनेक मार्ग प्रकट किये ॥ १५२ ॥

भये लोग सब मोहबस लोभ ग्रसे सुभ कर्म ।
सुनु हरिजान सु ग्याननिधि कहउँ कछुक कलिधर्म ॥१५३॥

सभी लोग मोह के वश हो गये, लोभ ने शुभ कर्मों को ग्रस लिया। विष्णु के वाहन, ज्ञानसागर गरुड़जी ! मैं कलियुग के कुछेक धर्म कहता हूँ, सुनिए ॥ १५३ ॥

चौ०—बरन धरम नहिं आस्रम चारी। स्रुति-बिरोध-रत सब नरनारी ॥
द्विज स्रुतिबेचक भूप प्रजासन । कोउ नहिं मान निगम-अनुसासन ॥१॥

कलियुग में न तो चारों वर्णों के धर्म रहते हैं, न उक्त आश्रम ही। सब स्त्री-पुरुष वेद के विरोध में तत्पर हो जाते हैं। ब्राह्मण वेदों के बेचनेवाले और राजा प्रजाओं को खा जानेवाले होते हैं; कोई शास्त्र की आज्ञा को नहीं मानता ॥ १ ॥

मारग सोइ जा कहँ जोइ भावा । पंडित सोइ जो गाल बजावा ॥
मिथ्यारंभ दंभरत जोई । ता कहँ संत कहहिं सब कोई ॥ २ ॥

मार्ग वही है जो जिसको अच्छा लग जाय, पण्डित वही है जो गाल बजावे (मनमानो बड़बड़ाहट करके शेखी हाँक ले); जो झूठा आरंभ (आयोजन) कर ले, दम्भ (लोगों को दिखाने के लिए जप ध्यान आदि करने) में तत्पर हो, उसको सब लोग सन्त कहने लगते हैं ॥ २ ॥

सोई सयान जो पर-धन-हारी । जो कर दंभ सो बड़ आचारी ॥
जो कह झूठ मसखरी जाना । कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना ॥ ३ ॥

कलियुग में चतुर वही है जो दूसरे का धन हर ले, जो दम्भ फैलावे वह बड़ा आचारी कहा जाता है। जो झूठा मसखरी (व्यंग्य वचनों से भरी हँसी) की बातें कहना जाने, कलियुग में वही गुणवान् कहा जाता है ॥ ३ ॥

निराचार जो स्रुतिपथ त्यागी । कलिजुग सोइ ग्यानी बैरागी ॥
जा के नख अरु जटा बिसाला । सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ॥ ४ ॥

जो आचार-भ्रष्ट और वेदमार्ग का त्यागनेवाला है, वही कलियुग में ज्ञानी और वैरागी कहा जाता है। जिसके नख बढ़ गये हों, जटायें विशाल हो गई हों वही कलिकाल में प्रसिद्ध तपस्वी कहा जाता है ॥ ४ ॥

दो०—असुभ बेष भूषन धरे भच्छाभच्छ जे खाहिं ।
तेइ तापस तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं ॥ १५४ ॥

जो अशुभ वेष और वैसे ही भूषण धारण किये हों, भक्ष्याभक्ष्य (मद्य, मांस आदि) खावें, वे ही कलियुग में तपस्वी हैं, वे ही मनुष्य सिद्ध हैं और पूज्य भी माने जाते हैं ॥१५४॥

सो०—जे अपकारी चार तिन्ह कर गौरव मान्य बहु।
मन क्रम बचन लबार ते बकता कलिकाल महँ॥ १५५॥

जो अपकारी (बिगाड़ करनेवाले) और चार (चुगलखोर) हैं, उनको बड़ाई और बहुमान है और जो मन, वचन तथा कर्म से लबार हैं वे ही कलियुग में वक्ता हैं अर्थात पुराणी और व्याख्यानदाता हैं॥ १५५॥

चौ०—नारिबिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिँ नटमरकट की नाईं॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिँ ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिँ कुदाना॥ १॥

हे गुसाईं! सब मनुष्य स्त्रियों के वश में हैं, वे उनके संकेत पर ऐसे नाचते हैं जैसे नट का बन्दर। शूद्र लोग ब्राह्मणों को ज्ञान का उपदेश देते हैं और जनेऊ पहन कर दुष्ट (बुरा) दान लेते हैं॥ १॥

सब नर काम-लोभ-रत क्रोधी। बेद-बिप्र-गुरु-संत-बिरोधी॥
गुनमंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिँ नारि परपुरुष अभागी॥ २॥

सभी मनुष्य कामी, लोभी और क्रोधी तथा वेद, ब्राह्मण, गुरु और सन्तों के विरोधी हैं। स्त्रियाँ गुणों के स्थान, सुन्दर अपने पति को त्याग कर अभागे पर-पुरुष का सेवन करती हैं॥ २॥

सौभागिनी बिभूषनहीना। बिधवन्ह के सृंगार नबीना॥
गुरुसिष बधिर अंध कर लेखा। एक न सुनहिँ एक नहिँ देखा॥ ३॥

सौभाग्यवती स्त्रियाँ तो भूषणों से रहित हैं और विधवाओं के नये नये शृङ्गार होते हैं। गुरु और शिष्यों का तो आपस में अंधे और बहिरे का-सा हिसाब होता है, जैसे बहरा तो सुनता नहीं और अन्धा देखता नहीं, ऐसे ही शिष्य तो शिक्षा सुनते नहीं और गुरु कुछ जानते नहीं॥ ३॥

हरइ सिष्यधन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महँ परई॥
मातु पिता बालकन्ह बोलावहिँ। उदर भरइ सोइ धर्म सिखावहिँ॥ ४॥

जो गुरु शिष्य के धन का तो हरण करे, पर उसके शोक को न मिटावे, वह गुरु घोर नरक में गिरता है। माता-पिता बालकों को बुलाते और उनको वही धर्म सिखाते हैं जिसमें पेट भरे॥ ४॥

दो०—ब्रह्मग्यान बिनु नारि नर कहहिँ न दूसरि बात।
कौड़ी कारन लोभबस करहिँ बिप्र-गुरु-घात॥ १५६॥

कोइ भी स्त्री-पुरुष ब्रह्मज्ञान के सिवा दूसरी बात ही नहीं करते, पर लोभ के वश होकर एक कौड़ी के लिए ब्राह्मण और गुरु का घात (वध) कर डालते हैं ॥ १५६ ॥

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु घाटि ।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाटि ॥ १५७ ॥

शूद्र लोग ब्राह्मणों के साथ विवाद करते हैं—"क्या हम तुमसे कुछ कम हैं? जो वेद को जाने वही श्रेष्ठ ब्राह्मण है।" इस तरह उन्हें डाँटकर वे आँखें दिखाते हैं ॥ १५७ ॥

चौ०—परतिय लंपट कपट सयाने । मोह द्रोह ममता लपटाने ॥
तेइ अभेदबादी ग्यानी नर । देखेउँ मैं चरित्र कलियुग कर ॥ १ ॥

मैंने कलियुग का चरित्र देखा कि जो पर-स्त्री-लम्पट, कपट में चतुर और मोह, द्वेष तथा ममता में फंस पड़े हैं, वे ही मनुष्य अभेद सिद्धांत (अहं ब्रह्मास्मि) कहनेवाले ज्ञानी बनते हैं ॥ १ ॥

आप गये अरु औरनि घालहिं । जो कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं ॥
कल्प कल्प भरि एक एक नरका । परहिं जे दूषहिं स्रुति करि तरका ॥ २ ॥

आप तो गये ही, पर जो कोई दूसरा सन्मार्ग पर चलता हो, उसको भी वे ले बैठते हैं। जो लोग वेदों को तर्कों (मन-गढ़ी खोटी शङ्काओं) से दूषित करते हैं वे एक एक नरक में कल्प कल्प भर बसते हैं ॥ २ ॥

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा । स्वपच किरात कोल कलवारा ॥
नारि मुई घर संपति नासी । मूँड मुँड़ाइ होहिं संन्यासी ॥ ३ ॥

जो नीच वर्ण के तेली, कुम्हार, श्वपच (चण्डाल), किरात, कोल, कलवार आदि हैं, वे स्त्री के मरने तथा घर की सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर माथा मुड़ाकर सन्यासी हो जाते हैं ॥ ३ ॥

ते बिप्रन्ह सन पाँव पुजावहिं । उभय लोक निज हाथ नसावहिं ॥
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी । निराचार सठ बृषलीस्वामी ॥ ४ ॥

वे ब्राह्मणों से पाँव पुजवाकर अपने हाथों दोनों लोक बिगाड़ते हैं। ब्राह्मण लोग निरक्षर (मूर्ख), लोभी, कामी, आचार-हीन, दुष्ट और वृषली (दुराचारिणी नीच स्त्री) के पति हो रहे हैं ॥ ४ ॥

सूद्र करहिं जप तप ब्रत दाना । बैठि बरासन कहहिं पुराना ॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा । जाइ न बरनि अनीति अपारा ॥ ५ ॥

शूद्र लोग जप, तप, व्रत और दान करते एवं अच्छे (ऊँचे) आसन पर बैठकर पुराण बाँचते हैं। सब लोग कल्पित (अपने मन से गढ़ा हुआ) आचार करते हैं। ऐसा अपार अनीति है कि जिनका वर्णन नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

दो०—भये बरनसंकर सकल भिन्न सेतु सब लोग।
करहिँ पाप दुख पावहिँ भय रुज सोक बियोग ॥१५८॥

सब लोग वर्णसंकर हो गये, उन्होंने सब तरह की मर्यादाओं को नष्ट कर दिया। वे पाप करते हैं और दुःख, भय, रोग, सोच और वियोग पाते हैं ॥ १५८ ॥

स्रुतिसंमत हरि-भक्ति-पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि न चलहिँ नर मोहबस कल्पहिँ पंथ अनेक ॥१५९॥

वे मोह के वश हो वैराग्य और विचार से युक्त, वेदों के अनुकूल, भगवान् की भक्ति के मार्ग पर नहीं चलते। किन्तु मोह में पड़कर अनेक पन्थ कल्पित कर लेते हैं ॥ १५९ ॥

तोमर छंद—बहु दाम सँवारहिँ धाम जती। बिषया हरि लीन गई बिरती ॥
तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलिकौतुक तात न जात कही ॥

हे तात! सन्यासी लोग बहुत धन लगाकर घर सजाते हैं; वैराग्य जाता रहा; उसे विषयों ने हर लिया है। तपस्वी तो धनवान् हो गये और गृहस्थ दरिद्र हो गये, कलियुग का तमाशा कहा नहीं जाता ॥

कुलवंत निकारहिँ नारि सती। गृह आनहिँ चेरि निबेरि गती ॥
सुत मानहिँ मातु पिता तब लौं। अबला नहिँ डीठ परी जब लौं ॥

कुलवान् अपनी सती स्त्री को निकाल देते हैं और कुल की मर्यादा भ्रष्ट कर घर में दासी को लाते हैं। पुत्र माता-पिताओं को तभी तक मानते हैं जब तक स्त्री उन्हें आँखों से नहीं देख पड़ती ॥

ससुरारि पियारि लगी जब तें। रिपुरूप कुटुंब भये तब तें ॥
नृप पापपरायन धर्म नहीं। करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं ॥

जब से ससुरार प्यारी लगी, तब से कुटुम्बी शत्रु-रूप हो गये। राजा पापों में तत्पर हो गये, धर्म नहीं रहा, वे प्रजाओं को नित्य दण्ड देकर विडम्बना करते हैं ॥

धनवंत कुलीन मलीन अपी। द्विजचिह्न जनेउ उघार तपी ॥
नहिँ मान पुरानन्ह बेदहिँ जो। हरिसेवक संत सही कलि सो ॥

धनवान् चाहे दूषित भी हो, कुलीन माना जाता है। ब्राह्मणों का चिह्न जनेऊ-मात्र रह गया। जो उघार (खुले बदन) रहें वे तपस्वी कहलाते हैं। जो न वेदों को मानें, न पुराणों को, वे कलियुग में सच्चे हरि के सेवक और सन्त हैं ॥

कबिबृंद उदार दुनी न सुनी। गुन-दूषन-ब्रात न कोपि गुनी॥
कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै॥

विद्वानों के समूह बहुत हैं, पर संसार में उदार कोई सुना हो नहीं जाता अथवा टके कमानेवाले कवि बहुत हैं, पर हरिगुण-कीर्तन करनेवाले सुनने में नहीं आते। दूसरों के गुणों को दोष बतानेवालों के झुण्ड दीखते हैं, परंतु सच्चा गुणवान् कोई भी नहीं। कलियुग में बारम्बार अकाल पड़ते और सब लोग बिना अन्न दुखी हो हो मरते हैं॥

दो०—सुनु खगेस कलि कपट हठ दंभ द्वेष पाखंड।
मान मोह मारादि मद ब्यापि रहे ब्रह्मंड॥ १६०॥

हे गरुड़जी! सुनिए। कलियुग में कपट, हठ, दम्भ, द्वेष, पाखण्ड, अभिमान, मोह और कामादि मद सारे ब्रह्माण्ड में व्याप रहे हैं॥ १६०॥

तामस धर्म करहिं सब जप तप मख ब्रत दान।
देव न बरषहिं धरनि पर बये न जामहिं धान॥ १६१॥

इस युग में सब लोग जप, तप, यज्ञ, व्रत और दान आदि जो करते हैं वह सब तामस (तमोगुणी[1]) धर्म के अनुसार करते हैं। इसी से पृथ्वी पर देवता पानी नहीं बरसाते और बोये हुए धान्य नहीं उपजते॥ १६१॥

तोटक—अबला कच भूषन भूरि छुधा। धनहीन दुखी ममता बहुधा॥
सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता। मति थोरि कठोरि न कोमलता॥

कलियुग में स्त्रियों के केश ही भूषण होते हैं, उनको भूख अधिक लगती है। वे धन से रहित (दरिद्र) होने के कारण दुखी रहती हैं, बहुत तरह की ममता बढ़ जाती है। मूर्ख सुख तो चाहते हैं, पर धर्म में तत्पर नहीं होते। बुद्धि एक तो थोड़ी होती है और वह भी कठोर होती है, उनमें नम्रता नहीं होती॥

नर पीडित रोग न भोग कहीं। अभिमान बिरोध अकारनहीं॥
लघु जीवन संबत पंचदसा। कलपांत न नास गुमान असा॥

मनुष्य रोगों से पीड़ित रहते हैं, सुख तो कहीं नहीं दीखता; बिना कारण ही अभिमान और विरोध होते हैं। थोड़ा जीना पचास (या दस-पाँच) वर्ष का—उसमें अभिमान ऐसा मानो कल्पान्त तक उनका नाश न होगा॥

१—गीता में तमोगुणी तप के लक्षण कहे हैं—"मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः। परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥" इत्यादि

कलिकाल बिहाल किये मनुजा । नहिँ मानत कोउ अनुजा तनुजा ॥
नहिँ तोष बिचार न सीतलता । सब जाति कुजाति भये मँगता ॥

कलि-काल ने मनुष्यों को बेहाल कर दिया, कोई बहिन और बेटियों को नहीं मानता। मन में न सन्तोष है, न विचार है, न शीतलता है; जाति-कुजाति के सभी लोग मँगते बन गये ॥

इरषा परुषाच्छर लोलुपता । भरि पूरि रही समता बिगता ॥
सब लोग बियोग बिसोक हये । बरनास्रम धर्म अचार गये ॥

ईर्ष्या (डाह), कठोर वचन बोलना और लालच पूरे तौर से भर रहे हैं। समता (मित्रता) नष्ट हो गई है। सब लोग वियोग और शोक से चौपट हो गये, वर्णाश्रम-धर्म और आचार जाते रहे ॥

दम दान दया नहिँ जानपनी । जडता पर-बंचनताति-घनी ॥
तनुपोषक नारि नरा सगरे । परनिंदक ते जग मोँ बगरे ॥

दम (जितेन्द्रियता), दान, दया और सयानापन कहीं नहीं दीखता। मूर्खता और दूसरे को ठगना बढ़ता जाता है। सभी स्त्री-पुरुष अपने शरीरों को पोसनेवाले हो गये, दूसरों की निन्दा करनेवाले संसार में फैल गये ॥

दो०—सुनु ब्यालारि कराल कलि मल अवगुन आगार ।
गुनउ बहुत कलिजुग कर बिनु प्रयास निस्तार ॥१६२॥

हे गरुड़जी ! सुनिए। कलियुग कराल (भयङ्कर) और पाप तथा दोषों का घर है। परन्तु कलियुग में गुण भी बहुत हैं—इसमें बिना परिश्रम निस्तार (संसार से छुटकारा) हो जाता है ॥ १६२ ॥

कृत त्रेता द्वापर समय पूजा मख अरु जोग ।
जो गति होइ सो कलि बिषै नाम तेँ पावहिँ लोग ॥१६३॥

सतयुग, त्रेता और द्वापर युगों में पूजा, यज्ञ तथा योग करने से जो गति होती है, वही कलियुग में लोग परमात्मा के नाम-स्मरण से पा जाते हैं ॥ १६३ ॥

चौ०—कृतजुग सब जोगी बिग्यानी । करि हरिध्यान तरहिँ भव प्रानी ॥
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीँ । प्रभुहिँ समर्पि करम भव तरहीँ ॥१॥

सतयुग में सभी प्राणी योगी और विज्ञानी होकर भगवान् का ध्यान कर संसार तरते हैं। त्रेता में मनुष्य तरह तरह के यज्ञ करते हैं और किये हुए कर्म भगवान् को समर्पण कर संसार को तरते हैं ॥ १ ॥

द्वापर करि रघु-पति-पद-पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा ॥
कलिजुग केवल हरि-गुन-गाहा। गावत नर पावहिं भवथाहा ॥२॥

द्वापर युग में रघुपति के चरणों की पूजा कर लोग संसार तरते हैं, दूसरा उपाय नहीं है। किन्तु कलियुग में केवल भगवान् के गुण-गण को गाकर लोग संसार की थाह पा जाते हैं ॥ २ ॥

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम-गुन-गाना ॥
सब भरोस तजि जो भज रामहिँ। प्रेम समेत गाव गुनग्रामहिँ ॥ ३ ॥

कलियुग में न तो योग है, न यज्ञ है और न ज्ञान ही है; एक रामचन्द्रजी के गुणों को गाने का ही आधार है। जो सारे विश्वासों को छोड़कर रामचन्द्रजी को भजते हैं, और प्रेम-सहित उनके गुण-गण को गाते हैं ॥ ३ ॥

सोइ भव तर कछु संसय नाहीँ। नाम-प्रताप प्रगट कलि माहीँ ॥
कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होइ नहिँ पापा ॥ ४ ॥

वे ही संसार को तरते हैं, इसमें कुछ संशय नहीं है। कलियुग में नाम का प्रताप प्रकट है[1]। कलियुग का एक पवित्र प्रताप यह है कि इसमें मन से किया हुआ पुण्य तो हो जाता है; पर पाप नहीं होता। (जैसे मन से सङ्कल्प कर दे कि मैंने गोदान किया तो वह पुण्य हो जाता है, किन्तु पाप प्रत्यक्ष करने ही से लगता है) ॥ ४ ॥

दो०—कलि-जुग-सम जुग आन नहिं जो नर कर बिस्वास।
गाइ राम-गुन-गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥१६४॥

मनुष्य विश्वास कर ले तो कलियुग के समान दूसरा युग नहीं है; क्योंकि इसमें रामचन्द्रजी के शुद्ध गुण-गण गाकर बिना ही परिश्रम लोग संसार को तर जाते हैं ॥ १६४ ॥

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हे दान करइ कल्यान ॥१६५॥

धर्म के चार चरण (सत्य, शौच, तप और दान) प्रकट हैं। उनमें से कलियुग में एक मुख्य है—जिस किसी विधि से दिया हुआ दान कल्याण करता है ॥ १६५ ॥

चौ०—नित जुग होहिं धर्म सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे ॥
सुद्ध सत्व समता बिग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना ॥ १ ॥

१—श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि—"कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्"। सतयुग में विष्णु के ध्यान से, त्रेता में यज्ञों से और द्वापर में सेवा से जो मिलता है, वह कलियुग में हरि-कीर्तन (नाम-स्मरण) से मिलता है।

रामचन्द्रजी की माया की प्रेरणा से सभी लोगों के हृदयों में सब युगों के धर्म नित्य होते हैं। शुद्ध सत्त्वगुण, समता, विज्ञान और मन का प्रसन्न होना सत्युग का प्रभाव है॥ १॥

सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा॥
बहु रज सत्व स्वल्प कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस॥ २॥

सत्त्वगुण की अधिकता, रजोगुण कम, और कर्म में प्रेम तथा सब प्रकार सुख होना त्रेता युग का धर्म है। रजोगुण बहुत, सत्त्वगुण थोड़ा, और कुछ तमोगुण भी हो तो वह द्वापर युग का धर्म है; वह मन में आनन्द देनेवाला है॥ २॥

तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलिप्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥
बुध जुगधर्म जानि मन माहीँ। तजि अधर्म रति धर्म कराहीँ॥ ३॥

तमोगुण तो बहुत, रजोगुण थोड़ा और चारों ओर विरोध, ऐसा कलियुग का प्रभाव है। विद्वान् मन में युगों के धर्मों को जानकर अधर्म को छोड़कर धर्म में प्रीति करते हैं॥ ३॥

काल कर्म नहिँ ब्यापहिँ तेही। रघु-पति-चरन-प्रीति रति जेही॥
नटकृत कपट बिकट खगराया। नटसेवकहिँ न ब्यापइ माया॥ ४॥

जिसको रघुपति के चरणों में प्रीति और स्नेह होता है उस मनुष्य को काल और कर्म नहीं व्यापते। हे गरुड़ जी! जिस तरह नट के किये हुए विकट कपट (बाजीगरी) नट के सेवक को नहीं व्यापते इसी तरह ईश्वर के सेवक को उनकी माया नहीं व्यापती॥ ४॥

दो०—हरि-माया-कृत दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिँ॥
भजिय राम सब काम तजि अस बिचारि मन माहिँ॥ १६६॥

ईश्वर की माया के किये हुए दोष और गुण ईश्वर का भजन किये बिना नहीं जाते। मन में ऐसा विचारकर सब काम छोड़कर रामचन्द्रजी का भजन करना चाहिए॥ १६६॥

तेहि कलिकाल बरष बहु बसेउँ अवध बिहगेस।
परेउ दुकाल बिपतिबस तब मैं गयेउँ बिदेस॥ १६७॥

हे गरुड़जी! मैं उस कलिकाल में अयोध्या में बहुत वर्ष रहा, फिर दुकाल पड़ा, तब मैं विपत्ति के वश विदेश चला गया॥ १६७॥

चौ०—गयेउँ उजेनी सुनु उरगारी। दीन मलीन दरिद्र दुखारी॥
गये काल कछु संपति पाई। तहँ पुनि करउँ संभुसेवकाई॥१॥

गरुड़जी ! सुनिए ! मैं दीन, मलिन, दरिद्री और दुखी ही उज्जैन को गया; कुछ समय बीतने पर मुझे सम्पत्ति मिली, तब मैं फिर वहाँ महादेवजी की सेवा करने लगा ॥ १ ॥

बिप्र एक बैदिक सिवपूजा । करइ सदा तेहि काज न दूजा ॥
परमसाधु परमारथबिंदक । संभुउपासक नहिँ हरिनिंदक ॥२॥

एक ब्राह्मण था, वह वैदिक विधि से सदा शिवजी की पूजा किया करता था। उसको दूसरा कुछ काम नहीं था। वह श्रेष्ठ साधु परमार्थ का जाननेवाला और शिवजी का उपासक था। वह विष्णु का निन्दक नहीं था ॥ २ ॥

तेहि सेवउँ मैं कपटसमेता । द्विज दयाल अति नीतिनिकेता ॥
बाहिज नम्र देखि मोहि साईं । बिप्र पढाव पुत्र की नाईं ॥ ३ ॥

कपट से भरा हुआ मैं उस ब्राह्मण की सेवा करता था। वह ब्राह्मण दयालु और अत्यन्त ही नीतिमान् था। हे स्वामिन ! वह ब्राह्मण मुझे बाहर से नम्र देखकर पुत्र के समान पढ़ाता था ॥ ३ ॥

संभुमंत्र मोहि द्विजबर दीन्हा । सुभउपदेस बिबिध बिधि कीन्हा ॥
जपउँ मंत्र सिवमंदिर जाई । हृदय दंभ अहमिति अधिकाई ॥ ४ ॥

उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने मुझे शिव-मन्त्र दिया और अनेक तरह का शुभ उपदेश किया। मैं शिवजी के मन्दिर में जाकर मन्त्र का जप तो करता था, पर मेरे हृदय में दम्भ और अहङ्कार बहुत था ॥ ४ ॥

दो०—मैं खल मलसंकुल मति नीच जाति बस मोह ।
हरिजन द्विज देखे जरउँ करउँ बिष्नु कर द्रोह ॥ १६८ ॥

मैं दुष्ट, मलिन-बुद्धि, नीच जाति था; इसलिए मोह के वश हो कर भगवान् के भक्तों और ब्राह्मणों को देखकर जलता था और विष्णु का द्वेष करता था ॥ १६८ ॥

सो०—गुरु मोहि नित प्रबोध दुखित देखि आचरन मम ।
मोहि उपजइ अति क्रोध दंभिहि नीति कि भावई ॥ १६९ ॥

गुरुजी मुझे नित्य समझाते थे, वे मेरा आचरण देखकर दुखी होते थे। किन्तु मुझे बहुत क्रोध उत्पन्न होता था। भला दंभी मनुष्य को कभी नीति अच्छी लगती है ? ॥ १६९ ॥

चौ०—एक बार गुरु लीन्ह बोलाई । मोहि नीति बहु भाँति सिखाई ॥
सिवसेवा कै सुत फल सोई । अबिरल-भगति रामपद होई ॥ १ ॥

एक बार मुझे गुरु ने बुला लिया और बहुत तरह से नीति सिखाई। उन्होंने कहा—हे पुत्र ! शिवजी की सेवा का यही फल है कि रामचन्द्रजी के चरणों में अविरल (पूर्ण) भक्ति हो जाय ॥ १ ॥

रामहिँ भजहिँ तात सिव धाता । नर पावँर कै केतिक बाता ॥
जासु चरन अज सिव अनुरागी । तासु द्रोह सुख चहसि अभागी ॥२॥

हे तात ! शिव और ब्रह्मा भी रामचन्द्रजी का भजन करते हैं, तब नीच मनुष्य की तो बात ही कितनी है ? ब्रह्मा और शिवजी भी जिनके चरणों के प्रेमी हैं, तू अभागा उनसे द्रोह कर सुख चाहता है ! ॥ २ ॥

हर कहँ हरिसेवक गुरु कहेऊ । सुनि खगनाथ हृदय मम दहेऊ ॥
अधम जाति मैं बिद्या पाये । भयउँ जथा अहि दूध पिआये ॥ ३ ॥

हे गरुड़जी ! जब गुरु ने महादेव को विष्णु का सेवक कहा, तो यह सुनकर मेरी छाती जल उठी । मैं नीच जाति विद्या पाने पर वैसा हो गया, जैसा दूध पिलाने पर साँप हो जाता है ॥ ३ ॥

मानी कुटिल कुभाग्य कुजाती । गुरु कर द्रोह करउँ दिन राती ॥
अति दयाल गुर स्वल्प न क्रोधा । पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा ॥४॥

अभिमानी, कुटिल (टेढ़ा), दुष्ट भाग्यवाला, कुजाति मैं दिन-रात गुरु का द्रोह करता था । किन्तु गुरु बड़े दयालु थे, उनको ज़रा भी क्रोध नहीं होता था । वे मुझे बार बार उत्तम ज्ञान सिखाते थे ॥ ४ ॥

जेहि तें नीच बड़ाई पावा । सो प्रथमहिँ हठि ताहि नसावा ॥
धूम अनलसंभव सुनु भाई । तेहि बुझाव घनपदवी पाई ॥५॥

नीच जिससे बड़ाई पाता है, वह पहले हठपूर्वक उसी का नाश करता है । भाई ! सुनो, धुआँ अग्नि से पैदा होता है, वही मेघ की पदवी पाकर उसी अग्नि को (पानी बरसा कर) बुझाता है ॥ ५ ॥

रज मग परी निरादर रहई । सब कर पगप्रहार नित सहई ॥
मरुत उडाइ प्रथम तेहि भरई । नृपकिरीट पुनि नयनन्ह परई ॥६॥

धूल रास्ते में पड़ी रहती है, कोई उसका आदर नहीं करता, वह रोज़ सबकी लातों की ठोकर सहती है । उसी धूल को हवा उड़ाता है (ऊँचे उठाती है) तो वह पहले तो उसी को भर देती है, फिर राजा के किरीट-मुकुट और आँखों में गिरती है ! ॥ ६ ॥

सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा । बुध नहिँ करहिँ अधम कर संगा ॥
कबि कोबिद गावहिँ असि नीती । खल सन कलह न भल नहिँ प्रीती ॥७॥

हे पक्षियों के नायक गरुड़जी ! सुनिए, चतुर जन इस प्रसंग को समझकर नीचों का संग नहीं करते । कुशल विद्वान् ऐसी नीति कहते हैं कि दुष्ट से न तो विरोध ही अच्छा है, न प्रीति ही ॥ ७ ॥

उदासीन नित रहिय गुसाईं । खल परिहरिय स्वान की नाईं ॥
मैं खल हृदय कपट कुटिलाई । गुरु हित कहहिं न मोहि सुहाई ॥८॥

हे स्वामिन् ! उनसे नित्य उदासीन (न स्नेह, न वैर) रहना चाहिए । दुष्ट का कुत्ते के समान त्याग देना चाहिए । मैं दुष्ट था, मेरे हृदय में कपट और कुटिलता भरी थी; इसलिए गुरु मेरे हित की कहते, पर वह मुझे न सुहाती थी ॥ ८ ॥

दो०—एक बार हरमंदिर जपत रहेउँ सिवनाम ।
गुर आयउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम ॥ १७० ॥

मैं एक बार महादेवजी के मन्दिर में शिव-नाम जप रहा था । उस समय गुरुजी आये, किन्तु मैंने अभिमान-वश उठकर उनको प्रणाम नहीं किया ॥ १७० ॥

गुर दयाल नहिं कछु कहेउ उर न रोष लवलेस ।
अति अघ गुर अपमानता सहि नहिं सके महेस ॥ १७१ ॥

गुरुजी तो दयालु थे, न उन्होंने कुछ कहा और न उन्हें लवलेशमात्र क्रोध हुआ । परन्तु गुरु के अपमान करने का महापाप महादेवजी सहन नहीं कर सके ॥ १७१ ॥

चौ०—मंदिर माँझ भई नभबानी । रे हतभाग्य अग्य अभिमानी ॥
जद्यपि तव गुर के नहिं क्रोधा । अति कृपाल उर सम्यक बोधा ॥ १ ॥

उसी समय मन्दिर में यह आकाशवाणी हुई—अरे हतभाग्य, अज्ञानी, अभिमानी ! यद्यपि तेरे गुरु को क्रोध नहीं है, वे बड़े दयालु हैं और उनके हृदय में पूर्ण ज्ञान है ॥ १ ॥

तदपि साप सठ देइहउँ तोही । नीतिबिरोध सुहाइ न मोही ॥
जौं नहिं दंड करउँ खल तोरा । भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा ॥ २ ॥

तो भी अरे दुष्ट ! मैं तुझे शाप दूँगा; क्योंकि नीति के विरुद्ध व्यवहार मुझे नहीं सुहाता । अरे दुष्ट ! जो मैं तुझे दंड न दूँ तो मेरा वेदों का मार्ग भ्रष्ट हो जायगा ॥ २ ॥

जे सठ गुर सन इरषा करहीं । रौरव नरक कोटि जुग परहीं ॥
त्रिजग जोनि पुनि धरहिं सरीरा । अयुत जनम भरि पावहिं पीरा ॥३॥

जो दुष्ट लोग गुरुओं से ईर्ष्या करते हैं, वे करोड़ युग पर्यन्त रौरव नरक में पड़ते हैं । फिर तिर्यक् योनियों में जन्म ले लेकर दस हजार जन्म तक दुःख पाते हैं ॥ ३ ॥

बैठि रहेसि अजगर इव पापी । सर्प होहु खल मल मति ब्यापी ॥
महा-बिटप-कोटर महुँ जाई । रहु अधमाधम अधगति पाई ॥ ४ ॥

अरे पापी, दुष्ट बुद्धिवाले ! तू गुरु को देखकर अजगर के समान बैठा रहा, इससे तू साँप हो। अरे नीचातिनीच ! तू नीच गति पाकर किसी बड़े वृक्ष के कोटर (खोखल) में जाकर रह ॥ ४ ॥

दो०—हाहाकार कीन्ह गुरु दारुन सुनि सिवस्राप।
कंपित मोहि बिलोकि अति उर उपजा परिताप ॥ १७२ ॥

शिवजी का वह भयङ्कर शाप सुनकर गुरु ने हाहाकार किया। मुझे काँपता हुआ देखकर उनके हृदय में अत्यन्त सन्ताप उत्पन्न हुआ ॥ १७२ ॥

करि दंडवत सप्रेम द्विज सिव सनमुख कर जोरि।
बिनय करत गदगद गिरा समुझि घोरगति मोरि ॥१७३॥

मेरी घोर गति समझकर व ब्राह्मण (गुरुजी) शिवजी के सम्मुख प्रेमपूर्वक दंडवत कर, हाथ जोड़ गद्‌गद वाणी से विनय करने लगे—॥ १७३ ॥

नमामीशमीशान निर्वाणरूपम् । विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपम् ॥
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहम् । चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहम् ॥१॥

मैं मोक्षस्वरूप, परम ऐश्वर्यवान् उन शिवजी को नमस्कार करता हूँ, जो विभु (समर्थ), व्यापक, ब्रह्म और वेदस्वरूप हैं; जो स्वतंत्र, निर्गुण, निर्विकल्प (दृढ़सङ्कल्पवाले), निरीह (कुछ भी इच्छा न रखनेवाले), चैतन्य, आकाशरूप, दिगंबर हैं। मैं उनको भजता हूँ ॥ १ ॥

निराकारमोङ्कारमूलं तुरीयम् । गिराज्ञानगोतीतमीशं गिरीशम् ॥
करालं महाकालकालं कृपालम् । गुणागारसंसारपारं नतोऽहम् ॥२॥

मैं निराकार, ओङ्कार के मूल, तुरीय (समाधिस्थ), वाणी ज्ञान और इन्द्रियों के पर, पर्वत (कैलास) के स्वामी, कराल, महाकाल के भी कालरूप, दयालु, गुणों के स्थान एवं संसार से पर आपको नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

तुषाराद्रिसङ्काशगौरं गभीरम् । मनोभूतकोटिप्रभाश्रीशरीरम् ॥
स्फुरन्मौलिकल्लोलिनी चारुगङ्गा । लसद्भालबालेन्दु कण्ठे भुजङ्गा ॥३॥

आप हिमालय के समान गौरवर्ण तथा गम्भीर हैं, आपका शरीर करोड़ों कामदेवों के समान कान्तिमान् एवं श्रीयुक्त है। आपके देदीप्यमान मस्तक में कल्लोल (कलकल) करती हुई गङ्गाजी शोभित हैं, आपके कपाल में बालचन्द्र और कण्ठ में सर्प शोभित हो रहे हैं ॥ ३ ॥

चलत्कुण्डलं शुभ्रनेत्रं विशालम् । प्रसन्नाननं नीलकण्ठं दयालम् ॥
मृगाधीशचर्म्माम्बरं मुण्डमालम् । प्रियं शङ्करं सर्वनाथं भजामि ॥४॥

हिलते-डुलते कुण्डलोंवाले, श्वेत विशाल नेत्रवाले, प्रसन्नमुख, नीलकण्ठ, दयालु, सिंह के चर्म (बाघम्बर) को धारण करनेवाले, मुण्डों की माला धारण करनेवाले, प्यारे, सबके मालिक शङ्करजी को मैं भजता हूँ ॥ ४ ॥

प्रचण्डं प्रकृष्टं प्रगल्भं परेशम् । अखण्डं अजं भानुकोटिप्रकाशम् ॥
त्रयःशूलनिर्मूलनं शूलपाणिम् । भजेऽहं भवानीपतिं भावगम्यम् ॥५॥

प्रचण्ड (तेज), प्रकृष्ट (श्रेष्ठ), प्रगल्भ (दृढ़), परेश (यज्ञादिकों के स्वामी), अखण्ड, अज, करोड़ सूर्यों के समान प्रकाशमान, तीनों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) तापों के विनाशक, हाथ में त्रिशूल धारण करनेवाले, भाव से प्राप्त होनेवाले पार्वतीजी के पति शिवजी को मैं भजता हूँ ॥ ५ ॥

कलातीत कल्याणकल्पान्तकारी । सदा सज्जनानन्ददाता पुरारी ॥
चिदानन्दसन्दोहमोहापहारी । प्रसीद प्रसीद प्रभो मन्मथारी ॥६॥

अ-कल (अखंड), कल्याण और कल्पान्त (प्रलय) के करनेवाले, सदा सज्जनों को आनन्द देनेवाले, त्रिपुरासुर के शत्रु, चैतन्यरूप, आनन्द के समूह, मोह के नाश करनेवाले, कामदेव के वैरी हे प्रभो ! प्रसन्न हूजिए ! प्रसन्न हूजिए ! ! ॥ ६ ॥

न यावद् उमानाथपादारविन्दम् । भजन्तीह लोके परे वा नराणाम् ॥
न तावत्सुखं शान्तिसन्तापनाशम् । प्रसीद प्रभो सर्वभूताधिवासम् ॥ ७ ॥

मनुष्य जब तक पार्वती-पति के चरण-कमलों का भजन नहीं करते, तब तक क्या इस लोक में और क्या परलोक में, कहीं भी सुख और शान्ति नहीं मिलती और न सन्ताप का नाश होता है, इसलिए हे सब प्राणियों के भीतर रहनेवाले (शिवजी !) आप प्रसन्न हों ॥ ७ ॥

न जानामि योगं जपं नैव पूजाम् । नतोऽहं सदा सर्वदा शम्भु तुभ्यम् ॥
जराजन्मदुःखौघतातप्यमानम् । प्रभो पाहि आपन्नमामीश शम्भो ॥८॥

हे शम्भो ! मैं योग नहीं जानता, न जप या पूजा ही जानता हूँ किन्तु सर्वदा आपको नमस्कार करता हूँ । हे ईश, हे प्रभो, हे शम्भो ! बुढ़ाई, जन्म और दुःख-समूहों से जलते हुए मुझ शरणागत की रक्षा कीजिए ॥ ८ ॥

श्लोक—रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं विप्रेण हरतोषये ।
ये पठन्ति नरा भक्त्या तेषां शम्भुः प्रसीदति ॥

यह रुद्राष्टक (आठ पद्यों का स्तोत्र) ब्राह्मण ने शिवजी को प्रसन्न करने के लिए कहा । जो मनुष्य इसको भक्तिपूर्वक पढ़ते हैं, उन पर शिवजी प्रसन्न होते हैं ॥

दो०—सुनि बिनती सर्बग्य सिव देखि बिप्रअनुरागु।
मंदिर नभबानी भई द्विजबर अब बर माँगु॥ १७४॥

सर्वज्ञ शिवजी ने विनती (रुद्राष्टक) सुनी और ब्राह्मण का प्रेम देखा तो मन्दिर में आकाशवाणी हुई कि हे ब्राह्मण! अब वरदान माँग लो॥ १७४॥

जौं प्रसन्न प्रभु मो पर नाथ दीन पर नेहु।
निज पद-पद्म-भगति दृढ पुनि दूसर बर देहु॥ १७५॥

ब्राह्मण ने कहा—प्रभो, जो आप मुझ पर प्रसन्न हैं, हे नाथ! जो इस दीन जन पर आपका प्रेम है तो अपने चरणकमलों में दृढ़ भक्ति दीजिए, फिर दूसरा वर दीजिए॥ १७५॥

तव मायाबस जीव जड संतत फिरहि भुलान।
तेहि पर क्रोध न करिय प्रभु कृपासिंधु भगवान॥ १७६॥

मूर्ख जीव आपकी माया के वश सदा भूलता भटकता है। हे प्रभु, दयासागर भगवन्, शिव! आप उस पर क्रोध न कीजिए॥ १७६॥

शंकर दीनदयाल अब एहि पर होहु कृपाल।
साप अनुग्रह होइ जेहि नाथ थोरही काल॥१७७॥

हे नाथ, हे शङ्कर, हे दीनदयालु! अब आप इस पर कृपालु हो जाइए, जिसमें यह थोड़े ही समय में शाप से छूट जाय॥ १७७॥

चौ०—एहि कर होइ परमकल्याना। सोइ करहु अब कृपानिधाना॥
बिप्रगिरा सुनि पर-हित-सानी। एवमस्तु तब भइ नभबानी॥ १॥

हे कृपानिधान! अब आप वही कीजिए जिसमें इसका परम कल्याण हो। इस तरह दूसरे के हित से पूर्ण ब्राह्मण की वाणी सुनकर "एवमस्तु" (ऐसा ही हो) ऐसी आकाशवाणी हुई॥ १॥

जदपि कीन्ह यह दारुन पापा। मैं पुनि दीन्ह कोप करि सापा॥
तदपि तुम्हार साधुता देखी। करिहउँ एहि पर कृपा बिसेखी॥२॥

उस वाणी ने कहा—यद्यपि इसने कठोर पाप किया है और मैंने क्रोध कर इसे शाप दिया है तो भी, तुम्हारी साधुता देखकर, मैं इस पर विशेष कृपा करूँगा॥ २॥

छमासील जे पर-उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी॥
मोर साप द्विज ब्यर्थ न जाइहि। जनम सहस्र अवसि यह पाइहि॥३॥

हे ब्राह्मण ! जो लोग क्षमाशील और परोपकारी होते हैं, वे मुझे ऐसे प्रिय हैं जैसे कि रामचन्द्रजी। हे द्विज! मेरा शाप व्यर्थ नहीं जायगा। यह एक हज़ार जन्म अवश्य पावेगा॥ ३॥

जनमत मरत दुसह दुख होई। एहि स्वल्पउ नहिँ ब्यापिहि सोई॥
कवनेहु जनम मिटिहि नहिँ ग्याना। सुनहि सूद्र मम बचन प्रमाना॥४॥

किन्तु जन्म लेने और मरने में जो असह्य दुःख होते हैं वे इसको ज़रा भी नहीं व्यापेंगे। किसी जन्म में इसका ज्ञान नहीं मिटेगा। हे शूद्र ! मेरे प्रामाणिक (सच्चे) वचन सुन ले॥४॥

रघु-पति-पुरी जनम तव भयऊ। पुनि तैँ मम सेवा मन दयऊ॥
पुरीप्रभाव अनुग्रह मोरे। रामभगति उपजिहि उर तोरे॥५॥

रघुनाथजी की पुरी में तेरा जन्म हुआ और फिर तूने मेरी सेवा में मन लगाया है; इसलिए पुरी के प्रभाव और मेरी कृपा से तेरे हृदय में रामचन्द्रजी की भक्ति उत्पन्न होगी॥५॥

सुनु मम बचन सत्य अब भाई। हरितोषन ब्रत द्विजसेवकाई॥
अब जनि करहि बिप्रअपमाना। जानेसु संत अनंत समाना॥ ६॥

भाई ! अब तू मेरा सत्य वचन सुन। ब्राह्मण की सेवा भगवान् को प्रसन्न करने का व्रत है। अब तू ब्राह्मण का अपमान न करना, सन्त और अनन्त (भगवान् और उनके भक्त) दोनों को बराबर समझना॥ ६॥

इंद्रकुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥
जो इन्ह कर मारा नहिँ मरई। बिप्र-द्रोह-पावक सो जरई॥ ७॥

जो इन्द्र के वज्र, मेरे विशाल त्रिशूल, कालदंड और विष्णु के (सुदर्शन) कराल चक्र का मारा नहीं मर सकता, वह ब्राह्मणों के द्रोहरूपी आग में जल जाता है॥ ७॥

अस बिबेक राखेहु मन माहीं। तुम्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीँ॥
अउरउ एक आसिषा मोरी। अप्रति-हत गति होइहि तोरी॥८॥

तुम अपने मन में ऐसा विचार रखना, तब तुम्हारे लिए संसार में कुछ दुर्लभ नहीं है। मेरा और भी एक आशीर्वाद है कि तुम्हारी गति अप्रतिहत (कहीं न रुकनेवाली) होगी। अर्थात् जब जहाँ चाहो, जा सकोगे॥ ८॥

दो०—सुनि सिवबचन हरषि गुरु एवमस्तु इति भाखि।
मोहि प्रबोधि गयउ गृह संभुचरन उर राखि॥ १७८॥

शिवजी के वचनों को सुनकर मेरे गुरु 'एवमस्तु' ऐसा कह और मुझे समझा कर शिवजी के चरणों को हृदय में रख घर चले गये॥ १७८॥

प्रेरितकाल बिंधिगिरि जाइ भयउँ मैं ब्याल।
पुनि प्रयास बिनु सो तनु तजेउँ गये कछु काल ॥ १७९ ॥

फिर काल से प्रेरित मैं (उस शरीर के अन्त में) विन्ध्याचल पर्वत पर जाकर सर्प हुआ। फिर कुछ समय बीतने पर बिना ही परिश्रम उस देह को मैंने त्याग दिया ॥ १७९ ॥

जोइ तन धरउँ तजउँ पुनि अनायास हरिजान।
जिमि नूतन पट पहिरइ नर परिहरइ पुरान ॥ १८० ॥

विष्णु के वाहन गरुड़जी! इसी तरह मैं जिस शरीर को धारण करता, उसी को आसानी से त्याग देता था, जैसे कोई पुराने कपड़े को उतारकर नया पहन लेता है ॥ १८० ॥

सिव राखी स्रुतिनीति अरु मैं नहिं पाव कलेस।
एहि बिधि धरेउँ बिबिध तनु ग्यान न गयउ खगेस ॥१८१॥

हे गरुड़जी! इस तरह शिवजी ने वेद की मर्यादा रख ली और मैंने दुःख नहीं पाया। इसी विधि से मैंने अनेक देह धारण किये पर मेरा ज्ञान नहीं नष्ट हुआ ॥ १८१ ॥

चौ०—त्रिजग देव नर जो तनु धरऊँ। तहँ तहँ रामभजन अनुसरऊँ ॥
एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ ॥१॥

मैं तिर्यक्, देवता या मनुष्य का जो शरीर जहाँ जहाँ धरता, वहाँ वहाँ रामभजन का अनुसरण करता था। किन्तु एक बात का दुःख मैं किसी जन्म में नहीं भूला; वह था गुरुजी का कोमल शील और स्वभाव (मैंने व्यर्थ उनसे द्रोह किया) ॥ १ ॥

चरमदेह मैं द्विज कै पाई। सुरदुर्लभ पुरान स्रुति गाई ॥
खेलउँ तहाँ बालकन्ह मीला। करउँ सकल रघुनायक-लीला ॥ २ ॥

मैंने अन्त में ब्राह्मण की देह पाई, जो कि देवतों के लिए भी दुर्लभ वेदों ने बताई है। वहाँ मैं बालकों में मिलकर खेलता था, उसमें सब रामचन्द्रजी की लीला करता था ॥ २ ॥

प्रौढ भये मोहि पिता पढ़ावा। समुझउँ सुनउँ गुनउँ नहिं भावा ॥
मन तें सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी ॥ ३ ॥

मेरे प्रौढ़ (बड़े) होने पर पिता ने मुझे पढ़ाया। मैं उस पढ़ाई को समझता, सुनता और गुनता (रटता, फिर पीछे से पढ़ता) था; पर मेरे मन में वह अच्छी न लगती थी। मेरे मन से सब वासना नष्ट हो गई, केवल रामचन्द्रजी के चरणों में मेरी लय (लगन) लगी ॥ ३ ॥

कहु खगेस अस कवन अभागी । खरी सेव सुरधेनुहिँ त्यागी ॥
प्रेममगन मोहि कछु न सुहाई । हारेउ पिता पढाइ पढाई ॥ ४ ॥

हे गरुड़जी ! कहिए, ऐसा अभागा कौन होगा, जो कामधेनु को छोड़कर गधी की सेवा करे ! मैं (राम-भजन के) प्रेम में मग्न था, इसलिए मुझे कुछ न सुहाता था। मेरे पिता मुझे पढ़ा पढ़ा कर हार गये ॥ ४ ॥

भये कालबस जब पितु माता । मैं बन गयउँ भजन जनत्राता ॥
जहँ जहँ बिपिन मुनीस्वर पावउँ । आस्रम जाइ जाइ सिरु नावउँ ॥५॥

जब पिता-माता काल के वश हो गये (मर गये), तब मैं भक्तों के रक्षक भगवान् का भजन करने के लिए वन में गया। वन में जहाँ जहाँ मैं ऋषीश्वरों के दर्शन पाता वहाँ उनके आश्रमों के जा जाकर मस्तक नवाता था ॥ ५ ॥

बूझउँ तिन्हहिँ राम-गुन-गाहा । कहहिँ सुनउँ हरषित खगनाहा ॥
सुनत फिरउँ हरिगुन अनुबादा । अ-ब्याहत-गति संभुप्रसादा ॥ ६ ॥

हे गरुड़जी ! उनसे रामचन्द्रजी के गुण-गण पूछता, तब वे कहते और मैं प्रसन्न होकर सुनता था। मैं ईश्वर के गुणानुवाद सुनता फिरता था। शिवजी की दया से मेरी स्वच्छन्द गति (जहाँ चाहूँ तहाँ जा सकने की) तो थी ही ॥ ६ ॥

छूटी त्रिबिधि ईषना गाढी । एक लालसा उर अति बाढी ॥
राम-चरन-बारिज जब देखउँ । तब निज जनम सुफल करि लेखउँ ॥७॥

तीन प्रकार की दृढ़ इच्छायें (संसार में मान की इच्छा, धन की इच्छा, पुत्र की इच्छा) तो छूटीं पर हृदय में एक लालसा बहुत बढ़ी। वह लालसा यह थी कि जब मैं रामचन्द्रजी के चरण-कमलों को देखूँ, तब अपना जन्म सफल समझूँ ॥ ७ ॥

जेहि पूछहुँ सोइ मुनि अस कहई । ईस्वर सर्व-भूत-मय अहई ॥
निर्गुन मत नहिँ मोहि सुहाई । सगुन ब्रह्मरति उर अधिकाई ॥८॥

मैं जिन ऋषियों से पूछता वे ही ऐसा कहते कि ईश्वर सब वस्तुमय (सर्वव्यापी) है। किन्तु मुझे यह निर्गुण मत नहीं सुहाता था, मेरी प्रीति सगुण ब्रह्म में अधिक बढ़ती थी ॥ ८ ॥

दो०—गुरु के बचन सुरति करि रामचरन मन लाग ।
रघु-पति-जस गावत फिरउँ छन छन नव अनुराग ॥ १८२ ॥

गुरुजी के वचनों को स्मरणकर मेरा चित्त रामचन्द्रजी के चरणों में लगा था। इसलिए मैं रघुनाथजी का यश गाता फिरता था; क्षण क्षण में उन पर नया अनुराग बढ़ता जाता था ॥ १८२ ॥

मेरुसिखर बटछाया मुनि लोमस आसीन।
देखि चरन सिरु नायउँ बचन कहेउँ अति दीन ॥१८३॥

सुमेरु पर्वत पर बड़ के वृक्ष की छाया में लोमश ऋषि बैठे थे। उनको देखकर मैंने उनके चरणों में सिर नवाया और बहुत दीन वचन कहे ॥ १८३ ॥

सुनि मम बचन बिनीत मृदु मुनि कृपाल खगराज।
मोहि सादर पूछत भये द्विज आयउ केहि काज ॥१८४॥

हे गरुड़जी ! दयालु मुनि मेरे विनय भरे कोमल वचन सुनकर बड़े आदर के साथ मुझ से पूछने लगे कि हे ब्राह्मण ! तुम किस काम के लिए आये हो ? ॥ १८४ ॥

तब मैं कहा कृपानिधि तुम्ह सर्बग्य सुजान।
सगुन ब्रह्म आराधना मोहि कहहु भगवान ॥१८५॥

तब मैंने कहा—हे कृपानिधे ! आप सर्वज्ञ और चतुर हैं। भगवन् ! आप मुझ पर कृपा कर सगुण ब्रह्म की आराधना (उपासना) कहिए ॥ १८५ ॥

चौ०—तब मुनीस रघु-पति-गुन-गाथा। कहे कछुक सादर खगनाथा ॥
ब्रह्म-ग्यान-रत मुनि बिग्यानी। मोहि परम अधिकारी जानी ॥१॥

हे गरुड़जी ! तब मुनीश्वर लोमश ने रघुनाथजी के कुछेक गुणों की गाथाएं (गानयुक्त कथाएँ) आदर-पूर्वक कहीं। फिर ब्रह्म-ज्ञान में लीन विज्ञानी मुनि लोमश मुझे बहुत अच्छा अधिकारी जानकर ॥ १ ॥

लागे करन ब्रह्मउपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा ॥
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनु-भव-गम्य अखंड अनूपा ॥२॥

मुझे ब्रह्म-सम्बन्धी उपदेश करने लगे। उन्होंने कहा—ब्रह्म अज, अद्वैत, निर्गुण, हृदयों का स्वामी, अकल (अखंड), अनीह (इच्छारहित), नामरहित, रूपरहित, अनुभव से जानने के योग्य, अखंड और अनुपम है ॥ २ ॥

मनगोतीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी ॥
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा ॥३॥

वह मन और इन्द्रियों की पहुँच से बाहर, निर्मल, नष्ट न होनेवाला, विकाररहित, अवधि-रहित, सुखों का ढेर है। तू वही ब्रह्म में है, उस ब्रह्म में और तुझमें भेद इसी तरह नहीं है जैसे पानी और लहर में नहीं है। ऐसा वेद गाते हैं ॥ ३ ॥

बिबिध भाँति मुनि मोहि समुझावा। निर्गुनमत मम हृदय न आवा ॥
पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा। सगुनउपासन कहहु मुनीसा ॥४॥

मुझे लोमश मुनि ने अनेक तरह से समझाया, पर निर्गुण मत मेरे हृदय में नहीं आया (नहीं जमा)। फिर मैंने मुनि के चरणों में प्रणाम कर कहा—हे मुनीश्वर! आप मुझे सगुण उपासना कहिए। ४॥

राम-भगति-जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥
सो उपदेस करहु करि दाया। निज नयनन देखउँ रघुराया॥५॥

रामचन्द्रजी की भक्ति तो जल है और मेरा मन उसकी मछली है। हे चतुर मुनीश्वर! मछली पानी से किस तरह अलग हो सकती है? आप कृपाकर मुझे वह उपदेश दीजिए जिससे मैं रघुनाथजी को अपनी आँखों देखूँ॥ ५॥

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहहुँ निर्गुन उपदेसा॥
मुनि पुनि कहि हरिकथा अनूपा। खंडि सगुनमत निर्गुन रूपा॥६॥

अयोध्यानाथ रामचन्द्रजी को आँखों भर देखकर तब फिर मैं निर्गुण उपदेश सुनूँगा। मुनिवर ने फिर अनुपम हरि-कथा कही और सगुण ब्रह्म के मत का खंडन कर निर्गुण रूप का प्रतिपादन किया॥ ६॥

तब मैं निर्गुनमति करि दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी॥
उत्तर प्रतिउत्तर मैं कीन्हा। मुनितन भये क्रोध के चीन्हा॥७॥

तब मैं निर्गुण मत को दूर (खण्डन) कर बड़े हठ से सगुण मत का निरूपण करने लगा। इस तरह मैंने उत्तर पर प्रत्युत्तर दिये। इससे मुनिजी के शरीर में क्रोध के चिह्न हो गये॥ ७॥

सुनु प्रभु बहुत अवग्या किये। उपज क्रोध ग्यानिहु के हिये॥
अति संघरषन जौं कर कोई। अनल प्रगट चंदन तें होई॥८॥

हे प्रभो! सुनिए। बहुत अवज्ञा (तिरस्कार) करने पर ज्ञानी के भी हृदय में क्रोध उत्पन्न हो जाता है। कोई बहुत रगड़ करे तो चन्दन से आग प्रकट होती है (अर्थात् चन्दन स्वभाव से ठंढा है, पर चन्दन की दो लकड़ियाँ आपस में जोर से घिसी जायँ तो जैसे और लकड़ियों से आग निकलती है, वैसे ही उससे भी निकल पड़ती है)॥ ८॥

दो०—बारंबार सकोप मुनि करइ निरूपन ग्यान।
मैं अपने मन बैठि तब करउँ बिबिध अनुमान॥१८६॥

मुनि लोमशजी क्रोध के साथ बारम्बार ज्ञान का निरूपण करते थे और मैं बैठकर अपने मन में तरह तरह के अनुमान करता था॥ १८६॥

द्वैत बुद्धि बिनु क्रोध किमि द्वैत कि बिनु अग्यान।
मायाबस परिछिन्न जड जीव कि ईससमान॥१८७॥

कि द्वैत बुद्धि बिना क्रोध कैसे आ सकता है और द्वैत क्या बिना अज्ञान के हो सकता है ? माया के अधीन, परिच्छिन्न (भेदयुक्त), मूर्ख जीव क्या ईश्वर के समान हो सकता है ? ॥ १८७ ॥

चौ०—कबहुँ कि दुख सब कर हित ताके। तेहि कि दरिद्र परसमनि जाके॥
परद्रोही कि होइ निःसंका। कामी पुनि कि रहहि अकलंका॥१॥

जो सबका हितकारी है उसको क्या कभी दुःख हो सकता है ? जिसके पास पारस मणि है, उसे क्या दरिद्रता सता सकती है ? जो दूसरे का द्रोह करता है, वह क्या निःशङ्क हो सकता है ? और क्या कामी पुरुष बिना कलङ्क रह सकता है ? ॥ १ ॥

बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हे। कर्म कि होहिँ स्वरूपहिँ चीन्हे॥
काहू सुमति कि खल सँग जामी। सुभगति पाव कि पर-त्रिय-गामी॥२॥

ब्राह्मण का अनहित करने पर क्या वंश रह सकता है ? स्वरूप (आत्म-रूप) पहचान लेने पर क्या कर्म हो सकते हैं ? (अर्थात् कर्म तभी तक हैं जब तक स्वरूप-ज्ञान न हो; उसके होने पर कर्मों से निवृत्ति हो जाती है) क्या दुष्ट के साथ रहकर किसी को अच्छी बुद्धि उपजी है ? क्या पर-स्त्री-गामी शुभ गति पा सकता है ? ॥ २ ॥

भव कि परहिँ परमातमबिंदक। सुखी कि होहिँ कबहुँ परनिंदक॥
राज कि करइ नीति बिनु जाने। अघ कि रहइ हरिचरित बखाने॥३॥

परमात्मा के जाननेवाले क्या संसार के बन्धन में पड़ते हैं ? क्या दूसरे के निन्दक सुखी होते हैं ? नीति को जाने बिना क्या कोई राज्य कर सकता है ? भगवान् के चरित्रों के वर्णन करने पर क्या पाप रह सकता है ? ॥ ३ ॥

पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस कि पावइ कोई॥
लाभ कि कछु हरि-भगति-समाना। जेहि गावहिँ स्रुति संत पुराना॥४॥

क्या बिना पुण्य पावन (शुद्ध करनेवाला) यश होता है ? क्या कोई बिना पाप के अपयश पाता है ? जिस भगवान् की भक्ति को वेद, महात्मा और पुराण गाते हैं उसके समान क्या कुछ लाभ है ? ॥ ४ ॥

हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजिय न रामहिँ नरतनु पाई॥
अघ कि पिसुनता सम कछु आना। धर्म कि दयासरिस हरिजाना॥५॥

हे भाई ! मनुष्य-शरीर पाकर रामचन्द्रजी का भजन न करे, इसके बराबर भी क्या कोई हानि (नुक़सान) है ? चुग़लख़ोरी के बराबर क्या और कुछ पाप है ? और हे गरुड़जी ! क्या दया जैसा और कोई धर्म है ? ॥ ५ ॥

एहि बिधि अमित जुगुति मन गुनऊँ । मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ ॥
पुनि पुनि स-गुन-पच्छ मैं रोपा । तब मुनि बोले बचन सकोपा ॥६॥

मैं इस तरह बेहद युक्तियाँ मन में सोचता था, और मुनि का दिया उपदेश आदर-पूर्वक नहीं सुनता था। जब मैंने बारम्बार सगुण ही का पक्ष उपस्थित किया, तब मुनि क्रोध-युक्त वचन बोले—॥ ६ ॥

मूढ परम सिख देउँ न मानसि । उत्तर प्रतिउत्तर बहु आनसि ॥
सत्यबचन बिस्वास न करही । वायस इव सबही तें डरही ॥७॥

अरे मूर्ख ! मैं अच्छी सीख देता हूँ, पर तू उसे नहीं मानता, बहुत से जवाब पर जवाब देता है; सच्चे वचनों पर विश्वास नहीं करता, कौए के समान सबसे डरता है ॥ ७ ॥

सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला । सपदि होहु पच्छी चंडाला ॥
लीन्ह साप मैं सीस चढाई । नहिँ कछु भय न दीनता आई ॥८॥

हे दुष्ट ! तेरे मन में अपने मत का बहुत हठ है, इसलिए तू अभी चांडाल पक्षी (कौआ) हो जा। मैंने शाप को मस्तक पर चढ़ा लिया (स्वीकार कर लिया), उससे मुझे न कुछ भय हुआ, न दीनता आई ॥ ८ ॥

दो०—तुरत भयउँ मैं काग तब पुनि मुनिपद सिरु नाइ ।
सुमिरि राम रघु-बंस-मनि हरषित चलेउँ उडाइ ॥१८८॥

तब मैं तुरन्त ही कौआ हो गया और मुनि के चरणों में मस्तक नवाकर, रघुवंश-भूषण रामचन्द्रजी को स्मरणकर प्रसन्नतापूर्वक उड़कर वहाँ से चल दिया ॥ १८८ ॥

उमा जे राम-चरन-रत बि-गत-काम-मद-क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिँ जगत केहि सन करहिँ बिरोध ॥१८९॥

शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती ! जो रामचन्द्रजी के चरणों में रत (लगे) हैं एवं जिनका काम, मद और क्रोध दूर हो गया है, वे सारे जगत् को अपने स्वामी राम-मय (रामचन्द्रजी से भरा हुआ) देखते हैं; इसलिए वे किसके साथ विरोध करें ? ॥ १८९ ॥

चौ०—सुनु खगेस नहिँ कछु रिषिदूषन । उरप्रेरक रघु-बंस-बि-भूषन ॥
कृपासिंधु मुनिमति करि भोरी । लीन्हो प्रेम परीछा मोरी ॥१॥

हे गरुड़जी ! सुनिए। इसमें लोमश ऋषि का कुछ दोष नहीं है, क्योंकि हृदय में प्रेरणा करनेवाले तो श्रीरघुनाथजी हैं। दयासागर रामचन्द्रजी ने मुनि की बुद्धि को भोरी (भूल में गिरी) कर मेरे प्रेम की परीक्षा ली इस बात की जाँच की कि मैं कहाँ तक प्रेम रखता हूँ—॥ १ ॥

मन क्रम बचन मोहि जन जाना। मुनिमति पुनि फेरी भगवाना॥
रिषि मम सहनसीलता देखी। राम-चरन-बिस्वास बिसेखी॥२॥

जब मुझे मन, वचन और कर्म से अपना जन (दास) जान लिया, तब फिर भगवान् ने मुनि की बुद्धि फिरा दी। लोमश ऋषि को मेरी सहनशीलता (शाप लगने पर भी निर्भय और प्रसन्न रहने से) और रामचन्द्रजी के चरणों में विशेष विश्वास देखकर॥ २॥

अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई॥
मम परितोष बिबिध बिधि कीन्हा। हरषित राममंत्र तब दीन्हा॥३॥

बड़ा आश्चर्य हुआ। बारम्बार पछताकर मुनि ने मुझे आदर-पूर्वक बुला लिया। फिर उन्होंने अनेक प्रकार से मेरा सन्तोष किया और प्रसन्न होकर राममंत्र दिया॥ ३॥

बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना॥
सुंदर सुखद मोहि अति भावा। सो प्रथमहिँ मैँ तुम्हहिँ सुनावा॥४॥

कृपानिधान मुनि ने मुझसे रामचन्द्रजी के बालकरूप का ध्यान कहा। वह सुन्दर, सुखदायी मुझे बहुत ही रुचा, यह मैं आपको पहले ही सुना चुका हूँ॥ ४॥

मोहि कछु काल तहाँ मुनि राखा। राम-चरित-मानस तब भाखा॥
सादर मोहि यह कथा सुनाई। पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई॥५॥

मुनि ने मुझे वहाँ कुछ काल तक रक्खा, तब उन्होंने रामचरितमानस वर्णन किया। मुझे आदर के साथ यह कथा सुनाकर फिर मुनि सुहावनी वाणी बोले—॥ ५॥

रामचरित सर गुप्त सुहावा। संभुप्रसाद तात मैँ पावा॥
तोहि निज भगत राम कर जानी। ता तेँ मैँ सब कहेउँ बखानी॥६॥

हे तात! यह गुप्त और सुहावना राम-चरित्र-सरोवर श्रीशङ्करजी की कृपा से मैंने पाया है। मैंने आपको रामचन्द्रजी का निज भक्त जाना, इसी कारण सब वर्णन करके कहा॥ ६॥

रामभगति जिन्ह के उर नाहीँ। कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीँ॥
मुनि मोहि बिबिध भाँति समुझावा। मैँ सप्रेम मुनिपद सिरु नावा॥७॥

हे तात! जिनके हृदय में राम-भक्ति नहीं है, उनके पास इसे कभी न कहना चाहिए। मुनि ने मुझे बहुत तरह से समझाया, मैंने उनके चरणों में प्रेम-सहित मस्तक नवाया॥ ७॥

निज-कर-कमल परसि मम सीसा। हरषित आसिष दीन्हि मुनीसा॥
रामभगति अबिरल उर तोरे। बसहु सदा प्रसाद अब मोरे॥८॥

तब मुनिराज ने अपने हस्त-कमल से मेरा मस्तक छूकर, प्रसन्न हो, आशीर्वाद दिया कि अब मेरी कृपा से तेरे हृदय में अटल रामभक्ति सदा बसेगी ॥ ८ ॥

दो०—सदा रामप्रिय होहु तुम्ह सुभ-गुन-भवन अमान ।
कामरूप इच्छामरन ग्यान-बिराग-निधान ॥१९०॥

तुम सदा रामचन्द्रजी के प्यारे रहो और शुभ गुणों के स्थान, अभिमान-रहित, कामरूप (जब जैसा चाहे रूप ले सके), इच्छामरण (जब चाहे तब मरे), तथा ज्ञान-वैराग्य के भाण्डार होओ ॥ १९० ॥

जेहि आस्रम तुम्ह बसब पुनि सुमिरत श्रीभगवंत ।
ब्यापिहि तहँ न अबिद्या जोजन एक प्रजंत ॥१९१॥

श्रीभगवान का स्मरण करते हुए तुम जिस आश्रम में बसोगे वहाँ एक योजन (चार कोस) पर्यन्त अविद्या (माया) नहीं व्यापेगी ॥ १९१ ॥

चौ०—काल कर्म गुन दोष सुभाऊ । कछु दुख तुम्हहि न ब्यापिहि काऊ ॥
रामरहस्य ललित बिधि नाना । गुप्त प्रगट इतिहास पुराना ॥१॥

काल, कर्म, गुण, दोष और स्वभाव—इनका कुछ भी दुःख कभी तुम्हें न होगा । रामचन्द्रजी का नाना प्रकार का, सुन्दर, गुप्त रहस्य (एकान्तिक लीला) और पुराण इतिहास में प्रकट ॥ १ ॥

बिनु स्रम तुम्ह जानब सब सोऊ । नित नवनेह रामपद होऊ ॥
जो इच्छा करिहहु मन माहीं । हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं ॥२॥

यह सब तुम बिना परिश्रम जान लोगे और रामचन्द्रजी के चरणों में तुम्हें नित्य नया प्रेम होगा । तुम अपने मन में जो इच्छा करोगे वह हरि की कृपा से कुछ भी दुर्लभ न होगी ॥ २ ॥

सुनि मुनिआसिष सुनु मतिधीरा । ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा ॥
एवमस्तु तव बच मुनि ग्यानी । यह मम भगत करम मन बानी ॥३॥

हे मति-धीर गरुड़जी ! सुनिए, लोमश ऋषि के आशीर्वाद को सुनकर आकाश में गंभीर ब्रह्मवाणी हुई कि हे ज्ञानी मुनि ! तुम्हारा वचन ऐसा ही हो; यह (कागभुशुण्डि) मन, वचन, कर्म से मेरा भक्त है ॥ ३ ॥

सुनि नभगिरा हरष मोहि भयऊ । प्रेममगन सब संसय गयऊ ॥
करि बिनती मुनिआयसु पाई । पदसरोज पुनि पुनि सिरु नाई ॥४॥

आकाशवाणी सुनकर मुझे हर्ष हुआ। मैं प्रेम में मग्न हो गया, मेरा सब सन्देह दूर हो गया। मैं मुनि को विनती कर, उनकी आज्ञा ले, उनके चरण-कमलों में बार बार सिर नवाकर ॥ ४ ॥

हरषसहित एहि आस्रम आयउँ। प्रभुप्रसाद दुर्लभ बर पायउँ ॥
इहाँ बसत मोहिँ सुनु खगईसा। बीते कलप सात अरु बीसा ॥५॥

आनन्द-युक्त हो इस आश्रम में आया। भगवत्कृपा से मैं दुर्लभ वर पा गया। हे पक्षिराज! सुनिए, मुझे यहाँ बसते सत्ताइस कल्प बीत गये ॥ ५ ॥

करउँ सदा रघु-पति-गुन-गाना। सादर सुनहिँ बिहंग सुजाना ॥
जब जब अवधपुरी रघुबीरा। धरहिँ भगतहित मनुजसरीरा ॥६॥

मैं सदा रघुपति के गुण-गान करता हूँ और उन्हें चतुर पक्षी आदर-पूर्वक सुनते हैं। जब जब रघुवीर रामचन्द्रजी भक्तों के हित के लिए अयोध्यापुरी में मनुष्य-शरीर धारण करते हैं ॥ ६ ॥

तब तब जाइ रामपुर रहऊँ। सिसुलीला बिलोकि सुख लहऊँ ॥
पुनि उर राखि राम सिसु-रूपा। निज आस्रम आवउँ खगभूपा ॥७॥

तब तब मैं जाकर रामपुर (अयोध्या) में रहता और बाललीला देखकर सुख पाता हूँ। फिर हे पक्षिराज! रामचन्द्रजी के बालरूप को हृदय में रखकर अपने आश्रम में आ जाता हूँ ॥ ७ ॥

कथा सकल मैं तुम्हहिँ सुनाई। कागदेह जेहि कारन पाई ॥
कहेउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी। राम-भगति-महिमा अतिभारी ॥८॥

मैंने जिस कारण काए की देह पाई, वह सब कथा आपको सुना दी और आपके सब प्रश्नों के उत्तर दिये। रामचन्द्रजी की भक्ति की महिमा बहुत भारी है ॥ ८ ॥

दो०—ता तें यह तन मोहि प्रिय भयउ राम-पद-नेह।
निज प्रभु-दरसन पायउँ गयउ सकल संदेह ॥१६२॥

इस शरीर से मुझे रामचन्द्रजी के चरणों में प्रेम हुआ है, इसी से यह मुझे प्यारा है। मैंने अपने स्वामी का दर्शन पाया और सब सन्देह नष्ट हुआ ॥ १९२ ॥

भगतिपच्छ हठ करि रहेउँ दीन्हि महा-रिषि-साप।
मुनि दुर्लभ बर पायउँ देखहु भजनप्रताप ॥१६३॥

रामभजन का प्रताप देखिए, कि मैं भक्ति-पक्ष का हठ कर रहा था; इस पर महाऋषि ने मुझे शाप दे दिया, फिर भी मैं वे वरदान पा गया जो मुनियों को भी दुर्लभ हैं ॥ १९३ ॥

चौ०—जे असि भगति जानि परिहरहीं । केवल ग्यानहेतु स्रम करहीं ॥
ते जड कामधेनु गृह त्यागी । खोजत आक फिरहिं पय लागी ॥ १ ॥

जो लोग ऐसी भक्ति को जान बूझ कर छोड़ते और केवल ज्ञान-प्राप्ति के लिए परिश्रम करते हैं, वे मूर्ख घर में कामधेनु को छोड़कर दूध के लिए आक (मदार) ढूँढ़ते फिरते हैं ॥ १ ॥

सुनु खगेस हरिभगति बिहाई । जे सुख चाहहिं आन उपाई ॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी । पैरि पार चाहहिं जडकरनी ॥ २ ॥

हे गरुड़जी ! सुनिए । जो भगवान् को भक्ति को छोड़कर और उपायों से सुख चाहते हैं, वे मन्द बुद्धिवाले दुष्ट बिना नाव बड़े समुद्र को पैर कर पार जाना चाहते हैं ॥ २ ॥

सुनि भुसुण्डि के बचन भवानी । बोलेउ गरुड हरषि मृदुबानी ॥
तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं । संसय-सोक-मोह-भ्रम नाहीं ॥ ३ ॥

शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती ! कागभुशुण्डजी के वचन सुनकर गरुड़ प्रसन्न हो कोमल वाणी से बोला—हे प्रभो ! आपकी कृपा से मेरे हृदय में संशय, सोच, मोह और भ्रम कुछ भी नहीं है ॥ ३ ॥

सुनेउँ पुनीत राम-गुन-ग्रामा । तुम्हरी कृपा लहेउँ बिस्रामा ॥
एक बात प्रभु पूछउँ तोही । कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही ॥ ४ ॥

आपकी कृपा से मैंने रामचन्द्रजी के पवित्र गुण-समूह सुने और शांति पाई । हे दयानिधे ! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ, वह मुझे समझा कर कहिए ॥ ४ ॥

कहहिं संत मुनि बेद पुराना । नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना ॥
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गोसाईं । नहिं आदरेहु भगति की नाईं ॥ ५ ॥

सन्त, मुनि और वेद-पुराण कहते हैं कि ज्ञान के समान दुर्लभ और कुछ नहीं है । हे गुसाईं ! वही बात लोमश मुनि ने आपसे कही, पर आपने भक्ति के समान उसका आदर नहीं किया ॥ ५ ॥

ग्यानहिं भगतिहिं अंतर केता । सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता ॥
सुनि उरगारिबचन सुख माना । सादर बोलेउ काग सुजाना ॥ ६ ॥

इसलिए हे कृपा के स्थान, प्रभो ! ज्ञान और भक्ति, दोनों में अन्तर कितना है, यह सब कहिए । गरुड़ के वचनों को सुनकर कागभुशुण्डजी ने सुख माना और वे आदरपूर्वक बोले—॥ ६ ॥

भगतिहि ग्यानहि नहिँ कछु भेदा। उभय हरहिँ भवसंभव खेदा॥
नाथ मुनीस कहहिँ कछु अंतर। सावधान सोउ सुनु बिहंगबर॥७॥

भक्ति और ज्ञान इन दोनों में कुछ भेद नहीं है। दोनों ही संसार से उत्पन्न दुःखों को मिटाते हैं। तथापि हे नाथ! मुनीश्वर इनमें कुछ अन्तर कहा करते हैं। हे पक्षिश्रेष्ठ! वह भी सावधान होकर सुनिए॥७॥

ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जडजाती॥८॥

हे हरिवाहन! सुनिए। ज्ञान, वैराग्य, योग और विज्ञान ये सभी पुरुष हैं। पुरुष का प्रताप सब तरह प्रबल होता है, स्त्री स्वाभाविक ही निर्बल और जाति (जन्म) से मूर्ख है॥८॥

दो०—पुरुष त्यागि सक नारिहि जो बिरक्त मतिधीर।
न तु कामी जो बिषयबस बिमुख जो पद रघुबीर॥१९४॥

जो पुरुष विरक्त और धीर-बुद्धि हैं, वे स्त्री को त्याग सकते हैं; पर जो कामी और विषयों के अधीन तथा रघुवीर के चरणों से विमुख हैं वे नहीं त्याग सकते॥१९४॥

सो०—सो मुनि ग्याननिधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि।
बिकल होहिँ हरिजान नारि बिस्व माया प्रगट॥१९५॥

हे गरुड़जी! महाज्ञानी मुनि भी मृगनयनी स्त्री के चन्द्र-मुख को देखकर विकल हो जाते हैं; क्योंकि संसार में स्त्री प्रसिद्ध माया ही है॥१९५॥

चौ०—इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। बेद-पुरान-संत-मत भाखउँ॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥१॥

हे गरुड़जी! मैं यहाँ कुछ पक्षपात नहीं रखता। वेद, पुराण और सन्तों का मत कहता हूँ। यह एक अनुपम रीति है कि स्त्री स्त्री के रूप पर मोहित नहीं होती॥१॥

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारिबर्ग जानहिँ सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरहिँ भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥२॥

हे गरुड़जी! सुनिए, माया और भक्ति दोनों स्त्री-वर्ग में हैं, इस बात को सभी जानते हैं। फिर भक्ति तो रघुनाथजी को प्यारी है और माया बेचारी तो निश्चय ही एक नाचनेवाली है॥२॥

भगतिहिँ सानुकूल रघुराया। ता तेँ तेहि डरपति अति माया॥
रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥३॥

रघुनायक, भक्ति पर सानुकूल हैं, इसलिए माया उससे बहुत डरती है। जिसके हृदय में निरुपम, उपाधि-रहित राम-भक्ति सदा अबाध्य (अखंड) होकर बसती है॥ ३॥

तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहिँ भगति सकल-सुख-खानी॥४॥

उसको देखकर माया सकुचाती है, और कुछ अपनी प्रभुता नहीं कर सकती। ऐसा विचारकर जो विज्ञानी मुनि हैं वे सब सुखों की खान भक्ति को माँगते हैं॥ ४॥

दो०—यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोइ।
जो जानइ रघु-पति-कृपा सपनेहुँ मोह न होइ॥ १९६॥

रघुनाथजी का यह रहस्य कोई जल्दी नहीं जानता; किन्तु जो कोई रामचन्द्रजी की कृपा से जान लेता है, उसको स्वप्न में भी मोह नहीं होता॥ १९६॥

अउरउ ग्यान भगति कर भेद सुनहु सुप्रबीन।
जो सुनि होइ रामपद-प्रीति सदा अबिछीन॥ १९७॥

हे अत्यन्त चतुर गरुड़जी! ज्ञान तथा भक्ति का भेद और भी सुनिए; जिसको सुनकर रामचन्द्रजी के चरणों में सदा अविच्छिन्न (एकरस) प्रीति होती है॥ १९७॥

चौ०—सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी॥
ईस्वरअंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥१॥

हे तात! इस अकथ कहानी को सुनिए। यह समझते ही बनती है, कही नहीं जा सकती। जीव, ईश्वर का अंश होने से, अविनाशी (जिसका नाश कभी न हो) चेतन निर्मल है और स्वाभाविक सुख की खान है॥ १॥

सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहिँ ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥ २॥

हे गुसाईं! वह जीव माया के वश हो गया और तोते तथा बन्दर[1] के समान बँध गया। जड़ (माया) और चेतन (जीव) की गाँठ पड़ गई, यद्यपि वह झूठी है तथापि उसके छूटने में कठिनाई है॥ २॥

१—बन्दर को पकड़ने के लिए एक छोटे मुँह के बरतन में चने या और कुछ खाद्य डालकर रख देते हैं। बन्दर उसमें हाथ डालकर उस वस्तु की मुट्ठी भर लेता है। बस, मुँह सकरा होने से मुट्ठी बँधा हुआ हाथ निकालते नहीं बनता और लोभवश वस्तु की मुट्ठी खोली नहीं जाती। यों वह आप ही फँस जाता है। तोते नलकी में नाज के लोभवश फँस जाते हैं। नाज का बरतन और नलकी जड़ हैं, बन्दर-तोते चैतन्य हैं, परन्तु वे फँस जाते हैं, इसी तरह चैतन्य जीव जड़ माया के फंदे में फँस जाता है। इसका नाम है नलिका शुक-न्याय। किसी ने कहा है कि—मैं माया को छोड़ता हूँ, पर माया

तब तें जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥
स्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥ ३॥

जब से यह गाँठ पड़ गई तब से जीव संसारी हो गया। न गाँठ छूटे, न यह सुखी हो। वेद और पुराणों ने छूटने के बहुत उपाय कहे हैं, पर गाँठ छूटती नहीं वरन् अधिक उलझती जाती है॥ ३॥

जीवहृदय तम मोह बिसेखी। ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी॥
अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥ ४॥

जीव के हृदय में मोह का विशेष अन्धकार छाया रहता है, इससे गाँठ सुझाई ही नहीं पड़ती। भला छूटेगी कैसे? जब ईश्वर कभी ऐसा संयोग करे (जैसा आगे कहा जाता है) तब भी कदाचित् ही वह सुलझे॥ ४॥

सात्विक स्रद्धा धेनु लवाई। जो हरिकृपा हृदय बसि आई॥
जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे स्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥५॥

वह संयोग यह है—यदि भगवान् की कृपा हो तो जीव के हृदय में सत्त्वगुणी श्रद्धा (गुरु, वेद और शास्त्र के वचनों में आस्तिक बुद्धि से विश्वास होना) रूपी लवाई (थोड़े दिन की ब्याई) गाय आकर बसे; जप, तप, व्रत, यम, नियम आदि अपार शुभ धर्म-आचरण जो वेदों में कहे हैं॥ ५॥

तेइ तृन हरित चरइ जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पन्हाई॥
नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥६॥

वे ही हरी घास हैं, वह श्रद्धा-रूपी गाय जब उस घास को चरे, (अर्थात् जीव श्रद्धा-पूर्वक उन सबका आचरण करे) और भावरूपी छोटे बछड़े से उस गाय को पवासे अर्थात् उसके थनों में दूध उतरने दे। निवृत्ति ही नोइ (वह रस्सी जिससे, दुहते समय गाय के पिछले पैर बाँधे जाते हैं) है विश्वास-रूपी पात्र है, अपना अनुचर निर्मल मन ही अहीर है॥ ६॥

परम-धरम-मय पय दुहि भाई। अवटइ अनल अकाम बनाई॥
तोष मरुत तब छमा जुडावइ। धृतिसम जावन देइ जमावइ॥७॥

अरे भाई! (उस पात्र में) परम धर्म-रूपी दूध को दुहे, और फिर निष्कामता-रूपी अग्नि में उसको खूब औटावे। फिर सन्तोष और क्षमा रूपी वायु से उसे ठंढा करे और उसमें धैर्यरूपी जावन (जाग) देकर उसको जमा दे॥ ७॥

मुझे नहीं छोड़ती, जैसे नलकी में फँसा तोता उसमें से उड़ना चाहता है, पर उड़ने नहीं पाता; जान बूझ कर आप ही फँसकर, चैतन्य होकर भी, जड़ के वश में हो जाता है—अहं मुञ्चामि प्रकृतिं प्रकृतिर्मां न मुञ्चति। नालिकाशुकन्यायेन प्रकृतिर्हि प्रवर्तते॥

मुदिता मथइ बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी॥
तब मथि काढि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुपरम पुनीता॥८॥

फिर प्रसन्नता रूप मटकी में विचार-रूपी मथानी से उसको मथे। दम (ज्ञानेन्द्रियों के जोतने) का आधार (मथने का, खम्भा आदि) बनावे, सत्य और सुन्दर वचन-रूपी रस्सी लगावे। तब मथकर उसमें से निर्मल और परम पवित्र वैराग्य-रूपी मक्खन निकाल ले॥ ८॥

दो०—जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावइ ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ॥१९८॥

फिर शुभ अशुभ कर्मरूपी ईंधन लगाकर योग-रूपी अग्नि प्रकट करे; उसमें वह मक्खन तपावे, जब ममता-रूपी मैल जल जाय तब बुद्धि से उसको ठंढाकर ज्ञान-रूपी घृत निकाल ले॥ १९८॥

तब बिग्यानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरइ दृढ समता दियटि बनाइ॥१९९॥

फिर विज्ञान-रूपी बुद्धि शुद्ध घी को पाकर चित्त-रूपी दीये में भर ले और समता-रूपी दीयट बना कर उस पर उसे दृढ़ता से रख दे॥ १९९॥

तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करइ सुगाढि॥२००॥

फिर तीन अवस्था (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) और तीन गुण (सत्त्व, रज, तम) रूपी कपास में से तुरीया (चौथी) अवस्थारूपी रुई निकालकर और उसको सुधारकर अच्छी गाढ़ी बत्ती बनावे॥ २००॥

सो०—एहि बिधि लेसइ दीप तेजरासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब॥२०१॥

इस तरह तेज का पुञ्ज, विज्ञानमय दीपक जलावे, जिसके पास जाते ही मदादिक सभी फतिङ्गे जल जावें॥ २०१॥

चौ०—सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा॥
आतम-अनुभव-सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेदभ्रम नासा॥१॥

'सोऽहमस्मि'[1] (मैं वही हूँ) इस तरह की जो अखंड वृत्ति है, वही दीपक की अत्यन्त प्रचण्ड लौ है। इससे जब आत्मा का अनुभव (स्वरूप-ज्ञान) हो जाता है, तब अनुभवजन्य सुख का सुन्दर प्रकाश पड़ता है, फिर संसार के मूल-कारण भेद और भ्रम का नाश हो जाता है॥ १॥

१—"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहमस्मि श्रुतेः" इस वचनानुसार।

प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोहआदि तम मिटइ अपारा॥
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा। उरगृह बैठि ग्रंथि निरुवारा॥२॥

अविद्या का प्रबल (बढ़ा हुआ) कुटुम्ब मोह आदि अपार अन्धकार मिट जाता है। तब फिर वही बुद्धि उजाला पाकर हृदयरूपी घर में बैठ उस गाँठ को सुलझा डालती है॥ २॥

छोरन ग्रंथि पाव जौं कोई। तौ यह जीव कृतारथ होई॥
छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघन अनेक करइ तब माया॥३॥

जो उस गाँठ को छुड़ा सके तो जीव कृतकृत्य हो जाय। हे पक्षिराज! गाँठ छुड़ाते जानकर उस समय माया अनेक विघ्न करती है॥ ३॥

रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ देखावहिँ आई॥
कल बल छल करि जाइ समीपा। अंचल बात बुझावहिँ दीपा॥४॥

अरे भाई! वह बहुत सी ऋद्धि-सिद्धियों को प्रेरणा करती है, वे आकर बुद्धि को लालच दिखाती हैं। अनेक पच और छल बल कर वे उस दीपक के पास जाकर अपने आञ्चल के पवन से उसको बुझा देती हैं॥ ४॥

होइ बुद्धि जो परम सयानी। तिन्ह तनु चितव न अनहित जानी॥
जौं तेहि बिघन बुद्धि नहिँ बाधी। तौ बहोरि सुर करहिँ उपाधी॥५॥

जो बुद्धि बहुत ही चतुर हो तो वह उन ऋद्धि-सिद्धियों को अपना शत्रु समझकर उनकी ओर ताकती भी नहीं। जो उन विघ्नों से बुद्धि को बाधा न पहुँची तो फिर देवता उपाधि (उपद्रव) करते हैं॥ ५॥

इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिँ विषय बयारी। ते हठि देहिँ कपाट उघारी॥६॥

इन्द्रियों के दरवाजे ही अनेक झरोखे हैं, उन झरोखों में देवता अपने स्थान[१] जमाये हुए बैठे हैं। वे ज्योंही विषय-रूपी हवा आते देखते हैं, त्योंही हठपूर्वक किवाड़ खोल देते हैं॥ ६॥

१—इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता इस तरह हैं—वाणी का अग्नि, हाथों का इन्द्र, चरणों का विष्णु, पायु (गुदा) का यम, उपस्थ (जननेन्द्रिय) का ब्रह्मा, कान का दिशा, त्वचा का वायु, नेत्रों का सूर्य, जीभ का वरुण, नाक का अश्विनीकुमार। ये क्रमशः वाक्यदान, चलना, त्यागना, आनन्द लेना, सुनना, स्पर्श करना, रूप देखना, रसास्वादन करना और सूँघना—ये काम करते हैं। चन्द्र, ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु ये चारों मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त इन चारों अन्तःकरणों के स्वामी उनमें बसकर क्रमशः संशय, निश्चय, अहङ्कार और चैतन्य को भोगते हैं।

जब सो प्रभंजन उरगृह जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई॥
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥७॥

वह प्रखर वायु ज्योंही हृदय-रूपी घर में जाता है त्योंही विज्ञान-रूपी दीपक बुझ जाता है। गाँठ तो छूटी नहीं, और वह उजाला मिट गया; विषय-रूपी वायु से बुद्धि व्याकुल हो गई॥ ७॥

इंद्री-सुरन्ह न ग्यान सुहाई। बिषयभोग पर प्रीति सदाई॥
बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी॥८॥

इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवतों को ज्ञान नहीं सुहाता, विषयों के भोगों पर उनको सदा प्रीति रहती है। विषय-रूपी वायु ने बुद्धि को तो भूल में डाल दिया, तब दुबारा उस विधि से उस दीपक को कौन जलावे?॥ ८॥

दो०—तब फिरि जीव बिबिध बिधि पावइ संसृतिक्लेस।
हरि माया अतिदुस्तर तरि न जाइ बिहँगेस॥२०२॥

तब फिर जीवात्मा नाना प्रकार के संसार-सम्बन्धी क्लेश पाता है। हे गरुड़जी! भगवान् की माया बड़ी दुस्तर है, वह तरी नहीं जाती॥ २०२॥

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥२०३॥

ज्ञान का कहना कठिन है समझना कठिन है और साधना कठिन है। जो कभी घुणाक्षरन्याय[१] से वह बन भी जाय तो फिर पीछे उसमें अनेक विघ्न होते हैं॥ २०३॥

चौ०—ग्यानपंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जौं निरबिघन पंथ निरबहई। सो कैवल्य परमपद लहई॥१॥

हे गरुड़जी! ज्ञानमार्ग तलवार की धार[२] है, इस पर से गिरते देर नहीं लगती। जो यह मार्ग निर्विघ्न तय कर लेता है वह कैवल्य-(मोक्ष) नामक परम पद को प्राप्त होता है॥ १॥

१—जब पुराने काठ में घुन (कीड़ा) लग जाता है, तब उसमें कुछ चिह्न हो जाते हैं। दैव-योग से कोई चिह्न किसी अक्षर जैसा भी हो जाता है। इसी को घुणाक्षर-न्याय कहते हैं। जैसे अकस्मात् वह अक्षर कभी बन जाता है, वैसे ही ज्ञान-मार्ग कभी अकस्मात् किसी को सिद्ध हो जाता है।

२—इसमें वेद का प्रमाण है। "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।" इसी लिए स्मृति पुराणादिकों में भी स्पष्ट कहा है कि "ज्ञानासिमादाय तरातिपारम्" ज्ञान-रूपी तलवार लेकर दुस्तर भव-सागर से पार हो जा।

अति दुर्लभ कैवल्य परमपद। संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥२॥

सन्त, पुराण और वेद-शास्त्र कहते हैं कि परमपद-कैवल्य बहुत कठिन है। हे स्वामी! परन्तु वही मुक्ति रामचन्द्रजी का भजन करने पर बिना इच्छा किये भी हठपूर्वक आती है॥ २॥

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥
तथा मोच्छसुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि-भगति बिहाई॥३॥

हे गरुड़जी! सुनिए। कोई करोड़ों तरह के उपाय करे, पर ज़मीन के बिना पानी नहीं रह सकता, इसी तरह भगवान् की भक्ति को छोड़कर मोक्ष-सुख नहीं रह सकता॥ ३॥

अस बिचारि हरिभगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लोभाने॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृतिमूल अबिद्या नासा॥४॥

चतुर भगवद्भक्त ऐसा विचारकर मुक्ति का निरादर करके भक्ति के लिए लुभा जाते हैं और भक्ति करते ही बिना यत्न तथा बिना परिश्रम संसार का मूल अविद्या (माया) का नाश हो जाता है॥ ४॥

भोजन करिय तृप्ति हित लागी। जिमि सो असन पचवइ जठरागी॥
असि हरिभगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई॥५॥

भोजन तृप्ति के लिए किया जाता है और उसको पेट की आग जिस तरह पचा देती है (उसी तरह भक्ति भी शुभाशुभ कर्मों को पचा देती है। अर्थात् जैसे भोजन पचाना जठराग्नि का स्वाभाविक गुण है, वैसे सांसारिक क्लेशों को पचा देना भगवद्भक्ति का स्वाभाविक गुण है।) भगवद्भक्ति ऐसी सुलभ और सुख देनेवाली है। भला, ऐसा कौन मूर्ख होगा जिसे यह न सुहाती हो?॥ ५॥

दो०—सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम-पद-पंक-ज अस सिद्धांत बिचारि॥२०४॥

हे गरुड़जी! सेवक-सेव्य भाव बिना अर्थात् मैं दास हूँ, रामचन्द्रजी मेरे स्वामी हैं—ऐसा भाव हुए बिना संसार नहीं तरा जा सकता; आप ऐसा सिद्धान्त विचारकर रामचन्द्रजी के चरण-कमलों का भजन कीजिए॥ २०४॥

जो चेतन कहँ जड करइ जडहि करइ चैतन्य।
अस समरथ रघुनायकहिँ भजहिँ जीव ते धन्य॥२०५॥

जो चेतन को जड़ करते और जड़ को चेतन कर देते हैं[1], ऐसे समर्थ रघुनाथजी को जो जीव भजते हैं वे धन्य हैं ॥ २०५ ॥

चौ०—कहेउँ ग्यान सिद्धांत बुझाई। सुनहु भगतिमनि कै प्रभुताई ॥
रामभगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उरअंतर ॥ १ ॥

हे गरुड़जी! मैंने आपको ज्ञान का सिद्धान्त समझाकर कहा। अब भक्ति-रूपी मणि की प्रभुता (सामर्थ्य) सुनिए। रामचन्द्रजी की भक्ति सुन्दर चिन्तामणि है। यह जिसके हृदय के भीतर बसती है ॥ १ ॥

परमप्रकास रूप दिन राती। नहिँ कछु चहिय दिया घृत बाती ॥
मोह दरिद्र निकट नहिँ आवा। लोभ बात नहिँ ताहि बुझावा ॥ २ ॥

उसका हृदय दिन-रात परम प्रकाश रूप रहता है। न उसके लिए घी चाहिए, न दीया और न बत्ती ही। न तो मोह-रूपी दरिद्र उसके पास आ सकता है और न लोभ-रूपी वायु उसे बुझा सकती है ॥ २ ॥

अचल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिँ सकल सलभसमुदाई ॥
खल कामादि निकट नहिँ जाहीँ। बसइ भगति जाके उर माहीँ ॥ ३ ॥

उसके प्रकाश से निश्चल अविद्यारूपी अँधेरा मिट जाता है, सब (मदादि) पतङ्गों के समूह हार जाते हैं। जिनके हृदय में राम-भक्ति बसती है उनके पास दुष्ट कामादि फटक नहीं सकते ॥ ३ ॥

गरल सुधा सम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई ॥
ब्यापहिँ मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी ॥ ४ ॥

राम-भक्तों को विष अमृत के समान और शत्रु मित्र के समान हो जाते हैं[2]। उस मणि (भक्ति) बिना कोई सुख नहीं पाता। जिनके वश में हो कर जीव दुःखी रहते हैं वे भारी मानसिक रोग उनको नहीं व्यापते ॥ ४ ॥

राम-भगति-मनि उर बस जाके। दुख-लव-लेस न सपनेहुँ ताके ॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीँ। जे मनि लागि सुजतन कराहीँ ॥ ५ ॥

१—गरुड़जी चैतन्य थे, माया-वश उन्हें जड़ बना दिया, अब ज्ञानोपदेश सुनकर फिर उन्हीं को चैतन्य बना दिया। अथवा—वे चैतन्य मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकों को जड़, वृक्षादि को चैतन्य मनुष्यादि जन्म दे देते हैं। जैसे—अहल्या को स्त्री से पत्थर कर दिया और अपने चरणों की धूल से फिर अहल्या बना दिया इत्यादि।

१—कागभुशुण्डिजी अपने ही दृष्टान्त से समझाते हैं कि देखिए, मेरे लिए लोमश मुनि का शाप विष था, वह अमृत हो गया और शाप देनेवाले लोमश ने ही मित्र बनकर मुझे अच्छा उपदेश दिया।

जिसके मन में राम-भक्तिरूपिणी मणि बसतो है, उसको स्वप्न में भी लेश-मात्र दुःख नहीं होता। जो इस मणि के लिए यत्न करते हैं वे ही जगत् में चतुरों के मुकुट-मणि हैं ॥ ५ ॥

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। रामकृपा बिनु नहिँ कोउ लहई ॥
सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिँ भटभेरे ॥ ६ ॥

यद्यपि वह मणि जगत् में प्रकट है (गुप्त नहीं), तथापि रामचन्द्रजी की कृपा बिना कोई उसको नहीं पाता। उसके पाने के उपाय तो सुगम हैं, पर अभागे लोग उन्हें दूर ठेल देते हैं ॥ ६ ॥

पावन पर्बत बेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना ॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी ॥७॥

हे गरुड़जी! वेद और पुराण पावन पर्वत हैं, उनमें नाना प्रकार की रामचन्द्रजी की कथायें सुन्दर खानें हैं। उनका मर्म जाननेवाला सज्जन (सन्त) सद्बुद्धिरूपिणी कुदाली लेकर ज्ञान-वैराग्य-रूपी नेत्रों से देखकर ॥ ७ ॥

भावसहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगतिमनि सब सुखखानी ॥
मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तेँ अधिक राम कर दासा ॥८॥

जो प्राणी भाव-सहित ढूँढ़ता है, वह सब सुखों की खान भक्तिरूपिणी मणि को पाता है। हे प्रभो! मेरे मन में ऐसा विश्वास है कि रामचन्द्रजी के दास (भक्त) श्री राम से भी बढ़ कर हैं ॥ ८ ॥

राम सिंधु, घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि, संत समीरा ॥
सब कर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई ॥ ९ ॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। रामभगति तेहि सुलभ बिहंगा ॥१०॥

रामचन्द्रजी समुद्र हैं, सज्जन धीर पुरुष मेघ[1] हैं; भगवान् चन्दन के वृक्ष हैं और सन्त उसकी वायु[2] हैं। सभी (साधनों) का फल सुहावनी हरिभक्ति है, वह किसी को सन्तों के बिना नहीं मिलती ॥ ९ ॥ हे गरुड़जी! ऐसा विचार कर जो सत्सङ्ग करेगा उसको रामचन्द्रजी की भक्ति सुलभ हो जायगी ॥ १० ॥

१—जैसे बादल समुद्र से पानी लेकर पृथ्वी पर सब जगह बरसाते हैं, वैसे ही सज्जन भी रामचन्द्र-रूपी समुद्र से उनके गुण-गण-रूपी अमृत-जल को लेकर सबको सुनाते हैं।

२—मलयाचल में जो असली चन्दन के वृक्ष हैं उनकी सुगन्ध लेकर वायु चलती है, वह जिनमें लगती है वे सभी वृक्ष चन्दन हो जाते हैं, अर्थात् उनमें चन्दन की सुगन्ध हो जाती है। इसी तरह सन्त लोगों की जो सङ्गति करते हैं वे भी सन्त हो जाते हैं। इस चन्दन वृक्ष के दृष्टान्त को कवियों ने

दो०—ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहि ।
कथा सुधा मथि काढइ भगति मधुरता जाहि ॥२०६॥

वेद क्षीर-समुद्र है, ज्ञान मन्दराचल पर्वत है और सज्जन देवता हैं, वे उस समुद्र को मथकर कथा-रूपी अमृत निकाल लेते हैं जिसकी मिठास भक्ति है ॥ २०६ ॥

बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि ।
जय पाइय सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि ॥२०७॥

हे गरुड़जी ! विचारकर देखिए। जो वैराग्य-रूपी ढाल लेकर ज्ञान-रूपी तलवार से मद, लोभ और मोह-रूपी शत्रुओं को मारकर विजय पाती है वह हरिभक्ति ही है ॥ २०७ ॥

चौ०—पुनि सप्रेम बोलेउ खगराऊ । जो कृपाल मोहि ऊपर भाऊ ॥
नाथ मोहि निज सेवक जानी । सप्त प्रस्न मम कहहु बखानी ॥१॥

फिर खगराज गरुड़जी प्रेम-सहित बोले—हे कृपालु (कागभुशुण्डि) ! जो मुझ पर आपका प्रेम भाव है तो हे नाथ ! मुझे अपना सेवक समझकर आप मेरे सात प्रश्नों का उत्तर विस्तारपूर्वक कहिए ॥ १ ॥

प्रथमहिं कहहु नाथ मतिधीरा । सब तें दुर्लभ कवन सरीरा ॥
बड दुख कवन कवन सुख भारी । सो संछेपहि कहहु बिचारी ॥ २ ॥

हे नाथ, हे धीर-बुद्धि ! पहले यह कहिए कि (१) सबसे दुर्लभ शरीर कौन सा है ? (२) सबसे बड़ा दुःख कौन सा है ? और (३) भारी सुख कौन सा है ? वह भी संक्षेप से विचारकर कहिए ॥ २ ॥

संत असंत मरम तुम्ह जानहु । तिन्ह कर सहज सुभाव बखानहु ॥
कवन पुन्य स्रुतिबिदित बिसाला । कहहु कवन अघ परम कृपाला ॥ ३ ॥

हे कृपालु ! (४) सन्तों और असन्तों के मर्म को आप जानते हैं, इसलिए उनके सहज स्वभाव को कहिए। (५) वेदों में प्रसिद्ध भारी पुण्य कौन सा है और (६) बड़ा पाप कौन सा है ? ॥ ३ ॥

मानसरोग कहहु समुझाई । तुम्ह सर्बग्य कृपा अधिकाई ॥
तात सुनहु सादर अति प्रीती । मैं संछेप कहउँ यह नीती ॥ ४ ॥

इस तरह सराहा है—किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव । मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥ अर्थात्—सोने का सुमेरु और चाँदी का कैलास भी किस काम का जिन पर के पेड़ ज्यों के त्यों ही बने रहें। धन्यवाद है मलयाचल को कि जिस पर के कङ्कोल (शीतलचीनी), नीम और कूट के पेड़ भी हवा लगने से चन्दन हो जाते हैं !

(७) मानस (मन से होनेवाले) रोग मुझे समझाकर कहिए। आप सर्वज्ञ हैं और आपकी मुझ पर कृपा अधिक है। काकभुशुण्डिजी ने कहा—हे तात! आप अत्यन्त प्रीति और आदर के साथ सुनिए, मैं यह नीति संक्षेप से कहता हूँ ॥ ४ ॥

नर-तन-सम नहिँ कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत जेही ॥

नरक-स्वर्ग-अपवर्ग-निसेनी। ग्यान-बिराग-भगति-सुख-देनी ॥ ५ ॥

उत्तर—(१) मनुष्य-शरीर के बराबर कोई शरीर नहीं, जिसको चर अचर सभी जीव माँगते हैं; वह शरीर नरक, स्वर्ग और मोक्ष के लिए नसैनी (सीढ़ी) है, एवं ज्ञान, वैराग्य और भक्तिसम्बन्धी सुख को देनेवाला है ॥ ५ ॥

सो तनु धरि हरि भजहिँ न जे नर। होहिँ बिषयरत मंद मंदतर ॥

काँच किरिच बदले जिमि लेहीँ। कर तेँ डारि परसमनि देहीँ ॥ ६ ॥

वह शरीर धारण कर जो मनुष्य हरि का भजन नहीं करते और विषयों में आसक्त हो जाते हैं, वे नीच से नीच हैं। वे मानों पारस मणि को हाथ से फेंककर उसके बदले में काँच की किरच (टुकड़ा) लेते हैं ॥ ६ ॥

नहि दरिद्रसम दुख जग माहीँ। संत-मिलन-सम सुख कहुँ नाहीँ ॥

परउपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया ॥ ७ ॥

(२) जगत् में दरिद्रता के समान कोई दुःख नहीं है, (३) सन्तों के मिलने के बराबर कहीं कोई सुख नहीं है। हे गरुड़जी! ( ) सन्तों का यह सहज (जन्म लेने के साथ उत्पन्न) स्वभाव होता है कि वे मन, वचन और शरीर से दूसरों का उपकार करते हैं ॥ ७ ॥

संत सहहिँ दुख परहित लागी। पर-दुख-हेतु असंत अभागी ॥

भूरज-तरु-सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला ॥८॥

सन्त दूसरे के हित के लिए दुःख सह लेते हैं और अभागे असन्त (दुर्जन) दूसरों को दुःख पहुँचाने के लिए आप दुःख सहते हैं। दयालु सन्त भोजपत्र के वृक्ष के समान होते हैं, जो दूसरे का हित करने के लिए नित्य (भारी) विपत्तियों को सहते हैं ॥ ८ ॥

सन इव खल परबंधन करई। खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई ॥

खल बिनु स्वारथ परअपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी ॥९॥

दुष्ट दूसरों का बन्धन करने के लिए सन के समान होते हैं जो अपनी खाल खिंचवा कर विपत्ति सहकर मर जाते हैं (सन के डंठल का छिलका कूट कूट कर निकाला जाता है)। हे गरुड़जी! सुनिए। दुष्ट लोग साँप और चूहे की तरह, बिना मतलब, दूसरों को दुःख पहुँचाया करते हैं। (चूहा लकड़ी, कपड़ा, हर एक चीज काट डालता है जिसमें

उसका पेट भी नहीं भरता और दूसरे को दुःख हो जाता है। साँप जिसको पाता है, काट खाता है, इससे उसको कुछ लाभ नहीं होता और जिसको काटता है वह मर जाता है) ॥ ९ ॥

परसंपदा बिनासि नसाहीँ । जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीँ ॥
दुष्टउदय जग आरत हेतू । जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू ॥१०॥

जिस तरह ओले खेती को नष्ट कर आप भी गल जाते हैं, इसी तरह दुष्ट लोग दूसरे की सम्पत्ति विध्वंस कर आप भी मर मिटते हैं। दुष्टों का प्रादुर्भाव जगत् के दुःख ही का कारण होता है, जैसे नीच ग्रह केतु (सर्वनाश ही के लिए) प्रसिद्ध है। (केतवश्चार्ति-हेतवः) ॥ १० ॥

संतउदय संतत सुखकारी । बिस्वसुखद जिमि इंदु तमारी ॥
परमधरम स्रुतिबिदित अहींसा । पर-निंदा-सम अघ न गिरीसा ॥११॥

जैसे अंधकार को दूर करनेवाला चन्द्रमा अपने उदय से संसार को सुख देता है, वैसे ही सन्त अपने उदय (प्रभाव) से सदा सुखदायक होते हैं। (५) वेदों में प्रसिद्ध सबसे श्रेष्ठ धर्म अहिंसा है। ("मा हिंस्यात् सर्व-भूतानि"। वेद की श्रुति है कि प्राणि-मात्र किसी की हिंसा न करो, किसी को न सताओ।) (६) दूसरे की निन्दा करने के बराबर और कोई पाप-रूपी महा-पर्वत नहीं ॥ ११ ॥

हरि-गुरु-निंदक दादुर होई । जनम सहस्र पाव तन सोई ॥
द्विजनिंदक बहु नरक भोग करि । जग जनमइ बायससरीर धरि॥१२॥

भगवान का और गुरु का निन्दक मेंढक का जन्म लेता और हजार जन्म पर्यन्त वही शरीर पाता है। ब्राह्मण का निन्दक बहुत से नरक भोगकर फिर संसार में काए का शरीर धारणकर जन्म लेता है ॥ १२ ॥

सुर-स्रुति-निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिँ ते प्रानी ॥
होहिँ उलूक संत-निंदा-रत । मोहनिसा प्रिय ग्यान भानु गत॥१३॥

जो अभिमानी प्राणी देवतों और वेदों के निन्दक हैं, वे रौरव नरक में पड़ते हैं। जो सन्तों की निन्दा करने में तत्पर हैं वे उल्लू होते हैं, उनको मोह-रूपिणी रात प्यारी है, ज्ञान-रूपी सूर्य नहीं ॥ १३ ॥

सब कै निंदा जे जड़ करहीँ । ते चमगादुर होइ अवतरहीँ ॥
सुनहु तात अब मानसरोगा । जेहि तेँ दुख पावहिँ सब लोगा ॥१४॥

जो सभी की निन्दा करते हैं, वे चमगादड़ का शरीर लेकर जन्मते हैं। (७) हे तात ! अब मानस रोग सुनिए, जिनसे सब लोग दुःख पाते हैं ॥ १४ ॥

मोह सकल ब्याधिन कर मूला । तेहि तें पुनि उपजइ बहुसूला ॥
काम बात कफ लोभ अपारा । क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥१५॥

सब व्याधियों का मूल मोह (अज्ञान) है, फिर उससे अनेक शूल (दुःख) उत्पन्न होते हैं। काम वात है, लोभ अपार कफ है, क्रोध पित्त है जो रोज छाती जलाता है ॥ १५ ॥

[illegible] करहिँ जौं तीनिउ भाई । उपजइ सन्निपात दुखदाई ॥
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना । ते सब सूल नाम को जाना ॥१६॥

जो तीनों भाई प्रीति [illegible] लेते हैं, अर्थात् काम, क्रोध और लोभ, पक्षान्तर में वात, पित्त और कफ, तीनों एक ही जगह इकट्ठे हो जाते हैं तो दुःखदायक सन्निपात (त्रिदोष[1]) उत्पन्न हो जाता है। तरह तरह के विषयों के जो दुर्गम (प्राप्त होने में कठिन) मनोरथ हैं वे सब शूल (रोग) हैं, उनके नाम कौन जानता है ? ॥ १६ ॥

ममता दादु कंडु इरषाई । हरष बिषाद गरह बहुताई ॥
परसुख देखि जरनि सो छई । कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई ॥१७॥

ममता (यह चीज मेरी है ऐसा अभिमान) दाद है, ईर्ष्या (डाह) खाज है, हर्ष और शोक गले के रोग (घेंघा आदि) हैं। दूसरे का सुख देखकर जलना क्षयरोग है, मन की दुष्टता और कुटिलता कुष्ठ रोग है ॥ १७ ॥

अहंकार अति दुखद डमरुआ । दंभ कपट मद मान नहरुआ ॥
तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी । त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी ॥१८॥
जुगबिधि ज्वर मत्सर अबिबेका । कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका ॥१९॥

अहङ्कार बड़ा दुखदायी डमरू रोग है; दंभ, कपट, मद, अभिमान ये नहरुआ[2] रोग हैं। तृष्णा बड़ी भारी उदरवृद्धि (पेट का बढ़ना—जलोदर) है, तीन प्रकार की ईषणा (इच्छा—धन, पुत्र, जनों की) प्रचंड तिजारी ज्वर[3] है ॥ १८ ॥ मत्सर (दूसरे का भला देखकर जलना) और अविचार ये दोनों दो तरह के (एकान्तर, चातुर्थिक) ज्वर हैं। कहाँ तक कहूँ ? अनेक दुष्ट रोग हैं ॥ १९ ॥

१—सन्निपात रोग असाध्य होता है, वैसे ही इनको जीतकर सद्गति पाना भी असाध्य हो जाता है।

२—सवा हाथ लम्बा कीड़ा सूत जैसा शरीर में एक, दो, या अनेक जगहों में निकलता है, यदि यह टूट न जाय तो १।२ महीने, जो टूट जाय तो ६।६ महीने दुःख देता है, इसका नाम नहरू और बाला है। यह मालवा और राजपूताने में बहुत होता है।

३—विषम ज्वरों में "एकाद्वित्र्यन्तरे जाता नानापीडाकरा ज्वराः" १।२।३।४ दिनों के अन्तर से आनेवाले नाना दुखदायी अनेक ज्वर हैं।

दो०—एक ब्याधिबस नर मरहिँ ए असाध्य बहु ब्याधि ।
पीडहिँ संतत जीव कहुँ सो किमि लहइ समाधि ॥२०८॥

एक ही रोग के वश होकर मनुष्य मरते हैं, फिर ये तो असाध्य और बहुत से रोग हैं, जो सदा जीव को दुःख दिया करते हैं। भला, फिर वे जीव कैसे सुख पा सकते हैं॥ २०८॥

नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान ।
भेषज पुनि कोटिक नहीं रोग जाहिँ हरिजान ॥२०९॥

हे विष्णु के वाहन गरुड़जी! इन रोगों के लिए नियम, धर्म, आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप, दान आदि करोड़ों औषधियाँ हैं, पर ये रोग जाते नहीं॥ २०९॥

चौ०—एहि बिधि सकल जीव जड रोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी ॥
मानसरोग कछुक मैं गाये। होहिँ सब के लखि बिरलन्ह पाये ॥१॥

इस तरह सभी मूर्ख जीव रोगी हैं और उनसे वे सोच, आनन्द, भय, प्रेम और वियोग में फँसे रहते हैं। मैंने कुछेक मानस रोग कहे हैं। ये होते सबको हैं, पर इनको देख पाते हैं थोड़े ही लोग॥ १॥

जाने तेँ छीजहिँ कछु पापी। नास न पावहिँ जनपरितापी ॥
बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे ॥२॥

ये पापी रोग जान लेने से कुछ छीजते (कम होते) हैं, पर मनुष्यों को सन्ताप देनेवाले ये रोग नष्ट नहीं होते। ये विषय-रूपी कुपथ्य पाकर मुनिजनों के हृदयों में भी अङ्कुरित (जम) हो जाते हैं, फिर बेचारे साधारण मनुष्यों का तो कहना ही क्या?॥ २॥

रामकृपा नासहिँ सब रोगा। जो एहि भाँति बनइ संजोगा ॥
सदगुरु बेदबचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा ॥३॥

जो इस तरह का संयोग बन जाय तो रामचन्द्रजी की कृपा से सब रोग नष्ट हो जाते हैं। वह संयोग यह है कि—श्रेष्ठ गुरु हो, वेद के वचनों पर विश्वास हो, विषयों की आशा न हो, यही संयम हो॥ ३॥

रघु-पति-भगति सजीवनमूरी। अनूपान स्रद्धा मति पूरी ॥
एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीँ। नाहिँ त जतन कोटि नहिँ जाही ॥४॥

रघुनाथजी की भक्ति ही संजीवनी मूल (जड़ी) औषधि है, और श्रद्धा-पूर्ण अच्छी बुद्धि ही अनुपान है। इस तरह वे रोग भले ही मिट जायँ, नहीं तो और तरह करोड़ों यत्न करने पर भी ये रोग नहीं जाते॥ ४॥

जानिय तब मन बिरुज गोसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाई॥
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥५॥

हे गोसाईं! मन को नीरोग तब जानना चाहिए, जब हृदय में वैराग्य का बल बढ़ जाय, अच्छी बुद्धि-रूपी भूख नित नई बढ़ती जाय और विषयों की इच्छा-रूपी दुबलापन दूर होता जाय॥५॥

बिमल ग्यानजल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई॥
सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म-बिचार-बिसारद॥६॥

जब वह मनुष्य निर्मल ज्ञान-रूपी जल में नहाता है तब उसके हृदय में रामभक्ति छा जाती है। शिव, ब्रह्मा, शुकदेव, सनकादिक नारद आदि जो ब्रह्म के विचार में चतुर मुनि हैं॥६॥

सब कर मत खगनायक एहा। करिय राम-पद-पंकज-नेहा॥
स्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति-भगति बिना सुख नाहीं॥७॥

हे गरुड़जी! उन सबों का यही मत है कि रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में स्नेह करना चाहिए। वेद, पुराण और सब ग्रन्थ कहते हैं कि रघुनाथजी की भक्ति बिना सुख नहीं होता॥७॥

कमठपीठि जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला। जीव न लह सुख हरि-प्रतिकूला॥८॥

चाहे कछुए की पीठ पर बाल जम आवें, चाहे बंध्या (स्त्री) का पुत्र किसी को मार डाले और चाहे आकाश में तरह तरह के फूल खिलने लगें; पर जीव हरि से प्रतिकूल (विमुख) रहकर कभी सुख नहीं पा सकता॥८॥

तृषा जाइ बरु मृग-जल-पाना। बरु जामहिं सससीस बिखाना॥
अंधकार बरु रबिहिं नसावइ। रामबिमुख न जीव सुख पावइ॥९॥
हिम तें अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥१०॥

चाहे मृगतृष्णा के पानी को पाकर प्यास मिट जाय, चाहे खरगोश के सिर पर सींग उग आवें, चाहे अँधेरा सूर्य को मिटा दे, पर (इतनी अनहोनी बातें हो जाने पर भी) रामचन्द्रजी से विमुख जीव कभी सुख नहीं पा सकता॥९॥ चाहे बर्फ से आग निकलने लगे जाय, पर रामचन्द्रजी से विमुख रहनेवाला कोई सुख नहीं पाता॥१०॥

दो०—बारि मथे घृत होइ बरु सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरय यह सिद्धांत अपेल॥२१०॥

चाहे पानी मथने से घी निकल आवे, और बालू को पेरने से तेल निकल आवे, पर हरि का भजन किये बिना कोई संसार को नहीं तर सकता; यह अटल सिद्धान्त है ॥ २१० ॥

मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक तें हीन ।
अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रबीन ॥२११॥

प्रभु रामचन्द्रजी मच्छर को तो ब्रह्मा बना देते और ब्रह्मा को मच्छर से भी छोटा बना देते हैं! चतुर जन मन में ऐसा विचारकर, सन्देह छोड़कर, रामचन्द्रजी को भजते हैं ॥ २११ ॥

छंद—विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे ।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते ॥ २१२ ॥

मैं आप से भली भाँति निश्चय की हुई बात कहता हूँ, मेरे वचन अन्यथा (झूठे) नहीं हैं—जो लोग हरि का भजन करते हैं वे अत्यन्त दुस्तर (तैरने में कठिन संसार-सागर) को तैर जाते हैं ॥ २१२ ॥

चौ०—कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा । ब्यास समास स्व-मति-अनुरूपा ॥
स्रुतिसिद्धांत इहइ उरगारी । राम भजिय सब काम बिसारी ॥१॥

हे नाथ! मैंने अनुपम हरि-चरित्र, अपनी बुद्धि के अनुसार, कहीं विस्तार से (अयोध्या-काण्ड पर्यन्त) और कहीं संक्षेप से (शेष ५ काण्डों में) कहा। हे सर्पशत्रु गरुड़जी! वेदों का यही सिद्धान्त है कि सब काम भुलाकर रामचन्द्रजी को भजना चाहिए ॥ १ ॥

प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही । मो से सठ पर ममता जाही ॥
तुम्ह बिग्यानरूप नहिं मोहा । नाथ कीन्हि मो पर अति छोहा ॥ २ ॥

रघुनाथजी के समान स्वामी को छोड़कर और किसका सेवन करना चाहिए, जिन्हें मुझसे दुष्ट पर भी ममता (दया) है। हे नाथ! आप तो विज्ञान-रूप हैं, आपको मोह नहीं हो सकता। आपने मुझ पर केवल कृपा की (जो पूछने आये) ॥ २ ॥

पूछेहु रामकथा अति पावनि । सुक - सनकादि - संभु-मन-भावनि ॥
सतसंगति दुर्लभ संसारा । निमिष दंड भरि एकउ बारा ॥ ३ ॥

आपने अत्यन्त पावनी, शुकदेव, सनकादि और शङ्करजी के मन को रुचनेवाली राम-कथा पूछी। संसार में निमिष (पलक) भर, घड़ी भर एक बार भी सत्सङ्गति होनी दुर्लभ है ॥ ३ ॥

देखु गरुड निज हृदय बिचारी । मैं रघु-बीर - भजन-अधिकारी ॥
सकुनाधम सब भाँति अपावन । प्रभु मोहि कीन्ह बिदित जगपावन ॥४॥

हे गरुड़जी ! आप अपने हृदय में विचारकर देखिए, मैं (जो अत्यंत क्षुद्र हूँ) रघुनाथजी के भजन का अधिकारी हूँ ? मैं पक्षियों में नीच (कौआ) और सभी तरह अपवित्र हूँ, पर प्रभु रामचन्द्रजी ने मुझे जगत् में पावन[1] (पवित्र करनेवाला) प्रसिद्ध कर दिया ॥ ४ ॥

दो०—आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन ।
निजजन जानि राम मोहि संतसमागम दीन्ह ॥ २१३ ॥

यद्यपि मैं सब विधि से हीन हूँ तो भी आज धन्य, अति धन्य हूँ, जो मुझे रामचन्द्रजी ने अपना जन जानकर (आप जैसे का) सन्त-समागम दिया ॥ २१३ ॥

नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ ।
चरितसिंधु रघुबीर के थाह कि पावइ कोइ ॥ २१४ ॥

हे नाथ ! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार कहा, कुछ छिपाकर नहीं रक्खा । रघुनाथजी के चरित्र-सागर की क्या कोई थाह पा सकता है ! ॥ २१४ ॥

चौ०—सुमिरि राम के गुनगन नाना । पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना ॥
महिमा निगम नेति कहि गाई । अतुलित बल प्रताप प्रभुताई ॥१॥

रामचन्द्रजी के अनेक गुण-गण को स्मरण करके अति चतुर कागभुशुण्डिजी बार बार प्रसन्न होने लगे । जिनकी महिमा को वेदों ने 'नेति नेति' (अन्त नहीं है) कहकर वर्णन किया उनका बल, प्रताप और सामर्थ्य अमित है ॥ १ ॥

सिव अज-पूज्य-चरन रघुराई । मो पर कृपा परम मृदुलाई ॥
अस सुभाव कहुँ सुनउँ न देखउँ । केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ ।२।

जिनके चरण शिव और ब्रह्मा को भी पूज्य हैं वे रघुराई मुझ पर अत्यन्त कृपा और कोमलता (वात्सल्य) रखते हैं । ऐसा स्वभाव न तो सुनता हूँ और न देखता हूँ, तब हे गरुड़जी ! मैं रघुपति के समान और किसको समझूँ ? ॥ २ ॥

साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी । कबि कोबिद कृतग्य संन्यासी ॥
जोगी सूर सुतापस ग्यानी । धर्मनिरत पंडित बिग्यानी ॥ ३ ॥

साधक हों, सिद्ध हों, विमुक्त (जीवन्मुक्त) हों, उदासी हों, कवि हों, चतुर हों, कृतज्ञ हों, संन्यासी हों, योगी हों, शूरवीर हों, अच्छे तपस्वी हों, ज्ञानी हों, धर्म में तत्पर हों, पण्डित हों, विज्ञानी हों ॥ ३ ॥

१—देखिए—इसी उत्तरकाण्ड में २०५ दोहे की ८ वीं चौपाई "मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा । राम तें अधिक राम कर दासा" इत्यादि ।

तरहिँ न बिनु सेये मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी॥
सरन गये मो से अघरासी। होहिँ सुद्ध नमामि अबिनासी॥ ४॥

कोई भी हों, मेरे स्वामी रामचन्द्रजी को सेवन किये बिना संसार को तर नहीं सकते। मैं उन स्वामी को नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, फिर भी नमस्कार करता हूँ। जिनकी शरण जाकर मुझ जैसे पापी भी शुद्ध हो जाते हैं, उन अविनाशी परमात्मा रामचन्द्रजी को मैं नमस्कार करता हूँ॥ ४॥

दो०—जासु नाम भवभेषज हरन ताप-त्रय-सूल।
सो कृपालु मोहि तोहि पर सदा रहउ अनुकूल॥ २१५॥

जिनका नाम ही संसार-रोग की दवा है और जो त्रिविध तापों की वेदना को हरनेवाला है, वे दयालु रामचन्द्रजी मुझ पर और आप पर सदा अनुकूल रहें॥ २१५॥

सुनि भुसुंडि के बचन सुभ देखि रामपद नेह।
बोलेउ प्रेमसहित गिरा गरुड बि-गत-संदेह॥ २१६॥

कागभुशुण्डिजी के शुभ वचन सुनकर और उनका रामचन्द्रजी के चरणों में प्रेम देखकर गरुड़जी, सन्देहरहित हो प्रेम सहित वाणी बोले—॥ २१६॥

चौ०—मैं कृतकृत्य भयउँ तव बानी। सुनि रघु-बीर-भगति-रस-सानी॥
रामचरन नूतन रति भई। मायाजनित बिपति सब गई॥ १॥

हे कागभुशुण्डिजी! रघुनाथजी की भक्ति के रस से सराबोर आपकी वाणी सुनकर मैं कृतकृत्य हो गया। रामचन्द्रजी के चरणों में मेरी नई (ताजी) प्रीति हुई और माया से उत्पन्न सब विपत्ति नष्ट हो गई॥ १॥

मोहजलधि बोहित तुम्ह भयऊ। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दयऊ॥
मो पर होइ न प्रतिउपकारा। बंदउँ तव पद बारहिँ बारा॥ २॥

हे नाथ! मोह-समुद्र से पार करने के लिए मुझे आप नावरूप हुए। आपने मुझे अनेक तरह का सुख दिया। उसका प्रत्युपकार मुझसे नहीं हो सकता; इसलिए मैं बार बार आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ॥ २॥

पूरन-काम राम-अनुरागी। तुम्ह सम तात न कोउ बडभागी॥
संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी॥ ३॥

आप पूर्ण-काम (जिसकी सब तरह की इच्छाएँ पूर्ण हों) और रामचन्द्रजी के स्नेही हैं। हे तात! आपके समान बड़भागी कोई नहीं है। सन्त, वृक्ष, नदी, पर्वत और पृथ्वी इन सबकी करनी दूसरों के हित के लिए होती है॥ ३॥

संतहृदय नव - नीत - समाना । कहा कबिन्ह पै कहइ न जाना ॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता । परदुख द्रवहिँ सुसंत पुनीता ॥४॥

सन्तों के हृदय मक्खन के समान होते हैं, ऐसा कवियों ने कहा है, पर उनसे कहते नहीं बना। क्योंकि मक्खन तो तब पिघलता है जब उसे आँच लगती है, किन्तु पुनीत सन्तजन दूसरों का दुःख देखकर ही पिघल जाते हैं ॥ ४ ॥

जीवन जनम सुफल मम भयऊ । तव प्रसाद संसय सब गयऊ ॥
जानेहु सदा मोहि निज किंकर । पुनि पुनि उमा कहइ बिहंगबर ॥५॥

मेरा जीवन और जन्म सफल हो गया, आपकी कृपा से मेरा सब संशय दूर हो गया। आप मुझे सदा अपना दास समझिए। शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती ! पक्षियों में श्रेष्ठ गरुड़जी बार बार यही कहने लगे ॥ ५ ॥

दो०—तासु चरन सिर नाइ करि प्रेमसहित मतिधीर ।
गयउ गरुड बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर ॥ २१७ ॥

फिर धीरमति गरुड़जी, कागभुशुण्डजी के चरणों में प्रेम-सहित सिर नवाकर, हृदय में श्रीरघुवीर को रखकर वैकुंठ चले गये ॥ २१७ ॥

गिरिजा संत-समागम-सम न लाभ कछु आन ।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिँ बेद पुरान ॥ २१८ ॥

शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती ! सन्तों के समागम के समान और कुछ भी दूसरा लाभ नहीं है और वह सन्त-समागम भगवान् की कृपा बिना नहीं होता, ऐसा वेद और पुराण गाते हैं ॥ २१८ ॥

चौ०—कहेउँ परमपुनीत इतिहासा । सुनत स्रवन छूटहिँ भवपासा ॥
प्रनत-कलप-तरु करुनापुंजा । उपजइ प्रीति राम-पद-कंजा ॥ १ ॥

यह अत्यन्त पवित्र इतिहास मैंने कहा। इसको कान से सुनते ही संसार के जाल कट जाते हैं और भक्तों के कल्पवृक्ष, दयासागर, रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में प्रीति उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

मन-बच-कर्म-जनित अघ जाई । सुनहिँ जे कथा स्रवन मन लाई ॥
तीर्थाटन साधन-समुदाई । जोग बिराग ग्याननिपुनाई ॥ २ ॥

जो मन लगाकर कानों से इस कथा को सुनेंगे उनके मानसिक, वाचिक, कायिक तीनों तरह के पाप नष्ट हो जायँगे। तीर्थयात्रा, साधनों के समूह, योग, वैराग्य, ज्ञान की निपुणता ॥ २ ॥

नाना कर्म धर्म ब्रत दाना । संजम दम जप तप मख नाना ॥
भूतदया द्विज-गुरु-सेवकाई । बिद्या बिनय बिबेक बडाई ॥ ३ ॥

नाना प्रकार के कर्म, धर्म, व्रत, दान, संयम, दम, जप, तप, अनेक यज्ञ, प्राणिमात्र में दया, ब्राह्मण और गुरु की सेवा, विद्या, विनय, विचार, बड़ाई आदि ॥ ३ ॥

जहँ लगि साधन बेद बखानी । सब कर फल हरिभगति भवानी ॥
सो रघु-नाथ-भगति स्रुति गाई । रामकृपा काहू एक पाई ॥ ४ ॥

वेदों में जहाँ तक साधन वर्णन किये हैं, हे पार्वती ! उन सबका फल भगवान् की भक्ति है। वह वेदों में गाई हुई रघुनाथजी की भक्ति राम-कृपा से किसी एक-आध ही ने पाई है ॥ ४ ॥

दो०—मुनिदुर्लभ हरिभगति नर पावहिँ बिनहिँ प्रयास ।
जे यह कथा निरंतर सुनहिँ मानि बिस्वास ॥ २१९ ॥

जो विश्वास मानकर यह कथा निरन्तर सुनेंगे वे, मुनियों को दुर्लभ, भगवान् की भक्ति बिना परिश्रम पा जायँगे ॥ २१९ ॥

चौ०—सोइ सर्बग्य सोई गुनग्याता । सोइ महिमंडन पंडित दाता ॥
धर्मपरायन सोइ कुलत्राता । रामचरन जाकर मन राता ॥ १ ॥

जिसका मन रामचन्द्रजी के चरणों में लग गया वही सर्वज्ञ है, वही गुणों का ज्ञाता है, वही पृथ्वी पर भूषण रूप पण्डित और दानी है, वही धर्म-परायण है और वही कुल का रक्षक है ॥ १ ॥

नीतिनिपुन सोइ परमसयाना । स्रुतिसिद्धांत नीक तेहि जाना ॥
सो कबि कोबिद सो रनधीरा । जो छल छाडि भजइ रघुबीरा ॥ २ ॥

जो छल को छोड़कर रघुवीर को भजता है वही नीति में निपुण और वही अत्यन्त चतुर है, उसी ने वेदों के सिद्धान्त को अच्छी तरह जान लिया है, वही कवि, विद्वान् और रणधीर है ॥ २ ॥

धन्य सुदेस जहाँ सुरसरी । धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी ॥
धन्य सो भूप नीति जो करई । धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई ॥ ३ ॥

वह श्रेष्ठ देश धन्य है जहाँ देव-नदी गङ्गाजी हैं; वह स्त्री धन्य है जिसने पतिव्रत धर्म का अनुसरण किया; वह राजा धन्य है जो नीति से राज्य करता है और वह ब्राह्मण धन्य है जो अपने धर्म से नहीं हटता ॥ ३ ॥

सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्य रत मति सोइ पाकी ॥
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जनम द्विज भगति अभंगा ॥ ४ ॥

वह धन धन्य है जिसकी प्रथम गति[1] (दान) हो; वह बुद्धि धन्य और पक्की है, जो पुण्य कर्मों में लगी रहती हो, वह घड़ी धन्य है जब सत्सङ्ग हो; द्विज-कुल में जन्म लेना तभी धन्य होगा जब अखण्ड भक्ति हो (या वह जन्म धन्य है जिसमें ब्राह्मणों को दृढ़ भक्ति हो) ॥ ४ ॥

दो०—सो कुल धन्य उमा सुनु जगतपूज्य सुपुनीत।
श्री-रघु-बीर-परायन जेहि नर उपज बिनीत ॥ २२० ॥

हे पार्वती! सुनो। वह कुल धन्य है, जगत् में पूज्य और अत्यन्त पवित्र है, जिसमें विनीत और श्रीरघुवीरपरायण (अनन्य राम-भक्त) मनुष्य उत्पन्न हो ॥ २२० ॥

चौ०—मति-अनु-रूप-कथा मैं भाखी। जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी ॥
तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघु-पति-कथा सुनाई ॥ १ ॥

यद्यपि मैंने पहले गुप्त कर रक्खी थी, तो भी अब यह कथा बुद्धि के अनुसार मैंने वर्णन की। हे पार्वती! तुम्हारे मन में प्रीति बढ़ी हुई देखकर मैंने रघुनाथजी की कथा तुम्हें सुनाई ॥ १ ॥

यह न कहीजै सठ हठसीलहिँ। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहिँ ॥
कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजइ स-चराचर-स्वामिहि ॥ २ ॥

यह कथा दुष्ट और हठी स्वभाववाले से नहीं कहनी चाहिए; जो मन लगाकर हरि की लीला न सुनता हो, जो लोभी, क्रोधी, कामी हो और जो चराचर-समेत जगत् के स्वामी श्रीरामचन्द्रजी को न भजता हो, उसको इसे नहीं सुनाना चाहिए ॥ २ ॥

द्विजद्रोहिहि न सुनाइय कबहूँ। सुर-पति-सरिस होइ नृप तबहूँ ॥
रामकथा के ते अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी ॥ ३ ॥

जो ब्राह्मण से द्रोह रखता हो उसे इसे कभी न सुनावे, चाहे वह इन्द्र के समान राजा हो क्यों न हो। राम-कथा के अधिकारी वे ही हैं जिनको सत्सङ्गति बहुत ही प्यारी है ॥ ३ ॥

गुरु-पद-प्रीति नीतिरत जेई। द्विजसेवक अधिकारी तेई ॥
ता कहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्री-रघु-राई ॥ ४ ॥

१—धन की गति तीन होती हैं—दान, भोग और नाश। जो न देता ही है, न भोगता ही है उसके वित्त की तीसरी गति (नाश) हो जाती है। इसी नीति के वचनानुसार यहाँ धन की प्रथम गति (दान) कही है। "दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥"

जो गुरु के चरणों में प्रेम रखते हैं, नीति में तत्पर हैं और ब्राह्मणों के सेवक हैं वे ही राम-कथा के अधिकारी हैं। जिसे श्रीरघुनाथजी प्राण-प्रिय हैं उसको यह अधिक सुख देनेवाली है ॥ ४ ॥

दो०—राम-चरन-रति जो चहइ अथवा पद निर्बान।
भावसहित सो यह कथा करहि स्रवनपुट पान ॥ २२१ ॥

जो रामचन्द्रजी के चरणों में प्रीति चाहते हों, अथवा जो निर्वाणपद (मोक्ष) चाहते हों, वे यह कथा भावसहित (प्रेमसहित) अपने कानरूपी दोनों में भरकर पान करें ॥ २२१ ॥

चौ०—रामकथा गिरिजा मैं बरनी। कलि-मल-समनि मनो-मल-हरनी ॥
संसृतिरोग सजीवन मूरी। रामकथा गावहिं स्रुति सूरी ॥ १ ॥

हे पार्वती ! मैंने रामकथा वर्णन की, जो कलियुग के पापों को दूर करनेवाली और मन के मैल को हरनेवाली है। यह संसार-रूपी रोग की संजीवनी मूल (बूटी) है—यह वेद और कवि गाते (वर्णन करते) हैं ॥ १ ॥

एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघु-पति-भगति केर पंथाना ॥
अति हरिकृपा जासु पर होई। पाउँ देहि एहि मारग सोई ॥ २ ॥

इस कथा में जो सुन्दर सात सोपान (सीढ़ियाँ) हैं, वे रघुनाथजी की भक्ति के मार्ग हैं। जिसके ऊपर बहुत ही भगवान् की कृपा हो, वही इस भक्ति मार्ग में पाँव देता है ॥ २ ॥

मन-कामना-सिद्धि नर पावा। जो यह कथा कपट तजि गावा ॥
कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते भवनिधि गोपद इव तरहीं ॥ ३ ॥

जो मनुष्य कपट त्यागकर इस कथा को गाते हैं, वे मन चाही सिद्धि पाते हैं। जो इस कथा को कहते, जो सुनते और जो इसका अनुमोदन करते हैं, वे संसार-सागर को गौ के खुर के गड्ढे[१] के समान तर जाते हैं ॥ ३ ॥

सुनि सुभ कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोली गिरा सुहाई ॥
नाथकृपा मम गत संदेहा। रामचरन उपजेउ नव नेहा ॥ ४ ॥

यह शुभ कथा, सुन लेने पर, पार्वतीजी के अन्तःकरण में बहुत ही रुची, और वे सुंदर वाणी बोलीं—हे नाथ ! आपकी कृपा से मेरा सन्देह दूर हो गया और रामचन्द्रजी के चरणों में मुझे नवीन स्नेह उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

१—संसार समुद्र है, समुद्र अथाह होता है उसमें कोई तर नहीं सकता; पर रामकथा से गौ के पाँव का यह उपलक्ष्य है, जैसे किसी गड्ढे में इतना पानी हो कि गौ का खुर-मात्र भीगे तो उसको मनुष्य बिना किसी परिश्रम के [illegible] जाता है, वैसे जो इस कथा को कहते, सुनते या उसका अनुमोदन करते हैं उनके लिए यह संसार-सागर भी गड्ढ के पानी के समान सहज हो जाता है।

दो०—मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।
रामभगति दृढ़ उपजी बीते सकल कलेस ॥ २२२ ॥

हे विश्वेश्वर! अब मैं आपके अनुग्रह से कृतकृत्य हुई। मुझे दृढ़ राम-भक्ति उत्पन्न हुई और सब क्लेश मिट गये ॥ २२२ ॥

चौ०—यह सुभ संभु-उमा-संबादा। सुखसंपादन समन बिषादा ॥
भवभंजन गंजन संदेहा। जनरंजन सज्जनप्रिय एहा ॥ १ ॥

यह शिव-पार्वती का शुभ संवाद सुखों को सम्पादन करनेवाला, दुःखों को मिटानेवाला, संसार-बाधा का भञ्जन करनेवाला, संदेहों को निवृत्त करनेवाला, लोगों को प्रसन्न करनेवाला और सज्जनों को प्रिय है ॥ १ ॥

रामउपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं ॥
रघु-पति-कृपा जथामति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा ॥ २ ॥

जगत् में जो रामचन्द्रजी के उपासक हैं, उनको इसके समान कुछ भी प्रिय नहीं है। जैसी मेरी बुद्धि थी वैसा, मैंने यह सुहावना, पावन चरित्र रघुनाथजी की कृपा से गाया ॥ २ ॥

एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा ॥
रामहिँ सुमिरिय गाइय रामहिँ। संतत सुनिय राम-गुन-ग्रामहिँ ॥ ३ ॥

इस कलिकाल में योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत, पूजा आदि दूसरा साधन नहीं है। रामचन्द्रजी का ही स्मरण करना चाहिए, रामचन्द्रजी के ही चरित्र गाना चाहिए और सदा रामचन्द्रजी के ही गुण-गण को सुनना चाहिए ॥ ३ ॥

जासु पतितपावन बर बाना। गावहिँ कबि स्रुति संत पुराना ॥
ताहि भजिय मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति के नहिँ पाई ॥ ४ ॥

जिनके 'पतितपावन' (पतितों को पवित्र करने) अच्छे बाने को विद्वान्, वेद, सन्त और पुराण गाते हैं, हे मन! उन्हीं रामचन्द्रजी का भजन कुटिलता को छोड़कर कर। रामचन्द्रजी का भजन कर किसने गति नहीं पाई? ॥ ४ ॥

छंद—पाई न केहि गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना ॥
आभीर जवन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिँ राम नमामि ते ॥ १ ॥

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—अरे दुष्ट मन! सुन। पतितपावन रामचन्द्रजी का भजन करके किसने गति नहीं पाई? उन्होंने वेश्या[१], अजामिल[२], व्याध[३], गीध[४], गज[५] आदि बहुतेरे दुष्ट तार दिये। अहीर[६], यवन[७], किरात[८], श्वपच[९] (चाण्डाल) आदि जो पाप के

१—एक पिङ्गला नाम की वेश्या ने एक रात को किसी जार पुरुष के न मिलने से खेदित हो अपने कर्मों पर पश्चात्ताप किया और वह भजन कर मुक्त हुई। (देखिए भा० स्कं० ११)। एक वेश्या ने तोता पाला, उसको रामनाम पढ़ाकर वह मुक्त हुई। एक वेश्या वारमुखी अपनी करोड़ों की सम्पत्ति के मुकुट बना रङ्गनाथजी को चढ़ाकर मुक्त हो गई। देखिए भक्तमाल-रामरसिकावली। २—कान्यकुब्ज देश में अजामिल ब्राह्मण सदाचारी था। वह नित्य पुष्प-समिधा लेने वन में जाता था। एक बार वन से आते आते एक शूद्र को स्त्री-समेत देख मोहित हो, उसी स्त्री से प्रेम कर धीरे धीरे स्वधर्म का सर्वनाश कर मा बाप और अपनी स्त्री को छोड़ उसी में अनुरक्त हो गया। उसने अपने एक पुत्र का नाम नारायण रक्खा। मरते समय हाथ में फाँसी लिये यमदूतों को देख उसने अपने पुत्र नारायण को, जो दूर खेल रहा था, ज़ोर से पुकारा। बस करुणानिधान भगवान् ने अपना पार्षद भेज उसको यम की फाँसी से बचा दिया। (भा० स्कं० ६) ३—एक व्याध ने श्रीकृष्ण भगवान् के निर्वाण समय बाण चलाया था, (जो बाण मुनियों के शाप से प्रद्युम्न के पेट से प्रकट हुए मुसल के टुकड़े का बना था) वह मुक्त हुआ। दूसरा वह कि जिसने वन में कपोत-कपोती को बच्चों समेत मार खाया था और फिर उन समेत मुक्त हुआ था। ४—जटायु और सम्पाती—एक ने सीताजी के निमित्त प्राण दिये, दूसरे ने सीताजी की ख़बर बन्दरों को दी, वे भी मुक्त हो गये। ५—हाहा-हूहू नाम के गन्धर्व गान-विद्या में दक्ष थे। हम दोनों में अच्छा गायक कौन है, इसका फ़ैसला कराने वे एक बार देवल ऋषि के पास गये। वे ध्यानस्थ थे, इसलिए इन दोनों की बातों पर उन्होंने विचार नहीं किया, अतएव दोनों ने मुनि को मूर्ख आदि गालियाँ दीं। मुनि ने क्रोधित हो दोनों को शाप दिया तो एक ग्राह (मगर) और दूसरा गज (हाथी) हो गया। त्रिकूटाचल पहाड़ के पास एक तालाब में एक दिन वह हाथी पानी पीने गया था कि ग्राह ने पैर आ पकड़ा दोनों अपना अपना बल लगाने लगे। बारह हज़ार वर्ष युद्ध होने पर गज डूबने ही को था कि उसने हरि-स्मरण किया। हरि ने तुरन्त आ दोनों का उद्धार कर दिया। ६—कृष्णावतार में हज़ारों आभीर मुक्त हुए। ७—कालयवन साढ़े तीन करोड़ म्लेच्छों को लेकर मथुरा में श्रीकृष्ण पर चढ़ आया था। उसको देखते ही श्रीकृष्ण भागे, साथ ही कालयवन भी भागा। दोनों एक पहाड़ में घुसे। वहाँ श्रीकृष्ण तो अपना पीताम्बर सोते हुए राजा मुचकुन्द पर डाल अँधेरे में जा छिपे। पीछे से कालयवन ने जाकर उस राजा को कृष्ण समझ के जगाया। उसके उठकर देखते ही कालयवन भस्म हो गया। कृष्णदर्शन से वह भी मुक्त हुआ और श्रीकृष्ण ने वहाँ से लौटकर म्लेच्छ-सेना का संहार कर उन म्लेच्छों को भी मुक्त किया। (भा० स्कंध १०) ८—वाल्मीकि मुनि भी पूर्व जन्म में किरात थे और लूटने का धंधा करते थे। एक बार सप्तर्षि आये। उनके उपदेश को भूल, राम के बदले मरा मरा जपकर वे मुक्त हुए। गुह निषाद मुक्त हुआ और चन्द्रचूड़ राजा का उपदेश पा अनेक किरात मुक्त हुए। (इतिहास-समुच्चय) ९—वाल्मीकि नाम का चाण्डाल हुआ था। पाण्डवों का यज्ञ समाप्त होने पर एक शङ्ख का बजना साङ्गता का चिह्न था। वह न बजा, तब पाण्डवों ने श्रीकृष्ण से पूछा और उनके उपदेश से उस श्वपच को निमन्त्रण दे भोजन कराया; श्रीकृष्ण आदिकों ने उस श्वपच का बहुमान किया। वह भी मुक्त हुआ। (भक्त० राम० रसि०)

रूप ही थे, वे भी जिनका नाम एक बार कह देने से पावन (केवल आप ही पवित्र नहीं हो जाते औरों को भी पवित्र करनेवाले[१]) हो जाते हैं, ऐसे हे राम! आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

रघु-बंस-भूषन चरित यह नर कहहिँ सुनहिँ जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु स्रम रामधाम सिधावहीं॥
सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरहिँ।
दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्री-रघु-पति हरहिँ ॥ २ ॥

रघु राजा के वंश में भूषण-रूप श्रीरामचन्द्रजी के इस चरित्र को जो मनुष्य कहते, सुनते और गाते हैं, वे बिना परिश्रम कलियुग के मैल (पाप) और मन के मैल को धो (शुद्ध-चित्त हो) कर रामचन्द्रजी के धाम (श्रीवैकुण्ठ) में जाते हैं। इन पाँच सात[२] अर्थात् थोड़ी सी, मनोहर, चौपाइयों को जान कर[३] जो मनुष्य हृदय में धारण करते हैं, उनके घोर अविद्या से उत्पन्न पाँच[४] विकारों को श्री रघुनाथजी हरते हैं ॥ २ ॥

सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथ पर कर प्रीति जो।
सो एक राम अ-काम-हित निर्बानप्रद सम आन को॥
जा की कृपा-लव-लेस तेँ मतिमंद तुलसीदासहूँ।
पायउ परमबिस्रामु रामसमान प्रभु नाहीँ कहूँ ॥ ३ ॥

जो सुन्दर, चतुर, कृपा के भाण्डार हैं और जो अनाथों पर प्रेम करते हैं, वे एक रामचन्द्रजी ही हैं; वे बेमतलब हित करनेवाले और मोक्षदाता हैं, उनके बराबर दूसरा कौन है? जिनकी कृपा के लवलेश से मैं मन्दबुद्धि तुलसीदास भी परम विश्राम (शान्ति) पा गया उन रामचन्द्रजी के समान स्वामी कहीं नहीं ॥ ३ ॥

दो०—मो सम दीन न दीनहित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघु-बंस-मनि हरहु बिषम-भव-भीर ॥२२३॥

१—श्रीमद्भागवत में कहा है—"किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः। येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥" अर्थात्—किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन, खस आदि नीच पापी भी जिनके भक्तों का आश्रय पा शुद्ध हो जाते हैं, उन समर्थ विष्णु को नमस्कार है। भा० स्कं० २ अ० ४।

२—इस 'सत पंच' का अर्थ अनेक लोग अनेक तरह से लगाते हैं। कोई ५००, कोई १०५ और कोई ५१०० इसका अर्थ लगाता है।

३—जानकर अर्थात् अर्थ समझकर। ४—अविद्या से होनेवाले पाँच विकार ये हैं—'तामिस्रमन्धतामिस्रं तमो मोहो महातमः' ये पाँचों अन्धकार रूपान्तर से हुआ करते हैं।

हे रघुवीर ! मेरे समान दीन (ग़रीब) कोई नहीं और आपके बराबर दीन-हित-कारी (ग़रीब-नेवाज) कोई नहीं। हे रघुवंशमणि ! आप ऐसा विचारकर विषम संसार की पीड़ा को निवृत्त करें ॥ २२३ ॥

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥ २२४ ॥

हे रघुनाथजी ! जैसे कामी पुरुष को स्त्री प्यारी होती है और जैसे लोभी मनुष्य को द्रव्य प्यारा होता है, वैसे ही आप मुझे निरन्तर (सदा) प्यारे लगें ॥ २२४ ॥

श्लोक—यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं
श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्तोतु रामायणम् ।
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये
भाषाबन्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम् ॥ १ ॥

जो रामायण पहले श्रेष्ठ कवि स्वामी श्रीशिवजी ने दुर्गम (जिसका अर्थ कठिनता से समझा जाय) रची थी और जिस रामायण से सदा रामचन्द्रजी के चरण-कमलों की भक्ति प्राप्त होती है, रघुनाथजी के नाम में तत्पर उस रामायण (अध्यात्मरामायण) को बहुमान देकर तुलसीदास ने अपने अन्तःकरण के तमोगुण की शान्ति के लिए यह मानस (मन से कहा हुआ) भाषा-प्रबन्ध (रामचरितमानस) रचा ॥ १ ॥

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम् ।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः ॥ २ ॥

यह श्रीरामचरितमानस है अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी के चरितरूपी हंसों का निवास-स्थान मानस-सरोवर है। यह पवित्र है, पापों का नाशक है, सदा कल्याणकारी है, विज्ञान और भक्ति का दाता है; माया (अविद्या), मोह, और मैल को दूर करनेवाला, अति निर्मल-प्रेम-रूपी जल से भरा हुआ और श्रेष्ठ है। जो मनुष्य इस सरोवर में भक्ति-पूर्वक स्नान करते हैं, वे संसार-रूपी सूर्य की प्रखर किरणों से नहीं जलते, अर्थात् परम शान्ति पा जाते हैं।

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने अविरलहरि-
भक्तिसम्पादनो नाम सप्तमः सोपानः समाप्तः ।

इस प्रकार सम्पूर्ण कलियुग-सम्बन्धी पापों के विध्वंसकारी श्रीरामचरितमानस में अविरल (पूर्ण, अखण्ड) भक्ति-सम्पादन नामवाला सातवाँ सोपान समाप्त हुआ।

❀ शुभमस्तु मङ्गलमस्तु ❀

श्री रामायण-ध्यान

बालकाण्ड प्रभु पाय अयोध्या कटि मनमोहै ।
उदर बन्यो आरण्य हृदय किष्किन्धा सोहै ॥
सुन्दर ग्रीव मुखारविन्द लंका कहि गायो ।
जेहि महँ रावण आदि निशाचर सर्व समायो ॥
उत्तर मस्तक मानि हरि यहि विधि तुलसीदास भनु ।
आदि अन्त लौं देखिए श्रीमन्मानस रामतनु ॥

श्री रामायणजी की आरती

आरति श्री रामायणजी की । कीरति कलित ललित सिय-पी की ॥
गावत ब्रह्मादिक मुनि नारद । बाल्मीकि विज्ञान-विशारद ॥
शुक-सनकादि शेष अरु शारद । बरणि पवनसुत कीरति नीकी ॥
सन्तत गावत शम्भु-भवानी । औ' घटसम्भव मुनि विज्ञानी ॥
व्यास आदिकवि-पुंग बखानी । काकभुशुण्डि गरुड़ के हिय की ॥
चारउ वेद पुराण अष्टदश । छहों शास्त्र सब ग्रन्थन को रस ॥
तन मन धन सन्तन की सर्वस । सार अंश सम्मत सब ही की ॥
कलिमल हरणि विषय-रस फीकी । सुभग शृंगार भक्ति-युवती की ॥
हरणि रोग-भव भूरि अमी की । तात मात सब विधि तुलसी की ॥
आरति श्री रामायणजी की ।

श्री रामचन्द्राय नमः